श्री दिगम्बर जैन कुन्थु विजय ग्रंथमाला समिति

तेरहवाँ पुष्प

श्री गोम्मट प्रश्नोत्तर चिंतामणि

संग्रह कर्ता :

परम पूज्य श्री १०८ गणधराचार्य कुन्थुसागरजी महाराज

प्रकाशन संयोजक :

शान्ति कुमार गंगवाल

प्रकाशक :

श्री दिगम्बर जैन कुन्थु विजय ग्रन्थमाला समिति

कार्यालय :

१९३६, जौहरी बाजार घी वालों का रास्ता, कसेरों की गली,
जयपुर–३०२००३ (राजस्थान)

परमपूज्य श्री १०८ गणधराचार्य वात्सल्य रत्नाकर
श्रमणरत्न स्याद्वाद केशरी कुन्थुसागर जी महाराज
व उनके विशाल संघ सानिध्य में माह दिसम्बर
१९८८ में आरा नगर (बिहार) में आयोजित
पंचकल्याणक महोत्सव के शुभावसर पर
प्रकाशित

सर्वाधिकार सुरक्षित

मूल्य : स्वाध्याय/२०१) रुपये

मुद्रक : मूनलाइट प्रिन्टर्स, जयपुर-३

ग्रंथ प्राप्ति स्थान :

श्री दिगम्बर जैन कुन्थु विजय ग्रन्थमाला समिति
१९३६, जौहरी बाजार घी वालों का रास्ता,
कंशरों की गली, जयपुर-३ (राज.)

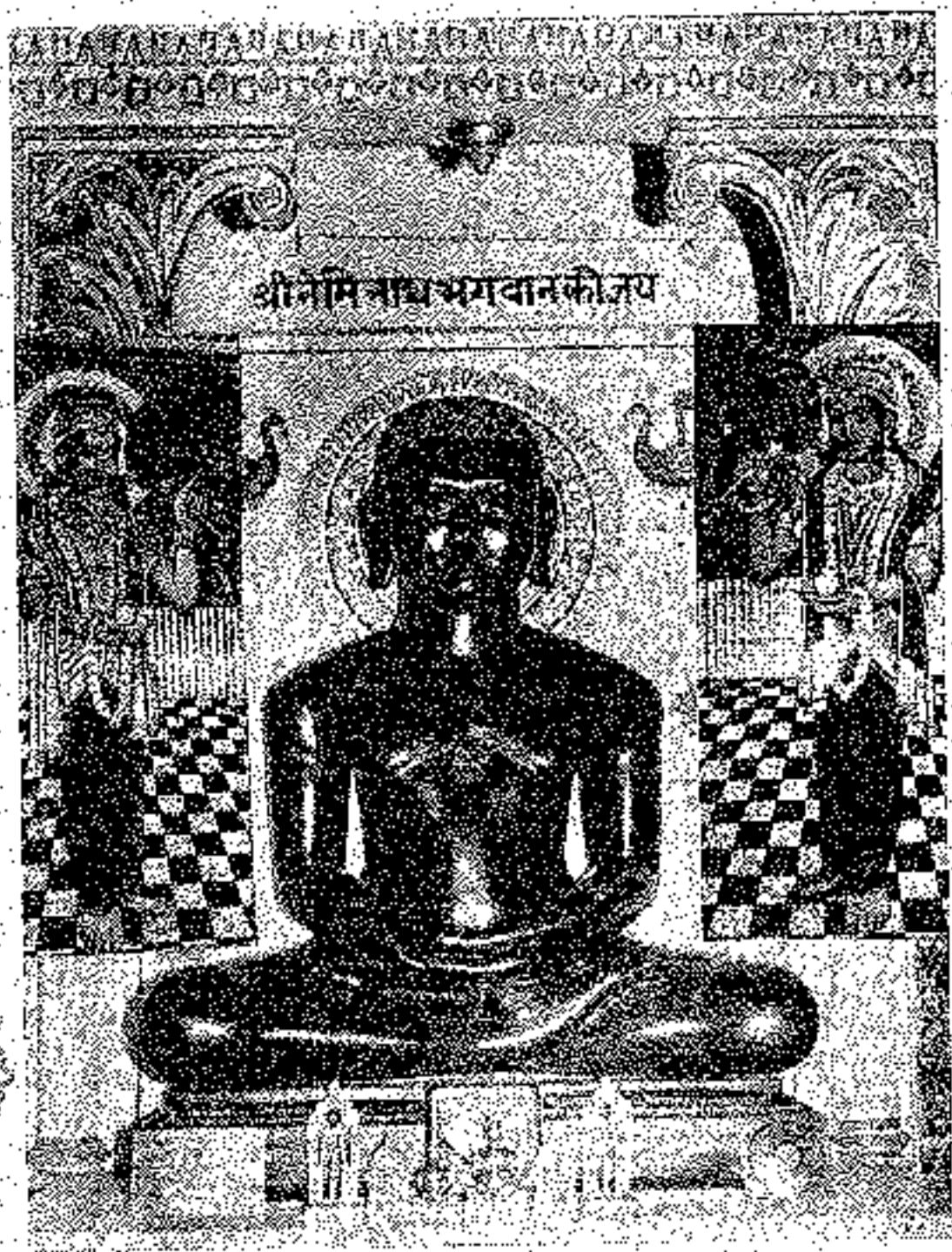

श्री १००८ भगवान नेमीनाथ स्वामी

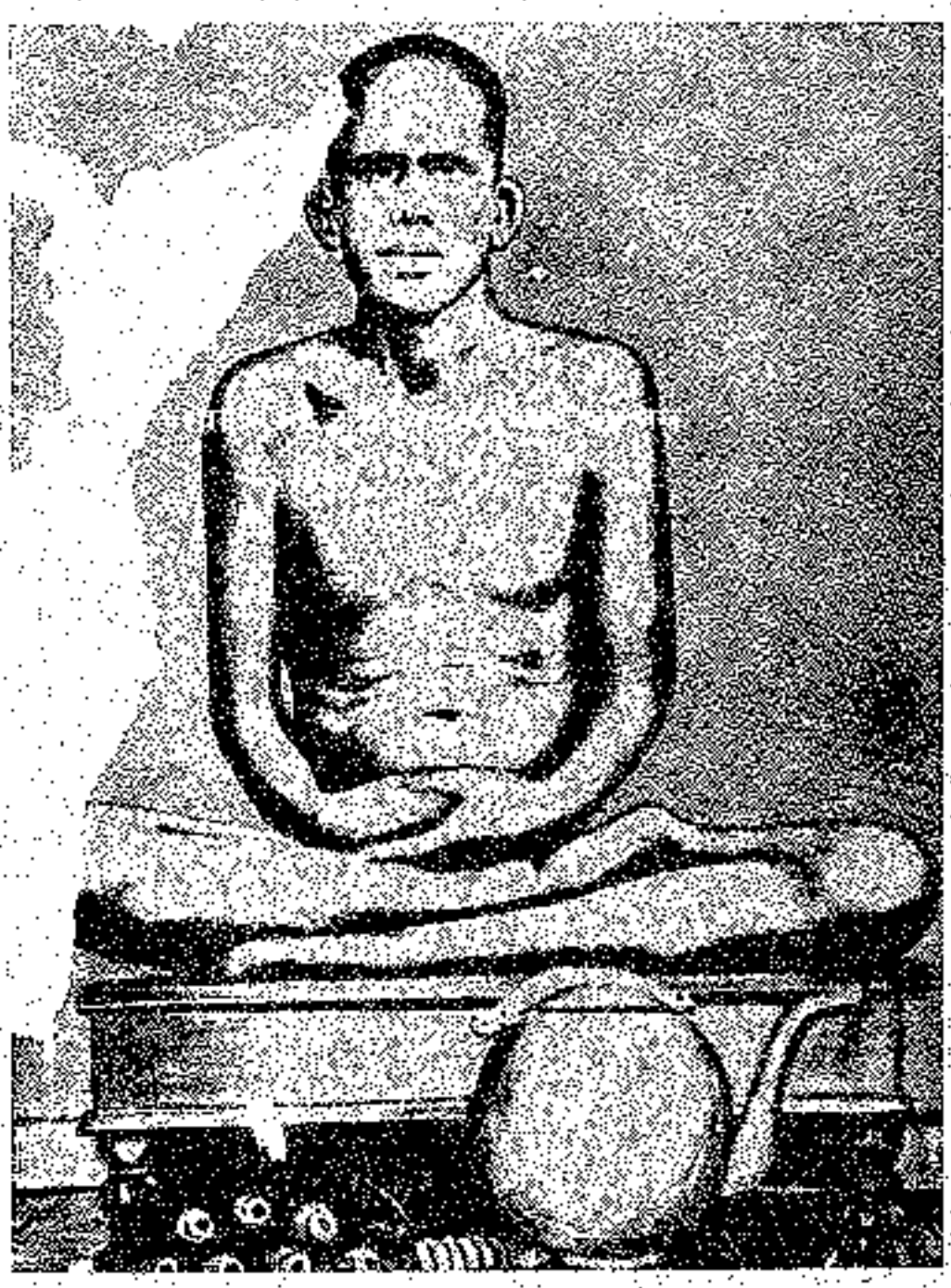

परम पूज्य समाधि सम्राट चारित्र चक्रवर्ती
आचार्य आदिसागरजी महाराज(अंकलीकर)

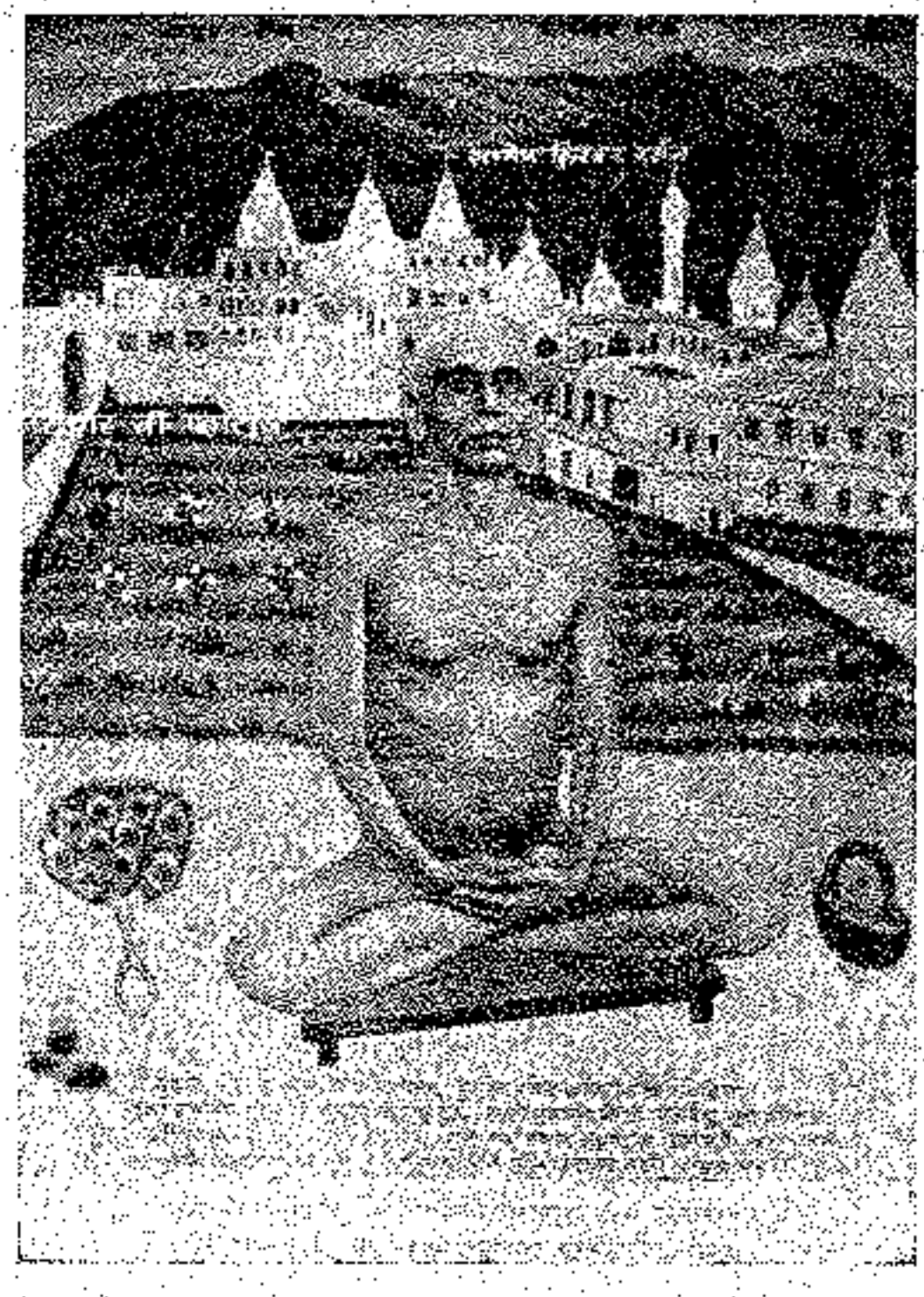

परम पूज्य समाधि सम्राट तीर्थ भक्त शिरोमणि
श्री १०८ पट्टाचार्य परमेष्ठी श्री महावीर
कीर्तिजी गुरु महाराज

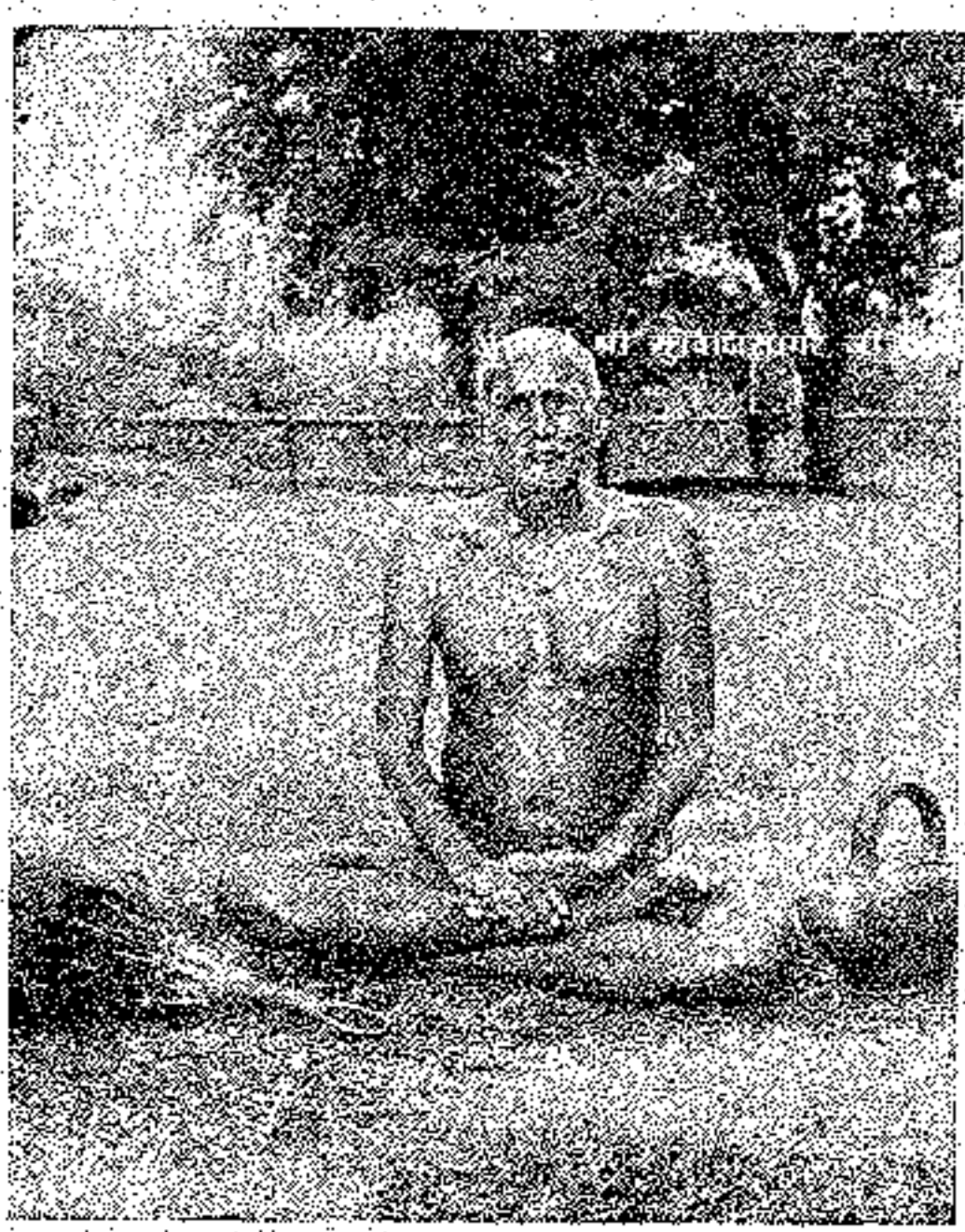

परम पूज्य श्री १०८ सन्मार्ग दिवाकर निमित
ज्ञान शिरोमणि खण्डविद्या धुरन्धर आचार्य
रत्न विमल सागर जी महाराज

खण्डविद्या धुरंधर सन्मार्ग दिवाकर निमित्तज्ञान शिरोमणि १०८ आचार्य रत्न श्री विमल सागरजी महाराज

का

(मंगलमय शुभाशीर्वाद)

मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि श्री दिगम्बर जैन कुन्थु विजय ग्रन्थमाला समिति जयपुर (राजस्थान) से तेरहवें पुष्प के रूप में श्री गोम्मट प्रश्नोत्तर चिंतामणि ग्रन्थ का प्रकाशन हो रहा है। इस ग्रन्थ का संग्रह गणधराचार्य कुन्थु सागर जी महाराज ने किया है। गणधराचार्य महाराज का ज्ञान ध्यान अच्छा है, उनको हमारा पूर्ण आशीर्वाद है। ग्रन्थमाला समिति ने अल्प समय में अच्छे से अच्छे प्रकाशनों के माध्यम से साधुवर्ग व समाज में अच्छि प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली है। इसके लिये ग्रन्थमाला के प्रकाशन संयोजक श्री शान्ति कुमार जी गंगवाल व उनके सहयोगियों को हमारा पूर्ण आशीर्वाद है कि आगे भी इसी प्रकार से और भी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन करवाकर जिनवाणी का प्रचार-प्रसार करते रहें। यह ग्रन्थ साधुवर्ग व गृहस्थियों के लिए बहुत ही उपयोगी व महत्त्वपूर्ण है, इसलिये सभी स्वाध्याय करके इससे लाभ उठावेंगे।

—आचार्य विमल सागर

अध्यात्म बालयोगी १०८ आचार्यरत्न श्री सन्मतिसागर जी महाराज

का

(मंगलमय शुभाशीर्वाद)

हमें यह जानकर बहुत प्रसन्नता हुई है कि श्री दिगम्बर जैन कुन्थु विजय ग्रंथमाला समिति जयपुर (राजस्थान) से एक वृहद् ग्रंथ गोम्मट प्रश्नोत्तर चिंतामणि ग्रंथ का प्रकाशन हो रहा है। जिसका संकलन गणधराचार्य कुन्थु सागरजी महाराज ने बहुत कठिन परिश्रम से किया। इसके लिये हमारा पूर्ण आशीर्वाद है।

ग्रंथमाला समिति से १३वें पुष्प के रूप में इस ग्रंथ का प्रकाशन हो रहा है। अब तक इस ग्रंथमाला से जितने भी ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं, सभी श्रेष्ठता को लिए हुए हैं और आगे भी यह ग्रंथमाला उत्तम ग्रंथों का प्रकाशन करती रहे, इसके लिए इस ग्रंथमाला के प्रकाशन संयोजक श्री शान्ति कुमार जी गंगवाल व ग्रंथमाला के अंगरूप सभी श्रेष्ठियों को हमारा मंगलमयपूर्ण आशीर्वाद है।

—आचार्य सन्मति सागर

ग्रन्थ के संग्रहकर्त्ता परमपूज्य, वात्सल्य रत्नाकर श्रमणरत्न स्याद्वाद केशरी श्री १०८ गणधराचार्य कुन्थुसागर जी महाराज के प्रकाशित ग्रन्थ के बारे में विचार एवं मंगलमय शुभाशीर्वाद

अनादि संसार का विच्छेदन होने के लिये भव्यात्माओं को शुद्ध धर्म ध्यान का साधन होना चाहिये, आर्त ध्यान और रौद्र ध्यान से बचने के लिये और शुक्ल ध्यान की प्राप्ति के लिए धर्म ध्यान ही साधन मुख्य माना है। जैनाचार्यों ने कहा 'जीव धर्म ध्यान में तत्पर नहीं रहता है तो आर्त ध्यान और रौद्र ध्यान से नहीं बच सकता है, आर्त ध्यान, रौद्र ध्यान नरक और तिर्यञ्चगति का कारण हो जायेगा, शुक्ल ध्यान की प्राप्ति का मुख्य कारण धर्म ध्यान ही है, धर्म ध्यान साधन है और शुक्ल ध्यान उसका कार्य है, दोनों ध्यानों का फल मोक्ष सुख है, आत्मिक सुख है। हम लोग अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं, सुख की प्राप्ति का उपाय भी खोज रहे हैं लेकिन निराशा ही हाथ लगी, क्या कारण हुआ ? इसमें कारण हुआ

ज्ञान का अभाव, ज्ञान के बिना जीव को एक क्षण भी शांति नहीं मिल सकती है। ज्ञान भी होना चाहिये। भेद विज्ञान–आत्मा शरीर जड़ अलग हैं इस प्रकार का ज्ञान ही भेदविज्ञान है, हमारे चैतन्य स्वरूप से द्रव्य कर्म, भाव कर्म, नो कर्मों को अलग बताने वाला मात्र भेद विज्ञान ही है।'

भेदविज्ञान के अभाव में जीव ने द्रव्य कर्मों नो कर्मों को ही अपना माना और उसी का फल है तो यही एक संसार और संसार ही दुःख का कारण है। हमारी आत्मा अनादि से शुद्ध स्वरूप द्रव्यापेक्षा है टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव यह है, व्यक्त अमर अविनाशी है, चैतन्य स्वरूप होने पर भी कर्मों के संयोग से संसार में जन्म-मरण के दुःखों को उठा रहा है, जन्म, मरण पर्याय हमारी नहीं हैं, ये तो संयोगज हैं। कर्म संयोग से होने वाली अवस्था हमारे आत्मा की कभी नहीं हो सकती है, हमें भेद विज्ञान से केवल कर्म से होने वाली पर्यायों को दूर करना है नष्ट करना है, हमें अपने स्वरूप में आना है, यही भेद विज्ञान का सार है, भेद विज्ञानी इस कार्य को कर सकता है। मोही, रागी, द्वेषी नहीं, मोह, राग, द्वेष अनन्त संसार का कारण है। हमने इन्हीं को अनादि से नहीं छोड़ा है। फल मिला दुःख, अनादि संसार, हमें प्रथमतः द्रव्य कर्म, भाव कर्म, नो कर्मों का स्वरूप और ज्ञानघन स्वभाव वाला आत्मा का स्वरूप अवश्य जानना चाहिए; उसको जानने का साधन मात्र जिनागम का स्वाध्याय, स्वाध्याय करने से वस्तु स्वरूप का ज्ञान होता है और यह ज्ञान भेद-विज्ञान होने में सहायक बनता है। इसी भेद-विज्ञान की प्राप्ति के लिये आर्त ध्यान रौद्र ध्यान से बचने के लिये स्वाध्याय रूप धर्म ध्यान का आचार्यों ने ज्ञानी पुरुषों ने सहारा लिया है। धर्म ध्यान में स्थिर रहने के लिये, आगम ग्रन्थों की रचना, पठन पाठनादिक का सहारा लिया, और धर्म ध्यान की सिद्धि की, हम लोग छद्मस्थ चंचल चित्त हैं। हम लोगों को भी धर्म ध्यान की सिद्धि के लिये पूर्वाचार्यों की रचना का पठन-पाठनादि क्रिया को अवश्य करना

चाहिये और ज्ञान रूपी अमृत का आस्वादन करना चाहिये। यही मनुष्य भव का सार है।

इस हुंडावसर्पिणी पंचमकाल में हमें शुक्ल ध्यान की प्राप्ति नहीं हो सकती है, मात्र धर्म ध्यान का ही सिद्धे के लिये जिनागमों का पठन-पाठन, स्वाध्याय आदि करना चाहिये। ये ही हमारे पास मात्र उपाय हैं इसी उपाय से हम शांति का अनुभव कर सकते हैं और कोई दूसरा साधन नहीं, स्वाध्याय से जितना मन एकाग्र हो सकता है उतना दूसरे अन्य साधनों से नहीं, इसी को ध्यान में रखते हुए हमने इस गोम्मट प्रश्नोत्तर चिन्तामणि ग्रन्थ का प्रश्न उत्तर रूप में संग्रह किया है। भगवान गोम्मटेश्वर का सहस्त्राब्दि महामस्तकाभिषेक महोत्सव के समय हमारी भावना हुई कि गोम्मटेश्वर की यादगारी में रचना कार्य होना चाहिये, नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने तो सिद्धान्त ग्रंथों का मंथन करके सार रूप गोम्मट सार जीव काण्ड, कर्म काण्ड की रचना की, लेकिन हमने सोचा हमारी तो इतनी बुद्धि नहीं कि स्वतंत्र कोई ग्रंथ की रचना करें, कई दिनों तक विचारों में ही रहे, आखिर निर्णय किया कि प्रश्न उत्तर रूप में कुछ सैद्धान्तिक विषयों का वर्णन किया जाय। अक्षय तृतिया की शुभवेला में मंगलाचरण रूप ग्रंथ का प्रारम्भ किया गया और लग गये पूर्ण पुरुषार्थ में। एक वर्ष में ग्रंथ की पूर्ति का समय भी आ गया, इस ग्रन्थ का नाम गोम्मट प्रश्नोत्तर चिन्तामणि रखा, यह ग्रन्थ संग्रह रूप है। इसमें मैंने अपनी ओर से कुछ भी नहीं लिखा, पूर्वाचार्यों के वचनानुसार ग्रंथ का संग्रह किया गया है। सो पूर्वाचार्य ही इस ग्रंथ के प्रमाण हैं, मैंने तो अपने को धर्म ध्यान में लगाने के लिये ही कार्य किया है, ग्रंथ में करणानुयोग, द्रव्यानुयोग आदि सभी प्रकार की चर्चाएँ संग्रहित की गई हैं और आधार लिया गया है जिनागम का, मैं समझता हूं कि स्वाध्याय प्रेमियों को इस एक ही ग्रंथ के स्वाध्याय करने से जिनागम का बहुत कुछ ज्ञान हो सकता है, इस ग्रंथ में गुणस्थानानुसार श्रावक धर्म, मुनि धर्म, आत्म ध्यान, पींडस्थ, रूपातीत आदि ध्यान और उनके

चित्रों सहित वर्णन किया गया है, और भी अनेक सामग्री संकलित की गई है। यह ग्रंथ अपने आप में एक नया ही संग्रहित हुआ है, इस ग्रंथ में सभी ग्रंथों से लेकर २१७८ श्लोकों का संग्रह है।

इस ग्रंथ में पूर्वाचार्यकृत गोम्मटसार जीवकांड, त्रिलोकसार, मूलाचार, ज्ञानार्णव, समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, रत्नकरंड, श्रावकाचार, तत्वार्थ सूत्र, राज वार्तिक, आचारसार, अष्टपाहुड, हरिवंश पुराण, आदि पुराण, वसु नन्दी श्रावकाचार, परमात्म प्रकाश, पुरुषार्थसिद्ध युपाय, समयसार कलश, धवलादि, उमा स्वामी का श्रावकाचार, जैन सिद्धान्त प्र., दशभक्त्यादि संग्रह, चर्चाशतक, चर्चा समाधान, स्याद्वाद चक्र, चर्चासागर, सिद्धान्त सार प्रदीप, मोक्ष मार्ग प्रकाशक, त्रिकालवर्ती महापुरुष आदि बड़े-बड़े ग्रंथों का आधार लेकर संग्रह किया गया है, इन ग्रंथों के रचनाकार बड़े-बड़े आचार्य हैं और उन ग्रंथों की हिन्दी टीका करने वाले गणमान्य पण्डित लोग और साधु-जन हैं, वो ही इस ग्रंथ के रचनाकार हैं, मैं तो मात्र संग्रहकर्त्ता हूं। एक धागे में मोति के समान हारवत हू मोति भी अलग हैं और धागा भी अलग है इसी प्रकार ग्रंथ का सारा श्रेय उन्हीं पूर्वाचार्यों को व उनके हिन्दी टीका कारों को है, मैंने तो मात्र प्रयास किया है कहां तक सफल हुआ ये मैं नहीं कह सकता हूं। ज्ञानी जन ही कर सकते हैं। इस ग्रंथ में जो-जो वस्तु जिस-जिस ग्रंथ से ली गयी उस-उस ग्रंथ का मैंने प्रकरण समाप्त होने के बाद नाम दे दिया है और कर्त्ताओं का भी नाम मूल में दे दिये हैं सो जिस किसी को भी कोई शंका हो तो इस ग्रंथ को देख लें, वो ही प्रमाण है मैं नहीं। मैं तो महान् अल्पज्ञ हूँ मुझे इतना ज्ञान कहां, मैंने तो मात्र श्रवण बेल गोला चातुर्मास होने के समय का सद्उपयोग किया है, स्वयं ज्ञानार्थ इसमें किसी प्रकार की त्रुटि रही हो तो ज्ञानी जन मुझे अल्पज्ञ समझ कर क्षमा करेंगे।

इस ग्रंथ की प्रेस प्रति तैयार करने का कार्य पूर्ण रूप से श्री १०८ मुनि पद्मनन्दी जी महाराज ने किया है और प्रेस प्रति के चित्र

बनाने का कार्य श्री १०५ आ. कुलभूषण श्री माताजी ने किया है और अन्य महानुभावों ने जिन्होंने किसी भी रूप में सहयोग किया है, सबको मेरा आशीर्वाद है ।

इस ग्रंथ में सभी प्रकार का विषय प्रतिपादित किया गया है । इस ग्रंथ के प्रकाशन हेतु जिन-जिन दातारों ने गुप्त रूप से सहयोग देकर अपने धन का सद्उपयोग किया है उनको मेरा पूर्ण आशीर्वाद है ।

ग्रंथ प्रकाशन कार्य बहुत कठिन होता है । हमारे ग्रंथमाला के कर्मठ कार्यकर्त्ता प्रकाशन संयोजक श्री शांतिकुमार जी गंगवाल हैं । जो बहुत ही प्रयत्नशील हैं, तथा सच्चे पुरुषार्थी हैं । इनके सुपुत्र प्रदीपकुमार भी आप जैसे हैं । इन्हीं के कारण यह ग्रंथमाला बहुत ही वृद्धि कर रही है और इन्हीं के कठिन परिश्रम से इस ग्रन्थमाला अब तक १२ ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं । और यह १३वां ग्रंथ प्रकाशित हुआ है। इसके लिये श्री शांतिकुमार जी, प्रदीप कुमार जी गंगवाल व ग्रंथमाला के सभी कार्यकर्त्ताओं को मेरा बहुत-बहुत शुभाशीर्वाद है ।

—गणधराचार्य कुन्थु सागर

श्री १०५ गणिनी आर्यिका विदुषीरत्न सम्यग्ज्ञान शिरोमणि सिद्धांत विशारद जिनधर्म प्रचारिका विजयामती माताजी

का

(मंगलमय शुभाशीर्वाद)

श्री शान्तिकुमारजी गंगवाल के पत्र द्वारा विदित हुआ कि श्री दि. जै. कुन्थु विजय ग्रंथमाला से "गो. प्र. चिंतामणि" ग्रन्थ प्रकाशित होने जा रहा है। यह विशिष्ट ग्रंथ होगा। इसका संकलन ८१ में श्री श्रवणबेलगोल महान् क्षेत्र पर परम पूज्य आचार्य रत्न श्री १०८ वात्सल्य रत्नाकर श्री कुन्थु सागर जी महाराज द्वारा किया था। लम्बे अरसे के बाद यह ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है इससे भव्यजनों का विशेष उपकार होगा। इसका संकलन अनेक महान् ग्रंथों को आधार लेकर किया गया है। पाठकों को एक ही ग्रंथ का स्वाध्याय अनेक मंथित अर्थों को प्रदान करेगा। गोमट्सारादि का निचोड-रसायन के सदृश उपलब्ध है। आचार्य श्री पठन-पाठन एवं अध्ययन-अध्यापन में अति पटु हैं। संग्रह करने की कला उनका बृहद् संघ प्रत्यक्ष है। अस्तु गंभीर अध्ययन कर गूढ़ और विलष्ट विषयों को सरल रूप में इसमें संयोजित किया है, जिससे यह सरलता के साथ अति रोचक भी हो सकेगा। गहन तत्त्व

विवेचना उत्तर-प्रत्युत्तरों द्वारा यत्र, तत्र अत्यन्त आकर्षक रूप में निरूपित है। स्वाध्याय प्रेमियों के मस्तिष्क को पुष्ट और स्वस्थ बनाने में यह ग्रन्थ सक्षम होगा। स्वाध्याय परम तप है। तप से निर्जरा होती है। निर्जरा का फल मुक्ति है।

मुक्ति का सार सुख है। शाश्वतिक आनन्द! आत्मानन्द में स्थित, यह ग्रंथ अविनश्वर सुख का साधन सिद्ध होगा इस प्रकार के विशाल और उत्तम ग्रन्थ का संग्रह करना जितना कठिन है, उतना ही सम्पादन-प्रकाशन भी। जो भी सम्पादक मण्डल, संशोधक जन इस कार्य में अपना अमूल्य समय सानन्द, भक्ति और ज्ञान विनय पूर्वक दे रहे हैं, यह परम हर्ष का विषय है, हमारा इसके लिये प्रकाशन संयोजक श्री शान्ति कुमार जी गंगवाल व उनके सहयोगियों को पूर्ण आशीर्वाद है, वे देव, शास्त्र, गुरु के अकाट्य श्रद्धालु बनें। इस कार्य में पूर्ण सफल हों। ज्ञानी बनकर स्वयं इस प्रकार के ग्रन्थों के निर्माण की योग्यता प्राप्त करें। जिनवाणी का प्रचार-प्रसार करते हुए ज्ञानावरणी कर्म को जीर्ण बना यथार्थ ज्ञानी, स्याद्वादी बनें।

अनेकान्त सिद्धान्त का घर-घर और जन-जन में प्रचार हो यही हमारी सद्भावना है। ग्रन्थमाला भी उन्नतिशील हो और सतत श्री जिनवाणी का प्रकाशन करती रहे।

—ग. आ. विजयामती

श्री १०५ क्षुल्लक चैत्य सागरजी महाराज

का

(मंगलमय शुभाशीर्वाद)

मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि श्री दिगम्बर जैन कुन्थु विजय ग्रंथमाला समिति जयपुर (राजस्थान) से परम पूज्य श्री १०८ गणधराचार्य कुन्थुसागर जी महाराज द्वारा संग्रहित श्री गोम्मट प्रश्नोत्तर चिंतामणि ग्रंथ का प्रकाशन हो रहा है। इस ग्रंथ में गणधराचार्य महाराज ने अनेक ग्रंथों के माध्यम से अनेक सैद्धान्तिक विषयों का संकलन किया है जिससे यह ग्रंथ साधुवर्ग एवं समाज के मुमुक्षुओं के लिये बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगा। इस ग्रंथमाला से अब तक १२ पुष्प प्रकाशित हो चुके हैं, यह १३वां पुष्प है। जितने ग्रन्थ इस ग्रन्थमाला से प्रकाशित हुए हैं। वे साधुवर्ग एवं सभी के लिए बहुत ही उपयोगी हैं।

ग्रन्थ प्रकाशन कार्यों में ग्रन्थमाला के प्रकाशन संयोजक श्री शांति कुमार जी गंगवाल बहुत ही परिश्रम करते हैं उनके अथक परिश्रम से यह ग्रन्थमाला सुचारु रूप से चल रही है। मेरी गणधरा चार्य महाराज से प्रार्थना है कि ग्रन्थमाला से इसी प्रकार ग्रन्थ प्रकाशित करवाते रहे और इसी शुभकामना के साथ ग्रन्थमाला के प्रकाशन संयोजकजी को व उनके सभी सहयोगियों को मेरा आशीर्वाद है।

—क्षुल्लक चैत्य सागर

प्रतिष्ठाचार्य प्रदीपकुमार जैन (शास्त्री) के प्रकाशित ग्रन्थ के बारे में उद्गार

प्रस्तुत ग्रंथ परम पूज्य श्रमणरत्न, वात्सल्य रत्नाकर, स्याद्वाद केशरी, श्री १०८ गणधराचार्य कुन्थुसागरजी महाराज ने बाहुबलि सहस्त्राभिषेक के शुभावसर पर उनके बाहुबलि वर्षायोग के समय पर ही वर्ष १९८१ में संग्रह करके लिखा था। इस ग्रंथ के माध्यम से गणधराचार्य महाराज ने, वर्तमान में जो भी जैनागम में मिलावट द्वारा आगम प्रदूषण किया जा रहा है, उसको रोकने के लिए उनके प्रश्नों का, शंकाओं का आचार्यों के प्रमाण देकर बहुत ही सुलभ एवं सुन्दर ढंग से समाधान किया है। भोले-भाले स्वाध्याय प्रेमी मुमुक्षुओं को आगम का सही ज्ञान कराने की अद्भुत चेष्टा की है। वर्तमान में एकान्तवादी, झूठ, अत्याचारी, पंथवादी, कूटनीतिवाले, राजनीति वाले, सुधारवादी, मायाचारी, आत्म-प्रशंसक, धर्मघातक, कुशास्त्र-प्रचारक, पथ भ्रष्ट, पद भ्रष्ट, एवं धर्मद्रोही लोग, आगम दूषित करने का प्रयास कर रहे हैं, उनके ऊपर निष्पक्षता से पुरजोर शब्दों में स्याद्वाद एवं अनेकता के माध्यम से अच्छा आघात किया है। सभी जगह पूर्वाचार्यों के शब्दों में उनकी गाथा एवं सूत्रों का प्रमाण देकर स्पष्टीकरण किया है। प्रस्तुत ग्रंथ में महाराज ने अपने स्वयं के कुछ भी विचार नहीं लिखे, यह प्रमुख विशेषता रही है। मैं डंके की चोट यह कह सकता हूँ वर्तमान में परम पूज्य श्री १०८ गणधराचार्य कुन्थुसागरजी महाराज जैसे ओजस्वी एवं निष्पक्ष सिद्धहस्त लेखक की परम आवश्यकता है, क्योंकि आप श्री किन्हीं धनवानों के, पंथ वादियों के, धार्मिक, सामाजिक आदि संस्थाओं के प्रभाव में आकर अपने आपको परतन्त्र बनाये हुए नहीं हैं। आप के संघ में लगभग ४० साधु विद्यमान हैं। वे सभी स्वतन्त्र हैं एवं सही आगम के प्रचार एवं प्रसार के

लिए उन्होंने जो भी मार्ग अपनाया है, वह निश्चय ही प्रभावकारी हुआ है, हो रहा है, और होगा, इसमें किसी प्रकार की अतिशयोक्ति नहीं है। सभी गुरु भक्त एवं समाज इस बात को जानता है।

श्री दिगम्बर जैन कुन्थु विजय ग्रंथमाला समिति जयपुर (राज.) से १३वें पुष्प के रूप में इस ग्रंथ का प्रकाशन हुआ है। यह बहुत ही प्रसन्नता की बात है। इस ग्रंथमाला से सभी ग्रंथों का प्रकाशन बहुत ही लाभकारी रहा है। इसके लिए मैं ग्रंथमाला के प्रकाशन संयोजक महोदय, एवं ग्रंथमाला के सभी सहयोगी कार्यकर्ताओं को धन्यवाद देता हूँ कि जिन्होंने कितना कठिन परिश्रम करके जिनवाणी के प्रचार एवं प्रसार में अपनी निःस्वार्थ सेवायें अर्पित कर रहे हैं।

मुझे आशा ही नहीं बल्कि पूर्ण विश्वास है कि इस ग्रंथराज के माध्यम से धर्म प्रेमी बन्धु स्वाध्याय करके लाभ उठावेंगे एवं गुरुवर्य गणधराचार्य महाराज मिथ्यात्व तिमिर का नाश करने के लिए सूर्य से तेजस्वी, प्रकाशमान, ज्योति के समान, हम सभी को प्राप्त हुए हैं, उनसे हम सभी लोग लाभ उठाते रहेंगे। ऐसे गुरुदेव के चरणों में मैं अल्पज्ञ कोटि-कोटि बार नमन करते हुए नमोस्तु अर्पित करता हूँ।

प्रतिष्ठाचार्य
प्रदीप कुमार जैन
बी. कॉम. शास्त्री
कुसुम्बा (महाराष्ट्र)

परम पूज्य चारित्र चक्रवर्ती श्री १०८ आचार्य आदिसागरजी महाराज

का

जीवन परिचय

[ले०परम पूज्य १०८ गणधराचार्य कुन्थुसागर जी महाराज के परम शिष्य युवक सम्राट श्री १०८ मुनि कुमुदनन्दिजी महाराज]

आदि सागराचार्य वर्य, गुरु पद महावीर कीर्ति वंदू त्रिकाल।
सन्मति सिंधू को नमन कर वरण जीवन की जयमाल ।।

परम पूज्य प्रातः स्मरणीय अध्यात्म योगी, चारित्र चक्रवर्ती, धर्म दिवाकर, जगद वंद्य, महर्षि योगीन्द्र चूडामणि अद्वितीय सन्त आदिसागरजी का परिचय जितना हमने पढ़ा और सुना है उसे संक्षिप्त में लिख रहा हूँ।

महाराष्ट्र प्रान्त में एक "अंकली" नाम का छोटा किन्तु मनोहर गांव है। वहां पर १००८ श्री आदिनाथ जिनालय है, जिसमें सतत् धर्मामृत वर्षण होता रहता है। इसी गांव में जिन भक्त स्वधर्मनिष्ठ, सदाचारी, धर्मात्मा, श्री सिद्धगौडा पाटील अपनी ध. प. अक्काबाई के साथ निवास करते थे। शिवगौडा जिनका जन्म १८६६ में शुभ स्वप्नों पूर्वक हुआ जो हमारे धर्म नेता हुए। एक दिन बच्चों ने मिलकर खेल में इन्हें कमरे में बन्द कर दिया। कुछ क्षणों में मुक्कों से किवाड तोडकर हँसते हुए बाहर निकल गये। बड़े-बड़े कद्दू (काशीफल) को हाथ की चपेट से फोडकर कच्चा ही खा लेना, पचा लेना साधारण बात थी नाश्ते में एक सेर गुड व एक सेर मूंगफली पान-सुपारी के समान थी। अपनी गृहस्थी में उपवासादिपूर्वक ही रहते थे।

अचानक एक दिन अधिक प्यास लगी। इन्होंने चूने के पानी को छाछ समझकर पी लिया। कुछ ही क्षण बाद पेट से सर्प निकल भागा। यह देखकर घर वाले दंग रह गये। सं. १८०६ में नांदजी गांव में जिनप्पा स्वामी के पास क्षुल्लक दीक्षा धारण की और आदि सागर नाम से विख्यात हुए। उस समय मुनिमार्ग व्यवस्थित नहीं था, अतः तीन महिने बाद में जिनेन्द्र प्रभु की साक्षी में ऐलक हो गये। और तीन-तीन उपवास के बाद आहार करने लगे और ५ प्रकार के स्वाध्याय में तल्लीन हो गये। सं. १८१४ मंगसर शुक्ल २ मुक नक्षत्र मंगलवार को दस बजे सिद्धक्षेत्र कुंथलगिरि जी में श्री देशभूषण, कुलभूषण भगवान के सानिध्य में स्वयं (आत्मप्रबोध) बल से निर्ग्रन्थ मुनि दीक्षा धारण की।

मुनि दीक्षा धारण करने के बाद आप आचार्य पद से सुशोभित हुए। आपकी तपस्या बहुत अद्भुत एवं कठोर थी। आप सात-सात उपवास पर आहार लेते थे। और आहार में भी एक ही वस्तु का आहार लेते थे। आपने समाधि से पूर्व अपना आचार्य पद मुनि श्री १०८ महावीर कीर्ति जी महाराज को प्रदान किया। आपकी समाधि संवत् १९९९ में फाल्गुन कृष्णा तेरस को ऊबगांव (कुंजवन) में हुई। आप अंकली गांव के रहने वाले थे, अतः आप परम पूज्य चारित्र चक्रवर्ती श्री १०८ आचार्य आदिसागरजी महाराज (अंकली कर) के नाम से प्रसिद्ध हुए।

परम पूज्य श्री १०८ आचार्य महावीर कीर्तिजी महाराज

परमपूज्य श्री १०८ आचार्य महावीर कीर्ति जी महाराज अपने गुरू के समान ही उच्च कोटि के महान् विद्वान् एवं तपस्वी सिद्ध हुए। आपका जन्म फिरोजाबाद नगर में हुआ और आपके पिता का नाम रतनलाल व माता का नाम बूंदादेवी जी था। आपका नाम श्री महेन्द्रकुमार था। दिगम्बरीय दीक्षा धारण कर आचार्य पद से

विभूषित होकर आपने भारतवर्ष के नगर-नगर और ग्राम-ग्राम में विहार कर जिनधर्म का प्रचार किया और अनेक भव्यात्माओं को वैराग्य की ओर बढ़ने का सदोपदेश देकर दिगम्बरीय दीक्षायें प्रदान की। आज आप ही के परम शिष्यों में परम पूज्य श्री १०८ सन्मार्ग दिवाकर निमित्तज्ञान शिरोमणि खण्डविद्या धुरन्धर आचार्य विमलसागरजी महाराज, महान् तपस्वी प. पू. श्री १०८ आचार्य सन्मति सागरजी महाराज, प. पू. श्री १०८ गणधराचार्य कुन्थुसागरजी महाराज, प. पू. श्री १०८ आचार्य संभवसागरजी महाराज हमारे बीच विद्यमान है। इन सभी आचार्यों के द्वारा कितनी धर्म प्रभावना हो रही है और कितना लाभ भव्यात्माओं को पहुँच रहा है, यह शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता है।

परम पूज्य १०८ आचार्य सन्मति सागरजी महाराज

परमपूज्य आचार्य महावीरकीर्तिजी महाराज ने समाधि के पूर्व अपना आचार्य पद संघस्थ परम तपस्वी श्री १०८ मुनि सन्मतिसागरजी महाराज को प्रदान किया। आप भी परम तपस्वी, ज्ञानी, ध्यानी आचार्य हैं। भारतवर्ष देशके नगर-नगर और गांव-गांव में विहार कर भव्यजनों को धर्मामृत पान करा रहे हैं।

———

श्री कुन्थु-विजय ग्रन्थमाला

[रचयिता-बिहारीलाल मोदी शास्त्री]

श्री कुन्थुविजय ग्रंथमाला ने अब तक, ग्रंथ प्रकाशित किये विशाल ।
द्वादश अनुपम पुष्पों से, ग्रन्थित कीनी उत्तम माल ।।
साहित्य प्रकाशन के जग में, हुआ समुन्नत इसका भाल ।
अत्यल्प समय में इसने, दिये विश्व को अनुपम लाल ।।१।।
प्रथम पुष्प लघुविद्यानुवाद है, वर्णित यन्त्रतन्त्र अरु मन्त्र ।
दुतिय चतुर्विंशति तीर्थंकर, विधी अनाहत मन्त्ररु यन्त्र ।।
तजो मान करो ध्यान तीसरा, विधि सिखाता धरना ध्यान ।
हुम्बज श्रमण सिद्धान्त पाठावलि, प्रातः पठन करे कल्याण ।।२।।
पुनर्मिलन में सती अंजना, अरु पवनञ्जय का आख्यान ।
प्रतिदिन पूजन करते प्राणी, पूजा शीतलनाथ विधान ।।
वर्षायोग स्मारिका जयपुर, रहा अनौखा वर्षायोग ।
श्री सम्मेद शिखर माहात्म्य को पढ़कर, क्रम से मिटता भव का रोग ।।३।।
कथा रात्रि भोजन त्याग की, सुरभित करता नवमा फूल ।
दशम पुष्प को पढ़कर प्राणी, पा जाता है भव का कूल ।।
भैरव पद्मावती कल्प एकादश, तन्त्र मन्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ ।
सच्चा कवच कहानी सन्ग्रह, बतलाता है सच्चा पंथ ।।४।।
गोम्मट प्रश्नोत्तर चिंतामणि, तेरहवाँ यह ग्रंथ महान् ।
सार सैकडों ग्रंथों का गुम्फित कीना आचार्य सुजान ।।
चारों अनुयोगों का अनुपम, भरा हुआ है इसमें सार ।
इसका अध्ययन करके प्राणी, कर सकता आतम उद्धार ।।५।।
श्री शान्तिकुमार के संयोजन में मिली सफलता इसको आज ।
निष्ठा लगन और श्रम उनका, शीघ्र सफल करता सब काज ।।
ज्ञान ज्योति यह जले अखण्डित, मिथ्यातम का करै विनाश ।
करें कामना लाल बिहारी, अखिल विश्व में करै प्रकाश ।।६।।

प्रस्तावना

जैन धर्म निवृत्ति-प्रधान धर्म है। निवृत्ति की महत्ता प्रवृत्तियों के वातावरण में अधिक निखरती है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार परिग्रह के वातावरण में त्याग की उज्ज्वलता प्रगट होती है। जैन धर्म के आद्य तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव असि, मसि आदि लौकिक प्रवृत्तियों के स्वयं सूत्रधार थे, अपार राज्य-वैभव के स्वामी थे, किन्तु उन्होंने वैराग्य धारण कर त्याग व निवृत्ति का मार्ग अपनाया, और तप व साधना से 'परमात्मा' पद प्राप्त किया। (मोहनीय) कर्मावरण के हटने पर उनके स्वच्छ व निर्मल 'ज्ञान' के प्रकाश में समस्त लोकालोक प्रतिबिम्बित हो उठा था। इस ज्ञानसूर्य की किरणें 'दिव्यध्वनि' के रूप में प्रस्फुटित हुईं और जनता को उपदेश सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। अनेक भव्य जनों को प्रतिबोधित होकर आत्मकल्याण करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। जनता को भवसागर से तिरने का मार्ग प्रशस्त हुआ, अतः वे प्रथम तीर्थंकर कहलाए। समस्त कर्मों का क्षय कर वे सिद्ध-बुद्ध, मुक्त हुए।

ऋषभदेव के अनन्तर कालक्रम से २३ तीर्थंकर और हुए जिनमें अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर थे। सभी अर्हन्तों व तीर्थंकरों की तरह वे भी जनता को भवसागर से मुक्ति का मार्ग दिखाकर स्वयं मुक्त हुए। पूर्व तीर्थंकरों की तरह ही उनकी अर्थवाणी को उनके निकटस्थ विशिष्ट प्रतिभाधारी गणधरों (गणेशों) ने शब्दरूप

से ग्रथित कर समस्त तात्त्विक विवेचना (तत्त्वार्थ) से परिपूर्ण सुव्यवस्थित शास्त्र 'आगम' का रूप प्रदान किया (प्रव. १/८२, सूत्र प्रा.१, नियम ८, राज वा. ६/१३/२)।

आगम, प्रवचन, जिनाज्ञा, जिनशासन, सिद्धान्त, श्रुत सूत्र आदि शब्द एकार्थक हैं। परवर्ती आचार्यों ने भी पर कल्याण के उद्देश्य से उपदेश दिया (प्रव. ३/४८), और जैन शासन की ज्ञानधारा को अनवरत रूप से प्रवाहित किए रखा। इन आचार्यों में—पुष्पदन्त, भूतबलि, गुणधर, कुन्दकुन्द, बट्टकेर, शिवकोटि, उमास्वामी, समन्तभद्र, पूज्यपाद, योगेन्दु, यतिवृषभ, अकलंक, जिनसेन, विद्यानन्दि, वीरसेन, गुणभद्र, अमृत चन्द्र, सोमदेव, शुभचन्द्र स्वामी, कार्तिकेय, पद्मनन्दि नेमीचन्द्र वीरनन्दि आदि प्रमुख हैं।

तटस्थ एवं प्रामाणिक पूर्वोक्त आचार्य—गुरुओं की परम्परा से प्राप्त समस्त साहित्य प्रमाण भूत माना जाता है (धवला पु. १३, पृ. ३८२, पु. १, पृ. १६७—१६८)। आचार्य—परम्परा के माध्यम से प्राप्त जिनवाणी का अध्ययन प्रत्येक जैन मुमुक्ष का कर्त्तव्य है, क्योंकि इसके अध्ययन द्वारा ही भव्य जीव मोक्ष मार्ग का पथिक होता है (सूत्र प्रा. २)। शास्त्ररुपी आलोक के बिना विशाल ज्ञानरुपी आँखें भी मोहान्धकार से व्याप्त कल्याणरुपी मार्ग को देख नहीं पातीं (अनगार—१/१५) जिनवाणी को समस्त दुःखों का क्षय करने वाली अमोघ औषधि माना गया है (दर्शन प्रा. १७)। इसका अनुशीलन करने वाला अपने संसार—चक्र का नाश करता है (सूत्र प्रा. ३)। जिनवाणी के माध्यम से जीव—अजीव आदि पदार्थों के स्वरुपादि का निश्चय तथा उनके परस्पर—भेद का यथार्थ बोध होता है, और फलस्वरुप मोह नष्ट होकर सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है (मोक्ष प्रा० ४१, २८, प्रव. १/८६, सम्यग्ज्ञान से हेय—उपादेय का ज्ञान होता है फलस्वरुप एकाग्रता, शील सम्पन्नता व संयमवृत्ति के साथ निर्वाण का मार्ग प्रशस्त होता है। तत्त्वज्ञानी की प्रवृत्ति या अप्रवृत्ति—दोनों मोक्षगामिनी होती हैं (आत्मानु पृ. १८०)। तत्त्वज्ञान-प्राप्ति का प्रमुख साधन 'स्वाध्याय' है, जिसे विशिष्ट तप कहा गया है (अनगार ३/२३)।

स्वाध्याय का स्वरूप

स्वाध्याय के स्वरूप के सम्बन्ध में विविध निरूपण प्राप्त होते हैं, जो इस प्रकार हैं—

(I) सु+आ+अध्याय=स्वाध्याय। 'सु' यानी भलीभांति (सुष्ठु) 'आ' यानी मर्यादा के साथ, 'अध्ययन'—श्रुत का विशेषतः अनुशीलन 'स्वाध्याय' है। निष्कर्षतः जिनेन्द्र-प्ररूपित शास्त्र का एकाग्र चित्त से अध्ययन—पढ़ना 'स्वाध्याय' है (तत्त्वानुशासन, ८०)। अध्ययन से तात्पर्य उन शास्त्रों के पठन-पाठन से है, जिनसे चित्त निर्मल होता है या जिससे तत्त्वबोध, संयम व मोक्ष की प्राप्ति होती है या जिससे तत्त्वबोध, संयम व मोक्ष की प्राप्ति होती है (विशेषावश्यक भाष्य—९५८)।

(II) शास्त्रादि का स्व+अध्याय। यानी अपने लिए—अपनी आत्मा के लिए—हितकारी अध्ययन करना 'स्वाध्याय' है (सर्वार्थसिद्धि, ९.२०)।

(III) स्व+अध्याय। यानी 'स्व' का, आत्मा-का, अध्ययन (जिनदास चूर्णि, दशवै. ८.८१)। आत्मा के आशय को पढ़ना, आत्मा के गुणों की खोज करना, उन्हें जीवन में उतारना, इस प्रकार आत्मा के स्वाभाविक गुणों की (मननादि द्वारा) प्राप्ति ही वास्तविक स्वाध्याय है।

(IV) आलस्य त्याग कर ज्ञान की आराधना को 'स्वाध्याय' कहते हैं (सर्वार्थसिद्धि, ९.२०)।

यहाँ 'ज्ञान' पद से 'सच्छास्त्र', 'आराधना' पद से अध्ययन-मनन आदि अभिप्रेत है; अतः भगवान् जिनेन्द्र द्वारा निरूपित जीव-अजीवादि तत्त्वों के निरूपण करने वाले (बारह अंग, चौदह पूर्व) सच्छास्त्रों का मनन ही-व्यवहार दृष्टि से—(मूलाचार, ५११) स्वाध्याय है। 'ज्ञान' पद से आत्मा भी अभिप्रेत होता है (प्रव. १.३३)। ऐसी स्थिति में आत्माराधना ही, परमार्थ दृष्टि से, स्वाध्याय है।

जैन शास्त्रों में स्वाध्याय के पांच अंग बताए गए हैं। तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार १. वाचना, २. पृच्छना, ३. प्रति-पृच्छना (अनुप्रेक्षा), ४. आम्नाय, ५. धर्मोपदेश—ये पांच अंग हैं (तत्त्वार्थसूत्र ९.२५)। व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवतीसूत्र), मूलाचार आदि के अनुसार १. वाचना, २. पृच्छना, ३ परियर्तना, ४. अनुप्रेक्षा, ५. धर्म कथा—ये ५ अंग है (व्याख्या प्रज्ञप्ति, २५.७.८०१) मूलाचार, ३९३, उत्तराध्ययन, ३०.३४, औपपा. १९)।

(१) वाचना—

निर्दोष ग्रन्थ तथा तत्प्रतिपादित अर्थ—इन दोनों के उपदेश का योग्य पात्र को प्रदान करना 'वाचना' है (सर्वार्थसिद्धि ९.२५)। गुरु शिष्य को सूत्रादि की 'वाचना' प्रदान करता है, भव्य जीव को शास्त्र पढ़ाता है, ग्रन्थ के अर्थ की प्ररूपणा करता है (धवला पु. ९, पृ २५२, २९२, जै. सि. को. ३.५३९), शिष्य उसका ग्रहण करता है। वह शिष्य भी योग्य पात्रों को वाचना दे सकता है। सामान्यतः सद्गुरु से सूत्रपाठ की शिक्षा लेकर शास्त्रों का वाचन, आत्मकल्याण-हेतु निर्दोष ग्रन्थों को स्वयं पढ़ना, दूसरों को समझाने-हेतु सूत्रानुयोगी व्याख्यान करना या वाचन करना—ये सब कार्य 'वाचना' के अन्तर्गत हैं।

सूत्र-व्याख्यान के ६ भेद शास्त्रों में बताए गए हैं—(१) संहिता (पद का अस्खलित, शुद्ध उच्चारण), (२) पद (वाक्य के प्रत्येक पद का शुद्ध पृथक्-पृथक् उच्चारण) (३) पदार्थ (पद का अर्थ), (४) पद-विग्रह, (५) पदच्छेद (चालना, शंका आदि उठाना) (६) प्रसिद्धि (उठाई गई शंकाओं का समुचित समाधान) (उद्धृत—सुत्तागमे II भाग, पृ० ५८-५९)।

सूत्रों का उच्चारण इस तरह सांगोपांग व परिपूर्ण रूप से किया जाए कि अक्षरादि की स्खलना न हो, पदों को पृथक्-पृथक् कर पढ़ा जाए, अपनी ओर से कोई अक्षर, पद आदि का न तो योग किया जाए, और न ही कमी की जाए, वर्णों का यथास्थान (उदात्तादिघोष-नियमानुरूप), सुस्पष्ट उच्चारण हो, प्रत्येक पद अपनी माला में गूंथे हुए फूल जैसा सुशोभित हो (अनुयोग द्वार सू० १३-१४, विशेषावश्यक भाष्य, ८५१, ८५४-८५५)।

दिगम्बर ग्रन्थों में वाचना के चार प्रकार इस प्रकार बताए गए हैं—(१) नन्दा (२) भद्रा (३) जया (४) सौम्या (धवला पु० ९, पृ० २५२)।

नन्दा—सम्यग्दर्शनों को पूर्व पक्ष के रूप में उपस्थापित कर स्व (जैन) मत को सिद्धान्त रूप में उपस्थापित करने की वाचना 'नन्दा' है (धवला पु० ९, २५२)।

जया—पूर्वापर-विरोध-परिहार के बिना सिद्धान्त-अर्थों का कथन 'जया' वाचना है (उत्त० १.५८ निर्युक्ति, शांतिसूरिवृत्ति।

भद्रा—युक्तिपूर्वक समाधान कर पूर्वापर-विरोध को हटाते हुये समस्त पदार्थों की व्याख्या 'भद्रा वाचना' है। सूत्रार्थ का पूर्वापर-संगति के साथ अपने लिए ज्ञान से, तथा दूसरों के लिए वचनों से निर्गमना (निर्यापना=अर्थ-निरूपणा) वाचना-सम्पद कही जाती है (उत्तराध्ययन १.५८ निर्युक्ति शांतिसूरि वृत्ति।

सौम्या—कहीं-कहीं स्खलन वृत्ति से, (थोड़ा-थोड़ा भाग छूते हुए) की जाने वाली वाचना 'सौम्या' है (उत्तराध्ययन १.५८ निर्युक्ति शांतिसूरि वृत्ति)।

वाचना की स्थिति में शिष्य को मान, क्रोध, प्रमाद, आलस्य आदि से रहित होना चाहिए (उत्तरा ११.३)।

(२) पृच्छना

संशय का उच्छेद करने या निश्चित बल (महत्त्व) को पुष्ट करने हेतु प्रश्न करना 'पृच्छना' है (सर्वार्थसिद्धि, ९.२५, रा. वार्तिक ९.२५.२, अनगार धर्मामृत, ७.८४, धवला पु. १४ पृ. ९)। शास्त्रों के संदिग्ध अर्थ को किसी दूसरे से पूछना, सत्पथ की ओर बढ़ने हेतु मोक्षादिमार्ग का स्वरूप निश्चित करना, संशय-निवारणार्थ प्रश्न या जिज्ञासा करना। पढ़ते समय या पढ़ने के बाद, शिष्य के मन में जहाँ कोई शंका उठे ऐसी स्थिति में, अथवा कोई बात आगम में स्पष्ट न हो सकी हो, उसके सम्बन्ध में गुरुजनों से समाधान पाने का प्रयत्न करना 'पृच्छना' है (धवला पु. ९. पृ. २६२, धवला पु. १४, पृ. ९)। ये प्रश्न एक प्रकार से विषय की सुस्पष्टता के लिए प्रारम्भिक कदम है। इसीलिए शास्त्रों में आचार्यादि बहुश्रुत के

समक्ष अर्थ-विनिश्चय हेतु जिज्ञासा रखने की प्रेरणा दी गई है (धवला पु. पृ. २८५)।

(३) परिवर्तना (या आम्नाय)

गृहीत ज्ञान को स्थायी बनाने हेतु किसी सूत्र का या पठित शास्त्र का, आचारविद व्रती द्वारा स्वयं किया गया बार-बार शुद्ध (पाठ-दोषों से रहित) पाठ 'परिवर्तना' है (तत्त्वार्थ ९.२५ श्रुत-सागरीय वृत्ति)। परिचित श्रुत का मर्म समझने, तथा स्मृति में पूर्णता स्थिर करने हेतु यह एक प्रकार का परिशीलन या पर्यालोचन भी है (धवला पु. ९, पृ० २६२)। पठित ग्रन्थ का शुद्ध-शुद्ध उच्चारण करते हुए बार-बार पाठ से तत्सम्बद्ध अर्थ मन में दृढ़ता से बैठता जाता है।

(४) अनुप्रेक्षा

सन्देह की स्थिति में अधिगत शास्त्रों में प्रतिपादित पदार्थ का, सुने हुए अर्थ का श्रुतानुसार तात्त्विक दृष्टि से, पुनः-पुनः मन में अभ्यास, गम्भीर चिन्तन-मनन (सर्वार्थसिद्धि ९.२५; तत्त्वा ९.२५ भाष्यानुसारी टीका; धवला पु. १४, पृ. ९), मन की स्थिरता हेतु वस्तु-स्वभाव एवं पदार्थ-स्वरूप का या पूर्ण रूप से हृदयंगत श्रुतज्ञान का परिशीलन-पर्यालोचन 'अनुप्रेक्षा' है (९ धवला पु. ९, पृ. २६२; तत्त्वा श्रुतसागरीय वृत्ति ९.२५; तत्त्वार्थ राजवार्तिक ९.२५.३; चारित्रसार, पृ. ६७; अनुयोगद्वार, हरिभद्रीय वृत्ति ७, पृ० १०; तत्त्वार्थसार, ७२०; आचारसार, ४.९१; धर्मशर्माभ्युदय वृत्ति, ३.५४)

(५) धर्मोपदेश

सर्वज्ञप्रणीत अहिंसादि लक्षण रूप धर्म का कथन (अनुयोग) धर्मकथा या धर्मोपदेश है (सर्वार्थसिद्धि ९.२५)। इसके अन्तर्गत त्रेसठ शलाका पुरुषों का चरित्र पढ़ना-चित्त को विषयों से रोक कर शान्तिदायी पाठों का अभ्यास तथा उन्हें कण्ठस्थ-करना-चिन्तन-मनन के बाद तत्त्व-रहस्य जब स्वयं को उपलब्ध हो जाए तब विचारामृत को जन-जन के समक्ष प्रस्तुत करना, दूसरों को सत्य के अन्वेषण हेतु मार्ग बताना, तथा सन्देह-निवृत्ति हेतु पदार्थ का स्वरूप

बताना, श्रुतादि धर्म की व्याख्या करना, तथा श्रोताओं में रत्नत्रय की प्राप्ति हेतु प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करने के लिए स्वतन्त्र रूप से धार्मिक उपदेशादि द्वारा बढ़ाना आदि परिगणित हैं ।

प्रमुखतः दिगम्बर मतानुसार प्रथमानुयोग रूप, श्वेताम्बर-मतानुसार धर्मकथानुयोग रूप शास्त्र 'धर्मकथा या धर्मोपदेश' में परिगणित हैं (महापुराण १.१२०) ।

धर्मोपदेश, अर्थोपदेश, व्याख्यान, अनुयोग-वर्णन—ये सब पर्यायवाची शब्द हैं तत्त्वा ९.२५ भाष्य टीका ।

स्वाध्याय की महत्ता

शास्त्रों में श्रावक (जैन) के ६ आवश्यक दैनिक क्रम बताए गए हैं, उनमें स्वाध्याय (तत्त्वाभ्यास आदि) की भी परिगणना की गयी है (पद्मनन्दि पंच ६.७; १.१३; चारित्रसार पृ. ४३; जै. सि. को. ४.५१ ।

साधु के लिए जो आवश्यक ६ क्रियाएं निर्धारित हैं, उनमें स्वाध्याय भी एक है । केवल चार घड़ी सोने के अलावा मुनि अपना समय आवश्यक धर्मक्रियाओं में ही लगाता है । उनमें भी स्वाध्याय में मुनि, को आठ प्रहर के पूरे दिन-रात में, चार प्रहर का समय (यानी आधा समय) व्यतीत करना होता है । प्रथम प्रहर में सूत्र स्वाध्याय, द्वितीय प्रहर में (सूत्रार्थ-चिन्तन) ध्यान, तृतीय में भिक्षाचर्या, चतुर्थ में पुनः स्वाध्याय करने की मुनिचर्या शास्त्रों में निहित है (उत्तराध्ययन सूत्र २६.११-१२, २६.१७-१८, २६.४३) । इस विधि-विधान में त्रुटि आने पर 'प्रतिक्रमण' में उक्त भूल का प्रायश्चित्त करता है (सामायिक आवश्यक प्रतिक्रमण सूत्र; आवश्यक सूत्र; सावद्यावस्सय सुत्त-प्रतिक्रमण सूत्र-ज्ञानातिचार पाठ) ।

प्रस्तुत ग्रन्थ

आज का युग व्यस्तताओं से भरा है, ऐसी स्थिति में विशालकाय व अनेक जैन आगमों का स्वाध्याय कर पाना कठिन है । बड़ी प्रसन्नता की बात है कि स्वाध्याय तपोमूर्ति परम पूज्य १०८ गणधराचार्य कुन्थुसागर जी महाराज ने अपने जीवन के स्वाध्याय

का सार प्रस्तुत ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत किया है, जिससे बहुत कम समय में समस्त जिनवाणी का संक्षिप्त सार ज्ञात हो सकता है। 'गोम्मट प्रश्नोत्तर चिन्तामणि' नामक इस ग्रन्थ में अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का सार समाहित हुआ है। इन ग्रन्थों में 'गोम्मटसार' 'त्रिलोकसार', 'मूलाचार', 'ज्ञानार्णव', 'समयसार', 'प्रवचनसार', 'नियमसार', 'रत्नकरंड श्रावकाचार', 'तत्त्वार्थसूत्र', 'आचारसार', 'राजवार्तिक', 'परमात्मप्रकाश', 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय', 'मोक्षमार्ग-प्रकाशक' आदि महत्त्वपूर्ण हैं।

इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का प्रकाशन श्री दिगम्बर जैन कुन्थु विजय ग्रन्थ माला समिति की ओर से १३वें पुष्प के रूप में किया जा रहा है। यह ग्रन्थ श्रावकों एवं साधुवों दोनों के लिए ही लाभदायक बन गया है।

ग्रन्थ के मुद्रण व प्रकाशन व्यवस्था के प्रमुख स्तम्भ ग्रन्थमाला के प्रकाशन संयोजक श्री शांतिकुमारजी गंगवाल को अपना धन्यवाद ज्ञापित करता हूं। इस ग्रन्थमाला के मुख्य प्रेरणा स्तम्भ परम पूज्य श्री १०८ गणधराचार्य स्याद्वादकेशरी, श्रमणरत्न, वात्सल्य रत्नाकर कुन्थुसागर जी महाराज एवं श्री १०५ गणिनी आर्यिका सिद्धान्त विशारद, सम्यग्ज्ञान शिरोमणि त्रिदुधीरत्न जिनधर्म प्रचारिका विजयामती माताजी के पावन चरणों में मेरा शत शत 'नमोस्तु' अर्पित करता हूं।

डॉ० दामोदर शास्त्री
आचार्य (रीडर) एवं अध्यक्ष :
(जैन दर्शन विभाग)
श्री ला. ब. शास्त्री केन्द्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली

प्रकाशकीय

भारत वर्ष में बिहार प्रांत की भूमि सर्व श्रेष्ठ पावन पवित्र भूमि है, क्योंकि यहां पर हमारे २४वें तीर्थंकर भगवान महावीर ने जन्म लिया और २२ तीर्थंकर अनेक भव्यात्माओं के साथ मोक्ष पधारें। इसी प्रांत में स्थित आरा नगर में महान् तपोनिधि स्याद्वाद केशरी, वात्सल्य रत्नाकर, श्रमण रत्न श्री १०८ गणधराचार्य कुंथुसागरजी महाराज व उनके विशाल संघ सानिध्य में यह पंच कल्याणक महोत्सव विभिन्न धार्मिक कार्यक्रमों के साथ सम्पन्न हो रहा है।

मुझे हार्दिक प्रसन्नता है कि ऐसे शुभावसर पर "श्री दि. जै. कुंथु विजय ग्रन्थमाला समिति" जयपुर (राज.) द्वारा १३वें पुष्प के रूप में प्रकाशित "श्री गोम्मट प्रश्नोत्तर चिंतामणि" ग्रंथ का विमोचन परम पूज्य श्री १०८ गणधराचार्य कुंथुसागरजी महाराज के करकमलों द्वारा करवाने का परम सौभाग्य प्राप्त हो रहा है।

श्री गोम्मट प्रश्नोत्तर चिंतामणि ग्रंथ एक गागर में सागर के समान ग्रंथराज है। इस ग्रन्थराज में लगभग ४० मूलभूत ग्रन्थों को लक्ष्य में रखकर २,१७८ श्लोकों में संग्रह किया गया है। इसका संग्रह परम पूज्य श्री १०८ गणधराचार्य कुंथुसागरजी महाराज ने अपने बाहुबलि वर्षायोग के समय बहुत ही कठिन परिश्रम से वर्ष १९८१ में किया था।

ग्रंथ में प्रत्येक विषय को समझाने के लिये कितना कठिन परिश्रम महाराज ने किया है यह तो आप स्वयं ही ग्रंथ को पढ़कर के जानकारी प्राप्त कर लेंगे। मैं तो मात्र इतना ही बता सकता हूं कि इस एक ही ग्रंथ के स्वाध्याय करने से धर्म प्रेमी बंधुओं को अनेकों ग्रंथों का स्वाध्याय हो जावेगा। जिससे सभी ग्रंथों के विषयों की जानकारी प्राप्त हो जावेगी। इस प्रकार यह ग्रंथ "ग्रंथरत्न" के रूप में सिद्ध होगा।

परम पूज्य श्री १०८ गणधराचार्य महाराज आर्ष परम्परा के दृढ़ स्तम्भ हैं। समता, वात्सल्य, निर्ग्रन्थता, आपके विशेष गुण हैं, जो भी आपके एक बार दर्शन प्राप्त कर लेता है, वह अपने आपको धन्य मानता है।

स्वकल्याण के साथ-साथ आपके भाव हमेशा पर कल्याण के भी बने रहते हैं। जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण आपका विशाल संघ है। आपने अनेकों दीक्षायें दी हैं। वर्तमान में आपके संघ में लगभग ३१ साधु हैं। जिनमें आप ही के दीक्षित मुनियों की संख्या ही २२ है। जो भारत वर्ष में विद्यमान किसी भी श्रमण संघ में नहीं है। यह हमारे लिए बहुत ही गौरव व प्रसन्नता की बात है कि ऐसा विशाल संघ हमारे मध्य विद्यमान है।

परम पूज्य श्री १०८ आचार्य रत्न धर्म सागरजी महाराज के आदेशानुसार आपने देश के नगर-नगर और गाँव-गाँव में विहार कर सोनगढ़ साहित्य का बहिष्कार करने व जिन मन्दिरों से उस साहित्य को हटाने के लिए पुर-जोर अभियान चलाया। जिसके फल स्वरूप आपने कितने उपसर्ग सहन किये? कितने प्राणघातक हमलें आप पर हुए? लेकिन धर्म की रक्षा के लिए आपने-अपने प्राणों की भी तनिक चिन्ता नहीं की और जो कार्य इस दिशा में गणधराचार्य महाराज ने किया है, उस पर हम सभी को गौरव है। आप सदैव ही निडर होकर के पूर्वाचार्यों द्वारा लिखित ग्रंथों का ही स्वाध्याय करने की प्रेरणा देते रहे हैं। और इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु आपने इस विशाल ग्रंथ "गोम्मट प्रश्नोत्तर चितामणि" का संकलन कर प्रकाशन

करवाया है। इसके अलावा भी आपने कई ग्रंथ लिखे हैं। जो ग्रंथ अन्य भाषाओं में थे, उनकी टीकायें भी की, और उन ग्रंथों का प्रकाशन भी हुआ, जिनसे अनेक लोग स्वाध्याय करके लाभ प्राप्त कर रहे हैं।

इस प्रकार गणधराचार्य महाराज के गुणों के बारे में जितना लिखा जावे उतना ही कम है। मात्र मैं तो इतना कह सकता हूँ कि आज के युग में परम पूज्य श्री १०८ गणधराचार्य महाराज आर्ष परम्परा के दृढ़ स्तम्भ होने के साथ साथ त्याग व तपस्या की साक्षात् मूर्ति हैं।

गणधराचार्य महाराज ने जितने कठिन परिश्रम से इस ग्रंथ का संग्रह किया था, उतना ही इसको प्रकाशन करने का कार्य भी बहुत कठिन था। क्योंकि ग्रंथ प्रकाशन का कार्य बहुत मुश्किल होता है, कितनी ही बाँधायें इसमें आती हैं यह तो करने वाले व कराने वाले ही जानते हैं, लेकिन गुरु आशीर्वाद से सब कार्य आसान हो जाते हैं, जिनको दृढ़ श्रद्धान होता है। पूज्य आचार्यों व गणधराचार्य महाराज के शुभाशीर्वाद पर दृढ़ श्रद्धान करके हमने ग्रंथ का प्रकाशन का कार्य प्रारम्भ करवाया और अनेकों बाँधायें आने के बावजूद भी हमने इस ग्रंथ को समय पर प्रकाशन करवाने में पूर्ण सफलता प्राप्त की है।

इस ग्रंथ के प्रकाशन में कलकत्ता दि. जैन समाज एवं अन्य महानुभावों का गुप्त सहयोग हुआ है। वास्तव में उन सभी दानवीरों ने ज्ञानदान के महत्त्व को समझकर पूर्ण लाभ प्राप्त किया है। ग्रंथमाला के लिए यह बहुत ही गौरव व प्रसन्नता की बात है कि इतने विशाल ग्रंथ का प्रकाशन इस प्रकार गुप्तदान के सहयोग से करा सकी है। ग्रंथमाला की ओर से मैं उन सभी दातारों का बहुत-बहुत आभार व्यक्त करते हुए धन्यवाद देता हूँ और आशा करता हूँ कि भविष्य में भी उनका सहयोग इसी प्रकार से मिलता रहेगा।

परम पूज्य श्री १०८ आचार्य रत्न विमलसागरजी महाराज के शिष्य पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक चैत्यसागरजी महाराज का इस ग्रंथ

के प्रकाशन कार्य को सम्पन्न करवाने में बहुत सहयोग रहा है। क्षुल्लक महाराज इस समय गणधराचार्य महाराज के संघ के साथ ही वर्षा-योग कर रहे हैं। आशा है आपका सहयोग, मार्ग दर्शन इस ग्रंथमाला को ग्रंथ प्रकाशन कार्यों में सदैव प्राप्त होता रहेगा।

कलकत्ता निवासी परम गुरु भक्त श्रीमान् एस. एल. बगड़ा साहब का मैं बहुत-बहुत आभारी हूँ कि उन्होंने भी समय-समय पर हमें मार्ग दर्शन देकर प्रकाशन कार्यों को सुचारू रूप से सम्पन्न करवानें में अपना महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया है।

ग्रंथमाला के प्रकाशन कार्यों में सभी सहयोगी कार्यकर्त्ताओं का बहुत-बहुत आभारी हूँ कि आप सभी ने समय पर कार्य पूरा करवाने में मुझे सहयोग प्रदान किया है। श्री प्रदीपकुमार गंगवाल नें गणधराचार्य कथुसागरजी महाराज के शुभाशीर्वाद से इस कार्य में बहुत ही परिश्रम किया है। अन्य सहयोगी गण सर्व श्री मोती लालजी हाड़ा, श्री लिखमीचन्द जी बक्षी, श्री लल्लूलाल जी गोधा, श्री रविकुमार गंगवाल, जैन संगीत कोकिला रानी बहिन श्रीमति कनकप्रभाजी हाड़ा, श्रीमति मेमदेवी गंगवाल, ब्र. बहिन चन्द्ररेखाजी आदि का भी विशेष सहयोग रहा है। ग्रंथमाला समिति द्वारा प्रकाशन कार्य को बहुत ही सावधानी पूर्वक देखा गया है, फिर भी इतने विशाल कार्य में त्रुटियों का रहना स्वाभाविक है। प्रकाशन सामग्री मेरे सामान्य ज्ञान की परिधि के बाहर है। मैंने तो मात्र परम पूज्य श्री १०८ गणधराचार्य कुंथुसागरजी महाराज की आज्ञा को शिरोधार्य करके यह कार्य किया है। अतः साधुवर्ग, विद्वतजन, व अन्य पाठकों से निवेदन है कि त्रुटियों के लिए क्षमा करें।

अन्त में पंचकल्याणक महोत्सव के पावन पवित्र शुभावसर पर परम पूज्य श्री १०८ गणधराचार्य कुंथुसागरजी महाराज को त्रिबार नमोस्तु अर्पित कर यह ग्रंथराज उनके करकमलों में भेंट कर प्रार्थना करता हूँ कि वह इस महत्वपूर्ण ग्रंथ का विमोचन करने की कृपा करें।

गणधराचार्य महाराज के चरणकमलों का
परम गुरु भक्त
संगीताचार्य प्रकाशन संयोजक
शान्तिकुमार गंगवाल
(बी. कॉम.)
जयपुर (राजस्थान)

जिनवाणी का माहात्म्य

जिनवाणी का एकाग्रचित्त होकर सेवन करने का फल आत्मा की उन्नति करना है। यह उन्नति तभी सम्भव है जबकि सद्साहित्य को पढ़कर धर्म के मर्म को समझने की जिसमें जिज्ञासा या आकांक्षा हो। सम्यग्ज्ञान के महत्व को जिन्होंने समझा है, उन्होंने स्वाध्याय को अपना कर सद्साहित्यों का अध्ययन किया है। वह अपनी आत्मा के जिन स्वभाव में रत रहते हैं। ज्ञानाराधना एक तपश्चर्या है।

अतः कहा गया है :—**"स्वाध्यायो परम तपः"** अर्थात् स्वाध्याय ही परम तप है। क्योंकि स्वाध्याय के बिना कर्मों की निर्जरा नहीं हो सकती है। ज्ञान के द्वारा ही प्रत्येक जीव अमृतपान कर सकता है। जिनवाणी का रसास्वादन शान्ति और सुख को प्रदान करने वाला है जैसा सुख जिनवाणी के अध्ययन करने से होता है, वैसा सुख अन्य किसी वस्तु के सेवन करने से प्राप्त नहीं होता है।

ज्ञान की महिमा को निम्न पंक्तियों द्वारा भी जाना जा सकता है :—

ज्ञान समान न आन जगत में सुख को कारण।
यह परमामृत जन्म जरामृत रोग निवारण॥

अतः पूर्वाचार्यों द्वारा लिखित सद्साहित्य को प्राप्त कर जिनवाणी का रसास्वादन कर शान्ति व सुख को प्राप्त करते हुए मोक्ष पथ की ओर बढ़ने का प्रयत्न करें।

प्रकाशन संयोजक

* भजन *

कुंथु सागर, गुरुवर हमारे, हमको दर्शन दे रहियो ।
मन मन्दिर में आ जइयो ।।टेक।।

रेवाचन्द के राज दुलारे, सोहनी देवी के प्राण पियारे ।
हमको दर्शन दे रहियो, मन मन्दिर में आ जइयो ।।१।।

बीस वर्ष में दीक्षा धारी, छोड़ी है धन दौलत सारी ।
शरण हमें स्वामी ले रहियो, मन मन्दिर में आ जइयो ।।२।।

भेष दिगम्बर तुमने धारा, सकल भेद विज्ञान संवारा ।
भेद ज्ञान दरशा जइयो, मन मन्दिर में आ जइयो ।।३।।

मंडल को है शरण तिहारी, पूरी करना आश हमारी ।
मोक्षमार्ग बतला जइयो, मन मन्दिर में आ जइयो ।।४।।

संकलनकर्त्ता
शान्तिकुमार गंगवाल

श्री दिगम्बर जैन कुन्थु-विजय ग्रंथमाला समिति : एक परिचय

(स्थापना एवं किये गये प्रकाशन संबंधी संक्षिप्त जानकारी)

—स्थापना—

श्री दिगम्बर जैन कुन्थु-विजय ग्रन्थमाला समिति जयपुर (राजस्थान) की स्थापना परम पूज्य श्री १०८ गणधराचार्य कुन्थु सागरजी महाराज व श्री १०५ गणिनी आर्यिका रत्न विजयामती माताजी के नाम से वर्ष १९८१ में की गई थी।

लघुविद्यानुवाद—

सर्वप्रथम इस ग्रन्थमाला से पहले पुष्प के रूप में लघुविद्यानुवाद(यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र, विद्या का एक मात्र संदर्भ ग्रन्थ) का प्रकाशन करवाकर इसका विमोचन श्री बाहुबलि सहस्त्राभिषेक के शुभावसर पर चामुण्डराय मण्डप में दिनांक २४-२-८१ को परमपूज्य सन्मार्ग दिवाकर निमित्त ज्ञान शिरोमणि श्री १०८ आचार्य रत्न विमल सागरजी महाराज के कर कमलों द्वारा करवाया गया था।

इस समारोह में देश के विभिन्न प्रान्तों से पधारे हुये लाखों नर-नारियों के अलावा काफी संख्या में मंच पर दिगम्बर जैनाचार्य मुनिगण व अन्य साधुवर्ग उपस्थित थे समाज के गणमान्य व्यक्तियों में सर्वश्री भागचन्दजी सोनी, साहू श्रेयांस प्रसादजी जैन, श्री निर्मल कुमारजी सेठी, श्री त्रिलोकचन्दजी कोठ्यारी, श्री पूनमचन्दजी गंगवाल (झरिया वाले) आदि उपस्थित थे। समारोह की अध्यक्षता श्री पन्नालालजी सेठी (डीमापुर) वालों ने की थी। समारोह में मूडबद्री व कोल्हापुर के भट्टारक महास्वामी जी भी उपस्थित थे।

श्री चतुर्विंशति तीर्थंकर अनाहत यंत्र मंत्र विधि—

ग्रन्थमाला समिति ने द्वितीय पुष्प "श्री चतुर्विंशति तीर्थंकर अनाहत"(यन्त्र-मन्त्र विधि पुस्तक) कन्नड से हिन्दी में अनुवादित करवाकर इसका प्रकाशन दिनांक

९-५-८२ को श्री पार्श्वनाथ चूलगिरि अतिशय क्षेत्र जयपुर (राजस्थान) में आयोजित पंचकल्याणक महोत्सव के शुभावसर पर भारत गौरव श्री १०८ आचार्यरत्न देशभूषणजी महाराज के करकमलों द्वारा विमोचन करवाया गया। इस समारोह में भी देश के विभिन्न प्रान्तों से आये हुये काफी संख्या में लोगों ने भाग लिया और समारोह बहुत ही सुन्दर रहा। समारोह की अध्यक्षता श्री सुरेशचन्दजी जैन दिल्ली वालों ने की।

तजो मान करो ध्यान—

भारत गौरव आचार्यरत्न श्री १०८ देशभूषणजी महाराज का चातुर्मास वर्ष १९८२ में जयपुर में हुआ और इसी वर्ष दशलक्षण पर्व के शुभावसर पर समिति ने अपने तृतीय पुष्प "तजो मान करो ध्यान" का प्रकाशन करवाकर आचार्य श्री के ही करकमलों द्वारा दिनांक २९-८-८२ को महावीर पार्क जयपुर (राजस्थान) में हजारों नर-नारियों के बीच इस पुस्तक का विमोचन करवाया। यह समारोह भी बहुत ही सुन्दर था।

हुम्बुज श्रमण सिद्धांत पाठावलि—

ग्रन्थमाला समिति ने चतुर्थ पुष्प "हुम्बुज श्रमण सिद्धान्त पाठावलि" ग्रन्थ का प्रकाशन करवाकर इसका विमोचन परमपूज्य श्री १०८ गणधराचार्य कुन्थुसागरजी महाराज के हासन (कर्नाटक) चातुर्मास में आयोजित इन्द्रध्वज विधान के विसर्जन के शुभावसर पर दिनांक २-१२-८२ को हजारों जन-समुदाय के बीच बड़ी धूमधाम से इस महत्वपूर्ण ऐतिहासिक ग्रन्थराज का विमोचन करवाया। इस समारोह में मूड-बद्री व जैनबद्री के भट्टारक महास्वामीजी भी उपस्थित थे।

हुम्बुज श्रमण सिद्धान्त पाठावलि एक महत्वपूर्ण ग्रन्थरत्न है। यह ग्रन्थ लगभग ७५ ग्रन्थों का १००० पृष्ठों का मुटका है। इसमें साधुओं के पाठ करने के सभी आवश्यक स्तोत्रों का संकलन कर प्रकाशन करवाया है। इस ग्रंथ के प्रकाशन से साधुओं को अनेक ग्रन्थ साथ में नहीं रखने पड़ेंगे। साधु संघ के विहार के समय अनेक ग्रन्थों को मार्ग में ले जाने में जो दिक्कत होती थी, वो अब नहीं होगी और साथ ही जिनवाणी का भी अविनय नहीं होगा। मात्र एक ही ग्रंथराज (हुम्बुज श्रमण

सिद्धान्त पाठावलि) के रखने से सारा कार्य हो जावेगा। इस प्रकार के ग्रंथ का प्रकाशन प्रथम बार ही हुआ है ऐसा सभी साधुओं व विद्वानों का मत है। साधुवर्ग इस प्रकाशन से बहुत ही लाभान्वित हुआ है। यह ग्रंथ सभी संघों में सभी साधुओं को ग्रंथमाला की ओर से मात्र डाक खर्च पर स्वाध्याय हेतु वितरित किया गया है।

पुनर्मिलन—

ग्रंथमाला समिति ने पंचम पुष्प "पुनर्मिलन" (अंजना का चरित्र) पुस्तक का प्रकाशन करवाकर श्री पार्श्वनाथ पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव (श्री दिगम्बर जैन आदर्श महिला विद्यालय श्री महावीरजी अतिशय क्षेत्र) के जन्म कल्याणक के शुभावसर पर दिनांक १२-२-८४ को श्री १०८ आचार्य सन्मतिसागरजी महाराज (अजमेर) के करकमलों द्वारा हजारों की संख्या में उपस्थित जन-समुदाय के बीच करवाया। समारोह में साधु संघ के अलावा श्रीमान निर्मलकुमारजी जैन (सेठी), श्री माणकचन्दजी पाटनी, श्री मदनलाल जी चांदवाड, श्री त्रिलोकचन्दजी कोठारी, श्री प्रकाशचन्दजी पांड्या आदि श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा के पदाधिकारी उपस्थित थे। समारोह में स्व० आदरणीय पण्डित साहब श्री बाबूलालजी जमादार, श्री भरतकुमारजी काला, श्री काका हाथरसी आदि महानुभावों ने भी भाग लिया। कार्यक्रम की अध्यक्षता श्री माणकचन्दजी पाटनीवाल ने की। इस प्रकार समिति के द्वारा पंचम पुष्प 'पुनर्मिलन' पुस्तक का विमोचन भी बहुत ही सुन्दर रहा।

श्री शीतलनाथ पूजाविधान—

ग्रन्थमाला समिति ने षष्ठम पुष्प "श्री शीतलनाथ पूजा विधान" कन्नड से संस्कृत भाषा में अनुवादित करवाकर अलवर (राजस्थान) में आयोजित पंचकल्याणक में जन्म कल्याणक के शुभावसर पर श्री १०८ आचार्य सन्मति सागरजी महाराज के करकमलों द्वारा ५-३-८४ को बड़ी धूमधाम से इसका विमोचन करवाया श्री शांतिविधान के समान ही यह शीतलनाथ विधान है। इस विधान की पुस्तक के प्रकाशन से उत्तर भारत के लोग भी अब इससे लाभ उठा सके, जो कि कन्नड भाषा नहीं जानते हैं

वर्षायोग स्मारिका—

श्री १०८ आचार्य सन्मतिसागरजी महाराज (अजमेर) ने वर्ष १९८४ का चातुर्मास जयपुर में किया। ग्रन्थमाला समिति ने इस शुभावसर पर एक बहुत ही सुन्दर वर्षायोग स्मारिका का प्रकाशन करवाकर बुलियन बिल्डिंग, जयपुर (राजस्थान) में विशाल जन–समुदाय के बीच दिनांक २८-१०-८४ को श्री १०८ आचार्य सन्मति सागरजी महाराज के करकमलों द्वारा विमोचन करवाया। इस स्मारिका में वर्षायोग में आयोजित कार्यक्रमों के चित्रों की झलक प्रस्तुत की गई है और अलग-अलग विषयों पर ही ज्ञानोपयोगी साधुओं द्वारा लिखित लेख प्रकाशित किये गये हैं। समारोह की अध्यक्षता श्रीमान् ज्ञानचन्दजी जैन (जयपुर) ने की थी।

सम्मेदशिखर माहात्म्यम—

परम पूज्य श्री १०८ आचार्यरत्न धर्मसागरजी महाराज ने विशाल संघ सहित अपना १९८५ का वर्षायोग श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र लूणवां (राजस्थान) में किया। समिति ने इस अवसर पर अष्टम पुष्प के रूप में "सम्मेदशिखर माहात्म्यम" ग्रन्थ का प्रकाशन करवाकर आचार्य श्री के करकमलों द्वारा दिनांक १४-७-८५ को विशाल जन–समुदाय के बीच विमोचन किया।

श्री सम्मेदशिखर माहात्म्यम ग्रन्थ एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। श्री सम्मेदशिखर जी के महत्व पर प्रकाश डालने वाला इस प्रकार के ग्रन्थ का प्रकाशन आज तक नहीं हुआ है। इस ग्रन्थ में २४ तीर्थंकरों के चित्र, प्रत्येक कूट का चित्र, अर्घ व उसका फल प्रकाशित किया गया है। संसार में सम्मेदशिखरजी सिद्धक्षेत्र जैसा कोई क्षेत्र नहीं है। क्योंकि यह तीर्थराज अनादिकाल का है और इस सिद्धक्षेत्र से हमारे २४ तीर्थंकरों में से २० तीर्थंकर मोक्ष पधारे है और उनके साथ-साथ असंख्यात मुनिराज मोक्ष पधारे हैं। इसलिये इस क्षेत्र की कण-कण पूजनीय व वंदनीय है। इस क्षेत्र की वंदना करने से मनुष्य के जन्म-जन्म के पापों का क्षय हो जाता है और उसके लिए मोक्षमार्ग आसान हो जाता है तथा उसे नरक व पशुगति में जन्म नहीं लेना पड़ता और वह ४९वें भव में निश्चय ही मोक्ष की प्राप्ति करता है। कहा भी है :—

भाव सहित वंदे जो कोई।
ताहि नरक पशुगति नहीं होई॥

इस प्रकार इस ग्रन्थ के प्रकाशित होने से अनेक भव्यात्माओं ने इस ग्रन्थ को पढ़कर सम्मेदशिखरजी सिद्धक्षेत्र की यात्रा कर धर्मलाभ प्राप्त किया है और कर रहे हैं।

रात्रिभोजन त्याग—

परमपूज्य श्री १०८ आचार्यरत्न निमित्तज्ञान शिरोमणि विमलसागरजी महाराज विशाल संघ सहित राणाजी की नसियां खानियां जयपुर (राजस्थान) में वर्षायोग करने हेतु दिनांक ३-७-८७ को पधारे। ग्रन्थमाला समिति ने दिनांक ५-७-८७ को ही अपना नवम् पुष्प रात्रिभोजन त्याग कथा— पुस्तक का प्रकाशन करवाकर इसका विमोचन आचार्य श्री के करकमलों से करवाया। कार्यक्रम की अध्यक्षता श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा के महामंत्री श्री त्रिलोकचन्दजी कोठयारी ने की। मुख्य अतिथी श्री पूनमचन्दजी गंगवाल (झरिया वाले) व श्री सोहनलालजी सेठी ने की।

केशलुञ्चन क्या और क्यों ?

परमपूज्य श्री १०८ आचार्य विमलसागरजी महाराज के जयपुर (राजस्थान) में वर्षायोग के समय आचार्य श्री की आरति, जिनवाणी स्तुति, वर्षायोग करने वाले साधुओं की सूची का प्लास्टिक कवरयुक्त कार्ड प्रकाशित करवाकर निःशुल्क वितरण किये गये। आचार्य श्री, उपाध्याय श्री, संघस्थ साधुओं के केशलुंचन समारोह के अवसर पर एक लघु पुस्तिका केशलुंचन क्या और क्यों ? का प्रकाशन करवाकर निःशुल्क वितरण किया गया।

जन्म जयन्ति पर्व क्यों ?

दिनांक १४-७-८७ को आचार्य श्री की ७२वीं जन्म-जयन्ति के शुभावसर पर जन्म-जयन्ति पर्व क्यों ? एक लघु-पुस्तिका का प्रकाशन करवाकर निःशुल्क वितरण किया। इससे जन-समुदाय को जन्म-जयन्ति पर्व मनाने की जानकारी सुलभ हो गई।

वर्षायोग समाप्ति पर परमपूज्य श्री १०८ आचार्यरत्न विमलसागरजी महाराज विशाल संघ (४३) पिच्छी सहित दिनांक २७-११-८७ को ग्रंथमाला के कार्यालय पर पधारे। इतने विशाल संघ का समिति के कार्यालय पर पधारना ग्रंथमाला के इतिहास में स्वर्ण अवसर था। इस शुभावसर पर आचार्य श्री के करकमलों से

श्री १००८ धर्मनाथ भगवान की मूर्ति विराजमान की गई। ग्रन्थमाला का कार्यालय हमारे निवास स्थान पर है और हमारे निजी खर्च से यह कार्यक्रम सम्पन्न करवाया। तत्पश्चात् समिति द्वारा प्रकाशित दशम् पुष्प श्री शीतलनाथ पूजा विधान (हिन्दी) का विमोचन आचार्य श्री के करकमलों द्वारा करवाया गया।

भैरव पद्मावती कल्पः—

परमपूज्य श्री १०८ गणधराचार्य कुन्थुसागरजी महाराज विशाल संघ सहित वर्ष १९८७ का वर्षायोग अकलूज (महाराष्ट्र) में पूर्ण धर्म प्रभावना के साथ समाप्त करके चतुर्विध संघ के साथ तीर्थराज श्री सम्मेदशिखरजी पहुचे। ग्रन्थमाला समिति ने इस उपलक्ष्य में ११वां पुष्प श्री भैरव पद्मावती कल्पः ग्रन्थ का प्रकाशन करवाकर इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ का विमोचन परमपूज्य श्री १०८ आचार्य सन्मार्ग दिवाकर निमित्तज्ञान शिरोमणि खण्ड विद्या धुरन्धर विमल सागरजी महाराज के करकमलों द्वारा दिनांक १३-३-८८ को विशाल जन-समूह के मध्य प्रवचन हाल में (श्री महावीरजी अतिशय क्षेत्र) पर अष्टान्हिका पर्व पर करवाया। यह समारोह बहुत ही सुन्दर रहा।

सच्चा कवच—

परमपूज्य श्री १०८ आचार्य विमलसागरजी महाराज विशाल संघ सहित कुछ दिनों तक श्री महावीरजी अतिशय क्षेत्र पर ही विराजे। इसी बीच दिनांक ३१-३-८८ को श्री महावीर जयन्ति का शुभावसर आया और ग्रन्थमाला समिति ने इस शुभावसर पर १२वां पुष्प "सच्चा कवच का" प्रकाशन करवाकर श्री शांतिवीर नगर, सन्मति भवन में कार्यक्रम आयोजित करके परमपूज्य श्री १०८ आचार्य विमलसागरजी महाराज के करकमलों द्वारा इस पुस्तक का विमोचन करवाया। इस कार्यक्रम की अध्यक्षता परमगुरूभक्त श्री ज्ञानचंदजी जैन बम्बई वालों ने की, और हजारों की संख्या में इस समारोह में लोगों ने भाग लेकर धर्म लाभ प्राप्त किया।

फोटो प्रकाशन एवं निःशुल्क वितरण—

माह फरवरी ८७ में बोरीवली बम्बई में आयोजित मानस्तम्भ पंचकल्याणक महोत्सव के शुभावसर पर जन्म-कल्याणक महोत्सव के दिनांक ६-२-८७ को परमपूज्य श्री १०८ गणधराचार्य कुन्थु सागरजी महाराज व श्री १०५ गणिनी

आर्यिका विजयामति माताजी के फोटो प्रकाशित कर इसका विमोचन न्यूयार्क निवासी धर्म स्नेही गुरुभक्त श्री महेन्द्रकुमारजी पाण्ड्या व उनकी धर्म पत्नि श्रीमति आशा-देवीजी पाण्ड्या के करकमलों द्वारा करवाया। दोनों फोटो बहुत ही सुन्दर व मनमोहक हैं। विशिष्ट गुरुभक्तों को निःशुल्क वितरण की गई है। इसके साथ-साथ जिन मन्दिरों व क्षेत्रों पर समिति द्वारा फ्रेम में जड़वाकर फोटो लगवाये गये है।

"गोम्मट प्रश्नोत्तर चिंतामणि"

इस ग्रन्थमाला की अनुपम भेट तेरहवां पुष्प 'गोम्मट प्रश्नोत्तर चिंतामणि' है। इस ग्रन्थ के संकलन कर्त्ता परम पूज्य श्री १०८ गणधराचार्य कुंथुसागरजी महाराज हैं। पुस्तक के संबंध में परम पूज्य श्री १०८ गणधराचार्य कुंथु सागर जी महाराज के विचार निम्न रूप से हैं।

"ग्रंथ में करणानुयोग, द्रव्यानुयोग आदि सभी प्रकार की चर्चाएँ संग्रहित की गई हैं और आधार लिया गया है जिनागम का, मैं समझता हूं कि स्वाध्याय प्रेमियों को इस एक ही ग्रंथ के स्वाध्याय करने से जिनागम का बहुत कुछ ज्ञान हो सकता है, इस ग्रंथ में गुणस्थानानुसार श्रावक धर्म, मुनि धर्म, आत्म ध्यान, पींडस्थ, रूपातीत आदि ध्यान और उनके चित्रों सहित वर्णन किया गया है, और भी अनेक सामग्री संकलित की गई है। यह ग्रंथ अपने आप में एक नया ही संग्रहित हुआ है, इस ग्रंथ में सभी ग्रंथों से लेकर २१७८ श्लोकों का संग्रह है।

इस ग्रंथ में पूर्वाचार्यकृत गोम्मटसार जीवकांड, त्रिलोकसार, मूलाचार, ज्ञानार्णव, समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, रत्नकरंड, श्रावकाचार, तत्त्वार्थ सूत्र, राजवार्तिक, आचारसार, अष्टपाहुड, हरिवंश पुराण, आदि पुराण, वसु नन्दी श्रावकाचार, परमात्म प्रकाश, पुरुषार्थ सिद्धयुपाय, समयसार कलश, धवलादि, उमा स्वामी का श्रावकाचार, जैन सिद्धान्त प्र., दशभक्त्यादि संग्रह, चर्चाशतक, चर्चा समाधान, स्याद्वाद चक्र, चर्चासागर, सिद्धान्त सार प्रदीप, मोक्ष मार्ग प्रकाशक, त्रिकालवर्ती महापुरुष आदि बड़े-बड़े ग्रंथों का आधार लेकर संग्रह किया गया है।"

इस प्रकार पाठकगण अवलोकन करे कि ग्रन्थमाला समिति के सीमित आर्थिक साधन होते हुए भी इतने कम समय में उपरोक्त महत्वपूर्ण ग्रन्थों के प्रकाशन करवाने में

सफलता प्राप्त की है। सभी ग्रन्थ एक से बढ़कर एक हैं और सभी ज्ञानोपार्जन के लिये विशेष लाभकारी सिद्ध हुये हैं। ऐसे सभी आचार्यों साधुओं विद्वानों के विचार हमें समय-समय पर प्राप्त होते रहे हैं, यह सभी सफलता परमपूज्य सभी आचार्यों व साधुओं के शुभाशीर्वाद के साथ-साथ परमपूज्य श्री १०८ गणधराचार्य कुन्थुसागरजी महाराज व श्री १०५ गणिनी आर्यिका विजयामती माताजी के शुभाशीर्वाद से हो सका है। इसके लिये हम सभी कृतज्ञ हैं और उनके चरणों में नतमस्तक होकर शत-शत बार नमोस्तु अर्पित करते हैं।

ग्रन्थमाला समिति के कार्यों में यह बात विशेष उल्लेखनीय है कि यह ग्रन्थमाला समिति सभी आचार्यों, साधुओं विशिष्ट विद्वानों, पत्रों के प्रकाशकों, प्रकाशन खर्च में सहयोग करने वाले सभी दातारों को सभी प्रकाशन व्यक्तिगत रूप से भेंट करती है या मात्र डाक खर्च पर भिजवाती है।

मुझे आशा ही नहीं, बल्कि पूर्ण विश्वास है कि पाठकगण ग्रंथमाला समिति द्वारा प्रकाशित ग्रंथों का स्वाध्याय करके पूर्ण ज्ञानोपार्जन कर रहे हैं और आगे भी इस ग्रन्थमाला से जिन महत्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन होगा उनसे लाभ उठा सकेंगे। पूर्ण लाभ उठावेंगे और त्रुटियों के लिये क्षमा करेंगे।

शांतिकुमार गंगवाल
प्रकाशन संयोजक
श्री दि० जैन कुन्थु विजय ग्रन्थमाला समिति,
जयपुर (राज०)

* अनुक्रम *

श्री गोम्मट प्रश्नोत्तर चिंतामणि

क्रमांक		पृष्ठ संख्या
(१)	अध्याय : पहला—कर्म स्वरुप वर्णन —	१—५८
	[सच्चे सुख का स्वरुप—१, द्रव्यकर्मों के मुख्य भेद-उत्तरभेद—१—६, चारित्र मोहनीय के कषायवेदनीय अकषायवेदनीय दो भेदों की अपेक्षा भेद-प्रभेद—६—११, नामकर्म का स्वरुप भेद-प्रभेद—११—२४, गोत्रकर्म का स्वरूप व भेद—२४, अन्तराय का स्वरूप व भेद—२४—२५, बंध का स्वरूप व भेद—२५—२६, आठ कर्मों की उत्कृष्ट तथा जघन्य स्थिति—२६, पुण्य-पाप की अपेक्षा कर्मों के भेद—२६—२७, जीवविपाकी, पुद्गलविपाकी, भवविपाकी व क्षेत्रविपाकी कर्मों का स्वरुप व भेद—२८—२९, चौदह गुणस्थानों में कर्मों की बंध, सत्त्व, उदय की संख्या—२९—३७, संहननों का स्वरूप व संहननों की अपेक्षा जीवो का उत्पत्तिस्थान—३७—३९, दश प्रकार का बंध—३९-४०, आयुकर्म का बंध व बंधत्रिभंगी—४०,	

क्रमांक		पृष्ठ संख्या
	गुणस्थानों का गमनागमन-४१–४२, आठ कर्मों के स्वरूपपरक दृष्टान्त–४२–४४, कर्म प्रकृतियों का बंध-उदय की अपेक्षा गुणस्थान–४४–४७, चौदह गुणस्थानों में मरण से होने वाला गतिबंध–४७–४८, चौदह गुणस्थानों में कर्मों का आश्रव, आयुबंध और उदय–४८–४९, गुणस्थानों की अपेक्षा लेश्याओं का स्वरूप–४९–५०, लेश्याओं से गतिप्राप्ति का स्वरूप–५२–५४, गुणस्थान का स्वरूप-भेद-निमित्त–५४–५६, मिथ्यात्व के भेद व स्वरूप –५७, सासादन-मिश्र-अविरत गुणस्थान स्वरूप–५७–५८.]	
(२)	अध्याय : दूसरा–सम्यग्दर्शन	५९—८८
	[सम्यग्दर्शन का लक्षण–५९–६२, सम्यग्दर्शन के पाँच लक्षण–६२–६४, सम्यग्दर्शन की योग्यता–६४, सम्यग्दर्शन के भेद–६५–६६, लब्धियों का स्वरूप–६७–७०, सम्यग्दर्शन के बहिरंग कारण व उत्पत्ति की अपेक्षा भेद –७२–७५, सम्यग्दर्शन का निर्देश आदि की अपेक्षा से वर्णन–७५–८२, सम्यग्दर्शन को घातने वाली प्रकृतियों की अन्तर्दशा–८३–८४, सम्यग्दर्शनमहिमा–८५–८७, सम्यग्दर्शन और अनेकान्त–८७–८८, सम्यग्दृष्टि की अन्तर्दशा–८८.]	

क्रमांक		पृष्ठ संख्या
(३)	**अध्याय : तीसरा–सम्यग्ज्ञान**	८९—९४
	[सम्यग्ज्ञान का स्वरूप व भेद–८९–९४.]	
(४)	**अध्याय : चौथा–प्रमाण-नय**	९५—१०४
	[प्रमाण, नय का स्वरूप, भेद-प्रभेद–९५, परोक्षप्रमाण के भेद व स्वरूप–९५–९६, साधन, सा-य, हेतु-हेत्वाभासादिका स्वरूप–९६–१००; नय के मुख्य भेद–उपभेद–१००–१०२, व्यवहार नय व उपनय–१०२, नय व निक्षेप का स्वरूप–१०३–१०४.]	
(५)	**अध्याय : पांचवां–चारित्र**	१०५—४६२
	[चारित्र का स्वरूप व भेद–१०५–१०६, प्रतिमाओं के नाम, दर्शन व व्रत प्रतिमा का स्वरूप-१०६-१०७, अणुव्रत का स्वरुप व भेद-१०७–१२४, गृहस्थों के अष्ट-मूलगुण–१२४ १२५, गुणव्रत का स्वरूप व भेद–१२५–१४०, व्रती को छोडने योग्य पदार्थ–१४०–१४५, शिक्षाव्रत स्वरूप व भेद–१४५–१४६, देशावकाशिक का स्वरूप–१४६–१५०, सामायिक का स्वरूप और विधि–१५०–१५८, प्रोषधोपवास का स्वरूप व भेद–१५८–१६४, वैयावृत्य का स्वरूप और भेद–१६४–१६६, दान का स्वरूप व भेदादि–१६६–१७३, वैयावृत्य के अतिचार–१७३–१७४, सामायिक	

क्रमांक

पृष्ठ संख्या

प्रतिमा का स्वरूप–१८४–१८५, प्रोषधोपवास प्रतिमा का स्वरूप–१७५–१७६, सचित्त त्याग प्रतिमा का स्वरूप–१७६–१७७, रात्रि भुक्ति त्याग प्रतिमा का स्वरूप–१७७–१७८, ब्रह्मचर्य प्रतिमा का स्वरूप–१७८–१७९, आरम्भत्याग प्रतिमा का स्वरूप–१७९–१८१, परिग्रहत्याग प्रतिमा का स्वरूप–१८१–१८२, अनुमति त्याग प्रतिमा का स्वरूप–१८२–१८३, उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा का स्वरूप–१८३–१८८, आर्यिकाओं के समाचार का वर्णन–१८८–१९२, सकल चारित्र का स्वरूप–१९२, मूलगुणों का स्वरूप, पांच महाव्रतों का स्वरूप–१९२–१९४, पांच समितिओं का स्वरूप–१९४–१९७, इन्द्रिय निरोध का स्वरूप–१९७–२००, छह आवश्यकों का तथा सामायिक व ध्यान का स्वरूप–२००–२०१, ध्यान के प्रकार–२०१–२०६, श्रुतज्ञान की महिमा–२०६–२०७, संस्थान विचय धर्म ध्यान का विशेष स्वरूप–२०७–२४८, लोक का स्वरूप–२१८–२१९, अधोलोक का स्वरूप–२१९–२३१, मध्यलोक का वर्णन–२३१–२३३, उर्ध्व लोक का वर्णन–२३३, २४८, ध्यान के चार प्रकार–और उनकी धारणाओं के स्वरूप (सचित्र)–२४९–२५६.

क्रमांक पृष्ठ संख्या

पदस्थ ध्यान का स्वरूप–२५३-२६३, पंचपरमेष्ठी महामंत्र का चिंतवन–२६३–२६७, मंगलोत्तम शरण पदों का ध्यान–२६७, विद्याओं के ध्यान–२६५–२७६, अन्य विद्याओं के ध्यान २७६–२८०, रूपस्थध्यान का स्वरूप–२८०–२८८, रूपातीत ध्यान का वर्णन–२८८–२९५, धर्मध्यान का फल व वर्णन–२९५–३०२, अट्ठाईस मूलगुणों का वर्णन–३०२–३१२, अन्तरायों का स्वरूप–३१२–३१५, चौदह मलों का वर्णन–३१५–३१६, पिण्डशुद्धि आदि का वर्णन–३१६–३१७, उद्गम दोषों का नाम निर्देश–३१७–३२८, उत्पादन दोषों का प्रतिपादन–३२८–३४१, आहार ग्रहण व त्यागने के कारणों का वर्णन–३४२–३४४, मुनि कौनसा आहार ग्रहण करते हैं–३४४–३४९, भिक्षा के लिए गमन की प्रवृत्ति–३४९, दश प्रकार के साधु–३४९-३५०, आचार्य का स्वरूप–३५०–३५१, आर्यिकाओं के आचार्य–३५१–३५२, तपो का स्वरूप व भेद–३५२, प्रायश्चित का स्वरूप व भेद–३५८–३६९, विनय तप–३६९–३७४, स्वाध्याय तप –४७४–३७५, ध्यान–३७५, दशलक्षण धर्म–३७५–३७६, पंचाचार–३७७, गुप्ति–३७७–३७८, उपा-

क्रमांक		पृष्ठ संख्या
	ध्याय परमेष्ठी–३७८, श्रुतज्ञान व द्वादशांग के २० भेद–३७६–३८१, द्वादशांग के नाम व इन बारह अंगों की पद संख्या और स्वरूप–३८१–३८५, पूर्वगत के भेद और लक्षण–३८६–३६०, अंगबाह्य के अनेक भेद–३६०–३६२, तपस्वी के लक्षण और भेद–३६२–३६३, मुनियों की समाचार निति–३६३–३६६, एकाकी विहार–३६६–४०१, पांच प्रकार के मुनियों का आश्रय क्यों करें ?–४०१–४०२, आगन्तुक मुनि के साथ व्यवहार–४०२–४०३, छोड़ने योग्य श्रोता–४०३–४०५, विस्तार समाचार विधि–४०४–४०५–४११, आर्यिकाओं का वर्णन–४११–४१४, परिषह–४१४–४२२, परिषह विजय का फल–४२२–४२६, संक्षेप से ध्यान का लक्षण भेद व फल–४२६–४३२, बारह अनुप्रेक्षा वर्णन–४३२–४३७, शुक्लध्यान का स्वरूप व भेद–४३७–४५०, सिद्ध भगवान–४५०–४५८, १० मुनि भेदों का स्वरूप–४५८–४६२.]	
(८)	**अध्याय : छठा–शेष गुणस्थानों का वर्णन**	४६३–४७६
	[सातवें गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थानों तक परिभाषा सहित स्वरूप–४६३–४६६, समवशरण का वर्णन–४६६–४७६.]	

क्रमांक		पृष्ठ संख्या
(७)	अध्याय : सातवां–लोक वर्णन	४८०—५३४
	[नरकों का वर्णन–४८०–४८४, मध्य लोक का वर्णन ४८४–४८६, जम्बू द्वीप आदि की रचना व विस्तार–४८६–५०५, मनुष्य क्षेत्र की सीमा व भेदादि–५०५–५०७, तप ऋद्धि के सात भेद–५०७–५०९, रससिद्धि–५०९–५१०, म्लेच्छों के दो भेद–५१०–५१२, कर्म भूमियों का वर्णन–५१२–५१३, मनुष्यों की तिर्यञ्चों की आयु का वर्णन–५१३–५१४, उर्ध्व लोक वर्णन—५१५–५३४ तक देवों के भेदादि का वर्णन–५१५–५१७, भवन वासियों के भेद–५१७–५१८, व्यंतर देवों के भेद–५१८, ज्योतिषी देवों के भेद गति आदि —५१८–५२०, व्यवहार काल का हेतु—५२०, वैमानिक देवों का वर्णन–५२०–५२८, स्वर्गों के देवों की आयु वर्णन—५२८–५३३, सिद्ध लोक व सिद्ध शिला का वर्णन—५३३–५३४]	
(८)	अध्याय : आठवां–द्रव्य वर्णन—	५३५—७४०
	[अजीवत तत्त्व का वर्णन—५३५–५६१, जीव वर्णन—५६१–५९७, महापुरुषों का वर्णन—५९८–६१७, तीर्थंकर महापुरुष—६१७–६३१, पंचकल्याणक—६३१–७४०]	

क्रमांक		पृष्ठ संख्या
(९)	अध्याय : नौवां—वर्तमान तीर्थंकरादि संबंधी कई ज्ञातव्य तथ्य— [वर्तमान व आगामी तीर्थंकरादि संबंधी वर्णन—७४१—७७९, भरत चक्रवर्ती संबंधी वर्णन—७८०—७९३, नारायणादिक का वर्णन—७९३—८०१.]	७४१—८०१
(१०)	अध्याय : दसवां—कामदेव महापुरुष और विदेह क्षेत्र का वर्णन—	८०२—१००१
(११)	अध्याय : ग्यारहवां—सम्यग्ज्ञान और अनेकान्त—	१००२—१०३३

卐 चतुर्विंशति तीर्थङ्करेभ्यो नमो नमः 卐

नेमिनाथ स्वामिनं नत्वा, नत्वा बाहुबलीश्वरं,
नत्वा गौतम गणेशं च तथैव श्री जिनागमम् ।
महावीरकीर्ति सूरिं नत्वा विमल सन्मतिसागरं,
गोम्मट प्रश्नोत्तरं वक्ष्ये पूर्वाचार्यानुसारतः ॥

अर्थ—मैं नेमीनाथ स्वामी, बाहुवली स्वामी, गौतम गणधर, जिनवाणी, आचार्य गुरुवर महावीरकीर्तिजी महाराज, आचार्य विमलसागरजी महाराज व आचार्य सन्मतिसागरजी महाराज को वन्दना करता हुआ पूर्वाचार्यों के कहे अनुसार गोम्मट प्रश्नोत्तर चिन्तामणि ग्रंथ को कहूँगा ।

प्रश्न :—सच्चा सुख क्या है ?

उत्तर :—आत्मा के द्रव्यकर्म, भावकर्म और नो कर्मों का सर्वथा छुट जाना ही सच्चा सुख है ।

प्रश्न :—द्रव्यकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय इन आठ कर्मों को द्रव्यकर्म कहते हैं ।

प्रश्न :—उक्त कर्मों के उत्तर-भेद कितने हैं ?

उत्तर :—ज्ञानावरण के ५ भेद, दर्शनावरण के ९ भेद, वेदनीय के २ भेद, मोहनीय के २८ भेद, (चारित्र मोहनीय के २५ भेद और दर्शन मोहनीय के ३ भेद, इस प्रकार मोहनीय के २८ भेद हुए) आयु के ४ भेद, नाम के ९३ भेद, गोत्र के २ भेद और अन्तराय के ५ भेद—इस प्रकार द्रव्यकर्मों के उत्तर-भेद १४८ हैं ।

प्रश्न :—ज्ञानावरण के ५ भेद कौनसे हैं ?

उत्तर :—१ मतिज्ञानावरण, २ श्रुतज्ञानावरण, ३ अवधिज्ञानावरण, ४ मनःपर्यय ज्ञानावरण, ५ केवलज्ञानावरण – इस प्रकार ज्ञानावरण के पांच भेद हैं ।

प्रश्न :—दर्शनावरण के ९ भेद कौनसे हैं ?

उत्तर :—१ चक्षुदर्शनावरण, २ अचक्षुदर्शनावरण, ३ अवधिदर्शनावरण, ४ केवल-दर्शनावरण, ५ निद्रा, ६ निद्रानिद्रा, ७ प्रचला, ८ प्रचलाप्रचला, ९ स्त्यान-गृद्धि इस प्रकार दर्शनावरण के ९ भेद हैं ।

प्रश्न :—वेदनीय कर्म के दो भेद कौनसे हैं ?

उत्तर :—साता वेदनीय और असाता वेदनीय, ये दो भेद वेदनीय कर्म के हैं ।

प्रश्न :—मोहनीय कर्म के २८ भेद कौनसे हैं ?

उत्तर :—मुख्य रूप से मोहनीय कर्म के दो भेद हैं—एक दर्शनमोहनीय और दूसरा चारित्रमोहनीय । दर्शनमोहनीय के ३ और चारित्रमोहनीय के २५ उत्तर-भेद हैं । दर्शन मोहनीय के तीन भेद इस प्रकार हैं—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व । जैसा कि तत्वार्थसार में कहा गया है—

"त्रयः सम्यक्त्वमिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वभेदतः ।"[१]

इसी प्रकार चारित्रमोहनीय के २५ भेद निम्न प्रकार से हैं—

१ अनन्तानुबन्धी क्रोध, २ अनन्तानुबन्धी मान, ३ अनन्तानुबन्धी माया, ४ अनन्तानुबन्धी लोभ, ५ अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, ६ अप्रत्याख्यानावरण मान, ७ अप्र० माया, ८ अप्र० लोभ, ९ प्रत्याख्यानावरण क्रोध, १० प्रत्य० मान, ११ प्रत्य० माया, १२ प्रत्य० लोभ, १३ संज्वलन क्रोध, १४ सं० मान, १५ सं० माया, १६ सं० लोभ, (९ किंचित् कषाय) १७ हास्य, १८ रति, १९ अरति, २० शोक, २१ भय, २२ जुगुप्सा, २३ स्त्रीवेद, २४ पुरुषवेद, २५ नपुंसकवेद ।

प्रश्न :—आयुकर्म के ४ भेद कौनसे हैं ?

उत्तर :—नरक आयु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु, देवायु ये चार भेद आयु कर्म के हैं । इसी को तत्वार्थसार में इस प्रकार सूत्र रूप में बताया है—

"श्वाभ्रतिर्यग्नृदेवायुर्भेदादायुश्चतुर्विधम् ।"[२]

प्रश्न :—नाम कर्म के ९३ भेद कौनसे हैं ?

उत्तर :—गति ४, जाति ५, शरीर ५, अंगोपांग ३, निर्माण १, बन्धन ५, संघात ५, संस्थान ६, संहनन ६, स्पर्श ८, रस ५, गन्ध २, वर्ण ५, आनुपूर्वी ४,

---

१. तत्वार्थसारः अध्याय ५; श्लोक—२८ । २. तत्वार्थसारः अध्याय ५; श्लोक—३० ।

उपघात, परघात, गुरुलघु, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्तविहायो गति, प्रत्येक, त्रस, पर्याप्त, बादर, शुभ, स्थिर, सुस्वर, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति, अप्रशस्त विहायोगति, साधारण, स्थावर, अपर्याप्त, सूक्ष्म, अशुभ, अस्थिर, दुःस्वर, दुर्भग, अनादेय, अयशःकीर्ति, तीर्थङ्कर, इस प्रकार ९३ प्रकृति नाम कर्म की होती हैं।

प्रश्न :—गोत्रकर्म के दो भेद कौनसे हैं ?

उत्तर :—गोत्रकर्म के दो भेद हैं—१ उच्चगोत्र, २ नीचगोत्र।

प्रश्न :—अन्तरायकर्म के ५ भेद कौनसे हैं ?

उत्तर :—१ दानान्तराय, २ लाभान्तराय, ३ भोगान्तराय, ४ उपभोगान्तराय, ५ वीर्यान्तराय। इस प्रकार ५ भेद अन्तराय कर्म के हैं।

कर्मों के भेद-प्रभेदों के पश्चात् उनके स्वरूप बताते हैं।

प्रश्न :— ज्ञानावरण कर्म किसे कहते है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से आत्मा के ज्ञान गुण का घात होता है और ज्ञान प्रगट नहीं होता, आत्मा के ज्ञान गुण पर जिसका अवगुण्ठन होता है, उसे ज्ञानावरण कर्म कहते हैं। ज्ञानावरण के ५ प्रभेदों का स्वरूप निम्न प्रकार से है।

प्रश्न :—मतिज्ञानावरण कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जो कर्म मतिज्ञान न होने दे अथवा जिस कर्म के उदय से मतिज्ञान की प्राप्ति न हो, उसे मतिज्ञानावरण कर्म कहते हैं।

प्रश्न :—श्रुतज्ञानावरण कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से श्रुतज्ञान की प्राप्ति न हो, उसे श्रुतज्ञानावरण कर्म कहते हैं।

प्रश्न :—अवधिज्ञानावरण कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—इस कर्म के उदय से जीव को अवधिज्ञान नहीं होता है अर्थात् जो कर्म अवधिज्ञान को नहीं होने दे, उसको अवधिज्ञानावरण कर्म कहते हैं।

प्रश्न :—मनःपर्ययज्ञानावरण कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव को मनःपर्यय ज्ञान नहीं होता, उसको मनःपर्यय ज्ञानावरण कर्म कहते हैं।

प्रश्न :—केवलज्ञानावरण कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से केवलज्ञान न हो, उसको केवलज्ञानावरण कहते हैं।

प्रश्न :—दर्शनावरण कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से आत्मा के दर्शन गुण का घात होता है, दर्शन होने में बाधक जो कर्म हैं, उसे दर्शनावरण कर्म कहते हैं। अब इसके ९ प्रभेदों का स्वरूप वर्णन करते हैं।

प्रश्न :— चक्षुदर्शनावरण कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जो कर्म चक्षु इन्द्रिय से होने वाले सामान्य अवलोकन को नहीं होने दे, उसे चक्षुदर्शनावरण कर्म कहते हैं।

प्रश्न :—अचक्षुदर्शनावरण कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जो कर्म चक्षु इन्द्रिय को छोड़कर शेष इन्द्रियों से तथा मन से होने वाले सामान्य अवलोकन को नहीं होने देता, उसे अचक्षुदर्शनावरण कर्म कहते हैं।

प्रश्न :—अवधिदर्शनावरण कर्म का स्वरूप क्या है ?

उत्तर :—जो कर्म अवधि ज्ञान से पहले होने वाले सामान्य अवलोकन को न होने दे, उसे अवधिदर्शनावरण कर्म कहते हैं।

प्रश्न :—केवलदर्शनावरण कर्म का स्वरूप क्या है ?

उत्तर :—जो कर्म केवल ज्ञान के साथ होने वाले सामान्य अवलोकन को नहीं होने दे, उसे केवलदर्शनावरण कर्म कहते हैं।

प्रश्न :—निद्रादर्शनावरण कर्म का स्वरूप क्या है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से नींद आती है उस कर्म को निद्रादर्शनावरण कर्म कहते हैं।

प्रश्न :—निद्रा-निद्रा दर्शनावरण कर्म का स्वरूप क्या है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से नींद ही नींद आती हो, उस कर्म को निद्रा-निद्रा दर्शनावरण कर्म कहते हैं।

प्रश्न :—प्रचला दर्शनावरण कर्म का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव कुछ जागता हो और कुछ सोता हो, उस कर्म को प्रचला दर्शनावरण कर्म कहते हैं ।

प्रश्न :—प्रचला-प्रचला दर्शनावरण का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से सोते समय मुंह से लार बहे और कुछ अङ्गोपाङ्ग भी चलते रहें और सुई आदि चुभोने पर भी चेत न हो, उसे प्रचला प्रचला दर्शनावरण कर्म कहते हैं ।

प्रश्न :—स्त्यानगृद्धि दर्शनावरण कर्म का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से प्राणी सोते समय नाना प्रकार के भयंकर कार्य कर डालता हो और जागने पर उसे कुछ मालूम ही नहीं होता कि मैंने क्या किया है, उस कर्म को स्त्यानगृद्धि दर्शनावरण कर्म कहते हैं ।

प्रश्न :—वेदनीय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव के अत्यन्त आकुलता रूप परिणाम हो अथवा जिससे आत्मा के अव्याबाध गुण का घात होता है, उसे वेदनीय कर्म कहते हैं । वेदनीय कर्म के प्रभेदों का स्वरूप निम्न रूप से है ।

प्रश्न :—साता वेदनीय कर्म का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से शारीरिक तथा मानसिक सुख प्राप्त होता है, उस कर्म को साता वेदनीय कर्म कहते हैं ।

प्रश्न :—असाता वेदनीय कर्म का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से आत्मा को नाना तरह के दुःख प्राप्त होते हैं, उस कर्म को असाता वेदनीय कर्म कहते हैं ।

प्रश्न :—मोहनीय कर्म का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से आत्मा के सम्यक्त्व गुण और चारित्र गुण का घात होता हो, उस कर्म को मोहनीय कर्म कहते हैं । उसके प्रभेदों का स्वरूप निम्न प्रकार से है ।

प्रश्न :—दर्शन मोहनीय कर्म का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से आत्मा के सम्यक्त्व गुण का घात होता है, उसे दर्शन मोहनीय कहते हैं। इसके तीन प्रभेदों का स्वरूप आगे दर्शाते हैं।

प्रश्न :—मिथ्यात्व प्रकृति का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जिसके उदय से तत्वों का यथार्थ श्रद्धान नहीं होता है, उसे मिथ्यात्व प्रकृति कहते हैं।

प्रश्न :—सम्यक्त्व प्रकृति का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जिसके उदय से सम्यग्दर्शन में दोष उत्पन्न होता है, उसे सम्यक्त्व प्रकृति कहते हैं।

प्रश्न :—सम्यक्-मिथ्यात्व प्रकृति का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से (वस्तु के) यथार्थ और अयथार्थ मिश्रित परिणाम होते हैं, उसे सम्यक्-मिथ्यात्व प्रकृति कहते हैं।

प्रश्न :—चारित्र मोहनीय का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जो आत्मा के चारित्र गुण का घात करता हो, उसे चारित्र मोहनीय कहते हैं। अब चारित्र मोहनीय के उत्तर-भेदों का स्वरूप बताते हैं। मूलतः चारित्र मोहनीय के दो भेद हैं—कषाय वेदनीय और अकषाय वेदनीय।

प्रश्न :—कषाय वेदनीय का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जो आत्मा के गुण, शुद्ध भाव और धर्म को नहीं होने दे अर्थात् नष्ट करे, उसे कषाय वेदनीय कहते हैं।

प्रश्न :—अकषाय वेदनीय का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जो क्रोधादिक की तरह आत्मा के गुणों का घात नहीं करता अथवा जो कषाय के साथ-साथ अपना कार्य या फल दिखलाता है, उसे अकषाय वेदनीय कहते हैं।

प्रश्न :—अनन्तानुबन्धी क्रोध का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जो क्रोध-कषाय सम्यक्त्व होने में बाधक हो अर्थात् सम्यक्त्वी न होने दे, उसे अनन्तानुबन्धी क्रोध-कषाय कहते हैं। यह शिला - रेखा के समान

होती है। जिस प्रकार शिला के ऊपर बनाई गई रेखा जल्दी नहीं मिटती, उसी प्रकार इस अनन्तानुबन्धी कषाय का स्वभाव है। यह कषाय जीव के साथ भव-भवान्तर में जाती है और पीड़ा देती है।

प्रश्न :—अनन्तानुबन्धी मान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—इस कषाय का स्वभाव पाषाण के समान होता है। जिस मान की मात्रा अनन्त के साथ अनुबन्ध करने की हो, वह मान अनन्तानुबन्धी-मान कहलाता है। यह अनन्तानुबन्धी मान जल्दी नहीं मिटता।

प्रश्न :—अनन्तानुबन्धी माया का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जिस माया की मात्रा अनन्त के साथ अनुबन्ध करने की हो, वह माया अनन्तानुबन्धी माया कहलाती है। इसका स्वभाव बांस की जड़ के समान होता है। यह कषाय भी भवान्तरों तक चलती है।

प्रश्न :—अनन्तानुबन्धी लोभ का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—यह कषाय सम्यक्त्व का घात करती ही है और कृमि रंग के समान होती है। जो लोभ अनन्त के साथ अनुबन्ध करने की शक्ति रखता है, वह अनन्तानुबन्धी लोभ कहलाता है।

प्रश्न :—अप्रत्याख्यानावरण कषाय का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जो कषाय देशचारित्र धारण करने में बाधक बनती हो, उसे अप्रत्याख्यानावरण कषाय कहते हैं।

प्रश्न :—अप्रत्याख्यानावरण क्रोध का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जिस क्रोध की मात्रा इतनी हो कि जिससे जीव देशचारित्र धारण न कर सके, वह अप्रत्याख्यानावरण क्रोध कषाय है।

प्रश्न :—अप्रत्याख्यानावरण मान कषाय का स्वरूप दृष्टान्त सहित बताइये ?

उत्तर :—अप्रत्याख्यानावरण मान वह है, जो जीव को देशचारित्र धारण करने में बाधक होता हो और हड्डी के समान नहीं झुकनेवाला होता है।

प्रश्न :—अप्रत्यानावरण माया कषाय का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—इस कषाय के उदय से जीव संयम धारण नहीं कर सकता और इसका स्वभाव मेढ़े के सींग के समान होता है।

प्रश्न :—अप्रत्याख्यानावरण लोभ कषाय का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—अप्रत्याख्यानावरण लोभ के उदय होने पर संयमभाव कभी नहीं होता, और इसका स्वभाव बैलगाड़ी के ओंगन (Oil) की तरह होता है।

प्रश्न :—प्रत्याख्यानावरण कषाय का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जिस कषाय का उदय होने पर जीव सकल चारित्र धारण न कर सके या सकल चारित्र के भाव ही जीव को न हो, वह प्रत्याख्यानावरण कषाय है।

प्रश्न :—प्रत्याख्यानावरण क्रोध का क्या स्वभाव है ?

उत्तर :—जिस क्रोध का उदय होने पर जीव सकलसंयम ग्रहण न कर सके उसे प्रत्याख्यानावरण क्रोध कहते हैं। यह धूल की रेखा के समान होती है। ये कषाय जल्दी मिटती है, फिर भी कुछ समय लगता है।

प्रश्न :—प्रत्याख्यानावरण मान-कषाय का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जो मान कषाय सकल संयमी नहीं होने दे, वह प्रत्याख्यानावरण मानकषाय है। इसका स्वभाव काष्ठ के समान होता है।

प्रश्न :—प्रत्याख्यानावरण माया कषाय का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जो माया कषाय जीव को सकलसंयम धारण नहीं करने दे, उसे प्रत्याख्यावरण माया कषाय कहते हैं। इसका स्वभाव गोमुत्र के समान होता है।

प्रश्न :—प्रत्याख्यानावरण लोभ कषाय का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :— जिस लोभ कषाय के उदय होने पर आत्मा कभी सकलसंयमी न हो, उसे प्रत्याख्यानावरण लोभ कहते हैं। यह शरीर के मल के समान होता है।

प्रश्न :—संज्वलन कषाय किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कषाय के उदय होने से जीव यथाख्यात चारित्र धारण न कर सके, जो यथाख्यात चारित्र होने में बाधक हो, वह संज्वलन कषाय है।

प्रश्न :—संज्वलन क्रोध का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जिस क्रोध कषाय के उदय से जीव यथाख्यात चारित्र धारण नहीं कर सके, वह संज्वलन क्रोध कषाय है। जल रेखा के समान होती है। जल (पानी) में रेखा खींचने पर जल्दी मिट जाती है, उसी प्रकार ये कषाय जल्दी मिट जाती है। इस कषाय वाला जीव भी यथाख्यात चारित्री नहीं हो सकता।

प्रश्न :—संज्वलन मान कषाय का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जिस मान कषाय के उदय से जीव यथाख्यात चारित्र धारण नहीं कर सकता उसे संज्वलन मान कषाय कहते हैं। यह बेंत के समान शीघ्र नमने वाली होती है।

प्रश्न :—संज्वलन माया कषाय का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जिस माया कषाय के उदय से यथाख्यात संयम न हो सके, वह संज्वलन माया कषाय है। यह संज्वलन माया खुरपे के समान टेढी होती है।

प्रश्न :—संज्वलन लोभ कषाय का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जिस लोभकषाय के उदय से जीव यथाख्यात चारित्र न धारण कर सके, वह संज्वलन लोभ कषाय है। यह हल्दी के समान शीघ्र छुटने वाली कषाय है।

कोष्टक

कषाय	दृष्टान्त	कषाय	दृष्टान्त	कषाय	दृष्टान्त	कषाय	दृष्टान्त
अनंतानुबंधी क्रोध	शिलाभेद	अनंतानुबंधी मान	पत्थरभेद	अनंतानुबंधी माया	बांस की जड़	अनंतानुबंधी लोभ	किरमिचरंग
अप्रत्याख्यान क्रोध	पृथ्वी	अप्रत्याख्यान मान	हड्डी	अप्रत्याख्यान माया	मेढासींग	अप्रत्याख्यान लोभ	खंजन
प्रत्याख्यान क्रोध	धूलिरेखा	प्रत्याख्यान मान	काष्ठ	प्रत्याख्यान माया	गोमूत्र	प्रत्याख्यान लोभ	शरीरमल
संज्वलन क्रोध	जल	संज्वलन मान	बेंत	संज्वलन माया	खुरपा	संज्वलन लोभ	हल्दी

प्रश्न :—इस अनन्तानुबंधी कषाय की चौकडी[१] का वासना-काल कितना है ?

उत्तर :—कर्म प्रकृतियों का वासना-काल शास्त्रों में उत्कृष्ट (अधिक से अधिक) और जघन्य (न्यूनतम) दो प्रकार से बताया गया है। अनन्तानुबंधी चौकडी का उत्कृष्ट वासना-काल अनन्त भवों तक चलता है और जघन्य-काल अन्तमुहूर्त है।

प्रश्न :—अप्रत्याख्यानावरण कषाय की चौकडी का वासना-काल कितना है ?

उत्तर :—अप्रत्याख्यानावरण-कषाय की चौकडी का उत्कृष्ट वासना-काल छह महिना और जघन्य अन्तर्मुहूर्त है।

प्रश्न :—प्रत्याख्यानावरण कषाय की चौकडी का वासना-काल कितना है ?

उत्तर :—प्रत्याख्यानावरण कषाय की चौकडी का उत्कृष्ट वासना-काल पंद्रह दिन और जघन्य अन्तमुहूर्त है।

प्रश्न :—संज्वलन-कषाय की चौकडी का वासना-काल कितना है ?

उत्तर :—संज्वलन कषाय की चौकडी का उत्कृष्ट वासना-काल अन्तमुहूर्त और जघन्य भी अन्तमुहूर्त ही है।

नौ भेदवाली अकषाय वेदनीय कर्मप्रकृति का वर्णन करते हैं।

प्रश्न :—हास्य कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से हास्य प्रगट हो, वह हास्य कर्म है।

प्रश्न :—रति कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव को धन-पुत्रादि में विशेष प्रीति हो, उसे रति कर्म कहते हैं।

प्रश्न :—अरति कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव को धन-पुत्रादि में विशेष-प्रीति न हो उसे अरति कर्म कहते हैं।

---

१. चौकडी का अर्थ अनन्तानुबंधी से सम्बन्धित—क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय जानना।

प्रश्न :—शोक कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव को इष्ट वियोग होने पर शोक हो, उसे शोक कर्म कहते हैं ।

प्रश्न :—भय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव को भय या उद्वेग होता हो, उसे भय कर्म कहते हैं, इस कर्म के कारण जीव नित्य ही भयभीत रहता है ।

प्रश्न :—जुगुप्सा कर्म का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव को दुसरों से ग्लानि या घृणा उत्पन्न होती हो, उसे जुगुप्सा कर्म कहते हैं ।

प्रश्न :—आयु कर्म का स्वरूप क्या है ?

उत्तर:—जो आत्मा के अवगाहन गुण को रोकता है और जिस से जीव नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव के शरीरों में रुका रहता है, उसे आयु कर्म कहते हैं ।

प्रश्न :—नरकायु का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव नारकी के शरीर में रुका रहता है, उसे नरकायु कहते हैं ।

प्रश्न :—तिर्यञ्चायु का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव तिर्यंच के शरीर में रुका रहता है, उसे तिर्यञ्चायु कहते हैं ।

प्रश्न :—मनुष्यायु का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव मनुष्य के शरीर में रुका रहता है, उसे मनुष्यायु कहते हैं ।

प्रश्न :—देवायु का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव देव के शरीर में रुका रहता है, उसे देवायु कहते हैं ।

प्रश्न :—नाम कर्म का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव गत्यादि के नाना रूप से परिणमित होता है। अथवा शरीरादिक बनते हैं, उसे नाम कर्म कहते हैं। इस नाम कर्म के उदय से आत्मा के सूक्ष्मत्व गुण का घात होता है।

प्रश्न :—गति नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव का आकार नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव के समान हो, उसे गति नाम कर्म कहते हैं।

प्रश्न :—गति नाम कर्म के कितने भेद है ?

उत्तर :—नरक गति, तिर्यञ्च गति, मनुष्य गति, देव गति ये चार भेद हैं।

प्रश्न :—मनुष्य गति नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव को मनुष्य पर्याय प्राप्त होती है, उसे मनुष्य गति नाम कर्म कहते हैं।

प्रश्न :—नरक गति नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से नरक पर्याय प्राप्त होती है, उसे नरक गति नाम कर्म कहते हैं।

प्रश्न :—तिर्यञ्च गति नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव को तिर्यञ्च गति प्राप्त हो, उसे तिर्यञ्च गति नाम कर्म कहते हैं।

प्रश्न :—देव गति नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से देव गति की प्राप्ति होती हो, उसे देवगति नाम कर्म कहते हैं।

प्रश्न :—इन चारों गतियों में मुख्य रूप से किस-किस कषाय का उदय रहता है, (जन्मते समय) ?

उत्तर :—जीव को नरक गति में क्रोध का उदय रहता है, तिर्यञ्च गति में माया का उदय रहता है, मनुष्य गति में मान का उदय होता है और देव गति में लोभ का उदय रहता है।

प्रश्न :—जाति नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से अनेक प्राणियों में अविरोधी समान अवस्था प्राप्त होती है, उसे जाति नाम कर्म कहते हैं ।

प्रश्न :—जाति नाम कर्म के कितने भेद हैं ?

उत्तर :—पांच भेद हैं—एकेन्द्रिय-जाति, द्वीन्द्रिय-जाति, त्रीन्द्रिय-जाति, चतुरिन्द्रिय-जाति और पञ्चेन्द्रिय-जाति ।

प्रश्न :—एकेन्द्रिय-जाति नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव एकेन्द्रिय-जाति में पैदा होता है, उसे एकेन्द्रिय-जाति नाम कर्म कहते हैं ।

प्रश्न :—द्वीन्द्रिय-जाति नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव द्वीन्द्रिय-जाति में पैदा होता है, उसे द्वीन्द्रिय-जाति नाम कर्म कहते हैं ।

प्रश्न :—त्रीन्द्रिय-जाति नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से त्रीन्द्रिय-जाति में जीव का जन्म होता है, उसे त्रीन्द्रिय-जाति नाम कर्म कहते हैं ।

प्रश्न :—चतुरिन्द्रिय-जाति नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव का चतुरिन्द्रिय-जाति में जन्म होता है, उसे चतुरिन्द्रिय-जाति नाम कर्म कहते है ।

प्रश्न :—पंचेन्द्रिय-जाति नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव का पंचेन्द्रिय-जाति में जन्म होता है, उसे पंचेन्द्रिय-जाति नाम कर्म कहते हैं ।

प्रश्न :—शरीर नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर की रचना होती है, उसे शरीर नाम कर्म कहते हैं ।

प्रश्न :—शरीर नाम कर्म के कितने भेद हैं ?

उत्तर :—शरीर नाम कर्म के ५ (पांच) भेद हैं । औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्माण ये ५ शरीर नाम कर्म के भेद हैं ।

प्रश्न :—औदारिक-शरीर नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव को औदारिक शरीर प्राप्त होता है। उसे औदारिक-शरीर नाम कर्म कहते हैं। यह शरीर मनुष्य और तिर्यञ्चों के होता है।

प्रश्न :—वैक्रियक-शरीर नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव को वैक्रियक शरीर प्राप्त होता है, उसे वैक्रियक-शरीर नाम कर्म कहते हैं। यह शरीर देव और नारकी के होता है। छोटा बड़ा नाना रूपों को बनाने में समर्थ होता है। वैक्रियक शरीर लब्धिनिमित्तक भी होता है तथा वह तपस्या विशेष से भी प्राप्त होता है।

प्रश्न :—आहारक शरीर नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—छठे गुणस्थानवर्ती मुनि के तत्त्वों में कुछ शंका होने पर अथवा तीर्थ-क्षेत्रादि की वंदना के लिये, उनके मस्तक से जो एक हाथ का, शुभ्र वर्ण का अत्यंत सूक्ष्म पुतला निकलता है और केवली, श्रुतकेवली के पाद मूल में जाकर शंका समाधान होने पर पुनः वापस आ जाता है, उसे आहारक-शरीर कहते हैं।

प्रश्न :—तैजस शरीर नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—औदारिक आदि शरीरों में तेज (कान्ति) उत्पन्न करने वाले शरीर को तैजस-शरीर कहते हैं। यह सभी संसारी जीवों के होता है।

प्रश्न :—कार्माण-शरीर नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के समूह को कार्माण शरीर कहते हैं। यह शरीर उपभोग रहित होता है। समस्त संसारी जीवों के होता है।

प्रश्न :—एक जीव के एक साथ कितने शरीर हो सकते हैं ?

उत्तर :—एक जीव के एक साथ ४ शरीर हो सकते हैं। अगर दो शरीर हो तो तैजस और कार्माण, तीन शरीर हो तो तैजस, कार्माण और औदारिक अथवा तैजस, कार्माण और वैक्रियक, चार शरीर हो तो तैजस, कर्माण औदारिक और आहारक, अथवा तैजस कार्माण, औदारिक और वैक्रियक शरीर होते हैं।

प्रश्न :—तैजस-शरीर के कितने प्रकार हैं ?

उत्तर :—शुभ-तैजस और अशुभ-तैजस—इस प्रकार तैजस शरीर दो प्रकार का है।

प्रश्न :—शुभ तैजस का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—शुभ-तैजस शरीर षष्ठम गुणस्थानवर्ती वीतरागी साधु के होता है। जब मुनिराज प्रसन्नचित्त हो गये हों तो सीधी (दाहिनी) भुजा से निकलकर १२ योजन तक सुभिक्ष कर देता है, शुभ्र वर्ण का होता है और सूक्ष्म होता है।

प्रश्न :—अशुभ-तैजस किसे कहते हैं ?

उत्तर :—यह भी निर्ग्रन्थ साधु के होता है, लाल वर्ण का होता है, महाभयंकर होता है। जब मुनिराज पूर्व पापकर्म के उदय से क्रोधित हो जाते हैं और अपने स्वरूप से च्युत होते हैं, तब उनके उल्टी (बायीं) भुजा से अशुभ-तैजस निकलता है और १२ योजन तक सबको जलाकर भस्म कर देता है और अन्त में मुनिराज को भी जला देता है। ये दोनों शरीर लब्धि-विशेष साधु के होते हैं।

प्रश्न :—पांचों शरीरों की सूक्ष्मता बताइये ?

उत्तर :—उक्त पांचों ही शरीर एक की अपेक्षा एक सूक्ष्म हैं। औदारिक की अपेक्षा वैक्रियक सूक्ष्म, वैक्रियक की अपेक्षा आहारक सूक्ष्म, आहारक की अपेक्षा तैजस सूक्ष्म और तैजस की अपेक्षा कार्माण सूक्ष्म होता है।

प्रश्न :—प्रदेशों की अपेक्षा ये पांचों ही शरीर कैसे हैं ?

उत्तर :—औदारिक शरीर की अपेक्षा असंख्यात गुणे प्रदेश (परमाणु) वैक्रियक शरीर में और वैक्रियक की अपेक्षा असंख्यात गुणे प्रदेश आहारक शरीर में और आहारक शरीर की अपेक्षा अनन्तगुणे परमाणु तैजस शरीर में और तैजस शरीर की अपेक्षा कार्माण शरीर में अनन्तगुणे परमाणु होते हैं।

प्रश्न :—अङ्गोपाङ्ग नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से अंग और उपांगों की रचना होती है, उसे अंगोपांग नामकर्म कहते हैं।

प्रश्न :—इसके कितने भेद हैं ?

उत्तर :—औदारिक शरीरांगोपांग, वैक्रियक शरीरांगोपांग और आहारक शरीरांगोपांग—ये तीन भेद हैं।

प्रश्न :—अङ्ग और उपाङ्ग कितने प्रकार के हैं ?

उत्तर :—दो हाथ, दो पांव, नितम्ब, पीठ, वक्षःस्थल और मस्तक ये ८ प्रकार के अंग हैं, इनको छोड़कर बाकी सब उपांग हैं।

प्रश्न :—औदारिक शरीरांगोपांग किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से औदारिक शरीर के अंगों की और उपांगों की रचना होती है, उसे औदारिक शरीरांगोपांग कहते हैं ।

प्रश्न :—वैक्रियक शरीरांगोपांग किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से वैक्रियक शरीरांगोपांगों की रचना होती है, उसे वैक्रियक शरीरांगोपांग कहते हैं ।

प्रश्न :—आहारक शरीरांगोपांग किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से आहारक शरीरांगोपांगों की रचना होती है, उसे आहारक शरीरांगोपांग कहते हैं ।

प्रश्न :—निर्माण नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से अंगोपांग की यथास्थान और यथाप्रमाण रचना होती है, उसे निर्माण नामकर्म कहते हैं ।

प्रश्न :—बन्धन नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—शरीर-नामकर्म के उदय से ग्रहण किए हुए पुद्गल स्कंधों का परस्पर मिलन जिस कर्म के उदय से होता है, उसे बन्धन-नामकर्म कहते हैं ।

प्रश्न :—इस बन्धन-नामकर्म के कितने भेद हैं ?

उत्तर :—बन्धन नामकर्म के ५ पांच भेद हैं । औदारिकबन्धन नामकर्म, वैक्रियकबंधन नामकर्म, आहारकबन्धन नामकर्म, तैजसबन्धन नामकर्म और कार्मणबन्धन नामकर्म ।

प्रश्न :—औदारिक बन्धन नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से औदारिक शरीर के परमाणु दीवार में लगे इंट और गारे की तरह छिद्र सहित परस्पर सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं, वह औदारिक बन्धन नामकर्म है । इसी प्रकार अन्य भेदों का लक्षण जानना ।

प्रश्न :—संघातनामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से औदारिकादि शरीरों के प्रदेश परस्पर छिद्र रहित एकमेक होते हैं, उसे संघात नामकर्म कहते हैं । इसके पांच भेद हैं । औदारिक संघात नामकर्म आदि ।

प्रश्न :—संस्थान नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से शरीर का आकार बनता है, उसे संस्थान नामकर्म कहते हैं।

प्रश्न :—इस संस्थान नामकर्म के कितने भेद हैं ?

उत्तर :—समचतुरस्त्रसंस्थान, न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान, स्वातिसंस्थान, कुब्जकसंस्थान, वामनसंस्थान और हुंडकसंस्थान — ये छह भेद हैं।

प्रश्न :—समचतुरस्त्रसंस्थान नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से शरीर का आकार ऊपर, नीचे तथा बीच में समान विभाग से जैसे सांचे में ढला हो, वैसे होता है, उसे समचतुरस्त्रसंस्थान नामकर्म कहते हैं।

प्रश्न :—न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से शरीर का आकार सर्प की बामि (बील) की तरह ऊपर पतला और नीचे मोटा होता है, उसे स्वातिसंस्थान नामकर्म कहते हैं।

प्रश्न :—कुब्जकसंस्थान नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से शरीर के बीच के भाग में बहुत से पुद्गलों का समूह इकट्ठा होता है अर्थात् पीठ कुछ उठी रहती है, उसे कुब्जक संस्थान नामकर्म कहते हैं।

प्रश्न :—वामनसंस्थान नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से शरीर बौना होता है, उसे वामनसंस्थान नामकर्म कहते हैं।

प्रश्न :—हुंडकसंस्थान नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से शरीर के अङ्गोपाङ्ग किसी खास आकार के न होकर बेडौल होते हैं, उसे हुंडकसंस्थान नामकर्म कहते हैं।

प्रश्न :—संहनन नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से हड्डियों के बन्धन में विशेषता होती है, उसे संहनन-नामकर्म कहते हैं।

प्रश्न :—इस संहनन नामकर्म के कितने भेद हैं ?

उत्तर :—इस संहनन नामकर्म के छह भेद हैं। वज्रर्षभनाराचसंहनन, वज्रनाराच-संहनन, नाराचसंहनन, अर्द्धनाराचसंहनन, कीलितसंहनन और असंप्राप्ता-सृपाटिकासंहनन – ये छह भेद हैं।

प्रश्न :—वज्रर्षभनाराचसंहनन किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से ऋषभ (वेष्टन), नाराच, (कील) और संहनन (हड्डियां) वज्र के समान अभेद्य होती हैं, उसे वज्रर्षभनाराचसंहनन कहते हैं।

प्रश्न :—वज्रनाराचसंहनन का क्या स्वरूप हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से कीलें वा हड्डियां तो वज्र के समान होती हैं, परन्तु वेष्ठन वज्र के समान नहीं होता है, उसे वज्रनाराचसंहनन कहते हैं।

प्रश्न :—नाराचसंहनन किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से सामान्य वेष्ठन और कीलिसहित हड्डियां होती हैं, उसे नाराचसंहनन कहते हैं।

प्रश्न :—अर्धनाराचसंहनन किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से हड्डियों की संधियां अर्धकीलित होती है, उसे अर्ध-नाराचसंहनन कहते हैं।

प्रश्न :—कीलितसंहनन किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से हड्डियां परस्पर कीलित होती है, उसे कीलितसंहनन कहते हैं।

प्रश्न :—असंप्राप्तासृपाटिका संहनन किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से अलग-अलग हड्डियां नसों से बंधी होती हैं, परस्पर में कीलित नहीं होती; उसे असंप्राप्तासृपाटिका संहनन कहते हैं।

प्रश्न :—स्पर्श नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से शरीर में स्पर्श होता है, उसे स्पर्श नामकर्म कहते हैं। इसके आठ भेद हैं—हल्का, भारी, रूखा, चिकना, कड़ा, नरम, ठंडा, गरम—इन सबका अनुभव स्पर्श नामकर्म के द्वारा होता है।

प्रश्न :—रस नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से शरीर में रस (का ज्ञान) उत्पन्न होता है, उसे रस नामकर्म कहते हैं। इस रस के ५ पांच भेद हैं – खट्टा, खारा, मीठा, कडवा, कषायला।

प्रश्न :—गंध नामकर्म किसे कहते हैं ? और उसके कितने भेद हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से शरीर में गंध का ज्ञान प्रगट होता है, उसे गंध नामकर्म कहते हैं। इसके दो भेद हैं – सुगन्ध और दुर्गन्ध।

प्रश्न :—वर्ण नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से शरीर में (रूप) वर्ण होता है, उसे वर्ण नामकर्म कहते हैं। इसके ५ पांच भेद हैं – काला, पीला, नीला, लाल और सफेद।

प्रश्न :—आनुपूर्व्य नामकर्म किसे कहते हैं और उसके कितने भेद हैं ?

उत्तर —जिस कर्म के उदय से विग्रहगति में (मरण से) पूर्व के शरीर के आकार में आत्मा के प्रदेश रहते हैं, उसे आनुपूर्व्य नामकर्म कहते हैं। इसके चार भेद हैं– नरकगत्यानुपूर्व्य, तिर्यञ्चगत्यानुपूर्व्य, मनुष्यगत्यानुपूर्व्य और देवगत्यानुपूर्व्य, जिस समय मनुष्य या तिर्यञ्च मरकर नरकगति की ओर जाता है, उस समय उसके आत्मा के प्रदेशों का आकार वैसा ही बना रहता है, जैसा उसके पूर्व शरीर का आकार था, जिसे वह छोडकर आया है, उस आकार को नरकगत्यादिनुपूर्व्य कहते हैं। इसी तरह अन्य जान लेना।

प्रश्न :—अगुरुलघु नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस नामकर्म के उदय से जीव का शरीर लोहे के गोले की तरह भारी और आक की रुई की तरह हल्का नहीं होता, उसे अगुरुलघु नामकर्म कहते हैं।

प्रश्न :—उपघात नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से अपने ही घातक (अपना ही घात करने वाले) आंगोपांग होते हैं, उसे उपघात नामकर्म कहते हैं।

प्रश्न :—परघात नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से दूसरे के घातक (घात करने वाले) आंगोपांग होते हैं, उसे परघात नामकर्म कहते हैं।

प्रश्न :--आतप नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से आतापकारी शरीर होता है, उसे आतप नामकर्म कहते हैं। इसका उदय सूर्य के विमान में स्थित बादर पर्याप्त पृथ्वीकायिक जीवों के होता है।

प्रश्न :—उद्योत नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :--जिस कर्म के उदय से उद्योतरूप शरीर होता है, उसे उद्योत नामकर्म कहते हैं। इसका उदय चन्द्रमा के विमान में स्थित पृथ्वीकायिक जीवों के तथा खद्योत (जुगनू) आदि जीवों के होता है।

प्रश्न :—उच्छ्वास नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :--जिस कर्म के उदय से शरीर में उच्छ्वास होता है, उसे उच्छ्वास नामकर्म कहते हैं।

प्रश्न :--विहायोगति नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :--जिस कर्म के उदय से आकाश में गमन होता है, उसे विहायोगति नामकर्म कहते हैं। इसके दो भेद हैं—प्रशस्त विहायोगति और अप्रशस्त विहायोगति।

प्रश्न :—प्रत्येक शरीर नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :--जिस कर्म के उदय से एक शरीर का स्वामी एक ही जीव हो, उसे प्रत्येक शरीर नामकर्म कहते हैं।

प्रश्न :—साधारण नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :--जिस कर्म के उदय से एक शरीर के अनेक जीव स्वामी होते हैं, उसे साधारण नामकर्म कहते हैं।

प्रश्न :--त्रस नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :--जिस कर्म के उदय से जीव का द्वीन्द्रिय आदि पर्यायों में जन्म होता है, उसे त्रस नामकर्म कहते हैं।

प्रश्न :—स्थावर नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :--जिस कर्म के उदय से एकेन्द्रिय जाति में जीव का जन्म होता है, उसे स्थावर नामकर्म कहते हैं।

प्रश्न :—सुभग नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से अन्य जीवों को अपने से प्रीति होने योग्य शरीर होता है, उसे सुभग नामकर्म कहते हैं।

प्रश्न :—दुर्भग नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से रूपादि गुणों से युक्त होने पर भी दूसरे जीवों को अपने से प्रीति नहीं होती है, उसे दुर्भग नामकर्म कहते हैं।

प्रश्न :—सुस्वर नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से स्वर (आवाज) सुरीला होता है, उसे सुस्वर नामकर्म कहते हैं।

प्रश्न :—दुस्वर नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से स्वर अच्छा नहीं होता है, उसे दुस्वर नामकर्म कहते हैं।

प्रश्न :—शुभ नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से मस्तक आदि अवयव सुन्दर हो, उसे शुभ नामकर्म कहते हैं।

प्रश्न :—अशुभ नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से शरीर के अवयव देखने में सुन्दर नहीं होते हैं, उसे अशुभ नामकर्म कहते हैं।

प्रश्न :—सूक्ष्म नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से दूसरों को नहीं रोकने वाला और दूसरों से नहीं रुकने वाला शरीर प्राप्त होता है, उसे सूक्ष्मशरीर नामकर्म कहते हैं।

प्रश्न :—बादरनाम कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से दूसरों को रोकने वाला तथा दूसरों से रुकने वाला स्थूल शरीर प्राप्त होता है, उसे बादर नामकर्म कहते हैं।

प्रश्न :—पर्याप्ति नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से अपने योग्य पर्याप्तियां पूर्ण होती हैं, उसे पर्याप्ति नामकर्म कहते हैं।

प्रश्न :—अपर्याप्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव के एक भी पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती, उसे अपर्याप्ति नामकर्म कहते हैं।

प्रश्न :—पर्याप्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर :—आहारवर्गणा, भाषावर्गणा और मनोवर्गणा के परमाणुओं के शरीर तथा इन्द्रियादि रूप परिणमावने की शक्ति की पूर्णता को पर्याप्ति कहते हैं। पर्याप्ति के छह भेद हैं—१. आहारपर्याप्ति, २. शरीरपर्याप्ति, ३. इन्द्रिय-पर्याप्ति, ४. श्वासोच्छवासपर्याप्ति, ५. भाषापर्याप्ति, ६. मनःपर्याप्ति।

प्रश्न :—अपर्याप्तक के कितने भेद हैं ?

उत्तर :—निर्वृत्यपर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तक – ऐसे दो भेद हैं।

प्रश्न :—निर्वृत्यपर्याप्तक किसे कहते हैं ?

उत्तर :—अपने-अपने योग्य पर्याप्तियों का प्रारम्भ तो साथ-साथ होता है, किन्तु पूर्णता क्रम से होती है। किसी जीव की जब तक शरीर पर्याप्तिपूर्ण नहीं होती; किन्तु नियम से पूर्ण होने वाली होती है, तब तक उस जीव को निर्वृत्यपर्याप्तक कहते हैं।

प्रश्न :—लब्ध्यपर्याप्तक किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिसकी शरीर पर्याप्ति पूर्ण हो जाती है, उसे पर्याप्तक कहते हैं। और जिसकी एक भी पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती तथा श्वास के अठारहवें भाग में मरण हो जाता है, उसे लब्ध्यपर्याप्तक कहते हैं।

प्रश्न :—आहारपर्याप्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर :—आहार वर्गणा के परमाणुओं को खल वा रस भागरूप परिणमावने को कारणभूत जीव की शक्ति की पूर्णता को आहारपर्याप्ति कहते हैं।

प्रश्न :—शरीरपर्याप्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिन परमाणुओं को खलरूप परिणमवाया था, उनको हड्डि वगैरह कठिन अवयवरूप और जिनको रसरूप परिणमवाया था, उनको रुधिरादिक स्वरूप परिणमावने के कारणभूत जीव की शक्ति की पूर्णता को शरीरपर्याप्ति कहते हैं।

प्रश्न :—इन्द्रियपर्याप्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर :—आहार वर्गणा के परमाणुओं को इन्द्रिय के आकाररूप परिणमावने की तथा इन्द्रिय द्वारा ग्रहण करने के कारणभूत जीव की शक्ति की पूर्णता को इन्द्रिय पर्याप्ति कहते हैं ।

प्रश्न :—श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर :—आहार वर्गणा के परमाणुओं को श्वासोच्छ्वासरूप परिणमावने के कारणभूत जीव की शक्ति की पूर्णता को श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति कहते हैं ।

प्रश्न :—भाषापर्याप्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर :—भाषावर्गणा के परमाणुओं को वचनरूप परिणमावने के कारणभूत जीव की शक्ति की पूर्णता को भाषापर्याप्ति कहते हैं ।

प्रश्न :—मनःपर्याप्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर :—मनोवर्गणा के परमाणुओं को हृदय स्थान में आठ पंखुड़ी के कमलाकार मनरूप परिणमावने की तथा उसके द्वारा यथावत विचार करने की कारणभूत जीव की शक्ति की पूर्णता को मनःपर्याप्ति कहते हैं ।

प्रश्न :—कितने इन्द्रिय वाले जीवों को कितनी पर्याप्तियाँ होती हैं ?

उत्तर :—एकेन्द्रिय के भाषा और मन के बिना चार पर्याप्तियां होती हैं । द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय के मन के बिना पांच पर्याप्तियां होती हैं । संज्ञीपंचेन्द्रिय के छहों पर्याप्तियां होती हैं । इन सब पर्याप्तियों के पूर्ण होने का काल अन्तर्मुहूर्त है और एक-एक पर्याप्ति का काल भी अन्तर्मुहूर्त है । तथा सबका मिलाकर भी अन्तर्मुहूर्त ही है । और पहले से दूसरे, तीसरे का इसी तरह छठें तक का काल क्रम से बड़ा-बड़ा अन्मुहूर्त है ।

प्रश्न :—स्थिर नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से शरीर की धातुएँ (रस, रुधिर, मांस, मेद, हाड, मज्जा और शुक्र) तथा उपधातुएँ (वात, पित्त, कफ, शिरा, स्नायु, चाम और जठराग्नि) अपने-अपने स्थान में स्थिरता को प्राप्त होती हैं, उसे स्थिर नामकर्म कहते हैं ।

प्रश्न :—अस्थिर नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से शरीर की धातुएँ तथा उपधातुएँ अपने स्थान में स्थिर नहीं रहती, उसे अस्थिर नामकर्म कहते हैं।

प्रश्न :—आदेय नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से शरीर में कान्ति होती है, उसे आदेय नामकर्म कहते हैं।

प्रश्न :—अनादेय नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से शरीर में कान्ति नहीं होती, उसे अनादेय नामकर्म कहते हैं।

प्रश्न :—यशःकीर्ति नामकर्म कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से संसार में जीव की प्रशंसा होती है, उसे यशःकीर्ति नामकर्म कहते हैं।

प्रश्न :—अयशःकीर्ति नामकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से लोक में जीव की निन्दा होती है, उसे अयशःकीर्ति नामकर्म कहते हैं।

प्रश्न :—तीर्थंकरत्व कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से तीर्थङ्करपद की प्राप्ति होती है, उसे तीर्थङ्कर नामकर्म कहते हैं।

प्रश्न :—गोत्रकर्म किसे कहते हैं ? उसके कितने भेद हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव का उच्च या नीच गोत्र में जन्म होता हैं, उसे गोत्रकर्म कहते हैं। इसके दो भेद हैं—१. उच्चगोत्र, २. नीचगोत्र।

प्रश्न :—उच्चगोत्र कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से उच्चगोत्र में जन्म होता है, उसे उच्चगोत्र कर्म कहते हैं। इससे लोकमान्य पूज्य गोत्र मिलता है।

प्रश्न :—नीचगोत्र कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से प्राणी का लोक निन्द्य नीच कुल में जन्म होता है, उसे नीचगोत्र कर्म कहते हैं।

प्रश्न :—अन्तराय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से दानादिक में विघ्न होता है, उसे अन्तराय कर्म कहते हैं। इसके पांच भेद हैं—१. दानान्तराय, २. लाभान्तराय, ३. भोगान्तराय, ४. उपभोगान्तराय और ५. वीर्यान्तराय।

प्रश्न :—दानान्तराय किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से दान देने की इच्छा होते हुए भी प्राणी दान नहीं कर सकता, उसे दानान्तराय कहते हैं। इसी प्रकार और भी अन्तरायों का स्वरूप जान लेना।

प्रश्न :—बंध कितने प्रकार का है और बंध का लक्षण क्या है ?

उत्तर :—बंध चार प्रकार का है। प्रकृति बंध, प्रदेश बंध, स्थिति बंध और अनुभाग बंध। अब बंध का लक्षण बताते हैं। कार्मणवर्गणारूप पुद्गल सम्पूर्ण लोक में ठसाठस भरे हुए हैं, कषाय के निमित्त से आत्मा के साथ, उनका सम्बन्ध हो जाता है। यही बन्ध कहलाता है। जैसे तत्वार्थ सूत्र में परिभाषा दी है—

"सकषायत्वाज्जीव : कर्मणो योगान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः।"[1]

प्रश्न :—कौनसा बंध किससे होता है ?

उत्तर :—प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध योग से होते हैं। स्थितिबंध और अनुभागबंध कषाय से होते हैं।

प्रश्न :—प्रकृति बंध किसे कहते हैं ?

उत्तर :—कर्मों में ज्ञानादिक के ढकने का स्वभाव प्रकृति बन्ध है।

प्रश्न :—प्रदेश बंध किसे कहते हैं ?

उत्तर :—आत्मा के योग-विशेषों द्वारा त्रिकाल में बंधनवाले, ज्ञानावरणादि कर्म प्रकृतियों के कारणभूत, आत्मा के प्रदेशों में व्याप्त होकर कर्मरूप परिणम ने योग्य, सूक्ष्म, आत्मा के प्रदेशों में क्षीर-नीर की तरह एक होकर स्थिर रहने वाले तथा अनन्तानन्त प्रदेशों का प्रमाण लिये प्रदेश बन्धरूप पुद्गल स्कन्धों को प्रदेशबन्ध कहते हैं। कहा गया है—

"नाम प्रत्ययाः सर्वतो योग विशेषात् सूक्ष्मैक क्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्म प्रदेशेष्वनन्तानन्त प्रदेशाः।"[2]

---

१. तत्वार्थ सूत्र—अध्याय : ८, सूत्रः २। २. तत्वार्थ सूत्रः अध्यायः ८, सूत्रः २४।

प्रश्न :—स्थिति बंध किसे कहते हैं ?

उत्तर :—ज्ञानावरणादि कर्मों का अपने स्वभाव से चुत नहीं होने वाला स्थिति बंध है।

प्रश्न :—अनुभाग बंध किसे कहते हैं ?

उत्तर :—ज्ञानावरणादि कर्मों में तीव्र या मंद आदि फल देने की शक्ति को अनुभाग बंध कहते हैं।

प्रश्न :—ज्ञानावरणादि कर्मों को उत्कृष्ट स्थिति कितनी है ?

उत्तर :—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय इन चार कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागर है। इस उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीव के होता है।

मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर की है। नाम, गोत्र की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोड़ाकोड़ी सागर की है। आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तैतीस कोड़ा कोड़ी सागर है।

प्रश्न :—ज्ञानावरणादि कर्मों की जघन्य स्थिति कितनी है ?

उत्तर :—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय और आयु इन पांच कर्मों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है। वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त है। नाम व गोत्र की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त है।

प्रश्न :—पुण्यप्रकृतियां कौन-कौनसी हैं ?

उत्तर :—देवायु, मनुष्यायु, तिर्यंचायु, सातावेदनीय, उच्चगोत्र, प्रशस्तगति, देवगति, मनुष्यगति, देवगत्यानुपूर्वी, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, निर्माण, श्वासोच्छ्वास, बंधन ५, संघात ५, देह ५, वर्ण ५, रस ५, (अस) तीन आंगोपांग, शुभ, गन्ध २, आठ स्पर्श, अगुरुलघु, पंचेन्द्रिय, समचतुरस्र संस्थान, वज्रर्षभनाराचसंहनन, बादर, प्रत्येक, स्थिर, पर्याप्त, यसकीर्ति, आतप, उद्योत, परघात, सुस्वर, सुभग, आदेय और तीर्थंकर ये ६८ पुण्यप्रकृतियां हैं।

कर्मकाण्ड में इसे इस प्रकार गाथाबद्ध किया है—

"सादं तिण्णेवाऊ उच्चं णर सुर दुगं च पंचिंदी।
देहा बन्धणसंघा – देगो वंगाइं वण्णचओ ।।

समचउरवज्जरिसहं उवघादूग गुरू छक्क सग्गमणं ।
तसवारसट्ठसट्ठी, बादालम भेददो सत्था ।।"[1]

प्रश्न :—पापप्रकृतियां कौन-कौनसी हैं ?

उत्तर :—चारों घातिया कर्म की सैंतालीस प्रकृतियां, असातावेदनीय, नीचगोत्र, नरक आयु, समचतुरस्र संस्थान बिना पांच संस्थान, वज्रर्षभनाराच संहनन बिना, पांच संहनन, पांच वर्ण, पांच रस, नरक गत्यानुपूर्वी, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, नरकगति, तिर्यंचगति, आठ स्पर्श, गंध दो, पंचेन्द्री, बिना चारों इंन्द्रियां वस्था, अप्रशस्तविहायोगति, अस्थिर, अपर्याप्त, सूक्ष्म, साधारण, उपघात, स्थावर, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, अयसकीर्ति इन सब को मिलाकर सौ पाप प्रकृतियां हैं ।

इनको गोम्मटसार में इस प्रकार गाथा बद्ध किया है—

"चादी णीचमसादं णिरयाऊ णिरयतिरियदुग जादी
संठाणसंहदीणं चदुपणपणगं च वण्णाचओ ।।
उवघादमसग्गमणं थावरदसयं च अप्पसत्था हु ।
बंधुदयं पडि भेदे अडणउदि सयं दुचदुरसीदिदरे ।।"[2]

प्रश्न :—घातिया कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिसके उदय से जीव के ज्ञानादिक अनुजीवी गुणों का घात होता है, उसे घातिया कर्म कहते हैं ।

प्रश्न :—घातिया कर्म के कितने भेद हैं ?

उत्तर :—ज्ञानावरण के ५, दर्शनावरण के ९, मोहनीय के २८ और अन्तराय के ५ कुल मिलाकर घातिया कर्म के सैंतालिस भेद होते हैं ।

प्रश्न :—अघातिया कर्म किसे कहते हैं ? और उसके कितने भेद हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव के ज्ञानादि अनुजीवी गुणों का घात नहीं होता, उसे अघातिया कर्म कहते हैं ।

---

१. गोम्मटसार : कर्मकाण्ड : गाथा ४१–४२ ।
२. गोम्मटसार: कर्मकाण्ड: गाथा ४३, ४४ ।

वेदनीय के २, आयु के ४, नाम ९३ और गोत्र के २ कुल मिलाकर अघातिया कर्म के १०१ भेद होते हैं।

प्रश्न :—सर्वघाति कर्म किसे कहते हैं और उसके कितने भेद हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से अनुजीवी गुणों का पूर्ण रूप से घात होता हो, उसे सर्वघाति कर्म कहते हैं। केवलज्ञानावरण एक, केवल दर्शनावरण एक, निद्रा ५, अनन्तानुबन्धि की ४, अप्रत्याख्यानावरण की ४, प्रत्याख्यानावरण की ४, मिथ्यात्व १ और सम्यङ्मिथ्यात्व १ कुल मिलाकर २१ प्रकृति सर्वघाति हैं।

प्रश्न :—देशघाति कर्म किसे कहते हैं ? और उसके कितने भेद हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव के अनुजीवी गुणों का एक देश घात होता है, उसे देशघाति कर्म कहते हैं। मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनः पर्ययज्ञानावरण, चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधि दर्शनावरण, संज्वलन ४, नोकषाय ९, एक सम्यक्त्व, पांच अन्तराय ये—सब मिलाकर छब्बिस देशघाति कर्म हैं।

प्रश्न :—जीव विपाकी कर्म किसे कहते हैं ? और उसके कितने भेद हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म का फल जीव में होता है उसको जीव विपाकी कर्म कहते हैं। इसके अठहत्तर भेद हैं। घातिया के ४७, गोत्र के २, वेदनीय के २, तीर्थंकर प्रकृति, उच्छवास, बादर, सूक्ष्म, पर्याप्ति, अपर्याप्ति, सुस्वर, दुस्वर, आदेय, अनादेय, यशः कीर्ति, अयशः कीर्ति, त्रस, स्थावर, प्रशस्तविहायोगति, अप्रशस्तविहायोगति, सुभग, दुर्भग, गति ४, जाति ५ सब मिलकर अठहत्तर भेद होते हैं।

प्रश्न :—पुद्गल विपाकी कर्म किसे कहते हैं ? और उसके कितने भेद हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म का फल पुद्गल में होता है, उसे पुद्गलविपाकी कहते हैं। इसके बासठ भेद हैं। कुल कर्म प्रकृतियां १४८ हैं, उनमें से क्षेत्र विपाकी ४, भवविपाकी ४, जीवविपाकी ७८ इस प्रकार ८६ प्रकृतियां घटाने से शेष ६२ प्रकृतियां पुद्गल विपाकी हैं।

प्रश्न :—भवविपाकी कर्म किसे कहते हैं ? भवविपाकी प्रकृतियां कितनी हैं ?

उत्तर :—जिस कर्म के फल से जीवपर्याय में रहता है, इसकी चार प्रकृतियां हैं—

नरकायु, तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु और देवायु ।

प्रश्न :—**क्षेत्रविपाकी कर्म किसे कहते हैं ? और उसकी कितनी प्रकृतियां हैं ?**

उत्तर :—जिस कर्म के उदय से जीव का आकार विग्रहगति में पूर्वपर्याय जैसा बना रहता है, उसे क्षेत्रविपाकी कर्म कहते हैं, उसके चार भेद हैं—चारों गत्यानुपूर्वी ।

प्रश्न :—**मिथ्यात्व गुणस्थाने में कौन-कौनसी प्रकृति का बन्ध होता है ?**

उत्तर :—कर्म की १४८ प्रकृतियों में स्पर्शादिक २० प्रकृतियों का अभेद विवक्षा से स्पर्शादिक चार में तथा बन्धन ५ और संघात ५ का, अभेद विवक्षा से पांच शरीरों में अन्तर्भाव होता है । इस कारण भेदविवक्षा से सर्व १४८ और अभेद विवक्षा से १२२ प्रकृतियां बंध योग्य हैं ।

सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति इन दो प्रकृतियों का बंध नहीं होता,[1] क्योंकि इन दोनों प्रकृतियों की सत्ता सम्यक्त्व परिणामों से मिथ्यात्व प्रकृति के तीन खण्ड करने से होती है, इस कारण अनादि मिथ्यादृष्टि जीव की बन्ध योग्य प्रकृतियां १२० और सत्त्वयोग प्रकृतियां १४६ हैं ।

मिथ्यात्व गुणस्थान में तीर्थंकर प्रकृति, आहारक शरीर और आहारकांगोपांग इन तीन प्रकृतियों का बन्धन नहीं होता, क्योंकि इन तीन प्रकृतियों का बन्ध सम्यग्दृष्टि के ही होता है । इसलिये मिथ्यात्व गुणस्थान में (१२० में) ३ घटाने पर ११७ प्रकृतियों का बन्ध होता है ।

प्रश्न :—**मिथ्यात्व गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का उदय होता है ?**

उत्तर :—सम्यक् प्रकृति, सम्यक् मिथ्यात्व, आहारक शरीर, आहारकांगोपांग और तीर्थंकर प्रकृति इन पांच प्रकृतियों का मिथ्यात्व गुणस्थान में उदय नहीं होता, इसलिये १२२ में पांच घटाने पर ११७ का प्रकृतियों उदय होता है ।

प्रश्न :—**मिथ्यात्व गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों की सत्ता (सत्त्व) रहती है ?**

उत्तर :—मिथ्यात्व गुणस्थान में १४८ प्रकृतियों का सत्ता (सत्त्व) रहती है ।

प्रश्न :—**दूसरे गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का बंध होता है ?**

---

१. जैन दर्शन में मिथ्यात्वादि १४ गुणस्थानों की चर्चा की गई है । प्रत्येक गुणस्थान में प्रकृतियों के बन्ध, उदय, सत्त्व की चर्चा यहां से आगे करते हैं ।

उत्तर :—दूसरे गुणस्थान में १०१ प्रकृतियो का बंध होता है। क्योंकि सोलह प्रकृतियां कम हो जाती हैं। ११७ प्रकृतियों का बंध पहले गुणस्थान में होता था, इसमें से १६ प्रकृतियों की व्युच्छिति हो जाती है, सो १६ घटाने पर १०१ रह जाती है, इन्हीं का इस गुणस्थान में बंध होता है।

प्रश्न :—**व्युच्छित्ति किसे कहते हैं ?**

उत्तर :—जिस गुणस्थान में जिन कर्म प्रकृतियों का बन्ध, उदय अथवा सत्त्व की व्युच्छित्ति कही है; उस गुणस्थान तक ही उन प्रकृतियों का बन्ध, उदय, अथवा सत्त्व पाया जाता है। आगे के किसी भी गुणस्थान में उन प्रकृतियों का बन्ध, उदय अथवा सत्त्व, नहीं होता है, इसी को व्युच्छित्ति कहते है।

प्रश्न :—**द्वितीय गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का उदय होता है ?**

उत्तर :—पहिले गुणस्थान में जो ११७ प्रकृतियों का उदय होता है उनमें से मिथ्यात्व, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण इन पांच को मिथ्यात्व गुणस्थान की व्युच्छिन्न प्रकृतियों से घटाने पर ११२ रही। परन्तु नरकगत्यानुपूर्वी का इस गुणस्थान में उदय नहीं होता, इसलिये इस गुणस्थान में १११ प्रकृतियों का उदय होता हैं।

प्रश्न :—**द्वितीय गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का सत्त्व रहता है ?**

उत्तर :—इस द्वितीय गुणस्थान में तीर्थंकर, आहारक शरीर और आहारक आँगोपांग ये तीन नहीं रहती हैं, इसलिये इस गुण स्थान में एक सौ पैंतालिस का सत्त्व रहता है।

प्रश्न :—**तृतीय गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का बंध होता है ?**

उत्तर :—तृतीय गुणस्थान में बन्धयोग्य प्रकृतियां १०१ थीं, उनमें से व्युच्छिन्न प्रकृतियां पच्चीस, (अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचला-प्रचला, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, न्यग्रोध परिमंडलसंस्थान, स्वातिसंस्थान, कुब्जक संस्थान, वामनसंस्थान, वज्रनाराचसंहनन, नाराचसंहनन, अर्द्धनाराचसंहनन, कीलितसंहनन, अप्रशस्त विहायोगति, स्त्रीवेद, नीचगोत्र, तिर्यञ्चगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, तिर्यगायु, उद्योत) घटाने पर शेष रही ७६ प्रकृतियां। परन्तु इस गुणस्थान में किसी भी आयुकर्म का बन्ध

नहीं होता है, इसलिये छिहत्तर में से मनुष्यायु और देवायु इन दो के घटाने पर तृतीय मिश्र गुणस्थान में ७४ प्रकृतियों का बन्ध होता है। नरकायु की पहले गुणस्थान में और तिर्यञ्चायु की दूसरे गुणस्थान में ही व्युच्छित्ति हो जाती है।

प्रश्न :—तृतीय गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का उदय होता है ?

उत्तर :—दूसरे गुणस्थान में १११ प्रकृतियों का उदय होता है। इनमें से व्युच्छिन्न प्रकृतियों ९ की (अनन्तानुबंधी ४, एकेन्द्रियादिक ४, स्थावर १ को) घटाने पर शेष १०२ में से नरकगत्यानुपूर्वी के बिना (क्योंकि यह दूसरे गुणस्थान में घटाई जा चुकी है)। शेष की तीन आनुपूर्व घटाने पर (क्योंकि तीसरे गुणस्थान में मरण न होने से किसी भी आनुपूर्वी का उदय नहीं होता) शेष ९९ प्रकृतियां और एक सम्यक् मिथ्यात्व प्रकृति का उदय यहां होता है, इस कारण इस गुणस्थान में १०० प्रकृतियों का उदय होता है।

प्रश्न :—तृतीय गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का सत्व रहता है ?

उत्तर :—तृतीय गुस्थान में तीर्थङ्कर प्रकृति के बिना १४७ प्रकृतियों का सत्व रहता है।

प्रश्न :—अविरत चतुर्थ गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का बंध होता है ?

उत्तर :—तृतीय (मिश्र) गुणस्थान में ७४ प्रकृतियों का बन्ध होता है। उसमें मनुष्यायु, देवायु और तीर्थंकर प्रकृति मिलाने पर ७७ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

प्रश्न :—चतुर्थ गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का उदय होता है ?

उत्तर :—तृतीय गुणस्थान में १०० प्रकृतियों का उदय होता है, उसमें से व्युच्छिन्न प्रकृति सम्यक् मिथ्यात्व को घटाने पर रही ९९ इनमें चार आनुपूर्वी और एक सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व इन पांच प्रकृतियों को मिलाने पर चौथे गुणस्थान में १०४ प्रकृतियों का उदय होता है।

प्रश्न :—चौथे गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का सत्व रहता है ?

उत्तर :—सबका अर्थात् १४८ प्रकृतियों का, किन्तु क्षायिक सम्यग्दृष्टि के १४१ का ही सत्व रहता है।

प्रश्न :—पंचम गुणस्थान में कितने प्रतियों का बंध होता है ?

उत्तर :—चौथे गुणस्थान में जिन ७७ प्रकृतियों का बन्ध कहा है, उनमें से व्युच्छिन्न दस के (अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, मनुष्यायु, औदारिकशरीर, औदारिकांगोपांग वज्रर्षभनाराच-संहनन के) घटाने पर शेष ६७ प्रकृतियों का देशविरत नामक पंचम गुणस्थान में बन्ध होता है ।

प्रश्न :—पंचम गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का उदय रहता है ?

उत्तर :—चौथे गुणस्थान में जिन १०४ प्रकृतियों का उदय कहा है, उनमें से व्युच्छिन्न सत्रह प्रकृतियों के (अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, देवायु, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, नरकायु, वैक्रियक शरीर, वैक्रियकांगोपांग, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, तिर्यंग्गत्यानुपूर्वी, दुर्भग अनादेय, अयश-स्कीर्ति के) घटाने पर शेष रही ८७ प्रकृतियों का पञ्चम गुणस्थान में उदय होता है ।

प्रश्न :—पंचम गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का सत्व रहता है ?

उत्तर :—चौथे गुणस्थान में जिन १४८ प्रकृतियों का सत्व कहा है, उनमें से व्युच्छिन्न प्रकृति एक नरकायु के बिना १४७ का सत्व रहता है, किन्तु क्षायिक सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा से १४० का ही सत्व रहता है ।

प्रश्न :—छठवें गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का बन्ध होता है ?

उत्तर :—पंचम गुणस्थान में जिन ६७ प्रकृतियों का बंध होता है, उनमें से प्रत्याख्याना-वरण क्रोध, मान, माया, लोभ इन ४ व्युच्छिन्न प्रकृतियों को घटाने पर शेष ६३ प्रकृतियों का प्रमतविरत नामक छठवें में बन्ध होता है ।

प्रश्न :— छठवें गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का उदय होता है ?

उत्तर :—पंचम गुणस्थान में जिन ८७ प्रकृतियों का उदय रहता है, उनमें से व्युच्छिन्न आठ प्रकृतियों के (प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, तिर्यञ्चगति, तिर्यंग्गायु, उद्योत और नीचगोत्र के) घटाने पर शेष ७९ प्रकृतियों में आहारक शरीर और आहारक आंगोपांग इन दो प्रकृतियोंको मिलाने से ८१ प्रकृतियों का इस गुणस्थान में उदय होता है ।

प्रश्न :—छठवें गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का सत्व रहता है ?

उत्तर :—पंचम गुणस्थान में १४७ प्रकृतियों की सत्ता कही है, उनमें से व्युच्छिन्न प्रकृति एक तिर्यञ्चगति को घटाने पर १४६ प्रकृतियों का छठवें गुणस्थान में सत्व रहता है। किन्तु क्षायिक सम्यग्दृष्टि में १३९ का ही सत्व कहा है।

प्रश्न :—सातवें गुणस्थान में बन्ध कितनी प्रकृतियों का होता है ?

उत्तर :—छठे गुणस्थान में जिन ६३ प्रकृतियों का बंध कहा है, उनमें से व्युच्छिन्न प्रकृति छह के (अस्थिर, अशुभ, असाता, अयशस्कीर्ति, अरति, शोक को) घटाने पर शेष रही ५७ में आहारक शरीर और आहार आंगोपांग इन दो प्रकृतियों को मिलाने से सप्तम गुणस्थान में ५९ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

प्रश्न :—सप्तम गुणस्थान में उदय कितनी प्रकृतियों का होता है ?

उत्तर :—छठे गुणस्थान में जो ८१ प्रकृतियों का उदय कहा है, उनमें से व्युच्छिन्न प्रकृति पांच (आहारकशरीर, आहारकांगोपांग, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, और स्त्यानगृद्धि) के घटाने पर शेष रही ७६ प्रकृतियों का सप्तम गुणस्थान में उदय होता है।

प्रश्न :—सप्तम गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का सत्व रहता है ?

उत्तर :—छठे गुणस्थान की तरह इस गुणस्थान में भी १४६ की सत्ता रहती है। किन्तु क्षायिक सम्यग्दृष्टि के १३९ प्रकृति का ही सत्व रहता है।

प्रश्न :—आठवें गुणस्थान में बन्ध कितनी प्रकृतियों का होता है ?

उत्तर :—सातवें गुणस्थान में जिन ५९ प्रकृतियों का बन्ध कहा है, उनमें से व्युच्छिन्न प्रकृति एक देवायु को घटाने पर ५८ का बंध होता है।

प्रश्न :—आठवें गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का उदय रहता है ?

उत्तर :—सातवें गुणस्थान में जिन ७६ प्रकृतियों का उदय कहा है, उनमें से व्युच्छिन्न प्रकृतियां चार (सम्यक्प्रकृति, अर्द्धनाराचसंहनन, कीलक, असंप्राप्तासृपाटिका-संहनन) के घटाने पर शेष ७२ प्रकृतियों का अष्टम गुणस्थान में उदय होता है।

प्रश्न :—आठवें गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का सत्व रहता है ?

उत्तर :—सातवें गुणस्थान जो १४६ का सत्व कहा है, उनमें से व्युच्छिन्न प्रकृतियां अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारों को घटाने पर द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि उपशम श्रेणी वाले के दर्शनमोहनीय का तीन प्रकृति रहित १३९ का सत्व रहता है। और क्षपक श्रेणी वाले के सातवें गुणस्थान की व्युच्छिन्न प्रकृतियां आठ को (अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, तथा दर्शन मोहनीय की ३ और एक देवायु को) घटाकर शेष १३८ प्रकृतियों का सत्व रहता है।

प्रश्न :—नवम गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का बन्ध होता है ?

उत्तर :—आठवें गुणस्थान में जिन ५८ प्रकृतियों का बन्ध कहा है, उनमें से व्युच्छिन्न प्रकृतियां छत्तिस (निद्रा, प्रचला, तीर्थंकर, निर्माण, प्रशस्तविहायोगति, पंचेन्द्रियजाति, तैजसशरीर, कार्माणशरीर, आहारकशरीर आहारक आंगोपांग, समचतुरस्त्र-संस्थान, वैक्रियआंगोपांग, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, रूप, रस, गंध, स्पर्श, अगुरूलघुत्व, उपघात, परघात, उच्छ्वास, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, हास्य, रति, जुगुप्सा, भय) को घटाने पर शेष २२ प्रकृतियों का नवम गुणस्थान में बन्ध होता है।

प्रश्न :—नवम गुणस्थान में उदय कितनी प्रकृतियों का होता है ?

उत्तर :—अष्टम गुणस्थान में जिन ७२ प्रकृतियों का उदय होता है, उनमें से व्युच्छिन्न प्रकृतियां छह (हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा) को घटाने पर शेष ६६ प्रकृतियों का उदय होता है।

प्रश्न :—नवम गुणस्थान में सत्व कितनी प्रकृतियों का होता है ?

उत्तर :—अष्टम गुणस्थान की तरह इस गुणस्थान में भी उपशम श्रेणी वाले द्वितियोपशमसम्यग्दृष्टी के १४२, क्षयिकसम्यग्दृष्टी के १३९ और क्षपकश्रेणी वाले के १३८ प्रकृतियों का ही सत्व रहता है।

प्रश्न :—दशम गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का बंध होता है ?

उत्तर :—नवम गुणस्थान में जिन २२ प्रकृतियों का बन्ध होता है, उनमें से व्युच्छिन्न प्रकृतियां पांच (पुरुषवेद, संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ) को घटाने पर शेष १७ प्रकृतियों का यहां बन्ध होता है।

प्रश्न :—दशम गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का उदय होता है ?

उत्तर :—नवम गुणस्थान में जिन ६६ प्रकृतियों का उदय होता है, उनमें से व्युच्छिन्न प्रकृतियां छह स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, संज्वलन क्रोध, मान, माया को घटाने पर शेष ६० प्रकृतियों का दशम गुणस्थान में उदय होता है ।

प्रश्न :—दशम गुणस्थान में सत्व कितनी प्रकृतियों का रहता है ?

उत्तर :—उपशम श्रेणी में तो नवम गुणस्थान की तरह द्वितीयोपशमसम्य सम्यग्दृष्टी के १४२ और क्षायिकसम्यग्दृष्टि के १३९ और क्षपक श्रेणी वाले के नवम गुणस्थान में जिन १३८ प्रकृतियों का सत्व है, उनमें से व्युच्छिन्न प्रकृतियां छत्तिस तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, विकल त्रय की ३, प्रचला प्रचला, स्त्यानगृद्धि, उद्योत, आतप, एकेन्द्रिय, साधारण निद्रानिद्रा, सूक्ष्म, स्थावर, अप्रत्याख्यानावरण की ४, प्रत्याख्यानावरण की ४, नोकषाय, की संज्वलन क्रोध मान माया नरकगति नरक गत्यानुपूर्वी को घटा शेष १०२ प्रकृतियों का दशम गुणस्थान में सत्व रहता है ।

प्रश्न :—ग्यारहवें गुणस्थान में बन्ध कितनी प्रकृतियों का होता है ?

उत्तर :—दशम गुणस्थान में जिन ७, प्रकृतियों का बंध होता था, उनमें से व्युच्छिन्न प्रकृतियां १६ अर्थात् ज्ञानावरण की ५, दर्शनावरण की ४ अन्तराय की ५, यशस्कीर्ति १, उच्चगोत्र १ के घटाने पर शेष एक मात्र सातावेदनीय का ग्यारहवें गुणस्थान में बंध होता है ।

प्रश्न :—ग्यारहवें गुणस्थान में उदय कितनी प्रकृतियों का होता है ?

उत्तर :—दसवें गुणस्थान में जिन ६० प्रकृतियों का उदय होता है, उनमें से व्युच्छिन्न प्रकृति एक संज्वलन लोभ को घटाने पर शेष ५९ प्रकृतियों का ग्यारहवें गुणस्थान में उदय होता है ।

प्रश्न :—ग्यारहवें गुणस्थान में सत्व कितनी प्रकृतियों का होता है ?

उत्तर :—नवम गुणस्थान और दशम गुणस्थान की तरह द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टी के १४२ और क्षायिक सम्यग्दृष्टी के १३९ प्रकृतियों का ग्यारहवें गुणस्थान में सत्व रहता है ।

प्रश्न :—बारहवें गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का बन्ध होता है ?

उत्तर :—एक साता वेदनीय मात्र का बंध होता है ।

प्रश्न :—बारहवें गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों उदय है ?

उत्तर :—ग्यारहवें गुणस्थान में जिन ५९ प्रकृतियों का उदय होता है, उनमें से वज्र-नाराच और नाराच इन दो व्युच्छिन्न प्रकृतियों के घटाने पर ५७ प्रकृतियों का बारहवें गुणस्थान में उदय होता है ।

प्रश्न :—बारहवें गुणस्थान में सत्त्व कितनी प्रकृतियों का होता है ?

उत्तर :—दशवें गुणस्थान में क्षपक श्रेणी वाले की अपेक्षा १०२ प्रकृतियों का सत्त्व है, उनमें से व्युच्छिन्न प्रकृति संज्वलन लोभ को घटाने पर शेष १०१ प्रकृतियों का बारहवें गुणस्थान में सत्त्व रहता है ।

प्रश्न :—तेरहवें गुणस्थान में बन्ध कितनी प्रकृतियों का होता है ?

उत्तर :—एक मात्र साता वेदनीय का बन्ध होता है ।

प्रश्न :—तेहरवें गुणस्थान में उदय कितनी प्रकृतियों का होता है ?

उत्तर :—बारहवें गुणस्थान में जिन सत्तावन प्रकृतिकों का उदय होता है, उनमें से व्युच्छिन्न प्रकृतियां सोलह ज्ञानावरण की ५, अन्तराय की ५, दर्शनावरण की ४, निद्रा और प्रचला को घटाने पर शेष ४१ प्रकृतियों में तीर्थंकर की अपेक्षा से एक तीर्थंकर प्रकृति को मिलाकर ४२ प्रकृतियों का तेरहवें गुण-स्थान में उदय होता है ।

प्रश्न :—तेहरवें गुणस्थान में सत्त्व कितनी प्रकृतियों का होता है ?

उत्तर :—बारहवें गुणस्थान में जिन १०१ प्रकृतियों का सत्त्व है, उनमें से व्युच्छिन्न प्रकृतियां सोलह (ज्ञानावरण की ५, अन्तराय की ५, दर्शनावरण की ४, निद्रा १, प्रचला) को घटाने पर शेष ८५ प्रकृतियों का तेरहवें गुणस्थान में सत्त्व रहता है ।

प्रश्न :—चौदहवें गुणस्थान में बन्ध कितनी प्रकृतियों का होता है ?

उत्तर :—तेरहवें गुणस्थान में जिन एक साता वेदनीय का बन्ध होता था, उसकी उसी गुणस्थान में व्युच्छित्ति होने से अयोग केवली गुणस्थान में किसी भी प्रकृति का बन्ध नहीं होता है ।

प्रश्न :—चौदहवें गुणस्थान में उदय कितनी प्रकृतियों का होता है ?

उत्तर :—तेरहवें गुणस्थान में जिन ४२ का उदय होता है, उनमें से व्युच्छिन्न प्रकृतियां तीस (वेदनीय १, वज्रऋषभनाराचसंहनन १, निर्माण १, स्थिर १, अस्थिर १ शुभ, अशुभ, सुस्वर, दुःस्वर, प्रशस्तविहायोगति १, अप्रशस्तविहायोगति, औदारिक शरीर आङ्गोपाङ्ग, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, समचतुरस्र संस्थान, न्यग्रोध, स्वाति, कुब्जक, वामन, हुण्डक, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, अगुरुलघुत्व, उपघात, परघात, उच्छ्वास और प्रत्येक को घटाने पर शेष बारह प्रकृतियों का वेदनीय १, मनुष्यगति, मनुष्यायु, पञ्चेन्द्रिय जाति, सुभग, त्रस, बादर, पर्याप्त, आदेय, यशः कीर्ति, तीर्थंकर प्रकृति और उच्च-गोत्र १ का) अयोग केवली गुणस्थान में उदय होता है ।

प्रश्न :—चौदहवें गुणस्थान में सत्त्व कितनी प्रकृतियों का होता है ?

उत्तर :—तेरहवें गुणस्थान की तरह इस गुणस्थान में भी ८५ प्रकृतियों का सत्त्व है, परन्तु द्वि चरम समय में ७२ और अन्तिम समय में १३ प्रकृतियों का सत्त्व नष्ट करके अरिहन्त भगवान मोक्ष जाते हैं ।

प्रश्न :—कौनसे संहननवाला जीव कहां पैदा होता है ?

उत्तर :—चारों संहननों वाले जीव छठे नरक में जा सकते हैं । स्फाटिक और कीलक संहनन वाले जीव छठे नरक में नहीं जा सकते हैं । इसीलिये आदि के चारों छठे तक कहे हैं । कीलक और स्फाटिक दोनों संहनन की छठे में गति नहीं है। पहले वज्र वृषभनाराच संहनन वाले जीव सातवें नरक में जा सकते हैं । वज्र वृषभनाराच संहनन वाले को छोड़कर पांचों संहनन वाले जीव सातवें नरक में नहीं जा सकते हैं । छहों संहनन वाले जीव तीसरे नरक तक जा सकते हैं । पांच संहनन वाले जीव पहले से लेकर चौथे, पांचवें नरक तक जा सकते हैं । और स्फाटिक संहनन वाला जीव तीसरे से आगे नहीं जाता है—यह नियम है । स्फाटिक संहनन वाला जीव तीसरे तक ही जाता है, इसीलिये चौथे, पांचवें में पांच संहनन सहित जीव की गति होती है ।

प्रश्न :—छहों संहनन वाले जीव स्वर्ग में जावें तो कहां तक जावें ?

उत्तर :—छहों संहनन वाले जीव पहले स्वर्ग से लेकर आठवें स्वर्ग तक जाते हैं ।

पांच संहनन वाले जीव पहले से लेकर बारहवें स्वर्ग तक जाता है और स्फाटिक संहनन आठवें स्वर्ग से ऊपर नहीं जाता है—यह नियम है। इसलिये आदिके पांच बारहवें तक जाते हैं। चारों संहनन वाले जीव पहले से लेकर सोलहवें स्वर्ग तक जायगा। स्फाटिक संहनन वाला बारहवें से ऊपर नहीं जायेगा, इसीलिए आदि के चारों संहनन कहे हैं। कीलक और स्फाटिक के बिना वज्र वृषभनाराच, वज्रनाराच, नाराच तीन संहनन वाले जीव नौ ग्रैवेयक तक जाते हैं। अन्त के तीनों अर्द्धनाराच, कीलक, स्फाटिक संहनन वाले जीव नौ ग्रवेयक तक नहीं जाते हैं—ऐसा नियम है। वज्र-वृषभनाराच संहनन इन दो संहनन वाले जीव नव अनुदिश विमानों तक जाते हैं। और अन्त के नाराच, अर्द्ध नाराच, कीलक, स्फाटिक इन चार संहनन वाले जीव अनुदिश विमान में नहीं जाय—यह नियम है। एक आदिका वज्र-वृषभनाराच संहनन वाला जीव पांच अनुत्तर विमान तक जाता है और पांच संहनन वाले नहीं जाते हैं—यह नियम है। पहले संहनन के बिना अन्य संहनन वाले नहीं जाते हैं। जो जीव चरम शरीरी है, उसके एक पहला वज्रवृषभनाराच संहनन होता है, अन्य संहनन नहीं होता है—यह नियम है। चरम शरीरी माने जिसके संसार का अन्त आ गया है, आगे अब शरीर धारण नहीं करेगा और नियम से मोक्ष ही जायगा।

प्रश्न :—छहों काल के जीवों को कौन-कौनसा संहनन होता है और मर कर कहां पैदा होते हैं ?

उत्तर :—पहला काल सुखमासुखमा। इस काल में निरंतर सुख ही सुख है कल्पवृक्ष से प्राप्त सामग्री से सुख भोगते हैं। पहले काल में उत्तम भोग भूमि रहती है, दूसरे काल में मध्यम भोग भूमि है। इस काल का नाम सुखमा है। तीसरे काल का नाम सुखमादुखमा है, इस काल में पहले आदि में सुख और अन्त में दुःख होता है, इन तीनों कालों में वज्रवृषभ नाराच संहनन होता है। इन तीनों काल में भोग भूमि की रचना रहती है। इन कालों के जीवों का छींक तथा जंभाई आने पर मरण होता है। युगलिया का और युगलिया ही पैदा होते हैं और पैदा होते ही माता-पिता का मरण हो जाता है, ये भोग भूमि के जीव मर कर नियम से देव ही होते हैं। जो सम्यग्दृष्टी हैं, वे तो सौधर्म और ऐशान स्वर्ग में

जाते हैं और मिथ्यादृष्टी जीव भवनत्रिक में जाते हैं और चौथे काल का नाम दुःखमासुखमा है। जैसे किसान पहले खेती कर के खाता है, वैसे ही इस काल के जीव पहले दुःख पाकर धन उपार्जन करते हैं, फिर सुख से खाते हैं। इसी चतुर्थ काल में त्रेसठशलाका पुरुष उत्पन्न होते हैं। इस काल में छहों ही संहनन रहते हैं। पांचवे काल का नाम दुखमा है। इस काल के जीव निरन्तर दुःख ही भोगते हैं। इस पंचम काल में अन्त के तीन संहनन होते हैं। आदि के तीन संहनन नहीं होते हैं और कर्मभूमि की स्त्री के तीन संहनन होते हैं। अर्द्ध नाराच संहनन, कीलक, स्फाटिक, ये तीन संहनन अन्त के सदा ही होते हैं। छठवें काल का नाम दुखमादुःखमा है। इस काल के जीव महान घोर दुःख ही पाते हैं। इस काल में एक स्फाटिक संहनन ही होता है। दुसरा कोई भी संहनन नहीं होता है। द्वीन्द्रिय, त्रीइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय इन विकल चतुष्क को एक अन्त का स्फाटिक संहनन होता है, अन्य दुसरा कोई संहनन नहीं होता है। पंच स्थावर को कोई संहनन नहीं होता है, क्योंकि वे एकेन्द्रिय हैं।

प्रश्न :—कौन-कौन से गुणस्थान वाले जीव को कौन-कौन से संहनन होते हैं ?

उत्तर :—छहों संहनन वाले जीव मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, असंयम, देशसंयम, प्रमत्त, अप्रमत्त तक पाये जाते हैं। वज्र वृषभ नाराच, वज्र नाराच, नाराच ये आदि के तीन संहनन वाले जीव ग्यारवें गुणास्थान तक ही पाये जाते हैं। अन्त के तीनों संहनन वाले जीव श्रेणी आरोहण कभी नहीं करते हैं, इसीलिये इन जीवों का सातवां गुणस्थान होता है। क्षपक श्रेणी आरोहण करने वाले जीवों का तेहरवाँ गुणस्थान होता है, आगे अयोग गुणस्थान होता है—सो उसमें संहनन ही नहीं होता है।

प्रश्न :—दश प्रकार का बंध कौनसा है ?

उत्तर :—जीवों के परणति के भेद से कर्म के बंध दश प्रकार से होता है। जीव ने परमें बुद्धि की इसलिये कर्म का बंध हुआ।

(१) जो प्रकृति उदय आये बिना न खिरे उसे उदयबंध कहते हैं।

(२) जो आयु कर्म के बिना सात कर्मों की प्रकृति जबरदस्ति उदीरणा करके

क्षय कर डाले, उसे उदीरणा बंध कहते हैं। (३) प्रकृति बंध होकर उदय आवे नहीं, सत्ता में पड़ा रहे, सो सत्ता बंध है (४) उत्कर्षण परिणामों से जो प्रकृति बांधी थी, फिर परिणामों का निमित पाकर उस प्रकृति की स्थिति बढ़ावे, उसका नाम उत्कर्षण बंध है। (५) भुज्यमान आयु के बिना और जिस प्रकृति का बंध किया था, फिर परिणामों का निमित्त पाकर उस प्रकृति की स्थिति घटावे, उसका नाम अपकर्षण बंध है। (६) जो प्रकृति बांधी थी, फिर परिणामों के निमित पाकर तारतम से उस प्रकृति को और प्रकृति में मिला दे उसका नाम संक्रमणबंध है। (७) जो कर्म प्रकृति की उदीरणा न होय, सो उपशम बंध हैं। (८) जो कर्म प्रकृति बांधी थी फिर वह प्रकृति और प्रकृति में नहीं मिले और उस प्रकृति की उदीरणा भी नहीं होती, उसका नाम निधत्तबंध कहते हैं। (९) जो कर्म प्रकृति बांधी थी उस प्रकृति की प्रकृति की स्थिति न घटती है, न बढ़ती है, न उदीरणा होती हैं, न संक्रमणा होती है। ऐसे चार प्रकार के भेद से रहित सो निःकांचित बंध हैं। इस प्रकार का दश प्रकार का बंध जिनागम में कहा है।

प्रश्न :—आयु कर्म के बंध के नौ भेद कौन कौनसे है ?

उत्तर :—आयु कर्म का बंध त्रिभाग में होता है। देव और नारकी के आयु का जब छह महीना शेष रहे तब त्रिभाग पड़ता है। भोग भूमि के मनुष्य और तिर्यञ्च जीव के आयु के नौ महीना शेष रहे, तब त्रिभाग पड़ता है। कर्म भूमि के जीव एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय पर्यंत सम्पूर्ण आयु का त्रिभाग पड़ता है।

त्रिभंगी किसे कहते हैं, सो बताते हैं। आयु के तीन भाग करें। जब दो भाग खत्म हो जाने पर तीसरे भाग के आदि अन्तर्मुहूर्त के अन्दर बंध पड़ता है। अगर नहीं पड़ा तो जितनी आयु शेष रही, फिर उस का त्रिभाग पड़ेगा, इस प्रकार नौ बार आयु बंधने का समय आता हैं। इसको आयु त्रिभंगी कहते हैं।

प्रश्न :—आयुबध त्रिभंगी का दृष्टान्त क्या है ?

उत्तर :—जैसे पहले आयु के पैंसठ सौ इकसठ भाग करें। उसकी तिहाई इकईस सौ

सत्यासी बाकी रहे, तब बंध का अवसर आता है। अगर यहां भी आयु नहीं बंधी तो फिर इक्कइससौ सत्यासी का त्रिभाग करे। उसका त्रिभाग सातसौ उनतीस बाकी रहेगा अगर इसमें भी आयु नहीं बंधी तो फिर त्रिभाग करे। उसका त्रिभाग दो सौ तैंतालिस बाकी रहे, तब आयु बंध होता है। अगर इसमें भी नहीं बंधी तो, फिर त्रिभाग करे। बाकी रही इक्यासी – इस प्रकार त्रिभाग करते जाय। शेष सताइस इसका त्रिभाग ९, इसका त्रिभाग ३, इसका त्रिभाग एक रहता है – इस प्रकार आठ बार आयु बंधने का समय आता है। इसमें भी नहीं बंधी तो मरण के अन्त समय में निश्चित ही आयु बंधती है। त्रिभाग बिना इस जीव के आयु का बंध नहीं होता है।

प्रश्न :—गुणस्थानों का गमनागमन किस प्रकार है ?

उत्तर :—मिथ्यात्व गुणस्थान के मार्ग चार हैं। प्रथम मिथ्यात्व से निकल कर तीसरे गुणस्थान तक जाता है। द्वितीय कोई जीव मिथ्यात्व से चौथे गुणस्थान तक जाता है। तृतीय कोई जीव मिथ्यात्व से निकलकर पांचवें गुणस्थान में जाता है। चतुर्थ कोई जीव मिथ्यात्व से सातवें गुणस्थान तक जाता है यह मिथ्यात्व गुणस्थान का मार्ग जानना।

दूसरे सासादन गुणस्थान का एक मार्ग है। सासादन गुणस्थान से च्युत जीव मिथ्यात्व गुणस्थान में ही आता है, अन्यत्र कहीं भी नहीं जाता है।

तीसरे मिश्र गुणस्थान के दो मार्ग हैं। मिश्र से ऊपर चढ़े तो चौथे में जाता है और नीचे गीरे तो पहले गुणस्थान में आता है।

चौथे गुणस्थान के पांच मार्ग हैं। चौथे गुणस्थान से नीचे गीरे तो प्रथम मिश्र गुणस्थान में आता है। द्वितीय दूसरे सासादन गुणस्थान में आता है। तृतीय प्रथम गुणस्थान में आ जाता है – ये तीन मार्ग तो गीरने की अपेक्षा से है और चौथे गुणस्थान से उपर चढ़े तो पांचवें अथवा सातवें गुणस्थान में पहुंच जाता है। ये पांच मार्ग है।

पांचवें देशव्रत गुणस्थान के पांच मार्ग हैं। पांचवें गुणस्थान से ऊपर चढ़े तो सातवें गुणस्थान अप्रमत्त में जाता है। पांचवें से नीचे गीरे

तो चौथे में अथवा तीसरे में अथवा दूसरे में वा पहले में ये चार मार्ग गीरने के हैं – इस प्रकार पांचवें गुणस्थान के पांच मार्ग हैं ।

छठें गुणस्थान के छह मार्ग हैं । छठे से ऊपर चढे, तो सातवें में जाता है और नीचे गीरे, तो पांचवें अथवा चौथे में अथवा तीसरे में अथवा दूसरे में अथवा पहले में जाता है । गीरने के पांच मार्ग और चढ़ने की अपेक्षा एक, ये छह मार्ग छठे गुणस्थान के हैं ।

सातवें अप्रमत्त गुणस्थान, आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान, अनिवृत्तिकरण गुणस्थान, दशवां सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान ये चार गुणस्थान उपशम श्रेणी के हैं । सातवें, आठवें, नववें, दशवें इन चारों गुणस्थान की अपेक्षा तीन-तीन मार्ग हैं । नीचे गीरे तो एक-एक गुणस्थान चारों अनुक्रम से गीरे और ऊपर चढे तो एक-एक गुणस्थान अनुक्रम से ऊपर चढे और जो मरे तो चतुर्थ गुणस्थान में आवे, तब अव्रतरूपकार्माण निकले और देवगति को प्राप्त करे ।

ग्यारहवें उपशांत कषाय गुणस्थान इसके दो मार्ग हैं । नीचे गीरे तो दशवें सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान में आवे और मरण हो तो चौथे में आकर मरणहोता है और नियम से देव होता है । ऐसा ही नियम जिनागम का है ।

प्रश्न :—आठों कर्मों के आठों दृष्टान्त कौन-कौनसे हैं ?

उत्तर :—अब यहां पर आठों कर्मों के अलग-अलग दृष्टान्त कहते हैं ।

(१) जैसे प्रतिमा पर कपडा डालने से प्रतिमा दिखाई नहीं देती है, वैसे ही ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा के ज्ञान गुण को आच्छादित करता है । सो ज्ञानगुण के प्रगट हुवे बिना वस्तु को नहीं जाने, ज्ञानगुण का आवरण जब हट जाय तब ही यथावत् पदार्थ का स्वरूप जाने ।

(२) जैसे दरवाजे का दरबान (पहरेदार) राजा के पास नहीं जाने देता है, उसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म दर्शनगुण को प्रकट नहीं होने देता है । दर्शन के बिना पदार्थ का स्वरूप यथावत् देखने का अभाव होता है ।

(३) जैसे शहद लपेटी तलवार की धार चाटने से शहद से मूँह मीठा होता है, और जीभ कट जाने से दुःख भी होता है, वैसे वेदनीयकर्म जो

उदय में आवे तब सुख-दुःख रूप हो जाय, लौकिक सुख में अपने को सुखी जाने, दुःख में अपने को दुःखी माने, सुख तो थोडा लेकिन दुःख तो बहुत हैं, यह वेदनीयकर्म है ।

जैसे शराब पीने से पागल होता है, कुछ भान नहीं रहता है, वैसे ही ही मोहनीय कर्म के उदय से जीव मोह में मतवाला हो जाता है और विपरीत कार्य करने लग जाता, समझाने पर भी नहीं समझता है ।

जैसे चोर का काठ (लकडी) में पांव घुसाकर सांकल से बांध दिया जाय, तो वह कहीं पर भी नहीं जा सकता है, वैसे आयु कर्म जब अगली गति बंधती है, तब वर्तमान गति को छोडे नहीं छुटे, आयु पहले बंधे बिना शरीर को आत्मा नहीं छोडता है ।

जैसे चित्रकार नाना भांति के चित्र बनाता है, वैसे ही नामकर्म के उदय से जीव एकेन्द्रियादि नाना प्रकार की गति में भ्रमण करता है, नाना प्रकार के रूप धारण करता है—यह नाम कर्म का ही कार्य है ।

जैसे कुम्हार नाना प्रकार से छोटे बडे बर्तन बनाता है, वैसे ही गोत्र-कर्म जीव को ऊँच नीच कुल में उत्पन्न कराता है ।

जैसे राजा तो दान देना चाहे और भंडारी मना करे; वैसे ही जीव तो कोई कार्य करना चाहता है, परन्तु उस कार्य में अन्तराय पड जाता है। उस कार्य को नहीं होने देता है ।

इन्हीं आठ कर्मों के उदाहरणों को चर्चाशतक में छन्दबद्ध किया है—

"देवपै परयो है पट रूपकौं न ज्ञान होय ।
जैसे दरवान भूप देखनौं निवारै है ।
सहत लपेटी असिधारा सुखदुःखकार ।
मदिरा ज्यौं जीवनिकौं मोहनी विथारै है ।
काठमैं दिया पांव करै थिति को सुभाव ।
चित्रकार नाना नाम चित्र कौं सभारै हैं ।

चक्री ऊंच नीच धरै भूप दीयौ मनै करै ।
एई आठ कर्म हरै सोई हमैं तारैं हैं ।।"[१]

प्रश्न :—किस कर्म प्रकृति का कहां बंध और कहां उदय होता है ?

उत्तर :—देवगति, देवायु, देवगत्यानुपूर्वी तीन प्रकृतियां, वैक्रियक शरीर, वैक्रियक आंगोपांग ये दो, आहारक शरीर, आहारक आंगोपांग ये दो, अयशस्कीर्ति प्रकृति इन आठों प्रकृतियां ऊपर के गुणस्थान में बंधती हैं और नीचे के गुणस्थान में उदय में आती हैं ।

संज्वलन लोभ के बिना पंद्रह कषाय (अनंतानुबंधी ४, अप्रत्याख्यानी ४, प्रत्याख्यानी ४, संज्वलन ३ (क्रोध, मान, माया) हास्यादिक में चार—हास्य, रति, भय, जुगुप्सा, पुरुषवेद, मनुष्यायु, सूक्ष्म, अपर्याप्त प्रकृति, साधारण प्रकृति, आताप प्रकृति, मिथ्यात्व—ये छब्बीस प्रकृतियां जिस-जिस गुणस्थान में बंधती हैं, उसी उसी गुणस्थान में उदय में आती हैं । शेष छियासी प्रकृतियां, उसमें ज्ञानावरणीय ५, दर्शनावरणीय ९, वेदनीय २, गोत्र २, अन्तराय ५, चारित्र मोहनीय की ५, आयु २, नामकर्म की ५६ (गति ३, आनुपूर्वी ३, जाति ५, शरीर ३, औदारिक आंगोपांग, वर्णादिक ४, संस्थान ६, संहनन ६, निर्माण १, अगुरुलघु, उपघात, परघात, श्वास, उद्योत, विहायोगति २, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, यशकीर्ति, स्थिर २, शुभ २ सुभग २, त्रस २, तीर्थंकर, आदेय १, सुस्वर २) इन छियासी प्रकृतियों का बंधन नीचे के गुणस्थानों में होता है और उदय ऊंचे गुणस्थानों में होता है ।

ज्ञानावरण की ५, अंतराय ५, दर्शनावरणीय ४ इन चौदह प्रकृतियों का बंध दशवें गुणस्थान तक होता है, और उदय बारहवें गुणस्थान तक होता है । यशकीर्ति और ऊंचगोत्र इनका बंध दशवें गुणस्थान तक है और उदय चौदहवें गुणस्थान के अन्त तक होता है ।

साता वेदनीय कर्म का बंध तेरहवें गुणस्थान तक होता है और उदय चौदहवें गुणस्थान तक होता है । असाता वेदनीय का बंध छठे गुणस्थान तक होता है और उदय चौदहवें तक होता है ।

---

१. चर्चाशतकः पृष्ठ नं० १३९ ।

नीचगोत्र का बंध पहले में है और उदय पांचवें गुणस्थान तक, नपुंसकवेद का बंध पहले गुणस्थान में होता है, उदय नौवें गुणस्थान के वेद (चौथे) भाग तक है।

स्त्रीवेद का बंध दूसरे गुणस्थान तक है और उदय नौवें गुणस्थान के वेद भाग तक है।

संज्वलन लोभ का बंध नौवें तक है, उदय दसवें तक है। अरति, शोक इनका बंध छठे तक है, उदय आठवें तक है।

निद्रा, प्रचला इनका बंध तक आठवें तक है, अपूर्वकरण के प्रथम भाग तक है, उदय क्षीणकषाय के उपांत समय तक है। निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि इनका बंध दूसरे तक है और उदय छठे गुणस्थान पर्यन्त है।

नरकायु का बंध प्रथम गुणस्थान में ही है, उदय चौथे गुणस्थान तक है। तिर्यंगायु का बंध दूसरे तक है, उदय पांचवें तक है। मनुष्यायु का बंध चौथे गुणस्थान तक है, उदय चौदवें गुणस्थान है।

नरकगति तथा आनुपूर्वी इनका बंध प्रथम गुणस्थान में ही है और उदय चौथे में है। तिर्यंगति तथा आनुपूर्वी इनका बंध दूसरे तक है, उदय चौथे गुणस्थान तक है और गति का उदय पांचवें तक होता है।

मनुष्यगति का बंध चौथे गुणस्थान तक होता है, उदय चौदह गुणस्थान तक होता है। एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चौथे इन्द्रिय का बंध पहले में है, उदय दूसरे तक है।

औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग इनका बंध चौथे तक होता है, उदय चौदहवें के उपांत समय तक होता है।

पंचेंद्रिय का बंध अपूर्वकरण के छठवें भाग पर्यंत है और उदय चौदहवें गुणस्थान तक है।

तैजस, कार्मण का बंध आठवें गुणस्थान के छठे भाग तक है और उदय चौदहवें गुणस्थान के उपान्त समय तक है।

हुण्डक का बंध पहले गुणस्थान में है और कुब्जक, वामन, स्वाति, न्यग्रोध परिमंडल इन चार का बंध दूसरे गुणस्थानों तक है और समचतुरस्त्र का बंध आठवें के छठे भाग तक है और संस्थानों (छहों) का उदय तेरहवें तक है।

वज्रवृषभनाराच संहनन का बंध चौथे गुणस्थान तक है। वज्रनाराच, नाराच, अर्द्धनाराच, कीलित इनका बंध दूसरे गुणस्थान तक है, असंप्राप्तसृपाटिका का बंध प्रथम गुणस्थान में है। और अंत के तीन संहननों का उदय सातवें गुणस्थान तक है। नाराच और वज्रनाराच संहनन का उदय ग्यारहवें गुणस्थान तक है। वज्रवृषभनाराच का तेरहवें गुणस्थान तक है।

निर्माण का बंध आठवें के छटे भाग तक है, उदय तेरहवें गुणस्थान तक है।

अप्रशस्तगति का बंध दूसरे गुणस्थान तक है। प्रशस्त का आठवें के छठे भाग तक है। और दोनों का उदय तेरहवें सयोग गुणस्थान तक है।

उद्योत का बंध दूसरे गुणस्थान तक है और उदय पंचम गुणस्थान तक है। अगुरुलघु, उपघात, उच्छ्वास इन चार का बंध आठवें के छठे भाग तक है, उदय तेरहवें तक है।

स्थावर का बन्ध पहले गुणस्थान में ही है। उदय दूसरे गुणस्थान तक है। त्रस, बादर, पर्याप्त इनका बन्ध अपूर्वकरण के छठें भाग तक है और उदय चौदहवें गुणस्थान तक है।

प्रत्येक शरीर का बन्ध आठवें के छठे भाग तक है, उदय तेरहवें तक है। अस्थिर, अशुभ इन दो का बन्ध छठे गुणस्थान तक है, उदय तेरहवें तक है। स्थिर, शुभ इनका बन्ध आठवें के छठे भाग तक है, उदय तेरहवें गुणस्थान तक है।

दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, इन तीन का बन्ध दूसरे गुणस्थान तक है, उदय तेरहवें गुणस्थान तक है। सुभग, आदेय इनका बन्ध आठवें के छठे भाग पर्यंत है, उदय चौदहवें गुणस्थान तक है। सुस्वर का बन्ध आठवें के छठे भाग तक है, उदय तेरहवें गुणस्थान तक है। तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध

चौथे से लेकर आठवें के छठे भाग तक होता है, उदय चौदहवें गुणस्थान पर्यन्त होता है ।

प्रश्न :—चौदह गुणस्थानों में जीव मर कर कौन-कौन सी गति में जाता है ?

उत्तर :—मिश्र गुणस्थान, क्षीणकषाय गुणस्थान, सयोगकेवली गुणस्थान इन तीन गुणस्थानों में जीव का मरण नहीं होता है – यह नियम है ।

सातवें गुणस्थान, आठवें गुणस्थान, नौवें गुणस्थान, दसवें गुणस्थान और ग्यारहवें गुणस्थान ये पांचों ही गुणस्थान उपशम के हैं, यहां से मरण करके चौथे गुणस्थान में आवे, अन्तसमय में अव्रतरूप हो कार्माण निकलता है ।

प्रथम गुणस्थान में मरने वाला जीव चारों ही गति में उत्पन्न हो सकता है, लेकिन देवगति में जावे तो नौवें ग्रैवेयक तक जाता है । आगे के स्वर्गों में नहीं जा सकता ।

दूसरे सासादन गुणस्थान में मरण कर जीव नरक गति के बिना बाकी तीनों ही गति में जा सकता है । सासादन गुणस्थान वाला कभी नरक में नहीं जा सकता है – यह नियम है ।

जिस जीवने पहले मिथ्यात्व परिणामों में कोई भी गति का बंध बांध रखा हो और पीछे सम्यक्त्व प्राप्त किया हो, तो ऐसा जीव मर कर चारों ही गति में जा सकता है । यहां इतना विशेष जानना की नरक में जावे तो तीसरे नरक से आगे नहीं जावे और क्षायिक सम्यक्त्व वाला जीव प्रथम नरक तक ही जाता है, अगर मनुष्य अथवा तिर्यंच होवे तो भोगभूमि का ही होता है, कर्मभूमि का नहीं, देवगति में जावे तो स्वर्ग ही जाय । अगर आयु बन्ध पहले नहीं किया है, तो चौथे गुणस्थान में मरण कर देवगति में जाता है ।

पांचवें गुणस्थान से लेकर ग्यारवें गुणस्थान तक इन सातों ही गुणस्थानों में मरण करने वाला जीव देवगति में ही जाता है । और गति में कदापि नहीं जाता है । और देवगति में भी कल्पवासी देव ही होता है ।

अयोग केवली गुणस्थान में पंडीत-पंडीत मरण कर एक सिद्धशीला ही जाता है, फिर यहां से कभी कोई गति ग्रहण नहीं करता ।

प्रश्न :—नौवें गुणस्थान में ३६ प्रकृतियों का क्षय किस प्रकार है ?

उत्तर :—प्रत्याख्यानावरणीय कषाय ४ और अप्रत्याख्यानावरणीय कषाय ४, संज्वलन चौकड़ी में से लोभ को छोड़कर तीन, नौ नो कषाय, चार जाति, विकलत्रय तीन, स्थावर, आतप, उद्योत, सूक्ष्म, साधारण और नरक गति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यञ्च गति, तिर्यञ्च गत्यानुपूर्वी ये सब मिलाकर ३६ प्रकृतियों नवें गुणस्थान में क्षपक श्रेणी वाला क्षय करता है ।

प्रश्न :—चौदह गुणस्थानों में कर्मों का आश्रव किस प्रकार है ?

उत्तर :—पहले गुणस्थान में पांच मिथ्यात्व अन्त में घटे । दूसरे सासादन गुणस्थान में अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ ये चारों ही घटे । पांचवे गुणस्थान में ग्यारह प्रकृतियां कम होती हैं—पांच इन्द्रियां, छठा मन, पांच स्थावर की विराधना ये ग्यारह घटते हैं और प्रत्याख्यान ४ ये भी कम हो जाती हैं— कुल मिलाकर १५ कम होती हैं । वैक्रियक, वैक्रियक मिश्र, अप्रत्याख्यान की ४ और त्रस का घात ये सात चौथे गुणस्थान में होती हैं । छठे प्रमत्त गुणस्थान में आहारक, आहारक मिश्र ये दो कम होती हैं । आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान में हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा ये छह नोकषायें कम हो जाती हैं । नौवें गुणस्थान में नपुंसक, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और संज्वलन की ३ क्रोध, मान, माया ये छह कम होती हैं ।

दसवें गुणस्थान में एक सूक्ष्म लोभ कम हो जाता है । बारहवें क्षीण कषाय गुणस्थान में असत्य मन, उभय मन, असत्य वचन, उभय वचन ये चार कम होती हैं । तेरहवें संयोग केवली गुणस्थान में सात योग कम होते हैं । मिश्र योग और कार्माण योग ये चारों ही गुणस्थान में होते हैं अर्थात् प्रथम, द्वितीय, चौथे, तेरहवें गुणस्थान में, आहारक की अपेक्षा मिश्र के छठे प्रमत्त गुणस्थान भी हैं । कार्माण की अपेक्षा चारों ही गुणस्थान हैं ।

प्रश्न :—बीदह गुणस्थानों में चारों आयु का बंध और उदय कैसे है ?

उत्तर :—नरक आयु का बंध तो प्रथम गुणस्थान में होता है, अन्य गुणस्थानों में नहीं होता है। नरकायु का उदय मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत इन गुणस्थानों तक है, आगे नहीं है। तिर्यञ्च आयु का बंध मिथ्यात्व, सासादन इन दो गुणस्थानों में होता है, आगे बंध नहीं है और तिर्यञ्च आयु का उदय मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, असंयम, देशसंयम इन पांचों गुणस्थानों में है, आगे नहीं है। मनुष्य आयु का बंध मिथ्यात्व से लेकर चौथे गुणस्थान तक बंध है और देवायु का बंध मिथ्यात्व से लेकर सातवें गुणस्थान तक होता है, और उदय प्रथम गुणस्थान से लेकर चतुर्थ गुणस्थान तक होता है, आगे देवायु का उदय नहीं होता है। मनुष्य अथवा तिर्यञ्च ने सरल परिणामों से अथवा कुटिल परिणामों से नरकायु बांधी तथा तिर्यञ्चायु बांधी तथा मनुष्यायु का बंध बांधा हो, तो ऐसे आयु बंध वाला गुणस्थान परिपाटी चढ़े चौथे गुणस्थान से आगे न चढ़े—यह नियम है।

तीसरे गुणस्थान में नरक आयु तिर्यञ्च आयु मनुष्य आयु, देवायु इन चारों आयु का बंध नहीं होता है, मरण भी नहीं होता है, यह सिद्धान्त का नियम जानना।

प्रश्न :—छहों लेश्यावाले के मिथ्यात्व गुणस्थान में कौनसे कर्मों का बंध होता है ?

उत्तर :—दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय ये तीन विकलत्रय से रहे नहीं, सो सूक्ष्म, अनंतनि का समुदाय सो साधारन, अन्तरालवर्ती सो अपर्याप्त, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, नरकायु (इन ११७ का) मिथ्यात्व गुणस्थान में कृष्ण, नील, कापोत लेश्यावाला जीव एक सौ सत्रह प्रकृति का बंध करता है। ऊपर कहे नौ, विकलत्रय ३, नारक ३, सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त इन नौ भांग प्रकृति के बिना एक सौ प्रकृति का पीत लेश्यावाला जीव (मिथ्यात्व में बंध करता है) एकेन्द्रिय, स्थावर और आतप इन तीन बिना पद्मलेश्यावाला जीव मिथ्यात्व में एक सौ पांच प्रकृति का बंध करता है। तिर्यञ्च गति, तिर्यञ्च आयु, तिर्यञ्च गत्यानुपूर्वी, उद्योत इन चार प्रकृति के बिना मिथ्यात्व गुणस्थान में शुक्ल लेश्या वाला जीव एक सौ एक प्रकृतियों का बंध करता है।

कोष्टक

गु०	मि.	सा.	मि.	अ.	दे.	प्र.	अ.	अ.	अ.	सू.	उ.	क्षी.	स.	अ.
लेश्यायें														
कृष्ण	११७	१०१	७४	७७	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०
नील	११७	१०१	७४	७७	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०
कापोत	११७	१०१	७४	७७	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०
पीत	१०८	१०१	७४	७७	६७	६३	५९	०	०	०	०	०	०	०
पद्म	१०५	१०१	७४	७७	६७	६३	५९	०	०	०	०	०	०	०
शुक्ल	१०१	९७	७४	७७	६७	६३	५९	५८	२२	१७	१	१	१	०

प्रश्न :—केवलज्ञान के समय ६३ प्रकृतियों का नाश जीव करता है, वे कौनसी हैं ?

उत्तर :—नरकगति, तिर्यंच गति, नरक गत्यानुपूर्वी, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी ये चार प्रकृतियां और एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, आतप, उद्योत, साधारन, सूक्ष्म, स्थावर—ये तेरह प्रकृतियां नामकर्म की हैं। देवायु, तिर्यञ्चायु, नरकायु ये १६ प्रकृतियां अघातिया की हैं। ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ९, मोहनीय की २८, अन्तराय ५ ये ४७ प्रकृति घातियायां कर्म की हैं—सब मिला कर ६३ प्रकृतियों का नाश कर जीव केवलज्ञानी बन जाता है।

प्रश्न :—चारों गतियों में बन्ध योग्य प्रकृतियां कितनी हैं ?

उत्तर :—औदारिक, औदारिक आंगोपांग, आहारक, आहारक आंगोपांग, नरक गति, देव गति, नरकायु, देवायु, नरकगत्यानुपूर्वी, देवगत्यानुपूर्वी ये सब दस प्रकृतियां हुई। दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, सूक्ष्म, साधारन, अपर्याप्त इन सोलह प्रकृतियों के बिना एक सौ चार प्रकृतियां देवगति में सामान्य बंधने योग्य हैं।

एकेन्द्रिय, स्थावर, आतप इन तीन प्रकृतियों के बिना, नरकगति में नारकी के सामान्य एक सौ एक प्रकृतियों का बंध होता है। देवगति में १०४ हैं, उसमें तीन घटावें तो १०१ होती हैं। एक सौ बीस प्रकृतियों से

तीर्थंकर, आहारक, आहारकाङ्गोपाङ्ग इन तीनों के बिना तिर्यंच के सामान्य एक सौ सत्रह का बंध होता है। मनुष्य गति में एक सौ बीस प्रकृति का बंध होता है। इन एक सौ बीस का मनुष्य नाश करता है, तब मोक्ष प्राप्ति होती है।

कोष्टक

गुण.	मि.	सा.	मि.	अ.	दे.	प्र.	अ.	अ.	अ.	सू.	उ.	क्षी.	स.	अ.
गति														
मनुष्य	११७	१०१	६६	७२	६०	६३	५९	५८	२२	१७	१	१	१	०
देव	१०४	९६	७०	७२	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०
नारक	१०३	९६	७०	७२	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०
तिर्यंच	११७	१०१	६६	७२	६७	०	०	०	०	०	०	०	०	०

प्रश्न :—समस्त जीवों की उत्कृष्ट आयु कितनी है ?

उत्तर :—गेरू, हरताल आदि कोमल पृथ्वीकायिक जीव की उत्कृष्ट आयु बारह हजार वर्ष की है। पाषाण आदि कठोर पृथ्वीकायिक की उत्कृष्ट आयु बाईस हजार वर्ष की है। जलकायिक जीव की सात हजार वर्ष, वायुकायिक की तीन हजार वर्ष, वनस्पतिकायिक जीव की उत्कृष्ट आयु दस हजार वर्ष की। आकाश में उड़ने वाले पक्षियों की आयु बहत्तर हजार वर्ष की और सर्पों की उत्कृष्ट स्थिति बियालीस हजार वर्ष की, अग्निकायिक की उत्कृष्ट स्थिति तीन दिन की। शंख आदि दो इन्द्रिय जीव की उत्कृष्ट स्थिति बारह वर्ष की है। गोभी आदि के त्रिइन्द्रिय जीव की उत्कृष्ट स्थिति ४९ दिन की। भ्रमर आदि चौइन्द्रिय जीव की उत्कृष्ट स्थिति छह मास की। जो छाती के बल चलने वाले जीव सरी, सर्प की उत्कृष्ट आयु नव पूर्वाङ्ग की होती है। मत्स्य की उत्कृष्ट आयु एक कोडी पूर्व की है। मनुष्य और तिर्यञ्च की उत्कृष्ट आयु भोग भूमियों की तीन पल्य और कर्म भूमियों की आयु कोटिपूर्व की है। देव और नारकी की उत्कृष्ट आयु तेंतीस सागर की है।

प्रश्न :—चौदह गुणस्थानों में 'सत्तावन' आश्रव कैसे हैं ?

उत्तर :—पहले गुणस्थान में पचपन आश्रव है, आहारकद्विक के बिना। सासादन में ५० का आश्रव है पांच मिथ्यात्व, आहारकद्विक के बिना । मिश्र में तियालीस का आश्रव है, चार अन्तानुबंधी, तीन मिश्र, पांच मिथ्यात्व, दो आहारक के बिना। चौथे में छियालीस का आश्रव है, ऊपर के ४३ और तीन मिश्र मिलाने से ४६ होते हैं।

देशविरत में सैंतीस का आश्रव है—ऊपर के ४६ में से ४ कषाय, ४ योग, असंयम ये नौ घटाने से ३७ का आश्रव होता है। प्रमत्त गुणस्थान में चौबीस का आश्रव है—कषाय १३, योग ९, आहारक दो। सातवें में २२ आश्रव हैं—कषाय १३, योग ९। आठवें में भी २२ का आश्रव है। नौवें गुणस्थान में १९ का आश्रव है—नौ योग, चार संज्वलन तथा तीन वेद। दसवें गुणस्थान में १० का आश्रव नौ योग, एक सूक्ष्म लोभ। ग्यारहवें गुणस्थान में नौ योग का आश्रव होता है। और बारहवें में भी नौ योग का। तेरहवें में ७ योग का आश्रव—काय ३, वचन २, मन २ ये सात। चौदहवें गुणस्थान में कोई भी आश्रव नहीं है।

प्रश्न :—मरण समय कौनसी लेश्यावाला जीव कौनसी गति में जाता है ?

उत्तर :—शुक्ललेश्या के उत्कृष्ट अंश से मरा हुआ जीव सर्वार्थसिद्धि को ही जाता है। यहां देवायु की उत्कृष्ट स्थिति तेंतीस सागर की होती है। शुक्ललेश्या के मध्यम अंश से मरा हुआ जीव आनत नाम तेरहवें स्वर्ग से लेकर विजयादि चार अनुत्तर विमानों तक में पैदा होता है। तथा शुक्ललेश्या के जघन्य अंश से मरकर शतार सहस्त्रार नाम के स्वर्ग में जन्मता है। पद्मलेश्या के उत्कृष्ट अंश से मरकर सहस्त्रार नाम के बारहवें स्वर्ग में तथा उससे जघन्य अंश से मरकर सनत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग में पैदा होता है। तथा पद्मलेश्या के मध्यम अंश से मरकर सहस्त्रार से नीचे सनत्कुमार, माहेन्द्र के ऊपर यथा योग्य जन्मता है। तेज या पीतलेश्या के उत्कृष्ट अंश से मरकर सनत्कुमार, माहेन्द्र स्वर्ग के अंत के पटल में चक्र नाम के इन्द्रक सम्बन्धी श्रेणीबद्ध विमानों में उपजता है। तेजलेश्या के जघन्य अंश से मरकर उसके सौधर्म ईशान स्वर्ग का पहिले रिंतु नाम के इन्द्रक या इसके श्रेणीबद्ध विमानों में

तथा उसके मध्यम अंश से मरकर सौधर्म ईशान के दूसरे पटल के त्रिमल नाम के इंद्रक से लेकर सनत्कुमार माहेन्द्र के अन्तिम पटल के नीचे पटल के वलभद्र नाम के इन्द्रक तक विमानों में पैदा होता है।

कृष्ण लेश्या के उत्कष्ट अंश से मरकर जीव सातवें नरक के अवधि नामा इंद्रक बिल में पैदा होता है। इसी के जघन्य अंश से मरकर जीव पांचवें नरक के अंत पटल के तिमिश्र नामा इंद्रक में तथा मध्यम अंश से मरकर सातवें नरक के शेष चार बिलो में व छठे नरक के तीनों पटलों में व पांचवीं पृथ्वी के अंतिम पटल में यथायोग्य उपजता है।

नील लेश्या के उत्कृष्ट अंश से मरकर जीव पांचवें नरक के अंतिम पटल से पहले पटल के अंध्र नामा इंद्रक में व जघन्य अंश से मरकर तीसरी बालुका पृथ्वी के अंत पटल में संप्रज्वलित नाम इंद्रक में व मध्यम अंश से मरकर बालुका पृथ्वी के संप्रज्वलित इंद्रक से नीचे चौथी पृथ्वी के सात पटलों में व पांचवें नरक के अंध्र इन्द्रक से ऊपर पैदा होता है।

कापोत लेश्या के उत्कृष्ट अंश से मरकर जीव तीसरे नरक के आठवें पटल के संप्रज्वलित नाम इन्द्रक में, जघन्य अंश से मरकर पहली पृथ्वी के पहले सीमान्त का नामा इन्द्रक में, मध्यम अंश से मरकर इन दोनों के मध्य में पैदा होता है।

तथा कृष्ण, नील, कापोत इन तीन लेश्याओं के मध्यम अंश से मरे ऐसे कर्म भूमियां मिथ्यादृष्टि तिर्यंच या मनुष्य और तेजो लेश्या के मध्यम अंश से मरे ऐसे भोगभूमियां मिथ्यादृष्टि तिर्यंच या मनुष्य तीन प्रकार के भवन वासी, व्यंतर व ज्योतिष देवों में उपजता है।

कृष्ण, नील, कापोत, पीत इन चार लेश्याओं के मध्यम अंश से मरे तिर्यंच या मनुष्य या भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी या सौधर्म, इशान स्वर्ग के वासी देव मिथ्यादृष्टि सो बादर पर्याप्त पृथ्वीकायिक, जलकायिक, व वनस्पतिकायिक में पैदा होता है। यहां भवनत्रयादि देवों के मात्र पीत लेश्यासे व तीर्यंच या मनुष्यों के कृष्णादि तीन लेश्याओं से मरण होता है।

तथा सामान्य नियम यह है कि भवनत्रिक को आदि लेकर सर्वार्थ

सिद्धि तक देव व धम्मा आदि सात पृथ्वी संबंधी नारकी अपनी-अपनी लेश्या के अनुसार यथायोग्य मनुष्य गति या तिर्यंच गति को जाता है। यह भी बात जान लेनी चाहिये कि जिस गति सम्बन्धी पहले आयु बांधी हो उस ही गति में मरण के समय होने वाली लेश्या के अनुसार यह जीव पैदा होता है। जैसे मनुष्य के पहले देव आयु का बंध हुआ हो, फिर मरण होते समय कृष्ण आदि अशुभ लेश्या हो तो भवनत्रिक में ही पैदा होता है—ऐसा ही नियम और स्थानों में भी जानना।

प्रश्न :—गुणस्थान किसे कहते हैं ?

उत्तर :—मोह और योग के निमित्त से आत्मा की तारतम्यरूप (उत्तरोत्तर वर्धनशील) अवस्था विशेष को गुणस्थान कहते हैं।

प्रश्न :—गुणस्थान के कितने भेद हैं ?

उत्तर :—गुणस्थान के १४ भेद हैं—१ मिथ्यात्व, २ सासादन, ३ मिश्र, ४ अविरत सम्यग्दृष्टि, ५ देशविरत, ६ प्रमत्तविरत, ७ अप्रमत्तविरत, ८ अपूर्वकरण, ९ अनिवृत्तिकरण, १० सूक्ष्मसांपराय, ११ उपशांत मोह १२ क्षीणमोह, १३ सयोग केवली, १४ अयोग केवली।

प्रश्न :—गुणस्थानों के इस प्रकार के नामों का क्या कारण है ?

उत्तर :—मोहनीय कर्म और योग ही इनका कारण है।

प्रश्न :—कौन-कौन से गुणस्थान का क्या-क्या निमित्त है ?

उत्तर :—प्राथमिक चार गुणस्थान तो दर्शन मोहनीय कर्म के निमित्त से होते हैं। पांचवें गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान पर्यंत आठ गुणस्थान चारित्र मोहनीय के निमित्त से होते हैं। तेरहवां और चौदहवां ये दो गुणस्थान योग के निमित्त से होते हैं।

पहला गुणस्थान दर्शन मोहनीय के उदय से होता है। इसमें आत्मा के परिणाम मिथ्यात्वरूप होते हैं।

चौथा गुणस्थान दर्शन मोहनीय कर्म के उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम से होता है। इस गुणस्थान में आत्मा के सम्यग्दर्शन गुण का प्रादुर्भाव हो जाता है।

तीसरा गुणस्थान सम्यङ्मिथ्यात्वरूप दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से होता है। इस गुणस्थान में औदयिक भाव, चौथे गुणस्थान में आत्मा के परिणाम सम्यङ्मिथ्यात्व अर्थात् उभयरूप होते हैं।

पहिले गुणस्थान में औदयिक भाव, चौथे गुणस्थान में औपशमिक क्षायिक अथवा क्षायोपशमिभाव और तीसरे गुणस्थान में औदयिक भाव होते हैं।

परन्तु इसका गुणस्थान दर्शन मोहनीय कर्म की उदय, उपशम, क्षय, और क्षयोपशम इन चार अवस्थाओं में से किसी भी अवस्था की अपेक्षा नहीं रखता है। इसलिये यहां पर दर्शन मोहनीय कर्म की अपेक्षा से पारिणामिक भाव है। किन्तु अनन्तानुबंधीरूप चारित्र मोहनीय कर्म का उदय होने से इस गुणस्थान में चारित्र मोहनीय कर्म की अपेक्षा से औदयिक भाव भी कहा जा सकता है। इस गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी के उदय से सम्यक्त्व का घात होता है। इसलिये यहां सम्यक्त्व नहीं है और मिथ्यात्व का भी उदय नहीं होता है। इसलिये मिथ्यात्व परिणाम भी नहीं होता है। अतएव यह गुणस्थान मिथ्यात्व और सम्यक्त्व की अपेक्षा से अनुदय रूप है। इस गुणस्थान का समय छह आवली तक का है।

पांचवें गुणस्थान से दशवें गुणस्थान तक छह गुणस्थान चारित्र मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से होते हैं। इसलिये इन गुणस्थानों में क्षायोपशमिक भाव होते हैं। इन गुणस्थानों में सम्यक्चारित्र गुण की क्रम से वृद्धि होती है।

ग्यारहवां गुणस्थान चारित्र मोहनीय कर्म के उपशम से होता है। इसलिये ग्यारहवें गुणस्थान में औपशमिक भाव होते हैं। यद्यपि यहां पर चारित्र मोहनीय कर्म की पूर्णता या उपशम ही हो जाता है। तथापि योग का सद्भाव होने से पूर्ण चारित्र नहीं होता, क्योंकि सम्यक्चारित्र के लक्षण में योग और कषाय के अभाव से सम्यक्चारित्र होता है—ऐसा लिखा है।

बारहवां गुणस्थान चारित्र मोहनीय कर्म के क्षय से होता है। इस लिये यहां क्षायिक भाव होता है। इस गुणस्थान में भी ग्यारहवें गुणस्थान

की तरह सम्यक्चारित्र की पूर्णता नहीं होती, सम्यग्ज्ञान गुण यद्यपि चौथे गुणस्थान में ही प्रगट हो जाता है।

भावार्थ—यद्यपि आत्मा का ज्ञान गुण अनादिकाल से प्रवाह रूप चला आ रहा है तथापि दर्शन मोहनीय का उदय होने से वह ज्ञान मिथ्यारूप होता है, परन्तु चौथे गुणस्थान में जब दर्शन मोहनीय कर्म के उदय का अभाव हो जाता है, तब वही आत्मा का ज्ञान गुण सम्यग्ज्ञान कहलाने लगता है। और पंचमादि गुणस्थानों में तपश्चरण के निमित्त से अवधि, मन: पर्यय ज्ञान भी किसी जीव के प्रगट हो जाते हैं। तथापि केवल ज्ञान के हुए बिना ज्ञान की पूर्णता नहीं हो सकती। इसलिये इस बारहवें गुणस्थान तक यद्यपि सम्यग्दर्शन की पूर्णता हो गई है, क्योंकि क्षायिक सम्यग्दर्शन के बिना क्षपक श्रेणी नहीं चढ़ता और क्षपक श्रेणी के बिना १२ वां गुणस्थान नहीं होता, तथापि सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र गुण अब तक अपूर्ण है, इसलिये अब तक मोक्ष नहीं हुआ।

तेरहवां गुणस्थान योगों के सद्भाव की अपेक्षा से होता है, इसलिये इसका नाम सयोग और केवल ज्ञान के निमित्त से सयोग केवली है। इस गुणस्थान में सम्यग्ज्ञान की पूर्णता हो जाती है, परन्तु चारित्र गुण की पूर्णता न होने से मोक्ष नहीं होता है।

चौदहवां गुणस्थान योगों के अभाव की अपेक्षा है, इसलिये इसका नाम अयोग केवली है। इस गुणस्थान में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र इन तीनों गुणों की पूर्णता हो जाती है। अतएव मोक्ष भी दूर नहीं रहता। अर्थात् अ, इ, उ, ऋ, ऌ इन पांच ह्रस्व स्वरों के उच्चारण करने में जितना काल लगता है, उतने ही काल में मोक्ष हो जाता है।

प्रश्न :—मिथ्यात्व गुणस्थान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से अतत्त्वार्थ श्रद्धान रूप आत्मा के परिणाम विशेष को मिथ्यात्व गुणस्थान कहते हैं। इस मिथ्यात्व गुणस्थान में रहने वाला जीव मिथ्या श्रद्धावान् होता है। तत्त्वार्थ श्रद्धा और रूची इसकी

नहीं होती है। जैसे पित्त ज्वर वाले रोगी को दुग्धादिक रस कड़ुवे लगते हैं। इसी प्रकार इसको भी समीचीन धर्म अच्छा नहीं लगता है।

प्रश्न :—मिथ्यात्व के कितने भेद हैं ?

उत्तर :—मिथ्यात्व के पांच भेद हैं—एकान्त मिथ्यात्व, विपरीत मिथ्यात्व, संशय-मिथ्यात्व, अज्ञानमिथ्यात्व और विनय मिथ्यात्व।

प्रश्न :—एकान्त मिथ्यात्व किसे कहते हैं ?

उत्तर :—धर्म धर्मी के 'यहां ऐसा ही है। अन्यथा नहीं,' इत्यादि एकान्त अभिनिवेश अभिप्राय या श्रद्धा को एकांतमिथ्यात्व कहते हैं। जैसे—पदार्थ को एकान्त से सर्वथा क्षणिक ही मानना या नित्य ही मानना या अनित्य ही मानना।

प्रश्न :—विपरीत मिथ्यात्व किसे कहते हैं ?

उत्तर :—सग्रन्थ, निर्ग्रन्थ है, केवली कवलाहार करते हैं—इत्यादि रुचि या श्रद्धा को विपरीत मिथ्यात्व कहते हैं।

प्रश्न :—संशय मिथ्यात्व किसे कहते हैं ?

उत्तर :—धर्म का अहिंसा लक्षण है या नहीं—इत्यादि जिनागम में नाना प्रकार का संशय को या संशयात्मक श्रद्धा को संशय मिथ्यात्व कहते हैं।

प्रश्न :—अज्ञान मिथ्यात्व किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिसमें हिताहित के विवेक का कुछ भी सद्भाव नहीं हो ऐसी श्रद्धा को अज्ञान मिथ्यात्व कहते हैं, जैसे पशुवध में धर्मरूप श्रद्धा।

प्रश्न :—विनय मिथ्यात्व किसे कहते हैं ?

उत्तर :—समस्त देव तथा समस्त मतों में समान श्रद्धा को विनय मिथ्यात्व कहते हैं।

प्रश्न :—सासादन गुणस्थान किसे कहते हैं ?

उत्तर :—प्रथमोपशम सम्यक्त्व और द्वितियोपशम सम्यक्त्व के काल में जब ज्यादा से ज्यादा ६ आवली और कम से कम एक समय शेष रहता है, उस समय किसी एक अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से सम्यक्त्व विहीन परिणाम सासादन गुणस्थान कहलाता है। यह गुणस्थान चतुर्थ गुणस्थान से गिरने की अपेक्षा से होता है।

प्रश्न :—मिश्र गुणस्थान किसे कहते हैं ?

उत्तर :—सम्यङ्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से जीव के न तो केवल सम्यक्त्व रूप परिणाम होते हैं और न केवल मिथ्यात्व रूप। किन्तु मिले हुवे दही, गुड़ के स्वाद की तरह एक भिन्न जाति के मिश्र परिणाम होते हैं। इसी मिश्र परिणाम को मिश्र गुणस्थान कहते हैं।

प्रश्न :—अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—दर्शन मोहनीय की तीन और अनन्तानुबन्धी की चार इन सात प्रकृतियों के उपशम अथवा क्षय अथवा क्षयोपशम से सम्यक्त्व सहित और अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ के उदय से व्रत रहित परिणाम को अविरत सम्यग्क्त्व गुणस्थान कहते हैं।

नोट :—सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति से मोक्ष का मार्ग प्रारंभ होता है। जैनदर्शन में सम्यग्दर्शन को मोक्ष की प्रथम सीढ़ी कहा है। सम्यग्दर्शन का अन्त मोक्ष ही है; अतः कहीं कहीं तो सम्यग्दर्शन को ही मोक्ष कहा जाता है। चुंकि चौथे गुणस्थान में सम्यग्दर्शन का प्रादुर्भाव होता है, अतः यहां चौथे गुणस्थान तक का वर्णन किया है। जो मात्र प्रारंभिक अवस्था वाले जीवों की अपेक्षा से है।

अध्याय दूसरा : सम्यग्दर्शन

प्रश्न :—सम्यग्दर्शन का लक्षण क्या है ?

उत्तर :—"श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागम तपोभृताम् ।
त्रिमूढापोढमष्टांगं सम्यग्दर्शनमस्मयम्" ।।[1]
"अत्तागम तच्चाणं सद्दहणं सुणिम्मलं होइ ।
संकाइ दोसरहियं तं सम्मत्तं मुणेयव्वं" ।।[2]

प्रथमानुयोग और चरणानुयोग में सम्यग्दर्शन का स्वरूप प्रायः इस प्रकार बताया गया है कि परमार्थ देव-शास्त्र-गुरु का तीन मूढताओं और आठ मदों से रहित तथा आठ अंगों से सहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी देव कहलाता है। जैनागम में अरहन्त और सिद्ध परमेष्ठी की देव संज्ञा है। वीतराग सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि से अवतीर्ण तथा गणधरादिक आचार्यों के द्वारा गुम्फित आगम शास्त्र कहलाता है और विषयों की आशा से रहित निर्ग्रन्थ-निष्परिग्रह एवं ज्ञान, ध्यान और तप में लीन साधु गुरु कहलाते हैं। हमारा प्रयोजन मोक्ष है, उसकी प्राप्ति इन्हीं देव, शास्त्र, गुरु के श्रद्धान से हो सकती है। अतः इनकी दृढ़ प्रतीति करना सम्यग्दर्शन है। भय, आशा, स्नेह या लोभ के वशीभूत होकर कभी भी कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरुओं की प्रतीति नहीं करना चाहिए।

द्रव्यानुयोग में प्रमुखता से द्रव्य, गुण, पर्याय अथवा जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों एवं पुण्य पाप सहित नौ पदार्थों की चर्चा आती है, अतः द्रव्यानुयोग में सम्यग्दर्शन का लक्षण तत्त्वार्थ श्रद्धान (तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्) बताया गया है। तत्त्वरूप अर्थ अथवा तत्त्व अपने-अपने वास्तविक स्वरूप से सहित जीव, अजीवादि पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। अथवा

---

१. रत्नकरण्ड श्रावकाचार गाथा – ६
२. वसुनन्दि.....।
३. समयसार-गाथा १३

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवाय पुण्णपावं च ।
आस्सव संवर णिज्जर बन्धो मोक्खो य सम्मत्तं ।।[1]

परमार्थ रूप से जाने हुए जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्त्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये नौ पदार्थ सम्यग्दर्शन है। यहाँ विषय और विषयी में अभेद मानकर जीवादि पदार्थों को ही सम्यग्दर्शन कहा गया है। अर्थात् इन नौ पदार्थों का परमार्थ रूप से श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। इसी से द्रव्यानुयोग में स्व पर के श्रद्धान को भी सम्यग्दर्शन कहा गया है, क्योंकि आस्त्रवादिक तत्त्व स्व-जीव और पर-कर्मरूप अजीव के संयोग से होने वाले पर्यायात्मक तत्त्व है, अतः स्व-पर में ही गर्भित हो जाते हैं। अथवा इसी द्रव्यानुयोग के अन्तर्गत अध्यात्म ग्रन्थों में पर द्रव्यों से भिन्न (दर्शनमात्मविनिश्चितिः[1]) आत्म द्रव्य की प्रतीति को सम्यग्दर्शन कहा है, क्योंकि प्रयोजनभूत तत्त्व तो स्वकीय आत्म द्रव्य ही है। स्व का विनिश्चय होने से पर स्वतः छूट जाता है।

मूल में तत्त्व दो हैं—जीव और अजीव। चेतना लक्षण वाला जीव है और उससे भिन्न अजीव है। अजीव पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल के भेद से पाँच प्रकार का है। परन्तु यहाँ उन सबसे प्रयोजन नहीं हैं। यहां तो जीव के साथ संयोग को प्राप्त हुए नोकर्म, द्रव्यकर्म और भावकर्म रूप अजीव से प्रयोजन है। चैतन्य स्वभाव वाले जीव के साथ अनादिकाल से ये नो कर्म शरीर, द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादिक और भावकर्म रागादिक लग रहे हैं। ये किस कारण से लग रहे हैं, जब इसका विचार आता है, तब आस्त्रव तत्त्व उपस्थित होता है। आस्त्रव के बाद जीव और अजीव की क्या दशा होती है? यह बताने के लिये बन्ध तत्त्व आता है। आस्त्रव का विरोधी भाव संवर है, बन्ध का विरोधी भाव निर्जरा है तथा जब सब नोकर्म, द्रव्यकर्म और भावकर्म जीव से सदा के लिये सर्वथा विमुक्त हो जाते हैं, तब मोक्षतत्त्व होता है। पुण्य और पाप आस्त्रव के अन्तर्गत हैं। इस तरह आत्मकल्याण के लिए उपर्युक्त सात तत्त्व अथवा नौ पदार्थ प्रयोजनभूत हैं। इनका वास्तविक रूप से निर्णय कर प्रतीति करना सम्यग्दर्शन है। ऐसा न हो कि आस्त्रव और बन्ध के कारणों को संवर और निर्जरा का कारण समझ लिया जाय अथवा जीव की रागादिक पूर्ण अवस्था को जीव तत्त्व समझ लिया जाय या जीव की वैभाविक परिणति (रागादिक)

---

१. 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय'।

को सर्वथा अजीव समझ लिया जाय, क्योंकि ऐसा समझने से वस्तु तत्त्व का सही निर्णय नहीं हो पाता और सही निर्णय के अभाव में आत्मा मोक्ष को प्राप्त नहीं हो पाता। जिन भावों को यह जीव मोक्ष का कारण मानकर करता है, वे भाव पुण्यास्रव के कारण होकर इस जीव को देवादिगतियों में सागरों पर्यन्त के लिये रोक लेते हैं। सात तत्त्वों में जीव और अजीव का जो संयोग है, वह संसार है तथा आस्रव और बन्ध उसके कारण हैं, जीव और अजीव का जो वियोग-पृथग्भाव है, वह मोक्ष है तथा संवर और निर्जरा उसके कारण हैं।

जिस प्रकार रोगी मनुष्य को रोग, उसके कारण, रोग मुक्ति और उसके कारण चारों का जानना आवश्यक है। उसी प्रकार इस जीव को संसार, उसके कारण, उससे मुक्ति और उसके कारण – चारों का जानना आवश्यक है।

करणानुयोग में मिथ्यात्व, सम्यक्त्व मिथ्यात्व, सम्यक्त्व प्रकृति और अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ इन सात प्रकृतियों के उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय से होने वाली श्रद्धा गुण की स्वाभाविक परिणति को सम्यग्दर्शन कहा है। करणानुयोग के इस सम्यग्दर्शन के होने पर चरणानुयोग, प्रथमानुयोग और द्रव्यानुयोग में प्रतिपादित सम्यग्दर्शन नियम से हो जाता है। परन्तु शेष अनुयोगों के सम्यग्दर्शन होने पर करणानुयोग प्रतिपादित सम्यग्दर्शन होता भी है और नहीं भी होता है। मिथ्यात्व प्रकृति के अवान्तर भेद असंख्यात लोक प्रमाण होते हैं। एक मिथ्यात्व प्रकृति के उदय में सातवें नरक की आयु का बन्ध होता है। और एक मिथ्यात्व प्रकृति के उदय में नौवें ग्रैवेयक की आयु का बन्ध होता है और एक मिथ्यात्व प्रकृति के उदय में इस जीव के मुनि हत्या का भाव होता है और एक मिथ्यात्व प्रकृति के उदय में स्वयं मुनिव्रत धारण करके अट्ठाईस मूलगुणों को निर्दोष पालन करता है। एक मिथ्यात्व के उदय में कृष्ण लेश्या होती है और एक मिथ्यात्व के उदय में शुक्ल लेश्या होती है। जिस समय मिथ्यात्व प्रकृति का मन्द, मन्द उदय चलता है। उस समय इस जीव के करणानुयोग और द्रव्यानुयोग के अनुसार सम्यग्दर्शन हो गया है, ऐसा जान पड़ता है, परन्तु करणानुयोग के अनुसार वह मिथ्यादृष्टि ही रहता है। एक भी प्रकृति का उसके संबंध नहीं होता है। बन्ध और मोक्ष के प्रकरण में करणानुयोग का सम्यग्दर्शन ही अपेक्षित रहता है, अन्य अनुयोगों का नहीं। यद्यपि करणानुयोग प्रतिपादित सम्यग्दर्शन की महिमा सर्वोपरि है, तथापि उसे पुरुषार्थपूर्वक प्राप्त नहीं

किया जा सकता। इस जीव का पुरुषार्थ चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग में प्रतिपादित सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने के लिये ही अग्रसर होता है। अर्थात् वह बुद्धिपूर्वक परमार्थ देव शास्त्र गुरु की शरण लेता है, उनकी श्रद्धा करता है और आगम का अभ्यास कर तत्त्वों का निर्णय करता है। इन सबके होते हुए अनुकूलता होने पर करुणानुयोग प्रतिपादित सम्यग्दर्शन स्वतः प्राप्त होता है और उसके प्राप्त होते ही यह संवर और निर्जरा को प्राप्त कर लेता है।

प्रश्न :—सम्यग्दर्शन के पांच लक्षण माने गये हैं, वे कौनसे हैं ?

उत्तर :—(१) परमार्थ देव-शास्त्र-गुरु की प्रतीति।

(२) तत्त्वार्थ श्रद्धान।

(३) स्वपर का श्रद्धान।

(४) आत्मा का श्रद्धान।

(५) सप्त प्रकृतियों के उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय से प्राप्त श्रद्धा गुण की निर्मल परिणति।

इन लक्षणों में पांचवां लक्षण साध्य है और शेष चार साधन हैं। जहाँ इन्हें सम्यग्दर्शन कहा है, वहाँ कारण में कार्य का उपचार समझना चाहिये। जैसे अरहंत देव, तत्प्रणीत शास्त्र और निर्ग्रन्थ गुरु की श्रद्धा होने से व कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरु की श्रद्धा दूर होने से गृहीत मिथ्यात्व का अभाव होता है, इस अपेक्षा से ही इसे सम्यग्दर्शन कहा है, सर्वथा सम्यग्दर्शन का वह लक्षण नहीं है। क्योंकि द्रव्यलिंगी मुनि आदि व्यवहार धर्म के धारक मिथ्यादृष्टि जीवों के भी अरहंतादिक का (सामान्य) श्रद्धान होता है। अथवा जिस प्रकार अणुव्रत, महाव्रत धारण करने पर देश चारित्र, सकल चारित्र होता भी है और नहीं भी होता है। परन्तु अणुव्रत और महाव्रत धारण किये बिना देशचारित्र, चारित्र कदाचित् नहीं होता है, इसलिये अणुव्रत, महाव्रत को अन्वयरूप कारण जानकर कारण में कार्य का उपचार कर इन्हें देशचारित्र, सकलचारित्र कहा है। इसी प्रकार अरहन्त देवादिक का श्रद्धान होने पर सम्यग्दर्शन होता भी है और नहीं भी होता है, परन्तु अरहन्तादिक की श्रद्धा के बिना सम्यग्दर्शन कदापि नहीं होता, इसलिये अन्वयव्याप्ति के अनुसार कारण में कार्य का उपचार कर इसे सम्यग्दर्शन कहा है।

यही पद्धति तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप लक्षण में भी संघटित करना चाहिये, क्योंकि द्रव्यलिंगी अपने क्षयोपशम के अनुसार तत्त्वार्थ का ज्ञान प्राप्त कर उसकी श्रद्धा करता है, बुद्धिपूर्वक अश्रद्धा की किसी बात को आश्रय नहीं देता, तत्त्वार्थ का ऐसा विशद विशद व्याख्यान करता है कि उसे सुनकर अन्य मिथ्यादृष्टि सम्यग्दृष्टि हो जाय, परन्तु परमार्थ से वह स्वयं मिथ्यादृष्टि ही रहता है। उसकी श्रद्धा में कहां चूक रहती है, यह प्रत्यक्ष ज्ञानी जान सकते हैं। इतना होने पर भी यह निश्चित है कि करणानुयोग प्रतिपादित सम्यग्दर्शन की प्राप्ति तत्त्वार्थ-श्रद्धानपूर्वक होगी। अतः कारण में कार्य का उपचार कर इसे सम्यग्दर्शन कहा है।

स्थूल रूप से "शरीर भिन्न है, आत्मा भिन्न है" ऐसा स्वपर का भेदविज्ञान द्रव्यलिंगी मुनि को भी होता है। द्रव्यलिंगी मुनि, बानी में पेल दिये जाने पर भी संक्लेश नहीं करता और शुक्ल लेश्या के प्रभाव से नौवें ग्रैवेयक तक में उत्पन्न होने की योग्यता रखता है, फिर भी वह मिथ्यादृष्टि रहता है। उसके स्वपर भेदविज्ञान में जो सूक्ष्म चूक रहती है, उसे जनसाधारण नहीं जान सकता। वह चूक प्रत्यक्ष ज्ञान का ही विषय है। इस स्थिति में यह कहा जा सकता है कि करणानुयोग प्रतिपादित सम्यग्दर्शन इससे भिन्न है, परन्तु उसकी प्राप्ति में स्वपर का भेदविज्ञान कारण पड़ता है। अतः कारण में कार्य का उपचार कर उसे सम्यग्दर्शन कहा है।

कषाय की मन्दता से उपयोग की चञ्चलता दूर होने लगती है, उस स्थिति में द्रव्यलिंगी मुनि का उपयोग भी पर पदार्थ से हटकर स्व में स्थिर होने लगता है। स्व द्रव्य-आत्म द्रव्य की वह बड़ी सूक्ष्म चर्चा करता है। आत्मा के ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव का ऐसा भाव-विभोर होकर वर्णन करता है कि अन्य मिथ्यादृष्टि जीवों को भी आत्मानुभव होने लगता है, परन्तु वह स्वयं मिथ्यादृष्टि रहता है। इस स्थिति में इस आत्मश्रद्धान को करुणानुयोग प्रतिपादित सम्यग्दर्शन का साधन मानकर सम्यग्दर्शन कहा गया है।

इन सब लक्षणों में जो सूक्ष्म चूक रहती है, उसे छद्मस्थ जान नहीं सकता, इसलिये व्यवहार से इन सबको सम्यग्दर्शन कहा है। इनके होते हुए सम्यक्त्व का घात करने वाली सात प्रकृतियों का उपशमादिक होकर करणानुयोग प्रतिपादित सम्यग्दर्शन प्रकट होता है। देव-शास्त्र-गुरु की प्रतीति, तत्त्वार्थ श्रद्धान, स्वपर श्रद्धान और आत्म

श्रद्धान ये चारों लक्षण एक दूसरे के बाधक नहीं हैं, क्योंकि एक के होने पर दूसरे लक्षण स्वयं प्रगट हो जाते हैं। पात्र की योग्यता देखकर आचार्यों ने विभिन्न शैलियों से वर्णन मात्र किया है। जैसे आचरण प्रधान शैली को मुख्यता देने की अपेक्षा देव-शास्त्र-गुरु की प्रतीति को, ज्ञान प्रधान शैली को मुख्यता देने की अपेक्षा तत्त्वार्थ श्रद्धान को और कषाय जनित विकल्पों की मन्दमन्दतर अवस्था को मुख्यता देने की अपेक्षा स्वपर श्रद्धान तथा आत्म श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है। अपनी योग्यता के अनुसार चारों शैलियों को अपनाया जा सकता है। इन चारों शैलियों में भी यदि मुख्यता और अमुख्यता की अपेक्षा चर्चा की जावे तो तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप प्रधान शैली मुख्य जान पड़ती है, क्योंकि उसके होने पर ही शेष तीनों शैलियों को बल मिलता है।

प्रश्न :—सम्यग्दर्शन किसे प्राप्त होता है ?

उत्तर :—मिथ्यादृष्टि दो प्रकार के हैं—एक अनादि मिथ्यादृष्टि और दूसरे सादि मिथ्यादृष्टि। जिसे आज तक कभी सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हुआ है, वह अनादि मिथ्यादृष्टि है और जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त होकर छूट गया है, वह सादि मिथ्यादृष्टि जीव है। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के मोहनीय कर्म की छब्बीस प्रकृतियों की सत्ता रहती है, क्योंकि दर्शन मोहनीय की मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति इन तीन प्रकृतियों में से एक मिथ्यात्व प्रकृति का ही बन्ध होता है, शेष दो का नहीं। प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन होने पर उसके प्रभाव से यह जीव मिथ्यात्व प्रकृति के मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति के भेद से तीन खण्ड करता है, इस तरह सादि मिथ्यादृष्टि जीव के ही सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति की सत्ता हो सकती है। सादि मिथ्यादृष्टि जीवों में मोहनीय कर्म की सत्ता के तीन विकल्प बनते हैं—एक २८ प्रकृति की सत्तावाला, और दूसरा २७ प्रकृति की सत्ता वाला और तीसरा २६ प्रकृतियों की सत्ता वाला। जिस जीव के दर्शन मोह की तीनों प्रकृतियां विद्यमान हैं, वह अट्ठाइस प्रकृतियों की सत्ता वाला है। जिस जीव ने सम्यक्त्व प्रकृति की उद्वेलना कर दी है, वह सत्ताईस प्रकृतियों की सत्ता वाला है और जिसने सम्यक्त्व मिथ्यात्व प्रकृति की उद्वेलना कर ली है, वह छब्बीस प्रकृतियों की सत्ता वाला है।

प्रश्न :—सम्यग्दर्शन के कितने भेद हैं ?

उत्तर :—सम्यग्दर्शन के औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक इस प्रकार तीन भेद हैं। यहाँ सर्व प्रथम औपशमिक सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति की अपेक्षा विचार करते हैं; क्योंकि अनादि मिथ्यादृष्टि को सर्व प्रथम औपशमिक सम्यग्दर्शन ही प्राप्त होता है। औपशमिक सम्यग्दर्शन भी प्रथमोपशम और द्वितीयोपशम के भेद से दो प्रकार का है। यहाँ प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन की चर्चा है। द्वितीयोपशम की चर्चा आगे की जायेगी।

इतना निश्चित है कि सम्यग्दर्शन संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक भव्य जीव को ही होता है; अन्य को नहीं। भव्यों में भी उसी को होता है, जिसका संसार भ्रमण का काल अर्धपुद्गल परावर्तन के काल से अधिक बाकी नहीं है। लेश्याओं के विषय में से कोई लेश्या हो और देव तथा नारकियों के जहाँ जो लेश्या बतलाई है, उसी में औपशमिक सम्यग्दर्शन हो सकता है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये गोत्र का प्रतिबन्ध नहीं है अर्थात् जहाँ उच्च-नीच गोत्रों में से जो भी संभव हो, उसी गोत्र में सम्यग्दर्शन हो जाता है। कर्म स्थिति के विषय में चर्चा यह है कि जिसके बध्यमान कर्मों की स्थिति अन्तः कोड़ा कोड़ी सागर प्रमाण हो तथा सत्ता में स्थित कर्मों की स्थिति संख्यात हजार सागर कम अन्तः कोड़ा कोड़ी सागर प्रमाण रह गई हो, वही सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है; इसी प्रकार जिसके अप्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग द्विस्थानगत और प्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग चतुः स्थानगत होता है, वही औपशमिक सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है। यहाँ इतनी विशेषता और भी ध्यान में रखना चाहिये कि जिस सादि मिथ्यादृष्टि के आहारक शरीर और आहारक शरीराङ्गोपाङ्ग की सत्ता होती है, उसे प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन नहीं होता। अनादि मिथ्यादृष्टि के इनकी सत्ता होती ही नहीं है। इसी प्रकार प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन से च्युत हुआ जीव दूसरे प्रथमोपशम सम्यक्त्व को तब तक प्राप्त नहीं कर सकता जब तक कि वह वेदक काल में रहता है। वेदक काल के भीतर यदि उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का अवसर आता है, तो वह वेदक क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन ही प्राप्त करता है। वेदक काल के विषय में यह कहा गया है, कि सम्यग्दर्शन से च्युत हुआ जो मिथ्यादृष्टि जीव, एकेन्द्रिय पर्याय में भ्रमण करता है वही संज्ञी पञ्चेन्द्रिय होकर प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन को तभी

प्राप्त कर सकता है, जब उसके सम्यक्त्व तथा सम्यङ्मिथ्यात्व इन दो प्रकृतियों की स्थिति एक सागर से कम शेष रह जावे। यदि इससे अधिक स्थिति शेष है, तो नियम से उसे वेदक–क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन ही हो सकता है। यदि सम्यग्दर्शन से च्युत हुआ जीव विकलत्रय में परिभ्रमण करता है, तो उसके सम्यक्त्व और सम्यङ्मिथ्यात्व प्रकृति की स्थिति पृथक्त्व सागर प्रमाण शेष रहने तक उसका वेदक काल कहलाता है। इस काल में यदि उसे सम्यग्दर्शन प्राप्ति का अवसर आता है, तो नियम से वेदक क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन को ही प्राप्त होता है। हाँ, सम्यक्त्व प्रकृति की अथवा सम्यक्त्व प्रकृति और सम्यङ्मिथ्यात्व प्रकृति दोनों की उद्वेलना हो गई है, तो ऐसा जीव पुनः सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का अवसर आने पर प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त होता है।

तात्पर्य यह है कि अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के सर्व प्रथम प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन ही होता है और सादि मिथ्यादृष्टियों में २६ या २७ प्रकृतियों की सत्ता वाले जीव के दूसरी बार भी प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन होता है, किन्तु २८ प्रकृति की सत्ता वाले जीव के वेदक काल के भीतर दूसरी बार सम्यग्दर्शन हो तो वेदक–क्षायोपशमिक ही होता है। हाँ, वेदक काल के निकल जाने पर प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन होता है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की योग्यता रखने वाला संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक, विशुद्धि युक्त, जागृत, साकार उपयोग युक्त, चारों गति वाला भव्य जीव जब सम्यग्दर्शन धारण करने के सम्मुख होता है, तब क्षायोपशमिक, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण इन पांच लब्धियों को प्राप्त होता है।

चदुगदि भव्वो सण्णी पज्जत्तो सुज्झगो य सागारो।
जागारो सल्लेस्सो सलद्धिगो सम्मभुवगमई ॥६५१॥जी.का.

खउठवसमिय विसोही देसण पाउग्ग करण लद्धी च।
चत्तारि वि सामण्णा करणं पुण होदि सम्मत्ते ॥६५०॥जी.का.

इनमें करण लब्धि को छोड़कर शेष चार लब्धियां सामान्य है अर्थात् भव्य और अभव्य दोनों को प्राप्त होती हैं, परन्तु करणलब्धि भव्य जीव को ही प्राप्त होती है। उसके प्राप्त होने पर सम्यग्दर्शन नियम से प्रकट होता है।

प्रश्न :—क्षायोपशमिक लब्धि का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—क्षायोपशमिक लब्धि—पूर्व संचित कर्म पटल के अनुभाग स्पर्धकों की विशुद्धि के द्वारा प्रति समय अनन्त गुणित हीन होते हुए उदीरणा को प्राप्त होना क्षायोपशमिक लब्धि है। इस लब्धि के द्वारा जीव के परिणाम उत्तरोत्तर निर्मल होते जाते हैं।

प्रश्न :—विशुद्धि लब्धि का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—विशुद्धि लब्धि—साता वेदनीय आदि प्रशस्त प्रकृतियों के बन्ध में कारणभूत परिणामों की प्राप्ति को विशुद्धि लब्धि कहते हैं।

प्रश्न :—देशना लब्धि का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—देशना लब्धि—छहों द्रव्य और नौ पदार्थों के उपदेश को देशना कहते हैं। उस देशना के दाता आचार्य आदि की लब्धि को और उपदिष्ट अर्थ के ग्रहण, धारण तथा विचारण की शक्ति की प्राप्ति को देशना लब्धि कहते हैं।

प्रश्न :—प्रायोग्य लब्धि का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—प्रायोग्य लब्धि—आयु कर्म को छोड़कर शेष कर्मों की स्थिति को अन्तः कोड़ा कोड़ी सागर प्रमाण कर देना और अशुभ कर्मों में से घातिया कर्मों के अनुभाग को लता और दारू इन दो स्थानगत तथा अघातिया कर्मों के अनुभाग को नीम और कांजी इन दो स्थानगत कर देना प्रायोग्य लब्धि है।

प्रश्न :—करण लब्धि का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—करण लब्धि—करण भावों को कहते हैं। सम्यग्दर्शन प्राप्त करने वाले करणोंभावों की प्राप्ति को करण लब्धि कहते हैं। इसके तीन भेद हैं—अधाप्रवृत्तकरण अथवा अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। जो करण—परिणाम इसके पूर्व प्राप्त न हुए हों उन्हें अधाप्रवृत्तकरण कहते हैं। इसका दूसरा सार्थक नाम अधःकरण है। जिसमें आगामी समय में रहने वाले जीवों के परिणाम पिछले समयवर्ती जीवों के परिणामों से मिलते जुलते हो, उसे अधःप्रवृत्तकरण कहते हैं। इसमें समसमयवर्ती तथा विषमसमयवर्ती जीवों के परिणाम समान और असमान-दोनों प्रकार के होते हैं। जैसे पहले समय में रहने वाले जीवों के परिणाम एक से लेकर दस नम्बर तक के हैं और दूसरे समय में रहने वाले जीवों के परिणाम छह

से लेकर पन्द्रह नम्बर तक के हैं। पहले समय में रहने वाले जीव के छह से लेकर दस नम्बर तक के परिणाम विभिन्न समयवर्ती होने पर भी परस्पर मिलते-जुलते हैं। इसी प्रकार दूसरे समयवर्ती अनेक जीवों के एक से लेकर दस तक के परिणामों से समान परिणाम हो सकते हैं अर्थात् किन्हीं दो जीवों के पांच नम्बर का परिणाम है। यह परिणामों की समानता और असमानता नाना जीवों की अपेक्षा घटित होती है। इस करण का काल अन्तर्मुहूर्त है और उसमें उत्तरोत्तर समान वृद्धि को लिए हुए असंख्यात लोक प्रमाण होते हैं।

जिसमें प्रत्येक समय अपूर्व-अपूर्व नये-नये परिणाम होते हैं, उसे अपूर्वकरण कहते हैं। जैसे पहले समय में रहने वाले जीवों के यदि एक से लेकर दस नम्बर तक के परिणाम हैं, तो दूसरे समय में रहने वाले जीव के ग्यारह से बीस नम्बर तक के परिणाम होते हैं। अपूर्वकरण में समसमयवर्ती जीवों के परिणाम समान और असमान दोनों प्रकार के होते हैं, परन्तु भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम असमान ही होते हैं। जैसे पहले समय में रहने वाले और दूसरे समय में रहने वाले जीवों के परिणाम कभी समान नहीं होते, परन्तु पहले अथवा दूसरे समय में रहने वाले जीवों के परिणाम समान भी हो सकते है और असमान भी। यह चर्चा भी नाना जीवों की अपेक्षा से है। इसका काल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। परन्तु यह अन्तर्मुहूर्त अध प्रवृत्तकरण के अन्तर्मुहूर्त से छोटा है। इस अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल में भी उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होते हुए असंख्यात लोक प्रमाण परिणाम होते हैं।

जहाँ एक समय में एक ही परिणाम होता है, उसे अनिवृत्तिकरण कहते हैं। इस करण में समसमयवर्ती जीवों के परिणाम समान ही होते हैं और विषमसमयवर्ती जीवों के परिणाम असमान ही होते हैं। इसका कारण है कि यहाँ एक समय में एक ही परिणाम होता है, इसलिये उस समय में जितने जीव होंगे इन सबके परिणाम समान ही होंगे और भिन्न समयों में जो जीव होंगे उनके परिणाम भिन्न ही होंगे। इसका काल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। परन्तु अपूर्वकरण की अपेक्षा छोटा अन्तर्मुहूर्त है। इसके प्रत्येक समय में एक ही परिणाम होता है। इन दोनों करणों में परिणामों की विशुद्धता उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है।

उपर्युक्त तीन करणों में से पहले अथाप्रवृत अथवा अधःकरण में चार अवश्य होते हैं—(१) समय-समय में अनन्त गुणी विशुद्धता होती है। (२) प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त में नवीन बन्ध की स्थिति घटती जाती है। (३) प्रत्येक समय प्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग अनन्त गुणा बढ़ता जाता है, और (४) प्रत्येक समय अप्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग अनन्तवाँ भाग घटता जाता है। इसके बाद अपूर्वकरण परिणाम होता है। उस अपूर्वकरण में निम्नलिखित आवश्यक और होते हैं। (१) सत्ता में स्थित प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त में उत्तरोत्तर घटती जाती है, अतः स्थितिकाण्डकघात होता है। (२) प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त में उत्तरोत्तर पूर्व कर्म का अनुभाग घटता जाता है इसलिये अनुभागकाण्डकघात होता है और (३) गुणश्रेणी के काल में क्रम से असंख्यात गुणित कर्म, निर्जरा के योग्य होते हैं, इसलिये गुणश्रेणी निर्जरा होती है। इस अपूर्व करण में गुण संक्रमण नाम का आवश्यक नहीं होता। किन्तु चारित्र मोह का उपशम करने के लिए जो अपूर्वकरण होता है, उसमें होता है। अपूर्वकरण के बाद अनिवृत्तिकरण होता है, उसका काल अपूर्वकरण के काल के संख्यातवें भाग होता है। इसमें पूर्वोक्त आवश्यक सहित कितना ही काल व्यतीत होने पर [किमन्तरकरणं नाम? "विवक्खियकम्मास हेट्ठिमोवरिमट्ठिदीओ मोत्तूण मज्झे अंतो मुहुत्तमेत्ताणं ट्ठिदीणं परिणाम विसेसेण णिसेगाणमभावीकरण मन्तरणमिदि भण्णदे।" जय धवल अ. प्र. ९५३। अर्थ :—अन्तरकरण का क्या स्वरूप है? उत्तर :—विवक्षित कर्मों की अधस्तन और उपरिम स्थितियों को छोड़कर मध्यवर्ती अन्तर्मुहूर्त मात्र स्थितियों के निषेकों का परिणाम विशेष के द्वारा अभाव करने को अन्तरकरण कहते हैं।] अन्तरकरण होता है अर्थात् अनिवृत्तिकरण के काल के पीछे, उदय आने योग्य मिथ्यात्व कर्म के निषेकों का अन्तर्मुहूर्त के लिए अभाव होता है। अन्तरकरण के पीछे उपशमकरण होता है अर्थात् अन्तरकरण के द्वारा अभाव रूप किये हुये निषेकों के ऊपर जो मिथ्यात्व के निषेक उदय में आने वाले थे, उन्हें उदय के अयोग्य किया जाता है। साथ ही अनन्तानुबन्धी चतुष्क को भी उदय के अयोग्य किया जाता है। इस तरह उदय योग्य प्रकृतियों का अभाव होने से प्रथमोपशम सम्यक्त्व के प्रथम समय में मिथ्यात्व प्रकृति के तीन खण्ड करता है। परन्तु राजवार्तिक में, अनिवृत्तिकरण के चरम समय में मिथ्यादर्शन के तीन भाग करता है—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक्मिथ्यात्व। इन तीन प्रकृतियों तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ

इन चार प्रकृतियों का इस प्रकार सात प्रकृतियों के उदय का अभाव होने पर प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है। यही भाव षट्खण्डागम (धवल, पुस्तक ६) के निम्नलिखित सूत्रों में भी प्रगट किया है—

'अहट्ठहेट्ठण मिच्छत्तं तिण्णि भागं करेदि सम्मत्तं मिच्छत्तं ।।७।।

अर्थ—अन्तरकरण करके मिथ्यात्व कर्म के तीन भाग करता है—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक्मिथ्यात्व।

दंसण मोहणीयं कम्मं उवसामेदि ।।८।।

अर्थ—मिथ्यात्व के तीन भाग करने के तश्चात् दर्शन मोहनीय कर्म को उपशमाता है।

प्रश्न :—द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन—औपशमिक सम्यग्दर्शन के प्रथमोपशम और द्वितीयोपशम इस प्रकार दो भेद हैं। इनमें से प्रथमोपशम किसके और कब होता है। इसकी चर्चा ऊपर आ चुकी है। द्वितीयोपशम की चर्चा इस प्रकार है। प्रथमोपशम और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन का अस्तित्व चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक ही रहता है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को धारण करने वाला कोई जीव, जब सातवें गुण स्थान के सातिशय अप्रमत्त भेद में उपशम श्रेणी माड़ने के सम्मुख होता है, तब उसके द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। इस सम्यग्दर्शन में अनन्तानुबन्धी चतुष्क की विसंयोजन, और दर्शन मोहनीय की प्रकृतियों का उपशम होता है। इस सम्यग्दर्शन को धारण करने वाला जीव उपशम श्रेणी माड़कर ग्यारहवें गुणस्थान तक जाता है, और वहाँ से पतन कर नीचे आता है, पतन की अपेक्षा चतुर्थ, पञ्चम और षष्ठम गुणस्थान में भी इसका सद्भाव रहता है।

प्रश्न :—क्षायोपशमिक (वेदक) सम्यग्दर्शन का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :— क्षायोपशमिक अथवा वेदक सम्यग्दर्शन—मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन छह सर्वघाती प्रकृतियों के वर्तमान काल में उदय आने वाले निषेकों का उदयाभावी क्षय तथा आगामी काल में उदय

आने वाले निषेकों का सदवस्थारूप उपशम और सम्यक्त्व प्रकृतिनामक देशघाती प्रकृति का उदय रहने पर जो सम्यक्त्व होता है, उसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। इस सम्यक्त्व में सम्यक्त्व प्रकृति का उदय होने से चल, मल और अगाढ़ दोष उत्पन्न होते रहते हैं। छह सर्वघाती प्रकृतियों के उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशम को प्रधानता देकर जब इसका वर्णन होता है, तब इसे क्षायोपशमिक कहते हैं और जब सम्यक्त्व प्रकृति के उदय की अपेक्षा वर्णन होता है, तब इसे वेदक सम्यग्दर्शन कहते हैं। वैसे ये दोनों पर्यायवाची हैं।

इसकी उत्पत्ति सादि मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि दोनों के हो सकती है। सादि मिथ्यादृष्टियों में जो वेदक काल के भीतर रहता है, उसे वेदक सम्यग्दर्शन ही होता है। सम्यग्दृष्टियों में जो प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि है, उसे भी वेदक सम्यग्दर्शन ही होता है। प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि जीव को चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान तक किसी भी गुणस्थान में इसकी प्राप्ति हो सकती है, यह सम्यग्दर्शन चारों गतियों में उत्पन्न हो सकता है।

प्रश्न :—क्षायिक सम्यग्दर्शन का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—क्षायिक सम्यग्दर्शन—मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व प्रकृति और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन सात प्रकृतियों के क्षय से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, वह क्षायिक सम्यक्त्व कहलाता है।

दंसण मोहक्खवणापट्ठवगो कम्मभूमि जादो हु।
मणुसो केवलि मूले णिट्ठवगो होदि सव्वत्थ ॥७४॥जी.का.॥८॥

दर्शन मोहनीय की क्षपणा का आरम्भ कर्म भूमिज मनुष्य ही करता है, और वह भी केवली या श्रुत केवली के पाद मूल में।

स्वयं श्रुत केवली हो जाने पर फिर केवली या श्रुत केवली के सन्निधान की आवश्यकता नहीं रहती।

परन्तु इसका निष्ठापन चारों गतियों में हो सकता है। यह सम्यग्दर्शन वेदक सम्यक्त्व पूर्वक ही होता है तथा चौथे से सातवें गुणस्थान तक किसी भी गुणस्थान में हो सकता है। यह सम्यग्दर्शन सादि अनन्त है। होकर कभी छूटता नहीं है, जबकि औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन असंख्यात बार होकर छूट सकते हैं।

क्षायिक सम्यग्दृष्टि या तो उसी भव से मोक्ष चला जाता है या तीसरे भव में या चौथे भव में, चौथे भव से अधिक संसार में नहीं रहता ।

दंसण मोहे खविदे सिज्झदि एक्केव तदिय-तुरियभवे ।
णादिक्कदि तुरियभवं ण विणस्सदि सेससम्म व ।।क्षे.जी.का.स.आ.।।६।।

जो क्षायिक सम्यग्दृष्टि बद्धायुष्क होने से नरक में जाता है अथवा देवगति में उत्पन्न होता है, वह वहाँ से मनुष्य होकर मोक्ष जाता है । इस प्रकार चौथे भव में उसका मोक्ष जाना बनता है ।

चत्तारि वि खेत्ताइं, आयुगबंधेढ होई सम्मत्तं ।
अणुव्रद-महव्वदाइं ण लहइ देयाउगं मोत्तु ।।६५२।।जी.का.।।१०।।

चारों गति सम्बन्धी आयु का बन्ध होने पर सम्यक्त्व हो सकता है, इसलिये बद्धायुष्क सम्यग्दृष्टि का चारों गतियों में जाना संभव है । परन्तु यह नियम है कि सम्यक्त्व के काल में यदि मनुष्य और तिर्यञ्च के आयु बन्ध होता है, तो नियम से देवायु का ही बन्ध होता है और नारकी तथा देव के नियम से मनुष्यायु का ही बंध होता है ।

प्रश्न :—सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के बहिरंग कारण कौनसे हैं ?

उत्तर :—सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के बहिरङ्ग कारण :—कारण दो प्रकार के होते हैं, एक उपादान कारण और दूसरा निमित्त कारण । जो स्वयं कार्य रूप परिणत होता है, वह उपादान कारण कहलाता है । और जो कार्य की सिद्धि में सहायक होता है, वह निमित्त कारण कहलाता है । अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग के भेद से निमित्त के दो भेद हैं । सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का उपादान कारण

आसन्न भव्यताकर्म हानिसंज्ञित्व शुद्धि भाक् ।
देशनाद्यस्त मिथ्यात्वो जीवः सम्यक्त्वमश्नुते ।।सा.ध.।।१।।

आसन्न भव्यता आदि विशेषताओं से युक्त आत्मा है । अन्तरङ्ग निमित्त कारण सम्यक्त्व की प्रतिबन्धक सात प्रकृतियों का उपशम अथवा क्षयोपशम है और बहिरङ्ग निमित्त कारण सद्गुरु आदि हैं । अन्तरङ्ग निमित्त कारण के मिलने पर सम्यग्दर्शन नियम से होता है, परन्तु बहिरङ्ग निमित्त के

मिलने पर सम्यग्दर्शन होता भी है और नहीं भी होता है। सम्यग्दर्शन के बहिरङ्ग निमित्त चारों गतियों में विभिन्न प्रकार के होते हैं। जैसे नरक गति में तीसरे नरक तक जातिस्मरण, धर्मश्रवण और तीव्र वेदनानुभव ये तीन। चौथे से सातवें तक जातिस्मरण और तीव्र वेदनानुभव ये दो। तिर्यञ्च और मनुष्यगति में जातिस्मरण, धर्मश्रवण और जिनबिम्ब दर्शन ये तीन। देवगति में बारहवें स्वर्ग तक जातिस्मरण, धर्मश्रवण, जिनकल्याणकदर्शन और देवर्द्धि दर्शन ये चार। तेरहवें से सोलहवें स्वर्ग तक देवर्द्धि दर्शन को छोड़कर तीन और उसके आगे नौवें ग्रैवेयक तक जातिस्मरण तथा धर्मश्रवण दो बहिरङ्ग निमित्त हैं। ग्रैवेयक के ऊपर सम्यग्दृष्टि ही उत्पन्न होते हैं, इसलिये वहां बहिरङ्ग निमित्त की आवश्यकता नहीं है।

प्रश्न :—उत्पत्ति की अपेक्षा सम्यग्दर्शन के कितने भेद हैं ?

उत्तर :—सम्यग्दर्शन के भेद—उत्पत्ति की अपेक्षा सम्यग्दर्शन के निसर्गज और अधिगमज दो भेद हैं। जो पूर्व संस्कार की प्रबलता से परोपदेश के बिना हो जाता है, वह निसर्गज सम्यग्दर्शन कहलाता है। और जो पर के उपदेश-पूर्वक होता है, वह अधिगमज सम्यग्दर्शन कहलाता है। इन दोनों भेदों में अन्तरङ्ग कारण—सात प्रकृतियों का उपशमादिक समान होता है, मात्र बाह्यकरण की अपेक्षा दो भेद होते हैं।

करणानुयोग की पद्धति से सम्यग्दर्शन के औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक ये तीन भेद होते हैं। जो सात प्रकृतियों के उपशम से होता है, उसे औपशमिक कहते हैं। इसके प्रथमोपशम और द्वितीयोपशम की अपेक्षा दो भेद हैं। जो सात प्रकृतियों के क्षय से होता है, उसे क्षायिक कहते हैं और जो सर्वघाती छह प्रकृतियों के उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशम तथा सम्यक्त्व प्रकृति नामक देशघाती प्रकृति के उदय से होता है, उसे क्षायोपशमिक कहते हैं अथवा वेदक सम्यग्दर्शन कहते हैं। कृतकृत्य सम्यग्दर्शन भी इसी क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन का अवान्तर भेद है। दर्शन मोहनीय की क्षपणा करने वाले जिस क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि के मात्र सम्यक्त्व प्रकृति का उदय शेष रह जाता है, शेष की क्षपणा हो चुकी है, उसे कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

चरणानुयोग की पद्धति से सम्यग्दर्शन के निश्चय और व्यवहार की अपेक्षा दो भेद होते हैं। वहां परमार्थ देव-शास्त्र-गुरु की विपरीताभिनिवेश से रहित श्रद्धा करने को निश्चय सम्यग्दर्शन कहा जाता है और उस सम्यग्दृष्टि की पच्चीस दोषों से रहित जो प्रवृत्ति है, उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा जाता है। शङ्कादिक आठ दोष, आठ मद, छह अनायतन और तीन मूढताएँ ये व्यवहार सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोष कहलाते हैं।

द्रव्यानुयोग की दृष्टि से सम्यग्दर्शन के भेद—द्रव्यानुयोग की पद्धति से भी सम्यग्दर्शन के निश्चय और व्यवहार की अपेक्षा दो भेद होते हैं। यहां जीवाजीवादि सात तत्त्वों के विकल्प से रहित शुद्ध आत्मा के श्रद्धान को निश्चय सम्यग्दर्शन कहते हैं और सात तत्त्वों के विकल्प से रहित श्रद्धान को व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं।

अध्यात्म में वीतराग सम्यग्दर्शन और सराग सम्यग्दर्शन के भेद से दो भेद होते हैं। यहां आत्मा की विशुद्धि मात्र को वीतराग सम्यग्दर्शन कहा है और प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य इन चार गुणों की अभिव्यक्ति को सराग सम्यग्दर्शन कहते हैं।

आज्ञा मार्ग समुद्भवमुपदेशात्सूत्र बीज संक्षेपात्।
विस्तारार्थाभ्यां भवमवगाढं परमावगाढं च ॥१॥ आत्मानुशासन ॥२॥

आत्मानुशासन में ज्ञान प्रधान निमित्तादिक की अपेक्षा १. आज्ञा सम्यक्त्व २. मार्ग सम्यक्त्व ३. उपदेश सम्यक्त्व ४. सूत्र सम्यक्त्व ५. बीज सम्यक्त्व ६. संक्षेप सम्यक्त्व ७. विस्तार सम्यक्त्व ८. अर्थ सम्यक्त्व ९. अवगाढ़ सम्यक्त्व और १०. परमावगाढ़ सम्यक्त्व ये दस भेद कहे हैं।

मुझे जिन आज्ञा प्रमाण है, इस प्रकार जिनाज्ञा की प्रधानता से; जो सूक्ष्म, अन्तरित एवं दूरवर्ती पदार्थों का श्रद्धान होता है, उसे आज्ञासम्यक्त्व कहते हैं।

निर्ग्रन्थ मार्ग के अवलोकन से, जो सम्यक्त्व होता है, उसे मार्गसम्यक्त्व कहते हैं।

आगमज्ञ पुरुषों के उपदेश से उत्पन्न सम्यग्दर्शन उपदेशसम्यक्त्व कहलाता है।

मुनि के आचार का प्रतिपादन करने वाले आचार सूत्र को सुनकर, जो श्रद्धान होता है, उसे सूत्रसम्यक्त्व कहते हैं।

गणित ज्ञान के कारण बीजों के समूह से, जो सम्यक्त्व होता है, उसे बीज-सम्यक्त्व कहते हैं।

पदार्थों के संक्षेपरूप कथन को सुनकर, जो श्रद्धान होता है, उसे संक्षेप-सम्यक्त्व कहते हैं।

विस्ताररूप जिनवाणी को सुनने से, जो श्रद्धान होता है, उसे विस्तार-सम्यक्त्व कहते हैं।

जैनशास्त्र के वचन बिना किसी अर्थ के निमित्त से, जो श्रद्धा होती है, उसे अर्थसम्यक्त्व कहते हैं।

श्रुत केवली के तत्त्वश्रद्धान को अवगाढ़सम्यक्त्व कहते हैं।

केवली के तत्त्वश्रद्धान को परमावगाढ़सम्यक्त्व कहते हैं।

इन दश भेदों में प्रारम्भ के आठ भेद कारण की अपेक्षा और अन्त के दो भेद ज्ञान के सहकारीपना की अपेक्षा किये गए हैं।

इस प्रकार श्रद्धा की अपेक्षा संख्यात, श्रद्धान करने वालों की अपेक्षा असंख्यात और श्रद्धान करने योग्य पदार्थों की अपेक्षा अनन्त भेद होते हैं।

प्रश्न :—सम्यग्दर्शन का निर्देश आदि की अपेक्षा से वर्णन किस प्रकार है ?

उत्तर :—सम्यग्दर्शन का निर्देश आदि की अपेक्षा वर्णन—तत्त्वार्थ सूत्रकार उमास्वामी ने पदार्थ के जानने के उपायों का वर्णन करते हुए निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान इन छह उपायों का वर्णन किया है।

'निर्देश स्वामित्व साधनाधिकरणस्थिति विधानतः'—त० सूत्र १-७।

यहां सम्यग्दर्शन के संदर्भ में इन उपायों का भी विचार करना उचित जान पड़ता है। वस्तु के स्वरूप निर्देश को निर्देश कहते हैं। वस्तु के आधिपत्य को स्वामित्व कहते हैं। वस्तु की उत्पत्ति के निमित्त को साधन कहते हैं। वस्तु के आधार को अधिकरण कहते हैं। वस्तु की कालावधि को स्थिति कहते हैं और वस्तु के प्रकारों को विधान कहते हैं। संसार के किसी भी पदार्थ के जानने में इन छह उपायों का आलम्बन लिया जाता है।

यहां सम्यग्दर्शन का निर्देश स्वरूप क्या है ? इसका उत्तर देने के लिये कहा गया है कि यथार्थ देव-शास्त्र-गुरु का श्रद्धान करना अथवा सप्त तत्त्व, नौ पदार्थ का श्रद्धान करना आदि सम्यग्दर्शन का निर्देश है।

सम्यग्दर्शन का स्वामी कौन है ? इस प्रश्न का विचार सामान्य और विशेष रूप से किया गया है। सामान्य की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन संज्ञीपञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक भव्यजीव के ही होता है। अतः वही इसका स्वामी है। विशेष की अपेक्षा विचार इस प्रकार है—निम्नलिखित चौदह मार्गणाओं में होता है—

गइ इन्दिये च काये जोगे वेदे कसाय णाणे य।
संजम दंसण लेस्सा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे ॥जी० का०॥१३॥

गति की अपेक्षा नरकगति में सभी पृथिवियों के पर्याप्तक नारकियों के औपशमिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं। तिर्यंचगति में औपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्तक तिर्यंचों के ही होता है और क्षायिक तथा क्षायोपशमिक भोग-भूमिज तिर्यंचों की अपेक्षा होते हैं। तिर्यञ्चियों के पर्याप्तक तथा अपर्याप्तक दोनों ही अवस्थाओं में क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं होता, क्योंकि दर्शन मोह की क्षपणा का प्रारम्भ कर्मभूमिज मनुष्य के ही होता है और क्षपणा के पहले तिर्यञ्च आयु का बन्ध करने वाला मनुष्य, भोग भूमि के पुरुषवेदी तिर्यंचों में उत्पन्न होता है, स्त्रीवेदी तिर्यंचों में नहीं। नवीन उत्पत्ति की अपेक्षा पर्याप्तक तिर्यञ्चियों के औपशमिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं। मनुष्यगति में पर्याप्तक और अपर्याप्तक मनुष्यों के क्षायिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं। औपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्तक मनुष्यों के ही होता है, अपर्याप्तक मनुष्यों के नहीं, क्योंकि प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन में किसी का मरण होता नहीं है और द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन में मरा हुआ जीव नियम से देवगति में ही जाता है। मानुषी-स्त्रीवेदी मनुष्यों के पर्याप्तक अवस्था में तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं; परन्तु अपर्याप्तक अवस्था में एक भी नहीं होता। मानुषियों के जो क्षायिक सम्यग्दर्शन बतलाया है, वह भाववेद की अपेक्षा होता है, द्रव्यवेद की अपेक्षा नहीं। देवगति में पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनों के तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं। द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन में जीव मरकर देवों में उत्पन्न होते हैं, इस अपेक्षा वहां अपर्याप्तक अवस्था में भी औपशमिक सम्यग्दर्शन का सद्भाव रहता है। भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क देव, उनकी देवाङ्गनाओं तथा सौधर्मेशान की देवांगनाओं के अपर्याप्तक अवस्था में एक भी सम्यग्दर्शन नहीं होता, किन्तु पर्याप्तक अवस्था में नवीन उत्पत्ति की अपेक्षा औपशमिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं। स्वर्ग में देवियों का सद्भाव यद्यपि सोलहवें स्वर्ग तक रहता है, तथापि उनकी उत्पत्ति दूसरे स्वर्ग तक

ही होती है, इसलिये आगे की देवियों का समावेश पहले-दूसरे स्वर्ग की देवियों में ही समझना चाहिये।

इन्द्रियों की अपेक्षा संज्ञी पञ्चेन्द्रियों को तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं। अन्य इन्द्रिय वालों के एक भी नहीं होता। काय की अपेक्षा त्रसकायिक जीवों के तीन होते हैं, परन्तु अयोगियों के मात्र क्षायिक ही होता है। वेद की अपेक्षा तीनों वेदों में तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं, परन्तु अपगत वेद वालों के औपशमिक और क्षायिक ही होते हैं। यहाँ वेद से तात्पर्य भाववेद से है। कषाय की अपेक्षा क्रोधादि चारों कषायों में तीनों होते हैं, परन्तु अकषाय-कषाय रहित जीवों के औपशमिक और क्षायिक ये दो होते हैं। औपशमिक मात्र ग्यारहवें गुणस्थान तक रहता है। ज्ञान की अपेक्षा मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ज्ञान के धारक जीवों के तीनों होते हैं, परन्तु केवलज्ञानियों के एक क्षायिक ही होता है। संयम की अपेक्षा सामायिक और छेदोपस्थापना संयम के धारक जीवों के तीनों होते हैं, परिहार विशुद्धि वाले के औपशमिक नहीं होता, शेष दो होते हैं और संयतासंयत तथा असंयतों के तीनों होते हैं। दर्शन की अपेक्षा चक्षु, अचक्षु और अवधि दर्शन के धारक जीवों के तीनों होते हैं, परन्तु केवल दर्शन के धारक जीवों के एक क्षायिक ही होता है। लेश्या की अपेक्षा छह लेश्याओं वालों के तीनों होते हैं, परन्तु लेश्या रहित जीव के एक क्षायिक ही होता है। भव्य जीवों की अपेक्षा भव्यों के तीनों होते हैं, परन्तु अभव्यों को एक भी नहीं होता। सम्यक्त्व की अपेक्षा जहाँ जो सम्यग्दर्शन होता है, वहाँ उसे ही जानना चाहिये। संज्ञा की अपेक्षा संज्ञियों के तीनों होते हैं, असंज्ञियों को एक भी नहीं होता। संज्ञी और असंज्ञी के व्यपदेश से रहित सयोग केवली और अयोग केवली के एक क्षायिक ही होता है। आहार की अपेक्षा आहारकों को तीनों होते हैं, छद्मस्थ आहारकों के भी तीनों होते हैं, परन्तु समुद्घात केवली अनाहारक के एक क्षायिक ही होता है।

प्रश्न :—सम्यग्दर्शन का अधिकरण क्या है ?

उत्तर :—अधिकरण के बाह्य और अभ्यन्तर की अपेक्षा दो भेद हैं। अभ्यन्तर अधिकरण स्वस्वामिसम्बन्ध से योग्य आत्मा ही है और बाह्य अधिकरण एक राजू चौड़ी तथा चौदह राजू लम्बी लोक नाड़ी है।

प्रश्न :—सम्यग्दर्शन की स्थिति क्या है ?

उत्तर :—औपशमिक सम्यग्दर्शन की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है।

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट छियासठ सागर प्रमाण है। क्षायिक सम्यग्दर्शन उत्पन्न होकर नष्ट नहीं होता, इसलिये इस अपेक्षा उसकी स्थिति सादि अनन्त है, परन्तु संसार में रहने की अपेक्षा जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त सहित आठ वर्ष कम दो करोड़ वर्ष पूर्व तथा तैंतीस सागर की है।

प्रश्न :—सम्यग्दर्शन का विधान क्या है ?

उत्तर :—सम्यग्दर्शन के विधान – भेदों का वर्णन पिछले स्तम्भ में आ चुका है।

सम्यक्त्व मार्गणा और उसका गुणस्थानों में अस्तित्व – सम्यक्त्व मार्गणा के औपशमिक सम्यग्दर्शन, क्षायिक सम्यग्दर्शन, क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन, सम्यङ्-मिथ्यात्व, सासादन और मिथ्यात्व ये छः भेद हैं। औपशमिक सम्यग्दर्शन के दो भेद हैं– प्रथमोपशम और द्वितीयोपशम। इनमें प्रथमोपशम चौथे से लेकर सातवें तक और द्वितीयोपशम चौथे से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक होता है। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन चौथे से लेकर सातवें तक होता है और क्षायिक सम्यग्दर्शन चौथे से लेकर चौदहवें तक तथा सिद्ध अवस्था में भी रहता है। सम्यङ्मिथ्यात्व मार्गणा तीसरे गुणस्थान में सासादन मार्गणा दूसरे गुणस्थान में और मिथ्यात्व मार्गणा पहले गुणस्थान में ही होती है। इसमें जीव के परिणाम दही और गुड़ से मिले हुए स्वाद के समान सम्यक्त्व और मिथ्यात्व दोनों रूप होते हैं। इस मार्गणा में किसी का मरण नहीं होता और न मारणान्तिक समुद्घात ही होता है। औपशमिक सम्यक्त्व का काल एक समय से लेकर छह आवली तक शेष रहने पर अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ में से किसी एक कषाय का उदय आने से जिनका सम्यक्त्व आसादना-विराधना से सहित हो गया है, वह मिथ्यात्व के अगृहीत और गृहीत की अपेक्षा दो भेद; एकान्त, विपरीत, संशय, अज्ञान और वैनयिक की अपेक्षा पांच भेद अथवा गृहीत, अगृहीत और सांशयिक की अपेक्षा तीन भेद होते हैं।

केषाञ्चिन्द तममायतेऽगृहीतं ग्रहाधनेऽन्येषाम्।
मिथ्यात्वमिह ग्रहीतं शत्यति सांशयिकमपरेषाम् ॥५॥ सा० ध० १/४।

प्रश्न :—सम्यग्दर्शन के अंग कौन-कौन से हैं ?

उत्तर :—सम्यग्दर्शन के आठ अंग :– जिन्हें मिलाकर अंगी की पूर्णता होती है अथवा अंगी को अपना कार्य पूर्ण करने में जो सहायक होते हैं, उन्हें अंग कहते हैं।

मनुष्य के शरीर में जिस प्रकार हाथ, पैर आदि आठ अंग होते हैं, उन आठ अंगों के मिलने से ही मनुष्य के शरीर की पूर्णता होती है और वे अंग ही उसे अपना कार्य पूर्ण करने में सहायक होते हैं, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के निःशंकित आदि आठ अंग हैं। इन आठ अंगों के मिलने से ही सम्यग्दर्शन की पूर्णता होती है और सम्यग्दर्शन को अपना कार्य करने में उनसे सहायता मिलती है। कुन्द-कुन्द स्वामी ने अष्टपाहुड के अन्तर्गत चारित्र पाहुड़ में चारित्र के सम्यक्त्वाचरण और संयमाचरण इस तरह दो भेद कर सम्यक्त्वाचरण का निम्नलिखित गाथाओं में वर्णन किया है--

एवं चिय णाऊण य सव्वे मिच्छत्तदोससंकाई।
परिहरि सम्मत्तमला जिणभणिया तिविहजोएण ॥६॥ ॥१५॥
णिस्संकिय णिक्कंखिय णिव्विदिगिछा अमूढदिट्ठी य।
उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल्ल पहावणा य ते अट्ठ ॥७॥ ॥१६॥
तं चेव गुणविसुद्धं जिणसम्मत्तं सुमुक्ख ठाणाय।
जं चरइ णाणजुत्तं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं ॥८॥ ॥१७॥

ऐसा जानकर हे भव्य जीवों! जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे हुए तथा सम्यक्त्व में मल उत्पन्न करने वाले शंका आदि मिथ्यात्व के दोषों का तीनों योगों से परित्याग करो।

निःशंकित, निःकाङ्क्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ सम्यक्त्व के गुण हैं।

निःशंकितादि गुणों से विशुद्ध वह सम्यक्त्व ही जिन-सम्यक्त्व कहलाता है तथा जिन सम्यक्त्व ही उत्तम मोक्ष रूप स्थान की प्राप्ति के लिये निमित्तभूत है। ज्ञान सहित जिन सम्यक्त्व का जो मुनि आचरण करते हैं, वह पहला सम्यक्त्वाचरण नामक चारित्र है।

तात्पर्य यह है कि शंकादिक दोषों को दूर कर निःशंकित आदि गुणों का आचरण करना सम्यक्त्वाचरण कहलाता है, यही दर्शनाचरण कहलाता है, स्वरूपाचरण इससे भिन्न है।

अष्टपाहुड के अतिरिक्त समयसार की गाथाओं (२२९ से लेकर २३६) में भी कुन्द-कुन्द स्वामी ने सम्यग्दृष्टि के निःशंकित आदि गुणों का वर्णन किया है।

यहाँ आठ गुण आगे चलकर आठ अंगों के रूप में प्रचलित हो गये। रत्नकरण्ड में समन्तभद्र स्वामी ने इन आठ अंगों का संक्षिप्त किन्तु हृदयग्राही वर्णन किया है। पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में अमृतचन्द्र स्वामी ने भी इनके लक्षण बतलाने के लिये आठ श्लोक लिखे हैं। यह आठ अंगों की मान्यता सम्यग्दर्शन का पूर्ण विकास करने के लिये आवश्यक है। अंगों की आवश्यकता बतलाते हुए समन्तभद्र स्वामी ने लिखा है कि जिस प्रकार कम अक्षरों वाला मन्त्र विष-वेदना को नष्ट करने में असमर्थ होता है, उसी प्रकार कम अंगों वाला सम्यग्दर्शन संसार की सन्तति छेदने में असमर्थ रहता है।

नाङ्गहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्मसन्ततिम्।
नहि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो निहन्ति विषवेदनाम् ॥१८॥

अंगों का स्वरूप तथा उनमें प्रसिद्ध पुरुषों का चरित रत्नकरण्ड श्रावकाचार के प्रथम अधिकार से ज्ञातव्य है।

प्रश्न :—सम्यग्दर्शन के अन्य गुण कौनसे हैं ?

उत्तर :—सम्यग्दर्शन के अन्य गुणों की चर्चा—प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये सम्यग्दर्शन के चार गुण हैं। बाह्य दृष्टि से ये भी सम्यग्दर्शन के लक्षण है। इनके स्वरूप का विचार पञ्चाध्यायी के उत्तरार्ध में विस्तार से किया गया है। संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

प्रशमो विषयेषूच्चैर्भाव क्रोधादिकेषु च।
लोका संख्यात मात्रेषु स्वरूपाच्छिथिलं मनः ॥४२६॥१९॥
सद्यः कृतापराधेषु यद्वा जीवेषु जातुस्वित्।
तद्वधादिविकाराय न बुद्धिः प्रशमो मता ॥४२७॥ पंचाध्यायी ॥२०॥

पञ्चेन्द्रियों के विषयों में और असंख्यात लोक प्रमाण क्रोधादिक भावों में स्वभाव से मन का शिथिल होना प्रशम भाव है। अथवा उसी समय अपराध करने वाले जीवों के विषय में कभी भी उनके मारने आदि की प्रयोजक बुद्धि न होना प्रशमभाव है।

संवेग परमोत्साहो धर्मे धर्मफले चितः।
सधर्मस्वनुरागो वा प्रीतिर्वा परमेष्ठिषु ॥४३१॥२१॥

धर्म में और धर्म के फल में आत्मा का परम उत्साह होना अथवा समान धर्म वालों में अनुराग का होना या परमेष्ठियों में प्रीति का होना संवेग है।

अनुकम्पा कृपा ज्ञेया सर्वसत्वेष्वनुग्रहः ।
मैत्रीभावोऽथ माध्यस्थ्यं नैशल्यं वैर वर्जनात् ।।४३२।।२२।।

अनुकम्पा का अर्थ कृपा है या सब जीवों पर अनुग्रह करना अनुकम्पा है या मैत्री भाव का नाम अनुकम्पा है या मध्यस्थभाव का रखना अनुकम्पा है या शत्रुता का त्याग कर देने से निःशल्य हो जाना अनुकम्पा है ।

आस्तिक्यं तत्वसद्भावे स्वतः सिद्धे विनिश्चितिः ।
धर्मे हेतौ च धर्मस्य फले चास्त्यादिमतिश्चितः ।।४५२।।पंचाध्यायीउ०।।२३।।

स्वतः सिद्ध तत्त्वों के सद्भाव में निश्चय भाव रखना तथा धर्म, धर्म के हेतु और धर्म के फल में आत्मा की अस्ति आदि रूप बुद्धि का होना आस्तिक्य है । उपर्युक्त प्रशमादिगुणों के अतिरिक्त सम्यग्दर्शन के आठ गुण और भी प्रसिद्ध हैं । जैसा कि निम्नलिखित गाथा से स्पष्ट है—

संवेओ णिव्वेओ णिंदा गरुहा च उवसमो भत्ती ।
वच्छल्लं अणुकंपा अट्ठ गुणा हुंति सम्मत्ते ।। (वसु०श्रावकाचार) ।।२५।।

संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकंपा ये सम्यक्त्व के आठ गुण हैं ।

वास्तव में ये आठ गुण उपर्युक्त प्रशमादि चार गुणों के अतिरिक्त नहीं हैं, क्योंकि संवेग, उपशम और अनुकंपा ये तीन गुण तो प्रशमादि चार गुणों में नामोक्त ही हैं । निर्वेद, संवेग का पर्यायवाची है । तथा भक्ति और वात्सल्य संवेग के अभिव्यंजक होने से उसमें गतार्थ हैं तथा निन्दा और गर्हा उपशम (प्रशम) के अभिव्यंजक होने से उसमें गतार्थ हो जाते हैं ।

प्रश्न :—सम्यग्दर्शन और स्वानुभूति क्या है ?

उत्तर :—सम्यग्दर्शन और स्वानुभूति—सम्यग्दर्शन दर्शन मोहनीय का त्रिक और अनन्तानुबन्धी का चतुष्क इन सात प्रकृतियों के अभाव (अनुदय) में प्रगट होने वाला श्रद्धागुण का परिणमन है और स्वानुभूति स्वानुभूत्यावरणनामक मतिज्ञानावरण के अवान्तर भेद के क्षयोपशम से होने वाला क्षायोपशमिक ज्ञान है । ये दोनों सहभावी हैं । इसलिए कितने ही लोग स्वानुभूति को ही सम्यग्दर्शन कहने लगते हैं, पर वस्तुतः ऐसी बात नहीं है । दोनों ही पृथक्-पृथक् गुण हैं । छद्मस्थ का ज्ञान लब्धि और उपयोग रूप होता है; अर्थात्

उसका ज्ञान कभी तो आत्मा के विषय में ही उपयुक्त होता है और कभी संसार के अन्य घट-पटादि पदार्थों में भी उपयुक्त होता है। अतः सम्यग्दर्शन और उपयोगात्मक स्वानुभूति की विषय व्याप्ति है। जहाँ स्वानुभूति होती है, वहाँ सम्यग्दर्शन अवश्य होता है, पर जहाँ सम्यग्दर्शन होता है, वहाँ स्वानुभूति भी होती है और घट-पटादि अन्य पदार्थों की भी अनुभूति होती है। इतना अवश्य है कि लब्धि रूप स्वानुभूति सम्यग्दर्शन के साथ नियम से रहती है। यहाँ यह भी ध्यान में रखने योग्य है कि जीव को ज्ञान तो उसके क्षयोपशम के अनुसार स्व और पर की भूत, भविष्यत, वर्तमान की अनेक पर्यायों का हो सकता है, परन्तु उसे अनुभव उसकी वर्तमान पर्याय मात्र का ही होता है।

सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्ममस्ति वाचामगोचरम्।
तस्माद् वक्तुम् च श्रोतुं च नाधिकारी विधि क्रमात् ॥४००॥

पंचाध्यायी उ० ॥२६॥

सम्यक्त्वं वस्तुतः स्पष्टं केवलज्ञान गोचरम्।
गोचरं स्वावधिस्वमनः पर्यय ज्ञानयोर्द्वयोः ॥३७५॥ २७॥

वस्तुतः सम्यग्दर्शन सूक्ष्म है और वचनों का अविषय है; इसलिये कोई भी जीव विधि रूप से उसके कहने और सुनने का अधिकारी नहीं है अर्थात् यह कहने और सुनने को समर्थ नहीं है कि यह सम्यग्दृष्टि है अथवा इसे सम्यग्दर्शन है। किन्तु ज्ञान के माध्यम से ही उसकी सिद्धि होती है। यहाँ ज्ञान से स्वानुभूति रूप ज्ञान विवक्षित है। जिस जीव के यह स्वानुभूति होती है, उसे सम्यग्दर्शन अवश्य होता है, क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना स्वानुभूति नहीं होती है। प्रश्न उठता है कि जिस समय सम्यग्दृष्टि जीव विषयभोग या युद्धादि कार्यों में संलग्न होता है, उस समय उसका सम्यग्दर्शन कहां रहता है? उत्तर यह है कि उसका सम्यग्दर्शन उसी में रहता है, परन्तु उस काल में उसका ज्ञानोपयोग स्वात्मा में उपयुक्त न होकर अन्य पदार्थों में उपयुक्त हो रहा है। इसलिये ऐसा जान पड़ता है कि इसका सम्यग्दर्शन नष्ट हो गया है, पर वास्तविकता यह है कि उस अवस्था में भी सम्यग्दर्शन विद्यमान रहता है। लब्धि और उपयोग रूप परिणमन ज्ञान का है, सम्यग्दर्शन का नहीं। सम्यग्दर्शन तो सदा जागरूक ही रहता है।

प्रश्न :—सम्यग्दर्शन को घातने वाली प्रकृतियों अन्तर्दशा कौन हैं ?

उत्तर :—सम्यग्दर्शन को घातने वाली प्रकृतियों की अन्तर्दशा :—मुख्य रूप से सम्यग्दर्शन को घातने वाली दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियाँ हैं—मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति। इनमें मिथ्यात्व का अनुभाव सबसे अधिक है, उसके अनन्तवें भाग सम्यङ्मिथ्यात्व का है और उसके अनन्तवें भाग सम्यक्त्व प्रकृति का है। इनमें सम्यक्त्व प्रकृति देशघाती है। इसके उदय से सम्यग्दर्शन का घात तो नहीं होता, किन्तु चल, मलिन और अगाढ़ दोष लगते हैं। 'यह अरहन्तादिक मेरे हैं, ये दूसरे के हैं; इत्यादि भाव होने को चल दोष कहते हैं—शंकादि दोषों का लगना मल दोष है और शान्तिनाथ शान्ति के कर्त्ता हैं—इत्यादि भाव का होना अगाढ़ दोष है। ये उदाहरण व्यवहार मात्र हैं, नियम रूप नहीं। परमार्थ से सम्यक्त्व प्रकृति के उदय में कौनसे दोष लगते हैं, उन दोषों के समय आत्मा में कैसे भाव होते हैं, यह प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय है। इतना नियम रूप जानना चाहिये कि सम्यक्त्व प्रकृति के उदय में सम्यग्दर्शन निर्मल नहीं रहता। क्षायोपक्षमिक या वेदक सम्यग्दर्शन में इस प्रकृति का उदय रहता है।

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन को धारण करने वाला कर्मभूमिज मनुष्य जब क्षायिक सम्यग्दर्शन के सम्मुख होता है, तब वह तीन करण करके मिथ्यात्व के परमाणुओं के सम्यङ्मिथ्यात्व रूप या सम्यक्त्व प्रकृति रूप परिणमाता है। उसके बाद सम्यङ्मिथ्यात्व के परमाणुओं को सम्यक्त्व प्रकृति रूप परिणमाता है, पश्चात् सम्यक्त्व प्रकृति के निषेक उदय में आकर खिरते हैं। यदि उसकी स्थिति आदि अधिक हों तो उन्हें स्थितिकाण्डादि घात के द्वारा घटाता है। जब उसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त की रह जाती है, तब कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि कहलाता है, पश्चात् क्रम से इन निषेकों का नाश कर क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है। अनन्तानुबन्धी का प्रदेश क्षय नहीं होता, किन्तु अप्रत्याख्यानावरणादि रूप करके उसकी सत्ता का नाश करता है। इस प्रकार इन सात प्रकृतियों को सर्वथा नष्ट कर क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है।

सम्यक्त्व होते समय अनन्तानुबन्धी की दो अवस्थाएँ होती हैं—या तो अप्रशस्त उपशम होता है या विसंयोजन होता है। जो अपूर्वादि करण करने पर

उपशम विधान से उपशम होता है, उसे प्रशस्त उपशम कहते हैं। और जो उदय का अभाव है, उसे अप्रशस्त उपशम कहते हैं। इनमें अनन्तानुबन्धी का तो प्रशस्त उपशम होता नहीं है, मोह की अन्य प्रकृतियों का होता है इसका अप्रशस्त उपशम होता है। तीन करण कर अनन्तानुबन्धी के परमाणुओं को जो अन्य चारित्र मोहनीय की प्रकृति रूप परिणमाया जाता है, उसे विसंयोजन कहते हैं। प्रथमोपशम सम्यक्त्व में अनन्तानुबन्धी का अप्रशस्त उपशम ही होता है। द्वितीयोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति में अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना नियम से होती है, ऐसा किन्हीं आचार्यों का मत है और किन्ही आचार्यों का मत है कि विसंयोजना का नियम नहीं है। क्षायिक सम्यक्त्व में नियम पूर्वक विसंयोजना होती है। जिस उपशम और क्षायोपशम सम्यग्दृष्टि के विसंयोजना के द्वारा अनन्तानुबन्धी की सत्ता का नाश होता है, वह सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट होकर मिथ्यात्व में आने पर अनन्तानुबन्धी का जब नवीन बन्ध करता है' तभी उसकी सत्ता होती है।

यहाँ कोई प्रश्न कर सकता है कि जब अनन्तानुबन्धी चारित्र मोहनीय की प्रकृति है, तब उसके द्वारा चारित्र का ही घात होना चाहिये, सम्यग्दर्शन का घात उसके द्वारा क्यों होता है? इसका उत्तर यह है कि अनन्तानुबन्धी के उदय से क्रोधादिक रूप परिणाम होते हैं, अतत्त्व श्रद्धान नहीं होता, इसलिये परमार्थ से अनन्तानुबन्धी के उदय में होने वाले क्रोधादिक के काल में सम्यग्दर्शन नहीं होता, इसलिये उपचार से उसे भी सम्यग्दर्शन का घातक कहा है। जैसे असपना का घातक तो स्थावर नाम कर्म का उदय है, परन्तु जिसके एकेन्द्रिय जातिनाम कर्म का उदय होता है, उसके त्रसपना नहीं हो सकता, इसलिये उपचार से एकेन्द्रिय जातिनाम कर्म को त्रसपना का घातक कहा जाता है। इसी दृष्टि से कहीं अनन्तानुबन्धी में दो प्रकार की शक्तियाँ मान ली गई हैं—चारित्र को घातने की और सम्यग्दर्शन को घातने की।

प्रश्न :—यदि अनन्तानुबन्धी चारित्र मोहनीय की प्रकृति है, तो उसके उदय का अभाव होने पर असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में भी कुछ चारित्र होना चाहिये, उसे असंयत क्यों कहा जाता है?

उत्तर :—अनन्तानुबन्धी आदि भेद कषाय की तीव्रता या मन्दता की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि मिथ्यादृष्टि के तीव्र या मन्द कषाय के होते हुए अनन्तानुबंधी आदि

चारों कषायों का उदय युगपत् रहता है। मिथ्यादृष्टि के कषाय का इतना मन्द उदय हो सकता है कि उस काल में शुक्ल लेश्या हो जावे और असंयत सम्यग्दृष्टि के इतनी तीव्र कषाय हो सकती है कि इस काल में कृष्ण लेश्या हो जावे जिसका अनन्त अर्थात् मिथ्यात्व के साथ अनुबन्ध-गठबन्धन हो, वह अनन्तानुबन्धी है। जो एकदेश चारित्र का घात करे, वह अप्रत्याख्यानावरण है, जो सकल चारित्र का घात करे, वह प्रत्याख्यानावरण है और जो यथाख्यात चारित्र का घात करे, वह संज्वलन है। असंयत सम्यग्दृष्टि के अनन्तानुबन्धी का अभाव होने से यद्यपि कषाय की मन्दता होती है, परन्तु ऐसी मन्दता नहीं होती। जिससे चारित्र नाम प्राप्त कर सके। कषाय के असंख्यात लोक प्रमाण स्थान हैं; उनमें सर्वत्र पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर मन्दता पायी जाती है, परन्तु उन स्थानों में व्यवहार की अपेक्षा तीन मर्यादाएँ की गई हैं—१. प्रारम्भ से लेकर चतुर्थ गुणस्थान तक के कषाय स्थान असंयम नाम से, २. पञ्चम गुणस्थान के कषाय स्थान देशचारित्र के नाम से और ३. षष्ठम गुणस्थानों के कषाय स्थान सकल चारित्र के नाम से कहे जाते हैं।

प्रश्न :—सम्यग्दर्शन की महीमा क्या है ?

उत्तर :—सम्यग्दर्शन की महीमा— सम्यग्दर्शन की महिमा बतलाते हुए समन्तभद्र स्वामी ने कहा है—रत्नकरण्ड श्रावकाचार ३१-४१ तक कि

ज्ञान और चारित्र की अपेक्षा सम्यग्दर्शन श्रेष्ठता को प्राप्त होता है, इसलिये मोक्ष मार्ग में उसे कर्णधार—खेवटिया कहते हैं।

जिस प्रकार बीज के अभाव में वृक्ष की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फल की प्राप्ति नहीं होती, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के अभाव में सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फल की प्राप्ति नहीं होती।

'निर्मोह—मिथ्यात्व से रहित—सम्यग्दृष्टि गृहस्थ जो मोक्षमार्ग में स्थित है, परन्तु मोहवान्—मिथ्यादृष्टि मुनि मोक्षमार्ग में स्थित नहीं है। मोही मुनि की अपेक्षा मोह रहित गृहस्थ श्रेष्ठ है।

तीनों कालों और तीनों लोकों में सम्यग्दर्शन के समान अन्य कोई वस्तु देह धारियों के लिये कल्याण रूप और मिथ्यात्व के समान अकल्याण रूप नहीं है।

"सम्यग्दर्शन से शुद्ध मनुष्य व्रत रहित होने पर भी नरक और तिर्यञ्च गति, नपुंसक और स्त्री पर्याय, नीच कुल, विकलाङ्गता, अल्पायु और दरिद्रता को प्राप्त नहीं होते ।"

दुर्गतावायुषो बन्धे सम्यक्त्वं यस्य जायते ।
मतिच्छेदो न तस्यास्ति तथाप्यल्पतरा स्थितिः ।।२८।।

यदि सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के पहले किसी मनुष्य ने नरक आयु का बन्ध कर लिया है, तो वह पहले नरक से नीचे नहीं जाता है । यदि तिर्यञ्च और मनुष्य का बन्ध कर लिया है, तो भोग भूमि का तिर्यञ्च और मनुष्य होता है और यदि देवायु का बन्ध किया है, तो वैमानिक देव ही होता है, भवनत्रिकों में उत्पन्न नहीं होता । सम्यग्दर्शन के काल में यदि तिर्यञ्च और मनुष्य का आयु बन्ध होता है, तो नियम से देवायु का ही बन्ध होता है और नारकी तथा देव के नियम से मनुष्यायु का ही बन्ध होता है ।

हेट्ठिमछप्पुढवीणं जोइसिवण भवण सव्वइत्थीणं ।
पुण्णिदरे णहि सम्भो ण सासणो णारयापुण्णे ।।१२७।।जी.का.२९।।

सम्यग्दृष्टि जीव किसी भी गति की स्त्री पर्याय को प्राप्त नहीं होता, मनुष्य और तिर्यञ्च गति में नपुंसक भी नहीं होता ।

सम्यग्दर्शन से पवित्र मनुष्य, ओज, तेज, वीर्य, यश, वृद्धि, विजय और वैभव से सहित उच्च कुलीन, महान अर्थ से सहित श्रेष्ठ मनुष्य होते हैं ।

सम्यग्दृष्टि मनुष्य यदि स्वर्ग जाते हैं, तो वहाँ अणिमा आदि आठ गुण की पुष्टि से संतुष्ट तथा सातिशय शोभा से युक्त होते हुए देवाङ्गनाओं के समूह चिर काल तक क्रीड़ा करते हैं ।

सम्यग्दृष्टि जीव स्वर्ग से आकर नौ निधि और चौदह रत्नों के स्वामी समस्त भूमि के अधिपति तथा मुकुटबद्ध राजाओं के द्वारा वन्दित चरण होते हुए सुदर्शन चक्र को वर्तने में समर्थ होते हैं—चक्रवर्ती होते हैं ।

"सम्यग्दर्शन के द्वारा पदार्थों का ठीक-ठीक निश्चय करने वाले पुरुष असुरेन्द्र, नरेन्द्र तथा मुनीन्द्रों के द्वारा स्तुतचरण होते हुए लोक के शरण्य तीर्थंकर होते हैं ।

सम्यग्दृष्टि जीव अन्त में उस मोक्ष को प्राप्त होते हैं, जो जरा से रहित है, रोग रहित है, जहाँ सुख और विद्या का वैभव चरम सीमा को प्राप्त है तथा जो कर्म मल से रहित है ।

जिनेन्द्र भगवान में भक्ति रखने वाला—सम्यग्दृष्टि भव्य मनुष्य, अपरिमित महिमा से युक्त इन्द्र समूह की महिमा को, राजाओं के मस्तक से पूजनीय चक्रवर्ती के चक्ररत्न को और समस्त लोक को नीचा करने वाले धर्मेन्द्र चक्र-तीर्थंकर के धर्मचक्र को प्राप्त कर निर्वाण को प्राप्त होता है ।

प्रश्न :—सम्यग्दर्शन और अनेकान्त क्या हैं ?

उत्तर :—सम्यग्दर्शन और अनेकान्त :—पदार्थ द्रव्य पर्यायात्मक हैं । अतः उसका निरूपण करने के लिए आचार्यों ने द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय इन दो नयों को स्वीकृत किया है । द्रव्यार्थिक नय मुख्य रूप से द्रव्य का निरूपण करता है और पर्यायार्थिक नय मुख्य रूप से पर्याय को विषय करता है । अध्यात्मप्रधान ग्रंथों के निश्चयनय और व्यवहारनय की चर्चा आती है । निश्चय नय गुण-गुणी के भेद से रहित तथा पर के संयोग से शून्य शुद्ध वस्तुतत्त्व को ग्रहण करता है और व्यवहार नय, गुण-गुणी के भेद रूप तथा पर के संयोग से उत्पन्न अशुद्धता से युक्त वस्तु तत्त्व का प्रतिपादन करता है । द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक तथा निश्चय और व्यवहार नय के विषय परस्पर विरोधी हैं । द्रव्यार्थिक नय पदार्थ को नित्य तथा एक कहता है, तो पर्यायार्थिक अनित्य तथा अनेक कहता है । निश्चयनय आत्मा को शुद्ध तथा अभेदरूप वर्णन करता है, तो व्यवहार नय अशुद्ध तथा भेद रूप बतलाता है । नयों के इस विरोध को दूर करने वाला अनेकान्त है । विवक्षावश परस्पर विरोधी धर्मों को गौण मुख्य रूप से जो ग्रहण करता है, उसे अनेकान्त कहते हैं । सम्यग्दृष्टि मनुष्य इसी अनेकान्त का आश्रय लेकर वस्तु स्वरूप को समझता है और पात्र की योग्यता देखकर दूसरों को समझाता है । सम्यग्दर्शन के होते ही इस जीव की एकान्त दृष्टि समाप्त हो जाती है । क्योंकि निश्चय और व्यवहार के वास्तविक स्वरूप को समझकर दोनों नयों के विषय में मध्यस्थता को ग्रहण करने वाला मनुष्य ही जिनागम में प्रतिपादित वस्तु स्वरूप को अच्छी तरह समझ सकता है । सम्यग्दृष्टि जीव

निश्चयाभास, व्यवहाराभास और उभयाभास को समझकर उन्हें छोड़ता है तथा वास्तविक वस्तु स्वरूप को ग्रहण कर कल्याणपथ में प्रवर्तता है।

प्रश्न :—सम्यग्दृष्टि की अन्तर्दृष्टि कैसी है ?

उत्तर :—सम्यग्दृष्टि की अतर्न्दृष्टि—श्री अमृतचन्द्र स्वामी ने कहा है—"सम्यग्दृष्टि भवति नियतं ज्ञान-वैराग्यशक्तिः" सम्यग्दृष्टि जीव के नियम से ज्ञान और वैराग्य की शक्ति प्रगट हो जाती है, इसलिए वह संसार के कार्य करता हुआ भी अपनी दृष्टि को अन्तर्मुखी रखता है। "मैं अनन्तज्ञान का पुञ्ज, शुद्ध-रागादि के विकार से रहित चेतन द्रव्य हूँ, मुझ में अन्य द्रव्य नहीं है, मैं अन्य आत्मा के अस्तित्व में दिखने वाले रागादिक भाव मेरे स्वभाव नहीं हैं।" इस प्रकार स्वरूप की ओर दृष्टि रखने से सम्यग्दृष्टि जीव, अनन्त संसार के कारणभूत बन्ध से बच जाता है। प्रशम-संवेगादि गुणों के प्रगट हो जाने से उसके कषाय का वेग ईंधन रहित अग्नि के समान उत्तरोत्तर घटता जाता है। यहाँ तक कि बुराई होने पर उसकी कषाय का संस्कार छह महीने से ज्यादा नहीं चलता। यदि छह माह से अधिक कषाय का संस्कार किसी मनुष्य का चलता है, तो उसके अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय है और उसके रहते हुए वह नियम से मिथ्यादृष्टि है।

अंतोमुहुत्त पक्खो छम्मासं संख संख णंतभवं।
संजलणमादियाणं वासणकालो दु णियमेण ।।गो.क.कां.।।

ऐसा समझना चाहिये। सम्यग्दृष्टि जीव अपनी वैराग्य शक्ति के कारण सांसारिक कार्य करता हुआ भी जल में रहने वाले कमलपत्र के समान निर्लिप्त रहता है। वह मिथ्यात्व, अन्याय और अभक्ष्य का त्यागी हो जाता है। भय, आशा, स्नेह या लोभ के वशीभूत होकर कभी भी कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरुओं की उपासना नहीं करता। किसी पर स्वयं आक्रमण नहीं करता। हाँ, किसी के द्वारा अपने ऊपर आक्रमण होने पर आत्मा रक्षा के लिए युद्ध आदि भी करता है। मांस-मदिरा आदि अभक्ष्य पदार्थों का सेवन नहीं करता। तात्पर्य यह है कि सम्यक्दृष्टि की चालढाल ही बदल जाती है।

अध्याय तीसरा : सम्यग्ज्ञान

प्रश्न :—सम्यग्ज्ञान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—मोक्षमार्ग में प्रयोजन भूत जीवाजीवादि सात तत्वों को संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित जानना सम्यग्ज्ञान है। यह सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन के साथ ही होता है—जिस प्रकार मेघपटल के दूर होने पर सूर्य का प्रताप और प्रकाश एक साथ प्रकट हो जाते हैं, उसी प्रकार मिथ्यात्व का आवरण दूर होने पर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक साथ प्रगट हो जाते हैं। यद्यपि ये दोनों एक साथ प्रगट होते हैं, फिर भी दीपक और प्रकाश के समान दोनों में कारण-कार्य भाव है। अर्थात् सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य है।

यहाँ प्रश्न उठता है, कि जब पदार्थ का सम्यग्ज्ञान होगा तभी तो श्रद्धा सम्यक् होकर सम्यग्दर्शन हो सकेगा, इसलिए सम्यग्ज्ञान को कारण और सम्यग्दर्शन को कार्य मानना चाहिये ?

उत्तर यह है कि सम्यग्दर्शन होने के पहले इतना ज्ञान तो होता ही है कि जिसके द्वारा तत्त्वस्वरूप का निर्णय किया जा सके, परन्तु उस ज्ञान में सम्यक्पद का व्यवहार तभी होता है, जब सम्यग्दर्शन हो जाता है। पिता और पुत्र साथ-ही-साथ उत्पन्न होते हैं, क्योंकि जब तक पुत्र नहीं हो जाता तब तक उस मनुष्य को पिता नहीं कहा जा सकता, पुत्र के होते ही पिता कहलाने लगता है। पुत्र होने के पहले वह मनुष्य तो था, पर पिता नहीं। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन के होने के पहले ज्ञान तो रहता है, पर उसे सम्यग्ज्ञान नहीं कहा जा सकता। सम्यग्ज्ञान का व्यवहार सम्यग्दर्शन के होने पर ही होता है। जिस प्रकार पिता-पुत्र साथ-साथ होने पर भी पिता कारण कहलाता है और पुत्र कार्य, उसी प्रकार साथ-साथ होने पर भी सम्यग्दर्शन कारण और सम्यग्ज्ञान कार्य कहलाता है।

यह सम्यग्ज्ञान मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल के भेद से पांच प्रकार का है। इनमें मति और श्रुत ज्ञान परोक्ष ज्ञान कहलाते हैं, क्योंकि उनकी उत्पत्ति इन्द्रियादि पर पदार्थों की सहायता से होती है, और अवधि, मनःपर्यय तथा केवल ये तीन प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाते हैं, क्योंकि इनकी उत्पत्ति इन्द्रियादि पर पदार्थों

को सहायता से न होकर स्वतः होती है। इनमें भी अवधि और मनः पर्ययज्ञान एक-देश प्रत्यक्षज्ञान कहलाते हैं, क्योंकि सीमित क्षेत्र और सीमित पदार्थों को ही जानते हैं। परन्तु केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष कहलाता है, क्योंकि वह लोकालोक के समस्त पदार्थों को स्पष्ट जानता है।

प्रश्न :—मतिज्ञान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—मतिज्ञान—जो पाँच इन्द्रियों और मन की सहायता से पदार्थ को जानता है, वह मतिज्ञान कहलाता है। इसके मूल में अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद होते हैं। ये चार भेद बहु आदि बारह प्रकार के पदार्थों के होते हैं, इसलिये बारह में चार का गुणा करने पर अड़तालीस भेद होते हैं। ये अड़तालीस भेद पांच इन्द्रियों और मन के द्वारा होते हैं। इसलिए अड़तालीस में छह का गुणा करने पर दो सौ अठासी भेद होते हैं। अवग्रह के व्यञ्जनावग्रह और अर्थावग्रह इस प्रकार दो भेद हैं। व्यञ्जनावग्रह अस्पष्ट पदार्थों का अवग्रह चक्षु और मन से नहीं होता, इसलिए बहु आदि बारह पदार्थों में चार का गुणा करने पर उनके अड़तालीस भेद होते हैं। अर्थावग्रह के बहत्तर भेद दो सौ अठासी में व्यंजनावग्रह के अड़तालीस भेद जोड़ देने से मतिज्ञान के कुल भेद ३३६ होते हैं। मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध—आदि मतिज्ञान के ही विशिष्ट रूपान्तर हैं।

धवला पुस्तक १३, पृष्ट २४०—२४१ पर मतिज्ञान के उत्तर भेदों की चर्चा करते हुए कहा गया है—

'तं जहा ४, २४, २८, ३२ एदे पुव्वुप्पाइदे भंगे दोसु ट्ठाणेसु ट्ठविय छहि बारसेहि य गुणिएय पुणरुत्तभवणिय परिवाडीए ट्ठइदे सुत्तपरूविदभंगपमाणं होदि। तं च एदं—४, २४, २८, ३२, ४८, १४४, १६८, १९२, २८८, ३३६, ३८४। जत्तिया मदिणाणवियप्पा तत्तिया चेव आभिणिबोहियणाणावरणीयस्स पयडिवियप्पा त्ति वत्तव्वं।

इसका भावार्थ विशेषार्थ में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—यहाँ मतिज्ञान के अवान्तर भेदों का विस्तार के साथ विवेचन किया गया है। मूल में अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद हैं। इन्हें पांच इन्द्रिय और मन से गुणित करने पर २४ भेद होते हैं। इनमें व्यञ्जनावग्रह के ४ भेद मिलाने पर २८ भेद होते हैं। ये २८ उत्तर भेद हैं, इसलिये इनमें अवग्रह आदि ४ मूल भंग मिलाने पर ३२ भेद होते

हैं। ये तो इन्द्रियों और अवग्रह आदि की अलग-अलग विवक्षा से भेद हुए। अब जो बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुक्त और ध्रुव ऐसे ६ प्रकार के पदार्थ तथा इनके प्रतिपक्षभूत छ इतर पदार्थों को मिलाकर बारह प्रकार के पदार्थ बतलाये हैं, उनसे अलग उक्त विकल्पों को गुणित किया जाता है, जो सूत्रोक्त मतिज्ञान के सभी विकल्प उत्पन्न होते हैं। यथा—४×६=२४, २४×६=१४४, २६×६=१५६, ४×१२=४८, २४×१२=२८८, २८×१२=३३६ ३२×१२=३८४।

उक्त सन्दर्भानुसार विवक्षावश मतिज्ञान के ३८४ भेद भी होते हैं। धवला के इसी संदर्भ में अवग्रह के अवग्रह, अवधान, सान, अवलम्बना और मेधा। ईहा के—ईहा, ऊहा, अपोहा, मार्गणा, गवेषणा और मीमांसा, अवाय के – अवाय, व्यवसाय, बुद्धि, विज्ञप्ति, आमुण्डा और प्रत्यामुण्डा तथा धारणा के – धरणी, धारणा, स्थापना, कोष्ठा और प्रतिष्ठा ये एकार्थक पर्यायवाची नाम दिये हैं। इनका शब्दार्थ धवला से ही ज्ञात करना चाहिये।

प्रश्न :—श्रुतज्ञान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—श्रुतज्ञान—मतिज्ञान के बाद अस्पष्ट अर्थ की तर्कणाको लिये हुये हुए जो ज्ञान होता है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं, यह श्रुतज्ञान पर्याय, पर्याय समास आदि बीस भेदों में क्रम से वृद्धि को प्राप्त होता है। दुसरी शैली से श्रुतज्ञान के अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट की अपेक्षा दो भेद होते हैं। इनमें अंगबाह्य के अनेक भेद हैं और अंगप्रविष्ट के १. आचारांग, २. सूत्र कृतांग, ३. स्थानांग, ४. समवायांग, ५. व्याख्या-प्रज्ञप्ति अंग, ६. धर्मकथांग, ७. उपासकाध्ययनांग, ८. अन्तकृद्दशांग, ९. अनुत्तरौपपादिक दशांग, १०. प्रश्न व्याकरणांग, ११. विपाक सूत्रांग और १२. दृष्टिवादांग ये बारह भेद हैं। इनमें बारहवें दृष्टिवाद अंग के १. परिकर्म, २. सूत्र, ३. प्रथमानुयोग, ४. पूर्वगत और ५. चूलिका इस प्रकार पांच भेद हैं। परिकर्म के १. चन्द्र प्रज्ञप्ति, २. सूर्य प्रज्ञप्ति, ३. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, ४. द्वीपसागर प्रज्ञप्ति और ५. व्याख्याप्रज्ञप्ति इस प्रकार पांच भेद हैं। पूर्वगत के १. उत्पाद पूर्व २. अग्रायणी पूर्व, ३. वीर्यानुवाद पूर्व ४. अस्तिनास्ति पूर्व, ५. ज्ञानप्रवाद पूर्व, ६. सत्यप्रवादपूर्व, ७. आत्मप्रवाद पूर्व, ८. कर्मप्रवाद पूर्व, ९. प्रत्याख्यान पूर्व, १० विद्यानुवाद पूर्व, ११. कल्याणवाद पूर्व, १२. प्राणवाद पूर्व, १३. क्रियाविशाल पूर्व और १४. त्रिलोक बिन्दुसार ये चौदह भेद हैं। चूलिका के १. जलगता, २. स्थलगता, ३. मायागता, ४. आकाशगता

और ५. रूपगता इस प्रकार पाँच भेद है। सूत्र और प्रथमानुयोग के एक-एक ही भेद हैं। अंगबाह्य के १. सामायिक, २. चतुर्विंशतिस्तव, ३. वन्दना, ४. प्रतिक्रमण, ५. वैनयिक, ६. कृतिकर्म, दशवैकालिक, ८. उत्तराध्ययन, ९. कल्पव्यवहार, १०. कल्पाकल्प, ११. महाकल्प, १२. पुण्डरीक, १३. महापुण्डरीक और १४. निषिद्धक ये चौदह भेद हैं।

इन सबके वर्णनीय विषय तथा पद आदि की संख्या के लिये जीवकाण्ड की श्रुतज्ञान मार्गणा देखना चाहिये।

यह श्रुतज्ञान स्वार्थ और पदार्थ की अपेक्षा दो प्रकार का है। उनमें परार्थ श्रुतज्ञान द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक, नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूतनय, अर्थनय, शब्दनय, निश्चयनय तथा व्यवहारनय आदि भेदों को लिये हुए अनेक नय रूप है।

समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में सम्यग्ज्ञान का अधिक विस्तार न कर मात्र श्रुतज्ञान को मुख्यता देते हुए समस्त शास्त्रों को १. प्रथमानुयोग, २. करणानुयोग, ३. चरणानुयोग और ४. द्रव्यानुयोग के भेद से चार अनुयोगों में विभक्त किया है। मनुष्य इन चार अनुयोगों का अभ्यास कर अपने श्रुतज्ञान रूप सम्यग्ज्ञान को पुष्ट कर सकता है। अवधिज्ञान, मनः पर्ययज्ञान और केवलज्ञान तो तत्तत् आवरणों का अभाव होने पर स्वयं प्रगट हो जाते हैं, उनमें मनुष्य का पुरुषार्थ नहीं चलता है, सिर्फ अनुयोगात्मक श्रुतज्ञान में पुरुषार्थ चलता है। अतः आलस्य छोड़कर चारों अनुयोगों का अभ्यास करना चाहिये।

प्रश्न :—अवधिज्ञान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—अवधिज्ञान—परपदार्थों की सहायता के बिना द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा को लिये हुए रूपी पदार्थों को जो स्पष्ट जाने उसे अवधिज्ञान कहते हैं। यह अवधिज्ञान, भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय के भेद से दो प्रकार का होता है। भवप्रत्यय नाम का अवधिज्ञान देव और नारकियों के होता है, मनुष्यों में तीर्थंकरों के भी होता है। सर्वांग से होता है। गुण प्रत्यय अवधिज्ञान पर्याप्त मनुष्य संज्ञी और पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक तिर्यञ्चों के होता है। यह नाभि के ऊपर स्थित शंखादि चिह्नों से होता है। इसके अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित इस प्रकार छः भेद होते हैं। इनकी परिभाषाएँ नामों से स्पष्ट हैं। भवप्रत्यय और

गुणप्रत्यय—दोनों ही अवधिज्ञानों में अन्तरंग कारण अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम है। इनके सिवाय अवधिज्ञान के देशावधि, परमावधि और सर्वावधि ये तीन भेद और होते हैं। ऊपर कहा हुआ भवप्रत्यय अवधिज्ञान देशावधि के अन्तर्गत होता है। देशावधि चारों गतियों में हो सकता है, परन्तु परमावधि और सर्वावधि चरम शरीरी मुनियों के ही होते हैं। देशावधिज्ञान प्रतिपाती है, शेष दो ज्ञान अप्रतिपाती हैं। इन्हें धारण करने वाले मुनि मिथ्यात्व और असंयम अवस्था को प्राप्त नहीं होते। इन तीनों अवधिज्ञानों का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट विषय आगम से जानना चाहिये। गुणप्रत्यय का दूसरा नाम क्षयोपशम निमित्तक भी है।

मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान यदि सम्यग्दर्शन के साथ होते हैं, तो सम्यग्ज्ञान कहलाते हैं।

प्रश्न :—मनः पर्ययज्ञान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—मनः पर्ययज्ञान—इन्द्रियादिक की सहायता के बिना दूसरे के मन में स्थित रूपी पदार्थों को जो द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा लिये हुए स्पष्ट जानता है, उसे मनःपर्ययज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान मुनियों के ही होता है, गृहस्थों के नहीं इसके दो भेद हैं—एक ऋजुमति और विपुलमति। ऋजुमति, सरल मन-वचन-काय से चिन्तित, पर के मन में स्थित, रूपी पदार्थ को जानता है और विपुलमति सरल तथा कुटिल रूप मन-वचन-काय से चिन्तित पर के मन में स्थित रूपी पदार्थ को जानता है। ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति में विशुद्धि अधिक होती है। ऋजुमति सामान्य मुनियों को भी हो जाता है, परन्तु विपुलमति उन्हीं मुनियों के होता है, जो उपरितन गुणस्थानों से गिर कर नीचे नहीं आते। तथा तद्भव मोक्षगामी होते हैं। इसके दोनों भेदों का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट विषय आगम ग्रन्थों से जानना चाहिये। मनःपर्ययज्ञान ईहा-मतिज्ञानपूर्वक होता है। इसका अन्तरंग कारण मनःपर्ययज्ञान का क्षयोपशम है।

प्रश्न :—केवलज्ञान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—केवलज्ञान—जो बाह्य पदार्थों की सहायता के बिना लोकालोक के समस्त पदार्थों को उनकी त्रिकाल सम्बन्धी अनन्त पर्यायों के साथ स्पष्ट जानता है, उसे केवलज्ञान कहते हैं। इसकी उत्पत्ति मोहनीय तथा शेष तीन घातिया कर्मों के

क्षय होने पर तेरहवें गुणस्थान में होती है। यह क्षायिक ज्ञान कहलाता है और तद्भव मोक्षगामी मनुष्यों के ही होता है। इसे सकल प्रत्यक्ष भी कहते है। यह ज्ञान-गुण की सर्वोत्कृष्ट पर्याय है तथा सादि अनन्त है, इसे प्राप्त कर मनुष्य देशोनकोटि वर्ष पूर्व के भीतर नियम से मोक्ष चला जाता है। यह ज्ञान इच्छा के बिना ही पदार्थों को जानता है।

अप्पा झायव्वो णिच्चं णाऊणं गुरुपसाएण
गुरु के प्रसाद से आत्मा को जानकर नित्य उसका ध्यान करना चाहिए।

—मोक्ष पाहुड, गाथा ६४

परदव्वादो दुग्गई सद्दव्वादो सुग्गई।
पर द्रव्य के आश्रय से दुर्गति (चतुर्गति) तथा स्व द्रव्य से सुगति (मोक्ष) होती है।

—मोक्ष पाहुड, गाथा १६

सगदव्वमुवादेयं।
अपना आत्मा उपादेय है।

—नियमसार, गाथा ५०

अप्पा सपरपयासो होदि
आत्मा स्व-पर प्रकाशक होता है।

—नियमसार, गाथा १३१

सम्मं मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झ ण केणइ।
सभी जीवों के प्रति मेरी समता है, मेरा किसी से वैर नहीं है।

—नियमसार, गाथा १०४

अध्याय : चौथा ✠ प्रमाण-नय

प्रश्न :—प्रमाण और नय का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—प्रमाण और नय—तत्त्वार्थ सूत्रकार ने जीवाजीवादि तत्त्वों तथा सम्यग्दर्शनादि गुणों के जानने के उपायों की चर्चा करते हुए 'प्रमाण नयैरधिगमः' इस सूत्र द्वारा प्रमाण और नयों का उल्लेख किया है। जो वस्तु में रहने वाले अस्ति-नास्ति, एक-अनेक, भेद-अभेद आदि समस्त धर्मों को एक साथ ग्रहण करता है, उसे प्रमाण कहते हैं और जो उपर्युक्त धर्मों को गौण-मुख्य करता हुआ क्रम से ग्रहण करता है, उसे नय कहते हैं। प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष की अपेक्षा दो भेद हैं। प्रत्यक्ष भी सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और परमार्थिक प्रत्यक्ष के भेद से दो प्रकार का है। अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान ये दो ज्ञान एकदेश प्रत्यक्ष कहलाते हैं और केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष कहलाता है। उपरोक्त सर्व प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

प्रश्न :—परोक्षप्रमाण के कितने भेद हैं ?

उत्तर :—परोक्षप्रमाण के पांच भेद होते हैं। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम।

प्रश्न :—स्मृति किसको कहते हैं ?

उत्तर :—पहले ज्ञात या दृष्ट पदार्थ के याद (स्मरण) को स्मृतिज्ञान कहते हैं।

प्रश्न :—प्रत्यभिज्ञान किसको कहते हैं ?

उत्तर :—स्मृति और प्रत्यक्ष के विषयभूत पदार्थों के जोड़रूप ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे यह वही मनुष्य है, जिसे कल देखा था।

प्रश्न :—प्रत्यभिज्ञान के कितने भेद हैं ?

उत्तर :—एकत्व प्रत्यभिज्ञान, सादृश्य प्रत्यभिज्ञान आदि अनेक भेद हैं।

प्रश्न :—एकत्व प्रत्यभिज्ञान किसको कहते हैं ?

उत्तर :—स्मृति और प्रत्यक्ष के विषय भूत पदार्थ में एकता दिखाते हुये जोडरूप ज्ञान को एकत्व प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे यह वही मनुष्य है, कल देखा था।

प्रश्न :—सादृश्य प्रत्यभिज्ञान किसको कहते हैं ?

उत्तर :—स्मृति और प्रत्यक्ष के विषयभूत पदार्थों में सादृश्य दिखाते हुए जोड़रूप ज्ञान को सादृश्य प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे—यह गौ गवय के (रोझ के) सदृश है।

प्रश्न :—तर्क किसको कहते हैं ?

उत्तर :—व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं।

प्रश्न :—व्याप्ति किसको कहते हैं ?

उत्तर :—अविनाभावसम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं।

प्रश्न :—अविनाभाव सम्बन्ध किसको कहते है ?

उत्तर :—जहाँ-जहाँ साधन (हेतु) होय, वहाँ-वहाँ साध्य का होना और जहाँ-जहाँ साध्य नहीं होय, वहाँ-वहाँ साधन के भी न होने को अविनाभाव सम्बन्ध कहते हैं। जैसे—जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि है और जहाँ-जहाँ अग्नि नहीं है, वहाँ-वहाँ धूम भी नहीं हैं।

प्रश्न :—साधन किसको कहते हैं।

उत्तर :—जो साध्य के बिना नहीं होता। जैसे अग्नि का हेतु (साधन) धूम।

प्रश्न :—साध्य किसको कहते हैं ?

उत्तर :—इष्ट, अबाधित, असिद्ध को साध्य कहते हैं।

प्रश्न :—इष्ट किसको कहते हैं ?

उत्तर :—वादी और प्रतिवादी जिसको सिद्ध करना चाहे, उसे इष्ट कहते हैं।

प्रश्न :—अबाधित किसको कहते हैं ?

उत्तर :—जो दूसरे प्रमाण से बाधित नहीं होता। जैसे—अग्नि का ठंडापन प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है। इस कारण यह ठंडापन साध्य नहीं हो सकता।

प्रश्न :—असिद्ध किसको कहते हैं ?

उत्तर :—जो दूसरे प्रमाण से सिद्ध नहीं होता, उसे असिद्ध कहते हैं अथवा जिसका निश्चय नहीं होता, उसे असिद्ध कहते हैं।

प्रश्न :—अनुमान किसे कहते हैं ?

उत्तर :—साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं।

प्रश्न :—हेत्वाभास (साधनाभास) किसे कहते हैं ?

उत्तर :—सदोष हेतु को हेत्वाभास कहते हैं ।

प्रश्न :—हेत्वाभास के कितने भेद हैं ?

उत्तर :—हेत्वाभास के चार भेद हैं—असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक (व्यभिचारी) और अकिञ्चितकर ।

प्रश्न :—असिद्ध हेत्वाभाव किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस हेतु के अभाव (गैर मौजूदगी) का निश्चय होता है अथवा जिसके सद्भाव में (मौजूदगी में) संदेह (शक) होता है, उसे असिद्ध हेत्वाभास कहते हैं । जैसे "शब्द नित्य है, क्योंकि नेत्र का विषय है ।" परन्तु शब्द कर्ण का विषय है, नेत्र का नहीं हो सकता इस कारण "नेत्र का विषय" यह हेतु असिद्ध हेत्वाभास है ।

प्रश्न :—विरुद्ध हेत्वाभास किसे कहते हैं ?

उत्तर :—साध्य से विरुद्ध पदार्थ के साथ जिसकी व्याप्ति होती है, उसे विरुद्ध हेत्वाभास कहते हैं । जैसे 'शब्द नित्य है, क्योंकि – परिणामी है' इस अनुमान में परिणामी की व्याप्ति अनित्य के साथ है, नित्य के साथ नहीं है । इसलिये नित्यत्व का 'परिणामी हेतु' विरुद्ध हेत्वाभास है ।

प्रश्न :—अनैकान्तिक (व्यभिचारी) हेत्वाभास किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जो हेतु पक्ष, सपक्ष, विपक्ष इन तीनों में व्यापता है, उसको अनैकान्तिक हेत्वाभास कहते हैं । जैसे—इस कोठे में धूम है, क्योंकि इसमें अग्नि है । यहाँ अग्नि हेतु पक्ष, सपक्ष, विपक्ष तीनों में व्याप्त होने से अनैकान्तिक हेत्वाभास है ।

प्रश्न :—पक्ष किसको कहते हैं ।

उत्तर :—जहाँ साध्य के रहने का शक होता है । जैसे ऊपर के दृष्टान्त में कोठा ।

प्रश्न :—सपक्ष किसको कहते हैं ?

उत्तर :—जहाँ साध्य के सद्भाव (मौजूदगी) का निश्चय होता है । जैसे—धूम का सपक्ष गीले (ईंधन) से मिली हुई अग्निवाला रसोई घर ।

प्रश्न :—विपक्ष किसको कहते हैं ?

उत्तर :—जहाँ साध्य के अभाव (गैर मौजूदगी) का निश्चय हो। जैसे—अग्नि से तपा हुवा लोहे का गोला।

प्रश्न :—अकिञ्चित्कर हेत्वाभास किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जो हेतु कुछ भी कार्य (साध्य की सिद्धि) करने में समर्थ नहीं होता।

प्रश्न :—अकिञ्चित्कर हेत्वाभास के कितने भेद हैं ?

उत्तर :—दो हैं—एक सिद्ध साधन, दूसरा बाधित विषय।

प्रश्न :—सिद्ध साधन किसको कहते हैं ?

उत्तर :—जिस हेतु का साध्य सिद्ध हो। जैसे—अग्नि गर्म है, क्योंकि स्पर्शन इन्द्रिय से ऐसा ही प्रतीत होता है।

प्रश्न :—बाधित विषय हेत्वाभास किसको कहते हैं ?

उत्तर :—जिस हेतु के साध्य में दूसरे प्रमाण से बाधा आवे।

प्रश्न :—बाधित विषय हेत्वाभास के कितने भेद हैं ?

उत्तर :—प्रत्यक्ष बाधित, अनुमान बाधित, आगम बाधित, स्ववचन बाधित आदि अनेक भेद हैं।

प्रश्न :—प्रत्यक्ष बाधित किसको कहते हैं ?

उत्तर :—जिस हेतु के साध्य में प्रत्यक्ष से बाधा आती है, जैसे 'अग्नि ठण्डी है, क्योंकि यह द्रव्य है' तो यह हेतु प्रत्यक्ष बाधित है।

प्रश्न :—अनुमान बाधित किसको कहते हैं ?

उत्तर :—जिस हेतु के साध्य में अनुमान से बाधा आती है, जैसे – घास आदि कर्त्ता के बनाये हुवे हैं, क्योंकि ये कार्य हैं। परन्तु इसमें इस अनुमान से बाधा आती है कि घास आदि किसी की बनाई हुई नहीं है, क्योंकि इनका बनाने वाला शरीरधारी है। जो-जो शरीरधारी की बनाई हुई नहीं हैं, वे-वे वस्तुएँ कर्त्ता की बनाई हुई नहीं हैं, जैसे—आकाश।

प्रश्न :—आगम बाधित किसको कहते हैं।

उत्तर :—शास्त्र से जिसका साध्य बाधित होता है, उसे आगम बाधित कहते हैं। जैसे–पाप सुख को देने वाला है, क्योंकि यह कर्म है। जो-जो कर्म होते हैं, वे-वे सुख देने वाले होते हैं, जैसे—पुण्यकर्म। इसमें शास्त्र से बाधा आती है। क्योंकि शास्त्र में पाप को दुःख देने वाला लिखा है।

प्रश्न :—स्व वचन बाधित किसको कहते हैं ?

उत्तर :—जिसके साध्य में अपने वचन से ही बाधा आती है । जैसे—मेरी माता वन्ध्या है, क्योंकि पुरुष का संयोग होने पर भी उसके गर्भ नहीं रहता ।

प्रश्न :—अनुमान के कितने अङ्ग हैं ?

उत्तर :—पांच हैं । प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन ।

प्रश्न :—प्रतिज्ञा किसको कहते हैं ?

उत्तर :—पक्ष और साध्य के कहने को प्रतिज्ञा कहते हैं । जैसे—इस पर्वत में अग्नि है ।

प्रश्न :—हेतु किसको कहते हैं ?

उत्तर—साधन के वचन (कथन) को हेतु कहते हैं । जैसे—क्योंकि यह धूमवान हैं ।

प्रश्न :—उदाहरण किसको कहते हैं ?

उत्तर :—व्याप्तिपूर्वक दृष्टान्त के कहने को उदाहरण कहते हैं । जैसे—जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि है । जैसे—रसोई घर । और जहाँ-जहाँ अग्नि नहीं हैं, वहाँ-वहाँ धूम भी नहीं है । जैसे तालाब ।

प्रश्न :—दृष्टान्त किसको कहते हैं ?

उत्तर :—जहाँ पर साध्य और साधन की मौजूदगी या गैरमौजूदगी दिखाई जाती है । जैसे—रसोई घर अथवा तालाब ।

प्रश्न :—दृष्टान्त के कितने भेद हैं ?

उत्तर :—दो है—एक अन्वय दृष्टान्त, दूसरा व्यतिरेक दृष्टान्त ।

प्रश्न :—अन्वय दृष्टान्त किसको कहते हैं ?

उत्तर :—जहाँ साधन की मौजूदगी में साध्य की मौजूदगी दिखाई जाती है । जैसे—रसोई के घर में धूम का सद्भाव होने पर अग्नि का सद्भाव दिखाया गया ।

प्रश्न :—व्यतिरेक दृष्टान्त किसको कहते हैं ?

उत्तर :—जहां साध्य की गैर मौजूदगी में साधन की गैर मौजूदगी दिखाई जाती है । जैसे—तालाब में धूम ।

प्रश्न :—उपनय किसको कहते हैं ?

उत्तर :—पक्ष और साधन में दृष्टान्त की सदृशता दिखाने को उपनय कहते हैं। जैसे – यह पर्वत भी वैसा ही धूमवान् है।

प्रश्न :—निगमन किसको कहते हैं ?

उत्तर :—नतीजा निकालकर प्रतिज्ञा के दोहराने को निगमन कहते हैं। जैसे—इसलिये यह पर्वत भी अग्निमान है।

प्रश्न :—हेतु के कितने भेद हैं ?

उत्तर :—केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी।

प्रश्न :—केवलान्वयी हेतु किसको कहते हैं ?

उत्तर :—जिस हेतु में सिर्फ अन्वय दृष्टान्त होता है। जैसे—जीव अनेकान्त स्वरूप है, क्योंकि सत्स्वरूप है। जो-जो सत्स्वरूप होता है, वह अनेकान्त स्वरूप होता है। जैसे—पुद्गलादिक।

प्रश्न :—केवलव्यतिरेकी हेतु किसको कहते हैं ?

उत्तर :—जिसमें सिर्फ व्यतिरेक दृष्टान्त पाया जाता है। जैसे—जिन्दे शरीर में आत्मा है। क्योंकि इसमें श्वासोच्छवास है। जहां-जहां आत्मा नहीं होता, वहां-वहां श्वासोच्छवास भी नहीं होता। जैसे – चौकी वगैरह।

प्रश्न :—अन्वय व्यतिरेकी हेतु किसको कहते हैं ?

उत्तर :—जिसमें अन्वय दृष्टान्त और व्यतिरेक दृष्टान्त दोनों होते हैं। जैसे– पर्वत में अग्नि है। क्योंकि इसमें धूम है। जहां-जहां धूम है, वहां-वहां अग्नि होती है। जैसे—रसोई का घर। जहां-जहां अग्नि नहीं होती, वहां-वहां धूम भी नहीं होता। जैसे—तालाब।

प्रश्न :—आगम प्रमाण किसको कहते हैं ?

उत्तर :—आप्त के वचन आदि से उत्पन्न हुए पदार्थ के ज्ञान को आगमप्रमाण कहते हैं।

प्रश्न :—नयके मुख्य रूप से कितने भेद हैं ?

उत्तर :—दो भेद हैं, द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय।

प्रश्न :—द्रव्यार्थिक नय किसको कहते हैं ?

उत्तर :—जो नय द्रव्य अर्थात सामान्य को ग्रहण करता है।

प्रश्न :—द्रव्यार्थिकनय के कितने भेद हैं ?

उत्तर :—तीन हैं—नैगम, संग्रह, व्यवहार ।

प्रश्न :—पर्यायार्थिकनय किसको कहते हैं ? और कितने भेद हैं ?

उत्तर :—जो नय को विशेष (गुण अथवा पर्याय) को विषय करता है । इसके चार भेद हैं, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ।

प्रश्न :—नैगमनय किसको कहते हैं ?

उत्तर :—जो नय अनिष्पन्न अर्थ के संकल्पमात्र को ग्रहण करता है, उसे नैगमनय कहते हैं । जैसे — लकड़ी, पानी आदि सामग्री इकट्ठी करने वाले मनुष्य से कोई पूछता है कि आप क्या कर रहे हो ? तो वह उत्तर देता है कि मैं भात पका रहा हूं । किन्तु उस समय वह भात पकाने की तैयारी कर रहा है, पर उसका संकल्प भात बनाने का है, अतः जो पर्याय अभी निष्पन्न नहीं हुई, उसे वहां निष्पन्न मानकर व्यवहार करता है, यह नैगमनय है ।

प्रश्न :—संग्रहनय किसको कहते हैं ?

उत्तर :—जो नय अपनी जाति का विरोध नहीं करके एकपने से समस्त पदार्थों को ग्रहण करता है, उसे संग्रहनय कहते हैं । जैसे—द्रव्य कहने से समस्त द्रव्यों का, जीव कहने से समस्त जीवों का और पुद्गल कहने से समस्त पुद्गलों का ग्रहण होता है ।

प्रश्न :—व्यवहारनय किसको कहते हैं ?

उत्तर :—जो नय संग्रह नय के द्वारा ग्रहण किये हुये पदार्थों का विधिपूर्वक भेद करता है, उसे व्यवहारनय कहते हैं । जैसे द्रव्य के छह भेद करना । जीव के संसारी और मुक्त आदि भेद करना तथा पुद्गल के परमाणु और स्कन्ध आदि भेद करना । यह नय वहां तक भेद करता है, जहां तक भेद हो सकते हैं ।

प्रश्न :—ऋजुसूत्र नय किसको कहते हैं ?

उत्तर :—भूत और भावी पर्याय को छोड़कर जो वर्तमान स्थूल पर्याय को ही ग्रहण करता है, उसे ऋजुसूत्र नय कहते हैं ।

प्रश्न :—शब्दनय किसको कहते है ?

उत्तर :—जो नय लिंग, संख्या, कारक आदि के व्यभिचार को दूर करता है, उसे शब्दनय कहते हैं । यह नय लिंगादिक के भेद से पदार्थ को भेदरूप ग्रहण

करता है। जैसे – दार (पु०), भार्या (स्त्री), कलत्र (पु०) ये तीनों शब्द भिन्न लिंग वाले होकर भी एक ही स्त्री पदार्थ के वाचक हैं। परन्तु यह नय स्त्री पदार्थ को लिंग के भेद से तीन भेदरूप मानता है।

प्रश्न :—समभिरूढ-नय किसको कहते हैं ?

उत्तर :—जो नय नाना अर्थों का उल्लंघन कर रूढि से एक अर्थ को ग्रहण करता है, उसे समभिरूढ नय कहते हैं। यह नय पर्याय के भेद से अर्थ को भी भेदरूप ग्रहण करता है—जैसे – इन्द्र, शक्र, पुरन्दर ये तीनों शब्द, इन्द्र के नाम हैं, परन्तु यह नय इन तीनों के भिन्न-भिन्न अर्थ ग्रहण करता है।

प्रश्न :—एवम्भूत-नय किसको कहते हैं ?

उत्तर :—जिस शब्द का जिस क्रियारूप अर्थ है, उसी क्रियारूप परिणमे हुये पदार्थ को जो नय ग्रहण करता है, उसे एवम्भूत नय कहते हैं। जैसे – पूजारी को पूजा करते समय ही पूजारी कहना। इन नयों का विषय उत्तरोत्तर सूक्ष्म-सूक्ष्म होता जाता है। ये नय परस्पर सापेक्ष होते हैं, निरपेक्ष नय मिथ्या माने जाते हैं।

प्रश्न :—व्यवहार-नय उपनय के कितने भेद हैं ?

उत्तर :—सद्भूत व्यवहार नय, असद्भूत व्यवहार नय और उपचरित व्यवहार नय अथवा उपचरितासद्भूत व्यवहार नय।

प्रश्न :—सद्भूत व्यवहार-नय किसको कहते हैं ?

उत्तर :—एक अखंड द्रव्य को भेदरूप विषय करने वाले ज्ञान को सद्भूत व्यवहार नय कहते हैं। जैसे – जीव के केवल ज्ञानादिक या मति ज्ञानादिक गुण।

प्रश्न :—असद्भूत व्यवहार-नय किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जो मिले हुए भिन्न पदार्थों को अभेदरूप ग्रहण करता है। जैसे – यह शरीर मेरा है अथवा मिट्टी के घड़े को घी का घड़ा कहना।

प्रश्न :—उपचरित व्यवहार-नय अथवा उपचरित असद्भूत व्यवहार-नय किसको कहते हैं ?

उत्तर :—अत्यन्त भिन्न पदार्थों को जो भेदरूप ग्रहण करता है। जैसे – हाथी, घोड़ा, महल, मकान मेरे हैं इत्यादि।

प्रश्न :—नय किसको कहते हैं ?

उत्तर :—वस्तु के एक देश को जानने वाले ज्ञान को नय कहते हैं ।

प्रश्न :—नय के कितने भेद हैं ?

उत्तर :—दो हैं, एक निश्चय नय, दूसरा व्यवहार नय अथवा उपनय ।

प्रश्न :—निश्चय-नय किसको कहते हैं ?

उत्तर :—वस्तु के किसी असली अंश को ग्रहण करने वाले ज्ञान को निश्चय नय कहते हैं । जैसे – मिट्टी के घड़े को मिट्टी का घड़ा कहना ।

प्रश्न :—व्यवहार-नय किसको कहते हैं ?

उत्तर :—किसी निमित के वश से एक पदार्थ को दूसरे पदार्थ रूप जानने वाले ज्ञान को व्यवहार नय कहते हैं । जैसे मिट्टी के घड़े को घी का घड़ा कहना ।

प्रश्न :—निक्षेप किसको कहते हैं ?

उत्तर :—युक्ति करके सुयुक्त मार्ग होते हुए कार्य के वश से नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव में पदार्थ के स्थापन को निक्षेप कहते हैं ।

प्रश्न :—निक्षेप के कितने भेद हैं ?

उत्तर :—नाम निक्षेप, स्थापना निक्षेप, द्रव्य निक्षेप और भाव निक्षेप ।

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ॥५॥३०॥ मोक्षशास्त्र, अध्याय १

प्रश्न :—नाम निक्षेप किसको कहते हैं ?

उत्तर :—गुण, जाति, द्रव्य और क्रिया की अपेक्षा के बिना लोक व्यवहार के लिये किसी का कोई नाम रखने को नाम निक्षेप कहते हैं । जैसे – किसी माता-पिता ने अपने पुत्र का नाम 'इन्द्र' रखा । किन्तु उस पुत्र में इन्द्र का कोई गुण नहीं होता । अतः वह पुत्र नाममात्र से इन्द्र है, वास्तव में इन्द्र नहीं । **स्थापना निक्षेप** – धातु, काष्ठ, पाषाण आदि के चित्र या मूर्ति तथा अन्य पदार्थ में 'यह वह है' इस प्रकार कल्पना करना स्थापना निक्षेप है । स्थापना दो प्रकार की होती है । तदाकार और अतदाकार । उसी आकार वाले में उसी आकार वाले की कल्पना करना तदाकार स्थापना कहलाती है । जैसे – इन्द्राकार मूर्ति में इन्द्र की कल्पना करना । भिन्न आकार वाले पदार्थ में भिन्न आकार वाले की कल्पना करना अतदाकार स्थापना कहलाती है । जैसे – सतरंज की गोटी । (मोहर) में बादशाह और वजीर वगैरह की कल्पना करना ।

प्रश्न :—द्रव्य निक्षेप किसको कहते हैं ?

उत्तर :—भूत और भविष्यत् पर्याय की मुख्यता लेकर वर्तमान में कहना द्रव्यनिक्षेप है। जैसे इन्द्र की मूर्ति बनाने के लिये जो पाषाण या काष्ठ लाया गया हो, उसे इन्द्र कहना। या मुनीमी छोड़ देने पर भी किसी को मुनीम कहना ?

प्रश्न :—भावनिक्षेप किसको कहते हैं ?

उत्तर :—वर्तमान पर्याय युक्त वस्तु को भावनिक्षेप कहते हैं। जैसे – देवों के स्वामी साक्षात् इन्द्र को इन्द्र कहना।

प्रश्न :—देशविरत गुणस्थान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ के उदय से संयमभाव रहित, किन्तु अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ के उपशम से श्रावक के व्रतरूप देश चारित्र सहित परिणाम को देश विरत नामक पंचम गुणस्थान कहते हैं। चतुर्थ और पंचम आदि ऊपर के समस्त गुणस्थानों में सम्यग्दर्शन और सम्यग्दर्शन का अविनाभावी सम्यग्ज्ञान अवश्य होता है। इसके बिना पंचम और षष्ठ आदि गुणस्थान नहीं होते हैं। प्रथम तो चतुर्थ गुणस्थान में ही, अष्ट मूलगुणों का धारण, सप्त व्यसन का त्याग, रात्री भोजन का त्याग, अन्याय अभक्ष का त्याग होता है। किन्तु व्रतरूप संयम तो पंचम गुणस्थान देश चारित्र में ही होता है। इसीलिये इस गुणस्थान का नाम देश चारित्र है।

नोट :—इस गुणस्थान में चारित्र का आंशिक प्रारम्भ देखा जाता है। हमने चारित्र अधिकार अलग से बनाया है, जो क्रमशः पठनीय है।

अध्याय : पंचम [चारित्र]

निश्चयरत्नत्रय का स्वरूप तो एसा है कि परद्रव्य से सर्वथा भिन्न अपने को समझना सम्यग्दर्शन है और अपने स्वरूप को जानना, सम्यग्ज्ञान है। अपने आत्मा में लीन रहना सम्यक्चारित्र है। यहां व्यवहार चारित्र का वर्णन कर रहे हैं।

प्रश्न :—व्यवहार चारित्र के कितने भेद हैं ?

उत्तर :—दो हैं। सकल चारित्र और विकल चारित्र।

प्रश्न :—चारित्र किसे कहते हैं ?

उत्तर :—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पांच पापों की प्रणालियों से निवृत्ति होने को चारित्र कहते हैं। इन पांच पापों का सर्वथा त्याग करना सकल चारित्र है। और पांच पापों का एकदेश त्याग करना विकल चारित्र है। यह परिग्रह सहित गृहस्थों के होते हैं। सम्यक् चारित्र की उत्पत्ति सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक ही होती है। इसके बिना जो चारित्र होता है, वह मिथ्या चारित्र है। चारित्र की उत्पत्ति का क्रम और प्रयोजन बताते हुए समंतभद्र स्वामी ने कहा है।

मोहतिमिरापहरणे, दर्शन लाभादवाप्त संज्ञानं।
रागद्वेषनिवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः ॥३१॥रत्नक.श्रा.

मिथ्यादर्शन रूपी अन्धकार के नष्ट हो चुकने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से जिसे सम्यग्ज्ञान प्राप्त हुआ है, ऐसा साधु पुरुष राग द्वेष की निवृत्ति के लिये चारित्र को प्राप्त होता है। मूलतः चारित्र को धारण करने का प्रयोजन ही रागद्वेष की निवृत्ति करना है। जिसने चारित्र धारण करके भी राग द्वेष को दूर नहीं किया परमार्थ से उसे चारित्र प्राप्त ही नहीं हुवा है। ऐसा समझना चाहिये।

प्रश्न :—विकल चारित्र का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—अप्रत्याख्यानावरण, क्रोध, मान, माया, लोभ का अनुदय होने से जो पांच पापों का एकदेश त्याग होता है, वह विकल चारित्र है।

प्रश्न :—विकल चारित्र के कितने भेद हैं ?

उत्तर :—मूलरूप में इसके अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत ब्रह्मचर्या-

ण व्रत और परिग्रह परमाणाणुव्रत इस प्रकार पांच ये और इन अणुव्रतों की रक्षा के लिये तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत के भेद से सात शील व्रत होते हैं। इस तरह सब मिलाकर विकल चारित्र के बारह भेद हैं।

वैसे तो आचार्यों ने विकल चारित्र को ग्यारह प्रतिमा रूप में विभक्त किया है।

प्रश्न :—ग्यारह प्रतिमाओं के क्या नाम हैं ?

उत्तर :—दर्शन प्रतिमा, व्रतप्रतिमा, सामायिकप्रतिमा, प्रोषधप्रतिमा, सचित त्यागप्रतिमा, रात्रिभुक्तित्यागप्रतिमा, ब्रह्मचर्यप्रतिमा, आरम्भत्यागप्रतिमा, परिग्रह त्यागप्रतिमा, अनुमति त्यागप्रतिमा और उद्दिष्ट त्यागप्रतिमा—ये ग्यारह प्रतिमाओं के नाम हैं।

दंसण वय सामाइय, पोसह सचित्त राय भत्तेय।
बंभारंभ परिग्ग अण्णुमणमुद्दिट्ठ देश विरदोय ॥१॥
चारित्र पाहुड॥३२॥

प्रश्न :—दर्शनप्रतिमा का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—जो सम्यग्दर्शन से शुद्ध है और संसार, शरीर और भोगों से विरक्त है, पञ्च परमेष्ठियों के चरणों की शरण जिसे प्राप्त हुई है तथा आठ मूलगुणों को जो धारण कर रहा है, वह दर्शनिक श्रावक है।

सम्यग्दर्शन शुद्धः संसार शरीर भोगनिर्विण्णः।
पञ्चगुरु चरणशरणो दर्शनिकस्तत्त्व पथगृह्यः ॥१६॥३३॥
रत्नकरंड श्रावका०अ. ५।

जो निरतिचार सम्यग्दर्शन को पालता है, परन्तु व्रतों से सर्वथा रहित है वह अविरत सम्यग्दृष्टि कहलाता है। यही जीव जब अष्ट मूलगुणों को अतिचार रहित धारण करता है तथा सप्त व्यसनों का सातिचार त्याग करता है, तब पाक्षिक श्रावक कहलाता है। असंयत सम्यग्दृष्टि तथा पाक्षिक श्रावक ये दोनों ही चतुर्थगुण स्थानवर्ती हैं। इसके आगे जब यह सम्यग्दृष्टि संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर व्रत धारण करने के क्षेत्र में अग्रसर होता है।

तथा मद्य, मांस और मधु के त्याग के साथ अहिंसाणुव्रत आदि पांच अणुव्रतों

का धारक होता है और पंच परमेष्ठियों की अखण्ड श्रद्धा रखता है, तब यह दर्शनिक श्रावक कहलाता है। यहां से पञ्चम गुणस्थान का प्रारम्भ होता है। यह नैष्ठिक श्रावक का पहला भेद है।

प्रश्न :—व्रतप्रतिमा का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जो शल्य रहित होता हुवा अतिचार रहित पांचों अणुव्रतों को और सातों शीलों को धारण करता है, वह अतियों के मध्य में व्रतिक श्रावक व्रतप्रतिमा धारी माना गया है।

निरतिक्रमणमणुव्रत पञ्चकमपि शील सप्तकं चापि।
धारयते निःशल्यो योऽसौ व्रतीनां मतो व्रातिकः ॥३४॥

पहली प्रतिमा में तीन शल्यों का अभाव नहीं हुवा था तथा अणुव्रतों में कदाचित अतिचार लगते थे, परन्तु दूसरी प्रतिमा में आते ही इसकी तीनों शल्यें छुट जाती है, और पांच अणुव्रतों का निरतिचार पालन होने लगता है। तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों का भी यह पालन करता है, परन्तु इनके पालन में कदाचित् अतिचार लगते हैं। यह व्रतिक श्रावक कहलाने लगता है।

प्रश्न :—शल्य कितनी और उनका क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—शल्य तीन प्रकार की है मायाशल्य, मिथ्याशल्य और निदान-शल्य। जो आत्मा को कांटे की तरह दुःख देती है, उसे शल्य कहते हैं।

मायाशल्य—छल, कपट करना। मिथ्याशल्य–तत्त्व श्रद्धा का अभाव। निदानशल्य–आगामी काल में विषयों की वांछा करना, ये तीनों प्रकार की शल्ये व्रती श्रावक को नहीं होती और अगर तीनों में से एक भी होगी तो व्रतप्रतिमाधारी नहीं है

प्रश्न :—अणुव्रत किस को कहते हैं और उसके कितने भेद हैं ?

उत्तर :—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और मूर्च्छा (परिग्रह) इन स्थुल पापों से विरत होना अणुव्रत है।

प्राणातिपातवितथ व्याहारस्तेयकाममूर्च्छाभ्यः।
स्थुलेभ्यः पापेभ्यो व्युपरमणमणुव्रतं भवति ॥३५॥

जिनके संयोग से जीव जीवित और वियोग से मृत कहलाता है, उन्हें प्राण कहते हैं, इनके द्रव्य प्राण और भाव प्राण की अपेक्षा दो भेद हैं। स्पर्शनादि पांच

इन्द्रियां, तीन बल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये दश द्रव्य प्राण कहलाते हैं। और ज्ञान, दर्शनादि गुण, भावप्राण कहलाते हैं। इन प्राणों के अतिपात—घात करने को प्राणातिपात कहते हैं, इसका प्रचलित नाम हिंसा है। जो वस्तु जैसी नहीं है, उसे उस प्रकार कहना वितथव्याहार—असत्य भाषण है। इसके सदपलायु, असदुद्भावन, अन्य रूपाभिधान तथा गर्हितादि वचन के भेद से चार भेद हैं। अदत्त वस्तु का ग्रहण स्तेय है।

स्मरणंकीर्तनंकेलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
सकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिवृति रेव च ॥३६॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्ट लक्षणम् ॥३७॥

अर्थ :—स्मरण, कीर्तन, क्रीडा (हासपरिहास), प्रेक्षण, गुह्य भाषण, संकल्प अध्यवसाय और क्रियानिवृति (मैथुन में प्रवृत्ति) इन आठ प्रकार के मैथुनों में प्रवृत्ति होना काम या कुशील कहलाता है। तथा धन्य धान्यादि पदार्थों में ममता भाव रूप परिणाम होना मूर्च्छा है। इसे ही परिग्रह कहते हैं। लोक में ये पांचों कार्य पाप कहे जाते हैं, इनकी स्थूल और सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार की परिणति होती है। ग्राम जनता में जो पाप स्वीकृत किया गया है, और जिसके करने पर राजकीय तथा सामाजिक दण्ड प्राप्त होता है, उन्हें स्थूल पाप कहते हैं। ऐसे स्थूलपापों से निवृत्ति होना अणुव्रत कहलाता हैं। गृहस्थ उक्त पापों का त्याग कर सकता है।

प्रश्न :—अहिंसाणुव्रत का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जो तीनों योगों के कृत, कारित, अनुमोदना संकल्प से त्रस जीवों को नहीं मारता उसे हिंसादि पापों के त्यागरूप व्रत के विचार करने में समर्थ मनुष्य स्थूल हिंसा का त्याग अर्थात् अहिंसा अणुव्रत कहलाता है।

सङ्कल्पात्कृत कारित मननाद्योग त्रयस्य चर सत्वान्।
नाहिनस्ति यत्तदाहुः स्थूलवधाद्विरमणं निपुणाः ॥३८॥

संकल्पी, आरम्भी, उद्यमी और विरोधी के भेद हिंसा चार की मानी गई हैं। मैं इस जीव को मारूं, इस प्रकार के विचार से बलिदान आदि के समय जो हिंसा होती है, उसे संकल्पी हिंसा कहते हैं। गृहस्थी सम्बन्धी अन्य कार्य करने में जो

हिंसा होती है, उसे आरम्भी हिंसा कहते हैं। खेती तथा अन्य उद्योगों से होने वाली हिंसा भी उद्यमी हिंसा है। और शत्रु से अपना बचाव करने के लिए जो हिंसा होती है, उसे विरोधिहिंसा कहते हैं। इन चार प्रकार की हिंसाओं में से अहिंसाणुव्रती जीवमात्र संकल्पी हिंसा का त्याग कर पाता है। शेष तीन हिंसाओं का नहीं और वह भी मात्र त्रसजीवों की हिंसा का। सामान्य रूप से हिंसादि पापों का त्याग मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना के भेद से नौ प्रकार का होता है। परन्तु यह गृहविरत गृहस्थ के ही संभव हो सकता है। गृहनिरत गृहस्थ के नहीं। गृहनिरत–घर में रहने वाला गृहस्थ यथाशक्ति तीन, छह अथवा नौ कोटियों से हिंसादि पापों का त्याग करता है। आचार्य उमास्वामी महाराज ने हिंसा का लक्षण लिखा है—

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोणं हिंसा।

अर्थात् प्रमत्त योग से प्राणों का व्यपरोपण–विघात करना हिंसा है। यहां (प्रमत्तयोग) इस हेतु में ही मन, वचन, काय तथा कृत, कारित, अनुमोदना इन नौ कोटियों का समावेश किया गया है।

प्रश्न :—अहिंसाणुव्रत की भावनायें कितनी हैं और उनका क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—अहिंसाणुव्रत की पांच भावनायें हैं। वाग्गुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्या समिति, आदान निक्षेपण समिति और आलोकित पान भोजन ये भावनायें व्रतों की स्थिरता के लिये हैं, और इसी प्रकार प्रत्येक व्रतों की पांच-पांच भावनायें हैं। भावना किसी वस्तु का बार-बार चिन्तवन करने को कहते हैं।

वाङ्मनो गुप्तीर्यादाननिक्षेपण समित्यालोकित पान भोजनानि पंच ॥३९॥

मोक्षशास्त्र०अ०७सुत्र नं. ४

वाग्गुप्ति :—वचन की प्रवृति को रोकना।

मनोगुप्ति :—मन की प्रवृति को रोकना।

ईर्या समिति—चलते समय चार हाथ प्रमाण जमीन देख कर चलना,

आदाननिक्षेपण समिति—किसी भी वस्तु को रखते व उठाते समय जीव की रक्षा का ध्यान रखते हुए पदार्थ को रखना उठाना।

आलोकित पान भोजन—भोजन पान ग्रहण करते समय देखने और शोधने का ध्यान रखना ।

प्रश्न :—अहिंसाणुव्रत के पांच अतिचार कौनसे हैं और उनका क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—अहिंसाणुव्रत के, छेदना, बाधना, पीड़ा देना, अधिक भार लादना, और आहार पानी का रोकना अथवा आहार बचाकर रखना ये पांच अतिचार हैं ।

छेदन बन्धन पीडन मति भाररोपणं व्यतीचाराः ।
आहार वारणापि च स्थूल वधाद् व्युपरतेः पञ्च ॥४०॥

अतिचारोंऽशभञ्जनम् । इस लक्षण के अनुसार अतिचार का अर्थ होता है, व्रत का एक देशभग्ङ होना । ऊपर अहिंसाणुव्रत का लक्षण लिखते हुए, मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदन इन नौ कोटियों का उल्लेख किया गया है, अर्थात उपर्युक्त नौ कोटियों से व्रत की पूर्णता होती है । इन नौ कोटियों में से कुछ कोटियों के द्वारा व्रत को दूषित करना अतिचार कहलाता है । और सभी कोटियों से व्रत को भंग कर देना अनाचार कहलाता है ।

इस प्रकार भङ्गाभङ्ग की अपेक्षा अर्थात् किसी अपेक्षा से व्रत का भङ्ग होना और किसी अपेक्षा से व्रत का भङ्ग नहीं होना अतिचार का रूप है । छेदन, बन्धन आदि दोषों के बावजूद भी प्राणरक्षा का भाव रहता है, इसलिये व्रत का भङ्ग है, यहां छेदन, बन्धन आदि दोषों का व्याख्यान करते समय 'दुर्भाना' शब्द की योजना ऊपर से कर लेना चाहिये अन्यथा लकड़ी से नाक का छिदाना दूषित अङ्गोपाङ्गों का काटना रोग को दूर करने के लिए आहारादि का रोकना भी अतिचार में संमिलित हो जावेगा । उमा स्वामी महाराज ने भी अहिंसाणु व्रत के ये ही पांच अतिचार बतलाये हैं । बन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधः, अर्थात् बन्ध, वध, (पीडा), छेद । प्रश्न है कि अणुव्रत का धारक मनुष्य घर में गाय, भैंस आदि पशुओं के रखने पर उन्हें बाँधता है या नहीं ? यदि बांधता है तो बन्ध नाम का अतिचार होता है, तो वे उत्पात करते हैं । इस प्रकार विषय में आचार्यों ने उत्तम, मध्यम, और जघन्य का त्रिभाग करते हुए तीन व्यवस्थाएँ की हैं । उत्तम तो यह है कि व्रती मनुष्य, गाय,

भैंस आदि को रखता नहीं है। मध्यम यह है कि यदि रखता है, तो किसी अहाते में उन्हें बिना बन्धन के रखता है। जघन्य यह कि ऐसा बन्धन देता है, जिसे वे उपसर्ग के समय तोड़कर अपनी प्राण रक्षा कर सकें।

प्रश्न :—सत्याणुव्रत का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जो स्थूल झूठ को न स्वयं बोलता है, न दूसरों से बुलवाता है, और ऐसा सत्य भी न बोलता है, न दूसरे से बुलवाता है, जो दूसरे के प्राण-घात के लिये हो उसे सत्पुरुष स्थूल झूठ का त्याग अर्थात सत्याणुव्रत कहते हैं।

उमास्वामी महाराज ने असत्य व्रत का लक्षण लिखा है—

असदभिधानमनृतम् ॥४१॥

इसका व्याख्यान चार प्रकार से होता है—१. न सत् इति असत् अविद्यमानमित्यर्थः तस्य अभिधानं कथनमिति असदभिधानम् अर्थात् अविद्यमान पदार्थ का कथन करना, जैसे देवदत्त के न रहने पर भी कहना कि देवदत्त है। यह असदुद्भावन अविद्यमान को प्रगट करने वाला पहला असत्य है। २ 'सतो विद्यमानस्य अभिधानं सदभिधानं न सदभिधानमिति असदभिधानम्' अर्थात् विद्यमान पदार्थ का कथन नहीं करना, जैसे देवदत्त के रहते हुए भी कहना कि देवदत्त नहीं है। यह सदपलाप—विद्यमान वस्तु को मेटने वाला दूसरा असत्य है।

३—'ईषत् सत् असत् तस्य अभिधानं असदभिधानम्।'

यहाँ असत् शब्द के साथ जो नञ् का प्रयोग हुवा है, वह 'अनुदरा कन्या' के समान ईषद् अर्थ में हुआ है अर्थात् जो पदार्थ जिस रूप में कहा गया है, उस रूप में तो नहीं है, परन्तु उसका कार्य सिद्ध कर देता है, इसलिये उसके समान कहा जाता है। जैसे कमण्डलु को घट कहना। यहाँ कमण्डलु जुदा है और घट जुदा है, इसलिये आकार की अपेक्षा कमण्डलु को घट कहना मिथ्या है, परन्तु जल धारणरूप कार्य दोनों का एक सदृश है, इसलिये उक्त वाक्य ईषद् सत् के कथन में आता है। यह अन्यरूपाभिधान—अन्य को अन्य रूप कहना तीसरा असत्य है। ४. 'सत् प्रशस्तं न सत् असत् अप्रशस्तं असच्च तत् अभिधानं चेति असदभिधानम्' अर्थात् अप्रशस्त वचन बोलना। जैसे काने को काना, लंगड़े को लंगड़ा आदि कहना, निन्दा तथा चुगली के वचन कहना तथा अप्रिय एवं कर्कश वचन कहना, यह गर्हितादिवचन नाम का चौथा असत्य है। इन चारों प्रकार के असत्य वचनों का परित्याग करना सत्याणुव्रत है।

सत्याणुव्रती ऐसा भी सत्य नहीं बोलता है, जो प्राणघात करने वाला हो । जैसे कोई शिकारी अपनी मुट्ठी में जिन्दा चिड़िया की गर्दन दबाकर एक सत्यवादी से पूछता है कि बताओ यह जिन्दा है या मरी ? सत्यवादी विचार करता है कि यदि मैं इसे जिन्दा कहता हूं तो अभी हाल यह गर्दन को दबाकर इसे मार डालेगा । और मरी कहता हूं तो इसे छोड़कर कहेगा कि देखो, यह तो जिन्दा है तुम कैसे सत्यवादी हो ? ऐसा विचारकर सत्यवादी ने उत्तर दिया कि 'यह चिड़िया मरी है ।' शिकारी ने तत्काल चिड़िया को मुट्ठी से छोड़कर कहा कि तुम कैसे सत्यवादी हो ? यहाँ जीव रक्षा का भाव होने से असत्यवचन भी सत्य वचन के रूप में परिणत हो गया है । विचारणीय प्रश्न यह है कि सत्यवादी के सामने एक कातिल ने एक निरपराध व्यक्ति की हत्या कर दी । हत्या के अपराध में वह पकड़ा गया । गवाही के लिए उस सत्यवादी को बुलाया गया । यदि सत्यवादी सत्य कहता है तो कातिल को प्राणदण्ड की सजा मिलती है और असत्य कहता है तो वह छूट तो जाता है, पर उससे अन्याय का समर्थन होता है, जिसके फलस्वरूप उस कातिल के द्वारा अन्य अनेक जीवों की भी हिंसा हो सकती है । इस स्थिति में सत्यवादी सत्य बोले या असत्य ?

उस समय परिस्थिति के अनुसार सत्यवादी तीन कार्य कर सकता है । प्रथम तो वह इस प्रकार की गवाही के चक्र में न पड़े । द्वितीय यह कि यदि वह कातिल अपने पाप से घृणा करने लगता है और आगामी समय के लिए वैसा अपराध न करें और तृतीय यह है कि अन्य अनेक जीवों की रक्षा के अभिप्राय से वह सत्य बोले, क्योंकि संसार में अराजकता फैले तथा उसके फलस्वरूप अनेक जीवों की हत्या हो, यह एक जीव के प्राण-घात की अपेक्षा अधिक पाप है ।

प्रश्न :—सत्याणुव्रत के अतिचार कौनसे हैं और उनका क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान, पैशून्य, कूटलेख लिखना और धरोहर को हड़प करने के वचन कहना – ये पांच सत्याणुव्रत के अतिचार हैं ।

परिवाद रहोभ्याख्यापैशुन्यं कूटलेख करणं च ।
न्यासापहारितापि च व्यतिक्रमाः पञ्च सत्यस्य ।।४२।।

परिवाद का अर्थ मिथ्योपदेश है अर्थात् अभ्युदय और मोक्ष प्रयोजन वाली क्रिया विशेषों में दूसरे को अन्यथा प्रवृत्ति कराना परिवाद या मिथ्योपदेश है । स्त्री-पुरुषों द्वारा एकान्त में की हुई विशिष्ट क्रिया को प्रगट करना रहोभ्याख्यान है । अंग

विकार तथा भौंहों का चलाना आदि के द्वारा दूसरे के अभिप्राय को जानकर ईर्ष्या-वश उसे प्रकट कर देना पैशून्य है। यही साकार मन्त्र भेद कहलाता है। दूसरे के द्वारा अनुक्त अथवा अकृत किसी कार्य के विषय में ऐसा कहना कि यह उसने कहा है, अथवा किया है, इस प्रकार धोखा देने के अभिप्राय से कपट पूर्ण लेख लिखना कूट लेख करण है। तथा धरोहर रखने वाला पुरुष अपनी धरोहर की संख्या भूलकर अल्पसंख्यक द्रव्य को माग रहा है, तो उससे कहना कि हाँ, ऐसा ही है, इसे न्यासाप-हारिता कहते हैं, इस प्रकार परिवादादिक चार और पांचवीं न्यासापहारिता, सब मिलाकर सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार कहे हैं।

विशेषार्थ—उमा स्वामी महाराज ने तत्त्वार्थ सूत्र में सत्याणुव्रत के अतिचार निम्न प्रकार कहे हैं :—

मिथ्योपदेश रहोभ्याख्यान कूट लेख क्रिया न्यासापहारितासाकारमन्त्रभेदाश्च अर्थात् मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेख क्रिया, न्यासापहारित और साकार मन्त्र भेद ये पाँच सत्याणुव्रत के अतिचार हैं। समन्तभद्र स्वामी ने अतिचार निरूपण में उमास्वामी महाराज का अनुकरण तो किया है, परन्तु कितने ही अतिचारों में उन्होंने परिवर्तन भी किया है। जैसे इसी सत्याणुव्रत के अतिचारों में परिवाद और पैशून्य इन दो नवीन अतिचारों का समावेश किया है और मिथ्योपदेश तथा साकारमन्त्र भेद को छोड़ा है। लोक में परिवाद का अर्थ निन्दा और पैशून्य का अर्थ चुगली प्रसिद्ध है। संभव है यही अर्थ स्वामी समन्तभद्र को वाञ्छित रहा होगा। परन्तु संस्कृत टीका कार ने तत्त्वार्थ सूत्र के अतिचारों से मेल बैठाने के लिये परिवाद का अर्थ मिथ्योपदेश और पैशून्य का अर्थ साकारमन्त्र भेद कर दिया है जो कि शब्दों से प्रतिफलित नहीं होता। समन्तभद्र स्वामी परम विचारक विद्वान थे, इसलिये उन्होंने अतिचारों में तो परिवर्तन किया ही है, गुणव्रत और शिक्षाव्रतों के नामों में भी परिवर्तन किया है। जैसे तत्त्वार्थ सूत्रकार ने दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत इन तीनों को गुणव्रत तथा सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण और अतिथिसंविभाग इन चार को शिक्षाव्रत माना है। परन्तु समन्त भद्र स्वामी ने दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोप-भोग परिमाणव्रत इन तीन को गुणव्रत तथा देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्य कहा है। कुन्द कुन्द स्वामी ने सल्लेखना का चार शिक्षाव्रतों में समावेश किया है। परन्तु तत्त्वार्थ सूत्रकार तथा स्वामी समन्तभद्र आदि ने इसका पृथक ही वर्णन किया है।

सत्यव्रत की रक्षा के लिये तत्त्वार्थ सूत्रकार ने 'क्रोध लोभ भीरुत्व हास्य प्रत्याख्यानानुवीचिभाषणं पञ्च' अर्थात् क्रोध त्याग, लोभ त्याग, भीरुत्व त्याग, हास्य त्याग और अनुवीचिभाषण-आगमानुकूल भाषण ये पांच भावनाएँ बतलायी हैं। इनके होने पर ही सत्यव्रत की रक्षा हो सकती है, अन्यथा नहीं। असत्य बोलने के दो प्रमुख कारण है—एक कषाय और दूसरा अज्ञान। कषाय निमित्तक असत्य से बचने के लिये क्रोध, लोभ, भय और हास्य का त्याग कराया है, क्योंकि ये चारों ही कषाय के रूप हैं। और अज्ञान मूलक असत्य से बचने के लिये अनुवीचिभाषण—आचार्य परम्परा से प्राप्त आगमानुकूल वचन बोलने की भावना कराई है। इस भावना के लिये आगम का अभ्यास करना पड़ता है। आगम के अभ्यास से अज्ञान-असत्य दूर होता है।

प्रश्न :—अचौर्याणुव्रत का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—रखे हुए, पड़े हुए अथवा बिल्कुल भूले हुए बिना दिये हुए दूसरे के धन को जो न स्वयं लेता है और न किसी दूसरे को देता है, वह स्थूल स्तेय का परित्याग अर्थात् अचौर्याणुव्रत है।

निहितं वा पतितं वा सुविस्मृतं वा परस्वमविसृष्टं।
न हरति यन्न च दत्ते तदकृश चौर्यादुपारमणम् ॥४३॥

अकृश चौर्य का अर्थ स्थूल चोरी है। अर्थात् लोक में जो चोरी के नाम से प्रसिद्ध है तथा जिसके लिये राजकीय और सामाजिक दण्ड व्यवस्था निश्चित है। इस स्थूल चोरी से उपारमण-निवृत होना, सो अचौर्याणुव्रत है। अचौर्याणुव्रत का धारक पुरुष किसी के रखे हुए, पड़े हुए या भूले हुए धन को बिना दिये न स्वयं ग्रहण करता है और न उठाकर दूसरे को देता है।

विशेषार्थ :—तत्त्वार्थ सूत्रकार ने चोरी का लक्षण लिखते हुए 'अदत्तादानं स्तेयम्' यह सूत्र लिखा है, जिसका अर्थ है अदत्त-बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण करना चोरी है। स्वामी समन्तभद्र ने अदत्त शब्द की व्याख्या करते हुए उसके तीन रूप निर्धारित किये हैं—१. निहित २. पतित और ३. सुविस्मृत। कोई मनुष्य अपने पास किसी वस्तु को रख गया अथवा किसी के निज के मकान में कोई धन कहीं रखा था। मकान बेचते समय उसे उस धन को निकालने का ध्यान नहीं रहा, ऐसे धन को लेना

'निहित' धन की चोरी है। किसी के खरीदे हुए मकान में यदि कोई धन मिलता है, तो अचौर्याणुव्रत का धारी मनुष्य उस मकान मालिक को वापिस करता है। यदि किसी पुराने खण्डहर आदि में धन मिलता है, और उसके असली स्वामी का पता नहीं चलता है तो इस स्थिति में अचौर्याणुव्रत का धारक मनुष्य इसकी सूचना राज्य में देता है, क्योंकि 'अस्वामिकस्य वित्तस्य दायादो मेदिनीपतिः' अर्थात् जिसका कोई स्वामी नहीं ऐसे धन का स्वामी राजा होता है। मार्ग में चलते समय किसी की कोई वस्तु गिर जाती है, उसे पतित कहते हैं। अचौर्याणुव्रत का धारक मनुष्य ऐसे धन को न स्वयं उठाता है, और न उठाकर दूसरे को देता है। यदि मन में यह विकल्प आता है कि इस पड़ी हुई वस्तु को मैं नहीं उठाता हूँ, तो न जाने मेरे पीछे आने वाले किसके हाथ में पड़ेगी और फिर उस वस्तु के मालिक को इसका मिल जाना असंभव हो जावेगा, तो उस वस्तु को उठाकर किसी राजकीय कार्यालय में जमा करा देना चाहिये और उसकी सूचना प्रसारित करा देना चाहिये। कोई मनुष्य अपने पास धरोहर के रूप में कुछ धन रख गया, पीछे भूल गया अथवा रखने वाले व्यक्ति की अकस्मात् मृत्यु हो गई और उसके उत्तराधिकारी पुत्र आदि को उसकी खबर नहीं। इस स्थिति में उस धन को मांगने के लिये कोई नहीं आता है, तो ऐसा धन सुविस्मृत कहलाता है। अचौर्याणुव्रत का धारक मनुष्य ऐसे धन को अपने पास नहीं रखता। वह उसके उत्तराधिकारी को स्वयं ही वापिस करता है। अचौर्याणुव्रत का धारक मनुष्य आयकर, विक्रयकर तथा निगमकर आदि को नहीं चुराता तथा अपने भाईयों आदि के हिस्से को भी नहीं हड़पता।

प्रश्न :—अचौर्याणुव्रत के अतिचार कितने हैं और उनका क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—चौरप्रयोग, चोरार्थादान, विलोप, सदृशसन्मिश्र और हीनाधिक विनिमान ये पांच अचौर्याणुव्रत के अतिचार हैं।

चौरप्रयोग चौरार्थादान विलोप सदृश सन्मिश्राः।
हीनाधिक विनिमानं पञ्चास्तेये व्यतीपाताः ॥४४॥

अचौर्याणुव्रत में निम्नांकित पांच अतिचार होते हैं—

चौर प्रयोग —चोरी करने वाले चोर के लिये स्वयं प्रेरणा देना, दूसरे से प्रेरणा दिलाना और किसी ने प्रेरणा दी हो तो उसकी अनुमोदना चौर प्रयोग है।

चौरार्थादान—जिसे अपने द्वारा प्रेरणा नहीं दी गई है तथा जिसकी अनुमोदना नहीं की गई है, ऐसे चोर के द्वारा चुराकर लाई हुई वस्तु को ग्रहण करना चौरार्थादान है। चोरी का माल खरीदने से चोर को चोरी की प्रेरणा मिलती है।

विलोप—उचित न्याय को छोड़कर अन्य प्रकार से पदार्थ का ग्रहण करना विलोप कहलाता है। इसे ही विरुद्ध राज्यातिक्रम कहते हैं। जिस राज्य के साथ अपने राज्य का व्यापारिक सम्बन्ध निषिद्ध है अर्थात् जिस राज्य में अपने राज्य की वस्तुओं का आना-जाना राज्य की ओर से निषिद्ध किया गया है, उसे विरुद्ध राज्यातिक्रम कहते हैं। विरुद्ध राज्य में मँहगी वस्तुएँ स्वल्प मूल्य में मिलती हैं, ऐसा मानकर वहाँ स्वल्प मूल्य में वस्तुओं को खरीदना और तस्कर व्यापार के द्वारा अपने राज्य में लाकर अधिक मूल्य में बेचना विरुद्ध राज्यातिक्रम कहलाता है।

सदृशसन्मिश्र—समान रूप-रङ्ग वाली नकली वस्तु, असली वस्तु में मिलाकर असली वस्तु के भाव से बेचना, जैसे घी को तेल आदि से मिश्रित करना अथवा कृत्रिम—बनावटी—नकली सोना—चांदी के द्वारा धोखा देते हुए व्यापार करना सदृशसन्मिश्र कहलाता है।

हीनाधिक विनिमान—जिनसे वस्तुओं का विनिमान—आदान-प्रदान लेन-देन होता है, उन्हें विनिमान कहते हैं। इन्हीं को मानोन्मान भी कहते हैं। जिसमें भरकर या जिससे तौलकर कोई वस्तु ली या दी जाती है, उसे मान कहते है, जैसे प्रस्थ, तराजू आदि। और जिससे नापकर कोई वस्तु ली या दी जाती है, उसे उन्मान कहते हैं, जैसे फुट, गज आदि। किसी वस्तु को देते समय हीन मान उन्मान का और खरीदते समय अधिक मान-उन्मान का प्रयोग हीनाधिक मानोन्मान कहलाता है।

अचौर्याणुव्रत का धारी मनुष्य इन सब अतिचारों से दूर रहकर अपने व्रत को सुरक्षित रखता है।

विशेषार्थ—तत्त्वार्थ सूत्रकार ने भी अचौर्याणुव्रत के ये ही अतिचार निरूपित किये हैं। जैसे—

'स्तेन प्रयोग तदाहृतादान विरुद्ध राज्यातिक्रम हीनाधिक मानोन्मान प्रतिरूपक व्यवहाराः' अर्थात् स्तेन प्रयोग, तदाहृतादान, विरुद्ध राज्यातिक्रम, हीनाधिक मानोन्मान और प्रतिरूपक व्यवहार ये पांच अचौर्याणुव्रत के अतिचार हैं। समन्तभद्र

स्वामी ने विरुद्धराज्यातिक्रम के बदले विलोप शब्द रखा है, जिसका अर्थ राजकीय कानून का उल्लंघन करना होता है। विरुद्धराज्यातिक्रम भी इसी में गतार्थ हो जाता है।

अचौर्य व्रत की रक्षा के लिए तत्त्वार्थ सूत्रकार ने निम्नलिखित पांच भावनाओं का वर्णन किया है—

'शून्यागार विमोचितावास परोपरोधाकरण भैक्ष्य शुद्धि सद्धर्मा विसंवादाः पञ्च' अर्थात् शून्यागारावास—पर्वत की गुफाओं तथा वृक्ष की कोटरों आदि प्राकृतिक शून्य स्थानों में निवास करना, विमोचितावास-राजा आदि के द्वारा छुड़वाए हुए—उजड़े गृहों में निवास करना, परोपरोधाकरण—अपने स्थान पर दूसरे के ठहर जाने पर रुकावट नहीं करना, भैक्ष्य शुद्धि—चरणानुयोग की पद्धति से भिक्षा की शुद्धि रखना और सद्धर्माविसंवाद—सह धर्मीजनों के साथ उपकरण आदि प्रसंग को लेकर विसंवाद नहीं करना, इन पांच कार्यों से अचौर्यव्रत की रक्षा होती है। मुनि इन भावनाओं का साक्षात्—प्रवृत्तिरूप और गृहस्थ भावना रूप से पालन करते हैं।

प्रश्न :—ब्रह्मचर्याणुव्रत का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जो पाप के भय से परस्त्रियों के प्रति न स्वयं गमन करता है, और न दूसरों को गमन कराता है, वह परस्त्रीत्याग अथवा स्वदार संतोष नाम का अणुव्रत है।

न तु परदारान् गच्छति न परान् गमयति च पापभीतेर्यत् ।
सा परदारनिवृत्तिः स्वदार सन्तोषनामापि ॥४५॥

श्लोक में आये हुए 'परदारान्' शब्द का समास दो प्रकार का होता है—१. 'परस्य दाराः परदारास्तान् अर्थात् पर स्त्रियां। इसमें पहले समास से पर के द्वारा परिगृहीत स्त्रियों का बोध होता है और दूसरे समास से पर के द्वारा अपरिगृहीत अविवाहित कन्याओं अथवा वेश्याओं का ग्रहण होता है। इस प्रकार इन परिगृहीत अपरिगृहीत—दोनों प्रकार की परस्त्रियों के साथ पाप के भय से न कि राजकीय और सामाजिक भय से, न स्वयं संगम करना और न परस्त्रिलम्पट अन्य पुरुषों को गमन कराना परस्त्रीत्याग अणुव्रत है। इसी को स्वदार संतोषव्रत भी कहते हैं।

विशेषार्थ—जिसके साथ धर्मानुकूल विवाह हुआ है, उसे स्वस्त्री कहते हैं, और इसके सिवाय जो अन्य स्त्रियां हैं, वे परस्त्रियां कहलाती हैं। परस्त्रियां परिगृहीत

और अपरगृहीत के भेद से दो प्रकार की होती हैं। जो दूसरे के द्वारा विवाहित हैं, वे परिगृहीत कहलाती हैं, और जो अविवाहित हैं, अथवा वेश्या आदि के समान जो उन्मुक्त–स्वच्छन्द हैं, वे अपरिगृहीत हैं। ब्रह्मचर्याणुव्रत का धारी पुरुष स्वस्त्री को छोड़कर अन्य दोनों प्रकार की परस्त्रियों से दूर रहता है। उसका यह दूर रहना पाप के भय से होता है, राजा आदि के भय से नहीं, क्योंकि अभिप्रायपूर्वक पाप से निवृत्ति होने को ही व्रत कहते हैं, अर्थात् अथवा किसी अन्य भय से निवृत्ति होने को व्रत नहीं कहते हैं। आचार्य ने ब्रह्मचर्याणुव्रत के लिए परदार निवृत्ति और स्वदार संतोष इन दो नामों का प्रयोग किया है, उससे यह भाव ध्वनित होता है कि ब्रह्मचर्याणुव्रत का धारक पुरुष देश-काल के अनुसार अपनी अनेक स्त्रियां हों तो उनका समागम कर सकता है, पर स्त्रियों का नहीं। वह अपनी स्त्रियों में उसकी विकार पूर्ण दृष्टि नहीं होती।

प्रश्न :—ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचारों का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—अन्य विवाहकरण, अनङ्ग क्रीडा, विटत्व, विपुल तृषा और इत्वरिका गमन ये पाँच ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार हैं।

अन्य विवाहाकरणानङ्ग क्रीडा विटत्व विपुलतृषः।
इत्वरिका गमनं चास्मरस्य पञ्च व्यतिचाराः ॥४६॥

अ-ईषत् स्मरः कामा यस्य स अस्मरः तस्य इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसके स्वस्त्रीविषयक थोड़ा राग रहता है, उसे अस्मर अथवा ब्रह्मचर्याणुव्रती कहते हैं, इस व्रत के धारक पुरुष को निम्नाङ्कित पांच अतिचारों का परित्याग करना चाहिये–अन्यविवाहकरण–कन्यादान को विवाह कहते हैं। अपनी या अपने आश्रित भाई आदि की संतान को छोड़कर अन्य लोगों की संतान अन्य संतान हैं। उन अन्य संतानों का विवाह प्रमुख बनकर करना अन्यविवाहकरण है। 'अन्य विवाहस्य आ समन्तात् करणं अन्य विवाहकरणम्' इस व्युत्पत्ति से यह भाव प्रगट होता है, कि जो पटिया बनाकर दूसरों का विवाह सम्बन्ध जुटाते रहते हैं, उनके उस कार्य के प्रति ही आचार्य का संकेत है। सहधर्मी भाई के नाते उनके पुत्र-पुत्रियों के विवाह में सम्मिलित होना ब्रह्मचर्याणुव्रती के लिये निषिद्ध नहीं है। अनंगक्रीडा–काम सेवन के लिये निश्चित अंगों के अतिरिक्त अन्य अंगों में क्रीडा करना अनंगक्रीडा है। विटत्व–शरीर से कुचेष्टा करना और मुख से अश्लील भद्दे वचनों का प्रयोग करना

विटत्व है । विपुलतृषा – काम सेवन की तीव्र आसक्ति को विपुलतृषा कहते हैं । इत्वरिकागमन – व्यभिचारिणी स्त्री को इत्वरिका कहते हैं । ऐसी स्त्रियों के साथ उठना-बैठना तथा व्यापारिक सम्पर्क बढ़ाना इत्वरिकागमन है ।

विशेषार्थ :—तत्त्वार्थ सूत्रकार ने ब्रह्मचर्याणुव्रत के निम्नांकित पांच अतिचार कहे हैं—'पर विवाह करणेत्वरिका परिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडा कामतीव्राभिनिवेशाः' अर्थात् १. परविवाह करण, २. परिगृहीतेत्वरिका गमन, ३. अपरिगृहीतेत्वरिकागमन, ४. अनंगक्रीडा और ५. कामतीव्राभिनिवेश ये पांच ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार हैं । समन्तभद्र स्वामी ने 'परिगृहीतेत्वरिकागमन' और 'अपरिगृहीतेत्वरिकागमन' इन दो अतिचारों को एक इत्वरिकागमन में सम्मिलित कर विटत्व का अलग से समावेश किया है ।

ब्रह्मचर्याणुव्रत की रक्षा के लिये तत्त्वार्थसूत्रकार ने निम्नलिखित पाँच भावनाओं का उल्लेख किया है—

'स्त्रीरागकथा श्रवणतन्मनोहरांगनिरीक्षण पूर्वरतानुस्मरण वृष्येष्टरस स्व-शरीर संस्कार त्यागाः पञ्च' अर्थात् स्त्रियों में राग बढ़ाने वाली कथाओं के सुनने का त्याग करना, उनके मनोहर अंगों के देखने का त्याग करना, पहले भोगे हुए भोगों के स्मरण का त्याग करना, गरिष्ठ एवं कामोत्तेजक पदार्थों के सेवन का त्याग करना और अपने शरीर की सजावट का त्याग करना इन भावनाओं से ब्रह्मचर्यव्रत सुरक्षित रहता है ।

प्रश्न :—**परिग्रहविरति अणुव्रत का क्या स्वरूप है ?**

उत्तर :—धनधान्य आदि परिग्रह का परिमाणकर उससे अधिक में इच्छा-रहित होना परिमित परिग्रह अथवा इच्छापरिणाम नाम का अणुव्रत कहलाता है ।

धनधान्यादिग्रन्थं परिमाय ततोऽधिकेषु निः स्पृहता ।
परिमित परिग्रहः स्यादिच्छा परिमाण नामापि ।।१५।।४७।।

गाय भैंस आदि को धन कहते हैं । धान्य, गेहूं, चना आदि को धान्य कहते हैं । आदि शब्द से दासी-दास, स्त्री-मकान, खेत, नगद-द्रव्य, सोना-चाँदी के आभूषण तथा वस्त्र आदि का संग्रह होता है । यही सब परिग्रह कहलाता है । अपनी इच्छानुसार देव अथवा गुरु के पादमूल में इसका परिमाणकर उससे अधिक में इच्छारहित होना परिमित परिग्रह नाम का अणुव्रत होता है । इस अणुव्रत में अपनी इच्छा के अनुसार

परिग्रह का परिमाण किया जाता है, इसका दूसरा नाम इच्छा परिमाण भी है।

विशेषार्थ :—'परितः गृह्णाति आत्मानमिति परिग्रहः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो आत्मा के सब ओर से जकड़ ले, उसे परिग्रह कहते हैं। परिग्रह का वाच्यार्थ मूर्च्छा है। जैसे कि तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है—'मूर्च्छा परिग्रहः अर्थात् पर पदार्थों में जो मूर्च्छा-ममत्वभाव, वही परिग्रह कहलाता है। यह परिग्रह अन्तरंग और बहिरंग के भेद से दो प्रकार का होता है। अन्तरंग परिग्रह मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ तथा हास्यादि नौ नोकषाय के भेद से १४ प्रकार का होता है। और बहिरंग परिग्रह चेतन, अचेतन के भेद से दो प्रकार का होता है। दासी-दास आदि द्विपद और गाय-भैंस आदि चतुष्पद चेतनपरिग्रह और खेत, मकान, सोना, चाँदी आदि अचेतन परिग्रह है। सब मिलाकर क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, शयनासन, यान, कुप्य और भाण्ड के भेद से बहिरंग परिग्रह दश प्रकार का माना गया है। परिग्रह त्याग महाव्रत में इन सभी परिग्रहों का त्याग रहता है। परन्तु गृहस्थ परिग्रह का पूर्ण त्याग नहीं कर सकता है। वह अपनी आवश्यकता के अनुसार उसकी सीमा निश्चित कर सकता है। इसलिये गृहस्थों के लिये परिग्रह परिमाण अणुव्रत धारण करने का उपदेश दिया गया है। गृहस्थ की आवश्यकताएँ भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। किसी का परिवार थोड़ा है, अतः उसका काम थोड़े परिग्रह से चल सकता है और किसी का परिवार बड़ा होता है, अतः उसे अधिक परिग्रह रखना पड़ता है। इसलिए आचार्यों ने परिग्रह परिमाणव्रत को इच्छा परिमाण भी नाम दिया है। अर्थात् इसमें अपनी इच्छा के अनुसार परिग्रह का परिमाण किया जाता है। परिमाण किये हुये परिग्रह से अधिक परिग्रह में किसी प्रकार की वांछा नहीं रखना, इस व्रत की विशेषता है।

प्रश्न :—**परिग्रह परिमाणव्रत के अतिचारों का क्या स्वरूप है ?**

उत्तर :—अतिवाहन, अतिसंग्रह, अतिविस्मय, अतिलोभ और अतिभार वाहन ये पाँच परिग्रह परिमाण अणुव्रत के अतिचार निश्चित किये जाते हैं।

अतिवाहनातिसंग्रह विस्मय लोभाति भारवहनानि।
परिमित परिग्रहस्य च विक्षेपाः पञ्च लक्ष्यन्ते ॥४८॥

विक्षेप का अर्थ अतिचार है। जिस प्रकार अहिंसादि अणुव्रतों के पांच-पांच अतिचार बतलाये गये हैं, उसी प्रकार परिग्रह परिमाणाणुव्रत के भी पाँच अतिचार

निश्चित किये जाते हैं। श्लोक में आया हुआ 'च' शब्द 'अपि' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वे अतिचार इस प्रकार हैं— अतिवाहन-लोभ की तीव्रता को कम करने के लिये परिग्रह का परिमाण कर लेने पर भी कोई लोभ के आवेश से अधिक वाहन रखता है, अर्थात् बैल आदि पशु जितने मार्ग को सुख से पार कर सकते हैं, उससे अधिक मार्ग पर उन्हें चलाता है, तो उसकी यह क्रिया अतिवाहन कहलाती है। इस व्रत के धारी किसी मनुष्य ने बैल आदि की संख्या तो कम कर ली, परन्तु उनकी संख्या के अनुपात से खेती तथा मार्ग का यातायात कम नहीं किया, इसलिये उन कम किये हुए बैल आदि को ही अधिक चलाकर अपना काम पूरा करता है। ऐसी स्थिति में अतिवाहन नाम का अतिचार होता है।

अतिसंग्रह—'यह धान्यादिक आगे चलकर अधिक लाभ देगा' इस लोभ के वश से कोई उसका अत्यधिक संग्रह करता है। उसका यह कार्य अतिसंग्रह नाम का अतिचार है। **अतिविस्मय** संगृहीत वस्तु को वर्तमान भाव से बेच देने पर किसी का मूल भी वसूल नहीं हुआ और दूसरे के द्वारा ठहरकर बेचने पर उसे अधिक लाभ हुआ, इस स्थिति में लोभ के आवेश से अतिविस्मय अति खेद करता है। अतिविस्मय नाम का **अतिलोभ** — विशिष्ट लोभ मिलने पर भी और भी अधिक लाभ की इच्छा से कोई अधिक लोभ करता है, तो उसका वह अतिलोभ नाम का अतिचार है। **अतिभारारोपण**—लोभ के आवेश से अधिक भार लादना अतिभारारोपण नाम का अतिचार है। एक अतिभारारोपण अतिचार अहिंसाणुव्रत का भी है, परन्तु वहां कष्ट देने का भाव रहता है और यहां अधिक लाभ प्राप्त करने का — अथवा अतिभारारोपण का एक अर्थ यह भी हो सकता है कि अपने कारोबार को इतना अधिक फैला लेना, जिसकी वह स्वयं संभाल नहीं कर सकता और उसके कारण उसे सदा व्यग्र रहना पड़ता है।

विशेषार्थ :—तत्त्वार्थ सूत्रकार ने परिग्रह परिमाणव्रत के अतिचार दूसरे ही लिखे हुए हैं। यथा — 'क्षेत्र वास्तु हिरण्य सुवर्णधनधान्य दासी दास कुप्य प्रमाणातिक्रमः' अर्थात् क्षेत्र वास्तु प्रमाणातिक्रम—खेत और मकान के प्रमाण का उल्लङ्घन करना, हिरण्य सुवर्ण प्रमाणातिक्रम—सोना, चाँदी आदि प्रमाण का उल्लङ्घन करना, धनधान्य प्रमाणातिक्रम—पशुधन तथा अनाज के प्रमाण का उल्लङ्घन करना, दासी-दास प्रमाणातिक्रम—दास-दासियों के प्रमाण का उल्लङ्घन करना, कुप्यप्रमाणाति-

क्रम – वस्तु तथा बर्तनों के प्रमाण का उल्लङ्घन करना ये पांच परिग्रह परिमाणाणुव्रत के अतिचार हैं। क्षेत्र वास्तु आदि के प्रमाण उल्लङ्घन करने का प्रकार ऐसा है---जैसे किसी ने नियम लिया कि मैं एक खेत और एक मकान रखूंगा। बाद में पास के खेत और मकान को खरीदकर बीच की सीमा तोड़ दी तथा दोनों को एक कर लिया। यहाँ संख्या तो एक खेत या एक मकान की कर ली, परन्तु उसके प्रमाण में विस्तार कर लिया। इस स्थिति में भंगाभंग की अपेक्षा यह अतिचार बनता है। इसी प्रकार सोना-चांदी के विषय में किसी ने नियम किया कि मैं गले का एक, हाथ के दो और पैर का एक आभूषण रखूँगा। पीछे लोभ सताने से उसने उन आभूषणों में और भी सोना-चाँदी मिलवाकर फिर से आभूषण बनवा लिया। यहाँ आभूषणों की संख्या तो पहले की तरह रही, परन्तु उनके परिमाण में वृद्धि हो गई। इस तरह भंगाभंग की अपेक्षा यह अतिचार बनता है। इसी प्रकार अन्य अतिचारों के विषय में लगा लेना चाहिये।

इस व्रत की रक्षा के लिये उमास्वामी महाराज ने निम्नलिखित पांच भावनाएँ लिखी हैं 'मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रिय विषय रागद्वेष वर्जनानि पञ्च' स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियों के मनोज्ञ और अमनोज्ञ विषय में रागद्वेष नहीं करना परिग्रह त्यागव्रत की पांच भावनाएँ हैं।

प्रश्न :—अतिचारों से रहित अणुव्रतों को पालने से क्या फल मिलता है ?

उत्तर :—अतिचार रहित पांच अणुव्रत रूपी निधियाँ उस स्वर्ग लोक को फलती हैं—फल देती हैं, जिसमें अवधिज्ञान, अणिमा, महिमा आदि आठ गुण और सात धातुओं से रहित वैक्रियिक शरीर प्राप्त होते हैं।

पञ्चाणुव्रतनिधयो निरतिक्रमणाः फलन्ति सुरलोकम्।
यत्रावधिरष्टगुणा दिव्य शरीरं च लभ्यन्ते ॥४६॥

अतिचार रहित पांच अणुव्रत निधियों के समान हैं। इनका निरतिचार पालन करने से नियम पूर्वक स्वर्ग की प्राप्ति होती है और उस स्वर्ग को जहाँ कि अवधिज्ञान—भवप्रत्यय नाम का अवधिज्ञान नियम से प्राप्त होता है। अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व ये आठ ऋद्धियाँ तथा धातु, उपधातु से रहित परम सुन्दर वैक्रियक शरीर प्राप्त होता है।

विशेषार्थ :—अणुव्रत धारण करने वाले जीव बद्धायुष्क और अबद्धायुष्क

की अपेक्षा दो प्रकार के हैं। जो अणुव्रत धारण करने के पहले आयु बांध चुके हैं, वे बद्धायुष्क कहलाते हैं और जो अणुव्रतों के काल में आयु बांधते हैं, वे अबद्धायुष्क कहलाते हैं। ये दोनों प्रकार के जीव नियम से देव ही होते हैं। क्योंकि ऐसा नियम है कि देवायु को छोड़कर जिस जीव को अन्य आयु का बन्ध हो गया है, वह उस पर्याय में अणुव्रत तथा महाव्रत धारण नहीं कर सकता और अणुव्रत के काल में यदि आयु बंध होता है, तो नियम से देवायु का ही बंध होता है। देवायु में भी वैमानिक देवायु का ही बन्ध होता है। अणुव्रत धारण करने के पूर्व यदि किसी की मिथ्यादृष्टि अवस्था है, तो उसमें भवनत्रिक की देवायु बंध सकती है, परन्तु अणुव्रत होने पर भवनत्रिक की आयु वैमानिक की आयु के रूप में परिवर्तित हो जावेगी। अणुव्रतों का धारी जीव सोलहवें स्वर्ग तक ही उत्पन्न हो सकता है, उसके आगे नहीं। उसके आगे नवग्रैवेय आदि में उत्पन्न होने के लिये निर्ग्रन्थ मुद्रा का धारण करना आवश्यक है।

प्रश्न :—पाँचो अणुव्रतों को पालन करने से किसको क्या फल मिला ?

उत्तर :—यमपाल नाम का चाण्डाल धनदेव उसके बाद वारिषेण नाम का राजकुमार और जयकुमार ये क्रम से अहिंसादि अणुव्रतों में उत्तम पूजा के अतिशय को प्राप्त हुए हैं।

मातंगो धनदेवश्च वारिषेणस्ततः परः।
नीली जयश्च संप्राप्ताः पूजातिशयमुत्तमम् ॥५०॥

हिंसाविरति नामक अणुव्रत से यमपाल चाण्डाल ने उत्तम प्रतिष्ठा प्राप्त की। सत्याणुव्रत से धनदेव सेठ ने पूजातिशय को प्राप्त किया था। चौर्यविरति अणुव्रत से वारिषेण ने पूजा का अतिशय प्राप्त किया था। अब्रह्मविरति अणुव्रत-ब्रह्मचर्याणुव्रत से नीली नाम की वणिकपुत्री पूजातिशय को प्राप्त हुई। परिग्रह विरति अणुव्रत से जयकुमार पूजातिशय को प्राप्त हुआ था।

प्रश्न :—हिंसादि पांच पापों को करने से किसको क्या फल मिला ?

उत्तरः—धनश्री और सत्यघोष, तापस और कोतवाल और श्मश्रुनवनीत ये पांच क्रम से हिंसादि पापों में उपाख्यान करने के योग्य हैं।

धनश्रीसत्यघोषौ च तापसारक्षकावपि।
उपाख्येयास्तथा श्मश्रुनवनीतो यथाक्रमम् ॥५१॥

धनश्री नाम की सेठानी ने हिंसा से बहुत प्रकार का दुःखदायक फल भोगा है। सत्यघोष पुरोहित ने असत्य बोलने से, तापस ने चोरी से और कोतवाल ने ब्रह्मचर्य का अभाव होने से बहुत दुःख भोगा है। इसी प्रकार श्मश्रुनवनीत नामक वणिक् ने परिग्रह पाप के कारण दुःख भोगा है।

प्रश्न :—गृहस्थों के अष्ट मूलगुणों के क्या स्वरूप हैं ?

उत्तर :—मुनियों में उत्तम गणधरादिक देव मद्यत्याग, मांसत्याग और मधुत्याग के साथ पांच अणुव्रतों को गृहस्थों के आठ मूलगुण कहते हैं।

मद्य मांस मधु त्यागैः सहाणुव्रत पञ्चकम्।
अष्टौ मूल गुणानाहु गृहीणां श्रमणोत्तमाः ॥५२॥

श्रमण, श्वपण अथवा शमन ये सब मुनियों के नाम हैं। इनमें जो उत्तम गणधरादिक देव हैं, वे श्रमणोत्तम कहलाते हैं। उन्होंने गृहस्थों के आठ मूलगुण इस प्रकार बतलाये हैं—१. मद्य त्याग २. मांस त्याग ३. मधु त्याग ४. अहिंसाणुव्रत ५. सत्याणुव्रत ६. अचौर्याणुव्रत ७. ब्रह्मचर्याणुव्रत और ८. परिग्रह परिमाणुव्रत।

विशेषार्थ—मूलगुण मुख्य गुणों को कहते हैं। जिस प्रकार मूल—जड़ के बिना वृक्ष नहीं ठहरते इसी प्रकार मूलगुणों के बिना मुनि और श्रावक के व्रत नहीं ठहरते। इस तरह मूलगुण का वाच्यार्थ अनिवार्य आवश्यक गुण है। मुनियों के २८ मूलगुण होते हैं और श्रावकों के ८। श्रावकों के मूलगुणों का उल्लेख कई प्रकार से मिलता है। सबसे पहला उल्लेख समन्तभद्र स्वामी का है, जिसमें उन्होंने मद्य त्याग, मांस त्याग, मधु त्याग और अहिंसा आदि पांच अणुव्रत सम्मिलित किये हैं। उनका अभिप्राय ऐसा जान पड़ता है कि मुनियों के २८ मूलगुणों में पांच महाव्रत सम्मिलित हैं, तो गृहस्थों के आठ मूलगुणों में पांच अणुव्रतों को स्थान दिया है। मद्यत्याग आदि यद्यपि अहिंसाणुव्रत के अन्तर्गत हो जाते हैं, तथापि विशेषता बतलाने के लिए उनका पृथक् से उल्लेख किया है। आगे चलकर जिनसेन स्वामी ने मधु त्याग को मांस त्याग में गर्भित कर उसके स्थान में द्यूतत्याग का उल्लेख किया है। जिनसेन के परवर्ती आचार्यों ने और भी सरलता करते हुए पांच अणुव्रतों के स्थान पर पांच उदुम्बर फलों के त्याग का समावेश किया है। इनके सिवाय पं० आशाधर जी ने सागार धर्मामृत में एक मत का और भी उल्लेख किया है, जिसके आधार पर निम्नलिखित आठ मूल गुण माने जाते हैं।

१. मद्य त्याग, २. मांस त्याग, ३. मधु त्याग, ४. रात्रि भोजन त्याग, ५. पञ्चफली त्याग, ६. आप्तनुति–देवदर्शन, ७. जीव दया और ८. जल गालन। मूलगुणों का पालन करने वाला ही जैन धर्म की देशना का पात्र होता है। यही नहीं, गृहस्थ की संज्ञा भी इस मनुष्य को तभी प्राप्त होती है जब वह आठ मूलगुणों का पालन करता है।

प्रश्न :—गुणव्रत कितने हैं और किसे कहते हैं ?

उत्तर :—तीर्थंकर देव आदि उत्तम पुरुष आठ मूलगुणों की वृद्धि करने के कारण दिग्व्रत अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोग परिमाणव्रत को गुणव्रत कहते हैं।

दिग्व्रतमनर्थदण्डव्रतं च भोगोपभोग परिमाणम्।
अनुबृंहणाद्गुणा नामाख्यान्ति गुणव्रतान्यार्याः ।।५३।।

'गुणैः गुणवद्भिर्वा अर्यन्ते प्राप्यन्त इत्यार्याः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो गुणों अथवा गुणवान् मनुष्यों के द्वारा प्राप्त किये जावें, उन्हें आर्य कहते हैं। ऐसे आर्य तीर्थंकर देव, गणधर, प्रतिगणधर तथा अन्य आचार्य कहलाते हैं। 'गुणाय व्रतं गुणव्रतम्' गुण के लिए जो व्रत हैं, उन्हें गुणव्रत कहते हैं। उपरितन श्लोक में कहे गये आठ मूलगुणों की वृद्धि में सहायक होने से दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोग परिमाणव्रत इन तीन को आर्य पुरुषों ने गुणव्रतों में परिगणित किया है। दशों दिशाओं में आने जाने की सीमा निर्धारित करना दिग्व्रत है। मन, वचन, काय के निष्प्रयोजन व्यापार के परित्याग को अनर्थदण्डव्रत कहते हैं। भोग और उपभोग की वस्तुओं का समय का नियम लेकर अथवा जीवन पर्यन्त के लिए परिमाण करना भोगोपभोग परिमाणव्रत है। जो वस्तु एक बार भोगने में आती है, उसे भोग कहते हैं, जैसे भोजन, पेय पदार्थ तथा गन्धमाला आदि। जो बार-बार भोगने में आवे उसे उपभोग कहते हैं, जैसे वस्त्र, आभूषण, यान-वाहन, शयन-शय्या आदि। इनका परिमाण काल का नियम लेकर अथवा जीवनपर्यन्त के लिए–दोनों प्रकार से होता है। विशेषार्थ :—खेत की रक्षा के लिए बाड़ी का जो स्थान है, वही स्थान अणुव्रतों की रक्षा के लिए तीन गुणव्रतों का है। यातायात की सीमा निर्धारित होने से, निष्प्रयोजन कार्यों का परित्याग करने से तथा भोग–उपभोग की सीमा को निश्चित करने से यह जीव अपने अहिंसादि अणुव्रतों की रक्षा करने में समर्थ होता है, इसलिए आचार्यों ने इन तीनों कार्यों को गुणव्रत में शामिल किया है। भोग और उपभोग की

जो परिभाषा समन्तभद्र स्वामी को अभीष्ट है, उसके अनुसार संस्कृत-टीकाकार ने उसका स्पष्टीकरण किया है। परन्तु साथ में यह भी ज्ञातव्य है कि उमास्वामी महाराज ने भोगोपभोग परिमाण के बदले उपभोग परिभोग परिमाण शब्द का प्रयोग किया है। उनके अभिप्रायानुसार उपभोग का अर्थ है जो एक बार भोगने में आवे और परिभोग का अर्थ है जो बार-बार भोगने में आवे। समन्तभद्र स्वामी का उपभोग और उमास्वामी का परिभोग एकार्थक है और समन्तभद्र स्वामी का भोग और उमास्वामी का उपभोग एकार्थक है। उमास्वामी ने दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत इन तीन को गुणव्रत माना है और समन्तभद्र स्वामी ने दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोग परिमाणव्रत को गुणव्रत माना है। यहाँ समन्तभद्र स्वामी का यह अभिप्राय जान पड़ता है कि भोगोपभोग की वस्तुओं का परिमाण करने से परिग्रह परिमाणाणुव्रत की वृद्धि होती है—रक्षा होती है, इसलिए इसे गुणव्रत में सम्मिलित करना चाहिए। शिक्षाव्रतों की गणना में भी दोनों आचार्यों में मतभेद है।

प्रश्न :—दिग्व्रत किसे कहते हैं ?

उत्तर :—मरण पर्यन्त सूक्ष्म पापों की निवृत्ति के लिए दिशाओं के समूह को मर्यादा सहित करके मैं इससे बाहर नहीं जाऊँगा ऐसा संकल्प करना दिग्व्रत होता है।

दिग्वलयं परिगणितं कृत्वातोऽहं बहिर्न यास्यामि।
इति सङ्कल्पो दिग्व्रतमामृत्यणुपापविनिवृत्त्यै: ॥५४॥

पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऐशान, आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, ऊर्ध्व और अधः इस प्रकार दश दिशाएँ होती हैं। इन सबके समूह का नाम दिग्वलय है। इन दशों दिशाओं की सीमा निश्चित कर ऐसा संकल्प करना कि मैं इनसे बाहर नहीं जाऊँगा, दिग्व्रत कहलाता है। दिग्व्रत मरणपर्यन्त के लिए धारण किया जाता है अर्थात् इसमें देशावकाशिक व्रत के समान घड़ी, घंटा आदि समय की सीमा नहीं रहती। दिग्व्रत का प्रयोजन सूक्ष्म पापों की निवृत्ति करना है। मर्यादा के भीतर स्थूल पापों से निवृत्ति रहती है, परन्तु मर्यादा के बाहर यातायात सर्वथा बन्द हो जाने से वहाँ सूक्ष्म पापों की भी निवृत्ति हो जाती है।

विशेषार्थ :—परिग्रह स्वयं में एक बड़ा पाप है। उसी की पूर्ति के लिए यह

मनुष्य जीवों की हिंसा करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, स्त्री में आसक्ति रखता है तथा सर्वत्र यातायात करता है। जिसने परिग्रह सम्बन्धी अनन्त इच्छाओं का दमन कर लिया, उसने अन्य अनेक पापों से अपने आप की रक्षा स्वयं कर ली, ऐसा समझना चाहिए। दिग्व्रत में जो यातायात की सीमा निश्चित की जाती है, वह उसी परिग्रह सम्बन्धी अनन्त इच्छाओं के दमन करने का एक प्रयास है। इस प्रकार दिग्व्रत का मुख्य उद्देश्य आरम्भ और लोभ को कम करने का है, अतः दिग्व्रत में तीर्थक्षेत्रों का यातायात सम्मिलित नहीं। तीर्थ यात्रा या तीर्थंकर भगवान की दिव्यध्वनि आदि सुनने के लिए मर्यादा के बाहर भी जाया जा सकता है।

प्रश्नः—दिग्व्रत में मर्यादा किस प्रकार ली जाय ?

उत्तर :—दशों दिशाओं के परिगणित करने में प्रसिद्ध समुद्र, नदी, अटवी, पर्वत, देश और योजन को मर्यादा कहते हैं :

मकराकर सरिदटवी गिरिजन पदयोजनानि मर्यादा।
प्राहुर्विशां दशानां प्रतिसंहारे प्रसिद्धानि ॥५५॥

मकराकर समुद्र को कहते हैं, सरित् गंगा, सिन्धु आदि नदियों को कहते हैं, अटवी का अर्थ दण्डकवन आदि सघन जंगल है, गिरि का अर्थ सह्य, विन्ध्य आदि पर्वत है। जनपद का अर्थ वराट, वापी तट आदि देश है और योजन का अर्थ बीस योजन, तीस योजन आदि है। लोक व्यवहार में चार कोश का एक योजन लिया जाता है। व्रत देने वाले और व्रत लेने वाले को जिनका परिचय प्राप्त है, उन्हें प्रसिद्ध कहते हैं। पूर्वादि दशों दिशाओं सम्बन्धी सीमा निश्चित करने के लिये समुद्र, नदी, जंगल, देश अथवा योजन के खम्भों आदि को मर्यादा रूप से स्वीकृत किया जाता है।

विशेषार्थ :—दिग्व्रत का धारक पुरुष ऐसा नियम करता है कि मैं अमुक दिशा में अमुक समुद्र तक या अमुक नदी तक या अमुक जंगल तक या अमुक देश तक या इतने योजन तक यातायात करूँगा, बाहर नहीं। ऐसा करने से उसकी इच्छाएँ अर्थात् परिग्रह सम्बन्धी अनन्त लालसाएँ अपने आप सीमित हो जाती हैं और जहां परिग्रह सम्बन्धी इच्छाएँ कम हुई वहीं हिंसादि पाप स्वयं कम हो जाते हैं। इसलिये दिग्वलय की सीमा प्रत्येक मनुष्य को करना चाहिये।

प्रश्न :—दिग्विरतिव्रत को धारण करने वाले पुरुषों के मर्यादा के बाहर क्या होता है ?

उत्तर :—दिग्व्रतों को धारण करने वाले पुरुषों के अणुव्रत की की हुई मर्यादा के बाहर सूक्ष्म पापों की भी निवृत्ति हो जाने से पाँच महाव्रत रूप परिणति प्राप्त होती हैं ।

अवधेर्बहिरणु पापप्रतिविरतेर्दिग्व्रतानि धारयताम् ।
पञ्च महाव्रत परिणतिमणुव्रतानि प्रपद्यन्ते ॥५६॥

जो मनुष्य दशों दिशाओं में आने-जाने की मर्यादा कर दिग्व्रतों को धारण करते हैं, उनके मर्यादा के बाहर सूक्ष्म पाप भी छूट जाते हैं, इसलिये उनके अणुव्रत महाव्रत जैसी अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं ।

विशेषार्थ :—अणुव्रत धारण करने वाले जीवों का मर्यादा के भीतर गमनागमन जारी रहता है, इसलिये हिंसादि पापों का स्थूल रूप से ही त्याग हो पाता है । परन्तु मर्यादा के बाहर गमनागमन बिल्कुल ही छूट जाता है, इसलिये मर्यादा के बाह्य क्षेत्र में उनके अणुव्रत महाव्रतपने को प्राप्त हो जाते हैं ।

प्रश्न :—गुणव्रतों में महाव्रतों की परिणति कैसे है ?

उत्तर :—प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ का मन्द उदय होने से अत्यन्त मन्द अवस्था को प्राप्त हुए, यहां तक कि जिनके अस्तित्व का निर्धारण करना भी कठिन है, ऐसे चारित्र मोह के परिणाम महाव्रत के व्यवहार के लिये उपचरित होते हैं — कल्पना किये जाते हैं ।

प्रत्याख्याननतनुत्वान्मन्दतराश्चरण मोह परिणामाः ।
सत्त्वेन दुरवधारा महाव्रताय प्रकल्प्यन्ते ॥५७॥

'नामकदेशेन सर्वदेशो गृह्यते' नाम के एक देश से सर्वदेश का ग्रहण होता है, इस नियम से जिस प्रकार भीम पद से भीमसेन का बोध होता है । उसी प्रकार यहाँ प्रत्याख्यान शब्द से प्रत्याख्यानावरण द्रव्य क्रोध, मान, माया, लोभ का ग्रहण होता है, क्योंकि प्रत्याख्यान शब्द का अर्थ विकल्पपूर्वक हिंसादि पापों का त्याग रूप संयम होता है । उस संयम को जो आवृत करते हैं, अर्थात् जिनके उदय से यह जीव हिंसादि पापों का पूर्ण त्याग करने के लिए समर्थ नहीं हो पाता है, वे प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ कहलाते हैं । यह द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार के होते हैं । पौद्गलिक कर्म प्रवृत्ति को द्रव्य प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ कहते हैं और उनके उदय से आत्मा में जो हिंसादि पापों के त्याग न करने रूप भाव होते हैं,

उन्हें भाव प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ कहते हैं। जब गृहस्थ के इन प्रकृतियों का इतना मन्द उदय हो जाता है कि चारित्र मोह के परिणामों का अस्तित्व भी बड़ी कठिनाई से समझा जाता है, तब उनके उपचार से महाव्रत जैसी अवस्था हो जाती है। दिग्व्रत के धारक जीव के मर्यादा के बाहर के क्षेत्र में हिंसादि पापों की स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों प्रकार की निवृत्ति हो जाती है, इसलिये उनके अणुव्रत महाव्रतपने को प्राप्त होते हैं, परमार्थ से नहीं। परमार्थ से व्यवहार तभी हो सकता है, जब उसके प्रत्याख्यानावरण कषाय का मन्द उदय भी दूर हो जावे।

विशेषार्थ :—मोहनीय कर्म के दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय की अपेक्षा दो भेद हैं। उनमें दर्शन मोहनीय आत्मा के सम्यग्दर्शन गुण का घात करता है और चारित्र मोहनीय चारित्र गुण का घात करता है। चारित्र मोहनीय कर्म के कषाय वेदनीय और अकषाय वेदनीय की अपेक्षा दो भेद हैं। इसमें कषाय वेदनीय के अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन, क्रोध, मान, माया, लोभ के भेद से ४×४=१६ भेद होते हैं। और हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री, पुरुष, नपुंसक वेद की अपेक्षा अकषाय वेदनीय के नौ भेद हैं। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ आत्मा के सम्यक्त्व गुण को घातते हैं। यद्यपि ये चारित्र मोह की प्रकृतियाँ हैं, तथापि इनका उदय रहते हुए सम्यक्त्व गुण प्रकट नहीं हो पाता, इसलिये इन्हें आगम में सम्यग्दर्शन का घातक कहा गया है। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, एकदेश चारित्र को घातते हैं अर्थात् इनका उदय रहते हुए श्रावक के व्रतरूप देशचारित्र प्रकट नहीं हो सकता। प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, सकल चारित्र को घातते हैं, अर्थात् इनका उदय रहते हुए मुनि के व्रतरूप सकल चारित्र प्रकट नहीं हो सकता और संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ, यथाख्यात चारित्र को घातते हैं, अर्थात् इनका उदय रहते हुए पूर्ण वीतराग रूप यथाख्यात चारित्र प्रकट नहीं हो पाता। इन अन्तानुबन्धी आदि चारों कषायों की तीव्रतर, तीव्र, मन्द और मन्दतर के भेद से चार-चार प्रकार की अनुभाग दशाएँ होती है। अनन्तानुबन्धी आदि प्रकृतियों के तीव्रतर आदि अवस्थाओं का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि अनन्तानुबन्धी के उदय से सहित एक जीव निर्ग्रन्थ साधु का घात करने के लिए प्रवृत्त होता है और एक स्वयं निर्ग्रन्थ साधु बनकर अट्ठाइस मूलगुणों का पालन करता हुआ कोलू में पेल देने पर भी संक्लेश का अनुभव नहीं करता।

एक जीव अनन्तानुबन्धी के उदय काल में सातवें नरक की तैंतीस सागर की आयु का बन्ध करता है और एक जीव अनन्तानुबन्धी के उदय काल में नौवें ग्रैवेयक के अहमिन्द्र की इकतीस सागर की आयु का बन्ध करता है। यद्यपि अन्तानुबन्धी आदि कषायों के मन्दोदय के काल में इस जीव की अणुव्रत या महाव्रताचरण रूप परिणति हो जाती है, परन्तु करणानुयोग उसे अणुव्रताचरण या महाव्रताचरण रूप से स्वीकृत नहीं करता। वह तभी स्वीकृत करता है, जब कि प्रतिपक्षी कषाय का अनुदय हो जाता है। यहां प्रकरण यह है कि दिग्व्रत के धारक जीव के अणुव्रत मर्यादा के बाह्य क्षेत्र में महाव्रत जैसी परिणति को क्यों प्राप्त होते हैं? उत्तर यह दिया गया है कि प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ का अत्यन्त मन्द उदय रहने से उसके उपचार से महाव्रत जैसा व्यवहार होता है, परमार्थ से नहीं।

प्रश्न :—उपचार का महाव्रत, साक्षात महाव्रत क्यों नहीं होता?

उत्तर :—हिंसा आदिक पांच पापों का मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना से त्याग करना प्रमत्त विरत-आदि गुणस्थानवर्ती महापुरुषों का महाव्रत होता है।

पञ्चानां पापानां हिंसादीनां मनोवचः कायैः।
कृतकारितानुमोदैस्त्यागस्तु महाव्रतं महताम् ॥५८॥

पाप बन्ध में कारणभूत हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह इन पांच पापों का कृत, कारित, अनुमोदना और मन, वचन, काय इन नौ कोटियों से त्याग करना महाव्रत कहलाता है। यह महाव्रत प्रमत्त संयतादि गुणस्थानवर्ती मुनियों के ही होता है, अन्य के नहीं।

विशेषार्थ :—'महच्च तत् व्रतञ्चेति महाव्रतम्'— इस विग्रह के अनुसार जो स्वयं महान् हैं—उत्कृष्ट हैं, उन्हें महाव्रत कहते हैं। संसार के अधिकांश प्राणियों की प्रवृत्ति हिंसादि पांच पापों में हो रही है और उसके कारण वे पाप कर्मों का बन्ध कर इसी संसार में भ्रमण करते रहते हैं। कुछ ही प्राणी इन हिंसादि कार्यों को पाप समझकर उनका परित्याग करते हैं। त्याग करने वाले पुरुषों को आचार्यों ने 'महान्' संज्ञा दी है तथा उनके इस कार्य को महाव्रत' नाम दिया है। जो पाप स्वयं किया जाता है, उसे कृत कहते है। जो दूसरों से कराया जाता है, उसे कारित कहते हैं और किसी के

करने पर जिसकी प्रशंसा की जाती है, उसे अनुमोदित कहते हैं। ये तीन कार्य मन से, वचन से, काय से होते हैं, इसलिए सब मिलाकर ३×३=९ कोटियों से होते हैं। यह महाव्रत १. अहिंसा महाव्रत, २. सत्य महाव्रत, ३. आचौर्य महाव्रत, ४ ब्रह्मचर्य महाव्रत और परिग्रह त्याग महाव्रत के भेद से पाँच प्रकार का होता है। इसका प्रारम्भ प्रमत्तसंयत नामक छठवें गुणस्थान से ही होता है। इसके पूर्व पञ्चम गुणस्थानवर्ती जीव का व्रत अणुव्रत कहलाता है। इसके पूर्ववर्ती चार गुणस्थान वर्ती जीव अव्रती कहलाते हैं। अर्थात् उनमें कोई व्रत नहीं होता। यद्यपि अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय का मन्द उदय होने से किन्हीं जीवों के अणुव्रतों और महाव्रतों का आचरण होने लगता है, पर करणानुयोग उन्हें अणुव्रत और महाव्रत नहीं मानता।

प्रश्न :—दिग्व्रत के अतिचार कौनसे हैं ?

उत्तर :—अज्ञान अथवा प्रमाद से ऊपर, नीचे और तिर्यक् अर्थात् समान धरातल की सीमा का उल्लघन करना, क्षेत्र का बढा लेना और की हुई सीमाओं को भूल जाना ये पांच दिग्विरति व्रत के अतिचार माने जाते हैं।

ऊर्ध्वधस्तात्तिर्यग्व्यतिपाताः क्षेत्र वृद्धिस्मृतीनाम्।
विस्मरणं दिग्विरतेरत्याशाः पञ्च मन्यन्ते ॥५९॥

ऊपर पर्वत आदि पर चढ़ते समय, नीचे कुआ, बावड़ी या खान आदि में उतरते समय और तिर्यग् अर्थात् धरातल पर चलते समय प्रमाद अथवा अज्ञान के कारण सीमा का उल्लङ्घन करना, प्रमाद और अज्ञान से किसी दिशा का क्षेत्र बढ़ा लेना और व्रत लेते समय दशों दिशाओं में आने-जाने की जो सीमायें निश्चित की थी, उन्हें भूल जाना ये पांच दिग्विरति व्रत के अतिचार माने जाते हैं।

विशेषार्थ :—जैसे किसी ने नियम किया कि मैं दस हजार फुट तक ऊपर जाऊँगा, परन्तु किसी पर्वत पर चढ़ते समय या वायुयान से यात्रा करते समय इस नियम का ध्यान नहीं रखा और की हुई मर्यादा से अधिक ऊँचाई तक चला गया, यह ऊर्ध्वव्यतिपात नाम का अतिचार है। इसी तरह किसी ने नियम किया कि मैं इतने फुट तक नीचे जाऊँगा, परन्तु कुआं या खान आदि में उतरते समय उस नियम का ध्यान नहीं रक्खा, यह अधस्ताद् व्यतिपात नाम का अतिचार है। यही बात समान धरातल पर की हुई सीमा के विषय में समझना चाहिये। क्षेत्र वृद्धि का अर्थ यह है

कि जैसे किसी ने चारों दिशाओं में पचास-पचास कोश तक जाने का नियम किया, परन्तु नियम करने बाद पूर्व दिशा में ६० कोश की दूरी पर अच्छा कारखाना खुल गया वहां से माल लाने में अधिक लाभ होने लगा और पश्चिम दिशा में ऐसा कोई कारखाना नहीं, अतः नियम लेने वाला पूर्व दिशा की सीमा ६० कोश कर लेता है और पश्चिम दिशा की सीमा घटा कर ४० कोश कर लेता है। यहाँ क्षेत्रफल की अपेक्षा तो प्रतिज्ञा का पालन हुआ, परन्तु प्रतिज्ञा करने का मूल उद्देश्य जो आरम्भ और लोभ कम करने का था उसका भङ्ग हो गया। अतः भंगाभंग की अपेक्षा अतिचार माना गया है। सीमा के विस्मरण का अभिप्राय ऐसा है, जैसे – किसी ने नियम लिया है कि मैं अमुक दिशा में ४० कोश तक जाऊँगा, पीछे वह नियम भूल कर कहने लगा कि मैंने नियम ४० कोश तक का लिया था या ५० कोश तक का ऐसी दुविधा की स्थिति में ४० कोश से आगे जाने में यह अतिचार होता है। इसी को तत्त्वार्थ सूत्रकार ने स्मृत्यन्तराधान कहा है, अर्थात् की हुई स्मृति के बदले दूसरी स्मृति का धारण करना।

प्रश्न :—द्वितीयगुणव्रतों में अनर्थदंड का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—व्रत धारण करने वाले मुनियों में प्रधान तीर्थंकरदेवादि दिग्व्रत की सीमा के भीतर प्रयोजन रहित पाप सहित योगों से निवृत्त होने को अनर्थदण्डव्रत जानते हैं।

अभ्यन्तरं दिगवधेरपार्थकेभ्यः सपापयोगेभ्यः।
विरमणमनर्थ दण्डव्रतं विदुर्व्रत धराग्रण्यः ॥६०॥

व्रतधर का अर्थ पञ्च महाव्रतों को धारण करने वाला मुनि होता है। उन मुनियों में जो अग्रणी-प्रधान हैं, वे व्रतधराग्रणी कहलाते हैं। इस तरह मुनियों में प्रधान तीर्थंकर देव आदि ने अनर्थदण्डव्रत का लक्षण इस प्रकार कहा है कि दिग्विरति-व्रत की मर्यादा के भीतर प्रयोजन रहित पाप पूर्ण मन, वचन, काय के व्यापार रूप योगों से निवृत होना अनर्थदण्डव्रत है। दिग्व्रत में मर्यादा के बाहर होने वाले पाप-पूर्ण निरर्थक कार्यों से निवृत्ति होती है और अनर्थदण्डव्रत में दिग्व्रत की सीमा के भीतर होने वाले पाप पूर्ण निरर्थक कार्यों से निवृत्ति होती है। यह इन दोनों में अन्तर है।

विशेषार्थ :—'अपगतः अर्थः प्रयोजनं येषां ते अपार्थकास्तेभ्यः' इस समास के

अनुसार जिनका कुछ भी प्रयोजन नहीं है, उन्हें अपार्थक या अनर्थ कहते हैं। 'योग प्रवृत्तिर्दण्डः' योगों की प्रवृत्ति को दण्ड कहते हैं अर्थात् मन से विचार करना वचन से उपदेश देना और शरीर से कुछ कार्य करना दण्ड कहलाता है। यह दण्ड जब पाप से युक्त होता है, तब अपराध कहलाता है। जैसे किसी के विषय में खोटा चिन्तन करना, पाप कर्मों का उपदेश देना तथा प्रमाद पूर्वक शरीर से प्रवृत्ति करना आदि, जिन कर्यों से अपना कुछ भी प्रयोजन नहीं है, ऐसे कार्यों से दूर रहना अनर्थदण्डव्रत नाम का दूसरा गुणव्रत कहलाता है।

प्रश्न :—अनर्थदंड क्या है ?

उत्तर :—गणधर देवादिक पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति और चर्या इन पांच को अनर्थदण्ड कहते हैं।

पापोपदेश हिंसा दानापध्यान दुश्रुतीः पञ्च।
प्राहुः प्रमाद चर्य्यामनर्थ दण्डान् दण्ड धराः ॥६१॥

मन-वचन-काय के अशुभ व्यापार को दण्ड कहते हैं क्योंकि, वे दण्ड डंडे के समान दूसरों को पीड़ा करते हैं। तथोक्त दण्डों को न धारण करने वाले गणधर देव आदि ने पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति और प्रमादचर्या इन पाँच को अनर्थ-दण्ड कहा है। इनसे निवृत्ति होना सो पाँच प्रकार का अनर्थदण्ड व्रत है।

विशेषार्थ—पाप का उपदेश देना और पाप का उपदेश सुनना ये दोनों कार्य वचन योग की दुष्प्रवृत्ति रूप है। खोटा चिन्तन करना, यह मनोयोग की दुष्प्रवृत्ति है। और हिंसा के उपकरण दूसरों को देना तथा प्रमाद पूर्वक शरीर की प्रवृत्ति करना, यह काय योग की दुष्प्रवृत्ति है। इस प्रकार तीनों योगों की दुष्प्रवृत्तिरूप पाँच कार्य होते हैं—१. पापोपदेश, २. हिंसादान, ३. अपध्यान, ४. दुःश्रुति, ५. प्रमादचर्या ये पाँच कार्य अनर्थदण्ड हैं। इनसे व्यर्थ ही पाप का बन्ध होता है, इसलिए व्रती मनुष्य इनसे निवृत्त होकर पाँच प्रकार के अनर्थदण्डव्रत को धारण करता है।

प्रश्न :—पापोपदेश अनर्थ दंड का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—पशुओं को क्लेश पहुँचाने वाली क्रियाएँ, व्यापार, हिंसा, आरम्भ तथा ठगाई आदि की कथाओं के प्रसंग उत्पन्न करना पापोपदेश नाम का अनर्थदण्ड स्मरण करने के योग्य है।

तिर्यक् क्लेश वणिज्यहिंसारम्भ प्रलम्भनादीनाम् ।
कथा प्रसङ्गः प्रसवः स्मर्त्तव्यः पाप उपदेशः ॥६२॥

जो उपदेश पाप के उपार्जन में कारण हो उसे पापोपदेश कहा है। तिर्यक्क्लेश आदि उसके भेद हैं। हाथी आदि को वश में करने की प्रक्रिया तिर्यक्क्लेश है, लेन-देन आदि व्यापारियों का वाणिज्या है, प्राणिवध करना हिंसा है, खेती आदिक आरम्भ है, तथा दूसरों को किस तरह ठगना आदि की कला प्रलम्भन है। तिर्यक्क्लेश के समान मनुष्यक्लेश भी होता है, अर्थात् ऐसी क्रियाएँ जिनसे कि मनुष्य को क्लेश होता है। इन सबकी कथाओं का उपस्थित करना अर्थात् बार-बार इनका उपदेश देना सो पापोपदेश नामक अनर्थदण्ड है। इसका परित्याग करने से पापोपदेश अनर्थदण्डव्रत होता है।

विशेषार्थ—कहीं-कहीं पापोपदेश अनर्थदण्ड का ऐसा भी व्याख्यान किया जाता है—'क्लेशतिर्यग्वणिज्यावधकारम्भ कादिषु पाप संयुतं वचनं पापोदेशः' अर्थात् क्लेश वणिज्या, तिर्यग्वणिज्या, वधकोपदेश और आरम्भकोपदेश इस प्रकार के पाप संयुक्त जो वचन हैं, उन्हें पापोपदेश कहते हैं। इस देश में दास और दासियाँ सुलभ हैं। उन्हें अमुक देश में ले जाकर बेचने में अधिक लाभ होता है ऐसा उपदेश देना क्लेशवणिज्या है। गाय, भैंस आदि को अमुक देश में खरीदकर अमुक देश में ले जाकर बेचने में अधिक लाभ होता है, ऐसा उपदेश तिर्यग्वणिज्या है। वागुरिक—मृगादिक को पकड़ने के लिए जाल फैलाने वाले, शौकरिक-सूअर आदि का शिकार करने वाले और शाकुनिक—पक्षियों को मारने वाले लोगों को यह उपदेश देना कि अमुक स्थान पर मृग, शूकर तथा पक्षी आदिक अधिक हैं वधकोपदेश है। और किसान आदि आरम्भ कर्त्ताओं को पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा वनस्पति का आरम्भ इस उपाय से करना चाहिये, ऐसा उपदेश देना आरम्भकोपदेश है, इस श्लोक का उत्तरार्ध 'ब' प्रति में इस प्रकार है, 'प्रसवः कथा प्रसंगः पाप उपदेशः' इस पाठ में श्लोक का अर्थ इस प्रकार होता है—तिर्यक्क्लेश आदि को उत्पन्न करने वाली कथाओं का जो प्रसंग है, उसे पापोपदेश जानना चाहिये। संस्कृत टीका के द्वारा भी इस पाठ का समर्थन होता है।

प्रश्न :—हिंसादान क्या है ?

उत्तर :—गणधरदेवादिक विज्ञपुरुष फरसा, तलवार, कुदारी, अग्नि, शस्त्र,

विष तथा सांकल आदिक हिंसा के कारणों के दान को हिंसादान नाम का अनर्थदण्ड कहते हैं।

परशु कृपाणखनित्रज्वलना युध शृङ्गि शृंखलादीनाम्।
वधहेतूनां दानं हिंसादानं ब्रुवन्ति बुधाः ॥६३॥

फरसा तथा कुल्हाड़ी आदि को परशु कहते हैं, तलवार को कृपाण कहते हैं, जमीन खोदने के साधन गेंती, कुदारी, फावड़ा आदि को खनित्र कहते हैं। अग्नि को ज्वलन कहते हैं, छुरी, लाठी, भाला आदि को आयुध कहते हैं, विष सामान्य को शृङ्गी कहते हैं। और बन्धन के साधन को शृङ्खला कहते हैं। ये सब हिंसा के कारण हैं। इनका दूसरों के लिये देना सो हिंसादान अनर्थदण्ड है। इनका त्याग करना हिंसादान-अनर्थदण्ड व्रत है।

विशेषार्थ—यद्यपि व्रती मनुष्य स्वयं के उपयोग के लिये परशु, तलवार तथा गेंती, फावड़ा आदि हिंसा के उपकरणों को रखता है और सावधानी के साथ उनका उपयोग करता है। परन्तु वह दूसरों के लिये मांगने पर नहीं देता, क्योंकि वह दुरुपयोग नहीं करेगा, इसका विश्वास नहीं है, यदि कोई परदेशी मनुष्य भोजन बनाने के लिये अग्नि मांगता है, तो उसके लिये अग्नि देना इस अनर्थदण्ड में नहीं आता है।

प्रश्न :—अपध्यान का स्वरूप क्या है ?

उत्तर :—जिनागम में निपुण पुरुष, द्वेष के कारण किसी के वध, बन्धन और छेद आदि का तथा राग के कारण परस्त्री आदि का चिन्तन करने को अपध्यान कहते हैं।

वध बन्धच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादेः।
आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदाः ॥६४॥

द्वेष के कारण किसी के मर जाने, बँध जाने अथवा अंगोपाङ्ग के छिद जाने आदि का और राग के कारण परस्त्री आदि का आध्यान—बार-बार चिन्तन सो अपध्यान नामक अनर्थदण्ड है, ऐसा जिनशासन के ज्ञाता पुरुष कहते हैं।

विशेषार्थ—(अपकृष्टं ध्यानम् अपध्यानम्) इस व्युत्पत्ति के अनुसार अपध्यान का अर्थ खोटा ध्यान होता है। खोटा ध्यान राग द्वेष के कारण होता है। राग के वशीभूत होकर परस्त्री आदि का ध्यान होता है, और द्वेष के कारण किसी के

मर जाने, बँध जाने अथवा छिद जाने आदि का विचार होता है। यह सब अपध्यान है—मनोयोग की दुष्प्रवृत्ति है। किसी की हार-जीत का विचार भी इसी अपध्यान में आता है। इसे पाप बन्ध का कारण जानकर व्रती मनुष्य इससे दूर रहता है। यह अपध्यान-अनर्थदण्डव्रत है।

प्रश्न :—दुश्रुतिका का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—आरम्भ, परिग्रह, साहस, मिथ्यात्व, द्वेष, राग, अहंकार और काम के द्वारा चित्त को कलुषित करने वाले शास्त्रों का सुनना दुश्रुति नाम का अनर्थदण्ड है।

आरम्भसङ्ग साहस मिथ्यात्व द्वेष राग मदमदनैः।
चेतः कलुषयतां श्रुतिरवधीनां दुःश्रुति भवति ॥६५॥

खेती आदि को आरम्भ कहते हैं, और परिग्रह को संग कहते हैं। इन दोनों का वर्णन वार्तानीति में किया गया है, क्योंकि 'कृषिः पशुपाल्यं वाणिज्यं च वार्ता इत्यभिधानात्' अर्थात् खेती, पशुपालन और व्यापार यह सब वार्ता है, यह कहा गया है। अर्थशास्त्र को वार्ता कहते हैं। साहस का अर्थ अत्यन्त आश्चर्य जनक कार्य है। इसका वर्णन वीर मनुष्यों की कथा में किया जाता है। अद्वैतवाद तथा क्षणिकवाद मिथ्यात्व है। इसका वर्णन प्रमाण विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादक शास्त्र के द्वारा किया जाता है। द्वेष का अर्थ प्रसिद्ध है। यह द्वेष विद्वेषीकरण—द्वेष उत्पन्न करने वाले शास्त्र के द्वारा कहा जाता है। वशीकरण आदि शास्त्र के द्वारा राग उत्पन्न किया जाता है, मद अहंकार को कहते हैं। इसकी उत्पत्ति 'वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः' वर्णों का ब्राह्मण गुरु है, इत्यादि ग्रन्थों से जानी जाती है। मदन का अर्थ काम है। यह रतिगुण विलास पताका आदि शास्त्रों से उत्कृष्ट होता है। इस प्रकार आरम्भ आदि के द्वारा चित्त को कलुषित करने वाले शास्त्रों का श्रवण करना दुःश्रुति नामक अनर्थदण्ड है। इसका त्याग करना दुःश्रुति अनर्थदण्डव्रत है।

विशेषार्थ—जो शास्त्र आरम्भ, परिग्रह, अद्भुत कार्य, मिथ्यात्व, द्वेष राग, अहंकार और काम की उत्कटता से चित्त को कलुषित करते हैं, उन्हें दुःश्रुति कहते हैं। इनके सुनने का त्याग करना दुःश्रुति नामक अनर्थदण्डव्रत है। व्रती मनुष्य सदा ऐसे ही शास्त्रों का स्वाध्याय करता है, जिससे उसे अपने सर्वज्ञ—वीतराग स्वरूप की श्रद्धा

दृढ़ हो जावे । इसके विपरीत जिन शास्त्रों के सुनने से आरम्भ आदि की वृद्धि होती है, वे सब कुशास्त्र हैं, व्रती मनुष्यों को इन सब का त्याग करना चाहिये ।

प्रश्न :—प्रमादचर्या का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—निष्प्रयोजन पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु का आरम्भ करना वनस्पति का छेदना, स्वयं घूमना और दूसरों को घुमाना इन सबको प्रमादचर्या नाम का अनर्थदण्ड कहते हैं ।

क्षितिसलिल दहनपवनारम्भं विफलं वनस्पतिच्छेदम् ।
सरणं सरणमपि च प्रमादचर्यां प्रभाषन्ते ।।६६।।

व्यर्थ ही पृथ्वी को खोदना, पानी को बिखेरना, अग्नि को जलाना, वायु को रोकना, फल फूल पत्ती आदि को तोड़ना, स्वयं निष्प्रयोजन घूमना और दूसरों को भी निष्प्रयोजन घुमाना यह सब प्रमादचर्या नामक अनर्थदण्ड है । इससे निवृत्त होने को प्रमादचर्या अनर्थदण्डव्रत कहते हैं ।

विशेषार्थ—कितने ही लोग पृथ्वी को निष्प्रयोजन खोदने लगते हैं, पानी सींचने लगते हैं अथवा तालाब, नदी में घंटों तैरते रहते हैं, अग्नि को प्रज्वलित करते हैं, पंखा आदि चलाकर वायुकायिक जीवों को त्रास देते हैं, अथवा सिरहाने या गद्दा आदि में हवा भर कर उस पर शयन करते हैं, अनावश्यक फूल-फल, पत्ती आदि को तोड़कर वनस्पतिकायिक जीवों का घात करते हैं, स्वयं निष्प्रयोजन घूमते हैं, और दूसरों को भी निष्प्रयोजन घूमने के लिये प्रेरणा करते हैं । उनका यह सब कार्य प्रमादचर्या अनर्थदण्ड में आता है । यह ठीक है, कि अणुव्रत के धारक मनुष्य को स्थावर हिंसा का त्याग नहीं है । परन्तु अनावश्यक स्थावर हिंसा मुझसे न हो जावे, इस बात का ध्यान उसे रखना आवश्यक है । 'प्रमादात् चर्या प्रमादचर्या' इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रमादपूर्वक जितनी प्रवृत्ति है, वह सब प्रमादचर्या अनर्थदण्ड में गर्भित है । व्रती मनुष्य इनका त्याग कर प्रमादचर्या अनर्थदण्डव्रत को धारण करता है ।

प्रश्न :—अनर्थ दंड विरती व्रत के पांच अतिचारों का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—राग की तीव्रता से हास-परिहास में भद्दे वचन बोलना शरीर की कुचेष्टा करना बकवाद करना भोगपभोग की सामग्री का अधिक संग्रह करना और प्रयोजन का विचार किये बिना ही किसी कार्य का अधिक आरम्भ करना ये पांच अनर्थदण्डविरति व्रत के अतिचार हैं ।

कन्दर्प कौत्कुच्यं मौखर्यमति प्रसाधनं पञ्च ।
असमीक्ष्य चाधिकरणं व्यतीतयोऽनर्थदण्डकृद्विरतेः ।।

यद्यपि कोष में कंदर्प का अर्थ काम है, परन्तु यहाँ काम को उत्तेजित करने वाले भद्दे वचन बोलना कंदर्प माना गया है। भद्दे वचन बोलते हुए हाथ आदि अंगों से शरीर की कुचेष्टा करना कौत्कुच्य कहलाता है। आवश्यकता से अधिक-निष्प्रयोजन बहुत बोलना मौखर्य कहलाता है। जितने पदार्थ से अपने उपभोग और परिभोग की पूर्ति होती है, उससे अधिक का संग्रह करना अति प्रसाधन कहलाता है, तथा असमीक्ष्य-प्रयोजन का विचार किये बिना ही अधिक कार्य का करना असमीक्ष्याधिकरण है। ये पाँच अनर्थदण्डविरति व्रत के अतिचार हैं।

विशेषार्थ—हमजोली चार मित्र इकट्ठे बैठने पर हँसी-मजाक करते हुए भद्दे-भद्दे वचन बोलकर अपनी वर्गणा का दुरुपयोग करता है। साथ ही संभोगादि का संकेत करते हुए शरीर की भद्दी चेष्टा करते हैं। मित्र गोष्ठी में बैठकर घण्टों गपशप करते रहते हैं। स्नानादि के लिये तालाब या नदी आदि को जाते समय तेल आदि शृङ्गार सामग्री इतनी अधिक ले जाते हैं, जो अपनी आवश्यकता से अधिक होती है, तथा दूसरे लोग उसका उपयोग कर जीव घात करते हैं। कितने ही लोग अपना खुद का प्रयोजन थोड़ा होने पर भी आरम्भकर्त्ताओं से अधिक आरम्भ कराते हैं। उनके यह सब काम गृहीत व्रत को मलिन करने के कारण अतिचार माने गये हैं। उमा स्वामी महाराज के उपभोग-परिभोगानर्थक्य के स्थान पर समन्तभद्र स्वामी ने अति-प्रसाधन शब्द का प्रयोग किया हैं। परन्तु यह शब्दभेद ही है, अर्थभेद नहीं।

प्रश्न :—भोगोपभोग परिमाण नामक व्रत का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—विषयों के परिमाण के भीतर विषय सम्बन्धी राग से होने वाली आसक्तियों को कृश करने के लिए प्रयोजनभूत भोग इन्द्रिय विषयों का परिगणन करना-सीमा निर्धारित करना भोगोपभोग परिमाण नाम का गुणव्रत है।

अक्षार्थानां परिसंख्यानं भोगोपभोग परिमाणम् ।
अर्थवतामप्यवधौ रागरतीनां तनुकृतये ।।८७।।

परिग्रह परिमाणव्रत की जो सीमा निर्धारित की थी, उसके भीतर विषय सम्बन्धी राग के तीव्र उदय से होने वाली आसक्तियों को अत्यन्त कृश करने के लिये

सुखादिरूप प्रयोजन को सिद्ध करने वाले भी इन्द्रिय सम्बन्धी विषयों का जो परिसंख्यान-नियम किया जाता है, वह भोगोपभोग परिमाण नाम का गुणव्रत है। टीकाकार ने 'अर्थवतामपि' शब्द का एक अर्थ यह किया है कि अर्थ परिग्रहरहित मुनि तो इन्द्रिय विषयों का परिणमन करते ही हैं, परन्तु अर्थवान्—परिग्रह सहित गृहस्थ भी इन्द्रिय विषयों का जो परिणमन करते हैं, वह भोगोपभोग परिमाणव्रत कहलाता है।

विशेषार्थ—परिग्रह परिमाणव्रत में भोग और उपभोग की वस्तुओं की जो संख्या निश्चित की जाती है, उनका प्रतिदिन उपभोग नहीं होता, इसलिये उस सीमा को और भी संकुचित करने के लिये भोगोपभोग परिमाणव्रत धारण किया जाता है। स्पर्शनादि पांच इन्द्रियों के विषय भूत जो पदार्थ हैं, वे संक्षेप में भोग-उपभोग नाम से व्यवहृत होते हैं। विषय सम्बन्धी राग की तीव्रता से विषयों में जो आसक्तियाँ बढ़ती रहती हैं, उन्हें कम करने के लिये व्रती मनुष्य इन्द्रिय विषयों की सीमा को और भी संकुचित करता है। भोग और उपभोग में जो अभक्ष्य अथवा अनुपसेव्य पदार्थ हैं, उनका तो जीवन पर्यन्त के लिये त्याग होता है और जो भक्ष्य तथा उपसेव्य हैं, उनका जीवन पर्यन्त के लिये अथवा कुछ काल के लिये भी परिगणन किया जाता है। अभक्ष्य के पांच प्रकार हैं—१. त्रस घात, २. प्रमाद, ३. बहुघात, ४. अनिष्ट और ५. अनुपसेव्य। जो मनुष्य त्रसहिंसा का त्याग करना चाहता है, उसे मधु और मांस का त्याग करना चाहिये, क्योंकि उस की उत्पत्ति त्रास घात के बिना नहीं होती। जो त्रसघात के साथ प्रमाद का परित्याग करना चाहते हैं, उन्हें मद्य का त्याग करना चाहिये, क्योंकि उसके सेवन से त्रसघात और प्रमाद दोनों उत्पन्न होते हैं। अदरक, मूली, हल्दी आदि के सेवन में बहुघात होता है। अनिष्ट तथा अनुपसेव्य पदार्थों का सेवन भी संक्लेश का कारण होता है, अतः व्रती मनुष्य इनसे दूर ही रहता है। इसके अतिरिक्त भक्ष्य और उपसेव्य पदार्थों के विषय में भी नियम किया जाता है कि आज इतने अन्न, इतने रस और इतने सचित्त पदार्थों का सेवन करूँगा। इतने वस्त्र, इतने आभूषण तथा इतने शयन-आसन, वाहन आदि ग्रहण करूँगा। इस व्रत का उद्देश्य विषय सम्बन्धी राग को कम करना है।

प्रश्न :—भोग और उपभोग क्या हैं ?

उत्तर :—भोजन और वस्त्र को आदि लेकर पञ्चेन्द्रियों सम्बन्धी जो विषय

भोगकर छोड़ देने के योग्य है, भोग है और जो भोगकर फिर से भोगने योग्य, वह उपभोग है ।

भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो भुक्ष्वः पुनश्च भोक्तव्यः ।
उपभोगोऽशन वसन प्रभृतिः पाञ्चेन्द्रियो विषयः ॥६८॥

जो पदार्थ एक बार भोग कर छोड़ दिये जाते हैं, फिर से काम में नहीं आते ऐसे भोजन, पुष्प, गन्ध तथा विलेपन आदि पदार्थ भोग कहलाते हैं, जो पहले भोगकर फिर से भोगने में आते हैं, ऐसे वस्त्र, आभूषण आदि उपभोग कहलाते हैं । इनकी सीमा निश्चित करना सो भोगोपभोग परिमाण व्रत है ।

विशेषार्थ :—'भुज्यते सकृत सेव्यते इति भोगः' जो एक बार सेवन में आवे, सो भोग है और 'उपभुज्यते भूयो भूयः सेव्यते' जो अनेक बार सेवन में आवे, वह उपभोग है । जैसे भोजन और वस्त्र आदि । भोजनादि भोग का दृष्टान्त है और वसनादि उपभोग का ।

प्रश्न :—व्रती को छोड़ने योग्य पदार्थ कौन से हैं ?

उत्तर :—जिनेन्द्र भगवान के चरणों की शरण को प्राप्त हुए पुरुषों के द्वारा त्रस जीवों की हिंसा का परिहार करने के लिए मधु और मांस और प्रमाद का परिहार करने के लिए मदिरा छोड़ने के योग्य हैं ।

त्रस हति परिहरणार्थं क्षौद्रं पिशितं प्रमादपरिहृतये ।
मद्यं च वर्जनीयं जिन चरणौ शरणमुपयातैः ॥६९॥

जो जिनेन्द्र देव के चरणों की शरण को प्राप्त हैं अर्थात् जैन धर्म धारक हैं ऐसे श्रावकों को द्वीन्द्रियादिक त्रस जीवों की हिंसा से बचने के लिए मधु और मांस का त्याग करना चाहिए तथा प्रमाद से बचने के लिए मदिरा त्याग करना चाहिए । 'यह माता है अथवा स्त्री है' इस प्रकार के विवेक के अभाव को प्रमाद कहते हैं ।

विशेषार्थ :—जैन धर्म धारण करने का प्रारम्भिक नियम है कि मद्य, मांस और मधु का त्याग किया जावे । इसके बिना जैन धर्म का धारण नहीं हो सकता । क्षुद्रा, मधुमक्षिका को कहते हैं । अतः 'क्षुद्राभिः निर्वृत्तम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार मधु-मक्षिकाओं के द्वारा रचा हुआ पदार्थ क्षौद्र या मधु कहलाता है । इसमें अनन्त त्रस जीव उत्पन्न होते रहते हैं । और पिशित-मांस द्वीन्द्रियादिक जीवों का कलेवर है । इसकी भी कच्ची तथा पक्की दोनों अवस्थाओं में अनन्त त्रस जीव उत्पन्न होते

हैं। इनके सेवन करने से उन जीवों का घात होता है। इसी प्रकार मद्य भी त्रस हिंसा का कारण है। साथ ही उसके सेवन से हिताहित का विवेक भी नष्ट हो जाता है। अतः वह भी श्रावक के द्वारा जीवन पर्यन्त के लिए छोड़ने योग्य है।

प्रश्न :—और भी त्यागने योग्य पदार्थ कौन से हैं ?

उत्तर :—अल्प फल और बहुत त्रस जीवों का विघात होने से मूली, गीला अदरक, मक्खन, नीम के फूल और केतकी-केवड़ा के फूल तथा इसी प्रकार के अन्य पदार्थ भी श्रावक के द्वारा छोड़ने के योग्य हैं।

अल्पफल बहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृंगवेराणि।
नवनीत निम्ब कुसुमं कैतक मित्येवमवहेयम् ॥७०॥

मूली, गीला अर्थात् बिना सूखा अदरक, उपलक्षण से आलू, घुइयां, गाजर, शकरकंद आदि मक्खन, नीम के फूल, उपलक्षण से सभी प्रकार के फूल तथा केतकी के फूल और इसी प्रकार के अन्य पदार्थ भी अल्पफल और बहुत जीवों का घात होने से छोड़ने के योग्य हैं।

विशेषार्थ :—जिन वस्तुओं के खाने में त्रस जीवों का घात होता है, वे तो त्याज्य हैं ही। परन्तु जिनमें अनन्त स्थावर कायों का घात होता हैं ऐसी मूली तथा गीली अदरक, घुइयाँ आदि भी त्याज्य हैं। अङ्गुल के असंख्यातवें भाग बराबर अवगाहना के धारक एक निगोद जीव के शरीर में सिद्धों तथा समस्त भूतकाल के अनन्त गुणित जीवों का निवास है। जिह्वा इन्द्रिय सम्बन्धी अल्प सुख के लिए इन सब जीवों का विघात हो जाता है। दूध या दही को मथकर निकाला हुआ मक्खन नवनीत कहलाता है। इसमें अन्तर्मुहुत के पश्चात् असंख्य त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार नीम आदि फूल में भी त्रस जीवों के निवास स्थान हैं। केतकी-केवड़ा आदि के फूलों में भी चलते-फिरते त्रस जीव दिखाई देते हैं। अतः उन फूलों में सुवासित किये हुए कत्था आदि पदार्थ भी श्रावकों के द्वारा छोड़ने योग्य हैं।

प्रश्न :—जो पदार्थ प्रासुक होने पर भी अनिष्ट और अनुपसेव्य हैं, तो उन्हें क्यों छोड़े ?

उत्तर :—क्योंकि जो वस्तु अनिष्ट-अहितकर हो उसे छोड़े और जो सेवन करने

योग्य न हो वह भी छोड़े क्योंकि योग्य विषय में अभिप्राय पूर्वक की हुई निवृत्ति व्रत होती है।

यद निष्ठ तदव्रत येद्यच्चानुपसेव्य मेतदपि जह्यात्।
अभिसन्धिकृता विरति विषया द्योग्याद्व्रतं भवति ॥७१॥

जो वस्तु प्रासुक होने पर भी अनिष्ट है अर्थात् उदरशूल आदि का कारण होने से प्रकृति के अनुकूल नहीं है, उसे छोड़ना चाहिए। इसी प्रकार जो भी गोमूत्र, ऊँटनी का दूध, शङ्ख चूर्ण, पान का उगाल, लार, मूत्र, पुरीष तथा खकार आदि वस्तुएँ अनुसेव्य हैं—शिष्ट मनुष्यों के सेवन करने योग्य नहीं हैं, उन्हें भी छोड़ना चाहिए, क्योंकि अनिष्टपन और अनुसेव्यपन के कारण छोड़ने के योग्य हैं। विषय से अभिप्राय पूर्वक जो निवृत्ति होती है, वह व्रत कहलाता है।

विशेषार्थ :—मनुष्य की प्रकृति भिन्न भिन्न प्रकार की होती है। कोई वस्तु किसी के लिए लाभ दायक है और किसी के लिए हानिकारक है इस तरह जो वस्तु जिसके लिए हानिकारक हो वह प्रासुक—त्रस स्थावर के घात से रहित होने पर भी अनिष्ट कहलाती है। व्रती मनुष्य को इनका त्याग करना चाहिए। इसी प्रकार जो वस्तुएं शिष्ट मनुष्यों में सेवन में नहीं आती हैं, वे अनुसेव्य हैं। व्रती मनुष्य को इनका भी त्याग करना चाहिए, क्योंकि योग्य विषय का अभिप्राय पूर्वक त्याग किया जाता है, वही व्रत कहलाता है। इस प्रकार व्रती मनुष्य को १. त्रस घात, २. बहुघात, ३. प्रमादवर्धक, ४. अनिष्ट और ५. अनुसेव्य इन पाँच प्रकार के अभक्ष्यों का त्याग करना चाहिए।

प्रश्न :—परिग्रह त्याग दो प्रकार का कैसे है ?

उत्तर :—भोग और उपभोग के परिमाण का आश्रय कर नियम और यम दो प्रकार से व्यवस्थापित हैं—प्रतिपादित हैं। उनमें जो काल के परिमाण से सहित हैं, वह नियम है और जो जीवन पर्यन्त के लिए धारण किया जाता है, वह यम कहलाता है।

नियमो यमश्च विहितौ द्वेधा भोगोपभोगसंहारात्।
नियमः परिमित कालो यावज्जीवं यमो ध्रियते ॥७२॥

भोग और उपभोग का परिमाण नियम और यम के भेद से दो प्रकार का होता है। जो परिमाण समय की अवधि से लेकर किया जाता है, वह नियम कहलाता

है और जो जीवन पर्यन्त के लिए धारण किया जाता है, वह यम कहलाता है।

विशेषार्थ—जो वस्तुएँ ऊपर कहे हुए पाँच प्रकार के अभक्ष्य की कोटि में आती हैं, उनका तो यम रूप से त्याग करना चाहिए अर्थात् जीवन पर्यन्त के लिए त्याग करना चाहिए और जो अभक्ष्य की कोटि में नहीं आती हैं, उनका अपने परिमाण तथा देश-काल की योग्यता देखते हुए नियम और यम दोनों रूप से त्याग किया जाता है।

प्रश्न :—भोगोपभोग परिमाण व्रत में परिमित काल वाला जो नियम रूप त्याग है, वो कैसे ?

उत्तर :—भोजन, सवारी, शयन, स्नान, पवित्र अङ्गविलेपन, पुष्प, पान, वस्त्र, आभूषण, काम सेवन, संगीत और गीत के विषय में आज, एक दिन, एक रात अथवा एक पक्ष, एक माह और एक ऋतु—दो माह अथवा एक अयन—छह माह इस प्रकार समय के विभाग पूर्वक त्याग करना नियम होता है।

भोजन वाहन शयन स्नान पवित्राङ्ग राग कुसुमेषु।
ताम्बूल वसन भूषण मन्मथ संगीत गीतेषु ॥७३॥
अद्य दिवा रजनी वा पक्षो मासस्तथर्तुरयनं वा।
इति काल परिच्छित्या प्रत्याख्यानं भवेन्नियमः ॥७४॥

भोजन का अर्थ प्रसिद्ध है, घोड़ा आदि को वाहन कहते हैं, पलंग आदि को शयन कहते हैं, स्नान का अर्थ प्रसिद्ध है, अपवित्र वस्तुओं के सम्पर्क से रहित केशर आदि के विलेपन को पवित्राङ्ग राग कहते हैं, यह अङ्गराग अञ्जन तथा तिलक आदि का उपलक्षण है। अङ्गराग के साथ जो पवित्र विशेषण दिया गया है, वह दोषों को दूर करने के लिए दिया गया है। इसलिए सदोष औषध तथा अंगराग का निराकरण होता है। कुसुम का अर्थ प्रसिद्ध है, ताम्बूल पान को कहते हैं, वसन वस्त्र को कहते हैं, कटक आदि को भूषण कहते हैं, काम सेवन को मन्मथ कहते हैं, जिसमें गीत, नृत्य और वादित्र ये तीनों होते हैं, उसे संगीत कहते हैं और जिसमें केवल गीत होता है, नृत्य और वादित्र नहीं होते, उसे गीत कहते हैं। इन सबके विषय में समय की अवधि लेकर जो त्याग होता है, वह नियम कहलाता है। जिस दिन में एक घड़ी, एक पहर आदि काल का परिमाण कर त्याग करना आज का त्याग है। दिन और रात्रि अर्थ स्पष्ट है। पन्द्रह दिन को पक्ष कहते हैं। तीस दिन को मास कहते हैं।

दो मास को ऋतु कहते हैं। एक वर्ष में चैत्र और वैशाख से लेकर दो-दो मासों में क्रम से वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त और शिशिर ये, छह ऋतुएँ होती हैं। उत्तरायण और दक्षिणायन के भेद से वर्ष में छह-छह मास के दो अयन होते हैं। इस प्रकार समय की अवधि रखकर भोजन आदि का त्याग करना नियम कहलाता है।

विशेषार्थ :—मैं आज एक बार या दो बार भोजन करूँगा, आज सवारी पर नहीं बैठूँगा, आज पलंग पर नहीं सोऊँगा, आज एक बार ही स्नान करूँगा, आज शरीर में विलेपन नहीं लगाऊँगा, आज फूलों की माला नहीं पहनूँगा, आज पान बिलकुल नहीं खाऊँगा अथवा इतने परिमाण में खाऊँगा, आज दो वस्त्र अथवा चार, पांच आदि वस्त्र पहनूँगा, आज आभूषण नहीं पहनूँगा अथवा इतने आभूषण पहनूँगा, आज काम सेवन नहीं करूँगा, आज संगीत में शामिल नहीं होऊँगा और आज गीत बन्द रक्खूँगा। इस प्रकार काल का परिमाण रखकर जो त्याग किया जाता है, वह नियम कहलाता है। और इन्हीं वस्तुओं का जीवन पर्यन्त के लिये जो त्याग होता है, वह यम कहलाता है।

प्रश्न :—**भोगोपभोगपरिमाणव्रत के अतिचारों का क्या स्वरूप है ?**

उत्तर :—विषय-रूपी विष से उपेक्षा नहीं होना अर्थात् उसमें आदर रखना, भोगे हुए विषयों का बार-बार स्मरण करना वर्तमान विषयों में अधिक लम्पटता रखना आगामी विषयों की अधिक तृष्णा रखना और वर्तमान विषय का अत्यन्त आसक्ति से अनुभव करना ये पांच भोगोपभोग परिमाण व्रत के अतिचार कहे जाते हैं।

विषय विषतोऽनुपेक्षानुस्मृति रति लौल्यमतितृषाऽनुभवौ।
भोगोपभोग परिमाणव्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते ॥७५॥

विषय विष के समान हैं, क्योंकि जिस प्रकार विष, प्राणियों को दाह तथा संताप आदि कराता है, उसी प्रकार विषय भी प्राणियों को दाह और संताप आदि उत्पन्न कराते हैं। इस विषय रूपी विष से उपेक्षा नहीं होना अर्थात् उनके प्रति आदर का भाव बना रहना अनुप्रेक्षा नाम का अतिचार है। विषयों का अनुभव—उपभोग विषय सम्बन्धी वेदना के प्रतिकार के लिये किया जाता है, सो विषयानुभव से वेदना का प्रतिकार हो जाने पर भी फिर से संभाषण तथा आलिङ्गन आदि में जो आदर है, वह अत्यन्त आसक्ति का जनक होने से अतिचार माना जाता है। विषयानुभव से

वेदना का प्रतिकार हो जाने पर भी सौन्दर्य जनित सुख का साधन होने से विषयों का बार-बार स्मरण करना यह अनुस्मृति नाम का अतिचार है। अत्यन्त आसक्ति का कारण होने से यह अतिचार माना जाता है। विषयों में अत्यन्त गृद्धता रखना अर्थात् विषयानुभव से वेदना का प्रतिकार हो जाने पर भी बार-बार उसके अनुभव की आकांक्षा रखना अतिलौल्य नाम का अतिचार है। आगामी भोगोपभोग आदि की अत्यधिक गृद्धता के साथ प्राप्ति की आकांक्षा रखना अतितृषा नाम का अतिचार है। और नियतकाल में भी जब भोग और उपभोग का अनुभव करता है, तब अत्यन्त आसक्ति से करता है, वेदना के प्रतिकार की भावना से नहीं, यह अत्यनुभव नाम का अतिचार है।

विशेषार्थ :—तत्त्वार्थ सूत्रकार उमास्वामी महाराज ने भोगोपभोग परिमाण व्रत के सचित्ताहार, सचित्त सम्बन्धाहार, सचित्तसंमिश्राहार, अभिषवाहार और दुःपक्वाहार ये पांच अतिचार निरूपित किये हैं। भोग और उपभोग की वस्तुएँ अनेक हैं, अतः सबसे सम्बद्ध अतिचारों का दिग्दर्शन असम्भव जानकर उन्होंने मात्र भोजन सम्बन्धी अतिचारों का वर्णन किया है। उपलक्षण से अन्य भोगोपभोग सम्बन्धी अतिचारों की ओर संकेत किया है। परन्तु समन्तभद्र स्वामी ने भोगोपभोग सामान्य को लक्ष्य में रखकर अतिचारों का वर्णन किया है। अनुप्रेक्षा, अनुस्मृति, अतिलौल्य, अतितृषा और अत्यनुभव इनका सम्बन्ध प्रत्येक भोग उपभोग के साथ होता है। अनुप्रेक्षा आदि अतिचार क्यों हैं ? इसका स्पष्टीकरण टीकार्थ में किया जा चुका है।

✠ शिक्षाव्रत ✠

प्रश्न :—शिक्षाव्रतों के नाम कौनसे हैं ?

उत्तर :—देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्य ये चार शिक्षाव्रत कहे गये हैं।

देशावकाशिकं वा सामायिकं प्रोषधोपवासो वा।
वैयावृत्यं शिक्षाव्रतानि चत्वारि शिष्टानि ॥७६॥

श्लोक में जो 'वा' शब्द है, वह परस्पर के समुच्चय अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। शिक्षाव्रत के चार प्रकार कहे गये हैं—१. देशावकाशिक, २. सामायिक, ३. प्रोषधोपवास और ४. वैयावृत्य। इन सबके स्वरूप ग्रन्थकार स्वयं ही आगे कहेंगे।

विशेषार्थ :—'शिक्षायै वृतं शिक्षाव्रतम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार मुनिव्रत की शिक्षा के लिये जो व्रत होते हैं, उन्हें शिक्षाव्रत कहते हैं। शिक्षाव्रत चार हैं, इस विषय में तो सर्व आचार्य सहमत हैं। परन्तु उनके नाम निर्धारण में आचार्यों के विभिन्न मत हैं। सर्वप्रथम कुन्दकुन्द स्वामी ने १. सामायिक, २. प्रोषध, ३. अतिथिपूजा और ४. सल्लेखना इन चार को शिक्षाव्रत माना है। उमास्वामी ने १. सामायिक, २. प्रोषधोपवास, ३. भोगोपभोग परिमाण और ४. अतिथिसंविभाग इन चार को शिक्षाव्रत कहा है। समन्त भद्र स्वामी ने १. देशावकाशिक, २. सामायिक, ३. प्रोषधोपवास, और ४. वैयावृत्य इन चार को शिक्षाव्रत में परिगणित किया है। आचार्य वसुनन्दी ने १. भोगपरिमाण, २. उपभोग परिमाण, ३. अतिथि संविभाग, ४. सल्लेखना इन चार को शिक्षाव्रत माना है। चूँकि सामायिक और प्रोषध को तृतीय और चतुर्थ प्रतिमा का रूप दिया गया है, इसलिये वसुनन्दी ने इन्हें शिक्षाव्रतों में शामिल नहीं किया है। कुन्दकुन्द स्वामी ने देशावकाशिक (देशव्रत) का वर्णन गुणव्रत में किया है। इसी प्रकार समन्तभद्र स्वामी ने भोगोपभोग परिमाणव्रत को भी गुणव्रतों में सम्मिलित किया है। कुन्दकुन्द स्वामी की सल्लेखना को शिक्षाव्रत मानने सम्बन्धी मान्यता अन्य आचार्यों को संमत नहीं हुई, क्योंकि सल्लेखना मरण काल में ही धारण की जा सकती है और शिक्षाव्रत सदा धारण किया जाता है। इसी दृष्टि से अन्य आचार्यों ने सल्लेखना का वर्णन बारह व्रतों के अतिरिक्त किया है। इसके स्थान पर उमास्वामी ने अतिथि संविभाग और समन्तभद्र ने वैयावृत्य को शिक्षाव्रत स्वीकृत किया है, वैयावृत्य, अतिथि संविभाग व्रत का ही विस्तृत रूप है। कुन्दकुन्द स्वामी ने सल्लेखना को जो शिक्षाव्रत में सम्मिलित किया है, उसमें उनका अभिप्राय सल्लेखना की भावना से जान पड़ता है, अर्थात् शिक्षाव्रत में सदा ऐसी भावना रखना चाहिये कि मैं जीवनान्त में सल्लेखना से मरण करूँ। ऐसी भावना सदा रक्खी जा सकती है।

प्रश्न :—देशवकाशिक शिक्षाव्रत का क्या लक्षण है ?

उत्तर :- अणुव्रत के धारक श्रावकों का प्रतिदिन समय की मर्यादा के द्वारा देश का संकोच किया जाना देशावकाशिक व्रत होता है।

देशावकाशिकं स्यात्काल परिच्छेदनेन देशस्य।
प्रत्यहमणुव्रतानां प्रतिसंहारो विशालस्य ॥७७॥

मर्यादित देश में नियतकाल तक रहना देशावकाश कहलाता है। या

देशावकाश जिस व्रत का प्रयोजन है, उसे देशावकाशिक व्रत कहते हैं। दिग्व्रत नामक गुणव्रत में जीवनपर्यन्त के लिये जो विशाल क्षेत्र निश्चित किया था, उसमें एक दिन, एक पहर आदि काल की मर्यादा लेकर और भी संकोच करना देशावकाशिक शिक्षाव्रत कहलाता है। वह व्रत अणुव्रत के धारक श्रावकों के होता है। 'अणूनि स्थूलानि व्रतानि येषां ते अणुव्रताः तेषाम्' इस प्रकार समास करने से अणुव्रत का अर्थ श्रावक हो जाता है।

विशेषार्थ :—श्रावक को प्रतिदिन प्रातःकाल समय की अवधि लेकर अपने यातायात की सीमा निश्चित करना चाहिये, क्योंकि दिग्व्रत का क्षेत्र जीवनपर्यन्त के लिये होने से विस्मृत होता है। उतने विस्तृत क्षेत्र में प्रतिदिन गमन नहीं होता। इसलिये अपनी उस दिन की आवश्यकताओं को देखकर विस्तृत क्षेत्र को संकुचित कर देना चाहिये।

प्रश्न :—देशवकाशिकव्रत में किस प्रकार मर्यादा की जाती है ?

उत्तर :—गणधरदेवादिक चिरन्तन आचार्य घर, छावनी, गांव और खेत, नदी, वन तथा योजनों को देशावकाशिक शिक्षाव्रत की सीमा स्मरण करते हैं।

गृह हारिग्रामाणां क्षेत्र नदीवायोजनानां च।
देशवकाशिकस्य स्मरन्ति सीम्नां तपोवृद्धाः ॥७८॥

'तपसा वृद्धास्तपोवृद्धाः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो तप से वृद्ध हैं, ऐसे गणधरदेवादिक चिरन्तन—प्राचीन आचार्यों का ग्रहण होता है। उन्होंने देशावकाशिक व्रत की सीमायें बतलाते हुए मर्यादा के रूप में घर, छावनी, ग्राम, खेत, नदी, वन अथवा योजन का सीमारूप में स्मरण किया है। 'सीम्नाम्' यहाँ पर कर्म अर्थ में 'स्मृत्यर्थदयेशां कर्मणि' इस सूत्र से षष्ठी विभक्ति का प्रयोग हुआ है। सूत्र का अर्थ इस प्रकार है—स्मृत्यर्थक धातुएँ तथा दय और ईश धातु के कर्म में षष्ठी विभक्ति होती है।

विशेषार्थ :—मैं आज अमुक महानुभाव के घर तक जाऊँगा, मैं आज नगर में बनी हुई छावनी तक जाऊँगा, मैं आज अमुक गांव तक जाऊँगा, मैं आज अमुक वन तक जाऊँगा और मैं आज इतने योजन तक जाऊँगा, इस प्रकार का नियम प्रतिदिन श्रावक को करना चाहिये। चार कोश का एक योजन होता है। जिस प्रकार आजकल मार्ग में माइलस्टोन—मील के पत्थर गड़े रहते हैं, उसी प्रकार पहले योजन के स्तम्भ

बनाये जाते थे। सीमा निर्धारित करते समय योजन के स्तम्भों की भी सीमा निश्चित की जाती थी। आजकल उसके स्थान पर मील के पत्थर की सीमा निश्चित की जा सकती है।

प्रश्न :—देशावकाशिक व्रत में कालावधि का प्रतिपादन किस प्रकार है ?

उत्तर :—गणधर देवादिक बुद्धिमान् पुरुष एक वर्ष एक ऋतु – दो माह, एक अयन – छह माह, एक माह, चार माह, एक पक्ष – पन्द्रह दिन और एक नक्षत्र को देशावकाशिक व्रत की काल की मर्यादा कहते हैं।

संवत्सरमृतुमयनं मास चतुर्मास पक्ष मृक्षं च।
देशावकाशिकस्य प्राहुः कालावधि प्राज्ञाः ॥७६॥

देशावकाशिक व्रत में काल की मर्यादा बताते हुए गणधर देवादिक ने एक वर्ष, एक ऋतु, एक अयन, एक माह, चार माह, एक पक्ष अथवा एक नक्षत्र को कालावधि कहा है। अर्थात् संवत्सर आदि की सीमा लेकर देशावकाशिक व्रत में यातायात का क्षेत्र निश्चित किया जाता है। ऋक्ष नक्षत्र दो प्रकार के होते हैं— एक चन्द्र भुक्ति की अपेक्षा और दूसरे सूर्य भुक्ति की अपेक्षा। चन्द्र भुक्ति की अपेक्षा अश्विनी, भरणी आदि नक्षत्र प्रतिदिन बदलते रहते हैं, अर्थात् एक दिन में एक नक्षत्र रहता है और सूर्य भुक्ति की अपेक्षा एक वर्ष में अश्विनी आदि सत्ताईस नक्षत्र क्रम से परिवर्तित होते हैं। संवत्सर आदि का अर्थ स्पष्ट है।

विशेषार्थ :—देशावकाशिक व्रत के क्षेत्र की अवधि का वर्णन पूर्व श्लोक में किया गया था, यहाँ काल की अवधि का वर्णन किया गया है। उसे इस प्रकार समझना चाहिये कि मैं एक वर्ष तक, अथवा अमुक ऋतु – दो माह तक, एक अयन – छह माह तक, एक माह तक, चार माह तक, एक पक्ष तक अथवा अमुक नक्षत्र तक इस स्थान से आगे नहीं जाऊँगा। इस प्रकार समय की सीमा निश्चित करना चाहिये। दिग्व्रत जीवन पर्यन्त के लिये होता है, परन्तु देशावकाशिक व्रत समय की मर्यादा लेकर धारण किया जाता है।

प्रश्न :—देशावकाशिक व्रत के लेने पर मर्यादा के आगे क्या होता है ?

उत्तर :—सीमाओं के अन्त भाग के आगे स्थूल और सूक्ष्म पाँचों पापों का सम्यक् प्रकार त्याग हो जाने से देशावकाशिक व्रत के द्वारा भी महाव्रत सिद्ध किये जाते हैं।

सीमान्तानां परतः स्थूलेतर पञ्च पाप संत्यागात् ।
देशावकाशिकेन च महाव्रतानि प्रसाध्यन्ते ॥८०॥

देशावकाशिक व्रत में जो क्षेत्र और काल की अपेक्षा सीमाएँ निर्धारित की गई हैं, उनके आगे हिंसादि पांच पापों का स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों प्रकार से परित्याग हो जाता है, इसलिये दिग्व्रत के समान देशावकाशिक व्रत के द्वारा भी महाव्रतों की साधना की जाती है ।

विशेषार्थ—क्षेत्र मर्यादा में जो गृह, छावनी आदि की मर्यादा ली थी तथा काल मर्यादा में जो संवत्सर आदि की मर्यादा निश्चित की थी; उन मर्यादाओं के आगे गमन न होने से स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार से पांच पापों का परित्याग हो जाता है । इसलिये वहां अणुव्रत धारियों के भी महाव्रत जैसी अवस्था हो जाती है ।

प्रश्न :—देशावकाशिक व्रत के अतिचारों का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—प्रेषण, शब्द, आनयन, रूपाभिव्यक्ति और पुद्गलक्षेप ये पांच देशावकाशिक शिक्षाव्रत के अतिचार कहे जाते हैं ।

प्रेषण शब्दानयनं रूपाभिव्यक्ति पुद्गल क्षेपौ ।
देशावकाशिकस्य व्यपदिश्यन्तेऽत्ययाः पञ्च ॥८१॥

स्वयं मर्यादित देश में रहकर 'तुम यह काम करो' इस प्रकार कहकर दूसरे को मर्यादा के बाहर भेजना प्रेषण नाम का अतिचार है । मर्यादा के बाहर कार्य करने वाले कार्यकर्ताओं के प्रति खकार या खाँसी आदि शब्द करना शब्द नाम का अतिचार है । मर्यादा के बाह्य क्षेत्र में रहने वाले लोगों को प्रयोजन वश यह आज्ञा देना कि तुम अमुक वस्तु लाओ आनयन नाम का अतिचार है । स्वयं मर्यादित क्षेत्र के भीतर स्थित रहकर बाह्य क्षेत्र में काम करने वाले लोगों को अपना शरीर दिखलाना रूपाभिव्यक्ति नाम का अतिचार है और उन्हीं लोगों को लक्ष्य कर कंकड़ पत्थर आदि फेंकना पुद्गल क्षेप नाम का अतिचार है । देशावकाशिक व्रत के ये पांच अतिचार हैं ।

विशेषार्थ—व्रत धारण करने का मूल प्रयोजन रागादि भावों का नियन्त्रण प्राप्त करना है । जहाँ इन भावों का नियन्त्रण नहीं हो पाता है, वहाँ व्रत निर्दोष नहीं पलता है—उसमें अनेक दोष लगने लगते हैं । उन दोषों का नाम ही अतिचार है । देशावकाशिक व्रत के अतिचारों का वर्णन इस प्रकार है—किसी ने नियम लिया कि मैं इतने समय तक इस स्थान से आगे नहीं जाऊँगा । नियम के अनुसार वह अपने

मर्यादित क्षेत्र में स्थित है, परन्तु राग की उत्कटता से दूसरे लोगों को मर्यादा के बाहर भेजकर अपना प्रयोजन सिद्ध करता है। यहाँ कृत की अपेक्षा व्रत की रक्षा होती है और कारित की अपेक्षा भंग हो जाता है। इस प्रकार भंगाभंग की अपेक्षा यह प्रेषण नाम का अतिचार है। स्वयं तो मर्यादा के भीतर स्थिर रहता है, परन्तु मर्यादा के बाहर काम करने वाले लोगों को खांस कर या खकार कर सावधान करता है, यह शब्द का अतिचार है। मर्यादा के बाहर फोन आदि करना भी इसी अतिचार के अन्तर्गत है। स्वयं मर्यादा के भीतर रहकर बाहर के क्षेत्र से किसी वस्तु को बुलवाना आनयन अतिचार है। तार या पत्र देकर आर्डर से वस्तु को बुलवाना भी इसी अतिचार में गर्भित है। स्वयं मर्यादा के क्षेत्र में स्थित रहकर मर्यादा के बाहर के लोगों को अपना रूप दिखाना, ऐसे स्थान पर बैठना जिससे मर्यादा के बाहर काम करने वाले लोग अपना रूप देखकर सावधानी से काम करते रहें, यह रूपाभिव्यक्ति नाम का अतिचार है। टेलिविजन के द्वारा अपना चित्र प्रसारित करना भी इसी अतिचार के अन्तर्गत हैं। स्वयं मर्यादा के भीतर रहकर मर्यादा के बाहर काम करने वाले लोगों को कंकड, पत्थर आदि फेंककर सावधान करना पुद्गल क्षेप नाम का अतिचार है। मर्यादा के बाहर पत्र भेजना भी इसी में गर्भित है।

प्रश्न :—सामायिक शिक्षाव्रत का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—आगम के ज्ञाता गणधर देवादिक सब जगह—मर्यादा के भीतर और बाहर की सम्पूर्ण रूप से पांच पापों का किसी निश्चित समय तक त्याग करने को सामायिक नाम का शिक्षाव्रत कहते हैं।

आसमयमुक्ति मुक्तं पञ्चाघानामशेषभावेन।
सर्वत्र च सामयिकाः सामयिकं नाम शंसन्ति ॥८२॥

किसी समय की अवधि लेकर उतने समय तक मर्यादा और बाहर दोनों जगह सम्पूर्ण रूप से हिंसादि पांच पापों का त्याग करना सामायिक नाम का शिक्षाव्रत कहलाता है। देशावकाशिक व्रत में मर्यादा के बाह्य क्षेत्र में पांच पापों का त्याग होता है, मर्यादा के भीतर नहीं। परन्तु सामायिक शिक्षाव्रत में भीतर और बाहर दोनों जगह त्याग होता है। अतः उसकी अपेक्षा सामायिक शिक्षाव्रत में भेद है। श्लोक में

जो 'मुक्त' शब्द है, उसमें भाववाचक 'क्त' प्रत्यय हुआ है इसलिये 'मुक्त' का अर्थ 'मोचनं' छोड़ना होता है। आसमय मुक्ति यह इसका विशेषण है।

विशेषार्थ—जिनागम में सामायिक और सामयिक इस तरह दो शब्द प्रचलित हैं। उनमें 'सामायिक' शब्द का व्युत्पत्यर्थ इस प्रकार है—'समायः—समता प्रयोजनं यस्य सः सामायिकः इस व्युत्पत्ति के अनुसार समाय—समता भाव की प्राप्ति जिसका प्रयोजन है, वह सामायिक कहलाता है। मुनिव्रत में सदा समता भाव धारण करना पड़ता है, इसलिये मुनियों के पंचविध चारित्र में सामायिक शब्द का प्रयोग हुआ है। परन्तु गृहस्थ सदा के लिये समता भाव धारण करने में असमर्थ है, अतः वह दिन में दो बार अथवा तीन बार, दो घड़ी, चार घड़ी अथवा छह घड़ी के लिये समस्त पापों का परित्याग कर समता भाव धारण करता है। समय की अवधि से सहित होने के कारण उसकी यह क्रिया सामयिक शिक्षाव्रत कहलाती है। जितने समय की अवधि लेकर वह सामयिक में बैठा है, उतने समय के लिये वह पूर्ण मध्यस्थ रहता है। सुख-दुःख, बन्धु वर्ग—शत्रु संयोग वियोग आदि इष्टानिष्ट परिणतियों में उसे हर्ष विषाद नहीं होता। तथा पञ्च पापों का भी उतने समय के लिये पूर्ण त्यागी होता है। समन्त भद्र स्वामी ने इस प्रकरण सम्बन्धी समस्त श्लोकों में सामयिक शब्द का ही प्रयोग किया है। इससे जान पड़ता है, कि उन्हें शिक्षाव्रत का नाम इष्ट है, सामायिक नहीं।

प्रश्न :—यहां पर जो समय शब्द कहा उसका स्वरूप क्या है ?

उत्तर :—आगम के ज्ञाता पुरुष केश, मुट्ठी, वस्त्र बंध के काल को और पालथी बांधने के काल को अथवा खड़े होने के काल को और बैठने के काल को सामायिक का समय जानते हैं।

मूर्धरुहमुष्टिवासो बन्धं पर्यङ्कबन्धनं चापि।
स्थानमुपवेशनं वा समयं जानन्ति समयज्ञाः ॥८३॥

मूर्धरुह, मुष्टि और वासस् इन तीन शब्दों का द्वन्द्व समास हुआ है। 'द्वन्द्वान्ते द्वन्द्वादौ वा श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बन्ध्यते' इस नियम के अनुसार यहां द्वन्द्व के अन्त में श्रूयमाण बन्ध शब्द का सम्बन्ध प्रत्येक शब्द के साथ होता है। अतः मूर्धरुह बन्ध, मुष्टिबन्ध और वासोबन्ध ये तीन शब्द निष्पन्न हुए हैं। बन्ध का अर्थ बन्ध काल है। इसी तरह पर्यङ्कबन्धन, स्थान और उपवेशन में और उनके काल का

ज्ञान ग्राह्य है। जब तक चोटी में गांठ लगी है, मुठी बंधी है, वस्त्र में गांठ लगी है, पालथी बांधकर बैठा हूँ, कायोत्सर्ग मुद्रा से खड़ा हूँ अथा पद्मासन से बैठा हूँ, तब तक सामयिक करूँगा, ऐसी प्रतिज्ञा सामयिक करने वाला करता है। इसलिये इन सब में जो काल लगता है, वही सामयिक का काल कहलाता है।

विशेषार्थ—जिस प्रकार समय का ज्ञान करने के लिये आजकल घड़ियों का प्रचलन चल पड़ा है, उस प्रकार पहले इनका प्रचलन नहीं था। पहले समय का ज्ञान करने के लिये श्रावक सामयिक में बैठते समय ऐसा विचार कर लेते थे कि जब तक सहज स्वभाव से चोटी की गांठ लगी रहेगी, अथवा जब तक मुट्ठी बांध सकूंगा, अथवा जब तक दुपट्टा आदि की गांठ सहज स्वभाव से लगी रहेगी, अथवा जब तक पालथी बांधकर निराकुलता से बैठा रहूँगा अथवा जब तक निराकुलता से खड़ा रहूँगा, अथवा जब तक निराकुलता पूर्वक पद्मासन से बैठा रहूँगा तब तक सामयिक करूँगा। वही उनका सामयिक का काल कहलाता था।

संस्कृत में समय का एक अर्थ आचार भी होता है। अतः 'समयं जानन्ति मर्म ज्ञाः' यहां पर समय का अर्थ आचार हो सकता है, और आचार का अर्थ विधि है। अतः सामयिक के लिये बैठते समय श्रावक को चाहिये कि वह अपने केशों और वस्त्रों को संभालकर बांध ले, जिससे वे बीच में खुलकर आकुलता उत्पन्न न करें। हाथों की अंगुलियों को खुला न रखें, किन्तु उनकी अंजुलि बाँध ले। आसनों में पालथी बांधना, कायोत्सर्ग से खड़े होना अथवा पद्मासन से बैठना इन तीन आसनों में जिस आसन से निश्चित समय तक निराकुलता पूर्वक रह सकें उस आसन को स्वीकृत करे सामयिक के बीच में आसनों में परिवर्तन न करें। उक्त श्लोक का एक अर्थ यह भी होता है।

प्रश्न :—सामयिक का विशेष अभ्यास कहां बढ़ाना चाहिये ?

उत्तर :—वह सामयिक निर्मल बुद्धि के धारक श्रावक के द्वारा स्त्री, पुरुष तथा नपुंसकों से रहित प्रदेश में, चित्त में चञ्चलता उत्पन्न करने वाले कारणों से रहित स्थान में, वनों में, मकानों में अथवा मन्दिरों में भी बढने के योग्य है।

एकान्ते सामयिकं नित्यंक्षिपे वनेषु वास्तुषु च।
चैत्यालयेषु वापि च परिचेतव्यं प्रसन्नधिया ॥८४॥

पूर्व श्लोक में सामायिक का काल बतलाया था, इस श्लोक में सामायिक का

क्षेत्र बतलाया जा रहा है । सर्वप्रथम सामायिक के लिये एकान्त स्थान होना चाहिये । एकान्त का अर्थ है, जो स्त्री, पुरुष तथा नपुंसकों से रहित हो । फिर निर्व्याक्षेप स्थान होना चाहिये । अर्थात् जिसमें शीत वायु तथा मच्छर आदि का उपद्रव न हो, ऐसा स्थान अटवियों, अपने मकानों, मन्दिरों अथवा पर्वतों की गुफा आदि में कहीं भी हो, वहां प्रसन्न चित्त होकर सामायिक करना चाहिये । 'प्रसन्नधिया' शब्द में प्रसन्न धिर्यस्य स प्रसन्नधिस्तेन' इस प्रकार कर्मधारय समास भी होता है । बहुव्रीहि समास के पक्ष में 'प्रसन्नधिया आत्मना' इस प्रकार विशेष्य की कल्पना ऊपर से करनी चाहिये और कर्म धारय समास के पक्ष में 'प्रसन्नधिया' पद का हेतुरूप से व्याख्यान करना चाहिये ।

विशेषार्थ—सामायिक को प्रसन्न चित्त से करना चाहिये, बेगार समझकर नहीं । और उसके लिये बुद्धि पूर्वक ऐसा स्थान चुनना चाहिये, जहां किसी प्रकार का उत्पात न हो या चित्त को चञ्चल बनाने वाले कारणों का प्रसंग उपस्थित न हो । बुद्धिपूर्वक निर्द्वन्द्व स्थान में सामायिक के लिये बैठ चुकने पर यदि कोई बाधा उपस्थित होती है, तो उसे उपसर्ग समझकर समता भाव से सहन करना चाहिये ।

प्रश्न :—सामायिक में कैसे भाव होने चाहिये ?

उत्तर :—शरीरादिक की चेष्टा और मन की व्यग्रता अथवा कलुषता से से निवृत्ति होने पर मानसिक विकल्पों की विशिष्ट निवृत्ति पूर्वक उपवास के दिन अथवा एकाशन के दिन और अन्य समय भी सामायिक करना चाहिये ।

व्यापार वैमनस्याद्धि निवृत्या मन्तरात्मविनिवृत्या ।
सामायिकं बध्नीयादुपवासे चैक भुक्ते वा ॥८५॥

पिछले दो श्लोकों में सामायिक के योग्य काल और क्षेत्र की चर्चा कर चुकने के बाद इस श्लोक में सामायिक के योग्य भाव की चर्चा की जा रही है । सामायिक किस भाव में किस समय बढ़ायी जा सकती ? इसका उत्तर देते हुए, कहा गया है कि व्यापार-शरीर और वचन की चेष्टा तथा वैमनस्य—मन की व्यग्रता अथवा मन की कलुषता से विनिवृत्ति होने पर अन्तरात्मा—मानसिक विकल्पों को विशिष्ट रूप से दूर करते हुए उपवास और एकाशन के दिन विशेषरूप से सामयिक को बढ़ाना चाहिये । यहां चकार का ग्रहण किया है, उससे अन्य समयों का भी समुच्चय होता है अर्थात् उपवास और एकाशन के सिवाय अन्य दिनों में भी सामयिक को बढ़ाना चाहिये ।

विशेषार्थ—इस श्लोक में सामयिक के योग्य भावों की चर्चा करते हुए कहा

गया है, कि सामयिक के पहले शरीर तथा वचन की चेष्टा अर्थात् शरीर का हिलाना डुलाना तथा वचन का जोर से उच्चारण और वेमनस्य–मन की व्यग्रता अथवा कलुषता को दूर करना चाहिये। साथ ही अन्तरात्मा–मन में जो नाना प्रकार के विकल्प उठते हैं, उन्हें विशेष रूप से दूर करना चाहिये। ऐसे भावों से ही सामयिक में वृद्धि हो सकती है। सामयिक की वृद्धि, उपवास अथवा एकाशन के दिन विशिष्ट रूप से करना चाहिये।

प्रश्न :—क्या सामायिक प्रतिदिन करना चाहिए ?

उत्तर :—आलस्य से रहित और चित्त की एकाग्रता से युक्त पुरुष के द्वारा हिंसा त्याग आदि पाँच व्रतों की पूर्ति का कारण सामयिक प्रतिदिन भी योग्य विधि के अनुसार बढाने योग्य है।

सामयिकं प्रतिदिवसं यथावदप्यनलसेन चेतव्यं।
व्रत पञ्चक परिपूरण करणमवधान युक्तेन ॥८६॥

पिछले श्लोक में उपवास तथा एकाशन के दिन सामायिक को बढ़ाने की बात कही गई थी, इसलिए कोई ऐसा न समझ ले कि उसी दिन करने के योग्य है, अन्य दिनों में नहीं। इसका निराकरण करने के लिए इस श्लोक में कहा गया है कि सामयिक प्रतिदिन शास्त्रोक्त विधि से करना चाहिए, क्योंकि यह सामयिक हिंसाविरति आदि पाँच व्रतों की परिपूर्णता अर्थात् उनकी महाव्रतरूपता का कारण है। सामयिक करने वाले पुरुष को आलस्य रहित तथा चित्त की एकाग्रता से युक्त होना चाहिए।

विशेषार्थ :—कितने ही लोग आलस्य के वशीभूत होकर बिस्तर पर बैठे-बैठे ही सामयिक करने लगते हैं तथा खड़े होकर चारों दिशाओं में दण्डवत्, आवर्त्त तथा शिरोनति नहीं करते हैं। अथवा कुछ लोग ऊँघते-ऊँघते हुए सामयिक करते हैं। उन्हें सचेत करते हुए आचार्य ने 'अनलसेन' विशेषण दिया है, जिसका अर्थ होता है कि सामयिक आलस्य रहित होकर करना चाहिये अर्थात् सामयिक के जो अङ्ग आगम में बतलाये गये हैं, उन्हें विधि पूर्वक करना चाहिए। कितने ही लोग मालाएँ फेरने को ही सामयिक समझ लेते हैं। अतः वे चित्त की स्थिरता की ओर ध्यान न देकर मात्र चार-छह मालाएँ फेरकर ही अपना सामयिक का काल पूरा कर लेते हैं। उन्हें सचेत करते हुए आचार्य ने 'अवधानयुक्तेन' विशेषण दिया है। अर्थात् सामयिक चित्त की

एकाग्रता से युक्त होकर करना चाहिये। सामायिक से हिंसाविरति आदि पांचों व्रतों में पूर्णता आती है। फलतः उनमें महाव्रत जैसा व्यवहार होने लगता है। इसलिए सामायिक को न केवल उपवास या एकाशन के दिन में करना चाहिये, किन्तु प्रतिदिन करना चाहिए और जैसा तैसा नहीं, किन्तु यथावत्-शास्त्रोक्त विधि का उल्लंघन न करते हुए करना चाहिए। इस श्लोक में सामायिक करने वाले पुरुष के लिए जो 'अनलसेन' और 'अवधानयुक्तेन' ये दो विशेषण दिये हैं, उनसे सामायिक के योग्य द्रव्य का वर्णन आचार्य ने किया है, ऐसा जान पड़ता है। और इससे सामायिक का काल, क्षेत्र, भाव तथा द्रव्य इन चारों की उपेक्षा वर्णन पूर्ण हो जाता है।

प्रश्न :—अणुव्रत ही महाव्रतों में कैसे परिणत होते हैं ?

उत्तर :—क्योंकि सामायिक के काल में आरम्भ सहित परिग्रह ही नहीं है, इसलिए उस समय गृहस्थ उपसर्ग के कारण वस्त्र से वेष्टित मुनि के समान मुनिपने को प्राप्त होता है।

सामयिके सारम्भाः परिग्रहा नैव सन्ति सर्वेऽपि।
चेलोपसृष्ट मुनिरिव गृही तदा याति यति भावम् ॥८७॥

जब गृहस्थ सामायिक में बैठता है, तब उसके खेती आदि के आरम्भ से सहित बाह्य और अन्तरंग तथा चेतन अचेतन के भेद से सभी प्रकार के परिग्रह नहीं होते, इसलिए उस समय वह उपसर्ग से वस्त्र ओढ़ाये हुये मुनि के समान मुनिपने को प्राप्त होता है।

विशेषार्थ :—सामायिक में बैठने वाला गृहस्थ अमुक निश्चित समय के लिए हिंसादि समस्त पापों तथा सब प्रकार के आरम्भों का त्याग कर चुकता है। उतने समय के लिए वह समस्त परिग्रहों का भी त्याग कर देता है। यद्यपि पद के अनुरूप शरीर पर वस्त्र धारण किये हुए है, तो भी उन वस्त्रों में उसके ममत्व भाव नहीं रहता। यदि सामयिक के काल में कोई दुष्ट मनुष्य उसके शरीर पर स्थित उन वस्त्रों को निकालने की चेष्टा करे तो वह सामयिक से विचलित नहीं होता। उसकी उस समय की अवस्था उस मुनि के समान होती है, जिस प्रकार किसी दुष्ट मनुष्य ने उपसर्ग करने के लिये वस्त्र ओढ़ा दिया है। ऐसे मुनि बाह्य में यद्यपि वस्त्र ओढ़े हुये दिखाई देते हैं, तथापि वस्त्र के प्रति ममत्वभाव न होने से वे वस्त्र रहित ही माने जाते हैं। इसी प्रकार गृहस्थ भी सामयिक के काल में यद्यपि अपने पद के अनुरूप वस्त्र

धारण किये हुये है तथापि उन वस्त्रों से उन्हें ममत्वभाव नहीं रहता। इस प्रकार सामयिक करने वाला गृहस्थ सब प्रकार के परिग्रहों से रहित होने के कारण मुनि जैसी अवस्था को प्राप्त होता है।

प्रश्न :—सामायिक करने वाले गृहस्थ और भी क्या करें ?

उत्तर :—सामयिक को स्वीकृत करने वाले गृहस्थ स्थिर समाधि अथवा गृहीत अनुष्ठान को न छोड़ते हुए मौनधारी होकर शीत, उष्ण तथा दंशमशक परिषह को और उपसर्ग को भी सहन करें।

शीतोष्ण दंशमशक परिषहमुपसर्गमपि च मौन धराः।
सामयिकं प्रतिपन्ना अधि कुर्वीरन्नचल योगाः ॥८८॥

जिन्होंने सामयिक को स्वीकार किया है, ऐसे गृहस्थों को अपने योग-ध्यान में स्थिर रहकर तथा पीड़ाकारक परिस्थिति के आने पर भी अपनी गृहीत प्रतिज्ञा से विचलित नहीं होते हुए मौन धारी बनकर शीत, ऊष्ण तथा तिर्यंचों के द्वारा किये हुए उपसर्ग को सहन करना चाहिए।

विशेषार्थ :—सामयिक में बैठने पर यदि सर्दी, गर्मी की बाधा आती है, मच्छरों का उपद्रव होता है अथवा दुष्ट देव, मनुष्य या तिर्यंचो के द्वारा कोई उपसर्ग किया जाता है, तो उसे दीनता के वचन न कहते हुए चुपचाप सहन करना चाहिए तथा अपनी गृहीत प्रतिज्ञा से विचलित नहीं होना चाहिये।

प्रश्न :—सामायिक में क्या विचार करे ?

उत्तर :—सामयिक में स्थित मनुष्य इस प्रकार ध्यान करे कि मैं शरण रहित, अशुभ, अनित्य दुःख स्वरूप और अनात्मस्वरूप संसार में निवास करता हूँ और मोक्ष उससे विपरीत स्वरूप वाला है।

अशरणमशुभ मनित्यं दुःखमनात्मानभावयामि भवम्।
मोक्षस्तद्विपरीतात्मेति ध्यायन्तु सामयिके ॥८९॥

अपने द्वारा गृहीत कर्मों के वश से चारों गतियों में परिभ्रमण करना भव कहलाता है। मैं जिस भव में रह रहा हूँ वह अशरण है—इसमें मृत्यु से कोई रक्षा करने वाला नहीं है। अशुभ कारणों से उत्पन्न होने तथा अशुभ कार्य को करने के कारण अशुभ है। चारों गतियों में परिभ्रमण का काल नियत होने से अनित्य है। दुःख का कारण होने से दुःख रूप है और आत्म स्वरूप से भिन्न होने के कारण

अनात्मा है। सामयिक में स्थित मनुष्य इस प्रकार संसार के स्वरूप का विचार कर और मोक्ष इससे विपरीत है अर्थात् शरण है, शुभ है, नित्य है, सुखरूप है तथा आत्म स्वरूप है, इस प्रकार मोक्ष के स्वरूप का विचार करें।

विशेषार्थ :—सामयिक के समय तत्व-चिन्तन होना चाहिए। तत्वों में प्रमुख जीव तत्व है और जीव तत्व की संसार तथा मोक्ष के भेद से दो अवस्थाएँ हैं। इन दोनों अवस्थाओं का चिन्तन करते हुये संसार और मोक्ष की विशेषता का विचार किया जाता है। संसार की विशेषताओं का चिन्तन करते हुए विचार करना चाहिए कि यह संसार अशरण, अशुभ, अनित्य, दुःख रूप तथा अनात्मा है अर्थात् आत्मा की शुद्ध अवस्था नहीं है। परन्तु मोक्ष इससे विपरीत शरण, शुभ, नित्य, सुखरूप तथा आत्मा है—आत्मा की शुद्ध अवस्था है। ऐसा विचार करने से संसार से उपेक्षा और मोक्ष के प्रति आदर का भाव उत्पन्न होता है। जीव की यह संसार अवस्था, कर्म नोकर्मरूप अजीव के सम्बन्ध से हुई है और वह सम्बन्ध भी आस्रव व बन्ध का कारण हुआ है। इस तरह संसार के स्वरूप चिन्तन के अन्तर्गत अजीव आस्रव और बन्ध तत्व का चिन्तन आता है। और मोक्ष अवस्था, कर्म-नोकर्म रूप अजीव के साथ जीव का सम्बन्ध विघट जाने से होती है और वह सम्बन्ध का विघटन संवर तथा निर्जरा के द्वारा होता है। इस तरह मोक्ष के स्वरूप–चिन्तन के अन्तर्गत संवर और निर्जरा तत्व का चिन्तन आता है।

प्रश्न :—सामयिक के अतिचार कौन कौन से हैं ?

उत्तर :—वचन, काय और मन के दुष्प्रणिधान अर्थात् वाग्दुष्प्रणिधान, कायदुष्प्रणिधान, मनोदुष्प्रणिधान, अनादर और अस्मरण ये पाँच परमार्थ से सामयिक के अतिचार प्रकट किये जाते हैं।

वाक्काय मानसानां दुःप्रणिधानान्यनादरास्मरणे।
सामयिकस्यातिगमा व्यज्यन्ते पञ्च भावेन ॥९०॥

वचन, काय और मन ये तीन योग हैं। इनकी खोटी प्रवृत्ति करने को दुष्प्रणिधान कहते है। इस तरह तीन योग सम्बन्धी खोटी प्रवृत्ति के कारण तीन अतिचार होते हैं। अनादर का अर्थ अनुत्साह है और अस्मरण का अर्थ एकाग्रता का अभाव है। सब मिलाकर सामयिक के पाँच अतिचार कहे जाते हैं।

विशेषार्थ—मन्त्र या सामयिक पाठ का उच्चारण करते समय अशुद्ध

उच्चारण करना वचन दुष्प्रणिधान कहलाता है। शरीर को हिलाना डुलाना, इधर-उधर देखना, मच्छर को भगाना तथा बीच में आसन बदलना यह सब कायदुष्प्रणिधान कहलाता है और मन को तत्त्वचिंतन से हटाकर इधर-उधर के विषयों में लगाना मनोदुष्प्रणिधान है। बेगार समझकर अनुत्साह से सामयिक करना अनादर कहलाता है। चार आदमियों की सुखद गोष्ठी चल रही है। इतने में सामयिक का समय हो गया। इस स्थिति में गोष्ठी को छोड़कर अनादर से सामयिक करने को अनादर नाम का अतिचार बनता है। चित्त की एकाग्रता न होने से मन्त्र या सामयिक पाठ को भूल जाना अस्मरण कहलाता है। जब इन पांच अतिचारों को भाव पूर्वक बचाने का प्रयत्न किया जाता है, तभी निरतिचार सामयिक शिक्षाव्रत होता है। ऊपर कहे पांच अतिचारों में यद्यपि मनोदुष्प्रणिधान नामक अतिचार को बचाना कठिन कार्य है, तथापि अभ्यास पूर्वक वह बचाया जा सकता है। उसके विषय में कहा गया है कि मनोदुष्प्रणिधान योगमूलक और कषायमूलक के भेद से दो प्रकार का है। मन की जो साधारण चञ्चलता है, वह योग मूलक दुष्प्रणिधान है और बुद्धि पूर्वक किसी के इष्ट-अनिष्ट का चिन्तन करने से जो चंचलता होती है, वह कषाय मूलक दुष्प्रणिधान है। सर्वप्रथम कषायमूलक दुष्प्रणिधान को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये अर्थात् सामयिक में बैठकर किसी के इष्ट-अनिष्ट का विचार नहीं करना चाहिये। तदन्तर योग मूलक दुष्प्रणिधान को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये। सामयिक में जो मन्त्र पाठ बोला जाता है, उसके अर्थ की ओर लक्ष्य करने से यह योग मूलक वचन या दुष्प्रणिधान भी दूर किया जा सकता है। धर्मध्यान के जो आज्ञाविचय, अपाय-विचय, विपाक-विचय और संस्थान-विचय अथवा पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत के भेद से अनेक भेद बताये गये हैं, उनका चिन्तन करने से भी मन की एकाग्रता होती है — अतः सामयिक के साथ ध्यान का अभ्यास करना चाहिये।

प्रश्न :—प्रोषधोपवास का क्या लक्षण है ?

उत्तर :—चतुर्दशी और अष्टमी के दिन सर्वदा के लिये व्रत विधान की वाञ्छा से चार प्रकार के आहारों का त्याग करना प्रोषधोपवास जानना चाहिये।

पर्वण्यष्टम्यां च ज्ञातव्यः प्रोषधोपवासस्तु।
चतुरभ्यवहार्य्याणां प्रत्याख्यानं सदेच्छाभिः ॥९१॥

अन्न, पान, खाद्य और लेह्य के भेद से आहार के चार भेद हैं। इन चारों

प्रकार के आहार का प्रत्येक चतुर्दशी और अष्टमी के दिन व्रतविधान की इच्छा से त्याग करना प्रोषधोपवास जानना चाहिये । यहाँ 'सदा' शब्द देने से यह बात सिद्ध की गई है कि यह चार प्रकार के आहार का त्याग सदा के लिये – जीवन पर्यन्त की अष्टमी-चतुर्दशी के लिये होना चाहिये, न कि दो-चार माह की अष्टमी-चतुर्दशी के लिये । इसी प्रकार 'इच्छाभिः' पद देने से यह सिद्ध किया गया है कि यह त्याग व्रत धारण करने की भावना से होना चाहिये, न कि लोक व्यवहार में किये हुए धारणा आदि की भावना से । अपनी किसी माँग को स्वीकृत कराने के लिये जो आहार त्याग किया जाता है, उसे धारणा कहते हैं । धारणा देने के लिये किया गया आहार त्याग प्रोषधोपवास में सम्मिलित नहीं है ।

विशेषार्थ :—मुनि व्रत में पराश्रित भोजन होने के कारण चाहे जब निराहार रहना पड़ता है । यदि गृहस्थ अवस्था में निराहार रहने का अभ्यास नहीं किया है, तो मुनि पद में निराहार रहने का अवसर आने पर संक्लेश होगा, इसलिये गृहस्थ को यह आवश्यक नियम रखा गया है कि प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी को चार प्रकार के आहार का बुद्धिपूर्वक त्याग कर निराहार रहने की शिक्षा ग्रहण करें । दाल, भात, रोटी आदि अशन कहलाते हैं, प्रत्येक चतुर्दशी और अष्टमी की इन चार प्रकार के आहारों का त्याग करना प्रोषधोपवास कहलाता है । प्रोषधोपवास पद का शब्दार्थ ग्रन्थकर्त्ता १९ वें श्लोक में स्वयं करेंगे । जैन धर्म में अष्टमी और चतुर्दशी को अनादि पर्व माना गया है । प्रत्येक मास में दो अष्टमी और दो चतुर्दशी इस प्रकार चार पर्व आते हैं । इन पर्वों के दिन व्रत धारण की इच्छा से चार प्रकार के आहार का त्याग करना चाहिये । यह त्याग सदा के लिये अर्थात् जीवनपर्यन्त के लिये होता है, समय की अवधि को लेकर नहीं होता । कुछ टीकाकार 'सदेच्छाभिः' के स्थान पर 'सदिच्छाभिः' पाठ की कल्पना कर उसकी व्याख्या करते हैं—प्रशस्त अभिप्राय से । परन्तु संपादन के लिये प्राप्त प्रतियों में 'सदेच्छाभिः' यही पाठ मिलता है, तथा संस्कृत-टीकाकार ने भी 'सदेच्छाभिः' पद की ही टीका की है । इसलिये नवीन पाठ की कल्पना करना उचित मालूम नहीं होता । प्रोषधोपवास तप का स्वरूप है और तप शक्ति के अनुसार परिवर्तित होता रहता है । ऋतुचक्र का भी मनुष्य की शक्ति पर प्रभाव पड़ता है । इसलिये पीछे चलकर आचार्यों ने प्रोषधोपवासव्रत को उपवास, अनुपवास तथा एकाशन नाम देकर उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य इन तीन भेदों में विभक्त कर दिया है । चारों

प्रकार के आहार का त्याग करना उपवास है सिर्फ पानी लेना अनुपवास है और एक बार भोजन करना एकाशन है।

प्रश्न :—उपवास के दिन क्या करना चाहिये ?

उत्तर :—उपवास के दिन पांच पापों, अलंकार धारण करना, खेती आदि आरम्भ करना, चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थों का लेपन करना, पुष्प मालाएँ धारण करना या पुष्पों को सूंघना, स्नान करना, अञ्जन, काजल, सुरमा आदि लगाना तथा नाक से नस आदि सूंघना इन सबका त्याग करना चाहिये।

पञ्चानां पापानामलं क्रियारम्भ गन्ध पुष्पाणाम्।
स्नानाञ्जन नस्याना मुपवासे परिहृतिं कुर्य्यात् ॥९२॥

उपवास करने वाले व्यक्ति को चाहिये कि वह उपवास के दिन हिंसा, असत्य, चौर्य, कुशील और परिग्रह इन पाँच पापों का त्याग करे। शरीर की सजावट, वाणिज्य आदि व्यापार तथा गन्ध पुष्प आदि के प्रयोग और स्नान, अञ्जन तथा नस आदि के सेवन का परिहार-परित्याग करे। यह सब उपलक्षण है, अतः गीत नृत्य आदि राग के कारणों का भी त्याग आ जाता है।

विशेषार्थ :—उपवास का मूल उद्देश्य कषाय, विषय और आहार का त्याग करना है। जिसमें मात्र आहार का त्याग किया जाता है, कषाय और विषयों-स्पर्शनादि पञ्च इन्द्रियों के विषयों का त्याग नहीं किया जाता वह उपवास नहीं कहलाता, किन्तु लङ्घन कहलाती है। इसी उद्देश्य को चरितार्थ करने के लिये आचार्य ने उपवास के दिन न करने योग्य कार्यों का निर्देश किया है। न करने योग्य कार्यों में स्नान का भी निषेध बतलाया है, सो यहां स्नान शब्द से तेल तथा उद्वर्तन आदि लगाकर किये जाने वाले विशिष्ट स्नान का त्याग समझना चाहिये। शुद्ध प्रासुक जल से किये हुए साधारण स्नान का निषेध नहीं है, क्योंकि उसके बिना जिनेन्द्र भगवान् का अभिषेक तथा पूजन आदि की क्रिया नहीं हो सकती। श्लोक में जिन कार्यों के न करने के लिये आचार्य ने निर्देश किया है, वे उपलक्षण मात्र हैं। इसलिये रागवर्धक गीत, नृत्य आदि का भी उस दिन त्याग करना चाहिये, यह सिद्ध होता है।

प्रश्न :—और भी क्या करना चाहिये ?

उत्तर :—उपवास करने वाला व्यक्ति उत्कण्ठित होता हुआ कानों से धर्म-

रूपी अमृत को स्वयं पीवे अथवा दूसरों को पिलावे अथवा आलस्य रहित होता हुआ ज्ञान और ध्यान में तत्पर होवे ।

धर्मामृतं सतृष्णः श्रवणाभ्यां पिबतु पाययेद्वान्यान् ।
ज्ञान ध्यान परो वा भवतूपवसन्नतन्द्रालुः ॥९३॥

समस्त प्राणियों के संतोष का कारण होने से धर्म को अमृत कहा है । उपवास करने वाला व्यक्ति यदि धर्म का विशेष ज्ञाता नहीं है, तो वह बड़ी उत्सुकता-पूर्वक दूसरे विशिष्ट ज्ञानी जनों के मुख से होने वाले धर्मोपदेश को अपने कानों से सुने और यदि स्वयं विशिष्ट ज्ञानी है, तो वह दूसरों को धर्मोपदेश सुनावे । इसके अतिरिक्त आलस्य को जीतता हुआ स्वयं ज्ञान और ध्यान में तत्पर रहे । स्वाध्याय में लीन रहता हुआ अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधि दुर्लभ और धर्म इन बारह भावनाओं के चिन्तन में दत्तचित्त रहे । अथवा आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय इन चार धर्मध्यान में तत्पर रहे ।

विशेषार्थ :—उपवास के पूर्व दिन में मध्याह्न का भोजन करने के बाद उपवास का नियम लेकर सब प्रकार के आरम्भ का त्याग करना चाहिये । यहां तक कि शरीरादिक में भी ममत्वभाव नहीं रखना चाहिये । एकान्त वसतिका में जाकर समस्त पाप पूर्ण योग का त्याग करे, समस्त इन्द्रियों के विषयों से निवृत हो और मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति का पालन करता हुआ रहे । धर्मध्यान में लीन होता हुआ दिन का शेष भाग व्यतीत करे । फिर सांध्यकालीन सामायिक कर स्वाध्याय से निद्रा को जीतता हुआ पवित्र संस्तर पर रात्रि को व्यतीत करे । उपवास के दिन प्रातःकाल उठकर प्रातःकालीन सामायिक आदि क्रियाओं को करके प्रासुक द्रव्य से जिनेन्द्र भगवान की पूजा करे । तदनन्तर स्वाध्याय और ध्यान के द्वारा समस्त दिन, रात्रि और तृतीय दिन के अर्ध भाग को व्यतीत करे । इस प्रकार समस्त पाप कार्यों से निवृत होकर जो सोलह पहरों को व्यतीत करता है, उसके पूर्ण अहिंसाव्रत होता है । देशव्रती श्रावकों के भोगोपभोग मूलक ही स्थावर जीवों की हिंसा होती है । परन्तु उपवास के दिन भोगोपभोग का त्याग हो चुकता है, इसलिये हिंसा का अंश भी उनके नहीं होता । वचन गुप्ति होने से असत्य पाप से निवृत्ति है, सब प्रकार की वस्तुओं के ग्रहण का अभाव होने से चोरी से निवृत्ति है, मैथुन का त्याग होने से अब्रह्म पाप से

निवृत्ति है और शरीर में भी जब मूर्च्छा-ममता भाव से रहित है, तब परिग्रह से निवृत्ति स्वतः सिद्ध है। इस प्रकार समस्त हिंसादि पापों से रहित वह प्रोषधोपवास करने वाला व्यक्ति उपचार से महाव्रती अवस्था को प्राप्त होता है। परन्तु प्रत्याख्यानावरण नाम का चारित्र मोह का उदय रहने के कारण वह संयम के स्थान को प्राप्त नहीं होता है।

प्रश्न :—प्रोषधोपवास का क्या लक्षण है ?

उत्तर :—चार प्रकार के आहार का त्याग करना उपवास है। एक बार भोजन करना प्रोषध है और उपवास करने के बाद पारणा के दिन एक बार भोजन करना वह प्रोषधोपवास है।

चतुराहार विसर्जनमुपवासः प्रोषधः सकृद्भुक्तिः।
स प्रोषधोपवासो यदुपोष्यारम्भमाचरति ॥९४॥

अशन, पान, खाद्य और लेह्य के भेद से आहार चार प्रकार का होता है। भात मूंग आदि अशन कहलाते हैं, छांछ आदि पीने योग्य पदार्थ पान कहलाते हैं, लाडू आदि खाद्य पदार्थ हैं और खड़ी आदि चाटने योग्य पदार्थ लेह्य कहलाते हैं। इन चारों प्रकार के आहार का त्याग करना उपवास कहलाता है। एक बार भोजन करना प्रोषध कहलाता है और धारणा तथा पारणा के दिन एकाशन के साथ पर्व के दिन जो उपवास किया जाता है, वह प्रोषधोपवास कहलाता है। 'प्रोषधाभ्यां धारणकपारणकदिने सकृद्भुक्तिभ्यां सह उपवासः प्रोषधोपवासः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार धारणा और पारणा के दिन एकाशन करते हुए अष्टमी तथा चतुर्दशी को उपवास करना प्रोषधोपवास कहलाता है।

विशेषार्थ :—श्री समन्तभद्र स्वामी प्रोषधोपवास का लक्षण इस परिच्छेद के १६वें श्लोक में लिख चुके हैं और बाद के श्लोकों में उपवास के दिन न करने योग्य तथा करने योग्य क्रियाओं का वर्णन कर चुके हैं। अब इस श्लोक में उन्होंने पुनः उपवास, प्रोषध और प्रोषधोपवास का लक्षण लिखा है जो कि पुनरुक्त सा प्रतीत होता है। यहाँ उपवास का लक्षण तो वही है, जो कि १६वें श्लोक में लिखा है, परन्तु प्रोषध का लक्षण अतिरिक्त लिखा है और प्रोषधों के साथ जो उपवास है, उसे प्रोषधोपवास कहा है। अन्य ग्रन्थों में प्रोषध का अर्थ पर्व अष्टमी चतुर्दशी लिखा है। अतः पर्व के दिन किया हुआ उपवास प्रोषधोपवास कहलाता है। वहाँ धारणा और

पारणा के दिन एकाशन करने की चर्चा नहीं है। यहां इस श्लोक में धारणा और पारणा के दिन एकाशन की भी चर्चा की गई है। जान पड़ता है कि समन्तभद्र स्वामी ने इस श्लोक में किसी अन्य मान्यता का उल्लेख किया है। धारणा के दिन एकाशन करने की चर्चा तो पुरुषार्थसिद्धयुपाय में अमृतचन्द्र स्वामी ने भी की है। उन्होंने प्रोषधोपवास के १६ पहरों का विवरण देते हुए लिखा है कि उपवास के पूर्व दिन मध्याह्नका भोजन करने के बाद उपवास का नियम लेकर एकान्तवसतिका में चला जाना चाहिये। इस संदर्भ में उन्होंने तृतीय दिन के मध्याह्न तक का कार्य विवरण दिया है। इससे सिद्ध होता है कि धारणा के दिन एकाशन किया जाता था। परन्तु पारणा के दिन एकाशन की चर्चा अन्यत्र देखने में नहीं आयी। इस श्लोक में आरम्भ का अर्थ संस्कृत टीकाकार ने 'सकृद्भुक्ति' किया है। पर आरम्भ का अर्थ सकृद्भुक्ति' कैसे हो गया, यह बुद्धि में नहीं आता। आरम्भ का अर्थ आरम्भ ही है। उपवास के पूर्व दिन मध्याह्न के भोजन के बाद उपवास का नियम लेकर 'मुक्त समस्तारम्भ' हुआ था; अब सोलह पहर के बाद वह आरम्भ-गृहस्थी के अन्य कार्य करने के लिये स्वतन्त्र हो जाता है। यह अर्थ प्रसंगानुसार संगत प्रतीत होता है। वर्त्तमान में उपवास के तीन रूप प्रचलित हैं—१. सोलह पहर का, २. बारह पहर का और ३. आठ पहर का। सोलह पहर का उपवास पूर्व दिन के मध्याह्न के भोजन के बाद शुरू होता है, और तृतीय दिन के दोपहर तक चलता है। बारह पहर का उपवास पूर्व दिन के शाम के भोजन के बाद शुरू होता है, और तृतीय दिन के सूर्योदय तक चलता है। और आठ पहर का उपवास सूर्योदय के समय से लेकर आगामी दिन के सूर्योदय तक चलता है।

प्रश्न :—प्रोषधोपवास के अतिचारों का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जो बिना देखे तथा बिना शोधे पूजा आदि के उपकरणों को ग्रहण करना, मल मूत्रादि को छोड़ना और संस्तर आदि बिछाना तथा अनादर और अस्मरण हैं, वे प्रोषधोपवास व्रत के पांच अतिचार हैं।

ग्रहणविसर्गा स्तरणान्य दृष्टमृष्टान्यनादरास्मरणे।
यत्प्रोषधोपवास व्यतिलङ्घनपञ्चकं तदिदम् ॥९५॥

यहां जीव-जन्तु हैं या नहीं, इस प्रकार चक्षु से देखना दृष्ट कहलाता है, और कोमल उपकरण से प्रमार्जन करना मृष्ट कहलाता है। जिसमें ये दोनों न हों, उसे अदृष्ट मृष्ट कहते हैं। अदृष्ट मृष्ट शब्द का सम्बन्ध ग्रहण, विसर्ग और आस्तरण इन

तीनों के साथ होता है. इसलिए अदृष्टमृष्ट ग्रहण अतिचार उसके होता है, जो भूख से पीड़ित होकर अर्हन्त आदि की पूजा के उपकरण तथा अपने वस्त्र आदि बिना देखे, बिना शोधे ग्रहण करता है। अदृष्ट मृष्ट विसर्ग अतिचार उसके होता है, जो भूख से पीड़ित होने के कारण बिना देखी, बिना शोधी भूमि में मलमूत्र छोड़ता है, और अदृष्ट मृष्टास्तरण अतिचार उसके होता है. जो भूख से पीड़ित होने के कारण बिना देखे, बिना शोधे स्थान पर बिस्तर बिछाता है। इन तीनों के सिवाय अनादर, अस्मरण ये दो अतिचार और होते हैं। जिसमें अनादर का अर्थ है, भूख से पीड़ित होने के कारण आवश्यक कार्यों में आदर नहीं करना अर्थात् उन्हें उपेक्षा भाव से करना और अस्मरण का अर्थ है अनेकाग्रता अर्थात् चित्त में एकाग्रता का नहीं होना।

विशेषार्थ—तत्त्वार्थसूत्रकार ने भी इस व्रत के ये ही पांच अतिचार बतलाये हैं, मात्र शब्दों में अन्तर है, भाव में नहीं। जैसे—१. अप्रत्यवेक्षिता प्रमार्जितोत्सर्ग, २. अप्रत्यवेक्षिता प्रमार्जितदान, ३. अप्रत्यवेक्षिता प्रमार्जित संस्तरोपक्रमण, ४. अनादर और ५. अस्मरण। अनादर और अस्मरण ये दो अतिचार सामयिक शिक्षाव्रत में भी आते हैं। वहां सामयिक से सम्बन्ध है, यहां प्रोषधोपवास से सम्बन्ध है। अनादर का एक अर्थ यह भी उचित जान पड़ता है कि कोई व्यक्ति उपवास तो करता है, परन्तु अनादर—अनुत्साह पूर्वक करता है। जैसे—ग्रीष्म ऋतु में उपवास की शक्ति क्षीण हो जाने से कोई प्रतिज्ञा पूर्ति के लिए उपवास करता है, उत्साह पूर्वक नहीं। इसी प्रकार अस्मरण का एक अर्थ यह भी उचित जान पड़ता है कि पर्व के दिन का स्मरण नहीं रखना। जैसे—अष्टमी, चतुर्दशी के निकल जाने पर कोई किसी से पूछता है कि आज अष्टमी तो नहीं है? चतुर्दशी तो नहीं है? इस तरह समयान्तर में पूर्व के दिन का उपवास करता है।

प्रश्न :—वैयावृत्य शिक्षाव्रत का लक्षण क्या है?

उत्तर :—(तपोधनाय) तपरूप धन से युक्त तथा सम्यग्दर्शनादि गुणों के भण्डार गृह त्यागी—मुनीश्वर के लिए विधि, द्रव्य आदि सम्पत्ति के अनुसार प्रतिदान और प्रत्युपकार की अपेक्षा से रहित धर्म के निमित्त जो दान दिया जाता है, वह वैयावृत्य कहलाता है।

दानं वैयावृत्यं धर्माय तपोधनाय गुणनिधये।
अनपेक्षितोपचारोपक्रियमगृह्याय विभवेन ॥९६॥

तप ही जिनका धन है, तथा सम्यग्दर्शनादि गुणों के जो निधि आश्रय हैं, ऐसे भाव आगार और द्रव्य आगार से रहित मुनीश्वर के लिये उपचार–प्रतिदान तथा उपक्रिया–प्रत्युपकार की भावना से रहित अपनी विधि, द्रव्य आदि सम्पदा के अनुसार जो आहार आदि का दान दिया जाता है, वह वैयावृत्य कहलाता है ।

विशेषार्थ:—व्यावृत्तिः, दुःख निवृत्तिः प्रयोजनं यस्य तत् वैयावृत्यं' इस व्युत्पत्ति के अनुसार दुःख निवृत्ति जिसका प्रयोजन है, उसे वैयावृत्य कहते हैं । अन्य आचार्यों ने वैयावृत्य के स्थान पर अतिथिसंविभाग शब्द रखा है । अतिथिसंविभाग व्रत जिस प्रकार अतिथि के लिए दान की प्रधानता है, उसी प्रकार वैयावृत्य में भी दान की प्रधानता है, क्योंकि आहार आदि दान के द्वारा अतिथि की दुःखनिवृत्ति का प्रयोजन सिद्ध होता है । फिर अतिथिसंविभाग शब्द को परिवर्तित करने का प्रयोजन क्या है ? यह प्रश्न उठता है । उसका उत्तर यह है कि अतिथिसंविभाग शब्द में मात्र चार प्रकार के दानों का समावेश होता है, उसके अतिरिक्त संयमीजनों की जो सेवा-सुश्रुषा है, उसका समावेश नहीं होता । परन्तु वैयावृत्य शब्द में दान और सेवा-सुश्रुषा सबका समावेश होता है । इसलिये समन्तभद्र स्वामी ने 'वैयावृत्य' इस व्यापक शब्द को स्वीकृत किया है ।

दान देते समय पात्र का विचार करना आवश्यक है । इस लिये पात्र का विचार करते हुए आचार्य ने तीन विशेषण दिये हैं–'तपोधनाय' 'गुणनिधये' और 'अगृहाय' पात्र वही हो सकता है जो तपस्वी हो, सम्यग्दर्शनादि गुणों का आधार हो और गृह त्यागी हो । दान देते समय यही एक उद्देश्य होना चाहिये कि इससे रत्न-त्रय रूप धर्म की वृद्धि हो । दान के बदले मुनीश्वर हमें कुछ देवें अथवा मन्त्र, तन्त्र आदि के द्वारा हमारा कुछ प्रत्युपकार करें ऐसी भावना नहीं रखना चाहिये । इसके सिवाय दान अपने विभव-सामर्थ्य के अनुसार देना चाहिये, क्योंकि सामर्थ्य का उल्लङ्घन कर जो दान दिया जाता है, वह संक्लेश का कारण होता है ।

प्रश्न :—वैयावृत्य माने क्या ?

उत्तर :—सम्यग्दर्शनादि गुणों की प्रीति से देशव्रत और सकलव्रत के धारक संयमी जनों की आई हुई नाना प्रकार की आपत्ति को दूर करना, पैरों का उपलक्षण से हस्तादिक अङ्गों का दबाना और इसके सिवाय अन्य भी जितना उपकार है, वह सब वैयावृत्य कहा जाता है ।

व्यापत्ति व्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागात् ।
वैयावृत्यं यावानुपग्रहोऽन्योऽपि संयमीनाम् ॥९७॥

देशव्रती और सकलव्रती के भेद से संयमी दो प्रकार के हैं। इनके ऊपर यदि बीमारी आदि नाना प्रकार की आपत्तियां आई हैं, तो उन्हें गुणानुराग से प्रेरित होकर दूर करना, उनके पैर आदि अंगों का मर्दन करना तथा इसके सिवाय और भी जितनी कुछ समयानुकूल सेवा है, वह सब वैयावृत्य नामक शिक्षाव्रत है। यह वैयावृत्य व्यवहार अथवा किसी दृष्ट फल की अपेक्षा से न होकर मात्र गुणानुराग अर्थात् भक्ति के वश से की जाती है।

विशेषार्थ :—मुनियों के योग्य छह अन्तरंग तपों में एक वैयावृत्य नाम का तप है। जिसका अर्थ होता है, बालक, वृद्ध अथवा ग्लान-रुग्ण आदि मुनियों की सेवा कर उन्हें मार्ग में स्थिर रखना। परस्पर की सहानभूति की प्रवृत्ति से ही चतुर्विध मुनि संघ का निर्वाह होता है। आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ इन दस प्रकार के मुनियों का वैयावृत्य नाम का शिक्षाव्रत रखा गया है। गृहस्थ को चाहिये कि उसके नगर में यदि किसी देशव्रती या महाव्रती के ऊपर कोई कष्ट आया है, तो उसे पूर्ण तत्परता के साथ दूर करें। इस वैयावृत्य शिक्षाव्रत में सभी दानों का समावेश होता है। वैयावृत्य करते समय किसी प्रकार की ग्लानि या मान-अपमान का भाव नहीं रखना चाहिये, क्योंकि स्वार्थ बुद्धि से किया हुआ वैयावृत्य धर्म का अंग नहीं होता। सेवा को श्ववृत्ति भी कहा है, और परमधर्म भी कहा है। जब सेवा किसी स्वार्थ बुद्धि से की जाती है, तब श्ववृत्ति-कुकुरवृत्ति कहलाती है और जब निःस्वार्थ भाव से की जाती है, तब परम धर्म कहलाती है-कर्म निर्जरा का कारण मानी जाती है।

प्रश्न :—दान किस को कहते हैं ?

उत्तर :—सात गुणों से सहित और लौकिक, आचारिक तथा शारीरिक शुद्धि से सहित गृह सम्बन्धी कार्य तथा खेती आदि के आरम्भ से रहित, सम्यग्दर्शनादि गुणों से सहित मुनियों का नवधा भक्ति पूर्वक जो आहारादि के द्वारा गौरव किया जाता है, वह दान माना जाता है।

नव पुण्यैः प्रतिपत्तिः सप्तगुण समाहितेन शुद्धेन ।
अपसूनारम्भाणामार्याणामिष्यते दानम् ॥९८॥

जीवघात के स्थान को सूना कहते हैं। संक्षेप से सूना के पांच भेद हैं। जैसा कि कहा गया है-खण्डनोति खण्डनी-उखली से कूटना, पेषणी चक्की से पीसना, चुल्ली-चूला सिलगाना, उदकुम्भ-पानी के घट भरना और प्रमार्जनी-बुहारी से भूमि को बुहारना ये पाँच हिंसा के कार्य गृहस्थ के होते हैं, अतः वह मोक्ष को प्राप्त नहीं होता। खेती आदि व्यापार सम्बन्धी कार्य आरम्भ कहलाते हैं। जिनके सूना और आरम्भ नष्ट हो चुके हैं ऐसे सम्यग्दर्शनादि गुणों से सहित मुनियों का आहार आदि दान के द्वारा जो गौरव या आदर किया जाता है, वह दान कहलाता है। यह दान सात गुणों से सहित दाता के द्वारा दिया जाता है। जैसा कि कहा गया है—श्रद्धेति श्रद्धा, संतोष, भक्ति, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा और सत्य ये सात गुण जिसके होते हैं, उस दाता की प्रशंसा करते हैं। इन सात गुणों के सिवाय दाता को शुद्ध भी होना चाहिये। दाता की शुद्धता का विचार तीन प्रकार से किया जाता है—कुल से, आचार से और शरीर से। जिसकी वंश परम्परा शुद्ध हो उसे कुल शुद्ध कहते हैं, जिसका आचरण शुद्ध हो उसे आचार शुद्ध कहते हैं और जिसने स्नानादि कर शुद्ध वस्त्र धारण किये हैं, अंग भंग नहीं है, तथा जिसके शरीर में रुधिरादिक को झराने वाली कोई बीमारी नहीं है, उसे शरीर शुद्ध कहते हैं। यह दान नव प्रकार के पुण्योपार्जन के कारणों के साथ दिया जाता है। जैसा कि कहा गया है—पडिगहमिति पडिगाहना, उच्च स्थान देना, पाद प्रक्षालन, पूजन, प्रणाम, मन शुद्धि, वचन शुद्धि, काय शुद्धि और एषण-आहार शुद्धि ये नव पुण्य कहलाते हैं। इन्हीं को नवधा भक्ति कहते हैं।

विशेषार्थ :- इस श्लोक में दान, दाता, पात्र और दान की विधि बतलाई गई है। पात्र को देखकर उसके प्रति जो आदर प्रकट किया जाता है, वह दान कहलाता है। जो श्रद्धा आदि सात गुणों से सहित हो तथा शुद्ध हो उसे दाता कहते हैं। जो चक्की, चूला आदि घर सम्बन्धी तथा खेती आदि व्यापार सम्बन्धी आरम्भ से रहित हो ऐसे रत्नत्रय के धारक मुनि ऐलक, क्षुल्लक, क्षुल्लिका तथा आर्यिका आदि पात्र कहलाते हैं और नवधा भक्ति को दान की विधि कहते हैं। दान देते समय इन सबका विचार रखना चाहिये। दाता के सात गुणों का वर्णन कई प्रकार का मिलता है। एक वर्णन संस्कृत-टीका में उद्धृत 'श्रद्धा तुष्टि' आदि श्लोक के आधार पर टीकार्थ में किया जा चुका है। दूसरा वर्णन संस्कृत टीका की 'घ' प्रति में उद्धृत 'श्रद्धा शक्ति'-आदि श्लोक के आधार पर इस प्रकार है-श्रद्धा, शक्ति, अलुब्धता, भक्ति,

शान, दया और क्षमा ये सात गुण गृहस्थों के होते हैं। इस वर्णन में संतोष के बदले शक्ति और सत्य के बदले दया का उल्लेख हुआ है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में अमृतचन्द्र सूरि ने दाता के निम्नलिखित सात गुण लिखे हैं—१. ऐहिक फल की अपेक्षा नहीं करना, २. शान्ति, ३. निष्कपटता, ४. अनसूया—अन्यदातारों से ईर्ष्या नहीं करना, ५. अविषादित्व, ६. मुदित्व और ७. निरहंकारित्व। इस वर्णन में शांति—क्षमा को छोड़कर सभी नवीन गुणों का समावेश हुआ है।

प्रश्न :—दान देने का क्या फल है ?

उत्तर :—निश्चय से जिस प्रकार जल खून को धो देता है, उसी प्रकार गृह रहित—निर्ग्रन्थ मुनियों के लिए दिया हुआ दान गृहस्थी सम्बन्धी कार्यों से उपार्जित अथवा मुद्रढ़ कर्म को भी नष्ट कर देता है।

गृह कर्मणापि निचितं कर्म विमार्ष्टि खलु गृहविमुक्तानाम्।
अतिथीनां प्रतिपूजा रुधिरमलं धावते वारि ॥९९॥

जिन्होंने अन्तरंग और बहिरंग से घर का त्याग कर दिया है, तथा सब तिथियाँ जिन्हें एक समान हैं, किसी खास तिथि से राग-द्वेष नहीं है, ऐसे मुनियों के लिये जो दान दिया जाता है, वह सावद्य व्यापार—सपाप कार्यों से संचित बहुत भारी कर्म को भी उसी तरह नष्ट कर देता है, जिस तरह कि जल, मलिन रुधिर को धो देता है—नष्ट कर देता है।

विशेषार्थ :—गृहस्थ का जीवन ऐसा जीवन है कि उसमें हिंसा के कार्य अवश्य होते हैं। जैसे उखली से धान आदि को कूटना, चक्की से गेहूँ आदि को पीसना, चूल्हा जलाना, पानी के घट भरना और बुहारी से भूमि को झाड़ना तथा व्यापार के लिये खेती आदि करना। इन सब कामों में गृहस्थ के निरन्तर पाप कर्मों का संचय होता रहता है। इस संचय के होते हुए भी यदि गृहस्थ परमार्थ से गृह के त्यागी मुनियों के लिये दान देता है, तो उससे उत्पन्न हुआ पुण्य उस संचित कर्म को उसी तरह शीघ्र नष्ट कर देता है। जिस प्रकार कि पानी मलिन तथा अपवित्र खून को धो डालता है—नष्ट कर देता है।

प्रश्न :—नवधा भक्ति करने से क्या फल होता है ?

उत्तर :—तप के भाँडार स्वरूप मुनियों को नमस्कार करने से उच्च गोत्र, आहारादि दान देने से भोग, प्रतिग्रहण आदि करने से सम्मान, भक्ति करने से सुन्दर रूप और स्तुति करने से सुयश प्राप्त किया जाता है।

उच्चैर्गोत्रं प्रणतेर्भोगो दानादुपासनात्पूजा ।
भक्तेः सुन्दरं रूप स्तवनात्कीर्तिस्तपोनिधिषु ।।१००।।

तपस्वियों को प्रणाम करने से उच्च गोत्र; दानादिक देने से भोग, पड़गाहने से पूजा–प्रभावना, भक्ति अर्थात् गुणानुराग से उत्पन्न श्रद्धा विशेष से सुन्दर रूप, तथा 'आप ज्ञान के सागर हैं' इत्यादि स्तुति करने से कीर्ति प्राप्त होती है ।

विशेषार्थ :—जिस कुल में मोक्ष मार्ग–मुनिमार्ग का प्रचलन हो, उसे उच्च गोत्र कहते हैं, ऐसा उच्च गोत्र मुनियों को प्रणाम करने से प्राप्त होता है । सुन्दर एवं सुखदायी भोजन आदि को भोग कहते हैं । इसकी प्राप्ति मुनियों को आहारादि दानों के देने से होती है । सर्वत्र सम्मान का होना पूजा कहलाती है । इसकी प्राप्ति मुनियों की उपासना–पड़गाहना आदि नवधा भक्ति करने से होती है । गुणों के अनुराग से अन्तरंग में जो श्रद्धा उत्पन्न होती है, उसे भक्ति कहते हैं । मुनियों की ऐसी भक्ति करने से सुन्दर रूप प्राप्त होता है । तथा दिग्दिगन्त तक फैलने वाले सुयश को कीर्ति कहते हैं । इस कीर्ति की प्राप्ति मुनियों के स्तवन से होती है ।

प्रश्न :—थोड़ा सा दान विशिष्ट फल कैसे प्राप्त कराता है ?

उत्तर :—उचित समय में योग्य पात्र के लिये दिया हुआ थोड़ा भी दान उत्तम पृथ्वी में पड़े हुए वट वृक्ष के बीज के समान प्राणियों के लिये माहात्म्य और वैभव से युक्त, पक्ष में छाया की प्रचुरता से सहित बहुत भारी अभिलषित फल को फलता है–देता है ।

क्षितिगतमिव वट बीजं पात्र गतं दानमल्पमपि काले ।
फलति च्छायाविभवं बहु फल मिष्टं शरीरभृताम् ।।१०१।।

जिस प्रकार उत्तम भूमि में उचित समय में डाला हुआ छोटा-सा वट का बीज संसारी जीवों के बहुत भारी छाया के साथ बहुत से इष्ट फल को फलता है, उसी प्रकार उचित समय में सत्पात्र के लिये दिया हुआ थोड़ा भी दान संसारी प्राणियों के लिये अभिलषित सुन्दर रूप तथा भोगोपभोग आदि अनेक प्रकार के फल को प्रदान करता है । दान पक्ष में 'छाया-विभव' का समास इस प्रकार होता है–'छाया महात्म्यं विभवः सम्पत् तौ विद्येते यस्मिन् इति फलस्य विशेषणं' छाया का अर्थ महात्म्य होता है, और विभव का अर्थ संम्पत्ति होता है । छाया और माहात्म्य ये दोनों जिस फल में विद्यमान है, दान उस फल को देता है । वट बीज पक्ष में छाया का अर्थ

अनातप–घाम का अभाव होता है और विभव का अर्थ प्राचुर्य–अधिकता लिया जाता है। 'छाया-आतप निरोधिनी तस्या विभवः प्राचुर्यं यथाभवत्येवं' इस प्रकार क्रिया-विशेषण किया जाता है।

विशेषार्थ :—अधिक परिमाण में दिया हुआ दान ही सफल होता हो यह आवश्यक नहीं है। किन्तु योग्य पात्र के लिए योग्य समय में दिया हुआ थोड़ा सा दान भी अधिक फल देता है। इस विषय में वट बीज का दृष्टान्त बहुत उपयुक्त है। अर्थात् जिस प्रकार वट का छोटा-सा बीज यदि योग्य समय में अच्छी भूमि में डाल दिया जाता है तो वह आगे चलकर बहुत भारी छाया के साथ अनेक इष्ट फल प्रदान करता है। उसी प्रकार सत्पात्र के लिए योग्य काल में यदि थोड़ा भी दान दिया जाता है तो वह आगे चलकर बहुत भारी माहात्म्य और सम्पत्ति के साथ अनेक फल प्रदान करता है। इससे सिद्ध है कि दान में परिमाण की अपेक्षा भावना का विशिष्ट फल है। दान के विषय में पात्र का विचार अवश्य रखना चाहिये। पात्र उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकार का होता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के धारक मुनि उत्तम पात्र हैं, श्रावक मध्यम पात्र है तथा अविरति सम्यग्दृष्टि गृहस्थ जघन्य पात्र है। मिथ्यादर्शन के साथ जो जैन आचार का पालन करता है, वह कुपात्र कहलाता है तथा मिथ्यादर्शन के साथ जो मिथ्याचार का पालन करता है वह अपात्र कहलाता है। सम्यग्दृष्टि मनुष्य पात्र दान के फलस्वरूप स्वर्ग में उत्पन्न होता है और मिथ्यादृष्टि मनुष्य भोग भूमि में उत्पन्न होता है। कुपात्र दान का फल कुभोग भूमि है और अपात्रदान का फल नरक-निगोदादिक है।

प्रश्न :—दान कितने प्रकार का है ?

उत्तर :—विद्वज्जन आहार, औषध और उपकरण तथा आवास के भी दान से वैयावृत्य को चार प्रकार का कहते हैं।

आहारौषधयोरप्युकरणावासयोश्च दानेन।
वैयावृत्यं ब्रुवते चतुरात्मत्वेन चतुरस्राः ॥१०२॥

भक्त पान आदि को आहार कहते हैं, बीमारी को दूर करने वाले पदार्थ को औषध कहते हैं, ज्ञानोपकरण आदि को उपकरण कहते हैं और वसतिका आदि को आवास कहते हैं। इन चारों वस्तुओं को देने से वैयावृत्य चार प्रकार का होता है। ऐसा पण्डितजन निरूपण करते हैं।

विशेषार्थ :—वैयावृत्य का प्रचलित अर्थ दान है और वह दान चार प्रकार का है—१. आहारदान, २. औषधदान, ३. उपकरणदान, ४. आवासदान। अन्य शास्त्रकारों ने उपकरण दान के स्थान पर ज्ञान दान और आवास दान के स्थान पर अभयदान का उल्लेख किया है। परन्तु ज्ञान दान की अपेक्षा उपकरण दान अधिक व्यापक जान पड़ता है, क्योंकि ज्ञान दान में मात्र ज्ञान के उपकरण—शास्त्रों का दान गर्भित होता है जबकि उपकरण दान में संयम का उपकरण—मयूरपिच्छ का तथा शौच का उपकरण-कमण्डलु का दान भी गर्भित हो जाता है। यद्यपि आवासदान-वसतिका का दान, अभयदान का ही एक रूप है तथापि इसकी अपेक्षा आवासदान शब्द अधिक व्यापक जान पड़ता है। पूज्यपाद तथा अकलंक स्वामी ने भिक्षा, औषध उपकरण तथा प्रतिश्रय के भेद से अतिथिसंविभाग व्रत के चार भेद माने हैं, जो कि समन्तभद्राचार्य के द्वारा निरूपित चार भेदों के अनुरूप ही है।

प्रश्न :—वह चार प्रकार का दान किस किस के द्वारा दिया गया ?

उत्तर :—श्रीषेण, वृषभसेना, कौण्डेश और सूकर ये चार भेद वाले वैयावृत्य के दृष्टान्त मानने के योग्य हैं।

श्रीषेणवृषभसेने कौण्डेशः सूकरश्च दृष्टान्ताः।
वैयावृत्यस्यैते चतुर्विकल्पस्य मन्तव्याः ॥१०३॥

श्रीषेण राजा आहारदान, वृषभसेना औषधदान, कौण्डेश उपकरणदान और सूकर आवासदान के दृष्टान्त हैं, ऐसा जानना चाहिये।

प्रश्न :—क्या वैयावृत्य करने वाले श्रावक को दान और पूजा भी करना चाहिये ?

उत्तर :—श्रावक को आदर से युक्त होकर प्रतिदिन मनोरथों को पूर्ण करने वाले और काम को भस्म करने वाले अरहन्त भगवान के चरणों में समस्त दुःखों को दूर करने वाली पूजा करना चाहिये।

देवाधिदेव चरणे परिचरणं सर्व दुःख निर्हरणम्।
कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतो नित्यम् ॥१०४॥

इन्द्रादिक देवों के द्वारा वन्दनीय अरहन्त भगवान देवाधिदेव कहलाते हैं। उनके चरण वाञ्छित फल को देने वाले हैं तथा काम को भस्म करने वाले हैं। श्रावक को चाहिये कि वह आदर पूर्वक प्रतिदिन उनके चरणों की पूजा करे, क्योंकि

उनकी पूजा समस्त दुःखों को हरने वाली है।

विशेषार्थ :—गृहस्थ के छह आवश्यक कार्यों में देव पूजा का प्रमुख स्थान है। पूजा करते समय पूज्य, पूजक, पूजा और पूजा के फल का विचार करना चाहिये। जिसने कामादिक विकारी भावों को भस्म कर दिया है ऐसे वीतराग जिनेन्द्रदेव पूज्य हैं। उपलक्षण से उपर्युक्त विकारी भावों को आंशिक रूप से नष्ट करने वाले निर्ग्रन्थ गुरु तथा सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति में सहायक होने से समीचीन शास्त्र भी पूज्य हैं। यद्यपि ये सब पूजा से प्रसन्न होकर किसी का कुछ नष्ट नहीं करते हैं तथापि 'कामदुह' मनोरथों को पूर्ण करने वाले कहे जाते हैं। उसका कारण यह है कि इनकी पूजा के काल में पूजा करने वाले मनुष्य के हृदय में जो शुभ राग उत्पन्न होता है, उसके फलस्वरूप पुण्यकर्म का बन्ध होता है और पाप कर्म का अनुभाग क्षीण होता है, इसलिए सुख की प्राप्ति और दुःख का नाश स्वयमेव हो जाता है। उनके गुणों में जिसे अत्यन्त आदर का भाव है वह पूजक कहलाता है। परिचर्या, सेवा, उपासना को पूजा कहते हैं और समस्त दुःखों का दूर होना पूजा का फल है। यहाँ आचार्य ने 'कामदुहि कामदाहिनि देवाधि देवचरणे' इन पदों के द्वारा पूज्य का वर्णन करते हुए कहा है कि पूज्य वही हो सकता है जो मनोरथों को पूर्ण करने वाला हो तथा कामादिक विकारी भावों को भस्म करने वाला हो। पूजक का वर्णन करते हुए 'आदृता' इस विशेषण द्वारा प्रकट किया है कि पूजक वही हो सकता है जो पूज्य के गुणों में अत्यन्त आदर भाव रखता है। पूजा का वर्णन करते हुये 'परिचरणा' शब्द द्वारा प्रकट किया है कि देव, शास्त्र तथा गुरु की उनकी पद के अनुरूप परिचर्या करना अर्थात् प्रतिमारूप देव की अभिषेक तथा पूजन करना, शास्त्रों की विनय करते हुये उनकी सुरक्षा तथा उनके द्वारा प्रतिपाद्य तत्वों का प्रचार करना और निर्ग्रन्थ गुरुओं की पूजा करते हुये उनकी आहारादि की व्यवस्था करना यह सब पूजा कहलाती है। और पूजा के फल का वर्णन करते हुये 'सर्व दुःख निर्हरणम्' इस पद के द्वारा प्रकट किया है कि पूजा सब दुःखों को सम्पूर्ण रूप से नष्ट करने वाली है। सम्यग्दृष्टि पुरुष भगवान् जिनेन्द्र की पूजा करते समय यह भाव रखता है कि हे भगवन्! जैसी शान्त निर्विकार मुद्रा आपकी है वैसी ही मेरी मुद्रा है, यह मेरा स्वभाव है। परन्तु मैं स्वभाव को भूलकर विभाव रूप परिणमन करता हुआ संसार के दुःख उठा रहा हूँ। आपकी पूजा के फलस्वरूप मैं यही चाहता हूँ कि मैं स्वकीय

शुद्ध स्वभाव में स्थिर रहूँ। इन्द्र, चक्रवर्ती आदि के पद की मुझे चाह नहीं है, उन्हें तो मैं अनन्त बार प्राप्त कर चुका हूँ। उपर्युक्त शुद्ध भावों से की हुई पूजा, परिणामों में अत्यन्त आह्लाद उत्पन्न करती है। पुण्य बन्ध तो उससे होता ही है यदि कुछ समय के लिए स्वरूप समावेश हो गया तो निर्जरा का भी कारण हो जाती है। जो मनुष्य निश्चल भाव से जिस किसी भी विधि से भगवान् की पूजा करता है तो उसके सब मनोरथ सिद्ध होते हैं और दिशाएं उसकी इच्छाओं को पूर्ण करती हैं अर्थात् जहाँ जाता है, वहीं उसकी इच्छाएँ पूर्ण होती हैं।

प्रश्न :—पूजा का फल किस किसको मिला ?

उत्तर :—हर्ष से प्रमत्त मेढ़क ने राजगृह नगर में एक पुष्प के द्वारा भव्य जीवों के आगे अर्हन्त भगवान् के चरणों की पूजा का माहात्म्य प्रकट किया था।

अर्हच्चरण सपर्या महानुभावं महात्मनामवदत्।
भेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे ॥१०५॥

विशिष्ट धर्मानुराग से हर्षित हुए मेढ़क ने राजगृह नगर में भव्य जीवों को बतलाया था कि एक फूल से ही अर्हन्त देव के चरणों की पूजा करने का क्या फल होता है।

❋ वैयावृत्य के अतिचार ❋

वैयावृत्य के अतिचारों का वर्णन।

निश्चय से हरित पत्र आदि से देने योग्य वस्तु को ढकना तथा हरित पत्र आदि पर देने योग्य वस्तु को रखना, अनादर, अस्मरण और मत्सरत्व ये पांच वैयावृत्य के अतिचार कहे जाते हैं।

हरितपिधान निधाने ह्यनादरास्मरण मत्सरत्वानि।
वैयावृत्यस्यैते व्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते ॥१०६॥

हरे कमल पत्र आदि से आहार को ढाकना हरितपिधान नाम का अतिचार है। हरे कमल पत्र आदि पर आहार को रखना हरितनिधान नाम का अतिचार है। देते हुए भी आदर का अभाव होना अनादर कहलाता है। आहारादि दान इस समय ऐसे पात्र के लिए देना चाहिये अथवा देने योग्य वस्तुओं में यह वस्तु दी है अथवा नहीं दी है इस प्रकार की स्मृति का अभाव होना अस्मरण कहलाता है और अन्य

दाता के दान तथा गुणों के विषय में असहनशीलता का होना मत्सरत्व कहलाता है। ये पांच वैयावृत्य शिक्षाव्रत के अतिचार कहे जाते हैं।

विशेषार्थ :—यहां चार प्रकार के दानों में आहारदान की मुख्यता से अतिचारों का वर्णन किया जाता है। मुनि सचित वस्तु के त्यागी होते हैं, अतः उन्हें अचित्त-प्रासुक वस्तु ही दी जाती है। परन्तु उस अचित वस्तु को सचित्त कमल पत्र आदि से ढंक कर दिया अथवा सचित्त कमल पत्र आदि पर रखकर दिया इस तरह सचित्त सम्बन्ध की अपेक्षा हरितपिधान और हरितनिधान ये दो अतिचार बनते हैं। मुनि को आहार दिया तो सही, परन्तु बेगार समझकर अनादर भाव से दिया इस स्थिति में अनादर नाम का अतिचार बनता है। आहारादि की विधि को भूल जाने अथवा किसी वस्तु के देने या न देने का स्मरण न रखने पर अस्मरण नाम का अतिचार होता है। और दूसरे दाता के गुणों में असहनशीलता के होने पर मत्सरत्व नाम का अतिचार होता है। तत्त्वार्थसूत्रकार ने सचित्त निक्षेप, सचित्तपिधान, परव्यपदेश, मात्सर्य और कालातिक्रम ये पांच अतिचार बताये हैं। उनमें सचित्तनिक्षेप, सचित्तपिधान और मत्सरत्व ये तीन अतिचार तो समन्तभद्र स्वामी के द्वारा प्रतिपादित अतिचारों में भी परिगणित है। परन्तु परव्यपदेश और कालातिक्रम ये दो अतिचार भिन्न हैं। दूसरे दातार के द्वारा देने योग्य वस्तु को देना परव्यपदेश है। अथवा स्वयं आहार न देकर नौकर-चाकरों से दिलाना यह अनादर नामक अतिचार का ही रूपान्तर है। आहार के समय को उल्लंघन कर देर से आहार देना यह कालातिक्रम नाम का अतिचार है।

प्रश्न :—**सामायिक प्रतिमा का क्या स्वरूप है ?**

उत्तर :—जो चार बार तीन तीन आवर्त करता है, चार प्रणाम करता है, कायोत्सर्ग से खड़ा होता है, बाह्याभ्यन्तर परिग्रह का त्यागी होता है, दो बार बैठकर नमस्कार करता है, तीनों योगों को शुद्ध रखता है और तीनों संध्याओं में वन्दना करता है, वह सामायिक प्रतिमाधारी है।

चतुरावर्त्तत्रितयश्चतुः प्रणामः स्थितो यथाजातः।
सामयिको द्विनिषद्यस्त्रियोग शुद्धस्त्रिसन्ध्यमभिवन्दी ॥१०७॥

इस श्लोक में से सामायिक प्रतिमा का लक्षण बतलाते हुए उसकी विधि का भी निर्देश किया गया है। सामायिक करने वाला पुरुष एक-एक कायोत्सर्ग के बाद चार बार

तीन आवर्त करता है, अर्थात् प्रत्येक दिशा में "णमो अरहंताणं" इस आद्य सामायिक दण्डक और "थोस्सामिहं" इस अन्तिम स्तव दण्डक के तीन-तीन आवर्त और एक-एक प्रणाम इस तरह बारह आवर्त और चार प्रणाम करता है। श्रावक इन आवर्तादिक की क्रियाओं को खड़े होकर करता है, सामायिक की अवधि के भीतर यथाजात नग्न मुद्राधारी के समान बाह्याभ्यन्तर परिग्रह की चिन्ता से दूर रहता है। 'देववन्दना करने वाले को प्रारम्भ में और समाप्ति में बैठकर प्रणाम करना चाहिये' इस विधि के अनुसार दो बार बैठकर प्रणाम करता है अर्थात् सामायिक प्रारम्भ करने के लिये प्रथम बार कायोत्सर्ग कर तीन आवर्त करता है, उसके बाद बैठकर पृथिवी में शिर झुकाता हुआ नमस्कार करता है। और सामायिक के बाद कायोत्सर्ग करता है। उसके बाद भी बैठकर पृथिवी में शिर झुकाता हुआ नमस्कार करता है और सामयिक के बाद कायोत्सर्ग करता है, उसके बाद भी बैठकर पृथिवी में शिर झुकाता हुआ नमस्कार करता है। तीनों को शुद्ध रखता है अर्थात् उनके सावद्य व्यापार का त्याग करता है और तीनों संध्याओं में वन्दना करता है। यह प्रतिमाधारी श्रावक तीनों ही काल प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल में कम से कम अडतालीस मिनट तो सामायिक करने को नियम से बैठता है, सामायिक का काल उत्कृष्ट रूप से सवा दो घण्टे का है। दूसरी प्रतिमा में जो सामायिक शिक्षाव्रत है, उसका शीलव्रत के रूप में पालन होता है। उसमें २ घडी के समय का और तीन बार करने का नियम नहीं रहता है। परन्तु सामायिक प्रतिमा में नियम रहता है।

प्रश्न :—प्रोषधोपवास प्रतिमा का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जो प्रत्येक मास में चारों पर्व के दिनों में अपनी शक्ति को न छिपाकर प्रोषध सम्बन्धी नियम को करता हुआ एकाग्रता में तत्पर रहता है, वह प्रोषधोपवास प्रतिमाधारी है।

पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि मासे मासे स्वशक्तिमनि गुह्यः।
प्रोषधनियमविधायी प्रणिधिपरः प्रोषधानशनः ॥१०८॥

'प्रोषधेन अनशनमुपवासो यस्यासौ प्रोषधानशनः' इस विग्रह के अनुसार धारणा-पारणा के दिन एकासन के साथ पर्व के दिन जो उपवास करता है, वह प्रोषधोपवास व्रत का धारक कहलाता है। इस प्रतिमा के धारी को प्रत्येक मास की दो अष्टमी और दो चतुर्दशी इस प्रकार पर्व के चारों दिनों में अपनी शक्ति को न छिपा

कर उपवास करना होता है। साथ ही धारणा-पारणा के दिन नियम पूर्वक एकासन करना होता है। इस प्रतिमा का धारक शुभ ध्यान में तत्पर रहता है।

जिन आचार्यों ने प्रोषध का अर्थ एकासन न कर पर्व किया है, उनके मत से 'प्रोषधानशनः' शब्द का समास इस प्रकार होता है 'प्रोषधे पर्वणि अनशनमुपवासो यस्यासौ' अर्थात् पर्व के दिन जो उपवास करता है। इस पक्ष में प्रोषधनियमविधायी इस शब्द का विग्रह इस प्रकार होता है—'प्रोषधस्य पर्वणो नियमं विदधातीति प्रोषधनियमविधायी' अर्थात् पर्व के दिन पञ्च पापों, अलंकार, आरम्भ, गन्धपुष्प, स्नान, अंजन, तथा नस्य आदि के त्याग का जो नियम बताया गया है, उसका पालन करता है और उपवास के समय अपने चित्त को एकाग्र रखता है। अर्थात् शुभ ध्यान में लीन रहता है। प्राणिधान 'प्रणिधिः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रणिधि का अर्थ चित्त की एकाग्रता है, उसमें जो तत्पर है, वह प्रणिधिपर कहलाता है। यहां चित्त की एकाग्रता से शुभ ध्यान का अर्थ ग्राह्य है। श्लोक में जो 'स्वशक्तिमनिगुह्य' पद दिया गया है, उससे सूचित किया है कि शक्ति के रहते हुए तो अवश्य ही उपवास करना चाहिये। परन्तु वृद्धावस्था या बीमारी आदि के कारण यदि उपवास की शक्ति क्षीण हो गई है, तो अनुपवास या एकासन भी कर सकता है।

प्रश्न :—सचित्त त्याग प्रतिमा का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जो दया की मूर्ति होता हुआ, अपक्व – कच्चे मूल, फल, शाक, शाखा, करीर, कन्द, प्रसून और बीज को नहीं खाता है, वह यह सचित्त त्यागी है।

मूल फल शाक शाखा करीर कन्द प्रसून बीजानि।
नामानि योऽत्ति सोऽयं सचित्त विरतो दयामूर्तिः ॥१०६॥

मूली, गाजर, शकरकन्द आदि मूल कहलाते हैं, आम, अमरूद आदि फल कहलाते हैं, भाजी को शाक कहते हैं, वृक्ष की नई कोंपल को शाखा कहते हैं, बांस के अंकुर को करीर कहते हैं, जमीन में रहने वाले अगोठा आदि को कन्द कहते हैं। गोभी आदि के फूल को प्रसून कहते हैं और गेहूं चना आदि को बीज कहते हैं। ये सब अपक्व अवस्था में सचित्त-सजीव होते हैं। अतः दया का धारक श्रावक इन्हें नहीं खाता है, गेहूं चना आदि बीज हरी अवस्था में तो सचित्त हैं ही, परन्तु अंकुरोत्पादन की शक्ति की अपेक्षा शुष्क अवस्था में भी सचित्त माने जाते हैं, अतः व्रती मनुष्य इन्हें खण्डित अवस्था में ही खाता है।

इस श्लोक में जो मूल आदि वनस्पतियां गिनाई गई हैं, वे उनकी जातियां

बतलाने के अभिप्राय से गिनाई गई हैं। ये सभी भक्ष्य हैं यह अभिप्राय नहीं लेना चाहिये, क्योंकि उनमें मूल, कन्द तथा प्रसून स्पष्ट ही बहुघात तथा त्रसघात का कारण होने से अभक्ष्य हैं। अतः इनका त्याग भोगोपभोग परिमाणव्रत में करा जा चुका है। यहां इनका 'अपक्व' अवस्था में त्याग बताया है। इसलिए पक्व अवस्था में ये ग्राह्य हैं। ऐसा फलितार्थ लगाकर व्रती मनुष्य को इनके सेवन में प्रवृत्ति नहीं करना चाहिये। 'इस प्रसंग में स्वतः स्वभाव से सूखी हुई सोंठ तथा हल्दी आदि का दृष्टान्त देना संगत नहीं है, क्योंकि उनका उपयोग औषध के रूप में जब कभी होता है, अतः रागांश की तीव्रता नहीं रहती। परन्तु मूली, गाजर, आलू, अदरख आदि के सेवन में स्पष्ट ही राग की तीव्रता रहती है, जो कि व्रती मनुष्य के लिये त्याज्य हैं। फल, शाक, शाखा आदि जो भक्ष्य वनस्पतियां हैं, उन्हें छिन्नभिन्न या अग्नि में पकाकर लेना चाहिये।

सुक्कं पक्कं ततं अंबिल लवणेण मिस्सियं दव्वं।
जं जं तेण यछिण्णं तं सव्वं फासुवं भणियं ॥११०॥लाटी संहिता–७–१७।
भक्षणेऽत्र सचित्तस्य नियमो न तु स्पर्शनम्।
तत्स्वहस्तादिना कृत्वा प्रासुकं चात्र भोजयेत् ॥१११॥ला. सं. ७–१७

यद्यपि छिन्नभिन्न करने में दोष आता है, लेकिन इस प्रतिमा में इतना सूक्ष्मता का विचार नहीं होता है।

सचित त्यागी व्रती को प्रत्येक भक्ष्य वनस्पतियों को अचित्त करके ही खाने के उपयोग में लेना चाहियें।

प्रश्न :—रात्रिभुक्ति त्याग प्रतिमा का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जो जीवों पर दयालुचित्त होता हुआ रात्रि में अन्न, पेय, खाद्य और लेह्य – चाटने योग्य पदार्थ को नहीं खाता है, वह रात्रि भुक्ति त्याग प्रतिमाधारी श्रावक है।

अन्नं पानं खाद्यं लेह्यं नाश्नातियो विभावर्याम्।
स च रात्रिभुक्ति विरतः सत्वेष्वनुकम्पमानमनाः ॥११२॥

वह श्रावक रात्रि भुक्तिविरति – रात्रि भोजन त्याग प्रतिमाधारी कहलाता है जो जीवों पर दयालु चित्त होता हुआ रात्रि में अन्न-दाल, भात, आदि पान – द्राक्ष आदि का रस, खाद्य-लड्डू आदि और लेह्य-रबडी आदि को नहीं खाता है।

इस प्रतिमा का नाम रात्रि भोजन त्याग प्रतिमा है । प्रश्न है कि जब छठवीं प्रतिमा में चार प्रकार के आहार का त्याग कराया जा रहा है । तब क्या इसके पहले रात्रि भोजन की छूट रहती है ? दूसरी ओर जब पहली दर्शन प्रतिमा में ही रात्रि जल का त्याग हो जाता है, तब भोजन की सम्भावना ही कहां रहती ? इस स्थिति में इस प्रतिमा की क्या उपयोगिता है ? इसका उत्तर यह है कि इस प्रतिमा के पूर्व की प्रतिमाओं में कृत की अपेक्षा नहीं, परन्तु इस प्रतिमा में कृत, कारित, अनुमोदना तथा मन, वचन, काया इन नौ कोटियों से त्याग हो जाता है । इस प्रतिमा का धारी श्रावक न स्वयं रात्रि को भोजन करता है, न दूसरों को कराता है और न करते हुए की अनुमोदना करता है ।

किन्हीं-किन्हीं आचार्यों ने इस प्रतिमा का नाम दिवामैथुन त्याग रखा है, अर्थात् दिन में मैथुन का त्याग होना । यहां भी प्रश्न होता है कि जब दूसरी प्रतिमा में ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचारों में कामतीव्राभिनिवेश नामक अतिचार का त्याग हो जाता है, तब पांचवीं प्रतिमा तक दिवामैथुन की संभावना कहां रहती है, जिसका कि इस प्रतिमा में त्याग कराया जाता है ? बिना कामतीव्राभिनिवेश के दिवामैथुन में प्रवृत्ति नहीं हो सकती, उसका उत्तर यह है कि इस प्रतिमा में उपर्युक्त नौ कोटियों से त्याग होता है ।

प्रश्न :—ब्रह्मचर्य प्रतिमा का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—शुक्र शोणितरूप मलसे उत्पन्न मलिनता का कारण मलमूत्रादि को झराने वाले दुर्गन्ध से सहित और ग्लानि को उत्पन्न करने वाले शरीर को देखता हुआ जो काम सेवन से विरत होता है, वह ब्रह्मचारी अर्थात् ब्रह्मचर्य प्रतिमा का धारक होता है ।

मलबीजंमलयोनिं गलन्मलं पूति गन्धि बीभत्सम् ।
पश्यन्नङ्गमनङ्गाद्विरमतियो ब्रह्मचारी सः ॥२२॥११३॥

काम से आकुलित स्त्री-पुरुष एक दूसरे के शरीर को देखकर उसके सेवन में प्रवृत्त होते हैं । यहां शरीर की यथार्थता का वर्णन करते हुए कहा गया है कि यह शरीर मलबीज है अर्थात् शुक्रशोणितरूप मल ही इसका कारण है, मलयोनि है अर्थात् मलिनता-अपवित्रता का कारण है । इससे सदा मलमूत्र तथा पसीना आदि झरता रहता है, दुर्गन्धित है और बीभत्स है अर्थात् समस्त अवयवों में देखने वालों को ग्लानि

उत्पन्न करने वाले हैं। इस प्रकार शरीर के घृणित रूप का विचार जो कामसेवन-मैथुन क्रिया से निवृत्त होता है, वह ब्रह्मचारी है।

'ब्रह्मणि आत्मनि चरतीति ब्रह्मचारी' जो आत्मा में चरण करता है—अपने ज्ञातादृष्टा स्वरूप में लीन रहता है, वह ब्रह्मचारी है। जिस पदार्थ से राग घटाना, इष्ट होता है, उसके बिभत्सरूप का चिन्तन करना आवश्यक होता है। यहां आचार्य को शरीर से राग घटाना इष्ट है, उसके बिभत्सरूप का वर्णन किया गया है। तत्त्व दृष्टि से विचार करने पर शरीर घृणा का ही स्थान है, क्योंकि माता-पिता के शुक्र-शोणितरूप अपवित्र उपादान से इसकी उत्पत्ति हुई है, मलिनता-अपवित्रता का करण है, मरने के समय इसके नवद्वारों से अपवित्र पदार्थ झरते हैं। दुर्गन्धित है, और देखने वालों को ग्लानि उत्पन्न करने वाला है, ऐसे शरीर से राग घटा कर विषय सेवन से निवृत होना ब्रह्मचारी का लक्षण है। ब्रह्मचर्य की साधना के लिये शरीर की ओर से अनुराग भरी दृष्टि को हटाकर अपने ज्ञानानन्द स्वभाव में दृष्टि स्थिर करना चाहिये। ब्रह्मचारी की वेषभूषा रहन सहन तथा भोजन आदि सभी सात्त्विक रहते हैं।

प्रश्न :—आरम्भ त्याग प्रतिमाका का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जो प्राण घात के कारण सेवा, खेती तथा व्यापार आदि आरम्भ से निवृत्त होता है, वह आरम्भ त्याग प्रतिमा का धारक होता है।

सेवा कृषि वाणिज्य प्रमुखादारम्भतो व्युपारमतिः।
प्राणाति पातहेतोर्योऽसावारम्भविनिवृत्तः ॥१४॥

यहाँ आरम्भ से निवृत्त होने के लिये ग्रंथकार ने 'व्युपारमति' क्रिया का प्रयोग किया है, जो वि, उप और आङ् उपसर्गपूर्वक रम धातु का रूप है। उपसर्गों के कारण उसका अर्थ 'विशेषेण आसमन्तात् आरम्भेभ्य उपरतो जायते' अर्थात् आरम्भ से विशेषतापूर्वक सब ओर से निवृत्त होना होता है। आरम्भ का अर्थ परिग्रह संचय करने की विधि विशेष है। उस विधि में सेवा—नौकरी, खेती तथा वाणिज्य प्रमुख है। आरम्भ त्याग क्यों किया जाता है ? इसका समाधान करने के लिए आरम्भ का 'प्राणातिपात हेतोः' यह हेत्वर्थक विशेषण दिया है, अर्थात् जो आरम्भ, प्राण घात का हेतु है, उससे उसकी निवृत्त होना चाहिये। इस विशेषण के देने से यह सिद्ध हो जाता है कि आरम्भत्याग प्रतिमा का धारी श्रावक अभिषेक, दान, पूजन आदि का

आरम्भ कर सकता है। उससे उसकी निवृत्ति नहीं होती, क्योंकि वह प्राण घात का कारण नहीं है प्राणिहिंसा को बचाकर ही कार्य किये जाते हैं। यहां यह विकल्प उठाया जा सकता है, कि जिस वाणिज्य आदि आरम्भ में प्राणिहिंसा नहीं होती, उसे कर सकता है क्या ? इसका उत्तर टीकाकार ने दिया है कि ऐसे आरम्भ से उसकी निवृत्ति न हो यह हमें अनिष्ट नहीं है अर्थात् स्वीकृत है, क्योंकि जो आरम्भ प्राण घात का हेतु है, उसी से निवृत होने वाले श्रावक के यह प्रतिमा होती है।

प्रश्न यह उठता है कि आरम्भ त्याग प्रतिमा का धारी श्रावक पंच सूनाओं का भी त्यागी होता है ? अपने स्नान आदि के लिये पानी भरेगा ? अपने वस्त्र स्वयं धोवेगा ? अपने स्थान को बुहारी से साफ करेगा ? और अपने लिये भोजन बनावेगा या नहीं ? समन्तभद्र स्वामी ने आरम्भ के लिये जो 'सेवा कृषि वाणिज्य प्रमुखात्' और 'प्राणातिपात हेतोः' ये दो विशेषण दिये हैं, उनसे सिद्ध होता है कि यहां व्यापार सम्बन्धी आरम्भ का त्याग कराना ही उन्हें इष्ट है। संस्कृत टीकाकार का भी यही भाव विदित होता है। आगामी प्रतिमा का नाम परिग्रह त्याग प्रतिमा है उस प्रतिमा की भूमिका के रूप में आरम्भ त्याग प्रतिमा है, अर्थात जो आगे चल कर परिग्रह का त्याग करने वाला है, उसे इस प्रतिमा में नवीन परिग्रह का अर्जन करना छोड़ देना चाहिये। जो कुछ पहले का किया हुआ संचय उसके पास है, उसीसे अपना निर्वाह करना चाहिये। संस्कृत टीकाकार की तो यह भी संमति जान पड़ती है कि जिस आरम्भ में प्राणिघात नहीं है, वह आरम्भ भी किया जा सकता है। इस प्रतिमा का धारी श्रावक परिग्रह रखते हुए भी निमन्त्रण न होने की स्थिति में स्वयं भोजन बनाकर नहीं खावे–भूखा रहे, यह कुछ उचित नहीं जान पड़ता। इस प्रतिमा का धारक श्रावक भोजन के विषय में स्वाश्रित है, पराश्रित नहीं है। इसलिये वह सावधानी पूर्वक अपना भोजन स्वयं बना सकता है और पात्र दान का अवसर आता है, तो उसे भी कर सकता है। पानी भरना, कपड़े धोना तथा अपने स्थान को कोमल बुहारी आदि से साफ करना यह कार्य स्वयं सिद्ध है। 'सेवा कृषि वाणिज्य प्रमुखात्' इस विशेषण में जो प्रमुख शब्द है, उससे पशु पालन आदि हिंसक व्यापारों का संग्रह करना विवक्षित है, सूनाओं का नहीं, स्वामी समन्तभद्र ने 'अपसूनारम्भाणामार्याणा-मिष्यते दानम्' इस श्लोक में सूनाओं और आरम्भों का पृथक् पृथक् उल्लेख किया है, इससे सिद्ध होता है कि उन्हें आरम्भ शब्द से व्यापार ही अभीष्ट है, सूनाओं का

आरम्भ में समावेश करना उन्हें अभीष्ट नहीं है।

प्रश्न :—परिग्रह त्याग प्रतिमा का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—दश प्रकार के बाह्य परिग्रह में ममता भाव को छोड़कर निर्ममत्व भाव में लीन होता हुआ जो आत्म स्वरूप में स्थित तथा संतोष में तत्पर रहता है, वह सब ओर से चित्त में स्थित परिग्रह से विरत होता है।

बाह्येषु दशसु वस्तुषु ममत्व मुत्सृज्य निर्ममत्वरतः।
स्वस्थः संतोषपरः परिचित्त परिग्रहाद्विरतः ॥११५॥

'परि समन्तात् चित्तस्थः परिग्रहोहि परिचित्त परिग्रहः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो परिग्रह निरन्तर चित्त में स्थित रहता है, ऐसे ममता के स्थान भूत परिग्रह को परिचित्त परिग्रह कहते हैं। इस परिग्रह से विरत वही हो सकता है, जो क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, शयनासन, यान, कुप्य और भाण्ड इन दश बाह्य वस्तुओं में ममता-मूर्च्छा भाव को छोड़कर निर्ममत्व भाव में स्थित रहता है, अर्थात् ऐसा विचार करता है कि ये बाह्य पदार्थ मेरे नही हैं और मैं भी इनका नहीं हूँ, मायाचार आदि से रहित होकर सदा स्वस्थ रहता है—अपने ज्ञाता दृष्टा स्वरूप में स्थित रहता है, और संतोष में तत्पर रहता है—परिग्रह की आकांक्षा से निवृत्त रहता है।

क्षेत्रमिति—जहां धान्य उत्पन्न होता है, ऐसे डोहलिका आदि स्थानों को खेत कहते हैं। जिस खेत में चारों ओर से बंधान डालकर पानी रोक लेते हैं। ऐसे धान्य के छोटे-छोटे खेतों को डोहलिका कहते हैं, इन्हे ग्राम्य भाषा में मड़ा या डैया आदि भी कहते है। मकान आदि को वास्तु कहते हैं। सोना चांदी आदि को धन कहते हैं धान, गेहूँ, चना आदि को धान्य कहते हैं। दासी दास आदि को द्विपद कहते हैं, गाय, भैंस आदि को आसन कहते हैं, डोली-पालकी आदि को यान कहते हैं, रेशम, सूती तथा कोशा आदि के वस्त्रों को कुप्य कहते हैं और चंदन, मंजीठ, कांसा तथा ताम्बा आदि के बर्तनों को भाण्ड कहते हैं। यह दश प्रकार का परिग्रह उपयोगी होने से निरंतर मनुष्य के मन में स्थित रहता है, इससे ममत्व भाव को छोड़ना सो परिग्रह त्याग प्रतिमा कहलाती है।

जो परिग्रह अनुपयोगी रूप से घर में पड़ा है, उसके त्याग में कोई खास महत्त्व नहीं रहता, क्योंकि त्याग के पूर्व भी उसमें खास ममत्व भाव नहीं रहता।

किन्तु जो गृहस्थी के निर्वाह के लिये आवश्यक होने से मन में अपना स्थान बनाये रखते हैं, ऐसे परिग्रहों से निवृत्त होना इस प्रतिमा की विशेषता है। बाह्य परिग्रह के त्याग का कारण संतोष है, क्योंकि जब तक संतोष नहीं होता तब तक त्याग नहीं हो सकता, इसलिये ग्रंथकर्त्ता ने त्याग करने वाले को 'संतोषपरः' विशेषण दिया है, जितना कुछ परिग्रह उसने अपने लिये निश्चित किया है, उसमें संतुष्ट रहने से ही उसके व्रत की रक्षा हो सकती है। त्याग करने का लक्ष्य स्वस्थ होना है, अर्थात् अपने ज्ञाता दृष्टा स्वभाव में स्थिर होना ही परिग्रह त्याग का प्रयोजन है। यदि इस प्रयोजन की ओर लक्ष्य नहीं है, तो उस त्याग से लाभ नहीं होता। परिग्रह त्याग प्रतिमा का धारी श्रावक अपने निर्वाह के योग्य वस्त्र तथा बर्तनों को रखकर शेष परिग्रह से अपना स्वामित्व छोड़ देता है। यदि पुत्र है तो समीचीन शिक्षा के साथ अपने परिग्रह का भार उसे सौंपता है। यदि पुत्र नहीं है तो दत्तक पुत्र या भाई भतीजा आदि को परिग्रह का भार सौंपकर निश्चिन्त होता है। घर रहता है और घर में भोजन करता है। यदि अन्य साधर्मी भाई निमन्त्रण करते हैं, तो उनके घर भी जाता है। स्वयं व्यापार नहीं करता, परन्तु पुत्र आदि यदि किसी वस्तु के संग्रह आदि में अनुमति मांगते हैं, तो उन्हें योग्य अनुमति देता है।

प्रश्न :—अनुमति त्याग प्रतिमा का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—निश्चय से खेती आदि के आरंभ में अथवा परिग्रह में अथवा इस लोक सम्बन्धि कार्यों में जिसकी अनुमोदना नहीं है, वह समान बुद्धि का धारक श्रावक अनुमति त्याग प्रतिमा का धारी माना जाना चाहिये।

अनुमतिरारम्भे वा परिग्रहे एहि केषु कर्मसु वा।
नास्ति खलु यस्य समधीरनुमतिविरतः स मन्तव्यः ॥११६॥

जो खेती आदि आरम्भ, धनधान्यादिक परिग्रह तथा इस लोक सम्बन्धि विवाह आदि कार्यों में अनुमति नहीं देता तथा इष्ट अनिष्ट परिणति में समबुद्धि रहता है। उसे अनुमति त्याग प्रतिमा का धारक श्रावक जानना चाहिये।

आरम्भ त्याग प्रतिमा में नई कमाई का त्याग करता है, परिग्रह त्याग प्रतिमा में परिग्रह के स्वामित्व से निवृत्त होता है और अनुमति त्याग प्रतिमा में परिग्रह सम्बन्धि किसी प्रकार की अनुमति भी नहीं देता। पुत्र आदि उत्तराधिकारी अपनी बुद्धि से जो कुछ करते हैं, उसमें मध्यस्थ भाव रखता है। हानि लाभ के अवसर पर

चित्त में संक्लेश नहीं करता। भोजन के अवसर पर घर के या समाज के लोगों में जो भी प्रार्थना करते हैं, उनके यहां भोजन करता है, किसी का निमन्त्रण पहले से स्वीकृत नहीं करता और न किसी से किसी इच्छित वस्तु के बनाने आदि की इच्छा प्रकट करता है। एक बार ही आहार पानी को ग्रहण करता है। इस प्रतिमा का धारी श्रावक पारलौकिक धार्मिक कार्यों में अनुमति दे सकता है, परन्तु स्वयं अग्रसर होकर किसी कार्य को करने का विकल्प आगे आकर नहीं लेता।

प्रश्न :—उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जो घर से मुनियों के पास वन को जाकर गुरु के पास व्रत ग्रहण कर भिक्षा भोजन करता हुआ तपश्चरण करता है तथा वस्त्र के खण्ड को धारण करता है, वह उत्कृष्ट श्रावक है।

गृहतो मुनिवनमित्वा गुरुपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य।
भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्ट श्चैल खण्डधरः ॥११७॥

उद्दिष्ट त्याग नामक ग्यारहवें स्थान से युक्त श्रावक उत्कृष्ट कहलाता है। यह कौपीन—लंगोट मात्र वस्त्र को धारण करता है। भिक्षा एवं भैक्ष्यं इस तरह स्वार्थ, में ण्य प्रत्यय अथवा भिक्षाणां समूहो भैक्षं इस तरह समूह अर्थ में अण प्रत्यय होने पर भैक्ष शब्द सिद्ध होता है। इस प्रतिमा का धारी भिक्षा से भोजन करता है अर्थात् मुनियों की तरह चर्या के लिये निकलता है। पड़गाहे जाने पर जहाँ अनुकूल विधि मिलती है, वहाँ भोजन करता है। अथवा जो अनेक भैक्ष्य होता है, वह किसी पात्र में गृहस्थों के घर से भिक्षा को लेता है जब उदर पूर्ति के योग्य भोजन एकत्रित हो जाता है तब किसी श्रावक के घर प्रासुक जल लेकर भोजन करता है। इस प्रतिमा को धारण करने वाला श्रावक घर छोड़कर मुनियों के वन में चला जाता है तथा उनके पास व्रत धारण कर उन्हीं की देख-रेख में तपश्चरण करता है। मुनिवन का अर्थ मुनियों का आश्रम है। समन्तभद्र स्वामी के समय मुनि, वन में ही निवास करते थे इसलिये उत्कृष्ट श्रावक को गृहत्याग कर मुनि वन में जाने की आज्ञा दी गई है। इस समय मुनियों में ग्रामवास या चैत्यवास चल पड़ा है, इस लिए मुनिवन का अर्थ मुनियों का आश्रम लिया जाता है।

विशेषार्थ—इस प्रतिमा धारी को भैक्ष्याशन कहा है। उसी से सिद्ध है कि यह उद्दिष्ट आहार का त्यागी होता है। किसी खास व्यक्ति के उद्देश्य से जो आहार

बनाया जाता है, वह उद्दिष्टाहार कहलाता है, इस प्रतिमा धारी के ऐलक और क्षुल्लक की अपेक्षा दो भेद प्रचलित हैं। ऐलक लिङ्ग का परदा अर्थात् लंगोट धारण करते हैं और क्षुल्लक लंगोट के शिवाय एक खण्ड वस्त्र भी रखते हैं। खण्ड वस्त्र का अर्थ इतना छोटा वस्त्र लिया जाता है कि जिससे सिर ढकने पर पैर न ढक सके पैर ढकने पर शिर न ढक सके। मार्जन के लिये क्षुल्लक मयूरपिच्छ से निर्मित पिच्छी या वस्त्र के एक खण्ड को रखते हैं। तथा ऐलक पीछी ही रखते हैं।

क्षुल्लक केश लोंच भी करते हैं कैंची, छुरा से क्षौर कर्म कराते हैं, परन्तु ऐलक केश लोंच ही करते है। क्षुल्लक पात्र में भोजन करते हैं, परन्तु ऐलक हाथ में ही भोजन करते हैं, क्षुल्लक और ऐलक दोनों बैठकर ही भोजन करते हैं। दोनों ही पैदल विहार करते हैं। रेल, मोटर आदि में यात्रा करना इस पद में वर्जित है।

पहली से लेकर छठवीं प्रतिमा तक के श्रावक, सातवीं से नौवीं प्रतिमा तक के श्रावक को मध्य श्रावक और दसवीं तथा ग्यारवीं प्रतिमा के धारक को उत्तम श्रावक कहा जाता है। ग्यारहवीं प्रतिमा के धारक श्रावक को आर्य कहते हैं, और स्त्री को आर्यिका कहते हैं। आर्यिका सफेद रंग की १६ हाथ की साड़ी रखती है। स्त्री पर्याय में धारण किये जाने वाले व्रत का यह सर्वश्रेष्ठ रूप है, इसलिये इसे उपचार से महाव्रत का धारक माना जाता है। अर्यिका से उतरता हुआ दूसरा स्थान क्षुल्लिका है। यह १६ हाथ की साड़ी के सिवाय एक चद्दर भी रखती है। ऐलक क्षुल्लक आर्यिका और क्षुल्लिका दूसरे दिन शुद्धि के समय बदलने के लिये दूसरा लंगोट चद्दर और साड़ी भी रखती हैं, साथ के ब्रह्मचारी या ब्रह्मचारिणी स्त्रियों उसकी व्यवस्था रखती हैं। पिछले दिन के वस्त्रों को धोकर यही सुखाती हैं। आर्यिका के केशलोंच तथा भोजन की विधि ऐलक के समान है और क्षुल्लिका के केश-लोंच तथा आहार की व्यवस्था क्षुल्लक के समान है।

सद्वेधा प्रथमः श्मश्रुमूर्धजानायेत् ।
सित कौपीन संव्यानः कर्त्तर्या वा क्षुरेण वा ॥३८॥

सागार धर्मामृत—अध्याय—७

वह उत्कृष्ट श्रावक दो प्रकार का है, सफेद लंगोटी तथा सफेद उत्तरीय वस्त्र को धारण करने वाला, पहिला श्रावक, दाढी मस्तक के केशों को कैंची से अथवा

छुरी से अलग करे। कहीं कहीं वह श्रावक गेरुआ रंग के कपड़े भी धारण करता है। और एकादश तार की जनेऊ (यज्ञोपवीत) भी धारण करता है। ऐसा आगम में पाया जाता है।

स्थानादिषु प्रतिलिखेत् मृदूपकरणेन सः।
कुर्यादेव चतुष्पर्व्यामुपवासं च तुर्विधम् ॥३६॥सा०ध०अ०७॥११८॥

जैसे मुनि पिच्छि रखते हैं, उसी प्रकार जीवों की विराधना से बचने के लिए क्षुल्लक भी बैठते समय, उठते समय, सोते समय, पुस्तकादि उठाते रखते समय पिच्छि से जीवों को बचावे अर्थात् जमीन वगैरह को मृदु वस्त्र आदि से शुद्धि करके आसनादि का उपयोग करे और चार पर्व सम्बन्धी उपवासों को जरूर करे। वह अतिथि (मुनि) की तरह पर्वोपवास से सम्बन्ध नहीं छोड़ सकता है।

प्रश्न :—एक घर क्षुल्लक और अनेक घर क्षुल्लक में क्या भेद है ?

उत्तर :—स्वयं समुपविष्टोऽद्यात्पाणिपात्रेऽथ भाजने।
स श्रावकगृहं गत्वा पात्र पाणिस्तदङ्गणे ॥४०॥११९॥
स्थित्वा भिक्षां धर्मलाभं भणित्वा प्रार्थयेत् वा।
मौनेन दर्शयित्वाऽगं लाभालाभे समोऽचिरात् ॥४१॥१२०॥
निर्गत्याऽन्यद् गृहं गच्छेद् भिक्षोद्यु क्तस्तु केनचित्।
भोजनायार्थितोऽद्यात्तद्भुक्त्वा यद्भिक्षितं मनाक् ॥४२॥
प्रार्थयेन्यथाभिक्षां यावत्स्वोदर पूरणीम्।
लभेत प्रासु यत्राम्भस्तत्रसंशोध्य तां चरेत् ॥४३॥

अर्थ :—क्षुल्लक बैठकर पात्र में भोजन करे अथवा हाथ में श्रावक के द्वारा अर्पित भोजन करे। क्षुल्लक अपने हाथ में पात्र लेकर भिक्षा को निकले। श्रावक के घर जावे, धर्म लाभ कहे और भिक्षा की याचना करे। अथवा मौन से श्रावक के आंगन में केवल खड़ा होकर भिक्षा की प्रार्थना करके चला आवे। भोजन के मिलने अथवा न मिलने पर किसी प्रकार का हर्ष विषाद न करे, राग द्वेष न करे और दूसरों के घर जावे। यदि बीच में कोई श्रावक भोजन के लिये रोके, प्रार्थना करे, तो उसके घर पर भी भोजन करे। परन्तु इतना ध्यान रहे कि पहले जो भिक्षा प्राप्त की है उसे शोधकर खाने के बाद भोजन करे। यदि किसी ने बीच में न रोका हो तो शरीर के लिए जितनी भिक्षा आवश्यक है उसकी पूर्ति जब-तक न हो तब तक भिक्षा के

लिये श्रावकों के यहां जावे, तथा जहां पर प्रासुक जल मिले वहां संशोधन करके भोजन करे ।

आकांक्षन् संयमं शिक्षापात्र प्रक्षालनादिषु ।
स्वयं यतेत चादर्पः परथाऽसंयमो महान् ।।४४।।१२१।।
ततो गत्वा गुरुपान्तं प्रत्याख्यानं चतुर्विधम् ।
गृहणीयाद्विधिवत्सर्वं गुरोश्चालोचयेत्पुरः ।।४५।।१२२।।

प्राणिरक्षारूप संयम की रक्षा करने की इच्छा करने वाला वह क्षुल्लक विद्या अतिशय आदि के मद से रहित होकर अपने भोजन करने के पात्र को रखना, उठाना तथा उच्छिष्टादि को स्वच्छ करना आदि अपने हाथ से करे, दूसरे शिष्यादि से न करावे । शिष्यादि से कराने से महान असंयम होता है । क्षुल्लक आहार के बाद गुरु के पास जाकर शास्त्रोक्त विधि से चार प्रकार के आहार का त्याग करे, तथा आहार के लिए जाने से लेकर आने तक जो कुछ भी अपनी चेष्टाएँ हुई उन सबकी गुरु के सामने आलोचना करे । और गोचरी सम्बन्धी दोषों का निराकरण करने के लिए प्रतिक्रमण करे । अब अनेक घर क्षुल्लक का स्वरूप कहते हैं ।

यस्त्वेक भिक्षानियमो गत्वाऽद्यादनु मन्यसो ।
भुक्त्यभावे पुनः कुर्यादुपवासमवश्यकम् ।।४६।।१२३।।

ग्यारहवीं प्रतिमा धारी क्षुल्लक के दो भेद हैं । एक घर में भिक्षा के नियम वाला तथा अनेक घर भिक्षा करने वाला । उसमें अनेक घर भिक्षा करने वाला क्षुल्लक दातार के घर में जाकर भिक्षा लेकर दूसरे घर में जाकर भोजन कर सकता है । परन्तु जिनको एक घर भिक्षा करने का नियम है—वह मुनियों की चर्या होने के बाद दातार के घर जावे तथा उसी के घर में बैठ कर भोजन करे । कारणवशात् भोजन नहीं मिलने पर अवश्य ही उपवास करे । एक घर में से निकलकर अनेक घर भिक्षु के समान दूसरे घर में नहीं जावे ।

उसकी विधि विशेष को कहते हैं—

वसेन्मुनिवने नित्यं शुश्रूषेत् गुरूंश्चरेत् ।
तपो द्विधाऽपि दशधा वैयावृत्यं विशेषतः ।।४७।।१२४।।

वह क्षुल्लक सदैव संयतों के निकट उनके आश्रम में रहे । धर्माचार्य की सेवा करे । और अन्तरंग बहिरंग के भेद से दो प्रकार का तप है, उसका आचरण करे ।

और विशेष रूप से संयमियों की आपत्ति को दूर करने वाली दश प्रकार की वैयावृत्ति करे यद्यपि अन्तरंग तप में वैयावृत्ति का संग्रह होता है। फिर भी अतिशय रूप से मुख्य कार्य वैयावृत्य है, यह बताने के लिए उसका अलग से उल्लेख किया जाता है।

ग्यारहवीं प्रतिमा के क्षुल्लक और द्वितीय ऐल्लक ऐसे दो भेदों को वर्णन किया है। उसमें क्षुल्लक के एक घर भिक्षु तथा अनेक घर भिक्षु ऐसे दो भेदों का वर्णन किया है।

आगे द्वितीय उद्दिष्ट विरति श्रावक का लक्षण बताते हैं—

तद्वद् द्वितीयः किन्त्वार्यसंज्ञो लुञ्चत्यसौ कत्तान्।
कौपीन मात्रयुग्धत्ते यतिवत्प्रतिलेखनम् ॥४८॥सागार धर्मा.॥१२५॥

द्वितीय ऐल्लक श्रावक की क्रिया प्रथम क्षुल्लक के समान ही है। विशेषता केवल इतनी है क्षुल्लक छुरी आदि से बाल बनवा सकता है और एक लंगोटी उत्तरीय वस्त्र रखता है। परन्तु ऐल्लक दाढ़ी तथा शिर के बालों को हाथों से उखाड़ता है, कैंची आदि से नहीं कटवा सकता है। तथा गुह्य अंग को प्रच्छादन करने के लिए लंगोटी मात्र रखता है। उत्तरीय वस्त्र नहीं रख सकता। तथा मुनियों के समान संयम का उपकरण पिच्छिका रखे।

स्वपाणिपात्र एवात्ति संशोध्यान्येन योजितम्।
इच्छाकारं समाचारं मिथः सर्वे तु कुर्वते ॥४९॥सागार०॥१२६॥

ऐल्लक गृहस्थी के द्वारा अर्पण किये हुये आहार को अपने हाथ में ही संशोधन करके भोजन करता है, थाली आदि में नहीं कर सकता तथा वे सब ऐल्लक परस्पर में "इच्छामि" मैं तुम्हारे पद की इच्छा करता हूँ, इस प्रकार साधारण समाचार का व्यवहार करे।

प्रश्न :—क्या ये क्षुल्लक सिद्धान्त ग्रन्थ वीरचर्यादि कर सकते हैं ?

उत्तर :—श्रावको वीर चर्य्यार्हः प्रतिमातापनादिषु।
स्यान्नाधिकारी सिद्धान्तरहस्याध्ययनेऽपि च ॥५०॥सागार०॥१२७॥

ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावक स्वयं भ्रामरी के द्वारा वीरचर्या का अधिकारी नहीं है, तथा दिन प्रतिमा ग्रीष्म ऋतु में सूर्य के सन्मुख, पर्वत के शिखर पर ध्यान करना, वर्षा काल में बर्फ के नीचे ध्यान करना और शीतकाल की रात्रि में चौराहे पर खड़े रहकर ध्यान करना आदि लक्षण वाले कायक्लेश विशेष, आतापनादि

त्रिकाल योग धारण करने का अधिकारी नहीं है तथा सूत्र रूप सिद्धान्त शास्त्र का और रहस्य रूप प्राचीन शास्त्रों का पढ़ने का अधिकारी भी नहीं हैं। इसीप्रकार आर्यिकाओं को और सामान्य गृहस्थों को भी उपरोक्त अधिकार नहीं हैं।

[सागार धर्मामृत, पं० आशाधर जी, ही. आ. सुपार्श्व]

❋ आर्यिकाओं के समाचार का वर्णन ❋

एसो अज्जाणंपि य समाचारो जहाविधिओ पुव्वं।
सव्वहि अहोरत्ते विभासि दव्वो जधाजोग्गं ॥१२८॥

मूलगुणों के अनुरूप आचरण को समाचार कहते हैं। अर्थात् मुनि के समाचार का इतः पूर्व में जैसा वर्णन किया है, वैसा ही आर्यिका का भी वर्णन समझना चाहिए। विशेष यह है कि वृक्षमूलयोग, आतापनयोग, अभ्रावकाशयोग ऐसे योगादिक आचरण का आर्यिकाओं को निषेध है। क्योंकि वह उनके आत्मशक्ति के बाहर का है अर्थात् उनके अनुरूप नहीं है।

प्रश्न :—आर्यिकाओं का परस्पर किस प्रकार का व्यवहार होता है ?

उत्तर :—अण्णोण्णणु कूलाओ अण्णोण्ण हिरक्खणाभिजुत्ताओ।
णयरोसवेरमाया सलज्जमज्जाद किरियाओ ॥१२९॥

ये आर्यिकाएँ वसतिका में मत्सरभाव छोड़कर रहती हैं। अन्योन्य अर्थात् आपस में रक्षण करने के अभिप्राय में पूर्ण तत्पर रहती हैं। उनमें रोष, वैर, कपट जैसे विकार नष्ट हुए हैं। ये विकार मोहनीय कर्म के विशेष उदय से होते हैं। उनका वह मोहनीय कर्मविशेष नष्ट होने से वे विकार भी नष्ट हुए हैं। लोकापवाद से डरना, यह लज्जा का लक्षण है अर्थात् जिस आचरण के लोक में अपनी निंदा होगी ऐसे आचरण से वे सर्वदा दूर रहती हैं। रागद्वेष को दूर रखकर न्याय्य आचरण करना मर्यादा का लक्षण है। उभयकुलानुरूप आचरण को क्रिया कहते हैं। अर्थात् लज्जा, मर्यादा तथा क्रियाओं से वे आर्यिकाएँ अपने चारित्र का रक्षण करती हैं।

प्रश्न :—आर्यिकाओं के विशिष्ट आचरण क्या हैं ?

उत्तर :—आउच्छणे परियहे सवणे कहणे तहाणुपेहाए।
तवविणयसंजमेसु य अविरहिदुवओग जुत्ताओ ॥१३०॥

जिस शास्त्र का पूर्व काल में अध्ययन नहीं किया था, उसके अध्ययन में, पढ़े हुए शास्त्र को कंठस्थ करने में, सुना हुआ अथवा न सुना हुआ शास्त्र श्रवण करने में, जिस शास्त्र का ज्ञान अपने को है ऐसे शास्त्र का अन्यों को उपदेश करने में तथा शास्त्र के जीवादि सप्त तत्वों को मन से चिन्तन करने में तथा अनित्यादि बारह अनुप्रेक्षाओं का मन से बार बार विचार करने में वे आर्यिका सतत तत्पर रहती हैं। अनशनादि बाह्य तप तथा प्रायश्चित्तादि अन्तरंग तप पालने में मन, वचन और शरीर से दृढ़ रहना, इंद्रियों को वश रखना, जीव वध से दूर रहना अर्थात् प्राणिसंयम पालना, सतत ज्ञानाभ्यास में उद्युक्त रहना, ऐसे कार्यों में वे तत्पर होती हैं। मन, वचन, कायों से शुभाचरण करती हैं। इस प्रकार की उनकी प्रवृत्ति होती है।

और भी विशेषाचरण

अविकार वत्थवेसा जल्ल मलविलित्त चत्त देहाओ।
धम्मकुल कित्ति दिक्खापडिरूवविसुद्ध चरियाओ ॥१३१॥

जिनके स्वभाव में कोपादि विकार उत्पन्न नहीं होते, जो निर्विकार वस्त्र धारण करती हैं। अर्थात् जो रंगीले तथा चित्र विचित्र वस्त्र कदापि धारण नहीं करती हैं। जिनकी गति-गमन, विलास रहित व देखना कटाक्ष रहित हैं, (सर्वांग में पसीना आकर उसके ऊपर धूल बैठती है, ऐसी मलिनता को जल्ल कहते हैं तथा शरीर के एक अवयव में उत्पन्न हुई मलिनता को मल कहते हैं। ऐसे) जल्ल और मल से जो युक्त है, जिनका देह सजावट से रहित हैं, धर्म, कुल, कीर्ति और दीक्षा के अनुरूप निर्मल आचरण जो धारण करती हैं। अर्थात् क्षमादिक धर्म, माता पिता कुल, यश और व्रत इनको अबाधित रखने वाला आचरण ये आर्यिकायें धारण करती हैं।

प्रश्न :—वे आर्यिकाएँ अकेली रहती हैं अथवा मिलकर रहती हैं ?

उत्तर :—अगिहत्थमिस्सणिलये असण्णिलये विसुद्ध संचारे।
दो तिण्णिव अज्जाओ बहुगीओ वा सह स्यांति ॥१३२॥

जिस स्थान में आर्यिका निवास करती है, उसका वर्णन इस प्रकार है—

जहाँ स्त्री, धन धान्यादि परिग्रह युक्त गृहस्थ नहीं रहते हैं, ऐसे स्थान में वे रहती हैं। तथा जहां पर परस्त्री-लंपट, चोर, चुगली करने वाला, दुष्ट तथा पशुओं का अभाव हैं, ऐसे स्थान में वे रहती हैं। यतियों के निवास स्थान से भी वह

आर्यिकाओं का स्थान दूर रहता है। तथा वह स्थान बाधा रहित होता है। वह संक्लेश रहित अथवा जो गुप्तसंचार करने के लिये योग्य हो अर्थात् जो मलोत्सर्ग करने के प्रदेश के योग्य हो। जहाँ बाल, वृद्ध, रोगीजन आ जा सकते हैं, तथा जो शास्त्राध्ययन के लिये उपयुक्त हो ऐसे स्थान में वे आर्यिकाएँ दो, तीन तीस चालीस तक एकत्र रहती हैं।

प्रश्न :—वे आर्यिका परगृह में कभी जाती है या नहीं ?

उत्तर :—ण य परगेहं मक्कज्जे गच्छे कज्जे अवस्सगमणिज्जे।
गणिणीमा पुच्छित्ता संघाडेणेव गच्छेज्ज ॥१३३॥

मुनिओं की वसतिका और गृहस्थ का घर ये दोनों ही परगृह कहे जाते हैं। इन परघरों में प्रयोजन के बिना आर्यिकाओं का जाना निषिद्ध है। यदि जाने का कुछ आवश्यक प्रयोजन उत्पन्न हो तो आर्यिका अपनी महत्तरिका-मुख्या को पूछकर जा सकती है। अर्थात् भिक्षा प्रतिक्रमण वगैरह के समय में गणिनी को मुख्य आर्यिका को पूछकर आर्यिका को जाना चाहिये। परन्तु अकेली जाना निषिद्ध है। अपने साथ अन्य अन्य आर्यिकाओं को लेकर जाना चाहिये।

प्रश्न :—स्वस्थान में अथवा परस्थान में कौनसी क्रियायें नहीं करना चाहिये ?

उत्तर :—रोदणण्हावण भोयण पयणं सुत्तं च छव्विहारंभे।
विरदाण पादमक्खण धोवणगेयं च ण वि कुज्जा ॥१३४॥

स्वस्थान में अथवा परस्थान में दुःखार्त्त को देखकर रोना, अश्रुमोचन करना, बालकादि को स्नान कराना, उनको जिमाना, रसोई बनाना, कपड़ा सीना, सूत कातना इत्यादि कार्य आर्यिका को करना निषिद्ध है। तथा यतिओं के चरण धोना, उनको तेल लगाकर अभ्यंगस्नान करना, गीत गाना इन कार्यों का निषेध है। ये क्रियायें करने से आर्यिकाओं की निंदा होती है।

प्रश्न :—आरम्भ के छह प्रकारों का वर्णन किस प्रकार है ?

उत्तर :—पाणियणयणं छेणं गिहवोहरणं च गेहसारमणं।
कुरावलिप्पणं कुट्टविदे एदंतु छव्विहारंभो ॥१३५॥

पानी लाना, छेरण। घर का कूड़ा कचरा बाहर फेंककर घर साफ करना, घर गोबर से लेपना, सम्मार्जन करना, भित्ती लिपना, तथा भित्ती को साफ करना,

ऐसे छह प्रकार के आरम्भ हैं। आर्यिका ऐसे कार्यों को न करे।

प्रश्न :—भिक्षा के लिये वे किस प्रकार से गमन करती है ?

उत्तर :—तिण्णिव पंच व सत्त व अज्जाओ अण्णमण्णरक्खाओ।
वेरीहिं संहतरिदा भिक्खाय समोदरंति सदा ॥१३६॥

तीन किंवा पांच अथवा सात आर्यिकाएँ परस्पर में रक्षण करने का अभिप्राय मन में धारण करती हुई वृद्ध आर्यिकाओं के पीछे-पीछे अनुगमन करती हुई, भोजन के लिये ईर्यापथ समितिपूर्वक विहार करती हैं। यहाँ 'भिक्षा ग्रहण करना' यह कार्य उपलक्षण रूप समझना चाहिये। जैसे कौवे से दही का रक्षण करो, अर्थात् कौवे, चूहे वगैरह प्राणियों से दही, दूध वगैरह का रक्षण करो ऐसा अर्थ माना जाता है। वैसे भिक्षा के समान देव वंदना वगैरह कार्य के लिये जाने के समय में भी उपर्युक्त पद्धति से ही आर्यिकाओं की प्रवृत्ति होवे। ऐसा अभिप्राय आचार्य ने प्रकट किया है।

प्रश्न :—आचार्यादिकों की वंदना मुनियों के समान ही करती है क्या ?

उत्तर :—पंच दुद सत्त हत्थे सूरी अज्झावगो य साधू य।
परिहरिऊणज्जाओ गवासणेणेव वंदंति ॥१३७॥

आचार्य को आर्यिकायें पांच हाथ दूर से, उपाध्याय को छह हाथ दूर से तथा साधु को सात हाथ दूर से गवासना से ही बैठकर वंदना करती है। जिस प्रकार से गौ बैठती है, उसी प्रकार से बैठना उसको गवासन कहते हैं। आलोचना, अध्ययन, स्तुति इनकी अपेक्षा से भेद समझना चाहिये। जैसे—आलोचना करते समय आचार्य से पांच हाथ दूर रहकर आर्यिका आलोचना करे। छह हाथ दूर रहकर उपाध्याय से अध्ययन करे तथा साधु से सात हाथ दूर रहकर उनकी स्तुति करे।

एवं विधाण चरियं चरंति जे साधवो य अज्जाओ।
ते जगपुज्जं कित्तिं सुहं च लद्धूण सिज्झंति ॥१३८॥

इस प्रकार अर्थात् इस अध्याय में जो समाचार का सविस्तर वर्णन किया है, उसके अनुसार जो साधु और आर्यिकायें प्रवृत्ति करती हैं। वे जगत के द्वारा सम्मान, कीर्ति और सुख प्राप्त करती हैं और अन्त में मुक्त होती हैं।

[मूलाचार—अध्याय ४ पृष्ठ सं. १००]

प्रश्न :—छठे प्रमत्तविरत नामक गुणस्थान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—संज्वलन और नो कषाय के तीव्र उदय से समयभाव तथा मल-

जनक प्रमाद युक्त परिणाम को प्रमत्त विरत गुणस्थान कहते हैं ।

यद्यपि संज्वलन और नो कषाय का उदय चारित्र गुण का विरोधी है, तथापि वह प्रत्याख्यानावरण कषाय का उपशम होने से प्रादुर्भूत सकल संयम के घातने में समर्थ नहीं है । इस कारण उपचार से संयम का उत्पादक कहा है । इसलिये इस गुणस्थान वर्ती मुनि को प्रमत्तविरत अर्थात् चित्रलाचरण कहते हैं ।

❋ सकल चारित्र ❋

प्रश्न :—प्रमत्तविरत तपोधन का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः ।
ज्ञानध्यानतपो रत्नस्तपस्वी स प्रशस्यते ।।१।।१३६।।

जो विषयों की आशा के वश से रहित हो, आरम्भ रहित हो; परिग्रह रहित हो और ज्ञान, ध्यान, तथा तप रूपी रत्नों से सहित हो, वह गुरू प्रशंसनीय है ।

स्पर्शनादि इन्द्रियों के विषय भूत माला तथा स्त्री आदि विषयों की आकांक्षा सम्बन्धी अधीनता जिनकी नष्ट हो गई है, अर्थात् जिन्होंने इन्द्रिय विषयों पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली है, जो खेती आदि व्यापार का परित्याग कर चुके हैं । जो बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह से रहित हैं तथा ज्ञान, ध्यान और तप को ही जो रत्नों के समान श्रेष्ठ समझ कर उन्हीं की प्राप्ति में लीन रहते हैं, अट्ठाईस मूल गुणों को धारण करते हैं, ऐसे ही सद्गुरु मुनि तपस्वी होते हैं । येही सच्चे मुनिओं का लक्षण है ।

प्रश्न :—मूलगुण किसे कहते हैं ?

उत्तर :—मुनियों के प्रधान आचरण को मूलगुण कहते हैं । इन मूलगुणों का पालन करने से उत्तर गुण धारण करने की शक्ति आती है । मूल शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, तो भी यहां मूल-प्रधान, मुख्य ऐसा अर्थ समझना चाहिए, गुण शब्द के भी अनेक अर्थ हैं, परन्तु यहां आचरण विशेष समझना चाहिये ।

प्रश्न :—मुनियों के मूलगुण कितने होते हैं ? और उनका क्या स्वरूप हैं ?

उत्तर :—पंचय महव्वयाइं समिदिओ पंच जिण वरोछिट्ठा ।
पंचेविंदियरोहाछप्पिय आवासया लोचो ।।२।।१४०।।
अचेलकमण्हाणं खिदिसयणमदंत घस्सणं चेव ।
ठिदि भोयणेय भत्तं मूलगुणा अट्ठवीसादु ।।३।।१४१।।मूलाचार अ.१

पांच महाव्रत, पांच समितियां, पांच ही इन्द्रियों के निरोध, छह आवश्यक, लोच, आचेलक्य, अस्नान, पृथिवीशयन, अदंतधर्षण, स्थितिभोजन, एक भक्त ये मुनिगणों के अट्ठाईस मूलगुण हैं।

प्रश्न :—प्रथम पांच महाव्रतों के नाम क्या हैं ?

उत्तर :—हिंसा का त्याग, सत्य, चोरी का त्याग, ब्रह्मचर्य और परिग्रह का त्याग — ये पांच महाव्रत कहे गये हैं।

प्रश्न :—अहिंसा महाव्रत का क्या लक्षण है ?

उत्तर :—कायेंदियगुण मग्गण कुलाउजोणीसु सव्वजीवाणं।
णाऊण य ठाणादिसु हिंसादि विवज्जणं महिंसा ॥५॥१४२॥

काय, इन्द्रिय, गुणस्थान, मार्गणास्थान, कुल, आयु, योनि—इनमें सब जीवों को जानकर कायोत्सर्गादि क्रियाओं में हिंसा आदि का त्याग उसे अहिंसा महाव्रत कहते हैं।

प्रश्न :—सत्य महाव्रत का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—रागादीहिं असच्चं चत्ता परतावसच्चवयणोत्ति।
सुत्तत्थाणवि कहणे अयधावयणुज्झणं सच्चं ॥६॥१४३॥

रागद्वेषमोह आदि कारणों से असत्य वचन को तथा दूसरे को संताप करने वाले ऐसे सत्य वचन को छोड़ना और द्वादशांग शास्त्र के अर्थ कहने में अपेक्षा रहित वचन छोड़ना वह सत्य महाव्रत है।

प्रश्न :—अचौर्य महाव्रत का क्या लक्षण है ?

उत्तर :—गामादिसु पडिदाइं अप्पप्पहुदिं परेण संगहिदं।
णादाणं परदव्वं अदत्त परिवज्जणं तं तु ॥७॥१४४॥

ग्राम आदिक में पड़ा हुआ, भूला हुआ, रक्खा हुआ इत्यादि रूप अल्प भी स्थूल सूक्ष्म वस्तु तथा दूसरे का इकट्ठा किया हुआ ऐसे पर द्रव्य का ग्रहण नहीं करना (नहीं लेना) वह अदत्त त्याग अर्थात् अचौर्य महाव्रत है।

प्रश्न :—ब्रह्मचर्य महाव्रत का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—मादुसुदा भगिणी विय दट्ठूणित्थित्तियं च पडिरूवं।
इत्थिकहादिणियत्ती तिलोय पुज्जं हवे बंभं ॥८॥१४५॥

माता, पुत्री और बहिन के समान बूढ़ी, बालिका और तरुण स्त्रियों को

समझना यह त्रैलोक्यपूज्य ब्रह्मचर्य है। स्त्रियों के फोटो, भीत पर लिखे हुए स्त्रियों के आकार चित्र, मिट्टी, पाषाण इत्यादिक से बने हुए स्त्रीचित्र अर्थात् मनुष्य, देवांगना और तिर्यंचिणी इनके प्रतिबिंब देखकर इनके ऊपर कामुक नहीं होना यह ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य का संरक्षण करने के लिये स्त्रीकथा का त्याग करना चाहिये तथा उनमें माता, सुता और बहिन का संकल्प रखना चाहिये। अर्थात् स्त्रियों का कोमल भाषण, मृदु स्पर्श, रूपावलोकन, नृत्य, गीत, हास्य, कटाक्ष निरीक्षण प्रेम से तिरछा देखना इत्यादिकों में अभिलाषा नहीं रखना यह त्रैलोक्य पूज्य ब्रह्मचर्य महाव्रत है। इस व्रत के नौ, इक्यासी और एक सौ बासठ भेद होते हैं।

प्रश्न :—परिग्रह त्याग महाव्रत का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जीवणिबद्धा बद्धा परिग्गाहा जीव संभवा चेव।

तेसिं सक्कच्चागो इयरह्मि य णिम्ममोऽसंगो ॥११॥१४६॥

बद्ध—जीव में उत्पन्न होने वाले अर्थात् जीव के आश्रय से रहने वाले विकार जैसे – मिथ्यात्व, वेद-स्त्री, पुरुष और नपुंसक इनको भोगने की अभिलाषा, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया, लोभ से अन्तरंग चौदह परिग्रह हैं, ये जीवाश्रित हैं। दासी, दास, गाय, घोड़ा वगैरह को भी चेतन परिग्रह कहते हैं।

अबद्ध :—अनाश्रित जीव से पृथक रहने वाले परिग्रह जैसे खेत, घर, धन, धान्य वगैरह। इनका संग्रह करने की अभिलाषा उत्पन्न होती है, इसलिये ये भी परिग्रह हैं। **जीव संभव**—जीवों से जिनकी उत्पत्ति होती है, ऐसे पदार्थों को जीवोद्भव परिग्रह कहते हैं, जैसे—मोती, शंख, सीप, चर्म, दाँत, कंबल वगैरह। तथा मुनिपना के अयोग्य ऐसे क्रोधादिक। इन सब परिग्रहों का शक्ति से त्याग करना चाहिये। अर्थात् इनके ऊपर अभिलाषा रखना ही नहीं। इनका मन, वचन और शरीर से सर्वथा त्याग करना चाहिये। इस संयम, ज्ञान और शौच के उपकरणभूत पिछी शास्त्र कमंडलु इत्यादि में ममत्व रहित होना चाहिये। इस संयमोपकरणादिक में अतिमूर्च्छा नहीं रखना चाहिये। यह पांचवा परिग्रह त्याग-महाव्रत है।

प्रश्न :—पांच समितिओं के भेद और लक्षण क्या है ?

उत्तर :—इरिया भासा एसण णिक्खेवादाणमेव समिदीओ।

पदिठावणिया य तहा उच्चारादीण पंचविहा ॥१२॥१४७॥

ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और प्रतिष्ठापना समिति—इस प्रकार समिति के पांच भेद हैं।

विशेषार्थ :—ईर्यासमिति—आना, जाना, बैठना वगैरह क्रिया करना अर्थात् अच्छी तरह से देखकर तथा मन को स्थिर कर गमनागमन क्रिया करना।

भाषासमिति :—बोलने की सम्यक् प्रवृत्ति करना अर्थात् आगम व धर्म से अविरुद्ध तथा पूर्वापर संबंध को न छोड़कर निष्ठुरता, कर्कश, मर्मच्छेदक वगैरह दोषों से रहित ऐसा भाषण बोलना। एषणासमिति—लोकनिंद्य तथा सूतकादि दोष सहित ऐसे कुलों को छोड़कर शुद्ध कुल के गृहस्थों के घर में आहार ग्रहण करना। निक्षेपादान समिति—आँखों से देखकर व पिच्छि से साफ कर यत्नपूर्वक वस्तु को रखना और ग्रहण करना। प्रतिष्ठापना समिति—जन्तुरहित प्रदेश में अच्छा निरीक्षण कर मल मूत्रादिकों का त्याग करना। इस प्रकार से पांच समितियां हैं।

प्रश्न :—ईर्यासमिति का विशेष स्पष्टीकरण क्या है ?

उत्तर :—पासुयमग्गेण दिवा जुगन्तरप्पेहिणा सकज्जेण।
जंतूणं परिहरंतेणिरियासमिदी हवे गमणं ॥१३॥१४८॥

जिसमें से जीव चले गये हैं अर्थात् निर्जन्तुक मार्ग से सूर्योदय होने पर चार हस्त प्रमाण जमीन देखकर एकाग्रचित करके शास्त्र श्रवण, तीर्थयात्रा, गुरुवंदना इत्यादि धर्म कार्य के लिए एकेंद्रियादि-प्राणियों का रक्षण करते हुए जो मुनिराज गमन करते हैं, उसको ईर्यासमिति कहते हैं। विशेष—हाथी, घोड़ा, गाय महिष वगैरह प्राणि हमेशा जाने से जो मार्ग निर्जन्तुक हो गया है, ऐसे मार्ग से ही धर्म कार्य के लिए गमन करते हैं। सूर्योदय होने के अनंतर आंखों में पदार्थ देखने की सामर्थ्य व्यक्त हो जाती है तब चार हाथ तक आगे की भूमि निहारते हुये और एकेंद्रियादिक प्राणिओं का रक्षण करते हुए मुनि गमन करते हैं। ऐसे आगमोक्त गमन को ईर्यासमिति कहते हैं।

प्रश्न :—भाषा समिति का स्वरूप क्या है ?

उत्तर :—पेसुण्णहास कक्कसपरणिंदा अप्पसंस विकहादी।
वज्जित्ता सपरहियं भासा समिदी हवे कहणं ॥१४॥१४९॥

पैशून्य—निर्दोष व्यक्ति के ऊपर दोषारोपण करना, हास-हास्यकर्म के उदय से धर्म की हंसी उड़ाकर हर्ष मानना, कर्कश-कर्ण कठोर काम-युद्ध कलह प्रवर्तक वचन

बोलना, परनिंदा– दूसरों के सच्चे व झूठे दोष प्रकट करना अथवा दूसरो के गुण नहीं सहना, आत्म प्रशंसा– स्वतः के गुण प्रगट करने का अभिप्राय रखना, विकथादि स्त्री कथा, भोजन कथा, चोर कथा और राजकथा वगैरह रागद्वेषोत्पादक कथा कहना। ये भाषा के सर्व दोष छोड़कर अपना व अन्य का जिससे कल्याण होगा ऐसा, कर्म बंध के कारणों से रहित वचन बोलना वह भाषासमिति है।

प्रश्न :—एषणा समिति का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—छादाल दोस सुद्धं कारणजुत्तं विसुद्धणवकोडी।
सोदादी समभुत्ता परिसुद्धा एसणा समिदी ॥१५॥१५०॥

मुनि जो आहार लेते हैं, वह उद्गमादि छियालीस दोषों से रहित–निर्दोष होता है। (उद्गम दोष के सोलह भेद हैं। उत्पादन दोष भी सोलह प्रकार का है। एषणा दोष के दस भेद हैं। तथा अंगारादिदोष के चार भेद हैं। इनका वर्णन पिंड शुद्धि अधिकार में करेंगे।) असातावेदनीय कर्म का उदय होने से उत्पन्न हुई क्षुधा को मिटाने के लिए और वैयावृत्यादि करने के लिये मुनि आहार लेते हैं। बल और आयुष्य वृद्धिगत होने की इच्छा से वे आहार नहीं लेते हैं। दाता स्वतः के लिए जो निर्दोष आहार बनाता है, वही मुनि लेते हैं। मुनि मन, वचन, शरीर, कृत, कारित और अनुमोदना इन नौ भेदों से रहित आहार लेते हैं। आहार बनाने के लिए मुनि श्रावकों को वचनादि से प्रेरणा नहीं करते हैं। वे नव कोटियों से निर्दोष आहार लेते हैं। शीत, उष्ण, लवण, रुक्ष, स्निग्ध वगैरह आहारों में वे रागद्वेष रहित रहते हैं। इस प्रकार का आहार लेने वाले मुनिराज की यह निर्दोष एषणासमिति है।

प्रश्न :—आदान निक्षेपण समिति का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—णाणु वहि संजमुवहि सउचुवहि अण्णमप्पमुवहि वा।
पयदं गहणिक्खेवो समिदी आदाणणिक्खेवा ॥१६॥१५१॥

ज्ञानोपधि- श्रुतज्ञान के उपकरण शास्त्र, संयमोपधि-हिंसादि पापक्रियाओं का त्यागरूप जो संयम उसका संरक्षण करने के कारण अर्थात् प्राणिदया के निमित्त ऐसे पिछिकादि संयमोपधि हैं। शौचोपधि– मलमूत्रादि मल हरण के उपकरण कमंडलु आदि पदार्थ। इन पदार्थों का उपयोग प्रयत्न पूर्वक करना चाहिये। अर्थात् ये पदार्थ लेते समय और रखते समय जीवदया का ख्याल रखकर लेने की व रखने की प्रवृत्ति करे तथा उपर्युक्त पदार्थ से भिन्न ऐसे चटाई, फलक, तृण वगैरह पदार्थ लेते या

रखते समय प्रयत्नपूर्वक प्रवृत्ति करनी चाहिए। इस प्रकार की प्रवृत्ति को आदान निक्षेपण समिति कहते हैं।

प्रश्न :—प्रतिष्ठापनिका समिति का स्वरूप क्या है ?

उत्तर :—एगंते अच्चित्ते दूर गूढे विसालमविरोहे।
उच्चारादिच्चाओ पदिठावणिया हवे समिदी ॥१७॥१५२॥

एकान्त—जहाँ असंयमी जनों का आना जाना नहीं ऐसा प्रदेश; अच्चित्तो—हरितकाय वनस्पति और द्वीन्द्रियादिक जीव रहित प्रदेश, जले हुए के समान दिखने वाला प्रदेश; दूरे-ग्राम नगरादिक से दूर ऐसा प्रदेश। अर्थात् ऊपर कहे हुए विशेषणों से युक्त स्थान में यत्न पूर्वक मल मूत्रादि का त्याग करने के लिए मुनि जाते हैं। उनकी यह प्रतिष्ठापनिका समिति है।

प्रश्न :—समिति बंध का कारण क्यों नहीं है ?

उत्तर :—जियदु व मरदु व जीवो अयदाचारस्य णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥१८॥१५३॥

जो प्रमाद युक्त होकर आना, जाना, उठना, बैठना इत्यादि क्रिया करता है उसको जीव-प्राणी जीये या मरे हिंसा का दोष अवश्य लगता है। वह हिंसक समझना चाहिये। परन्तु जो गमनागमन क्रिया प्रमाद रहित होकर समिति पूर्वक करता है उसको जीव हिंसा होने पर भी पाप कर्म का बंध नहीं होता है।

प्रश्न :—इन्द्रिय निरोध व्रत का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—चक्खू सोदं घाणं जिब्भा फासं च इंदिया पंच।
सग सग विसए हिंतो णिरोहियव्वा समा मुणिणा ॥१९॥१५४॥

आंख, कान, नाक, जीभ और स्पर्शन ऐसी पांच इंद्रियां हैं। इन इंद्रियों से क्रम से पांच प्रकार का रूप, कर्कश, कोमल वगैरह शब्द, सुगंध और दुर्गंध, पाँच प्रकार के मधुरादि रस और शीत, ऊष्ण वगैरह आठ प्रकार के स्पर्श जाने जाते हैं। अपने-अपने विषयों में प्रवृत्ति करके ये इंद्रियां आत्मा को रागी, द्वेषी, मोही बनाती हैं। अतः इन मनोहर और अमनोहर विषयों से संयमप्रिय मुनिराज इंद्रियों को पराङ्मुख करते हैं। ये मुनिराज के पांच मूलगुण हैं।

प्रश्न :—चक्षु निरोध मूलगुण का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—सचित्ताचित्ताणं किरियासंठाणवण्ण भेएसु ।

रागादि संग हरणं चक्खु णिरोहो हवे मुणिणो ।।२०।।१५५।।

सचित्ताचित्ताणं—ज्ञान दर्शनोपयोगात्मक चैतन्य जिनमें हैं ऐसे पदार्थ अर्थात् देव मनुष्यादि स्त्रियों के रूप, सचित्त द्रव्य रूप पदार्थ हैं। जिनमें चैतन्य नहीं है, ऐसे सचित्त द्रव्य के प्रतिबिंब को अचित्त द्रव्य रूप कहते हैं। तथा अचित्तद्रव्य—अजीव द्रव्य घटपटादि द्रव्य को भी अचित्तद्रव्य कहते हैं। इन चेतन अचेतन पदार्थों के क्रिया, संस्थान-आकृति और वर्ण के भेदों में राग, द्वेष और अभिलाषा नहीं रखना यह मुनिराज का चक्षुनिरोध अर्थात् नेत्रेंद्रिय को वश रखना इस नाम का मूल-गुण है।

विशेषार्थ :—स्त्रियों की क्रिया—गीत, विलास, नृत्य, तिरछा अवलोकन और इधर उधर सविलास आना जाना। संस्थान उनके देह की सुन्दर आकृति अथवा एक हाथ कटी पर रखकर एक हाथ ओष्ठ पर रखना इत्यादि आकर्षक खड़े रहने के प्रकारों को संस्थान कहते हैं। वर्ण स्त्रियों के शरीर का श्यामादिक रंग। ये सब इष्टानिष्ट प्रकार देखकर जो राग, द्वेष, अभिलाष उत्पन्न होते हैं, उनका निराकरण करना यह चक्षुनिरोध नामक मूलगुण है। स्त्री पुरुषों के अचेतन प्रतिबिम्ब की क्रियादिक देखकर उसमें भी रागद्वेष वश न होना, अभिलाष रहित होना यह भी चक्षुनिरोध नामक मुलगुण है।

प्रश्न :—कर्ण निरोध मूलगुण का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—सड्जादिजीव सद्दे वीणादि अजीव संभवे सद्दे ।

रागादीव णिमित्ते तदकरणं सोदरोधो दु ।।२०।।१५६।।

षड्ज, ऋषभ, गांधार वगैरह सात स्वर के ध्वनि सुनने से तथा वीणा और गधा वगैरह के चेतन अचेतन, प्रिय अप्रिय शब्द सुनने से हृदय में रागद्वेषादि विकार उत्पन्न होते हैं। अतः उपर्युक्त स्वर शब्द को स्वतः सुनने की अभिलाषा मुनिराज मन में उत्पन्न नहीं होने देवें। स्वतः षड्जादि स्वर से गायन नहीं करें। यदि अन्यजन षड्जादि स्वरोच्चार करने लगे तो रागादिभाव से वे स्वर नहीं सुने। इस प्रकार की प्रवृत्ति रखना यह कर्ण निरोध नामक मूलगुण है।

प्रश्न :—घ्राणेन्द्रिय निरोध व्रत का स्वरूप क्या है ?

उत्तर :—पयडीवासणगंधे जीवाजीवप्पगे सुहे असुहे ।

रागाद्दोसाकरणं घाणणिरोहो मुणिवरस्स ॥२१॥१५७॥

कुछ पदार्थों में स्वभावतः अच्छा और बुरा गंध रहता है और कुछ पदार्थों में अन्य पदार्थ के संयोग से अच्छा और बुरा गंध उत्पन्न होता है। अच्छा गंध सुख उत्पन्न करता है और इस पर राग भाव उत्पन्न होता है। बुरा गन्ध दुःखद होता है और उसमें द्वेष होता है, कस्तूरी गोरोचन वगैरह सुगंधि-वस्तु हरिण, गाय वगैरह प्राणियों में उत्पन्न होती है, अतः इनको जीवात्मक गंध कहते हैं और चंदन गंधादिक अचेतनात्मक गंध है। इनमें रागद्वेषादिक नहीं करना यह मुनीश्वर का घ्राणनिरोध नामक मूलगुण है।

प्रश्न :—रसनेन्द्रिय निरोध का स्वरूप क्या है ?

उत्तर :—असणादिचदुवियप्पे पंचरसे फासुगम्हि णिखज्जे ।

इट्ठाणिट्ठाहारे दत्ते जिब्भाजओऽगिद्धो ॥२२॥१५८॥

जीव रहित—सम्मूर्छनादि जीव रहित अर्थात् प्रासुक आहार मुनि लेते हैं। जो आहार स्वयं सचित्त है अथवा जिससे सम्मूर्छनादिक उत्पन्न हो रहे हैं ऐसा आहार मुनियों के लिए ग्राह्य नहीं होता। जिस आहार के लेने से पापास्रव होता है। तथा लोक में निंदा होती है, वह आहार मुनि नहीं लेते हैं। आहार के अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य ऐसे चार भेद हैं। भात, रोटी, पूरी वगैरह अशन हैं। दूध, खीर, रबड़ी पेयाहार है। लाडू, पेडा वगैरह खाद्याहार है, और इलायची, लवंग वगैरह स्वाद्य है। तीखा, कडुवा, कसायला, अम्ल और मधुर ऐसे पांच रस उस आहार में रहते हैं। लवंग रस का मधुर रस में अन्तर्भाव होता है। कोई आहार मनोहर होता है और कोई अप्रिय होता है। उपर्युक्त विशेषणों से सहित आहार दाता के द्वारा दिये जाने पर उसमें मुनि गृद्धि नहीं रखते हैं। मधुरादिक प्रिय आहार मुझको हमेशा मिले और कटु आहार कभी भी नहीं मिले ऐसी इच्छा अर्थात् राग द्वेष भाव मुनि मन में नहीं रखते हैं। यह उनका रसनेन्द्रिय निरोध नामक मूलगुण है।

प्रश्न :—स्पर्शनेन्द्रिय निरोध का लक्षण स्वरूप क्या है ?

उत्तर :—जीवा जीवा समुत्थे कक्कसमउगादि अट्ठभेदजुदे ।

फासे सुहे य असुहे फासणि रोहो असंमोहो ॥२३॥१५९॥

चेतन और अचेतन पदार्थों से उत्पन्न हुए कठोर, मृदु, स्निग्ध-चिकना, रूक्ष,

हलका, भारी, ठंडा और उष्ण ऐसे आठ भेद जिसके आधार भूत हैं ऐसे स्पर्श में मुनि गण आनंद और खेद नहीं मानते हैं। यह उनका स्पर्शनिरोध नामक मूलगुण है।

❋ छह आवश्यक ❋

समदा थवो य वंदण पडिक्कमणं तहेव णादव्वं ।
पच्चक्खाण विसग्गो करणीया वासया छप्पि ।।२४।।१६०।।

समता–राग द्वेष मोह वगैरह भावों से रहित होना अथवा त्रिकाल पंच नमस्कार करना इसको सामयिक भी कहते हैं। स्तव-ऋषभादि चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति। वंदना–एक तीर्थंकर का दर्शन और वंदन करना अथवा पंच गुरु भक्ति पर्यन्त दर्शन वंदना करना। प्रतिक्रमण - जिसके द्वारा मुनि पूर्व संयम के प्रति गमन करते हैं वह क्रिया प्रतिक्रमण नाम की है। प्रर्थात् अशुभ मन वचन और शरीर के द्वारा जो प्रवृत्ति हुई थी, उससे परावृत्त होना, अशुभ क्रिया नहीं करना यह प्रतिक्रमण है। किये हुए अपराधों का शोधन करना यह प्रतिक्रमण है। इसके दैवसिक, रात्रिक, ऐर्यापथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक व उत्तमार्थिक ऐसे सात भेद हैं। प्रत्याख्यान अयोग्य द्रव्य का त्याग करना किंवा योग्य द्रव्य का त्याग करना। विसर्ग–देह के ऊपर ममत्व रहित होकर जिनगुण चिन्तन युक्त कायोत्सर्ग करना। ऐसे छह आवश्यक हैं। इन्द्रिय, कषाय, नो कषाय, रागद्वेषादिक के वश जो नहीं होता है, वह अवश है। ऐसे अवश मुनि का जो कर्त्तव्य उसको आवश्यक कहते हैं।

समता का स्वरूप—

जीविदमरणे लाहालाहे संजोगविप्प जोगेय ।
बंधुरि सुहदुक्खादिसु समदा सामायियं णाम ।।२५।।१६१।।

जीवित–औदारिक वैक्रियिकादि देह धारण करना, मरण-मृत्यु, प्राणों का प्राणों से वियोग होना। लाभ–इच्छित वस्तु की प्राप्ति। अलाभ–उसकी अप्राप्ति। अर्थात् आहारादिक की प्राप्ति होने पर अथवा इष्ट वियोग में शत्रु, सुख, दुःख, भूख प्यास, शीत, उष्ण वगैरह में समता रखना यह सामयिक है। जीवित मरण वगैरह में जो समान परिणाम–रागद्वेष रहित भाव होना वह सामायिक है। त्रिकाल देव वंदना करना यह भी सामयिक व्रत है।

सामायिक—

समतासर्वभूतेषु संयमे शुभ भावना ।
आर्त्तरौद्र परित्यागः तद्धि सामायिकं मतम् ।।१६२।।

आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान का त्याग कर, संयम में शुभ भावना रखते हुवे सर्व जीवों पर समता धारण करना सामायिक है ।

ध्यान—

'एकाग्रचिन्ता निरोधो ध्यानम्' एकाग्रता से चित का निरोध करना ही ध्यान है । किसी पदार्थ में ही चित का एकाग्र हो जाना ध्यान है ।

प्रश्न :—ध्यान कितने प्रकार का है ?

उत्तर :—ध्यान के मूलभेद चार हैं—आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल । ध्यान के उत्तरभेद सोलह हैं ।

आर्तध्यान के चार भेद—इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, पीडाचिंतन, और निदान ।

रौद्र ध्यान के चार भेद हैं । हिंसानन्दी, मृषानन्दी, चौर्यानन्दी परिग्रहानन्दी,

धर्म ध्यान चार प्रकार का है—आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक विचय, और संस्थान विचय ।

शुक्ल ध्यान के चार भेद हैं—पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति, व्युपरतक्रिया निवर्तनी ।

इन ध्यानों में चार आर्त ध्यान और चार रौद्रध्यान ये जीव को नरक तिर्यंच में ले जाने वाले हैं, इसलिये अशुभ हैं । इन आर्त ध्यान और रौद्रध्यान को छोड़कर जो योगी धर्म ध्यान और शुक्लध्यान को ध्याता है । उसकी सच्ची सामायिक होती है । धर्म ध्यान से जीव स्वर्ग जाता है, पुण्य बंध का कारण हैं । और छट्ठे गुणस्थान में जीव को ही होता है । शुक्ल ध्यान सातवें गुणस्थान से शुरू होता है ।

यहां अब धर्म ध्यान का विशेष वर्णन करते हैं क्योंकि प्रमत मुनि इसी ध्यान का सहारा लेकर अपने सामायिक में स्थित रहता है । सामायिक में स्थित योगी किस प्रकार धर्म ध्यान का चिंतवन करते हैं और ध्यान में क्या चिंतवन करते हैं, सो कहते हैं । यति होकर ध्यान से कैसे च्युत हो जाता है ।

ध्यानों का वर्णन—

अनादि विभ्रमान्मोहादनभ्यासाद संग्रहात् ।
जात मप्यात्मनस्तत्वं प्रस्खलत्येव योगिनः ।।१६३।।

योगी (मुनि) आत्मा के स्वरूप को यथार्थ जानता हुआ भी अनादि विभ्रम की वासना के तथा मोह के उदय से तथा विना अभ्यास से और उस तत्त्व के संग्रह के अभाव मार्ग से च्युत हो जाता है अर्थात् मुनि भी तत्त्व स्वरूप से चलायमान हो जाता है ।

अविद्यावासना वेस विशेष विवशात्मनाम् ।
योज्यामान मपि स्वास्मिन् चेतः कुरुते स्थितिम् ।।१६४।।

तथा आत्मा के स्वरूप को यथार्थ जान कर अपने में जोड़ता हुआ भी अर्थात् ध्यान में एकाग्र होता हुआ भी अविद्या की वासना के वेग से विशेषतया विवश है आत्मा जिनका उनका चित स्थिरता को धारण नहीं करता ।

साक्षारकर्तुमतः क्षिप्रं विश्वतत्वं यथास्थितम् ।
विशुद्धि चारमनः शश्वद्धस्तुधर्मे स्थिरी भवत् ।।१६५।।

इस प्रकार पूर्वोक्त ध्यान के विघ्न के कारण दूर करने के लिये तथा समस्त वस्तुओं के स्वरूप का यथास्थित तत्काल साक्षात् करने के लिये तथा आत्मा की विशुद्धता करने के लिये निरन्तर वस्तु के धर्म में स्थिरीभूत होवे । भावार्थ—ध्येय में एकाग्र मनका लगना ध्यान है, उसमें विघ्न के पूर्वोक्त कारण हैं । इनको दूर के लिये समस्त वस्तु का यथार्थ स्वरूप निश्चय करके संशयादिक रहित वस्तु के धर्म में ठहरें । यह धर्म ध्यान की सिद्धि का उपाय है सो विशेषता कहते हैं ।

अलक्ष्यं लक्ष्यसंबन्धात् स्थूलात्सूक्ष्मं विचिन्तयेत् ।
सालम्बाञ्च निरालम्बं तत्त्व मित्तत्व मञ्जसा ।।१६६।।

तत्त्वज्ञानी इस प्रकार तत्त्व को प्रकटतया चितवन करें कि लक्ष्य के (जो अपने लखने में आवें उसके) सम्बन्ध से तो अलक्ष्य को (जो अनुभव गोचर नहीं उसको) चितवन करें और स्थूल इन्द्रिय गोचर पदार्थ से सूक्ष्म इन्द्रियों के अगोचर पदार्थों का चितवन करें इसी प्रकार सालम्ब कहिये किसी ध्येय का आलंबन लेकर उससे निरालम्ब वस्तु स्वरूप से तन्मय होना चाहिये । भावार्थ—दृष्ट पदार्थ के सम्बन्ध से अदृष्ट का ध्यान करना कहा गया है, यहां प्रकरण में परमात्मा का ध्यान

है, और परमात्मा जो अर्हन्त सिद्ध परमेष्ठी हैं, वे छद्मस्थ करके (अल्पज्ञानी के) दृष्ट नहीं हैं, तथा उनके समान अपना स्वरूप निश्चय नय से कहा है, वह भी शक्ति रूप है, सो वह भी छद्मस्थ के ज्ञान का उपयोग दृष्ट है सो इसी के संबंध से सर्वज्ञ के आगम से परमात्मा का स्वरूप निश्चय कर श्रुतज्ञान के भेद रूप शुद्ध नय के द्वारा परमात्मा का ध्यान करना चाहिये इसी से परमात्म पद की प्राप्ति होती है।

प्रश्न :—धर्म ध्यान के कितने भेद हैं ?

उत्तर :—आज्ञापाय विपाकानां क्रमशः संस्थितेस्तथा।
विचयो यः पृथक् तद्धि धर्म ध्यानं चतुर्विधम् ॥१६७॥

आज्ञा, अपाय, विपाक तथा संस्थान इनका भिन्न-भिन्न विचय (विचार) अनुक्रम से करना ही धर्म ध्यान के चार प्रकार हैं। यहाँ विचय नाम विचार करने अर्थात् चिंतवन करने का है, तथा इन चारों के नाम इस प्रकार कहने चाहिये—१. आज्ञा विचय, २. अपाय विचय, ३. विपाक विचय और ४. संस्थान विचय।

प्रश्न :—आज्ञाविचय धर्म ध्यान का स्वरूप क्या है ?

उत्तर :—वस्तु तत्त्वं स्वसिद्धान्तं प्रसिद्धं यत्र चिन्तयेत्।
सर्वज्ञा भियोगेन तदाज्ञा विचयो मतः ॥१६८॥

जिस धर्म ध्यान में अपने जैन सिद्धान्त में प्रसिद्ध वस्तु स्वरूप को सर्वज्ञ भगवन् की आज्ञा की प्रधानता से चिंतवन करें, सो आज्ञा विचय नामा धर्म ध्यान का प्रथम भेद है।

अनन्त गुण पर्याय संयुतं तत्त्रयात्मकम्।
त्रिकाल विषमं साक्षाज्जिनाज्ञा सिद्धमाननेत् ॥१६९॥

आज्ञा विचय धर्म ध्यान में तत्त्व अनन्त गुण पर्यायों सहित त्रयात्मक त्रिकाल गोचर साक्षात् जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा से सिद्ध हुआ चिंतवन करें।

सूक्ष्मं जिनेन्द्र वचनं हेतु भियन्न हन्यते।
आज्ञा सिद्धं च तद् ग्राह्यं नान्यथा वादिनो जिनाः ॥१७०॥

जिनेन्द्र सर्वज्ञ देव के वचनों से कहे हुए सूक्ष्म तत्त्व हेतु से बाध्य नहीं हैं, ऐसे तत्त्व आज्ञा से ही ग्रहण करने (मानने) चाहियें: क्योंकि जिनेन्द्र भगवान्

वीतराग हैं, वे अन्यथा वादी नही होते यदि सर्वज्ञ न हो तो बिना जाने अन्यथा कहें अथवा वीतराग न हो तो रागद्वेष के कारण अन्यथा कहें और सर्वज्ञ और वीतराग हो वह कदापि अन्यथा नहीं कहेगा।

प्रमाणनय निक्षेपै निर्णीतं तत्व मञ्जसा ।
स्थित्युत्पतिव्ययोपेतं चिद चिल्लक्षणं स्मरेत् ॥१७१॥

आज्ञा विचय ध्यान में प्रमाण नय निक्षेपों से निर्णय किये हुए स्थिति, उत्पति और व्यय संयुत अर्थात् उपजें विनशें स्थिर रहे ऐसा और चेतन अचेतन रूप है लक्षण जिसका, ऐसे तत्त्व समूह का चिन्तवन करें।

श्रीमत्सर्वज्ञ देवोक्तं श्रुतज्ञानं च निर्मलम् ।
शब्दार्थं निचितं चित्र मत्र चिन्त्यमविप्लुतम् ॥१७२॥

तथा इस आज्ञा विचय ध्यान में श्रीमत्सर्वज्ञ करके कहे हुए निर्मल और शब्द तथा अर्थ में परिपूर्ण नाना प्रकार के निर्बाध श्रुतज्ञान का चिन्तवन करना चहिये।

श्रुतज्ञान का वर्णन—
परिस्फुरति यत्रंत द्विश्वविद्या कदम्बकम् ।
द्रव्यभावभिदा तद्धि शब्दार्थज्योतिरुद्गमम् ॥१७३॥

शब्द और अर्थ का प्रकाश है मुख्य जिसमें ऐसा तथा जो समस्त प्रकार की विद्याओं का समूह है। अर्थात् आचार आदि अंग पूर्व अंग बाह्य प्रकीर्णक रूप विद्या का समूह है। तथा द्रव्य श्रुत (शब्द रूप) और भावश्रुत (ज्ञानरूप) ये दो हैं भेद जिसके ऐसा सर्वज्ञ भगवान का कहा हुआ श्रुतज्ञान है।

अपार मति गम्भीरं पुण्यतीर्थं पुरातनम् ।
पूर्वापर विरोधादिकलङ्क परिवर्जितम् ॥१७४॥

फिर कैसा है श्रुतज्ञान अपार है, क्योंकि जिसके शब्दों का पार कोई अल्पज्ञानी नहीं पा सकता। तथा गंभीर है क्योंकि जिसके अर्थ की थाह हर कोई नहीं पा सकता तथा पुण्य तीर्थ है। क्योंकि जिसमें पाप का लेश नहीं है अर्थात् निर्दोष है इसी कारण जीवों को तारने वाला है तथा पुरातन है अर्थात् अनादि काल से चला आया है और पूर्वापर विरोध आदि कलंकों से रहित है।

नयोपनय संताप गहनं गणिभिः स्तुतम् ।
विचित्र मपि चित्रार्थं संकीर्णं विश्व लोभनम् ॥१७५॥

फिर कैसा है श्रुतज्ञान ? द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नय और सद्भूत असद्भूत व्यवहारादिक उपनयों के संपात से तो गहन है तथा गणधरादिकों करके स्तुति करने योग्य है तथा विचित्र कहिये अपूर्व है, तथापि चित्र कहिये अनेक प्रकार के अर्थों से भरा हुआ है तथा समस्त लोक को दिखाने के लिये नेत्र के समान है ।

अनेक पद विन्यासैरङ्गपूर्वैः प्रकीर्णकैः ।
प्रसृत्तं यद्दि भात्युच्चं रत्नाकर इवापरः ॥१७६॥

फिर कैसा है ? श्रुतज्ञान अनेक पदों का विन्यास (स्थान) है, जिनमें ऐसे आचारादि अंग तथा अग्रायणी आदि पूर्व और सामायिकादि प्रकीर्णकों से विस्तार रूप है, सो वह श्रुतज्ञान जिस प्रकार रत्नाकर (समुद्र) शोभता है, उसी प्रकार शोभता है ।

मदमतोद्वत्तक्षुद्र शासनाशीविषान्तकम् ।
दुरन्तघन मिथ्यात्व ध्वान्त धर्मांशुमण्डलम् ॥१७७॥

फिर कैसा है श्रुतज्ञान ? मदसे माने उद्धत क्षुद्र (नीच) सर्वथा एकान्त वादियों का शासन (मत) रूपी अशी विष कहिये सर्प का अन्तक है, अर्थात् नष्ट करने वाला है तथा दुरन्त कहिये जिसका अन्त बहुत दूर है ऐसे दृढ़ मिथ्यात्वरूपी अन्धकार के दूर करने को सूर्य मण्डल के समान है ।

यत्पवित्र जगत्यस्मिन्विशुद्धयति जगत्त्रयी ।
येन तद्धि सत्तां सेव्यं श्रुतज्ञानं चतुर्विधम् ॥१७८॥

फिर कैसा है श्रुतज्ञान ? इस जगत में पवित्र है, क्योंकि जिसके द्वारा ये तीनों जगत् पवित्र होते हैं, इसी कारण ही वह श्रुतज्ञान सत्पुरुषों के सेवने योग्य है । यह श्रुतज्ञान प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के भेद से चार प्रकार का है ।

स्थित्युत्पत्ति व्ययोपेतं तृतीयं योगि लोचनम् ।
नयद्वय समावेशात्साध्यनादि व्यवस्थितम् ॥१७९॥

फिर कैसा है श्रुतज्ञान ? उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य करके संयुक्त है तथा योगीश्वरों का तीसरा नेत्र है तथा द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो नयों के कारण

सादि अनादि व्यवस्था रूप है, द्रव्यनय से संतान की अपेक्षा अनादि है और पर्यायनय की अपेक्षा तीर्थंकरों की दिव्य ध्वनि प्रकट होता है, इस कारण सादि है।

निः शेषनय निक्षेप निकषग्राव सन्निभम् ।
स्याद्वाद पविनिर्घात भग्नान्यमत भूधरम् ॥१८०॥

फिर यह श्रुतज्ञान समस्त नय निक्षेपों से वस्तु के स्वरूप की परीक्षा करने के लिये कसौटी के समान है तथा स्याद्वाद कहिये कथंचित् वचनरूपी वज्र के निर्घात से भग्न किये हैं, अन्यमत रूपी पर्वत जिसने।

इत्यादि गुण संदर्भ निर्भरं भव्य शुद्धिदम् ।
ध्यायन्तु धीमतां श्रेष्ठाः श्रुतज्ञान महार्णवम् ॥१८१॥

इत्यादि पूर्वोक्त गुणों की रचना से भरा हुआ भव्य जीवों की शुद्धि को देने वाला श्रुतज्ञान रूप महासमुद्र है, सो इसको बुद्धिमानों से जो श्रेष्ठ हैं, वे ध्यावो (चितवन करो) यह प्रेरणारूप उपदेश है।

श्रुतज्ञान की महिमा—

यज्जन्मज्वर घातकं त्रियुवनाधीशैर्यदभ्यर्चितं ।
यत्स्याद्वाद महाध्वजं नय शता कीर्णम् यत्पठयते ॥
उत्पाद स्थिति भङ्गलाञ्छनयुता यस्मिनपदार्थाः स्थिता ।
स्तच्छ्रीवीरमुखार विन्दगदितं दद्याच्छ्रुतं व शिवम् ॥१८२॥

जो श्रुतज्ञान संसार रूपी ज्वर का तो घातक है और तीन भुवन के ईश इन्द्रों से पूजित है। तथा जो स्याद्वाद रूपी बड़ी ध्वजा वाला है और सैंकड़ों नयों से पूर्ण है, ऐसा कहा जाता है तथा जिसमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य लाञ्छन युक्त पदार्थ रहते हैं, ऐसे श्री वर्द्धमान स्वामी के मुख कमल से कहा हुआ श्रुत ज्ञान तुम श्रोता जनों को कल्याण रूप हो ऐसा आशीर्वचन है।

वाग्देव्याः कुल मन्दिरं बुधनानन्दैक चन्द्रोदयं ।
मुक्ते मङ्गिल मग्रिमं शिव पथ प्रस्थान दित्यानकम् ॥
तत्वाभासकरङ्गपञ्च वदनं भव्यान्विनेतुं क्षमं ।
तच्छ्रोत्राञ्जलिमिः पिनन्तु गुरिणनः सिद्धान्त वार्द्धेः पयः ॥१८३॥

जो वाग्देवी (सरस्वती के रहने का कुलगृह है, तथा विद्वानों के आनन्द उपजाने के लिये अद्वितीय चन्द्रमा का उदय है। मुक्ति का मुख्य मंगल व

मोक्षमार्ग में गमन करने के लिए दिव्य आनक कहिये पटह नाम का बाजा है, तत्वाभास (मिथ्यात्व) रूपी हिरण के नाश करने को सिंह के समान है तथा भव्य जीवों को मोक्ष मार्ग में चलाने के लिये समर्थ है। ऐसे इस सिद्धान्त रूपी समुद्र के जल को हे गुणी जनों। कर्ण रूपी अञ्जलियों से पान करो ॥२०॥

येनैते निपतन्ति वादि गिरयस्तु ष्यन्ति योगीश्वराः।
भव्या येन विदन्ति निर्वृति पदं मुञ्चन्ति मोहं बुधाः॥
यद्बन्धुर्यमिनां यदक्ष सुखस्या धार भूतं नृणां।
तल्लोकद्वय शुद्धिदं जिनवचः पुष्याद्विवेक श्रियम् ॥१८४॥

जिसके द्वारा प्रसिद्ध वादीरूप पर्वत गिरते हैं, अर्थात् खंड-खंड हो जाते हैं, तथा जिसके द्वारा योगीश्वर प्रसन्न होते हैं जिसके द्वारा भव्य जीव मोक्षपद को जाते हैं, अर्थात् प्राप्त होते हैं, तथा जिसको पढ़कर पंडित जन संसार के मोह को छोड़ देते हैं, तथा जो वचन संयमी मुनियों का बंधु (हित करने वाला है) तथा जो पुरुषों का अविनाशी सुख का आधारभूत है, इस प्रकार दोनों लोकों की शुद्धता का देने वाला जिनेन्द्र भगवान का वचन भव्य जीवों की विवेक रूपी श्री को पुष्ट करें। इस प्रकार यह आशीर्वाद है।

सर्वज्ञाज्ञां पुरस्कृत्य सम्यगर्थान् विचिन्तयेत्।
यत्र तद्धयानमाम्नात माज्ञाख्यं योगि पुङ्गवैः ॥१८५॥

जिस ध्यान में सर्वज्ञ की आज्ञा को अग्रेसर (प्रधान) करके पदार्थों को सम्यक्प्रकार चिंतवन करें (विचारें) सो मुनियों ने आज्ञा विचय नाम धर्म ध्यान कहा है।

अपायविचय धर्मध्यान का स्वरूप—

अपाय विचयं ध्यानं तद्वदन्ति मनीषिणः।
अपायः कर्मणां यत्र सोपायः स्मर्यते बुधैः ॥१८६॥

जिस ध्यान में कर्मों का अपाय (नाश) हो तथा सोपाय कहिये पंडितजना करके इस प्रकार जिसमें चिन्तवन किया जाय कि इन कर्मों का नाश किस उपाय से होगा? उस ध्यान को बुद्धिमान् पुरुषों ने अपाय विचय कहा है।

अपायविचय धर्मध्यान में योगी यह विचार करें कि—

श्री मत्सर्वज्ञ निर्दिष्ट मार्ग रत्नत्रयात्मकम् ।
अनासाद्य भवाख्ये चिरं नष्टाः शरीरिणः ।।१८७।।
मज्जनोन्मज्जनं शश्वद्भजन्ति भव सागरे ।
वराकाः प्राणिनोऽप्राप्य यानपात्रं जिनेश्वरम् ।।३।।१८८।।

इस ध्यान में ऐसा चिन्तन होता है कि ये प्राणी श्रीमत्सर्वज्ञ जिनेन्द्र के उपदेश किये हुए सम्यग्दर्शन, सम्यक ज्ञान, सम्यक चरित्र रूप मार्ग न पाकर संसार रूप वन में बहुत काल पर्यन्त नष्ट होते हुए जन्म मरण और उपार्जन किये कर्मों के नाश करने का उपाय जो रत्नत्रय सो उन्होंने नहीं पाया । तथा ये रंक प्राणी जिनेश्वर देवरूपी जहाज को न पाकर संसार रूप समुद्र में निरन्तर मज्जन उन्मज्जन करते हैं, अर्थात् निरन्तर जन्म-मरण पाते रहते हैं । और दुःख भोगते हैं, इस प्रकार चिन्तवन करें ।

महाव्यसन सप्तार्चिः प्रदीप्ते जन्म कानने ।
भ्रमताऽद्य मया प्राप्तं सम्यग्ज्ञानाम्बुधेस्तटम् ।।१८९।।

फिर ऐसा चिंतन करें कि महान कष्ट रूपी अग्नि से प्रज्वलित इस संसार रूपी वन में भ्रमण करता हुआ मैं इस समय सम्यग्ज्ञान रूपी समुद्र तट (किनारा) पा गया ।

अद्यपि यदि निर्वेद विवेकागेन्द्र मस्तकात् ।
स्खलेत्तदैव जन्मान्ध कूपपातोऽनिवारितः ।।१९०।।

फिर इस प्रकार चिन्तन करें कि मैंने इस समय सम्यग्ज्ञान पाया है, सो यदि अब भी वैराग्य और भेद ज्ञान रूप पर्वत के शिखर से गिरूँ तो संसार रूप अंधकूप में अवश्य गिर पड़ना होगा ।।५।।

अनादिभ्रम संयुतं कथं निर्वर्त्यते मया ।
मिथ्यात्वा विरति प्रायं कर्मबन्ध निबन्धनम् ।।१९१।।

तत्पश्चात् इस प्रकार चिन्तन करे कि अनादि अविद्या से उत्पन्न हुए तथा जिसमें मिथ्यात्व व अविरत की बहुलता है, ऐसे कर्मबंध होने के कारण मुझ से किस प्रकार निवारण किये जायेंगे ।

सोऽहं सिद्धः प्रसिद्धात्मा छद्मबोध विमलेक्षणः ।
जन्म पङ्के चिरं लिप्तः खण्ड्यमानः स्वकर्मभा ।।१९२।।

फिर ऐसा चिन्तन करे कि प्रसिद्ध है स्वरूप जिसका ऐसा मैं सिद्ध हूँ दर्शन ज्ञान ही निर्मल नेत्र हैं, जिसके ऐसा हूं तथापि संसार रूपी कीचड़ में अपने उपार्जन किये हुए कर्मों से खण्ड-खण्ड किया चिरकाल से खेद खिन्न हुआ हूं ।

एकतः कर्मणां सैन्यमहमेकस्ततोऽन्यत ।
स्थातव्यमप्रमत्तेन मयास्मिन्नरि संकटे ।।१९३।।

इस संसार में एक ओर तो कर्मों की सेना है और एक तरफ मैं अकेला हूँ इस कारण इस शत्रुसमूह में मुझको अप्रमत (सावधान) होकर रहना चाहिये । असावधान रहूंगा तो कर्मरूप बैरी हैं, इसलिए वे मुझे बिगाड़ देंगे ।

किमुपेयो ममात्मायं किंवा विज्ञान दर्शने ।
चरणं वापवर्गाय गिमिः सार्द्धं स एव वा ।।१९४।।

फिर ऐसा विचार करें मोक्ष के लिये मेरा यह आत्मा उपादेय है, अथवा ज्ञान दर्शन उपादेय है, अथवा चारित्र उपादेय है, अथवा ज्ञान दर्शन चारित्र इन तीनों सहित आत्मा ही उपादेय है ।

कोऽहं ममास्त्रवः कस्मात्कथं बन्धः का निर्जरा ।
का मुक्तिः किं विमुक्तस्य स्वरूपं च निगद्यते ।।१९५।।

फिर ऐसा विचारें कि मैं कौन हूं और मेरे कर्मों का आस्त्रव क्यों होता है ? तथा कर्मों का बंध क्यों होता है और किस कारण से निर्जरा होती है और मुक्ति क्या वस्तु है ? एवं मुक्त होने पर आत्मा का क्या स्वरूप कहा जाता है ।

जन्मनः प्रतिपक्षस्य मोक्षस्यात्यन्तिकं सुखम् ।
अव्या बाधं स्वभावोत्थं केनोपायेन लभ्यते ।।१९६।।

फिर ऐसा विचारे कि संसार का प्रतिपक्षी जो मोक्ष है, उसका अविनाशी अनन्त अव्याबाध (बाधा रहित) स्वभाव से ही उत्पन्न हुआ (स्वाधीन) सुख किस उपाय से प्राप्त हो ।

मय्येव विदिते साक्षाद्विज्ञातं भुवनत्रयम् ।
यतोऽहमेव सर्वज्ञः सर्वदर्शी निरञ्जनः ।।१३।।

फिर ऐसा ध्यान करे कि मेरे स्वरूप को जानने से मैंने तीनों भुवन जान लिये, क्योंकि मैं ही सर्वज्ञ सबका देखने वाला निरंजन और समस्त कर्म कालिमा से रहित हूं ।

एको भावः सर्वभाव स्वभावः सर्वे भावा एक भाव स्वभावाः ।
एको भावस्तत्वतो येन बुद्धः सर्वे भावास्तत्वतस्तेन बुद्धाः ।।१९७।।

एक भाव सर्व भावों के स्वभाव स्वरूप है और सर्व भाव के स्वभाव स्वरूप है, इस कारण जिसने तत्व (यथार्थपने) से एक भाव को जाना, उसने समस्त भावों को यथार्थतया जाना ।

भावार्थः आत्मा का एक ज्ञान भाव ऐसा है कि जिसमें समस्त भाव (पदार्थ) प्रतिबिम्बित होते हैं, उन पदार्थों के आकार स्वरूप भाव होता है, तथा वे भाव सब ज्ञेय हैं, उनके जितने आकार हैं, वे एक ज्ञान के आकार होते हैं । इस कारण जो इस प्रकार के ज्ञान के स्वरूप को यथार्थ जानता है, उसने सब ही पदार्थ जाने अर्थात् ज्ञान ज्ञेयाकार हुआ इस कारण ज्ञान को जाना तब सब ही जाना, क्योंकि ज्ञान ही आत्मा है, इस कारण ऐसा कहा है ।

यावद्यावच्च सम्बन्धो मम स्याद्बाह्यवस्तुभिः ।
तावत्तावत्स्वयं स्वस्मिंस्मिन्स्थितिः स्वप्नेऽपि दुर्घटा ।।१९८।।

फिर ऐसा ध्यान करे कि जब-जब मेरे वस्तुओं से सम्बन्ध होते हैं, तब-तब मेरी आप से ही अपने में ही स्थिति होना स्वप्न में भी दुर्घट है ।

तथैवैतेऽनुभूयन्ते पदार्थाः सूत्र सूचिताः ।
अतो मार्गेऽत्र लग्नोऽहं प्राप्त एव शिवास्पदम् ।।१९९।।

फिर ऐसा विचारे कि जिनसूत्र में जो पदार्थ कहे हैं, वे वैसे ही अनुभव किये जाते हैं और जैसे कहे हैं वैसे ही दिखते हैं । इस कारण इस सूत्र के मार्ग में लगा हूं । इसी कारण मोक्ष स्थान भी पाया हुआ है ऐसा मानता हूँ, क्योंकि जब मार्ग पाया और उस मार्ग में चला तो असली ठिकाना प्राप्त हुआ ही कहा जाता है ।

इत्युपायो विनिश्चयो मार्गाच्यवन लक्षणः ।
कर्मणां च तथापाय उपायश्चात्म सिद्धये ।।२००।।

इस प्रकार पूर्वोक्त मोक्ष मार्ग से नहीं छूटना है, लक्षण जिसका ऐसा तो उपाय निश्चय करना तथा वैसे ही कर्मों का अपाय (नाश) निश्चय करना इस प्रकार अपाय और उपाय दोनों का आत्मा की सिद्धि के लिये निश्चय करना चाहिये ।

इति नय ज्ञात सीमालम्बि निर्दलत दोषं,
च्युत सकल कलङ्के कीर्तितं ध्यान मेतत् ।

अविरत मनुपूर्व ध्यायतोऽस्त प्रमादं,
स्फुरति हृदि विशुद्धे ज्ञान भास्वत्प्रकाशः ।।२०१।।

यह पूर्वोक्त प्रकार का अपाय विचय नामा ध्यान सैकड़ों नयों को अवलम्बन करने वाला है, तथा दूर किये हैं, समस्त दोष जिसने ऐसे समस्त कलंक रहित सर्वज्ञ देव ने कहा है, सो जो कोई पुरुष इसको अनुक्रम से निरन्तर प्रमाद रहित होकर ध्याता है, उसके हृदय में निर्मल ज्ञान रूप सूर्य का प्रकाश स्फुरायमान होता है।

विपाक विचय धर्मध्यान—

स विपाक इति ज्ञेयो य स्वकर्म फलोदयः ।
प्रतिक्षण समुद्भूत चित्ररूपः शरीरिणाम् ।।२०२।।

प्राणियों के अपने उपार्जन किये हुए कर्म के फल का जो उदय होता है, वह विपाक नाम से कहा है। सो वह कर्मोदय क्षण प्रतिक्षण उदय होता है और ज्ञानावरणादि अनेक रूप है।

कर्मजातं फलं दत्ते विचित्रमिह देहिनाम् ।
आसाद्य नियतं नाम द्रव्यादिक चतुष्टयम् ।।२०३।।

जीवों के कर्मों का समूह निश्चित द्रव्य क्षेत्र काल भाव रूप चतुष्टय को पाकर इस लोक में अनेक प्रकार से अपने नामानुसार फल (आगे कहते हैं उस प्रकार) को देता है।

स्त्रक् शय्या सनया वस्त्र वनिता वादित्र मित्राङ्गनान्,
कर्पूरा गुरु चन्द्र चन्दन वनक्रीड़ाद्रि सौधध्वजान् ।
मातङ्गांश्च विहङ्ग चामर पुरीभक्षान्नपानानि वा,
छत्रा दीनु पलभ्य वस्तु विनयान्सौख्यं श्रयन्तेऽङ्गिनः ।।२०४।।

ये प्राणी पुष्पमाला, सुन्दर शय्या, आसन, यान, वस्त्र, स्त्री, बाजे, मित्र, पुत्रादि को तथा कर्पूर अगुरु चन्द्रमा चन्दन वनक्रीड़ा पर्वत महल हवनादिक को तथा हस्ती घोड़े, पक्षी चामर नगरी और खाने योग्य अन्नपानादिक को तथा छत्रादिक वस्तुसमूह को पाकर सुख का आश्रय करते हैं अर्थात् भोगते हैं।

क्षेत्राणि रमणीयानि सर्वर्तु सुख दायिनि च ।
काम भोगास्पदान्युच्चैः प्राप्त सौख्यं निषेव्यते ।।२०५।।

सर्व ऋतुओं में सुख देने वाले रमणीय और काम भोग के स्थान ऐसे क्षेत्रों को प्राप्त होकर अतिशय सुख का अनुभव करते हैं ।

प्रासा सिदनुर यन्त्र पन्न गगर व्यालानलोग्रग्रहान् ।
शीतोष्णक्षुधि कोटक करज: क्षारा स्थिपङ्कोपलान् ।।
काराशृङ्खल शङ्ककाण्ड निगड क्रूरारि वैराहतथा ।
द्रव्याण्याप्य भजन्ति दु:ख मखिलं जीवा भवाहवस्थिता: ।।२०६।।

संसार रूप मार्ग में रहते हुए जीव माला तलवार छुरा यन्त्र, बन्दूक आदि शस्त्र और सर्पविष दुष्ट हस्ती अग्नि तीव्र खोटे ग्रहादिक को तथा दुर्गन्धित सड़े हुए अंग, लट, रज, क्षार, वैरी, वैर इत्यादि द्रव्यों को प्राप्त होकर दु:खों को भोगते हैं ।

निसर्गेणातिरौद्राणि भयक्लेशास्पदानि च ।
दु:ख मेवाप्नुवन्त्युच्चै: क्षेत्राण्या साद्य जन्तव: ।।२०७।।

ये प्राणी स्वभाव से ही रौद्र भय और क्लेश के ठिकाने ऐसे क्षेत्रों को प्राप्त होकर अतिशय दुखों को ही पाते हैं ।

अरिष्टोत्पात निर्मुक्तो वात वर्षा दिवर्जित: ।
शीतोष्ण रहित : काल : स्यात्सुखाय शरीरिणाम् ।।२०८।।

अरिष्ट (दु:ख देने वाले) उत्पात से रहित तथा पवन वर्षा आदि से वर्जित और अति उष्णता रहित काल जीवों के सुख के लिए है ।

वर्षात पतुषाराढ्य ईत्युत्पातादि संकुल: ।
काल सदैव सखानां दु:खानल निबन्धनम् ।।२०९।।

वर्षा आतप, हिम (बर्फ) सहित तथा ईति कहिये स्वचक्र परचक्रादिकों के उत्पात आदि सहित काल जीवों को निरन्तर दु:ख रूप अग्नि का कारण है ।

प्रश्न :—जीव को किस भाव से सुख अथवा दु:ख होता है ।

उत्तर :—प्रशमादि समुद्भूत्तो भाव: सौख्याय देहिनाम् ।
कर्म गौर वज: सोऽयं महाव्यसन मन्दिरम् ।।२१०।।

जो कर्म के उपशमादिक से उत्पन्न हुआ भाव है । वह तो जीवों को सुख के अर्थ है और जो कर्म के तीव्र गुरुपना से उत्पन्न हुआ भाव है सो महान् कष्ट का घर है ।

मूल प्रकृतयस्तत्र कर्मणामष्ट कीर्तिताः ।
ज्ञानावरण पूर्वास्ता जन्मिनां बन्ध हेतवः ॥२११॥

कर्म की मूल प्रकृति (भेद) आठ हैं, ज्ञानावरणादिक, वे जीवों के बंधन का कारण हैं।

ज्ञाना वृतिकरं कर्म पञ्च भेद प्रपञ्चितम् ।
निरुद्ध येन जीवानां मतिज्ञानादि पञ्चकम् ॥२१२॥

उन आठ कर्म प्रकृतियों में से प्रथम ज्ञान को आवरण करने वाला ज्ञानावरणीय कर्म पांच भेद रूप कहा गया है, इन पांचों ज्ञानावरण कर्मों ने जीवों के मति ज्ञानादिक (मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल) पांचों ज्ञानों को रोक रक्खा है अर्थात् ढक रक्खा है।

नवभेदं मतं कर्म दृगावरण संज्ञकम् ।
रुद्धयते येन जन्तूनां शश्वदिष्टार्थ दर्शनम् ॥२१३॥

दूसरा दर्शनावरण नामक कर्म वह नव प्रकार का है, जिसने जीवों के निरन्तर इष्ट वस्तु के दर्शन को रोक रक्खा है, अर्थात् ढक रक्खा है।

वेदनीयं विदुः प्राज्ञा द्विधा कर्म शरीरिणाम् ।
यन्मधूच्छिष्टलक्त शस्त्र धारा समप्रभम् ॥२१४॥

इसके पश्चात् तीसरा वेदनीय कर्म दो प्रकार का है, एक साता वेदनीय और दूसरा असाता वेदनीय; सो यह कर्म जीवों को शहद-लिपटी तलवार की धार के समान किंचित् सुखदायक है।

सुरेरगनराधीश सेवितं श्रयते सुखम् ।
सातोदयवशात्प्राणी संकल्पानन्तरोद्भवम् ॥२१५॥

असद्वेद्योदयात्तीव्रं शारीरं मानसं द्विधा ।
जीवो विसह्यते दुःखं श्वभ्रादि भूमिषु ॥२१६॥

यह प्राणी साता वेदनीय के उदय के वश से तो देवेन्द्र, नागेन्द्र, धरणीन्द्र व चक्रवर्तियों से सेवित तथा मन के संकल्प करते ही प्राप्त होने वाले सुख को प्राप्त होता है। और असाता वेदनीय के उदय से शरीर संबन्धी और मन संबन्धी दो प्रकार के तीव्र दुःख नरकादिक पृथ्वियों में भोगता है।

दृष्टिमोह प्रकोपेन दृष्टि : साध्वी विलुप्यते ।
तद्विलोपाद्भिमज्जन्ति प्राणिनः श्वभ्रसागरे ।।२१७।।

तत्पश्चात् चौथा मोहनीय कर्म है। उसके दो मूलभेद हैं। एक दर्शन मोहनीय और दूसरा चारित्र मोहनीय इनमें से दर्शन मोहनीय नामक कर्म के प्रकोप (उदय) से जीवों का सम्यक्दर्शन लोपा जाता है, सम्यक् दर्शन के लोप से जीव नरक रूपी समुद्र में डूबता है, इस दर्शन मोहनीय की मिथ्यात्व सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व ऐसी तीन प्रकृतियाँ हैं।

चरित्र मोह पाकेन नाङ्गिभिर्लभ्यते क्षणम् ।
भाव शुद्धया स्वसात्कर्तुं चरणं स्वान्त शुद्धिदम् ।।२१८।।

दूसरा चारित्र मोह कर्म है, उसके उदय से यह प्राणी मन की शुद्धि देने वाले चारित्र को भाव की शुद्धता से अंगीकार करने के लिए क्षणमात्र भी समर्थ नहीं होता।

लब्ध्वापि यत्प्रमान्ति यत्स्खलनत्थ संयमात् ।
सोऽपि चरित्र मोहस्य विपाकः परिकीर्तितः ।।२१९।।

जो संयम (चरित्र) को ग्रहण करके भी जीव प्रमाद रूप होता है। और संयम से भ्रष्ट हो जाता है। उसका कारण भी चरित्र मोह का उदय कहा है।

भावार्थ–पहिले श्लोक में तो चरित्र मोह के उदय से संयम को ग्रहण ही न कर सके, ऐसा कहा है और यहां ऐसा कहा है कि कदाचित चरित्र मोह के क्षयोपशय से चरित्र (संयम) ग्रहण कर ले तो उसमें भी प्रमाद होता है। अथवा तीव्र उदय होता है तो संयम से भ्रष्ट भी हो जाता है। इस चरित्र मोह की प्रकृति जो क्रोध मान माया लोभादिक २५ कषायें हैं, उनका वर्णन अन्य ग्रन्थों से जानना।

प्रश्न :—आयु कर्म का विपाक किस प्रकार है ?
उत्तर :—सुरायुरारम्भ ककर्मपाकात्संभूय नाके प्रथितप्रभावः ।
समंथ्यते देहिभिरायुरग्र्यं सुखा मृतस्वाद लोलचित्तः ।।२२०।।

पांचवां आयुकर्म है, उसके ४ भेद हैं—देवायु मनुष्यायु तिर्यंगायु और नरकायु सो इनमें से देवायु उत्पन्न करने वाले कर्म के उदय से प्राणी स्वर्ग में उत्पन्न होकर विख्यात है प्रभाव जिसका और सुखामृत के आस्वादन में आसक्त है चित जिसका ऐसा देव हो स्वर्ग के सुख भोगता है।

नरायुषः कर्म विपाक योगान्नरत्व मासाद्य शरीर भाजः ।
सुखा सुखा क्रान्तधियो नितान्त नयन्ति काल बहुभिः प्रपञ्चः ॥२२१॥

तथा प्राणी मनुष्यायु नामा कर्म के उदय भोग से मनुष्यत्व को पाकर कुछ सुख दुःख से व्याप्त है बुद्धि जिसकी ऐसे हो नाना प्रकार के प्रपञ्चों (कार्यों) से काल यापन करते हैं।

चर स्थिर विकल्पासु तिर्यग्गतिषु जन्तुभिः ।
तिर्यगायुः प्रकोपेन दुःख मेवानुभूयते ॥२२२॥

तथा प्राणी तिर्यञ्च गतियों में उत्पन्न होकर केवल दुःख ही दुःख भोगते हैं।

नारकायुः प्रकोपेन नरकेऽचिन्त्यवेदने ।
निपत्तन्त्यङ्गिन स्तूर्णं कृतार्ति करुण स्वना ॥२२३॥

तथा नारकायु कर्म के उदय से प्राणी अचिन्त्य वेदना वाले नरकों के बिलों में जिनके सुनने से करुणा हो आवे ऐसे शब्द करते हुए उत्पन्न होते हैं और पांच प्रकार के दुःख भोगते हैं।

नाम कर्मोदयः साक्षाध्दते चित्राण्यनेकधा ।
नामनि गतिजात्यदि विकल्पान्नोह देहिनाम् ॥२२४॥

तथा जीवों को नाम कर्म का उदय अनेक प्रकार के गति जाति आदि ९३ भेद वाले नामों को साक्षात् धारण करता है, नामकर्म की ९३ प्रकृतियों का नाम लक्षणादि विशेष भेद गोमटसार ग्रंथ से जानना।

गोत्राख्यं जन्तु जातस्य कर्म दत्ते स्वक फलम् ।
शस्ता शस्त्रेषु गोत्रेषु जन्म निष्पाद्य सर्वथा ॥२२५॥

तथा गोत्र नाम कर्म जीवों के समूह को ऊंच नीच गोत्र में उत्पन्न कर सर्व प्रकार से अपना फल देता है।

निरुणद्धिभः स्वसामार्थ्यद्धानला भादिपञ्चकम् ।
विघ्नसन्तति विन्यासैर्विघ्न कृत्कर्म देहिनाम् ॥२२६॥

आठवाँ कर्म अन्तराय है सो विघ्न करने वाला है। यह अपनी सामर्थ्य (उदय) से जीवों के प्राप्त होने वाले शक्ति दान लाभ भोग उपभोग में विघ्न सन्तति की रचना करता है। अर्थात दान योगादिक में अन्तराय डाल कर उनको रोकता है।

मन्द वीर्याणि जायन्ते कर्माण्यति बालान्यपि ।
अपक्वपाचना योगात् फलानीव वनस्पतेः ॥२२७॥

पूर्वोक्त अष्टकर्म अतिशय बलिष्ठ हैं तथापि जिस प्रकार वनस्पति के फल बिना पके भी पवन के निमित (पाल आदि) से पक जाते हैं, उसी प्रकार इन कर्मों की स्थिति पूरी होने से पहिले भी तपश्चरणादि से मन्द वीर्य (अल्प फल देने वाले) हो जाते हैं।

अपक्वः क्रियतेऽस्ततन्दैस्तपोभिर्ग्नेवर शुद्धि युक्तैः ।
क्रमाद् गुणश्रेणि समाश्रयेण सुसंवृतान्तः करणैं मुनीन्द्रैः ॥२२८॥

नष्ट हुआ है प्रमाद जिनका और सम्यक प्रकार से संवर रूप हुआ है चित्त जिनका ऐसे मुनीन्द्र उत्कृष्ट विशुद्धता सहित तपों से अनुक्रम से गुणश्रेणी निर्जरा का आश्रय करके बिना पके कर्मों को भी पका कर स्थिति पूर्ण हुए बिना ही निर्जरा करते हैं।

द्रव्याद्युत्कृष्ट सामग्रीमासाद्योग्रतपोबलात् ।
कर्माणि घातयन्त्युच्चैस्तुर्य ध्यानेन योगिनः ॥२२९॥

योगीश्वर द्रव्य क्षेत्र काल भाव की उत्कृष्ट सामग्री को प्राप्त होकर तीव्र तप के बल से इस विपाक विचय नामा ध्यान के पश्चात् चौथे संस्थान विचय नाम ध्यान से कर्मों को अतिशयता के साथ नष्ट करते हैं।

विलीना शेष कर्माणि स्फुरन्तमति निर्मलम् ।
स्वं ततः पुरुषाकरं स्वाङ्गगर्यगत स्मरेत् ॥२३०॥

उक्त विधान से कर्मों की निर्जरा से वलय हुए हैं समस्त कर्म जिसके ऐसा स्फुरायमान निर्मल पुरुषाकार स्वरूप अपने अंग में ही प्राप्त हुए आत्मा को स्मरण करते हैं। अर्थात् चिन्तवन (ध्यान) करते हैं।

इति विविध विकल्पं कर्म चित्र स्वरूपं ।
प्रति समय मुदीर्ण जन्म वर्त्यङ्ग भाजाम् ॥
स्थिरचर विषयाणां भावयन स्तत्तन्दो ।
दहति दुरित कक्षं संयमी शान्त मोहः ॥२३१॥

पूर्वोक्त प्रकार अनेक हैं भेद (विकल्प) जिसमें ऐसे कर्म स्वरूप संसार में वर्तने वाले प्राणी स्थावर त्रसों के समय-समय प्रति उदयरूप हैं, उसको शान्त मोह संयमी मुनि प्रमाद रहित होकर विचारता हुआ पाप रूपी वन को दग्ध करता है।

इत्थं कर्मकटुप्रपाक फलिताः संसार घोरार्णवे ।
जीवा दुर्गति दुःख वाडव शिखा सन्तान संतापिताः ।।
मृत्युत्पत्ति महोर्मिजाल निचिता मिथ्यात्व वातेरिताः ।
क्लिश्यन्ते तदिदं स्मरन्तु नियतं धन्याः स्वासिद्धयथिनः ।।२३२।।

इस प्रकार भयानक संसार रूप समुद्र में जो जीव हैं वे ज्ञानवरणादिक कर्मों के कटु पाक (तीव्रोदय) से संयुक्त हैं। वे दुर्गति के दुःख रूपी बड़वानल की ज्वाला से संतान से संतापित हैं तथा मरण जन्म रूपी बड़ी लहर से परिपूर्ण भरे हैं तथा मिथ्यात्व रूप पवन के प्रेरे हुये क्लेश भोगते हैं, सो जो धन्य पुरुष हैं, वे अपनी मुक्ति की सिद्धि के लिए इस प्रकार विपाक विचय ध्यान का स्मरण करें (ध्यावें)।

इस प्रकार विपाक विचय ध्यान का वर्णन किया इसका संक्षेप यह है कि ज्ञानावरणादि कर्म जीवों के अपने तथा पर के निरन्तर उदय से आते हैं, सो यह विपाक है, इसको चिन्तवन करने से परिणाम विशुद्ध हो जाने पर कर्मों के नाश करने का उपाय करें तब मुक्त होता है।

❋ संस्थान-विचय-धर्मध्यान ❋

संस्थान विचय धर्मध्यान का स्वरूप

आगे संस्थान विचय नामक धर्म ध्यान के चौथे भेद का वर्णन करते हैं, इस ध्यान में लोक का स्वरूप विचार किया जाता है, इस कारण लोक का वर्णन किया जाता है।

अनन्तानन्तमाकाशं सर्वतः स्वंप्रतिष्ठितम् ।
तन्मध्येऽयं स्थितो लोकः श्रीमत्सर्वज्ञवर्णितः ।।२३३।।

प्रथम तो सर्व तरफ (चारों ओर) अनन्तानन्त प्रदेश रूप आकाश है, सो यह स्व प्रतिष्ठित है, अर्थात् आप ही अपने आधार पर है, क्योंकि उससे बड़ा अन्य कोई पदार्थ नहीं है जो उसका आधार हो। उस आकाश मध्य (बीच) में यह लोक स्थित है सो श्रीमत्सर्वज्ञ देव ने वर्णन किया है, इस कारण प्रमाण भूत, है क्योंकि असत्य कल्पना करके अन्य किसी ने नहीं कहा सर्वज्ञ भगवान् ने प्रत्यक्ष देख कर जैसा है वैसा ही वर्णन किया है।

लोक का स्वरूप—

स्थित्युत्पत्तिव्ययोपेतैः पदार्थैश्चेतनेतरैः ।
सम्पूर्णोऽनदि संसिद्धः कर्त्तृव्यापार वर्जितः ॥२३४॥

यह लोक ध्रौव्य उत्पाद और व्यय (क्षय) करके संयुक्त चेतन अचेतन पदार्थ से सम्पूर्ण तथा भरा हुआ है और अनादि संसिद्ध है, कर्त्ता के व्यापार से वर्जित है, अर्थात् कोई अन्यमती इस लोक का कर्त्ता हर्त्ता ईश्वर आदि को कहते हैं तथा कच्छप वा शेष नाग के ऊपर स्थित है, इत्यादि बुद्धि कल्पित असत्यार्थ कल्पना करके कहते हैं, सो वैसा नहीं है; सर्वज्ञ ने जैसा कहा है वैसा ही सत्य है ।

ऊर्ध्वाधोमध्य भागैर्यो बिभर्ति भुवनत्रयम् ।
अतः स एवं सूत्रज्ञैस्त्रै लोक्याधार इष्यते ॥२३५॥

तथा यह लोक ऊर्ध्व, मध्य अधोभाग से तीन भुवनों को धारण करता है, इस कारण सूत्र जानने वाले तीन लोक (तीन जगत) का आधार इस लोक को कहते हैं ।

उपर्युपरि संक्रान्तैः सर्वतोऽपि निरन्तरैः ।
त्रिभिर्वायुभिरा कीर्णो महावेगै र्महाबलैः ॥२३६॥

तथा यह लोक उपरि उपरि (एक के ऊपर एक) सर्व तरफ से अन्तर रहित महावेगवान महाबल वाले तीन पवनों से बैठा हुआ है ।

तीनों पवनों के नाम—

घनाब्धिः प्रथमस्तेषां ततोऽप्यैव घनमारुतः ।
तनुवात स्तृतीयोऽन्ते विज्ञेयावायवः क्रमात् ॥२३७॥

उन तीन पवनों में से प्रथम तो यह लोक घनोदधि नाम पवन से बेढ़ा हुआ है, उसके ऊपर घनवात नाम का पवन बेढ़ा हुआ है और उसके ऊपर अन्त में तनुवात नाम का पवन है, इस प्रकार तीन पवनों से लोक बेढ़ा हुआ है; इसी कारण उधर इधर हट नहीं सकता किन्तु, आकाश के मध्य भाग में स्थित है ।

प्रत्येक पवन २०–२० बीस-बीस हजार योजन मोटा है—

उद्धृत्य सकलं लोकं स्वशक्त्यैव व्यवस्थिताः ।
पर्यन्त रहिते व्योम्नि मरुतः प्रांशु विग्रहाः ॥२३८॥

और ये तीनों पवन तीन लोकों को धारण करके अपनी शक्ति से ही अन्तर

रहित आकाश में अपने शरीर को विस्मृत किये स्थित हैं।

घनाब्धि वलये लोकः स च नान्ते व्यवस्थितः ।
तनुवातान्तरे सोऽपि स चाकाशे स्थितः स्वयम् ।।२३९।।

यह लोक तो घनोदधि नाम के वात वलय में स्थित है और घनोदधि वात वलय घनवात वलय के मध्य में है; अर्थात् घनोदधि वातवलय के चारों ओर घनवात वलय घिरा हुआ है, और घनवातवलय के चारों तरफ तनुवातवलय घिरा हुआ है और तनुवात वलय आकाश में स्वयमेव स्थित है। इसमें किसी का कोई कर्तव्य नहीं है। अनादि काल से इसी प्रकार की व्यवस्था है।

अधो वेत्रासना कारो मध्ये स्याज्झल्लरीनिभः ।
मृदङ्गा भस्ततोव्यूर्ध्वं स त्रिधेति व्यवस्थितः ।।२४०।।

यह लोक नीचे से तो वेत्रासन कहिये मोढे के आकार का है अर्थात् नीचे से चौड़ा है फिर घटता-घटता मध्य लोक पर्यन्त सँकड़ा है फिर मध्य लोक झालर के आकार का है और उसके ऊपर ऊर्ध्व लोक मृदंग के आकार का है अर्थात् बीच में कुछ चौड़ा है ऐसे तीन प्रकार के लोक की व्यवस्था है।

अस्य प्रमाण मुन्नात्या सप्त च रज्जवः ।
सप्तैका पञ्च चैका च मूल मध्यान्त विस्तरे ।।२४१।।

इस लोक की ऊंचाई तो सात-सात राजू है अर्थात् नीचे से लगाकर मध्य लोक पर्यन्त सात राजू है और उससे ऊपर राजू है इस प्रकार चौदह राजू ऊंचा है, और मूल में चौड़ा सात राजू है, सो घटता-घटता मध्य लोक में एक राजू चौड़ा है और उसके ऊपर बीच में पांच राजू चौड़ा है और अन्त में और आदि में मध्य लोक के निकट एक-एक राजू चौड़ा है।

अधोलोक

तत्राधो भागमासाद्य संस्थिताः सप्त भूमयः ।
यासु नारकषण्ढानां निवासः सन्ति भीषणाः ।।२४२।।

इस लोक के अधोभाग में सात पृथ्वि हैं जिनमें नारकी नपुंसक जीवों के बड़े भयकारी निवास स्थान हैं।

काश्चिन्दज्ज्वालनलप्रख्याः काश्चिच्छीतोष्णसंकुलाः ।
तुषार बहुलाः काश्चिद् भूमयोऽत्यन्त भीतिदाः ।।२४३।।

उन सप्त नरक की पृथ्वियों में कई तो वज्राग्नि के समान उष्ण हैं, कई शीत उष्णता से व्याप्त हैं और कई अत्यन्त हिमवाली हैं इस प्रकार अतिशय भयकारक है ।

उन नरकों में शीत उष्ण की बाधा—

उदीर्णानलदीप्तासु निसर्गोष्णासु भूमिषु ।
मेरुमात्रोऽप्ययः पिण्डः क्षिप्तः सद्यो विलीयते ।।२४४।।

उदय रूप है अग्नि जिनमें ऐसी स्वाभाविक उष्णरूप भूमियों में यदि मेरु पर्वत के समान लोहे का पिंड डाला जाय तो तत्काल गल कर भस्म हो जाय ऐसी उन भूमियों में उष्णता है ।

शीत भूमिष्वपि प्राप्तो मेरु मात्रोऽपि शीर्यते ।
शतधा सावयः पिण्डः प्राप्य भुमिं क्षणान्तरे ।।२४५।।

जिस प्रकार उष्ण भूमियों में मेरु समान लोहे का पिंड गल जाता है, उसी प्रकार शीत प्रधान भूमियों में भी मेरु के समान लोहे का पिंड डाला जाय तो शीत के कारण क्षण मात्र में खंड-खंड होकर बिखर जायेगा ।

उन नरकों के जीव—

हिंसास्तेयानृता ब्रह्म ब्रह्मारम्भादि पातकैः ।
विशन्ति नरकं घोरं प्राणिनोऽन्तर्निर्दयाः ।।२४६।।

उन घोर नरकों में हिंसा झूठ चोरी कुशील और बहुत आरंभ परिग्रहादि पापों के करने से ही अत्यन्त निर्दयी जीव प्रवेश करते हैं । भावार्थ—हिंसादि पांच पाप अथवा सात व्यसनों के सेवी जीव ही उन घोर नरकों में जाकर दुःख भोगते हैं ।

मिथ्यात्वाविरति क्रोध रौद्र ध्यान परायणाः ।
पतन्ति जन्तवः श्वभ्रे कृष्ण लेश्या वशं गताः ।।२४७।।

तथा मिथ्यात्व अविरति क्रोध रौद्रध्यान में तत्पर तथा कृष्ण लेश्या के वश हुए प्राणी नरक में पड़ते हैं ।

उन नरकों में दुःख—

असि पत्रवनाकीर्णे शस्त्र शूला सिसंकुले ।
नरकेऽत्यन्तदुर्गन्धे वसासृक् कृमिकर्दमे ।।२४८।।

शिवाश्वव्याघ्रकङ्काढये मांसाशिविहगान्विते ।
वज्रकण्टक संकीर्णे शूलशाल्मलिदुर्गमे ॥२४९॥

संभूय कोष्ठिकामध्ये ऊर्ध्वपादा अधोमुखाः ।
ततः पतन्ति साक्रन्दं वज्राज्वलन भूतले ॥२५०॥

नरक कैसे हैं? कि असिपत्र (तलवार) सरीखे हैं पत्र जिनके ऐसे वृक्षों से तथा शूल तलवार आदि शस्त्रों से व्याप्त हैं अत्यन्त दुर्गन्ध युक्त हैं वसा (अपक्वमांस) रुधिर और कीटों से भरा हुआ कर्दम हैं जिनमें ऐसे हैं तथा सियाल श्वान व्याघ्रादिक से तथा मांस भक्षी पक्षियों से भरे हुए हैं, तथा वज्र मय कांटों से और शूल शाल्मलि आदि से दुर्गम हैं अर्थात् जिनमें गमन करना दुःख दायक है ऐसे नरकों में बिलों के संपुट में उत्पन्न होकर वे नारकी जीव ऊँचे पांव और नीचे मुख ऐसे चिल्लाते हुए उन संपुटों से वज्राग्निमय पृथ्वी में गिरते हैं ।

अयः कण्टक कीर्णासु द्रुत लोहाग्निवीथिषु ।
छिन्न भिन्न विशीर्णाङ्गा उत्पतन्ति पतन्ति च ॥२५१॥

उस नरक भूमि में वे नारकी जीव छिन्न भिन्न खंड-खंड होकर बिखरे हुए अंग से पड़कर बार-बार उछल-उछल के गिरते हैं, सो कैसी भूमि में गिरते हैं कि जहां पर लोहे के कांटे बिखरे हुए हैं और जिनमें लोहा गल जाता है ।

दुःसहा निष्प्रतीकारा ये रोगाः सन्ति केचन ।
साकल्येनैव गात्रेषु नारकाणां भवन्ति च ॥२५२॥

जो रोग असह्य हैं जिनका कोई उपाय (चिकित्सा) नहीं हैं ऐसे समस्त प्रकार के रोग नरकों में रहने वाले नारकी जीवों के शरीर के रोम-रोम में होते हैं ।

अदृष्ट पूर्वं मालोक्य तस्य रौद्रं भयास्पदम् ।
दिशः सर्वाः समीक्षन्ते वराकाः शरणार्थिनः ॥२५३॥

फिर वे नारकी जीव उस नरक भूमि को अपूर्व और रौद्र (भयानक) देखकर किसी की शरण लेने की इच्छा से चारों तरफ देखते हैं, परन्तु कहीं कोई सुख का कारण नहीं दिखता और न कोई शरण ही प्रतीत होता है ।

न तत्र सुजनः कोऽपि न मित्रं न च बान्धवाः ।
सर्वे ते निर्दयाः पापाः क्रूरा भीमोग्रविग्रहाः ॥२५४॥

उस नरक भूमि में कोई सुजन वा मित्र वा बांधव नहीं है, सभी निर्दय, पापी, क्रूर और भयानक प्रचण्ड शरीर वाले हैं।

सर्वे च हुण्ड संस्थानाः स्फुलिङ्ग सदृशेक्षणः।
विवर्द्धिता शुभ ध्यानाः प्रचण्डाश्चण्ड शासनाः ॥२५५॥

वे सभी नारकी जीव हुंडक संस्थान वाले हैं अर्थात् जिनके शरीर का प्रत्येक अंग अति भयानक बेडौल है और अग्नि के स्फुलिंग के समान जिनके नेत्र हैं तथा प्रचण्ड, आर्त्त रौद्र ध्यान को बढ़ाये हुए हैं, तथा क्रोधी हैं और जिनका शासन भी प्रचण्ड है।

तत्राक्रन्दरवैः साद्ध श्रूयन्ते कर्कशाः स्वनाः।
दृश्यन्ते गृध्रगोम्युसर्पशार्दूल मण्डलाः ॥२५६॥

उस नरक भूमि में चारों ओर से पुकारने के शब्द बड़े कर्कश सुने जाते हैं, तथा गृधपक्षी, सियाल, सर्प, सिंह, कुत्ते ये सब जीव बड़े भयानक दीखते हैं।

घ्रायन्ते पूतयो गन्धाः स्पृश्यन्ते वज्र कण्टकाः।
जलानि पूति गन्धीनि सद्योऽसृग्मांस कर्दमाः ॥२५७॥

जिस नरक भूमि में दुर्गंध सूंघनी पड़ती हैं और वज्रमय कांटों में छिदना पड़ता है और जल जहां दुर्गन्धमय है और रुधिर मांस का है कादा जिनमें ऐसी नदियाँ हैं।

चिन्तयन्ति तदालोक्य रौद्र मत्यन्त शङ्किताः।
केयं भूमिः वयं चानीताः के वयं केन कर्मणा ॥२५८॥

उस स्थान को रौद्र (भयानक) देखकर वे नारकी गण (जो नवीन उत्पन्न हुए हैं) अत्यन्त शंकित होकर विचरते हैं कि यह भूमि कौनसी हो और हम कौन हैं कौन से कर्म से यहां आये हैं।

ततो विदुर्विभङ्गात्स्वं पतितं श्वभ्रसागरे।
कर्मणाऽत्यन्तरौद्रेण हिंसाद्यारम्भ जन्मना ॥२५९॥

तत्पश्चात् विभङ्गावधि (कुअवधिज्ञान) से जानते हैं कि हिंसादिक आरम्भों से उत्पन्न हुए अत्यन्त रौद्र (खोटे) कर्म से हम नरक रूपी समुद्र में पड़े हैं।

ततः प्रादुर्भवत्यच्चैः पश्चात्तापोऽति दुःसहः।
दहन्न विरतं चेतो वज्राग्निरिव निर्दयः ॥२६०॥

तत्पश्चात् नारकी जीवों के दुःसह पश्चाताप अतिशय करके प्रगट होता है। वह दुःसह पश्चाताप वज्राग्नि के समान निर्दय हो चित्त को दहन करता हुआ प्रगट हुआ है।

मनुष्यत्वं समासाद्य तदा कैश्चिन्महात्मभिः ।
अपवर्गाय संविग्नैः कृतं पूज्यमनुत्तरम् ॥२६१॥
विषया रामपाकृत्य विध्याप्य मदनानलम् ।
अप्रमत्तैस्तपश्चीर्णं धन्यैर्जन्मार्ति शान्तये ॥२६२॥
उपसर्गाग्निपातेऽपि धैर्यं मालम्ब्य चोन्नतम् ।
तैः कृतं तदनुष्ठानं येन सिद्धं समीहितम् ॥२६३॥
प्रमादमदमुत्सृज्य भाव शुद्धया मनीषिभिः ।
केनाप्य चिन्त्यवृत्तेन स्वर्गो मोक्षश्च साधितः ॥२६४॥
शिवाभ्युदयदं मार्गं विशन्तोऽप्यतिवत्सलाः ।
मया वधीरताः सन्तो निर्भर्त्स्य कटुकाक्षरैः ॥२६५॥

कितने बड़े पुरुषों ने मनुष्यत्व पाकर वैराग्य सहित हो मोक्ष के लिये पूजनीय पवित्राचरण किया और उन महाभागी मुनियों ने विषयों की आशा को दूर करके कामरूप अग्नि को बुझाकर निष्प्रमादी हो संसार पीड़ा की शांति के लिये तप का संचय किया। तत्पश्चात उन उत्तम पुरुषों ने उपसर्गरूपी अग्नि के आने पर बड़े धैर्य का आलंबन कर वह आचरण किया कि जिससे वांछित कार्य सिद्ध हुआ तथा उन बुद्धिमान पुरुषों ने प्रमाद और मद को छोड़कर भाव की शुद्धता से किसी अचिन्त्य आचरण से स्वर्ग तथा मोक्ष साधा, उन सत्पुरुषों ने वात्सल्य भाव से युक्त हो मुझे मोक्ष और स्वर्ग आदि के मार्ग का उपदेश दिया, परन्तु मैंने बड़े कटु अक्षरों से उनका तिरस्कार करके निंदा की उनका उपदेश अंगीकार किया, इत्यादि पश्चाताप करते हैं।

तस्मिन्नपि मनुष्यत्वे परलोकैक शुद्धिदे ।
मया तत्संचितं कर्म यज्जातं स्वभ्रशंबलम् ॥२६६॥

फिर भी नारकी पश्चाताप करता है कि परलोक की अद्वितीय शुद्धता देने वाले उन मनुष्य भव में भी मैंने वह कर्म संचय किया कि जिससे नरक का शंबल (पाथेय राहु खर्च) हुआ अर्थात् उस कर्म ने सहज में ही नरक में ला पटका।

अविद्याक्रान्तचित्तेन विषयान्धीकृतात्मना ।
चरस्थिराङ्गि संघातो निर्दयो हतो मया ॥२६७॥

फिर नारकी विचारता है कि अविद्या से आक्रान्त है चित्त जिसका तथा विषयों से अंधा होकर मैंने त्रस स्थावरों के समूह को मारा है ।

परवित्तामिषासक्तः परिस्त्रीसंग लालसा ।
बहुव्यसन विध्वस्तो रौद्र ध्यान परायणः ॥२६८॥
यत स्थितः प्राक् चिरं कालं तस्यैतत्फल भागतम् ।
अनन्तयातनासारे दुरन्ते नरकार्णवे ॥२६९॥

नारकी फिर पश्चाताप करता है कि मैं परके धन में और मांस में अथवा पर के धनरूपी मांस में, आसक्त होकर पर स्त्री संग करने में लुब्ध हुआ तथा बहुत प्रकार के व्यसनों से पीड़ित होकर रौद्र ध्यानी हुआ, पूर्व जन्म में इस प्रकार रहा इस कारण उसका यह अनन्त पीड़ा से असार-अपार नरकरूपी समुद्र फल आया है ।

यन्मया वञ्चितो लोको बराको मूढ़मानसः ।
उपायैर्बहुभिः पापैः स्वाक्ष सन्तर्पणार्थिना ॥२७०॥
कृतः पराभवो येषां धनभूस्त्री कृते मया ।
घातश्च तेऽत्र संप्राप्ताः कर्ड तस्माच्च निष्क्रियाम् ॥२७१॥

फिर विचारता है कि मैंने भोले जनों को अति अन्यायरूप उपायों से इन्द्रियों को पोषने के लिए ठगा तथा पर का धन पर की भूमि वा स्त्री लेने के लिए जिनका अपमान किया तथा घात किया वे लोग यहां नरक भूमि में उसका दंड देने के लिये आकर प्राप्त हुए हैं ।

ये तदा शशकप्राया मया बलवता हताः ।
तेऽद्य जाता मृगेन्द्राभा मां हन्तुं विविधैर्वधैः ॥२७२॥

उस मनुष्य भव में जब मैं था तो वे शशक (खरगोश) समान थे और मैं बलवान् था सो मैंने मारा किन्तु वे आज यहां पर सिंह के समान होकर अनेक प्रकार के घातों से मुझे मारने के लिए उद्यत हैं ।

मानुष्येऽपि स्वतंत्रेण यत्कृतं नात्मनो हितम् ।
तदद्य किं करिष्यामि दैवपौरुष वर्जितः ॥२७३॥

फिर विचारता है कि जब मनुष्य भव में स्वाधीन था । तब भी मैंने अपना

हित साधन नहीं किया तो अब यहां दैव और पौरुष दोनों से रहित होकर क्या कर सकता हूं, यहां कुछ भी हित साधन नहीं हो सकता ।

यदान्धेनापि पापेन निर्दय शेनास्त बुद्धिना ।
विराध्या राध्य सन्तानं कृतं कर्मेति निन्दितम् ।।२७४।।

फिर विचारता है कि मद से अन्धे पापी निर्दय नष्ट बुद्धि मैंने आराधने योग्य जो भले मार्ग में प्रवर्तनेवाले उन पूज्य पुरुषों के सन्तान को विराधकर निंदनीय कर्म किया ।

यत्पुरग्राम विन्ध्येषु मया क्षिप्तो हुताशनः ।
जल स्थल बिलाकाश चरिणो जन्तवो हताः ।।२७५।।
कृन्तन्ति मम मर्माणि स्मर्यमाणान्य तारतम ।
प्राचीतान्यद्य कर्माणि कचानीव निर्दयम् ।।२७६।।

फिर विचारता है कि मैंने पूर्व भव में पुर ग्राम वन में अग्नि डालकर दब लगाई और जल भर, थल भर आकाश भर तथा बिलो में रहने वाले असंख्य जीवों को मारा, वे पूर्व के पापकर्म इस समय स्मरण आने से निरन्तर मेरे मर्म स्थानों को दया रहित करवत के समान भेदते हैं ।

किं करोमि क्व गच्छामि कर्मजाते पुरः स्थिते ।
शरणं कं प्रपश्यमि वराको देव वन्चितः ।।२७७।।

फिर विचारता है कि ऐसे नरकों के दुःख में भी कर्मों का समूह मेरे सामने है, उसके होते हुए मैं क्या करूँ, कहां जाऊँ, किसकी शरण देखूँ, मैं रंक दैव से ठगा हुआ है, मुझे कुछ भी सुख का उपाय नहीं दिखता ।

यन्निमेष मपि स्मर्तुं द्रष्टुं श्रोतुं न शक्यते ।
तद्दुः खभग सोढव्यं वर्द्धमानं कथं मया ।।२७८।।

फिर विचारता है कि नेत्र के टिमकार मात्र भी जिसके स्मरण करने व सुनने की समर्थता नहीं प्रतिक्षण बढ़ता हुआ वह दुःख मैं कैसे सहूँगा ।

विषज्वलन संकीर्ण वर्द्धमानं प्रतिक्षणम् ।
मम मूर्ध्नि विनिक्षिप्तं दुःखं दैवेन निर्दयम् ।।२७९।।

फिर विचारता है कि विष तथा अग्नि से व्याप्त क्षण क्षण में बढ़ने वाले ये सब दुःख दैव (कर्म) ने दया रहित होकर मेरे ही माथे पर डाले हैं ।

न दृश्यन्ते ते मृत्या न पुत्रा न च बान्धवाः ।
येषां कृते मया कर्म कृत स्वस्यैव घातकम् ।।२८०।।
न कलत्राणि मित्राणि न पाप प्रेरको जनः ।
पदमप्येतमायातो मया सार्द्धं गतमपः ।।२८१।।

फिर ऐसा विचारता है कि जिनके लिए मैंने अपने घातक पापकर्म पूर्व जन्म में किये इस समय न तो वे चाकर, न पुत्र, कलत्र, मित्र गण पाप में प्रेरणा करने वाले बांधव कोई देखने में आते हैं । वे ऐसे निर्लज्ज हो गये कि एक कदम भी मेरे साथ नहीं आये ।

आश्रयन्ति यथा वृक्षं फलितं पत्रिणः पुरा ।
फलापाये पुनर्यान्ति तथा ते स्वजना गताः ।।२८२।।

फिर ऐसा विचारता है कि जिस प्रकार पक्षी पहिले तो फले हुए वृक्ष का आश्रय करते हैं, परन्तु फलों का अभाव हो जाता है, तब-तब पक्षी उड़ जाते हैं, उसी प्रकार मेरे स्वजन जाते रहे, ये दुःख भोगने को कोई साथ नहीं आया ।

शुभाशुभानि कर्माणि यान्त्येव सह देहिभिः ।
स्वार्जिता नीति यत्प्रोचुः सन्तस्तत्सत्यतां गतम् ।।२८३।।

फिर विचारता है कि जो सत्पुरुष कहते थे कि अपने उपार्जन किये हुए शुभ अशुभ कर्म हैं, वे ही जीव के साथ जाते हैं, अन्य कोई साथ नहीं जाता सो वह आज सत्य प्रतीत हुआ ।

धर्म एव समुद्धर्तुं शक्तोऽस्माच्छ्वभ्रसागरात् ।
न स स्वप्नेऽपि पापेन मया सम्यक्पुरार्जितः ।।२८४।।

फिर विचारता है कि इस नरकरूपी समुद्र से उद्धार करने के लिये एक धर्म ही समर्थ है; परन्तु मुझ पापिष्ठने पहिले स्वप्न में भी उसका उपार्जन किया ।

सहायः कोऽपि कस्यापि नाभून्न च भविष्यति ।
मुक्त्वैकं प्राकृतं कर्म सर्वसत्वाभिनन्दकम् ।।२८५।।

फिर विचारता है कि इस संसार में कोई किसी का सहायक न है, न हुआ और न होगा; किन्तु समस्त जीवों को आनन्द करने वाला अर्थात् जिसमें सब की दया हो ऐसा शुभ कर्म ही सहायक होता है ।

तत्तुर्वन्त्यमाः कर्म जिह्वोपस्थादि दण्डितः ।
येनत्वभ्रेषु पच्यन्ते कृतार्त्तकरुण स्वनाः ।।२८६।।

फिर विचारता है कि जो अधम (पापी) पुरुष जिह्वा उपस्थेन्द्रिय से दण्डित होते हैं, वे ऐसा कर्म करते हैं कि जिस कर्म से वे पापी पीडित होकर नरकों में पचाये जाते हैं, रोते हैं वा शब्द करते हैं; जिसको सुनने से अन्य को दया उपज आवे।

चक्षुरुन्मेषमात्रस्य सुखस्यार्थे कृतं मया।
तत्पापं येन सम्पन्ना अनन्ता दुःखराशयः ॥२८७॥

फिर विचारता है कि मैंने नेत्रों के टिमकार मात्र सुख के लिये ऐसा पाप किया कि जिससे अनन्त दुःखों की राशि प्राप्त हुई।

याति सार्द्धं ततः पाति करोति नियतं हितम्।
हन्ति दुःखं सुखं दत्ते यः स बन्धुनी योषितः ॥२८८॥

फिर विचारता है कि यह धर्मरूप बन्धु (हितू) ऐसा है कि साथ जाता है और जहां, जाता है, वहीं रक्षा करता है और यह मित्र नियम से हित ही करता है, दुःख का नाश करके सुख देता है; ऐसे धर्मरूपी मित्र को मैंने पोसा ही नहीं और जिनको मित्र समझ के पोसा उनमें से कोई एक भी साथ नहीं आया।

परिग्रह महाग्राह संग्रस्ते नार्त चेतसा।
न दृष्टा यम शार्दूल चपेटा जीवनाशिनी ॥२८९॥

फिर विचारता है कि परिग्रहरूपी महाग्राह से पकड़े हुए पीडित चित्त होकर मैंने जीव को नाश करने वाली यमरूपी शार्दूल की चपेट नहीं देखी अर्थात् परिग्रह में आसक्त होकर निरन्तर पाप ही करता रहा।

पातयित्वा महाघोरे मां श्वभ्रेऽचिन्त्यवेदने।
क्व गतास्तेऽधुना पापा मद्वित्तफल भोगिनः ॥२९०॥

फिर विचारता है कि जो कुटुम्बादिक मेरे उपार्जन किये हुये धन के फल भोगने वाले थे, वे पापी मुझे अचिन्त्य वेदनामय इस घोर नरक में डाल कर अब कहां चले गये? यहां दुःख में कोई साथी न हुआ।

इत्यजस्त्रं सुदुःखार्त्ता विलापमुखराननाः।
शोचन्ते पाप कर्माणि वसन्ति नर कालये ॥२९१॥

इस पूर्वोक्त प्रकार से नारकी जीव निरन्तर महादुःख से पीडित हुए, मुख से पुकारते हुए, विलाप करते हुए अपने पापकार्यों को स्मरण कर करके शोच करते हैं

और नरक मंदिर में बसते हैं।

इति चिन्तानलेनोच्चैर्दह्यमानस्य ते तदा।
धावन्ति शरशूलासिकराः क्रोधाग्नि दीपिताः ॥२९२॥
वैरं पराभवं पापं स्मारयित्वा पुरातनम्।
निर्भर्त्स्य कटुकालापैः पीडयन्त्यति निर्दयम् ॥२९३॥

इस पूर्वोक्त प्रकार की चिन्तारूप अग्नि से अतिशय जलते हुए नारकी के ऊपर उसी समय अन्य पुराने नारकी बाण, शूल, तलवार लिये हुए, क्रोधरूपी अग्नि से जलते हुए दौड़ते हैं और पूर्व के पाप तथा वैर को याद कराते हुए कटु वचनों से तिरस्कार करके उसे अतिनिर्दयता से जिस प्रकार बनता है, दुःख देते हैं।

उत्पाटयन्ति नेत्राणि चूर्णयन्त्यस्थि संचयम्।
दारयन्त्युदरं क्रुद्धास्त्रोटयन्त्यत्र मालिकाम् ॥२९४॥

वे पुराने नारकी उस विलाप करते हुए नये नारकी के नेत्रों को उखाड़ते हैं, हड्डियों को चूर्ण कर डालते हैं, उदर को फाड़ते हैं और क्रोधी होकर उसकी आंतों को तोड़ डालते हैं।

निष्पीडयन्ति यन्त्रेषु दलन्ति विषमोपलैः।
शाल्मलीषु निघर्षन्ति कुम्भीषु क्वाथयन्ति च ॥२९५॥

तथा वे नारकी उसे घानी में डाल कर पीलते हैं और कठिन पाषाणों से दलते हैं, लोहे के कांटे वाले वृक्षों से घिसते (रगड़ते) हैं तथा कुम्भियों में (कलशियों में) डालकर काढ़ा करते (उबालते) हैं।

असह्यदुःख सन्तान दान दक्षाः कलिप्रियाः।
तीक्ष्णदंष्ट्रा करालास्या भिन्नाञ्जन समप्रभाः ॥२९६॥
कृष्णलेश्योद्धताः पापा रौद्र ध्यानैक भाविताः।
भवन्ति क्षेत्र दोषेण सर्वे ते नारकाः खलाः ॥२९७॥

तथा वे नारकी असह्य दुःखों की निरन्तरता देने में चतुर हैं, कलह करना ही जिनको प्रिय है, तीक्ष्ण दाढ़ों से भयानक मुख वाले हैं, बिखरे हुए काजल के समान जिनके शरीर की काली प्रभा है; तथा कृष्णलेश्या के कारण उद्धत हैं, पापरूप हैं और रौद्रध्यान के भावने वाले हैं, एवं क्षेत्र के दोष से वे सब ही नारकी दुष्ट होते हैं।

वैक्रियिक शरीरत्वाद्वि क्रियन्ते यद्वच्छया ।
यन्त्राग्निश्वापदाङ्गं स्ते हन्तुं चित्रैर्वधैः परान् ।।२६८।।

उन नारकियों का वैक्रियिक शरीर होने के कारण इच्छानुसार पारणी अग्नि हिंस्र जन्तु सिंहादिक का रूप बनाकर अनेक प्रकार से परस्पर मारने के लिये विक्रिया करते हैं।

न तत्र बान्धवः स्वामी मित्रभृत्याङ्गनाङ्गजाः ।
अनन्तयातना सारे नरकेऽत्यन्त भीषणे ।।२६९।।

यहां अत्यन्त भयानक नरक में न तो कोई बांधव है, न पुत्र है, न कोई स्वामी है, न कोई मित्र है, न कोई भृत्य ही है, न स्त्री है, न पुत्र है, केवल अनन्त यातना का भयानक दृष्टिपात ही है।

तत्र ताम्रमुखा गृध्रा लोहतुण्डाश्च वायसाः ।
दारयन्त्येव मर्माणि चञ्चुभिर्नखरैः खरैः ।।३००।।

उस नरक में मुख – चोंच जिनके ऐसे तो गृध्रपक्षी हैं और लोहे की चोंच वाले काक हैं, सो चोंचों से तथा तीक्ष्ण नखों से नारकी जीवों के मर्मों को विदारते हैं।

कृमयः पूतिकुण्डेषु वज्रसूची समाननाः ।
भित्वा चर्मास्थि मांसानि पिबन्त्याकृष्य लोहितम् ।।३०१।।

तथा उस नरक में पीब के कुण्डों में वज्र की सुई समान हैं, मुख जिनके ऐसे कीडे वा जौ के नारकी जीवों के चमड़े और हाड, मांस को बिदा कर रक्त (खून) को को पीते हैं।

बलाद्विदार्य संदंशैर्वदनं क्षिप्यते क्षणात् ।
विलीनं प्रज्वलत्ताम्रं यैः पीतं मद्यमुद्धतैः ।।३०२।।

तथा जिन पापियों ने मनुष्य जन्म में उद्धत होकर मद्यपान किया है; उनके मुख को संडासी से फाड़ फाड़ कर तुरन्त के पिघलाये हुए ताम्बे को पिलाते हैं।

परमांसानि यैः पापैर्भक्षितान्यतिनिर्दयैः ।
शूलापक्वानि मांसानि तेषां खादन्ति नारकाः ।।३०३।।

और जिन पापियों ने मनुष्य भव में निर्दय होकर अन्य जीवों का मांस भक्षण किया है; उनके मांस के शूले पका पका कर नारकी जीव खाते हैं।

यैः प्राक्परकलत्राणि सेवितान्यात्मवञ्चकैः ।
योज्यन्ते प्रज्वलन्तीभिः स्त्रीभिस्ते ताम्रजन्मभिः ॥३०४॥

तथा जिन आत्मवञ्चक पापी जनों ने पूर्व भव में परस्त्री सेवन की है, उनको ताम्बे की अग्नि से लाल की हुई स्त्रियों से संगम कराया जाता है ।

न सौख्यं चक्षुरुन्मेषमात्रमप्युपलभ्यते ।
नरके नारकैर्दीनैर्हन्यमानैः परस्परम् ॥३०५॥

नरक में नारकी जीव परस्पर एक दूसरे को मारता है, सो वे दिन एक पलक मात्र भी सुख को नहीं पाते ।

किमत्र बहुनोक्तेन जन्म कोटि शतैरपि ।
केनापि शक्यते वक्तुं न दुःखं नरकोद्भवम् ॥३०६॥

आचार्य महाराज कहते हैं कि कहाँ तक कहें ? क्योंकि उस नरक में उत्पन्न हुये दुःख को कोटि जन्म लेकर भी कोई कहने को समर्थ नहीं है; हम क्या कह सकते हैं ।

विस्मृतं यदि केनापि कारणेन क्षणान्तरे ।
स्मारयन्ति तदाभ्येत्य पूर्व वैरं सुराधमाः ॥३०७॥

यदि वे नारकी किसी कारण से क्षण मात्र के लिए भूल जाते हैं तो उसी समय नीच असुर देव आकर उन्हें पूर्व वैर याद करा देते हैं, जिससे फिर वे परस्पर मार पीट करके अपने को महादुःखी कर लेते हैं ।

बुभुक्षा जायतेऽत्यर्थं नरके तत्र देहिनाम् ।
यां न शमयितुं शक्तः पुद्गलप्रचयोऽखिलः ॥३०८॥

तथा उस नरक में नारकी जीवों को भूख ऐसी लगती है कि समस्त पुद्गलों का समूह भी उसको शमन करने में असमर्थ है ।

तृष्णा भवति या तेषु वाडवाग्निरिवोल्बणा ।
न सा शाम्यति निःशेष पीतैरप्यम्बुराशिभिः ॥३०९॥

तथा नरक में नारकी जीवों के जो तृषा वड़वाग्नि के समान अति उत्कट (तीव्र) होती है सो समस्त समुद्रों का जल पीले तो भी नहीं मिटती ।

बिन्दु मात्रं न तत्रारि प्राप्यते पातुमातुरैः ।
तिल मात्रोऽपि नाहारो ग्रसितुं लभ्यते हितैः ॥३१०॥

यद्यपि नरकों में उपर्युक्त भूख प्यास की तीव्रता है, परन्तु न तो किसी काल में तिल मात्र किसी को भोजन मिलता है और न एक बिन्दु पानी ही कहीं मिलता है; इस प्रकार आतुर हो कर निरन्तर भूख प्यास सहते हैं।

तिलावप्यति सूक्ष्माणि कृतखण्डानि निर्दयैः।
वपुर्मिलति वेगेन पुनस्तेषां विधेर्वशात् ॥३११॥

तथा उन नारकीयों के शरीर निर्दय नारकीयों के द्वारा तिल तिल मात्र खण्ड किये जाते हैं, परन्तु मृत्यु नहीं आती, तत्काल मिलकर शरीर बन जाता है, इनके ऐसा भी कर्मोदय है, जो मरण नहीं होता; सागरों की आयु पूर्ण होने पर ही मरण होता है; अकाल मृत्यु कभी नहीं होती।

यातनाश्च शरीरायुर्लेश्या दुःख भयादिकम्।
वर्द्धमानं विनिश्चेयमधोऽधः श्वभ्रभूमिषु ॥३१२॥

उन नरक की भूमियों में पीड़ा, रोग, शरीर, आयु, लेश्या, दुःख, भय इत्यादि नीचे नीचे बढ़ता हुआ है; अर्थात् पहिले नरक (पृथ्वी) से दूसरे नरक में अधिक है, दूसरे से तीसरे में और तीसरे से चौथे में और चौथे से पांचवे में और पांचवें से छठे में और छठे से सातवे में इस क्रम से अधिक-अधिक है; यह अधोलोक का वर्णन हुआ।

❋ मध्यलोक ❋

मध्यभागस्ततो मध्ये तत्रास्ते झल्लीरोनिभः।
यत्र द्वीप समुद्राणां व्यवस्था वलयाकृतिः ॥३१३॥

उस अधोलोक के ऊपर झालर (घंटा बजाने की घड़वली) के समान गोलाकार मध्य लोक का मध्य भाग है, उसमें गोलगोल वलयों (कड़ों) के समान असंख्यात द्वीप समुद्र हैं।

जम्बूद्वीपाद्यो द्वीपा लवणोदादयोऽर्णवाः।
स्वयम्भूरमणान्तास्ते प्रत्येकं द्वीप सागराः ॥३१४॥

उस मध्यलोक में जम्बूद्वीपादिक तो द्वीप हैं और लवण समुद्रादिक समुद्र हैं सो अन्त के स्वयंभूरमण पर्यन्त भिन्न-भिन्न हैं। भावार्थ—सबके बीच एक लाख योजन चौड़ा लम्बा गोला जम्बूद्वीप है, और उसके चारों को दो लाख योजन के व्यास की खाई के समान लवण समुद्र है, इसी प्रकार समुद्र के चारों ओर द्वीप और

द्वीपों के चारों ओर समुद्र, इस प्रकार स्वयंभूरमण समुद्र पर्यन्त द्वीप समुद्रों की स्थिति है।

द्विगुणा द्विगुणा भागाः प्रावर्त्यन्योन्यमास्थिताः।
सर्वे ते शुभ नामानो बलयाकार धारिणः ॥३१५॥

तब वे द्वीप और समुद्र दूने-दूने विस्तार वाले हैं तथा परस्पर एक दूसरे को लपेटे हुए हैं; गोलाकार कड़े के आकार हैं और उनके नाम भी जम्बूद्वीप, धातकी खंड द्वीप, पुष्कर द्वीप, लवण समुद्र, कालोदधि आदि उत्तमोत्तम हैं।

मानुषोत्तर शैलेन्द्रमध्यस्थ मति सुन्दरम्।
नर क्षेत्रं सरिच्छैलसुराचल विराजितम् ॥३१६॥

तथा मानुषोत्तर पर्वत के मध्यस्थ नदी पर्वत मेरुपर्वत से अति सुन्दर मनुष्य क्षेत्र है। भावार्थ—सबसे बीच में एक लाख योजन व्यास का जंबूद्वीप है; जम्बूद्वीप के चारों ओर दो लाख योजन का लवण समुद्र है; लवण समुद्र के चारों तरफ चार लाख योजन धातकी खंड द्वीप हैं और धातकीखंड द्वीप के चारों तरफ आठ लाख योजन का कालोदधि समुद्र है और कालोदधि समुद्र के चारों तरफ सोलह लाख योजन चौड़ा पुष्कर द्वीप है; पुष्कर द्वीप के उत्तरार्द्ध में अर्थात् अगले आगे के भाग में ८ लाख योजन चौड़ा मानुषोत्तर नाम का दीवार के समान पर्वत पड़ा हुआ है, इस कारण इस द्वीप को पुष्करार्द्ध द्वीप कहते हैं; इन अढ़ाई द्वीपों में ही मनुष्य रहते हैं; अगले द्वीपों में मनुष्य नहीं है और न उससे आगे मनुष्य जा ही सकते हैं। इसी कारण उस पर्वत का नाम मानुषोत्तर पर्वत है।

तत्रार्यम्लेच्छखण्डानि भूरि भेदानि तेष्वमी।
आर्या म्लेच्छा नराः सन्ति तत्क्षेत्र जनितै गुणैः ॥३१७॥

उस मनुष्य क्षेत्र में अर्थात् अढ़ाई द्वीपों में अनेक आर्य खंड और म्लेच्छखंड हैं, और आर्य क्षेत्रों में आर्य पुरुष और म्लेच्छ क्षेत्रों में म्लेच्छ रहते हैं; उन क्षेत्रों के अनुसार ही उनके गुण आचारादिक हैं; अर्थात् आर्यों के उत्तम आचार, उत्तम गुण हैं, और म्लेच्छों के निकृष्ट आचार और धर्मशून्यतादि निकृष्ट गुण हैं।

क्वचित्कुमानुषोपेतं क्वचिद्व्यन्तर संभृतम्।
क्वचिद्भोग धराकीर्णं नरक्षेत्रं निरन्तरम् ॥३१८॥

यह मनुष्य क्षेत्र निरंतर कहीं तो कुमानुष कुभोगभूमि सहित है, कहीं व्यन्तर देवों से

भरा है, कहीं उत्तम भोगभूमि सहित है, इस प्रकार संक्षेप से मध्यलोक का वर्णन किया।

❋ उर्ध्वलोक ❋

ततो नभसि तिष्ठन्ति विमानानि दिवौकसाम् ।
चरस्थिर सिकल्पानि ज्योतिष्काणां यथाक्रमम् ।।३१९।।

उस मध्य लोक के ऊपर आकाश में ज्योतिषी देवों के विमान रहते हैं, वे चिर स्थिर भेद से दो प्रकार के हैं; अर्थात् कई विमान तो निरन्तर गमन करते रहते हैं और कई विमान स्थिर रहते हैं।

तदूर्ध्वे सन्ति देवेशकल्पाः सौधर्म पूर्वकाः ।
ते षोडशाच्युत स्वर्ग पर्यन्ता नभसि स्थिताः ।।३२०।।

ज्योतिषी देवों के विमानों के ऊपर कल्पवासी देवों के कल्प (विमान) हैं; जिनके सौधर्म स्वर्ग, ईशान स्वर्ग आदि नाम हैं; वे अच्युत स्वर्ग पर्यन्त सोलह हैं और आकाश में स्थित हैं।

उपर्युपरि देवेशनिवास युगलं क्रमात् ।
अच्युतान्तं ततोऽप्यूर्ध्वं मेकैकत्रिदशास्पदम् ।।३२१।।

वे देवों के निवास (स्वर्ग) आकाश में दो स्वर्ग के ऊपर दो स्वर्ग फिर उन दो के ऊपर फिर दो स्वर्ग इस प्रकार दो-दो के आठ युगल हैं और उनके ऊपर एक-एक विमान करके नव ग्रैवेयक विमान हैं, तथा एक अनुदिश और एक अनुत्तर विमान भी है।

निशादिनविभागोऽयं न तत्र त्रिदशास्पदे ।
रत्नालोकः स्फुरत्युच्चैः सततं नेत्र सौख्यदः ।।३२२।।

उन देवों के निवासों में रात्रि दिन का विभाग नहीं है; क्योंकि वहां पर सूर्य चन्द्रमा नहीं है, किन्तु नेत्रों को सुख देने वाला रत्नों का उत्तम प्रकाश निरन्तर स्फुरायमान रहता है।

वर्षातपतुषारादि समयैः परिवर्जितः ।
सुखदः सर्वदा सौम्यस्तत्र काल प्रवर्त्तते ।।९२।।३२३।।

उन स्वर्गों में वर्षा, शीत, आतप आदिक समय व ऋतुओं से रहित सदाकाल सुख देने वाला सौम्य मध्यस्थ काल (वसन्त ऋतु) रहता है।

उत्पातभयसन्तापभङ्ग चौरारिविद्वराः ।
न हि स्वप्नेऽपि दृश्यन्ते क्षुद्रसत्त्वाश्च दुर्जनाः ॥३२४॥

तथा उन स्वर्गों में उत्पात, भय, संताप, भंग, चोर, शत्रु, वञ्चक तथा क्षुद्रजीव, दुर्जन ये स्वप्न में नहीं दिखते ।

चन्द्रकान्तशिलानद्धाः प्रवालदल दन्तुराः ।
वज्रेन्द्र नील निर्माणा विचित्रास्तत्र भूमयः ॥३२५॥

उन देवों के निवासों में पृथ्वी चन्द्रकान्त मणियों से बंधी हुई है तथा मूंगे के पत्र की समान रची हुई हैं; तथा कहीं कहीं हीरा इन्द्रनीलमणि आदि नाना प्रकार के रत्नों से बनी हुई हैं ।

माणिक्यरोचिषां चक्रैः कर्बुरीकृत दिङ्मुखाः ।
वाप्य स्वर्णाम्बुजच्छन्ना रत्नसोपानराजिताः ॥३२६॥

तथा स्वर्गों में वापिकायें माणिक की किरणों के समूहों से दशों दिशाओं को अनेक वर्ण मय कर रही हैं तथा सुवर्णमय कमलों से आच्छादित और रत्नमय सीढ़ियों से सुशोभित हैं ।

सरांस्यमल वारीणि हंसकारण्ड मण्डलैः ।
वाचालं रुद्धतीर्थानि दिव्यनारीजनेन च ॥३२७॥

स्वर्ग में सरोवर भी अतिस्वच्छ निर्मल जल वाले हैं, हंस वा कारंड जाति के पक्षियों के समूह से तथा देवांगना वा अप्सराओं से रुके हुए हैं तट जिनके ऐसे हैं ।

गावः कामदुधाः सर्वाः कल्पवृक्षाश्च पादपाः ।
चिन्तारत्नानि रत्नानि स्वर्गलोके स्वभावतः ॥३२८॥

तथा उस स्वर्ग में गौ हैं वे तो कामधेनु हैं, वृक्ष हैं, सो कल्पवृक्ष हैं और रत्न हैं सो चिन्तामणि रत्न हैं; ये सब क्षेत्र के स्वभाव से निरन्तर रहते हैं ।

ध्वजचामर छत्राङ्कैर्विमानैर्वनिता सखाः ।
संचरन्ति सुरासारैः सेव्यमानाः सुरेश्वराः ॥३२९॥

उन स्वर्गों के अधिपति इन्द्र ध्वजा, चमर, छत्रों से चिह्नित हुए विमानों के द्वारा अनेक देवांगनाओं सहित यत्र-तत्र विचरते हैं; उनकी अनेक देव सेवा करते हैं ।

यक्ष किन्नर नारीभिर्मन्दार वन वीथिषु ।
कान्ताश्लिष्टाभिरानन्दं गीयन्ते त्रिदशेश्वराः ।।३३०।।

तथा वहां के इन्द्र, मंदार वृक्षों की गलियों में यक्ष और किन्नर जातीय देवों की देवांगनायें, जो अपने पति सहित आलिंगित आनंद से भरी गाती हैं, के गीत सुनते हैं ।

क्रीडागिरि निकुञ्जेषु पुष्प शय्या गृहेषु वा ।
रमन्ते त्रिदशा यत्र वरस्त्रीवृन्द वेष्टिताः ।।३३१।।

तथा उन स्वर्गों के देव क्रीडा पर्वतों की कुंजों में, पुष्पलतादि कृत कंदराओं में पुष्पों की शय्या में सुन्दर देवांगाओं के समूह के साथ वेष्टित होकर नाना प्रकार की आनंद-क्रीडा करते हैं ।

मन्दार चम्पकाशोक मालती रेणुरञ्जिताः ।
भ्रमन्ति यत्र गन्धाढ्या गन्धवाहाः शनैः शनैः ।।३३२।।

उन स्वर्गों में मंदार, चम्पक, अशोक, मालती के पुष्पों की रज से रंजित भ्रमरों सहित मन्दमन्द सुगन्ध पवन बहता है ।

लीलावन विहारैश्च पुष्पावचय कौतुकैः ।
जल क्रीडादि विज्ञानै विलासास्तत्र योषिताम् ।।३३३।।

तथा उन स्वर्गों में देवांगनाओं के विलास, क्रीडावन के विहारों से तथा पुष्पों के चुनने के कौतुक से तथा जल क्रीडा के विज्ञानों (चतुराइयों) से बड़ी शोभा है ।

वीणामादाय रत्यन्ते कलं गायन्ति योषितः ।
ध्वनन्ति मुरजा धीरं दिवि देवाङ्गनाहताः ।।३३४।।

तथा उन स्वर्गों में देवांगनायें संभोग के अन्त में वीणा लेकर सुन्दर गान करती है तथा उनके बजाए हुए मृदंग धीरे धीरे बजते हैं ।

कोकिलाः कल्पवृक्षेषु चैत्यागारेषु योषितः ।
विबोधयन्ति देवेशांल्ललितैं गीत निःस्वनैः ।।३३५।।

तथा उन स्वर्गों में कल्प वृक्षों पर तो कोकिलायें और चैत्य मन्दिरों में देवांगनायें सुन्दर गीत और शब्दों से इन्द्रों को आनन्द प्रदान करती हैं ।

नित्योत्सवयुतं रम्यं सर्वाभ्युदय मन्दिरम् ।
सुख संपद् गुणाधारं कः स्वर्गमुपमीयते ।।३३६।।

प्रत्येक स्वर्ग नित्य ही उत्सवों सहित हैं, रमणीक है, समस्त अभ्युदयों के भोगों का निवास है तथा सुख, संपद् और गुणों का आधार है, सो उसको किसकी उपमा दी जाय ?

पञ्चवर्ण महारत्न निर्माणाः सप्त भूमिकाः ।
प्रासादाः पुष्करिण्यश्च चन्द्रशाला वनान्तरे ।।३३७।।

तथा उन स्वर्गों के बागों में पांच वर्णों के रत्नों से बने हुए सात-सात खण्ड के महल हैं और वापिका तथा चन्द्रशाला (शिरोगृह-अंटे) हैं ।

प्राकार परिखावप्रगोपुरोत्तुङ्ग तोरणैः ।
चैत्यद्रुम सुरागारैर्नगर्यो रत्नराजिताः ।।३३८।।

तथा उन स्वर्गों में जो नगरी हैं, वे कोट, खाई, बड़े दरवाजों और ऊँचे तोरणों से तथा चैत्य वृक्ष और देवों के मन्दिर आदिक से रत्नमयी शोभती हैं ।

इन्द्रायुध श्रियं धत्ते यत्र नित्यं नभस्तलम् ।
हर्म्याग्रलग्नमाणिक्य मयूखैः कर्बुरीकृतम् ।।३३९।।

तथा स्वर्गों में आकाश महलों में लगे हुए रत्नों की किरणों से विचित्र वर्ण का होकर इन्द्रधनुष की सी शोभा को नित्य धारण किये हुए रहता है ।

सप्तभिस्त्रिदशानीकैर्विमानैः रङ्ग नान्वितैः ।
कल्पद्रुम गिरीन्द्रेषु रमन्ते विबुधेश्वराः ।।३४०।।

स्वर्गों के इन्द्र सात प्रकार की देव सेनाओं से तथा देवांगना सहित विमानों के द्वारा कल्पवृक्षों तथा क्रीड़ावनों में रमते (आनन्द करते) हैं ।

हस्त्यश्वरथ पादात वृष गन्धर्वनर्त्तकि ।
सप्तानीकानि सन्त्यस्य प्रत्येकं च महत्तरम् ।।३४१।।

हस्ती, घोड़े, रथ, प्यादे, बैल, गन्धर्व, नर्तकी इस प्रकार सात प्रकार की सेना इन्द्र की होती है, सो प्रत्येक एक से बढ़कर एक है ।

शङ्गारसार सम्पूर्णा लावण्यवन दीर्घिकाः ।
पीनस्तनभरा क्रान्ताः पूर्णचन्द्र निभाननाः ।।३४२।।
विनीताः कामरूपिण्यो महर्द्धि महिमान्विता ।

हाव भाव विलासाढया नितम्ब भरमन्थरा ।।३४३।।
मन्ये शृंगार सर्वस्य मेकीकृत्य विनिर्मिताः ।
स्वर्गवास विलासिन्यः संति मूर्त्ता इव श्रियः ।।३४४।।

उन स्वर्गों में विलासीन देवांगनायें शृंगार का सार है जिनके ऐसी लावण्य रूपी जल की वापिका ही हैं तथा पीन कुचों के भार सहित हैं, जिनके मुख पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान हैं, विनीत हैं, चतुर हैं, महा ऋद्धि की शोभा सहित हैं, मुख के हाव भाव चित्तविकार, विलास, भ्रूविकार आदि से भरी हुई हैं, नितम्बो के भार से धीर गति वाली हैं; आचार्य महाराज उत्प्रेक्षा करते हैं कि वे देवांगनायें मानो शृंगार का सर्वस्व एकत्र करके ही बनाई गई हैं, जिससे मूर्तिमान लक्ष्मी समान ही शोभती हैं।

गीतवादित्र विद्यासु शृंगार रस भूमिषु ।
परिरम्भादि सर्वेषु स्त्रीणां दाक्ष्यं स्वभावतः ।।३४५।।

स्वर्गों में शृंगार रस की भूमि ऐसी गीत व बाजे की विद्याओं तथा आलिंगनादि समस्त क्रियाओं में स्त्रियों की स्वभाव से ही प्रवीणता होती है।

सर्वावयव सम्पूर्णा दिव्य लक्षण लक्षिताः ।
अनङ्ग प्रतिमा धीराः प्रसन्नाः पांशु विग्रहाः ।।३४६।।
हारकुण्डल केयूर किरीटाङ्गद भूषिताः ।
मंदार मालती गन्धा अणिमादि गुणान्विताः ।।३४७।।
प्रसन्नामल पूर्णेन्दु कान्ताः कान्ताजन प्रियाः ।
शक्तित्रय गुणोपेताः सत्व शीलावलम्बिनः ।।३४८।।
विज्ञान विनियोद्दाम प्रीति प्रसर संभृताः ।
निसर्ग सुभगाः सर्वे भवन्ति त्रिदिवौकसः ।।३४९।।

उन स्वर्गों में देव जो कि शरीर के समस्त अवयव जिनके सम्पूर्ण सुडौल हैं, दिव्य मनोहर लक्षणों सहित हैं, कामदेव के समान सुन्दर हैं, धीर (क्षोभ रहित) हैं, प्रसन्न वा विस्तीर्ण है शरीर जिनका ऐसे हैं तथा हार कुण्डल केयूर (भुजबन्ध) किरीट (मुकुट) अंगद (कटक आदि) इन आभूषणों से भूषित हैं, मन्दार मालती के पुष्पों के समान जिनके अंग में सुगन्धि है; अणिमा महिमादि अष्ट ऋद्धि सहित हैं प्रसन्न निर्मल पूर्ण चन्द्रमा समान मनोहर हैं और कान्ताजन कहिये

स्त्रियों को अतिशय प्रिय लगने वाले हैं, तीन शक्ति कहिये प्रभुत्व, मन्त्र, उत्साह इन गुणों सहित हैं, तथा सत्व, पराक्रम और शील कहिये सुस्वभाव के अवलम्बन करने वाले हैं तथा विज्ञान, प्रवीणता और विनय वा उत्तम प्रीति के प्रसर कहिये वेग से भरे हैं। स्वर्ग में समस्त देव इसी प्रकार स्वभाव से सुन्दर होते हैं।

न तत्र दुःखितो दीनो वृद्धो रोगी गुणच्युतः ।
विकलाङ्गो गतश्रीकः स्वर्गलोके विलोक्यते ॥३५०॥

तथा उस स्वर्ग में कोई ऐसा नहीं देखा जाता जो दुःखी, दीन, वृद्ध या गुण रहित, विकल-अंग अथवा कान्ति हीन हो।

सभ्य सामानिका लोक पाल प्रकीर्णकाः ।
मित्राद्यभिमतस्तेषां पार्श्व वर्त्ती परिग्रहः ॥३५१॥

स्वर्गों में सभा के देव, सामानिक देव, सभात्रायस्त्रिंशक देव, लोक पाल देव, प्रकीर्णक देव ये भेद हैं। तथा मित्र आदिक सब ही इन इन्द्रों के पार्श्ववर्त्ती परिवार उनके अभिमत (इष्ट प्रीति करने वाले) हैं।

बन्दि गायन सैरन्ध्री स्वाङ्ग रक्षाः पदातयः ।
नटवेत्रि विलासिन्यः सुराणां सेवको जनः ॥३५२॥

तथा स्वर्गों में उन देवों की सेवा करने वाले देव हैं, बन्दीजन हैं, गाने वाले हैं, अङ्ग रक्षक हैं, दंड धरने वाले हैं तथा नाचने वाली विलासिनी अप्सरायें हैं।

तत्रातिभव्यताधारे विमाने कुन्द कोमले ।
उपपादि शिला गर्भे संभवन्ति स्वयं सुराः ॥३५३॥

स्वर्गों में अति मनोज्ञता का आधार ऐसे विमान में कुन्द के पुष्प समान कोमल ऐसी उपपादि शिला के मध्य से देव स्वयमेव उत्पन्न होते हैं। भावार्थ :—देवों के उत्पन्न होने की उपपादि शय्या है, उस पर जन्म लेते हैं; जिस प्रकार कोई सोया हुआ आदमी उठता है, इसी प्रकार जिसका स्वर्ग में जन्म होता है, वह जीव पूर्णांग उस उपपाद शय्या पर उठता है।

सर्वाक्षि सुखदे रम्ये नित्योत्सव विराजिते ।
गीत वादित्र लीलाढ्ये जय जीवस्वना कुले ॥३५४॥
दिव्याकृति सुसंस्थानाः सप्तधातु विवर्जिताः ।
काय कान्ति पयः पूरैः प्रसादित दिगन्तराः ॥३५५॥

शिरीषसुकुमाराङ्गाः पुण्य लक्षण लक्षिताः ।
अणिमादि गुणोपेता ज्ञान विज्ञान पारगाः ॥३५६॥
मृगाङ्क मूर्त्ति संकाशाः शान्त दोषाः शुभाशयाः ।
अचिन्त्य महिमोपेता भयक्लेशार्त्ति वर्जिताः ॥३५७॥
वर्द्धमान महोत्साहा वज्रकाया महाबलाः ।
अचिन्त्य पुण्य योगेन गृह्णन्ति वपुरूर्जितम् ॥३५८॥

उस उपपाद शय्या का स्थान कैसा है कि समस्त इन्द्रियों को सुख देने वाला है, रमणीक है, नित्य ही उत्सव सहित विराजता है, गीत वादित्रादि लीलाओं सहित है, तथा "जयवन्त होओ, चिरंजीवी होओ" ऐसे शब्दों से व्याप्त है ऐसे स्थान पर जो देव उत्पन्न होते है, वे कैसे हैं कि दिव्य सुन्दराकार हैं संस्थान जिनका सप्त धातु रहित शरीर है, जो शरीर की प्रथा रूपी जल के प्रभावों से समस्त दिशाओं को प्रसन्न करने वाले हैं जिनका शरीर शिरीष पुष्प के समान कोमल है, पवित्र लक्षणों सहित हैं, अणिमा महिमादि गुणों से युक्त है, अवधिज्ञानादि विज्ञान चतुरताओं के पारगामी हैं तथा चन्द्रमा की मूर्ति समान हैं; जिनसे सब दोष शान्त हो गये हैं, जिनका चित्त शुभ है, अचिन्त्य महिमा सहित हैं, भय क्लेश पीड़ा से रहित हैं जिनका उत्साह बढ़ता ही रहता है, वज्र के समान दृढ़ शरीर है, पराक्रमी हैं, इस प्रकार के देव अचिन्त्य पुण्य से उस उपपाद स्थान में शरीर को धारण करते हैं ।

सुखामृतमहाम्भोधेर्मध्यादिव विनिर्गताः ।
भवन्ति त्रिदशाः सद्यः क्षणेन नवयौवनाः ॥३५९॥

उस उपपाद शय्या में वे देव उत्पन्न होते हैं, सो जिस प्रकार समुद्र में से कोई मनुष्य निकले उसी प्रकार वे देव सुख रूपी महा समुद्रों में से तत्काल नव यौवन रूप होकर उत्पन्न होते हैं ।

किं च पुष्पफलाक्रान्तैः प्रवालदल दन्तुरैः ।
तेषां कोकिला वाचालैर्द्रुमै र्जन्म निगद्यते ॥३६०॥

फूल फलों से भरपूर, कोमल पत्तों से अंकुरित और कोकिलाओं से शब्दायमान वृक्षों करके उनके जन्म की सूचना की जाती है ।

गीत वादित्र निर्घोषैर्जय मंगल पाठकैः ।
विबोध्यन्ते शुभैः शब्दैः सुखनिद्रात्ययेयथा ।।३६१।।

तथा वे देव उस उपपाद शय्या में ऐसे उत्पन्न होते हैं कि जैसे कोई राजकुमार सोता हो और वह गीत वादित्रों के शब्दों से, 'जय जय' इत्यादि मंगल के पाठों से तथा उत्तमोत्तम शब्दों से सुखनिद्रा का अभाव होने पर जगाया जाता है; उसी प्रकार देव भी उस उपपाद शिला (शय्या) से उठकर सावधान होते हैं।

किञ्चिद्भ्रममपाकृत्य वीक्षते स शनैः शनैः ।
यावदाशा मुहुः स्निग्धैस्तदा कर्णान्तिलोचनैः ।।३६२।।

तथा उस उपपाद शय्या में सावधान होकर कुछ भ्रम को दूर करके उस समय कर्णान्त पर्यन्त नेत्रों को उघाड़ कर दृष्टि फेर फेर चारों ओर देखता है।

इन्द्रजालमथ स्वप्नः किं नु मायाभ्रमोनु किम् ।
दृश्यमान मिदं चित्रं मम नायाति निश्चयम् ।।३६३।।

फिर सावधान होकर वह देव ऐसा विचारता है कि अहो ! यह क्या इन्द्रजाल है ? अथवा मुझे क्या स्वप्न आ रहा है ? अथवा यह मायामय कोई भ्रम है, यह तो बड़ा आश्चर्य देखने में आता है, निश्चय नहीं कि यह क्या है ? इस प्रकार सन्देह रूप होता है।

इदं रम्यमिदं सेव्य मिदं श्लाघ्यमिदं हितम् ।
इदं प्रियमिदं भव्यमिदं चित्त प्रसत्तिदम् ।।३६४।।
एतत्कन्द लितानन्द मेतत्कल्याण मन्दिरम् ।
एतन्नित्योत्सवाकीर्णं मेतदत्यन्त सुन्दरम् ।।३६५।।
सर्वर्द्धिमहिमोपेतं महर्द्धिक सुरार्चितम् ।
सप्तानीक कान्वितं भाति त्रिदशेन्द्र सभाजिरम् ।।३६६।।

तत्पश्चात् वह देव विचार करता है कि यह वस्तु रमणीय है, यह सेवनीय है, यह सराहने योग्य है, यह हितरूप है, यह प्रिय है, यह सुन्दर है, यह चित्त को प्रसन्नता देने वाली है तथा यह आनन्द को उत्पन्न करने वाला कल्याण का मंदिर निरन्तर उत्सव रूप तथा अत्यन्त सुन्दर है इत्यादि विचार करता है तथा यह स्थान समस्त ऋद्धि और महिमा सहित महाऋद्धि के धारक देवों से पूजनीय सात प्रकार की सेना सहित देवेन्द्र के स्थान के समान दीखता है।

मामेवोद्दिश्य सानन्दः प्रवृतः किमयं जनः ।
पुण्यमूर्त्तिः प्रियः श्लाध्यो विनीतोऽत्यन्त वत्सलः ।।३६७।।
त्रैलोक्यनाथ संसेव्यः कोऽयं देशः सुखाकरः ।
अनन्त महिमा धारो विश्व लोकाभिनन्दितः ।।३६८।।
इदं पुरमति स्फीतं वनोप वनराजितम् ।
अभिभूय जगद्भूत्या वलातोव ध्वजांशुकैः ।।३६९।।

फिर वह देव विचारता है कि ये सामने जो लोग खड़े हैं, वे मुझे ही देखकर आनन्द सहित प्रवृत्त हैं, ये पवित्र हैं, उज्जवल है, मूर्ति जिनकी ऐसे हैं तथा ये सब बहुत प्रिय हैं, प्रशंसनीय हैं, विनीत हैं, चतुर हैं, अत्यन्त प्रीति युक्त हैं तथा फिर विचारता है कि यह सुख की खानि तीन लोक के स्वामी द्वारा सेवने योग्य कौनसा देश है ? यह देश अनन्त महिमा का आधार है, सबको वांछनीय है तथा यह नगर भी अति विस्तीर्ण है, वह उपवनों से शोभित है, संपदा के द्वारा समस्त जगत को जीतकर ध्वजाओं के वस्त्रों के हिलने से मानो दौड़ता है, नृत्य ही करता है, इत्यादि विचारता है ।

आकलय्य तदाकूतं सचिवा दिव्य चक्षुषः ।
नति पूर्वं प्रवर्त्तन्ते वक्तुं कालोचितं तदा ।।३७०।।
प्रसादः क्रियतां देव सतानां स्वेच्छया दृशा ।
श्रूयतां च वचोऽस्माकं पौर्वापर्य प्रकाशकम् ।।३७१।।

तत्पश्चात् उसी समय वहां के मंत्री देव दिव्यनेत्रों से उस उत्पन्न हुए देवेन्द्र के अभिप्राय को समझकर नमस्कार करके कहते हैं कि हे देव । हम सेवकों पर प्रसन्न होइये, निर्मल दृष्टि से देखिये और हमारे पूर्वा पर परिपाटी के प्रकाश करने वाले वचनों को सुनिये ।

अद्य नाथ वयं धन्याः सफलं चाद्य जीवितम् ।
अस्माकं यत्त्वया स्वर्गः संभवेन पवित्रितः ।।३७२।।
प्रसीद जय जीव त्वं देव पुण्यस्तवोद्भवः ।
भव प्रभुः समग्रस्य स्वर्गलोकस्य सम्प्रति ।।३७३।।
सौधर्मोऽयं महाकल्पः सर्वामर शतार्चितः ।
नित्याभिनवकल्याणवार्द्धि वर्द्धन चन्द्रमाः ।।३७४।।
कल्पः सौधर्म नामायमीशान प्रमुखाः सुराः ।
इहोत्पन्नस्य शक्रस्य कुर्वन्ति परमोत्सवम् ।।३७५।।

अत्र संकल्पिताः कामा नवं नित्यं च यौवनम् ।
अत्राविनाश्वरा लक्ष्मीः सुखं चात्र निरन्तरम् ॥३७६॥
स्वविमानमिदं रम्यं कामगं कान्तदर्शनम् ।
पादाम्बुजनता चेयं तव त्रिदशमण्डली ॥३७७॥
एते दिव्याङ्गनाकीर्णाश्चन्द्रकान्ता मनोहराः ।
प्रासादा रत्नवाप्यश्च क्रीडानद्यश्च भूधराः ॥३७८॥
सभा भवनमेतत्ते नतामर शताचितम् ।
रत्नदीप कृतालोकं पुष्पप्रकर शोभितम् ॥३७९॥
विनीत वेष धारिण्यः कामरूपा वरस्त्रियः ।
तवादेशं प्रतीक्षन्ते लास्यलीलारसोत्सुकाः ॥३८०॥
आतपत्र मिदं पूज्यमिदं च हरिविष्टरम् ।
एतश्च चामरव्रातमेते विजय केतवः ॥३८१॥
एता अग्रं महादेव्यो वर स्त्रीवृन्द वन्दिताः ।
तृणीकृत सुराधीश लावण्यैश्वर्य सम्पदः ॥३८२॥
शृंगार जल धेर्वेला-विलासोल्लासित भ्रुवः ।
लीलालंकार सम्पूर्णस्तव नाथ समर्पिता ॥३८३॥
सर्वावयव निर्माण श्रीरासां नोपमास्पदम् ।
यासां श्लाघ्यामलस्निग्ध पुण्याणु प्रभवं वपुः ॥३८४॥
अयमैरावणो नाम देवन्ती महामनाः ।
धत्ते गुणाष्टकैश्वर्याच्छ्रयं विश्वातिशायिनीम् ॥३८५॥
इदं मत्तगजानी कमितोश्वोयं मनोजवम् ।
एते स्वर्णरथास्तुङ्गा अलगन्त्येते पदातयः ॥३८६॥
एतानि सप्त सैन्यानि पालितान्यमरेश्वरैः ।
नमन्ति ते पदद्वन्द्वं नति विज्ञप्ति पूर्वकम् ॥३८७॥
समग्रं स्वर्ग साम्राज्यं दिव्य भूत्योपलक्षितम् ।
पुण्यैस्ते सम्मुखीभूतं गृहाण प्रणतामरम् ॥३८८॥
इति वादिनि सुस्निग्धे सचिवेऽत्यन्तन्त वत्सले ।
अवधि ज्ञान मासाद्य पौर्वापर्यं स बुद्धयति ॥३८९॥

यदि कोई मनुष्य सौधर्म स्वर्ग में इन्द्र उत्पन्न होता है, तो उसका मन्त्री सबकी तरफ से इस प्रकार कहता है कि हे नाथ ! आपने यहां उत्पन्न होकर इस स्वर्ग को पवित्र किया सो आज हम धन्य हुए, हमारा जीवन भी आज सफल हुआ हे नाथ ! आप प्रसन्न होइये, चिरंजीव रहिये, हे देव ! आपका उत्पन्न होना पुण्यरूप है, पवित्र है, आप इस स्वर्ग लोक के स्वामी होइये यह सौधर्म नामा स्वर्ग है, सैंकड़ों देवों से पूजित है; यह स्वर्ग सर्व देवों के कल्याणरूप समुद्र को बढाने के लिये चन्द्रमा के समान है। यह सौधर्म नामा स्वर्ग ऐसा है कि इसमें जो इन्द्र उत्पन्न होता है, उसका ईशान इन्द्र आदि समस्त देव परमोत्सव करते हैं। इस स्वर्ग में वांछित पदार्थ भोगने योग्य हैं, यहां नित्य नया यौवन है, अविनश्वर लक्ष्मी है, निरन्तर सुख ही सुख है। तथा यह स्वर्गीय विमान जहाँ जाना चाहे वहीं जा सकता है, इसका दर्शन अति मनोहर है, यह देवों की मंडली (सभा) आपके चरण कमलों में नम्रीभूत है। ये मनोहर अप्सराओं से भरे हुए चन्द्रकान्त के समान मनोहर आपके महल हैं, ये रत्नमयी वापिकायें हैं, ये क्रीडानदियाँ तथा पर्वत हैं। यह सभा भवन है सो नम्रीभूत देवों के द्वारा सेवा करने योग्य है, पूजित है, यह रत्नमयी दीपकों से प्रकाशमान पुष्पसमूहों से शोभित। और विनीत चतुरवेश को धरने वाली कामरूपिणी सुन्दर स्त्रियां नृत्य संगीतादि रस में उत्सुक होकर आपके सामने नृत्य करने के लिये आपकी आज्ञा की प्रतीक्षा कर रही हैं। तथा यह आपका छत्र है, यह आपका पूजनीय सिंहासन है, यह चमरों का समूह है, ये विजय की ध्वजायें हैं। और ये सब आपकी अग्रमहिषी अर्थात् पट्टदेवियां हैं, ये श्रेष्ठ देवांगनाओं द्वारा वंदने योग्य हैं तथा इन्द्र के ऐश्वर्य को तृण की समान समझने वाली है। तथा शृंगाररूपी समुद्र की लहरों के समान चंचल हैं, विलास के कारण जिनकी भौंहे प्रफुल्लित हैं और लीलारूपी अलंकार से पूरित हैं; सो हे नाथ ! ये आपके चरणों में समर्पित हैं। इन पट्टदेवियों के शरीर की शोभा अनुपम है; क्योंकि इनका शरीर योग्य निर्मल स्निग्ध पवित्र परमाणुओं के द्वारा बना हुआ है। हे नाथ ! वह आपका महामन वाला ऐरावत नामा हस्ती है; यह अणिमा महिमादि आठ गुणों के ऐश्वर्य से समस्त प्रकार की विक्रियारूप लक्ष्मी को धरने वाला है। और यह आपकी मदोन्मत्त हस्तियों की सेना है, यह घोड़ों की सेना है, इसका वेग मन के समान है; यह सुवर्णमयी ऊँचे-ऊँचे रथों की

सेना है और ये प्यादे हैं। तथा यह आपकी सात प्रकार की सेना है, पूर्व के इन्द्रों द्वारा पालित है; यह आपके चरण कमलों को प्रार्थना पूर्वक नमस्कार करती है। यह समस्त स्वर्गीय राज्य दिव्य सम्पदाओं से शोभित है, सो आपके पुण्य के प्रताप से आपके सन्मुख हुआ है, नम्रीभूत हैं देव जिसमें ऐसा है, सो आप ग्रहण कीजिये। इस प्रकार अति स्नेहयुक्त अत्यन्त प्रीति पूर्वक कहता है, उसी समय इन्द्र अवधिज्ञान को प्राप्त होकर पूर्व जन्म सम्बन्धी समस्त वृतान्त को जान जाता है।

अहो तपः पुरा चीर्णं मयान्यजनदुश्चरम्।
वितीर्णं चाभयं दानं प्राणिनां जीवितार्थिनाम् ॥३९०॥
आराधितं मनः शुद्धया दृग्बोधादि चतुष्टयम्।
देवश्च जगतां नाथः सर्वज्ञः परमेश्वरः ॥३९१॥
निर्दग्धं विषयारण्यं स्वरवैरी निपातितः।
कषायतरवश्छिन्ना राग शत्रुर्नियन्त्रितः ॥३९२॥
सर्वस्तस्य प्रभावोऽयमहं येनाद्य दुर्गतेः।
उद्धृत्य स्थापितं स्वर्गराज्ये त्रिदशवन्दिते ॥३९३॥

तत्पश्चात् वह इन्द्र अवधिज्ञान से सब जानकर मन ही मन में कहता है कि अहो! देखो, मैंने पूर्व भव में अन्य से आचरण करने में नहीं आवे ऐसे तप को धारण किया तथा अनेक जीवों को मैंने अभयदान दिया। तथा दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, इन चारों आराधनाओं से त्रैलोक्य के नाथ सर्वज्ञ परमेश्वर देवाधि देव का आराधन किया था। तथा मैंने पूर्व भव में इन्द्रियों के विषय रूप वन को दग्ध किया था, काम रूप शत्रु का नाश किया था, कषाय रूप वृक्षों को काट दिया था और रागरूपी शत्रु को पीड़ित किया था। उसी का यह प्रभाव है, उक्त आचरणों ने ही इस समय मुझे दुर्गति से बचाकर इस देवों के वंदनीय स्वर्ग के राज्य में स्थापित किया है।

रागादिदहन ज्वाला न प्रशाम्यन्ति देहिनाम्।
सद्वृत्तवार्यं संसिक्ताः क्वचिज्जन्म शतैरपि ॥३९४॥
तन्नात्र सुलभं मन्ये तत्किं कुर्मोऽधुना वयम्।
सुराणां स्वर्गलोकेऽस्मिन्दर्शनस्यैव योग्यता ॥३९५॥

अवश्यतत्सार्थं कृत्वा ते स्वीयदेव स्वार्थं सिद्धये ।
अर्हद्देव पद द्वन्द्वे भक्तिश्चात्यन्त निश्चला ।।३९६।।
यान्यत्र प्रतिबिम्बानि स्वर्ग लोके जिनेशिनाम् ।
विमान चैत्य वृक्षेषु मेर्वाद्रिपवनेषु च ।।३९७।।
तेषां पूर्वमहं कृत्वा स्वद्रव्यैः स्वर्ग संभवैः ।
पुष्प चन्दन नैवेद्यैर्गन्ध दीपाक्षतोत्करैः ।।३९८।।
गीत वादित्र निर्घोषैः स्तुति स्तोमैर्मनोहरैः ।
स्वर्गैश्वर्यं ग्रहीष्यामि ततस्त्रिदशवन्दितः ।।३९९।।
इति सर्वज्ञ देवस्य कृत्वा पूजामहोत्सवम् ।
स्वीकरोति ततो राज्यं पट्टबन्धादि लक्षणम् ।।४००।।

तत्पश्चात् वह इन्द्र विचारता है कि जीवों के रागादिक रूप अग्नि की ज्वाला सम्यक् चारित्र रूपी जल को सींचे बिना सैकड़ों जन्म लेने पर भी नहीं बुझती। ऐसा सम्यक् चारित्र इस स्वर्ग में सुलभ नहीं है, इसलिए क्या करूँ ? इस स्वर्ग लोक में तो सम्यग्दर्शन की ही योग्यता है, चारित्र की योग्यता नहीं है। इस कारण मेरे स्वार्थ के लिए तत्त्वार्थ श्रद्धान ही कल्याणकारी व श्रेष्ठ है, तथा अरहन्त भगवान के चरण युगल में अत्यन्त निश्चल भक्ति करना ही कल्याणकारी है। इसलिए यहां स्वर्ग में विमानों, चैत्यवृक्षों तथा मेरु आदि के उपवनों में जो जिनेन्द्र भगवान के प्रतिबिम्ब हैं। उनका प्रथम ही इस स्वर्ग के उत्पन्न हुए अपने द्रव्य पुष्प, चंदन, नैवेद्य, गन्ध, दीपक व अक्षतों के समूह से पूजन करके तथा गीत नृत्य वादित्रों के शब्दों सहित मनोहर स्तुतियाँ करके तत्पश्चात् इस देवों से वंदनीय स्वर्ग के ऐश्वर्य को ग्रहण करना चाहिये। इस प्रकार विचार कर वह इन्द्र सर्वज्ञ देव की पूजा करके महान् उत्सव पूर्वक पट्टबंधादिक है लक्षण जिसका ऐसे स्वर्ग के राज्य को ग्रहण करता है।

तस्मिन्मनोजवैर्यानैर्विचरन्तो यदृच्छया ।
वनाद्रि सागरान्तेषु दीव्यन्ते ते दिवौकसः ।।४०२।।

तत्पश्चात् वे स्वर्ग के देव मन के समान वेग वाले विमानों के द्वारा स्वच्छन्द विचरते हुए वन, पर्वत व समुद्रों के तीर पर क्रीडा करते रहते हैं।

संकल्पानन्तरोत्पन्नै दिव्य भोगैः समन्वितम् ।
सेवमानाः सुरानीकैः श्रयन्ति स्वर्गिणः सुखम् ॥४०३॥

तथा संकल्प करते ही उत्पन्न होने वाले नाना प्रकार के दिव्य मनोहर भोगों को भोगते हुए देवों की सेना सहित वे स्वर्ग के सुख भोगते रहते हैं ।

महाप्रभाव सम्पन्ने महाभूत्योपलक्षिते ।
कालं गतं न जानन्ति निमग्नाः सौख्यसागरे ॥४०४॥

इस प्रकार महाप्रभाव सहित महाविभूति युक्त स्वर्गों के सुख रूपी समुद्र में निमग्न रहते हुये समय को नहीं जानते कि कितना बीत गया ।

कचिद्गीतैः क्वचिन्नृत्यैः क्वचिद्वाद्यैर्मनोरमैः ।
क्वचिद्विलासिनी व्रात क्रीडा शृङ्गार दर्शनैः ॥४०५॥
दशाङ्ग भोगजैः सौख्यैर्लभ्यमानाः क्वचित् क्वचित् ।
वसन्ति स्वर्गिणः स्वर्गे कल्पनातीत वैभवे ॥४०६॥

इस प्रकार कहीं तो मन को लुभाने वाले गीत तथा नृत्य वादित्रों सहित तथा कहीं विलासिनी अप्सराओं के समूह से किये हुए क्रीडा शृंगार सहित तथा कहीं पर दश प्रकार के भोगों (कल्प वृक्षों) से उत्पन्न हुए सुखों सहित कल्पनातीत विभव वाले स्वर्गों में वे देव रहते हैं ।

दशांग भोगों का स्वरूप—

मद्यतूर्य गृह ज्योति भूषा भाजन विग्रहाः ।
स्रग्दीप वस्त्र पात्राङ्गा दशधा कल्प पादपाः ॥४०७॥

मद्य, वादित्र, गृह, ज्योति, भूषण, भोजन, माला, दीपक, वस्त्र, पात्र इन दस प्रकार के भोगों के देने वाले दश प्रकार के कल्प वृक्ष स्वर्गों में होते हैं; इस कारण स्वर्ग के देव दशांग भोग भोगते हैं ।

यत्सुखं नाकिनां स्वर्गे तद्वक्तुं केन पार्यते ।
स्वभाव जमनातङ्कं सर्वाक्ष प्रीणं नक्षमम् ॥४०८॥

स्वर्गों में स्वर्ग वासियों को जो सुख है, उसका वर्णन करने में कोई समर्थ नहीं है; क्योंकि वह सुख बिना प्रयास के स्वयमेव उत्पन्न होता है, उस स्वर्ग में आतंक (रोगादिक) नहीं है और समस्त इन्द्रियों को तृप्त करने में समर्थ है ।

अशेष विषयोद्भूतं दिव्यस्त्री संगसंभवम् ।
विनीत जन विज्ञान ज्ञानाद्यैश्वर्यलाञ्छितम् ॥४०९॥

स्वर्गों का सुख समस्त प्रकार के विषयों से उत्पन्न हुआ है तथा दिव्य स्त्रियों के संगम से उत्पन्न हुआ है तथा विज्ञान चतुराई ज्ञानादिक ऐश्वर्य सहित उत्पन्न हुआ है, उसका वर्णन कौन कर सकता है ?

सौधर्माद्यच्युतान्ता ये कल्पाः षोडशवर्णिताः ।
कल्पातीतास्ततो ज्ञेया देवा वैमानिकाः परे ॥४१०॥
अहमिन्द्राभिधानास्ते प्रवीचारविवर्जिताः ।
विवर्द्धित शुभध्याना. शुक्ललेश्यावलम्बिनः ॥४११॥

सौधर्म स्वर्ग से लगाकर अच्युत स्वर्ग पर्यन्त सोलह स्वर्ग कल्प कहे जाते हैं, उनसे ऊपर जो नव ग्रैवेयकों में वैमानिक देव हैं, वे कल्पातीत कहलाते हैं। वे देव अहमिन्द्र नाम से वर्णन किये जाते हैं अर्थात् उनका आचार्यों ने अहमिन्द्र नाम कहा है; वे अहमिन्द्र काम रहित हैं उनके स्त्री का मैथुन नहीं है, इसी कारण वहां देवांगनायें नहीं होती; उन देवों का शुभ ध्यान उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ है और वे शुक्ल लेश्या के धरने वाले हैं।

अनुत्तर विमानेषु श्री जयन्तादिपञ्चसु ।
संभूय स्वर्गिणश्च्युत्वा व्रजन्ति पदम व्ययम् ॥४१२॥

तत्पश्चात् उन नव ग्रैवेयक विमानों से ऊपर श्री जयन्तादिक पाँच अनुत्तर विमान हैं; उनमें जो देव उत्पन्न होते हैं, वे वहाँ से गिरकर मनुष्य हो अवश्य ही मोक्ष को पाते हैं।

कल्पेषु च विमानेषु यतः परतोऽधिकाः ।
शुभ लेश्यायुर्विज्ञान प्रभावैः स्वर्गिणः स्वयम् ॥४१३॥

तथा कल्पों में और कल्पातीत विमानों में शुभ लेश्या आयु विज्ञान प्रभावादिक करके देव स्वयं ही अगले विमानों में अधिक-अधिक बढ़ते हुए हैं।

ततोऽग्रे शाश्वतं धाम जन्मजातङ्क विच्युतम् ।
ज्ञानिनां यदधिष्ठानं क्षीण निःशेष कर्मणाम् ॥४१४॥

उन अनुत्तर विमानों से आगे अर्थात् ऊपर शाश्वत धाम (मोक्ष स्थान व सिद्ध शिला) है सो संसार से उत्पन्न हुए क्लेश दुःखादि से रहित है और समस्त कर्मों

के नाश करने वाले सिद्ध भगवानों का आश्रय स्थान है ।

चिदानन्दगुणोपेता निष्ठितार्था विबन्धनाः ।
यत्र सन्ति स्वयं बुद्धाः सिद्धाः सिद्धेः स्वयंवराः ॥४१५॥

उस मोक्ष स्थान में सिद्ध भगवान विद्यमान हैं, वे चैतन्य और आनन्द कहिये गुणों से संयुक्त हैं, कृत-कृत्य है, कर्म बन्ध से रहित है, स्वयं बुद्ध हैं, अर्थात् जिनके स्वाधीन अतीन्द्रिय ज्ञान है तथा सिद्ध (मुक्ति) को स्वयं वरने वाले हैं ।

समस्तोऽयमहो लोकः केवलज्ञान गोचरः ।
तं व्यस्तं वा समस्तं वा स्वशक्त्या चिन्तयेद्यतिः ॥४१६॥

अहो भव्य जीवों! यह समस्त लोक केवल ज्ञान गोचर है । तथापि इस संस्थान विचय नामा धर्म ध्यान में मुनि सामान्यता से सबको ही तथा व्यस्त कहिये कुछ भिन्न-भिन्न को अपनी शक्ति के अनुसार चिन्तवन करें ।

विलीना शेष कर्माणं स्फुरन्तमति निर्मलम् ।
स्वं ततः पुरुषाकारं स्वाङ्ग गर्भगतं स्मरेत ॥४१७॥

तथा इस लोक के संस्थान के चिन्तवन के पश्चात् अपने शरीर में प्राप्त पुरुषाकार अपने आत्मा को कर्म रहित स्फुरायमान अति निर्मल चिन्तवन (स्मरण) करें ।

इति निगदितमुच्चैर्लोक संस्थानमित्थं, नियत मनियतं वा ध्यायतः शुद्धबुद्धेः ।
भवति सतत योगाद्योगिनो निष्प्रमादं, नियतमति दूरं केवल ज्ञान राज्यम् ॥४१८॥

आचार्य महाराज कहते हैं कि इस पूर्वोक्त प्रकार से कहे हुए लोक के स्वरूप (संस्थान) को इस प्रकार नियत मर्यादा सहित वा अनियत मर्यादा रहित चिन्तवन करता हुआ जो निर्मल बुद्धि मुनि है उसको प्रमाद रहित ध्यान करने से नियम से शीघ्र ही केवल ज्ञान राज्य की प्राप्ति होती है । भावार्थ—अप्रमत्त नामा सातवें गुणस्थान में यह धर्मध्यान उत्कृष्ट होता है, उस गुणस्थान से फिर क्षपक श्रेणी का प्रारम्भ करने पर अन्तमुहूर्त में केवल ज्ञान की उत्पत्ति होती है ।

इस प्रकार संस्थान विचय नाम धर्मध्यान में लोक संस्थान का चिंतवन करना होता है, इस कारण लोक के संस्थानों का वर्णन किया; यदि किसी को लोक का विशेष वर्णन देखना हो तो त्रिलोकसारादि ग्रन्थों से देखें ।

संस्थान विचय धर्मध्यान के अन्तर्गत प्रथम पिण्डस्थ ध्यान का वर्णन—

पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम् ।
चतुर्धा ध्यानमाम्नातं भव्यराजीव भास्करैः ॥४१९॥

जो भव्य रूपी कमलों को प्रफुल्लित करने के लिए सूर्य के समान योगीश्वर हैं, उन्होंने ध्यान को पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ऐसे चार प्रकार का कहा है।

पिण्डस्थं पञ्च विज्ञेया धारणा वीरवर्णिताः ।
संयमी यास्व संमूढो ज्ञानी पाशान्निकृन्तति ॥४२०॥

पिण्डस्थ ध्यान में श्री वर्द्धमान स्वामी ने कही हुई जो पांच धारणाएँ हैं, उनमें संयमी मुनि ज्ञानी होकर संसार रूपी पाश को काटता है।

पार्थिवी स्यात्तथाग्नेयी श्वसना वाथ वारुणी ।
तत्त्व रूपवती चेति विज्ञेयास्ता यथाक्रमम् ॥४२१॥

वे धारणायें पार्थिवी, आग्नेयी तथा श्वसना, वारुणी और तत्व रूपवती ऐसे यथाक्रम से होती है।

पार्थिवीधारणा का स्वरूप

तिर्यग्लोक समं योगी स्मरति क्षीरसागरम् ।
निःशब्दं शान्त कल्लोलं हारनीहार संनिभम् ॥४२२॥

प्रथम ही योगी मध्यलोक में स्वयंभूरमण नामा समुद्रपर्यन्त जो तिर्यक् लोक है, उसके समान निःशब्द, कल्लोल रहित तथा हार और बरफ के सदृश सफेद क्षीर समुद्र का ध्यान (चिन्तवन) करे।

तस्य मध्ये सुनिर्माणं सहस्त्र दल मम्बुजम् ।
स्मरत्यमित मादीप्तं द्रुत हेम समप्रभम् ॥४२३॥

उस क्षीर समुद्र के मध्य भाग में सुन्दर है निर्माण (रचना) जिसकी और अमित फैलती हुई दीप्ति से शोभायमान, पिघलाये हुए सुवर्ण की सी प्रभा वाले एक सहस्रदल के कमल का चिन्तवन (ध्यान) करें। (चित्र नं. १)

अब्जराग समुद्भूत केसरालि विराजितम् ।
जम्बूद्वीप प्रमाणं च चित्तभ्रमर रञ्चकम् ॥४२४॥

फिर इस कमल को कैसा ध्यावे कि कमल के रोग से उत्पन्न हुई केसरों की

पंक्ति से विराजमान (शोभायमान) तथा चित्त रूपी भ्रमर को रंजायमान करने वाले जम्बूद्वीप के बराबर लाख योजन का चिन्तवन करे ।

स्वर्णाचलमयीं दिव्यां तत्र स्मरति कर्णिकाम् ।
स्फुरल्पिङ्ग प्रभा जाल पिशङ्गित दिगन्तराम् ॥४२५॥

तत्पश्चात् उस कमल के मध्य सुवर्णाचल (मेरु) के समान, स्फुरायमान है, पीतरंग की प्रभा का समूह जिसमें तथा उसके द्वारा पीतरंग को कर दी हैं दशों दिशायें जिसने, ऐसी एक कर्णिका का ध्यान करे ।

शरच्चन्द्र निभं तस्यामुन्नतं हरिविष्टरम् ।
तत्रात्मानं सुखा सीनं प्रशान्तमिति चिन्तयेत् ॥४२६॥

उस कमल की कर्णिका में शरद् ऋतु के चन्द्रमा के समान श्वेतवर्ण का एक ऊंचा सिंहासन चितवन करे; उस सिंहासन में अपने आत्मा को सुख रूप, शान्त स्वरूप, क्षोभ रहित चितवन करे । (चित्र नं० २ देखें)

आग्नेय धारणा का स्वरूप

रागद्वेषादि निःशेष कलङ्क क्षपणक्षमम् ।
उद्धृतं च भवोद् भूत कर्म सन्तान शातने ॥४२७॥

उस सिंहासन पर बैठे हुए अपने आत्मा को ऐसा विचारे कि यह रागद्वेषादिक समस्त कलंकों को क्षय करने में समर्थ है और संसार में उत्पन्न हुए जो जो कर्म हैं, उनके सन्तान को नाश करने में उद्यमी है ।

ततोऽसौ निश्चलाभ्यासात्कमलं नाभिमण्डले ।
स्मरत्यति मनोहारि षोडशोन्नत पत्रकम् ॥४२८॥

तत्पश्चात् योगी (ध्यानी) निश्चल अभ्यास से अपने नाभिमण्डल में १६ सोलह ऊंचे ऊंचे पत्रों के एक मनोहर कमल का ध्यान (चितवन) करे ।

प्रतिपत्र समासीन स्वर माला विराजितम् ।
कर्णिकायां महामन्त्रं विस्फुरन्तं विचिन्तयेत् ॥४२९॥

तत्पश्चात् उस कमल की कर्णिका में महामन्त्र का (जो आगे कहा जाता है उसका) चिन्तवन करे और उस कमल के सोलह पत्रों पर 'अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः' इन १६ अक्षरों का ध्यान करे । (चित्र नं० ३)

एकान्त सेवन विचार

(गो. प्र. वि. चित्र नं० १)

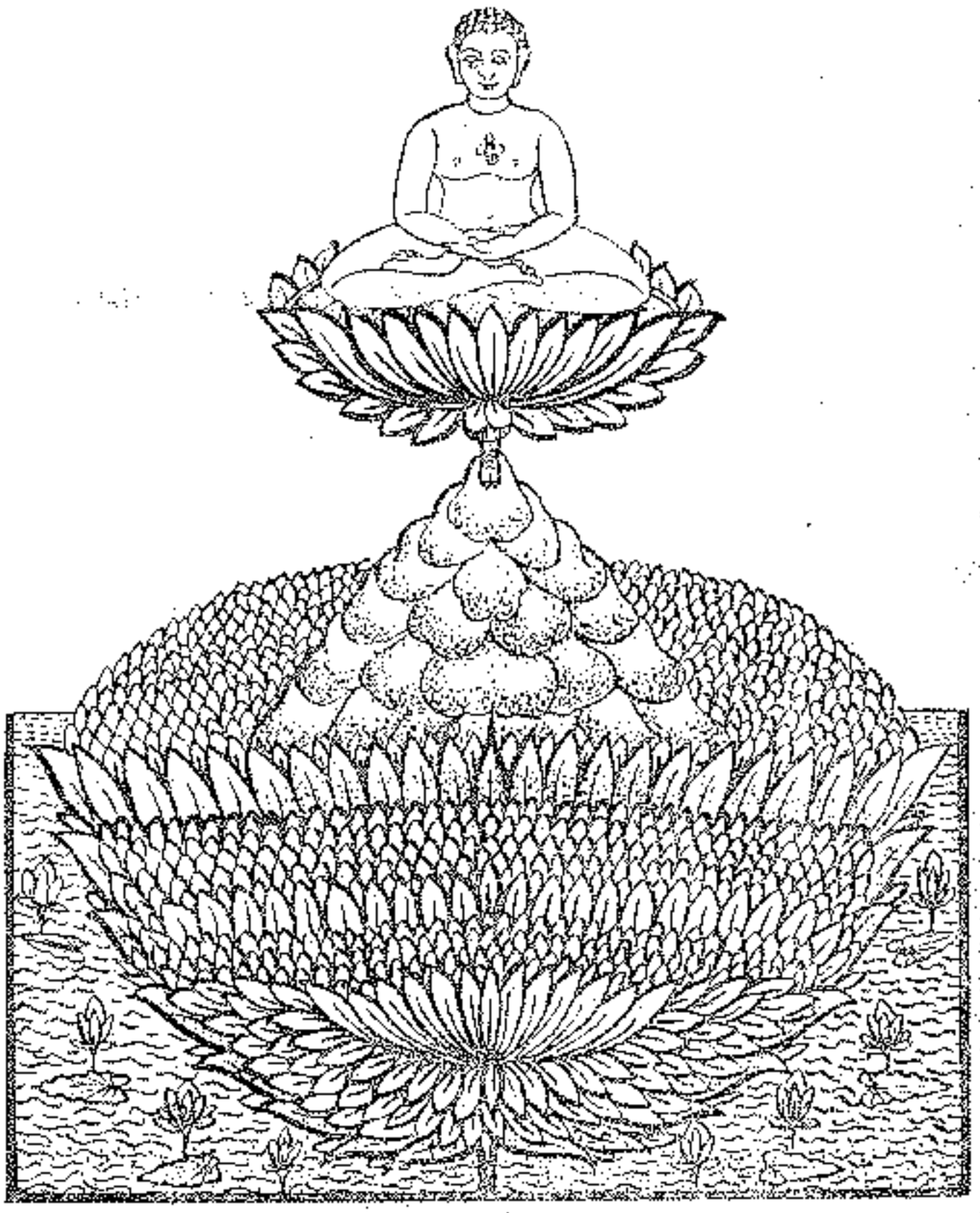

पृथ्वी धारणा

(गो. प्र. चि. चित्र नं० २)

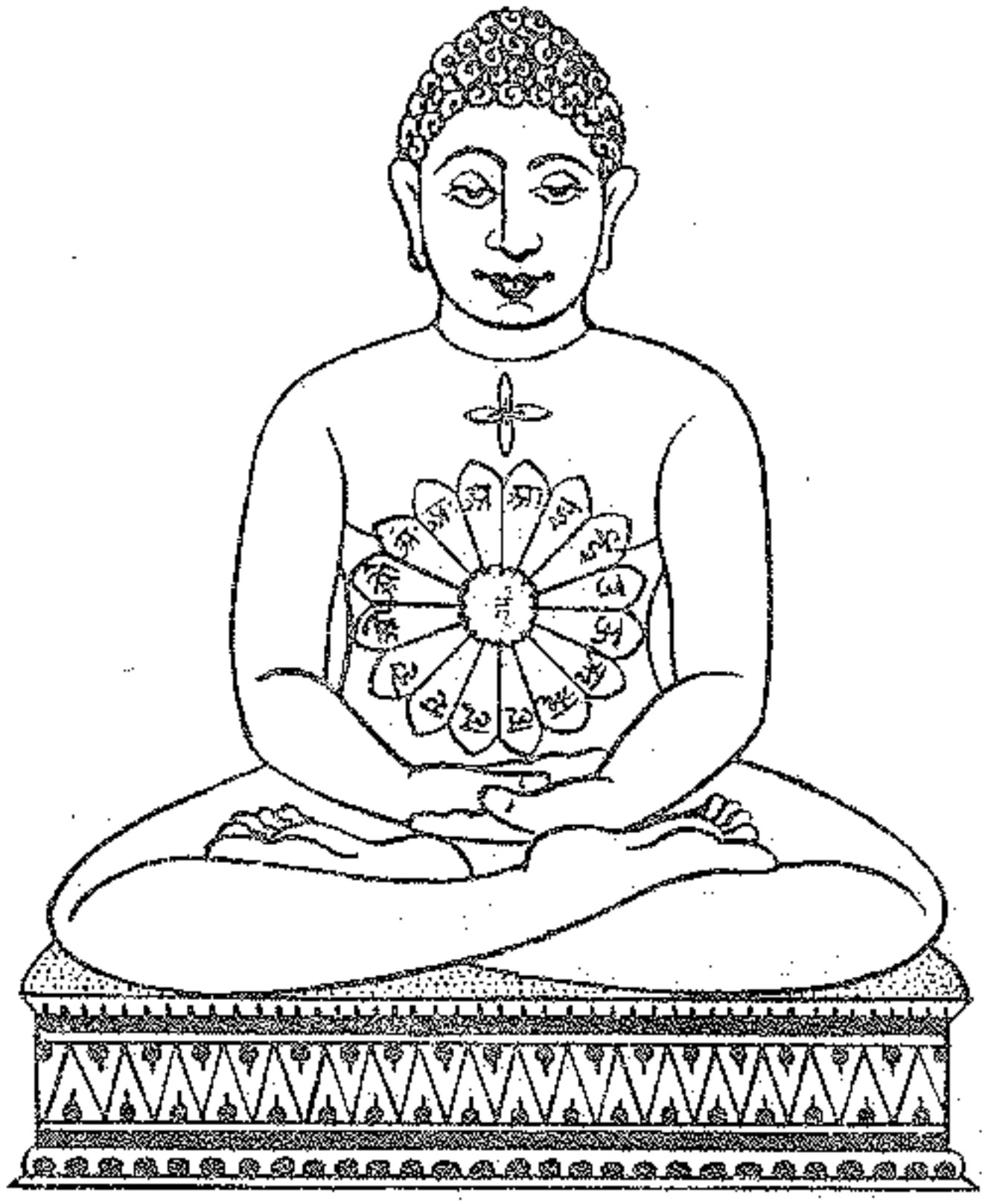

बिन्दु-कमल

(गो. प्र. सि. चित्र नं. ३)

'ह्रीं' विचार

(भा. प्र. वि. विष वं. ४)

कर्मरूपी कमल

(गो. प्र. चि. चित्र नं ० ५)

अग्नि धारणा

(गो. प्र. चि. चित्र नं० ६)

उस महामन्त्र का स्वरूप—

रेफरुद्धं कलाबिंद् लाञ्छितं शून्यमक्षरम् ।
लसादिन्दुच्छटा कोटि कान्ति व्याप्त हरिन्मुखम् ।।४३०।।

रेफ से रुद्ध कहिये आवृत और कला तथा बिन्दु से चिह्नित और शून्य कहिये हकार ऐसा अक्षर लसत् देदीप्यमान होते हुए इंदु की छटा कोटि की कान्ति से व्याप्त किया है दिशा का मुख जिसने ऐसा महामन्त्र "ह्रैं" उस कमल की कर्णिका में स्थापन कर, चिन्तवन करे । चित्र नं० ४ ।

फिर कैसा चिन्तवन करें—

तस्य रेफाद्विनिर्यान्तीं शनैं धूंम शिखां स्मरेत् ।
स्फुलिङ्ग संतति पश्चाज्ज्वालालीं तदनन्तरम् ।।४३१।।
तेन ज्वाला कलापेन वर्द्धमानेन सन्ततम् ।
दहत्यविरतं धरिः पुण्डरीकं हृदि स्थितम् ।।४३२।।

तत्पश्चात् उस महामन्त्र के रेफ से मंद-मंद निकलती हुई धुम (धुआँ) की शिखा का चिन्तवन करे तत्पश्चात् उसमें से अनुक्रम से प्रवाह रूप निकलते हुए स्फुलिंगों की पंक्ति का चिन्तवन करे और तत्पश्चात् उसमें से निकलती हुई ज्वाला की लपटों को विचारे । तत्पश्चात् भोगी मुनि क्रम से बढ़ते हुए ज्वाला के समूह से अपने हृदयस्थ कमल को निरन्तर जलाता हुआ चिन्तवन करे ।

हृदय कमल का विशेष स्वरूप—

तदष्ट कर्म निर्माणमष्ट पत्र मधोमुखम् ।
दहत्येव महामन्त्र ध्यानोत्थ प्रबलोऽनलः ।।४३३।।

वह हृदयस्थ कमल अधो मुख आठ पत्र का (पांखुडीवाल) है; उन आठ पत्रों (दलों) पर आठ कर्म स्थित हों; ऐसे कमल को नाभिस्थ कमल की कर्णिका में स्थित "ह्रैं" महामन्त्र के ध्यान से उठी हुई प्रबल अग्नि निरंतर दहती है; इस प्रकार चिन्तवन करे, तब अष्ट कर्म जल जाते हैं, यह चैतन्य परिणामों को सामर्थ्य है ।

चित्र नं० ५–६ ।

ततो बहिः शरीरस्य त्रिकोणं वह्निमण्डलम् ।
स्मरेज्ज्वाला कलापेन ज्वलन्तमिव वाडवम् ।।४३४।।

वह्नि बीज समाक्रान्तं पर्यन्ते स्वस्तिकाङ्कितम् ।
ऊर्ध्व वायु पुरोद्भूतं निर्द्धमं काञ्चन प्रभम् ॥४३५॥
अन्तर्दहति मन्त्रार्चिर्बहिर्वह्निपुरं पुरम् ।
धगद्ध गिति विस्फूर्जज्ज्वालाप्रचय भासुरम् ॥४३६॥
भस्म भाव मसौ नीत्वा शरीरं तच्च पङ्कजम् ।
दाह्याभावात्स्वयं शान्ति याति वह्निः शनैः शनैः ॥४३७॥

उस कमल के दग्ध हुए पश्चात् शरीर के बाह्य त्रिकोण वह्नि (अग्नि) का चिन्तवन करे, सो ज्वाला के समूहों से जलते हुए बडवानल के समान ध्यान करे। तथा अग्नि बीजाक्षर 'र' से व्याप्त और अन्त में साथिया के चिह्न से चिह्नित हो, ऊर्ध्व वायुमंडल से उत्पन्न धूम रहित कांचन की सी प्रभा वाला चिंतवन करे। इस प्रकार यह धगधगायमान फैलती हुई लपटों के समूह से देदीप्यमान बाहर का अग्निपुर (अग्निमंडल) अंतरंग की मंत्राग्नि को दग्ध करता है। तत्पश्चात् यह अग्निमंडल उस नाभिस्थ कमल और शरीर को भस्मीभूत करके दाह्य (जलाने योग्य पदार्थ) का अभाव होने से धीरे-धीरे अपने आप यह अग्नि शान्त हो जाती है।

चित्र नं० ७-८-९ देखें।

मारुती धारणा का स्वरूप—

विमानपथ मापूर्ण संचरन्तं समीरणम् ।
स्मरत्यविरतं योगी महावेगगं महाबलम् ॥३४८॥

योग (ध्यान करने वाल मुनि) आकाश में पूर्ण हो कर विचरते हुए महा-वेग वाले और महाबलवान् ऐसे वायुमंडल का चिन्तवन करें।

चालयन्तं सुरानीकं ध्वनन्तं त्रिदशाचलम् ।
दारयन्तं घनव्रातं क्षोभयन्तं महार्णवम् ॥४३९॥
व्रजन्तं भुवना भोगे संचरन्तं हरिन्मुखे ।
विसर्पन्तं जगन्नीडे निविशन्तं धरातले ॥४४०॥
उध्दूय तद्रजः शीघ्रं तेन प्रबल वायुना ।
ततः स्थिरी कृताभ्यासः समीर शांति मानयेत्॥४४१॥

तत्पश्चात् उस पवन को ऐसा चिन्तवन करे कि देवों की सेना को चलायमान करता है, मेरु पर्वत को कँपाता है, मेघों के समूह को बिखेरता हुआ, समुद्र को क्षोभ

अग्नि विस्तार धारणा

(गी. अ. चि. चित्र नं० ७)

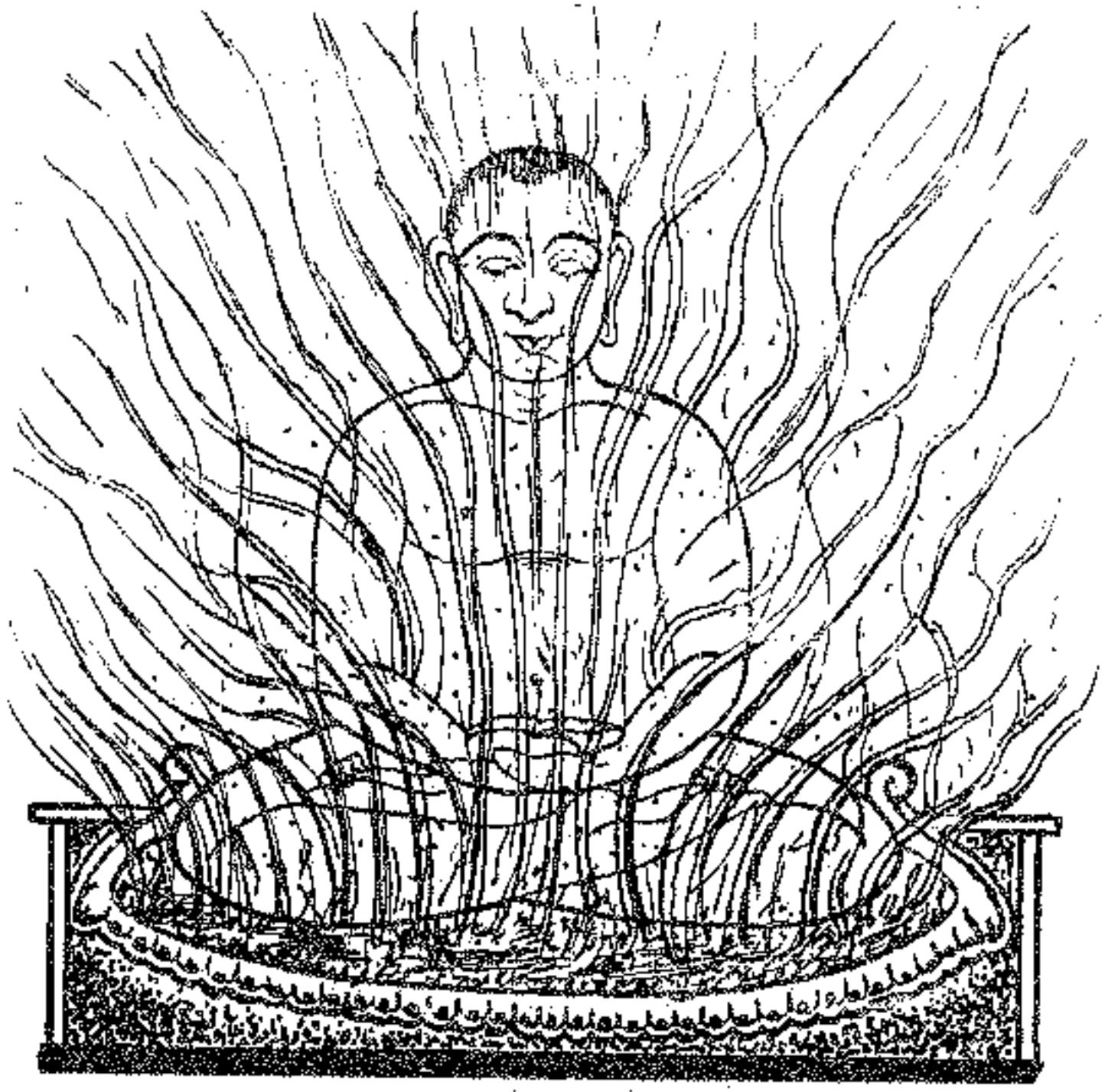

पूर्ण अग्नि धारणा

(गो. प्र. चि. चित्र नं० ८)

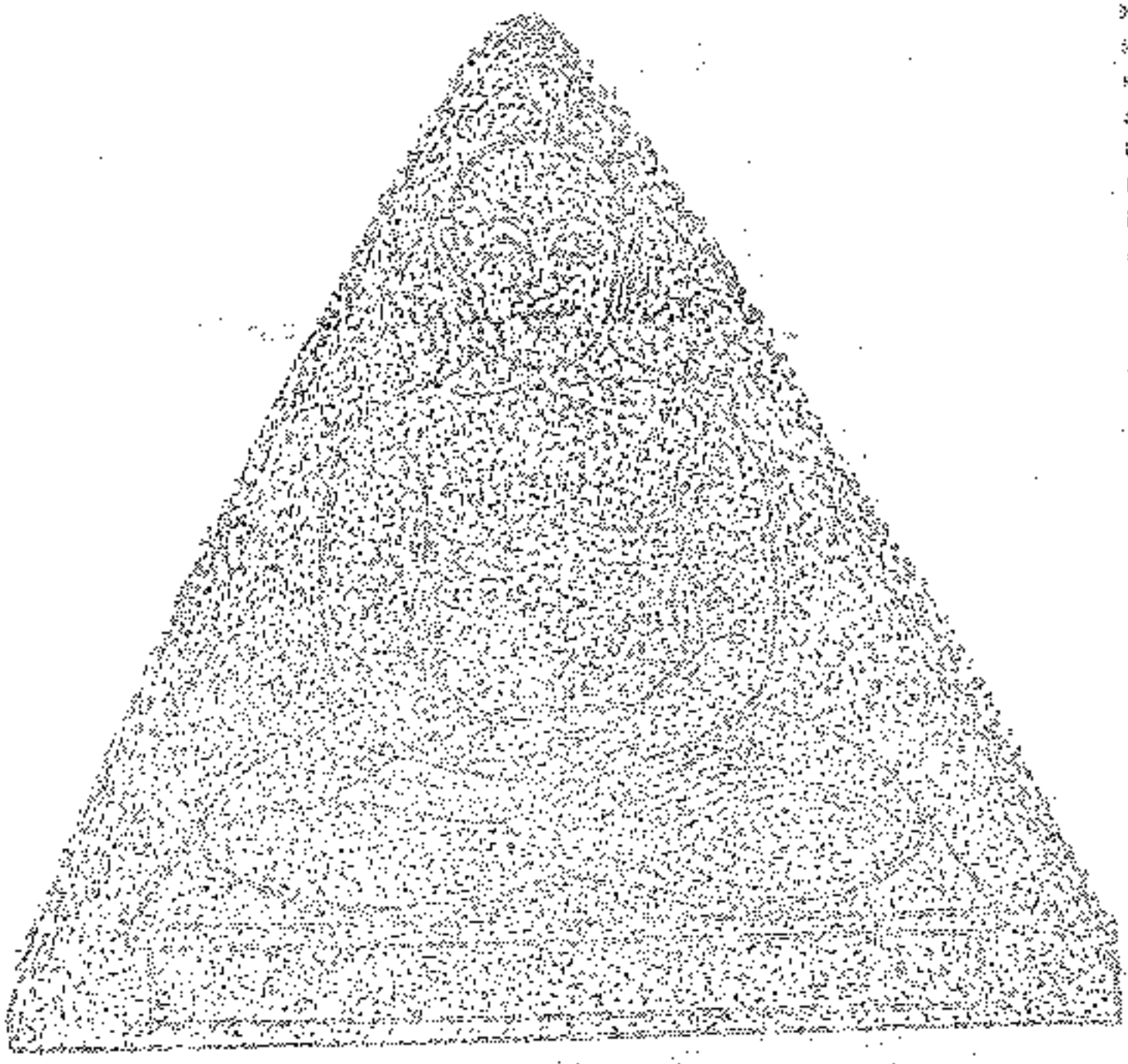

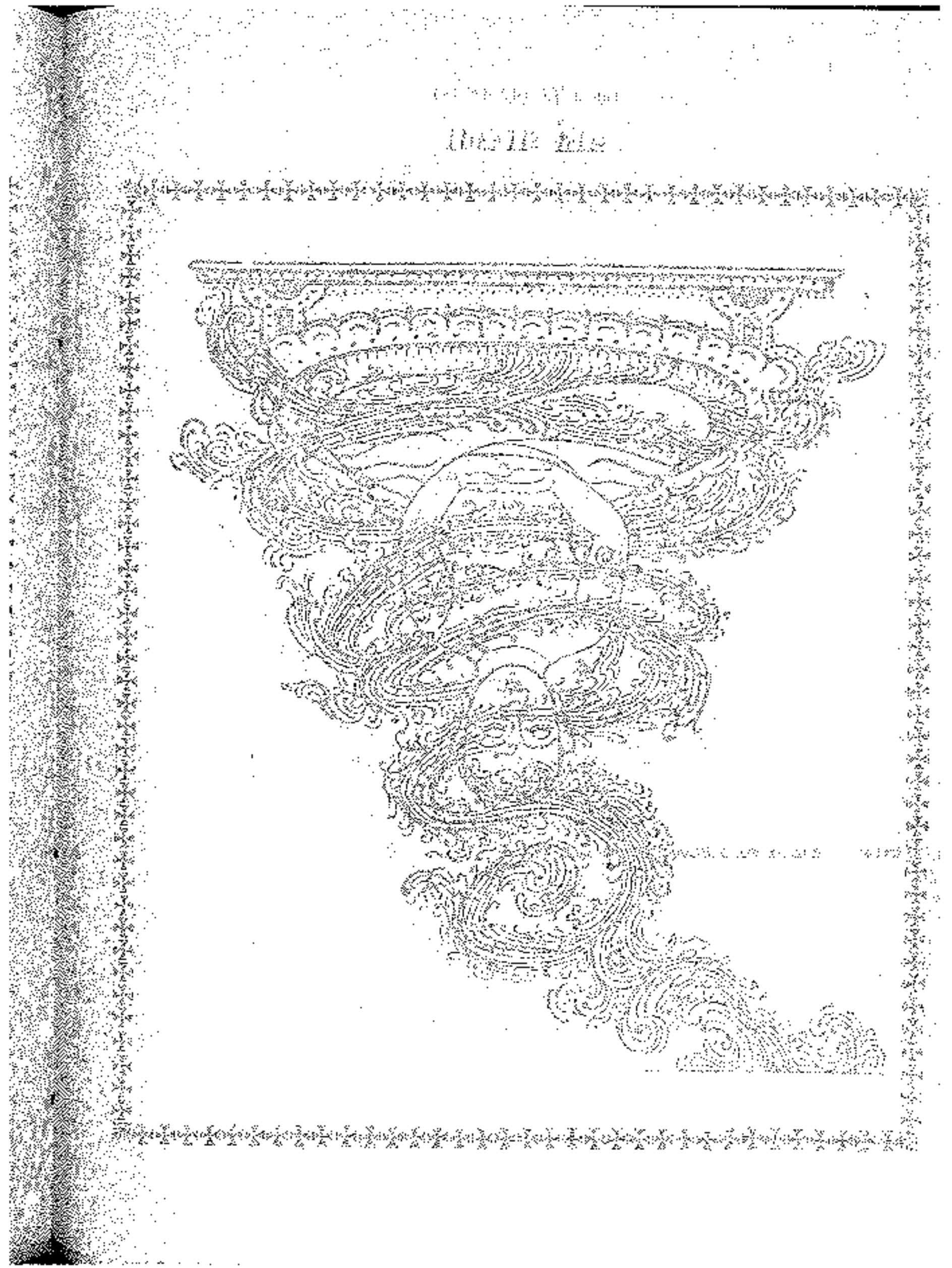

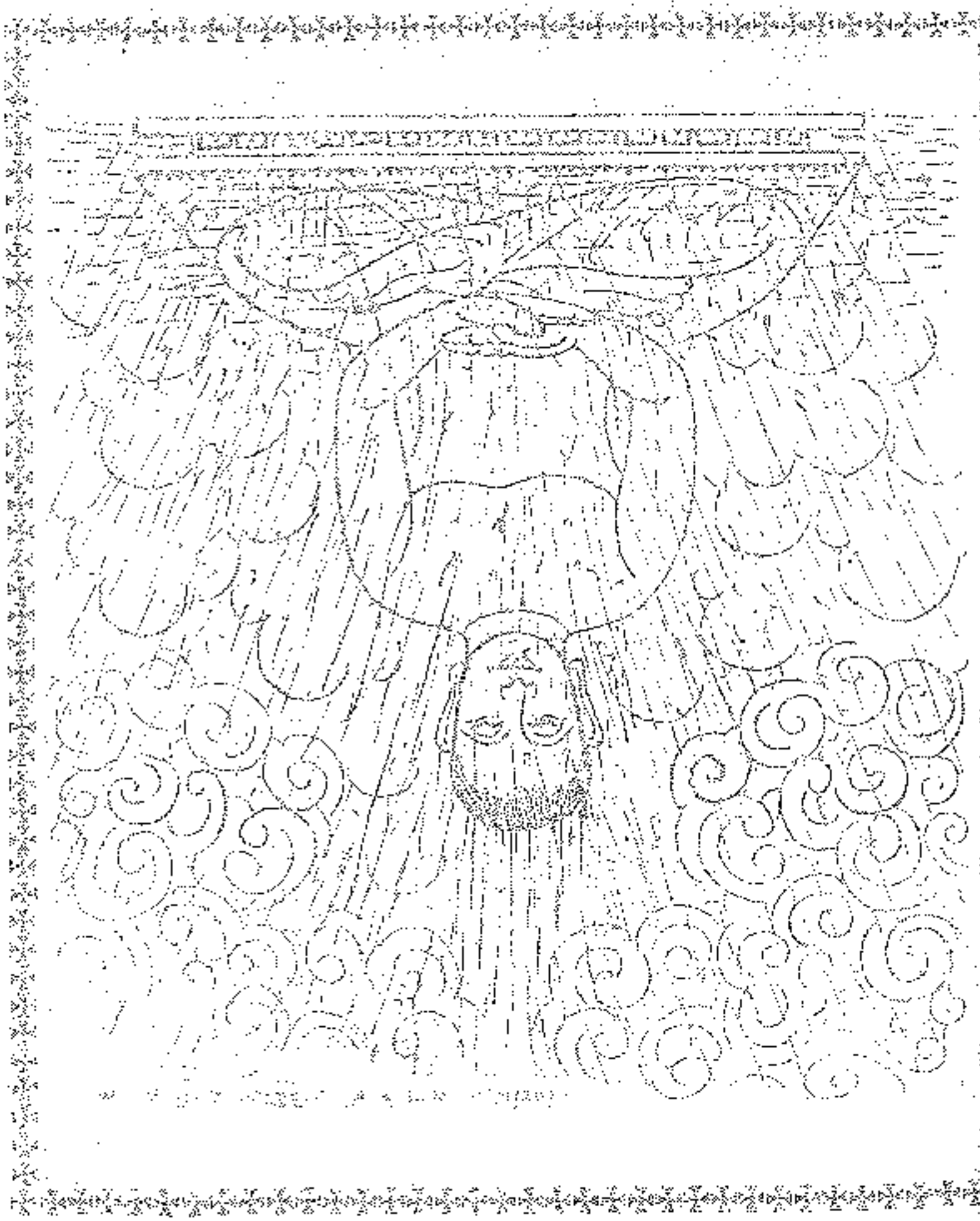

रूप करता हुआ। तथा लोक के मध्य गमन करता हुआ, दशों दिशाओं संचरता हुआ, जगत रूप में घर में फैला हुआ। पृथ्वि तल में प्रवेश करता हुआ चिन्तवन करे। तत्पश्चात् ध्यानी (मुनि) ऐसा चिंतवन करे कि वह जो शरीरादिक की भस्म है, उसको उस प्रबल वायुमंडल ने तत्काल उड़ा दिया, तत्पश्चात् इस वायु को स्थिर रूप चिन्तवन करके शान्त रूप करे। चित्र नं १०।

वारुणी धारणा का स्वरूप—

वारुण्या स हि पुण्यात्मा घन जाल चितं नभः।
इन्द्रायुधतडिद्गर्जच्चमत्काराकुलं स्मरेत् ॥४४२॥

वही पुण्यात्मा (ध्यानी मुनि) इन्द्र धनुष, बिजली, गर्जनादि चमत्कार सहित मेघों के समूह से भरे हुए आकाश का ध्यान (चिन्तवन) करे।

सुधाम्बु प्रभवैः सान्द्रै बिन्दुभिर्मौक्तिकोज्ज्वलैः।
वर्षन्तं तं स्मरेद्धीरः स्थूलस्थूलं निरन्तरम् ॥४४३॥

तथा उन मेघों को अमृत से उत्पन्न हुए मोती समान उज्ज्वल बड़े-बड़े बिन्दुओं से निरन्तर धारा रूप वर्षते हुए आकाश को धीर, वीर मुनि स्मरण करे अर्थात् ध्यान करे। चित्र नं० ११।

ततोऽर्धेन्दुसमं कान्तं पुरं वरुणलाञ्छितम्।
ध्यायेत्सुधापयः पूरैः प्लावयन्तंनभस्तलम् ॥४४४॥

तत्पश्चात अर्द्धचन्द्राकार, मनोहर, अमृत मय जल के प्रवाह से आकाश को बहाते हुए वरुणपुर (वरुणमंडल) का चिन्तवन करे।

तेनाचिन्त्यप्रभावेण दिव्यध्यानोत्थिताम्बुना।
प्रक्षालयति निःशेषं तद्भवः कायसंभवम् ॥४४५॥

अचिन्त्य है प्रभाव जिसका ऐसे दिव्य ध्यान से उत्पन्न हुए जल से शरीर के जलने से उत्पन्न हुए समस्त भस्म को प्रक्षालन करता है अर्थात् धोता है, ऐसा चिन्तवन करे।

सप्तधातु विनिर्मुक्तं पूर्णचन्द्रामलत्विषम्।
सर्वज्ञकल्पमात्मानं ततः स्मरति संयमी ॥४४६॥

तत्पश्चात् संयमी मुनि सप्त धातु रहित, पूर्ण चन्द्रमा के समान है निर्मल प्रभा जिसकी ऐसे सर्वज्ञ समान अपने आत्मा का ध्यान करे।

मृगेन्द्र विष्ट रारुढं दिव्यातिशय संयुतम् ।
कल्याण महिमोपेतं देव दैत्योरगार्चितम् ।।४४७।।
विलीनाशेष कर्माणं स्फुरन्त मति निर्मलम् ।
स्वं ततः पुरुषाकारं स्वाङ्गगर्भगतं स्मरेत् ।।४४८।।

तत्पश्चात् अपने आत्मा के अतिशय युक्त, सिंहासन पर आरूढ़, कल्याण की महिमा सहित, देव दानव धरणेंद्रादि से पूजित है, ऐसा चिन्तवन करे। तत्पश्चात् विलय हो गये हैं आठ कर्म जिसके ऐसा स्फुरायमान (प्रगट) अति निर्मल पुरुषाकार अपने शरीर में प्राप्त हुए अपने आत्मा का चिंतवन करे। इस प्रकार तत्त्वरूपवती धारणा कही गई। चित्र नं० १२।

इत्यविरतं स योगी पिण्डस्थे ज्ञातनिश्चलाभ्यासः ।
शिव सुख मनन्य साध्यं प्राप्नोत्यचिरेण कालेन ।।४४९।।

इस प्रकार पिंडस्थ ध्यान में जिसका निश्चल अभ्यास हो गया है वह ध्यानी मुनि अन्य प्रकार से साधने में न आवे ऐसे मोक्ष के सुख को शीघ्र (अल्प समय में) ही प्राप्त होता है।

इत्थं यत्रानवद्यं स्मरति नव सुधा सान्द्र चन्द्रांशुगौरं ।
श्रीमत्सर्वज्ञकल्पं कनक गिरितटे वीत विश्वप्रपञ्चम् ।।
आत्मानं विश्वरूपं त्रिदशगुरु गणैरप्य चिन्त्यप्रभावं ।
तत्पिण्डस्थं प्रणीतं जिन समय महाम्भोधिपारं प्रयातैः ।।४५०।।

उक्त प्रकार से जिस पिण्डस्थ ध्यान में निर्दोष, नये अमृत से भीगी हुई चन्द्रमा की किरण सदृश-गोरे वर्ण, श्रीमन्सर्वज्ञ भगवान् समान तथा मेरु गिरी के तट वा शिखर पर बैठा, बीते है समस्त प्रपंच जिसके ऐसे तथा विश्वरूप–समस्त ज्ञेय पदार्थों के आकार जिसमें प्रतिबिम्बित हो रहे हैं, ऐसे देवेंद्रों के समूह से भी जिसका अधिक प्रभाव हो ऐसे आत्मा का जो चिन्तवन किया जाय, उसको जिन सिद्धान्त रूपी महासमुद्र के पार पहुँचने वाले मुनिश्वरों ने पिण्डस्थ ध्यान कहा है।

विद्यामण्डलमन्त्रयन्त्र कुहककूराभिचाराः क्रियाः ।
सिंहाशो विष दैत्यदन्ति शरभा यान्त्येव निःसारताम् ।।
शाकिन्यो ग्रह राक्षसप्रभृतयो मुञ्चन्त्यसद्धासनां ।
एतद्ध्यानधनस्य सन्निधिवशाद्दानोर्यथा कौशिकाः ।।४५१।।

जिस प्रकार सूर्य के उदय होने पर उलूक (घूघू) भाग जाते हैं, उसी प्रकार इस पिण्डस्थ ध्यानरूपी धन के समीप होने से विद्या, मंडल, मंत्र, यन्त्र, इन्द्रजाल के आश्चर्य (प्रसिद्ध कपट) क्रूर अभिचार (मरणादि) स्वरूप क्रिया तथा सिंह, आशीविष (सर्प) दैत्य हस्ती अष्टापद ये सब ही निःसारता को प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् किसी प्रकार का उपद्रव नहीं करते तथा शाकिनी ग्रह राक्षस वगैरह भी खोटी वासना को छोड़ देते हैं।

भावार्थ :—पिण्डस्थ ध्यान के प्राप्त होने वाले मुनि के निकट कोई दुष्ट जीव किसी प्रकार का उपद्रव नहीं कर सकते, समस्त विघ्न दूर से नष्ट हो जाते हैं।

इस प्रकार पिण्डस्थ ध्यान का वर्णन किया। यहाँ कोई ऐसा कहें कि ध्यान तो ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा का ही करना है। इतनी पृथ्वि, अग्नि, पवन, जलादिक की कल्पना किस लिये करनी ? उसको कहा जाता है कि :—

यह शरीर पृथ्वि आदि धातुमय है और सूक्ष्म पुद्गल कर्म के द्वारा उत्पन्न हुआ है; उसका आत्मा के साथ संबंध है; इनके संबंध से आत्मा द्रव्य भाव रूप कलंक से उत्पन्न होते हैं। उन विकल्पों के निमित्त से परिणाम निश्चल नहीं होते। उनको निश्चल करने के लिये स्वाधीन चिन्तवनों से चित्त को वश करना चाहिये। सो ध्यान में किसी का आलम्बन किये बिना चित्त निश्चल नहीं होता, इस कारण उसको अलम्बन करने के लिए पिण्डस्थ ध्यान में पृथ्वि आदि पांच प्रकार की कल्पना स्थापन की गई है। सो, प्रथम तो पृथ्वि संबंधी धारणा से मन को थांभे, तत्पश्चात् अग्नि धारणा से कर्म और शरीर को दग्ध करने की कल्पना करके मन को रोकें। तत्पश्चात् पवन की धारणा की कल्पना करके शरीर तथा कर्म की भस्म को उड़ाकर मन को थांभें, तत्पश्चात् जल की धारणा से उसमें से बची बचाई रज को धो देने रूप ध्यान से मन को थांभे, तत्पश्चात् आत्मा शरीर और कर्म से रहित शुद्ध ज्ञानानंदमय कल्पना करके, उसमें मन का स्तंभन करे। इस प्रकार मन को थांभते-थांभते अभ्यास के करने से ध्यान का दृढ़ अभ्यास हो जाता है, तब आत्मा शुक्ल ध्यान में ठहरता है, उस समय घाति कर्मों का नाश करके केवल ज्ञान की प्राप्ति हो कर मोक्ष हो जाता है तथा अन्यमती भी इसी प्रकार पार्थिवी आदि धारणा करने को कहते हैं; परन्तु उनके आतम तत्त्व का यथार्थ निरुपण नहीं होने के कारण उनके वहाँ सत्यार्थ धारणा नहीं होती, कुछ लौकिक चमत्कार सिद्ध हो तो हो जाओ, परन्तु मोक्ष की प्राप्ति

तो यथार्थ तत्त्व के श्रद्धान ज्ञान आचरण बिना होती ही नहीं । इस कारण इसमें सन्देह नहीं करना ।

✠ पदस्थ-ध्यान ✠

पदान्यालम्ब्य पुण्यानि योगिभिर्यद्विधीयते ।
तत्पदस्थं मतं ध्यानं विचित्र नय पारगैः ।।४५२।।

जिसको योगीश्वर पवित्र मंत्रों के अक्षर स्वरूप पदों का अवलम्बन करके चितवन करते हैं, उसको अनेक नयों के पार पहुँचने वाले योगीश्वरों ने पदस्थ ध्यान कहा है ।

वर्णमातृका ध्यान का स्वरूप—

ध्यायेदनादि सिद्धान्त प्रसिद्धां वर्णमातृकाम् ।
निःशेष शब्द विन्यास जन्म भूमिं जगन्नुताम् ।।४५३।।

अनादि सिद्धान्त में प्रसिद्ध जो वर्णमातृका अर्थात् अकारादि स्वर और ककारादि व्यञ्जनों का समूह है, उसका चिन्तवन करे, क्योंकि यह वर्ण मातृका सम्पूर्ण शब्दों के रचना की जन्म भूमि है और जगत से वंदनीय है ।

द्विगुणाष्टदलाम्भोजे नाभिमण्डल वर्तिनि ।
भ्रमन्तीं चिन्तयेद्ध्यानी प्रतिपत्रं स्वरावलीम् ।।४५४।।

ध्यान करने वाला पुरुष नाभि मंडल पर स्थित सोलह दल (पँखड़ी) के कमल में प्रत्येक दल पर क्रम से फिरती हुई स्वरावली का अर्थात् अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः इन अक्षरों का चिन्तवन करें ।

चतुर्विंशति पत्राढ्यं हृदि कञ्जं सकर्णिकम् ।
तत्र वर्णा निमान्ध्यायेत्संयमी पञ्चविंशतिकम् ।।४५५।।

तत्पश्चात् ध्यानी अपने हृदय स्थान पर कर्णिका सहित चौबीस पत्रों का कमल संयमी मुनि चिन्तवन करके उसकी कर्णिका तथा पत्रों में क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण त थ द ध न प फ ब भ म इन पच्चीस अक्षरों का ध्यान करे ।

ततो वदन राजीवे पत्राष्टक विभूषिते ।
परं वर्णाष्टकं ध्यायेत्सञ्चरन्तं प्रदक्षिणम् । ४५६।।

तत्पश्चात् आठ पत्रों से विभूषित मुख कमल के प्रत्येक पत्र पर भ्रमण करते हुए य र ल व श ष स ह इन आठ वर्णों का ध्यान करें।

इत्यजस्त्रं स्मरन् योगी प्रसिद्धां वर्णमातृकाम् ।
श्रुतज्ञानाम्बुधेः पारं प्रयाति विगतभ्रमः ।।४५७।।

इस प्रकार प्रसिद्ध वर्ण मातृका का निरन्तर ध्यान करता हुआ योगी भ्रम रहित होकर श्रुत ज्ञान रूपी समुद्र के पार (उत्तर तट) को प्राप्त हो जाता है। भावार्थ – इस प्रकार ध्यान करने वाला मुनि श्रुतकेवली हो सकता है।

कमलदलोदर मध्ये ध्यायन्वर्णानिनादिसंसिद्धान् ।
नष्टादि विषय बोधं ध्याता सम्पद्यते कालात् ।।४५८।।

ध्यान करने वाला पुरुष कमल के पत्र और कर्णिका के मध्य में अनादि संसिद्ध (पूर्वोक्त ४६) अक्षरों का ध्यान करता हुआ कितने ही काल में नष्टादि वस्तु सम्बन्धी ज्ञान को प्राप्त करता है।

जाप्याज्जयेत् क्षयमरोचक मग्निमान्द्यं,
कुण्ठोदरात्मक सनश्व सनादि रोगान् ।
प्राप्नोति चाप्रतिमवांमगहतीं महद्भयः,
पूजां परत्र च गतिं पुरुषोत्तमाप्ताम् ।।४५९।।

इस वर्ण मातृका के जाप से योगी क्षयरोग, अरुचिपना, अग्निमंदता, कुष्ठ, उदर रोग, कास तथा श्वास आदि रोगों को जीतता है; और वचनसिद्धता, महान् पुरुषों से पूजा तथा परलोक में उत्तम पुरुषों से प्राप्त की हुई, श्रेष्ठ गति को प्राप्त होता है। चित्र नं. १३

मन्त्रराज का स्वरूप, जो अनाहत है—

अथ मन्त्रपदाधीशं सर्व तत्त्वैकनायकम् ।
आदि मध्यान्तभेदेन स्वरव्यञ्जन सम्भवम् ।।४६०।।
ऊर्ध्वा धोरेफसंरुद्धं सपर बिन्दु लाञ्छितम् ।
अनाहत युतं तत्त्वं मन्त्रराजं प्रचक्षते ।।४६१।।

अब समस्त मन्त्र पदों का स्वामी, सब तत्त्वों का नायक, आदि मध्य और अन्त के भेद से स्वर तथा व्यञ्जनों से उत्पन्न, ऊपर और नीचे रेफ (र्) से रुका हुआ तथा बिन्दु (ँ) से चिह्नित सपर कहिये हकार अर्थात (ह्ँ) ऐसा बाजीक्षर तत्त्व है;

अनाहत सहित इसको योगीजन मन्त्रराज कहते हैं।

अनाहत का क्या स्वरूप है ?

अनाहत का लक्षण।

ऊँबिन्द्वाकारहरोर्द्धवरेफ विन्द्वान वाक्षरम्।
मालाधः स्यन्दि पीयूषबिन्दु विदुरनाहतम् ॥४६२॥

इसमें ९ अक्षर मिले हुए हैं।

१. ऊँकार, २. अनुस्वार, ३. ईकार, ४. उर्द्ध रेफ, ५. हकार, ६. ह्रकार, ७. रेफ, ८. अनुस्वार, ९. ईकार।

देवासुरनतं भीमदुर्बोध ध्वान्त भास्करम्।
ध्यायेन्मूर्द्धस्थ चन्द्रांशुकला पाक्रान्त दिङ्मुखम् ॥४६३॥

देव और असुर कर रहे हैं, नमस्कार जिसको ऐसे, अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर करने के लिये सूर्य के समान तथा मस्तक पर स्थित जो चन्द्रमा उसकी किरणों के समूह से व्याप्त किया है, दिशाओं का मुख (कादि) भाग जिसने ऐसे इस मन्त्रराज का ध्यान करे।

इस अनाहत मंत्रराज का कैसा ध्यान करे ?

कनक कमल गर्भे कर्णिकायां निषण्णं,
विगतमलकलङ्कं सान्द्रांशुगौरम्।
गगनमनुसरन्तं सञ्चरन्तं हरित्सु,
स्मर जिनवरकल्पं मन्त्रराजं यतीन्द्र ॥४६४॥

हे मुनीन्द्र ! सुवर्णमय कमल के मध्य में कर्णिका पर विराजमान, मल तथा कलंक से रहित, शरद ऋतु के पूर्ण चन्द्रमा की किरणों के समान गौरवर्ण के धारक, आकाश में गमन करते हुए तथा दिशाओं में व्याप्त होते हुए ऐसे श्री जिनेन्द्र के सदृश इस मन्त्रराज का स्मरण अर्थात् ध्यान करो।

उस मंत्रराज के क्या मत्त है ?

बुद्धः कैश्चिद्धरिः कैश्चिदजः कैश्चन्महेश्वरः।
शिवः सार्वस्तथैशानः सोऽयं वर्णः प्रकीर्तितः ॥४६५॥

कितने ही इस (हूँ) अक्षर को कितने ही हरि ब्रह्मा, बुद्ध कितने ही महेश्वर, कितने ही शिव, कितने ही सार्व और कितने ही ईशानस्वरूप कहते हैं।

यथार्थ में यह अक्षर क्या है ?

मन्त्रमूर्ति समादाय देव देवः स्वयं जिनः ।
सर्वज्ञः सर्वगः शान्तः सोऽयं साक्षाद्व्यवस्थितः ।।४६६।।

यह मन्त्रराज (ह्रूँ) अक्षर ऐसा है कि मानो सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, शान्तमूर्ति के धारक देवाधिदेव स्वयं श्री जिनेन्द्र भगवान् ही मन्त्रमूर्ति को धारण करके साक्षात् विराजमान है। भावार्थ – यह मन्त्रराज अक्षर साक्षात् श्री जिनेन्द्र स्वरूप है।

ज्ञानबीजं जगद्वन्द्यं जन्मज्वलनवार्घुचम् ।
पवित्रं मतिमान्ध्यायेदिमं मन्त्र महेश्वरम् ।।४६७।।

बुद्धिमान पुरुष मन्त्रराज को ज्ञान का बीज, जगत् से वंदनीय तथा संसार रूपी अग्नि के लिये अर्थात् जन्म संताप को दूर करने के लिये मेघ के समान ध्यावे।

सकृदुच्चारितं येन हृदि स्थितिम् ।
तदैव जन्म सन्तान प्ररोहः प्रविशीर्यते ।।४६८।।

जिस समय यह महातत्त्व मुनि के हृदय में स्थिति करता है, उस ही काल संसार के सन्तान का अंकुर गल जाता है, अर्थात् टूट जाता है।

इस मंत्रराज का ध्यान कैसे करें ?

स्फुरन्तं भ्रूलतामध्ये विशन्तं वदनाम्बुजे ।
तालुरन्ध्रेण गच्छन्तं स्रवन्तममृताम्बुभिः ।।४६९।।
स्फुरन्तं नेत्र पत्रेषु कुर्वन्त मलके स्थितिम् ।
भ्रमन्तं ज्योतिषां चक्रे स्पर्द्धमानं सितांशुना ।।४७०।।
संचरन्तं दिशामास्ये प्रोच्छलन्तं नभस्तले ।
धंदयन्तं कलङ्कौघं स्फोटयन्तं भवभ्रमम् ।।४७१।।
नयन्तं परमस्थानां योजयन्तं शिवश्रियम् ।
इति मन्त्राधिपं धीर कुम्भकेन विचिन्तयेत् ।।४७२।।

धैर्य का धारक योगी कुम्भक प्राणायाम से इस मंत्रराज को भौंह की लताओं में स्फुरायमान होता हुआ, तालुआ के छिद्र से गमन करता हुआ, तथा अमृतमय जल से भरता हुआ, नेत्र की पलकों पर स्फुरायमान होता हुआ, केशों में स्थित करता हुआ तथा ज्योतिषियों के समूह में भ्रमता हुआ, चन्द्रमा के साथ स्पर्द्धा करता हुआ, दिशाओं में संचरता हुआ, आकाश में उछलता हुआ कलंक के समूह को

छेदता हुआ, ससार के भ्रम को दूर करता हुआ तथा परमस्थान (मोक्षस्थान) को प्राप्त करता हुआ, मोक्ष लक्ष्मी से मिलाप कराता हुआ ध्यावें ।

अनन्यशरणः साक्षात्तत्संली नैकमानसः ।
तथा स्मरत्यसौ ध्यानी यथा स्वप्नेऽपि न स्खलेत् ।।४७३।।

ध्यान करने वाला इस मन्त्राधिप को अन्य किसी की शरण न लेकर; इसमें ही साक्षात् तल्लीन मन करके स्वप्न में भी इस मंत्र से च्युत न हो एसा दृढ़ होकर ध्यावें ।

इति मत्वा स्थिरीभूतं सर्वावस्थासु सर्वथा ।
नासाग्रे निश्चलं धत्ते यदि वा भ्रूलतान्तरे ।।४७४।।

ऐसे पूर्वोक्त प्रकार से महामन्त्र के ध्यान के विधान को जानकर मुनि समस्त अवस्थाओं में स्थिर स्वरूप सर्वथा नासिका के अग्रभाग में अथवा भौंह लता के मध्य में इसको निश्चल धारण करें ।

तत्र कैश्चिच्च वर्णादि भेदैस्तत्कल्पितं पुनः ।
मन्त्र मण्डल मुद्रादि साधनैरिष्ट सिद्धिदम् ।।४७५।।

इस नासिका के अग्रभाग अथवा भौंह लता के मध्य में निश्चल धारण करने अवसर में कई आचार्यों ने उस मंत्राधिप को ध्यान करने में अक्षरादिक के भेद करके कल्पना की है और मंडल मुद्रा इत्यादिक साधनों से इष्ट की सिद्धि का देने वाला कहा है । चित्र नं. १४ ।

"अकारादि हकारान्तं रेफ मध्यं सबिन्दुकम् ।
तदेव परम तत्त्वं यो जानाति स तत्त्ववित् ।।४७६।।

अकार है आदि में जिसके, हकार है अन्त में जिसके और रेफ है मध्य में जिसके और बिन्दु सहित ऐसा जो अर्ह पद है, वही परम तत्त्व है । जो कोई इसको जानता है, वह तत्त्व को जानने वाला है ।

सर्वावयव संपूर्णं ततोऽवयवविच्युतम् ।
क्रमेण चिन्तयेद्ध्यानी वर्ण मात्रं शशिप्रभम् ।।४७७।।

प्रथम तो ध्यानी अर्ह अक्षर का पूर्वोक्त समस्त अवयवों सहित चिन्तवन करें, तत्पश्चात् अवयव रहित ध्यान करें, फिर क्रम से चन्द्रमा समान प्रभावाला वर्णमात्र (हकार) स्वरूप चितवन करें ।

बिन्दुहीनं कलाहीनं रेफद्वितयवर्जितम् ।
अनक्षर त्वमापन्न मनुच्चार्यं च चिन्तयेत् ।।४७८।।

तत्पश्चात् इस मंत्रराज का बिन्दु (अनुस्वार) रहित, कला (अर्द्ध चन्द्राकार) रहित, दोनों रेफ (र्) रहित, अक्षर रहितता को प्राप्त, तथा उच्चारण करने योग्य न हो ऐसा क्रम से चिंतवन करे ।

चन्द्रलेखासमं सूक्ष्मं स्फुरन्तं भानु भास्वरम् ।
अनाहताभिधं देवं दिव्यरूपं विचिन्तयेत् ।।४७९।।

चन्द्रमा की रेखा समान सूक्ष्म और सूर्य सरीखा देदीप्यमान, स्फुरायमान होता हुआ तथा दिव्य रूप का धारक ऐसा जो अनाहत नाम का देव है, उसका चिन्तवन करें ।

अस्मिंस्थिरी कृताभ्यासाः सन्तः शान्तिं समाश्रिताः ।
अनेन दिव्य पोतेन तीर्त्वा जन्मोग्र सागरम् ।।४८०।।

इस अनाहत नामा देव में किया है स्थिर अभ्यास जिन्होंने, ऐसे सत्पुरुष इस दिव्य जहाज के इस संसार रूप घोर समुद्र को तिर कर, शान्ति को प्राप्त हो गए हैं ।

इस चिन्तवन का अन्य प्रकार—

तदेव च पुनः सूक्ष्मं क्रमाद्बालाग्रसन्निभम् ।
ध्याये देकाग्रतां प्राप्य कर्तुं चेतः सुनिश्चलम् ।।४८१।।

और फिर एकाग्रता को प्राप्त होकर, चित्त को स्थिर (निश्चल) करने के लिए उस ही अनाहत को अनुक्रम से सूक्ष्म ध्याता हुआ बाल के अग्रभाग समान ध्यावें ।

ततोऽपि गलिता शेष विषयीकृत मानसः ।
अध्यक्ष मीक्षते साक्षाज्जगज्ज्योतिर्मयं क्षणे ।।४८२।।

उसके पश्चात् गलित हो गये हैं समस्त विषय जिसमें, ऐसे अपने मन को स्थिर करने वाला योगी क्षण में ज्योतिर्मय साक्षात् जगत को प्रत्यक्ष अवलोकन करता है ।

सिद्धयन्ति सिद्धयः सर्वा अणिमाद्या न संशयः ।
सेवां कुर्वन्ति दैत्याद्या आज्ञैश्वर्यं च जायते ।।४८३।।

इस अनाहत मंत्र के ध्यान से ध्यानी के अणिमा आदि सर्व सिद्धियाँ होती हैं, और देव्यादिक सेवा करते हैं तथा आज्ञा और ऐश्वर्य होता है, इसमें संदेह नहीं है।

क्रमात्प्रच्याव्य लक्ष्येभ्यस्ततोऽलक्ष्ये स्थिरं मनः ।
दधतोऽस्य स्फुरत्यन्त र्ज्योतिरत्यक्ष मक्षयम् ॥४८४॥

तत्पश्चात् क्रम से लक्ष्यों (लखने योग्य वस्तुओं) से छुड़ा कर, अलक्ष्य में अपने मन को धारण करते हुए ध्यानी के अन्तरंग में अक्षय इंद्रियों के अगोचर ज्योति अर्थात् ज्ञान प्रकट होता है।

इति लक्ष्यानुसारेण लक्ष्याभावः प्रकीर्तितः ।
तस्मिन्स्थितस्य मन्येऽहं मुनेः सिद्धं समीहितम् ॥४८५॥

इस प्रकार लक्ष्य के अनुसार लक्ष्य का अभाव कहा गया; सो, आचार्य महाराज उत्प्रेक्षा से कहते हैं कि उस अलक्ष्य में स्थिर रहने वाले मुनि के वांछित कार्य को मैं सिद्ध हुआ मानता हूँ।

एतत्तत्त्वं शिवाख्यं वा समालम्ब्य मनीषिणः ।
उत्तीर्णा जन्मकान्तार मनन्तं क्लेशसंकुलम् ॥४८६॥

इस अनाहत तत्त्व अथवा शिवनामा तत्त्व का अवलंबन करके मनीषि गण अनन्त क्लेश सहित संसार रूपी वन से पार हो गये; इस प्रकार मंत्रराज और अनाहत दोनों मंत्रों के ध्यान का विधान कहा। चित्र नं० १५ देखें।

'ओं' कार के ध्यान का स्वरूप—

स्मर दुःखानल ज्वाला-प्रक्षान्तेर्नवनीरदम् ।
प्रणवं वाङ्मयज्ञान प्रदीपं पुण्य शासनम् ॥४८७॥

हे मुने ! तू प्रणव नामा अक्षर का स्मरण कर अर्थात् ध्यान कर, क्योंकि यह प्रणव नामा अक्षर दुःख रूपी अग्नि की ज्वाला को शान्त करने के लिए मेघ की समान है तथा वाङ्मय (समस्त श्रुत) के प्रकाश करने के लिये दीपक है और पुण्य का शासन है।

यस्माच्छब्दात्मकं ज्योतिः प्रसूतमति निर्मलम् ।
वाच्य वाचक संबंधस्तेनैव परमेष्ठिनः ॥४८८॥

इस प्रणव से अतिनिर्मल शब्द रूपी ज्योति अर्थात् ज्ञान उत्पन्न हुआ है और परमेष्ठी का वाच्य वाचक संबंध भी इसी प्रणव से होता है अर्थात् परमेष्ठी तो इस

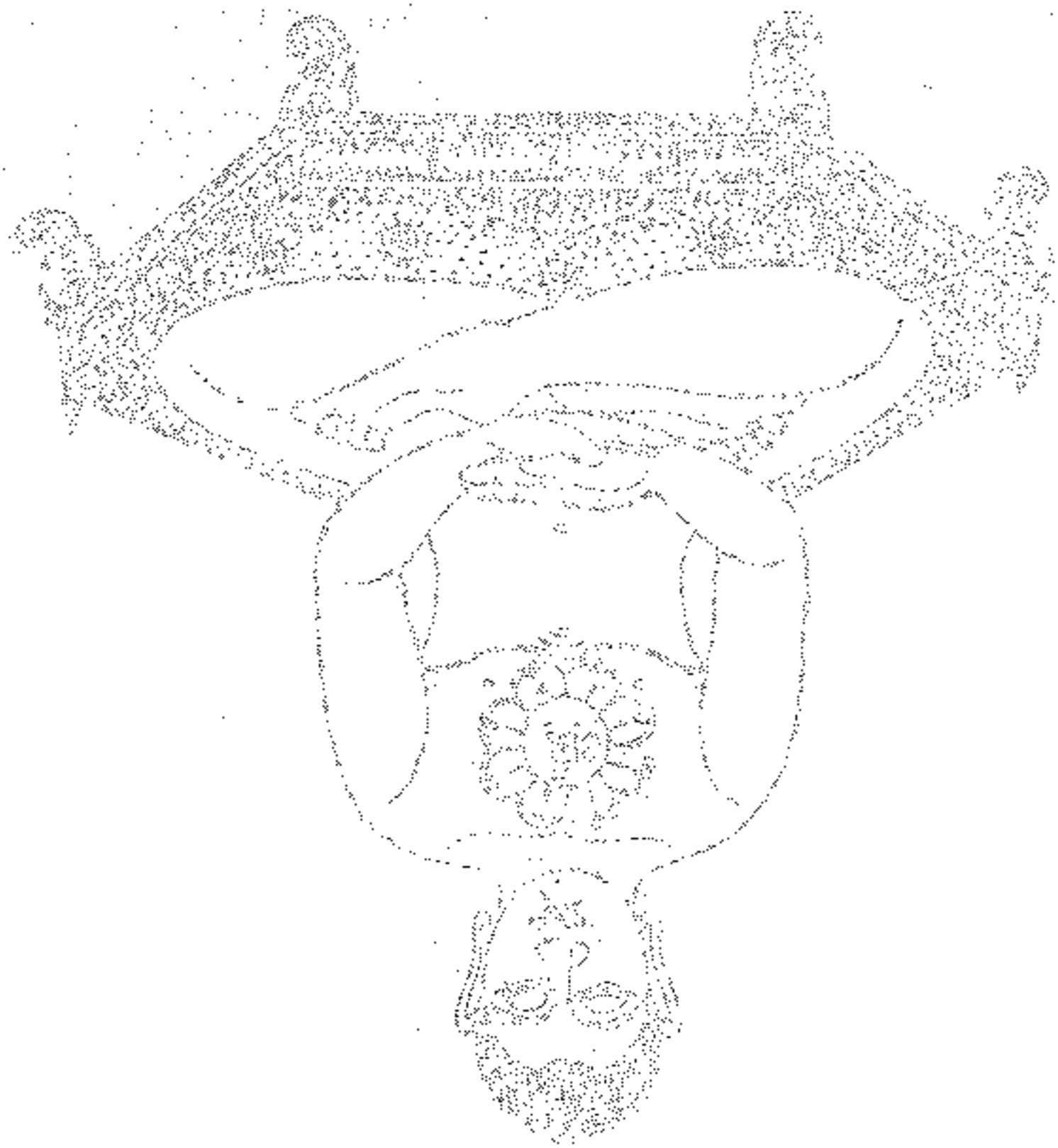

प्रणव का वाच्य और यह परमेष्ठी का वाचक है ।

हृत्कञ्जकर्णिकासीनं स्वरव्यञ्जन वेष्टितम् ।
स्फीत मत्यन्तदुर्द्धर्षं देवदैत्येन्द्र पूजितम् ॥४८९॥
प्रक्षरन्मूर्ध्नि संक्रान्त चन्द्र लेखामृत प्लुतम् ।
महाप्रभाव सम्पन्नं कर्म कक्ष हुताशनम् ॥४९०॥
महातत्त्वं महाबीजं महामन्त्रं महत्पदम् ।
शरच्चन्द्र निभं ध्यानी कुम्भकेन विचिन्तयेत ॥४९१॥

ध्यान करने वाला संयमी हृदय कमल की कर्णिका में स्थिर और स्वर व्यञ्जन अक्षरों से वेढ़ा हुआ, उज्ज्वल, अत्यन्त दुर्धर्ष, देव और दैत्यों के इन्द्रों से पूजित तथा झरते हुए मस्तक में स्थित चन्द्रमा की (लेखा) रेखा के अमृत से आप्लुत, महा प्रभाव सम्पन्न, कर्म रूपी वन को दग्ध करने के लिये अग्नि समान ऐसे इस महा तत्त्व, महाबीज, महातंत्र, महापद स्वरूप तथा शरद के चन्द्रमा के समान गौर वर्ण के धारक 'ओ' को कुंभक प्राणायाम से चिंतवन करें ।

विशेष विधान का प्रकार—

सान्द्रसिंदूर वर्णाभं यदि वा विद्रुमप्रभम् ।
चिन्त्यमानं जगत्सर्वं क्षोभ यत्यभिसंगतम् ॥४९२॥
जाम्बूनदनिभं स्तम्भे विद्वेषे कज्जलत्विषम् ।
ध्येयं वश्यादिके रक्तं चन्द्राभं कर्मशातने ॥४९३॥

यह प्रणव अक्षर गहरे सिंदूर के वर्ण के समान अथवा मूंगे के समान चिन्तवन किया हुआ मिले हुए जगत को क्षोभित करता है । तथा इस प्रणव को स्तंभन के प्रयोग में सुवर्ण के समान पीला चिन्तवन करें और द्वेष के प्रयोग में कज्जल के समान काला तथा वश्यादि प्रयोग में रक्त (लाल) वर्ण और कर्मों के नाश करने में चन्द्रमा के समान श्वेत वर्ण का ध्यान करें ।

इस प्रकार प्रणव अर्थात् ॐ कार मन्त्र के ध्यान का विधान कह; अब पंच परमेष्ठी के नमस्कार रूप मंत्र के ध्यान का विधान कहते हैं । चित्र नं० १६ ।

पंच परमेष्ठि महामन्त्र का चिन्तवन—

गुरु पञ्च नमस्कार लक्षणं मंत्र मूजितम् ।
विचिन्तयेज्जगज्जन्तु पवित्रीकरणक्षमम् ॥४९४॥

पंच परमेष्ठियों को नमस्कार करने रूप है लक्षण जिसका, ऐसे महामंत्र का चिन्तवन करें, क्योंकि यह नमस्कारात्मक मंत्र जगत के जीवों को पवित्र करने में समर्थ है ।

स्फुरद्विमलचन्द्राभे दलाष्टक विभूषिते ।
कञ्जे तत्कर्णिकासीनं मन्त्रं सप्ताक्षरं स्मरेत् ।।४६५।।
दिग्दलेषु ततोऽन्येषु विदिक् पत्रेष्वनुक्रमात् ।
सिद्धादिकं चतुष्कं च दृष्टि बोधादिकं तथा ।।४६६।।

स्फुरायमान निर्मल चन्द्रमा की कान्ति समान आठ पत्र से शोभित जो कमल है, उसकी कर्णिका पर स्थित सात अक्षर के "णमो अरहंताणं" मंत्र का चिन्तवन करें । और उस कर्णिका से बाहर के आठ पत्रों में से ४ दिशाओं के ४ दलों पर णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं, ये ४ मंत्र पद और विदिशाओं के चार पत्रों पर सम्यग्दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नमः, सम्यक् चारित्राय नमः, सम्मक्तपसे नमः इन चार नमस्कार मंत्रों का चिन्तवन करें, इस प्रकार अष्टदल का कमल और एक कर्णिका में नव मंत्रों को स्थापन कर चिन्तवन करें ।

श्रियमात्यन्तिकीं प्राप्ता योगिनो येऽत्र केचन ।
अमुमेव महामन्त्रं ते समाराध्य केवलम् ।।४६७।।

इस लोक में जिन कितने ही योगियों ने आत्यन्ति की लक्ष्मी (मोक्ष लक्ष्मी) को प्राप्त किया है, उन सबों ने एक मात्र इस महामन्त्र का आराधन करके ही प्राप्त किया है ।

प्रभावमस्य निःशेषं योगिनामप्यगोचरम् ।
अनीभिज्ञो जनो ब्रूते यः स मन्येऽनिलादित ।।४६८।।

इस महामन्त्र का पूर्ण प्रभाव योगी मुनीश्वरों के भी अगोचर है, उनके द्वारा भी कहने में नहीं आता और जो इसको नहीं जानने वाला पुरुष इसके प्रभाव को कहता है, उसको मैं वायु रोग से प्रलाप करने वाला मानता हूँ ।

अनेनैव विशुद्धयन्ति जन्तवः पापपङ्किता ।
अनेनैव विमुच्यन्ते भवक्लेशान्मनीषिणः ।।४६९।।

जो जीव पाप से मलिन हैं, वे इसी मन्त्र से विशुद्ध होते हैं और इसी मन्त्र

अष्टदल कमल का ध्यान

(पी. प्र. वि. चित्र नं. १)

षोडशाक्षरी ध्यान जप

(गो प्र. चि शिव सं० १८)

के प्रभाव से मनीषिगण (बुद्धिमान्) संसार के क्लेशों से छूटते हैं।

असावेव जगत्यस्मिन्भव्यव्यसन बान्धवः।
अमुं विहाय सत्त्वानां नान्यः कश्चित्त्वत्कृपापरः ॥५००॥

भव्य जीवों को आपदा के समय यही मन्त्र इस जगत में बांधव (मित्र) है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी जीवों पर कृपा करने में तत्पर नहीं हैं।

भावार्थ :—सबका रक्षक यही एक महामन्त्र है।

एतद् व्यसन पातालं भ्रमत्संसार सागरे।
अनेनैव जगत्सर्वमुद्धृत्य विधृतं शिवे ॥५०१॥

आपदा अर्थात कष्ट ही है पातालगर्त्त जिसमें ऐसे संसार रूपी समुद्र में भ्रमते हुए इस जगत को इस मन्त्र ने ही उद्धार करके मोक्ष में धारण किया है।

कृत्वा पाप सहस्त्राणि हत्वा जन्तु शतानि च।
अमुं मन्त्रं समाराध्य तिर्यञ्चोऽपि दिवं गताः ॥५०२॥

पूर्व काल में हजारों पाप करके तथा सैकड़ों जीवों को मार कर तिर्यञ्च भी इस महामन्त्र का शुद्ध भावों से आराधन करके स्वर्ग को प्राप्त हुए हैं, उनकी कथा पुराणों में प्रसिद्ध है।

शतमष्टोत्तर चास्य त्रिशुद्धया चिन्तयन्मुनिः।
भुञ्जानोऽपि चतुर्थस्य प्राप्नोत्य विकलं फलम् ॥५०३॥

मन वचन काय को शुद्ध करके इस मन्त्र को एक सौ आठ बार चिन्तवन करें तो वह मुनि आहार करता हुआ भी चतुर्थ कहिये एक उपवास के पूर्ण फल को प्राप्त होता है। चित्र नं० १७।

षोडशाक्षरी विद्या का ध्यान—

स्मर पञ्च पदोद्भूतां महाविद्यां जगन्नुताम्।
गुरु पञ्चक नामोत्थां षोडशाक्षर राजिताम् ॥५०४॥

हे मुने! तू सोलह अक्षरों से विराजमान जो महाविद्या है, उसका स्मरण कर अर्थात् ध्यान कर; क्योंकि षोडशाक्षरी विद्या पञ्च पदों और पंच परम गुरु के नामों से उत्पन्न हुई है और जगत मात्र से नमस्कार करने योग्य है; वह सोलह अक्षरी विद्या यह है—अर्हंत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः।

अस्याः शतद्वयं ध्यानी जपन्नेकाग्रमानसः ।
अनिच्छन्नप्यवाप्नोति चतुर्थ तपसः फलम् ॥५०५॥

जो जीव षोडशाक्षरी विद्या का एकाग्र मन होकर, दो सौ वार जप करता है, वह नहीं चाहता हुआ भी चतुर्थ तप अर्थात् एक उपवास के फल को प्राप्त होता है। चित्र नं० १८।

षडाक्षरी विद्या का ध्यान—

विद्यां षड्वर्णसम्भूतामजय्यां पुण्य शालिनीम् ।
जपन्प्रागुक्तमभ्येति फलं ध्यानी शत त्रयम् ॥५०६॥

तथा "अरहन्त सिद्ध" इस प्रकार छह अक्षरों से उत्पन्न हुई विद्या का तीन सौ वार जप करने वाला मनुष्य एक उपवास के फल को प्राप्त होता है, क्योंकि यह षडक्षरी विद्या जप्य है और पुण्य को उत्पन्न करने वाली तथा पुण्य से शोभित है। चित्र नं० १६।

चार अक्षर की विद्या का ध्यान--

चतुर्वर्णमयं मन्त्रं चतुर्वर्ग फल प्रदम् ।
चतुः शतं जपन्योगी चतुर्थस्य फलं लभेत् ॥५०७॥

"अरहंत" इन चार अक्षरों का मन्त्र है, सो धर्म अर्थ काम मोक्ष रूप फल को देने वाला है इसका जो चार सौ वार जप करता है, वह एक उपवास का फल पाता है।

दो अक्षर वाली विद्या का ध्यान---

वर्णयुग्मं श्रुत स्कन्धसार भूतं शिवप्रदम् ।
ध्यायेज्जन्मोद्भवाशेषक्लेश विध्वंसनक्षमम् ॥५०८॥

'सिद्ध' इन दो अक्षरों का युग्म है, सो श्रुत स्कन्ध (द्वादशांग शास्त्र) का सार भूत है, मोक्ष को देने वाला है, संसार से उत्पन्न हुए समस्त क्लेशों को नाश करने में समर्थ है, इसलिये योगी इसका ध्यान करें।

एक अक्षर का जाप—

अवर्णस्य सहस्त्रार्द्धं जपन्नानन्दसंभृतः ।
प्राप्नोत्येकोपवासस्य निर्जरं निर्जिताशयः ॥५०९॥

जो मुनि अपने चित्त को वश करके आनंद से 'अ' इस वर्ण मात्र का पांच

षडाक्षरी ध्यान

(गो. ग्र. चि. चित्र नं. १६)

१३ अक्षरी विद्या का ध्यान

(गा. सं. चि. चित्र क्रं. ३८)

सौ बार जप करता है; वह एक उपवास के निर्जरा रूप फल को प्राप्त होता है।

एतद्धि कथितं शास्त्रे रुचिमात्र प्रसाधकम् ।
किन्त्वमीषां फलं सम्यक्स्वर्ग मोक्षैक लक्षणम् ।।५१०।।

यह जो शास्त्र में इन मन्त्रों का उपवास रूप फल कहा है सो केवल मन्त्र जपने की रुचि कराने के लिये है, किन्तु वास्तव में उक्त मंत्रों का उत्तम फल स्वर्ग और मोक्ष ही है।

पंचाक्षरी विद्या का ध्यान—

पञ्च वर्णं मयीं विद्यां पञ्च तत्त्वोपलक्षिताम् ।
मुनि धीरैः श्रुत स्कन्धा द्बीज बुद्धया समुद्धताम् ।।५११।।

पाँच तत्त्वों से युक्त, पाँच अक्षर मयी विद्या को मुनिश्वरों ने द्वादशांग शास्त्र में से सारभूत समझ कर निकाली है; वह पंचाक्षर मयी विद्या "ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः असि आ उ सा नमः" इस प्रकार है।

अस्यां निरन्तराभ्यासा द्वशीकृत निजाशयः ।
प्रोच्छिनत्त्याशु निःशङ्को निर्गूढं जन्म बन्धनम् ।।५१२।।

इस पूर्वोक्त पंचाक्षरमयी विद्या में निरन्तर अभ्यास करने से वशीभूत कर लिया है, मन जिसने ऐसा मुनि निःशंक होकर अति कठिन संसार रूपी बन्धन को शीघ्र ही काट देता है।

मंगलोत्तमशरण पदों के ध्यान का फल—

मङ्गल शरणोत्तम पद निकुरम्बं यस्तु संयमी स्मरति ।
अविकलमेकाग्रधिया स चापवर्गश्रियं श्रयति ।।५१३।।

जो संयमी मुनि एकाग्र बुद्धि से मंगल, शरण, उत्तम इन पदों के समूह का स्मरण करता है, वह मोक्ष लक्ष्मी का आश्रय करता है। वह मंगलकारक उत्तम पदों का समूह यह है—चत्तारि मंगलं। अरहन्त मंगलं। सिद्ध मंगलं। साहू मंगलं। केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं। चत्तारि लोगुत्तमा। अरहन्त लोगुत्तमा। सिद्ध लोगुत्तमा। साहू लोगुत्तमा। केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा। चत्तारि सरणं पव्वज्जामि। अरहंते सरणं पव्वज्जामि। सिद्धे सरणं पव्वज्जामि। साहू सरणं पव्वज्जामि। केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि।

तेरह अक्षर वाली विद्या का ध्यान—

सिद्धेः सौधं समारोढुमियं सोपान मालिका ।
त्रयोदशाक्षरोत्पन्ना विद्या विश्वाति शायिनी ॥५१४॥

जगत में अतिशय रूप तेरह अक्षरों से उत्पन्न हुई यह विद्या मोक्ष के महल पर चढ़ने के लिए सीढ़ियों की पंक्ति है। वह १३ तेरह अक्षर का मंत्र 'ॐ अर्हंत् सिद्ध सयोग केवली स्वाहा' इस प्रकार है।

प्रसादयितुमुद्युक्तं मुक्ति कान्तां यशस्विनीम् ।
दूतिकेयं मता मन्ये जगद्वन्द्यै मुनीश्वरैः ॥५१५॥

यश की धारक मुक्ति रूपी स्त्री को प्रसन्न करने के लिए उद्यमी हुये ऐसे तथा जगत् से पूज्य मुनीश्वरों ने इस तेरह अक्षरी विद्या को मुक्ति को प्रसन्न करने के अर्थ दूती माना है, ऐसा मैं मानता हूँ। (चित्र नं. २०)

नीचे लिखित विद्या का चिन्तवन का प्रभाव जो सप्ताक्षरमय है—

सकल ज्ञान साम्राज्य दान दक्षं विचिन्तय ।
मन्त्रं जगत्त्रयी-नाथ-चूडारत्नं कृपास्पदम् ॥५१६॥

यह मन्त्र सकल ज्ञान के साम्राज्य (केवल ज्ञान) के देखने में प्रवीण है और जगत्त्रय के नाथों के चूड़ा रत्न समान है तथा कृपा का स्थान है, सो हे मुने, तू चिन्तवन कर। वह मन्त्र—'ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं नमः' है।

न चास्य भुवने कश्चित्प्रभावं गदितुं क्षमः ।
श्रीमत्सर्वज्ञ देवेन यः साम्यमवलम्बते ॥५१७॥

इस मन्त्र का प्रभाव लोक में कोई भी कहने को समर्थ नहीं है, क्योंकि वह मन्त्र श्रीमत्सर्वज्ञ देव की समानता को धारण करने वाला है। (चित्र २१)

पंचाक्षरी विद्या का प्रभाव—

स्मरकर्म कलङ्कौघ ध्वान्त विध्वंस भास्करम् ।
पञ्च वर्णं मयं मंत्रं पवित्रं पुण्य शासनम् ॥५१८॥

हे मुने, तू पंच अक्षरमयी जो मन्त्र है, उसे चिन्तवन कर; क्योंकि यह मन्त्र कर्म कलंकों के समूह रूप अंधकार का विध्वंस करने को सूर्य के समान है, पवित्र है और पुण्य शासन है। यह मन्त्र 'णमो सिद्धाणं' यह है। (चित्र नं. २२ देखें)

पंचाक्षरी विद्या का ध्यान

(गो. प्र. चि. चित्र नं० ५७)

क्लेशसंतति काटने वाली विद्या और उसका प्रभाव—

सर्व सत्त्वाभयस्थानं वर्णमाला विराजितं ।
स्मर मंत्रं जगज्जंतुक्लेश संततिघातकम् ॥५१९॥

हे मुनि! तू समस्त जीवों का अभय स्थान तथा जगत के जीवों के क्लेश की सन्तति को काटने वाला और अक्षरों की पंक्ति से विराजमान ऐसे मन्त्र का चिन्तवन कर। वह मन्त्र यह है—'ॐ नमोऽर्हते केवलिने परमयोगिनेऽनन्त शुद्धि परिणाम विस्फुर दुरु शुक्लध्यानाग्नि निर्दग्ध कर्म बीजाय प्राप्तानन्त चतुष्टयाय सौम्याय शान्ताय मंगलाय वरदाय अष्टादश दोष रहिताय स्वाहा'।

मुख कमल में मंत्र का ध्यान—

स्मरेन्दु मण्डलाकारं पुण्डरीकं मुखोदरे ।
दलाष्टक समासीनं वर्णाष्टक विराजितं ॥५२०॥

हे मुने! तू मुख में चन्द्र मण्डल के आकार का, आठ अक्षरों से शोभायमान, आठ पत्रों का एक कमल चिन्तवन करे।

ॐणमो अरहंताणमिति वर्णानपि क्रमात् ।
एकशः प्रतिपत्रं तु तस्मिन्नेव निवेशयेत् ॥५२१॥

'ॐ णमो अरहंताणं' ये आठ अक्षर मुख में स्मरण किये हुए उस कमल के आठों पत्रों पर क्रम से एक-एक अक्षर का स्थापन कर ध्यान करना चाहिए।

स्वर्णगौरीं स्वरोद्भूतां केशरालीं ततः स्मरेत् ।
कर्णिकां च सुधास्यन्द बिन्दु व्रज विभूषिताम् ॥५२२॥

तत्पश्चात् अमृत के झरनों के विन्दुओं से सुशोभित कर्णिका का चिन्तवन करे और उसमें स्वरों से उत्पन्न हुई तथा सुवर्ण के समान गौर वर्ण वाली केशरों की पंक्ति का ध्यान करे।

प्रोद्यत्संपूर्ण चंद्राभं चंद्राबिम्बाच्छनैः शनैः ।
समागच्छत्सुधाबीजं माया वर्णं तु चिंतयेत् ॥५२३॥

पश्चात् उदय को प्राप्त होते हुये, पूर्ण चन्द्रमा के कान्ति समान, चन्द्रबिंब से मंद-मंद अमृत बीज को प्राप्त होते हुए माया वर्ण ह्रीं का चिन्तन करे।

मायाबीज ह्रीं का ध्यान—

विस्फुरन्तमति स्फीतं प्रभा मण्डल मध्यगम् ।
संचरन्तं मुखाम्भोजे तिष्ठन्तं कर्णिकोपरि ॥५२४॥

भ्रमन्तं प्रतिपत्रेषु चरन्तं वियति क्षणे ।
छेदयन्तं मनोध्वान्तं स्रवन्त ममृताम्बुभिः ।।५२५।।
व्रजन्तं तालुरन्ध्रेण स्फुरन्तं भ्रूलतान्तरे ।
ज्योतिर्मय मिवा चिन्त्य प्रभावं भावयेन्मुनिः ।।५२६।।

उपर्युक्त माया बीज ह्रीं अक्षर को स्फुरायमान होता हुआ, अत्यन्त उज्जवल प्रभा मंडल के मध्य प्राप्त हुआ, कभी पूर्वोक्त मुखस्थ कमल में संचरता हुआ तथा कभी-कभी उसकी कर्णिका के उपरि तिष्ठता हुआ, तथा कभी-कभी उस कमल के आठों दलों पर फिरता हुआ तथा कभी-कभी क्षण भर में आकाश में चलता हुआ, मन के अज्ञान अंधकार को दूर करता हुआ, अमृतमयी जल से चूता हुआ तथा तालुका के छिद्र से गमन करता हुआ तथा भौंहों की लताओं में स्फुरायमान होता हुआ, ज्योतिर्मय के समान अचिन्त्य है प्रभाव जिसका ऐसे माया वर्ण का चिन्तवन करे ।

वाक्यथातीत माहात्म्यं देव दैत्योरगार्चितम् ।
विद्यार्णवमहापोतं विश्वतत्त्व प्रदीपकम् ।।५२७।।

इस मन्त्र का महात्म्य वचनातीत है, इसको देव दैत्य नागेन्द्र पूजते हैं तथा यह मन्त्र विद्यारूपी समुद्र के तिरने को महान् जहाज है और जगत के पदार्थों को दिखाने के लिए दीपक ही है ।

अमुमेव महामन्त्रं भावयन्नस्त संशयः ।
अविद्या व्याल संभूत विष वेग निरस्यति ।।५२८ ।।

इसी महामन्त्र का संशय रहित होकर ध्यान करने वाला मुनि अविद्या रूपी सूर्य से उत्पन्न हुए विष के वेग को दूर करता है ।

इति ध्यायन्नसौ ध्यानी तत्संलीनैक मानसः ।
वाङ्मनोमल मुत्सृज्य श्रुताम्भोधिं विगाहते ।।५२९।।

ऐसे पूर्वोक्त प्रकार इस मन्त्र का ध्यान करता हुआ और उस ध्यान में ही लीन है, मन जिसका ऐसा जो ध्यानी है, वह अपने मन तथा वचन के मल को नष्ट करके श्रुत समुद्र में अवगाहन करता है अर्थात् शास्त्र रूपी समुद्र में तैरता है ।

ततो निरन्तराभ्यासान्मासैः षड्भिः स्थिराशयः ।
मुखरन्ध्राद्वि निर्यान्तीं धूमवर्तिं प्रपश्यति ।।५३०।।

तत्पश्चात् वह ध्यान स्थिर चित्त होकर निरन्तर अभ्यास करने पर छह

महीने में अपने मुख में निकलती हुई (धूम) धुंये की वर्त्तिका देखता है ।

ततः संवत्सरं यावत्तथैवाभ्यस्यते यदि ।
प्रपश्यति महाज्वालां निःसरन्तीं मुखोदरात् ।।५३१।।

तत्पश्चात् यदि एक वर्ष पर्यन्त उसी प्रकार अभ्यास करे तो मुख में से निकलती हुई महा अग्नि की ज्वाला को देखता है ।

ततोऽतिजात संवेगो निर्वेदालम्बितो वशी ।
ध्यायन्पश्यत्य विश्रान्तं सर्वज्ञ मुख पङ्कजम् ।।५३२।।

तत्पश्चात् अतिशय उत्पन्न हुआ है, धर्मानुराग जिसके ऐसा वैराग्यावलम्बित जितेन्द्रिय मुनि निरन्तर ध्यान करता-करता सर्वज्ञ के मुख कमल को देखता है ।

अथाप्रति हतानन्द प्रीणितात्मा जितश्रमः ।
श्रीमत्सर्वज्ञ देवेशं प्रत्यक्षमिव वीक्षते ।।५३३।।

यहां से वही ध्यानी अनिवारित आनंद से तृप्त है, आत्मा जिसका और जीता है दुःख जिसने ऐसा होकर श्रीमत्सर्वज्ञ देव का प्रत्यक्ष अवलोकन करता है ।

सर्वातिशय संपूर्ण दिव्यरूपोपालक्षितम् ।
कल्याणमहिमोपेतं सवसत्त्वाभय प्रदम् ।।५३४।।

सर्वज्ञ को ध्यानी कैसे प्रत्यक्ष देखता है कि सर्व अतिशयों से परिपूर्ण दिव्य रूप से उपलक्षित पंच कल्याणक की महिमा सहित समस्त जीवों को अभयदान देने वाला है ।

प्रभावलय मध्यस्थं भव्य राजीव रञ्जकम् ।
ज्ञान लीलाधरं वीरं देवदेवं स्वयंभुवम् ।।५३५।।

प्रभावलय के बीच में स्थित हुए भव्यरूप कमलों को रंजायमान करने वाले, ज्ञान की लीला के धरने वाले, विशिष्ट लक्ष्मी वाले, देवों के देव स्वयंभू ऐसे सर्वज्ञ को साक्षात् देखता है ।

ततो विधूत तन्द्रोऽसौ तस्मिन्संजातनिश्चयः ।
भवभ्रम मपाकृत्य लोकाग्रमधि रोहति ।।५३६।।

तत्पश्चात् इस मन्त्र का ध्यान करने वाला मुनि प्रमाद को नष्ट करके तथा इस मंत्र में सर्वज्ञ के स्वरूप का निश्चय हो जाने पर संसार भ्रम को दूर करके लोक के अग्रभाग मोक्ष स्थान का आश्रय करता है ।

इस प्रकार मुख कमल में अष्टदल कमल में आठ अक्षरों को स्थापन करके कर्णिका के केशरों में सोलह स्वर स्थापन पूर्वक हीं वर्ण का जो पूर्वोक्त प्रकार से ध्यान करे, उसका फल (महिमा) वर्णन किया। चित्र नं २३।

ह्वीं, विद्याका ध्यान किस प्रकार करना चाहिये ?

स्मर सकल सिद्ध विद्यां प्रधानभूतां प्रसन्न गम्भीराम् ।
विधु बिम्ब निर्गतामिव क्षरत्सुधार्द्रां महाविद्याम् ।।५३७।।

हे मुने, तू सकल सिद्ध विद्या का भी चिंतवन कर, क्योंकि वह विद्या प्रधान स्वरूप है, प्रसन्न है, गम्भीर है तथा चन्द्रमा के विम्ब से निकली हुई के समान जो झरती हुई सुधा है, उससे आर्द्रित है; ऐसी वह महाविद्या 'ह्वीं' ऐसा अक्षर है।

अविचल मनसा ध्यायंल्ललाट देशे स्थितामिमां देवीम् ।
प्राप्नोति मुनिरजस्त्रं समस्त कल्याण निकुरम्बम् ।।५३८।।

इस विद्या देवी को ललाट देश पर स्थित करके, निश्चल मन से निरन्तर ध्यान करता हुआ मुनि समस्त कल्याण के समूह को प्राप्त होता है।

अमृत जलधिगर्भान्निः सरन्तीं सुदीप्ता,
मलकतल निषण्णां चन्द्रलेखां स्मरत्वम् ।
अमृतकण विकीर्णां प्लावयन्तीं सुधाभिः,
परम पद धरित्र्यां धारयन्तीं प्रभावम् ।।५३९।।

हे मुनि, तू इस अमृत के समुद्र से निकलती हुई, भले प्रकार देदीप्यमान, ललाट देश स्थित, अमृत के कणों से बिखरी हुई और अमृत से आर्द्रित करती हुई, चंद्रलेखा का स्मरण कर; क्योंकि यह विद्या मोक्षरूपी पृथ्वी में अपने प्रभाव को धारण करने वाली है।

एतां विचिन्तयन्नेव स्तिमितेनान्तरात्मना ।
जन्मज्वरक्षयं कृत्वा याति योगी शिवास्पदम् ।।५४०।।

इस विद्या को पूर्वोक्त प्रकार से अपने निश्चल मन से ध्यान करता हुआ ध्यानी योगी संसाररूप ज्वर का क्षय करके मोक्ष स्थान को प्राप्त होता है।

चित्र नं० २३–क देखें।

अष्टाक्षरीविद्या स्वर और मायाबीज का ध्यान

(मां प्र. चि. चित्र नं० ८३)

दाँत पिसा का दर्शन

(...)

"णमो अरहंताणं" सप्ताक्षरी विद्या

(गो. प्र. चि. चित्र नं० २६ ब)

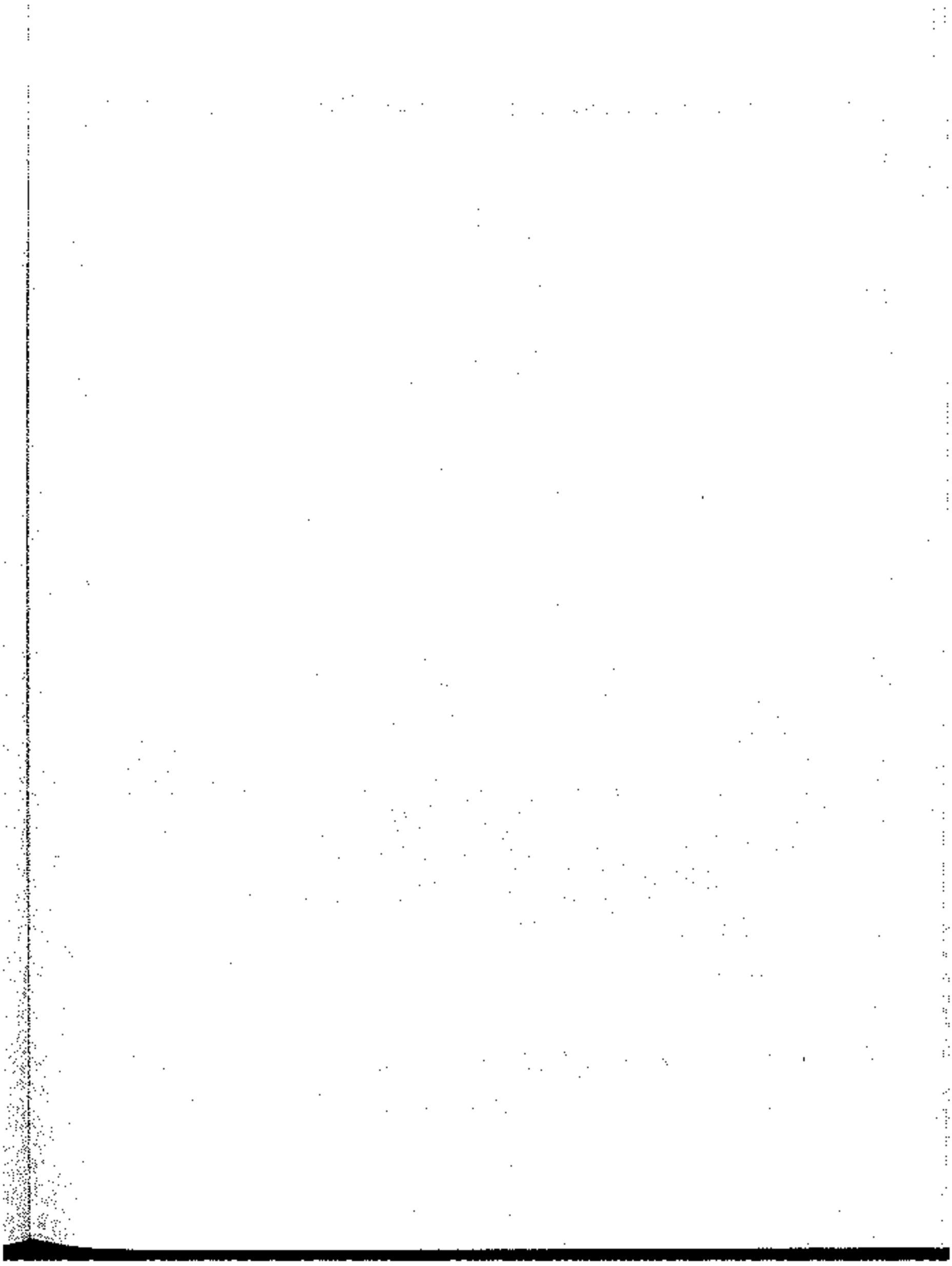

(ओ. प्र. चि. चित्र सं० ४५)

सप्ताक्षरीविद्या का स्मरण कैसे करें ?

यदि साक्षात्समुद्विग्नो जन्मदावोग्र संक्रमात् ।
तदा स्मरादि मन्त्रस्य प्राचीनं वर्ण सप्तकम् ।।५४१।।

हे मुने, जो तू संसाररूप अग्नि के तीव्र संक्रम (संयोग) से उद्वेगरूप हुआ है, अर्थात् दुःखी हुआ है तो आदि मंत्र जो पंच नमस्कार मन्त्र है, उसके पहिले सात अक्षरों का ध्यान कर, वे सात अक्षर 'णमो अरहंताणं' ये हैं। चित्र नं० २३ ख।

प्रणव, शून्य तथा अनाहत ये तीन अक्षरों को कहां स्थापन कर ध्यान करना चाहिये–

यदत्र प्रणवं शून्यमनाहतमिति त्रयम् ।
एतदेव विदुः प्राज्ञास्त्रैलोक्य तिलकोत्तमम् ।।५४२।।

जो इस प्रकरण में प्रणव और शून्य तथा अनाहत ये तीन अक्षर हैं, इन तीनों (ॐ ह् अ) अक्षरों को ही बुद्धिमानों ने तीन लोक के तिलक समान कहा है।

नासाग्रदेश संलीनं कुर्वन्नत्यन्त निर्मलम् ।
ध्याता ज्ञानम वाप्नोति प्राप्यपूर्वं गुणाष्टकम् ।।५४३।।

इन तीन अक्षरों को नासिका के अग्र भाग में अत्यन्त लीन करता हुआ, ध्यानी अणिमा महिमादिक आठ ऋद्धियों को प्राप्त होकर तत्पश्चात् अति निर्मल ज्ञान (केवलज्ञान) को प्राप्त होता है।

शङ्खेन्दुकुन्द धवला ध्याता देवास्त्रयो विधानेन ।
जनयन्ति सर्व विषयं बोधं कालेन तद्ध्यानात् ।।५४४।।

पूर्वोक्त ये तीन देव (अक्षर) शंख के समान, कुन्द के पुष्प के समान तथा चन्द्रमा समान विधानपूर्वक ध्याये जायें तो इनके ध्यान से कितने ही काल में समस्त विषयों का ज्ञान करने वाला केवलज्ञान उत्पन्न होता है। चित्र नं० २४।

अंत में है हंसपद जिसके ऐसे प्रणव और मायाबीजों का ध्यान कहां करना चाहिये ?

प्रणव युगलस्य युग्मं पार्श्वे माया युगं विचिन्तयति ।
मूर्द्धस्थं हंस पदं कृत्वा व्यस्तं वितन्द्रात्मा ।।५४५।।

प्रणव युगल कहिये दो ओंकार का युग्म और दोनों तरफ दो माया युगल ह्रीं ह्रीं ऐसे और इनके उपरि हंस पद रखकर, प्रमाद रहित होकर, ध्यानी भिन्न-भिन्न चिंतवन करे। वह मंत्र 'ह्रीं ॐ ॐ ह्रीं हंसः' ऐसा है।

स्त्रीं, बीज का कहां ध्यान करना चाहिये ?

ततो ध्यायेन्महाबीजं स्त्रीकारं छिन्नमस्तकम् ।
अनाहतयुतं दिव्यं विस्फुरन्तं, मुखोदरे ।।५४६।।

तत्पश्चात् महाबीज जो 'स्त्रीं' ऐसा अक्षर और छिन्न मस्तक अर्थात् जिस पर विन्दु, अनुस्वार नहीं है, उसको अनाहत सहित दिव्य मुख पर स्फुरायमान होता हुआ चितवन करे । चित्र नं० २५ ।

वर्द्धमान प्रभू के मुख से निकलने वाली कौन विद्या है ?

श्री वीर वदनोद्गीर्णां विद्यां चाचिन्त्यविक्रमाम् ।
कल्पवल्ली मिवाचिन्त्य फल संपादने क्षमाम् ।।५४७।।

और श्री वीर वर्द्धमान भगवान के मुख से निकली हुई विद्या का चितवन करे; कैसी है, वह विद्या ? अचिन्त्य पराक्रम वाली और कल्पवेल के समान अचिन्त्य फल देने में समर्थ है । ऐसी विद्या "ॐ जोग्गे मग्गेतच्चे भूदे भव्वे भविस्से अक्खे-पक्खे जिणपारिस्से स्वाहा" तत्पश्चात् ऐसा मंत्र है, "ॐ ह्रीं स्वर्ह नमो नमोऽर्हताणं ह्रीं नमः" ऐसे अक्षर हैं ।

इस विद्या का ध्यान करने से क्या फल मिलता है ?

विद्यां जपति य इमां निरन्तरं शान्त विश्वविस्पन्दः ।
अणिमादि गुणांल्लब्ध्वा ध्यानी शास्त्रार्णवं तरति ।।५४८।।

जो ध्यानी शान्त वेग निश्चल होकर इस विद्या को निरन्तर जपता है, वह अणिमादिक गुणों को प्राप्त होकर, शास्त्र समुद्र के पार हो जाता है अर्थात् श्रुत केवली होता है ।

त्रिकाल विषयं साक्षाज्ज्ञान मस्योपजायते ।
विश्वतत्त्व प्रबोधश्च सततभ्यासयोगतः ।।५४९।।

इस विद्या का ध्यान करने वाले के निरन्तर अभ्यास करने से समस्त तत्त्वों का ज्ञान और त्रिकाल विषयक साक्षात् ज्ञान कहिये केवलज्ञान उत्पन्न होता है ।

समस्त उपसर्ग हर विद्या के ध्यान का फल—

साम्यन्ति जन्तवः क्रूरास्तथान्ये व्यन्तरादयः ।
ध्यान विध्वंस कर्तारो येन तद्धि प्रपञ्च्यते ।।५५०।।

अब ध्यानी के उपसर्ग करने वाले क्रूर जन्तु तथा ध्यान को नाश करने वाले व्यन्तरादिक जिस ध्यान से उपशमता को प्राप्त होते हैं, उस ध्यान का विस्तार से वर्णन करते हैं ।

दिग्दलाष्टक सम्पूर्णे राजीवे सुप्रतिष्ठितम् ।
स्मरत्वात्मानमत्यन्त स्फुर द्ग्रीष्मार्क भास्करम् ।।५५१।।

प्रणवाद्यस्य मन्त्रस्य पूर्वादिषु प्रदक्षिणम् ।
विचिन्तयति पत्रेषु वर्णैकैकमनुक्रमात् ।।५५२।।

अधिकृत्य छदं पूर्वं सर्वाशासन्मुखः परम् ।
स्मरत्यष्टाक्षरं मन्त्रं सहस्त्रैकं शताधिकम् ।।५५३।।

प्रत्यहं प्रतिपत्रेषु महेन्द्रा शाद्यनुक्रमात् ।
अष्ट रात्रं जपेद्योगी प्रसन्नामल मानसः ।।५५४।।

तस्याचिन्त्य प्रभावेण क्रूराशय कलङ्किताः ।
त्यजन्ति जन्तवो दर्पं सिंहत्रस्ता इव द्विपाः ।।५५५।।

आठ दिशा सम्बन्धी आठ पत्रों से पूर्ण कमल में भले प्रकार स्थापित और अत्यन्त स्फुरायमान ग्रीष्मऋतु के सूर्य के समान देदीप्यमान आत्मा का स्मरण करे । प्रणव है, आदि में जिसके ऐसे मन्त्र को पूर्वादिक दिशाओं में प्रदक्षिणा रूप एक-एक पत्र पर अनुक्रम से एक-एक अक्षर का चिन्तवन करे । वे अक्षर "ॐ णमो अरहंताणं" ये हैं । इनमें से प्रथम पत्र को मुख्य करके सर्व दिशाओं के सन्मुख होकर इस अष्टाक्षर मंत्र को ग्यारह सौ बार चिन्तवन (ध्यान) करे । इस प्रकार प्रतिदिन प्रत्येक पत्र में पूर्व दिशादिक के अनुक्रम से आठ रात्रि पर्यन्त प्रसन्न होकर जपे । उसके अचिन्त्य प्रभाव से क्रूरचित जीव सिंह से भयभीत होकर जिस प्रकार हाथी गर्व छोड़ देते हैं, उसी प्रकार अपना गर्व छोड़ देते हैं ।

प्रणववर्जित सप्ताक्षरी विद्या और उसके ध्यान का फल—

अष्टरात्रे व्यतिक्रान्ते कमलस्यास्यवर्त्तिनः ।
निरूपयति पत्रेषु वर्णानेलाननुक्रमात् ।।५५६।।

आलम्ब्य प्रक्रियामेना पूर्वं विघ्नौघशान्तये ।
पश्चात्सप्ताक्षरं मन्त्रम् ध्यायेत्प्रणव वर्जितं ।।५५७।।

मन्त्रः प्रणवपूर्वोऽयं निश्शेषाभीष्टसिद्धिदः ।
ऐहिकानेक कामार्थं मुक्त्यर्थं प्रणवच्युतः ॥५५८॥

तत्पश्चात् पूर्वोक्त आठ रात्रियों के व्यतीत होने के पश्चात् इस कमल के पत्रों पर वर्तने वाले अक्षरों को अनुक्रम से निरूपण करके देखें। इस प्रकार इस प्रक्रिया को प्रथम विघ्न के समूह की शान्ति के लिए आलंबन करके तत्पश्चात् प्रणववर्जित सात अक्षर स्वरूप "णमो अरहंताणं" इस मन्त्र का ध्यान करे। जब इस मन्त्र को प्रणवपूर्वक ध्यावे, तब यह समस्त मनोवांछित सिद्धि का देने वाला है तथा इस लोक सम्बन्धी अनेक कार्यों के लिए है और प्रणववर्जित ध्यान करने से यह मन्त्र मुक्ति का कारण है। (चित्र नं. २६ देखें)

जन्म समूह का नाश करने वाली विद्या का फल—

स्मर मन्त्रपदं वान्यज्जन्मसंघात घातकम् ।
रागाद्युग्रतमस्तोमप्रध्वंसर विमण्डलम् ॥५५९॥

अब कहते हैं कि हे मुने, तू अन्य एक मन्त्र पद का स्मरण कर, क्योंकि वह मन्त्र जन्म समूह को घात करने वाला है और रागादिक रूप तीव्र अंधकार को नष्ट करने के लिए सूर्यमण्डल के समान है। वह मन्त्र "श्रीमद्वृषभादि वर्द्धमानान्तेभ्यो नमः" ऐसा है।

पाप भक्षिणि विद्या और उसका प्रभाव—

मनः कृत्वा सुनिष्कम्पं तां विद्यां पापभक्षिणीम् ।
स्मर सत्त्वोपकाराय या जिनेन्द्रैः प्रकीर्तिता ॥५६०॥

तत्पश्चात् हे मुने, तू निश्चल मन से उस पापभक्षिणी विद्या का स्मरण कर, जिसको कि समस्त जीवों के उपकारार्थ श्री जिनेन्द्र भगवान ने कही है। वह विद्या यह है "ॐ अर्हन्मुख कमलवासिनि पापात्मक्षयंकरि श्रुतज्ञान ज्वाला सहस्र प्रज्वलिते सरस्वति मत्पापं हन हन दह दह क्षां क्षीं क्षूं क्षैं क्षः क्षीरवर धवले अमृतसंभवे वं वं हूं हूं स्वाहा"। ये पाप भक्षिणी विद्या के अक्षर हैं।

चेतः प्रसत्तिमाधत्ते पापपङ्कः प्रलीयते ।
आविर्भवति विज्ञानं मुनेरस्याः प्रभावतः ॥५६१॥

इस पापभक्षिणी विद्या के प्रभाव से मुनि का चित्त प्रसन्नता को धारण करता है, पाप रूपी पंक प्रलय हो जाता है और विशिष्ट ज्ञान प्रकट होता है।

(गो. प्र. वि. चित्र नं० २६)

सिद्धधारणा

(गी. प्र. चि. चित्र सं० २६)

मुनिभिः संजयन्ताद्यैं विद्या वादात्समुद्धतम् ।
भुक्ति मुक्तेः परं धाम सिद्ध चक्राभिधम् स्मरेत् ।।५६२।।
तस्य प्रयोजकम् शास्त्रम् तदाश्रित्योरदेशतः ।
ध्येयम् मुनीश्चरैं जंन्म महाव्यसन शान्तये ।।५६३।।

तत्पश्चात् सिद्धचक्र नामा मंत्र को संजयन्तादिक महामुनियों ने विद्यानुवाद नामा दशम पूर्व से उद्धृत किया है, सो यह मन्त्र भोग और मोक्ष का उत्कृष्ट धाम है, इसका ध्यान करे। इस सिद्धचक्र मन्त्र के प्रयोजक शास्त्र का आश्रय लेकर उसके उपदेश से जन्मरूप महाकष्ट की शान्ति के लिए मुनीश्वरों को ध्यान करना चाहिये; इसके अक्षरादिक का विधान उसके प्रयोजक शास्त्र से जानना।

असि आउसा, विद्या का ध्यान—

स्मर मन्त्र पदाधीशम् मुक्ति मार्ग प्रदीपकम् ।
नाभि पङ्कज संलीन मवर्ण विश्वतोमुखं ।।५६४।।
सिवर्ण मस्तकाम्भोजे साकारं मुखपङ्कजे ।
आकारं कण्ठकञ्जस्थं स्मरोकारं हृदि स्थितम् ।।५६५।।

हे मुने! तू मन्त्र पदों का स्वामी और मुक्ति के मार्ग को प्रकाश करने वाले अकार अक्षर को नाभिकमल में चिन्तवन कर, यह अक्षर सर्वव्यापी है; और 'सि' अक्षर को मस्तक कमल पर, 'आ' अक्षर को कंठस्थ कमल में, 'उ' अक्षर को हृदय कमल पर, और 'सा' अक्षर को मुखस्थ कमल पर ऐसे 'अ सि आ उ सा' इन पाँच अक्षरों को पाँच स्थानों पर चिन्तवन कर। (चित्र नं. २८ देखे)

सर्व कल्याण बीजानि बीजान्यन्यान्यपि स्मरेत् ।
यान्याराध्य शिवं प्राप्ता योगिनः शीलसागराः ।।५६६।।

सर्व कल्याण के बीज अन्यान्य भी मंत्र हैं, जिनका आराधन करके शील के सागर योगी गण मोक्ष को प्राप्त हुये हैं, उन सब ही अक्षरों को ध्यानी मुनि चिन्तवन करे। "नमः सर्व सिद्धेभ्यः' यह भी एक मन्त्र पद है। (चित्र नं. २९ देखें)

श्रुत सिन्धु समुद्भूत मन्यद्वा पदमक्षरम् ।
तत्स मुनिभिर्ध्येयं स्यात्पदस्थ प्रसिद्धये ।।५६७।।

अन्य भी पद या अक्षर जो श्रुत समुद्र द्वादशांग शास्त्र से उत्पन्न हुए हैं, वे सब ही पदस्थ ध्यान की प्रसिद्धतार्थ होते हैं; उन्हें भी मुनिगुणों को ध्यान गोचर

करना चाहिये ।

एवं समस्तवर्णेषु मंत्र विद्या पदेषु च ।
काय क्रमेण विश्लेषो लक्ष्य भाव प्रसिद्धये ।।५६८।।

इस प्रकार समस्त अक्षरों में तथा मन्त्र पद और विद्या पदों में अनुक्रम से लक्ष्य भाव की प्रसिद्धता के लिए भेद करना अर्थात् भिन्न भिन्न चिन्तवन करना चाहिये।

अन्यद्यद्यच्छ्रुत स्कन्ध बीजं निर्वेदकारणं ।
तत्तद्ध्यायन्नसौ ध्यानी नापवर्ग पथि स्खलेत् ।।५६९।।

अन्य जो जो द्वादशांग शास्त्र के बीजाक्षर हैं तथा वैराग्य के कारण हैं, उन उन मंत्रों का ध्यान करता हुआ मुनि मोक्ष मार्ग में गमन करता हुआ डिगता नहीं । भावार्थ—जो ज्ञान वैराग्य के कारण मन्त्र, पद वा बीजाक्षर हैं, वे सब ही मोक्ष मार्ग में ध्यान करने योग्य (ध्येय) हैं ।

ध्येयं स्याद्वीत रागस्य विश्ववर्त्यर्थ संचयम् ।
तद्धर्मव्यत्ययाभावान्माध्यस्थ्यमधितिष्ठतः ।।५७०।।

जो वीतराग है, उसके इस लोक में प्रवर्त्तने वाले समस्त पदार्थों के समूह ध्येय हैं, क्योंकि वीतराग उस पदार्थ के स्वरूप में विपरीतता के अभाव से मध्यस्थता का आश्रय करता है । भावार्थ—वीतराग के ज्ञान में जो ज्ञेय आता है, उसका स्वरूप यथार्थ जानने के कारण उसके इष्ट अनिष्ट ममत्व भाव नहीं होते; इस कारण उनमें मध्यस्थ भाव रहता है, अर्थात् वीतरागता से नहीं डिगते ।

वीतरागो भवद्योगी यत्किञ्चिदपि चिन्तयेत् ।
तदेव ध्यान माम्नातमतोऽन्यद् ग्रन्थ विस्तरः ।।५७१।।

वीतराग योगी जो कुछ चिन्तवन करे, वही ध्यान है, इस कारण अन्य कहना वह ग्रन्थ का विस्तार मात्र है, वीतराग के सब ही ध्येय हैं ।

वीतरागस्य विज्ञेया ध्यान सिद्धिध्रुवं मुनेः ।
क्लेश एव तदर्थं स्याद्रागार्त्तस्येह देहिनः ।।५७२।।

जो मुनि वीतराग है, उसके ध्यान की सिद्धि अवश्य होती है और जो राग से पीड़ित है उसका ध्यान करना क्लेश के लिये ही है अर्थात् रागी के ध्यान की सिद्धि नहीं होती ।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि सर्वथा वीतराग तो सर्व मोह का अभाव होने से होता है; उसके ध्यान करने की इच्छा ही नहीं होती और जो इच्छा होती है, तो वह वीतराग कैसे हो ? उसका समाधान यह है कि यहां पर राग संसार देह भोग संबन्धी है, उसकी अपेक्षा वीतराग कहा है, ध्यान से राग करने को राग नहीं कहा जाता; क्योंकि ध्यान राग का अभाव करने वाला है; इस राग से भी मुनि के राग नहीं है, इस कारण वीतराग ही कहा जाता है; परमार्थ अपेक्षा यह एकदेश सर्वदेश का व्यवहार जानना ।

निर्मथ्य श्रुतसिन्धु मुन्नतधियः श्रीवीर चन्द्रोदये ।
तत्त्वान्येव समुद्धरन्ति मुनया यत्नेन रत्नान्यतः ।।
तान्येतानि हृदि स्फुरन्ति सुभगन्यासानि भव्यात्मनां ।
ये वाञ्छन्त्यनिशं विमुक्तिललानासम्भोग संभावनाम् ।।५७३।।

श्री वीर वर्द्धमान स्वामी रूप चन्द्र के उदय होते हुए जो उन्नत बुद्धि मुनि हैं, वे शास्त्र रूपी समुद्र को मथकर सुन्दर है रचना जिनकी ऐसे मंत्र रूप तत्त्वों (रत्नों) को निकालते हैं और ये सब मंत्र पदरूप रत्न मुक्ति रूपी स्त्री के संभोग की निरंतर वांछा करने वाले भव्य पुरुषों के ही हृदय में स्फुरायमान होते हैं ।

भावार्थ :—जो मुक्ति चाहने वाले हैं, वे इन मंत्र रूप पदों का अभ्यास करें ।

विलानाशेष कर्माणं स्फुरन्तमति निर्मलम् ।
स्वं ततः पुरुषाकारं स्वाङ्गमर्भगतं स्मरेत् ।।५७४।।

इन मंत्र पदों के अभ्यास के पश्चात् विलय हुए हैं । समस्त कर्म जिसमें ऐसे निर्मल स्फुरायमान अपने आत्मा को अपने शरीर में चिन्तवन (ध्यान) करें ।

भावार्थ :—इन मंत्र पदों के अभ्यास से विशुद्धता बढ़ती है और चित्त एकाग्र हो जाने पर शुद्ध स्वरूप का निर्मल प्रतिभास होता है और उस स्वरूप में उपयोग स्थिरता को प्राप्त होता है तथा संवर होता है और कर्मों की निर्जरा होती है, तथा घाति कर्मों का नाश करके केवल ज्ञान को प्राप्त हो मोक्ष को पाता है ।

इस प्रकार यह मंत्र पदों का ध्यान मोक्ष का महान् उपाय है और लौकिक प्रयोजन भी इससे अनेक प्रकार के सिद्ध होते हैं; अणिमा महिमादिक ऋद्धियां प्राप्त होती हैं, परन्तु मोक्ष के इच्छुक मुनियों को इनसे कोई प्रयोजन नहीं है ।

यहाँ कोई पूछे कि गृहस्थ इन मंत्रों का ध्यान करे कि नहीं ? उसका समाधान यह है कि जैसा ध्यान मुनि के होता है, वैसा गृहस्थ के होना ही नहीं, परन्तु जो अपनी शक्ति के अनुसार धर्मार्थी होकर ध्यान करे तो शुभ फल की प्राप्ति होती है; लौकिक प्रयोजन विषय कषाय साधने के लिये आकर्षण विद्वेषण उच्चाटन मारण आदि के लिये ध्यान करने का मोक्ष मार्ग में निषेध किया है।

चित्र नं० ३० का ध्यान।

मैं उस चौकी पर बैठा विचारता हूं कि मेरे नाभि स्थान पर सोलह पत्तों का श्वेत रंग का कमल खिला हुआ है। उस कमल में ह्रीं, माया बीज स्थापन है। वह कमल बहुत विस्तार में फैला है, तथा जो शुद्ध और साफ है। मैं अपनी ज्ञान दृष्टि उस पर जमाता हूं ऐसा विचार करें।

चित्र नं० ३१ देखें।

ध्यानी विचार करे की मेरे हृदय में आठ पांखुडी के कमल की रचना है, प्रत्येक पांखुडी पर बारा-बारा बिन्दु लगे हुवे हैं और बारह बिन्दु मध्य की कर्णिका पर लगे हुए हैं। इस प्रकार बिन्दु सहित कमल का विचार करके फिर प्रत्येक पांखुंडी की प्रत्येक बिन्दु पर णमोकार मंत्र का जप करे। इस प्रकार चिन्तवन करने से मन की एकाग्रता होती है।

रूपस्थ ध्यान का वर्णन

रूपस्थ ध्यान का स्वरूप—

आर्हत्य महिमोपेतं सर्वज्ञं परमेश्वरम्।
ध्यायेद्देवेन्द्र चन्द्रार्कसभान्तस्थं स्वयम्भुवम् ॥५७५॥
सर्वातिशय संपूर्णं सर्वलक्षण लक्षितम्।
सर्वभूत हितं देवं शील शैलेन्द्र शेखरम् ॥५७६॥
सप्त धातु विनिर्मुक्तं मोक्ष लक्ष्मी कटाक्षितम्।
अनन्त महिमा धारं सयोगि परमेश्वर ॥५७७॥
अचिन्त्य चरितं चारु चारित्रैः समुपासितम्।
विचित्र नय निर्णीतं विश्वं विश्वैक बान्धवम् ॥५७८॥
निरुद्ध करण ग्रामं निविद्ध विषय द्विषम्।
ध्वस्त रागादि सन्तानं भवज्वलन वार्मुचम् ॥५७९॥

कमलधारणा

(गो. प्र. चि. चित्र नं० ३०)

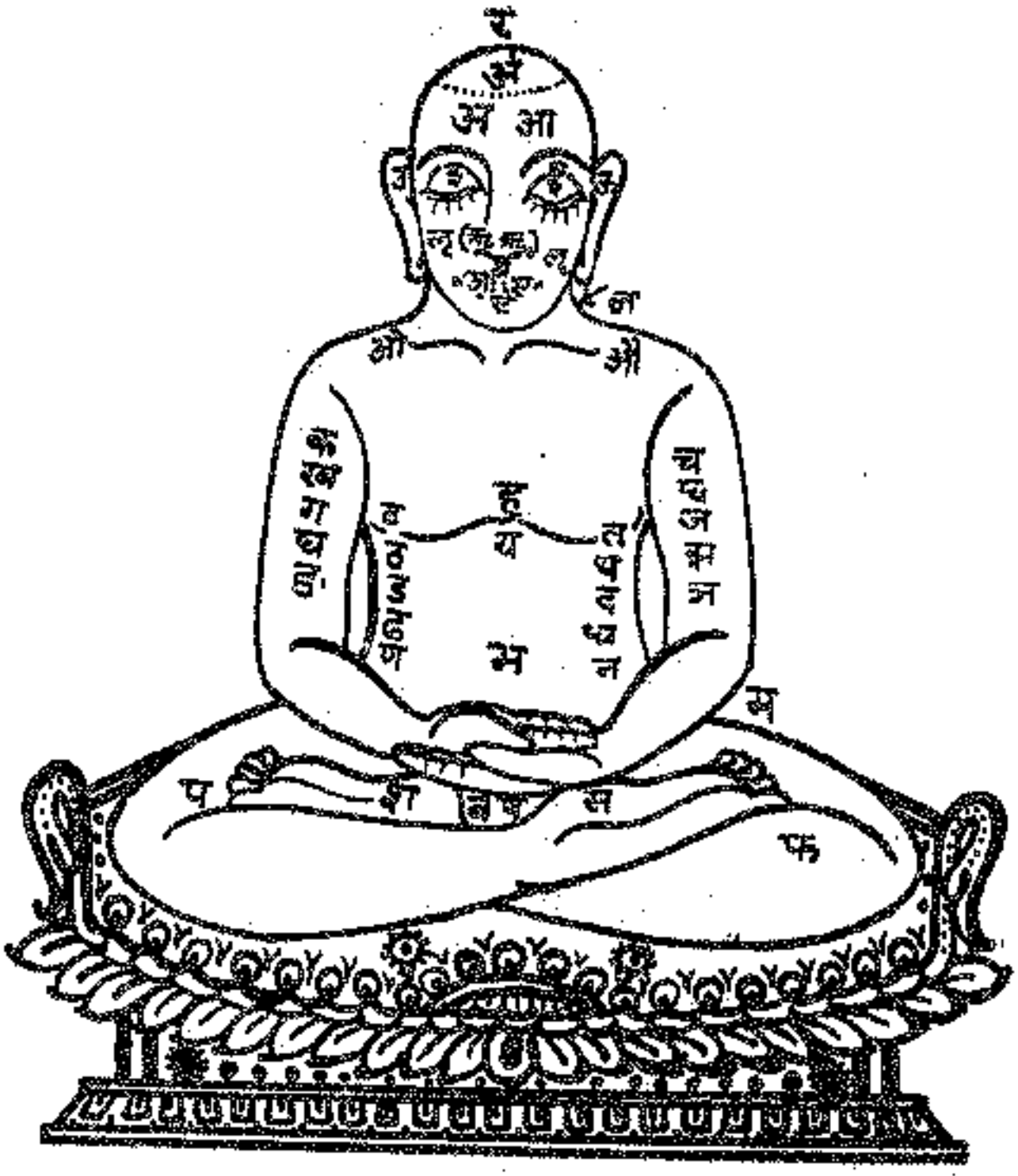

स्वर और व्यंजनों के पहले ॐ ह्रीं लगाकर ध्यान करे
निश्चित ही मन एकाग्र होगा और कर्म निर्जरा होगी

(गो. प्र. चि. चित्र नं० ३२)

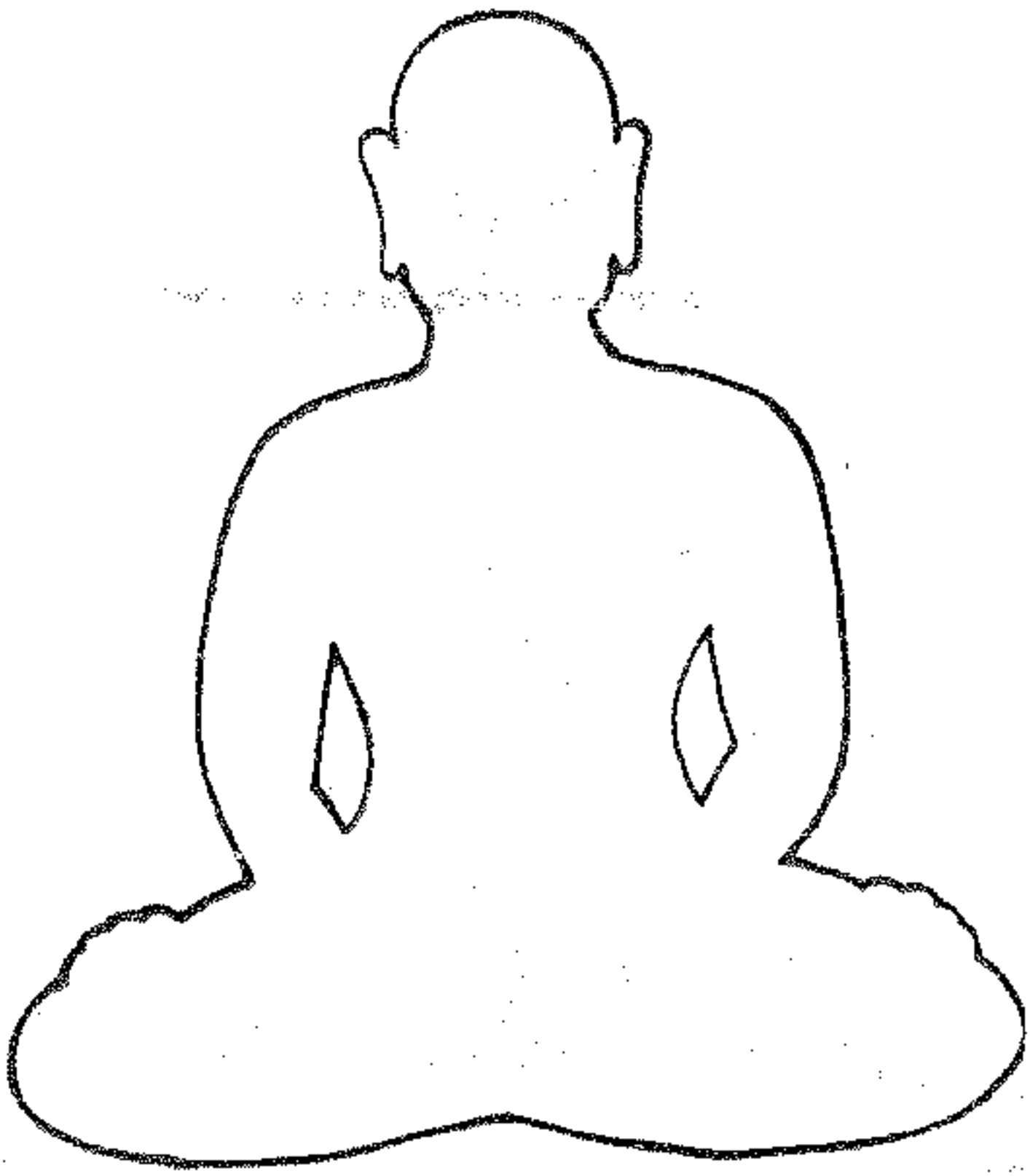

आत्मा द्रव्य कर्म भाव कर्म नो कर्म से रहित
शुद्ध स्वरूप का ध्यान करे

(मो. प्र. वि. चित्र सं० ३२.)

दिव्यरूप धरं धीरं विशुद्ध ज्ञान लोचनम् ।
अपित्रिदश योगीन्दैः कल्पनातीत वैभवम् ॥५८०॥
स्याद्वाद पविनिर्घातभिन्नान्यमतभूधरम् ।
ज्ञानामृत पयः पूरैः पवित्रितत्रगत्त्रयम् ॥५८१॥
इत्यादि गणनातीत गुण रत्नमहार्णवम् ।
देव देवं स्वयम्बुद्धं स्मराद्यं जिनभास्करम् ॥५८२॥

इस रूपस्थ ध्यान में अरहन्त भगवान का ध्यान करना चाहिये; जिसमें अरहंत का किस प्रकार का स्वरूप चिन्तवन करना चाहिये सो कहते हैं—अरहन्तता की महिमा जो समवशरणादि की रचना है उस सहित, सर्वज्ञ, परमेश्वर, देवेन्द्र चन्द्रमा सूर्यादि की सभा के मध्य में स्थित, स्वयंभु । तथा समस्त अतिशयों से संपूर्ण, सब लक्षणों से लक्षित, तथा जिनसे समस्त जीवों का हित होता है, ऐसे, और शील कहिये उत्तम गुणरूपी पर्वत के शिखर । तथा सप्त धातु से रहित और मोक्ष लक्ष्मी जिनको कटाक्ष पूर्वक देखती है ऐसे, अनन्त महिमा के आधार सयोग केवली, परमेश्वर । तथा अचिन्त्य है चरित जिनका, और सुन्दर चरित्र वाले गणधरादिक मुनिगुणों से सेवनीय तथा अनेक नयों से निर्णय किया है विश्व अर्थात् समस्त वस्तुओं का आकार स्वरूप जगत् जिन्होंने ऐसे, और समस्त जगत् के हितू । तथा इन्द्रियों के ग्रामों को रोकने वाले, विषय रूप शत्रुओं को निषेध कर देने वाले तथा रागादिक सन्तान का कर दिया है नाश जिन्होंने ऐसे, और संसार रूपी अग्नि के बुझाने को मेघ के समान । तथा दिव्य रूप के धारक, धीर अर्थात् क्षोभ रहित, निर्मल ज्ञान ही जिनके नेत्र हैं ऐसे, देव और योगीश्वरों की कल्पना से अतीत है विभव जिनका ऐसे । तथा स्याद्वाद रूप वज्र से खंडे हैं अन्य मत रूपी पर्वत जिन्होंने ऐसे, तथा ज्ञान रूप अमृत मय जल के प्रवाहों से पवित्र स्वरूप किया है तीन जगत जिन्होंने ऐसे, इनको आदि लेकर गणना से अतीत गुणरूप रत्नों के महासमुद्र, देवों के देव, स्वयं बुद्ध, जिनों के सूर्य, ऐसे श्री ऋषभ देव सर्वज्ञ का हे मुने, तू चिन्तवन (ध्यान) कर ।

जन्म मृत्यु जरा क्रान्तं रागादिविष मूर्छितम् ।
सर्व साधारणं दोषैः रष्टादशभिरावृतम् ॥५८३॥
अनेक व्यसनोच्छिष्टं संयम ज्ञान विच्युतम् ।
संज्ञा मात्रेण केचिच्च सर्वज्ञं प्रतिपेदिरे ॥५८४॥

कई अन्यमति जन्म जरा मरण से व्याप्त रागद्वेषादि विष से मूर्छित, सर्व साधारण मनुष्य के समान क्षुधा तृषा आदि १८ दोषों से आच्छादित। तथा अनेक व्यसनों (कष्ट आपदाओं) कर सहित, संयम और ज्ञान से रहित, ऐसे आत्मा को नाम मात्र से सर्वज्ञ मानते हैं।

इतरोऽपि नरः षड्भिः प्रमाणैर्वस्तु संचयम्।
परिच्छिन्दन्मतः कश्चित्सर्वज्ञः सोऽपि नेक्ष(ष्य)ते।।५८५।।

तथा कई ने १. प्रत्यक्ष, २. अनुमान, ३. उपमान, ४. आगम, ५. अर्थापत्ति और ६. अभाव, इन छः प्रमाणों से वस्तु के समूह को जानते हुए अन्य पुरुष को भी सर्वज्ञ माना है, सो वह भी सर्वज्ञ नहीं है।

अतः सम्यक्स विज्ञेयः परित्यज्यान्य शासनम्।
युक्त्यागम विभागेन ध्यातु कामैर्मनीषिभिः।।५८६।।

इस कारण जो सर्वज्ञ भगवान का ध्यान करने के इच्छुक बुद्धिमान् पुरुष है, उनको चाहिये कि अन्य मतों को छोड़कर, युक्ति और आगम से निर्णय करके सर्वज्ञ को सम्यक् प्रकार से निश्चय करें।

युक्त्या वृषभ सेनाद्यैर्निर्ढूयासाधु वल्गितम्।
यस्य सिद्धिः सतां मध्ये लिखिता चन्द्र मण्डले।।५८७।।

जिस सर्वज्ञ की सिद्धि वृषभसेन आदि गणधर और आचार्यों ने युक्ति से असाधु दुर्जनों के कथन का खंडन करके, सत्पुरुषों के बीच में निर्मल चन्द्र मण्डल में लिखी है।

अनेक वस्तु संपूर्णं जगद्यस्य चराचरम्।
स्फुरत्य विकलं बोध विशुद्धा दर्शमण्डले।।५८८।।

स्वभावजमसंदिग्धं निर्दोषं सर्व दोदितम्।
यस्य विज्ञानमत्यक्षं लोकालोकं विसर्पति।।५८९।।

यस्य विज्ञान धर्मांशु-प्रभा प्रसर पीडिताः।
क्षणादेव क्षयं यान्ति खद्योता इव दुर्नयाः।।५९०।।

पाद पीठीकृता शेष त्रिदशेन्द्र सभाजिरम्।
योगिगम्यं जगन्नाथं गुण रत्न महार्णवम्।।५९१।।

पवित्रित धरा पृष्ठं समुद्धत जगत्त्रयम् ।
मोक्ष मार्ग प्रणेतारमनन्तं पुण्य शासनम् ।।५९२।।
भामण्डल निरुद्धार्कं चन्द्र कोटि समप्रभम् ।
शरण्यं सर्वगं शान्तं दिव्यवाणी विशारदम् ।।५९३।।
अक्षोरगशकुन्तेशं सर्वाभ्युदय मन्दिरम् ।
दुःखार्णवप तत्सत्त्ववत्त हस्तावलम्बनम् ।।५९४।।
मृगेन्द्रविष्टरारूढं मारमातङ्ग घातकम् ।
इन्दुत्रय समोद्दामच्छत्र त्रय विराजितम् ।।५९५।।
हंसालीपातलीलाढय चामर व्रज वीजितम् ।
वीत तृष्णं उगन्नाथं वरदं विश्व रूपिणम् ।।५९६।।
दिव्य पुष्पानकाशोक राजितं राग वर्जितम् ।
प्रातिहार्य महा लक्ष्मी लक्षितं परमेश्वरम् ।।५९७।।
नव केवल लब्धि श्री संभवं स्वात्मसंभवम् ।
तुर्य ध्यान महावह्नौ हुत कर्मेन्धनोत्करम् ।।५९८।।
रत्नत्रय सुधास्यन्द मन्दीकृत भवश्रमम् ।
वीतसंगं जितद्वैतं शिवं शान्तं सनातनम् ।।५९९।।
अर्हन्तमजमव्यक्तं कामदं कामनाशकम् ।
पुराण पुरुषं देवं देव देवं जिनेश्वरम् ।।६००।।
विश्वनेत्रं जगद्वन्द्यं योगिनाथं महेश्वरम् ।
ज्योति र्मय मनाद्यन्तं त्रातारं भुवनेश्वरम् ।।६०१।।
योगीश्वरं तमीशानमादिदेवं जगद्गुरुम् ।
अनन्तमच्युतं शान्तं भास्वन्तं भूतनायकम् ।।६०२।।
सन्मति सुगतं सिद्धं जगज्ज्येष्ठं पितामहम् ।
महावीरं मुनिश्रेष्ठं पवित्रं परमाक्षरम् ।।६०३।।
सर्वज्ञं सर्वदं सर्वं वर्द्धमानं निरामयम् ।
नित्यमव्ययम व्यक्तं परिपूर्णं पुरातनम् ।।६०४।।
इत्यादि सान्वयानेक पुण्य नामोपलक्षितम् ।
स्मर सर्वगतं देवं वीरममर नायकम् ।।६०५।।

आचार्य महाराज कहते हैं कि हे मुने, तू आगे लिखे हुए प्रकार से सर्वज्ञ देव का स्मरण कर कि जिस सर्वज्ञ देव के ज्ञान रूप निर्मल दर्पण के मंडल में अनेक वस्तुओं से भरा हुआ चराचर यह जगत प्रकाशमान है। तथा जिनका ज्ञान स्वभाव से उत्पन्न होता है, संशयादिक रहित निर्दोष है, सदाकाल उदय रूप है, तथा इंद्रियों का उल्लंघन करके प्रवर्तने वाला है और लोका लोक में सर्वत्र विस्तरता है। तथा खद्योत (जुगनू) के समान जिसके विज्ञान रूप सूर्य की प्रभा से पीड़ित हुवे दुर्नय (एकन्त पक्ष) क्षण मात्र में नष्ट हो जाते हैं। तथा जिसने समस्त इंद्रों की सभा के स्थान को सिंहासन रूप किया है तथा योगी गणों से गम्य है, जगत का नाथ है, गुण रूपी रत्नों का महान् समूह है। तथा पवित्र किया है पृथ्वीतल जिसने, तथा उद्धरण किया है तीन जगत का जिसने ऐसा और मोक्ष मार्ग का निरूपण करने वाला है, अनन्त है और जिसका शासन पवित्र है तथा जिसने भामंडल से सूर्य को अच्छादित किया है, कोटि चन्द्रमा के समान प्रभा धारक है, जो जीवों को शरण भूत है, सर्वज्ञ जिसके ज्ञान की गति है, शान्त है, दिव्य वाणी में प्रवीण है। इन इन्द्रिय रूपी सर्पों को गरुड समान है, समस्त अभ्युदय का मंदिर है, तथा दुःख रूप समुद्र में पड़ते हुए जीवों को हस्तावलंबन देने वाला है। तथा सिंहासन पर स्थित है, काम रूप हस्ती का घातक है, तथा तीन चन्द्रमा के समान मनोहर तीन छत्र सहित विराजमान है। तथा हंस पंक्ति के पड़ने की लीलापूर्ण चमरों के समूह से वीजित है, तृष्णा रहित है, जगत का नाथ है, वर का देने वाला और विश्व रूपी है; अर्थात् ज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थों के रूप देखने वाला है। तथा दिव्य पुष्पवृष्टि, आनक अर्थात् दुंदुभि बाजें तथा अशोक वृक्षों सहित विराजमान है, तथा राग रहित (वीतराग) है, प्रतिहार्य महालक्ष्मी से चिह्नित है, परम ऐश्वर्यकर के सहित (परमेश्वर) है। तथा १. अनंतज्ञान, २. दर्शन, ३. दान, ४ लाभ, ५. भोग, ६. उपभोग, ७. वीर्य, ८. क्षायिक सम्यक्त्व और ९. चरित्र इन नव लब्धि रूपी लक्ष्मी की जिससे उत्पत्ति है, तथा अपने आत्मा से ही उत्पन्न है, और शुक्ल ध्यान रूपी महान अग्नि में होम दिया है कर्म रूपी इंधन का समूह जिसने ऐसा है। तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चरित्र रूप अमृत के झरनों से संसार के खेद को दूर करने वाला है, परिग्रह रहित है, जीत लिया है द्वैत भाव जिसने ऐसा है कल्याण स्वरूप, शान्तरूप तथा सनातन अर्थात् नित्य रूप है। तथा अरहन्त है, अजन्मा है, अव्यक्त है अर्थात् इंद्रिय गोचर नहीं है तथा कामद (मनो वांछित दाता) है, काम का नाशक है, पुराण पुरुष है, देव

अर्हन्त का ध्यान

(मो. प्र. चि. चित्र नं० ३४)

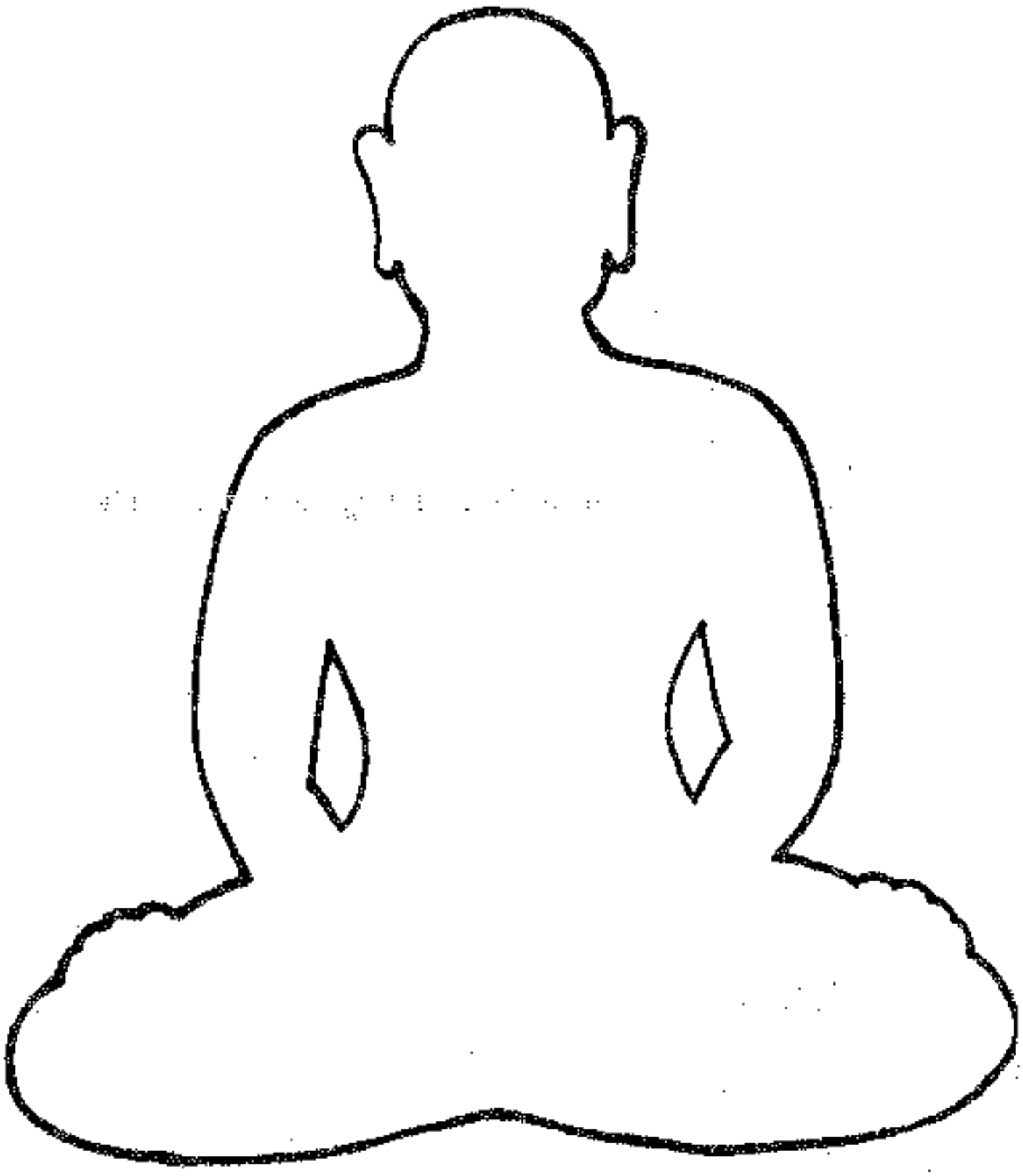

(गो. ड्र. चि. चित्र नं० ३५)

है, देवों का देव है, जिनेश्वर है। तथा समस्त लोक को देखने वा दिखाने को नेत्र समान है जगत के वंदने योग्य है, योगियों का नाथ है, महेश्वर है, ज्योतिर्मय (ज्ञान प्रकाश मय) है, आदि अन्त रहित है, सबका रक्षक है, तीन भुवन का ईश्वर है। योगीश्वर है, ईशान है, आदि देव है, जगद् गुरु है, अनन्त है, अच्युत है, शान्त है, तेजस्वी है, भूत-नायक है, सन्मति है, सुगत है, सिद्ध है, जगत् में ज्येष्ठ है, पितामह है, महावीर है, मुनिश्रेष्ठ है, पवित्र है, परमाक्षर है, सर्वज्ञ है, सबका त्राता है, सर्व हितैषी है, वर्द्धमान है, निरामय (रोग रहित) है, नित्य है, अव्यय (नाश रहित) है, अव्यक्त है, परिपूर्ण है, पुरातन है – इत्यादिक अनेक सार्थ पवित्र नाम सहित, सर्वगत, देवों का नायक, सर्वज्ञ जो वीर तीर्थङ्कर है, उसका हे मुने ! तू स्मरण कर।

इस प्रकार दोष रहित, सर्वज्ञ देव, अरहंत जिनदेव का ही ध्यान करना चाहिये; अन्यमति गुण रहित दोष सहित को सर्वज्ञ कहते हैं, सो नाममात्र है, कल्पित है, वह सर्वज्ञ ध्यान करने योग्य नहीं है।

अनन्यशरणं साक्षात्तत्संलीनैक मानसः।
तत्स्वरूपमवाप्नोति ध्यानी तन्मयतां गतः ॥६०६॥

उपर्युक्त सर्वज्ञदेव का ध्यान करने वाला ध्यानी अन्य शरण से रहित हो साक्षात् उसमें ही संलीन है, मन जिसका ऐसा हो, तन्मयता को पाकर, उसी स्वरूप को प्राप्त होता है।

यमाराध्य शिवं प्राप्ता योगिनो जन्म निस्पृहाः।
यं स्मरन्त्यनिशं भव्याः शिवश्री संगमोत्सुकाः ॥६०७॥
यस्य वागमृतस्यैकामासाद्य कणिकामपि।
शाश्वते पथि तिष्ठन्ति प्राणिनः प्रास्तकल्मषाः ॥६०८॥
देव देवः स ईशानो भव्याम्भोजैक भास्करः।
ध्येयः सर्वात्मना वीरः निश्चलीकृत्य मानसम् ॥६०९॥

जिस सर्वज्ञदेव का आराधन करके संसार से निःस्पृह मुनिगण मोक्ष को प्राप्त हुए हैं, तथा मोक्ष लक्ष्मी के संगम में उत्सुक भव्यजीव जिसका निरन्तर ध्यान करते हैं। तथा जिनके वचनरूपी अमृत की एक कणिका मात्र को पाकर संसारी जीव कल्मष (मिथ्यात्व पापों) को नष्ट करके शाश्वत मोक्षमार्ग में तिष्ठते हैं। सो देवों का देव, ईशान, भव्यजीव रूप कमलों को प्रफुल्लित करने के लिए सूर्य समान

ऐसा श्री वीर जिनेन्द्र मन को निश्चल करके ध्यान करने योग्य (ध्येय) है; अन्य कल्पित ध्येय (ध्यान करने योग्य) नहीं है।

तस्मिन्निरन्तराभ्यास वशात्संजात निश्चलाः।
सर्वावस्थासु पश्यन्ति तमेव परमेष्ठिनम् ॥६१०॥

उस सर्वज्ञदेव के ध्यान में अभ्यास करने के प्रभाव से निश्चल हुए योगीगण सर्व अवस्थाओं में उसी परमेष्ठी को देखते हैं।

तदालम्ब्य परं ज्योतिस्तद्गुण ग्रामरञ्जितः।
अविक्षिप्तमना योगी तत्स्वरूप मुपाश्नुते ॥६११॥

योगी (ध्यानी मुनि) उस सर्वज्ञदेव परम ज्योति का आलंबन करके उसके गुण ग्रामों में रंजायमान होता हुआ मन में विक्षेप रहित होकर उसी स्वरूप को प्राप्त होता है।

इत्थं तद्भावनानन्द सुधास्यन्दाभिनन्दितः।
नहि स्वप्नाद्यवस्थासु ध्यायन्प्रच्यवते मुनिः ॥६१२॥

इस प्रकार उस सर्वज्ञ देव की भावना से उत्पन्न हुए आनन्दरूप अमृत के वेग से आनन्दरूप हुआ मुनि स्वप्नादिक अवस्थाओं में भी ध्यान से च्युत नहीं होता।

तस्य लोकत्रयैश्वर्यं ज्ञानराज्यं स्वभावजम्।
ज्ञानत्रयजुषां मन्ये योगि नामप्य गोचरम् ॥६१३॥

जो उस सर्वज्ञदेव के तीन लोक का ईश्वरत्व है, स्वभाव से उत्पन्न ज्ञान का राज्य है, वह मति श्रुत अवधि इन तीन ज्ञान सहित योगी मुनियों के भी अगोचर है, ऐसा मैं मानता हूं।

साक्षान्निर्विषयं कृत्वा साक्षं चेतः सुसंयमी।
नियोजयत्य विश्रान्तं तस्मिन्नेव जगद्गुरौ ॥६१४॥

यद्यपि सर्वज्ञ देव का रूप छद्मस्थ ज्ञानी के अगोचर है तथापि इन्द्रिय और मन को अन्य विषयों से हटाकर सुसंयमी मुनि निरन्तर साक्षात् उसी भगवान् के स्वरूप में अपने मन को लगाता है।

तद्गुणग्राम संलीन मानसस्तद्गतांशयः।
तद्भाव भावितो योगी तन्मयत्वं प्रपद्यते ॥६१५॥

उस परमात्मा में मन लगावे तब उसके ही गुणों में लीन चित्त होकर उसमें

ही चित्त को प्रवेश कराके उसी भाव से भावित योगी मुनि उसी की तन्मयता को प्राप्त होता है।

यदाभ्यासवशात्तस्य तन्मयत्वं प्रजायते।
तदात्मानमसौ ज्ञानी सर्वज्ञीभूत मीक्षते ॥६१६॥

जब अभ्यास के वश से उस मुनि के उस सर्वज्ञ के स्वरूप से तन्मयता उत्पन्न होती है, उस समय वह मुनि अपने असर्वज्ञ आत्मा को सर्वज्ञ स्वरूप देखता है।

एष देवः स सर्वज्ञः सोऽहं तद्रूपतां गतः।
तस्मात्स एव नान्योऽहं विश्वदर्शीति मन्यते ॥६१७॥

जिस समय सर्वज्ञ स्वरूप अपने को देखता है, उस समय ऐसा मानता है कि यह वही सर्वज्ञदेव है, वही तत्स्वरूपता को प्राप्त हुआ मैं हूं, इस कारण वही सर्व का देखने वाला मैं हूं, अन्य मैं नहीं हूं, ऐसा मानता है।

येन येन हि भावेन युज्यते यन्त्रवाहकः।
तेन तन्मयतां याति विश्वरूपो मणिर्यथा ॥६१८॥

जिस-जिस भाव से यह यंत्र वाहक (जीव) जुड़ता है, उस-उस भाव से तन्मयता को प्राप्त होता है, जैसे निर्मल स्फटिक मणि जिस वर्ण से युक्त होता है, वैसा ही वर्ण स्वरूप हो जाता है।

भव्यतैव हि भूतानां साक्षान्मुक्ते निबन्धनम्।
अतः सर्वज्ञता भव्ये भवन्ती नात्र शङ्क्यते ॥६१९॥

अथवा इस प्रकार है कि जीवों के भव्यत्व भाव है सो साक्षात् मुक्ति का कारण है, इस कारण भव्य प्राणी में सर्वज्ञता होने में संदेह नहीं करना अर्थात् भव्य के निःसंदेह सर्वज्ञता होती ही है।

अयमात्मा स्वसामर्थ्यात् द्विशुद्धयति न केवलम्।
चालयत्यपि संक्रुद्धो भुवनानि चतुर्दश ॥६२०॥

यह आत्मा अपने सामर्थ्य से केवल विशुद्ध ही नहीं होता है, किन्तु जो क्रोध-रूप होता है तो चौदह भुवनों को (लोकों को) भी चला देता है। भावार्थ-आत्मा की अचिन्त्य सामर्थ्य है कि जो आप सर्वज्ञ के ध्यान से तन्मय होता है तो सर्वज्ञ हो जाता है और किसी समय यदि क्रोध से तन्मय हो जाय तो चौदह भुवनों को चला देता है।

त्रैलोक्यनन्दबीजं जनन जलनिधेर्यान पात्रं पवित्रं,
लोकालोक प्रदीपं स्फुरद मलशरच्चन्द्र कोटि प्रभाढ्यम् ।
कस्यामप्यग्र कोटौ जगदखिलमतिक्रम्य लब्धप्रतिष्ठं,
देवं विश्वैकनाथ शिवमजमनघं वीतरागं भजस्व ॥६२१॥

हे मुने, तू वीतराग देव का ही ध्यान कर; कैसे हैं, वीतराग भगवान् ? तीनों लोकों के जीवों को आनन्द के कारण हैं, संसाररूप समुद्र के पार होने के लिये जहाज तुल्य हैं तथा पवित्र, अर्थात् द्रव्यभाव मल से रहित हैं तथा लोक-अलोक के प्रकाश करने के लिये दीपक के समान हैं और प्रकाशमान तथा निर्मल ऐसे जो करोड़ शरद के चन्द्रमा उनकी प्रभा से अधिक प्रभा के धारक हैं तथा किसी मुख्य कोटि में समस्त जगत का उल्लंघन कर पाई है, प्रतिष्ठा जिन्होंने ऐसे हैं जगत के अद्वितीय नाथ हैं, शिवस्वरूप हैं, अजन्मा हैं, पापरहित हैं, ऐसे वीतराग भगवान का ध्यान करो ।

इस प्रकार रूपस्थ ध्यान का वर्णन किया । इसमें अरहन्त सर्वज्ञ सर्व अतिशयों से पूर्ण का ध्यान करना कहा है; उसी के अभ्यास से तन्मय होकर, उसके समान अपने आत्मा को ध्यावना, जिससे वैसा ही हो जाता है, इस प्रकार वर्णन किया ।

❋ रूपातीत ध्यान का वर्णन ❋

रूपातीत ध्यान किस प्रकार किया जाय ?

वीतरागं स्मरन्योगी वीतरागो विमुच्यते ।
रागी सराग मालम्ब्य क्रूरकर्माश्रितो भवेत् ॥६२२॥

ध्यान करने वाला योगी वीतराग का ध्यान करता हुआ वीतराग होकर कर्मों से छूट जाता है और रागी का अलम्बन करके ध्यान करने से रागी होकर क्रूर कर्मों के आश्रित हो जाता है, अर्थात् अशुभ कर्मों से बंध जाता है ।

मन्त्र मण्डल मुद्रादि प्रयोगैर्ध्यातुमुद्यतः ।
सुरासुरनरव्रातं क्षोभयत्वखिलं क्षणात् ॥६२३॥

यदि ध्यानी मुनि मन्त्र, मंडल, मुद्रादि प्रयोगों से ध्यान करने में उद्यत हो तो समस्त सुर, असुर और मनुष्यों के समूह को क्षण मात्र में क्षोभित कर सकता है ।

क्रुद्धस्याप्यस्य सामर्थ्यमचिन्त्यं त्रिदशैरपि ।
अनेक विक्रिया सार ध्यान मार्गावलम्बिनः ॥६२४॥

अनेक प्रकार की विक्रिया रूप असार ध्यान मार्ग का अवलम्बन करने वाले क्रोधी के भी ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि जिसका देव भी चिन्तवन नहीं कर सकते ।

बहूनि कर्माणि मुनिप्रवीरैः विद्यानुवादात्प्रकटी कृतानि ।
असंख्य भेदानि कुतूहलार्थं कुमार्गकुध्यानगतानि सन्ति ।।६२५।।

ज्ञानी मुनियों ने विद्यानुवाद पूर्व से असंख्य भेद वाले अनेक प्रकार के विद्वेषण उच्चाटन आदि कर्म कौतूहल के लिये प्रकट किये हैं, परन्तु वे सब कुमार्ग और कुध्यान के अन्तर्गत हैं ।

असावनन्त प्रथितप्रभावः स्वभावतो यद्यपि यत्नाथः ।
नियुज्यमानः स पुनः समाधौ करोति विश्वं चरणाग्रलीनम् ।।६२६।।

यद्यपि यह आत्मा स्वभाव से ही अनन्त और जगत्प्रसिद्ध प्रभाव का धारक है; फिर समाधि (ध्यान) में जोड़ा हुआ तो यह समस्त जगत को अपने चरणों में लीन कर लेता है ।

स्वप्नेऽपि कौतुकेनापि नासद्ध्यानानि योगिभिः ।
सेव्यानि यान्ति बीजत्वं यतः सन्मार्गहानये ।।६२७।।

परन्तु योगी मुनियों को चाहिये कि असमीचीन ध्यानों को कौतुक से स्वप्न में भी न विचारें; क्योंकि असमीचीन ध्यान सन्मार्ग की हानि के लिये बीज स्वरूप (कारण) है ।भावार्थ-खोटे ध्यान से खोटा मार्ग ही चलता है, इस कारण मुनि जनों को बुरा ध्यान कदापि नहीं करना चाहिये ।

सन्मार्गप्रच्युतं चेतः पुनर्वर्षशतैरपि ।
शक्यते न हि केनापि व्यवस्थापयितुं पथि ।।६२८।।

खोटे ध्यान के कारण सन्मार्ग से विचलित हुए चित्त को फिर सैकड़ों वर्षों में भी कोई सन्मार्ग में लाने को समर्थ नहीं हो सकता; इस कारण खोटा ध्यान कदापि नहीं करना चाहिये ।

असद्ध्यानानि जायन्ते स्वनाशायैव केवलम् ।
रागाद्यसद्ग्रहावेशात्कौतुकेन कृतान्यपि ।।६२९।।

असमीचीन (खोटे) ध्यान कौतुक मात्र से किये हुये भी रागादि रूप खोटे ग्रहों के आवेश से केवल अपने नाश के लिये ही होते हैं ।

निर्भरानन्द सन्दोहपद संपादन क्षमम् ।
मुक्ति मार्गं मतिक्रम्य कः कुमार्गे प्रवर्त्तते ।।६३०।।

इस कारण अतिशय रूप आनन्द के समूह के स्थान को उत्पन्न करने में समर्थ ऐसे मोक्ष मार्ग (समीचीन ध्यान) को छोड़कर ऐसा कौन है जो कुमार्ग (खोटे ध्यान) में प्रवृत्ति करे, ज्ञानवान् तो कदापि नहीं करे ।

क्षुद्रध्यान पर प्रपञ्च चतुरा रागानलोद्दीपिताः,
मुद्रामण्डल यन्त्र मन्त्र करणैराराधयन्त्यादृताः ।
काम क्रोध वशीकृतानिह सुरान् संसार सौख्यार्थिनो,
दुष्टाशाभिहताः पतन्ति नरके भोगार्तिभिर्वञ्चिताः ।।६३१।।

जो पुरुष खोटे ध्यान के उत्कृष्ट प्रपञ्चों को विस्तार करने में चतुर हैं, वे इस लोक में राग रूप अग्नि से प्रज्वलित होकर मुद्रा, मंडल, यंत्र, मंत्र आदि साधनों के द्वारा काम, क्रोध से वशीभूत कुदेवों का आदर से आराधन करते हैं सो सांसारिक सुख के चाहने वाले और दुष्ट आशा से पीड़ित तथा भोगों की पीड़ा से वंचित होकर वे नरक में पड़ते हैं, इस कारण कहते हैं कि—

तद्ध्येयं तदनुष्ठेयं तद्विचिन्त्यं मनीषिभिः ।
यज्जीव कर्म सम्बन्ध विश्लेषायैव जायते ।।६३२।।

वही बुद्धिमानों को ध्यान करने योग्य है और वही अनुष्ठान व चिन्तवन करने योग्य है, जो कि जीव और कर्मों के सम्बन्ध को दूर करने वाला हो; अर्थात् जिस कार्य से कर्मों से मोक्ष हो, वही कार्य करना योग्य है ।

स्वयमेव हि सिद्धयन्ति सिद्धयः शान्तचेतसाम् ।
अनेक फल सम्पूर्णा मुक्ति मार्गावलम्बिनाम् ।।६३३।।

जो मुनि शान्त चित्त हैं और मुक्ति मार्ग का अवलम्बन करने वाले हैं, उनके अनेक प्रकार के फलों से भरी हुई सिद्धियां स्वयमेव सिद्ध हो जाती हैं । भावार्थ समीचीन ध्यान से नानाप्रकार की ऋद्धियां बिना चाहे ही सिद्ध हो जाती हैं; फिर खोटे आशय से खोटे ध्यान करने से क्या लाभ है ?

संभवन्ति न चाभीष्ट सिद्धयः क्षुद्रयोगीनाम् ।
भवत्येव पुनस्तेषां स्वार्थ भ्रंशोऽनिवारितः ।।६३४।।

जो खोटे ध्यान करने वाले क्षुद्र योगी हैं, उनको इष्ट सिद्धियां कदापि नहीं होतीं, किन्तु उनके उलटी स्वार्थ की अनिवार्य हानि ही होती है।

भवप्रभव सम्बन्ध निरपेक्षा मुमुक्षवः।
न हि स्वप्नेऽपि विक्षिप्तं मनः कुर्वन्ति योगिनः ॥६३५॥

जो मोक्षाभिलाषी योगीश्वर मुनि हैं, वे जिससे संसार की उत्पत्ति हो ऐसे सम्बन्धों से निरपेक्ष रहते हैं, वे अपने मन को स्वप्न में भी चलयमान नहीं करते हैं। भावार्थ—उनको किसी प्रकार की ऋद्धि प्राप्त हो, कोई देवता आकर उनकी महिमा करे तथा किसी को ऋद्धिवान् देखे तो भी वे मोक्ष मार्ग से कदापि अपने मन को च्युत नहीं करते हैं।

रूपातीत ध्यान कैसे किया जाय ?

अथ रूपे स्थिरीभूत चित्तः प्रक्षीणविभ्रमः।
अमूर्त्तमजमव्यक्तं ध्यातुं प्रक्रमते ततः ॥६३६॥

इसके पश्चात् रूपस्थ ध्यान में स्थिरीभूत है, चित्त जिसका तथा नष्ट हो गये हैं विभ्रम जिसके, ऐसा ध्यानी अमूर्त्त, अजन्मा, इन्द्रियों से अगोचर ऐसे परमात्मा के ध्यान का प्रारम्भ करता है।

चिदानन्दमयं शुद्धममूर्त्तं परमाक्षरम्।
स्मरेद्यत्रात्मनात्मानं तद्रूपातीत मिष्यते ॥६३७॥

जिस ध्यान में ध्यानी मुनि चिदानन्दमय, शुद्ध, अमूर्त्त, परमाक्षर रूप आत्मा को आत्मा से ही स्मरण करे, अर्थात् ध्यावे सो रूपातीत ध्यान माना गया है।

वदन्ति योगिनो ध्यानं चित्तमेवमनाकुलम्।
कथं शिवत्वमापन्नमात्मानं संस्मरेन्मुनिः ॥६३८॥

योगीश्वर चित्त के आकुलता रहित होने अर्थात् क्षोभरहित होने को ही ध्यान कहते हैं; तो कोई मुनि मोक्ष प्राप्त आत्मा का स्मरण कैसे करें ? भावार्थ—जब ध्येय और ध्यानी पृथक्-पृथक् हैं तो चित्त को क्षोभ अवश्य होगा।

विवेच्य तद्गुणग्रामं तत्स्वरूपं निरूप्य च।
अनन्यशरणो ज्ञानी तस्मिन्नेव लयं व्रजेत् ॥६३९॥

प्रथम तो उस परमात्मा के गुण समूहों को पृथक्-पृथक् विचारे और फिर उन गुणों के समुदाय रूप परमात्मा को गुण गुणी के अभिन्न भाव से विचारे और

फिर किसी अन्य के शरण से रहित होकर ज्ञानी पुरुष उसी परमात्मा में लीन हो जावें। भावार्थ – इस ध्यान में प्रथम तो गुण और गुणी का पृथक् रूप से विचार है, परन्तु अन्त में परमात्मा में लीन होने से ध्येय और ध्यानी पृथक् रूप न रहेंगे।

तद्गुण ग्राम सम्पूर्णं तत्स्वभावैकभावितः।

कृत्वात्मानं ततो ध्यानी योजयेत्परमात्मनि ॥६४०॥

परमात्मा के स्वभाव से एक रूप भावित अर्थात् मिला हुआ ध्यानीमुनि उस परमात्मा के गुण समूहों से पूर्णरूप अपने आत्मा को करके फिर उसे परमात्मा में योजन करे, ऐसा विधान है।

द्वयोर्गुणैर्मतं साम्यं व्यक्ति शक्ति व्यपेक्षया।

विशुद्धेतरयोः स्वात्मतत्त्वयोः परमागमे ॥६४१॥

परमागम में विशुद्ध अर्थात् कर्म रहित और उससे इतर अर्थात् कर्म सहित इन दोनों स्वात्मतत्त्वों में शक्ति और व्यक्ति की अपेक्षा से गुणों से समानता मानी है। भावार्थ – जब शक्ति और व्यक्ति को भिन्न-भिन्न मानते हैं, तब तो कर्म रहित विशुद्ध आत्मा व्यक्तिरूप से परमात्मा है और कर्म सहित आत्मा शक्तिरूप से परमात्मा है; और यदि शक्ति और व्यक्ति को अभिन्न मानते हैं तो दोनों ही समान हैं।

यः प्रमाणनयैर्नूनं स्वतत्त्वमवबुद्धयते।

बुद्धयते परमात्मानं स योगी वीतविभ्रमः ॥६४२॥

जो मुनि प्रमाण और नयों के द्वारा अपने आत्मतत्त्व को जानता है, वही योगी बिना किसी सन्देह के परमात्मा को जानता है। भावार्थ – जब तक प्रमाण और नयों का स्वरूप तथा इनके द्वारा आत्मा का स्वरूप न जाना जायगा तब तक कर्म सहित ही आत्मा शक्ति की अपेक्षा से कर्म रहित है, वह विरोध भी दूर न हो सकेगा; इन दोनों का विरोध दूर करने वाला स्याद्वाद है; इसलिए स्याद्वाद को समझ कर फिर यदि इन दोनों का विचार करते है, तो कोई विरोध नहीं रहता और न भ्रम ही रहता है।

अब कर्म रहित परमात्मा का स्वरूप कहते हैं कि जिसके द्वारा यह योगी अपने आत्मा को रूपातीत ध्यान में चिन्तवन करे—

कर्मरहित परमात्मा का ध्यान कैसे किया जाय ?

व्योमाकारमनाकारं निष्पन्नं शान्तमच्युतम् ।
चरमाङ्गात्किंयन्न्यूनं स्वप्रदेशैर्घनैः स्थितम् ॥६४३॥
लोकाग्रशिखरासीनं शिवीभूतमनामयम् ।
पुरुषाकारमापन्नमप्यमूर्त्तं च चिन्तयेत् ॥६४४॥

आकाश के आकार अर्थात् अमूर्त, अनाकार अर्थात् पुद्गल के आकार से रहित, निष्पन्न अर्थात् फिर जिसमें किसी प्रकार की हीनाधिकता न हो, शान्त अर्थात् क्षोभ रहित, अच्युत अर्थात् जो अपने रूप से कभी च्युत न हो, चरम शरीर से किंचित् न्यून अर्थात् जिस शरीर से मोक्ष हुआ है, उस शरीर से नासिकादि रन्ध्र प्रदेशों से हीन, अपने घनीभूत प्रदेशों से स्थित तथा लोकाकाश के अग्रभाग में स्थित, शिवीभूत अर्थात् पहिले अकल्याण रूप से अब कल्याण रूप हुए ऐसे, अनामय अर्थात् रोगादिक से सर्वथा रहित और पुरुषाकार को प्राप्त होकर भी अमूर्त अर्थात् आकार तो पुरुष का है, परन्तु तो भी उसमें रूप-रस-गन्ध-स्पर्शादिक नहीं है; ऐसे परमात्मा का ध्यान इस रूपातीत ध्यान में करे ।

निष्कलस्य विशुद्धस्य निष्पन्नस्य जगद्गुरोः ।
चिदानन्दमयस्योच्चैः कथं स्यात्पुरुषाकृतिः ॥६४५॥

जो परमात्मा निष्कल अर्थात् देह रहित है, विशुद्ध अर्थात् द्रव्यभाव रूप दोनों मलों से रहित है, निष्पन्न अर्थात् जिसमें कुछ हीनाधिकता होने वाली नहीं है, जो जगत का गुरु है और जो चिदानन्द स्वरूप अर्थात् चैतन्य और आनन्द स्वरूप है, महान् है, ऐसे परमात्मा के पुरुषाकृति अर्थात् पुरुष का आकार कैसे हो सकता है ?

विनिर्गतमधूच्छिष्ट प्रतिमे मूषिकोदरे ।
यादृग्गगन संस्थानं तदाकारं स्मरेद्विभुम् ॥६४६॥

जिससे मोम निकल गया है, ऐसी मूषिका के उदर में जैसा आकाश का आकार है, तदाकार परमात्मा प्रभु का ध्यान करे ।

इसका दृष्टान्त क्या है ?

सर्वावयवसम्पूर्णं सर्वलक्षणलक्षितम् ।
विशुद्धादर्शसङ्क्रान्त प्रतिबिम्ब समप्रभम् ॥६४७॥

समस्त अवयवों से पूर्ण और समस्त लक्षणों से लक्षित ऐसे निर्मल दर्पण में पड़ते हुए प्रतिविम्ब के समान प्रभा वाले परमात्मा का चिन्तवन करे ।

भावार्थ—जैसे निर्मल दर्पण में पुरुष के समस्त अवयव और लक्षण दिखाई पड़ते हैं, उसी तरह परमात्मा के प्रदेश शरीर के अवयव रूप परिणत हैं और उनमें समस्त लक्षणों की तरह समस्त गुण रहते हैं।

इत्यसौ सन्ततान्यासवशात्संजातनिश्चयः ।
अपि स्वप्नाद्यवस्थासु तमेवाध्यक्ष मीक्षते ॥६४८॥

इस प्रकार जिसके निरन्तर अभ्यास के वश से निश्चय हो गया है, ऐसा ध्यानी स्वप्नादिक अवस्था में भी उसी परमात्मा को प्रत्यक्ष देखता है। भावार्थ—दृढ़ अभ्यास से स्वप्नादिक में भी परमात्मा ही दिखाई पड़ता है।

सोऽहं सकल वित्सार्वः सिद्धः साध्यो भवच्युतः ।
परमात्मा परं ज्योति विश्वदर्शी निरञ्जनः ॥६४९॥
तथासौ निश्चलोऽमूर्तो निष्कलङ्को जगद्गुरुः ।
चिन्मात्रो विस्फुरत्युच्चैर्ध्यानध्यातृ विवर्जितः ॥६५०॥

पूर्वोक्त प्रकार से जब परमात्मा का निश्चय हो जाता है और दृढ़ अभ्यास से उसका प्रत्यक्ष होने लगता है, उस समय परमात्मा का चिन्तवन इस प्रकार करे कि ऐसा परमात्मा मैं ही हूं, मैं ही सर्वज्ञ हूं, सर्व व्यापक हूँ, सिद्ध हूं, तथा मैं ही साध्य अर्थात् सिद्ध करने योग्य था; संसार से रहित परमात्मा, परम ज्योति स्वरूप, समस्त विश्व का देखने वाला मैं ही हूं, मैं ही निरञ्जन हूं, ऐसा परमात्मा का ध्यान करे; उस समय अपना स्वरूप निश्चल, अमूर्त अर्थात् शरीर रहित, निष्कलङ्क, जगत् का गुरु, चैतन्य मात्र और ध्यान तथा ध्याता के भेद रहित ऐसा अतिशय स्फुरायमान होता है।

पृथग्भावमतिक्रम तथैक्यं परमात्मनि ।
प्राप्नोति स मुनिः साक्षाद्यथान्यत्वं न बुध्यते ॥६५१॥

यह मुनि जिस समय पूर्वोक्त प्रकार से परमात्मा का ध्यान करता है, उस समय परमात्मा में पृथक् भाव अर्थात् अलगपने का उल्लंघन करके साक्षात् एकता को इस तरह प्राप्त हो जाता है कि जिससे पृथक्पने का बिल्कुल भान नहीं होता। भावार्थ – उस समय ध्याता और ध्येय में द्वैत भाव नहीं रहता।

निष्कलः परमात्माहं लोकालोकावभासकः ।
विश्वव्यापी स्वभावस्थो निकार परिवर्जितः ॥६५२॥

निष्कल अर्थात् लोक और अलोक को देखने और जानने वाला, विश्व में व्यापक, स्वभाव में स्थिर, समस्त विकारों से रहित ऐसा परमात्मा मैं हूँ ऐसा अन्य ग्रन्थों में भी अभेद भाव दिखाया है ।

इति विगत विकल्पं क्षीणरागादि दोषं,
विदितसकल वेद्यं व्यक्तविश्व प्रपञ्चम् ।
शिवमजनवद्यं विश्व लोकैकनाथं,
परमपुरुषमुच्चैः भावशुद्धया भजस्व ॥६५३॥

यहाँ आचार्य विशेष उपदेश रूप प्रेरणा करते हैं कि हे मुने, इस प्रकार जिसके समस्त विकल्प दूर हो गए हैं, जिसके रागादिक सब दोष क्षीण हो गए हैं, जो जानने योग्य समस्त पदार्थों का जानने वाला है, जिसने संसार के समस्त प्रपञ्च छोड़ दिये हैं, जो शिव अर्थात् कल्याण स्वरूप अथवा मोक्ष स्वरूप है, जो अज अर्थात् जिसको आगे जन्म मरण नहीं करना है, जो अनवद्य अर्थात् पापों से रहित है तथा जो समस्त लोक का एक अद्वितीय नाथ है, ऐसे परम पुरुष परमात्मा को भावों की शुद्धतापूर्वक अतिशय करके भज । भावार्थ – शुद्ध भावों से ऐसे परम पुरुष परमात्मा का ध्यान कर ।

इस प्रकार रूपातीत ध्यान का निरूपण किया; इसका संक्षेप भावार्थ यह है कि जब ध्यानी सिद्ध परमेष्ठी के ध्यान का अभ्यास करके शक्ति की अपेक्षा से आपको भी उनके समान जानकर और आपको उनके समान व्यक्तरूप करने के लिये उस (आप) में लीन होता है, तब आप कर्म का नाश कर व्यक्त रूप सिद्ध परमेष्ठी होता है ।

❋ धर्मध्यान का फल वर्णन ❋

धर्मध्यान का विशेष फल—

प्रसीद शान्तिं व्रज सन्निरुद्धयतां दुरन्तजन्मज्वर जिह्मितं मनः ।
अगाधजन्मार्णवपारवर्तिनां यदि श्रियं वाञ्छसि विश्व दर्शिनाम् ॥६५४॥

हे आत्मन् यदि तू अगाध संसाररूपी समुद्र के पारवर्ती और समस्त लोकालोक के देखने वाले ऐसे अरहन्त और सिद्ध भगवान् की लक्ष्मी की इच्छा करता है तो प्रसन्न हो, शान्तता धारण कर और दुरन्त संसाररूप ज्वर के मूर्छित मन को वश कर ।

भावार्थ – आचार्य का उपदेश है कि यदि तू ध्यान करना चाहता है तो प्रथम ही अपने मन को वश में कर और शान्तभाव धारण कर ।

यदि रोद्धुं न शक्नोति तुच्छवीर्यो मुनिर्मनः ।
तदा रागेतरध्वंसं कृत्वा कुर्यात्सुनिश्चलम् ।।६५५।।

और तुच्छवीर्य मुनि अर्थात् सामर्थ्यहीन मुनि यदि अपने मन को वश नहीं कर सके तो रागद्वेष का नाश करके मन को निश्चल करे । भावार्थ – मन को रागद्वेष-रूप परिणत न होने दे ।

अनुप्रेक्षाश्च धर्मस्य स्युः सदैव निबन्धनम् ।
चित्तं भूमौ स्थिरीकृत्य स्व स्वरूपं निरूपय ।।६५६।।

हे मुने ! अनित्य अशरणादिक बारह अनुप्रेक्षा अर्थात् अनित्यादिक का चिन्तवन करना सदा धर्म ध्यान का कारण है; इसलिये अपनी चित्तरूपी भूमि में इन अनुप्रेक्षाओं को स्थिर करके अपने स्वरूप का अवलोकन कर । भावार्थ – यदि तेरा चित्त स्थिर न होता हो तो बारह भावनाओं का चिन्तवन कर, ये भावनायें धर्म-ध्यान में कारण हैं ।

स्फोटयत्याशु निष्कम्पो यथा दीपोघनं तमः ।
तथा कर्मकलङ्कौघं मुनेध्यानं सुनिश्चलम् ।।६५७।।

जैसे निष्कम्प अर्थात् अचल दीपक सघन अन्धकार को शीघ्र ही दूर कर देता है; उसी तरह मुनि का निश्चल ध्यान भी कर्मकलंक के समूह को शीघ्र ही नाश करता है । भावार्थ – कर्म के नाश करने के लिये ध्यान करना ही चाहिये ।

चलत्येवाल्प सत्त्वानां क्रियमाणमपि स्थिरम् ।
चेतः शरीरिणां शश्वद्विषयैर्व्याकुलीकृतम् ।।६५८।।

न स्वामित्वमतः शुक्ले विद्यतेऽत्यल्पचेतसाम् ।
आद्यसंहननस्यैव तत्प्रणीतं पुरातनैः ।।६५९।।

छिन्ने भिन्ने हते दग्धे स्वमिव दूरगम् ।
प्रपश्यन् वर्षवातादि दुःखैरपि न कम्पते ।।६६०।।

न पश्यति तदा किञ्चन्न शृणेति न जिघ्रति ।
स्पृष्टं किञ्चिन्न जानाति साक्षान्निर्वृत्त लेपवत् ।।६६१।।

अल्पवीर्य अर्थात् सामर्थ्यहीन प्राणियों का मन स्थिर करते हुए भी निरन्तर विषयों से व्याकुल होता हुआ चलायमान होता ही है; इसलिये अतिशय अल्प चित्त वालों का शुक्लध्यान करने में अधिकार नहीं है; प्राचीन मुनियों ने पहिले के (वज्र-वृषभनाराच) संहनन के ही शुक्लध्यान कहा है। इसका कारण यह है कि इस संहनन वाले का ही चित्त ऐसा होता है कि शरीर को छेदने, भेदने, मारने और जलाने पर भी अपने आत्मा को उस शरीर से अत्यन्त दूर अर्थात् भिन्न देखता हुआ चलायमान नहीं होता, और न वर्षाकाल के पवन आदिक दुःखों से चलायमान होता है; तथा उस ध्यान के समय लेप की मूर्ति अर्थात् रंग से निकाली हुई चित्राभ की मूर्ति की तरह हो जाता है; इस कारण यह योगी न तो कुछ देखता है, न कुछ सुनता है, न कुछ सूंघता है और न कुछ स्पर्श किये हुए को जानता है।

भावार्थ—ऐसे पुरुष के शुक्ल ध्यान होता है।

आद्य संहननोपेता निर्वेदपदवीं श्रिताः।
कुर्वन्ति निश्चलं चेतः शुक्लध्यानक्षमं नराः ॥६६२॥

जिनके आदि का संहनन है और जो वैराग्य पदवी को प्राप्त हुए हैं, ऐसे पुरुष ही अपने चित्त को शुक्ल ध्यान करने में समर्थ है ऐसा निश्चल करते हैं।

सामग्र्योरुभयोर्ध्यातुर्ध्यानं बाह्यान्तरङ्गयोः।
पूर्वयोरेव शुक्लं स्यान्नान्यथा जन्मकोटिषु ॥६६३॥

इस प्रकार पूर्व कही हुई बाह्य और आभ्यन्तर अर्थात् आदि के संहनन और वैराग्य भाव इन दोनों सामग्रियों से ध्यान करने वाले के शुक्ल ध्यान होता है; अन्यथा अर्थात् बिना आदि के संहनन और वैराग्य भाव के, करोड़ों जन्मों में भी नहीं हो सकता।

अतिक्रम्य शरीरादि सङ्गानात्मन्यवस्थितः।
नैवाक्षमनसा योगं करोत्येकाग्रताश्रितः ॥६६४॥

धर्म ध्यान करने वाला शरीरादिक परिग्रहों को छोड़ आत्मा में अवस्थित होता हुआ, एकाग्रता को धारण कर, इन्द्रिय और मन का संयोग नहीं करता है अर्थात् इन्द्रियों से जो पदार्थों का ग्रहण होता है, उनका मन से संयोग नहीं करता; मन को केवल स्वरूप में ही स्थिर रखता है।

इस ध्यान का फल—

असंख्येयम संख्येयं सदृष्ट यादिगुणेऽपि च ।
क्षीयते क्षपकस्यैव कर्म जात मनुक्रमात् ।।६६५।।
शमकस्य क्रमात् कर्म शान्तिमायाति पूर्ववत् ।
प्राप्नोति निर्गतातङ्कः स सौख्यं शम लक्षणम् ।।६६६।।

इस धर्म ध्यान में कर्मों का क्षय करने वाला क्षपक के सदृष्टि अर्थात् सम्यग्दृष्टि नामक चौथे गुण स्थान से लेकर सातवें अप्रमत्त गुणस्थान पर्यन्त अनुक्रम से असंख्यात असंख्यात गुण कर्म का समूह क्षय होता है; और जो कर्मों का उपशम करने वाला उपशमक है, उसके भी ऐसे असंख्यात-असंख्यात गुणा कर्म का समूह उपशमहोता है; इसलिये ऐसा धर्म ध्यानी आतंक दहादि दुःखों से रहित होता हुआ उपशम भाव रूप सुख को प्राप्त होता है ।

धर्मध्यानस्य विज्ञेया स्थिति रान्त मुहूर्तिको ।
क्षामोष शमिको भावो लेश्या शक्लेव शाश्वती ।।६६७।।

इस धर्म ध्यान की स्थिति अन्त मुंहूर्त है, इसका भाव क्षायोपशमिक है और लेश्या सदा शुक्ल ही रहती है ।

भावार्थ—धर्म ध्यान अन्तर्मुहूर्त रहता है । धर्म ध्यान वाले क्षायोपशमिक भाव और शुक्ल लेश्या होती है ।

इदमत्यन्त निर्वेद विवेक प्रशमोद्भवम् ।
स्वात्मानुभवमत्यक्षं योलयत्यङ्गिनां सुखम् ।।६६८।।

यह धर्म ध्यान जीवों को अत्यन्त निर्वेद अर्थात् संसार देह भोगादिकों से अत्यन्त वैराग्य तथा विवेक अर्थात् भेद ज्ञान और प्रशम अर्थात् मंद कषाय इनसे उत्पन्न होने वाले अपने आत्मा के ही अनुभव में आने वाले इन्द्रियों से अतीत अर्थात् अतीन्द्रिय ऐसे सुख को प्राप्त करता है ।

अलौल्य मारोग्यमनिष्ठुरत्वं गन्धः शुभो मूत्र पुरीषमल्पम् ।
कान्तिः प्रसादः स्वर सौम्यता च योग प्रवृत्तेः प्रथमं हि चिह्नम् ।।६६९।।

अलौल्य अर्थात् विषयों में इन्द्रियों की लंपटता न होना और मन का चपल न होना, आरोग्य अर्थात् शरीर नीरोग होना, निष्ठुरता न होना, शरीर का गंध शुभ होना, मल मूत्र का अल्प होना, शरीर कान्ति सहित होना अर्थात् शक्तिहीन न होना,

चित्त का प्रसन्न होना अर्थात् खेद शोकादिक मलिन भाव रूप न होना, और स्वर अर्थात् शब्दों का उच्चारण सौम्य होना, ये चिह्न योग की प्रवृत्ति के अर्थात् ध्यान करने वाले के प्रारम्भ दशा में होते हैं।

भावार्थ – ऐसे चिह्न वाले पुरुष के ध्यान का प्रारम्भ होता है।

अथावसाने स्वतनुं विहाय ध्यानेन सांन्यस्तसमस्तसङ्गाः।
ग्रैवेयकानुत्तर पुण्य वासे सर्वार्थसिद्धौ च भवन्ति भव्याः ॥६७०॥

जो भव्य पुरुष इस पर्याय के अन्त समय में समस्त परिग्रहों को छोड़कर, धर्म ध्यान से अपना शरीर छोड़ते हैं, वे पुरुष पुण्य के स्थान रूप ऐसे ग्रैवेयक और अनुत्तर विमानों में तथा सर्वार्थसिद्धि में उत्पन्न होते हैं।

भावार्थ —यदि परिग्रह का त्याग कर मुनि हो, धर्म ध्यान से इस पर्याय को छोड़े तो नव ग्रैवेयक, नव अनुत्तर और सर्वार्थसिद्धि में उत्तम देव हो।

तत्रात्यन्त महाप्रभाव कलितं लावण्य लीलान्वितं।
स्रग्भूषाम्बर दिव्य लाञ्छनचितं चन्द्रावदातं वपुः॥
अप्राप्योन्नत वीर्य बोध सुभगं काम ज्वरात्तिच्युतं।
सेवन्ते विगतान्तरायमतुलं सौख्यं चिरं स्वर्गिणः ॥६७१॥

जो जीव धर्म ध्यान के प्रभाव से स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं, वे वहां अत्यन्त महा प्रभाव सहित, सुन्दरता और क्रीडायुक्त तथा माला, भूषण, वस्त्र और दिव्य लक्षणादि सहित, चन्द्रमा सदृश शुक्लवर्ण शरीर को पाकर, उन्नत वीर्य और ज्ञान से सुभग, काम ज्वर की वेदना से रहित और अन्तराय रहित ऐसे अतुल सुखों को चिर-काल पर्यन्त भोगते हैं।

ग्रैवेयकानुत्तरवास भाजां वीचार हीनं सुखमत्युदारम्।
निरन्तरं पुण्य परम्पराभिर्विवर्द्धते वार्धिरिवेन्दुपादैः ॥६७२॥

ग्रैवेयक और अनुत्तरादि विमानों में रहने वाले देवों का सुख काम सेवन से रहित होता है, अर्थात् उनके काम सेवन सर्वथा नहीं है तथापि उनका सुख अत्यन्त उदार है; और वह जैसे चन्द्रमा की किरणों से समुद्र बढ़ता है, वैसे ही निरन्तर पुण्य की परम्परा से बढ़ता ही रहता है।

भावार्थ—वहाँ का सुख वृद्धि रूप है।

देवराज्यं समासाद्य यत्सुखं कल्पवासिनाम् ।
निर्विशन्ति ततोऽनन्तं सौख्यं कल्पातिवर्त्तिनः ।।६७३।।

इन्द्र पद को पाने पर कल्पवासियों को जो सुख मिलता है, उससे अनन्त गुणा सुख कल्पातीतो (नव ग्रैवेयक, नव अनुत्तर और विजयादिक पांच विमानों में रहने वाले अहमिन्द्रों) को प्राप्त होता है।

संभवन्त्यथ कल्पेषु तेऽचिन्त्यविभूतिदम् ।
प्राप्नुवन्ति पर सौख्यं सुराःस्त्रीभोग लाञ्छितम् ।।६७४।।

अथवा धर्म ध्यान से पर्याय छोड़कर, जो उन कल्पस्वर्गों (सोलह स्वर्गों) में उत्पन्न होते हैं, वे देव भी अचिन्त्य विभूति के देने वाले और स्त्रियों के भोगों सहित उत्कृष्ट सुख को प्राप्त होते हैं।

दशाङ्ग भोग सम्भूतं महाष्टगुण वर्द्धितम् ।
यत्कल्प वासिनां सौख्यं तद्वक्तुं केन पार्यते ।।६७५।।

कल्पवासी देवों का सुख दशाङ्ग भोगों से उत्पन्न हुआ है और अणिमादिक आठ महा गुणों से बढ़ा हुआ है; इसलिये उस सुख का कौन वर्णन कर सकता है।

सर्वद्वन्द्व विनिर्मुक्तं सर्वाभ्युदय भूषितम् ।
नित्योत्सवयुतं दिव्यं दिवि सौख्यं दिवौकसाम् ।।६७६।।

स्वर्ग में देवों का सुख सर्वद्वन्द अर्थात् क्षोभों से रहित है, समस्त अभ्युदयों से भूषित, नित्य उत्सवों सहित और दिव्य है।

प्रति समयमुदीर्णं स्वर्ग साम्राज्यरूढं ।
सकल विषय बीजं स्वान्तदत्ताभिनन्दम् ।।
ललित युवति लीलालिङ्गनादि प्रसूतं ।
सुखमतुल मुदारं स्वर्गिणो निर्विशन्ति ।।६७७।।

स्वर्ग के देव प्रत्येक समय में उदय रूप अर्थात् विच्छेद रहित, स्वर्ग के साम्राज्य से प्रसिद्ध, समस्त विषयों का कारण, अन्तः करण को आनन्द देने वाले, सुन्दर देवाङ्गनाओं की लीला और आलिंगनादिक से उत्पन्न, अतुल और उदार सुख का अनुभव करते हैं।

सर्वाभिमत भावोत्थं निर्विघ्नं स्वः सुखामृतम् ।
सेव्यमाना न बुद्धयन्ते गतं जन्म दिवौकसः ।।६७८।।

स्वर्ग निवासी देव अपने समस्त मनोवांछित पदार्थों से उत्पन्न और निर्विघ्न ऐसे स्वर्ग के सुख रूप अमृत का सेवन करते हुए व्यतीत हुए जन्म को अर्थात् गई हुई देव पर्याय को नहीं जानते ।

तस्माच्च्युत्वा त्रिदिवपटलाच्छिद्य भोगाधसाने ।
कुर्वन्त्यस्यां भुवि नरनुते पुण्य वंशेऽवतारम् ।।
तत्रैश्वर्यं परमवपुषं प्राप्त देवोपनीते---
भोगैर्नित्योत्सव परिगतैर्लाल्यमाना वसन्ति ।।६७९।।

फिर वे स्वर्ग के देव दिव्य भोगों को भोग कर, उस स्वर्ग पटल से च्युत होते हैं और इस भूमंडल में जिसको लोग नमस्कार करते हैं ऐसे उत्तम पुण्य वंश में अवतार लेते हैं, और वहाँ भी परम (उत्कृष्ट) शरीर और ऐश्वर्य को पाकर, नित्य उत्सव रूप परिणत ऐसे देवोपनीत अनेक भोगों से लालित और पुष्ट हुए निवास करते हैं; यह सब धर्म ध्यान का फल है ।

ततो विवेक मालम्ब्य विरज्य जननभ्रमात् ।
त्रिरत्नशुद्धिमासाद्य तपः कृत्वात्य दुष्करम् ।।६८०।।
धर्मध्यानं च शुक्लं च स्वीकृत्य निजवीर्यतः ।
कृत्स्नकर्म क्षयं कृत्वा व्रजन्ति पदम व्ययम् ।।६८१।।

उसके बाद अर्थात् उत्तम मनुष्य भव के सुख भोग कर, पुनः भेद ज्ञान (शरीरादिक से आत्मा की भिन्नता) को अवलम्बन कर, संसार के परिभ्रमण से विरक्त हो, रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र की शुद्धता को प्राप्त कर, दुर्धर तप कर तथा अपनी शक्ति के अनुसार धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान को धारण कर और समस्त कर्मों का नाश कर, अविनाशी मोक्ष पद को प्राप्त होते हैं, यह धर्म ध्यान का परंपरारूप फल है; इस प्रकार धर्म ध्यान का फल निरूपण किया ।

ध्यान का वर्णन शुभचन्द्राचार्य कृत ज्ञानर्णव से लिया है ।

चतुर्विंशतिस्तव का लक्षण---

उसहादिजिणवराणं णामणिरुत्ति गुणाणुकित्ति च ।
काऊण अचिंचदूण य तिसुद्धिपणमो थवोएसो ।।६८२।।

ऋषभ, अजित, संभव आदि चौबीस तीर्थंकरों के नामों का योग्य अर्थ समझ लेना चाहिये तथा उनके घाति कर्म का क्षय होने पर उन्होंने धर्म रूपी तीर्थ का प्रसार

किया, वे देव और मनुष्यों से वंदनीय हुए, उन्होंने परमार्थ तत्त्व–जीव तत्त्व का सत्य स्वरूप जान लिया है। वे अठारह दोषों से रहित और सर्वज्ञ बने हैं ऐसा उनके गुणों का वर्णन करना चाहिये। तथा गुण वर्णन के साथ तीर्थंकरों के चरणों का गंध धूपादि से पूजन कर मन वचन शरीर की विशुद्धि से उनके चरणों को नमस्कार करना यह चतुर्विंशति स्तव है।

आवश्यक–

अरहंत सिद्ध पडिमात वसुदगुण गुरुगुरुण रादीणं।
किदियम्मेणिदरेण य तियरण संकोचणं पणमो ॥६८३॥

अरहंत और सिद्धों के प्रतिबिम्ब, अनशनादिक तप, अंगश्रुत ज्ञान व पूर्वरूप श्रुत ज्ञान, व्याकरण तर्कादिक का ज्ञान विशेष रूपी गुण तथा इनसे जो श्रेष्ठता को प्राप्त हुए हैं, जो दीक्षा से श्रेष्ठ हैं ऐसे गुरुओं को कृतिकर्म में कही हुई विधि के अनुसार मनः शुद्धि, वचन शुद्धि और शरीर शुद्धि कर स्तुति पूर्वक नमस्कार करना वन्दना नामक मूलगुण है।

विशेष :—घातिकर्म का क्षय जिन्होंने किया है, वे अर्हत् अर्थात् अरिहन्त हैं। और जिन्होंने आठ कर्मों का नाश किया है। वे सिद्ध समझे जाते हैं अथवा गति, वचन और स्थान इन हेतुओं से अरिहन्त और सिद्ध में भेद है। अरिहन्त को मनुष्य गति का उदय है। सिद्ध गति रहित हैं। अरिहन्त दिव्य ध्वनि से उपदेश करते हैं। सिद्ध उपदेश रहित हैं और अशरीरी होने से वचन रहित हैं। अरिहन्त मध्य लोक में विहार करते हैं। सिद्ध लोकाग्र में मोक्ष शिला पर सदा विराजमान हैं। **प्रतिमा**–अरिहन्त की प्रतिमा प्रातिहार्य सहित होती है और सिद्धों की प्रतिमा प्रातिहार्य रहित होती है। अथवा कृत्रिम प्रतिमाओं को अर्हन्तप्रतिमा कहते हैं। और अकृत्रिम प्रतिमा को सिद्ध प्रतिमा कहते हैं। **तप**-शरीर और इंद्रियों को जो तप्त करता है और कर्म की निर्जरा करता है, वह तप है।

कृति कर्म–सिद्ध भक्ति, श्रुतभक्ति और गुरु भक्ति पूर्वक कायोत्सर्गादिक के साथ वंदना करना। मुंड वंदना–श्रुत भक्त्यादि रहित कायोत्सर्गादि रहित केवल मस्तक से वंदना करना। मनः शुद्धि, वचन शुद्धि और काय शुद्धि करके अर्हदादिकों को प्रणाम करना वह वंदना नामक मूल गुण है।

प्रतिक्रमण मूल गुण का स्वरूप—

दव्वे खेत्ते काले भावे या कया वराह सोहणयं ।
णिंदणगरहा हुए जुत्तो मणे वचिकायेण पडिक्कमणं ।।६८४।।

द्रव्य-शरीर और आहारादिक पदार्थ । क्षेत्र—वसतिका, तृणादिक फलक, चटाई और गमनादि क्रियामार्ग । काल—प्रातः काल, मध्यान्ह, दिवस, रात्रि, पक्ष, महिना, वर्ष, भूत, वर्तमान, भविष्यादि काल । भाव—मन की अनेक प्रकार की परिणति । इनके आश्रय से जो दोष उत्पन्न होते हैं अर्थात् अहिंसादि व्रतों में जो अतिचारादि दोष उत्पन्न होते हैं, उनका नाश करना प्रतिक्रमण है । निंदा और गर्हापूर्वक प्रतिक्रमण विधि करना चाहिये । स्वसाक्षिक दोषों का उच्चार करना वह निंदा अथवा निंदन है और आचार्यादिक के सन्निधि में किये हुए दोषों का आलोचना पूर्वक वर्णन करना गर्हा अथवा गर्हण है । शुभ मन, शुभ वचन और शुभ शरीर की प्रवृत्ति के द्वारा प्रतिक्रमण करें अर्थात् अशुभ मन, वचन और काय के द्वारा किये हुए अशुभ योग से निवृत्त होना अर्थात् अशुभ परिणाम से उत्पन्न हुए—किये गये दोषों का त्याग करना यह प्रतिक्रमण है । सारांश—निंदा गर्हायुक्त होकर मन, वचन व शरीर के द्वारा द्रव्य, क्षेत्र और भाव के विषय में किये हुये जो व्रत दोष उनका शोधन-त्याग करना यह प्रतिक्रमण है ।

प्रत्याख्यान मूलगुण का स्वरूप—

णामादीणं छण्हं अजोग परिवज्जणं तियरणेण ।
पच्चक्खाणं णेयं अणागयं चागमे काले ।।६८५।।

समीप के भविष्यकाल में अर्थात् नजदीक के मुहूर्त, दिवस, सप्ताह इत्यादिक भविष्यकाल में नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ऐसे अनागत छहों दोषों का त्याग करना तथा आगत-उपस्थित नामादिक छहों दोषों का त्याग करना प्रत्याख्यान मूलगुण है । अथवा दूर के भविष्य काल में अथवा समीप के भविष्य काल में अयोग्य ऐसे छहों नामादिक दोषों का त्याग करना प्रत्याख्यान है । अथवा अनागत काल में नामादिक अयोग्य छहों प्रकार का जो आगमन होगा उसका मन वचन शरीर से त्याग करना प्रत्याख्यान है । पाप के कारण भूत ऐसे नाम स्थापनादिकों का त्याग करना प्रत्याख्यान है ।

प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान में अन्तर—अतीत काल में—भूतकाल में उत्पन्न

हुये दोषों का त्याग करना प्रतिक्रमण है। भविष्यकाल और वर्तमान काल में द्रव्यादिक के दोषों का त्याग करना प्रत्याख्यान है। ऐसा इन दोनों में भेद है। तपश्चरण के लिए निर्दोष ऐसे भी द्रव्यादिकों का त्याग करना प्रत्याख्यान है और प्रतिक्रमण दोष परिहार के लिए ही किया जाता है। ऐसी इनमें भिन्नता है।

विशेषार्थ—भविष्यकाल में और वर्तमान काल में नामादिक छह अयोग्य-पापास्रव के कारणों का शुभ मन वचन काय से त्याग करना यह प्रत्याख्यान है। इसका खुलासा मैं शरीर के द्वारा किसी का अशुभ नाम न करूंगा, न कराऊंगा और अनुमोदन नहीं दूंगा। वचन के द्वारा मैं अयोग्य नाम नहीं कहूंगा, मैं नहीं कहाऊंगा और कहने वालों को अनुमोदन मैं नहीं दूंगा। मन के द्वारा अशुभ नाम का चिंतन नहीं करूंगा, नहीं कराऊंगा और उसके विषय में अनुमोदन भी नहीं दूंगा। इस ही प्रकार अशुभ स्थापना को मैं शरीर से नहीं करूंगा, नहीं कराऊंगा और करने वालों को सम्मति नहीं दूंगा। वचन से नहीं बोलूंगा, नहीं बुलवाऊंगा और बोलने वाले को सम्मति नहीं दूंगा। मन से मैं अशुभ स्थापना का चिंतन नही करूंगा, दूसरों से चिंतन न कराऊंगा और अशुभ स्थापना का चिंतन करने वाले को अनुमोदन नहीं दूंगा। दोष सहित द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावों का मैं शरीर के द्वारा सेवन नहीं करूंगा, सेवन नहीं कराऊंगा और सेवन करने वालों को अनुमति नहीं दूंगा। वचन से सेवन कर मैं ऐसा नहीं कहूंगा, नहीं कहाऊंगा और सेवन करने वाले को तूने अच्छा किया ऐसी अनुमति वचन से नहीं दूंगा। मन के द्वारा मैं अशुभ द्रव्यादिकों का चिंतन नहीं करूंगा, दूसरों को चिंतन न कराऊंगा और करने वालों को सम्मति नही दूंगा। ऐसे सत्ताईस प्रकार के नामादिक छहों के दोषों का त्याग शुभ मन, वचन, काय से करना प्रत्याख्यान है।

कायोत्सर्ग का स्वरूप—

देवसियणियमादिसु जहुत्तमाणेण उत्तकालम्हि।
जिण गुण चिंतण जुत्तो काउस्सग्गो तणु विसग्गो ॥६८६॥

दिवस, रात्रि, पाक्षिक, चार महीने की, वार्षिक वगैरह निश्चय क्रियाओं में अर्हत्परमेष्ठियों ने जो पच्चीस, सत्ताईस, एक सौ आठ वगैरह प्रमाण रूप उच्छ्वास संख्या जिस काल में कही है, उस काल में जिन गुण स्मरण सहित अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, शुक्ल ध्यान, धर्म ध्यान, अनंत ज्ञानादिचतुष्टय इत्यादि गुणों के चिंतन

सहित जो शरीर के ऊपर के ममत्व का त्याग किया जाता है। वह कायोत्सर्ग नामक मूलगुण है।

लोच मूल गुण का स्वरूप—

वियतियचउक्कमासे लोचो उक्कस्समज्झिमजहण्णो।
सपडिक्कमणे दिवसे उववासेणेव कायव्वो ॥६८७॥

हाथ से मस्तक के केश, दाढ़ी और मूंछ उखाड़ना यह लोच का लक्षण है। यह लोच सम्मूर्छनादि जीवों की उत्पत्ति मस्तकादिकों में न होवे इस वास्ते तथा शरीर में राग मोह विकार न होवे इसलिये स्वशक्ति प्रगट करने के लिए, सर्वोत्कृष्ट, तपश्चरण के लिए, मुनिलिंग के गुण समझने के लिये मुनि करते हैं। इस लोच के उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य ऐसे तीन भेद हैं। इन भेदों से क्रम से उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य आचरण के भेद सूचित होते हैं। उत्कृष्ट लोच दो महीने पूर्ण होने पर अथवा अपूर्ण होने पर मुनि करते हैं। यह लोच दिन में उपवास पूर्वक करना चाहिये। पाक्षिक चातुर्मासिक प्रतिक्रमण के समय लोच करे। परन्तु उपवास पूर्वक ही करे। प्रतिक्रमण रहित दिवस में भी लोच करे। अथवा 'सप्रतिक्रमणे दिवसे' इन पदों का अभिप्राय 'लोच करके प्रतिक्रमण करे' ऐसा होता है। लोच शब्द लुंच् धातु से बना है और इस धातु का अर्थ अपनयन—दूर करना, निकालना ऐसा है। प्रश्न—केशों का अपनयन—निकालना क्षुरादिक से—कैंची, उस्तरा आदि से भी होता है तो हाथ से मस्तक के और दाढ़ी, मूंछ के केश क्यों उखाड़ना चाहिये? उत्तर—दीनता, याचना, परिग्रह, अपमान इत्यादिक दोष क्षुरादिक के द्वारा केश निकालने में होते हैं। अतः मुनिराज अपने हाथ से ही केशलोंच करते हैं।

अचेलकत्व मूल गुण का स्वरूप—

वत्थाजिणवक्केण य अहवा पत्ताइणा असंवरणं।
णिब्भूसणणिग्गंथं अच्चेलक्कं जगदि पुज्जं ॥६८८॥

वस्त्र-धोती, दुपट्टा, कंबलादिक, अजिन-हरिण, बाघ वगैरह का चर्म। वल्कल-वृक्ष की छाल से बने हुए वल्कल वस्त्र इनके द्वारा शरीर को न ढकना यह आचेलक्य मूलगुण है। अथवा वृक्ष के पत्ते, तृण वगैरह से अपना शरीर न ढकना यह भी आचेलक्य मूलगुण है। यह आचेलक्य कडा, केयूर, हार, मुकुट वगैरह अलंकार

तथा विलेपनादि से रहित होने से रागादिक विकार उत्पन्न नहीं करता है। यह निर्ग्रन्थ-बाह्याभ्यंतर परिग्रहों से रहित है। इन वस्त्रादिकों को मुनिराज मन, वचन, काय से त्यागते हैं। यह आचेलक्य मूलगुण जगत में महापुरुषों के द्वारा स्वीकार किया गया है, अतः वंदनीय है-मान्य है। प्रश्न—वस्त्रादिक को ग्रहण करने से कौन दोष उत्पन्न होते हैं? उत्तर—वस्त्रादिक को ग्रहण करने पर यूकादिक जीवों की हिंसा, वस्त्र प्राप्त करने की इच्छा, प्रक्षालन, याचना करना इत्यादिक दोष उत्पन्न होते हैं। ध्यानाध्ययनादिक में विघ्न उत्पन्न होता है, अतः मुनिराज आचेलक्य मूलगुण के धारक होते हैं।

अस्नान व्रत का स्वरूप—

ण्हाणादिवज्जणेण य विलित्त जल्लमल सेव सव्वंगं।
अण्हाणं घोर गुणं संजम दुगपालयं मुणिणो ॥६८६॥

स्नानादि वर्जन अर्थात् जल में प्रवेश करके स्नान करना, शरीर में सुगन्धी उबटन लगाना, आंखों में अंजन लगाना, अंग को जल से धोना, तांबूल भक्षण करना इत्यादिक अंगोपांग को सुखी करने के साधन हैं। इनका त्याग करने से अस्नान नामक व्रत का पालन होता है। सर्व अंग जिससे मलिन होता है, ढक जाता है ऐसे मल को जल्ल कहते हैं। अंग का एकांकि भाग जिससे व्याप्त होता है; उसको मल कहते हैं। रोम के छिद्रों से जो जल बाहर आता है, उसको स्वेद कहते हैं। इस अस्नानव्रत के धारण करने से शरीर उपर्युक्त जल्लादिक मल से व्याप्त होता है। यह अस्नान व्रत महागुण है। इससे उत्कृष्ट गुणों की प्राप्ति होती है। इस व्रत से प्राणिसंयम और इंद्रियसंयम का पालन होता है।

प्रश्न—स्नानादिक का त्याग करने से अशुचिपना आवेगा? उत्तर—स्नान करने से मुनि को पवित्रता नहीं आती। व्रतों से मुनि पवित्र होते हैं। यदि व्रत रहित प्राणी जलावगाहनादिक से पवित्र होते हैं, तो मत्स्य, मगर और दुराचारी लोक पवित्र मानने पड़ेंगे। परन्तु उनको कोई पवित्र नहीं मानते हैं। अतः व्रत, नियम, संयम ही पवित्रता के कारण हैं। जलादिक नाना सूक्ष्म जन्तुओं से भरा हुआ है, जल स्नान सर्व पाप का मूल है। इसलिये मुनि गण जलादिक से स्नान नहीं करते हैं।

भूमिशयन व्रत का वर्णन—

फासुयभूमिपएसे अप्पमसंधारिदम्हि पच्छण्णे ।
दंड धणुव्व सेज्जं खिदिसमणं एयपासेण ॥६९०॥

जहाँ जीव हिंसा, मर्दन कलह संक्लेश परिणाम नहीं होते हैं, ऐसे जीव वध रहित निर्जन्तुक भूमि प्रदेश में जहां अल्प भी तृणादिक प्रक्षिप्त नहीं है, अर्थात् जहां शयन के लिये थोड़ा भी तृण नहीं है। अथवा जहाँ अल्पसंस्तर है, अर्थात् तृणमय काष्ठ का बना हुआ फलक किंवा शिला है, ऐसे भूप्रदेश में जो कि गृहस्थ योग्य प्रच्छादन और शय्या से रहित है, ऐसे स्थान में सोना यह भूशयन नामक मूलगुण है। अथवा जहाँ आत्मना—स्वतः तृणादिक बिछाया है, ऐसे भूप्रदेश में—किंवा अपने शरीर के प्रमाणानुसार—संस्तर—चारित्र योग्य—प्रासुक—तृणादिक है, ऐसे भूमि प्रदेश में सोना चाहिये। वह भूमि प्रदेश गुप्त अर्थात् एकांत युक्त होना चाहिए तथा स्त्री, पशु व नपुंसक रहित, असंयत लोकों के संचार से रहित होना चाहिये। ऐसे भूमि प्रदेश में दण्ड के समान किंवा धनुष्य के समान एक बगल से सोना चाहिए। नीचे मुख करके अथवा ऊपर मुख करके नहीं सोवे। क्योंकि ऐसे सोने से स्वप्न दोष उत्पन्न होते हैं। उपर्युक्त प्रकार से सोना क्षितिशयन मूलगुण है। प्रश्न—इसका पालन क्यों करना चाहिये? उत्तर—इंद्रिय सुख का त्याग करने के लिए, तथा तप मजबूत होने के लिए तथा शरीरादिकों पर निःस्पृहता उत्पन्न होने के लिए यह भूशय्या नामक मूलगुण है।

अदन्तधोवन व्रत का लक्षण—

अंगुलिणहावलेहणि कलीहिं पासाणछल्लि यादीहिं ।
दंत मला सोहणयं संजमगुत्ती अदंतमणं ॥६९१॥

हाथ की अंगुली, नख, दांत स्वच्छ करने की निंब वगैरह की लकड़ी तथा तृण विशेष इनके द्वारा और पाषाण, वृक्ष की छाल, खप्पर अथवा ठिकरा, तंदुल का भूसा अथवा आटा इन पदार्थों के द्वारा मुनि दांतों का मल नहीं निकालते हैं। दांतों का मल नहीं निकालने से उनके इंद्रियसंयम का रक्षण होता है। इस मूल गुण का पालन करने से मुनियों को वीरागता प्राप्त होती है तथा सर्वज्ञ जिनेश्वर की आज्ञा का पालन होता है।

स्थिति भोजन—खड़े होकर भोजन करना इस मूलगुण का स्वरूप—

अंजलि पुडेण हिच्चा कुड्डाइ विवज्जणेण समपायं ।
पडि सुद्धे भूमितिये असणं ठिदि भोयणं णाम ॥६९२॥

मुनि खड़े होकर अंजलि पुट के द्वारा अर्थात् हाथ रूपी पात्र के द्वारा आहार लेते हैं। भित्ती, खांब वगैरह का आश्रय लेकर तथा बैठकर किंवा सोते हुए और तिरछे लेटकर आहार नहीं लेते हैं। खड़े होकर आहार लेते समय अपने दो पांवों के बीच में चार अंगुल का अन्तर रखना चाहिये। जीववधादिक से रहित ऐसे तीन भूमि प्रदेश में मुनि आहार लेते हैं। जिस स्थान पर मुनि आहार के लिए खड़े होते हैं, ऐसा प्रदेश उनके चरणों का भूमि प्रदेश, उच्छिष्ट जहां पड़ता है ऐसा प्रदेश, तथा दाता जहां खड़ा होकर आहार देता है वह प्रदेश, ऐसे तीन भूमि प्रदेश जीव वधादिक दोषों से रहित होने चाहिये। ऐसे शुद्ध प्रदेश में खड़े होकर पावों में चार अंगुल का अन्तर रखकर भीत, खाब वगैरह का आश्रय नहीं लेते हुए हस्त पुट से आहार लेना इसको स्थिति भोजन कहते हैं।

विशेषार्थ—मुनि दिन में एक बार ही भोजन करते हैं। उनके आहार का काल जघन्य तीन मुहूर्त तक कहा है। परन्तु तीन मुहूर्त तक पावों को समान्तर रखकर अंजलिपुट के द्वारा आहार लेना चाहिये, ऐसा उसका अभिप्राय नहीं है। उसका अभिप्राय इस प्रकार है। तीन मुहूर्त काल के बीच में जब कभी मुनि भोजन करते हैं उस समय में चरण समान्तर रखकर अंजुलिपुट से भोजन करे। यदि भोजन क्रिया के समपाद और अंजुलिपुट ये विशेषण नहीं माने जायेंगे तो हाथ धोने पर भी अन्यत्र आहार के लिये जाते समय, 'जानूपरिव्यतिक्रम' नाम का जो अन्तराय आगम में कहा है उसको व्यर्थता होगी। 'नाभेर धोनिर्गमन' नाम का अन्तराय मानने की भी आवश्यकता नहीं होगी। इससे यह सिद्ध होता है कि, तीन मुहूर्त के मध्य में किसी दाता के घर में भोजन क्रिया प्रारंभ करके किसी कारण से हाथ धोकर मौन से अन्य श्रावक के घर आहार के लिए मुनि जावे।

यदि उपर्युक्त अन्तराय एक घर में ही आहार करने वाले मुनि को होता है ऐसे कहोगे तो 'जानूपरिव्यतिक्रम' यह विशेषण व्यर्थ होगा तथा समपाद में थोड़ी सी भी चंचलता आई तो अन्तराय माना जावेगा 'नाभेर धोनिर्गमन' अन्तराय तो दूर ही रहा उसकी संभावना भी नहीं होगी। अतः उनका परिहार करने के लिये जो उनका

स्वरूप कहा है वह व्यर्थ होगा। इसी प्रकार पांव से कुछ ग्रहण करना (पादेन किंचिद्ग्रहणं) इत्यादिक अन्तरायों का वर्णन करना व्यर्थ है ऐसा समझना पड़ेगा। अञ्जलीपुट छोड़कर अन्यत्र जाने का यदि निषेध ही होगा तो 'हाथ से कुछ ग्रहण करना यह भोजन का अन्तराय है' ऐसा कहना योग्य नहीं होगा। मुनि हाथ से ग्रहण करे अथवा न करे अञ्जलिपुट छुटने से अन्तराय हुआ ऐसा मानना पड़ेगा तो अन्यत्र आहार को कैसे जा सकेंगे। गोडों के नीचे के अवयव का स्पर्शन होना यह भी अन्तराय का विशेषण नहीं हो सकेगा। ये अन्तराय सिद्ध भक्ति जब तक नहीं की है तब तक होते हैं ऐसा भी न समझे। ऐसा समझने पर तो भोजन का अभाव हो जावेगा। परंतु ऐसी कल्पना अयोग्य है। जब तक सिद्धभक्ति मुनियों ने नहीं की है तब तक वे बैठते हैं व सिद्ध भक्ति करने के अनन्तर खड़े होकर भोजन करेंगे। जब तक बैठे हैं तब तक काकादि पिंड हरण नाम के अन्तराय की संभावना नहीं होती है। (कौवे वगैरह पक्षी का हाथ में से ग्रास को उठा लेना)।

प्रश्न :—यह स्थिति भोजन मुनि क्यों करते हैं ?

उत्तर :—जब तक मेरे हाथ और पांव चलते फिरते हैं, तब तक आहार ग्रहण योग्य है। अन्यथा नहीं यह सूचित हो इसलिए वे स्थिति भोजन करते हैं। अपने दो हाथ में ही भोजन करना, यह बैठकर पात्र के द्वारा अथवा अन्य के हाथ से से मैं भोजन नहीं करूंगा इस प्रतिज्ञा का पालन करने के लिये समझना चाहिये। अपने हाथ के तल शुद्ध होते हैं और स्व हस्त में भोजन करने से बहुत अन्न का विसर्जन-छोड़ देना नहीं होता है (यदि पात्र में भोजन मुनि करेंगे तो सर्व आहार से भरी हुई थाली छोड़ देंगे। तथा ऐसा छोड़ना दोष है। इंद्रिय संयम और प्राणि संयम का पालन करने के लिये मुनि खड़े होकर भोजन करते हैं। मुनि जन जब तक आहार करते हैं तब तक समपाद व अञ्जलिपुट धारण करके ही रहे। यदि उसमें समपादता बिगड़ जायगी या अञ्जलिपुट छूट जायगा तो आहार छोड़ना चाहिये। क्योंकि यह अन्तराय हुआ है ऐसा समझना चाहिये।

एक भक्त का स्वरूप—

उदयत्थमणे काले णालीतियवज्जियम्हि मज्झम्हि।
एकम्हि दुअ तिए मुहुत्त कालेय भत्तं तु ॥६९३॥

सूर्योदय की तीन घटिका और सूर्यास्त की तीन घटिका छोड़कर बीच के एक मुहूर्तकाल में, दोनों मुहूर्तकाल में किंवा तीन मुहूर्त काल में जो आहार लेना वह एक भक्त है ।

विशेषार्थ :—तीन घटिका प्रमाण उदयकाल और अस्तकाल को छोड़कर तथा मध्यान्ह सामायिक काल भी छोड़कर मध्य काल में भोजन करना यह एक भक्त है । अथवा अहोरात्र मध्ये भोजन वेला दो हैं । उसमें से दिन की भोजन वेला में ऊपर के कथानुसार भोजन करना एक भक्त है । एक भक्त और एक स्थान इसमें फरक—तीन मुहूर्त के बीच में एक स्थान में चरण-विक्षेप न करके अर्थात् एक स्थान छोड़कर अन्य स्थान में न जाकर भोजन करना एक स्थान है; और तीन मुहूर्त में एक क्षेत्र की मर्यादा न करते हुए अन्यत्र भोजन करना एक भक्त है । प्रायश्चित्त ग्रंथ में एक स्थान उत्तर गुण है व एक भक्त मूल गुण है ऐसा कहा है । यह भेद इंद्रिय जय, अभिलाषा का त्याग, महा पुरुषों का आचरण अपन पालें इस हेतु से किया है ।

प्रश्न :—इस प्रकार महाव्रत में भेद क्यों किया है ?

उत्तर :—छेदोपस्थापना संयम के आश्रय से अहिंसा, सत्य, अचौर्य इत्यादि पांच भेद होते हैं ।

प्रश्न :—महाव्रत और समिति में क्या विशेषता है ?

उत्तर :—महाव्रत और समिति में अभेद है ऐसा समझना योग्य नहीं है । समिति में जाना, बैठना, भोजन करना मल मूत्र क्षेपण करना इत्यादिक क्रिया यत्नाचार पूर्वक होती है । अर्थात्, समिति क्रियात्मक है और महाव्रत अक्रियात्मक है अर्थात् परिणामात्मक होने से अक्रियात्मक है । मैं हिंसा वगैरह पापों का सर्वथा त्याग करता हूँ ऐसा संकल्प महाव्रतों में है बाह्य क्रियात्मकता उनमें नहीं है इसलिये वे अक्रियात्मक हैं ।

ये महाव्रत और समिति धारण करने से आत्मा को दुःख होता है ऐसा समझना अयोग्य है । जैसे वैद्य रोगी का फोड़ा फोड़ता है तो रोगी का दुःख दूर करता है । वैसे महाव्रत समिति का आचरण दुःख के लिये नहीं है । उनसे सुख की प्राप्ति होती है ।

तप और गुप्ति का कहां अन्तर्भाव होता है ?

१. अनशन तप— भोजन का त्याग करना, उसके तीन प्रकार हैं । मैं मन के द्वारा

भोजन करहीं करूंगा, अन्य को भोजन नहीं कराऊंगा, भोजन करने वाले को मैं अनुमति नहीं दूंगा। मैं भोजन करता हूँ, तुमको भोजन कराता हूँ, तुम भोजन करो ऐसा नहीं कहता हूँ। चार प्रकार के आहार का संकल्प पूर्वक शरीर से ग्रहण नहीं करता हूँ। हाथ के इशारे से दूसरे को प्रवृत नहीं करता हूँ और भोजन में प्रवृत को शरीर से अनुमति नहीं देता हूं। इस प्रकार कर्म बंधन की कारणभूत ऐसी मन, वचन व शरीर की क्रियाओं का त्याग करना अनशन तप है।

२. अवमोदर्य—तृप्ति और दर्प उत्पन्न करने वाले भोजन का मन, वचन, काय से त्याग करना अर्थात् अल्प भोजन करना।

३. वृत्ति परिसंख्यान—घर, पात्र, दाता इत्यादिकों का नियम करके आहार संज्ञा को जीतना।

४. रस परित्याग—मन, वचन और शरीर से रस विषयक लंपटता को छोड़ना।

५. काय क्लेश—शरीर में सुखाभिलाषा का त्याग करना।

६. विविक्त शय्यासन—चित्त की व्याकुलता के कारण जहां नहीं है ऐसे एकान्त स्थान में सोना और बैठना। इस प्रकार बाह्य तप के छह प्रकार हैं। अभ्यंतर तप वर्णन इस प्रकार समझना—

१. आलोचना—स्वयं किये हुए अपराध नहीं छिपाना।

२. प्रतिक्रमण—स्वतः उत्पन्न किये अशुभ मनो वचन काय की प्रवृत्तियों से हटना अर्थात् मेरी यह प्रवृत्ति मिथ्या हो, ऐसी खोटी प्रवृत्ति नहीं करूंगा ऐसा संकल्प करना।

३. तदुभय—उपर्युक्त दोनों का त्याग करना अर्थात् दोषों को न छिपाना और अशुभ प्रवृत्ति का त्याग करना।

४. विवेक – जिससे अथवा जिसमें अशुभयोग हुआ था उस वस्तु को छोड़ना, उससे दूर होना।

५. कायोत्सर्ग—देह के ऊपर ममत्व नहीं रखना।

६. तप—उत्पन्न हुए दोषों का परिहार करने के लिये उपवासादिक करना।

७. छेद—असंयम से ग्लानि होने के लिये दीक्षा के दिन मासादिक कम करना।

८. मूल—पुनः चारित्र ग्रहण करना अर्थात् पुनः मुनि दीक्षा धारण करना मूल प्रायश्चित है ।

९. परिहार—ऋषि, यति, अनगार, मुनि ऐसे चार प्रकार के संघ से कुछ काल तक बहिष्कार करना यह परिहार प्रायश्चित है ।

श्रद्धान—मिथ्यात्व को प्राप्त हुए मन को लौटाकर सम्यग्दर्शन में स्थिर करना ।

विनयतप—अशुभ क्रिया करना ये दर्शन, ज्ञान, चारित्र व तप के अतिचार हैं। इन अतिचारों को दूर करना यह विनय तप है ।

वैयावृत्य—चारित्र के कारण रूप औषध, शरीर शुश्रूषा, मल मूत्र साफ करना यह वैयावृत्य तप है ।

स्वाध्याय— अंग व पूर्वों का निर्दोष विधि पूर्वक अध्ययन करना ।

ध्यान—शुभ विषय में चित्त को स्थिर करना ध्यान है ।

गुप्ति—सावद्य—पाप योग से आत्मा का रक्षण करना। गुप्ति के मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, और काय गुप्ति ऐसे तीन भेद हैं। सर्व प्रकार के तप, गुप्ति और नित्य क्रियाओं का अन्तर्भाव मूल गुणों में ही होता है और कादाचित्क क्रियाओं का अर्थात् आतापनादि योगों का उत्तर गुणों में अन्तर्भाव होता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और चारित्र का भी मूल गुणों में ही अन्तर्भाव होता है। कारण इनके बिना मूल गुण होता ही नहीं ।

मूल गुण पालन करने से फल—

एवं विहाणजुत्तो मूल गुणे पालिऊण तिविहेण ।
होऊण जगादि पुज्जो अवखय सोक्खं लहदि मोक्खं ॥६९४॥

ऊपर कहे हुए प्रकार से सम्यक्त्व, सम्यग्ज्ञानादि पूर्वक क्रम से कहे हुए अट्ठावीस मूल गुणों को मन, वचन और शरीर से उत्तम रीति से निर्दोष पालन करके मुनीराज जगत में पूज्यनीय होते हैं और अन्त में बाधा रहित, अष्टकर्मों के नाश से मोक्ष सुख को पाते हैं ।

अन्तरायों का स्वरूप—

काग मेज्झा छद्दी रोहण रुहिरं च अस्सुवादंच ।
जण्हूहिट्ठामरिसं जण्हुवरि वदिक्कमो चेव ॥६९५॥

१. **काक नाम का अन्तराय**—काक शब्द से बक, श्येन अर्थात् बाज वगैरह पक्षिओं का भी उपलक्षण से ग्रहण करना चाहिये। मुनि आहार को जा रहे हैं अथवा आहार के लिये खड़े हो गये हैं ऐसे समय यदि कौवा, बक और श्येन वगैरह पक्षी मुनियों के शरीर पर मल मूत्र करेंगे तो भोजनांतराय होता है।

२. **अमेध्यान्तराय**—अपवित्र विष्टादिक से पादादिक लिप्त होने पर भोजनांतराय होता है।

३. **छर्दि**—मुनिराज को वमन होना।

४. **रोधन**—आहार के लिए तुम नहीं जा सकते ऐसा कहकर प्रतिबंध करना।

५. **रुधिर**—अपना रक्त अथवा अन्य का रक्त देह से चार अंगुल पर्यन्त बहता हुआ दृष्टिगत होने पर भोजनांतराय होता है। इससे कम बहने पर अन्तराय नहीं है। गाथा में च शब्द आया है उससे पीव आदि पदार्थ अपने या पर के देह से चार अंगुल पर्यन्त बहते हुए दीखने पर भी अन्तराय समझना चाहिये।

६. **अश्रुपात**—दुःख से अपने नेत्रों में तथा पर के नेत्रों में यदि अश्रु आते हो तो भोजनांतराय होता है।

७. **जान्वधः परामर्श**—गोडे घोटे के नीचे यदि हाथ से स्पर्श हो जावे तो अंतराय होता है।

८. **जानू परिव्यतिक्रम**—गोडे के ऊपर के अवयवों का स्पर्श होने पर अंतराय होता है।

णाभिअधोणिग्गमणं पच्चाखिय सेवणा य जंतुवहो।
कागादि पिंड हरणं पाणीदो पिंड पडणं च ॥४०॥

९. **नाभ्यधोनिर्गमन**—नाभि के नीचे मस्तक करके यदि जहाँ आहार को जाना पड़ता हो तो वह अन्तराय होता है।

१०. **प्रत्याख्यात सेवन**—जिस वस्तु का देव, गुरु की साक्षी से त्याग किया है उस वस्तु को भक्षण करना आहार का अन्तराय होता है।

११. **जंतुवध**—अपने सामने मार्जारादिक के द्वारा चूहा वगैरह प्राणी का वध होना।

१२. **काकादिपिंड हरण**—कौवा, गीध पक्षी इत्यादिकों के द्वारा साधु के हाथ से अन्न का ग्रास हरण करने पर भोजनांतराय होता है।

१३. **पिंड पतन**—भोजन करते समय मुनि के हाथ से ग्रास गिर जाना।

पाणीए जंतुवहो मंसादी दंसणे य उवसग्गो।
पादंतरम्मि जीवो संपादो भायणाणं च ॥४१॥

१४. **पाणौ जन्तु वध**—हस्त पात्र में प्राणी आकर स्वयं यदि मरे तो अन्तराय है।

१५. **मांसादि दर्शन**—मांस, मद्य और मरे हुए पंचेन्द्रिय का शरीर ये पदार्थ दीखने पर अंतराय समझना।

१६. **पादान्तरे जीव**—आहार लेते समय दोनों पावों के बीच में से पंचेन्द्रिय जीव का निकल जाना।

१७. **देवाद्युपसर्ग**—देव, मनुष्य, तिर्यंचों में से किसी के द्वारा आहार लेते समय मुनि को उपद्रव होने पर अंतराय होता है।

१८. **भोजन संपात**—परोसने वाले के हाथ से पात्र गिर जाने पर अंतराय होता है।

उच्चारं पस्सवणं अभोज्जगिहपवेसणं तहा पडणं।
उववेसणं सदंसं भूमी संफास णिट्ठवणं ॥४२॥

१९. **उच्चार**—आहार के समय अपने उदर में से मल-विष्ठा यदि निकलेगा तो अन्तराय होता है।

२०. **प्रस्त्रवण**—मूत्र और शुक्रादिक यदि निकलेंगे तो अन्तराय होता है।

२१. **अभोज्य गृह में प्रवेश**—आहार के लिये निकले हुए साधु का यदि चांडालादि अस्पृश्य लोगों के गृह में प्रवेश हो जाय तो अंतराय होता है। "अभोजिगिह भोजणं" ऐसा भी पाठ है। इस पाठ का अर्थ–भोजन के लिये अयोग्य ऐसे चांडालादिक अस्पृश्य लोक अभोज्य माने जाते हैं और सूतक पातकादिक का संबंध जिनको प्राप्त हुआ है ऐसे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य भी अभोज्य माने जाते हैं इनके घर में भोजन करना अन्तराय है।

२२. **पतन**—भ्रम, थकावट, मूर्च्छादिक से यदि साधु गिर जाय तो अन्तराय है।

२३. **उपवेशन**—साधु यदि बैठ गये तो अन्तराय है।

२४. **सदंश**—कुत्ता, बिल्ली वगैरह का दंश होने से अन्तराय है।

२५. **भूमि स्पर्श**—सिद्ध भक्ति होने पर हाथ से भूमिका स्पर्श हो जाये तो अन्तराय है ।

२६. **निष्ठीवन**—कफ, थूक आदिक यदि मुनि के द्वारा जमीन पर किया जाय तो अन्तराय होता है । हाथ से मुनि भूमि पर कुछ वस्तु ग्रहण करे तो अन्तराय होता है ।

उदरकिमिणि ग्गामणं अदत्तग्रहणं पहारगामडाहो ।
पादेण किंचि गहणं करेण वा जं च भूमिए ।।६६६।।

उदर क्रिमि निर्गमन—पेट में से यदि कृमि निकले तो अंतराय होता है ।

अदत्त ग्रहण—नहीं दी हुई वस्तु का ग्रहण करना ।

प्रहार—अपने ऊपर अथवा अन्य के ऊपर प्रहार हो तो ।

ग्राम दाह—गांव में यदि आग लगी हो तो ।

पादेन किञ्चिद् ग्रहणं—पाद से-पांव से यदि कुछ वस्तु भूमि पर से ग्रहण की जाय तो आहार का अंतराय होता है ।

एदे अण्णे बहुगा कारण भूदा अभोजणस्सेह ।
वोहण लोग दुगुंछण संजमणिव्वेदणठ्ठं च ।।६६७।।

पूर्वोक्त ये सर्व काकादिक अंतराय भोजन त्याग के अंतराय माने गये हैं । इनसे भी भिन्न दूसरे भोजन त्याग के हेतु माने हैं । वे इस प्रकार चांडालादि स्पर्श, कलह, इष्ट मरण, साधर्मिक संन्यास पतन, प्रधान मरण वगैरह । इन अंतरायों का पालन करना चाहिये । ये अन्तराय राज भय, लोकनिंदा यदि होगी तो संयम पालन के लिए व वैराग्य के लिये धारण करना चाहिये ।

चौदह मलों का वर्णन—

णहरोमजंतु अट्ठी कण कुंडयपूय चम्म रुहिरमंसाणि ।
बीय फल कंद मूला छिण्णाणि मला चउद्दसा होंति ।।६६८।।

मनुष्य अथवा तिर्यंच के हाथ पैरों के नख, रोम—मनुष्य अथवा पशु का केश, जन्तु—मरा हुआ प्राणी (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय मरा हुवा प्राणी) अर्थात् द्वीन्द्रियादि विकलत्रय जीवों का मृत शरीर । अट्ठी-अस्थि । १. कण—जौ, गेहूँ वगैरह धान्य का बाह्य अवयव, २. कुंडक—शालि वगैरह धान्य का अंदर का सूक्ष्म अवयव । पूय-पका हुआ रक्त जखम में उत्पन्न होने वाला पीव । चर्म-शरीर का चमडा-पहिला,

धातु, रुहिर-रक्त दूसरी धातु, मांस रक्त को आधारभूत तृतीयधातु, ६. बीज-अंकुर होने योग्य जौ, गेहूँ प्रभृति धान्य, फल-बीजसहित आम्र, बेर, वगैरह फल, कंद-जमीन में उत्पन्न होने वाला अंकुर की उत्पत्ति का कारण अथवा सूरण वगैरह, मूल-पीपल वगैरह वृक्षों के जड अदरख वगैरह चौदह मल हैं। इनमें कोई महा मल है, कोई अल्प मल-अल्प दोष है। रक्त, मांस, अस्थि, चमडा, पीव ये महादोष हैं। आहार में इनके दर्शन से सर्व आहार का त्याग करके प्रायश्चित भी लेना चाहिये। द्वीन्द्रियादि विकलत्रिक का शरीर और बाल अन्न में यदि दिख पड़े तो आहार त्याग करना चाहिये। नख दिख पडा तो आहार त्याग के साथ अल्प प्रायश्चित्त लेना चाहिये। अंकुरोत्पन्न धान्य, कण, कुंड, बीज, कंद, फल और मूल ये अन्न से अलग कर आहार कर सकते हैं। अन्यथा आहार का त्याग करना चाहिये। सिद्ध भक्ति करने पर अपने शरीर में से अथवा भोजन परोसने वाले के शरीर से रक्त पीव यदि गलने लग जाय तो आहार का त्याग करना चाहिये।

पिण्डशुद्धि आदि का वर्णन

पिण्डशुद्धि के आठ भेदों का स्वरूप—

उग्गम उप्पादण एसणं च संजोजणं पमाणं च।
इंगाल धूम कारण अट्ठविहा पिण्डसुद्धी दु ॥६९९॥

अर्थ—उद्गम दोष, उत्पादन दोष, एषणा दोष संयोजन दोष, प्रमाण दोष, इंगाल दोष, धूम दोष और कारण दोष ऐसे पिण्डशुद्धि के आठ दोष हैं। इन दोषों से रहित पिण्डशुद्धि होती है। तात्पर्य – पिण्डशुद्धि के दोषों के सामान्य आठ भेद हैं और विशेष भेदों का वर्णन आगे क्रम से आचार्य करेंगे।

उद्गम दोष—दाता के रत्नत्रय का नाश करने वाले अभिप्रायों के द्वारा आहार, औषध, वसति और उपकरणों में जो दो दोष उत्पन्न होते हैं, उनको उद्गम दोष कहते हैं।

उत्पादन दोष—यति के रत्नत्रय का नाश करने वाले अभिप्रायों के द्वारा जो दोष उत्पन्न होते हैं, उन्हें उत्पादन दोष कहते हैं।

एषणा दोष—जो मुनि के करपुट में आहार अर्पण करते हैं – परोसते हैं, उनसे होने वाले दोषों को एषणा दोष कहते हैं।

संयोजन दोष—संयोग से होने वाले दोष को संयोजन दोष कहते हैं।

प्रमाणातिरेक दोष—प्रमाण से अधिक आहार लेना।

इंगाल दोष—लम्पटता से आहार लेना।

धूम दोष—निंदा से आहार लेना।

कारण दोष—विरुद्ध कारणों से बना हुआ आहार लेना।

ऐसे पिण्डशुद्धि के दोषों के आठ विभाग कहे हैं।

उद्गम दोषों का नामनिर्देश

उद्गम दोषों का नाम निर्देश—

आधाकम्मुद्देसिय अज्झोवज्जे य पूदि मिस्से य।
ठविदे बलि पाहुडिदे पादुक्कारे व कीदे य ॥७००॥
पमिच्छे परियट्टे अभिहडमुब्भिण्ण मालं आरोहे।
अच्छिज्जे अणिसट्ठे उग्गमदोसा दु सोलसिमे ॥७०१॥

अधःकर्म—यह दोष गृहस्थाश्रित है। इसमें पंचशूना होती हैं। अर्थात् पानी भरना, झाड़ना, रसोई करना, धान्य कूटना और पीसना इन कार्यों से षट्काय जीवों की विराधना होती है। विराधनारूप यह महादोष है। आठ प्रकार के पिंडशुद्धि के दोषों से भिन्न है, यह महादोष। निकृष्ट प्रवृत्ति को अधः कर्म कहते हैं। षट्काय जीवों के समूह का इसमें वध होने से यह महादोष है।

औद्देशिक—उद्देश्य से आहार बनाना। अध्यधि-मुनियों को देखकर आहार बनाने को प्रारम्भ करना। पूति-प्रासुक और अप्रासुक मिश्र-आहार।

मिश्र—असंयतों के साथ मुनि को आहार देना।

स्थापित—अपने घर में अथवा अन्य के घर में स्थापन किया हुआ आहार।

बलि—यक्षादिकों को अर्पण करके अवशिष्ट रहा हुआ आहार।

प्रावर्तित—काल की हानि वृद्धि करके बनाया हुआ आहार।

प्रादिष्करण—आहार के लिये साधु आने पर पड़दा हटाना, भाजन भस्म से मांजना इत्यादि।

क्रीत—अन्न खरीदकर लाना।

प्रामृष्य—ऋण लेकर आहार बनाना।

परिवर्तन—शालि आदि देकर उसके बदले में अन्य धान्य लेकर आहार बनाना।

अभिघट—अन्य स्थान से अन्न लाकर मुनि को देना ।

उद्भिन्न—उद्भिन्न-भाजन के ऊपर का बंधन निकालकर आहार देना ।

मालारोह—घर के ऊपर सीढ़ियों से चढ़कर आहार की वस्तु लाकर मुनि को आहार देना ।

आच्छेद्य—राजादि के भय से आहार देना ।

अनीशार्थ—अप्रधान दाताओं ने दिया हुआ आहार । ऐसे उद्गमादिक सोलह दोष हैं । इनका क्रम से वर्णन करते हैं ।

गृहस्थाश्रित अधः कर्म दोष का स्वरूप—

छज्जीवणिकायाणं विराहणोछावणादिणिप्पण्णं ।
आधाकम्मं णेयं सयपरकदमादसंपण्णं ॥७०२॥

यह अधः कर्म दोष षट्काय जीवों की विराधना से होता है । अर्थात् पृथ्वी, जल अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस जीवों को दुःख देना उसको विराधना कहते हैं । उद्धावन-जीवो का वध करना । जीवों को पीडा देकर और उनका नाश कर जो आहार बनाया जाता है, उस आहार को भी अधः कर्म दोष कहते हैं । यह दोष स्वयं करना, पर के द्वारा कराना, अथवा दूसरों ने किये दोष को अनुमति देना । जीवों को पीडा देकर और उनका नाश कर यह दोष मुनि करेंगे तो उनका मुनिपना नष्ट होगा । इसमें वैयावृत्यादिक गुण नहीं होने से मुनियों को यह कार्य सर्वथा वर्ज्य है । वैयावृत्यादिक से रहित और स्वतः के आहार लिये भोजन बनाना षट्काय जीवों का नाश होने में निमित्त है । अतः यह दोष मुनि स्वतः नहीं करे और दूसरों से न करावें और करने वालों को अनुमति न देवे, मन, वचन, काय से न करे, न करावें, न अनुमति देवे । अर्थात् नौ प्रकार से अधः कर्म का त्याग करे । यह दोष छियालीस दोषों से अलग है । और यह गृहस्थ का कर्तव्य है । मुनि को इस दोष से सर्वथा दूर रहना चाहिये, यह दोष करने वाला मुनि गृहस्थ होता है । मुनिपना का नाशक यह दोष है । मुनिओं को षट्काय जीव वध का त्याग ही होता है, अतः मुनि इस दोष से सर्वथा दूर रहते ही हैं । फिर इसका यहां क्यों वर्णन किया है ।

अन्य पाखंडि साधुओं में यह दोष पाया जाता है । वे ऐसा प्राणिवध युक्त आहार बनाते हैं, वैसा जैन मुनि नहीं करे । अन्य साधु ऐसा आहार बनाते हैं, अतः वे गृहस्थ हैं । जैन मुनि निष्परिग्रही हैं । उनको यह दोष निषिद्ध है ।

उद्गम दोषों के सोलह भेद हैं। उनमें से पहिला औद्देशिक दोष है—

देवदपासंडट्ठं किविणट्ठं चावि जं तु उद्दिसियं।
कदसण्णं समुद्देसं चदुव्विहं वा समासेण ॥७०३

अधः कर्म महादोष है। उसके अनंतर औद्देशिक दोष है। यद्यपि वह सूक्ष्म दोष है तो भी उसका त्याग करना चाहिये। देवता-नाग यक्षादिकों को देवता कहते हैं। पाखंडि – जैन दर्शन से बाह्य मिथ्यादृष्टि कुतप करने वाले पारिव्राजक वगैरह साधु। कृपण-दीन लोक। देवताओं के लिये, पाखंडी साधुओं के लिए, दीन जनों के लिये जो आहार तैयार किया जाता है, उसे औद्देशिक आहार कहते हैं। अर्थात् औद्देशिक दोष के संक्षेप से चार भेद हैं।

औद्देशिक दोष के चार भेदों का स्वरूप—

जावदियं उद्देसो पासंडोत्ति य हवे समुद्देसो।
समणोत्ति य आदेसो णिग्गंथोत्ति य हवे समादेसो ॥७०४॥

यावानुद्देश—जो कोई आवेंगे उन सबको मैं भोजन देऊंगा ऐसा उद्देश-संकल्प मन में करके जो भोजन बनाया जाता है, उसको यावानुद्देश कहते हैं। जो कोई पाखंडी आवेंगे उन सबको आहार देऊंगा, ऐसे उद्देश से बनाये गये अन्न को पाखंडी समुद्देश कहते हैं। जो कोई श्रवण, आजीवक, तापस, रक्तपट, परिव्राजक और छात्र-शिष्य आवेंगे उन सबको मैं आहार देऊंगा ऐसे संकल्प से बनाये हुए अन्न को श्रमणादेश यह संज्ञा है। जो कोई निर्ग्रंथ मुनि आवेंगे उनको मैं आहार देऊंगा ऐसे उद्देश से अन्न किया जाता है, उसको निर्ग्रंथ समादेश कहते हैं। तात्पर्य सामान्य के उद्देश्य से, पाखंडिओं के उद्देश्य से, श्रमणों के उद्देश्य कर और निर्ग्रंथों के उद्देश्य कर जो अन्न बनाना वह चार प्रकार का औद्देशिक दोष होता है। उद्देश से बनवाये आहार को औद्देशिक आहार कहना चाहिये।

अध्यधि दोष का स्वरूप—

जल तंदुलपक्खेवो दाणट्ठं संजदाण सयपयणे।
अज्झोवज्झं णेयं अहवा पागं तु जाव रोहो वा ॥७०५॥

अपने लिये जो अन्न पकाया जाता है, उसी में संयत को देखकर उसके लिये भी जो पानी और तंदुलादिकों का पुनः अधिक क्षेपण करना उसको अध्यधि दोष कहते हैं अथवा जितने काल में आहार तैयार होगा उतने काल तक आहार के लिये

आये हुए मुनिराज की पूजा के लिये और धर्मप्रश्न आदि के निमित्त स्थापन करना वह भी अध्यधि दोष है।

पूति दोष का स्वरूप—

अप्पासुएण मिस्सं पासुयदव्वं तु पूदि कम्मं तं।
चुल्ली उक्खलि दव्वी भायणगंधत्ति पंचविहं ॥७०६॥

प्रासुक ऐसा भी अन्न अप्रासुक सच्चित्तादिक अन्न के साथ मिश्रण करने से पूति दोष उत्पन्न होता है। अथवा प्रासुक होने पर भी जिसमें संकल्प किया जाता है, उसको भी पूतिकर्म दोष पांच प्रकार का है। जैसे – चुल्लि-जिस पर अन्न पकाया जाता है, ऐसी सेगडी अथवा चूल। उक्खलि – जिसमें चटणी आदि कूटकर किये जाते हैं। दर्वी-संडासी। भाजन-अन्न पकाने का पात्र। गंध-गंध युक्त द्रव्य। चूल के ऊपर भात आदि पकाकर साधु को प्रथम देंगे अनंतर स्वतः अथवा इतर लोगों को देऊंगा ऐसी कल्पना से प्रासुक भी द्रव्य पूतिकर्म से निष्पन्न होने से पूति कहा जाता है। उद्खल – इस उखली में चूर्ण कर जब तक वह ऋषिओं को नहीं देऊंगा तब तक स्वतः के लिये अथवा अन्य के लिये वह उपयोग में नहीं लाऊंगा ऐसी कल्पना से यह उद्खली नामक पूतिकर्म दोष है। यद्यपि वह चूर्ण प्रासुक है तो भी उपर्युक्त संकल्पना से पूति कर्म होता है। दर्वी – संडासी से जब तक मुनि को आहार में कहीं दूंगा तब तक स्वः को अथवा अन्य को वह योग्य नहीं है ऐसे संकल्प से यह भी पूतिकर्म दोष है। गंध– यह गंध जब तक ऋषि को भोजन पूर्वक नही दूंगा तब तक अन्यों को नहीं दूंगा। ऐसे संकल्प से यह भी पूतिकर्म दोष होता है। इस प्रकार पूतिकर्म दोष पाँच प्रकार का है। दाता उपर्युक्त संकल्प करके चुल्ली वगैरह से प्रथम आरम्भ कर्म करता है, अतः ऐसे आहार को यदि छोड़े देते हैं। यद्यपि इसमें आहार के अन्नादिक पदार्थ प्रासुक हैं तो भी दाता के उपर्युक्त संकल्प से सदोष हैं, ऐसा समझना चाहिये।

मिश्रदोष के स्वरूप का निरूपण—

पासंडेहिं य सद्धं सागारेहिं य जदण्णमुद्दिसियं।
दादुमिदि संजदाणं सिद्धं मिस्सं वियाणाहि ॥७०७॥

प्रासुक अन्न तैयार होने पर भी अर्थात् भात आदि अन्न प्रासुक होने पर भी पाखंडिओं के साथ और गृहस्थों के साथ मुनिओं को जो देने का संकल्प किया

जाता है, तब वह अन्न मिश्र दोष से युक्त होता है। पाखंडियों के साथ मुनियों को आहार देने से और गृहस्थों के साथ उनको आहार देने से मुनियों का यथा योग्य आदर नहीं हो सकता, अतः इस प्रकार के आहार दान में अनादर दोष उत्पन्न होता है। तथा पाखंडियों के साथ मुनियों के दान में स्पर्शदोष उत्पन्न होता है, क्योंकि पाखंडी चाहे जहां उच्च नीच लोगों के घर में आहार लेते हैं। तथा पाखंडी स्वतः उच्च और नीच जाति के भी होते हैं, अतः इनके साथ मुनियों को आहार देने से स्पर्श दोष भी उत्पन्न होता है।

स्थापित दोष का स्वरूप—

पागादु भायणाओ अण्णम्हि य भायणम्मि पक्खविय।
सघरे व परघरे वा णिहिदं ठविदं वियाणाहि ॥७०८॥

जिस स्थाली में आहार पकाया था, उसमें से वह आहार निकाल कर अन्य स्थाली में—पात्र में वह स्थापना करके स्वगृह में अथवा परगृह में ले जाकर स्थापन करना वह स्थापित दोष है। दाता में भय होने से वह आहार के पदार्थ अन्य भाजन में रखकर अपने अथवा दूसरे के घर में रखकर दान देता है अथवा उसके साथ उसके स्वजनों का विरोध होने से वह अन्य के घर में आहार के पदार्थ रखता है, अतः यह दान भय और विरोधादि दोषों से दूषित होता है।

बलिदोष का स्वरूप—

जक्खणागादीणं बलिसेसं बलित्ति पण्णत्तं।
संजद आगमणट्ठं बलियम्मं वा बलिं जाणे ॥७०९॥

यक्ष, नाग, मातृका, कुलदेवता, पितर आदि के लिए जो बलि किया जाता है, उसमें से बचा हुआ जो बलि का अन्न वह मुनि के लिए भी उपयोग में लाना, यह बलि दोष है। अथवा नागयक्षादि के लिये जो चंदनादिक उपयोग में लाकर अवशिष्ट रहे थे, उनका मुनियों के पूजा में भी उपयोग करना यह बलिदोष है, किंवा मुनियों को स्थापन कर चन्दनादिक अर्पण करना, उदक क्षेपण करना, पुष्पफल पत्रादिक तोड़कर उससे अर्चन करना यह सावद्य दोष से युक्त होने से दोष मुक्त माना जाता है।

प्राभृत दोष के स्वरूप का निरूपण—

पाहुडियं पुण दुविहं बादर सुहुमं च दुविहमेक्केक्कं।
ओकस्सण मुक्कस्सण महकालो वट्ट णावड्ढी ॥७१०॥

प्राभृत दोष के बादर और सूक्ष्म ऐसे दो भेद हैं। पुनः बाहर के उत्कर्षण और अपकर्षण ऐसे दो भेद हैं। सूक्ष्म के भी उत्कर्षण और अपकर्षण ऐसे दो-दो भेद होते हैं।

बादर के दो भेद और सूक्ष्म के दो भेद—

दिवसे पक्खे मासे वास परत्तीय बादरं दुविहं।
पुव्व परमज्झवेलं परियत्तं दुविह सुहुमं च ॥७११॥

ठहराया हुआ—निश्चित किया हुआ दिवस, पक्ष, महिना और वर्ष को बदलकर जो दान दिया जाता है, वह बादर प्राभृतकदोष से दूषित होता है। यह बादर प्राभृतकदोष दो प्रकार का है। उसका खुलासा-शुक्लाष्टमी के दिन देने के लिए निश्चित किया आहार, दिन कम करके शुक्लपंचमी के दिन देना। और शुक्ल पंचमी के दिन आहार देने का निश्चय बदलकर शुक्लाष्टमी को आहार देना। यह दिवस परावृत्ति-प्राभृतकदोष है। चैत्र शुक्ल पक्ष में देने का निश्चय बदलकर चैत्र कृष्ण पक्ष में देना और चैत्र कृष्ण में देने का निश्चय बदलकर चैत्र शुक्ल में देना। चैत्र मास में आहार देने का निश्चय बदलकर फाल्गुन में देना और फाल्गुन का आहार देने का निश्चय बदलकर चैत्र मास में आहार देना यह मासपरावृत्ति-प्राभृतकदोष है। आगे के वर्ष में देने का निश्चय बदलकर अब के वर्ष में दान देना तथा सांप्रतिक वर्ष का निश्चय बदलकर उत्तरवर्ष में आहार देना निश्चित करना इस प्रकार बादर प्राभृत के दो भेदों का वर्णन किया है।

सूक्ष्म प्राभृत के दो भेद इस प्रकार समझना चाहिए—दिन के पूर्व काल में आहार देने का निश्चय बदलकर मध्यान्हकाल में देना, मध्यान्हकाल का निश्चय बदलकर पूर्वान्हकाल में देना। इस प्रकार काल की हानि और वृद्धि के आश्रय से प्राभृतक दोष के दो भेद कहे हैं। संक्लेश परिणाम और आरम्भ दोष इनमें दीखता है, अतः ये दोष दाता के द्वारा त्याज्य हैं।

प्रादुष्कार दोष का वर्णन—

पादुक्कारो दुविहो संकमणपयासणा च बोद्धव्वो।
भायण भोयण दीवं मंडल बिरलादियं कमसो ॥७१२॥

प्रादुष्कार दोष के संक्रमण और प्रकाशन ऐसे दो भेद हैं। संक्रमण प्रादुष्कार दोष—भोजन और भोजन के पात्र एक स्थान से स्थानांतर में ले जाना।

प्रकाशन प्रादुष्कार—आहार के उपयुक्त पात्र भस्मादिक से मांजना धोना अथवा आहार के उपयुक्त पात्र फैल कर रख देना। छत, चन्द्रोपक वगैरह ऊपर लगा देना, भीत और जमीन गोबर और मिट्टी से लेपना, साफ सुथरी करना, दीपक जलाना इत्यादिक कार्य करना प्रादुष्कार दोष का स्वरूप है। ये कार्य करते समय ईर्यापथशुद्धि नहीं रहती है, अतः यह दोष उत्पन्न होता है। एक स्थान से अन्य स्थान में आहारादिक के पात्र ले जाते समय ईर्यापथशुद्धि का पालन करना चाहिए। वह न होने से प्रादुष्कार दोष उत्पन्न होता है।

क्रीततर दोष का स्वरूप—

कीदयडं पुण दुविहं दव्वं भावं च सग परं दुविहं।
सच्चित्तादी दव्वं विज्जामंतानि भावं च ॥७१३॥

क्रीततर के द्रव्य और भाव ऐसे दो भेद हैं। द्रव्य के भी स्वद्रव्य और परद्रव्य ऐसे दो भेद हैं। भाव के स्वभाव और परभाव ऐसे दो भेद हैं। गाय, भैंस, अश्व इत्यादि को द्रव्य कहते हैं। विद्या मन्त्रादि को भाव कहते हैं। गाय, भैंस, अश्व आदि को सचित्तद्रव्य कहते हैं और ताम्बूल वस्त्रादिकों को अचित्त द्रव्य कहते हैं। जब मुनि आहार के लिए श्रावक के घर में आते हैं उस समय श्रावक अपना अथवा अन्य का सचित्तादि द्रव्य और ताम्बूल वस्त्रादिक अन्य श्रावक को देकर उससे आहार ग्रहण कर यदि मुनिराज को आहार देगा तो क्रीत दोष उत्पन्न होता है। तथा स्वमंत्र अथवा परमंत्र, स्वविद्या अथवा परविद्या देकर आहार प्राप्ति कर लेता है और यति को वह आहार यदि श्रावक देगा तो यह भी क्रीतदोष कहा जाता है। प्रज्ञप्त्यादिकों को विद्या कहते हैं और चेटक आदि को मंत्र कहते हैं। इनके द्वारा आहार उत्पन्न करके मुनि को आहार देने में कारुण्यदोष उत्पन्न होता है, संक्लेश परिणाम भी उत्पन्न होते हैं।

ऋण दोष का स्वरूप—

दहरिय रिणं तु भणियं पामिच्छं ओदणादि अण्णदरं।
तं पुण दुविहं भणिदं सवाड्ढियमवड्ढियं चापि ॥७१४॥

लघु ऋण को 'दहरिय' कहते हैं। भात वगैरह अन्न को पामिच्छ कहते हैं। यह ऋण और अन्नादिक वृद्धि सहित और वृद्धि रहित ऐसे दो प्रकार के हैं। इनका स्पष्टीकरण इस प्रकार से समझना—जब मुनि आहार के लिए जाते हैं। तब

दाता अन्य श्रावक के घर में जाकर अन्नादिक की याचना करता है, अर्थात् मेरे घर पर मुनि आहार के लिए आये हैं, यदि इस समय आप मेरे को अन्नादिक देंगे तो मैं आपको उससे अधिक अथवा उतने ही अन्नादिक वस्तु दूंगा, इस प्रकार कहकर उनसे अन्नादिक लेकर मुनि को देना यह प्रामृष्यदोष है। इस प्रकार से आहार देने में दाता के परिणामों की निर्मलता नहीं रहती है और आहार लेने के लिए अनेक घरों में जाने के कष्ट भी होते हैं, अतः इस प्रकार से आहार देना सदोष माना है। ऋण लेकर दान देना यह दोष है।

परावर्त दोष का स्वरूप—

वीहीकूरादीहिं य सालीकूरादियं तु जं गहिदं।
दादुमिदि संजदाणं परियट्ठं होदि णायव्वं ॥७१५॥

अन्य श्रावकों के पास जाकर व्रीहियों के भात वगैरह पदार्थ देकर उनसे शाल्योदनादि पदार्थ लेकर मुनियों को आहार देना यह परिवर्तन नामक दोष है। अथवा मंडकादिक पदार्थ देकर व्रीहियों का भात वगैरह उनसे लेना यह परिवर्तन दोष है। इसमें दाता को संक्लेश परिणाम उत्पन्न होते हैं, अतः यह दोष है।

अभिघट दोष का स्वरूप—

देसोत्ति य सव्वोत्ति य दुविहं पुण अभिहडं वियाणाहि।
आचिण्णमणाचिण्णं देसाभिहडं हवे विदियं ॥७१६॥

देशाभिघट और सर्वाभिघट ऐसे अभिघट दोष के दो भेद हैं। किसी एक प्रदेश से आये हुए भात आदिक पदार्थ को देशा भिघट कहते हैं। अनेक स्थानों से आये हुए भात आदि पदार्थ को सर्वाभिघट कहते हैं। देशाभिघट के आचिन्न देशाभिघट और अनाचिन्न देशाभिघट ऐसे दो भेद हैं।

आचिन्न और अनाचिन्न का स्वरूप—

उज्जु तिहिं सत्तहिं वा घरेहिं जदि आगदं दु आचिण्णं।
परदो वा तेहिं भवे तव्विवरीदं अणाचिण्णं ॥७१७॥

सरल पंक्ति स्वरूप तीन अथवा सात घरों से आये हुए भात, लड्डू आदिक अन्न को आचिन्न कहते हैं। ऐसा अन्न मुनियों के ग्रहण योग्य माना है। उसमें दोष नहीं है। परन्तु जो एक पंक्ति में नहीं है, ऐसे घरों में से अन्नादिक लाते समय ईर्यापथ शुद्धि नहीं होती है। अतः अक्रमपंक्तिस्थित घरों से आया हुआ आहार मुनियों

को निषिद्ध है ।

सर्वाभिघट दोष का स्वरूप—

सव्वाभिघडं चदुधा सयपरगामे सदेस परदेसे ।
पुव्वापर पाडण यडं पढमं सेसं पि णादव्वं ।।७१८।।

सर्वाभिघट के स्वग्राम, परग्राम, स्वदेशे और परदेशे ऐसे चार भेद हैं । जिस ग्राम में मुनि तिष्ठे हैं, वह स्वग्राम है । उससे भिन्न ग्राम को परग्राम कहते हैं । जिस देश में मुनि स्थित हैं, वह स्वदेश है और उससे अन्य देश को परदेश कहते हैं । स्वग्राम से आये हुए अन्नादिक को स्वग्रामाभिघट दोष कहते हैं । स्वग्राम से आये हुए अन्नादिक को ग्रहण न करे । इसका स्पष्टीकरण—एक गली में से दूसरे गली में अन्नादिक को ले जाना, पूर्व की गली में से पश्चिम दिशा की गली में अन्नादिक ले जाना, यह स्वग्रामाभिघट नामक दोष है । दूसरे ग्राम से अपने ग्राम को अन्नादिक लाना परग्रामाभिघट नाम का दोष है । अपने देश से अपने ग्राम को अन्नादिक लाना परग्रामाभिघट नाम का दोष है । अपने देश से अपने ग्राम को अन्नादिक लाना, यह परदेशाभिघट नामक दोष है । ऐसे सर्वाभिघट दोष के चार भेद हैं । इसमें दूर से अन्नादिक लाने से ईर्यापथ शुद्धि नहीं रहती है, अतः इस सर्वाभिघट दोष को त्यागना चाहिये ।

उद्भिन्न दोष का वर्णन—

पिहिदं लंछिदियं वा ओसहघिदसक्करादि जं दव्वं ।
उब्भिण्णिऊण देयं उब्भिण्णं होदि णादव्वं ।।७१९।।

ढक्कन से बंद किये हुए अथवा कीचड़ से लिप्त किंवा लाख से मुद्रित ऐसे पात्रों में रखे हुए जो औषध, घी, गुड़, शक्कर, लड्डू, खजूर, आदिक पदार्थ ढक्कन खोलकर वा मुहर तोड़कर यति को देना वह उद्भिन्न नामक दोष है । ढके हुए पात्रों में चींटी आदिक जन्तु प्रवेश करते हैं और उस पात्र में से गुड़, खांड वगैरह पदार्थ मुनियों को देते समय चींटी आदिकों को बाधा होती है, अतः इस प्रकार का आहार उद्भिन्नदोष से दूषित है ।

मालारोहण दोष का वर्णन—

णिस्सेणी कट्ठादिहि णिहिदं पूयादियं तु घेत्तूणं ।
मालारोहं किच्चा देयं मालारोहणं णाम ।।७२०।।

निसैनी से चढ़कर घर के दूसरे मजले में–माडी रखे हुए मंडक, लड्डू आदिक पदार्थ को लेकर मुनियों को देना, यह मालारोह नामक दोष है। निसैनी के द्वारा माड़ी पर से लड्डू आदिक पदार्थ लाने वाला दाता नीचे गिरकर पड़ने की संभावना है, दाता को अपाय होने की इसमें संभावना होती है, अतः यह दोष त्याज्य है।

अच्छेद्यदोष का स्वरूप—

राजाचोरादीहि य संजद भिक्खा समं तु दट्ठूण।
बीहेदूण णिजुज्जं अच्छेज्जं होदि णादव्वं ॥७२१॥

मुनियों को भिक्षा का कष्ट होता है, ऐसा समझकर राजा तथा राजा के समान अधिकारी व्यक्ति और चौरादिक श्रावकों को भय दिखा कर उनसे मुनियों को आहार दिलाते हैं, इस प्रकार आहार देना यह आच्छेद्य नामक दोष है। राजादिक श्रावकों को इस प्रकार कहते हैं—तुम यदि यतियों को आहार न देंगे तो तुम्हारा धन हम लूटेंगे, गांव से निकाल देंगे, इस प्रकार डराकर के जो दान दिया जाता है, वह आच्छेद्य नामक दोष है।

अनीशार्थ दोष के स्वरूप का विवरण—

अणिसट्ठं पुण दुविहं इस्सरमहणिस्सरं च तिवियप्पं।
पढमिस्सरसारक्खं वत्तावत्तं च संघाडं ॥७२२॥

अनीशार्थ—अप्रधान हेतु को अनीशार्थ कहते हैं, वह अनीशार्थ ईश्वर और अनीश्वर ऐसा दो प्रकार का है। अथवा धनेश्वर ऐसा पाठ है। जिस अन्न लड्डू आदिक पदार्थ के अप्रधान अर्थ कारण है, उन लड्डू आदिक पदार्थों को अनीशार्थ कहते हैं। ऐसे पदार्थ को ग्रहण करने में जो दोष होता है, उस दोष को भी अनीशार्थ कहते हैं। इस अनीशार्थ के ईश्वर और अनीश्वर ऐसे दो भेद हैं।

सारक्षईश्वर, यह दान का पहला भेद है। अमात्य पुरोहितादिकों को आरक्ष कहते हैं, आरक्षों से सहित दान देने वाले ईश्वर को सारक्षईश्वर कहते हैं। इसका अभिप्राय–दाता के मन में मुनि को दान देने की इच्छा है तो भी वह नहीं दे सकता है, क्योंकि दूसरे लोग देते समय उससे विरोध करते हैं। अर्थात् दाता को दान देता है, परन्तु अमात्य पुरोहितादिक विरोध करते हैं, इस प्रकार से यदि उस दाता का दिया हुआ अन्न लेंगे तो यह पहला ईश्वर नामक अनीशार्थ दोष है।

अनीशार्थ--- जिस दान का अप्रधान पुरुष हेतु होता है, वह दान अनीशार्थ कहा जाता है। और ऐसे दान से उत्पन्न हुए दोष को भी अनीशार्थ कहते हैं। यहाँ कार्य में कारण का उपचार किया है। दान ग्रहण करना यह कारण है और उससे उत्पन्न हुआ दोष कार्य माना जाता है। कार्य रूप दोष को कारण का नाम देने से कार्य में कारण का उपचार हुआ है।

यह अनीशार्थ तीन प्रकार का है---व्यक्त, अव्यक्त और संघाटक। अनीश्वर दानादिक का स्वामी नहीं माना जाता है। परन्तु व्यक्त-बुद्धी से, विवेक से कार्य करने वाले अनीश्वर को व्यक्तानीश्वर कहते हैं। ऐसे अनीश्वर के द्वारा दिया जाने वाला आहार यदि मुनि ग्रहण करेंगे, तो यह व्यक्त अनीश्वर, अनीशार्थ नामक दोष होता है।

अव्यक्त अनीश्वर अनीशार्थ---अनीश्वर दान का स्वामी नहीं माना जाता है, यह ऊपर कह चुके हैं। अव्यक्त---जो अविवेक से कार्य करता है, ऐसे अनीशने दिया हुआ अन्न ग्रहण करना वह अव्यक्त अनीश्वर नामक अनीशार्थ दोष है।

व्यक्ताव्यक्त अनीश्वर नामक अनीशार्थ दोष---इसको ही संघाटक अनीश्वर नामक अनीशार्थ दोष ऐसा दूसरा नाम है। व्यक्त और अव्यक्त ऐसे अनीश्वर के द्वारा दिया जाने वाला आहार साधु यदि ग्रहण करे तो यह दोष होता है। ऐसा आहार लेना अपायकारक है। अथवा इस दोष का स्पष्टीकरण इस प्रकार से भी होता है। ईश्वर--दान देने वाला अर्थात् दानपति स्वामी। व्यक्ताव्यक्त दानपति के द्वारा जिसका निषेध किया है, ऐसा दान यदि साधु ग्रहण करेंगे, तो वह व्यक्ताव्यक्तेश्वर नामक अनीशार्थ दोष होता है।

व्यक्ताव्यक्तेश्वर नामक अनीशार्थ दोष--जो दान का स्वामी नहीं है ऐसे व्यक्ताव्यक्त के द्वारा दिया हुआ जो दान मुनि ग्रहण करते हैं, तब यह दोष उत्पन्न होता है।

संघाटक-समुदाय-अर्थात् कोई पुरुष दान का निषेध करता है और कोई दान देता है। इस प्रकार का दान साधु ग्रहण करेंगे तो वह संघाटक नामानीशार्थ दोष है।

ईश्वर व्यक्ताव्यक्त, संघाटभेद से दो प्रकार का है। ईश्वर--दान का स्वामी आहार देने के लिये उद्युक्त हुआ है और ईश्वर ही व्यक्त, अव्यक्त, संघाट के द्वारा

जब दान का निषेध करता है तब यह दोष उत्पन्न होता है।

गाथा में जो 'च' शब्द है वह समुच्चयार्थक है उसका स्पष्टीकरण—ईश्वर दो प्रकार का है और अनीश्वार भी दो प्रकार का है।

ईश्वर-दानपति दान देता है और व्यक्त, अव्यक्त ऐसे अनीश उसका निषेध करता है। अथवा व्यक्त किंवा अव्यक्त ईश्वर के द्वारा निषिद्ध दान को ग्रहण करना ऐसे दो भेद ईश्वरानीशार्थ के हैं। तथा व्यक्त और अव्यक्त अनीश के द्वारा निषिद्ध दान ग्रहण करना ये दो भेद अनीश्वर अनीशार्थ के होते हैं।

संघाटक के द्वारा निषिद्ध किया हुआ दान ग्रहण करना यह भी उपर्युक्त दोषों से भिन्न दोष है, क्योंकि इसमें सर्वत्र निषेध ही दिख पड़ता है।

अथवा निसृष्ट शब्द का—मुक्त ऐसा अर्थ है अर्थात् जो निषेधा जाता है उसको निसृष्ट कहते हैं। जिसकी मनाई की गई है वह अनिसृष्ट है। अनिसृष्ट के ईश्वर और अनीश्वर ऐसे दो भेद हैं। पुनः चार भेद इस प्रकार होते हैं---ईश्वर के सारक्ष, व्यक्त, अव्यक्त और संघाटक ऐसे चार भेद हैं। मंत्र्यादियुक्त स्वामी को सारक्ष कहते हैं। बालक स्वामी को अव्यक्त कहते हैं। प्रेक्षापूर्वकारी विवेकी स्वामी को व्यक्त कहते हैं। व्यक्ताव्यक्त का समूह संघाटक कहा जाता है। इस प्रकार अनीश्वर के भी भेद हैं। इन्होंने निषेधा हुआ अथवा दिया हुआ दान यदि साधु लेंगे तो अनिसृष्ट दोष होता है। इस प्रकार अनिसृष्ट दोष का विवरण हुआ।

उत्पादन दोषों का प्रतिपादन—

धादीदूदणिमित्ते आजीवे वणिवगे य तेगिच्छे।
कोधी माणी मायी लोही य हवंति दस एदे ॥७२३॥

धादी—माता। दूत—वार्ताहर। निमित्त—ज्योतिष। आजीव—आजीविका वनीपक—दाता के अनुकूल भाषण करना। चिकित्सा—वैद्य शास्त्र। क्रोधी, मानी, मायावी, लोभी इस प्रकार उत्पादन दोष के दस भेद हैं।

पुव्वी पच्छा संथुदि विज्जामंते य चुण्णजोगे य।
उप्पादण य दोसो सोलसमो मूलकम्मे य ॥७२४॥

पूर्व स्तुति—दान ग्रहण के पूर्व दाता की स्तुति करना। पश्चात्स्तुति—दान ग्रहण के पश्चात् दाता की स्तुति करना। विद्या—आकाशगामिनी, रूपपरावर्तिनी, शास्त्र स्तंभिनि इत्यादि विद्याओं का माहात्म्य कहना। मंत्र—सर्प विष, वृश्चिकविष दूर करने वाले मंत्र के द्वारा अपना महत्त्व दिखाकर दाता से आहार ग्रहण करना।

चूर्ण, योग–शरीर को सुगंधित और भूषित करने वाले उवटन आदिकों का उपदेश करना ये सब उत्पादन दोष हैं। मूल कर्म–जो वश नहीं हैं, उनको वश करना ऐसे सोलह उत्पादन दोष हैं।

धात्री दोष का विवरण—

मज्जण मंडणधादी खेल्लावणखीर अंबधादी य।
पंच विध धादिक म्मेणुप्पादो धादिदोसो दु ॥७२५॥

जो बालक का संरक्षण करती है पोषण करती है, उसको दूध पिलाती है, उसको धात्री कहते हैं। धात्री के पांच भेद हैं। उनका विवेचन–मार्जनधात्री–जो बालक को स्नान करवाती है उसको मार्जनधात्री कहते हैं। जो बालक को तिलक, अंजन और आभूषण से सजाती है उसको मंडन धात्री कहते हैं। जो बालक को क्रीडा के द्वारा आनंदित करती है, उसको क्रीडन धात्री कहते हैं। जो बालक को दूध पिलाती है, स्तनपान कराती है वह क्षीर धात्री है। जो बालक को अपने पास सुलाती है वह अंब धात्री है। ऐसे पांच धात्रिओं के कार्यों से जो मुनि गृहस्थ द्वारा आहार उत्पन्न कराते हैं उनको यह धात्री नामक उत्पादन दोष होता है। बालक को इस प्रकार से यदि तुम स्नान कराओगे तो वह सुखी और रोग रहित होगा ऐसा उपदेश मुनि गृहस्थ को देते हैं। जिससे गृहस्थ आनंदित होकर मुनि को आहार देगा। इस प्रकार से मुनि लेंगे तो उनको यह धात्री नामक दोष उत्पन्न होता है।

जो मुनि स्वयं बालक को भूषित करते हैं तथा बालकों को भूषित करने का का उपदेश गृहस्थ को देते हैं जिससे गृहस्थ खुश होकर उनको दान देता है मुनि उस दान को यदि ग्रहण करेंगे तो उनको मंडन धात्री नामक उत्पादन दोष होगा, जो मुनि स्वयं क्रीडा सिखलाते है तथा बालक को क्रीडा के खुश रखने का उपदेश गृहस्थ को देते हैं और ऐसे उपदेश से आहार देने के लिये उद्यक्त गृहस्थ का आहार जो लेते हैं, उनको क्रीडन धात्री नामक उत्पादन दोष कहते हैं। जिससे दूध उत्पन्न होता है ऐसा उपाय कहना और योग्य उपाय से बालकों को दूध पिलाने का उपदेश देते है, तथा गृहस्थ संतुष्ट होकर मुनि को आहार देने के लिये प्रवृत्त होता है। तब वह आहार यदि मुनि लेंगे तो उनको क्षीर धात्री नामक दोष होता है, जो मुनि बालकों को सुलाने का उपाय बतलाते हैं, तब गृहस्थ संतुष्ट होकर उनको आहार देता है। उसको

ग्रहण करने वाला साधु संबधात्री नामक दोष से दूषित होता है। इन दोषों से स्वाध्याय का नाश होता है, अतः ये दोष त्यागने चाहिये।

दूतीनामक दोष का विवरण—

जल थल आयासगदं सयपरगामे सदेसपरदेसे।
संबंधिवयण णयणं दूदी दोसो हवदि एसो ॥७२६॥

स्वग्राम से परग्राम को पानी में नाव के द्वारा साधु जा रहे हैं ऐसे समय कोई श्रावक मेरे संबंधी जनों को मेरा संदेश आप कहो ऐसा कहता है तब वह साधु उसके संबंधी को वह संदेश वहाँ पहुँचाकर कह देता है। तब वह संबंधीजन आनंदित होकर दानादिक दे और साधु यदि वह लेंगे तो वह आहार दूती दोष युक्त होता है। स्वदेश से परदेश को जल में नौका के द्वारा साधु जा रहे हैं तब कोई गृहस्थ अपनी वार्ता संबंधी जन के पास पहुँचाने के लिये कहते हैं साधु वह वार्ता कह देते हैं तब वह संबंधी संतुष्ट होकर आहारादिक देता है और साधु यदि ग्रहण करेंगे तो यह भी दूती दोष होता है। उपर्युक्त प्रकार से एक गांव से दूसरे गांव को, एक देश से दूसरे देश को स्थल से किंवा आकाश से जाते समय मुनि को कोई गृहस्थ संबंधीजन के लिये कोई संदेश पहुँचाने के लिये कह दे और वह साधु उसको कहने पर वह संतुष्ट होकर दानादिक देता है। तब ऐसे दानादिक लेने से साधु दूती दोष से युक्त होते हैं। गृहस्थों के संबंधीजनों के सन्निध संदेश ले जाना मुनियों के लिये योग्य नहीं है। ऐसा दूतकर्म शासन में दोष उत्पन्न करता है।

निमित्त दोष का स्वरूप—

अंगं सरं च वंजण लक्खण चिण्णं च भोम्मसुमिणं च।
तह चेव अंतरिक्खं अट्ठविहं होइ णेमित्तं ॥७२७॥

अंग-हाथ, पांव आदिक शरीर के अवयव। स्वर-शब्द। व्यंजन-तिल, मशकादिक चिह्न। लक्षण-हस्ततलादिकों पर नन्दिक, आवर्त, पद्म, चक्रादिक आकृति। छिन्न-छेद-खड्गादि प्रहार अथवा चूहा आदि प्राणिओं के द्वारा किये गये वस्त्रादि के छेदों को छिन्न कहते हैं। भूमि विभागों को भौम कहते हैं। सूर्य चन्द्रादि-ग्रहों के उदयास्त और गति को अंतरिक्ष कहते हैं। स्वप्न-निद्रित प्राणिओं का हाथी, विमान, महिष इत्यादिकों पर आरोहण देखना ऐसे आठ प्रकार का निमित्त है।

व्यंजन—शरीर के ऊपर तिलादिक देखकर उनसे होनहार शुभाशुभ जाना

जाता है उसे व्यंजन निमित्त कहते हैं। अंग मस्तक, कंठ आदि अवयवों को देखकर पुरुष के शुभाशुभ जान लेना यह अंग निमित्त है। स्वर-शब्द सुनकर मनुष्य अथवा अन्य प्राणियों का शुभाशुभ जानना स्वरनिमित्त है। छेद-प्रहार अथवा वस्त्रादिक में छेद देखकर किसी पुरुष या अन्य का शुभाशुभ जानना भूमि निमित्त है। अन्तरिक्ष आकाश में ग्रहों का युद्ध, अस्त, वज्रापात, उल्का पतन, नक्षत्र कंप इत्यादि देखकर राजा प्रजादिकों का शुभाशुभ जान लेना अन्तरिक्ष निमित्त है। लक्षण-पुरुष अथवा नारी के लक्षण देखकर उनके शुभाशुभ कह देना लक्षण निमित्त है। स्वप्न को देखकर पुरुष अथवा अन्य का शुभाशुभ जानना वह स्वप्ननिमित्त है। गाथा में 'च' शब्द है उससे भूमिगर्जना, दिग्दाह इत्यादिकों का ग्रहण होता है इन निमित्तों से आहार उत्पन्न कराकर यदि मुनि आहार लेगा तो उसको निमित्त नामक उत्पादन दोष होता है। रसलंपटता, दीनता वगैरह दोष इस प्रकार से आहार लेने में व्यक्त होते हैं।

आजीव दोष का निरूपण—

जादीकुलं सिप्पं तवकम्मं ईसरत्त आजीवं।
तेहिं पुण उत्पादो आजीव दोसो हवदि एसो ॥७२८॥

जाति-माता के पीढ़ियों की परंपरा अथवा माता के शीलादि गुणों की निर्मलता। कुल—पिता के वंश की परम्परा अथवा पिता आदिक पूर्वजों की सदाचार तत्परता। शिल्पकर्म-लेप, चित्र आदिक हस्तकला का चातुर्य। तपःकर्म-तपोऽनुष्ठान। ईश्वरत्व-समाज में आदरणीयता, धनाढ्यपना। अपनी जाति और कुल का वर्णन सुना करके दाता को प्रसन्न करना और उसने दिया हुआ आहार लेना यह आजीव दोष है। इस ही प्रकार से अपना कला चातुर्य, अपना तपश्चरण आदि वर्णन करके दाता के मन में स्वविषयक आदर उत्पन्न करने से वह आहार देने में प्रवृत्त होने पर उससे आहारादिक लेना यह आजीवक दोष है। इस प्रकार आहार लेने से अपना असामर्थ्य और दीनतादिक दोष प्रकट होते हैं।

वनीपक वचन नामक दोष का निरूपण—

साणकिवण तिथि माहण पासंडिय सवणकागदाणादि।
पुण्णं णवेति पुट्ठे पुण्णेत्ति वणीवयं वयणं ॥७२९॥

कुत्ते, दीन कुष्ठादि रोग से पीड़ित जन, मध्याह्नकाल में आये हुए भिक्षुक

ब्राह्मण, मासादिक का भक्षण करने वाले पाखंडी लोग, श्रमण—आजीवक नाम के साधु अथवा छात्र—विद्यार्थी, काग वगैरह पक्षी, इनको दानादिक देने से पुण्य प्राप्ति होती है अथवा नहीं होती है ? ऐसा प्रश्न पूछने पर दाता के अनुकूल यदि 'पुण्य होगा' ऐसा वचन साधु बोलेंगे तो वनीपकवचन नामक दोष होता है। दानपति के अनुकूल वचन बोलकर यदि जैन मुनि आहार लेंगे तो वनीपक नामक उत्पादन दोष उत्पन्न होता है। इसमें भी दीनतादिक दीख पड़ते हैं, अतः यह दोष त्याज्य है।

चिकित्सा दोष का निरूपण—

कोमारतणुतिगिंछारसायणविसभूद खारतंतं च।
सल्लं सालंकियणं निगिंच्छदोसो दु अट्टविहो ॥७३०॥

कौमार—बालवैद्य शास्त्र अर्थात् मासिक, सांवत्सरिक पीडा देने वाले ग्रहों का निराकरण करने के उपाय बताने वाले शास्त्र को कौमार शास्त्र कहते हैं। तनुचिकित्सा ज्वरादि रोगों का नाश करने का उपाय दिखाने वाला शास्त्र अथवा कंठ, पेट आदिकों का शोधन करने वाला शास्त्र। रसायन—शरीर के वलि और वृद्धत्व को दूर करने वाली वस्तु को रसायन कहते हैं। रसायन के सेवन से दीर्घ काल तक जीवनावस्था प्राप्त होती है। विष—स्थावरविष और जंगमविष ऐसे विष के दो भेद हैं। तथा कृत्रिम विष और अकृत्रिम विष ऐसे भी विष के भेद हैं। इनसे होने वाली बाधा दूर करना। भूत चिकित्सा—पिशाच को निकालने वाला शास्त्र। क्षारतंत्र—दुष्ट व्रण को शोधन करने वाले द्रव्य। शालाकिक—शलाका से नेत्र के ऊपर आये हुए पटल को हटाकर मोती बिंदु वगैरह नेत्र रोग को दूर करने वाला शास्त्र। शल्य—भूमिशल्य और शरीर शल्य ऐसे शल्य के दो भेद हैं, तोमरादिकों को शरीर शल्य कहते हैं और हड्डी आदि को भूमि शल्य कहते हैं। उसको निकालने वाले शास्त्र को शल्य चिकित्सा कहते हैं। विष दूर करने वाले शास्त्र को 'विष' कहते हैं। भूत—पिशाच हटाने वाले शास्त्र को भूत शास्त्र कहते हैं। यहाँ कार्य कारणोपचार किया है। अथवा चिकित्सा शब्द प्रत्येक के साथ—कौमार, तनु, भूत इत्यादिकों के आगे जोड़ना चाहिये। जैसे कौमार चिकित्सा तनूचिकित्सा, भूतचिकित्सा इत्यादि। जैसे कौवे की आंख की तारिका दोनों तरफ घूमती है वैसे कौमारादि शब्दों के आगे चिकित्सा शब्द जोड़ना चाहिये। जो मुनि उपर्युक्त आठ प्रकार के चिकित्सा शास्त्र के द्वारा श्रावकों पर उपकार कर उन्होंने दिया हुआ आहार लेता है, तब उसको आठ प्रकार का चिकित्सा का दोष उत्पन्न होता

है। सावद्यादिकों का दोष इसमें दिखता है। अतः इस चिकित्सा दोष का त्याग करना चाहिये।

क्रोध मान माया लोभ वाले दोष—

कोधेण य माणेण य मालालोभेण चावि उप्पादो।
उप्पादणा य दोसो चदुव्विहो होदि णायव्वो ॥७३१॥

क्रोध, मान, माया, लोभ ऐसे चार कषायों के द्वारा भिक्षा की उत्पत्ति कराने से यह उत्पादन दोष चार प्रकार का होता है। क्रोध करके अपने लिये यदि मुनि आहार उत्पन्न करायेंगे तो क्रोध नामक उत्पादन दोष होता है। गर्व करके अपने लिये यदि मुनि आहार उत्पादन करेंगे तो मान दोष उत्पन्न होगा। माया—कुटिल भाव से यदि अपने लिये आहार उत्पन्न करायेंगे तो माया नामक दोष होता है। और लोभ आंक्षा दिखाकर यदि मुनि अपने लिये आहार की उत्पत्ति करायेंगे तो लोभ नामक उत्पादन दोष उत्पन्न होता है। इस प्रकार के आहार उत्पन्न कराने से मन के परिणाम बिगडते हैं, अतः ऐसा आहार त्याज्य है।

दृष्टान्त के द्वारा उपरनिर्दिष्ट दोषों का स्पष्टीकरण—

कोधो य हत्थिकप्पे माणो वेणायडम्मि णयरम्मि।
माया वाणारसिए लोहो पुण रासियाणम्मि ॥७३२॥

हस्तिकल्पपत्तन में कोई साधु ने कोध से भिक्षा को उत्पन्न करवाया। वेणातट नगर में किसी साधु ने अभिमान से भिक्षा को उत्पन्न करवाया। वाणारसी नगरी में किसी मुनि ने माया से भिक्षा को उत्पन्न करवाया और राशियान नगरी में लोभ को दिखाकर आहार उत्पन्न करवाया। क्रोधादिक कषाय उत्पन्न करके आहार लेने वाले इन मुनियों की कथा आगम में कही है, वहाँ से जान लेना चाहिये।

पूर्व संस्तुति दोष का निरूपण—

दायगपुरदो कित्ती तं दाणवदी जसोधरो वेत्ति।
पुव्वी संथुदि दोसो विस्सरिदे बोधणं चावि ॥७३३॥

दाता के आगे दान ग्रहण के पूर्व में उसकी तू दानियों में अग्रणी है और तेरी कीर्ति जगत् में सर्वत्र फैल गई है ऐसा कहना यह पूर्व संस्तुति दोष है। और जो दाता आहार देना भूल गया हो उसको तू पूर्व काल में महादानपति था, अब दान देना क्यों भूल गया है ऐसा उसको संबोधन करना यह भी पूर्व संस्तुति दोष है। और जो

कीर्ति का वर्णन करना और जो स्मरण करना वह सब पूर्व संस्तुति दोष ही समझना चाहिए। स्तुति करना यह कार्य स्तुति पाठकों का है मुनिओं का नहीं है। अतः ऐसी स्तुति करना योग्य नहीं है।

पश्चात् संस्तुतिदोष का निरूपण—

पच्छा संथुदि दोसो दाणं गहिदूण तं पुणो कित्ति।
विक्खादो दाणवदी तुज्झ जसो विस्सुदो वेंति ॥७३४॥

पश्चात्संस्तुति दोष—आहारादिक दान ग्रहण करके जो मुनि दाता की तू विख्यात दानपति है, तेरा यश सर्वत्र प्रसिद्ध हुआ है ऐसी स्तुति करता है उसको यह पश्चात् संस्तुति दोष होता है। ऐसी स्तुति करने में मुनि के दीनतादिक दिख पड़ते हैं।

विद्यानामक उत्पादन दोष का वर्णन—

विज्जा साधित सिद्धा तिस्से आसापदाणकरणेहिं।
तिस्से महप्पेण य विज्जादोसो दु उप्पादो ॥७३५॥

साधित करने पर जो सिद्धि होती है, उसको विद्या कहते हैं। ऐसी विद्या की आशा दिखलाना अर्थात् तुझको मैं अमुक विद्या देता हूँ और उस विद्या का ऐसा ऐसा कार्य है, ऐसा महात्म्य है, ऐसा वर्णन करके दाता के मन में उस विद्या की अभिलाषा उत्पन्न करके उससे आहारादिक दान ग्रहण करना यह विद्या नामक उत्पादन दोष है।

मंत्रोत्पादन दोष का स्वरूप—

सिद्धे पढिदे मंते तस्स य आसापदान करणेण।
तस्स य माहप्पेण य उप्पादो मंतदोसो दु ॥७३६॥

पठन मात्र से जो मंत्र सिद्ध होता है, उसे पठित सिद्ध मंत्र कहते हैं। ऐसा मंत्र तुझको मैं देता हूँ ऐसा कहकर दाता के हृदय में उसकी आशा उत्पन्न कर और सर्प विष, वृश्चिक विष दूर करने का उसमें सामर्थ्य है, ऐसा मंत्र का महात्म्य दिखाकर जो साधु उपजीवन करता है और आहारादिक ग्रहण करता है, उसको मंत्रोत्पाद दोष उत्पन्न होता है। इस प्रकार से आहारादिक ग्रहण करने में लोगों की प्रतारणा करना, जिह्वालम्पट होना, इत्यादि दोष हैं।

विद्योत्पादन दोष और मंत्रोत्पादन दोष का अन्य प्रकार से स्वरूप वर्णन—

आहार दायगाणं विज्जामंतेहि देवदाणं तु ।
आह्व साधि दव्वा विज्जमंतो हवे दोसो ।।७३७।।

आहारदान देने वाली व्यंतर देवताओं को विद्या से और मंत्र से बुलाकर उसको आहार दान के लिये सिद्ध करना यह विद्या दोष और मंत्र दोष है । अपना आहार दायकों के लिये विद्या से या मंत्र से देवताओं को बुलाकर उनको सिद्ध करना यह विद्यामंत्र दोष है । इस दोष को विद्या दोष और मंत्र दोष में अन्तर्भूत करने से यह पृथक दोष नहीं है ।

चूर्ण दोष का स्वरूप—

णेत्तस्संजणचुण्णं भूसणचुण्णं च गत्तसोभयरं ।
चुण्णं तेणुप्पादा चुण्णयदोसो हवदि एसो ।।७३८।।

आँखें निर्मल करने के लिये अंजन चूर्ण देना, तथा जिससे तिलक किया जाता है और पत्रवल्ली शरीर पर खींची जाती है, ऐसा शरीर शोभा बढ़ाने वाला चूर्ण दाता को देना । जिस चूर्ण से शरीर की शोभा-कान्ति बढ़ती है, निर्मलता उत्पन्न होती है, ऐसा चूर्ण दाता को देना ऐसे चूर्ण से भोजन की उत्पत्ति करना वह चूर्णोत्पादन नामक दोष है । इससे उपजीविका करना यह दोष है ।

मूलकर्म दोष का स्वरूप—

अवसाणं वसियरणं संजोजयणं च विप्पजुत्ताणं ।
भणियं तु मूलकम्मं एदे उप्पादणा दोसा ।।७३९।।

जो वश नहीं है उनको वश करना तथा जो वियुक्त है, उनका संयोग करना यह मूल कर्म है । इस मूल कर्म से जो आहारादिक उत्पन्न करना यह मूलकर्म नामक दोष है । इस वशीकरण से उपजीविका करना यह दोष इसमें है तथा यह कार्य लज्जा स्पद है । ये उत्पादनादिक दोष और उद्गमादिक दोष त्याज्य ही हैं । क्योंकि इसमें अधः कर्म का अंश पाया जाता है । अन्य भी जुगुप्सादिक दोष हैं । उनसे सम्यग्दर्शनादिकों में दूषण उत्पन्न होते हैं । उनका भी त्याग करना चाहिये ।

अशन दोष का निरूपण—

संकि दमक्खि दरिक्खि वपि हिद संवरण दाय गुम्मिस्से ।
अपरिणदलित छोडिद एसण दोसाइं दस एदे ।।७४०।।

१. शंकित—यह आहार अधः कर्म से उत्पन्न होता है अथवा नहीं ऐसी मन में शंका कर जो मुनि भोजन करते हैं, उनको शंकितनामक आहार दोष उत्पन्न होता है।

२ भ्रक्षित—घी और तेल से लिप्त हस्त से अथवा घी, तैलादि से लिप्त कडछी आदि से दिया हुआ आहार जो मुनि ग्रहण करते हैं, उनको भ्रक्षित नामक आहार दोष होता है।

३. निक्षिप्त—सचित्त पृथ्वी, अग्नि, जल, बीज आदि के ऊपर रखखा हुआ आहार देना यह निक्षिप्त अशन दोष है।

४. पिहित—अप्रासुक अथवा प्रासुक ऐसे बड़े आच्छादन हटाकर दिया हुआ आहार लेना पिहित दोष है।

५. संव्यवहरण दोष—आदर से, भीती से आहार देते समय वस्त्र-पात्रादिकों को जल्दी खींच कर दिया हुआ आहार लेने से संव्यवहरण दोष होता है।

६. दायक—अशुद्धता से दिया हुआ आहार ग्रहण करने से दायक दोष उत्पन्न होता है।

७. उन्मिश्र दोष—अप्रासुक द्रव्य से मिश्र आहार जब साधु ग्रहण करता है, तब यह दोष होता है।

८. अपरिणित दोष—अग्न्यादिक से अपक्व आहार और पान के पदार्थ जो साधु ग्रहण करता है, उसको यह आहार दोष होता है।

९. लिप्त दोष—पानी और आर्द्र गैरिकादिक से लिप्त अथवा अपक्व तंदुलादि पिष्ट से लिप्त किंवा शाक से लिप्त ऐसे हस्त से दिया हुआ आहार जो साधु ग्रहण करता है, उसको यह लिप्त नामक आहार दोष है।

१०. छोटित दोष—अस्थिर ऐसे हस्तपुट से बहोतसा आहार नीचे गिरता जाता है, ऐसे आहार को ग्रहण करने से यह छोटित दोष होता है, इस प्रकार अशन दोष के दस भेद होते हैं।

शंकित दोष का विवरण—

असणं च पाणयं वा खादियमध सादियं च अज्झप्पे।
कप्पियमकप्पियत्ति च संदिद्धं संकियं जाणे ॥७४१॥

अशन—भात, रोटी आदिक। पानक-दही, दूध आदिक। खाद्य-लड्डुकादिक। स्वाद्य एला, लवंग, कस्तूरी, कंकोलादिक ये पदार्थ मेरे लिये भक्ष्य अथवा अभक्ष्य हैं, ऐसा मन में संशय उत्पन्न होने पर यदि साधु आहार करेंगे तो उनको शंकिताहार नामक दोष होता है। अथवा आगम में ये पदार्थ भक्ष्य कहे हैं या अभक्ष्य कहे हैं, ऐसा संशय युक्त होकर जो साधु आहार करता है, उसको शंकित दोष होता है।

म्रक्षित दोष का स्वरूप—

ससिणिद्धेण दु देयं हत्थेण च भायणेण दव्वीए।
एसो भक्खिद दोसो परिहरि दव्वो सदा मुणिणा ॥७४२॥

घी, तेल आदि स्निग्ध पदार्थ से लिप्त ऐसे हाथ से अथवा स्निग्ध तैलादि से लिप्त ऐसे कडछी से अथवा पात्र से मुनिओं को आहार देना म्रक्षित दोष से दूषित होता है। इस दोष का मुनि सदा त्याग करे। ऐसे आहार में सूक्ष्म सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न होते हैं। अतः ऐसा आहार त्याज्य है।

निक्षिप्त दोष का स्वरूप—

सच्चित्त पुढवि आऊ तेऊ हरिदं च बीयतस जीवा।
जं तेसिमुवरि ठविदं णिक्खित्तं होदि छब्भेयं ॥७४३॥

सचित्त पृथ्वी, सचित्त पानी, सचित्त अग्नि, सचित्त वनस्पति, बीज और त्रस जीव द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय जीवों पर रक्खा हुआ आहार मुनिओं को ग्रहण योग्य नहीं है। सचित्त पृथ्व्यादिक छह भेद हैं। अंकुर शक्ति योग्य गेहूँ आदि धान्य को बीज कहते हैं। हरित-अम्लान अवस्था के तृण, पर्ण आदि को हरित कहते हैं। इनके ऊपर स्थापन किया हुआ आहार निक्षिप्त दोष सहित होता है। अथवा अप्रासुक ऐसे पृथिव्यादिक कायों पर रक्खा हुआ आहार मुनियों को अयोग्य है।

पिहित दोष का निरूपण—

सच्चित्तेण व पिहिदं अथवा अच्चित्तगुरु गपिहिदं च।
तं छंडिय जं पेयं पिहिदं तं होदि बोधव्वो ॥७४४॥

जो आहारादिक वस्तु सचित्त से ढकी हुई है अथवा अचित्त ऐसे गुरु बड़े वजनदार पदार्थ से ढकी हुई है, वह उसके ऊपर का आवरण हटाकर मुनियों को देना वह पिहित दोष है।

संव्यवहार दोष का स्वरूप----

संववहरणं किच्चा पदादुमिदि चेलभाजणादीणं ।
असमिक्खय जं देयं संववहरणो हवदि एसो ।।७४५।।

त्वरा से वस्त्र पात्र लाकर अर्थात् भय से, आदर से अथवा मनःक्षोभ से वस्त्र पात्रादि लाकर विना विचार के और अच्छी तरह से देखकर मुनि को जो आहार देना उसको संव्यवहरण दोष कहते हैं ।

दायक दोष का विवरण--

सूदी सुंडो रोगी मदय णवुंसय पिसायग्गो च ।
उच्चार पडिदवंत रुहिर वेसी समणि अंग मक्खोया ।।७४६।।

जो बालक को आभूषणादिकों से सजाती है, उसको दूध पिलाती है और धाय का कर्त्तव्य करती है, वह आहार दान में अयोग्य है । जो मद्य पान लंपट है, जो रोग से ग्रस्त है, जो मृतक को श्मशान में जलाकर आया है और जिसको मृतक सूतक है, जो नपुंसक है, जो पिशाचग्रस्त है, अथवा वातादिक से पीड़ित है, जो वस्त्रहीन है अथवा जिसने एक ही वस्त्र धारण किया है, जो मल विसर्जन करके आया है तथा जो मूत्र करके आया है, जो मूर्च्छित हुआ है, जिसको वान्ति हुई है, जिसके शरीर से रक्त बाहर आ रहा है, जो वेश्या अथवा दासी है, जो आर्यिका है, अथवा जो लाल रंग के वस्त्र धारण करने वाली रक्त पटिका आदिक अन्य धर्मीय संन्यासिका है, जो अंग मर्दन करके स्नान करती है, ऐसी स्त्री और पुरुष आहार देने योग्य नहीं हैं ।

अतिबाला अतिबुड्ढा घासत्ती गब्भिणी च अंधलिया ।
अंतरिदा व णिसण्णा उच्चत्था अहव णीच्चत्था ।।७४७।।

अतिबाला—अत्यधिक मूर्ख अथवा वय से बहुत छोटा ऐसा बालक और बालिका, अतिवृद्धा-अत्यन्त वृद्धावस्था से पीडित स्त्री-पुरुष, घासत्ती-भोजन करने वाला पुरुष और स्त्री, गर्भिणी—जिसका गर्भ बढ़ा हुआ है, ऐसी स्त्री अर्थात् पांचवें महीने से नौ महिने तक गर्भवती स्त्री गर्भ के क्षोभ से पीडित होने से आहार देने में अयोग्य है । अंधलिका-अंधा नेत्र रहित पुरुष और नारी, अंतरिता-भीत, पडदा आदि से व्यवहित होकर पुरुष और स्त्री दान देने योग्य नहीं है । जो बैठा है, ऐसा पुरुष और स्त्री आहार देने योग्य नहीं हैं । उच्चस्था-ऊंचे प्रदेश पर खड़े हुए पुरुष और स्त्री तथा नीचस्था — निम्न प्रदेश में स्थित स्त्री पुरुष ये आहारदार देने में अयोग्य हैं । स्त्री

और पुरुष यदि दान देंगे तो मुनियों को आहार लेना योग्य नहीं है ।

पूयणपज्जलणं वा सारणपच्छादजं च विज्झवणं ।
किच्चा तहग्गिकज्जं णिव्वादं घट्टणं चावि ॥७४८॥

फुत्करण—अग्नि को उत्पन्न करना, प्रज्वलन—मुख की हवा से अथवा अन्य प्रकार से अग्नि और लकडियों को प्रदीप्त करना । सारण-अग्नि में लकड़ियाँ डाल देना, प्रच्छादन—अग्नि को भस्म से ढकना, विध्यापन—जलादिक से अग्नि को बुझाना, अग्निकार्य—अग्नि को इतस्ततः फैलाना, निर्वाति—अग्नि में से लकडियों का निकालना । घट्टन—अग्नि को दबाना इत्यादि कार्य करने वाली स्त्री या पुरुष मुनियों को दान देने के लिये अयोग्य हैं ।

लेवणसज्जणकम्मं पियमाणं दारयं च णिक्खविय ।
एवं विहादिया पुण दाणं जदि दिंति दायगा दोसा ॥७४९॥

लेपन—गोबर और मिट्टी आदिक से भीत, जमीन आदिकों को लेपना, मार्जन-स्नानादिक करना, ऐसे कार्य करने वाली स्त्री पुरुष आहारदान देने में अयोग्य हैं । स्तनपान करते हुए बालक को छोड़कर कोई स्त्री आहारदान देने में उद्युक्त हुई तो उससे आहार लेना योग्य नहीं है । इसी प्रकार अन्य भी कार्य करने वाले दान देने योग्य नहीं हैं ।

उन्मिश्र दोष का वर्णन—

पुढवी आऊ च तहा हरिदा बीया तसा च सज्जीवा ।
पंचेहि तेहि मिस्सं आहारं होदि उम्मिस्सं ॥७५०॥

पृथिवी—मिट्टी, आपू-अप्रासुक जल, हरित्-वनस्पतिकाय पत्र, पुष्प, फल आदिक । बीज—जव, गेहूँ आदिक और त्रस-जीते हुए द्वीन्द्रियादि जीव इन पांचों से मिश्र जो आहार उसको उन्मिश्र आहार कहते हैं, ऐसा आहार लेना यह महादोष है । ऐसे आहार का सर्वथा त्याग करना चाहिये ।

अपरिणत दोष का वर्णन—

तिल चाउक्कउसाणोदय चणोदय तुसोदयं अविद्धत्थं ।
अण्णं पि य असणादी अपरिणदं णेव गेण्हेज्जो ॥७५१॥

तिलोदक—तिल जिससे धोए गये हैं, ऐसे पानी को तिलोदक कहते हैं । उसी को तिल प्रक्षालन भी कहते हैं । चाउलोदय—तंडुल धोया हुआ जल, उष्णोदक—

जो उष्ण था अनंतर जो शीत हुआ ऐसा जल, चणक धोया हुआ जल, तुष धोया हुआ जल, अविध्वस्त – जिसने अपने वर्ण, गंध, रसों का त्याग नहीं किया है, ऐसा जल, और अन्य भी जल-हरित की आदि चूर्ण से जिसके वर्ण, रस, गंध में परिणति नहीं हुई है ऐसा जल इन सब प्रकार के जलों को 'अपरिणत' कहते हैं। इस प्रकार के जलों को वे अप्रासुक होने से मुनि ग्रहण नहीं करें। और जब ये परिणत होते हैं, तब ग्राह्य होते हैं; अर्थात् तिलादि जलों ने अपने पूर्व के वर्ण गंधादिक छोड़कर यदि तिलादिकों के वर्ण, गंध, रसादिक धारण किये हुए हो तो ऐसें तिलजलादिकों का पान करना अपरिणत दोष दूषित नहीं होगा।

लिप्त दोष का वर्णन—

गेरुय हरि दालेण व सेडीय मणोसिला मपिट्ठेण।
सपबालोदण लेवेण व देयं कर भाजणे लित्तं ॥७५२॥

गेरु, हरिताल, खटिका – सफेद मिट्टी, मनशील और कच्चा आटा इनसे जो गीला हो गया है, अर्थात् गेरु, हरिताल आदिकों के द्रव से जो लिप्त हुआ है, ऐसे हाथ से अथवा पात्र से आहार देना लिप्त दोष से दूषित होता है। अपक्क जल अर्थात् अप्रासुक जल, अपक्क शाक से जो गीला हुआ है, ऐसे हाथ से और पात्र से जो अन्नादिक यदि दिये जायेंगे तो लिप्त नामक दोष होता है।

छोटित दोष का वर्णन—

बहु परिसाडणमुज्झिअ आहारो परिगलंत दिज्जंतं।
छंडिय भुंजणमहवा छोडिद दोसो हवे एसो ॥७५३॥

बहुतसा अन्न छोड़कर थोड़ा अन्न खाना यह छोटित दोष है। अथवा परोसने वाले दाता के हस्त से सत्पात्र के हस्त पर अर्पण किया जाने वाला और नीचे गिरने वाले ऐसे छाछ, दूध आदि पदार्थ का आहार लेना यह छोटित दोष है। छाछ वगैरह द्रव पदार्थ अपने हाथ से नीचे नहीं गिर पड़ेंगे, ऐसी पद्धति से भक्षण करना चाहिये। अर्थात् दोनों हाथों की दृढ़ अंजलि करके द्रव पदार्थ भक्षण करना चाहिये। अन्यथा वे द्रव पदार्थ नीचे गिरने से चींटी वगैरह प्राणियों को बाधा होगी। अथवा हस्तपुट छोडकर भोजन करना यह भी छोटित दोष है। हस्तपुट का बंधन छोड़कर, अर्थात् अपने दोनों हाथों की अंजलि तोड़कर भोजन करना यह भी छोटित दोष है। अथवा आहारों में दिये हुए पदार्थों में से इष्ट पदार्थों को खाना और अनिष्ट पदार्थ

छोड़ देना भी छोटित दोष है। ऐसे शंकितादिक दश दोषों का वर्णन किया है। जीव दया के लिए लोक जुगुप्सा न होवे इसलिए और पाप से अलिप्त रहने के लिए इन दोषों का त्याग करना चाहिए।

संयोजना दोष और अप्रमाण दोष का निरूपण—

संयोजणा य दोसो जो संजोएदिभत्तपाणं तु।
अदिमत्तो आहारो पमाण दोसो हवदि एसो ॥७५४॥

संयोजना दोष—आहार के पदार्थ और पान के पदार्थ अन्योन्य मिलाना मिश्रण करना। ठंडा आहार उष्णपान से मिश्रित करना। संयोजना नामक दोष है।

अतिमात्र दोष—प्रमाण का अतिक्रमण करके भोजन करना अप्रमाण नामक दोष है। पेट के दो भाग भात, दाल, रोटी आदि से भरने चाहिए। और एक भाग द्रव पदार्थों से—जल, छाछ, दूध आदि पतले पदार्थों से भरना चाहिये। तथा चतुर्थभाग खाली रखना चाहिए। तभी आलस्य के बिना स्वाध्याय और आवश्यकादिक कर्तव्यों में तत्परता आती है अन्यथा नहीं। प्रमाणादिक भोजन से अजीर्ण और ज्वरादिक रोग उत्पन्न होते हैं तथा निद्रा, आलस्यादिक दोष उत्पन्न होते हैं।

अंगार दोष तथा धूम दोष का वर्णन—

तं होदि सयंगालो जं आहारेदि मुच्छिदो संतो।
तं पुण होदि सधूमं अं आहारेदि णिंदंतो ॥७५५॥

अंगार दोष—जब साधु लम्पटता से आहार भक्षण करता है, तब अंगार दोष उत्पन्न होता है। यह आहार बहुत मीठा है। यही आहार बार बार मेरे को मिलेगा तो अच्छा होगा, इस प्रकार की लंपटता जब आहार में उत्पन्न होती है, तब अंगार दोष उत्पन्न होता है।

सधूम दोष—मन में निंदा करता हुआ जब मुनि आहार करता है, तब धूम नामक दोष उत्पन्न होता है। ये आहार के पदार्थ मेरे मन को इष्ट नहीं है, ऐसी निंदा करता हुआ आहार करना धूम नामक दोष है। पहले दोष में लम्पटता और दूसरे में संक्लेश परिणाम उत्पन्न होते हैं।

आहार ग्रहण करने के और त्यागने के कारणों का वर्णन—

छहिं कारणेहिं असणं आहारंतो वि आयरदि धम्मं ।
छहिं चेव कारणेहिं दु णिज्जुहवंतो वि आयरदि ॥७५६॥

भोज्य, खाद्य, लेह्य और पेय ऐसे चार प्रकार के आहारों का छह कारणों से प्रयोजनों से भक्षण करने वाला यति चारित्र का पालन करता है। अर्थात् आहार ग्रहण करता हुआ भी मुनि वैयावृत्यादि प्रयोजन के लिए आहार ग्रहण करता है। अतः वह आहार ग्रहण करके भी धर्म साधन ही करता है। तथा छह कारणों के वश होकर यदि आहार परित्याग मुनि करता है तो भी वह धर्मोपार्जन करता है। यदि साधु निष्कारण आहार करेगा तो वह आहार ग्रहण दोष है। यदि सकारण मुनि आहार का ग्रहण अथवा वर्णन करेगा तो उसका त्याग और ग्रहण धर्माचरणरूप ही है।

आहार ग्रहण करने के कारणों का विवेचन—

वेयणवेज्जावच्चे किरिया ठाणे य संजय मट्ठाए ।
तध पाणधम्म चिंता कुज्जा एदेहिं आहारं ॥७५७॥

वेदना—क्षुधा की वेदना मिटाने के लिये मुनि भोजन करते हैं। वैयावृत्य अपना और अन्यों का वैयावृत्य करने के लिए भोजन करते हैं। क्रियार्थ—मैं भोजन नहीं करूंगा, तो सामायिकादि छह आवश्यक क्रियाओं का पालन मेरे द्वारा नहीं होगा अतः उनके पालन के लिए भोजन करना मेरा कर्तव्य है, ऐसा समझकर मुनि आहार करते हैं। संयमार्थ—तेरह प्रकार से संयमों का पालन करने के लिए मुनि आहार ग्रहण करते हैं। अथवा आहार के बिना मेरी इंद्रियां विकल होकर मैं जीव दया पालने में असमर्थ होऊंगा, ऐसा विचार कर प्राणि संयम और इंद्रिय संयम के लिए मुनि आहार ग्रहण करते हैं। तथा प्राण चिन्ता के लिए भोजन करते हैं। मेरे दश प्राणों का रक्षण आहार के बिना नहीं होगा। आहार के अभाव में आयु का रक्षण नहीं होगा, अतः प्राणार्थ वे आहार करते हैं। तथा धर्म चिन्ता के लिए वे आहार लेते हैं। मैं यदि आहार ग्रहण नहीं करूंगा तो उत्तमक्षमादिक दश धर्म मेरे वश नहीं रहेंगे। आहार के बिना यह जीव उत्तमक्षमा, मार्दवादिक गुणों को धारण नहीं करेगा, अतः भोजन करना आवश्यक है, ऐसा विचार कर मुनि भोजन करते हैं। मुनि इन छह प्रयोजनों की सिद्धि के लिए आहार लेते हैं।

आहार त्याग के कारणों का वर्णन—

आदंके उवसग्गे तितिक्खणे बंभचेर गुत्तीओ ।
पाणि दयातव हेउ सरीर परिहारं वोच्छेदो ॥७५८॥

आकस्मिक व्याधि होकर मारणान्तिक पीडा जब होती है, तब मुनि आहार का त्याग करते हैं। दीक्षा का नाश करने वाला उपसर्ग प्राप्त होने पर अर्थात् देव मनुष्य, तिर्यंच और अचेतनों का उपसर्ग होने पर मुनि आहार त्याग करते हैं। ब्रह्मचर्य व्रत का निर्मल रक्षण करने के लिए आहार त्याग करते हैं। प्राणिदया के लिए आहार त्याग वे करते हैं। यदि आहार मैं ग्रहण करूंगा तो बहुत प्राणियों का घात होता है, अतः जीव दया के लिए मैं आहार छोड़ता हूँ, ऐसा संकल्प करके वे आहार का त्याग करते हैं। बारा प्रकार के तपों में अनशन नामक तपश्चरण मैं आज करता हूँ, ऐसा संकल्प करके वे आहार त्याग करते हैं। संन्यास काल प्राप्त होने पर वे ऐसा विचार करते हैं—यह वृद्धावस्था मेरे मुनि धर्म का नाश करने वाली है, मैं असाध्य रोग से पीड़ित हुआ हूँ, मेरी सर्व इंद्रियशक्ति विकल हो गई है। इस वृद्धावस्था में स्वाध्याय करने के लिए समर्थ नहीं हूं। अब मेरे जीने के उपाय नष्ट हुए हैं। ऐसे समय में शरीर परित्याग करना योग्य ही है, ऐसे विचार से वे आहार छोड़ते हैं। ऐसे छहों कारणों से वे आहार का त्याग करते हैं। पूर्व गाथा में कहे हुए कारणों से भी यदि उनके साथ मारणान्तिक पीड़ा भी उपस्थित हुई तो आहार का त्याग करना चाहिये, आहार ग्रहण करना योग्य नहीं है। आहार ग्रहण करने से प्रचुर जीववध होगा तो आहारादिका त्याग करना चाहिये। जिसके शरीर में पीड़ा है, वह तपश्चरण करे। इस प्रकार आहार का त्याग और स्वीकार में विषय-भेद है।

बलादिकों का लाभ होने के लिए मुनि कभी भी आहार ग्रहण नहीं करते हैं, इसका स्पष्टीकरण—

ण बलाउसाउअट्ठं ण सरीरस्सुवयट्ठलेजट्ठं ।
णाणट्ठसंजम मट्ठं ज्झाणट्ठं चेव भुंजेज्जो ॥७५९॥

युद्धादिक कार्य करने योग्य बल मुझे प्राप्त होवे ऐसी इच्छा धारण कर मुनि आहार नहीं लेते हैं। तथा आयुर्वृद्धि की इच्छा से भी वे आहार ग्रहण नहीं करते हैं। इस आहार का स्वाद बढ़िया है, ऐसी इच्छा से भी वे आहार ग्रहण नहीं

करते हैं। मेरा शरीर पुष्ट होकर उसमें मांस वृद्धि होवे इस हेतु से भी वे भोजन नहीं करते हैं। अथवा शरीर में कांतिवृद्धि होने के लिए भी वे आहार नहीं करते हैं। यदि उपर्युक्त हेतुओं से वे भोजन नहीं करते हैं, तो आहार किस हेतु से लेते हैं? इस प्रश्न का उत्तर—स्वाध्याय करने के लिए, संयम के लिए और ध्यान के लिए, वे आहार ग्रहण करते हैं। आहार के बिना स्वाध्याय, ध्यान और संयम में मन नहीं लगता है, अतः मुनि संयम ध्यानसिद्धयर्थं और स्वाध्याय सिद्धयर्थं ही आहार लेते हैं।

मुनि कौन सा आहार ग्रहण करते हैं—

णव कोडी परिसुद्धं असणं बादाल दोस परिहीणं।
संयोजणाए हीणं पमाण सहियं विहिसुदिण्णं ॥७६०॥

आहार यदि नवकोटिओं से शुद्ध होगा तो मुनि वह ग्रहण करते हैं, अन्यथा नहीं। अर्थात् मन से किया गया, करवाया गया और अनुमोदन दिया गया आहार मुनि नहीं लेते हैं। क्योंकि दाता ने यदि मुनि के लिए आहार मन से किया, करवाया और अनुमोदन दिया होगा, तो वह आहार मुनियों के लिए अयोग्य है। मन की तीन कोटियां वचन की तीन कोटियां और शरीर की तीन कोटियां ऐसी नवकोटियों से आहार यदि रहित हो तो मुनि उसे ग्रहण करते हैं। उद्गम, उत्पादन और एषणा दोष से रहित अर्थात् ४२ दोष रहित, संयोजन दोष रहित, प्रमाण सहित आहार वे लेते हैं। तथा मुनियों का आदर से स्वीकार करना, उच्चासन पर बैठाना, उनके चरण धोना और उनकी पूजा करना, मन, वचन और शरीर शुद्ध करना और आहार की शुद्धि करना ऐसे विधिओं से दिया हुआ आहार मुनि लेते हैं, अन्यथा नहीं। दाता सात गुणों से सहित होना चाहिये। उसके गुणों का वर्णन जो दाता मुनियों को आहार देता है, वह श्रद्धा-दान देने से मिलने वाले भोग भूमि सुखादि में विश्वास रखना। भक्ति-पात्र के गुणों पर अनुराग। तुष्टि-दान देने में हर्ष रखना। विज्ञान-आहार देने का परिज्ञान होना। अलुब्धता—सांसारिक फलों की अपेक्षा न रखना। क्षमा-कोप के कारण उत्पन्न होने पर भी शान्ति रखना। शक्ति—स्वल्पवित्त होने पर भी धनाढ्य को आश्चर्य चकित करने वाला दान देना, ऐसे दाता के सात गुण है, इनसे युक्त दाता जो दान देता है, वह मुनि ग्रहण करते हैं।

विदिंगालधूमं छक्कारण संजुदं कम विसुद्धं।
जत्तासाधणमेत्तं चोद्दसमलवज्जिदं भुंजे ॥७६१॥

अंगार दोष रहित तथा धूम दोष रहित आहार मुनि लेते हैं। तथा वेदना परिहार, वैयावृत्य, आवश्य क्रिया, संयम इत्यादि षटकारण युक्त आहार वे लेते हैं। क्रम युक्त, प्राण धारण युक्त अथवा मोक्ष मार्ग को साधन भूत और चौदह मलों से रहित आहार साधू लेते हैं।

चौदह मलों का वर्णन--

णहरोमजंतु अट्ठी कण कुंडयपूय चम्मयरूहिरं च।
बीय फल सासं च मला दु चोद्दसमे ॥७६२॥

नख—मनुष्य अथवा तिर्यंच के हाथ के अलावा चरण के अगुलियों के अग्र भाग अर्थात् नख। केश—मनुष्य के अथवा पशु के बाल। जन्तु—प्राण रहित शरीर। अस्थि—ककाल। हड्डी, कण—जव, गेहूं आदि धान्यों का बाहा अवयव—छिलका। कुंड शाल्यादिकों का अभ्यन्तर सूक्ष्म अवयव। पूय—पक्क रक्त अर्थात् व्रण से निकलने वाला सफेद पीब। चर्म शरीर की त्वक चमड़ा। चमडा प्रथम धातु है। रक्त द्वितीय धातु है। मांस रक्त की आधार भूत तीसरी धातु है। बीज—जिससे अंकुरोत्पत्ति होती है, ऐसे गेहूँ, जव आदि। फल—जामुन, आम आदि फल। कंद—अंकुर के उत्पत्ति का भूमिगत गड्ढा आदि जिस को सूरण, रक्तालुक, गर्जर आदि कहते हैं, ऐसे ये चौदह मल हैं। इनमें से कोई महा मल है। कोई अल्प मल है। कोई महा दोष है। कोई छोटे दोष हैं। रुधिर, मांस, अस्थि, चर्म और पीव ये महादोष हैं। आहार में ये दिखने पर आहार छोड़कर प्रायश्चित भी लेना चाहिए। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीवों का शरीर आहार में देखने पर आहार का त्याग करना चाहिये। केश आहार में देखने से आहार छोड़ना चाहिये। नख दीखने पर आहार का त्याग कर अल्प प्रायश्चित भी लेना चाहिये। करण, कुंड, बीज, कंद, फल आहार में देखने पर इनको आहार से अलग करके आहार ले सकते हैं, यदि अलग करना अशक्य हो तो आहार का त्याग करना चाहिये।

सिद्ध भक्ति के अनन्तर शरीर में से यदि रक्त और पीब बहेगा, तो आहार का त्याग करना चाहिये। जो अश्रु परोसता है उसके शरीर मे से रक्त और पीव निकलता हो तो आहार का उस दिन त्याग करना चाहिये। मांस भी शरीर में से निकलता हो तो उस दिन में आहार का त्याग करना चाहिये। आठ प्रकार की पिंड शुद्धि में चतुर्दश मलों का प्रकरण नहीं कहा था, अतः इसका यहां वर्णन किया है।

दोष रहित आहार साधु ग्रहण करते हैं---

पगदा असहो जम्हा तम्हादो दव्वदोत्ति तं दव्वं ।
फासुगमिदि सिद्धे वि य अप्पट्टकदं असुद्धं तु ।।७६३।।

साधु द्रव्य और भाव से प्रासुक आहार ग्रहण करते हैं । द्रव्य प्रासुकता का स्पष्टीकरण–जिस द्रव्य से प्राणी निकल गये हैं अर्थात् जो द्रव्य-आहारादिक पदार्थ एकेन्द्रियादि प्राणियों से रहित हैं उसको द्रव्यप्रासुक कहना चाहिये । अर्थात् जीव रहित तथा द्वीन्द्रियादिकों के शरीर जिसमें नहीं पाये जाते हैं ऐसा आहार द्रव्यप्रासुक आहार है । जिसमें द्वीन्द्रियादिक और उनके शरीर हैं वह आहार दूर से ही त्यागना चाहिये । क्योंकि वह द्रव्य से अशुद्ध है । द्रव्य से आहार प्रासुक होने पर भी यदि वह अपने लिये बनाया है ऐसा मुनि विचार करते हैं तो वह आहार द्रव्य से प्रासुक और भाव से अप्रासुक समझना चाहिये । यद्यपि वह द्रव्यतः शुद्ध है तो भी अशुद्ध ही समझना चाहिये ।

पर के लिए बनाया आहार शुद्ध—

जह मच्छयाण पगदे मदणुदए हि मज्जंति ।
णहि मंडूगा एवं परमकदे जदि विसुद्धो ।।७६४।।

जैसे मत्स्यों के लिये बनाये हुए मादक जल से मत्स्य ही विह्वल होते हैं परन्तु मेंढ़क विह्वल नहीं होते हैं । जिस जल में मत्स्य रहते हैं उसी में मेंढ़क भी रहते हैं परन्तु वे मेंढ़क उस पानी से विह्वल नहीं होते हैं । क्योंकि उनको उन्मत्त करने की शक्ति उस पानी में नहीं है । इसी प्रकार से पर के लिये बनाये हुए आहार में प्रवृत हुए मुनि उस दोष से लिप्त नहीं है । जो आहार बनाने वाले गृहस्थ हैं वे उस दोष से लिप्त होते हैं । जो सम्यग्दृष्टि गृहस्थ साधुओं को आहार देते हैं, वे अधः कर्मादि दोषों को दूर कर साधुदान फल से स्वर्ग और मोक्ष को जाते हैं । परन्तु जो मिथ्यादृष्टि हैं ऐसे गृहस्थ साधु दान से भोग भूमि में जन्म धारण करते हैं ।

भाव से शुद्ध आहार का निरूपण—

आधाकम्मपरिणदो फासुगदव्वे वि बंधओ भणिदो ।
सुद्धं गवेसमाणो आधाकम्मे वि सो सुद्धो ।।७६५।।

आहार के पदार्थ शुद्ध होने पर साधु यदि आहार मेरे लिये बनाया है ऐसा

समझेगा तब वह कर्मबंध से युक्त होता है। मेरे लिये बना है ऐसा समझकर उसमें वह साधु आदर युक्त होता है, जिससे उसको कर्म बंध होता है। कृतादि दोष रहित आहार लेने का अभिप्राय धारण करने वाले साधु को यदि अधः कर्म युक्त आहार प्राप्त हो गया और उनसे वह ग्रहण किया तो भी साधु ने शुद्ध आहार की बुद्धि से उसे ग्रहण किया था अतः उसको वह आहार कर्म बंध का कारण नहीं होता है।

सव्वो वि पिंडदोसो दव्वे भावे समासदो दुविहो।
दव्वगदो पुण दव्वे भाव गदो अप्प परिणामो ॥७६६॥

पिंड दोष के द्रव्य पिंड दोष और भाव पिंड दोष ऐसे दो भेद हैं। आहार के छियालीस दोष हैं उतने ही द्रव्य पिंड दोष व भाव पिंड दोष छियालीस छियालीस होते हैं। आहारादिक पदार्थ उद्गमादि दोष सहित होने पर भी अधः कर्म से युक्त होने पर उनको द्रव्य गत पिंड दोष कहते हैं। आत्म परिणाम को भाव कहते हैं। द्रव्य शुद्ध होने पर भी परिणामों की अशुद्धि से उसको अशुद्ध कहते हैं। अतः भाव शुद्ध का रक्षण प्रयत्न पूर्वक करना चाहिये। भाव शुद्धि से ही तपश्चरण और ज्ञान दर्शनादिक व्यवस्थित, निर्मल और आत्मोन्नति के हेतु होते हैं।

द्रव्य के भेदों का वर्णन—

सव्वेसणं च विद्देषणं च सुद्धेसणं च ते कमसो।
एसण समिदि विसुद्धं णिव्वियडमवंजणं जाणे ॥७६७॥

सर्वेषण, असर्वेषण, विद्धैषण, अविद्धैषण, शुद्धाशन, अशुद्धाशन ऐसे आहार के भेद हैं। सर्वेषण–एषणा समिति से युक्त आहार को सर्वेषण आहार कहते हैं। पांच रसों से रहित अर्थात् गुड, तेल, घी, दही, दूध शाकादि रहित आहार को निर्विकृताहार कहते हैं। भात की पेज जिसको कांजी कहते हैं उसको सौवीर ऐसा भी नाम है। अर्थात् कांजी नवनीत रहित छाछ आदि से रहित आहार को अव्यंजन कहते हैं। पकाने पर जिस अन्न के ऊपर नमक, मिरच वगैरह का संस्कार नहीं करते हैं ऐसे आहार को शुद्धाशन कहते हैं। ऐसे क्रम से आहार के भेद जानने चाहिये। ये तीन प्रकार के आहार द्रव्य योग्य हैं। सर्व रस युक्त और सर्व व्यंजन युक्त ऐसा असर्वाशन कदाचित् योग्य भी है और अयोग्य भी है। इस प्रकार से वर्णन करने पर एषणा समिति का वर्णन होता है।

एषणा समिति का पालन—

दव्वं खत्तं कालं भावं बलवीरियं च णाऊणं ।
कुज्जा एसणसमिदिं जहोवदिट्ठं जिणमदम्मि ।।७६८।।

द्रव्य—आहारादिक वस्तु, क्षेत्र—जांगल, अनूप और साधारण ऐसे क्षेत्र के तीन भेद हैं। काल-शीतकाल, उष्णकाल, वर्षाकाल ऐसे काल के तीन प्रकार हैं। भाव—आत्मा के परिणामों को भाव कहते है। अर्थात् श्रद्धा, उत्साह को भाव कहना चाहिये।

जांगल क्षेत्र-जिस देश में पानी, वृक्ष और पर्वत, अल्प रहते हैं उसको जांगल कहते है। अनूप क्षेत्र—पानी, वृक्ष और पर्वत, जहाँ बहुत होते हैं वह अनूपक्षेत्र

साधारण क्षेत्र—जिस देश में पानी, वृक्ष और पर्वत अधिक और अल्प भी नहीं रहते हैं सम रहते हैं उसको साधारण क्षेत्र कहते हैं। बल—अपने शरीर सामर्थ्य को बल कहना चाहिए। आत्मा के सामर्थ्य को वीर्य कहते हैं द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और बल और वीर्य को जानकर आगम में कही हुई एषणा समिति का पालन करना चाहिये। द्रव्य क्षेत्रादि के अनुसार प्रवृत्ति न करने से वात पित्तश्लेष्मादि की उत्पत्ति होती है।

साधु के भोजन की पद्धति—

अद्धमसणस्स सव्वंजणस्स उदरस्स तदियमुदएण ।
वा उसंचरणट्ठं चउत्थमवसेसए भिक्खू ।।७६९।।

पेट का आधा भाग व्यंजन सहित अन्न के द्वारा भर कर उदक से पेट का तीसरा भाग भरना चाहिये और वायु के संचारार्थ चौथा भाग रिक्त रखना चाहिये। ऐसे कार्य से षडावश्यक क्रिया सुख से साधु कर सकेंगे। ध्यानाध्ययनादिकों में प्रवृत्ति होगी और अजीर्णादिक भी उत्पन्न नहीं होंगे।

भोजन योग्य काल का वर्णन—

सूरुदयत्थमणादो णालीतियवज्जिदे असणकाले ।
तिगदुगएगमुहुत्ते जहण्णमज्झिमम्मुक्कस्से ।।७७०।।

सूर्योदय से तीन घटिकाओं को छोड़कर अर्थात् सूर्योदय के अनंतर तीन घटिका काल बीत जाने पर और सूर्यास्त को तीन घटिका काल अवशिष्ट रहने पर बीच का काल आहार का काल माना जाता है, उस आहार काल के तीन मूहूर्तों में भोजन करना जघन्याचरण है। दो मूहूर्तों में भोजन करना मध्यमाचरण है और एक

मुहूर्त में भोजन करना उत्कृष्टाचरण है। सिद्ध भक्ति के अनंतर का यह भोजन काल का प्रमाण कहा है। भोजन के लिए भ्रमण करने वाले परन्तु भोजनको प्राप्त नहीं हुए हैं ऐसे मुनि का यह काल प्रमाण नहीं है।

एक्कम्हि दोण्णि तिण्णि य मुहुत्तकालो दु उत्तमादीणो।
पुरदो य पच्छिमेण य णालीतिगवज्जिदो चारे ॥७७१॥

सूर्योदय के तीन घटिका के अनंतर और सूर्यास्त की तीन घटिका के पूर्व बीच के काल में आहार का काल है। तीन मुहूर्त का भोजन काल जघन्य काल माना गया है। दो मुहूर्त का काल और एक मुहूर्त का काल उत्तम माना है।

भिक्षा के लिये गमन की प्रवृत्ति—

भिक्खा चरियाए पुण गुत्ती गुण सील संजमादीणं।
रक्खंतो चरदि मुणी णिव्वेदतिगं च पेच्छंतो ॥७७२॥

भिक्षा के लिये ग्राम में प्रवेश करने वाला साधु मनोगुप्ति, वचन गुप्ति और काय गुप्ति का रक्षण करता हुआ प्रवेश करता है अर्थात् गुप्ति पूर्वक प्रवेश करता है। अपने मूल गुणों का रक्षण करता हुआ प्रवेश करता है। तथा शील और संयमों का रक्षण करता है। वह साधु शरीर वैराग्य, संगवैराग्य और संसार वैराग्य का रक्षण करता हुआ प्रवेश करता है।

आणा अणवत्था वि य मिच्छत्ताराहणादणासो य।
संजमविराधणा वि य चरियाए परिहरेदव्वा ॥७७३॥

वीतराग प्रभू के शासन का रक्षण करता हुआ साधु आहार के लिये ग्रामादिक में प्रवेश करता है। आहार को जाता हुआ वह साधु स्वेच्छावृत्ति का त्याग करता है सम्यक्त्व के प्रतिकूल आचरण का त्याग करता है। आत्मघात अपने सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्र घात को आत्म नाश कहते हैं अर्थात् रत्नत्रय का नाश नहीं होने देता है और संयम का रक्षण करता है।

(मूलाचार, आ. कुन्द-कुन्द कृत)

इस प्रकार साधुओं के मूल गुण व चर्या आहार शुद्धि आदि का वर्णन किया अब षष्ठम गुणस्थान के अन्तर्गत साधुओं के भेदों का वर्णन करते हैं।

प्रश्न :—दश प्रकार के साधु होते हैं वो कौन से हैं ?

उत्तर :—आचार्योपाध्याय तपस्वि शैक्षग्लान गण कुल संघ साधु मनोज्ञानाम्।

आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ ये दश प्रकार के मुनि होते हैं।

आचार्य का स्वरूप—

सदाआयार विद्धण्हू सदा आयरियं चरे।
आयारमायार वंतो आयरि ओ तेण वुच्चदे ॥७७४॥

जो साधु हमेशा-सर्व काल आचार को जानते हैं, उनको आचारवित् कहते हैं। रात में और दिन में आचार का परमार्थ रहस्य जानकर जो वैसा आचरण करते हैं, उनको आचार्य कहते हैं। जो यत्न से युक्त होकर सदाचार-शोभन, आचार-निर्दोष दर्शनाचार, ज्ञानाचारादि पांच आचारों का पालन करते हैं। जो गणधरादिकों को मान्य ऐसे आचार का पालन करते हैं। तथा मुनिपना के लिये योग्य दीक्षा काल तथा शिक्षा काल के आचरण करके कृत कृत्य हुए हैं उनको आचार्य कहते हैं। अन्य साधुओं को जो पंचाचार में तत्पर हैं। उन को आचार्य कहते हैं।

जम्हापंचविहाचारं आचरंतोपभासदि।
आयरि दाणि देसन्तोआइरिओ तेण उच्चदे ॥७७५॥

जो दर्शनाचारादि पाँच प्रकार के आचारों का पालन करता हुआ शोभता है। तथा जो अपने निर्दोष पांच आचार लोगों को शिष्यों को दिखाता हुवा शोभता है वह आचार्य है।

संग्रहणुग्गह कुसलो सुत्तत्थ विसार ओ पहिय कित्ती।
किर आचरणसुजुत्तो गाहुय आदेज्जवयणो य ॥७७६॥

संग्रह–दीक्षा देकर अपने संघ में दाखिल करना, अनुग्रह–जिसको दीक्षा दी उस शिष्य को शास्त्रादिकों का शिक्षण देना ऐसे दो कर्तव्यों में आचार्य कुशल होते हैं। सूत्रार्थ विशारदत्व यह गुण आचार्य में ऊपर के गुणों के साथ रहता है। सूत्र और उसका अर्थ वार्तिक तथा भाष्य का ज्ञान उन में रहने से उसका विस्तृत खुलासा वे जानते हैं तथा भव्यों को कहते हैं उनकी निर्मल कीर्ति सर्व दिशा में फैलती है। वे क्रियाचरण सुयुक्त रहते हैं अर्थात् पंच नमस्कार छह आवश्यक क्रिया (सामायिकादिक) आसिका और निषेधिका ऐसी तेरह क्रियाओं में वे तत्पर रहते हैं। तथा पांच महाव्रत समितियां और तीन गुप्ति ऐसे तेरह आचरणों में वे हमेशा तत्पर रहते हैं। वे आचार्य ग्राह्य व आदेय वचन गुण के धारक होते हैं। अर्थात् जिनके वचन सुनने से ही सर्व लोक ग्रहण

करते हैं तथा जो आचार्य कहते हैं वह सत्य–प्रमाण युक्त है, अन्यथा नहीं है ऐसा जानकर लोगों के द्वारा ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार आचार्य का स्वरूप है।

गंभीरो दुद्धरिसो सूरोधम्मप्पहावणा सीलो।
खिदिससिसायर सरिसो कसेण तं सो दु संपत्तो ॥७७७॥

१. गंभीर–जिनको क्षोभ उत्पन्न नहीं होता है। अथवा जिनके गुणों का पार नहीं लगता है। २. दुर्द्धर्ष-प्रवादी जिनका पराभव नहीं कर सकते हैं। प्रावादी जिनके सम्मुख आ नहीं सकते। जिनसे वाद करने में असमर्थ होते हैं। ३. शूर–कार्य करने में समर्थ, धर्म प्रभावनाशील–धर्म व प्रभावना करना यह जिनका स्वभाव है। अर्थात् दान,तप, जिन पूजा,विद्या इनके अतिशय से प्रभावना करने वाले होते हैं।

क्षितिशशिसागर सदृश–क्षमा गुण होने से पृथ्वि के समान सौम्यता से चंद्र समान और निर्मलता से समुद्र तुल्य ऐसे गुणों से संपन्न आचार्य होते हैं।

और भी बारह प्रकार के तपों का आचरण करते हैं। दश धर्मों का पालन करते हैं और छह आवश्यक, तीन गुप्तिओं का पालन करते हैं। पंचाचार का पालन करते हैं ऐसे आचार्य होते हैं।

आर्यिकाओं के आचार्य—

पियधम्मो दिढधम्मो, संविग्गो वज्जभरु परिसुद्धो।
संगहणुग्गकुसलो सददं सारक्खणजुत्तो ॥७७८॥

आर्यिकाओं का गणधर (आचार्य) इन गुणों का धारण करने वाला होता है। प्रियधर्मा–उत्तमक्षमादिक धर्म अथवा चारित्र जिसको प्रिय है, अर्थात् उपशमादि धर्मों से जो युक्त है।

दृढधर्मा–जो धर्म में दृढ विचार रखने वाला हो, संविग्न–धर्म और धर्म फल में अतिशय उत्साहयुक्त अर्थात् हर्षयुक्त है, अवद्य भीरू–पापों से डरने वाला, परिशुद्ध–परि सर्व–पूर्ण पने से शुद्ध अर्थात् जिसका चारित्र अखंडित है ऐसा, संग्रहानुग्रहकुशल–संग्रह–दीक्षा–उपदेश इत्यादिकों से शिष्यों के ऊपर उपकार करने वाला तथा शिष्यों का संग्रह करने वाला। योग्य ऐसे व्यक्ति को दीक्षा देकर शिष्य बनाना व उनको शास्त्रोपदेश देकर विद्वान तथा सदाचार युक्त करने वाला हो। तथा सतत सारक्षण–पाप क्रियाओं से जो निवृत्ति उसको सारक्षण कहते हैं ऐसी निवृत्ति से युक्त जो होता

है अर्थात् जो हितोपदेश देता है ऐसा गणधर आर्यिकाओं के प्रतिक्रमणादिकों का उपदेश देने में योग्य है।

गंभीरो दुद्धरिसो मिदवाठी अप्पकोदुहल्लो य।
चिरपव्वइदो गिहिदत्थो अज्जाणं गणधरो होदि ॥७७९॥

गंभीर–जिसमें अगाधगुण हैं, दुर्द्धर्ष–जिसका अंतः करण स्थिर है अर्थात् निर्भय है, अल्प भाषण करने वाला, अल्प कौतूहल–जिसको थोड़ा विस्मय होता है, अर्थात् जिसके मन में कार्यकारण संबंधज्ञान जल्दी ध्यान में आने से जिसका आश्चर्य नष्ट होता है अथवा शिष्यादि के दोष मालूम पड़ने पर भी किसी के आगे जो प्रगट नहीं करता है। चिर प्रव्रजित–दीर्घ काल तक जिसने व्रत भार धारण किया है अर्थात् जो गुणों से ज्येष्ठ–श्रेष्ठ हैं, गृहीतार्थ–पदार्थों का स्वरूप जानने वाला और आचार, प्रायश्चित्तादिकों के स्वरूप का ज्ञाता ऐसा जो महामुनि वह आर्यिकाओं का गणधर होता है, ऐसे मुनि के पास आर्यिकायें प्रतिक्रमणादि विधि करती हैं। और भी आर्यिका समाचार विधि में सब कहा गया है। और भी आचारसारादि ग्रंथो से जानना। अब आगे बारह तपादिकों का वर्णन करते हैं।

तपों का स्वरूप—

तपः पोतेन येनासौ संसारो रूसरित्पतिः।
तीर्यते त्वरयेदानीं तत्तपः प्रतिपाद्यते ॥७८०॥

जिस तपरूपी नौका से शीघ्र ही संसार रूपी विशाल समुद्र पार किया जाता है इस समय उस तप को प्रतिपादन किया जाता है।

जिसकी सहायता से भव्य प्राणी संसार समुद्र को पार करते हैं। अर्थात् जो संसार समुद्र से तिरने के लिए नौका के समान है आचार्य उस तपाचार का इस समय वर्णन करते हैं।

तपः प्राहुरनुष्ठानं मानसाक्षनियामकम्।
बाह्याभ्यन्तर भेदं तत्प्रत्येकं षड्विधं मतम् ॥७८१॥

मन और इन्द्रियों का निरोध करने वाले अनुष्ठान को तप कहा है, वह तप बाह्य और अभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का है। और उनमें प्रत्येक छह प्रकार का माना गया है।

इन्द्रिय और मन का निरोध करना तप है। अथवा अपनी इच्छाओं का रोकना तप है। वह तप बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का है। तथा दोनों प्रकार के तपों में प्रत्येक तप के छह छह भेद होते हैं।

बाह्य तप के भेद—

अनशनावमौदर्यं वृत्ति संख्या रसोज्झिती।
विविक्त शयनासनं कायक्लेशो बहिस्तप. ॥७८२॥

अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रस परित्याग, विविक्त शयनासन और कायक्लेश ये छह प्रकार के बहिरंग तप है।

अनशन तप का स्वरूप—

अशनत्यागोऽनशनं साकांक्षाकांक्ष भेदगम्।
तदाद्यमेक द्वित्र्यादिषण्मासानशनन्तगम् ॥७८३॥

चार प्रकार के आहार का त्याग करना अनशन है। वह अनशन साकांक्षा और अनाकांक्षा के भेद से दो प्रकार का है। साकांक्षा अनशन एक मास दो महिना, तीन महिना, चार महिना, पांच महिना आदि अनेक भेद वाला है। जहां एक दो दिन आदि से लेकर छह महीना पर्यंत मर्यादित भोजन का त्याग किया जाता है वह साकांक्षा नामक अनशन है। यावज्जीव आहार का त्याग अनाकांक्षा अनशन है।

साकांक्षा अनशन के भेद—

साकार सर्वतो भद्रसिंह निष्क्रीडितादय:।
साकांक्षस्योपवासस्य भेदाश्चैकांतरोदय: ॥७८४॥

साकांक्षा उपवास के साकार, सर्वतोभद्र, सिंह निष्क्रीड़ित आदि और एकांतरोदय आदि अनेक भेद हैं।

नन्दीश्वर पंक्ति, चारित्र शुद्धि दुःख हरण, सुख करण, लक्षण पंक्ति, सिंह निष्क्रीडित, भद्रावसन्त, त्रिलोक सार, श्रुत स्कंध, विमान पंक्ति, मुरजमध्य, मृदंगमध्य, शातकुम्भ, श्रुतज्ञान, द्वादशव्रत, त्रिपंचाशतव्रत, घातिक्षयव्रत, रत्नत्रय षोडशकारण, अष्टाह्निक, दशलक्षण, पंचकल्याणक, महापंचकल्याणक, जिनेन्द्र महात्म्य, ध्यानपंक्ति, प्रमाद परिवार, सम्प्रत्ति संयमपंक्ति प्रतिष्ठाकरण, महोत्सव, संन्यास महोत्सव, जिन गुण सम्पत्ति, आदि अनेक रूप जिनेन्द्र भगवान द्वारा कथित व्रत है। वह सब साकांक्षा

अनशन तप है। इन सब व्रतों में कुछ व्रतों की विधि हरिवंश पुराण में उद्यापनसार में तथा व्रत तिथि निर्णय में लिखी है तथा कुछ व्रतों की विधि तो प्राप्त भी नहीं है।

निकांक्षा अनशन का लक्षण—

निःकांक्षोऽसौ भवेद्भेक्त प्रत्याख्यानें गिनीमृतिः।
प्रायोप गमनेष्यायुरन्त सन्यास कर्मसु ॥७८५॥

आयु के अन्त में समाधि मरण के समय प्रायोपगमन में भक्त प्रत्याख्यान और इंगिनीमरण करना यह निष्कांक्षा नामक अनशन तप है।

मरण पर्यन्त चतुर्विधि आहार का त्याग करना निराकांक्षा अनशन तप है। इस व्रत के मुख्य तीन भेद हैं। भक्त प्रत्याख्यान मरण, इंगिनीमरण, प्रायोपगमन मरण। आयु के अन्त समय में जो चारों प्रकार का आहार का त्याग किया जाता है, वह भक्त प्रत्याख्यान मरण है, उसका उत्कृष्ट काल १२ वर्ष है, जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त है, मध्यम के अनेक भेद हैं, इस मरण में क्षपक की वैय्यावृत्ति दूसरे साधु कर सकते हैं और आप भी अपनी वैयावृत्ति करता है। इसमें अन्त समय में चतुर्विध आहार के त्याग की मुख्यता है।

इंगिनीमरण—अन्त समय में चारों प्रकार के आहार का त्याग करके अपनी वैयावृत्ति दूसरे से नहीं कराता है। अपनी शरीर परिचर्या अपने हाथों से ही करता है, वह इंगिनी मरण है। जिसमें क्षपक अपनी वैयावृत्ति आप भी नहीं करता है और दूसरे से भी नहीं कराता है। वह प्रायोपगमन मरण है।

देहदर्प विनाशाय संयमद्वय सिद्धये।
कुर्यादनशनं लाभसत्काराद्यनपेक्षया ॥७८६॥

क्षपक लाभ सत्कार आदि की अपेक्षा न करके शरीर के दर्प का विनाश करने के लिये और संयम की सिद्धि करने के लिये करे।

अनशन व्रत से संयम की सिद्धि होती है, शरीर का ममत्व छूटता है, इसलिए ख्याति, पूजा, लाभ की इच्छा न करके अपनी शक्ति अनुसार अनशन नामक तप को अवश्य करना चाहिये।

अवमौदर्य तप का लक्षण—

ग्रास हीन निजाहाराद्यनाहाराशनं व्रतम्।
तपः स्याद वमौदर्यमक्षकक्षदवानलः ॥७८७॥

ग्रास हीन अपने आहार से कम भोजन व्रत इन्द्रिय रूपी आटवी जलाने को के लिए दवानल अवमौदर्य तप है ।

पुरुष का स्वाभाविक आहार बत्तीस ग्रास प्रमाण है । उनमें से एक ग्रास आदि हीन करने जैसा अवमौदर्य तप है । यह अवमौदर्य तप इन्द्रिय रूपी अग्नि को जलाने के लिए दावानल है, अर्थात् अवमौदर्य व्रत में इन्द्रियों का निरोध होता है ।

उपवासोऽतिमात्रा शनोत्पन्न श्रम दोष हृत् ।
ध्यान स्वाध्याय निद्रालिजयाद्यर्थमिदं मतम् ॥७८८॥

अतिमात्र भोजन करने से उत्पन्न हुये श्रम दोष का नाम करने वाला उपवास है । और ध्यान, स्वाध्याय के लिए निद्रा अति को जीतने के लिए यह अवमौदर्य व्रत माना है ।

अतिमात्रा में भोजन करने से अजीर्णादि रोग उत्पन्न होते हैं, उन रोगों का नाशक उपवास है । तथा ध्यान स्वाध्याय की वृद्धि के लिये निद्रा और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के लिये अवमौदर्य व्रत करना चाहिये । क्योंकि उदर भरकर नहीं खाने से आलस्य प्रमाद नहीं होता है, परिणामों की विशुद्धि होती है । निद्रा पर विजय होती है । इन्द्रियां भी शिथिल हो जाती है, इसलिए ध्यान और स्वाध्याय की वृद्धि होती है । तथा भूख से कम खाने पर अजीर्णादि रोग भी उत्पन्न नहीं होते हैं । यह अवमौदर्य तप इन्द्रियों के स्वेच्छाचार को रोकता है, परिणामों को निर्मल करता है । और इससे प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, समता, वन्दना, स्तुति और कायोत्सर्ग इन षट् आवश्यकों की वृद्धि होती है ।

वृत्ति परिसंख्यान तप का लक्षण--

वृत्तिर्वाट गृहाऽऽहार पात्र दातृषुवर्त्तनम् ।
संख्या तन्नियमो वृत्ति परिसंख्या निजेच्छया ॥७८९॥

गली, घर, आहार, पात्र, दाता में वृत्ति वर्त्तना करना संख्या करना अपनी इच्छा से उनका नियम करना वृत्ति परिसंख्या है ।

आज इस मोहल्ला में आहार मिलेगा तो आहार करेंगे नहीं मिलेगा तो नहीं करेंगे यह वाट परिसंख्यान है । इस गली में इस घर में या इतने घर में आहार मिलेगा तो आहार करूँगा यह गृह परिसंख्यान है ।

सर्वप्रथम थाली में दाल, भात, दही, लड्डू आदि किसी वस्तु के विशेष का

नियम लेना आहार परिसंख्यान है। आज सुवर्ण, कांसी, पीतल, चांदी, मिट्टी के बर्तन में आहार लूंगा ऐसे पात्र विशेष का नियम लेना भाजन परिसंख्यान है। वृद्ध, युवा, कुमार, कुमारिका या दो स्त्रियां, पुरुष विशेष का नियम लेना दातृ विशेष परिसंख्यान है। इस प्रकार अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के लिए, कषायों का दमन करने के लिये, शरीर के ममत्व को दूर करने के लिये एवं जिनधर्म की प्रभावना के लिये गृह, दाता, आहार विशेष का नियम करना वृत्ति परिसंख्यान तप है।

इय माशा निराशा यादीनता भावनाप्तये।
नात्रयात्रा निमित्तान्न मात्र कांक्षस्य योगिनः ॥७९०॥

शरीर यात्रा के निमित्त मात्र अन्न की आकांक्षा करने वाले योगी के तृष्णा का छेद करने के लिए अदीनता भावना की प्राप्ति के लिए यह वृत्ति परिसंख्यान होता है।

शरीर को रक्षा करने के लिए साधु लोग आहार करते हैं। उसमें भी तृष्णा को नाश करने के लिए अदीनताओं की प्राप्ति के लिए यह वृत्ति परिसंख्यान तप किया जाता है।

रस परित्याग तप का लक्षण—

दधि क्षीराऽऽज्यतैलादेः परिहारो रसस्य यः।
तपो रस परित्यागो मधुरादि रसस्य वा ॥७९१॥
कायकांति मदाक्षेभक्षोभ वारण कारणं।
परिहारो रसस्यायं स्याज्जितेन्द्रिय योगिनः ॥७९२॥

दधि, दुध, घृत, तेलादि और गुड़, चीनी आदि मधुर रस का परिहार रस परित्याग तप है यह रस का परित्याग जितेन्द्रिय योगी के काय कांतिप्रद मद और इन्द्रिय रूपी हाथियों के क्षोभ के वारण में कारण है।

विविक्त शयनासन तप का लक्षण—

विविक्तेऽध्ययन ध्यान बाधवोत्कर वर्जिते।
शयनं चाऽसनं यत्तद्विविक्त शयना सनम् ॥७९३॥
तरु कोटर शून्यागाराऽऽरामोर्वी धरादयः।
विविक्ताः कामिनीषण्ठ पशुक्षुद्रांगि वर्जिताः ॥७९४॥

अध्ययन और ध्यान के बाधाओं के समूह से रहित एकांत स्थान में जो

शयन करना बैठना है, वह विविक्त शयनासन है, तरुकोटर, शून्यागार, उपवन की पृथ्वी पर्वतादि कामिनी, पशु, नपुंसक और क्षुद्र प्राणियों से रहित विविक्तता होती है।

कामिनी, नपुंसक, पशु, क्षुद्र प्राणियों से रहित, तरुकोटर, शून्यागार, उपवन की भूमि पर्वत आदि विविक्त स्थान हैं। उस अध्ययन और ध्यान की बाधा के समूह से रहित विविक्त स्थान में शयन करना, बैठना शयनासन तप है।

कायक्लेश तप का लक्षण--

सुखोपलालितः कायो नालं सद्ध्यान सिद्धये।
तद्दहदमनं काय क्लेशः क्लेशैर्मतोचितैः ॥७९५॥

सुख पूर्वक लालन-पोषण किया हुआ शरीर, सद्ध्यान की सिद्धि के लिए समर्थ नहीं होता है, इसलिये जिनेन्द्र कथित उचित क्लेश के द्वारा उस शरीर का दमन करना, अपने आधीन करना, काय क्लेश तप है। यद्वा कारणों के द्वारा शरीर का दमन करना, काय क्लेश तो है, परन्तु तप नहीं है। जिस काय क्लेश में शरीर के ममत्व के साथ कषायों का दमन होता है, वही काय क्लेश तप है। कषाय के आवेश में आकर शरीर का घात किया जाता है, वह तप नहीं है, इसको बताने के लिये आचार्य ने मतोचित कहा है।

निर्दयं मर्दनीयोऽयं कायः क्लेशकरः पुरा।
चिरं रिपुरितीवेषः काय क्लेशरतो यतिः ॥७९६॥

यह काय पूर्व में चिरकाल तक शत्रु के समान क्लेश करने वाला है, इसलिये यह काय क्लेश में रत साधु के द्वारा निर्दय होकर मर्दन करना पड़ता है।

यह शरीर अनादिकाल का शत्रु है, इसने पूर्व में मुझे बहुत दुःख दिये हैं, इसलिये यह मर्दनीय है। ऐसा विचार कर काय क्लेश में रत योगी घोर तपश्चरण के द्वारा काय क्लेश करते हैं।

वीर स्वस्तिक वज्राब्जहस्ति शुण्डाशनादयः।
व्युत्सर्ग शव गोदंड चाप शय्यादयश्च ते ॥७९७॥

वीरासन, स्वस्तिकासन, वज्रासन, हस्ति शुण्डाशन, मृतकशय्या, गवासन, दंड शय्या और धनुः शय्यादि से शरीर को क्लेश देना वा इन आसनों से ध्यान करना व्युत्सर्ग रूप कायक्लेश तप है।

तपो बाह्यमिदं बाह्यलोकानन्दैक मन्दिरम् ।
आभ्यन्तर तपः क्षीर सागरेन्दुं नमाभ्यहम् ।।७९८।।

बाह्य लोको के आनन्द का एक मन्दिर यह बाह्य तप है क्षीर सागर और चन्द्रमा के समान उज्जवल आभ्यन्तर तप को मैं नमस्कार करता हूँ ।

अनशनादि बाह्य तप बाह्य लोगों के आनन्द का स्थान है, धर्म प्रभावना का कारण है, उसका वर्णन किया । अब क्षीर समुद्र और चन्द्रमा के समान उज्जवल आभ्यन्तर तप को मैं नमस्कार करता हूँ । आन्तरिक मन का नियमन होने से और बाह्य जनों के प्रत्यक्ष न होने वाले तप को आभ्यन्तर तप कहते हैं ।

आभ्यन्तर तपों के भेद—

तत्प्रायश्चितं विनयो वैयावृत्यं जगन्नुतम् ।
स्वाध्यायो भवेद् व्युत्सर्गो ध्यानं चाभ्यान्तरं तपः ।।७९९।।

प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान यह तीन जगत में पूज्यनीय आभ्यंतर तप है ।

प्रायश्चित तप का वर्णन—

येनागो गलति प्रत्नं प्रायश्चितं तदुच्यते ।
कर्म प्रायोजनस्तस्य चित्तं चैतोहरं यतः ।।८००।।

जिसके द्वारा पुरातन पाप नष्ट होता है, वह प्रायश्चित कहा जाता है, अथवा जन प्राय है, अथवा जन प्राय है मन जिनका क्योंकि उस जन के चित्त को हरण करने वाला कार्य प्रायश्चित कहा जाता है ।

प्रमाद अथवा अज्ञान जन्य दोषों के निराकरण करने का नाम प्रायश्चित है । उत्कृष्ट चारित्र धारी वा मानवों को "प्रायः" कहते हैं । और मन को चित्त कहते हैं । अतः मन की शुद्धि करने वाले कार्य को प्रायश्चित कहते हैं, अथवा पुरातन कर्मों का क्षेपण, निर्जरा, शोधन, धावन, निराकरण, उत्क्षेपण, छेदन यह सब प्रायश्चित के नाम हैं ।

प्रायश्चित के भेद—

आलोचना प्रतिक्रमणोभयानि विवेचनम् ।
व्युत्सर्गस्तपच्छेद मूल परिहार दर्शनम् ।।८०१।।

प्रायश्चित्तस्य भेदाः स्युर्दश चैव तत्र संश्रये ।
दोषाणां यत्प्रमादाद्यैराद्यं तेषां निवेदनम् ॥८०२॥

आलोचना, प्रतिक्रमण, उभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार और श्रद्धान, ये दश प्रायश्चित के भेद हैं। प्रमादादि के द्वारा उत्पन्न दोषों का गुरु के समक्ष निवेदन करना आलोचना है।

गुरु को दोषों के निवेदन करने की विधि—

ज्ञात श्रुतरहस्याय प्रशांत स्वांतवृत्तये ।
अपरिस्राविणे शस्तैकान्तस्थायैव सूरये ॥८०३॥
विनयेनोपसृत्योपविश्य पार्श्वे कृतांजलेः ।
बाल वद् गर्हतोऽवक्रमित्येतत्स्याद्विशुद्धये ॥८०४॥

जो श्रुत के रहस्य को जानता है, जिसका मन अत्यन्त प्रशांत है, जो अपरिस्रावी है, ऐसे एकांत में स्थित आचार्यवर्य के समीप में जाकर उनके वाम पार्श्व में बैठकर अपने दोषों की शुद्धि करने के लिए मायाचार वक्रता का त्याग कर विनय से बालकवत् अपने दोषों की गर्हा करने वाले शिष्य के आलोचना होती है।

आलोचना के दश दोषों का स्वरूप—

आकंपितानुमापितं दृष्ट बादर सूक्ष्मणम् ।
छन्नं शब्दाकुलं बहू व्यक्त तत्सेवितान्यपि ॥८०५॥
दशेत्यालोचनागांसि त्याज्यान्यात्म हितैषिणा ।
सदा हि साधयन्त्यायोः परलोक ममायया ॥८०६॥

आकंपित दोष, अनुमापित दोष, दृष्ट दोष, बादर दोष, सूक्ष्म दोष, छन्न दोष, शब्दाकुल दोष, बहु दोष, अव्यक्त दोष, तत्सेवी दोष ये दश आलोचना के दोष हैं। आत्म हितैषी, मानव, इन दोषों को दूर से छोड़ देवे, क्योंकि माया रहित आलोचना करने से ही परलोक की सिद्धि होती है।

आकंपित दोष

ददात्यल्पं मम प्रायश्चित भीत्येति सूरये ।
पुरोपकरणानां यद्दानमाकंपितं मतम् ॥८०७॥

गुरु मुझे अल्प प्रायश्चित देवें, इसलिए महत् प्रायश्चित के भय से गुरु

को पूर्व में उपकरण आदि देकर अनुकम्पा उत्पन्न कराना, आकंपित दोष है ।

स्थूल दोष

ग्लानः क्लेशा सहोऽस्म्यल्पं प्रायश्चितं ममार्प्यते ।
चेद्दोषाख्यां करिष्याभीत्यादिः स्यादनुमापितम् ॥८०८॥

मैं रुग्ण (रोगी) हूँ, क्लेश को सहन करने में असमर्थ हूँ, यदि आचार्य मुझे अल्प प्रायश्चित देंगे तो मैं अपने दोषों की आलोचना करूँगा स्थूल दोष है ।

सूक्ष्म दोष

सुक्ष्मामः कीर्त्तनं सूक्ष्म दोस्यामि विशोधकः ।
इति ख्यात्यादि हेतोः स्यात्सूक्ष्मं स्थूलोपगूहनम् ॥८०९॥

यह साधु सूक्ष्म दोषों को भी कहने वाला है, इस प्रकार की ख्याति पूजा की इच्छा से अल्प वा सूक्ष्म दोषों की आलोचना करना, यह स्थूल का उपगूहन करने वाला सूक्ष्म दोष है ।

प्रच्छन्न दोष

दोषे सतीदृशे देयं किं प्रायश्चित्त मित्यलम् ।
प्रश्नः स्वच्छादनेन स्याच्छन्नं लज्जाभयादिभिः ॥८१०॥

ऐसा दोष हो जाने पर क्या प्रायश्चित देना चाहिए, इस प्रकार लज्जादि के वशीभूत होकर अपने दोषों को आच्छादन करना, छन्न दोष है । किसी के द्वारा अपने दोष प्रकाशित करने पर ऐसा दोष मेरे में भी है, ऐसा विचार कर गुप्त रूप से प्रायश्चित लेना, प्रच्छन्न दोष है ।

शब्दाकुलित दोष

व्रतिव्रातघनध्वाने स्वदोष परिकीर्त्तनम् ।
लज्जाद्यैः पाक्षिकादौ यत्तच्छब्दाकुलितं मतम् ॥८११॥

लज्जादिक के कारण व्रतियों के समूह से आकुल शब्द से युक्त पाक्षिकादि में जो अपने दोषों का कथन करना, वह शब्दाकुलित दोष माना है ।

जिस स्थान में बहुत व्रतियों का कोलाहल हो रहा है, ऐसे पाक्षिकादि प्रतिक्रमण के समय में लज्जादि के वशीभूत होकर अपने दोषों का कथन करना, जिससे आचार्य स्पष्ट रूप से सुन नहीं सके, इसको शब्दाकुलित दोष कहते हैं ।

बहु दोष

प्रायश्चित्तमिदं युक्तं न वेत्यल्पतदाशया ।
बहुसूरि परिप्रश्नो, यावदल्पं स बह्वितिं ॥८१२॥

यह प्रायश्चित युक्त है वा नहीं है, इस प्रकार अल्प प्रायश्चित की आशा से बहुत से आचार्यों से पूछना, जब तक अल्प प्रायश्चित हो, वह बहु दोष है ।

अव्यक्त दोष

स्वसमान ज्ञान तपो बालस्यालोचनं भवेत् ।
अव्यक्तं ह्रीभय प्रायश्चित्त भीत्यादि हेतुतः ॥८१३॥

लज्जा, भय, प्रायश्चित की भीति आदि कारणों से अपने समान ज्ञान, तप, बालक के समक्ष आलोचना करना, अव्यक्त दोष होता है ।

तत्सेवी दोष

मादृशो वेत्यसावेव ममागोऽस्मै यदर्पितम् ।
तन्ममेति स्वदोषोक्तिरस्मै तत्सेवितं मतम् ॥८१४॥

यह मेरे जैसा ही है, मेरे अपराध इसके लिए जो अर्पण किये हैं, वे मेरे हैं, इसलिये अपने दोषों को कहना तत्सेवी दोष माना है ।

ऐसे गुरु के पास जाकर अपने दोषों की आलोचना करना जो अपने समान अपराधी है, यह तत्सेवी दोष है । अथवा मेरे दोष इसके अपराध के समान है, इसे यह भी जानता है । इसे जो प्रायश्चित मिलेगा, वह मुझे भी युक्त है, इस प्रकार अपने दोषों को छिपाना तत्सेवी दोष है ।

साऽऽमांगसंगतं यद्वन्नौषधं व्याधिबाधकम् ।
तथाऽनालोचना शुद्धं नैनो नाशकर तपः ॥८१५॥

जिस प्रकार आम सहित शरीर को प्राप्त हुई औषधि रोग नाशक नहीं है, अर्थात् जो औषधि अपक्व है, वह रोग नाशक नहीं है । उसी प्रकार आलोचना से अशुद्ध तप पापों का नाशक नहीं है । निर्दोष तप ही पापों का नाशक है ।

मुनि की और आर्यिकाओं की आलोचना—

द्वयाश्रयं संयतानां स्यादार्यिकाणां त्रिगोचरम् ।
सप्रकाश प्रदेशे तु तच्चारित्र विभूषणम् ॥८१६॥

मुनियों की आलोचना (दोषों का कथन) दो के आश्रय से होती है । अर्थात्

यदि मुनि अपने दोषों की आलोचना एकांत में गुरु और शिष्य दो हों, तब करे। तीसरा समीप नहीं होना चाहिये। आर्यिकाओं की आलोचना आचार्य गणिनी, और आलोचना करने वाली आर्यिका, इन तीन के अधिन होती है। अर्थात् अकेली आर्यिका एकाकी आचार्य के पास आलोचना नहीं करती है। आर्यिका सूर्य से प्रकाशित प्रदेश में आलोचना करती है। अन्धकारिता प्रदेश में नहीं करती है। यह आलोचना चारित्र का भूषण है।

आलोच्यार्पित प्रायश्चित वृत्ति विवर्जितः।
सन्मंत्र निश्चयेऽप्युद्योगो नवत्फलवर्जितः ॥८१७॥

जो मुनि आलोचना करके भी आचार्य के द्वारा अर्पित प्रायश्चित का आचरण नहीं करता है। वह सन्मंत्र का निश्चय करके भी उद्योग नहीं करने वाले के समान फल रहित होता है। जैसे मंत्र को जान करके भी जो मंत्र की विधि का आचरण नहीं करता है, उसको मंत्र के फल की प्राप्ति नहीं होती, उसी प्रकार आलोचना करके भी आचार्य कथित प्रायश्चित को पालन नहीं करने वाला निर्दोष नहीं होता है।

मिथ्यामदाऽऽगोऽस्त्विव त्याद्यैर्य दोषेभ्यो निवर्तनम्।
प्रतिक्रमण मल्पा पराधस्यैकाकिनो मुनेः ॥८१८॥

मेरे अपराध मिथ्या होवें इत्यादि वचनों के द्वारा जो दोषों से निवर्तन है, वह अल्प अपराधी एकाकी मुनियों के प्रतिक्रमण है।

उभय प्रायश्चित का स्वरूप—

स्यात्तदुभयमालोचना प्रतिक्रमणद्वयं।
दुःस्वप्न दुष्ट चितादिमहा दोष समाश्रयम् ॥

आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों किये जाते हैं, वह उभय नामक प्रायश्चित है। मुनिराज दुःस्वप्न मानसिक दुष्ट विचार, चितादि महादोष उत्पन्न होने पर प्रतिक्रमण और आलोचना दोनों करते हैं।

विवेक प्रायश्चित का स्वरूप—

परिहर्त्तुमशक्तस्य दोषं द्रव्यादि संश्रयम्।
तद्द्रव्यादि परित्यागो विवेकः कथितोऽथवा ॥८१९॥

अप्रासुकस्य सेवायां त्यक्तस्य प्रासुकस्य च ।
प्रमादेन पुनः स्मृत्वा स तदा तद्विसर्जनम् ॥८२०॥

द्रव्यादि से संश्रित दोष को छोड़ने में अशक्त के उस द्रव्यादि का परित्याग करना विवेक कहा है, अथवा प्रमाद से अप्रासुक का और त्याग किये हुये प्रासुक द्रव्य का सेवन करने पर पुनः स्मरण करके उसका त्याग कर देता है, तब वह विवेक नामक प्रायश्चित होता है ।

जो वस्तु अप्रासुक वा अभक्ष्य है, अथवा जो छोड़ी हुई है, प्रमाद से या विस्मरण से उस वस्तु का सेवन कर लिया हो तो तदनन्तर स्मरण होने पर उसको छोड़ देना, विवेक नामक प्रायश्चित है । अथवा जिस वस्तु के सेवन करने से काम क्रोधादि विकृति उत्पन्न होती है, उस वस्तु का त्याग करना विवेक नामक प्रायश्चित है । अथवा जिस वस्तु में अभक्ष्य वा छोड़ी हुई वस्तु मिली है, उसको पृथक् करना शक्य नहीं है, उस वस्तु का त्याग करना भी विवेक है ।

व्युत्सर्ग का स्वरूप—

व्युत्सर्गोक्त मुहूर्तादिकालं काय विसर्जनम् ।
सद्ध्यानं तन्मलोत्सर्ग नद्याद्युत्तरणादिषु ॥८२१॥

मल, मूत्र आदि का त्याग करने के बाद, नदी आदि से पार होने के बाद अन्तर्मुहूर्तादि काल पर्यन्त शरीर के ममत्व का त्याग करके सद्ध्यान करना व्युत्सर्ग है ।

तप प्रायश्चित्त का स्वरूप—

तपः स्यादुपवासैक स्थानादि व्यसनादिभिः ।
व्रतातिचारे सत्येतत्प्रायश्चित्तं तु षड्विधम् ॥८२२॥

व्यसन आदि के द्वारा व्रतों में अतिचार हो जाने पर उपवास, एक भुक्ति आदि छह प्रकार के बहिरंग तप करना, यह तप नामक प्रायश्चित है ।

अहिंसादि व्रतों में अतिचार लग जाने पर अनशनादि छह प्रकार के बहिरंग तप के द्वारा आत्म शुद्धि करना तप नामक प्रायश्चित है ।

छेद का स्वरूप—

दिवसादि तपच्छेदश्छेद संयम पर्यये ।
सदर्पकृत दोषस्य चिर दीक्षा हितैषिणः ॥८२३॥

अभिमान में आकर किया है, दोष जिसने चिरकाल की दीक्षा हितैषी के संयम की पर्याय में दिवस आदि तप का छेद करना छेद नामक प्रायश्चित है ।

चिरकाल का दीक्षित साधु अभिमानी होकर अपने व्रतों में दूषण लगाता है, तब उसकी पक्ष, मास, दिवसादि की दीक्षा का छेद कर देना छेद नामक प्रायश्चित है ।

पुनर्दीक्षा ग्रहोन्मूलं उर्वी पूर्वोपस्थितिर्नृ :
छित्वोन्मार्गस्थ पार्श्वस्थ प्रभृतिश्रमणेत्वियम् ॥८२४॥

सारी पूर्व की तपस्थिति को नष्ट कर पुनः दीक्षा का ग्रहण करना मूल नामक प्रायश्चित है, यह प्रायश्चित उन्मार्गगामी, पार्श्वस्थ प्रभृति महादोषी श्रमणों में होता है ।

पूर्व की सम्पूर्ण तपस्थिति का छेद करके पुनः दीक्षा देना मूल नामक प्रायश्चित है । यह प्रायश्चित उन्मार्गगामी, पार्श्वस्थ आदि महादोषी श्रमणों को ही दिया जाता है ।

पार्श्वस्थ आदि मुनियों के भेद—

सच्चारित्रामृतापात्रं स्युः पार्श्वस्थः कुशीलकः ।
संसक्तोऽप्यवसन्नश्च मृगचारीति पंचते ॥८२५॥

पार्श्वस्थ, कुशील, संसक्त, अवसन्न और मृगचारी ये पांच प्रकार के मुनि सम्यकचारित्र के पात्र नहीं हैं ।

पार्श्वस्थ और कुशील—

वसत्युपधि संगस्थः पार्श्वस्थः स्यात्कुशीलकः ।
संघाहित करस्तीव्र कषायो व्रत वर्जितः ॥८२६॥

पार्श्वस्थ—जो वसतिका, उपाधि और परिग्रह में स्थित है—वह मुनि पार्श्वस्थ कहलाता है ।

कुशील—जो सर्व संघ का अहितकर है, तीव्र कषायी है, व्रतों से रहित है, वह साधु कुशील कहलाता है ।

संसक्त और अवसन्न—

संसक्तो वैद्य मन्त्रावनीश सेवनादि जीवनः ।
ज्ञान चारित्र हीनोऽवसन्नः स्यात्करणालसः ॥८२७॥

संसक्त—जो लोभ कषाय के वशीभूत होकर औषधि, मन्त्र, तन्त्रादि बताकर आजीविका करता है और राजा आदि की सेवा करता है, वह साधु संसक्त कहलाता है।

अवसन्न—जो ज्ञान चारित्र से रहित है। साधु की दैनिक क्रियाओं में आलसी है, वह अवसन्न कहलाता है।

मृगाचारी—

स्वच्छंदो यो गणं त्यक्त्वा चरत्येकाक्यसंवृतः।
मृगाचारीत्यमी जैन धर्माऽकीर्तिकरानराः ॥८२८॥

मृगाचारी—जो साधु स्वच्छन्द है, अर्थात् आचार्य की आज्ञा का विराधक है, संघ को छोड़कर एकाकी असंवृत्त होकर भ्रमण करता है, वह जैन धर्म को मलीन करने वाला साधु मृगाचारी है।

परिहार उपस्थापना प्रायश्चित्त के भेद—

परिहारोऽनुपस्थापन पारंचिक भेद भाक्।
निजान्य गणभेदं तत्राद्य तत्राद्यमुत्तमम् ॥८२९॥

अनुपस्थापन और पारंचिक के भेद से परिहार दो प्रकार का है। उसमें अनुपस्थापन, जिनगण अनुपस्थापन और अन्यगण अनुपस्थापन के भेद से दो प्रकार का है। उसमें निजगण अनुपस्थापन उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकार का है।

द्वादशाब्देषु षण्मासषण्मासानशनं मतम्।
जघन्यं पंच पंचोपवास मध्यन्तु मध्यमम् ॥८३०॥

बारह वर्षों में छह-छह महीने का उपवास करना उत्तम है, बारह वर्ष तक पांच-पांच उपवास करना जघन्य और मध्यम है।

अनुपस्थान प्रायश्चित्त—

द्वात्रिंशच्छऽदूरालयस्थेन वसतेर्यतीन्।
सर्वान् प्रणमतोऽपेत प्रतिवन्दन साधुना ॥८३१॥
स्वदोष ख्यातये पिच्छं विभ्राणेन पराङ् मुखं।
सूरीतरैः सहोपात्रमौनेनैतद्विधीयते ॥८३२॥

जो आचार्य वा संघ की वसतिका से बत्तीस धनुष दूर स्थान में रहता है और सर्व मुनियों को नमस्कार करता है, परन्तु उसको कोई मुनि प्रतिनमस्कार नहीं

करते हैं। जो आचार्य के साथ वार्तालाप करता है, शेष मुनियों और श्रावकों के साथ नहीं बोलता है, मौन रखता है। अपने दोषों की विख्याति (प्रगटता) के लिये पिच्छिका को पराङ्मुखी रखता है, छह महीना, पांच महीना आदि का उपवास करता है, यह अनुपस्थान नामक प्रायश्चित है।

स्वगण अनुपस्थापन प्रायश्चित देने के कारण—

प्रमादे नान्य पाखंडि गृहस्थ यति संश्रितं।
वस्तुस्तेनयतः किंचिच्चेतना चेतनात्मकम् ॥८३३॥
यतीन्प्रहरतोऽन्य स्त्रीहरणादींश्च कुर्वतः।
दश नव पूर्वज्ञस्य स्याद्य संहननस्य यत् ॥८३४॥

प्रमाद के कारण अन्य पाखंडी गृहस्थ और यतियों से संश्रित चेतन-अचेतनात्मक किंचित वस्तु की चोरी करने वाले यति को, मारने वाले पर स्त्री हरण आदि पाप करने वाले को नव और दश पूर्व के पाठी तथा आदि वज्रवृषभ वज्र और नाराच वाले को वह ऊपरि कथित स्वगणानुपस्थापन प्रायश्चित दिया जाता है।

करोति यदि दर्पेण दोषान् पूर्व भाषितान्।
सोयमन्यगणानुपस्थापनेन विशुद्धयति ॥८३५॥

जो यति नव या दश पूर्व का पाठी हो, आदि के तीन संहनन (वज्र वृषभ नाराच, वज्र नाराच, नाराच) से युक्त हो—परन्तु प्रमाद के वशीभूत होकर पाखण्डी, यति, गृहस्थादि की चेतना चेतनात्मक वस्तु की चोरी की है, क्रोध में आकर किसी यति का घात किया है, तथा पर स्त्री का सेवन किया है, तो वह मुनि स्वगणानुपस्थापन नामक प्रायश्चित का भागी होता है। हीन संहनन वाले को यह प्रायश्चित नहीं दिया जाता है।

जो यदि पूर्वोक्त हिंसादि दोष को अभिमान में आकर करता है तो वह साधु अन्यगणानुपस्थापन नामक प्रायश्चित के द्वारा शुद्ध होता है।

अन्यगणानुपस्थापन नामक प्रायश्चित का लक्षण—

प्रायश्चितं तदेवात्र किन्तु स्वगण सूरिणा।
आलोच्य प्रेषितः सप्त सूरि पार्श्वमनुक्रमात् ॥८३६॥
आलोच्य तंस्तैर प्राप्त प्रायश्चित्तोऽन्त्य सूरिणा।
तमाद्यं प्राषितस्तेन दत्तं चरति पूर्ववत् ॥८३७॥

अन्य गणानुपस्थापन नामक प्रायश्चित्त की विधि स्वगण अनुपस्थापन के समान ही है। परन्तु यह विशेषता है। अभिमान पूर्वक अपराध करने वाला साधु अपने दोषों की आचार्य के समक्ष आलोचना करता है। तदनन्तर उसकी आलोचना को सुनकर आचार्य उसको दूसरे आचार्य के समीप भेजते हैं। वह साधु दूसरे आचार्य के समीप जाकर अपने दोषों की आलोचना करता है, वह आचार्य भी उसकी आलोचना सुनकर तीसरे आचार्य के समीप भेजते हैं। इस प्रकार सात आचार्य के समीप जाकर आलोचना करता है, उसको कोई भी आचार्य प्रायश्चित नहीं देते हैं। पुनः क्रम से सात आचार्यों के पास जाकर अपने आचार्य के समीप आता है। तब आचार्य उसको स्वगणानुस्थापन विधि के अनुसार प्रायश्चित देते हैं। यह अन्यगणानुस्थापन नामक प्रायश्चित है स्वगणानुस्थापन का अर्थ है— अपने गण से बहिस्कृत करना। अपने संघ की वसतिका से ३२ धनुष दूर रखना। अन्यगणानुस्थापन का अर्थ है – दूसरे आचार्य के संघ में जाकर आलोचना करने पर भी प्रायश्चित देकर वे आचार्य साधु को अपने गण में नहीं रखते हैं, इसलिये यह अन्यगणानुस्थापन है।

पारंचित प्रायश्चित की विधि—

स्वधर्म रहिते क्षेत्रे प्रायश्चित्ते पुरोदिते।
चारः पारंचिकं जैनधर्मात्यन्तरतेर्मतम् ॥८३८॥
संघोर्वीश विरोधांतः पुरस्त्री गमनादिषु।
दोषेष्ववंद्यः पाप्येष पातकीति बहिः कृतः ॥८३९॥
चतुर्विधेन संघेन देशान्निष्कासितोप्यदः।
चरत्येवार्य्य वैराग्य सत्त्वज्ञान बलो व्रती ॥८४०॥

अपने धर्म से रहित क्षेत्र में पूर्व में कहे हुये प्रायश्चित में जैन धर्म में अत्यन्त लीन मुनि का बिहार पारंचिक नामक प्रायश्चित माना है, संघ का राजा का, विरोध, अंतःपुर की स्त्री गमनादि दोष हो जाने पर यह अवंदनीय है पापी है पातकी है, इस प्रकार बहिष्कृत तथा चतुर्विध संघ के द्वारा देश से निकाला हुआ भी यह श्रेष्ठ वैराग्य, तत्त्वज्ञान रूपी बल से युक्त साधु आचरण करता है।

इस प्रायश्चित में उपवासादि विधि तो अनुपस्थापन प्रायश्चित के समान है, परन्तु कुछ विशेषता है। जब कोई साधु संघ का, राजा का विरोधी होकर अंतःपुर की

स्त्रियों के साथ दुराचार करता है, तब अनेक महापराध करने पर चातुर्वर्ण्य श्रम संघ से यह महापापी है, जिनमत से बाह्य है, 'इसको वन्दना मत करो' ऐसी घोषणा देकर अनुपस्थापना नाम प्रायश्चित देकर देश से निकाल देते हैं। यह मुनि भी स्व धर्म सहित क्षेत्र में जाकर ज्ञान, वैराग्य, सत्व, बल से युक्त होकर, आचार्य के द्वारा दिये हुए प्रायश्चित का पालन करता हुआ विहार करता है, यह पारंचिक नामक प्रायश्चित है।

दर्शनं यत्पुनस्तत्व श्रद्धानं तन्महाव्रतैः।
साद्धं यतेः स्थितस्येत्वा मिथ्यात्वं तदुदीरितं ॥८४१॥

किसी कारण से मिथ्यात्व अवस्था को प्राप्त हुआ मुनि पुनः तत्वश्रद्धान को प्राप्त होता है, वह दर्शन नामक प्रायश्चित है।

देशं कालं बलं ज्ञात्वा गणी वैद्यवदंगिनाम्।
अल्पानल्पेषु दोषेषु कुर्यात्त द्विशोधनं ॥८४२॥

जिस प्रकार वैद्य रोगी के रोग शक्ति आदि को जानकर उसके रोग को दूर करने के लिए औषधि देता है उसी प्रकार आचार्य साधु के अल्प अनल्प दोषों में देश, काल, शक्ति को जानकर प्रायश्चित देकर उसके दोषों की शुद्धि करते हैं।

कृतागसैव कर्त्तव्य प्रायश्चित त्रिशुद्धितः।
ग्लानस्यैव प्रयत्नेन युक्तमौषध सेवनं ॥८४३॥

जिस प्रकार रोगी को प्रयत्न पूर्वक औषधि सेवन करना चाहिए। उसी प्रकार किया है, अपराध जिसने ऐसे साधु को मन, वचन, काय से प्रयत्न पूर्वक युक्त प्रायश्चित करना ही चाहिए।

जिस प्रकार रोगी मानव योग्य औषधि सेवन करके रोग दूर करता है। उसी प्रकार अपराध रूपी रोगों को दूर करने के लिये मन, वचन, काय की शुद्धि पूर्वक प्रयत्नशील मुनि को अपने दोषों को गुरु के समक्ष आलोचना करके प्रायश्चित ग्रहण करना चाहिये। औषधि सेवन किये बिना रोगों का निष्कासन नहीं होता। उसी प्रकार प्रायश्चित के बिना पापों का प्रक्षालन नहीं होता है।

दोषव्युदासनैः शल्य मर्यादा संयम स्थितिः।
स्वांत प्रशांति सम्पत्ति प्रमुखार्थ मिदं मतम् ॥८४४॥

प्रायश्चित नामक तप के द्वारा शल्य (माया, मिथ्यात्व और निदान) का नाश होता है। मर्यादा संयम की स्थिति होती है। चित्त की शांति और दोष कृत पापों का प्रक्षालन होता है। इसलिये प्रायश्चित नामक तप का वर्णन किया है।

विनय तप का वर्णन—

विनयं स्याद्विनयनं कषायेन्द्रिय मर्दनं।
स नीचैर्वृत्ति रथवा विनयार्हे यथोचितम् ॥८४५॥

विनयते इति विनयनं, विनयन किया जाता है कषाय का और इंद्रिय का दमन किया जाता है, अथवा पूज्य पुरुषों के यथा योग्य नम्रता होती है उसको विनय कहते हैं।

सद्दृज्ञान तपश्चारित्रोपचार प्रपंचकः।
तत्रादृविनयस्त्यागः शंकादीनाम मीप्सते ॥८४६॥

सम्यग्दर्शन विनय, सम्यग्ज्ञान विनय सम्यक्चारित्र विनय तपो विनय और उपचार विनय के भेद से पांच प्रकार का विनय है। उसमें शंकादि दोषों का परिहार करना सम्यग्दर्शन विनय है।

दर्शन विनय का लक्षण—

शंकाऽऽकांक्षा जुगुप्साऽन्यदृक् प्रशंसन संस्तवाः।
नाम्ना ज्ञेयास्त्रयोन्त्यौ तु मनोवाग्विषये स्तुती ॥८४७॥

जिनेन्द्र कथित तत्त्व में संशय करना शंका है। संसारिक भोगों की वाँछा, कांक्षा है, रत्नत्रयधारी दिगम्बर तपस्वियों के शरीर को देखकर ग्लानि करना भूख प्यास से पीड़ित होकर जैन तपश्चरण से निर्विघ्न होना जुगुप्सा है। मन के द्वारा मिथ्यादृष्टियों की स्तुति करना संस्तव है। ये पांच सम्यग्दर्शन के अतिचार हैं। इनसे सम्यग्दर्शन मलीन होता है—इसलिये इनका त्याग करना चाहिये। इन अतिचारों का त्याग करना सम्यग्दर्शन का विनय है।

ज्ञान विनय का लक्षण—

द्रव्यादि शोधनं वस्तु प्रमाणावग्रहादिकं।
बहुमानः श्रुतज्ञेषु श्रुताज्ञासादनोज्झनं ॥८४८॥
वयः शील श्रुतोनाधिकाद्युपाध्याय कीर्त्तनं।
चानिन्हवेन येनाधीतज्ञानावरणकारणं ॥८४९॥

स्वराक्षर पद ग्रन्थार्था हीनान्ययनादिकं ।
स्याज्ज्ञान विनयः सम्यग्ज्ञान स्वर्मोक्ष कारणम् ॥८५०॥

द्रव्यादि का शोधन वस्तु की संख्यादिका अवग्रहादि श्रुतज्ञानियों में बहुमान श्रुत ज्ञानियों के आसादन का त्याग निन्हवरहित वय से न्यून और शील श्रुत से अधिक उपाध्याय आदि का कीर्त्तन जिस कारण से यह निन्हव ज्ञानावरण कर्म कारण है । स्वर, अक्षर, पद, ग्रन्थ, अर्थ को हीनाधिक नहीं पढ़ना यह सम्यग्ज्ञान स्वर्ग और मोक्ष का कारणभूत ज्ञान विनय है ।

ज्ञानाचार अधिकार में कथित द्रव्य क्षेत्र काल और भाव की शुद्धि से शास्त्र पढ़ना, वस्तु प्रमाणादि का अवग्रह करना, श्रुतज्ञानियों में बहुमान होना, श्रुतज्ञानियों की आसादन नहीं करना, उम्र में हीन होते भी जो शील और श्रुत में अधिक उपाध्याय आदि के गुणों का उत्कीर्त्तन करना जिस गुरु से ज्ञानार्जन किया है वह श्रुत आदि में हीन हो तो भी उसका नाम बताना, ज्ञानावरणादि कर्मों के कारण भूत निन्हव का त्याग करना, अर्थात् अपने श्रुतज्ञान को नहीं छिपाना, शब्द शुद्ध पढ़ना, ये ज्ञान के विनय हैं ।

तपो विनय का लक्षण—

आवश्यक क्रिया शक्तिर्नानोत्तर गुणोन्नतिः ।
तपस्तद्वत्तमोदश्च स्यात्तपो विनयो मुनेः ॥८५१॥

आवश्यक क्रियाओं में आसक्ति नाना उत्तर गुणों की उन्नति तपवालों में प्रमोद होना जिससे तपो विनय होता है ।

निर्दोष आवश्यक क्रियाओं का पालन करना नाना प्रकार के उत्तर गुणों की वृद्धि करना, बारह प्रकार के तपश्चरण में और तपस्वियों में प्रमोद भाव रखना तपो विनय है ।

चारित्र विनय का लक्षण—

भक्तिश्चारित्रवत्स्वन्य वृत्ताऽनिन्दनमुद्यमः ।
परीषह जयादौ च चारित्र विनयो मुनेः ॥८५२॥

चारित्र शाली मुनि इनों के प्रति भक्ति करना अन्य यतियों अर्थात् जघन्य चारित्र वाले की निन्दा नहीं करना परिषह आने पर उन पर विजय प्राप्त करने के लिये तत्पर रहना यह चारित्र विनय है ।

उपचार विनय का लक्षण और उसके भेद—

उपोपसृत्य यश्चार उपचारो यथोचितः ।
स प्रत्यक्ष परोक्षात्मा तत्राद्यः प्रतिपाद्यते ।।८५३।।

समीप में जाकर जो यथोचित सत्कार किया जाता है वह उपचार विनय है। वह उपचार विनय प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार का है। इसमें सर्व प्रथम प्रत्यक्ष विनय का वर्णन करते हैं।

प्रत्यक्षविनय का लक्षण—

अभ्युत्थानं नतिः सूरायागच्छति सति स्थिते ।
स्थानं नीचं निविष्टेऽपि शयनोच्चासनोज्झनम् ।।८५४।।
गच्छत्यनुगमो वक्तर्यनुकूलं वचो मनः ।
प्रमोदोत्यादिकं चैव पाठकादि चतुष्टये ।।८५५।।

आचार्य के आने पर शीघ्र ही आसन से उठकर खड़े होना चाहिये तथा भक्ति पूर्वक उनको नमस्कार करना चाहिये। आचार्य के बैठ जाने पर आचार्य से नीचे स्थान पर बैठना चाहिये। आचार्य के सामने शयन और उच्चासन को छोड़ना चाहिये। आचार्य के गमन करने पर उनके पीछे पीछे चलना चाहिये। आचार्य के बोलने पर अनुकूल वचन बोलना चाहिये तथा आचार्य के प्रति मन में प्रमोद भाव, उनके गुणों में अनुराग होना चाहिये। आचार्य के समान ही उपाध्याय, गणधर, स्थावर और प्रवर्त्तक का विनय करना चाहिये।

आचार्यदिष्वसत्स्वेवं स्थाविरस्य मुने गुणे ।
प्रतिरूपकाल योग्या क्रिया चान्येषु साधुषु ।।८५६।।

आचार्य की अनुपस्थिति में स्थविर, गणधर और अन्य साधुओं में प्रति रूप काल योग्य क्रिया नहीं करना चाहिये।

आर्यादेशयमाऽसंयतादि यूचितसत्क्रिया ।
कर्त्तव्या चेत्यदः प्रत्यक्षोपचार लक्षणम् ।।८५७।।

आर्यिका, देश संयमी और असंयतादि में उचित सत्कार करना चाहिये। यह प्रत्यक्ष उपचार विनय है।

परोक्ष विनय का लक्षण—

ज्ञान विज्ञान सत्कीर्तिर्नति राज्ञानुवर्त्तनं ।
परोक्षे गणनाथानां परोक्ष प्रश्रयः परः ।।८५८।।

परोक्ष में आचार्य के ज्ञान विज्ञान का सत्कीर्त्तन, आज्ञा का पालन और नमस्कार परोक्ष विनय है ।

विनयेन विहीनस्य भिक्षोः शिक्षामृतश्रियः ।
संश्रयाय निदानं नो तथा चाभ्युदय श्रियः ॥८५९॥

जो तपस्वी विनयहीन है अर्थात् गुरुजनों का विनय नहीं करता है उसका शास्त्राध्ययनादि मुक्ति की प्राप्ति तथा स्वर्ग श्री का कारण नहीं है ।

विनय करने से क्या होता है—

जिनाज्ञावर्त्तनं कीर्ति मैत्री मानापनोदनम् ।
गुणानुरागिता संघ सम्मदा श्चाश्च तद्गुणाः ॥८६०॥

जिनेश्वर की आज्ञा का पालन, कीर्ति, मित्रता, मान कषाय की हानि, गुणों में अनुराग और चतुर्विध संघ को सन्तोषादि विनय के गुण हैं ।

विनय से जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा का पालन होता है, जगत में निर्मल सत्कीर्ति रूपी लता विस्तरित होती है सर्वजनों के मैत्री भाव प्रगट होता है, मान कषाय का नाश होता है तथा चतुर्विध संघ विनय शील मानव पर सन्तुष्ट होता है इत्यादि अनेक विनय के गुण हैं ।

किमत्र बहुनोक्तेन पदं सर्वेष्ट सम्पदाम् ।
रत्नत्रयी विभूषायां चेन मुक्ति निबन्धनं ॥८६१॥

विशेष कहने से क्या प्रयोजन है विनय सर्व इष्ट सम्पदाओं का स्थान है, रत्नत्रय का भुषण है और मुक्ति का कारण है ।

वैयावृत्य का लक्षण—

व्यापत्प्रतिक्रिया वैयावृत्यं स्यात्सूरिपाठके ।
तपस्विशैक्ष्यग्लानेषु गणे संघे कुले यतौ ॥८६२॥
मनोज्ञे च तपस्येक्षु नानाऽनशनवर्त्तनः ।
शैक्षो ज्ञानादि संशिक्षो ग्लानो नागागदार्त्तितः ॥८६३॥
गणः स्थविर सन्ताश्चातुर्वर्ण्यकदम्बकम् ।
संघः स्याच्छीक्षकाचार्य शिष्यास्नायः कुलं मतम् ॥८६४॥
चिर प्रव्रजितः साधुर्यतिः शैषो हि संयमी ।
दीक्षोन्मुख मनोज्ञाख्योऽसंयतो वा सुदर्शनः ॥८६५॥

विद्याजात्यादि विख्यातो मिथ्यादृग्वाऽस्य संग्रहः ।
जिन प्रवचनस्यायं लोके गौरव कारकः ।।८६६।।

सम्यग्दर्शनादि गुणों के आधार भूत महापुरुष से भव्य जीव स्वर्ग, मोक्ष सुख दायक व्रतों को धारण कर आचरण करते हैं, वे आचार्य हैं ।

जिन व्रत शील भावनाशाली महानुभाव के समीप जाकर भव्यजन विनय-पूर्वक श्रुत का अध्ययन करते हैं, वे उपाध्याय हैं ।

मासोपवास आदि नाना तपों को तपने वाले तपस्वी हैं ।

श्रुतज्ञान के शिक्षण में तत्पर और सतत व्रत भावना में निपुण शैक्ष हैं ।

जिनका शरीर रोगों से आक्रान्त हैं, वे ग्लान हैं ।

स्थविरों की संतान गण हैं ।

दीक्षा देने वाले आचार्य की शिष्य परम्परा कुल है ।

चतुर्वर्ण श्रमणों के समूह को संघ कहते हैं ।

चिरकाल के दीक्षित पुराने साधक साधु हैं ।

अभि रूप को मनोज्ञ कहते हैं । अथवा लोक में जो विद्वान है वाग्मी है, महाकुलीन आदि जाति से प्रसिद्ध है, जिनका संघ में रहना प्रवचन गौरव का कारण है उसको मनोज्ञ कहते हैं । अथवा जो संस्कार सहित सुसंस्कृत असंयत सम्यग्दृष्टि हैं, वह भी मनोज्ञ हैं । इस ग्रन्थ में विद्या जाति आदि से विख्यात जिन धर्म की प्रभावना करने वाले भद्र परिणामी मिथ्यादृष्टि को भी मनोज्ञ में ग्रहण किया है । इनकी आपत्ति दूर करना वैयावृत्ति है ।

परिषह समाश्लेषेऽमीषां यक्षेमुषोमुदः ।
संपादनं त्रिरत्नाप्यैः वैयावृत्य त्रिशुद्धितः ।।८६७।।
आवासान पानाद्यैः प्रासुकैः क्लेशनाशिभिः ।
तदभावे स्वकायेन स्वोपकारानपेक्षया ।।८६८।।
विण्मूत्रश्लेष्म सिंघाण कादे र्देहाद पोहनात् ।
यत्नेनोत्क्षेपनिक्षेप परिवर्तक्रियादिभिः ।।८६९।।

इन मुनियों पर, व्याधि, परीषह, औषधि, आदि उपद्रव होने पर उनका प्रासुक आहार, पान, आश्रय, आसन, आवास, धर्मोपकरण आदि से प्रतिकार करना तथा संयम, सम्यक्त्वादि से च्युत होने पर उनको संयम और सम्यक्त्व मार्ग में दृढ़ करना

वैयावृत्य है । औषधि आदि के अभाव में प्रति उपकार की अपेक्षा नहीं करके अपने आपने हाथों से मल मूत्र, खंकार तथा नाकादि के भीतरी मल को दूर करना यत्न पूर्वक उठाना, बिठाना, परिवर्तन कराना आदि भी वैयावृत्ति है ।

अस्मिन्निर्विचिकित्सत्व वत्सलत्व सनाथता ।
यशोऽभ्युदयनिः श्रेयसुखाप्ति प्रमुखा गुणाः ।।८७०।।

वैयावृत्ति करने वाले मानव को निर्विचिकित्सता, वात्सल्यत्व सनाथता, यशोभ्युदय, निश्रेयः सुख की प्राप्ति आदि अनेक गुणों की प्राप्ति होती है । अर्थात् वैयावृत्ति करने वाले में निर्जुगुप्सा गुण होता है, क्योंकि निर्जुगुप्सा के बिना वैयावृत्ति नहीं होती है । वात्सल्य भाव प्रगट होता है । वात्सल्य के अभाव में वैयावृत्ति कर नहीं सकते तथा वैयावृत्ति कारक पवित्र यश संसार में फैलता है और वैयावृत्ति का फल स्वर्ग सम्पदा एवं मुक्ति पद प्राप्त होता है ।

स्वाध्याय तप का लक्षण—

स्वस्मै योऽसौ हितोऽध्ययः स्वाध्यायो वाचनादिकः ।
तपोवर्यमतो नान्यत्तपः सु द्वादशस्वपि ।।८७१।।

जो आत्मीय हितकारी शास्त्र वाचनादिक अध्ययन है, वह स्वाध्याय है । और बारह प्रकार के तपों में स्वाध्याय के समान दूसरा कोई तप नहीं है ।

नोर्ध्वमन्त मुंहूर्तात्सद्ध्यानमध्ययनं पुनः ।
सदैनो निर्जराकारि किन्तु न स्यात्कृतात्मनाम् ।।८७२।।

ध्यान अन्त मुंहूर्त से अधिक नहीं हो सकता है, परन्तु स्वाध्याय तो निरन्तर कर सकते हैं । जो पुण्यात्माओं के पाप की निर्जरा का कारण भूत है ।

मनः सदर्थे वाक्पाठेवर्णेऽक्षणी तच्छ्रुतौ श्रुती ।
प्रसक्ते किञ्चिकयेऽक्षेऽन्ये तदैकाग्र्य मिहाप्यलम् ।।८७३।।

स्वाध्याय परम ध्यान है, क्योंकि स्वाध्याय करते समय मन समीचीन अर्थ के विचार करने में लग जाता है, वचन पाठ करने में नेत्र वर्णों को देखने में और कर्ण शब्दों के सुनने में लीन हो जाते हैं तथा सर्व इन्द्रियां निष्क्रिय हो जाती हैं, इसलिये स्वाध्याय में पूर्ण एकाग्रता होती है, अतः एव स्वाध्याय परम तप है ।

अस्मात्तत्त्वपराभ्यासः प्रशमश्च विरागता ।
भवेत् प्रभावनैकांत वादिमान प्रमर्दनं ।।८७४।।

स्वाध्याय से तत्त्वों का अभ्यास होता है, प्रशम भाव वैराग्य की उत्पत्ति होती, स्वाध्याय के बल से एकांत वादियों के मान के मर्दन करने की शक्ति प्राप्त होती है तथा धर्म की प्रभावना भी होती है ।

व्युत्सर्ग का लक्षण—

शरीरान्तर्बहिः संग संग व्युत्सर्जनं मुनेः ।
व्युत्सर्गः स्यात्समीचीन ध्यान संसिद्धि कारणम् ।।८७५।।

अंतरंग और बहिरंग के भेद से परिग्रह दो प्रकार का है । उनमें अंतरंग शरीर का ममत्व क्रोधादि कषायों का त्याग करना अभ्यन्तर व्युत्सर्ग है और क्षेत्र, वस्तु आदि बहिरंग परिग्रह का त्याग करना बहिरंग व्युत्सर्ग मुनियों के ध्यान की सिद्धि का कारण है ।

ध्यान तप का लक्षण—

ध्यानं तपः परं चित्तैकार्थलीन प्रवर्त्तनं ।
कीर्त्यन्तेऽन्तर्मुहूर्त्तावस्थानं स्वर्ग मोक्ष साधनं ।।८७६।।

अन्त र्मुहूर्त पर्यन्त अवस्थान जिसका ऐसा चित्त का एकार्थ में लीन होकर प्रवर्त्त होना स्वर्ग मोक्ष का साधन ध्यान नामक सर्वोत्कृष्ट तप कहा जाता है ।

विशिष्ट मिष्टं घत्युदारं दूरस्थितं वस्त्वति दुर्लभं च ।
जैनं तपः कि बहुनोदितेन स्वर्गश्रियं चाक्षय मोक्ष लक्ष्मी ।।८७७।।

जैन तप के प्रभाव से अति दूरस्थ, अति दुर्लभ, इष्ट विशिष्ट वस्तु की प्राप्त होती है । और तो क्या स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति भी जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कथित तप के प्रभाव से होती है ।

दशलक्षण धर्म

(उत्तम क्षमा मार्दवार्जव शौच सत्य संयम तप स्त्यागाकिञ्च न्य ब्रह्म च यतिधर्मः । सर्वार्थसिद्धि, अ० ९, पेज नं. ४१२ पुज्यपादाचार्य कृत)

उत्तम क्षमा,मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य, ब्रह्मचर्य, यह दश प्रकार धर्म है । अब इन धर्मों का स्वरूप अलग-अलग कहते हैं ।

उत्तम क्षमा—शरीर की स्थिति के कारण की खोज करने के लिये, वह

विहार आदिक में ग्रामादिक को जाते समय साधु को दुष्ट जन गाली, गलौच करते हैं। उपहास करते हैं, तिरस्कार करते हैं, मारते पीटते हैं और शरीर को तोड़ते मरोड़ते हैं, तो भी उनके मन में किसी प्रकार की कलुषता उत्पन्न नहीं होती, कभी क्षुभित नहीं होते हैं, शांत चित रहते हैं, नाना प्रकार के कारण मिलने पर भी क्रोध नहीं करते, इसी का नाम उत्तम क्षमा है।

उत्तम मार्दव—जाति आदि आठ प्रकार के मदों के आवेशवश होने वाले अभिमान का अभाव करना मार्दव है, मार्दव का अर्थ है मान का नाश करना।

उत्तम आर्जव—योगों का वक्र न होना आर्जव है। आर्जव गुण का धारी मन से एक, वचन से एक, काय से एक रहता है।

उत्तम शौच—प्रकर्ष प्राप्त लोभ का त्याग करना, उत्तम शौच है। अनन्तानुबन्धी लोभ का कम करना।

उत्तम सत्य—अच्छे पुरुषों के साथ साधु वचन बोलना सत्य है।

उत्तम संयम—समितियों में प्रवृत्ति करने वाले मुनि के उनका परिपालन करने के लिये जो प्राणियों का और इन्द्रियों का परिहार होता है, वह संयम है।

उत्तम तप—कर्मक्षय के लिये जो तप तपा जाता है, उसे तप कहते हैं। वह तप बारह प्रकार का है, सो पीछे उसका वर्णन कर आये हैं।

उत्तम त्याग—जो संयमी के योग्य उपकरणों का दान करना त्याग है। यह दान चार प्रकार का है, सो वर्णन पीछे कर आये हैं।

उत्तम आकिञ्चन्य—जो शरीरादिक उपात्त हैं, उनमें भी संस्कार का त्याग करने के लिये 'यह मेरा है' इस प्रकार के अभिप्राय का त्याग करना आकिञ्चन्य है। इसका कुछ नहीं है, वह आकिञ्चन है, और उसका भाव या कर्म आकिञ्चन्य है।

उत्तम ब्रह्मचर्य—अनुभूत स्त्री का स्मरण न करने से, स्त्री विषयक कथा के सुनने का त्याग करने से और स्त्री से सटकर सोने व बैठने का त्याग करने से परिपूर्ण ब्रह्मचर्य होता है। अथवा स्वतन्त्र वृत्ति का त्याग करने के लिए गुरुकुल में निवास करना ब्रह्मचर्य है।

पंचाचार

दर्शन—सम्यग्दर्शन अर्थात् तत्त्वों में रुचि रखना, ज्ञान—जीवादि तत्त्वों के स्वरूप को जानना, चारित्र—पापक्रियाओं से विरक्त होना, तप—कर्म को दग्ध करने में समर्थ और शरीर तथा इन्द्रियों को संतप्त करने वाला बाह्य और आभ्यंतर भेद जिसके हैं। वीर्य—शक्ति, अस्थि और शरीर का सामर्थ्य, एतत्स्वरूपी वीर्य अथवा इनका जो अनुष्ठान, उसको आचार कहते हैं।

१. दर्शनाचार—जीवादि पदार्थों पर निःशंकितादि अंगों सहित श्रद्धान करना, अर्थात् जिससे सम्यग्दर्शन पहिचाना जायेगा, ऐसी क्रियायें करना, दर्शनाचार है। यहां दर्शन शब्द का अर्थ अवलोकन नहीं है क्योंकि जीवादि तत्त्वों पर श्रद्धान करना, यह प्रकरण यहां है।

२. ज्ञानाचार—पांच प्रकार की ज्ञानोत्पत्ति का कारण ऐसे शास्त्र का अध्ययन करना, उसका आदर करना, इत्यादि क्रिया ज्ञानाचार है।

३. चारित्राचार—प्राणि वध नहीं करना तथा इंद्रिय वश करने में प्रवृत्त होना चारित्राचार है।

४. तपाचार—काय क्लेशादिक करना तपाचार है।

५. वीर्याचार—शुभ कार्यों में सामर्थ्य रखना, उत्साह रखना।

इस प्रकार के पंचाचारों का वर्णन किया, षड् आवश्यकों का वर्णन पहले कर आये हैं, अब गुप्तियों का वर्णन करते हैं।

गुप्ति

मण वच्च काय पवुत्ती भिक्खू सावज्ज, कज्ज, संजुत्ता।
रिवप्पं णिवारयंतो तीहिंदु गुत्तो हवदि एसो ॥८७८॥

हिंसादि पाप कार्यों से मन की प्रवृत्ति, वचन का व्यापार और काय की व्यापारादि की चेष्टा को निवारण करने वाला साधु क्रम से, मनोगुप्ति युक्त, वचन गुप्ति युक्त और कायगुप्ति युक्त होता है।

मनोगुप्ति और वचन गुप्ति का विशेष लक्षण—

जा रायादिणिवत्ती मणस्स जाणाहि तं मणोगुत्ती।
अलियादिणियत्ति वा मोणं वा होदि वचिगुत्ती ॥८७९॥

रागद्वेष से उत्पन्न होने वाले सर्व संकल्पों का त्याग करने से मनोगुप्ति होती है और असत्य भाषण, कठोर भाषण, असभ्य भाषण आदि कुवचनों का त्याग करना अथवा मौनधारण करना वचनगुप्ति का लक्षण है। तात्पर्य—राग द्वेष पूर्वक होने वाले संकल्पों का त्याग करके मन को समता में रखना, अथवा धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान में स्थिर रखना मनोगुप्ति है। इशारा करके वचनाभिप्राय व्यक्त करने से वचनगुप्ति नहीं होती है। अतः इशारों का त्याग करके कठोर वचनादिकों का त्याग करना वचनगुप्ति है। अथवा मौन धारण करना वचन गुप्ति है, इस प्रकार मनोगुप्ति का विवेचन किया है।

कायगुप्ति का स्वरूप—

कायकिरियाणियत्ती काओसग्गो सरीर गुत्तीहि।
हिंसादिणियत्ती वा सरीरगुत्ती हवदि दिट्ठा ॥८८०॥

शरीर की चेष्टा नहीं करना अथवा कायोत्सर्ग करना, किंवा हिंसा, चोरी, मैथुन सेवनादि पापों का त्याग करना, शरीरगुप्ति है। गुप्ति का लक्षण आचार्य ऐसा कहते हैं, **सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि गुप्यन्ते, रक्ष्यन्ते यकाभिस्ता गुप्तयः** अथवा **'मिथ्यात्वा संयम कषायेभ्यो गोप्यते रक्ष्यते आत्मा यकाभिस्तागुप्तवः'** सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र रूपी रत्नत्रय का गोपय अर्थात् रक्षण जिनके द्वारा किया जाता है, उनको गुप्ति कहना चाहिये। अथवा जो मिथ्यात्व, असंयम और कषायों से आत्मा का रक्षण करती है, उनको गुप्ति कहते हैं। इस प्रकार आचार्य परमेष्ठि के छत्तिस मूल गुणों का वर्णन किया, आगे उपाध्याय परमेष्ठि के मूल गुणों का वर्णन करते हैं।

उपाध्याय परमेष्ठी

रयणत्तय संजुत्ता जिण कहिय पयत्थदेसया सूरा।
णिक्कंखव भाव सहिया उवझाया एरिसा होंति ॥८८१॥
(नियमसार, आचार्य कुन्दकुन्द)

रत्नत्रय से संयुक्त, जिनेंद्र देव द्वारा कथित पदार्थों का उपदेश देने वाले, शूर और निःकांक्षित भाव से सहित ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी होते हैं। और द्वादशांग के पाठी और शिष्यों को (मुनियों) पढ़ाने वाले होते हैं। समस्त श्रुतज्ञान के पाठी होते हैं।

श्रुत ज्ञान

१. पर्याय, २. पर्याय समास, ३. अक्षर, ४. अक्षर समास, ५. पद, ६. पदसमास, ७. संघात, ८. संघात समास, ९. प्रतिपत्ति, १०. प्रतिपत्ति समास, ११. अनुयोग, १२. अनुयोग समास, १३. प्राभृत-प्राभृत, १४. प्राभृत-प्राभृत समास, १५. प्राभृतक, १६. प्राभृतक समास, १७. वस्तु, १८. वस्तु समास, १९. पूर्व, २०. पूर्व समास, ये सब २० भेद द्वादशाङ्ग के अन्तर्गत ही होते हैं, अब इनका अलग-अलग खुलासा लिखते हैं।

१. पर्याय श्रुतज्ञान—

सूक्ष्म नित्यनिगोद के लब्ध्यपर्याप्तक जीव के पहले समय में जो श्रुतज्ञान होता है, उसको पर्याय श्रुतज्ञान कहते हैं।

यह ज्ञान सबसे जघन्य होता है 'लब्ध्यक्षर' इसका नाम है। श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम को 'लब्धि' कहते हैं। और जिस ज्ञान का कभी नाश न हो उसको 'अक्षर' कहते हैं। यह ज्ञान सदा बना रहता है, इसका कभी आवरण नहीं होता। यह ज्ञान एक अक्षर का अनंतवां भाग होता है। इसीलिए यह ज्ञान सबसे जघन्य कहा जाता है। यह ज्ञान सदा आवरण रहित रहता है। अतएव इतना ज्ञान सदा बना रहता है, यदि इसका अभाव मान लिया जाय तो जीव का नाश ही हो जाय। क्योंकि उपयोग ही जीव का लक्षण है। यदि उसका भी नाश मान लिया जायेगा, तो जीव का ही अभाव हो जायेगा। इसलिए जीव के कम से कम इतना ज्ञान अवश्य रहता है। सो ही लिखा है।

सुहुमणिगोद अपज्जत्त, यस्स जादस्स पढमसमयह्मि।
हवदि हु सव्वजहण्णं णिच्चुग्घाडं णिरावरणं ॥८८२॥

२. पर्याय समास—जब पर्याय श्रुत ज्ञान अनंतभाग वृद्धि असंख्यातभाग वृद्धि, संख्यात भाग वृद्धि, संख्यात गुण वृद्धि, असंख्या गुण वृद्धि, अनंत गुण वृद्धि, इस प्रकार षट् गुणी वृद्धि होते-होते जब असंख्यात लोक प्रमाण हो जाता है, तब उसको 'पर्याय समास' ज्ञान कहते हैं। अक्षर श्रुतज्ञान से पहले तक 'पर्याय समास' कहलाता है।

३. अक्षर श्रुतज्ञान—अकार आकार आदि अक्षर रूप श्रुत ज्ञान को अक्षर श्रुतज्ञान कहते हैं।

४. **अक्षर समास**—अक्षर श्रुतज्ञान से ऊपर पद श्रुतज्ञान से नीचे जो श्रुतज्ञान के भेद हैं, उनको 'अक्षर समास' कहते हैं।

५. **पदश्रुत**—अक्षर श्रुतज्ञान के आगे क्रम-क्रम से अक्षरों की वृद्धि होते-होते जब संख्यात अक्षरों की वृद्धि हो जाती है, तब उस ज्ञान को 'पदश्रुत ज्ञान' कहते हैं।

६. **पद समास**—पद श्रुतज्ञान के आगे संघात श्रुतज्ञान होने तक श्रुत ज्ञान के जितने भेद हैं, उन सबको 'पद समास' कहते हैं।

७. **संघात**—एकपद ज्ञान के आगे एक-एक अक्षर की वृद्धि होते, जब संख्यात हजार पदों की वृद्धि हो जाती है, तब यह संघात ज्ञान होता है, यह ज्ञान चारों गतियों में से किसी एक गति का वर्णन कर सकता है।

८. **संघात समास**—अक्षरों के द्वारा बढ़ता हुआ जो ज्ञान संघात लेकर प्रतिपत्ति श्रुतज्ञान तक जाता है, उसको 'संघात समास' श्रुतज्ञान कहते हैं।

९. **प्रतिपत्ति ज्ञान**—संघात समास में बढ़ते-बढ़ते जब संख्यात हजार संघातों की वृद्धि हो जाय तब प्रतिपत्ति श्रुतज्ञान होता है। इस ज्ञान के द्वारा चारों गतियों का स्वरूप वर्णन किया जा सकता है।

१०. **प्रतिपत्ति समास**—प्रतिपत्ति ज्ञान से आगे जब संख्यात प्रतिपत्ति रूप ज्ञान बढ़ जाता है, तब अनुयोग से पहले तक उसको 'प्रतिपत्ति समास' कहते हैं।

११. **अनुयोग**—प्रतिपत्ति समास से एक-एक अक्षर की वृद्धि होते जब संख्यात हजार प्रतिपत्ति की वृद्धि हो जाती है, तब एक अनुयोग श्रुतज्ञान होता है। इस ज्ञान से चौदह मार्गणाओं का स्वरूप जाना जाता है।

१२. **अनुयोग समास**—अनुयोग ज्ञान से आगे और प्राभृत-प्राभृत ज्ञान से पहले जितने ज्ञान के विकल्प हैं, सब अनुयोग समास हैं।

१३. **प्राभृत प्राभृत**—अनुयोग ज्ञान के आगे एक-एक अक्षर की वृद्धि होते-होते संख्यात अनुयोग होने पर प्राभृत-प्राभृत ज्ञान होता है। प्राभृत शब्द का अर्थ अधिकार है। वस्तु नामक श्रुतज्ञान के अधिकार को प्राभृत और उसके भी अधिकारों को प्राभृत-प्राभृत कहते हैं।

१४. **प्राभृत-प्राभृत समास**—प्राभृत-प्राभृत से आगे और प्राभृत से पहले तक श्रुतज्ञान के जितने विकल्प हैं, उन सबको 'प्राभृत-प्राभृत समास' कहते हैं।

१५. प्राभृत—प्राभृत-प्राभृत ज्ञान की वृद्धि होते-होते जब चौबीस प्राभृत हो जाते हैं, तब एक 'प्राभृत ज्ञान' होता है ।

१६. प्राभृत समास—प्राभृत से ऊपर और वस्तु से नीचे जो श्रुतज्ञान के विकल्प हैं, उन सब को 'प्राभृत समास' कहते हैं ।

१७. वस्तु श्रुत ज्ञान—प्राभृत ज्ञान की वृद्धि होते-होते जब बीस प्राभृत बढ़ जाते हैं, तब 'वस्तु श्रुतज्ञान' होता है ।

१८. वस्तु समास—वस्तु ज्ञान से ऊपर क्रम से अक्षर पदों की वृद्धि होते-होते दस वस्तु ज्ञान की वृद्धि हो जाय उसमें से एक अक्षर कम तक जो ज्ञान के विकल्प हैं, उनको वस्तु समास ज्ञान कहते हैं ।

१९. पूर्वश्रुत—पूर्व ज्ञान के चौदह भेद हैं । वस्तु समास के अन्तिम भेद में अक्षर मिलाने से उत्पाद पूर्व होता है ।

२०. उत्पाद पूर्व समास—उत्पाद पूर्व में भी वृद्धि होते-होते चौदह वस्तु पर्याय वृद्धि होने पर उसमें से एक अक्षर कम करने से उत्पाद पूर्व समास ज्ञान होता है ।

उसमें एक अक्षर बढ़ाने से अग्रायणीय पूर्व और उसकी वृद्धि होते-होते अग्रायणीय पूर्व समास होता है । इसी प्रकार आगे के पूर्व और पूर्व समास समझने चाहिये ।

इस प्रकार यह द्वादशांग श्रुतज्ञान अनन्त पदार्थों को विषय भूत करने से अत्यन्त गम्भीर है और अबाधित विषय होने से अत्यन्त श्रेष्ठ है, इस प्रकार की शास्त्र प्रणाली के अनुसार वह श्रुतज्ञान बारह प्रकार का है । ऐसे श्रुतज्ञान को मैं नमस्कार करता हूँ ।

श्रुतज्ञान के बारह भेदों का स्वरूप—

आचारं सूत्रकृतं, स्थानं समवाय नामधेयं च ।
व्याख्या प्रज्ञप्ति च, ज्ञातृकथोपासकाध्ययने ॥८८३॥
वन्देन्तकृद्दशः मनुत्तरोपपादिक दशं दशावस्थम् ।
प्रश्न व्याकरणं हि, विपाक सूत्रं च विनमामि ॥८८४॥

अंगप्रविष्ट श्रुत ज्ञान के बारह भेद हैं । उनके नाम ये हैं—१. आचारांग, २. सूत्रकृतांग, ३. स्थानांग, ४. समवायांग, ५. व्याख्या प्रज्ञप्त्यंग, ६. ज्ञातृकथांग,

७. उपासकाध्ययनांग, ८. अंतकृद्दशांग, ९. अनुत्तरोपपादिक दशांग, १२. प्रश्न व्याकरणांग, ११. विपाक सूत्रांग और १२. दृष्टि वादांग। इन बारह भेदरूप श्रुतज्ञान को मैं नमस्कार करता हूँ।

इन बारह अंगों की पद संख्या और स्वरूप

वस्तुत श्रुत ज्ञान के दो भेद हैं, एक द्रव्य श्रुत और दूसरा भाव श्रुत। द्रव्य श्रुत की रचना शब्दात्मक है, इसलिए उसकी पद संख्या कही जा सकती है; परन्तु भावश्रुत ज्ञानरूप है, इसलिये उसकी पद संख्या आदि कुछ नहीं कही जा सकती।

१. आचारांग—इसकी पद संख्या अठारह हजार और इसमें गुप्ति समिति आदि मुनियों के आचरणों का वर्णन है।

द्वादशांग श्रुतज्ञान में आचारांग को सबसे पहले स्थान मिला है। इसका कारण यह है कि मोक्ष का साक्षात् कारण मुनि मार्ग है। और वह गुप्ति समिति पंचाचार दशधर्म आदि रूप है। इन सबका वर्णन आचारांग में है। इसलिये सबसे पहले यही कहा है। अथवा भगवान् अरहंतदेव ने अपनी दिव्यध्वनि के द्वारा मोक्षमार्ग का निरूपण किया उसी को सुनकर गणधरदेव ने द्वादशांग श्रुतज्ञान की रचना की, उसमें से सबसे पहले मोक्ष का साक्षात् कारण होने के कारण अचारांग सबसे पहला अंग कहा है।

२. सूत्रकृतांग—इसमें ज्ञान की प्राप्ति के लिये ज्ञान का विनय और अध्ययन के कारण आदि का वर्णन है, इसकी पद संख्या छत्तीस हजार है।

३. स्थानांग—इसमें जीवादिक द्रव्यों के एक से लेकर अनेक स्थानों तक का वर्णन किया है। जैसे संग्रहनय से आत्मा एक है। संसारी मुक्त के भेद से दो प्रकार का है। उत्पाद व्यय ध्रौव्य की अपेक्षा तीन प्रकार का है। गतियों की अपेक्षा से चार प्रकार का है। औपशमिक, क्षायिक, क्षयोपशमिक, औदयिक, पारिणामिक भावों की अपेक्षा से पांच प्रकार का है। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर, नीचे इन छह दिशाओं की ओर (विग्रह गति में) गमन करने के कारण छह प्रकार का है। स्यात् अस्ति, स्यान्नास्ति आदि सप्त भंगों की अपेक्षा से सात प्रकार का है। आठ कर्मों के प्रतिक्षण आस्रव की अपेक्षा से आठ प्रकार का है। नव पदार्थ रूप स्वरूप की अपेक्षा

से नौ प्रकार का है। पृथ्वी कायिक, जल कायिक, वायु कायिक, अग्नि कायिक, प्रत्येक साधारण, दो इन्द्रिय, त्रि इन्द्रिय, चौ न्द्रिय, पंचेन्द्रिय के भेद से दस प्रकार का है, इस प्रकार जीव के अनेक भेद हैं।

इस प्रकार पुद्गल धर्म अधर्म आदि समस्त द्रव्यों के विकल्प समझने चाहिये। सब भेद स्थानांग में निरूपण किये गये हैं। इस अंग की पद संख्या बयालीस हजार है।

४. समवायांग—इसमें द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा से द्रव्यों में जो परस्पर समानता हो सकती है, वह दिखलाई है। जैसे १. धर्म द्रव्य, २. अधर्म द्रव्य ३ लोकाकाश और ४. एक जीव के प्रदेश समान हैं, यह द्रव्य की अपेक्षा समानता है। १. जंबूद्वीप, २. अप्रतिष्ठान नरक, ३. नन्दीश्वर द्वीप की बावड़ियां और ४. सर्वार्थसिद्धि विमान समान क्षेत्र के हैं। यह क्षेत्र कृत समानता है। १. उत्सर्पिणी, २. अवसर्पिणी दोनों का काल समान हैं। यह काल की समानता है। १. क्षायिक ज्ञान और २. क्षायिक दर्शन दोनों समान हैं। यह भावकृत समानता है। इस प्रकार समानता को निरूपण करने वाला समवायांग हैं। इसकी पद संख्या एक लाख चौसठ हजार है।

५. व्याख्या प्रज्ञप्त्यंग—जीव है अथवा नहीं है, इस प्रकार गणधर देव ने साठ हजार प्रश्न भगवान अरहंतदेव से पूछे। उन सब प्रश्नों का तथा उनके उत्तरों का वर्णन इस अंग में है। इसकी पद संख्या दो लाख अट्ठाईस हजार हैं।

६ ज्ञातृकथांग—इसमें भगवान् तीर्थंकर परमदेव और गणधर देवों की कथाओं का तथा उपकथाओं का वर्णन है। अन्य महापुरुषों की कथाएँ भी उसी में हैं। इसकी पद संख्या पांच लाख छप्पन हजार है।

७. उपासकाध्ययनांग—इसमें श्रावकों के समस्त आचरण, क्रिया, अनुष्ठान आदि का वर्णन है। इसकी पद संख्या ग्यारह लाख सत्तर हजार है।

८. अन्तकृद्दशांग—प्रत्येक तीर्थंकर के समय में दश-दश मुनीश्वर ऐसे होते हैं, जो भयंकर उपसर्गों को सहन कर समस्त कर्मों का नाश कर मोक्ष जाते हैं, उनका वर्णन इस अंग में है। संसार का अंत करने वाले दश-दश मुनियों का वर्णन जिसमें हो उसको अंत कृद्दशांग कहते हैं। इसकी पद संख्या तेईस लाख अट्ठाईस हजार है।

९. अनुत्तरोपपादिक दशांग—प्रत्येक तीर्थंकर के समय में दश मुनि ऐसे होते हैं, जो घोर उपसर्ग सहन कर समाधि मरण से अपने प्राणों का त्याग करते हैं और विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थ सिद्धि इन अनुत्तर विमानों में उत्पन्न

होते हैं। इन सबका वर्णन इस अंग में है। इनकी पद संख्या बानवे लाख चवालीस हजार है।

१०. प्रश्न व्याकरणांग—जो वस्तु खो गई है या मुट्ठी में है वा और कोई चिंता का विषय हो, उन सब प्रश्नों को लेकर उनका पूर्ण यथार्थ व्याख्यान वा समाधान का वर्णन इस अंग में है। इसकी पद संख्या तिरानवे लाख सोलह हजार है।

११. विपाक सूत्रांग—इसमें अशुभ कर्मों का उदय शुभ कर्मों का उदय तथा उनका फल वर्णन किया है। इसकी पद संख्या एक करोड़ चौरासी लाख है।

इस प्रकार ग्यारह अंगों की पद संख्या चार करोड़ पन्द्रह लाख दो हजार है। ऐसे श्रुतज्ञान को मैं नमस्कार करता हूं।

१२. बारहवें अंग दृष्टिवाद के लक्षण और भेद—

परिकर्म च सूत्रं च, स्तौमि, प्रथमानुयोग पूर्वं गते।
सार्द्धं चूलिकयापि च, पंचविधं दृष्टिवादं च ॥९॥

दृष्टिवाद नाम के बारहवें अंग के पांच भेद हैं। १. परिकर्म, २. सूत्र, ३. प्रथमानुयोग, ४. पूर्वगत और ५. चूलिका इन सबको मैं नमस्कार करता हूँ।

१. परिकर्म—जिसमें गणित की व्याख्या कर उसका पूर्ण विचार किया हो उसको परिकर्म कहते हैं। इसके पांच भेद हैं—१. चन्द्र प्रज्ञप्ति, २. सूर्य प्रज्ञप्ति ३. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, ४. द्वीप सागर प्रज्ञप्ति और ५. व्याख्या प्रज्ञाप्ति।

चन्द्र प्रज्ञप्ति—इसमें चन्द्रमा की आयु, गति, परिवार, विभूति आदि का वर्णन है, इसकी पद संख्या छत्तीस लाख पांच हजार है।

सूर्य प्रज्ञप्ति—इसमें सूर्य की आयु, गति, परिवार, विभूति ग्रहण आदि का वर्णन है। इसकी पद संख्या पांच लाख तीन हजार है।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति—इसमें जम्बूद्वीप सम्बन्धी सात क्षेत्र, कुलाचल पर्वत सरोवर नदियां आदि का वर्णन है। इसकी पद संख्या तीन लाख पच्चीस हजार है।

द्वीपसागर प्रज्ञप्ति—इसमें असंख्यात द्वीप समुद्रों का वर्णन है। उन द्वीप समुद्रों में रहने वाले अकृत्रिम चैत्यालय ज्योतिष व्यंतर आदि सबका वर्णन है। इसकी पद संख्या बावन लाख छत्तीस हजार है।

व्याख्या प्रज्ञप्ति—इसमें जीवाजीवादिक द्रव्यों का स्वरूप, उनका रूपी, अरूपीपना आदि का वर्णन है। इसकी पद संख्या चौरासी लाख छत्तीस हजार है।

२. **सूत्र**—इसमें जीव कर्मों का कर्त्ता है, उनके फल को भोक्ता है, शरीर परिमाण है, इत्यादि पदार्थों का यथार्थ स्वरूप निरूपण किया है, तथा यह जीव पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु से उत्पन्न नहीं हुआ है, अणु मात्र नहीं है, सर्वगत नहीं है, इत्यादि रूप से अन्य मतों के द्वारा माने हुए पदार्थों के स्वरूप का खंडन है, इसकी पद संख्या अठासी लाख है।

३. **प्रथमानुयोग**—इसमें त्रेसठ शलाका पुरुषों के चरित्र व पुराणों का निरूपण है। इसकी पद संख्या पांच हजार है।

४. **पूर्वगत**—इसमें समस्त पदार्थों के उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य आदि का वर्णन है। इसकी पद संख्या पिचानवे करोड़ पचास लाख पांच है।

५. **चूलिका के पांच भेद हैं**—जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता और आकाशगता।

जलगता—इसमें जल में गमन करने के लिये तथा जल का स्तम्भ करने के लिये जो कुछ मंत्र, तंत्र व तपश्चरण कारण है, उन सब का वर्णन है। इसकी पद संख्या दो करोड़ नौ लाख नवासी हजार दो सौ है।

स्थलगता—इसमें पृथ्वी पर गमन करने के कारण मंत्र तंत्र और तपश्चरणों का वर्णन है। पृथ्वी पर होने वाली जितनी वास्तु विद्याएँ हैं मकान बनाने आदि की विद्याएँ उन सबका वर्णन है। इसकी पद संख्या दो करोड़ नौ लाख नवासी हजार दो सौ है।

मायागता—इसमें इन्द्रजाल सम्बन्धी मंत्र, तंत्रों का वर्णन है, इसकी पद संख्या दो करोड़ नौ लाख नवासी हजार दो सौ है।

रूपगता—इसमें सिंह, व्याघ्र, हिरण आदि के रूप धारण करने के मंत्र, तंत्रों का वर्णन है तथा अनेक प्रकार के चित्र बनाने का वर्णन है। इसकी पद संख्या दो करोड़ नौ लाख नवासी हजार दो सौ है।

आकाशगता—इसमें आकाश में गमन करने के कारण मंत्र तंत्र और तपश्चरण का वर्णन है। इसकी पद संख्या दो करोड़ नौ लाख नवासी हजार दो सौ है।

पूर्वगत के भेद और लक्षण

यद्यपि पूर्वगत की स्तुति कर चुके हैं, तथापि उसके अनेक भेद हैं, इसलिये उन सब भेदों को कहते हुए उस पूर्वगत की फिर भी स्तुति करते हैं।

पूर्वगतं तु चतुर्दश, घोदितमुत्पाद पूर्व माद्यमहम् ।
आग्रायणीयमीषे, पुरुवीर्यानुप्रवादं च ॥८८५॥
संततमहमभिवंदे, तथास्तिनास्ति प्रवादं पूर्वं च ।
ज्ञान प्रवाद सत्य, प्रवाद मात्म प्रवादं च ॥८८६॥
कर्म प्रवाद मीडेऽथ, प्रत्याख्यान नामधेयं च ।
दशमं विधाधारं, पृथुविद्यानुपवादं च ॥८८७॥
कल्याण नामधेयं, प्राणांवायं क्रियाविशालं च ।
अथलोक बिंदुसार वंदे लोकाग्र सारपदं ॥८८८॥

पूर्वगत के चौदह भेद हैं, उनके नाम ये हैं— १. उत्पाद पूर्व, २. आग्रायणीय पूर्व, ३. वीर्यानुवाद पूर्व, ४. अस्ति-नास्ति प्रवाद पूर्व, ५. ज्ञानप्रवाद पूर्व, ६. सत्यप्रवाद पूर्व, ७. आत्मप्रवाद पूर्व, ८. कर्मप्रवाद पूर्व, ९. प्रत्याख्यान पूर्व, १०. विद्यानुवाद पूर्व, ११. कल्याणवाद १२. प्राणानुवाद पूर्व, १३. क्रिया विशाल १४. लोक बिंदुसार।

१. उत्पाद पूर्व—इसमें जीवादिक पदार्थों के उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप धर्मों का वर्णन है। इसकी पद संख्या १ करोड है।

२. आग्रायणीय पूर्व—इसमें प्रधान व मुख्य पदार्थों का निरूपण है। दुर्नय सुनय और द्रव्यों का वर्णन है। इसकी पद संख्या छियानवे लाख है।

३. वीर्यानुवाद—इसमें चक्रवर्ती, इन्द्र, धरणेन्द्र, केवली आदि की सामर्थ्य का महात्म्य दिखलाया है। इनकी पद संख्या सत्तर लाख है।

४. अस्ति-नास्ति प्रवाद—इसमें अनेक प्रकार से छहों द्रव्यों के अस्तित्व और नास्तित्व आदि धर्मों का वर्णन है। इसकी पद संख्या साठ लाख है।

५. ज्ञान प्रवाद—इसमें पांचों ज्ञानो का तथा तीनों मिथ्या ज्ञानों के स्वरूप का वर्णन है। उसके प्रगट होने के कारण उनके आधार वा पात्र [जिनके वह ज्ञान होता है] आदि का वर्णन है। उसके पद संख्या निन्यानवे हजार नौ सौ निन्यानवे है।

६. सत्य प्रवाद—इसमें वचन गुप्ति का वर्णन है, वचनों का संस्कार किस प्रकार होता है उसका वर्णन है, कंठ, तालु आदि उच्चारण स्थानों का वर्णन है, जिनके बोलने की शक्ति उत्पन्न हो गई है ऐसे दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय जीवों के शुभ, अशुभ वचनों के प्रयोगों का वर्णन है। इसकी पद संख्या एक करोड़ छह है।

७. आत्म प्रवाद—इसमें जीव के ज्ञान, सुख और कृतत्व आदि धर्मों का वर्णन है। इसकी पद संख्या छब्बीस करोड़ है।

८. कर्म प्रवाद—इसमें कर्मों का बंध, उदय, उदीरणा, उपशम और निर्जरा आदि का वर्णन है। इसकी पद संख्या एक करोड़ अस्सी लाख है।

९. प्रत्याख्यान पूर्व—इसमें द्रव्य और पर्यायों के त्याग का वर्णन है। उपवास करना, व्रत, समिति, गुप्ति, पालन करना, प्रतिक्रमण, प्रतिलेख, विराधना विशुद्धि आदि का वर्णन है। इसकी पद संख्या चौरासी लाख है।

१०. विद्यानुवाद—इसमें सात सौ लघु विद्या, पांच सौ महाविद्याओं का वर्णन है। आठों महानिमित्तों का वर्णन है तथा इन सब विद्याओं का साधन का वर्णन है। इसकी पद संख्या एक करोड़ दस लाख है।

११. कल्याणवाद—इसमें तीर्थंकर परमदेव चक्रवर्ती बलदेव नारायण आदि के गर्भ कल्याणक, जन्म कल्याणक आदि का वर्णन है। इसकी पद संख्या छब्बीस करोड़ है।

१२. प्राणानुवाद—इसमें प्राण, अपान के विभाग का वर्णन है, आयुर्वेद शास्त्र, मंत्र शास्त्र, गारुडीविद्या आदि का वर्णन है। इसकी पद संख्या तेरह करोड़ है।

१३. क्रिया विशाल—इसमें बहत्तर कलाओं का वर्णन है तथा छंद शास्त्र और अलंकार शास्त्र का वर्णन है। इसकी पद संख्या नौ करोड़ है।

१४. लोक बिन्दुसार—इसमें लोक में सबसे प्रधान और सार भूत जो मोक्ष है उसके सुख, साधन और उसको करने के लिये कहे गये समस्त अनुष्ठानों का वर्णन है। इसकी पद संख्या बारह करोड़ पचास लाख है।

इन पूर्वों के अधिकार तथा प्रत्येक अधिकार के प्राभृत आदि का वर्णन—

दश च चतुर्दश चाष्टा, अष्टादश च द्वयोर्द्विषष्टकं च।
षोडश च विंशति च, त्रिंशत मपि पंचदश च तथा ॥८९०॥

ऊपर जो उत्पादपूर्व आदि चौदह पूर्व कहे हैं उनमें नीचे लिखे अनुसार अधिकार हैं। उत्पाद पर्व के दश अधिकार हैं। आग्रायणीय के चौदह, वीर्यानुवाद के आठ, अस्ति नास्ति प्रवाद के अठारह, ज्ञान प्रवाद के बारह, सत्य प्रवाद के बारह, आत्म प्रवाद के सोलह, कर्म प्रवाद के बीस, प्रत्याख्यान पूर्व के तीस, विद्यानुवाद के पन्द्रह, कल्याणवाद के दश, प्राणानुवाद के दश, क्रिया विशाल के दश और लोक बिंदुसार के दश अधिकार हैं।

वस्तूनि दश दशान्येष्वनुपूर्वं भाषितानि पूर्वाणाम्।
प्रतिवस्तु प्राभृतकानि, विंशति विंशति नौमि ॥८९१॥

ये सब मिलकर एक सौ पिचानवे अधिकार होते हैं। इन सब अधिकारों को वस्तु कहते हैं। एक-एक वस्तु वा अधिकार में बीस-बीस प्राभृत होते हैं इस प्रकार एक सौ पिचानवे अधिकारों में उन्तालीस सौ प्राभृत होते हैं। तथा एक-एक प्राभृत में चौबीस प्राभृत-प्राभृत होते हैं सब प्राभृत प्राभृतों की संख्या तिरानवे हजार छः सौ होती है।

पूर्व १४, वस्तु १९५, प्राभृत ३९००, प्राभृत प्राभृत ९३६०० होते हैं। इन सबको मैं भक्ति पूर्वक नमस्कार करता हूँ।

आगे आग्रायणीय पूर्व के चौदह अधिकार अथवा वस्तु कही जाती हैं उनके नाम पूर्व परम्परा से उपलब्ध हो रहे हैं। इसलिये आचार्य उनका वर्णन करते हैं।

पूर्वान्तं ह्यपरान्तं, ध्रुवमध्रुवच्यवन लब्धि नामानि।
अध्रुव संप्रणिधिं चा, प्यर्थं भौमावयाख्यं च ॥८९२॥
सर्वार्थं कल्पनीयं, ज्ञानमतीतं त्वनागतं कालं।
सिद्धिमुपाध्यं च तथा, चतुर्दश वस्तूनि द्वितीयस्य ॥८९३॥

इस दूसरे आग्रायणीय नाम के पूर्व के चौदह अधिकार हैं, उनके नाम ये हैं— पूर्वान्त, अपरान्त, ध्रुव, अध्रुव, च्यवनलब्धि, अध्रुव संप्रणिधि, अर्थ भौमावय, सर्वार्थ कल्पनीय, ज्ञान, अतीत काल, अनागत काल, सिद्धि और उपाध्य। ये नाम आचार्य परम्परा से चले आ रहे हैं। इनको भी मैं नमस्कार करता हूँ।

आगे इस आग्रायणीय पूर्व के चौदह अधिकारों में से पांचवां अधिकार 'च्यवनलब्धि' है उसके चौथे अध्याय का नाम 'कर्म प्रकृति' है, उसके चौबीस अनुयोग हैं, उनके नाम आचार्य परम्परा से चले आ रहे हैं आगे उन्हीं की स्तुति करते हैं।

पंचमदस्तु चतुर्थं, प्राभृतकस्यानुयोग नामानि ।
कृतिवेदने तथैव, स्पर्शन कर्म प्रकृति मेव ॥८६४॥
बंधन निबंधन प्र, क्रमानुपक्रम मथाभ्युदयमोक्षौ ।
संक्रमलेश्ये च तथा, लेश्याया: कर्म परिणामौ ॥८६५॥
सातम सातं दीर्घं, ह्रस्वभवधारणीय संज्ञं च ।
पुरु पुद्गलात्म नाम च, निधत्तनिधत्तमभि नौमि ॥८६६॥
सनिकाचित मनिकाचित, मथ कर्मस्थितिक पश्चिमस्कंधौ ।
अल्प बहुत्वं च यजे, तद्द्वाराणां चतुर्विशम् ॥८६७॥

१. कृति, २. वेदना, ३. स्पर्शन, ४. कर्म, ५. प्रकृति, ६. बन्धन, ७. प्रक्रम, ८. अनुपक्रम, ९. अभ्युदय, १०. मोक्ष, ११ संक्रम, १२. द्रव्य लेश्या, १३. भाव लेश्या, १४. सात, १५. असात, १६. दीर्घ, १७. ह्रस्व, १८. भवधारणीय, १९. पुरु पुद्गलात्म, २०. निधत्तमनिधत्त, २१. सनिकांचित मनिकांचित, २२. कर्म स्थितिक, २३. पश्चिम स्कंध, २४. अल्प बहुत्व ये चौबीस अनुयोग हैं ये चौबीसों अनुयोग अथवा पच्चीस अनुयोग आग्रायणीय पूर्व के पांचवे च्यवन लब्धि नाम के अधिकार के कर्म प्रकृति नामक चौथे प्राभृत कहे जाते हैं । इनको मैं भक्ति पूर्वक नमस्कार करता हूं ।

द्वादशांग श्रुत ज्ञान की पद संख्या—

कोटीनां द्वादशशत, मष्टापंचाशतं सहस्राणाम् ।
लक्षञ्च शीतिमेवच, पंच च वंदे श्रुत पदानि ॥८६८॥

इस प्रकार समस्त द्वादशांग की पद संख्या एक सौ बारह करोड़, तीरासी लाख, अट्ठावन हजार पांच है । इस श्रुत ज्ञान को मैं सदा नमस्कार करता हूँ ।

आगे एक एक पद में कितने कितने अक्षर होते हैं—

षोडश शतं चतुस्त्रिंशत, कोटीनां त्र्यशीति लक्षाणि ।
शतसंख्याष्टा सप्तति, मष्टाशीतिं च पदवर्णान् ॥८६९॥

पद तीन प्रकार के होते हैं । १. अर्थ पद, २. प्रमाण पद, ३. मध्यम पद । कहने वाले का अभिप्राय जितने अक्षरों से पूर्ण हो जाय उतने अक्षरों का एक अर्थ पद होता है । इस पद के अक्षर नियत नहीं है । किसी पद में अधिक अक्षर होते हैं और किसी में कम । जैसे 'अग्नि लाओ' इसमें थोड़े अक्षर हैं और 'सफेद गाय को अपनी जगह पर बांध दो' इसमें अधिक अक्षर हैं ।

आठ अक्षर वा इससे अधिक अक्षरों के समुदाय को प्रमाण पद कहते हैं। इससे अङ्गबाह्य श्रुत की संख्या कही जा सकती है। जैसे अनुष्टुप श्लोक के प्रत्येक चरण में आठ अक्षर होते हैं।

अंग प्रविष्ट श्रुत की संख्या के निरूपण करने वाले जो पद हैं उनको मध्यम पद कहते हैं। इस श्लोक में उन्हीं मध्यम पद के अक्षरों की संख्या का प्रमाण कहते हैं। सोलह सौ चौंतीस करोड़ तिरासी लाख, अठत्तर सौ अठासी अक्षर अर्थात् सोलह अरब चौंतीस करोड़, तिरासी लाख, सात हजार, आठ सौ अठासी अक्षर एक-एक मध्यम पद के होते हैं।

समस्त श्रुतज्ञान के अक्षरों की संख्या इकट्ठी प्रमाण है—

अर्थात् १८४४६७४४०७३७०९५५१६१६ इतने अक्षर हैं।

इसमें मध्य पद के अक्षरों का भाग देना चाहिए जो फल आये वह द्वादशांग की पद संख्या समझनी चाहिये। तथा जो अक्षर बाकी रहते हैं, वे अक्षर अङ्गबाह्य श्रुत ज्ञान के समझने चाहिये। जो अक्षर बाकी रह जाते हैं उनसे मध्यपद बन नहीं सकता इसीलिये वे अक्षर अंग बाह्य के समझे जाते हैं। उनकी संख्या आठ करोड़, एक लाख, आठ हजार, एक सौ पिचहत्तर हैं। उस अंग बाह्य के अनेक भेद हैं उन्हीं की स्तुति करते हैं :—

अङ्गबाह्य के अनेक भेदों का स्वरूप—

सामायिकं चतुर्विंशति, स्तवं वंदना प्रतिक्रमणं।
वैनयिकं कृति कर्म च, पृथुदशवैकालिकं च तथा ॥९००॥
वरमुत्तराध्ययनमपि, कल्प व्यवहारमेवमभिवंदे।
कल्पाकल्पं स्तौमि, महाकल्पं पुंडरीकं च ॥९०१॥
परिपाट्या प्रणिपतितोऽस्यहं महापुंडरीकनामेयं।
निपुणान्य शीतिकं च, प्रकीर्णकान्यंग बाह्यानि ॥९०२॥

अंग बाह्य श्रुत ज्ञान के चौदह भेद हैं, उनके नाम ये हैं—१. सामायिक २. चतुर्विंशति स्तव, ३. वंदना, ४. प्रतिक्रमण, ५. वैनयिक, ६. कृति-कर्म, ७. दशवैकालिक, ८. उत्तराध्ययन, ९. कल्प व्यवहार, १०. कल्पाकल्प, ११. महाकल्प, १२. पुंडरीक, १३. महापुंडरीक, १४. अशीतिक इन्हीं को प्रकीर्णक कहते हैं। इनमें पदार्थों का स्वरूप अत्यंत सूक्ष्म रीति से वर्णन किया है। ऐसे इन चौदह प्रकीर्णकों को मैं बड़ी विनय के साथ वंदना करता हूँ।

१. **सामायिक**—गृहस्थ वा मुनि जो नियत काल तक अथवा अनियत काल तक समता धारण करते हैं, उसको सामायिक कहते हैं। उनका जिसमें वर्णन हो वह सामायिक प्रकीर्णक है।

२. **चतुर्विंशतिस्तव**—वृषभादि चौबीस तीर्थंकरों के आठ प्रतिहार्य चौंतीस अतिशय, चिन्ह तथा अनंत चतुष्टय आदि की स्तुति करना स्तव है। उसका जिसमें वर्णन हो वह चतुर्विंशति स्तव है।

३. **वंदना**—पंच परमेष्ठियों में से प्रत्येक की अलग अलग वंदना करना वंदना है। उसका जिसमें वर्णन हो वह वंदना है।

४. **प्रतिक्रमण**—जिसमें सात प्रकार के प्रतिक्रमण का वर्णन हो उसको प्रतिक्रमण कहते हैं। यथा (१) दैवसिक–जिनके दोषों को निराकरण करने वाला प्रतिक्रमण। (२) रात्रिक–रात्रि के दोषों का निराकरण करने वाला प्रतिक्रमण (३) पाक्षिक–पद्रह दिन के दोषों के निराकरण करने वाला प्रतिक्रमण (४) चातुर्मासिक प्रतिक्रमण–जिसमें चार महीने के दोषों का निराकरण हो। (५) सांवत्सरिक प्रतिक्रमण–जिसमें एक वर्ष के दोषों का निराकरण हो। (६) ऐर्यापथिक–जिसमें ईर्यापथ संबंधी दोषों का निराकरण। (७) उत्तमार्थिक–जिसमें समस्त पर्याय संबंधी दोषों का निराकरण किया जाय। इस प्रकार सात प्रकार के प्रतिक्रमणों का वर्णन जिसमें हो उसको प्रतिक्रमण प्रकीर्णक कहते हैं।

५. **वैनयिक**—जिसमें ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय, तप विनय और उपचार विनयों का वर्णन हो उसको वैनयिक प्रकिर्णक कहते हैं।

६. **कृति कर्म**—जिसमें दीक्षा देने और दीक्षा लेने का विधान हो उसको कृति कर्म कहते हैं।

७. **दश वैकालिक**—द्रुम, पुष्पित आदि दश दश अधिकारों के द्वारा इसमें मुनियों के समस्त आचरणों का वर्णन है।

८. **उत्तराध्ययन**—इसमें अनेक प्रकार के उपसर्ग सहन करने और उनको सहन करने के फलों का वर्णन है।

९. **कल्पाकल्प**—इसमें मुनियों के योग्य आचरणों का तथा उन आचरणों से च्युत होने पर योग्य प्रायश्चित का वर्णन है।

१०. **कल्पाकल्प**– इसमें गृहस्थ और मुनियों के योग्य आचरणों का वर्णन

है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा का विशेष समय के अनुसार योग्य आचरणों का निरूपण इसमें किया गया है।

११. **महाकल्प**—दीक्षा, शिक्षा, गणपोषण, आत्मसंस्कार, भावना, उत्तमार्थ ये छह कालभेद माने हैं। इनके अनुसार इसमें मुनिओं के आचरणों का निरूपण है।

१२. **पुण्डरीक**—इसमें भवनवासी, व्यंतर आदि देवों में उत्सन्न होने के कारण तपश्चरण का वर्णन है।

१३. **महापुण्डरीक**—इसमें देव, देवांगना, अप्सरा आदि स्थानों में उत्पन्न होने के कारण का वर्णन है।

१४. **अशीतिक**—इसमें मनुष्यों की आयु और सामर्थ्य के अनुसार स्थूल दोष और सूक्ष्म दोषों के प्रायश्चित्तों का वर्णन है।

इस प्रकार ये चौदह प्रकीर्णक कहलाते हैं। इनमें अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थों का वर्णन है, इसीलिये इनको निपुण कहते हैं। ये अङ्ग बाह्य इतने ही हैं। न इनसे कम हैं और न इनसे अधिक हैं, ऐसे इस अंग बाह्य को मैं नमस्कार करता हूँ। इस प्रकार श्रुतज्ञान के पाठी उपाध्याय परमेष्ठि होते हैं।

(श्रुतभक्ति, आ. पूज्यपाद कृत)

तपस्वी का लक्षण—

महोपवासादिक का अनुष्ठान करने वाले तपस्वी कहलाते हैं, ये १० प्रकार के होते हैं।

शैक्ष्य—

जो निरंतर शिक्षाशील रहते हैं, उन्हें शैक्ष्य कहते हैं।

ग्लान—

रोग आदि से क्लान्त शरीर वालों को ग्लान कहते हैं।

गण—

स्थविरों की संतति को गण कहते हैं।

कुल—

दीक्षकाचार्य के शिष्य समुदाय को कुल कहते हैं।

संघ—

चार वर्ण के श्रमणों को संघ कहते हैं।

साधु—

चिरकाल से प्रव्रजित को साधु कहते हैं।

मनोज्ञ—

लोक में जिनकी प्रशंसा बढ़ रही है उन्हें मनोज्ञ कहते हैं।

मुनियों की समाचार नीति

तनोति संपदं नीतिर्यद्वत्त द्वद्गण श्रियम् ।
सत्प्रियां या समाचार नीतिः सा कोर्त्यतेऽधुना ॥९०३॥

जिस प्रकार नीति महान सम्पदा को देने वाली है, उसी प्रकार समाचार नीति महान गुण श्री को देने वाली है। वह मुनियों की समाचार नीति अब कही जाती है।

समाचार की निरुक्ति—

समः समानः सं सम्यगाचारो यः समेयुंतेः ।
आचार्यंत इति प्राज्ञैः स समाचार ईरितः ॥९०४॥

रागद्वेष के अभाव रूप समताभाव है वह समाचार है, अथवा सम्यक् अर्थात् आचार रहित जो मूलगुणों का अनुष्ठान आचरण है वह समाचार है, अथवा प्रमत्तादि समस्त मुनियों का अहिंसादि रूप आचार है वह समाचार है, अथवा सब क्षेत्रों में हानिवृद्धि रहित कायोत्सर्गादिक सदृश परिणाम रूप आचरण है वह समाचार है।

सम्यक् आचरण के प्रकार—

एषः संक्षेपविस्तार द्विभेदो दशभेदगः ।
संक्षेपोऽनल्पभेदोऽन्य आदिभेदा इमे दशः ॥९०५॥

समाचार अर्थात् सम्यक् आचरण दो ही प्रकार के हैं—१. औद्यिक २. पद-विभागिक। औद्यिक के दश भेद होते हैं और पदविभागिक समाचार अनेक प्रकार का है।

औद्यिक समाचार के भेद—

इच्छामिथ्या तथा कारेच्छा वृत्यासो निषिद्धिकः ।
आप्रच्छन्नं प्रतिप्रश्नश्च निमंत्रण संश्रयौ ॥९०६॥

इच्छाकार, मिथ्याकार, तथाकार, इच्छावृत्ति, आशिका, निषिद्धिका, आपृच्छा, प्रतिपृच्छा, सनिमंत्रणा और संश्रय इस तरह से औद्यिक समाचार के दश भेद हैं।

इच्छाकार—

पुस्तकातापयोगादेर्या याञ्चा विनयान्विता ।
स्वपरार्थं यतीन्द्राणां सेच्छाकारः प्ररूपितः ॥६०७॥

पिच्छिका आदि संयम के उपकरण, शास्त्रादि ज्ञानोपकरण, कमण्डलु शौचोपकरण, औषधि आदि के ग्रहण और आतापन योगादि के करने के लिए गुरु से जो विनय पूर्वक याचना की जाती है, वह इच्छाकार है ।

मिथ्याकार—

यन्मया दुष्कृतं पूर्वं तन्मिथ्याऽस्तु न तत्पुरः ।
करोमीति मनोवृत्ति मिथ्याकारोऽति निर्मलः ॥६०८॥

जो व्रतादिक में अतिचार रूप पाप मैंने किया हो, वह मिथ्या हो, ऐसे मिथ्या किये हुए पाप को फिर करने की इच्छा नहीं करता और मनरूप अंतरंग भाव से प्रतिक्रमण करता है, उसी के दुष्कृत मिथ्याकार होता है ।

तथाकार—

तत्त्वाख्यानोपदेशादौ नान्यथा भगवद्वचः ।
तत्तथेत्यादरेणोक्ति स्तथाकारो गुणाकारः ॥६०९॥

तत्त्वाख्यान के उपदेश आदि में भगवान के वचन अन्यथा नहीं है, जैसा भगवान कहते हैं, वैसा ही है, इस प्रकार आदर पूर्वक कहना, गुणों को करने वाला तथाकार है ।

भगवान सर्वज्ञ ने जो कहा है, वह सत्य है, क्योंकि भगवान अन्यथा वादी नहीं है । ऐसा दृढ़ विश्वास करना तथाकार है ।

इच्छानुवृत्ति—

पूर्वोक्तानशनातापयोगोपकरणादिषु ।
सेच्छावृत्ति र्गणीच्छानुवृत्तिर्या विनयास्पदा ॥६१०॥

पूर्व में गृहीत उपवास, आतापन, योग पुस्तकादि उपकरणों में जो गुरु की इच्छानुकूल वृत्ति है, वह विनय का स्थान इच्छानुवृत्ति है ।

आचार्य आदि के द्वारा दी हुई पुस्तक आदि उपकरण के ग्रहण में गुरु की इच्छानुकूल प्रवृत्ति करना इच्छानुवृत्ति (छंदन) है ।

आशीका—

स्थिता वयमियत्कालं यामः क्षेमोदयोस्तु ते ।
इतीष्टाशंसनं व्यंतरादेराशी निरुच्यते ॥९११॥

इतने काल तक यहां पर ठहरे थे, अब हम जा रहे हैं, तेरा कल्याण हो, इस प्रकार व्यंतरादिकी प्रशंसा करना इष्ट आंशी कही जाती है ।

किसी गुफा, शून्य मकान, पर्वत की कन्दरा आदि में ठहरकर पुनः वहां से निकलते समय कहना कि हे व्यंतर देवों, हम इतने काल तक यहां पर ठहरे थे, अब हम जा रहे हैं, तुम्हारा कल्याण हो इस प्रकार के वचनों से व्यंतरादि देवों को आशीर्वादात्मक वचन कहना आंशी है ।

निषिधिका—

जीवनां व्यन्तरादीनां बाधायै यन्निषेधनम् ।
अस्माभिः स्थीयते युष्मदृष्ट्यैवेति निषिद्धिका ॥९१२॥

व्यन्तरादि जीवादि की बाधा के लिये जो निषेध है कि हे व्यन्तर देवों ! हम लोगों के द्वारा तुम्हारी दृष्टि से ही ठहरा जाता है, इस प्रकार कहना निषिद्धिका है ।

किसी जिन मंदिर, शून्य गृह, पर्वत की कन्दरा आदि में प्रवेश करते समय हे व्यंतर देव! हम लोग यहां ठहरना चाहते हैं । तुम्हारी दृष्टि से हमारा स्थान निर्विघ्न हो ऐसा कहना निषिद्धिका है । अर्थात् किसी स्थान में प्रवेश करते समय निःसहि–२ का उच्चारण करना तथा वहां से निकलते समय आसहि–२ का उच्चारण करना आसिका और निषिद्धिका है ।

प्रवासावसरे कन्दरावासादे निषिद्धिका ।
तस्मान्निर्गमने कार्या स्यादाशीर्वैरहारिणी ॥९१३॥

कन्दरावासादि के प्रवेश के समय निषिद्धिका तथा उस स्थान से निकलते समय वैर विरोध को नाश करने वाली आसिका करना चाहिए ।

शून्य मकान आदि में प्रवेश करते समय निषिद्धिका और निकलते समय आसिका करना चाहिये, यह आसिका और निषिद्धिका विरोध की नाशक है । अन्यथा देवों के साथ विरोध होने की संभावना है ।

आप्रच्छना—

ग्रंथारंभकचोल्लोचकाय शुद्धि क्रियादिषु ।
प्रश्नः सूर्यादिपूज्यानां भवत्या प्रच्छनं मुनौ ॥९१४॥

ग्रन्थ का आरम्भ, केशलोंच, आदि काय शुद्धि की क्रिया में आचार्यादि पूज्य पुरुषों को पूछना मुनि में आप्रच्छन होती है ।

किसी शास्त्र का आरम्भ, केशलोंच आदि क्रिया करना हो तो आचार्य को पूछकर करना चाहिये, इसी को प्रच्छना कहते हैं ।

प्रतिप्रच्छा—

यत्किंचन महत्कार्यं कार्यं पृष्ट्वा यतीश्वरान् ।
विनयेन पुनः प्रश्नः प्रतिप्रश्नः प्रकीर्तितः ॥९१५॥

जो कुछ छोटा या बड़ा कार्य हो उसको आचार्यों को विनयपूर्वक पूछकर पुनः प्रश्न करना प्रतिप्रश्न कहा जाता है ।

जो कुछ महान् कार्य हो वह गुरु प्रवर्तक स्थविरादिक से पूछकर करना चाहिए, उस कार्य के करने के लिए दूसरी बार उनसे तथा अन्य साधर्मी साधुओं से पूछना वह प्रतिपृच्छा है, ऐसा जानना चाहिये ।

आनिमंत्रण—

पुस्तकादौ पुरा दत्ते स्वात्मार्थे यन्निवेदनम् ।
जिघृक्षायां पुनः सूरि प्रमुखेष्वानिमंत्रणम् ॥९१६॥

पूर्व में दी हुई पुस्तक आदि में स्व के लिये स्वीकार करने के लिये पुनः ग्रहण करने की इच्छा होने पर आचार्य आदि से जो निवेदन किया जाता है, वह आनिमंत्रण है ।

पूर्व गुरु आदि को दी गई अपनी पुस्तक वा उसकी पुस्तकादि कोई वस्तु पुनः ग्रहण करने की इच्छा हो तो विनय पूर्वक याचना करके लेना चाहिये अथवा पूर्व ग्रहण की हुई पुस्तकादि को पुनः देते समय कोई अब हमें नहीं चाहिये, ऐसा विनय पूर्वक निवेदन करना आनिमंत्रण है ।

संश्रय का स्वरूप और भेद

विनय क्षेत्र मार्गाणां संश्रयः सुखदुखयोः ।
सूत्रस्य क्षेत्ययं पंच प्रकारः संश्रयः स्मृतः ॥९१७॥

विनय, क्षेत्र, मार्ग का, सुख-दुख का और सूत्र का इस प्रकार यह पांच प्रकार का संश्रय कहा गया है ।

गुरुजनों के लिए मैं आपका हूं, इस प्रकार आत्मसमर्पण करना संश्रय है । तथा यह विनय संश्रय, क्षेत्र सश्रय, मार्ग संश्रय, सुख या दुख संश्रय और सूत्र संश्रय के भेद से पांच प्रकार का है ।

विनयसंश्रय--

वीक्ष्याऽऽगन्तु कमायांतं यपिमुत्थाय संभ्रमात् ।
पदानि सप्त गत्वा च कृत्वा तद्योग्यवन्दनम् ॥६१८॥
मार्ग श्रान्तिम पोह्यासन प्रदानादियत्नतः ।
त्रिरत्नसुस्थितादीनां प्रश्नो विनय संश्रयः ॥६१९॥

आये हुए आगन्तुक मुनि को देखकर शीघ्र ही उठकर, सात पैर उसके सम्मुख जाकर और उसके योग्य वन्दना करके, आसन प्रदान आदि के यत्न से मार्ग के खेद को दूर करके रत्नत्रय की कुशल पूछना विनय संश्रय है ।

अन्य संघ के मुनि को अपने संघ में आता हुआ देखकर शीघ्र ही उठकर सात पैर उसके सम्मुख जाकर उसका सत्कार करना, तदनन्तर आसन प्रदान करना, पैर दबाकर मार्ग के खेद को दूर करना, आपका आगमन कहाँ से हुआ है ? आपका स्थान कहा है ? आपके गुरु का नाम क्या है ? आपको रत्नत्रय की कुशलता है, आदि पूछना विनय संश्रय है ।

क्षेत्रसंश्रय--

व्यक्त्वा दुर्नृपमक्षमापं पापं पापिजनाकुलम् ।
देशं दीक्षोन्मुखापेतं दुर्भिक्षं क्लेशदायकम् ॥६२०॥
निर्बाधिसस्यवद्यत्र वर्द्धते गुणमण्डलम् ।
क्षेत्रसंश्रयणं तत्राऽऽवासश्चेतः सुखावहः ॥६२१॥

पृथ्वीरक्षा नहीं करने वाला दुराचारी राजा, सावद्य युक्त पापीजनों से भरे हुए दीक्षा का सम्मुखता से रहित, दुर्भिक्ष से व्याप्त, क्लेश दायक देश को छोड़कर जिस देश मे निर्बाधि सस्य के समान गुणों का समूह वृद्धिगत होता है, उस क्षेत्र में चित्त को सुखकारी आवास करना क्षेत्र संश्रय है ।

जिस क्षेत्र में राजा नहीं है, अथवा पापी राजा है, क्षेत्र पापाचार या पापी-

जनों से व्याप्त है, जो दुर्भिक्ष से पीड़ित हैं, दीक्षा के सन्मुखता से रहित है ऐसे क्षेत्र को छोड़कर, जिस देश में निर्विघ्न व्रतों के समूह का पालन होता है, उस क्षेत्र में रहना क्षेत्रसंश्रय है ।

मार्गसंश्रय—

आगन्तुक मुने र्मार्ग यातागमन जातयोः ।
यः सुखा सुखयोः प्रश्नः सोऽयं स्यान्मार्गसंश्रयः ॥९२२॥

आगन्तुक मुनि के मार्ग में गमनागमन से उत्पन्न हुए सुख-दुख में जो प्रश्न पूछना है, वह यह मार्गसंश्रय है ।

आगन्तुक मुनि के मार्ग में गमनागमन से उत्पन्न हुए सुख-दुख के विषय में प्रश्न पूछना, यह मार्ग संश्रय है ।

सुखासुखसंश्रय—

चौर क्रूर गदोर्वीश पीड़िताद्यति वर्त्तिनाम् ।
तोषोत्कर्षेण माहार भेषजायतनादिभिः ॥९२३॥
स्वात्मार्पणं महं तुभ्यस्मीति च सुखेऽसुखे ।
यत्तच्चित प्रसादार्थं तत्सुखासुख संश्रयः ॥९२४॥

चोर, क्रूर, प्राणी, रोग, राजा आदि से पीड़ित होने से दुखी यतिगणों को आहार, औषध, आयतन आदि के द्वारा सन्तुष्ट करना, सुख में और दुख में मैं तुम्हारे लिए हूं इस प्रकार जो आत्म समर्पण करना है, वह उसके चित्त को प्रसन्न करने के लिए वह सुखासुखसंश्रय है ।

जिस क्षेत्र में व्रत, संयम, तप की विराधना होती है, दुर्जन राजा व अगामी जनों के निमित्त से परिणामों में आकुलता होती है, उस क्षेत्र को छोड़कर तप, संयम के वृद्धि कारक क्षेत्र में निवास करना, क्षेत्रसंश्रय है ।

आगन्तुक मुनि के मार्ग में उत्पन्न हुई सुख-दुख की वार्ता पूछना, मार्गसंश्रय है, तथा मार्ग में उनको किसी चोर ने वा किसी दुष्ट प्राणी ने पीड़ित किया है अथवा कोई रोग उत्पन्न हुआ हो, तो उसको औषधि, आसन, उपकरण आदि देकर दूर करना और आप आकुलित न हों, सुख दुख में मैं आपका ही हूँ इस प्रकार आत्म समर्पण करना सुख-दुख-संश्रय है ।

पुरा स्वगुरु पादान्ते शास्त्रं श्रुत्वाऽखिलं पुन. ।
जिज्ञासायां स्वलोकान्यथा ग्रन्थातिशये मुनिः ॥९२५॥
भक्त्योपेत्य गुरुन्नत्वा युष्मत्पाद प्रसादतः ।
अन्यन्मुनीन्द्र वृन्दं ते द्रष्टुं वांछः प्रवर्त्तते ॥९२६॥
इत्येवं बहुशः स्पृष्ट्वा लब्ध्वाऽनुज्ञां गुरोर्व्रजेत् ।
व्रतिनैकेन वा द्वाभ्यां बहुभिः सह नान्यथा ॥९२७॥

प्रथम अपने गुरु के चरणों में सर्वशास्त्रों को सुनकर पश्चात् ग्रन्थों के अतिशय के लिये दूसरे ग्रन्थों को पढ़ने की इच्छा होने पर मुनि भक्ति से गुरु के समीप जाकर नमस्कार करके आपके चरणों के प्रसाद से मेरी दूसरे मुनि समूह के दर्शन करने की इच्छा है, इस प्रकार बार बार पूछकर गुरु की अनुमति को प्राप्त कर एक मुनि दो या बहुत से मुनियों के साथ जावे अकेला नहीं जावे ।

सूत्र, अर्थ और सूत्रार्थ के जानने के प्रयत्न को सूत्रसंश्रय कहते हैं । उसके अर्थ को जानने का प्रयत्न करना अर्थ संश्रय है । सूत्रार्थ का जानने का प्रयत्न करना उभय संश्रय है । इसी को मूलाचार में उपसंपत् कहा है । उसी में सूत्र संश्रय, अर्थ संश्रय, उभय संश्रय, लौकिक, वैदिक और सामायिक के भेद से तीन-तीन प्रकार का कहा है । व्याकरण गणित आदिक लौकिक सूत्र हैं । सिद्धान्त शास्त्र वैदिक कहलाते हैं । स्याद्वाद-न्याय शास्त्र अथवा अध्यात्मिक शास्त्र सामायिक हैं । जिसने पूर्व में स्वकीय गुरु से सर्व सिद्धान्तों को जान लिया है, पुनः विशेष शास्त्रों के जानने की इच्छा होने पर विनयशील मुनिभक्ति और आदरपूर्वक अपने गुरु के पास जाकर बार-बार प्रार्थना करता है कि हे गुरुदेव, आपके प्रसाद से यद्यपि मैंने सारे सिद्धान्त को जान लिया है फिर भी विशिष्ट ज्ञान को प्राप्त करने के लिए मैं सकल शास्त्र के पारंगत अन्य आचार्यों के समीप जाना चाहता हूँ, इस प्रकार बार-बार प्रार्थना करे । तदनन्तर गुरु की अनुमति से एक-दो या बहुत से मुनियों के साथ वह दूसरे आचार्य के समीप जाने के लिए विहार करे ।

एकाकी विहार

ज्ञान संहनन न स्वांत भावना बलवन्मुनेः ।
चिर प्रव्रजितस्यैक विहारस्तु मतः श्रुते ॥९२८॥

एतद् गुण गणापेतः स्वेच्छाचारतः पुमान् ।
यस्तस्यैकाकिता मा भून्मम जातु रिपोरपि ॥६२६॥

बहुत काल के दीक्षित ज्ञान, संहनन, स्वांत भावना से बलशाली मुनि के एकाकी विहार करना शास्त्रों में माना है, परन्तु जो इन गुण समूह से रहित स्वेच्छाचार में रत पुरुष है, उस मेरे शत्रु के भी एकाकी विहार की भी नहीं हो ।

जो ज्ञान बल, संहनन बल, मनोबल और शुभ भावना से युक्त है, वह एकाकी विहार कर सकता है । ज्ञान बल, विशिष्ट आध्यात्मिक ज्ञान का धारी है । संहनन बल, उत्कृष्ट संहनन का धारी हो अर्थात भूख, प्यास सहन करने की शक्ति वाला हो, आत्मानुभूति से अपने मन को वश में करने वाला हो, चिरकाल का दीक्षित हो ऐसा विशिष्ट मुनि एकाकी विहार करने वाला हो सकता है । परन्तु जिसमें यह गुण नहीं है, जो स्वेच्छाचार में रत रहता है अर्थात् सोने, बैठने, मलमूत्र के त्यागने में वस्तु के ग्रहण करने में स्वच्छन्द होकर प्रवृत्ति करता है ऐसा मुनि कभी एकाकी विहार न करे ।

आचार्य खेद के साथ कहते हैं कि इन गुणों से रहित साधु मेरा शत्रु भी हो तो भी एकाकी विहार न करे ।

एकाकी विहार से हानि—

श्रुत संतान विच्छित्तिर नवस्था यमक्षयः ।
आज्ञाभंगश्च दुष्कीर्तिस्तीर्थस्य स्याद्गुरोरपि ॥६३०॥
अग्नितोयग राजीर्णसर्प क्रूरादिभिः क्षयः ।
स्वस्याप्यार्त्ता विकाक्षेक विहारेऽनुचिते यतः ॥६३१॥

क्योंकि अनुचित एकाकी विहार करने पर श्रुतज्ञान के संतान की विच्छित्ति अनवस्था संयम का नाश तीर्थ और गुरु की भी आज्ञा का भंग और अपयशस्कीर्त्ति अग्नि, जल, विष, अजीर्ण और सर्पादिक क्रूर प्राणियों के द्वारा आर्तध्यान से अपना नाश होगा ।

एकाकी विहार करने से संयम का घात, श्रुत का विच्छेद, दीक्षा देने वाले गुरु की निन्दा, जिन शासन में कलंक, मूर्खता, कुशीलता आदि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं तथा जो स्वच्छन्द होकर एकाकी विहार करते हैं, वे कंटक, चोर, क्रूर पशुओं के द्वारा पीड़ित होते हैं, उनका अजीर्ण रोगादि से आर्त्तध्यान युक्त होकर मरण होता

है। अनेक प्रकार की आपत्तियों का सामना करना पड़ता है। इसलिए एक, दो, तीन या बहुत से मुनियों के साथ विहार करना चाहिये। एकाकी विहार नहीं करना चाहिये।

पांच प्रकार के मुनिओं का आश्रय क्यों करें—

अतश्चैतः सूर्योपाध्याय प्रवर्तक स्थविरान्वितम्।
गणं गणधरोपेतमुपेयादीदृशाश्चते ॥९३२॥

अतः ऐसे साधु अपने संघ से निकलकर आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्त्तक, स्थविर से युक्त गणधर वाले गण को प्राप्त करें।

गुरु की अनुमति लेकर वह तपस्वी दो, तीन मुनियों के साथ अन्य संघ में जाता है, जिसमें आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, प्रवर्त्तक और गणधर यह पांच मुनि होते हैं।

संघ प्रवर्तक का लक्षण—

प्रभावनाधिकोऽबाधमन्नाद्यैः संघवर्त्तकः।
जगदादेय वाग्मूर्तिसंवर्तकः कालदेशवित् ॥९३३॥

अधिक प्रभावनाकारी अन्न आदि के द्वारा अबाधित रूप से संघ का प्रवर्त्तक देशकाल को जानने वाला जगत में आदेय है, वचन मूर्ति जिसकी ऐसा प्रवर्त्तक साधु होता है।

जो देशकाल का ज्ञाता है, निर्दोष रूप से अन्न औषधि आदि के द्वारा संघ का पोषण करता है, सारे प्राणियों के द्वारा जिनके वचन माननीय हैं, जो जिन धर्म का प्रभावक है, वह प्रवर्त्तक कहलाता है।

स्थविर और गणी का लक्षण—

समय स्थिति सद्गीतिः स्थविरः स्थादगुणस्थिरः।
गणरक्षाक्षम सूरिर्गणी गणधरः स्मृतः ॥९३४॥

समय की स्थिति को जानने वाला स्थिर गुण वाला स्थविर गण की रक्षा करने में समर्थ गुणी आचार्य गणधर कहलाते हैं।

जो दीक्षादि देकर शिष्यों के उपकार करने में चतुर हो वह आचार्य है, जो धर्म का उपदेश देते हैं, शास्त्र पढ़ाते हैं, वे उपाध्याय हैं जो चर्या आदि के द्वारा संघ का उपकार करते हैं, वे प्रवर्त्तक हैं, जो संघ की रीति, स्थिति, प्राचीन परम्परा की

मर्यादा को जानते हैं, वे स्थविर और जो गण को पालते हैं, रक्षा करते हैं, वे गणधर कहलाते हैं।

आगन्तुक मुनि के साथ संघ व आचार्य परस्पर एक दूसरे के साथ कैसा व्यवहार करें–

तं प्राप्य तद्गणाधीश मभ्यायांतं सहात्मनः ।
गणेनाऽऽज्ञानति स्थीकारेच्छावात्सल्य कारणैः ॥९३५॥
प्रीत्या प्रेक्ष्याति भक्त्या तं प्रणम्य गणमप्यथ ।
मार्गातिचार नियमं निवर्त्यान्याः क्रिया अपि ॥९३६॥
वंदित्वा गणनं गणमप्युचित क्रियया दिनम् ।
तद्विश्रम्य द्वितीयेऽह्नि तृतीये वासरेऽथवा ॥९३७॥
गण्यिनं गुणिनं संघ गुण संगमवेत्य तम् ।
दयादम शमावश्यक क्रिया करणादिषु ॥९३८॥
सूरिं संश्रित्य नत्वेष्टं स्वस्य विज्ञापयेच्छनैः ।
दत्वाऽस्मै चेतनाचेतनोपधिमाजितोपधिम् ॥९३९॥

अपने गण के साथ सन्मुख आये हुए उस गण के अधीश को प्राप्त कर आज्ञा, मति स्वीकार की इच्छा, वात्सल्य आदि कारणों के द्वारा प्रीति से परीक्षा करके अति भक्ति से उस गण को नमस्कार कर इसके बाद मार्ग के अतिचार के नियम को और अन्य भी क्रियाओं को निवृत्त कर योग क्रियाओं से सूरि को और संघ को नमस्कार कर उस दिन को विश्रांति लेकर दूसरे दिन में अथवा तीसरे दिन में दया, दम, शम, आवश्यकादि क्रियाकरण आदि में गुणशाली संघ के गुणों का समूह उस आचार्य को जानकर सूरि के समीप में बैठकर नमस्कार करते हुए मार्ग में प्राप्त हुई चेतन, अचेतन उपधि को उस आचार्य के लिए देकर अपने इष्ट को धीरे-धीरे विज्ञापन करे।

शास्त्रज्ञान का इच्छुक संयमी अपने गुरु की अनुमति लेकर आचार्य, उपाध्याय प्रवर्तक, स्थविर, गणी से शोभित पर संघ में जाते हैं, पर संघ के साधु उस आगन्तुक मुनि को देखकर सात पैर उसके सम्मुख जाकर तथा परस्पर में नमस्कार करके रत्नत्रय कुशल पूछते हैं। तदनन्तर आगन्तुक मुनि और संघ के मुनि परस्पर में एक दूसरे की आज्ञापालन नमस्कार स्वीकार, इच्छा, वात्सल्यादि कारणों के द्वारा परीक्षा करके प्रीति और अतिभक्ति से आचार्य को नमस्कार करके आगन्तुक के मुनि मार्ग के

अतिचारों को दूर कर, उचित क्रिया से एक दिन विश्रान्ति देकर सारी दैनिक आवश्यक क्रियाओं में तथा प्रतिलेखन क्रिया में परस्पर दो तीन दिन तक परीक्षा करते हैं। तदन्तर दूसरे या तीसरे दिन जाकर साधु आचार्य को नमस्कार कर उनके समीप बैठ जाय। तदनन्तर मार्ग में शिष्य आदि चेतन, पुस्तक कमण्डलु आदि अचेतन कोई भी वस्तु प्राप्त हुई हो तो आचार्य को अर्पण कर दे। उसके बाद अति विनय भावों से धीरे-धीरे अपने आने के कारण को आचार्य से निवेदन करे।

गुरु सन्तान चारित्र शुद्धो शास्त्रो यदीतरः।
कृत्वा छेदमुपस्थापनादि शुद्धश्च नेतरः ॥६४०॥

गुरु की सन्तान और चारित्र जिसका शुद्ध है, ऐसा वह आगन्तुक मुनि ग्रहण करने योग्य है और जो गुरु सन्तान, चारित्र से शुद्ध नहीं है, वह छेद करके उपस्थापनादि से शुद्ध है, वह ग्राह्य है। जो प्रायश्चित लेकर शुद्ध नहीं हुआ हो, वह ग्राह्य नहीं है।

आगन्तुक यति की गुरु परम्परा और चारित्र शुद्ध हो तो आचार्य उसको ग्रहण करे। यदि चारित्र आदि में अशुद्धि हुई हो तो प्रायश्चित देकर पुनः व्रतों की उपस्थापना करे। यदि आगन्तुक मुनि प्रायश्चित ग्रहण नहीं करे तो उसे स्वीकार नहीं करे और उसको अपने संघ में आश्रय नहीं दे।

छोड़ने योग्य श्रोता—

शिला भग्न घटा जावि डालमृच्चालिनी शुकैः।
मशका चाहिमहिषैरपि श्रोतान् समान त्यजेत् ॥६४१॥

शिला, भग्नघट, अजा, बिडाल, मिट्टी, चालनी, तोता, मशक, सर्प, भैंसा के समान श्रोताओं को छोड़ देवें।

शिला, भग्नघट, बकरी, बिडाल, मिट्टी, चालनी, तोता, मशक, सर्प, भैंसा आदि के समान श्रोताओं को छोड़ दें अर्थात् उनको समझाने की चेष्टा नहीं करे।

मिट्टी—सुनते समय ही प्रभावित होने वाले, बाद में जो सुने और समझकर उस पर आचरण नहीं करने वाले। झाड़ू—सार ग्राहक असार को छोड़ने वाला। भैंसा—सुना, ना सुना दोनों बराबर। हंस—विवेकशील। शुक—जितना सुना उतना ही बिना समझे याद रखने के समान होता है। बिल्ली—चालाक पाखण्डी। बगुला—अर्थात् सुनने का ढोंग करने वाले। मशक—वक्ता तथा सभा को परेशान करने में

प्रवीण। बकरा–देर में समझने वाले तथा कामी। जौंक–दोषग्राही। अन्य कुछ श्रोताओं के उदाहरण, सैकड़ों छेदयुक्त घड़े या फूटे घड़े–इस कान सुना उस कान निकाल दिया। पशु–किसी का जोर पड़ा तो कुछ सुन समझ लिया। सर्प–कुटिल। शिला–प्रभावशाली से दिये जा सकते हैं। इस प्रकार संसार के सभी श्रोता चौदह प्रकार के होते हैं।

जो विवेकी श्रोता सांसारिक भोगविलास रूपी फलों की स्वप्न में भी इच्छा नहीं करता तथा मोक्ष लक्ष्मी की प्राप्ति करने का अडिग तथा अकम्प निर्णय करके प्राणिमात्र के लिए कल्याणकारी जिन धर्म की विशाल कथा को सुनता है, उस मनुष्य के सब ही पापों का निःसन्देह समूल नाश हो जाता है।

मोहादिना निषिद्धस्य श्रोतुर्मन्दमतेरपि ।
सति प्राज्ञे विनीतेऽस्मिन् यो व्याख्याति नराधमः ॥६४२॥
भिन्न रत्नत्रयो यान पात्रोऽसौ भूरि गौरवात् ।
विधृत बोधिः संसार वारि राशौ निमज्जति ॥६४३॥

जो नीच इस विनीत शिष्य के होने पर भी मोहादि के कारण विद्वानों के द्वारा निषिद्ध मन्दमति श्रोता को भी उपदेश देता है। नष्ट हो गया है रत्नत्रयरूपी यान पात्र जिसका और नष्ट हो गया है ज्ञान जिसका ऐसा वह आचार्य महान् गौरव होने से संसार रूपी समुद्र में डूब जाता है।

जो आचार्य विद्वानों के द्वारा निषिद्ध श्रोता को धर्म का उपदेश देता है, अध्ययन कराता है, उसकी रत्नत्रय रूपी नौका नष्ट हो जाती है और वह संसार समुद्र में डूब जाता है।

सूत्र संश्रय का लक्षण—

संचित्येति स्थित स्थानं तपः कालं गुरुं कुलम् ।
पृष्ट्वा श्रुतं नाम एवं प्रतिक्रमणादिकम् ॥६४४॥
शयनासनयनादौ प्रेक्ष्य वृतं दिनत्रयम् ।
निश्चित्य गुरुश्चारित्र शुद्धि तत्सूरिसम्मतः ॥६४५॥
स्वशक्ति मुक्त्वा व्याख्यादौ तद्व्याख्यातं पठेच्छ्रुतं ।
स्वस्येष्टं प्रश्रयादेतत्पठनं सूत्र संश्रयः ॥६४६॥

इस प्रकार विचार कर रहने के स्थान काल तप गुरु कुल श्रुत अपने सुने

हुए नाम और प्रतिक्रमणादि को पूछकर तीन दिन तक शयन आसनादि में आचरण की परीक्षा करके चारित्र की शुद्धि को निश्चय कर गुरु उसके आचार्य की सम्मति से अपनी शक्ति को कहकर व्याख्यान आदि में कहे गये श्रुत को पढ़े। विनय से अपने इष्ट को पढ़ना यह सूत्रसंश्रय है।

सर्व प्रथम आचार्य आगन्तुक मुनि के रहने के स्थान और गुरु के कुल को पूछे तथा तुमको दीक्षा लिये कितने दिन हुए हैं, तुमने प्रतिक्रमण कहां-कहां किये हैं, तुम्हारे गुरु का क्या नाम है आदि सभी क्रिया पूछकर तीन दिन तक उसकी सामायिक आदि क्रियाओं का निरीक्षण करे। पीछे सूक्ष्म दृष्टि से उसके चारित्र और गुरु की शुद्धि का निर्णय करे, तथा आगन्तुक व्रती भी तीन दिन नूतन संघ के आचार्य वा संघस्थ साधुओं की चारित्र शुद्धि व कुल शुद्धि का निर्णय करे। तदनन्तर आचार्य की अनुमति से व्याख्यानादि में कथित श्रुत का अध्ययन करे। इस प्रकार विनय पूर्वक उस संघ में जाकर विधि पूर्वक आचार्य के समीप शास्त्रों का अध्ययन करना सूत्रसंश्रय है।

विस्तार समाचार विधि—

सविस्तार समाचारनैक भेदोऽत्र वर्ण्यते ।
उदाहरण मात्रेण विश्वं को वक्तुमीश्वरः ॥६४७॥
रात्रि दिवं यमिध्वार्ये यत्कर्माचर्यते वरम् ।
तद्विस्तार समाचार इति येन जिनोदितः ॥६४८॥

विस्तार सहित समाचार के अनेक भेद हैं। इस ग्रन्थ में उदाहरण मात्र से वर्णन किया जाता है, क्योंकि सम्पूर्ण समाचार विधि को कहने के लिए कौन समर्थ है ? जिसके द्वारा साधुओं में, आर्यिकाओं में जो श्रेष्ठ क्रिया रात दिन आचरण की जाती है, इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान द्वारा कथित विस्तार समाचार है।

पूर्व में संक्षेप समाचार विधि कही है। इस समय उसके भेद वाले विस्तार समाचार विधि का उदाहरण मात्र कथन करते हैं। क्योंकि सम्पूर्ण समाचार विधि का कथन करने के लिए कौन समर्थ है ? मुनि आर्यिकाओं को जो रात्रि और देवसिक क्रिया जिनेन्द्र ने कही है, वह विस्तार समाचार विधि है।

क्रियाकलापमल्पाल्प सूत्राण्याचार वर्णनम् ।
पठेद्य पुराणानि त्रिकलो स्थिति कीर्तनम् ॥६४९॥

सिद्धांतं तर्क मंगं गबाह्यादेशार्थं देशनम् ।
स्वीय शक्त्यनुसारेण भक्त्या मोक्षैक कांक्षया ।।६५०।।

इसके बाद अपनी शक्ति के अनुसार भक्ति पूर्वक मोक्ष की अद्वितीय आकांक्षा से रत्नत्रयधारी क्रियाकलाप को अल्पाल्प सूत्रों को आचरण वर्णन करने वाले शास्त्रों को, पुराणों को, स्थिति कीर्तन तर्कशास्त्र अंगबाह्य, अंगप्रविष्ट का कथन करने वाले सिद्धान्त ग्रन्थों को पढ़े ।

क्रियाकलाप जिसमें श्रावक और मुनियों के क्रियाओं का वर्णन हो अल्पाल्प सूत्र–जिसमें अल्प अक्षर हों और बहुत विषय का वर्णन हो । आचार वर्णन–जिसमें गृहस्थ और मुनियों के चरित्र का वर्णन हो । पुराण–जिसमें त्रेसठ शलाका पुरुषों का वर्णन हो । स्थिति कीर्तन–जिसमें मोहनीय आदि सारे कर्मों की सर्व प्रकृतियों का जघन्य उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन हो । सिद्धान्त ग्रन्थ–षट्खंड आदि सिद्धान्त ग्रन्थ जिनमें गुणस्थान, मार्गणा, जीव समास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, उपयोग आदि सारे सिद्धान्तों का वर्णन हो । प्रमाण, नय के द्वारा जिसमें वस्तु की सिद्धि की जाती है वह तर्क शास्त्र हैं । गणधर के द्वारा पदों में रचित बारह अंग हैं । दश वैकालिक आदि अंग बाह्यग्रन्थ हैं । साधु अपनी शक्ति के अनुसार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की शुद्धिपूर्वक उन शास्त्रों का अध्ययन करे ।

रुचिश्चार्वी चरित्राणां शरणं शरणं सताम् ।
महत्व सत्व गांभीर्य धैर्यादि गुण भूषणः ।।६५१।।
चिर प्रव्रजितो दांतः प्रव्यक्त समय स्थितिः ।
दया वात्सल्य साकल्यः शांतोऽयं गणितोचितः ।।६५२।।

समीचीन चारित्रों की रक्षा करने वाला, शरणभूत श्रेष्ठ श्रद्धान वाला, महानता, सत्व, गम्भीरता, धैर्यादि गुणों से भूषित, चिरकाल का दीक्षित, इन्द्रियविजयी, लोकस्थिति का ज्ञाता, दया, वात्सल्यादि से परिपूर्ण, क्षमाशील यह साधु आचार्य पद के योग्य है ।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र का धारी, सत्वधारी, गम्भीर, धीर, वीर, इन्द्रियविजयी, क्षमाशील, लोक व्यवहारक साधु ही आचार्य पद के योग्य होता है ।

इति सूर्यपिताचार्यपदः सन् संघसम्मतः ।
प्रायश्चितादि शास्त्राणि रहस्यानि पठेदथ ।।६५३।।

इस प्रकार शास्त्रों का अध्ययन कर लेने पर संघ की सम्मति से आचार्य के द्वारा अर्पित किया गया है, आचार्य पद जिसको, ऐसा साधु रहस्यभूत प्रायश्चित आदि शास्त्रों को पढ़े।

पूर्व में गुरु के समीप पुराण, सिद्धान्त आदि शास्त्रों का अध्ययन करे। तदनन्तर आचार्य के द्वारा आचार्य पद अर्पण करने के बाद रहस्यभूत प्रायश्चित ग्रंथों का अध्ययन करें।

यः शिष्यत्वमकृत्वैव सूरितां कर्तुमीहते।
सः स्यादुन्मार्ग गस्तीक्ष्णोवाऽशिक्षित तुरंगमः ॥६५४॥

जो साधु शिष्यत्व को स्वीकार नहीं करके आचार्यत्व प्राप्त करने की चेष्टा करना चाहता है, वह अशिक्षित घोड़े के समान तीक्ष्ण उन्मार्गगामी हो जाता है।

सर्वं सत्व गुणक्लेशिनिर्गुणेषु करोत्वलम्।
मैत्री प्रमोद कारुण्यमाध्यस्थ्यानि यथाक्रमम् ॥६५५॥

साधुओं को सर्व जीवों के साथ मैत्री भाव, गुणीजनों के साथ प्रमोद भाव, दुःखी दीन जनों के प्रति कारुण्य भाव तथा दुर्जन, क्रूर, कुमार्गगामी के प्रति माध्यस्थ भाव रखना चाहिए।

जिनान् सिद्धान् गणाधीशानुपाध्यायञ्जगद्गुरून्।
साधून् धर्मं जगच्चधर्मकरं वन्देत् नेतरान् ॥६५६॥

दिगम्बर साधु अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्व साधु, जिन धर्म, जिनबिम्ब और जिन शास्त्रों को ही नमस्कार करें। इनके सिवाय अन्य लोगों को (पाखण्डियों को) नमस्कार नहीं करें।

क्षुधार्तो भयजृम्भेष्टार्थारभस्खलने बुधैः।
शयने विस्मयादौ च स्मर्तव्यो वृजिनो जिनः ॥६५७॥

बुद्धिमानों को भूख, प्यास, दुःख, भय में और जंभाई आदि के आने पर, अपने इष्ट कार्य में स्खलित हो जाने पर, शयन में तथा विस्मयादि के हो जाने पर जिनेन्द्र भगवान का स्मरण करना चाहिए।

आचार्यादिक को वंदना करने का क्रम—

सुखेनासीनभव्याग्रं सूरिं वंदेत् सम्मुखम्।
वंदेऽहमिति विज्ञाप्य हस्तमात्रांतर स्थितिः ॥७५८॥

प्रमृज्य कर्तरीस्पर्शात्माष्टांगान्यवनोमपि ।
पश्चवन्देशय्ययाऽऽनम्य सपिच्छांजुलि भालक ॥९५९॥

अनाकुल होकर सुख पूर्वक बैठे हुए आचार्य के सन्मुख एक हाथ दूर गवासन से बैठकर, पिच्छि सहित अंजुलि को मस्तक पर रखकर पूर्व में आचार्य को सूचित करे, कि गुरुदेव मैं वन्दना करता हूँ, तदन्तर अपने आठों अंगों को स्पर्श करे, भूमि आदि को पिछी से मार्जन करे तथा पिच्छि सहित अंजुलि को मस्तक पर रखकर, गवासन से अंगों को झुका कर भक्तिपूर्वक आचार्य को नमोऽस्तु करे ।

मुनियों के नमस्कार करने पर आचार्य क्या करें ?

विगौर वादि दोषेण सपिच्छांजुलि शालिना ।
सदज्ज सूर्याऽऽचार्येण कर्तव्यं प्रतिवेदनम् ॥९६०॥

जब मुनिराज आचार्य को वन्दना करते हैं तब सज्जन कमल वन दिवाकर आचार्य, ऋद्धि गौरव, रस गौरव, ज्ञान गौरव से रहित होकर हाथ में पिच्छि लेकर नमोस्तु कहकर प्रतिवन्दना करे ।

ये दोषान्विविधिणोऽन्येषां सद्गुणावर्णवर्णनाः ।
तपस्विनोऽपि पार्श्वस्था ये च वंद्या न ते यतेः ॥९६१॥

जो मुनि दूसरों के दोषों का कथन करता है तथा उनके सद्गुणों का आच्छादन करता है अथवा जो पार्श्वस्थ मुनि हैं, वे साधुओं के द्वारा वन्दनीय नहीं हैं ।

पुरो गुरुणां स्थातव्यं न यथेष्टककोपयन् ।
तानापृच्छेद्वचस्तेषां प्रतिच्छेत्तत्परो भवेत् ॥९६२॥

गुरु के सामने बैठना नहीं चाहिए, आचार्य को कुपित नहीं करते हुए अपनी इच्छा को पूछे तथा उनकी बात को तत्पर होकर स्वीकार करे ।

हस्तद्वयेन दातव्यं ज्येष्ठेभ्यः पुस्तकादिकम् ।
तत्तेभ्यं करद्वन्द्वेनादेयं विनयान्ततैः ॥९६३॥

अपने गुरु आदि को विनयपूर्वक दोनों हाथों से पुस्तक देना चाहिए और उनके द्वारा दी हुई पुस्तक आदि को भी महान आदर से दोनों हाथों से ही ग्रहण करना चाहिये ।

नमोऽस्विति नतिः शस्ता समस्तमतसंमता ।
कर्मक्षयः समाधितेस्स्वल्पार्याजने नते ॥९६४॥

धर्मवृद्धिः शुभं शांतिरस्त्वित्याशीरभिधीयते ।
पापक्षयोऽस्त्विति प्राज्ञैश्चाण्डालादि दीयताम् ।।९६५।।

दिगम्बर साधु परस्पर में नमोऽस्तु ऐसा व्यवहार करें। यदि दिगम्बर साधु को आर्यिका नमस्कार करे तो तेरा कर्मक्षय हो, तुम्हारी समाधि हो ऐसा आशीर्वाद दे तथा जिन धर्मावलम्बी गृहस्थ के नमस्कार करने पर तेरे धर्म की वृद्धि हो, तुम्हारा कल्याण हो, शांति हो, मन प्रसन्न हो इत्यादि आशीर्वाद देना चाहिये तथा चांडालादि के नमस्कार करने पर तेरा पापक्षय हो ऐसा आशीर्वाद देना चाहिये।

मान्यः सद्दर्शनो ज्ञानी हीनोऽप्यपरसद् गुणैः ।
वरं रत्नमनिष्पन्नशोभं किं नार्घ्यमर्हति ।।९६६।।

जो मुनि अपर-उत्तर गुणादि सद्गुणों से सम्पन्न नहीं है परन्तु सम्यग्दृष्टि है, ज्ञानी है तो वह श्रेष्ठ है, वंदनीय है। क्योंकि श्रेष्ठ रत्न यदि संस्कार आदि से रहित है तो भी बहुमूल्य होता है।

उक्तिः कार्या सहाचार्यैः कार्यार्थं शेषयोगिभिः ।
न मिथ्यादृष्टिभिर्भाव्या श्राद्धकैः स्वजनैश्चसा ।।९६७।।

मुनि उन आचार्यों के साथ वार्तालाप करे। शेष मुनिजनों के साथ कोई विशेष हो तो वार्तालाप करे। मिथ्यादृष्टियों के साथ कभी भी वार्तालाप नहीं करे। जिनधर्मावलम्बी श्रावकों के साथ कभी किसी कार्यवश बात करे और निष्प्रयोजन कभी वार्तालाप न करे।

स्पृष्टे कपालिचांडाल पुष्पवत्यादि के सति ।
जपेदुपोषितो मंत्रं प्राणुप्लुत्याशु दंडवत् ।।९६८।।

यदि कपालिक, चांडाल, पुष्पवती (मासिक धर्मवाली) स्त्री का स्पर्श हो हो जावे तो शीघ्र ही दंडवत् स्नान करे और उपवास करके णमोकार मंत्र का जाप्य करे।

संस्तरावासयोः प्रेक्षा कार्या कल्यास्तकालयोः ।
प्रकाशे सूरिभिः सार्धं वृत्तिश्चावश्यकादिषु ।।९६९।।

सूर्य के अस्त और उदयकाल में प्रकाश में संस्तर और आवासादि का निरीक्षण करना चाहिये तथा सामायिक आदि आवश्यक क्रिया आचार्य के साथ करनी चाहिये।

मुनिनैकेन नो वाच्यमेकार्या यदि पृच्छति ।
गुणमुख्यां पुरस्कृत्य पृष्टं ब्रूयात् तदीक्षितम् ।।६७०।।

यदि अकेली आर्यिका अकेले मुनि को कोई बात पूछे तो मुनि को उत्तर नहीं देना चाहिये । यदि अपनी गणिनी को साथ लेकर आवे और कोई बात पूछे तो उत्तर देना चाहिये ।

मालालापं कथाश्चर्याजनैः सार्द्धं यमी त्यजेत् ।
तदाश्रयेऽशनं स्थानं व्याख्यानं शयनादिकम् ।।६७१।।

आर्यिकाओं के साथ वार्तालाप करना, उनके स्थान में बैठना, आवास करना, व्याख्यान देना, सोना, ये सब साधुओं को नहीं करना चाहिये ।

मुनिनैकाकिनैकान्ते न स्थातव्यं कदाचन ।
योषिज्जनागमे काले सदाचार यशोऽर्थिना ।।६७२।।

सदाचार और यश के इच्छुक मुनियों को स्त्रियों के आगमन के समय एकान्त में एकाकी कभी भी नहीं रहना चाहिये ।

नामाऽप्यानन्दनिष्यन्दि स्त्रीति लोचन गोचरम् ।
तदंगमंगज स्फारशरोग्रं न करोति किम् ।।६७३।।

स्त्री इस प्रकार का नाम भी आनंदामृत को हर्षाने वाला है । तो फिर दृष्टिगोचर हुआ स्त्री का शरीर क्या कामोत्पाद नहीं होगा, अवश्य ही होगा इसलिये उसकी संगति नहीं करना चाहिए ।

स्त्रीणां दर्शनमादरेक्षणमतो वार्तेष्ट वार्ता मनाङ् ।
नर्मोक्तिर्नतिनर्मरत्यनुगवाक् शृंगार सारं वचः ।।
स्वान्तस्योल्लसनं धृतेः क्षिति रति प्रीतिर्मते भ्रान्तिता ।
तस्यां च स्मरवीर विशिख घातस्य लक्षः क्षणात् ।।६७४।।

पूर्व में (पुरुष) स्त्रियों को सामान्य रूप से देखता है, पुनः आदर पूर्वक देखता है, तदन्तर इष्ट वार्तालाप करता है, थोड़ी-थोड़ी हंसी मजाक सहित बोलता है, तदन्तर नमस्कार, प्रेम सहित अनुगमन एवं उसके अनुसार अति प्रेम शृंगार के वचनादि बोलता है जिससे उसका चित्त उल्लसित हो जाता है, धैर्य नष्ट हो जाता है, मति भ्रमित हो जाती है इस प्रकार एक क्षण में वह काम बाणों से पीड़ित हो जाता है ।

चिर प्रव्रजितः सूरिः स्थविरः श्रुतपारगः ।
तपस्वीति यतो नास्ति गणना विषमायुधे ।।६७५।।

काम के उत्पन्न होने में आचार्य चिर दीक्षित, स्थविर, श्रुतपारगामी आदि की गणना नहीं है । अर्थात् चिर दीक्षित, तपस्वी, श्रुतपारगामी त्यागी भी काम के वशीभूत हो जाते हैं ।

विधवी लिंगनीं कन्यां स्वैरिणीं गणिकादिकाः ।
आसजन्नचिरादृभिक्षुरपवादैक मन्दिरम् ।।६७६।।

कन्या, विधवा, रानी वा विलासिनी, स्वेच्छाचारिणी, दीक्षा धारण करने वाली ऐसी स्त्रियों से क्षण मात्र भी वार्तालाप करता हुआ मुनिराज भी लोक निंदा का पात्र होता है ।

संवृतांगोऽतिगंभीरो जिताखिल परिषहः ।
आकः चारित्रवान सूरिरार्याणां मितभाषणः ।।६७७।।

इन्द्रिय विजयी, अतिगंभीर, परिषह जयी, मितभाषी, सम्यग्ज्ञान और उत्कृष्ट चारित्र शील साधु ही आर्यिकाओं का आचार्य हो सकता ।

आज्ञाभंगादिदोषार्हः करोति यदि सूरिताम् ।
मदोदयादगुणव्रातेनंतेन रहितो यतिः ।।६७८।।

जो मुनि पूर्व कथित गुण सहित नहीं है और मान कषाय के वशीभूत होकर आर्यिकाओं का आचार्यपना करता है तो आज्ञा का भंग, निंदा, गणपोषण, गच्छ आदि विराधना होती है ।

लज्जाविनयवैराग्यसदाचारादि भूषिते ।
आर्यव्राते समाचारः संयतोष्विव किन्त्विह ।।६७९।।

लज्जा, विनय, वैराग्य, सदाचार आदि से भूषित आर्यिकाओं के समूह में समाचार विधि संयतों के समान ही है, किन्तु (परन्तु) इसमें कुछ अन्तर है ।

जो समाचार विधि संयमियों की कही है वही समाचार विधि आर्यिकाओं की है परन्तु आतापन योगादि कुछ विधि आर्यिकाओं के नहीं है ।

आर्यिकाओं का वर्णन-

द्व्याद्याः समं वर्षत्यार्या गृहस्था संकराश्रये ।
तद्गृहानति दूराति समीपेऽवश्य वर्जिते ।।७८०।।

जो असंयमी जनों के आवास से रहित हो, श्रावकों के घर से अत्यन्त दूर भी नहीं और अत्यन्त समीप भी नहीं हो, सर्व सावद्य से रहित हो. ऐसे स्थान में दो तीन आदि आर्यिका मिलकर रहें। अकेली नहीं रहे। आर्यिकाओं को अकेली रहना आगम में निषिद्ध है।

द्वौत्रे नार्यंतिरिक्तार्थं बृहार्यान्तरिता गृहान्।
अन्योन्य परिरक्षानुकूलवृत्ति परायणाः ॥९८१॥

जब आर्यिकायें आहार के लिए जाती है, तब वृद्ध आर्यिकाओं से अन्तरित परस्पर में एक दूसरे की रक्षा करती हुई दो तीन मिलकर मौन पूर्वक भ्रमण करती हैं। आहार के समय भी अकेली आर्यिका नहीं जाती है, दो तीन साथ में जावें। आर्यिकाओं का कर्त्तव्य है कि यह परस्पर अनुकूल वृत्ति तथा रक्षा करने में तत्पर रहें।

अन्यदावश्य गन्तव्यं धर्म कार्यं गृहेस्ति चेत्।
गणिन्यादेशतो याति द्वयाद्याः सार्धं व चान्यथा ॥९८२॥

यदि श्रावक घर में भिक्षा के काल से अन्यकाल में अवश्य जाने योग्य धर्मकार्य हो तो गणिनी के आदेश से दो आदि के साथ जाती है, अन्यथा नहीं जाती है।

नमन्ति सूर्यपाध्याय साधनार्या यथाक्रमम।
पञ्चषट्सप्त हस्तान्त रालस्थाः पशुशय्याः ॥९८३॥

आर्यिकायें आचार्यों को पांच हाथ दूर से, उपाध्याय को छह हाथ दूर से और साधुओं को सात हाथ दूर से गवासन से वंदना, आलोचना, अध्ययन, स्तुति करती हैं।

कर्मभूद्रव्यनारीणां नाद्यं संहननत्रयम्।
वस्त्रादानाच्चारित्र च तासां मुक्तिकथा वृथा ॥९८४॥

कर्म भूमि स्त्रियों के वज्र वृषभनाराच, वज्रनाराच और नाराच ये आदि के तीन संहनन नहीं होते हैं। इनसे वस्त्रों का पूर्ण त्याग नहीं होता है, इसलिये चरित्र भी पूर्ण नहीं है, उन स्त्रियों को मुक्ति होती है; ऐसा कहना तो निष्प्रयोजन है।

यदि त्रिरत्नमात्रेण ता पुसां नग्नता वृथा।
तिरश्चामपि दुर्वारा निर्वाणाप्तिरलिंगिता ॥९८५॥

एक देश रत्नत्रय से स्त्रियों को मुक्ति की प्राप्ति होती है, तो पुरुषों की नग्नता व्यर्थ है, अर्थात् पुरुषों को भी नग्न नहीं होना चाहिये। उनको भी वस्त्र सहित मुक्ति हो जायेगी। तथा एक देश रत्नत्रय तो तिर्यंचों को भी है, इसलिये उनको तो मुक्ति हो जानी चाहिये।

मुक्तिश्चेदस्ति किं नासां प्रतिमाः स्तवनान्यपि।
क्रियन्ते पूज्याश्चेत्तासां मुक्तेर्बस्तो बलांजुलिः ॥९८६॥

यदि उन स्त्रियों को मुक्ति होती है तो उनकी प्रतिमा और स्तोत्र क्यों नहीं है। यदि कहो कि वह पूज्य है तो सत्य है। मुक्ति के लिये तिलांजलि दे दी। अर्थात् पूज्य होने मात्र से मुक्ति की पात्र नहीं हैं।

देशव्रतान्वितैस्तासा मारोप्यन्ते बुधैस्ततः।
महाव्रतानि सज्जाति प्रख्यर्थं मुपचारतः ॥९८७॥

यद्यपि स्त्रियां पूर्ण महाव्रत को धारण नहीं कर सकती है, तथापि उनकी सज्जाति को प्रकट करने के लिये आचार्य आर्यिकाओं में देशव्रत के साथ उपचार से महाव्रतों का आरोपण करते हैं, अर्थात् आर्यिकाओं के वास्तविकता से तो देश संयम है, क्योंकि इनके पांचवां गुण स्थान है, परन्तु उपचार से महाव्रत कहे जाते हैं।

ऋतौ स्नात्वा तु तुर्येह्नि शुद्धयंत्यरस भुक्तयः।
कृत्वा त्रिरात्र मेकान्तरं वा सज्जपसंयुताः ॥९८८॥

मासिक धर्म में आर्यिका तीन दिन तक एक स्थान बैठकर अन्तर्जल्प से णमोकार मन्त्र का जाप करती है, नीरस भोजन का एक दिन बाद आहार करती है और चतुर्थ दिन स्नान करके शुद्ध होती है।

गानाक्रन्दन सन्मार्जनाद्यवद्य क्रियोज्झिताः।
जातिकीर्त्यर्ज्जवक्षमाचाराश्चार्यीक्षान्त्यार्जवान्विताः ॥९८९॥
अविकार वस्त्र वेषाः स्वकीय कायेऽपि निःस्पृहा नित्यम्।
पठन परिवर्त्तनाऽऽख्यानादि श्रुत भावनानिरताः ॥९९०॥

गीत, आक्रन्दन सन्मार्जन आदि सावद्य क्रियाओं से रहित जाति कीर्ति से पूजनीय है, चारित्र जिन्हों का ऐसे क्षमा और आर्जव से युक्त निर्विकार वस्त्रधारी अपने शरीर में भी निस्पृह निरन्तर पठन, परिवर्तन व्याख्यानादि श्रुत भावना में रत श्रेष्ठ आर्यिका होती है।

आर्यिकाओं को गीत गाना, रोना, घर को झाड़ू देकर साफ करना और हिंसामय क्रिया करना निषिद्ध है। आर्यिका क्षमा आर्जव आदि गुणों से युक्त होती है। जाति कीर्त्ति में पूज्यनीय होती है। निर्विकार वस्त्र धारण करती है। अपने शरीर में जिनके ममत्व नहीं है।

चरंति ये चारु चरित्र संपदः,
पदं समाचार मिमं यमीशिनः।
समाश्रयं तेऽभ्युदय प्रमोदिनः,
परां श्रियं ते कृति लोक नंदिनः ॥९९१॥

सज्जन पुरुषों को आनन्दकारक यशस्वी मुनि और आर्यिका, चारित्र रूपी संपदा की स्थानभूत इस समाचार विधि का जो पूर्णरूप से पालन करते है, वे स्वर्ग सम्पदा का अनुभव कर मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त करते हैं।

—०—

❋ परिषह ❋

क्षुतृट् शीत मलोष्ण दंशमशकैर्या रोगशय्यातृण,
स्पर्श क्लेशवधान लाभमरति निर्दर्शनं स्त्रीकलम्।
प्रज्ञाज्ञान भवौ सनाग्न्यशयनान् सत्कार याञ्चानिष,
द्वोद्भूतांश्च परीषहान् विजयते यो वीर्यचर्यो यति ॥९९२॥

१. भूख, २. प्यास, ३. शीत, ४. उष्ण, ५. दंशमशक, ६. नाग्न्य, ७. अरति, ८. स्त्री, ९. चर्या, १०, निषद्या, ११. शय्या, १२. आक्रोश, १३. वध, १४. याचना, १५. अलाभ, १६. रोग, १७. तृणस्पर्श, १८. मल, १९. सत्कार पुरस्कार, २०. प्रज्ञा, २१. अज्ञान, और २२. अदर्शन इन कारणों से उत्पन्न परिषहों को जो जीतता है, वह यतिराज वीर्याचारवान है।

क्षुधा परिषह—

क्षुत्तोष्णानशनादि जाक्षतिकरं स्वज्ञेय वीक्षाक्षम,
स्वान्तं भ्रान्तलरं करोति बलवत्प्राणान्प्रणोन्मुखान्।
याऽदीनन जनेऽफलाऽति सफला त्यागात्तपः पुष्टये,
तस्या घृत्यमृताशनेन शमनं कुर्वन्वती क्षुज्जयः ॥९९३॥

अत्यन्त तीक्ष्ण उपवास आदि से उत्पन्न क्षुधा इन्द्रियों के समूह को अपने ज्ञेय विषय के जानने में असमर्थ कर देती है। चित्त को श्रान्त कर देती है। बलवत्प्राणों को प्रयाण के सन्मुख कर देती है। अर्थात् क्षुधा से व्याकुल मानव की इन्द्रियां अपने कार्य से विमुख हो जाती है। मनः आकुल व्याकुल हो जाता है। मृत्यु सन्मुख आ जाती है। इस क्षुधा को अन्न के आधीन रखने वाले मानव जीत नहीं सकते हैं। उस से क्षुधा को जो आहार का त्याग कर धृतिरूपी अमृत के अशन से शमन करते हैं, वही साधु क्षुधा परिषह जयी होते हैं।

तृषा परिषह—

चंडश्चंडकरः स्थलस्थितजयः संचारिणः प्राणिनः,
भ्रष्टप्लुष्ट तनुस्तनोति नितरां यस्मिंस्तपे तापने।
तस्मिन् स्निग्ध विरुद्ध भोजन रुजाऽऽतापादि पुष्यतृषां,
त्यक्ते निःस्पृहतामृतेन कृतधीर्मुंष्णाति तृष्णाजयः ॥९९४॥

जिस ग्रीष्मकाल में तीक्ष्ण सूर्य की किरणों से तालाब नदी शुष्क हो जाते हैं, जलचर, स्थलचर, नभश्चर, जीवो का शरीर दग्ध हो जाता है, उस ग्रीष्म ऋतु में स्निग्ध, रूक्ष, प्रकृति विरुद्ध, आहार से वा रोगादि से उत्पन्न श्वास को पुण्यात्मा, पवित्र बुद्धि के धारक यतीश्वर परित्यक्त वस्तु में स्पृहा का त्याग कर समतामृत के पान से बुझाते हैं, वे तृषा परिषहजयी होते हैं।

शीत परिषह—

प्रोत्कम्पा हिम भीमशीत पवन स्पर्श प्रभिनांगिनो,
यस्मिन्यान्त्यति शीत खेद मवशाः प्रालेयकालेऽगिनः।
तस्मिन्नस्मरतः पुरा प्रियतमाश्लेशादि जात सुखं,
योगागार गिरस्तशीत विकृते निर्बास सस्तज्जय ॥९९५॥

जिस शीतकाल में शरीर में कम्पन उत्पन्न करने वाली शीतल वायु के स्पर्श से शरीर के अवयव फट जाते हैं, तथापि पूर्वकाल में अनुभूत वनिता जन्य सुखों को स्मरण नहीं करते हुये दिगम्बर साधु धीर वीर होकर शुभ ध्यानरूपी घर में निवास करके शीत की बाधा का निवारण करते हैं अर्थात् शीत बाधा से आकुलित नहीं होते हैं, वे शीत परिषह जयी होते हैं।

मल परिषह—

प्राणाघात विभीतितस्तनुरति स्वागाच्च भोगा स्पृहः,
स्नानोद्वर्त्तन लेपनादि विगमात् प्रस्वेद पांसूदितं ।
लोकानिष्ट मनिष्ट मात्मवपुषः पापादि मूलं मलं,
गात्र त्राण मिवाबधादि वृजिनं जेतुं मलक्लेश जित् ॥९९६॥

जो संयमी प्राणियों के विघात से भयभीत है, जिसका शरीर के प्रति ममत्व नहीं है, इसलिये प्राणियों के विघातक स्नान, विलेपन नहीं करने वाले साधु के शरीर में पसीना व धूलि से मल उत्पन्न हो जाता है, जिससे शरीर में खुजाल उत्पन्न होती है, लौकिक जन को जो अनिष्ट है, देखने में अमनोज्ञ है ऐसे मल को पाप भीरू साधु पाप पुंज को नाश करने के लिए शरीर रक्षक कवच के समान धारण करता है, वह मल परिषह जयी कहलाता है ।

उष्ण परिषह

ग्रीष्मे शुष्यदशेष देहि निकरे मार्तण्ड चंडांशुभिः,
संतप्तात्मतनुस्तृषानशनरुक् क्लेशादि जातोष्णनम् ।
शोष स्वेद विदाह खेदमशवशे नाप्तं पुराऽपिस्मरन्,
तन्मुक्त्यै निज भाव भावनरतिः स्यादुष्ण जिष्णुर्यतीं ॥९९७॥

प्राणियों के शरीर को ग्रीष्मकाल में कृश करने वाले सारे प्राणी तीक्ष्ण सूर्य के किरणों से संतप्त हो रहे हैं, तृषा, उपवास, विहार, रोग, क्लेशादि से उत्पन्न उष्णता से तालु शुष्क हो रहा है, सारे शरीर में पसीना निकल रहा है, शरीर में दाह उत्पन्न हो रहा तो भी व्रती साधु खेद खिन्नता को प्राप्त नहीं होकर आत्म भावना में लीन रहता है, वह उष्ण परिषह जयी होता है ।

दंशमशक परीषह—

शून्यागारदरी गुहादि शुषिनि स्थाने विविक्ते स्थितः,
तीक्ष्णैर्मत्कुण की दंशमशकाद्यैश्चंड तुण्डैः कृताः ।
स्वांगति परदेह जातिमिवतां यो मन्यमानो मुनिः,
निःसंग स सुखो च दंशमशक क्लेशं क्षमी तं नुमः ॥९९८॥

जो शून्य गृह पर्वत की कन्दरा, गुफा, वृक्ष के कोटर में रहकर तीक्ष्ण खटमल, कीट, मच्छर, दंश मशकादिका के द्वारा उत्पन्न हुई अपने शरीर के पीड़ा को

दूसरे के शरीर में उत्पन्न हुई पीड़ा के समान समझता है, वह निष्परिग्रही, सुखी दिगम्बर साधु दंशमशक परिषह जयी कहलाता है। उसको मैं नमस्कार करता हूं।

चर्या परिषह—

शार्दूलैर्भिल्लितेच्छ भल्ल भुज गामोगेभयैकास्पदे ।
गन्धान्धद्विरदोत्करे करिरिपु क्रीडैं कनीडे वने ।।
स्वैरं कण्टक कर्करादि परुषेऽप्यत्राण पादश्चरन् ।
एकः सिंह इवासिभीति विजयी वन्द्यात्तिजित्संयमी ।।९९९।।

जो शार्दूल, व्याघ्र, चीता, रीछ, सर्प आदि से भरा हुआ है, भयास्पद है, गन्ध से मदोन्मत्त हुये, गजराजों के क्रीडा का स्थान है, कंकर, पत्थर, कण्टक आदि से व्याप्त है, ऐसे वन में सिंह के समान निर्भय होकर अत्राण पाद (जूता रहित) पैरों से भ्रमण करने वाले मुनि चर्या परिषहजयी होते हैं।

रोग परिषह—

कण्ड्वागलगण्ड पांडुदवथु ग्रन्थिज्वश्लीपद ।
श्लेष्मोदुम्बर कुष्ठ पवन श्वासादि रोगार्दितः ।।
भिक्षुः क्षीण बलोऽपि भेषज सुहृन्मंत्रानपेक्षः क्षमी ।
दुस्कर्मारि विनिर्मितार्ति विजयी स्याद् व्याधिबाधाजयः ।।१०००।।

खुजाल, गंडमाल, पांडु रोग, दाह, ग्रन्थि, ज्वर, श्लीपद, कफ, उदुम्बर, कुष्ठ, वायु, श्वास आदि रोग से पीड़ित, क्षीण शक्ति वाला भी क्षमा शील साधु भैषज, मित्र और मन्त्रों की अपेक्षा नहीं करता है और दुष्कर्म रूपी शत्रु के द्वारा निर्मित रोगों पर विजय प्राप्त करने वाला साधु व्याधि परिषहजयी होता है।

शयन परिषहजय—

झंझा वातहतार्त कौशिक शिवा फेत्कार घोर स्वरां ।
शंपा क्रूर रदां स्फुरद्द्यु चितडिज्जिह्वां क्षपा राक्षसीम् ।।
यो तां द्राग् गमयत्यसौ शयन जाता यास जिद्धीरधीः ।
ध्वान्तात्यन्तकराल भूधर दरी देशे प्रसुप्तः क्षणं ।।१००१।।

जहां वर्षा सहित भयंकर वायु से पीड़ित होकर उल्लू और शृगाल चीत्कार कर रहे हैं, वह तो जिसके शब्द हैं, शंपा जिसके क्रूर दाँत हैं; स्फुरायमान कांति वाली विद्युत जिसकी जिह्वा है, ऐसी विकराल रात्रि रूपी राक्षसिनी को धीर बुद्धि वाले

तपस्वी घोर अन्धकार से पूरित पर्वत की गुफा के प्रदेश में सोये हुये सुख पूर्वक व्यतीत करते हैं, वे शयन परिषह जयी होते हैं ।

तृणस्पर्श परिषह—

श्रान्तः सन् श्रुत भावनाऽनशन सद् ध्यानाऽध्व यानादिभिः ।
स्तोकं कालमति श्रमापहृतये शय्यानिषधे भजन् ।।
शुद्धोर्वीतृणपत्र संस्तरशिला पट्टेषुतत्पोडनः ।
कंडूयादिसहो भवेदिह तृणस्पर्शजयी संयमि ।।१००२।।

श्रुत की भावना, उपवास, समीचीन ध्यान और मार्ग में गमनादि के कारणों से क्लान्त संयमी अतिश्रम को दूर करने के लिए शुद्ध पृथ्वी, तृण, पत्र, संस्तर और शिलापट्ट पर स्तोक काल तक शयनासन करते हैं । उस समय तृण आदि से शरीर में खुजाल उत्पन्न होती है, उसको आनंदित होकर सहन करते हैं, मन में खेद खिन्न नहीं होते हैं । वे तृण स्पर्श परिषह जयी कहलाते हैं ।

वध परिषह—

रुष्टैः पूर्व भवापकार कलनात्तज्जन्म वैरात्खलैः ।
म्लेच्छैर्निष्करुणैरकारण गुण द्वेषैश्च पापात्मकैः ।।
देहच्छेदनभेदनादि विधिना यो मार्यमाणोऽप्यलं ।
देहात्मात्मविभेद वेदन भवक्षांतिर्वधार्तिक्षमी ।।१००३।।

पूर्व भव के अपकार के जान लेने से अथवा उस जन्म सम्बन्धी वैर भाव से रुष्ट हुये शत्रुओं के द्वारा अथवा निष्कारण गुणों में द्वेष रखने वाले, पापी, निर्दयी म्लेच्छों के द्वारा शरीर के छेदन, भेदन, मारण, ताड़न आदि करने पर भी जो शरीर और आत्मा के भेद विज्ञान से उत्पन्न आत्मानुभव के सामर्थ्य से खेद खिन्न नहीं होता है, क्षमा शील वह साधु वध परिषह जयी कहलाता है ।

अलाभ परिषह—

हंहो २ देह १ सहायतां तव समुद्दिश्यैवपोष्यो मया ।
यूतौ मत्तपसो गृहावलिमतो भ्रान्त्वाप्यनाप्तेऽशने ।।
दोषः कोपि न विद्यते मम पुनर्लोभादलाभक्षमा ।
तां पूर्सि प्रतनोत्यतः प्रियतमैषैवेत्यलाभक्षमा ।।१००४।।

हे शरीर! तू मेरे तप की वृद्धि का कारण है, इसलिए मैं योग्य आहारादि के द्वारा तेरा पोषण करने के लिए घरों की पंक्ति में भ्रमण करता हूँ। यदि भ्रमण करने पर भी आहार की प्राप्ति नहीं होती है, तो मेरा कोई दोष नहीं है। आहार की प्राप्ति की अपेक्षा आहार की अप्राप्ति मेरे तप की विशेष वृद्धि करती है, इसलिए आहार की अप्राप्ति ही मुझे प्रियतम है। ऐसा विचार करके आहार की अप्राप्ति में जो आनन्द मानता है, वह संयमी अलाभ परिषह जयी होता है।

अरति परिषह—

दुर्वारेन्द्रिय वृन्द रोग निकर क्रूरादि बाधोत्करैः।
प्रोद्भूता अरति व्रतोत्कर परित्राणे गुणोत्पोषणे॥
मंक्षु क्षीणतरां करोत्यरतिजिद्धीरः स वंद्यः सतां।
यो दंडत्रय दंडनाहितभीतः सत्य प्रतिज्ञो व्रती॥१००५॥

जो संयमी अमनोज्ञ इन्द्रियों के विषय से, रोग आदि से उत्पन्न होने से, क्रूर पशु आदि की बाधाओं के समूह से उत्पन्न अरति को अपने व्रतों की रक्षा करने में एवं गुण समूह को पुष्ट करने के लिए क्षीण कर देता है, मानसिक जुगुप्सा उत्पन्न नहीं होने देता है, वह मन, वचन, काय का विजयी सत्य प्रतिज्ञ, धीर, वीर, अरति परिषह जयी संयमी सत्पुरुषों के द्वारा वंदनीय होता है।

अदर्शन परिषह—

वर्ण्यंते बहवस्तपोऽतिशयजाः सप्तर्द्धि पूजादयः।
प्राप्ताः पूर्वतपोधनैरिति वचोमात्रं तदद्यापियत्॥
तत्त्वज्ञस्य ममापि तेषु नहि कोऽपीत्यार्त्त संगोज्झिता।
चेतोवृत्तिरदृक् परिषहजयः सम्यक्त्व संशुद्धितः॥१००६॥

पूर्वकाल में तपोधनों ने बहुत से तपो अतिशय से उत्पन्न सप्त ऋद्धियां प्राप्त की हैं, ऐसा आज भी शास्त्रों में सुना जाता है। परन्तु मुझे तो यह वार्ता सत्य प्रतीत नहीं होती है। क्योंकि मैं तत्त्वज्ञानी इतना उत्कृष्ट तपश्चरण करता हूँ, परन्तु मुझे तो एक भी ऋद्धि प्राप्त नहीं हुई है। इस प्रकार मानसिक अश्रद्धा उत्पन्न नहीं होना ही सम्यक्त्व की निर्मलता है और इसी से योगी अदर्शन परिषह जयी होता है।

स्त्री परिषह—

जेता चित्त भवस्त्रयस्य जगतां यासामपांगेषुभिः ।
ताभिर्मत्तनितम्बिनोभिरभितः संलोभ्यमानोऽपि यः ।।
तत्फल्गुत्वभवेत्य नैति विकृतिं तं वर्य्यधैर्यंन्धिरं ।
वन्दे स्त्र्यार्त्तिजयं जयन्त मखिलानर्थं कृतार्थं यतिं ।।१००७।।

जिन स्त्रियों के कटाक्ष रूपी बाणों के द्वारा कामदेव तीन जगत का जीतने वाला हुआ था। उन वनिताओं के द्वारा चारों तरफ से संलोभ्यमान होकर भी जो उन कटाक्षों को निस्सार समझकर विकृति भाव को प्राप्त नहीं होता है। उस श्रेष्ठ धैर्यधारी कृत कृत्य अखिल अनर्थों को जीतने वाले स्त्री परिषह जयी साधु को मैं नमस्कार करता हूँ।

प्रज्ञा परिषह—

प्रत्यक्षाक्रम विश्वतत्त्व विषय ज्ञानात्मनः स्वात्मनो ।
गर्वः सर्वमतश्रुतज्ञ इति यः प्राप्ते परोक्षश्रुते ।।
सर्वस्मिन्नपि नो तनोति हृदये लज्जां स किं तामिति ।
प्रज्ञोत्कर्ष मदापनोदनपरः प्रज्ञास्ति जित्तत्त्ववित् ।।१००८।।

वास्तविक में आत्मा प्रत्यक्ष एवं युगपत् सर्व पदार्थों का जानने वाला है, उसके परोक्ष श्रुत के जान लेने पर मैं सर्व मत का ज्ञाता हूं। यह जानता हुआ भी हृदय में अनिर्वचनीय लज्जा को प्राप्त होता है। वह प्रज्ञा के उत्कर्ष के मद को अपनोदन करने में तत्पर तत्त्वज्ञानी प्रज्ञा परिषह जयी होता है।

अज्ञान परिषह—

ज्ञान ध्यानरता मतिर्ममतपस्तीव्रं न चोत्पद्यते ।
ज्ञानं पूर्णमयं जडः पशुरिति श्रोतुं वचोऽहं क्षमः ।।
नेत्यज्ञान परिषह स सहसे प्रव्यक्त वस्तु स्थितिः ।
यः कार्यं भवति स्वहेतु युगले सत्येव नेत्यन्यथा ।।१००९।।

मेरी बुद्धि ज्ञान ध्यान में लीन है, मैं तीव्र तपस्वी हूं, तथापि मुझे पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है, यह पशु है, मूर्ख है, अज्ञानी है, इस प्रकार के वचनों को सुनने के लिए मैं समर्थ नहीं हूं, इस प्रकार की अज्ञान परिषह को जो अंतरंग बहिरंग कारणों

के मिलने पर ही कार्य होता है, अन्यथा नहीं, इस प्रकार वस्तु की स्थिति को जानने वाला सहन करता है, वह अज्ञान परिषह को जीतने वाला होता है।

नाग्न्य परिषह—

भूषा वेष विकारशस्त्र निचय त्यागात्प्रशस्ताकृते ।
बालस्येव मनोज जात विकृतिश्चितस्य लज्जेतिताम् ।।
हित्वा मातृसमान मेव सकलं कान्ताजन पश्यतः ।
पूज्यो नाग्न्य परिषहस्य विजयस्तत्वज्ञ लाप्तोदयः ।।१०१०।।

जिनका शरीर, वेश भूषा, आदि विकार रहित है, जिनकी आकृति अत्यन्त वीतरागतामय है। मनोविकार से उत्पन्न हुई विकृति रूपी लज्जा को छोड़कर बालक के समान निर्भय और निर्विकार होते हैं। समस्त स्त्री समूह को माता के समान देखते हैं। नग्न रहते हुये भी किंचित् मात्र भी मन में विकार नहीं है, वह साधु नग्न परिषह विजयी कहलाता है।

आक्रोश परिषह—

वर्णौ कर्णहृदां विदारण करान् क्रूराशयैः प्रेरिता ।
नाक्रोशान् घनगर्ज तर्जन खरान् शृण्वन्न शृण्वन्निव ।।
शक्त्याऽभ्युत्तम संपदाऽपि सहितः शान्ताशयश्चिन्तयन् ।
यो बाल्यं खलसंकुलस्य शयन क्लेश क्षमी तं स्तुवे ।।१०११।।

जो संयमी कर्ण और हृदय के विदारक क्रूर चित्त वालों के द्वारा प्रेरित, अत्यन्त तीक्ष्ण, आक्रोशकारी वचनों को सुन करके भी नहीं सुनने वाले के समान होता है तथा जो उत्तम शक्ति रूपी सम्पदा से सहित होते हुए भी शान्त चित्त वाला संयमी उन दुष्ट वचन कारी दुष्टों की मूर्खता का चिंतवन करता हुआ, आक्रोश परिषह को सहन करता है, उसको हम स्तुति करते हैं।

सत्कार पुरस्कार परिषह—

ख्यातोऽहं तपसा श्रुतेन च पुरस्कारं प्रशंसां नतिं
भक्त्या मे न करोति कोऽपि यतिषु ज्येष्ठोऽहमेवेति यः ।
ग्लानिं मानकृतां न याति स मुनिः सत्कार जातिंजित्
दोषा मे न गुणा भवन्ति न गुणा दोषाः स्युरित्यन्यस्तः ।।१०१२।।

मैं तप के द्वारा, श्रुत के द्वारा विख्यात हूँ, यतियों में मैं ही ज्येष्ठ हूं, भक्ति से मेरा कोई भी पुरस्कार प्रशंसा नमस्कार नही करता है इस प्रकार जो मान कषाय से उत्पन्न ग्लानि को नहीं प्राप्त होता है, वह विचार करता है कि मेरे दोष नहीं है गुण होते हैं सत्कार करने पर गुण नहीं दोष होते हैं, वह मुनि सत्कार से उत्पन्न अरति को जीतने वाला होता है ।

याञ्चा विजय परिषह—

प्राज्यं राज्य मुदस्य शाश्वत पद प्राप्त्यै तपोवृंहणे,
देहो हेतुरयं हि भुक्त्यनुगता चास्य स्थितिस्तत्कृतः ।
भिक्षायै भ्रमणं ह्रियः पदमिदं यस्मान्महार्यास्पदं,
नीचैर्वृत्तिरनिन्दितेति विचरन याञ्चाजयः स्यान्मुनि ॥१०१६॥

शाश्वत पद की प्राप्ति के लिए उत्कृष्ट राज्य को छोड़कर तप की वृद्धि में यह शरीर कारण है और इस शरीर की स्थिति भक्ति के अनुसार है इसलिए भिक्षा के लिए भ्रमण करना लज्जा का स्थान कैसे है ? क्योंकि भिक्षा के लिये भ्रमण महार्थों का आस्पद है इस प्रकार नम्रवृत्ति वाला अनिन्दित चर्या करने वाला मुनि याचना परिषह जयी होता है ।

निषद्या परिषह—

सर्वाशाश महान्धकार पुरुजाऽऽयामां त्रियामां यमी,
योगै र्योगमयत्यवार्यमहिमाऽऽभोगै र्मुहूर्तं यथा ।
क्षेत्रे स्त्रीजन पशु यत्र रहिते हृद्ये निषद्यास्थितः,
सत्रत्युग्र निशाचराप्रतिहतध्यानो निषद्याजयी ॥१०१४॥

स्त्रीजन, पशु, नपुंसक आदि दोषों से रहित मनोज्ञ क्षेत्र में अति उग्र निशाचरों के द्वारा अप्रतिहत ध्यानी निषद्या से स्थित अवार्य महिमा वाला जो संयमी सर्व दिशाओं को भक्षण करने वाले महान्धकार से व्याप्त दीर्घ रात्रियों को जैसे मुहूर्त के समय विस्तरित योग के द्वारा व्यतीत करता है, वह निषद्या जयी होता है ।

परिषह विजय का फल—

देशं कालं स्वकीयं बलमपि नृपतिः सम्यगालोच्य यद्वत्,
पक्षव्रातस्य जेता भवति यति रपि स्वीयकर्मोदयेन ।

जातस्यास्यार्त्ति जातोद्भटभटकटकस्योरु धैर्यस्तथा यः,
सोऽयंस्याद्वर्य वीर्याचरण चणजुतो वीर लक्ष्मी निलासः ॥१०१५॥

जैसे देश काल से अपने सेना का भली प्रकार विचार कर राजा, शत्रु समूह का जीतने वाला होता है उसी प्रकार महान् धैर्य वाला जो यति भी अपने कर्मोदय से उत्पन्न इस बाइस प्रकार के परिषह रूपी वीर भट की सैन्य का जीतने वाला होता है वह यह उत्कृष्ट वीर्याचार के आचरण से विख्यात कीर्ति वाला वीर की लक्ष्मी का निवास होता है ।

परिषहों का घोर उदय आने पर और आयु क्षीण होती दिखने पर मुनिराज ध्यान करते हैं, और परिषहों को जीतकर समाधि करते हैं । उसका वर्णन—

दीक्षां पीठिक योदितेन विधिना शिक्षां गृहीत्वा समा-
चारेणानुमतो गणेन गणिना प्राप्तश्च सत्सूरिताम् ।
षट्त्रिंशद्गुण भूषणे व्यपगत व्यापद गणं सद्गणं,
रक्षन् यः ससयं नयत्यतितरां धन्यः स मान्यो मुनिः ॥१०१६॥

पीठिका के द्वारा कथित विधि से दीक्षा और शिक्षा को ग्रहण करके समाचार समूह से स्वीकृत और सूरि के द्वारा सत्य सूरिपने को प्राप्त छत्तीस गुण के भूषण से युक्त, नष्ट हो गये हैं आपत्तियों के समूह जिसके ऐसे अपने संघ को रक्षा करता हुआ जो काल को व्यतीत करता है वह माननीय मुनि अत्यन्त धन्य है ।

ज्योतिः शास्त्र विभूत जातक मताज्ञानानिमित्तक्षणात्
प्रश्नाच्चाप चय गृहावलि बल क्षीणत्व संप्रेक्षणात् ।
प्रश्नस्याक्षर लक्षणेक्षण वशात्कालागमात्स्वायुषो-
मानं द्वादश वर्ष संमित मतो होनं च निश्चित्य सः ॥१०१७॥
पश्चाच्चारुतरात्मसंस्करणधी धीरो मुमुक्षुर्गणी
प्रीत्या पालित मात्मनात्मनि महास्नेहानुबंधे महत् ।
वृन्दं तुन्दिलरोगिसुतपः शैक्षादि भिक्ष्वन्वितं
प्रारोप्यात्मभर वरं गणधरे सद्वृत्तलक्ष्मीधरे ॥१०१८॥
रक्षादक्षतमं गणस्य गणिनं सर्वगणं चादरा-
दाहूय प्रियवाक् चयामृत रसासारेण चेतोगतम् ।

तापं तस्य निरस्य दुस्तरतरं जातं वियोगाद् गुरोः
स्वास्थ्यातो नियतं विहारपरं कुर्वन्मुनीन्द्रोत्तमः ॥१०१६॥

ज्योतिष शास्त्र में कथित लक्षणों से वा ग्रहों के बलाबल के क्षीणत्व देखने से अथवा केवल प्रश्न चूडामणि में कथित दग्ध अभिधूमित आदि प्रश्नोत्तरों से अपनी आयु को बारह वर्ष प्रमाण या हीन जानकर रत्नत्रय से अलकृत धीर श्री मुमुक्षु आचार्य, अपने धर्मानुराग से पालित अपने वृद्ध रोगी, नवीन दीक्षित महोपवासी, शिक्षित आदि से समन्वित संघ के भार को अपने में महान् स्नेह रखने वाले शिष्यों में आरोपित करता है। तदन्तर अपने संघ की रक्षा करने में चतुर नूतन आचार्य को और सर्व संघ को बुलाकर उनके गुरु के वियोग से उत्पन्न चेतोगत दुःख को, अपने वचन रूपी अमृत वर्षा की धारा से शांत करता है। तदनन्तर मैं यहां ठहरूंगा, इस प्रकार के संकल्प से रहित होकर अनियत विहार करता है वह श्रेष्ठ मुनीन्द्र कहलाता है।

प्रेक्ष्यन्ते बहुदेश संश्रयवशात्संवेगिदाद्याप्तय-
स्तीर्थाधीश्वर केवलोद्गममही निर्वाणभूम्यादयः।
स्थैर्यं धैर्यं विरागतादिषु गुणेष्वाचार्यवर्येक्षणा-
द्विद्यावित्तसमागमादधिगमो नूत्नार्थस्य च ॥१०२०॥

बहुदेश के संश्रय के वश से संवेग आदि की प्राप्ति तीर्थाधीश्वर केवलोद्गम भूमि निर्वाण भूमि, आदि के दर्शन होते हैं। आचार्यवर्य के अवलोकन से क्षण मात्र में धीरता वीतरागादि गुणों में स्थिरता और ज्ञान शास्त्रियों के समागम से नूतन अर्थ के समूह का ज्ञान होता है।

सद्भूपं बहुसूरि भक्तिक युतंक्षामादि दोषोज्झितं,
क्षेत्रं पात्रमधीक्ष्यते तनुपरित्यागस्य निःसंगता।
सर्वस्मिन्नपि चेतनेतर बहित्संगे स्वशिष्यादिके,
गर्वस्यापचयः परीषहजयः सल्लेखना श्रोत्तमा ॥१०२१॥

बहुसूरि की भक्ति से युक्त, क्रोधादि दोषों से रहित, योग्य राजा जिसमें हो ऐसा क्षेत्र पात्र शरीर के परित्याग की निःसंगता, सर्वचेतन, अचेतन, बहिरंग परिग्रह में और स्व शिष्यादिक में भी गर्व का अभाव परिषहों पर विजय होने पर उत्तम सल्लेखना देखी जाती है।

सम्यक्काय कषाय कार्श्यकरणं सल्लेखनाख्या वरै-
र्योगैर्वर्ष चतुष्टयं रस परित्यागै स्तथाब्दद्वयम् ।
सौवीराम्ल रसोज्झनैरभिषवान्नेनाब्द मेसद्दल-
बाह्यं मन्दतपोभिरुग्रनियमैरब्दार्ध मंगार्दनम ॥१०२२॥

भली प्रकार काय और कषायों को कृश करना सल्लेखना है । उसमें उत्कृष्ट योगों के द्वारा चार वर्ष पर्यन्त रस परित्याग के द्वारा चार वर्ष व्यतीत करना इसके बाद दो वर्ष कांजी आहार और रस त्याग के द्वारा, एक वर्ष वृष्य अन्न के सेवने से यह उससे आधा वर्ष बाह्य मन्द मन्द तप के द्वारा आधा वर्ष उग्र नियमों के द्वारा शरीर को कृश करना प्रथम काय सल्लेखना है ।

कालं कायबलं च देशमशनं पानं प्रकृत्यादिकं,
ज्ञात्वा पित्तकफानिलैः निजयतेर्न स्याद्यथा विक्रिया ।
कर्त्तव्यविदुषा तथोक्त विधिभिर्बाह्यं स्तपः प्रक्रमै-
राचार्यानुमतैः समाधिफल दैरेषांग सल्लेखना ॥१०२३॥

जिससे वात, पित और कफ से अपने ज्ञान में विकृति नहीं हो ऐसे काल, शरीर, बल, देश, अन्न, पान और प्रकृति आदि को जान करके आचार्य के द्वारा अनुगत समाधि रूप फल के देने वाले पूर्व कथित विधि से बाह्य तप के द्वारा विद्वानों को यह काय सल्लेखना करनी चाहिये ।

सद्ध्यान प्रकरैः कषाय विषया सल्लेखना श्रेयसी-
स्वेष्टानिष्ट वियोग योगयुगजे बाधा निदानोद्भवे ।
इत्यार्त्तस्य चतुर्विधस्य विजयो हिंसामृषास्तेयस-
रक्षानन्द विभेदतोऽशुभकृतो ध्यानस्य रौद्रस्य च ॥१०२४॥

धर्म और शुक्ल ध्यान के द्वारा इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, पीड़ा चिंतवन और निदान बंध नामक चार प्रकार के आर्त्तध्यान पर विजय और हिंसानंद, मृषानंद स्तेयानन्द एवं परिग्रहानन्द इन चार प्रकार के रौद्र ध्यान पर विजय प्राप्त करना कषाय को कृश करने वाली उत्तम सल्लेखना है ।

ध्यातृध्यान चिंचिंत्य चिंतन फलान्यंगानि चत्वारि तैः,
स्याद् ध्यानं सदसत्व तत्र भवति ध्यातोत्तमैरन्वितः ।

आद्यैः संहननै स्त्रिभिस्त्रिभिरुपेतोऽन्त्यैः स नाऽस्मिन्पुनः ।
चिन्तातद्बहिरंग कारण सृणिप्रेर्या हि कार्यद्विपः ॥१०२५॥

ध्याता, ध्यान, ध्येय और ध्यान का फल चार अंग हैं। उन चारों में सद् और असत् ध्यान होता है, आदि तीन-तीन उन उत्तम संहननों से युक्त ध्याता होता है। अन्तिम संहननों से वह ध्यान नहीं होता है। क्योंकि पुनः इस चिन्ता अंतरंग बहिरंग कारण रूप मार्ग में कार्यरूपी हाथी प्रेरित करने योग्य है।

संक्षेप से ध्यान का लक्षण—

एकस्मिन् विषयेऽग्रमान नम भूदस्या मतेरित्यसा,
वेकाग्रा विषयोपयोग निरता चिंता निरोधोऽचला ।
वस्था स्यान्निजगोचराचलमनो ध्यानं तदन्तर्मुहू,
र्तावस्थान मतोऽवबुर्धरतया नाऽतः परं तिष्ठति ॥१०२६॥

इस मति को एक विषय में एकाग्रता होती है, इस प्रकार यह एकाग्रता विषयों में उपयोग की लीनता चिंता का निरोध अचल अवस्था अपने गोचर अचल मन ध्यान है, वह ध्यान अन्तर्मुहूर्तावस्था वाला होता है, अत्यन्त दुर्धर होने से इसके आगे यह ध्यान नहीं रहता है।

मिथ्यात्वोरुतमस्तिरस्कृत सुहृज्ज्ञानोऽधिक क्रोधवान्,
स्तब्धः सत्स्वपि वंचनांचित मतिर्लुब्धः परार्थेष्वपि ।
दुर्लेश्यापशगाशयश्च भवति ध्यातोऽशुभ ध्यानयोः,
ध्येयं ध्यान विशेष लक्षण विनिर्देशक्षणे लक्ष्यते ॥१०२७॥

मिथ्यात्व रूपी महान अन्धकार से तिरस्कृत है, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र जिसका ऐसा अत्यन्त क्रोधी मूर्ख, सत्पदार्थों में भी वंचनमति पर धन का लोलुपी, दुर्लेश्या के वशीभूत हुआ, प्राणी, आर्त्त रौद्र ध्यान का ध्याता होता है। अशुभ ध्यान का ध्येय का ध्यान, विशेष लक्षण के वर्णन करने के क्षण में कहेंगे।

आर्तध्यानों के चार भेद और स्वरूप—

जीवा जीव कलत्र पुत्र कनकाऽगारादिकाद्यात्मनः,
प्रेम प्रीतिवशात्मसात्कृत बहिः संगाद्वियोगोद्गमे ।
क्लेशेनेष्ट वियोग आर्त्तमचलं तच्चिन्तनं मे कथं,
न स्यादिष्ट वियोग इत्यपि सदा मन्दस्य दुःकर्मणः ॥१०२८॥

अपने जीव, अजीव, स्त्री, पुत्र, सुवर्ण घरादि से प्रेम और प्रीति के वश से आत्म सात्कृत बहिरंग परिग्रह के वियोग से हो जाने पर क्लेश से मेरा इष्ट वियोग किसी प्रकार नहीं होवे इस प्रकार मन्द कर्म का अचल चिंतवन करना इष्ट वियोग में उत्पन्न आर्तध्यान है ।

क्रूरैर्व्यन्तर चौर वरि मनुजै र्व्यालैर्मृगैरापदि,
प्राप्तायां गरलादिकैश्च महती तन्नाशचिन्ताऽऽपदा ।
संयोगो न भवेत् सदा कथमिति क्लेशातिनुन्नं मनः,
श्चार्त्तध्यान मनिष्ट योग जनितं जातंदुरन्तंनरः ॥१०३१॥

क्रूर, व्यन्तर, चौर, वैरी मनुष्य, व्याल, मृग, विष आदि पदार्थों के द्वारा आपत्ति आने पर, उस आपत्ति के नाश की चिन्ता उत्पन्न होती है । मेरे अनिष्ट पदार्थों का संयोग न हो । इस प्रकार की चिन्ता से चित्त निरन्तर आकुलित रहता है । वह पापों का कारण भूत अनिष्ट संयोग नाम द्वितीय आर्त्तध्यान है ।

बाधासंजनि तार्तमति निहित स्वान्तं नितान्तस्थिरं,
तीव्राद्विश्व परिग्रहन्मम कदा विश्लेषण इत्यंगिनः ।
दीनस्यास्त विशिष्ट वस्तु विषय ज्ञानस्य न स्यात्कथं,
क्लेशात्या मम जातु संगम इति क्लिष्टं च तस्यात्मनः ॥१०३०॥

तीव्र विश्वपरावह से मेरा वियोग कब होता अथवा क्लेशों के समूह का मेरे कभी भी संयोग नहीं होवे इस प्रकार अस्त हो गया है, विशिष्ट वस्तु विषय का विज्ञान जिसका ऐसे दीन प्राणी का मन क्लेशित होता है । और दुःख में क्षिप्त मन अत्यन्त स्थिर रहता है, वह रोग से उत्पन्न आर्त्तध्यान में निहित ध्यान होता है ।

नानो पायचयेन नीच चरितैर्भ्रान्त्वा विशालामिला,
माभोलं मकराकरं च बहुशो तुच्छोच्छया प्राप्य यत् ।
प्राप्यं तुण्यवता जनेन कनकं कान्तं च कान्तादिकं,
तत्कांक्षा क्षुभिता मतिर्वत् निधानार्थं महातिप्रदम् ॥१०३१॥

नाना प्रकार के उपायों के समूह के द्वारा नीच आचरणों के द्वारा विशाल पृथ्वी पर भ्रमण करके और बहुत बार तुच्छ इच्छा से भयंकर समुद्र को प्राप्त करके गुणवान मानव के द्वारा प्राप्त करने योग्य जो सुवर्ण और मनोज्ञ कान्ता आदि

हैं, उस धनादि की इच्छा से क्षुभित मति है, महान अति को देने वाला निदान नामक आर्तध्यान है, यह खेद की बात है।

ग्लान्यश्रू द्गमशोक शोष जडता मूर्छांग कंपोत्कता,
निःश्वास स्वर भंग काष्ण्यं कृशतामौनाऽभिवीक्षामृति।
प्रस्वेदाऽनिमिषेणास्थिति रुजायाञ्चामृषोक्त्यादयः,
स्पष्टाः स्वस्य परस्य वाऽऽर्त्तजनितास्तज्ज्ञापकाः कायिकाः ॥१०३२॥

ग्लानि, अश्रुओं का निकालना, शोक, रोष, जड़ता, मूर्च्छा, अंग की कंपन, दीर्घ निश्वास, स्वर भंग, कृष्ण, कृशता, मौन, बार-बार देखना, मृत्यु, बार-बार पसीना आना, अनिमिषेण से देखना, अस्थिरता रोग, याचना, असत्य भाषण आदि अपने और पर के आर्तध्यान की ज्ञापक अथवा आर्तध्यान में जनित काय की चेष्टा स्पष्ट देखी जाती है।

अतिर्दुःख मतात जात जनितं स्यादार्त्तमतौ भवं,
पापाऽऽदान निदान मार्द्र सिचयं यद्वद्रजः संश्रयम्।
मिथ्यादृष्टि गुणादिषड् गुणपदं येन प्रमादास्पदं,
दुर्लेश्यात्रयजं सुदुःखजनकं तिर्यग्गति प्रापकम् ॥१०३३॥

असाता वेदनीय से उत्पन्न दुःख अति है, अति में होने वाला आर्त होता है, जिस प्रकार गीला वस्त्र रज से संश्रय का कारण है, उसी प्रकार आर्तध्यान पाप के आदान का कारण है, जिससे मिथ्यात्वादि षट् गुणस्थान होते हैं, प्रमाद का स्थान है, दुःख का जनक है और तिर्यंच गति का प्रापक है।

रौद्रध्यान भेद, और उनके लक्षण—

हिंसानन्दम सात कारण गुणं हिंसारुचिर्देहिनां,
भेदच्छेद विदारणासुहरणैरूपैश्च तैर्दारुणैः।
शेषेर्ष्याद्युदितैरसत्यवचनैरन्यस्य हान्या मृषा,
नंदं रौद्र मसात सन्तति पदे मिथ्याप्रलापे रुचिः ॥१०३४॥

भेद, च्छेद, विदारण, प्राणहरण आदि के द्वारा अन्य भी उन दारुण असाता कारणों के समूह के द्वारा प्राणियों की हिंसा में रुचि करना, हिंसानन्द नामक प्रथम रौद्र ध्यान है, शेष ईर्ष्या आदि से कथित असत्य वचनों के द्वारा दूसरे की हानि के लिए असाता की सन्तति के स्थान मिथ्या प्रलाप में रुचि रखना मृषानन्द नामक द्वितीय रौद्रध्यान है।

स्तेयानन्द मवाप्य यत्परधन वंद्यादि निंद्यैर्हितै,
रानदित्वमवाप्तुमुत्सुकतरं चेतश्च तंस्तद्भवेत् ।
स्वं संरक्ष्य विपक्षदूरमुदिता तोषोग्रता या तुसं,
रक्षानन्दमपि स्वकस्तु निखिलं निर्वैरि कुर्वे इति ।।१०३५।।

उन वन्द्यादि निन्दनीय चेष्टाओं के द्वारा दूसरे के धन को प्राप्त करके आनदत्व को प्राप्त करने के लिये उत्सुकतर चित्त है, वह स्तेयानन्द होता है, धन की रक्षा करने जो विपक्ष के दूर करने में हर्षित होकर उग्र सन्तोष है, वह संरक्षानन्द नामक रौद्रध्यान है, मैं सारी अपनी वस्तु को को वैर रहित करता हूं इस प्रकार के विचार का नाम भी संरक्षानन्द रौद्रध्यान है ।

अक्षापाटवमाननाऽक्ष्यरुणता दातश्च देहे महान्,
हेत्युत्क्षेपविरुक्षवाग्भ्रुकुटय: शक्ति प्रशंसात्मन: ।
स्वेद स्वाधर निष्ठुर ग्रह करा घातांगकंपादय:,
कायंका: स्वपरन्यबोध विषयास्तद्रौद्रभावोद्भवा: ।।१०३६।।

इन्द्रिय के विकलता आंख मुख का रक्त होना शरीर में महान दाह, शस्त्र का उत्क्षेपण, विरुक्ष वचन बोलना, भृकुटिका चढ़ना अपनी शक्ति की प्रशंसा पसीना आना, अपने अधरों को निष्ठुरता से ग्रहण, हाथों का घात अंग का कम्पन आदि होना स्व और पर के दृष्टिगोचर होने वाले उस रौद्र भाव से उत्पन्न कायिक चिह्न हैं ।

रुद्र: क्रूरतराशयो गत दयो रौद्रं रुद्रे भवं,
आर्द्रं चर्म यथोरुधूलिनिलयं तद्वत्कुकर्मालयम् ।
पंचस्वादि गुणेषु तीव्रतर तत्कृष्णात्रिलेश्योद्गतं,
प्रोद्य तीव्रतरार्ति नारक गति प्राप्तोर्निमित्तं मनम् ।।१०३७।।

क्रूर चित्तवाला दया रहित भाव रुद्र है, निश्चय से रौद्र में होने वाला परिणाम रौद्र ध्यान है, जैसे आर्द्र चमड़ा महान धूलि का स्थान होता है, उसी प्रकार कुकर्मों का स्थान है, पांच मिथ्यात्व आदि गुणस्थानों में तीव्रतर कृष्णादि तीन अशुभ लेश्या से उत्पन्न तीव्रतर अर्त्ति से नारक गति प्राप्ति का निमित्त माना है ।

शुभ ध्यान का लक्षण—

ध्याताऽपेतजनोक्त गीत वितताऽऽतोद्याविकोलाहले,
स्थाने स्थावरजंगमांगि रहिते पूते नितांतं समे ।

निश्छिद्रं निरुपद्रवे पृथुशिलेलाद्ये सुख स्पर्शिनि,
प्रध्यानाभिरतः स्थितो न नियमः स्वभ्यस्तयोगे स्वयम् ॥१०३८॥

मनुष्यों के द्वारा गाये गये गीत का समूह वादित्र आदि के कोलाहल से रहित स्थावर और जंगम प्राणियों से रहित पवित्र अत्यन्त समान निच्छिद्र निरुपद्रव सुख स्पर्श वाली विस्तरित शिला पृथ्वी आदि पर स्थित ध्यान करने वाला उत्कृष्ट ध्यान में लीन होता है, परन्तु अभ्यस्त योग में यह नियम नहीं है।

यानांगक्रिया प्रचालन वचोजृंभाद्यभावो मुनि,
व्युत्सर्गेण समावलंबक शिलास्तंभो निखातो यथा।
पर्यंकेन यथा सुखं स्वमनसः शय्यादिभिर्वा स्थितो,
निःसंगोऽस्तसमस्त बाह्य विषयाऽऽपूर्त्यशेषेन्द्रियः ॥१०३९॥
प्राणापान विनिग्रहादतितरां भ्रांतिर्मते रुच्छ्वस,
स्मन्दं मन्दमतो न नेत्र युगलं सम्यग्निमीलच्च यः।
प्रोन्मीलन्द शनैर्मनाग्दशनपंक्तस्यंग्राणि विभ्रन्मनः,
शांति मूर्तिमतो भिवार्त्तिजयिनीं स्वां मूर्तिमव्यूंजिताम् ॥१०४०॥
सद्दृष्टि र्मृदुताऽऽर्जवादि सहितः श्रेण्योरशेष श्रुतः
स्याद्ध्याता दशपूर्वविच्च नवपूर्वज्ञो परत्राऽपि च।
ध्येयन्यस्तमना निरस्त नियमः कालेषु संध्यादिषु,
निर्वाणोचित माद्य संहनन मेवाऽस्मिन्पुनर्ध्यातरि ॥१०४१॥

जिसके गमन के समय अंग की चंचलता, वचन, जंभाई आदि का अभाव है, जो शिला में अंकित स्तम्भ के समान कायोत्सर्ग से अचल खड़ा है अथवा पर्यंकासन से बैठा है, यथायोग्य शय्या आदि से भी स्थित है, परिग्रह रहित है, समस्त इन्द्रियों के व्यापार से शून्य है, प्राणापान के निरोध से अत्यन्त मन्द-मन्द श्वासोच्छ्वास ले रहा है, जिसके नेत्र अर्द्धोन्मीलित हैं, दाँतों की पंक्ति दांतों पर धारण किये हुए है, मन अत्यन्त शांत है, आर्तध्यान को जीतने वाली अत्यन्त सौम्य शरीर की आकृति को धारण करता है, क्षपक श्रेणी या उपशम श्रेणी पर आरूढ़ है। नव पूर्व या दश पूर्व का ज्ञाता सम्यग्दृष्टि आर्जवादि गुणों से युक्त होकर ध्येय में व्यस्त है, मन जिसका ऐसा मुनि तीनों काल की संध्या के समय में निरत नियम से ध्याता होता है। इस ध्याता के निर्वाण के योग्य प्रथम संहनन होता है।

धर्म्यं शुक्ल मिति द्विभेद मुदितं सद्ध्यानमाद्यन्तयो,
राज्ञाऽपाय विपाकगाच्च विचयात्संस्थान गात्स्याच्चतु ।
भेदं भूरि विकल्प जाल कलितं जैतान्नयान्नैगमा,
त्सर्वं सर्वविदो वचो नहि नयापेत यतो वस्तु च ।।१०४२।।

सद्ध्यान धर्मध्यान, शुक्लध्यान इस प्रकार दो प्रकार कहा है, उन दोनों में धर्मध्यान आज्ञा, अपाय, विपाक, संस्थान का विषय होने से चार प्रकार का है, जिनेन्द्र भगवान के नैगम नय की अपेक्षा से बहुत से विकल्प जाल से कलित है, क्योंकि सर्वज्ञ भगवान के सब वचन और वस्तु नय से रहित नहीं हैं ।

विज्ञातुं न तु शक्यमाकृति युताध्यक्षानुमानादिना,
त्यक्षानंत विषर्त्तवर्त्ति सकलं वस्त्वस्तदोषार्हताम् ।
आज्ञाया: किल यत्तपोरसमनृतं नैवेति तद्वस्तुन,
स्चिन्ताज्ञा विचयो विशुद्धनयचय: संज्ञानपुण्योदय: ।।१०४३।।

इन्द्रियातीत अनन्त पर्यायवर्ती सकल वस्तु आवरण युक्त प्रत्यक्ष ज्ञान और अनुमानादि के द्वारा जानने के लिये शक्य नहीं है, परन्तु वीतरागी अर्हंत की आज्ञा से वचनों का विचार है कि भगवान की आज्ञा से कहा गया वस्तु का स्वरूप असत्य नहीं है, इस प्रकार उस वस्तु का चिन्तवन संज्ञान और पुण्य का उदयभूत नय का समूह आज्ञा विचय है ।

दु:कर्मात्मदुरोहि तैरुपचितं मिथ्याविरत्यादिभि,
र्व्यापज्जन्म जरामृति प्रभृतयो वांङ्पाय एन: कृता: ।
जीवेनादिभवे भवेत्कथमतोऽपायादपाय: कदा,
कस्मिन्केन ममेत्यपाय विचय: सत्कारणा वीक्षणम् ।।१०४४।।

जीव के द्वारा पूर्व भव में मिथ्यात्व, अविरति आदि अपनी दुश्चेष्टाओं के द्वारा उपार्जित दुष्कर्म अथवा पापकृत आपत्ति, जन्म, जरा, मृत्यु प्रभृति अपाय हैं । इस अपाय से मेरा निराकरण कब होगा ? इस प्रकार सत्कारणों से चिन्तवन करना अपाय विचय है ।

गत्यादौ परिणामतस्तनुभृतां प्राप्तोदयोदीरणं,
क्लेशाश्लेषकरं सुखोत्कर करं कर्माशुभं तच्छुभम् ।

शक्त्या युक्तसंख्यलोक मितषट् स्थानान्वितं स्थानया,
इत्येवं विचयो विपाक विचयः प्रत्यस्तदोषोच्चय. ॥१०४५॥

गति आदि में परिणामों से प्राणियों के प्राप्त है उदय और उदीरणा जिन की, ऐसे क्लेशों को करने वाले और सुख को करने वाले असंख्यात लोक प्रमाण, षट्-स्थान से अन्वित शक्ति से युक्त अशुभ वह शुभ कर्म है, इस प्रकार विचार करना नष्ट हो गया है दोषों का समूह जिसका, ऐसा विपाक विचय है।

* बारह अनुप्रेक्षा *

सस्थानं यदनित्यताऽशरणता संसार एकाकिता,
ऽन्यत्वं चाशुचिताऽऽस्त्रवः सुनयतः स्यात्संवरो निर्जरा।
लोको बोध्यति दुर्लभत्वमपरो धर्मस्तदित्यन्वित,
भेदैः स्वैर्विचयोऽस्य चिंतनमनुप्रेक्षा स्मृतं द्वादश ॥१०४६॥

अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव और सुनय से संवर निर्जरा होती है। लोक बोधि की अति दुर्लभता, उत्कृष्ट धर्म, इस प्रकार बारह अनुप्रेक्षाएं हैं। उनका अपने-अपने भेदों से युक्त जो चिन्तवन करना है, वह संस्थान विचय ध्यान है।

अनित्य भावना

उत्पत्तिः प्रलयश्च पर्ययवशाद् द्रव्यात्मना नित्यता,
वस्तूनां निचये प्रतिक्षणमिहाज्ञानाज्जनो मन्यते।
नित्यत्वं द्रवबुबुदोपकलिकास्थैर्यं यथार्थादिके,
नष्टे नष्टधृतिः करोति व्रत शोकार्तो वृथाऽऽत्मीयके ॥१०४७॥

इस लोक में वस्तुओं के समूह में प्रतिक्षण द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा नित्यता है, पर्याय की अपेक्षा उत्पत्ति और विनाश है। अज्ञान से जन नष्ट होने वाले पानी और दीपक की कलिका में स्थिरता नित्यत्व मानता है, जिससे अपने धनादि के नष्ट हो जाने पर नष्ट हो गया है धैर्य जिसका, ऐसा मानव व्यर्थ शोक और दुःख को प्राप्त करता है।

अशरण भावना

मंत्रास्तंत्रततिस्तदन्वित कृतिर्दुर्गा द्विषद्दुर्गमा,
भृत्याः किं न भृताः सुहृत्ततिरपीत्येतेषु सत्सप्यगुः।

सर्वे पूर्णं महीभृतः क्षतिमतः कस्यापि कालत्रये,
त्राताऽत्रास्ति न नाशमीयुषि पुरा पुण्यार्जिते वाऽऽयुषि ॥१०४८॥

मन्त्र तन्त्रों का समूह, मन्त्र तन्त्र के जानने वाले की कृति, शत्रुओं से दुर्गम किले, मित्रों का समूह, नौकर रक्षक थे, इनके होने पर भी सर्व पूर्व राजा लोग क्या नाश को नहीं प्राप्त हुए ? इसलिये इस लोक में तीन कालों में पूर्व में उपार्जित आयु के नाश हो जाने पर किसका रक्षक कोई भी नहीं है, यह अशरण भावना है ।

संसार भावना

वृत्वा जातिगतिष्वाप्तकरणोऽनंतांगहारः सदा,
प्रोद्भूति प्रलयो नरामर मृगाद्याहार्यं पर्यायवान् ।
हित्वा सात्विक भाव जात मितरैर्भावैः स्वकर्मोद्भवैः,
जीवोऽयं नटवद्भ्रमत्यभिनवः सर्वत्र लोकत्रये ॥१०४९॥

पञ्च परिवर्तन रूप परिभ्रमण से ८४ लाख जाति और चार गतियों में प्राप्त किया है इन्द्रिय लाभ जिसने, अपरिमित शरीरधारी हमेशा उत्पत्ति और विनाशवान् नर, मानव, पशु आदि पर्यायों को धारण करने वाला यह जीव सात्विक भाव से उत्पन्न अनन्त ज्ञाननिधि को छोड़कर इतर स्वकर्मों से उत्पन्न मिथ्यात्वादि भावों के द्वारा नूतन शरीर को धारण करके सर्वत्र तीन लोक में नट के समान भ्रमण करता है । यह संसार भावना है ।

एकत्व भावना

कोऽप्याप्तः स्वजनोऽनुगोऽस्ति न परो वा याति जन्मांतरं,
जीवे जन्म निवाऽत्र मित्रनिकरैः किं नाशितं वा हृतम् ।
चित्रं गात्ररुजादिजं हृदयजं वाऽसातमेकस्ततो,
मृत्युत्पत्ति निवृतिषु प्रणयिनोऽन्येऽर्थेष्वनर्थे निजः ॥१०५०॥

आप्त स्वजन साथ में चलने वाला दूसरा कोई भी जन्मान्तर में साथ नहीं जाता है अथवा इस जन्म में मित्रों के समूह के द्वारा चित्र शरीर के रोगादि से उत्पन्न अथवा मानसिक असाता क्या किसी के द्वारा नाश की गई है अथवा हरी गई है ? जन्म, मरण और निर्वाण में जीव अकेला ही है । धन के समय दूसरे प्यारे बनते हैं, पाप में स्वयं ही जीव भागी होता है । यह एकत्व भावना है ।

अन्यत्व भावना

चैतन्यं जडतैकसाऽवयविसंदोहोदिताऽनेकता,
नित्यत्वं क्षयिता च मूर्ति वियतिमूर्तत्व मित्यादिभिः।
भेदं देहि शरीर योरगयन् किं नेक्षते वृद्धिम्,
देहं खेदिनि देहिनि स्थित मति कांतेऽत्र दुर्भिक्षवत् ॥१०५१॥

अवयवी के समूह में प्रकट हुए चैतन्य और अचैतन्य एकमेक हैं। चैतन्य नित्य है और क्षण ध्वंसी शरीर है, इसलिये शरीर और आत्मा में अनेकता है। मूर्ति के आश्रय है इसलिये मूर्त है, इत्यादि के द्वारा शरीर और आत्मा में भेद को नहीं मानता हुआ खेदकारी आत्मा के निकल जाने पर उत्कर्षता को प्राप्त हुए शरीर को दुर्भिक्ष के समान यहां पर स्थित क्या नहीं देखता है ? यह अन्यत्व भावना है।

अशुचि भावना

रेतः शोणि जातिधातु निचितं प्रच्छादितं चर्मणा,
सान्द्रोद्वित्तगलन्मलं बहुबिलैरंग जुगुप्सानुगाम्।
भीतिं किं न ततोत्य संस्कृति बहिश्चर्माद्विगात्रं न चेत्,
स्पृष्टुं द्रष्टुमपि क्षमोऽस्ति किमिवं त्रातुं पतत्र्यादितः ॥१०५२॥

वीर्य, रक्त, जाति आदि धातुओं से व्याप्त चमड़े के द्वारा आच्छादित नाक, आँख, कर्ण आदि बहुत से बिलों से अत्यन्त प्रवाह से बह रहा है मल जिसमें, ऐसा यह शरीर ग्लानि का अनुकरण करने वाली भय को क्या नहीं विस्तरित करता है ? यदि इस शरीर में संस्कार रहित बाहर का चर्म नहीं हो तो क्या इस शरीर को स्पर्श करने के लिये, देखने के लिये, पक्षी आदि से रक्षा करने के लिये कौन समर्थ है अर्थात् कोई नहीं है। यह अशुचि भावना है।

आश्रव भावना

देहे स्नेह युते लगत्य विरतं रेणोर्गणोऽयं यथा,
मिथ्यावृत्त कषाय योग कलुषेऽजस्त्र सजत्यंगिनि।
तद्वत स्वैक शरीरगा सुमिलिताऽनंताणवो वर्गणा,
विश्वात्मावयवेष्वनंतगुणना नो कर्मणा कर्मणाम् ॥१०५३॥

जैसे तेल सहित शरीर में रेणु का समूह निरन्तर लगता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग से कलुषित संसारी आत्मा में सारे आत्मा के

अवयवों पर निरन्तर अपने एक शरीर को प्राप्त होने वाली कर्मों की (नो कर्मों की) सम्यक् प्रकार से मिली हुई अनन्त अणु जिसमें, ऐसी अनन्त संख्या वाली वर्गणा प्राप्त होती है। ऐसा चिन्तवन करना आस्रव भावना है।

संवर भावना

दष्टे दुष्ट विषाहिनांऽगिनि यथा नष्ट प्रचेष्टे वि
पुष्याज्जांगुलिकेन मंत्र बलिना संस्तंभितं तिष्ठति,
सम्यक्त्व व्रत निष्कषाय परिणामाऽयोगताभिस्तथा,
मिथ्यात्वादिस्तु स्वहेतु विगमान्नूत्नेन सा नागमः ॥१०५४॥

जैसे दुष्ट विष वाले सर्प के द्वारा काटने पर नष्ट चेष्टा वाले प्राणी का विष वैद्य के द्वारा अथवा मन्त्र शक्ति के द्वारा कीलित हो जाता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व, व्रत, निष्कषाय परिणाम और अयोगता के द्वारा मिथ्यात्वादि अपने चार कारणों के नाश हो जाने से नूतन पापों का आगमन नहीं रहता है। ऐसा चिन्तवन करना संवर भावना है।

निर्जरा भावना

संश्लिष्टात्मल लस्य निर्गलनतो निःशेष विश्लेषत,
श्चान्तर्बाह्य चतुःस्वहेतुवशतः स्वर्णोपले स्वर्णता।
यद्वे हिनि कर्मणोऽशगलनान्निः शेष विश्लेषतः,
सम्यक्त्व ग्रहणाद्यनेक करणैस्तद्वद्धि शुद्धात्मता ॥१०५५॥

जिस प्रकार कर्षण, छेदन, तापन आदि कारणों के द्वारा अनादिकालीन सुवर्ण की कालिमा नष्ट हो जाती है और सुवर्ण शुद्ध बन जाता है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र आदि गुणों के द्वारा आत्मा की पाप कालिमा दूर हो जाती है और आत्मा शुद्ध बन जाती है ऐसा चिंतवन करना निर्जरा भावना है।

लोक भावना

मध्यांशः परितोऽनंतवियतो लोकस्त्रिवातावृतः,
पंच द्रव्य चितः प्रकृत रहितो नित्यः सदाऽवस्थितः।
संस्थानेन तु सुप्रतिष्ठक समोऽसंख्य प्रदेश प्रभो,
मध्यस्थ त्रस नालि रज भविना स्पृष्टं न दृष्टं पदम् ॥१०५६॥

अनन्तानन्त प्रदेशी, अखण्ड, सर्वव्यापी, आकाश के मध्य में घनवातवलय,

घनोदधिवातवलय और तनुवातवलयों से वेष्टित जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल से भरे हुए संस्थान से सुप्रतिष्ठाकार, नित्य, सदा व स्थित, स्वयंसिद्ध, असंख्यात, प्रदेशी, लोकाकाश है। उसके मध्य में एक राजू चौड़ी, चौदह राजू ऊँची त्रस नली है। संसारी प्राणी इस लोक को अपनी चर्म चक्षु के द्वारा पूर्ण रूप से देखने के लिए समर्थ नहीं है। इस प्रकार चिन्तवन करना लोक भावना है।

बोधि दुर्लभ भावना

नैकाक्षैर्विकलाक्षकैश्च करणासंज्ञैश्च पर्याप्तकैः,
लब्धा बोधिरगण्य पुण्य वशतः संपूर्ण पर्याप्तिभिः।
भव्यैः संज्ञिभि राप्तलब्धिविधिभिः केश्चित्कदाचित्कचित्,
प्राप्या सा रमतां मदीय हृदये स्वर्गापवर्गप्रदा ॥१०५७॥

वह बोधि, हीन पुण्य वाले एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय के द्वारा कभी भी प्राप्त करने योग्य नहीं है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और चारित्र की प्राप्ति को बोधि कहते हैं। जिसको क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्यलब्धि और करणलब्धि प्राप्त हो गई है, जो संज्ञी है, पञ्चेन्द्रिय है, पर्याप्त है, भव्य है, उसी को ही बोधि की प्राप्ति होती है। वह बोधि निरन्तर मेरे हृदय में वास करे। ऐसा निरन्तर चिंतवन करना बोधि दुर्लभ भावना है।

धर्म भावना

दाताऽभीष्ट विशिष्ट वस्तु निचय स्याकांक्षिणेऽपिक्षणा,
द्यत्तासि नरसारकादि भवसंभूतेः स्मृतेर्भोकृतेः।
हंताऽऽक्रान्त जगत्त्रयांतक रिपोर्यः स्वान्तगः संस्तुत,
स्त्राताऽशरणशरीरिणां नहि परो धर्मात्सुशर्म प्रदात ॥१०५८॥

संसार में अभीष्ट वस्तु को देने वाला धर्म है। स्मृति मात्र से भय देने वाली, नरनारकादि आपत्तियों से बचाने वाला जिन धर्म ही है। तीन जगत् के जीवों को दुःख देने वाले यमराज रूपी शत्रु का नाशक धर्म है। अशरण संसारियों को शरण देने वाला धर्म है, वह धर्म वस्तु का स्वभाव है। वह हृदय में रहता है तब ही जीव की रक्षा होती है। धर्म को छोड़कर इष्ट वस्तु को देने वाला, आपत्तियों से बचाने वाला, यमराज का नाशक, प्राणियों का रक्षक, दूसरा कोई नहीं है, यह धर्मभावना है।

धर्म का लक्षण—

श्रद्धानं सदशंकितादिसदनं तत्त्वार्थसंचिन्तनं,
संवेगः प्रशमोदयेन्द्रियदमः प्राज्योद्यमः संयमः ।
वैराग्यं वरगुप्तितातिमृदुता निर्मायिसाऽसंगता,
धर्मस्येति समस्त वस्तु परमोपेक्षा च लक्ष्मोदितम् ॥१०५६॥

तत्त्वार्थ श्रद्धान, निःशंकत्व तत्वार्थ चिन्तवन, संवेग, प्रशम, दया, इन्द्रिय-दमन, उत्कृष्ट उद्यम, संयम, वैराग्य, उत्कृष्ट गुप्ति, परिणामों की अति कोमलता, निर्मायित्व, असंगता, समस्त वस्तु के प्रति परम उपेक्षिता यह धर्म का लक्षण कहा है ।

धर्म्यं स्यान्निखिलार्थ सार्थ निहितं चित्तं समं संस्थितं,
सम्यग्दृष्टय यताविसप्तम गुणांतेषु प्रवृद्ध क्रमात् ।
साक्षात्संवर निर्जरादि करणं नानात्मनां कर्मणां,
सल्लेश्यात्रयजं च नाक सुखदं प्राग्यं क्रमासिद्धिदम् ॥१०६०॥

सकल पदार्थों के समूह में चित्त समान स्थित हो अर्थात् सुख-दुःख आदि में समान भाव और राग-द्वेष का अभाव धर्मध्यान है । यह धर्मध्यान अविरत सम्यक्-दृष्टि नामक चौथे गुणस्थान से लेकर अप्रमत्त नामक सातवें गुणस्थान तक क्रम से वृद्धि को प्राप्त होता है । साक्षात् नानात्मक कर्मों की निर्जरा का कारण है । पीत, पद्म, शुक्ल – इन तीन शुभ लेश्या वाले के ही होता है । उत्कृष्ट स्वर्ग के सुखों का दाता है और क्रम से मोक्षफल को देता है ।

(आचारसार, आ० वीरनन्दी)

शुक्लध्यान का स्वरूप

रागाद्युग्ररुजाकलाप कलितं सन्देह लोलायितं ।
विक्षिप्तं सकलेन्द्रियार्थ गहने कृत्वा मनो निश्चलम् ॥
संसार व्यसन प्रबन्ध विलयं मुक्तेर्विनोदास्पदं ।
धर्मध्यान मिदं विदन्तु निपुणा अत्यक्ष सौख्यार्थिनः ॥१०६१॥

अतीन्द्रिय सुख के चाहने वाले निपुण मुनि प्रथम ही रागादिक तीव्र रोगों के समूह से व्याप्त, अनेक संदेहों से चलायमान अर्थात् जब तक निर्णय न हो तब तक

स्थिर न रहने वाले और समस्त इन्द्रियों के विषय रूप गहन वन में विक्षिप्त अर्थात् भूले हुए मन को निश्चल करते हैं, संसार के कष्ट आपत्ति आदि व्यसनों के प्रबन्ध से रहित और मुक्ति के क्रीडा करने का स्थान ऐसे इस ध्यान को धर्म ध्यान कहते हैं।

भावार्थ :—मन को निश्चल करके धर्म ध्यान होता है; इसमें सांसारिक व्यापार के प्रवर्त्तन का सर्वथा अभाव है।

आत्मार्थं त्रय मुञ्च मोह गहनं मित्र विवेकं कुरु,
वैराग्यं भज भावयस्व नियतं भेदं शरीरात्मनोः।
धर्मध्यान सुधा समुद्र कुहरे कृत्वावगाहं परं,
पश्यानन्त सुख स्वभाव कलितं मुक्ते र्मुखाम्भोरुहम् ॥१०६२॥

हे आत्मन्, तू आत्मा के प्रयोजन का आश्रय कर अर्थात् और प्रयोजनों को छोड़कर केवल आत्मा के प्रयोजन का ही आश्रय कर तथा मोह रूपी वन को छोड़, विवेक अर्थात् भेद ज्ञान को मित्र बना, संसार देह के भोगों से वैराग्य का सेवन कर, और परमार्थ से जो शरीर और आत्मा में भेद है, उसका निश्चय से चिन्तवन कर, और धर्म ध्यान रूपी अमृत के समुद्र के कुहर (मध्य) में परम अवगाहन (स्नान) करके अनन्त सुख स्वभाव सहित मुक्ति के मुख कमल को देख।

शुक्ल ध्यान का निरूपण—

अथ धर्म मतिक्रान्तः शुद्धिं चात्यन्तिकी श्रितः।
ध्यातु मारभते वीरः शुक्ल मत्यन्त निर्मलम् ॥१०६३॥

इस धर्म ध्यान के अनन्तर धर्म ध्यान से अतिक्रान्त होकर अर्थात् निकल कर, अत्यन्त शुद्धता को प्राप्त हुआ, धीर वीर मुनि अत्यन्त निर्मल शुक्ल ध्यान के ध्यावने का प्रारम्भ करता है।

शुक्ल ध्यान का लक्षण—

निष्क्रियं करणातीतं ध्यान धारण वर्जितम्।
अन्तर्मुखं च यच्चित्तं तच्छुक्लमिति पठ्यते ॥१०६४॥

जो निष्क्रिय अर्थात् क्रिया रहित है, इन्द्रियातीत है, और ध्यान की धारणा से रहित है अर्थात् "मैं इसका ध्यान करूँ" ऐसी इच्छा से रहित है, और जिसमें चित्त अन्तर्मुख अर्थात् अपने स्वरूप के ही सन्मुख है; उसको शुक्ल ध्यान कहते हैं।

शुक्ल ध्यान करने योग्य कौन ?

आदि संहननोपेतः पूर्वज्ञः पुण्यचेष्टितः ।
चतुर्विधमपि ध्यानं स शुक्लं ध्यातुमर्हति ॥१०६५॥

जिसके प्रथम—वज्रवृषभनाराच संहनन है; जो पूर्व अर्थात् ग्यारह अंग चौदह पूर्व का जानने वाला है; और जिसकी पुण्यरूप चेष्टा हो अर्थात् शुद्ध चारित्र हो; वही मुनि चारों प्रकार के शुक्लध्यानों को धारण करने योग्य होता है ।

शुचिगुण योगाच्छुक्लं कषायरजसः क्षयादुपशमाद्वा ।
वैडूर्यमणिशिखामिव सुनिर्मलं निष्प्रकम्पं च ॥१०६६॥

आत्मा के शुचि गुण के सम्बन्ध से इसका नाम शुक्ल पड़ा है; कषाय रूपी रज के क्षय होने से अथवा उपशम होने से जो आत्मा के निर्मल परिणाम होते हैं, वही शुचि गुण का योग है, और वह शुक्ल ध्यान वैडूर्यमणि की शिखा के समान निर्मल और निष्कंप अर्थात् कंपता से रहित है ।

कषायमल विश्लेषात्प्रशमाद्वा प्रसूयते ।
यतः पुंसामतस्तज्ज्ञैः शुक्ल मुक्तं निरुक्तिकम् ॥१०६७॥

पुरुषों के कषाय रूपी मल के क्षय होने से अथवा उपशम होने से यह शुक्ल ध्यान होता है; इसलिए उस ध्यान के जानने वाले आचार्यों ने इसका नाम शुक्ल, ऐसा निरुक्ति पूर्वक अर्थात् सार्थक कहा है ।

छद्मस्थ योगिनामाद्ये द्वे तु शुक्ले प्रकीर्त्तिते ।
द्वे त्वन्त्ये क्षीण दोषाणां केवलज्ञान चक्षुषाम् ॥१०६८॥

शुक्ल ध्यान के पृथक्त्व वितर्क, एकत्व वितर्क, सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति, व्युपरत क्रिया निवृत्ति ऐसे चार भेद हैं; उनमें से पहले के दो अर्थात् पृथक्त्व वितर्क और एकत्ववितर्क तो छद्मस्थ योगी अर्थात् बारहवें गुणस्थान पर्यन्त अल्प ज्ञानियों के होते हैं और अन्त के दो शुक्ल ध्यान सर्वथा रागादि दोषों से रहित ऐसे केवल ज्ञानियों के होते हैं ।

श्रुतज्ञानार्थ सम्बन्धाच्छ्रुतालम्बनं पूर्वके ।
पूर्वेपरे जिनेन्द्रस्य निःशेषालम्बनच्युते ॥१०६९॥

प्रथम के दो शुक्ल ध्यान जो कि छद्मस्थों के होते हैं, वे श्रुतज्ञान के अर्थ के सम्बन्ध से श्रुत ज्ञान के आलंबनपूर्वक हैं अर्थात् उनमें श्रुतज्ञान पूर्वक पदार्थ का

आलंबन होता है; और अन्त के दो शुक्लध्यान, जो कि जिनेन्द्रदेव के होते हैं, वे समस्त आलंबन रहित होते हैं।

सवितर्कं सवीचारं सपृथक्त्वं च कीर्तितम् ।
शुक्ल माद्यं द्वितीयं तु विपर्यस्तमतोऽपरम् ॥१०७०॥

आदि के दो शुक्ल ध्यानों में पहला शुक्ल ध्यान वितर्क, विचार और पृथक्त्व सहित है, इसलिए इसका नाम पृथक्त्व वितर्क विचार है और दूसरा इससे विपर्यस्त है, सो ही कहते हैं।

सवितर्कमविचार मेकत्व पदलाञ्छितम् ।
कीर्तितं मुनिभिः शुक्लं द्वितीयमति निर्मलम् ॥१०७१॥

दूसरा शुक्लध्यान वितर्क सहित है, परन्तु विचार रहित है, और एकत्व पद से लाञ्छित अर्थात् सहित है; इसलिये इसका नाम मुनियों ने एकत्व वितर्क विचार कहा है; यह ध्यान अत्यन्त निर्मल है।

सूक्ष्म क्रिया प्रतीपाति तृतीयं सार्थनामकम् ।
समुच्छिन्नक्रियं ध्यानं तुर्यमार्यैर्निवेदितम् ॥१०७२॥

तीसरे शुक्लध्यान का सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाति ऐसा सार्थक नाम है; इसमें उपयोग की क्रिया नहीं है, परन्तु काय की क्रिया विद्यमान है; यह काय की क्रिया घटते-घटते जब सूक्ष्म रह जाती है, तब यह तीसरा शुक्ल ध्यान होता है, और इससे इसका सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाति ऐसा नाम है; और आर्य पुरुषों ने चौथे ध्यान का नाम समुच्छिन्न क्रिया अर्थात व्युपरत क्रिया निवृत्ति ऐसा कहा है; इसमें काय की क्रिया भी मिट जाती है।

तत्र त्रियोगिनामाद्यं द्वितीयं त्वेकयोगिनाम् ।
तृतीयं तनुयोगानां स्यात्तुरीयमयोगिनाम् ॥१०७३॥

शुक्ल ध्यान के चारों भेदों में पहला, जो पृथक्त्व वितर्क विचार है, सो मन, वचन, काय, इन तीन योगों वाले मुनियों के होता है; क्योंकि इसमें योग पलटते रहते हैं; दूसरा एकत्व वितर्क विचार किसी एक योग से ही होता है; क्योंकि इसमें योग पलटते नहीं; योगी जिस योग में लीन है, वही योग रहता है; तीसरा सूक्ष्म क्रिया-प्रतिपाति काय योग वाले के ही होता है; क्योंकि केवली भगवान् के केवल काय योग की सूक्ष्म क्रिया ही है; शेष दो योगों की क्रिया नहीं है; और चौथा समुच्छिन्न

क्रिया अयोग केवली के होती है, क्योंकि अयोग केवली के योगों की क्रिया का सर्वथा अभाव है ।

पृथक्त्वेन वितर्कस्य विचारो यत्र विद्यते ।
सवितर्कं सविचारं सपृथक्त्वं तदिष्यते ॥१०७४॥

जिस ध्यान में पृथक्-पृथक् रूप से वितर्क अर्थात् श्रुत का विचार अर्थात् संक्रमण होता है अर्थात् जिसमें अलग-अलग श्रुतज्ञान बदलता रहता है उसको सवितर्क सविचार सपृथकत्व ध्यान कहते हैं ।

अवीचारो वितर्कस्य यत्रैकत्वेन संस्थितः ।
सवितर्कमवीचारं तदेकत्वं विदुर्बुधाः ॥१०७५॥

जिस ध्यान में वितर्क का विचार (संक्रमण) नहीं होता और जो एक रूप में स्थित हो उसको पंडितजन सवितर्क अविचार रूप एकत्व ध्यान कहते हैं ।

पृथक्त्वं तत्र नानात्वं वितर्कः श्रुतमुच्यते ।
अर्थ व्यञ्जनयोगानां वीचारः संक्रमः स्मृतः ॥१०७६॥

वहां नानात्व अर्थात् अनेक पने को पृथकत्व कहते हैं, श्रुत ज्ञान को वितर्क कहते हैं और अर्थ, व्यञ्जन और योगों के संक्रमण का नाम विचार कहा गया है ।

अर्थादर्थान्तरापत्तिरर्थे संक्रान्ति रिष्यते ।
ज्ञेया व्यञ्जनसंक्रान्तिर्व्यञ्जनाद्व्यञ्जने स्थितिः ॥१०७७॥
स्यादियं योग संक्रांतिर्योगाद्योगान्तरे गतिः ।
विशुद्ध ध्यान सामर्थ्यात्क्षीण मोहस्य योगिनः ॥१०७८॥

एक अर्थ (पदार्थ) से दूससे अर्थ की प्राप्ति होना अर्थसंक्रान्ति है; एक व्यञ्जन से दूसरे व्यञ्जन में प्राप्त हो कर स्थिर होना व्यञ्जनसंक्रान्ति है; और एक योग से दूसरे योग गमन करना योग संक्रान्ति है; इस प्रकार विशुद्ध ध्यान के सामर्थ्य से जिसका मोहनीय कर्म नष्ट हो गया है ऐसे योगी के ये होते हैं ।

अर्थादर्थं वचः शब्दं योगोयोगं समाश्रयेत ।
पर्यायादपि पर्यायं द्रव्याणोश्चिन्तयेदणुम् ॥१०७९॥

एक अर्थ से दूसरे अर्थ का चिन्तवन करे; एक शब्द से दूसरे शब्द का और एक योग से दूसरे योग का आश्रय ले; एक पर्याय से दूसरे पर्याय का चिन्तवन करे; और द्रव्य रूप अणु से अणु का चिन्तवन करे; ऐसा अन्य ग्रन्थों में लिखा है ।

अर्थादिषु यथा ध्यानी संक्रामत्यविलम्बितम् ।
पुनर्व्यावर्त्तते तेन प्रकारेण स हि स्वयम् ॥१०८०॥

जो ध्यानी अर्थ व्यञ्जन आदि योगों में जैसे शीघ्रता से संक्रमण करता है वह ध्यानी अपने आप पुनः उसी प्रकार लौटता है ।

त्रियोगी पूर्व विद्यः स्यादिदं ध्यायत्यसौ मुनिः ।
सवितर्कं सविचारं सपृथक्त्वमतो मतम् ॥१०८१॥

जिसके तीनों योग होते हैं और पूर्व का जानने वाला होता है, वही मुनि इस पहले ध्यान को धारण करता है; इसलिये इस ध्यान का नाम सवितर्क सविचार सपृथकत्व कहा है ।

अस्याचिन्त्य प्रभावस्य सामर्थ्यात्स प्रशान्त धीः ।
मोहमुन्मूलयत्येव शमयत्यथवा क्षणे ॥१९८२॥

इस अचिन्त्य प्रभाव वाले ध्यान के सामर्थ्य से जिसका चित्त शान्त हो गया है ऐसा ध्यानी मुनि क्षणभर में मोहनीय कर्म का मूल से नाश करता है; अथवा उपशम करता है ।

इदमत्र तु तात्पर्यं श्रुतस्कन्धमहार्णवात् ।
अर्थमेकं समादाय ध्यान्नार्थान्तरं व्रजेत् ॥१०८३॥

इस ध्यान में अर्थादिक के पलटने का तात्पर्य यह है कि श्रुत स्कन्ध अर्थात् द्वादशांग शास्त्र रूप महा समुद्र से एक अर्थ को लेकर उसका ध्यान करता हुआ दूसरे अर्थ को प्राप्त होता है ।

शब्दाच्छब्दान्तरं यायद्योगं योगान्तरादपि ।
सविचार मिदं तस्मात्सवितर्कं च लक्ष्यते ॥१०८४॥

यह ध्यान एक शब्द से दूसरे शब्द पर जाता है और एक योग से दूसरे योग पर जाता है इसलिये इसका नाम सविचार सवितर्क कहते हैं ।

श्रुतस्कन्धमहासिन्धुं मवगाह्य महामुनिः ।
ध्यायेत्पृथक्त्व वितर्कं वीचारं ध्यानमग्रिमम् ॥१०८५॥

महामुनि द्वादशांग शास्त्र रूप महा समुद्र का अवगाहन करके, इस पृथकत्व-वितर्क विचार नामक पहले शुक्ल ध्यान को ध्यावे ।

एवं शान्तकषायात्मा कर्मकक्षाशु शुक्षणिः ।
एकत्वध्यानयोग्यः स्यात्पृथक्त्वेन जितांशयः ॥१०८६॥

इस प्रकार पृथक्त्व ध्यान से जिसने अपना चित्त जीत लिया है और जिसके कषाय शान्त हो गए हैं और जो कर्म रूप कक्ष अर्थात् तृण समूह अथवा वन को दग्ध करने के लिए अग्नि के समान है; ऐसा महामुनि एकत्व ध्यान के योग्य होता है ।

पृथक्त्वे तु यदा ध्यानी भवत्यमल मानसः ।
तदैकत्वस्य योग्यः स्यादाविर्भूतात्म विक्रमः ॥१०८७॥

जिस समय इस ध्यानी का चित्त पृथक्त्व ध्यान के द्वारा कषाय मल से रहित होता है, तब इस ध्यानी का पराक्रम प्रकट होता है और तभी यह एकत्व ध्यान के योग्य होता है । **भावार्थ**—एकत्व ध्यान, पृथक्त्व ध्यान पूर्वक ही होता है ।

क्षेयं प्रक्षीण मोहस्य पूर्वज्ञस्यामितद्युतेः ।
सवितर्कमिदं ध्यान मेकत्व मति निश्चलम् ॥१०८८॥

जिसका मोहनीय कर्म नष्ट हो गया है और जो पूर्व का जानने वाला है और जिसकी दीप्ति अपरिमित है, उस मुनि के अत्यन्त निश्चल ऐसा यह सवितर्क एकत्व ध्यान होता है ।

अपृथक्त्वमवीचारं सवितर्कं च योगिनः ।
एकत्वमेक योगस्य जायतेऽत्यन्त निर्मलम् ॥१०८९॥

किसी एक योग वाले मुनि के पृथक्त्व रहित, विचार रहित और वितर्क सहित ऐसा यह एकत्व ध्यान अत्यन्त निर्मल होता है ।

द्रव्यं चैकमणुं चैकं पर्यायं चैकमश्रमः ।
चिन्तयत्येक योगेन यत्रैकत्वं तदुच्यते ॥१०९०॥

जिस ध्यान में योगी खेद रहित होकर, एक द्रव्य को, एक अणु को अथवा एक पर्याय को एक योग से चिन्तवन करता है, उसको एकत्व ध्यान कहते हैं ।

एकं द्रव्यमथाणुं वा पर्यायं चिन्तयेद्यति ।
योगैकेन यदक्षीणं तदेकत्वमुदीरितम् ॥१०९१

यदि यति समर्थ होता हुआ एक योग से एक द्रव्य, एक अणु अथवा एक पर्याय का चिन्तवन करे उसे एकत्व ध्यान कहते हैं ।

अस्मिन् सुनिर्मल ध्यान हुताशे प्रविजृम्भिते ।
विलीयन्ते क्षणादेव घातिकर्माणि योगिनः ॥१०९२॥

योगी पुरुषों के अतिशय निर्मल एकत्ववितर्क अविचार नामक द्वितीय ध्यान रूपी अग्नि के प्रकट होते हुए घातिया कर्म क्षणमात्र में नष्ट हो जाते हैं।

दृग्बोधरोधक द्वन्द्वं मोहविघ्नस्य वा परम् ।
स क्षिणोति क्षणादेव शुक्लधूमध्वजार्चिषा ॥१०९३॥

ध्यानी मुनि इस दूसरे शुक्ल ध्यान रूपी अग्नि की ज्वाला से दर्शन और ज्ञान के आवरण करने वाले दर्शनावरण, ज्ञानावरण कर्म को, मोहनीय कर्म को और अन्तराय कर्म को क्षणमात्र में ही नष्ट कर देता है।

भावार्थ—इस एकत्व शुक्ल ध्यान से घाति कर्म शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं।

इस प्रकार पृथक्त्ववितर्क विचार और एकत्व वितर्क अविचार इन आदि के दोनों शुक्ल ध्यानों का निरूपण किया। इनका संक्षिप्त भावार्थ यह है कि पहले ध्यान में द्रव्य पर्यायरूप अर्थ से अर्थान्तर का संक्रमण करता है तथा उस अर्थ की संज्ञा रूप शास्त्र के वचन से वचनान्तर (दूसरे वचन) का संक्रमण करता है और तीनों योगों में से एक योग से दूसरा, दूसरे से तीसरा योगान्तर—इस तरह संक्रमण करता है; पलटते-पलटते ठहरता भी है, परन्तु उसी ध्यान की सन्तान चली जाती है, इसलिये उस ध्यान से मोहनीय कर्म का क्षय अथवा उपशम होता जाता है और दूसरे ध्यान में संक्रमण होना बन्द हो जाता है। तब शेष रहे हुए घातिया कर्मों का जड़ से नाश करके, केवल ज्ञान को प्राप्त होता है।

आत्मलाभमथासाद्य शुद्धिं चात्यन्तिकीं पराम् ।
प्राप्नोति केवलज्ञानं तथा केवलदर्शनम् ॥१०९४॥

एकत्व वितर्क अविचार ध्यान से घातिकर्म का नाश करके, अपने आत्म-लाभ को प्राप्त होता है और अत्यन्त उत्कृष्ट शुद्धता को पाकर केवलज्ञान और केवल दर्शन को प्राप्त करता है।

अलब्ध पूर्वं मासाद्य तदासौ ज्ञानदर्शने ।
वेत्ति पश्यति निःशेषं लोकालोकं यथास्थितम् ॥१०९५॥

वे ज्ञान और दर्शन दोनों अलब्धपूर्व हैं अर्थात् पहले कभी प्राप्त नहीं हुए थे

सो उनको पाकर, उसी समय वे केवली भगवान् समस्त लोक और अलोक को यथावत् देखते और जानते हैं ।

तदा स भगवान् देवः सर्वज्ञः सर्वदोदितः ।
अनन्त सुख वीर्यादिभूतेः स्यादग्रिमं पदम् ॥१०९६॥

जिस समय केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, उस समय वे भगवान् सर्वकाल में उदयरूप सर्वज्ञ देव होते हैं और अनन्त सुख, अनन्त वीर्य आदि विभूति के प्रथम स्थान होते हैं, वह भावमुक्त का स्वरूप है ।

इन्द्रचन्द्रार्क भोगीन्द्रनरामर नतक्रमः ।
विहरत्यवनौ पृष्ठं स शीलैश्वर्य लाञ्छितः ॥१०९७॥

इन्द्र, चन्द्रमा, सूर्य, धरणेन्द्र, मनुष्य और देवों से नमस्कृत हुए हैं चरण जिनके, ऐसे केवली भगवान् शील अर्थात् चौरासी लाख उत्तर गुण और ऐश्वर्य सहित पृथ्वीतल में विहार करते हैं ।

उन्मूलयति मिथ्यात्वं द्रव्यभावमलं विभुः ।
बोधयत्यपि निःशेषं भव्यराजीव मण्डलम् ॥१०९८॥

वे विभु सर्वज्ञ भगवान् पृथ्वीतल में विहार करके जीवों के द्रव्य मल और भाव मल रूप मिथ्यात्व का जड़ से नाश करते हैं और समस्त भव्य जीव रूपी कमलों की मण्डली (समूह) को प्रफुल्लित करते हैं ।

भावार्थ—जीवों के मिथ्यात्व को दूर करके उनको मोक्षमार्ग में लगाते हैं ।

ज्ञान लक्ष्मीं तपो लक्ष्मीं त्रिदशयोजिताम् ।
आत्यन्तिकीं च सम्प्राप्य धर्म चक्राधिपो भवेत् ॥१०९९॥

इस शुक्ल ध्यान के प्रभाव से ज्ञानलक्ष्मी, तपोलक्ष्मी और देवों की समवशरण लक्ष्मी तथा मोक्ष लक्ष्मी को पाकर, धर्मचक्र के चक्रवर्ती होते हैं ।

कल्याणविभवं श्रीमान् सर्वाभ्युदयसूचकम् ।
समासाद्य जगद्वन्द्यं त्रैलोक्याधिपतिर्भवेत् ॥११००॥

अन्तरंग बहिरंग लक्ष्मी सहित केवली भगवान् जगत् से वन्दनीय और सब अभ्युदयों का सूचक ऐसे कल्याणरूप विभव (सम्पदा) को पाकर, तीनों लोकों के अधिपति होते हैं ।

तन्नामग्रहणादेव निःशेषा जन्मजा रुजः ।
अप्यनादि समुद्भूता भव्यानां यान्ति लाघवम् ॥११०१॥

जिन भगवान् के नाम लेने से ही भव्य जीवों के अनादि काल से उत्पन्न हुए जन्म-मरण-जन्य समस्त रोग लघु (हल्के) हो जाते हैं ।

तदार्हन्त्यं परिप्राप्य स देवः सर्वगः शिवः ।
जायतेऽखिल कर्मौ घ जरामरण वर्जितः ॥११०२॥

तब वे सर्वगत और शिव ऐसे भगवान् अरहन्तपने को पाकर, सम्पूर्ण कर्मों के समूह और जरा-मरण से रहित हो जाते हैं ।

भावार्थ—अरहन्तपना पाकर सिद्ध परमेष्ठी होते हैं ।

तस्यैव परमैश्वर्यं चरण ज्ञानवैभवम् ।
ज्ञातु वक्तुमहं मन्ये योगिनामप्य गोचरम् ॥११०३॥

आचार्य कहते हैं कि मैं ऐसा मानता हूं कि उन सर्वज्ञ भगवान् का परम ऐश्वर्य, चारित्र और ज्ञान के विभव का जानना और कहना बड़े-बड़े योगियों को भी अगोचर है ।

मोहेन सह दुर्द्धर्षे हते घाति चतुष्टये ।
देवस्य व्यक्ति रूपेण शेषमास्ते चतुष्टयम् ॥११०४॥

केवली भगवान् के जब मोहनीय कर्म के साथ ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय—इन चार दुर्धर्ष घातिया कर्मों का नाश हो जाता है, तब अवशेष चार अघाति कर्म व्यक्तिरूप से रहते हैं ।

सर्वज्ञः क्षीणकर्मासौ केवलज्ञान भास्करः ।
अन्तर्मुहूर्त शेषायुस्तृतीयं ध्यानमर्हति ॥११०५॥

कर्मों से रहित और केवलज्ञान रूपी सूर्य से पदार्थों को प्रकाशित करने वाले ऐसे वे सर्वज्ञ जब अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आयु बाकी रह जाती है, तब तीसरे सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाति शुक्लध्यान के योग्य होते हैं ।

षण्मासायुषि शेषे संवृत्ता ये जिनाः प्रकर्षेण ।
ते यान्ति समुद्घातं शेषा भाज्याः समुद्घाते ॥११०६॥

जो जिनदेव उत्कृष्ट छः महीने की आयु अवशेष रहते हुए केवली हुए हैं, वे

अवश्य ही समुद्घात करते हैं और शेष अर्थात् जो छः महीने अधिक आयु रहते हुए केवली हुए हैं, वे समुद्घात में विकल्प रूप हैं।

भावार्थ—उनका कोई नियम नहीं है, समुद्घात करें और न भी करें।

यदायुरधिकानि स्युः कर्माणि परमेष्ठिनः।
समुद्घातविधिं साक्षात्प्रागे वारभते तदा ॥११०७॥

जब अरहन्त परमेष्ठी के आयुकर्म अन्तर्मुहूर्त अवशेष रह जाता है और अन्य तीनों कर्मों की स्थिति अधिक होती है, तब समुद्घात की विधि साक्षात् प्रथम ही प्रारम्भ करते हैं।

अनन्तवीर्य प्रथितप्रभावो दण्डं कपाटं प्रतरं विधाय।
स लोकमेनं समयैश्चतुर्भिर्निश्शेषमापूरयति क्रमेण ॥११०८॥

अनन्त वीर्य के द्वारा जिनका प्रभाव फैला हुआ है, ऐसे वे केवली भगवान् क्रम से दण्ड, कपाट, प्रतर—इन तीन क्रियाओं को तीन समय में करके चौथे समय में इन समस्त लोकों को पूरण करते हैं।

भावार्थ—आत्मा के प्रदेश पहले समय में दण्डरूप लम्बे, द्वितीय समय में कपाट रूप चौड़े, तीसरे समय में प्रतर रूप मोटे होते हैं और चौथे समय में प्रदेश समस्त लोक में भर जाते हैं; इसी को लोक पूरण कहते हैं। ये सब क्रियाएँ चार समय में होती हैं।

तदा स सर्वगः सार्वः सर्वज्ञः सर्वतोमुखः।
विश्वव्यापी विभुर्भर्त्ता विश्वमूर्त्ति महेश्वरः ॥११०९॥

केवली भगवान् जिस समय लोक-पूर्ण होते हैं, उस समय उनके सर्वगत, सार्व, सर्वज्ञ, सर्वतोमुख, विश्वव्यापी, विभु, भर्ता, विश्वमूर्ति और महेश्वर—ये नाम यथार्थ (सार्थक) होते हैं।

लोकपूरणमासाद्य करोति ध्यानवीर्यतः।
आयुः समानि कर्माणि सुक्रियानीय तत्क्षणे ॥१११०॥

केवली भगवान् लोक पूरण प्रदेशों को पाकर, ध्यान के बल से वेदनीय, नाम और गोत्र—इन तीनों अघातिया कर्मों की स्थिति घटाकर अर्थात् भोग में लाकर, आयुकर्म के समान स्थिति करते हैं।

भावार्थ—यदि वेदनीय, नाम और गोत्र कर्मों की स्थिति आयु कर्म से

अधिक हो तो लोक पूरण अवस्था में उनकी स्थिति आयु कर्म की स्थिति के समान कर लेते हैं।

ततः क्रमेण तेनैव स पश्चाद्विनिवर्तते ।
लोक पूरणतः श्रीमान् चतुर्भिः समयैः पुनः ॥१११॥

श्रीमान् केवली भगवान् पुनः लोक पूरण प्रदेशों से उसी क्रम से चार समयों में लौटकर स्वस्थ होते हैं।

भावार्थ—लोक पूरण से प्रतर, कपाट, दण्डरूप होकर, चौथे समय में शरीर के समान आत्म प्रदेशों को करते हैं।

काय योगे स्थितिं कृत्वा बादरेऽचिन्त्यचेष्टितः ।
सूक्ष्मी करोति वाक्चित्तयोगयुग्मं स बादरम् ॥१११२॥

जिनकी चेष्टा अचिन्त्य है, ऐसे केवली भगवान् उस समय बादर काय योग में स्थिति करके, बादर वचनयोग और बादर मनोयोग को सूक्ष्म करते हैं।

काय योगे ततस्त्यक्त्वा स्थितिमासाद्य तद्वये ।
स सूक्ष्मी कुरुते पश्चात् काय योगं च बादरम् ॥१११३॥

पुनः वे भगवान् काययोग को छोड़कर, वचनयोग और मनोयोग में स्थिति करके, बादर काययोग को सूक्ष्म करते हैं।

काय योगे ततः सूक्ष्मे स्थितिं कृत्वा पुनः क्षणात् ।
योग द्वयं निगृह्णाति सद्यो वाक्चित्तसंज्ञकम् ॥१११४॥

तत्पश्चात् सूक्ष्म काययोग में स्थिति करके, क्षणमात्र में उसी समय वचन-योग और मनोयोग दोनों का निग्रह करते हैं।

सूक्ष्म क्रियं ततो ध्यानं स साक्षात् ध्यातुमर्हति ।
सूक्ष्मैककाय योगस्थ स्तृतीयं यद्धि पठ्यते ॥१११५॥

तब यह सूक्ष्मक्रिया ध्यान को साक्षात् ध्यान करने योग्य होता है; और वह वहां पर सूक्ष्म एक काययोग में स्थित हुआ उसका ध्यान करता है। यही तृतीय सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाति ध्यान है।

ह्रासयन्ति विलीयन्ते कर्म प्रकृतयो द्रुतम् ।
उपान्त्ये देवदेवस्य मुक्ति श्री प्रतिबन्धकाः ॥१११६॥

तदनन्तर अयोग गुणस्थान के उपान्त्य अर्थात् अन्त समय के पहले समय में

देवाधिदेव के मुक्तिरूपी लक्ष्मी की प्रतिबन्धक कर्मों की बहत्तर प्रकृति शीघ्र ही नष्ट होती हैं।

तस्मिन्नेव क्षणे साक्षादाविर्भवति निर्मलम् ।
समुच्छिन्न क्रियं ध्यानमयोगि परमेष्ठिनः ॥१११७॥

भगवान् अयोगी परमेष्ठी के उसी अयोग गुणस्थान के उपान्त्य समय में साक्षात् निर्मल ऐसा समुच्छिन्नक्रिया नामक चौथा शुक्लध्यान प्रकट होता है।

विलयं वीतरागस्य पुनर्यान्ति त्रयोदश ।
चरमे समये सद्यः पर्यन्ते या व्यवस्थिताः ॥१११८॥

तत्पश्चात् वीतराग अयोगी केवली के अयोग गुणस्थान के अन्त समय में शेष रही हुई तेरह कर्म प्रकृति जो कि अब तक लगी हुई थीं, तत्काल ही विलय हो जाती हैं।

तदासौ निर्मलः शान्तो निष्कलङ्को निरामयः ।
जन्मजाने कदुर्वारबन्धव्यसन विच्युतः ॥१११९॥
सिद्धात्मा सुप्रसिद्धात्मा निष्पन्नात्मा निरञ्जनः ।
निष्क्रियो निष्कलः शुद्धो निर्विकल्पोऽति निर्मलः ॥११२०॥
आविर्भूतयथाख्यात चरणोऽनन्त वीर्यवान् ।
परां शुद्धि परिप्राप्तो दृष्टेर्बोधस्य चात्मनः ॥११२१॥
अयोगी व्यक्त योगत्वात्केवलोत्पाद निर्वृतः ।
साधितात्मस्वभावश्च परमेष्ठी परं प्रभुः ॥११२२॥
लघुपञ्चाक्षरोच्चारकालं स्थित्वा ततः परम् ।
स स्वभावाहृजत्यूर्ध्वं शुद्धात्मा वीतबन्धनः ॥११२३॥

उस अयोग केवली चौदहवें गुणस्थान में केवली भगवान् निर्मल, शान्त, निष्कलङ्क, निरामय और जन्म-मरण रूप संसार के अनेक दुर्निवार बन्ध के कष्टों से रहित हैं; इनका आत्मा सिद्ध, सुप्रसिद्ध और निष्पन्न हैं; तथा ये कर्म-मल रहित निरञ्जन हैं, क्रिया रहित हैं, शरीर रहित हैं, शुद्ध हैं, निर्विकल्प हैं और अत्यन्त निर्मल हैं; इनके यथाख्यात चारित्र प्रकट होता है अर्थात् चारित्र की पूर्णता हुई है; और अनन्त वीर्य सहित हैं अर्थात् अब अपने स्वरूप से कभी च्युत नहीं होते; और आत्मा के दर्शन ज्ञान की उत्कृष्ट शुद्धता को प्राप्त हुए हैं; तथा ये मन-वचन-काय के

योगों से रहित हैं इसलिये अयोगी हैं, अत्यन्त निर्वृत्त हैं इसलिये केवल हैं; इन्होंने अपना आत्मा सिद्ध कर लिया है, इसलिए साधितात्मा हैं; तथा स्वभाव स्वरूप हैं, परमेष्ठी हैं और उत्कृष्ट प्रभु हैं; उस चौदहवें गुणस्थान में इतने समय तक ठरहते हैं कि जितने समय में लघु पांच अक्षर का उच्चारण हो और फिर कर्म बन्धन से रहित वे शुद्धात्मा स्वभाव से ही ऊर्ध्वगमन करते हैं।

(ज्ञानार्णव, आ० शुभचन्द्रस्वामी)

* सिद्ध भगवान *

अवरोध विनिर्मुक्तं लोकाग्रं समये प्रभुः।
धर्माभावे ततोऽप्यूर्ध्वगमनं नानुमोयते ॥११२४॥

पश्चात् वे भगवान् उर्ध्व गमन कर एक समय में ही कर्म के अवरोध रहित लोक के अग्रभाग विषे विराजमान होते हैं। लोकाग्र भाग से आगे धर्मास्तिकाय का अभाव है, इसलिये इनका आगे गमन नहीं होता; यही अनुमान द्वारा दिखलाते हैं।

धर्मो गतिस्वभावोऽयमधर्मः स्थिति लक्षणः।
तयोर्योगात्पदार्थानां गतिस्थिती उदाहृते ॥११२५॥

जो गति स्वभाव है अर्थात् गमन करने में हेतु है, सो धर्मास्तिकाय है और जो स्थिति लक्षण रूप है अर्थात् पदार्थों की स्थिति में कारण है, सो अधर्मास्तिकाय है; इन दोनों के निमित्त से पदार्थों की गति और स्थिति कही गई है।

तौ लोकगमनान्तस्थौ ततो लोके गतिस्थिती।
अर्थानां न तु लोकान्त मतिक्रम्यं प्रवर्त्तते ॥११२६॥

वे धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय लोक के गमन पर्यन्त स्थित हैं, इसलिये पदार्थों की गति और स्थिति लोक में ही होती है; लोक का उल्लंघन करके नहीं होती, इसलिये भगवान् लोकाग्रभाग तक ही गमन करते हैं।

स्थिति मसाद्य सिद्धात्मा तत्र लोकाग्र मन्दिरे।
आस्ते स्वभाव जानन्त गुणैश्वर्योपलक्षितः ॥११२७॥

सिद्धात्मा उस लोकाग्रमन्दिर में स्थिति पाकर, स्वभाव से उत्पन्न हुए अनन्त गुण और ऐश्वर्य सहित विराजमान रहते हैं।

आत्यन्तिकं निराबाध मत्यक्षं स्व स्वभावजम्।
यत्सुखं देव देवस्य तद्वक्तुं केन पार्यते ॥११२८॥

सिद्धात्मा देवाधि देव का जो अत्यन्त, बाधा रहित, अतीन्द्रिय और अपने स्वभाव से ही उत्पन्न सुख है, उसका वर्णन कौन कर सकता है ?

तथाप्युद्देशतः किञ्चन् ब्रीवोमि सुख लक्षणम् ।
निष्ठितार्थस्य सिद्धस्य सर्वद्वन्द्वाति वर्त्तिनः ॥११२९॥

आचार्य कहते हैं कि जिनके समस्त प्रयोजन समाप्त हो चुके हैं और सुख के घातक ऐसे समस्त द्वन्द्वों से जो रहित है ऐसे सिद्ध भगवान के सुख को यद्यपि कोई नहीं कह सकता तथापि मैं नाममात्र से किञ्चित कहता हूँ ।

ये देवमनुजाः सर्वे सौख्यमाक्षार्थ सम्भवम् ।
निर्विशन्ति निराबाधं सर्वाक्षप्रीण नक्षमम् ॥११३०॥
सर्वेणातीत कालेन यच्च भुक्तं महर्द्धिकम् ।
भाविनो यच्च भोक्ष्यन्ति स्वादिष्ठं स्वान्तरञ्जकम् ॥११३१॥
अनन्तगुणितं तस्मादत्यक्षं स्वस्वभावजम् ।
एकस्मिन् समये भुङ्क्ते तत्सुखं परमेश्वरः ॥११३२॥

जो समस्त देव और मनुष्य इन्द्रियों के विषयों से उत्पन्न और इन्द्रियों के तृप्त करने में समर्थ ऐसे निराबाध सुख को वर्तमान काल में भोगते हैं तथा सबने अतीत काल में जो सुख भोगे हैं और जो सुख महाऋद्धियों से उत्पन्न हुए हैं तथा स्वादिष्ट और मन को प्रसन्न करने वाले जो सुख आगामी काल में भोगे जायेंगे उन समस्त सुखों से अनन्त गुणे अतीन्द्रिय और अपनेर स्वभाव से उत्पन्न होने वाले सुख को श्री सिद्ध भगवान् परमेश्वर एक ही समय में भोगते हैं ।

त्रिकाल विषया शेष द्रव्य पर्याय सङ्कुलम् ।
जगत्स्फुरति बोधार्के युगपद्योगिनां पतेः ॥११३३॥

योगीश्वरों के पति श्री सिद्ध भगवान के ज्ञान रूपी सूर्य में भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों काल सम्बन्धी समस्त द्रव्य पर्यायों से व्याप्त है जो यह जगत् है सो एक ही समय में स्पष्ट प्रत्यक्ष प्रतिभासित होता है ।

भावार्थ—इन्द्रिय ज्ञान तुच्छ है; उससे उत्पन्न हुआ सुख कितना हो सकता है; सिद्ध भगवान के एक ही समय में समस्त पदार्थों का ज्ञान होता है; इसलिये उनके सुख की क्या महिमा ? सुख का कारण ज्ञान है; जहाँ पूर्ण ज्ञान है, वहाँ पूर्ण सुख भी है ।

सर्वतोऽनंतमाकाश लोकेतर विकल्पितम् ।
तस्मिन्नपि घनीभूय यस्य ज्ञानं व्यवस्थितम् ॥११३४॥

यह आकाश सर्वतः अनन्त है और उसके लोक और अलोक ऐसे दो भेद हैं; उस समस्त आकाश में सिद्ध परमेष्ठी का ज्ञान घनीभूत हो कर भरा हुआ है ।

निद्रा तन्द्रा भय भ्रान्ति राग द्वेषार्त्ति संशयैः ।
शोक मोह जरा जन्म मरणाद्यैश्च विच्युतः ॥११३५॥

श्री सिद्ध भगवान् निद्रा, तन्द्रा, भय, भ्रान्ति, राग, द्वेष पीड़ा और संशय से रहित हैं तथा शोक, मोह, जरा, जन्म और मरण इत्यादिक से रहित हैं ।

क्षुत्तृट् श्रममदोन्माद मूर्च्छा मात्सर्य वर्जितः ।
वृद्धि ह्रास व्यतीतात्मा कल्पनातीत वैभवः ॥११३६॥

और क्षुधा, तृषा, खेद, मद, उन्माद, मूर्च्छा और मत्सर भावों सेरहित हैं और न इनकी आत्मा में वृद्धि ह्रास (घटना-बढ़ना) है और इनका विभव कल्पनातीत है ।

निष्कलः करणातीतो निर्विकल्पो निरञ्जनः ।
अनन्त वीर्यतापन्नो नित्यानन्दाभिनन्दितः ॥११३७॥

सिद्ध भगवान् शरीर रहित हैं, इन्द्रिय रहित हैं, मन के विकल्पों से रहित हैं, निरञ्जन हैं अर्थात् जिनके नये कर्मों का बंध नहीं है; अनन्त वीर्यता तो प्राप्त हुए हैं अर्थात् अपने स्वभाव से कभी च्युत नहीं होते और नित्य आनन्द से आनन्दरूप हैं अर्थात् जिनके सुख का कभी विच्छेद नहीं होता ।

परमेष्ठी परं ज्योतिः परिपूर्णः सनातनः ।
संसारसागरोत्तीर्णः कृत कृत्योऽचल स्थितिः ॥११३८॥

तथा परमेष्ठी (परम पद में विराजमान), परं ज्योतिः (ज्ञान प्रकाश रूप) परिपूर्ण सनातन (नित्य), संसार रूपी समुद्र से उत्तीर्ण अर्थात् संसार सम्बन्धी चेष्टाओं से रहित, कृत कृत्य (जिनको करना कुछ शेष नहीं है), अचलस्थिति (प्रदेशों की क्रियाओं से रहित) ऐसे सिद्ध भगवान् हैं ।

संतृप्तः सर्वदैवास्ते देवस्त्रैलोक्यमूर्ध्वनि ।
नोपमेयं सुखादीनां विद्यते परमेष्ठिनः ॥११३९॥

पुनः सिद्ध भगवान् संतृप्त हैं, तृष्णा रहित हैं, तीन लोक के शिखर पर सदा विराजमान हैं अर्थात् गमन रहित हैं, इस संसार में कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है,

जिसकी उपमा परमेष्ठी के सुख को दी जाय; अर्थात् उनका सुख निरुपमेय है।

चरस्थिरार्थ सम्पूर्णे भुवनाणां जगत्त्रये।
उपमानोपमेयत्व मन्ये स्वस्यैव स स्वयम् ॥११४०॥

आचार्य कहते हैं कि यदि चर और स्थिर पदार्थों से भरे हुए इन तीनों जगतों में उपमेय और उपमान ढूंढा जाय तो मैं ऐसा मानता हूँ कि वे स्वयं ही उपमान उपमेय रूप हैं। **भावार्थ**–सिद्ध भगवान् का उपमान सिद्ध ही है और किसी के साथ उसकी उपमा नहीं दी जा सकती।

यतोऽनन्त गुणानां स्यादनन्तां शोपि कस्यचित्।
ततो न शक्यते कर्तुं तेन साम्यं जगत्त्रये ॥११४१॥

क्योंकि तीनों जगत में उन सिद्ध परमेष्ठी के अनन्त गुणों का अनन्तवां अंश भी किसी पदार्थ में नहीं है, इसलिये उनकी समानता किसी के साथ नहीं कर सकते। **भावार्थ**–इसलिये उनका उपमान उपमेय भाव अपना अपने ही साथ है।

शक्यते न यथा ज्ञातुं पर्यन्तं व्योम कालयोः।
तथा स्वभाव जातानां गुणानां परमेष्ठिनः ॥११४२॥

जैसे कोई आकाश और काल का अन्त नहीं जान सकता, उसी तरह स्वभाव से उत्पन्न हुए परमेष्ठी के गुणों का अन्त भी कोई नहीं जान सकता।

गगनघन पतङ्गाहीन्द्र चन्द्रा चलेन्द्र,
क्षिति दहन समीराम्भोधिकल्पद्रुमाणाम्।
निचयमपि समस्तं निन्द्यमानं गुणानां,
परम् गुरुगुणौघैर्नोपमानत्वमेति ॥११४३॥

आकाश, मेघ, सूर्य, सर्पों का इन्द्र, चन्द्रमा, मेरु, पृथ्वी, अग्नि, वायु, समुद्र और कल्पवृक्षों के गुणों का समस्त समूह भी चिन्तवन किया जाय तो भी उनकी उपमा परम गुरु श्री सिद्ध परमेष्ठी के साथ नहीं हो सकती। **भावार्थ**–संसार में उत्तमोत्तम पदार्थों के गुण विचार करने से भी ऐसा कोई पदार्थ नहीं दिखता जिसके गुणों की उपमा सिद्ध परमेष्ठी के गुणों के साथ दी जाय।

नासत्पूर्वश्च पूर्वा मी निर्विशेष विकारजाः।
स्वाभाविक विशेषा ह्यभूत पूर्वाश्च तद्गुणाः ॥११४४॥

सिद्ध परमेष्ठी के गुण पूर्व में नहीं थे, ऐसे नहीं हैं अर्थात् पूर्व में भी शक्ति

रूप से विद्यमान ही थे, क्योंकि असत् का प्रादुर्भाव नहीं होता यह नियम है; यदि असत् का भी प्रादुर्भाव माना जाय तो शशशृंग का भी प्रादुर्भाव होना चाहिये, किंतु होता नहीं है; यही इस नियम में प्रमाण है और पूर्व में व्यक्त नहीं थे तथा विशेष विकार से उत्पन्न नहीं, किन्तु स्वभाविक हैं (इस प्रकार पूर्वार्द्ध द्वारा निषेध मुख कथन करके, इस विषय को पुनः उत्तरार्द्ध द्वारा विधि मुख वाक्य से कहते हैं) कि सिद्ध परमेष्ठि के गुण स्वाभाविक विशेष अर्थात् पूर्व में भी शक्ति की अपेक्षा स्वभाव में ही विद्यमान और अभूतपूर्व अर्थात् पूर्व में व्यक्त नहीं हुए ऐसे हैं। **भावार्थ**--आत्मा के जो स्वाभाविक गुण हैं, पूर्वावस्था में अव्यक्त रहते हैं, वे ही सिद्धावस्था में व्यक्त हो जाते हैं; और पूर्व में व्यक्त नहीं थे, इससे 'पूर्व में थे' ऐसा भी नहीं कह सकते; और स्वाभाविक होने के कारण उनको विकारज भी नहीं सकते, किंतु वे शक्ति (गुण) की अपेक्षा स्वाभाविक और व्यक्ति की अपेक्षा अभूतपूर्व ही कहे जाते हैं।

वाक्पथातीत महात्म्य मनन्त ज्ञान वैभवम्।
सिद्धात्मनां गुणग्रामं सर्वज्ञ ज्ञान गोचरम् ॥११४५॥

जिसका महात्म्य वचनों से कहने योग्य नहीं है और जिसके अनन्त ज्ञान का विभव है, ऐसे सिद्ध परमेष्ठी के गुणों का समूह सर्वज्ञ के ज्ञान के गोचर है।

स स्वयं यदि सर्वज्ञः सम्यगभ्येति समाहितः।
तथाप्येति न पर्यन्तं गुणानां परमेष्ठिनः ॥११४६॥

सर्वज्ञदेव परमेष्ठी के गुणों को जानते हैं, परन्तु यदि वे उन गुणों को समाधान सहित अच्छी तरह कहें तो वे भी उनका पार पा नहीं सकेंगे।

भावार्थ---वचन की संख्या अल्प है और गुण अनन्त हैं, इसलिये वे वचनों से नहीं कहे जा सकते।

त्रैलोक्य तिलकीभूतं निःशेष विषयच्युतम्।
निर्द्वन्दं नित्यमत्यक्षं स्वादिष्टं स्वस्वभावजम् ॥११४७॥
निरौपम्यमविच्छिन्नं स देवः परमेश्वरः।
तत्रैवास्ते स्थिरीभूतः पिबन् ज्ञान सुखामृतम् ॥११४८॥

श्री सिद्ध परमेष्ठी परमेश्वर देव समस्त त्रैलोक्य का तिलक स्वरूप, समस्त विषयों से रहित, निर्द्वन्द अर्थात् प्रतिपक्षी रहित, अविनाशी, अतीन्द्रिय, स्वादस्वरूप, अपने स्वभाव से ही उत्पन्न, उपमा रहित और विच्छेद रहित ज्ञान और सुख रूपी

अमृत को पीते हुए स्थिरीभूत तीन लोक के शिखर पर विराजमान रहते हैं।

देवः सोऽनन्तवीर्यो दृगवगम सुखानर्घ्यरत्नाकरीर्णः,
श्री मान्त्रैलोक्ययूर्ध्नि प्रतिवसति भवध्वान्तविध्वंस भानुः।
स्वात्मोत्थानन्त नित्य प्रवर शिव सुधाम्भोधिमग्नः स देवः,
सिद्धात्मा निर्विकल्पोऽप्रतिहत महिमा शश्ववानन्दधामा ॥११४९॥

जिनके अनन्त वीर्य हैं, अर्थात् प्राप्त स्वभाव से कभी च्युत नहीं होते, जो दर्शनज्ञान और सुख रूप अमूल्य रत्नों सहित हैं, जो संसार रूप अन्धकार को दूर कर सूर्य के समान विराजमान है, जो अपने आत्मा से ही उत्पन्न ऐसे अनन्त नित्य उत्कृष्ट शिवसुख रूपी अमृत के समुद्र में सदा मग्न हैं, विकल्प रहित हैं, जिनकी महिमा अप्रतिहत (जो किसी से आहत न होवे) है और जो निरन्तर आनन्द के निवास स्थान हैं, ऐसे श्री सिद्ध परमेष्ठी देव शोभायमान जो तीनों लोकों का मस्तक (शिखर) हैं, उसमें सदा निवास करते हैं।

इति कतिपय वर वर्णैर्ध्यानफलं कीर्तितं समासेन।
निःशेषं यदि वक्तुं प्रभवति देवः स्वयं वीरः ॥११५०॥

ऐसे पूर्वोक्त प्रकार कितने ही श्रेष्ठ अक्षरों के द्वारा संक्षेप से ध्यान का फल कहा है; इसका समस्त फल कहने को स्वयं श्री वर्द्धमान स्वामी ही समर्थ हो सकते हैं।

(आ. शुभचन्द्र स्वामी, ज्ञानार्णव)

इस प्रकार के ध्यानों को करके जीव अगर चरमशरीरी है तो मोक्षपद प्राप्त कर लेता है और चरमशरीरी नहीं है, तो देवत्व, कल्पवासी देवादिक में उत्पन्न होकर फिर मनुष्य पर्याय पाकर मोक्ष जाता है।

योगी चार आराधना की सिद्धि कैसे करें ?

संस्कारातिशयः प्रसन्न हृदयस्त्यागी क्षमी प्रोद्यमी,
प्रव्यक्त स्व पर स्थितिः शुभवचोरत्नावली राजितः।
शूरः शील परो गुणस्थिर रुचिर्भव्योऽभिमानी परं,
साध्वीं साधयति स्वभाव सुभगामाराधनां नायिकाम् ॥११५१॥

उत्तम संस्कार वाला, प्रसन्न हृदय वाला, समस्त परिग्रह का त्यागी, क्षमावान, आत्मपुरुषार्थी, प्रव्यक्त है, स्व पर स्थिति जिसकी, शुभ वचन बोलने वाला, सम्यग्दर्शनादि रत्नों से शोभित, शूरवीर, शीलवान्, गुणों में स्थिर रुचि रखने वाला, भव्य,

स्वाभिमानी मानस ही केवल स्वभाव से मान्य प्रशंसनीय सिद्धि की प्राप्त कराने वाली आराधना को साधता है।

शेषेऽल्पे निज जीवने जन हितं देशं महीशान्वितं,
नाना जैनजनास्पदं सुख पदं सत्संगिनां योगिनाम् ।
संप्राप्यात्म मनोगतं बहुमत सम्यधिवेद्य स्थितः,
सूरिभ्यः सकलैश्च तैः सुविदितः संघान्वितैः स्वीकृतः ।।११५२।

मेरी आयु अल्प है, ऐसा जानकर यतिराज जनता का हित करने वाले राजा से शोभित, नाना जैन लोगों से भरे हुये, सत्पुरुष योगिजनों के रहने का स्थान ऐसे देश में जाकर बहुजनों के द्वारा माननीय अपने मनोगत विचारों को आचार्य के समक्ष भली प्रकार से निवेदन करता है। तदनन्तर सकल संघ के द्वारा स्वीकृत किया जाता है।

आचार्यैः परिचर्ययाऽऽहितहितैः सद्भ्यून पंचाशता,
द्वाभ्यां वाऽतिजघन्यतः परिवृतः प्रीत्योत्तमार्थार्थ्यतः ।
आलोच्याऽऽत्मकृतं कृती त्रिकरणैर्दोष विशुद्धाशयः,
श्रुत्वातः प्रवरं प्रतिक्रमणमध्यारुह्य सत्संस्तरम् ।।११५३।।
प्राज्ञोऽसौ क्रमशोऽशनं परिहन्नेकैकमास्वादयत,
त्सम्यग्दर्शितमिष्ट मिष्ट मसकृत्कांक्षाक्षयार्थं बुधैः ।
हित्वाऽतस्त्रिविधाशनं धृतिकरं किं स्तोकमेतन्मया,
भुक्तात्पूर्वमनेकमेरुमहतो मे तृप्तिकस्येत्यतः ।।११५४।।
त्यक्त्वाऽतः कुशलः क्रमेण विविधं घोरः समाध्याप्तये,
पानं सिक्थयुतं विलेपि सरसं निःस्नेह मच्छं पयः ।
किं तृप्तिर्भवतीयतो भवभवे पीतादजातेत्यतो,
नानानीरधि नीरतोऽतिमहतो मे कर्मधर्मार्तिनः ।।११५५।।
ज्ञाताऽऽस्वाद समस्त वस्तु भिरलं वाहर्यरसारैः परं,
जैनेन्द्रं वचनामृतं जननमृत्यातंक नाशोति तत् ।
धृत्वा पंचगुरुन्मनस्य विचलं तन्मन्त्रमुच्चाश्यन्,
धर्म्यं शुक्लमपि प्रकृष्ट फलदं ध्यायंस्तनुं व्युत्सृजेत् ।।११५६।।

उत्कृष्ट अड़तालीस और जघन्य दो आचार्य (साधु) जिसकी प्रीति से परिचर्या करते हैं तथा विशुद्ध आशयवाला क्षपक पुण्यात्मक उत्तमार्थ के लिये अपने

दोषों को मन वचन काय से आलोचना करे तथा उत्तमार्थ प्रतिक्रमण सुन कर समीचीन संस्तर पर आरूढ हो, अर्थात् सल्लेखना धारण करे। तदनन्तर आहार की कांक्षा को क्षय करने के लिये बुद्धिमान आचार्य के द्वारा बार-बार दिखाये गये इष्ट और स्वाद युक्त आहार का एक-एक आस्वादन करके अशन का त्याग करे। तदनन्तर अहो मैंने पूर्व में बहुत पदार्थों का भक्षण किया है, अब तक उनसे तृप्ति नहीं हुई तो इस स्तोक पदार्थों से क्या तृप्ति हो सकती है, कदापि नहीं, ऐसा विचार कर क्षपक खाद्य और लेह्य इन पदार्थों का त्याग कर देता है। तदन्तर कर्म रूपी ताप से दुःखी मेरी प्यास समुद्रों के पानी पीने से शांत नहीं हुई तो क्या ? इस अल्प पेय से मेरी तृप्ति हो सकती है? कदापि नहीं हो सकती, ऐसा विचार कर क्रमशः दूध, छाछ, स्वच्छ पानी का भी त्याग करता है। जिसने वस्तु का स्वरूप जान लिया है, अनादि काल से अनुभूत दृष्ट, श्रुत बाह्य वस्तुओं से क्या प्रयोजन है ? बाह्य पदार्थों का संयोग ही दुःख दायक है, इस प्रकार की भावनाओं से पवित्रात्मा, क्षपक, जन्म, जरा, मृत्यु के नाशक जैनेन्द्र भगवान के वचनरूपी अमृत का पानकर और पंच परमेष्ठी को अविचल रूप से मन में धारण करता हुआ तथा पंचपरमेष्ठी वाचक मन्त्र को वचन से उच्चारण करता हुआ उत्तम स्वर्ग और मोक्ष फल को देने वाले धर्मध्यान और शुक्लध्यान में लीन होता हुआ शरीर को छोड़े।

देवैस्तिर्यग चेतनैश्च मनुजैः प्राप्तोप सर्गस्तदा,
व्यक्त्वाऽऽहार शरीर संगमखिलं बाह्याऽविरामावधि।
सावद्यं सकलं च निर्मल मना ध्याने प्रशस्ते स्थित,
स्तिष्ठेत्वं च गुरुनभिमत फल प्राप्त्यभ्यु पायानपि ॥११५७॥

देवकृत, तिर्यंचकृत, मानवकृत और अचेतन कृत उपसर्ग के आ जाने पर, जब तक उपसर्ग दूर न हो तब तक अखिल आहार, परिग्रह और सकल सावद्य का त्याग करके योगीगण अभिमत फल के प्राप्ति के कारणभूत पंच परमेष्ठी का निर्मल चित से चितवन करते हुये धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान में स्थिर होवे।

इंगिन्यां चान्य संपादितहित विरतौ वर्णितोयोऽत्र भक्त,
प्रत्याख्याने क्रमोऽसौ निरतिशयमृतौ स्वोपकार प्रवृतौ।
ज्ञेयः प्रायोपगत्यां स्वपरहित कृत्यस्कवांच्छाप्रवृतौ,
ताभिः सप्ताष्ट जन्म स्वपगतदुरितां मोक्षलक्ष्मीं लभन्ते ॥११५८॥

जब यह ज्ञान हो जाय कि अब मेरा जीवन अल्प है, तब क्रम से अन्न का त्याग, दूध आदि स्निग्ध पदार्थों का त्याग, तदनन्तर समस्त आहार का त्याग किया जाता है। शरीर की वैय्यावृत्ति का त्याग नहीं किया जाता है, वह भक्त प्रत्याख्यान मरण है। उसका उत्कृष्ट काल बारह वर्ष है, जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है। और जिसमें आहार पानी के त्याग के साथ अपने शरीर की वैय्यावृत्ति भी दूसरों से नहीं कराता है, वह इंगिनी मरण है। जिस संन्यास में अपने शरीर की वैय्यावृत्ति दूसरे से भी नहीं कराता है और अपने हाथों से भी नहीं करता है, केवल ध्यान में मग्न रहता है, उसको प्रायोपगमन प्रत्याख्यान कहते हैं। आहार पानी के त्याग की विधि तीनों में समान है, इन तीनों प्रकार के संन्यासपूर्वक मरण करने वाला यतिराज सात आठ भव में निश्चय से मोक्ष पद को प्राप्त कर लेता है।

दीक्षामादाय शिक्षामथ गणधरतां रक्षणार्थं गणस्य,
संस्कारं स्वस्य भावैः शमदमविभवैर्योऽत्र संल्लेखना च।

क्रोधादीनां विधाय प्रथितपृथुयशाः साधयेदुत्तमार्थ,
सः स्यात्सद्भव्य सस्योत्पल निकरमुदं मेघचन्द्रो मुनीन्द्रः ॥११५६॥

प्रथम दीक्षा शिक्षा और गण की रक्षा के लिये आचार्य पद को धारण करके विख्यात यश का धारी मुनिराज तदनन्तर अपने समता इन्द्रिय मन आदि विभवों के द्वारा क्रोधादि कषायों के संस्कार को कृश कर करके उत्तमार्थ को सिद्ध करते हैं। वह मुनि भव्य जीवरूपी धान्य के लिए मेघ और भव्य कमलों के लिए चन्द्रमा के समान होते हैं।

आराधना का विशेष स्वरूप भगवती आराधना से जानना।

(वीरनन्दीस्वामी, आचारसार)

पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ, स्नातक, इन पांच प्रकार के मुनियों का स्वरूप—

पुलाक बकुश कुशील निर्ग्रन्थ स्नातकाः निर्ग्रन्थाः।

पुलाक—जो उत्तर गुणों की भावना से रहित हो और जिनके मूलगुणों में भी कभी-कभी दोष लग जाते हों, उन्हें पुलाक कहते हैं। पुलाक का अर्थ है, मल

सहित तण्डूल। पुलाक के समान कुछ दोष सहित होने से मुनियों को पुलाक कहते हैं।

बकुश—जो मूलगुणों का निर्दोष पालन करते हों, लेकिन शरीर और उपकरणों से शोभा बढ़ाने की इच्छा रखते हैं। और परिवार में मोह रखते हैं, उनको बकुश कहते हैं। बकुश का अर्थ है, शबल (चितकबरा)।

कुशील—के दो भेद हैं—प्रतिसेवना कुशील और कषाय कुशील। जो उपकरण तथा शरीर आदि से पूर्ण विरक्त न हो तथा जो मूल और उत्तर गुणों का निर्दोष पालन करते हैं, लेकिन जिनके उत्तर गुणों की कभी-कभी विराधना हो जाती हो, उनको प्रतिसेवना कुशील कहते हैं।

कषाय कुशील—अन्य कषायों को जीत लेने के कारण केवल संज्वलन कषाय का ही उदय हो, उनको कषाय कुशील कहते हैं।

निर्ग्रन्थ—जिस प्रकार जल में लकड़ी की रेखा अप्रकट रहती है। उसी प्रकार जिनके कर्मों का उदय अप्रकट हो और जिनको अन्तर्मुहूर्त में केवल ज्ञान उत्पन्न होने वाला हो, उनको निर्ग्रन्थ कहते हैं।

स्नातक—घातिया कर्मों का नाश करने वाले केवली भगवान् को स्नातक कहते हैं।

यद्यपि चारित्र के तारतम्य के कारण इनमें भेद पाया जाता है, लेकिन नैगम आदि नय की अपेक्षा से इन पांचों प्रकार के साधुओं को निर्ग्रन्थ कहते हैं।

पुलाक आदि मुनियों में विशेषता—

संयम श्रुत प्रतिसेवना तीर्थ लिङ्ग लेश्योपपाद स्थान विकल्पतः साध्याः।

संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिङ्ग, लेश्या, उपपाद और स्थान इन आठ अनुयोगों के द्वारा पुलाक आदि मुनियों में परस्पर विशेषता पाई जाती है।

पुलाक, बकुश और प्रतिसेवना कुशील इन मुनियों के सामायिक और छेदोपस्थापना चारित्र होते हैं।

कषाय कुशील के यथाख्यात चारित्र को छोड़कर अन्य चार चारित्र होते हैं।

निर्ग्रन्थ और स्नातक के यथाख्यात चारित्र होता है।

उत्कृष्ट से पुलाक, बकुश और प्रतिसेवना कुशील मुनि अभिन्नाक्षर दश पूर्व

के ज्ञाता होते हैं।

अभिन्नाक्षर का अर्थ—जो एक भी अक्षर से न्यून न हो। अर्थात् उक्त मुनि दश पूर्व के पूर्ण ज्ञाता होते हैं। कषाय कुशील और निर्ग्रन्थ चौदह पूर्व के ज्ञाता होते हैं। जघन्य से पुलाक आचार शास्त्र का निरूपण करते हैं। बकुश, कुशील और निर्ग्रन्थ आठ प्रवचन मातृकाओं का निरूपण करते हैं। पाँच समिति और तीन गुप्तियों को आठ प्रवचन मातृका कहते हैं। स्नातकों के केवलज्ञान होता है, श्रुत नहीं होता।

व्रतों में दोष लगने को प्रतिसेवना कहते हैं। पुलाक के पाँच महाव्रतों और रात्रि भोजन त्याग व्रत में विराधना होती है। दूसरे के उपरोध से किसी एक व्रत की प्रतिसेवना होती है। अर्थात् वह एक व्रत का त्याग कर देता है।

प्रश्न—रात्रि भोजन त्याग में विराधना कैसे होती है ?

उत्तर—इसके द्वारा श्रावक आदि का उपकार होगा ऐसा विचार कर पुलाक मुनि विद्यार्थी आदि को रात्रि में भोजन कराकर, रात्रि भोजन त्याग व्रत का विराधक होता है।

बकुश के दो भेद—उपकरण बकुश और शरीर बकुश।

उपकरण बकुश नाना प्रकार के संस्कार युक्त उपकरणों को चाहता है।

शरीर बकुश अपने शरीर में तेल मर्दन आदि संस्कारों को करता है, यही दोनों की प्रतिसेवना है। प्रतिसेवना कुशील मूलगुणों की विराधना नहीं करता है। किन्तु उत्तर गुणों की विराधना कभी करता है, इसकी यही प्रतिसेवना है।

कषाय कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक के प्रतिसेवना नहीं होती है। ये पांचों प्रकार के मुनि, सब तीर्थंकरों के समय में होते हैं।

लिङ्ग के दो भेद हैं—द्रव्य लिङ्ग और भाव लिङ्ग।

पांचों प्रकार के मुनियों में भाव लिङ्ग समान रूप से पाया जाता है।

द्रव्य लिङ्ग की अपेक्षा उनमें निम्न प्रकार से भेद पाया जाता है—

कोई असमर्थ मुनि शीतकाल आदि में कम्बल आदि वस्त्रों को ग्रहण कर लेते हैं, लेकिन उस वस्त्र को न धोते हैं और न फट जाने पर सीते हैं, तथा कुछ समय बाद उनको छोड़ देते हैं। कोई मुनि शरीर में विकार उत्पन्न होने से लज्जा के

कारण वस्त्रों को ग्रहण कर लेते हैं। इस प्रकार का व्याख्यान भगवती आराधना में अपवाद रूप से बतलाया है। इसी आधार को मानकार कुछ लोग मुनियों में सचेलता (वस्त्र पहिनना) मानते हैं। लेकिन ऐसा मानना ठीक नहीं है। कभी किसी मुनि का वस्त्र धारण कर लेना तो केवल अपवाद है, उत्सर्ग मार्ग को अचेलकता ही है, और वही साक्षात् मोक्ष का कारण होती है। उपकरण कुशील मुनि को अपेक्षा अपवाद मार्ग का व्याख्यान किया गया है, अर्थात् उपकरण कुशील मुनि कदाचित अपवाद मार्ग पर चलते हैं।

पुलाक के पीत, पद्म और शुक्ल, ये तीन लेश्याएँ होती हैं। बकुश और प्रतिसेवना कुशील के छहों लेश्यायें होती हैं।

प्रश्न :—बकुश और प्रतिसेवना कुशील के कृष्ण, नील और कापोत ये तीन लेश्याएँ कैसे होती हैं ?

उत्तर :—पुलाक के उपकरणों में आसक्ति होने से और प्रतिसेवना कुशील के उत्तर गुणों में विराधना होने के कारण कभी आर्त्तध्यान हो सकता है। अतः आर्तध्यान होने से आदि की तीन लेश्याओं का होना भी संभव है। पुलाक के आर्त्तध्यान का कोई कारण न होने से अन्त की तीन लेश्याएँ ही होती हैं। कषाय कुशील के अन्त की चार लेश्याएँ ही होती हैं। कषाय कुशील के संज्वलन कषाय का उदय होने से कापोत लेश्या होती है। निर्ग्रन्थ और स्नातक के केवल शुक्ल लेश्या ही होती है। अयोग केवली के लेश्या नहीं होती है।

उत्कृष्ट से पुलाक का अठारह सागर की स्थिति वाले सहस्त्रार स्वर्ग के देवों में उत्पाद होता है। बकुश और प्रतिसेवना कुशील का बाईस सागर की स्थिति वाले आरण और अच्युत स्वर्ग के देवों में उत्पात होता है। कषाय कुशील और निर्ग्रन्थों का तैंतीस सागर की स्थिति वाले सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के देवों में होता है। स्नातक का उपपाद मोक्ष में होता है।

कषाय के निमित्त से होने वाले संयम स्थान असंख्यात है। पुलाक और कषाय कुशील के सर्व जघन्य असंख्यात संयम स्थान होते हैं। वे दोनों एक साथ असंख्यात स्थानों तक जाते हैं, बाद में पुलाक साथ छोड़ देता है, इसके बाद कषाय कुशील अकेला ही असंख्यात स्थानों तक जाता है। पुनः कषाय कुशील प्रतिसेवना

कुशील और बकुश, एक साथ असंख्यात स्थानों तक जाते हैं, बाद में बकुश साथ छोड़ देता है। और असंख्यात स्थान जाने के बाद प्रतिसेवना कुशील भी साथ छोड़ देता है। पुनः असंख्यात स्थान जाने के बाद कषाय कुशील की भी निवृत्ति हो जाती है। इसके बाद निर्ग्रन्थ असंख्यात अकषाय निमित्तक संयम स्थानों तक जाता है, और बाद में उसकी भी निवृत्ति हो जाती है। इसके अनन्तर एक संयम स्थान तक जाने के बाद स्नातक को निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है। स्नातक की संयम लब्धि अनन्त गुणी होती है।

(तत्त्वार्थवृत्ति अ. ६ सूत्र नं. ४७-४८)

कषायों से आकुलित होकर जीव दुखी हो रहा है।

क्षयोपशमरूप इन्द्रियों से तो इच्छा पूर्ण होती नहीं है, इसलिए मोह के निमित्त से इन्द्रियों को अपने-अपने विषय ग्रहण की निरन्तर इच्छा होती ही रहती है; उससे आकुलित होकर दुःखी हो रहा है। ऐसा दुःखी हो रहा है कि किसी एक विषय के ग्रहण के अर्थ अपने मरण को भी नहीं गिनता है। जैसे हाथी को कपट की हथिनी का शरीर स्पर्श करने की, मच्छ को बंशी में लगा हुआ मांस का स्वाद लेने की, भ्रमर को कमल-सुगन्ध सूंघने की, पतंगे को दीपक का वर्ण देखने की, और हिरण को राग सुनने की इच्छा ऐसी होती है कि तत्काल मरना भासित हो तथापि मरण को नहीं गिनते। विषयों का ग्रहण करने पर, उसके मरण होता था, विषय सेवन नहीं करने पर इन्द्रियों की पीड़ा अधिक भासित होती है। इन इन्द्रियों की पीड़ा से पीड़ितरूप सर्व जीव निर्विचार होकर जैसे कोई दुःखी पर्वत से गिर पड़े वैसे ही विषयों में छलांग लगाते हैं। नाना कष्ट से धन उत्पन्न करते हैं, उसे विषय के अर्थ खोते हैं तथा विषयों के अर्थ जहाँ मरण होना जानते हैं, वहाँ भी जाते हैं। नरकादि के कारण जो हिंसादिक कार्य है, उन्हें करते हैं, तथा क्रोधादि कषायों को उत्पन्न करते हैं।

अध्याय छठा : शेष गुणस्थानों का वर्णन

प्रश्न :—अप्रमत्त गुणस्थान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—सञ्ज्वलन और नो कषाय के मंद उदय से प्रमाद रहित संयम परिणाम को अप्रमत्त विरत गुणस्थान कहते हैं।

प्रश्न :—अप्रमत्त गुणस्थान के कितने भेद हैं ?

उत्तर :—दो हैं— स्वस्थान अप्रमत्तविरत और सातिशय अप्रमत्तविरत।

प्रश्न :—स्वस्थान या निरतिशय अप्रमत्त विरत किसे कहते हैं ?

उत्तर :—हजारों बार छट्ठे से सातवें में और सातवें से छट्ठे गुणस्थान में आने जाने रूप परिणाम को स्वस्थानअप्रमत्त विरत कहते हैं।

प्रश्न :—सातिशय या (परस्थान) अप्रमत्त विरत गुणस्थान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जो श्रेणी चढ़ने के सन्मुख होता है, उसे सातिशय अप्रमत्त विरत कहते हैं।

प्रश्न :—श्रेणी चढ़ने का पात्र कौन होता है ?

उत्तर :—क्षायिक सम्यग्दृष्टि और द्वितीयोपशम सम्यक् दृष्टि ही श्रेणी चढ़ते हैं। प्रथमोपशम सम्यक्त्व वाला तथा क्षायोपशमिक सम्यक्त्व वाला श्रेणी नहीं चढ़ सकता। प्रथमोपशम सम्यक्त्व वाला प्रथमोपशम सम्यक्त्व को छोड़कर क्षायोपशमिक सम्यक् दृष्टि होकर प्रथम ही अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ का विसंयोजन करके दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियों का उपशम करके या तो द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि हो जाय अथवा तीनों प्रकृतियों का क्षय करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो जाय, तब श्रेणी चढ़ने का पात्र होता है।

प्रश्न :—श्रेणी किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जहां चारित्र मोहनीय की शेष रही इक्कीस प्रकृतियों का क्रम से उपशम या क्षय होता है, उसे श्रेणी कहते हैं।

प्रश्न :—श्रेणी के कितने भेद हैं ?

उत्तर:—दो हैं—एक उपशम श्रेणी और दूसरी क्षपक श्रेणी ।

प्रश्न :—उपशम श्रेणी किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिसमें चारित्र मोहनीय की २१ प्रकृतियों का उपशम होता है, उसे उपशम श्रेणी कहते हैं ।

प्रश्न :—क्षपक श्रेणी किसे कहते हैं ? और कौन-कौन जीव इन दोनों श्रेणियों को चढ़ते हैं ?

जिसमें चारित्र मोहनीय की २१ प्रकृतियों का क्षय होता है, उसे क्षपक श्रेणी कहते हैं ।

क्षायिक सम्यग्दृष्टि तो दोनों ही श्रेणी चढ़ते हैं, किंतु द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि उपशम श्रेणी ही चढ़ता है क्षपक श्रेणी नहीं चढ़ता है ।

उपशम श्रेणी के चार गुणस्थान हैं–आठवां, नवां. दशवां, ग्यारहवां और क्षपक श्रेणी के भी चार गुणस्थान हैं–आठ, नौ, दश, बारहवां ।

प्रश्न :—अधःकरण किसे कहते हैं ?

उत्तर :—जिस करण में (परिणाम समूह में) उपरितन समयवर्ती तथा अधस्तन समयवर्ती जीवों के परिणाम सदृश तथा विसदृश होते हैं, उसे अधःकरण कहते हैं ।

प्रश्न:—अपूर्वकरण गुणस्थान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर:—जहां प्रत्येक समय में अपूर्व-अपूर्व, नवीन-नवीन ही परिणाम होते हैं, उसे अपूर्वकरण कहते हैं । इसमें सम समयवर्ती जीवों के परिणाम सदृश तथा विसदृश दोनों प्रकार के होते हैं, परन्तु भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम विसदृश ही होते हैं ।

प्रश्न :—अनिवृत्तिकरण गुणस्थान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जहां समसमयवर्ती जीवों के परिणाम सदृश हों और भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम विसदृश ही होते हैं, उसे अनिवृत्तिकरण कहते हैं । ये अपूर्व करणादि परिणाम उत्तरोत्तर विशुद्धता को लिये हुए होते हैं तथा संज्वलन चतुष्क के उदय की मन्दता में क्रम से प्रकट होते हैं ।

प्रश्न :—सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जहां केवल संज्वलन लोभ का सूक्ष्म उदय रह जाता है, उसे सूक्ष्म-साम्पराय कहते हैं। अष्टम गुणस्थान से उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी ये दो श्रेणियां प्रकट होती हैं। जो चारित्र मोह का उपशम करने के लिये प्रयत्नशील हैं, वे उपशम श्रेणी में आरूढ़ होते हैं और जो चारित्र मोह का क्षय करने के लिये प्रयत्नशील हैं, वे क्षपक श्रेणी में आरूढ़ होते हैं। परिणामों की स्थिति के अनुसार उपशम या क्षपक श्रेणी में यह जीव स्वयं आरूढ़ हो जाता है, बुद्धिपूर्वक आरूढ़ नहीं होता है। क्षपक श्रेणी पर क्षायिक सम्यग्दृष्टि ही आरूढ़ हो सकता है, पर उपशम श्रेणी पर औपशमिक और क्षायिक दोनों सम्यग्दृष्टि आरूढ़ हो सकते हैं। यहां विशेषता इतनी है कि जो औपशमिक सम्यग्दृष्टि उपशम श्रेणी पर आरूढ़ होगा, वह श्रेणी पर आरूढ़ होने के पूर्व अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना कर उसे सत्ता से दूर कर द्वितीयोपशमिक सम्यग्दृष्टि हो जावेगा। जो उपशम श्रेणी पर आरूढ़ होता है, वह सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान के अन्त तक चारित्र मोह का उपशम कर चुकता है और क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होता है, वह चारित्र मोह का क्षय कर चुकता है।

प्रश्न :—उपशान्त मोह गुणस्थान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—उपशम श्रेणी वाला जीव दशवें गुणस्थान में चारित्र मोह का पूर्ण उपशम कर ग्यारहवें उपशान्त मोह गुणस्थान में आता है। इसका मोहपूर्ण रूप से शान्त हो चुकता है और शरद ऋतु के सरोवर के समान इसकी सुन्दरता होती है। अन्तर्मुहूर्त तक इस गुणस्थान में ठहरने के बाद यह जीव नियम से नीचे गिर जाता है।

प्रश्न :— क्षीण मोह गुणस्थान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—क्षपक श्रेणी वाला जीव दसवें गुणस्थान में चारित्र मोह का पूर्ण क्षयकर बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान में आता है यहां इसका मोह बिल्कुल ही क्षीण हो चुकता है और स्फटिक के भाजन में रखे हुए स्वच्छ जल के समान इसकी स्वच्छता होती है।

प्रश्न :—सयोग केवली गुणस्थान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—बारहवें गुणस्थान के अन्त में शुक्लध्यान के द्वितीय पाद के प्रभाव से ज्ञानावरणादि कर्मों का युगपत् क्षयकर जीव तेरहवें गुणस्थान में प्रवेश करता है। यहां इसे केवलज्ञान प्रकट हो जाता है, इसलिये केवली कहलाता है और योगों

की प्रवृत्ति जारी रहने से सयोग कहा जाता है। दोनों विशेषताओं को लेकर इसका सयोग केवलि नाम प्रचलित है। इस गुणस्थान में जीव को अन्तरंग और बहिरंग लक्ष्मी प्रकट हो जाती है और अर्हन्त कहलाने लगता है। केवलज्ञान उत्पन्न होते ही समवशरण की रचना देवों द्वारा की जाती है।

अगर सामान्य केवली है तो उनको गंध कुटि की रचना होती है और तीर्थंकर केवली है तो, उनके शरीर की जैसी अवगाहना होती है उसी अवगाहना के अनुसार समवसरण की रचना होती है।

समवशरण का वर्णन

प्रश्न :—अर्हन्त प्रभु का समवशरण कैसा होता है ?

उत्तर:—समवशरण की दिव्य भूमि स्वाभाविक भूमि से एक हाथ ऊँची रहती है और उससे एक हाथ ऊपर कल्पभूमि होती है। यह भूमि अपनी शोभा से स्वर्ग लक्ष्मी को जीतने वाली, चौकोर सुखदायी और देशकाल के अनुसार बारह योजन से लेकर एक योजन तक विस्तार वाली होती है।

भावार्थ—समवशरण भूमि का उत्कृष्ट विस्तार बारह योजन और कम से कम विस्तार एक योजन प्रमाण होता है। यह भूमि कमल के आकार की होती है इसमें गंधकुटी तो कर्णिका के समान ऊँची उठी होती है और बाह्य भूमि कमल दल के समान विस्तृत है। यह इन्द्र नीलमणि से निर्मित होती है, इसका बाह्य भाग दर्पण तल के समान निर्मल होता है और प्रवेश करने वाले बहुत से जीवों को एक साथ स्थान देने वाली रहती है। जिसमें मान के योग्य इन्द्र आदि देव त्रिलोकीनाथ भगवान की दूर से ही पूजा करते हैं वह मानांगण नाम की भूमि है।

इस भूमि की चारों महादिशाओं में दो-दो कोश विस्तृत महावीथियां हैं। ये वीथियां अपने मध्य में स्थित चार मानस्तम्भों के पीठ धारण करती हैं। ये पीठ अपनी ऊँचाई से तिगुने चौड़े एवं स्वर्ण और रत्नमयी मूर्तियों के धारक होते हैं तथा मनुष्य, सुर, असुर सभी आकर इन्हें नमस्कार करते हैं। जहाँ स्थित होकर मनुष्य और देव मानस्तम्भों की पूजा करते है वह आस्थानांगण नाम की भूमि देदीप्यमान लाल मणियों की कान्ति को धारण करती है। ये पीठ अपनी ऊँचाई से तिगुने चौड़े एवं सुवर्ण और रत्नमयी मूर्तियों के धारक होते हैं तथा मनुष्य, सुर, असुर सभी

आकर इन्हें नमस्कार करते हैं। जहां स्थित होकर मनुष्य और देव मानस्तम्भों की पूजा करते हैं। वह आस्थानांगणा नाम की भूमि देदीप्यमान लाल मणियों की कान्ति को धारण करती है। विथियों के मध्य में तीन कटनीदार चार सुवर्णमयी पीठिकायें हैं छाती बराबर ऊँची हैं और आधा कोस चौड़ी हैं।

उन पाठिकाओं पर चार मानस्तम्भ सुशोभित हैं, जो पाठिकाओं की चौड़ाई से एक धनुष कम चौड़े हैं और एक योजन से कुछ अधिक चौड़े हैं और एक योजन से कुछ अधिक ऊँचे हैं, वे मानस्तम्भ बारह योजन की दूरी से दिखाई देते हैं, पालिका के अग्रभाग पर जो कमल हैं, उन्हीं पर स्थित हैं, उनका मूलभाग हीरा का मध्यभाग स्फटिक का है और अग्रभाग वैडूर्य मणि का बना हुआ है। हर एक मानस्तम्भ दो-दो हजार कोणों से सहित है, दो-दो हजार पहलके हैं, नाना रत्नों की किरणों से मिले हुए हैं, उनकी चारों दिशाओं में शत सिद्धों की प्रतिमाएं विराजमान हैं तथा उनकी रत्नमयी बड़ी बड़ी पालिकायें हैं। पालिकाओं के अग्रभाग पर जो कमल हैं, उन पर स्वर्ण के देदीप्यमान घट हैं।

उन घटों के अग्रभाग से लगी हुई सीढ़ियां हैं तथा उन सीढ़ियों पर लक्ष्मी देवी के अभिषेक की शोभा दिखलायी गयी है, वे मानस्तम्भ लक्ष्मीदेवी के चूड़ारत्न के समान अपनी कांति के समूह से बीस योजन तक का क्षेत्र प्रकाशमान करते हैं तथा जिनका मन अहंकार से युक्त है ऐसे देव और मनुष्यों को वही रोक देने वाले हैं उन मानस्तम्भों की चारों दिशायें हंस, सारस और चकवों के शब्दों से अत्यन्त सुन्दर है तथा उनमें खिले हुए कमलों से युक्त चार सरोवर हैं।

सरोवर के आगे एक वज्रमय कोट है, जो छाती बराबर ऊँचा है, अत्यन्त कान्ति से युक्त है। ऊँचाई से दूना चौड़ा है और चारों ओर से घेरे हुए है। इस कोट को चारों ओर से घेरकर एक परिखा स्थित है, जिसकी भूमि जल के समान कान्ति वाले मणियों से निर्मित है।

उसमें घुटनों प्रमाण गहरा पानी भरा है तथा वह पृथ्वी रूपी स्त्री की नीली साड़ी के समान जान पड़ती है। वह परिखा अत्यन्त स्वच्छ है तथा उसका जल स्वर्णमय कमलों की पराग के समूह से पीला-पीला हो रहा है, अतएव उसमें प्रतिबिम्बित दिशा रूप स्त्रियों के मुख अंगराग से सहित समान जान पड़ते हैं।

उसके आगे चारों ओर से घेरकर स्थित लताओं का वन सुशोभित है जो

फूलों के द्वारा दिशाओं के अन्त भाग को सुगन्धित कर रहा है तथा पक्षियों और भ्रमरों के समूह से व्याप्त है, उसके आगे देदीप्यामान स्वर्ण के समान चमकीला एवं विजय आदि चांदी के बड़े-बड़े चार गोपुरों से सुशोभत कोट चारों ओर से घेरे हुए हैं जो उन गोपुरों पर व्यन्तर जाति के देव द्वारपाल है, जो कटल आदि आभूषणों से सुशोभित हैं, अपने प्रभाव से अयोग्य व्यक्तियों को दूर हटाते रहते हैं तथा जिनके हाथ मुद्गरों से उद्धत होते हैं, देदीप्यमान कान्ति से युक्त उन गोपुरों के मणिमय तोरणों की दोनों ओर छत्र चमर तथा भृंगार आदि अष्टमङ्गल द्रव्य एक सौ आठ-एक सौ आठ संख्या में सदा सुशोभित रहते हैं।

उन गोपुरों के आगे वीथियों की दोनों ओर तीन-तीन खण्ड की दो-दो नाट्यशालाएं हैं, जिनमें बत्तीस-बत्तीस देव कन्यायें नृत्य करती हैं।

तदनन्तर पूर्व दिशा में अशोक वन दक्षिण में सप्तपर्ण वन पश्चिम में चम्पक वन और उत्तर में आम्र वन सुशोभित है, इन चारों वनों में अशोक वन का अशोक वृक्ष सप्तपर्ण वन का सप्तपर्ण वृक्ष चम्पक वन का चम्पक वृक्ष और आम्र वन का आम्र वृक्ष स्वामी है। ये स्वामी वृक्ष सिद्ध की प्रतिमाओं से सहित हैं अर्थात् उनके नीचे सिद्धों की प्रतिमाएं विराजमान रहती हैं, उन वनों में तिकोनी चौकोनी और गोलाकार अनेक वापिकाओं के तट रत्न निर्मित हैं, तथा उनकी भूमि स्फटिक से निर्मित हैं, ये सभी वापिकायें तोरणों युक्त हैं, दर्शनीय हैं, सीढ़ियों से युक्त हैं, ऊँचे-ऊँचे बरण्डों से सुशोभित हैं प्रवेश करने में गहरी हैं और दो कोस चौड़ी हैं नन्दा नन्दोतरा आनन्दा नन्दवती अभिनन्दिनी और नन्दघोषा ये छह वापिकायें अशोक वन में स्थित हैं। विजया अभिविजया जैसी वैजयन्ती अपराजित जयोत्तरा में छह वापिकाएं सप्तपर्ण वन में स्थित है, कुमुदा, नलिनी, पद्मा, पुष्करा विश्वोत्पला और कमला में छह वापियां चम्पक वन में मानी गई हैं और प्रभासा, भास्वती, भासा, सुप्रभा भानुमालिनी और स्वयंप्रभा में छह वापियां आम्रवन में कही गई हैं, पूर्ण आदि दिशाओं की वापिकायें क्रम से उदय, विजय, वाती और ख्याति नामक फल देती हैं तथा इन फलों के इच्छुक मनुष्य इन वापिकाओं की पूजा करते हैं।

क्रम के जानने वाले भक्तजन उन वापिकाओं से यथोक्त फूलों का समूह प्राप्त कर स्तूपों तक क्रम क्रम से जिनेन्द्र प्रतिमाओं की पूजा करते हुए आगे प्रवेश करते हैं उदय और प्रातिरूप फल को देने वाली वापिकाओं के बीच के आगे के दोनों ओर

तीन खण्ड की स्वर्णमयी देदीप्यमान बत्तीस नाट्यशालाएं हैं, ये नाट्यशालाएं डेढ़ कोस चौड़ी हैं, नाना प्रकार के बेल बूटों से सुशोभित हैं और उनकी मूर्तियां रत्नों की बनी हैं तथा उनकी दीवालें स्वच्छ स्फटिक से निर्मित हैं, उनमें ज्योतिषी देवों की ३२-३२ देवांगनाएं नृत्य करती हैं जो हाव-भाव और विलास से युक्त तथा शृंगार आदि रसों की पुष्टि से सुपुष्ट होती हैं। उसके आगे चार गोपुरों से युक्त अत्यन्त सुन्दर वज्रमयी वनदेवी है, जो पूर्वोक्त वनों को चारों ओर से घेरे हुए है।

चार गोपुरों के आगे चार विथियां हैं और उनके दोनों पसवाड़ों में ध्वजाओं की पंक्तियां फहराती रहती हैं प्रत्येक विभाग में उन ध्वजाओं की पृथक्-पृथक् पीठिकायें हैं, जो तीन धनुष चौड़ी हैं, चित्र विचित्र हैं तथा उनपर आधा योजन ऊंचे रत्नमयी बांस लगे हुए हैं उन बांसों के अग्रभाग पर जो पटियां लगी हैं उनमें दशों प्रकार की रंग-बिरंगी छोटी-छोटी घण्टियों और जिस पट्टकों से युक्त बड़ी ध्वजाएं फहराती रहती हैं। वे दश प्रकार की ध्वजाएं फहराती रहती हैं वे दश प्रकार की ध्वजाएं क्रम से मयूर, हंस, गरुण, भाला, सिंह, हाथी, मकर, कमल, बैल और चक्र के चिन्ह से चिन्हित होती हैं एक दिशा में एक जाति की ध्वजाएं एक सौ आठ होती हैं और चारों दिशाओं की मिलकर एक जाति की चार सौ बत्तीस होती हैं, यह इनकी सामान्यरूप से संक्षेप में संख्या बतलायी है।

विशेष रीति से एक दिशा में एक करोड़ सोलह लाख चौसठ हजार है और चारों दिशाओं में चार करोड़ अड़सठ लाख छत्तीस हजार कुछ अधिक है।

प्रीति और कल्याण रूप फल देने वाली वपिकाओं के बीच के मार्ग में दोनों ओर पांच खण्ड की नृत्यशालाएं हैं, जिनमें भवनवासी देवों की देवांगनाएं नृत्य करती हैं नृत्यशालाओं के आगे पांच-पांच खण्ड के रत्नमयी चार गोपुरों से विभूषित स्वर्ण निर्मित दूसरा कोट है।

गोपुरों के दोनों पसवाड़ों में देदीप्यान स्वर्ण के पीठों पर स्थित शंख के समान सुन्दर कण्ठों में पड़ी मालाओं से सुशोभित मुखों पर कमल धारण करने वाले एवं जल से भरे स्वर्ण निर्मित मंगलकलश दो-दो की संख्या में सुशोभित हैं इस दूसरे कोट द्वारों पर भवनवासी देवों के इन्द्र द्वारपाल हैं जो बेत की छड़ी धारण किए हुए पहरा देते हैं, गोपुरों के आगे दो-दो नाट्यशालाएं हैं और उसके आगे स्वर्ण निर्मित दो-दो धूपघट रखे हुए हैं उससे आगे चारों दिशाओं में सिद्धों की प्रति-

माओं से युक्त दो-दो सिद्धार्थ वृक्षों से सहित कल्प वृक्षों का वन वीथियों के अन्त में यथारीति स्थित है। तदनन्तर चार गोपुरों सहित वन की रक्षा करने वाली अम्बिका है और मार्गों में तोरणों युक्त सबका भला करने वाले नौ-नौ स्तूप हैं, वे स्तूप पद्मराग मणियों से निर्मित होते हैं तथा उनके समीप स्वर्ण और रत्नों के बने मुनियों और देवों के योग्य नाना प्रकार के सभागृह रहते हैं।

सभागृहों के आगे आकाशस्फटिक मणि से बना नाना प्रकार के महा-रत्नों से निर्मित सात खण्ड वाले चार गोपुरों से सुशोभित तीसरा कोट है। इस कोट के पूर्व द्वार के विजय, विश्रुत, कीर्ति, विमल, उदय, विश्वधुक् वासवीर्य और वट ये आठ नाम प्रसिद्ध हैं। दक्षिण द्वार के वैजयन्त, शिव, ज्येष्ठ, वरिष्ठ, अनघ, धारण याम्य और अप्रतिघ ये आठ नाम कहे गये हैं, पश्चिम द्वार के जयन्त, अमित, सार, सुधाम, भक्षोभ्य, सुप्रभ, वरुण और वरद ये आठ नाम स्मरणीय किये गये हैं। और उत्तर द्वार के अपराजित, अर्थ, अतुलार्थ, उदक, अमोघक, उदय, अक्षय और पूर्णकमल ये आठ नाम हैं, उन द्वारों के पसवाड़ों में उत्तम रत्नमय आसनों के मध्य में स्थित मंगलरूप दर्पण सुशोभित हैं जो देखने वालों के पूर्व भव दिखलाते हैं। ये दर्पण गाढ़ अन्धकार को नष्ट करने वाले कान्ति के समूह से सदा देदीप्यमान रहते हैं और उनसे गोपुर सूर्य की प्रभा को तिरस्कृत कर अतिशय शोभायमान होते हैं।

विजयादिक गोपुरों में यथायोग्य 'जय हो' 'कल्याण हो' इन शब्दों का उच्चारण करने वाले एवं देदीप्यमान आभूषणों से युक्त कल्पवासी देव द्वारपाल रहते हैं ये तीनों कोट एक कोस, दो कोस और तीन कोस ऊँचे होते हैं तथा मूल मध्य ऊपरी भाग में इनकी चौड़ाई ऊँचाई से आधी होती है इन कोटों के जगतीतलों का प्रमाण अपनी ऊँचाई से तीन हाथ कम कहा गया है और उनके ऊपर बने हुए बन्दर के सिर के आकार के कंगूरे एक हाथ तथा एक बितस्ति चौड़े और आधा वेमा ऊँचे कहे गये हैं। उसके आगे नाना वृक्षों और लतागृहों से व्याप्त मंच प्रेक्षागिरि और प्रेक्षागृहों से सुशोभित अन्तवर्ण हैं। वेदिकाओं से बद्ध वीथियों के बीच में कल्याण जय नाम का आंगन है और उसमें शाल्मली वृक्ष के समान ऊंचे एवं अन्तर से स्थित केला के वृक्ष प्रकाशमान हो रहे हैं।

तदनन्तर उन्हीं के भीतर नाट्यशाला है जिसमें स्वर्ण के समान कान्ति की धारक लोकपाल देवों की देवांगनाएं निरन्तर नृत्य करती रहती हैं, उनके मध्य में

श्रेष्ठ गुणों का स्थान है तथा ऊंची उठने वाली किरणों से सुशोभित रत्नावली से अन्धकार के समूह को नष्ट करने वाला दूसरा पीठ है उसके आगे सिद्धार्थ वृक्ष है जो सिद्धों की प्रतिमाओं से सुशोभित शाखाओं से इच्छापूर्वक ही मानो दिशाओं को व्याप्त कर स्थित है। उसके आगे एक मन्दिर है जिसे पृथ्वी के आभरणस्वरूप बारह स्तूप उस तरह सुशोभित करते रहते हैं जिस तरह कि स्वर्णमय चार मेरु पर्वत जम्बूद्वीप के महामेरु को सुशोभित करते रहते हैं।

इनके आगे चार दिशाओं में शुभ वापिकाएं हैं जो चारों दिशाओं में बने हुए गोपुर द्वारों और वेदिका से अलंकृत हैं नन्दा भद्रा जया और पूर्णा ये चार उनके नाम हैं उन वापिकाओं के जल में स्नान करने वाले जीव अपना पूर्व भव जान जाते हैं ये वापिकायें पवित्र जल से भरी एवं समस्त पापरूपी रोगों को हरने वाली हैं इनमें देखने वाले जीवों को अपने आगे पीछे के सात भव दिखने लगते हैं वापिकाओं के आगे एक जयांगण सुशोभित है जो एक कोस ऊंचा है एक योजन से कुछ अधिक चौड़ा है कटि बराबर ऊंचे बरण्डों पर स्थित कदली ध्वजाओं से व्याप्त है, जिसमें मनुष्य निरन्तर प्रवेश करते और निकलते रहते हैं।

ऐसे द्वारों और उच्च तोरणों से युक्त है तीन लोक की विजय का आधार है उसमें बीच-बीच में मूगाओं की लाल-लाल बालुका अन्तर देकर मोतियों की सफेद बालू बिछी है अमरत्नमय पुष्पों और रखे हुए स्वर्ण कमलों से चित्र विचित्र है उस जयांगण के भू-भाव जहां-जहां स्वर्ण रससे लिप्त अतएव पृथ्वी पर आये हुए सूर्यों के समान दिखने वाले विशाल वर्तुलाकार मण्डलों से सुशोभित है।

जहां-तहां नाना प्रकार के चित्रों से चित्रित वह जयांगण देव असुर और मनुष्यों से परिपूर्ण भवनों मण्डपों तथा अन्य सुखकर निवास स्थानों से सुशोभित है। कहीं चित्रों से सुन्दर और कहीं पुराणों में प्रतिपादित आश्चर्यकारी विभूति से युक्त तथा नाना प्रकार के कथानकों से सहित भवन बने हैं, वे भवन कहीं पुण्य के फलकी प्राप्ति से देखने वाले लोगों को धर्म का साक्षात् फल दिखलाते हैं, तो कहीं पाप का परिपाक दिखाकर अधर्म का साक्षात् फल दिखाते हैं। वे भवन उन दर्शकजनों को दानशील, तप और पूजा प्रारम्भ तथा उनके फल की एवं उनके अभाव में होने वाली विपत्तियों की श्रद्धा कराते हैं।

उस जयांगण के मध्य में स्वर्णमय पीठ को अलंकृत करता हुआ इन्द्रध्वज

सुशोभित होते हैं जो ऐसा जान पड़ता है मानो भगवान् का विजय लक्ष्मी का मूर्ति धारी शरीर ही हो उस इन्द्रध्वज में देदीप्यमान गोले लटकती हुई मोतियों की माला और जगमगाते हुए मणियों से युक्त एक पताका लगी रहती है। वह पताका वायु से कम्पित होने के कारण घण्टियों के शब्दों से अत्यन्त रमणीय जान पड़ती है। ऊपर उठती हुई किरणों से युक्त रत्नों की माला से सुशोभित वह पताका जब आकाश में फहराती है तब ऐसी जान पड़ती है मानो समुद्र से लहर ही उठ रही हो। इन्द्रादिक देव उसे बड़े कौतुहल से देखते हैं।

उसके आगे एक हजार खम्भों पर खड़ा हुआ महोदय नाम का मण्डप है, जिसमें मूर्तिमती श्रुतदेवता विद्यमान रहती है। उस श्रुतदेवता को दाहिने भाग में करके बहुश्रुत धारक अनेक धीर-वीर मुनियों से घिरे श्रुतकेवली कल्याणकारी श्रुत का व्याख्यान करते हैं। महोदय मण्डप से आधे विस्तार वाले चार परिवार मण्डप और हैं जिनमें कथा कहने वाले पुरुष आक्षेपिणी आदि कथाएं कहते रहते हैं। इन मण्डपों के समीप में नाना प्रकार के फुटकर स्थान भी बने रहते हैं जिनमें बैठकर केवलज्ञान आदि महाऋद्धियों के धारक ऋषि इच्छुकजनों के लिए उनकी इष्ट वस्तुओं का निरूपण करते हैं।

उसके आगे नाना प्रकार की लताओं से व्याप्त एक स्वर्णमय पीठ रहता है, जिसको भव्य जीव नाना प्रकार की समयानुसार पूजा करते हैं। उस पीठ का श्रीपद नाम का द्वार है जो रत्नों और फूलों के समूह से युक्त है तथा जो मार्ग के बीच में बने हुए सूर्य और चन्द्रमा के समान देदीप्यमान मण्डलों से परिपूर्ण है। उस मार्ग के सम्मुख इच्छानुसार फल देने वाले निधियों के स्वामी दो देव सुशोभित रहते हैं।

उनके आगे प्रमदा नाम की दो विशाल नाट्यशालाएं हैं जिनमें कल्पवासिनी अप्सरायें सदा नृत्य करती रहती हैं। विजयांगण के कोनों में चार लोकस्तूप होते हैं, जिनपर पताकाओं की पंक्तियां फहराती रहती हैं, तथा जो एक योजन ऊंचे रहते हैं। ये लोकस्तूप नीचे वेत्रासन के समान मध्य में झालर के समान ऊपर मृदंग के समान और अन्त में तालवृक्ष के समान लम्बी नालिका से सहित हैं, इनका स्वच्छ स्फटिक के समान रूप होता है अतः इनके भीतर की रचना अत्यन्त स्पष्ट रहती है इन स्तूपों में लोक की रचना दर्पणतल के समान स्पष्ट दिखाई देती है इन स्तूपों के आगे मध्य लोक नाम से प्रसिद्ध स्तूप है जिनके भीतर मध्यलोक की रचना स्पष्ट दिखलाती है।

आगे मन्दराचल के समान देदीप्यमान मन्दर नाम के स्तूप हैं जिन पर चारों दिशाओं में भगवान की प्रतिमाएँ सुशोभित हैं, उनके आगे कल्पवासियों की रचना से युक्त कल्पवास नामक स्तूप हैं जो देखने वालों को कल्पवासी देवों की विभूति साक्षात् दिखाते हैं।

उनके आगे ग्रैवेयकों के समान आकार वाले ग्रैवेयक स्तूप हैं जो मनुष्यों को मानो ग्रैवेयकों की शोभा ही दिखाते रहते हैं। उनके आगे अनुदिश नाम के नौ स्तूप सुशोभित हैं, जिनमें प्राणी नौ अनुदिशों को प्रत्यक्ष देखते हैं, आगे चलकर जो चारों दिशाओं में विजय आदि विमानों से सुशोभित हैं, ऐसे समस्त प्रयोजनों को सिद्ध करने वाले सर्वार्थ सिद्धि नाम के स्तूप हैं। वन के आगे स्फटिक के समान निर्मल सिद्ध स्तूप प्रकाशमान हैं, जिनमें सिद्धों के स्वरूप को प्रकट करने वाली दर्पणों की छाया दिखाई देती है।

उनके आगे देदीप्यमान शिखरों से युक्त भव्यकूट नाम के स्तूप रहते हैं, जिन्हें अभव्य जीव नहीं देख पाते क्योंकि उनके प्रभाव से उनके नेत्र अन्धे हो जाते हैं। उनके आगे प्रमोह नाम के स्तूप हैं, जिन्हें देखकर लोग अत्यधिक भ्रम में पड़ जाते हैं और चिरकाल से अभ्यस्त गृहीत वस्तु को भी भूल जाते हैं। आगे चलकर प्रबोध नाम के अन्य स्तूप हैं, जिन्हें देखकर लोग प्रबोध को प्राप्त हो जाते हैं और तत्त्व को प्राप्त कर साधु हो निश्चिन्त हो संसार से छूट जाते हैं।

इस प्रकार जिनकी वेदिकाएँ एक दूसरे से सटी हुई हैं – तथा जो तोरणों से समुद्भासित हैं, ऐसे अत्यन्त ऊँचे दश स्तूप क्रम क्रम से परिधि तक सुशोभित हैं। इसके आगे एक कोट रहता है जो एक कोस चौड़ा तथा एक धनुष ऊँचा होता है और उसकी मण्डल की भूमि को बचा कर मनुष्य तथा देव प्रदक्षिणा देते रहते हैं। इस परिधि में बाहर की ओर सत्रह कर्णिकाएँ हैं जो एक-एक कोस विस्तृत हैं और भीतर की ओर एक कर्णिका है जो साढ़े तीन योजन विस्तार वाली है।

जिस प्रकार परिवेश सूर्य को घेरता है, उसी प्रकार चित्र-विचित्र रत्नों से निर्मित यह परिधि भीतर के देदीप्यमान मण्डल को घेरे रहती है। वहाँ गणधर देव की इच्छा करते ही एक दिव्य पुर बन जाता है, सो ठीक ही है, क्योंकि मनःपर्यय ज्ञान के धारक जीवों का प्रभाव महान् होता है, वह पुर कल्प के ज्ञाता मनुष्य के द्वारा त्रिलोकसार, श्रीकान्त, श्रीप्रभु, शिवमन्दिर,, त्रिलोकी श्री, लोक कान्ति श्री, श्रीपुर,

त्रिदशप्रिय, लोकालोक प्रकाशाद्यौ, उदय, अभ्युदया वह क्षेम, क्षेमपुर, पुण्य, पुण्याह, पुष्पकास्पद भुवःस्वर्भूः तपःसत्य, लोका-लोकोत्तम, रुचि रुचावह उदारर्द्धि, दान-धर्म पुर श्रेय श्रेयस्कर तीर्थ तीर्थावह उदग्रह, विशाल, चित्रकूट, धीश्रीधर, त्रिविष्टप, मंगलपुर, उत्तमपुर, कल्याणपुर, शरणपुर, जयपुरी, अपराजितपुरी आदित्यपुरी, जयन्तीपुरी, अचलसंपुर, विजयन्त, विमल विमलप्रभ, कामभू, गगनाभोग, कल्याण, कलिनाशन, पवित्र, पंचकल्याण, पद्मावर्त, प्रमोदय, परार्ध्य मण्डितावास, महेन्द्र महिमालय, स्वायम्भुव, सुधाधात्री, शुद्धावास, सुखावती, विरजा, वीतशोका, अर्थ-विमला, विनयावति, भूतधात्री, पुराकल्प, पुराण, पुण्यसंचय, ऋषिवती, यमवती, रत्नवती, अजरामरा, प्रतिष्ठा, ब्रह्मनिष्ठोर्वी, केतुमालिनी, अरिन्दम, मनोरम, तमःपार, अरत्नी, रत्नसंचय, अयोध्या, अमृतधानी, ब्रह्मपुर, जाताह्वय और उदस्तार्थ नाम से कहा जाता है।

भगवान् के प्रभाव से उत्पन्न वह नगर तीन लोक के समस्त श्रेष्ठ पदार्थों के समूह से युक्त आश्चर्य स्वरूप एवं बहुत भारी आश्चर्य उत्पन्न करता हुआ सुशोभित होता है, उसका बनाने वाला कुबेर भी एकाग्रचित्त हो, उसके बनाने का पुनः विचार करे तो वह भी नियम से भूल कर जायगा, फिर अन्य मनुष्य की बात ही क्या है ?

उस नगर का निर्माण यथास्थान छब्बीस प्रकार के सुवर्ण और मणियों से चित्र विचित्र है, अतः अत्यधिक सुशोभित होता है। उसके तल भाग में तीन जगती रहती है जो आधा-आधा कोस चौड़ी होती है और ऊपर-ऊपर उन जगतियों में उतनी ही हानि होती जाती है। उन जगतियों की रचना वज्रमयी एवं चित्रविचित्र रत्नों से उज्ज्वल है और उनकी श्रेष्ठ कान्ति चारों ओर इन्द्र धनुषों को विस्तृत करती रहती है छाती प्रमाण ऊँचे तथा देदीप्यमान प्रभा के धारक बरण्डे उन जगतियों को सुशोभित करते रहते हैं, तथा उन पर एक धनुष के अन्तर से स्थित सुशोभित पताकाएं हैं।

उन जगतियों में तीस-तीस वितस्तियों के कूट और उनसे द्विगुण आयाम वाले दश-दश धनुषों के अन्तर से स्थित कोष्टक रहते हैं। उन जगतियों के समीप दोनों ओर द्वारपालों के दो-दो आवास स्थान हैं, जिनमें प्रत्येक द्वार पर कुबेर की अपूर्व धनराशि प्रकाशमान है। प्रत्येक जगती के कूटों की संख्या सात सौ बहत्तर है तथा कोष्टकों की संख्या अड़तालीस है।

संक्षेप से तीनों जगतियों की कूट संख्या बाईस सौ बीस है और कोष्टों की

संख्या उसी प्रमाण से है। प्रथम जगती में बत्तीस हजार तीन सौ इक्यासी, दूसरी में चौबीस हजार दो सौ उन्नीस और तीसरी में इकत्तीस हजार छप्पन ध्वजाएँ रहती है। पूर्व कूटों में दो लाख बत्तीस हजार चार सौ सत्तर, मध्यम कूटों में सात लाख इकसठ हजार एक सौ और अन्तिम कूटों में दो लाख चौवन हजार आठ सौ अस्सी और कोष्टकों में दूनी-दूनी है।

इस प्रकार समस्त ध्वजाओं की संख्या छब्बीस लाख बीस हजार दो सौ छप्पन है। वहां सस्वेद-जलसिक्त प्रदेशों में रत्नों से मण्डित अनेक मण्डप हैं जो दो कोस चौड़े और एक कोस ऊँचे हैं, जिनकी रचना मण्डपों से आधी चौड़ी है। ऐसे शिखरों के मध्य भाग में विराजमान जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमाएँ हैं जो उत्तम मंगल द्रव्यों से सुशोभित हैं। यद्यपि ये प्रतिमाएँ अपने-अपने स्थान पर स्थित हैं, तथापि सामने खड़े होकर देखने वाले को ऐसी दिखाई देती हैं, मानो उन स्थानों से निकलकर आकाश में ही विद्यमान हों।

वहां चारों दिशाओं में देदीप्यमान तीन पीठ होते हैं, उनमें पहले पीठ पर चार हजार धर्म चक्र सुशोभित हैं। दूसरी पीठ पर मयूर और हंस-ध्वजाओं से भिन्न आठ प्रकार की महाध्वजाएँ दिशाओं को सुशोभित करती हुई विद्यमान हैं। तीसरी पीठ पर श्री मण्डप को सुशोभित करने वाला अनेक मंगलद्रव्यों से सहित गंधकुटी नाम का प्रासाद है, उनमें भगवान का सिंहासन रहता है। उस सिंहासन पर विराजमान जिनेन्द्रदेव की सन्तुष्ट चित्त के धारक मनुष्य, सुर और असुरों के झुण्ड के झुण्ड मुकुटों पर हाथ लगाकर स्तुति करते थे, वे कह रहे थे कि हे महादेव ! आपकी जय हो। हे महेश्वर ! आप जयवन्त हों, हे महाबाहो ! आप विजयी हों, हे विशाल नेत्र ! आप जयवन्त हों।

मुनिसमूह को आदि लेकर बारह गण भगवान अर्हन्त को प्रणाम कर यथा-स्थान उनकी उपासना करने को स्थित हो गये।

मार्ग के चारों ओर घेर कर बारह सभाएँ उनकी पूर्व, दक्षिण आदि दिशाओं में मुनि समूह को आदि लेकर बारह गण विराजमान थे। वहां उत्कृष्ट वर को प्रदान करने वाले भगवान अर्हन्त के आगे गणधर को आदि लेकर अनेक मुनि सुशोभित थे, जो धर्म के स्वरूप को प्रत्यक्ष करने वाले एवं उदयन्त निर्मल धर्मेश्वर के अंश के समान जान पड़ते थे।

उनके आगे कल्पवासिनी देवियाँ सुशोभित थीं जो ऐसी जान पड़ती थीं मानो भगवान की बाह्याभ्यन्तर विभूतियाँ ही उनका रूप रखकर स्थित हों।

उनके बाद तीसरी सभा में लज्जा, दया, क्षमा शान्ति आदि गुण रूपी सम्पत्ति से सुशोभित आर्यिकाएँ विराजमान थीं जो समीचीन धर्म की पुत्रियों के समान जात पड़ती थीं।

चौथी सभा में प्रशंसनीय एवं अपने-आप से निकलने वाली प्रभा से सुशोभित ज्योतिषी देवों की स्त्रियां बैठी थीं जो भगवान की कान्ति के समान जान पड़ती थीं।

पांचवीं सभा में मूर्तिधारिणी वन की लक्ष्मी के समान सुन्दर वनवासी व्यन्तर देवों की स्त्रियाँ स्थित थी तथा वे वन की पुष्प लताओं के समान नम्रीभूत हो भगवान के चरणों को नमस्कार कर रही थीं।

छठी सभा में भगवान् की अत्यधिक भक्ति से युक्त भवनवासी देवों की अंगनाएँ स्थित थीं जो ऐसी जान पड़ती थीं मानो स्वर्गभूमि और अधोलोक की लक्ष्मियाँ ही भगवान के समीप आकर बैठी हैं।

सातवीं सभा में फणा के समान देदीप्यमान रत्नों की कान्ति से लाल-लाल दीखने वाले भवनवासी देव अपने संसार से भयभीत होते हुए, पाप बन्ध का छेदन करने वाले भगवान् के समीप विद्यमान थे।

आठवीं सभा में सुन्दर आकार के धारक व्यन्तर देव बैठे थे। वे भगवान् के आभूषण स्वरूप थे तथा फूलों की मालाओं को धारण करने वाले मन्दरगिरि के समान जान पड़ते थे।

नवमीं सभा में, जिनकी अपनी प्रभा भगवान् की प्रभा में निमग्न हो गयी थी, ऐसे सूर्य आदि ज्योतिषी देवों के समूह नम्रीभूत हो भगवान् से अपनी प्रभावृद्धि की प्रार्थना कर रहे थे।

दसवीं सभा में सौन्दर्य के स्वामी, सुखी एवं ऊपर बैठे हुए भगवान् के अंशों के समान इन्द्र आदि कल्पवासी देव सुशोभित हो रहे थे।

ग्यारहवीं सभा में चक्रवर्ती आदि राजा भगवान् की उपासना करते थे और वे ऐसे जान पड़ते थे मानो शरीरधारी दान-पूजा आदि धर्मों के निर्मल अंश ही हों।

बारहवीं सभा में जिन्हें अविद्या, वैर, माया आदि दोषों के नष्ट हो जाने से विद्या, क्षमा आदि तत्तद्गुण प्राप्त हुये थे, ऐसे सिंह, हाथी आदि तिर्यञ्च विद्यमान थे

और वे ऐसे जान पड़ते थे मानों उन्हीं के समान दूसरे तिर्यंच हों।

भावार्थ—तिर्यंच अपनी स्वाभाविक कुटिलता को छोड़कर तदाकार होने पर भी ऐसे लगते थे जैसे ये वे न हों, दूसरे ही हों। इस प्रकार द्वादशांग के गुणों के समान बारह सभाओं-सम्बन्धी बारह गण प्रदक्षिणा रूप से भगवान् की उपासना करते थे।

भगवान् अर्हन्त, अपने सिंहासन की शोभा से दूसरों में न पाये जाने वाले परमेष्ठीपना को स्थापित कर रहे थे। क्रमपूर्वक ढोरे जाने पर देवोपनीत चमरों से महेशिता को तीन चन्द्रमा के समान कान्ति को धारण करने वाले छत्रत्रय से तीन लोक के स्वामित्व को संसार के आन्तरिक अन्धकार को नष्ट करने वाले भामण्डल से कान्ति की अधिकता को सब ऋतुओं के फूलों से युक्त अशोक वृक्ष के द्वारा अन्य समस्त जीवों के शोक दूर करने की सामर्थ्य को पुष्पवृष्टि रूप पूजा के द्वारा पूज्यता को अभयोत्पत्ति की घोषणा करने वाली दिव्य ध्वनी से जयलक्ष्मी की सर्वहितकारिता को और आनन्ददायी मंगलमय वादित्रों के नाद से साधुजनों की चित्त को आनंदित करने की सामर्थ्य को प्रकट कर रहे थे।

जो आत्मा के आधीन हों उन्हें प्रतिहार कहते हैं, इस प्रकार आत्माधीन गुणों से उत्पन्न अष्ट महा प्रातिहार्यों से भगवान अर्हन्त सुशोभित हो रहे थे। आत्मोत्थ समस्त विभूति को धारण करने वाले भगवान् सर्वलोकातिवर्ती दीप्ति से लोगों का कल्याण करने के लिये समोशरण में विराजमान हुये। उस समय देव लोग घोषणा के साथ यह कहकर जीवों का आह्वान कर रहे थे कि हे आत्महित के इच्छुक भव्य जनो ! सम्पूर्ण विकसित आत्मा को धारण करने वाले केवली भगवान् यहाँ विराजमान हैं। शीघ्रता से यहां आओ, आओ और इन्हें नमस्कार करो। इस प्रकार उन देवों ने आह्वान किया तब शीघ्र ही मनुष्य, देव और असुर वैभव के साथ सब ओर से समवशरण में आने लगे।

समवसरण के दृष्टिगोचर होते ही वे मानांगण में खड़े हो सबसे पहले हाथ जोड़ मस्तक से लगाकर वाहनों से नीचे उतरते हैं। तदनन्तर वाहन आदि परिग्रह को बाहर छोड़कर विशिष्ट राज्य-चिह्नों से युक्त हो मान पीठ की प्रदक्षिणा देते हैं। प्रदक्षिणा के बाद सबसे पहले मानस्तम्भ को नमस्कार करते हैं, तदनन्तर हृदय में उत्तम भक्ति को धारण करते हुये उत्तम पुरुष भीतर प्रवेश करते हैं और पापी, विरुद्ध

कार्य करने वाले, शूद्र, पाखण्डी, नपुंसक, विकलांग, विकलेन्द्रिय तथा भ्रान्त चित्त के धारक मनुष्य बाहर ही प्रदक्षिणा देते रहते हैं। सुरेन्द्र, असुरेन्द्र तथा नरेन्द्र आदि उत्तम पुरुष छत्र, चमर और भृंगार आदि को जयांगण में छोड़ आप्तजनों के साथ हाथ जोड़कर भीतर प्रवेश करते हैं।

मणिमय मुकटों को धारण करने वाले वे सब, भीतर प्रवेश कर विधिपूर्वक प्रणाम करते हैं और चक्रपीठ पर आरूढ़ होकर भगवान् जिनेन्द्र की तीन-बार प्रदक्षिणा देते हैं। इच्छानुसार अपनी शक्ति और विभव के अनुकूल सामग्री से पूजा करते हुये अपने नाम का उल्लेख कर नमस्कार करते हैं।

तदनन्तर जिन्होंने अपनी अंजलियाँ मस्तक से लगा रखी हैं और रोमांचों के जिनका भाव प्रकट हो रहा है, ऐसे वे सब अपनी-अपनी सीढ़ियों से नीचे उतर कर सभाओं में यथास्थान बैठते हैं।

जिस प्रकार सूर्य के सम्मुख खिला हुआ कमलों का समूह सुशोभित होता है, उसी प्रकार जिनेन्द्र भगवान् रूपी सूर्य के सम्मुख वह गणरूपी-द्वादश सभा रूपी कमलों का समूह सुशोभित हो रहा था। जिस प्रकार नदी समुद्र को भरने में समर्थ नहीं है, उसी प्रकार सब ओर से समवशरण में प्रवेश करती हुई वह सेना उसे भरने में समर्थ नहीं थी। यहां बाहर निकलता, आता, प्रवेश करता, दर्शन करता, प्रदक्षिणा देता, सन्तुष्ट होता, भगवान् को प्रणाम करता और उनकी स्तुति करता हुआ सज्जनों का समूह सदा विद्यमान रहता है।

समवशरण के भीतर भगवान् के प्रभाव से न मोह रहता है, न रागद्वेष उत्पन्न होते हैं, न उत्कण्ठा, रति एवं मात्सर्यभाव रहते हैं, न अंगड़ाई और जमुहाई आती है, न नींद आती है, न तन्द्रा सताती है, न क्लेश होता है, न भूख लगती है, न प्यास का दुःख होता है और न सदा समस्त दिन कभी अन्य समस्त प्रकार का अमंगल ही होता है।

बाह्य विभूति के अद्वितीय स्थान समवशरण भूमि में जब अन्तरंग आत्मा की पवित्रता से युक्त भगवान् विराजमान होते हैं, तब बारह सभाओं का समूह अपने तृषित नेत्रों से उनके अमृत रूप सौन्दर्य सागर का पान करता है।

इस प्रकार समोशरण का रचनाक्रम कहा। तीर्थंकर प्रभु की आयु थोड़ी रह जाती है, तब अर्हंत भगवान् योग निरोध करते हैं, समवशरण का विघटन हो

जाता है। ये तीर्थंकर अरहन्त भगवान् चौदहवें गुणस्थान में प्रवेश करते हैं।

प्रश्न :—चौदहवें गुणस्थान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—जिनकी योगों की प्रवृत्ति दूर हो जाती है, उन्हें अयोग केवली कहते हैं। यह जीव इस गुणस्थान में 'अ, इ, उ, ऋ, लृ' इन पांच लघु अक्षरों के उच्चारण में जितना काल लगता है, उतने ही काल तक ठहरता है। अनन्तर शुक्ल ध्यान के चतुर्थ पाद के प्रभाव से सत्ता में स्थित बिचासी प्रकृतियों का क्षय कर एक समय में सिद्ध क्षेत्र में पहुंच जाता है।

(हरिवंशपुराण, पेज नं० ६४७, जिनसेन स्वामी)

वज्रं रत्नेषु गोशीर्षं चन्दनेषु यथा मतम्।
मणिषु वैडूर्यं यथा ज्ञेयं तथा ध्यानं व्रतादिषु ॥

जिस प्रकार बहुमूल्य रत्नों में वज्र (हीरा) रत्न सर्वोत्तम कहा जाता है, चन्दनों में मलयागिरि चन्दन सुवासित-शीतल एवं महत्त्वपूर्ण जाना जाता है, मणियों में वैडूर्यमणि को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है, उसी प्रकार व्रत,, संयम, शील, चरित्र, तपादि अनुष्ठानों में ध्यान सर्वोत्तम और महत्त्वपूर्ण है। यह साधुओं का प्राण है। कहा भी है—"दह्यतेऽनन्त कर्माणि ध्यानाग्निना क्षणात्।" अर्थात् ध्यान रूपी अग्नि से अनन्त भवों में संचित किये कर्मपुञ्ज क्षणभर में रूई के ढेर के समान जलकर भस्म हो जाते हैं। आचार्य कहते हैं "ध्यानं प्राणाः मुनीश्वराणां।" अर्थात् ध्यान मात्र ही साधुओं का जीवन है। आत्मदर्शन का एक मात्र ध्यान ही उपाय है।

अध्याय सातवां : लोक वर्णन

नरकों का वर्णन और नरकों के नाम—

रत्न शर्करा वालुका पङ्क धूम तमो महातमः प्रभा भूमयो
घनाम्बुवाताकाश प्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः ॥११६०॥

रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुका प्रभा, पङ्क प्रभा, धूम प्रभा, तमः प्रभा और महातमः प्रभा, ये सात नरक क्रम से नीचे-नीचे स्थित हैं। ये क्रमशः घनोदधिवात वलय, घनवात वलय और तनुवात वलय से वेष्टित हैं और तीनों वात वलय आकाश के आश्रित हैं। रत्नप्रभा सहित भूमि रत्नप्रभा है, इसमें मन्द अन्धकार है। शर्कराप्रभा सहित भूमि शर्कराप्रभा है, इसमें बहुत कम तेज है। वालुका प्रभा भूमि अन्धकार प्राय है। आगे की भूमियाँ उत्तरोत्तर अन्धकारमय ही हैं। वालुका प्रभा के स्थान में बालिका प्रभा भी पाठ देखा जाता है। महातमः प्रभा का तमस्तमः प्रभा यह दूसरा नाम है। ये वातवलय नरकों के नीचे भी हैं। घनोदधिवात वलय गोमूत्र के रंग के समान है। घनवात मूंग के रंग का है। तनुवात वलय अनेक रंग का है। तीनों वातवलय क्रमशः लोक के नीचे के भाग में तथा सप्तम पृथिवी के अन्तिम भाग तक एक बाजू में बीस-बीस हजार योजन मोटे हैं। सप्तम पृथिवी के अन्त में क्रमशः सात, पाँच और चार योजन मोटे हैं। फिर क्रमशः घटते हुए मध्य-लोक में पांच, चार और तीन योजन मोटे रह जाते हैं। फिर क्रमशः बढ़कर ब्रह्मलोक के पास सात, पांच और चार योजन मोटे हो जाते हैं। पुनः क्रमशः घटकर लोक के अन्तिम भाग में पांच, चार और तीन योजन रह जाते हैं। लोक शिखर पर दो कोस, एक कोस तथा सवा चार सौ धनुष कम एक कोस प्रमाण मोटे हैं।

प्रश्न :—नरकों का विस्तार किस प्रकार है ?

उत्तर :—प्रथम पृथिवी एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी है। इसके तीन भाग हैं—१. खर भाग, २. पङ्क भाग और ३. अब्बहुल भाग। खर भाग का विस्तार सोलह हजार योजन, पङ्क भाग का चौरासी हजार योजन और अब्बहुल भाग का अस्सी हजार योजन है। खर भाग के ऊपर और नीचे एक-एक हजार योजन

छोड़कर शेष भाग में तथा पंक भाग में भवनवासी और व्यन्तर देव रहते हैं, और अब्बहुल के भाग में नारकी रहते हैं। द्वितीय आदि पृथिवियों का विस्तार क्रम से ३२, २८, २४, २०, १६ और ८ हजार योजन है। सातों नरकों के प्रस्तारों की संख्या क्रम से १३, ११, ९, ७, ५, ३ और १ है। प्रथम नरक में १३ और सप्तम नरक में केवल एक प्रस्तार है।

सातों नरकों के रूढ़ नाम इस प्रकार हैं—

१. धम्मा, २. वंशा, ३. शैला या मेघा, ४. अञ्जना, ५. अरिष्टा, ६. मघवी और ७. माघवी।

सातों नरकों में बिलों की संख्या—

तासु त्रिंशत्पञ्चविंशति पञ्चदश दशत्रिपञ्चोनैक नरक शत सहस्राणि पञ्च चैव यथाक्रमम् ॥११६१॥

उन प्रथम आदि नरकों में क्रम से तीस लाख, पच्चीस लाख, पन्द्रह लाख, दस लाख, तीन लाख, पांच कम एक लाख और पांच बिल हैं। सम्पूर्ण बिलों की संख्या चौरासी लाख है।

नारकियों का वर्णन—

नारकानित्या शुभतर लेश्या परिणाम देहवेदना विक्रियाः ॥११६२॥

नारकी जीव सदा ही अशुभतर लेश्या, परिणाम, देह, वेदना और विक्रिया वाले होते हैं। उनके कृष्ण, नील और कापोत ये तीन अशुभ लेश्यायें होती हैं। प्रथम और द्वितीय नरक में कापोत लेश्या होती है। तृतीय नरक के उपरिभाग में कापोत और अधोभाग में नील लेश्या है। चतुर्थ नरक में नील लेश्या है। पञ्चम नरक में ऊपर नील और नीचे कृष्ण लेश्या है। छठवें और सातवें नरक में कृष्ण और परम कृष्ण लेश्या है। उक्त वर्णन द्रव्य लेश्याओं का है, जो आयुपर्यन्त रहती हैं। भाव-लेश्याएँ अन्तर्मुहूर्त में बदलती रहती है, अतः उनका वर्णन नहीं किया गया।

स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द को परिणाम कहते हैं। शरीर को देह कहते हैं। अशुभ नाम कर्म के उदय से नारकियों के परिणाम और शरीर अशुभतर होते है।

प्रथम नरक में नारकियों के शरीर की ऊँचाई सात धनुष, तीन धनुष, तीन हाथ और छह अंगुल हैं। आगे के नरको में क्रम से दुगनी-दुगनी ऊँचाई होती गई है,

जो सातवें नरक में ५०० धनुष हो जाती है। शीत और उष्णता से होने वाले दुःख का नाम वेदना है। नारकियों को शीत और उष्णता-जन्य तीव्र दुःख होता है। प्रथम नरक से चतुर्थ नरक तक उष्ण वेदना होती है। पञ्चम नरक के ऊपर के दो लाख बिलों में उष्ण वेदना है, और नीचे के एक लाख बिलों में शीत वेदना है। मतान्तर से पाँचवें नरक के ऊपर के दो लाख पच्चीस बिलों में उष्ण वेदना तथा २५ कम एक लाख बिलों में शीत वेदना है। छठे और सातवें नरक में उष्ण वेदना है। शरीर की विकृति को विक्रिया कहते हैं। अशुभ कर्म के उदय से उनकी विक्रिया भी अशुभ ही होती है। शुभ करना चाहते हैं, पर अशुभ होती है।

नारकी एक दूसरे के प्रति व्यवहार—

परस्परोदीरित दुःखा ॥११६३॥

नारकी जीव परस्पर में एक दूसरे को दुःख उत्पन्न करते हैं। वहाँ सम्यग्दृष्टि जीव अवधिज्ञान से और मिथ्यादृष्टि विभंगावधिज्ञान से दूर से ही दुःख का कारण समझ लेते हैं और दुःखी होते हैं। पास में आने पर एक दूसरे को देखते ही क्रोध बढ़ जाता है, पुनः पूर्व भव के स्मरण और तीव्र वैर के कारण वे कुत्तों की तरह एक दूसरे को भोंकते हैं तथा अपने द्वारा बनाये हुए नाना प्रकार के अस्त्रों द्वारा एक दूसरे को मारने में प्रवृत्त हो जाते हैं। इस प्रकार नारकी जीव दिन रात कुत्तों की तरह लड़कर, काटकर, मारकर स्वयं ही दुःख पैदा करते हैं। एक दूसरे को काटते हैं, छेदते हैं, सीसा गलाकर पिलाते हैं, वैतरिणी में ढकेलते हैं, कड़ाही में झोंक देते हैं आदि।

असुर कुमार देव की पृथ्वी—

संक्लिष्टा सुरोदीरित दुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्या ॥११६४॥

चौथे नरक से पहले अर्थात् तृतीय नरक पर्यन्त अत्यन्त संक्लिष्ट परिणामों के धारक अम्बाम्बरीष आदि कुछ असुर कुमारों के द्वारा भी नारकीयों को दुःख पहुँचाया जाता है। असुर कुमार देव तृतीय नरक तक जाकर पूर्व भव का स्मरण कराके नारकियों को परस्पर में लड़ाते हैं और लड़ाई को देखकर स्वयं (प्रसन्न) होते हैं। च शब्द से असुर कुमार देव पूर्व सूत्र में कथित दुःख भी पहुँचाते हैं ऐसा समझना चाहिये।

नरकों में आयु वर्णन—

तेष्वेक त्रिसप्त दश सप्त दश द्वाविंशति त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः ॥११६५॥

उन नरकों से नारकी जीवों की उत्कृष्ट आयु क्रम से एक सागर, तीन सागर, सात सागर, दश सागर, सत्रह सागर, बाईस सागर और तेतीस सागर है।

प्रथम नरक के प्रथम पटल में जघन्य आयु १० हजार वर्ष है। प्रथम पटल में जो उत्कृष्ट आयु है, वही द्वितीय पटल में जघन्य आयु है। यही क्रम सातों नरकों में है।

पटलों में उत्कृष्ट स्थिति इस प्रकार है—

पटल	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३
नरक ९०	९०	असं.											
१ हजार वर्ष	लाख वर्ष	पूर्व	१०	१/२	१/१०	४/१०	१/१	६/१०	७/१०	८/१०	९/१०	१
			सागर	सागर	सागर	सागर	सागर	सागर	सागर	सागर	सागर	सागर	सागर
२	१२/१९	१४/११	१६/११	१८/११	१५०/११	२१/११	२३/११	२४/११	२७/११	२९/११	८/१३		
	सागर	सागर	सागर	सागर	सागर	सागर	सागर	सागर	सागर	सागर	सागर		
३	३४/८	३८/९	४२/९	४७/९	५२/९	५६/९	६१/९	६५/९	७				
	सागर	सागर	सागर	सागर	सागर	सागर	सागर	सागर	सागर				
४	७३/७	७६/७	८२/७	८५/७	९१/७	९४/७	१०						
	सागर	सागर	सागर	सागर	सागर	सागर	सागर						
५	११२/५	१२४/५	१४१/५	१५३/५	१७								
	सागर	सागर	सागर	सागर	सागर								
६	१८२/३	२०१/३	२२										
	सागर	सागर	सागर										
७	२३												
	सागर												

इन नरकों में मद्यपायी, मांसभक्षी, यज्ञ में बलि देने वाले, असत्यवादी, पर-द्रव्य का हरण करने वाले, परस्त्री-लम्पटी, तीव्र लोभी, रात्रि में भोजन करने वाले, स्त्री, बालक, वृद्ध और ऋषि के साथ विश्वासघात करने वाले, जिनधर्म निन्दक, रौद्र ध्यान करने वाले तथा इसी प्रकार के अन्य पाप कर्म करने वाले जीव पैदा होते हैं।

उत्पत्ति के समय इन जीवों के ऊपर की ओर पैर और मस्तक नीचे की ओर रहता है। नारकी जीवों को क्षुधा, तृषा आदि की तीव्र वेदना आयु पर्यन्त सहन करनी पड़ती है। क्षण भर के लिये भी सुख नहीं मिलता है।

असंज्ञी जीव प्रथम नरक तक, सरीसृप (रेंगने वाले) द्वितीय नरक तक, पक्षी तृतीय नरक तक, सर्प चतुर्थ नरक तक, सिंह पाँचवें नरक तक, स्त्री छठवें नरक तक और मत्स्य सातवें नरक तक जाते हैं।

यदि कोई प्रथम नरक में लगातार जावे तो आठ बार जा सकता है। अर्थात् कोई जीव प्रथम नरक में उत्पन्न हुआ, फिर वहाँ से निकल कर मनुष्य या तिर्यञ्च हुआ, पुनः प्रथम नरक में उत्पन्न हुआ। इस प्रकार वह जीव प्रथम नरक में ही जाता रहे तो आठ बार तक जा सकता है। इसी प्रकार द्वितीय नरक में सात बार, तृतीय नरक में छह बार, चौथे नरक में पांच बार, पाँचवें नरक में चार बार, छठवें नरक में तीन बार और सातवें नरक में दो बार तक लगातार उत्पन्न हो सकता है।

सातवें नरक से निकला हुआ जीव तिर्यञ्च ही होता है और पुनः नरक में जाता है। छठवें नरक से निकला हुआ जीव मनुष्य हो सकता है और सम्यग्दर्शन को भी प्राप्त कर सकता है, लेकिन देशव्रती नहीं हो सकता। पञ्चम नरक से निकला हुआ जीव देशव्रती हो सकता है, लेकिन महाव्रती नहीं। चौथे नरक से निकला हुआ जीव मोक्ष भी प्राप्त कर सकता है। प्रथम, द्वितीय और तृतीय नरक से निकला हुआ जीव तीर्थंकर भी हो सकता है।

❋ मध्यलोक ❋

जम्बूद्वीप लवणोदादयः शुभनामानो द्वीप समुद्राः ॥११६॥

मध्य लोक में उत्तम नाम वाले जम्बूद्वीप आदि और लवण समुद्र आदि असंख्यात द्वीप समुद्र हैं।

१. जम्बूद्वीप, १ लवण समुद्र, २. धातकी खण्ड द्वीप २ कालोद समुद्र, ३. पुष्करवर द्वीप, ३ पुष्करवर समुद्र, ४. वारुणीवर द्वीप, ४ वारुणीवर समुद्र, ५. क्षीरवर द्वीप ५ क्षीरवर समुद्र, ६. घृतवर द्वीप ६ घृतवर समुद्र, ७. इक्षुवर द्वीप ७ इक्षुवर समुद्र, ८. नन्दीश्वर द्वीप ८ नन्दीश्वर समुद्र, ९. अरुणवर द्वीप ९ अरुणवर समुद्र। इस प्रकार स्वयम्भूरमण समुद्र पर्यन्त एक दूसरे को घेरे हुये असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं। अर्थात् पच्चीस कोटि उद्धार पल्यों के जितने रोम खण्ड हों उतनी ही द्वीप समुद्रों की संख्या है।

मेरु से उत्तर दिशा में उत्तर कुरु नामक उत्तम भोग भूमि है। उसके मध्य में नाना रत्नमय एक जम्बू वृक्ष है। जम्बू वृक्ष के चारों ओर चार परिवार वृक्ष हैं। प्रत्येक परिवार वृक्ष के भी एक लाख बयालीस हजार एक सौ पन्द्रह परिवार वृक्ष हैं। समस्त जम्बू वृक्षों की संख्या १४०१२० है। मूल जम्बू वृक्ष ५०० योजन ऊँचा है। मध्य में जम्बू वृक्ष के होने से ही इस द्वीप का नाम जम्बूद्वीप पड़ा। उत्तर कुरु की तरह देव कुरु के मध्य में शाल्मलि वृक्ष है। प्रत्येक वृक्ष के ऊपर रत्नमय जिनालय है। इसी प्रकार धातकी द्वीप में धातकी वृक्ष और पुष्करवर द्वीप में पुष्करवर वृक्ष है।

द्वीप और समुद्रों का विस्तार और रचना—

द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्व पूर्व परिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥१६७॥

प्रत्येक द्वीप समुद्र दूने-दूने विस्तार वाले, एक दूसरे को घेरे हुए तथा चूड़ी के आकार वाले हैं।

जम्बूद्वीप का विस्तार एक लाख योजन, लवण समुद्र का दो लाख योजन, धातकी द्वीप का चार लाख योजन, कालोद समुद्र का आठ लाख योजन, पुष्करवर द्वीप का सोलह लाख योजन, पुष्करवर समुद्र का बत्तीस लाख योजन विस्तार है। इसी क्रम से स्वयम्भूरमण समुद्र पर्यन्त द्वीप और समुद्रों का विस्तार दूना है। जिस प्रकार धातकी द्वीप का विस्तार जम्बूद्वीप और लवण समुद्र के विस्तार से एक योजन अधिक है, उसी प्रकार असंख्यात समुद्रों के विस्तार से स्वयंभूरमण समुद्र का विस्तार एक लाख योजन अधिक है। पहले पहले के द्वीप समुद्र आगे-आगे के द्वीप समुद्रों को घेरे हुए हैं। अर्थात् जम्बूद्वीप को लवण समुद्र, लवण समुद्र को धातकी द्वीप, धातकी द्वीप को कालोद समुद्र घेरे हुये हैं। यही क्रम आगे भी है।

ये द्वीप समुद्र चूड़ी के समान गोलाकार हैं। त्रिकोण, चतुष्कोण या अन्य आकार वाले नहीं हैं।

जम्बूद्वीप की रचना और विस्तार

तन्मध्ये मेरूनाभिर्वृतो योजन शत सहस्त्र विष्कम्भो जम्बूद्वीपः ॥११६८॥

उन असंख्यात द्वीप समुद्रों के बीच में एक लाख योजन विस्तार वाला जम्बू द्वीप है। जम्बूद्वीप के मध्य में मेरु है, अतः मेरु जम्बूद्वीप की नाभि कहा गया है। जम्बूद्वीप का आकार गोल है।

मेरु पर्वत एक लाख योजन ऊँचा है। वह एक हजार योजन भूमि से नीचे और ९९ हजार योजन भूमि से ऊपर है। भूमि पर भद्रशाल वन है। भद्रशाल वन से पाँच सो योजन ऊपर नन्दन वन है। नन्दन वन से त्रेसठ हजार योजन ऊपर सौमनस वन है। सोमनस वन से साढे पैंतिस हजार योजन ऊपर पाण्डुकवन है। मेरु पर्वत की शिखर चालीस योजन ऊंची है। इस शिखर की ऊँचाई का परिमाण पाण्डुकवन के परिमाण के अन्तर्गत नहीं है।

जम्बूद्वीप का एक लाख योजन विस्तार कोट के विस्तार सहित है। जम्बूद्वीप का कोट आठ योजन ऊंचा है। मूल में बारह योजन, मध्य में आठ योजन और ऊपर भी आठ योजन विस्तार है। उस कोट के दोनों पार्श्वों में दो कोस ऊंची रत्नमयी दो वेदियां हैं। प्रत्येक वेदी का विस्तार एक कोस और एक हजार सात सौ पचास धनुष है। दोनों वेदियों के बीच में महोक्ष देवों के अनादिधन प्रासाद है, जो वृक्ष, बापी, सरोवर, जिन मन्दिर आदि से विभूषित हैं। उस कोट के पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर चारों दिशाओं में क्रम से विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित नाम के चार द्वार हैं। द्वारों की ऊँचाई आठ योजन और विस्तार चार योजन है। द्वारों के आगे अष्ट प्रतिहार्य संयुक्त जिन प्रतिमायें हैं।

जम्बूद्वीप की परिधि तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्ताईस योजन तीन कोस एक सौ अट्ठाईस धनुष और साढ़े तेरह अंगुल से कुछ अधिक है।

क्षेत्रों का वर्णन—

भरत हैमवत हरि विदेह रम्यक हैरण्यवतैरावत वर्षाः क्षेत्राणि ॥११६९॥

जम्बूद्वीप में भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत ये अनादि निधन नाम वाले सात क्षेत्र हैं।

हिमवान् पर्वत और पूर्व-दक्षिण-पश्चिम समुद्र के बीच में धनुष के आकार का भरत क्षेत्र है। इसके गंगा–सिन्धु नदी और विजयार्द्ध पर्वत के द्वारा छह खण्ड हो गये हैं।

भरत क्षेत्र के बीच में पच्चीस योजन ऊँचा रजतमय विजयार्द्ध पर्वत है, जिसका विस्तार पचास हजार योजन है। विजयार्द्ध पर्वत पर और पांच म्लेच्छ खण्डों में चौथे काल के आदि और अन्त के समान काल रहता है। इसलिये वहाँ पर शरीर की ऊँचाई उत्कृष्ट पाँच सौ धनुष और जघन्य सात हाथ है। उत्कृष्ट आयु पूर्व कोटि और जघन्य एक सौ बीस वर्ष है।

विजयार्द्ध पर्वत से दक्षिण दिशा के बीच में अयोध्या नगरी है। विजयार्द्ध पर्वत से उत्तर दिशा में और क्षुद्र हिमवान् पर्वत से दक्षिण दिशा में गंगा–सिन्धु नदियों तथा म्लेच्छ खण्डों के मध्य में एक योजन ऊँचा और पचास योजन लम्बा, जिनालय सहित सुवर्णरत्नमय वृषभ नाम का पर्वत है। इस पर्वत पर चक्रवर्ती अपनी प्रशस्ति लिखते हैं।

हिमवान्–महाहिमवान् पर्वत और पूर्व–पश्चिम समुद्र के मध्य में हैमवत क्षेत्र है। इसमें जघन्य भोगभूमि की रचना है। हैमवत क्षेत्र के मध्य में गोलाकार एक हजार योजन ऊँचा, एक योजन लम्बा शब्दवान् पर्वत है।

जघन्य भोग भूमि में शरीर की ऊँचाई एक कोश, एक पल्य की आयु और प्रियंगु के समान श्याम वर्ण शरीर होता है। वहाँ के प्राणी एक दिन के बाद आंवला प्रमाण भोजन करते हैं। आयु के नव मास शेष रहने पर गर्भ से स्त्री पुरुष युगल पैदा होते हैं। नवीन युगल के उत्पन्न होते ही पूर्व युगल का छींक और जँभाई से मरण हो जाता है। उनका शरीर बिजली के समान विघटित हो जाता है। नूतन युगल अपने अँगूठे को चूँसते हुए सात दिन तक सीधे सोता रहता है। पुनः सात दिन तक पृथ्वी पर सरकता है। इसके बाद सात दिन तक मधुर वाणी बोलते हुए पृथ्वी पर लड़खड़ाते हुए चलता है। चौथे सप्ताह में अच्छी तरह चलने लगता है। पाँचवें सप्ताह में कला और गुणों को धारण करने के योग्य हो जाता है। छठवें सप्ताह में तरुण होकर भोगों को भोगने लगता है। और सातवें सप्ताह में सम्यक्त्व को ग्रहण करने के योग्य

हो जाता है। सब युगल दश कोस ऊँचे दश प्रकार के कल्प वृक्षों से उत्पन्न भोगों को भोगते हैं। भोग भूमि के जीव आर्य कहलाते हैं, क्योंकि वहाँ पुरुष स्त्री को आर्या और स्त्री पुरुष को आर्य कहकर बुलाती हैं।

१. मद्यांग जाति के कल्प वृक्ष मद्य को देते हैं। मद्य का तात्पर्य शराब या मदिरा से नहीं है किन्तु दूध, दधि, घृत आदि से बनी हुई सुगन्धित द्रव्य को काम-शक्तिजनक होने से मद्य कहा गया है।

२. वादित्रांग जाति के कल्प वृक्ष मृदंग, भेरी, वीणा आदि नाना प्रकार के बाजों को देते हैं।

३. भूषणांग जाति के कल्प वृक्ष विविध प्रकार के आभूषणों को देते हैं।

४. माल्यांग नाम के कल्प वृक्ष अशोक, चम्पा, परिजात आदि के सुगन्धित पुष्प माला आदि को देते हैं।

५. ज्योतिरंग जाति के कल्पवृक्ष सूर्यादिक के तेज को भी तिरस्कृत कर देते हैं।

६. दीपांग जाति के कल्पवृक्ष नाना प्रकार के दीपकों को देते हैं, जिनके द्वारा लोग घरों के अन्दर अन्धकार युक्त स्थानों में प्रकाश करते हैं।

७. गृहांग जाति के कल्पवृक्ष प्राकार और गोपुरयुक्त रत्नमय प्रासादों का निर्माण करते हैं।

८. भोजनांग कल्पवृक्ष छह रसयुक्त और अमृतमय दिव्य आहार को देते हैं।

९. भाजनांग जाति के कल्पवृक्ष मणि और सुवर्ण थाली, घड़ा आदि बर्तनों को देते हैं।

१०. वस्त्रांग जाति के कल्पवृक्ष नाना प्रकार के सुन्दर और सूक्ष्म वस्त्रों को देते हैं।

वहां पर अमृत के समान स्वादयुक्त अत्यन्त कोमल चार अंगुल प्रमाण घास होती है, जिसको गायें चरती हैं। वहाँ की भूमि पञ्च रत्नमय है। कहीं-कहीं पर मणि और सुवर्णमय क्रीडा पर्वत हैं। वापी, सरोवर और नदियों में रत्नों की सीढ़ियां लगी हैं। पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च मांस नहीं खाते और न परस्पर में विरोध ही करते हैं।

वहाँ विकलत्रय नहीं होते हैं। कोमल हृदय वाले, मन्दकषायी और शीलादि-संयुक्त मनुष्य ऋषियों को आहारदान देने से और तिर्यञ्च उस आहार की अनुमोदना

करने से भोग भूमि में उत्पन्न होते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव वहां से मरकर सौधर्म–ऐशान स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं।

महाहिमवान् और निषध पर्वत तथा पूर्व और पश्चिम समुद्र के बीच में हरि क्षेत्र है। इसके मध्य में वेदाढ्य नाम का पटहाकार पर्वत है। हरि क्षेत्र में मध्यम भोगभूमि की रचना है।

मध्यम भोगभूमि में शरीर की ऊँचाई दो कोस, आयु दो पल्य और वर्ण चन्द्रमा के समान होता है। वहां के प्राणी दो दिन के बाद बिभीतक (बेहरे के) फल के बराबर भोजन करते हैं। कल्पवृक्ष बीस योजन ऊँचे होते हैं। अन्य वर्णन जघन्य भोगभूमि के समान ही है।

निषध नील पर्वत तथा पूर्व और पश्चिम समुद्र के बीच में विदेह क्षेत्र है। विदेह क्षेत्र के चार भाग हैं—१. मेरु पर्वत से पूर्व में पूर्व विदेह, २. पश्चिम में अपर-विदेह, ३. दक्षिण में देव कुरु और ४. उत्तर में उत्तर कुरु। विदेह क्षेत्र में कभी जिन-धर्म का विनाश नहीं होता है, धर्म की प्रवृत्ति सदा रहती है और वहां से मरकर मनुष्य प्रायः मुक्त हो जाते हैं। अतः इस क्षेत्र का नाम विदेह पड़ा। विदेह क्षेत्र में तीर्थंकर सदा रहते हैं। यहाँ भरत और ऐरावत क्षेत्र के समान चौबीस तीर्थंकर होने का नियम नहीं है। देवकुरु, उत्तर कुरु, पूर्व विदेह और अपर विदेह के कोने में गजदन्त नाम के चार पर्वत हैं। इनकी लम्बाई तीस हजार दो सौ नव योजन, चौड़ाई पांच सौ योजन और ऊँचाई चार सौ योजन है। ये गजदन्त मेरु से निकले हैं। इनमें से दो गजदन्त निषध पर्व की ओर, और दो गजदन्त नील पर्वत की ओर गये हैं। दक्षिण दिग्वर्ती गजदन्तों के बीच में देवकुरु नामक उत्तम भोग भूमि है। देवकुरु के मध्य में एक शाल्मलि वृक्ष है। उत्तर दिग्वर्ती गजदन्तों के बीच में उत्तर कुरु है।

उत्तर भोग भूमि में शरीर की ऊँचाई तीन कोस, आयु तीन पल्य और वर्ण उदीयमान सूर्य के समान है। वहाँ के मनुष्य तीन दिन के बाद बेर के बराबर भोजन करते हैं। कल्पवृक्षों की ऊँचाई तीस गव्यूती है। मेरु के चारों ओर भद्रशाल नाम का वन है। उस वन से पूर्व और पश्चिम में निषध और नील पर्वत से लगी हुई दो वेदियां हैं।

पूर्व विदेह में सीता नदी के होने से इसके दो भाग हो गये हैं—उत्तर भाग और दक्षिण भाग। उत्तर भाग में आठ क्षेत्र हैं।

वेदी और वक्षार पर्वत के बीच में एक क्षेत्र है। वक्षार पर्वत और दो विभंग नदियों के बीच में दूसरा क्षेत्र है। विभंग नदी और वक्षार पर्वत के मध्य में तीसरा क्षेत्र है। वक्षार पर्वत और दो विभंग नदियों के बीच में चौथा क्षेत्र है। विभंग नदी और वक्षार पर्वत के बीच में पांचवां क्षेत्र है। वक्षार पर्वत और दो-दो विभंग नदियों के अन्तराल में छठवां क्षेत्र है। विभंग नदी और वक्षार पर्वत के बीच में सातवां क्षेत्र है। वक्षार पर्वत और वन वेदिका के मध्य में आठवां क्षेत्र है। इस प्रकार चार वक्षार पर्वतों, तीन विभंग नदियों और दो वेदियों के नौ खण्डों से विभक्त होकर आठ क्षेत्र हो जाते हैं। इन आठ क्षेत्रों के नाम इस प्रकार हैं—१. कच्छा, २. सुकच्छा ३. महाकच्छा, ४. कच्छकावती, ५. आवर्ता, ६. लांगलावती, ७. पुष्कला और ८. पुष्कलावती। इन क्षेत्रों के बीच में आठ मूल पत्तन हैं—१. क्षेमा, २. क्षेमकरी, ३. अरिष्टा, ४. अरिष्टपुरी, ५. खंग, ६. मञ्जूषा, ७. औषधी और ८. पुण्डरीकिणी। प्रत्येक क्षेत्र के बीच में गंगा और सिन्धु नाम की दो-दो नदियां हैं जो नील पर्वत से निकली हैं और सीता नदी में मिल गई हैं। प्रत्येक क्षेत्र में एक-एक विजयार्द्ध पर्वत है। प्रत्येक क्षेत्र में विजयार्ध पर्वत से उत्तर की ओर और नील पर्वत से दक्षिण की ओर वृषभगिरि नामक पर्वत है। इस पर्वत पर चक्रवर्ती अपनी प्रसिद्धि लिखते हैं। आठों ही क्षेत्र में छह-छह खण्ड हैं—पांच-पांच म्लेच्छ और एक-एक आर्य खण्ड। आठों ही आर्य खण्डों में एक-एक उपसमुद्र है। प्रत्येक क्षेत्र में सीता नदी के अन्त में व्यन्तर-देव रहते हैं जो चक्रवर्तियों द्वारा वश में किये जाते हैं।

सीता नदी से दक्षिण दिशा में भी आठ क्षेत्र हैं, पूर्व दिशा में वन वेदी है। वन वेदी के बाद वक्षार पर्वत, विभंगानदी, वक्षार पर्वत, विभंगा नदी, वक्षार पर्वत, विभंगानदी, वक्षार पर्वत और वन वेदी ये क्रम से नौ स्थान हैं। इनके द्वारा विभक्त हो जाने से आठ क्षेत्र हो जाते हैं—१. वत्सा, २. सुवत्सा, ३. महावत्सा, ४. वत्सकावती, ५. रम्या, ६. रम्यका, ७. रमणीया, ८. मंगलावती। इन आठ क्षेत्रों के मध्य में आठ मूल पत्तन हैं—१. सुसीमा, २ कुण्डला, ३. अपराजिता, ४. प्रभङ्करी, ५. अङ्कवती, ६. पद्मावती, ७. शुभा, ८ रत्न संचया। आठों क्षेत्रों में से प्रत्येक में दो-दो गंगा-सिन्धु नदियाँ बहती हैं, जो निषध पर्वत से निकली हैं और सीता नदी में मिल गई हैं। आठों क्षेत्रों के मध्य में आठ उपसमुद्र हैं। निषध पर्वत से उत्तर में और विजयार्द्ध पर्वतों से दक्षिण में आठ वृषभगिरि हैं जिन पर चक्रवर्ती अपने-अपने दिग्विजय के वर्णन को

लिखते हैं। आठों क्षेत्र दो खण्डों (५ म्लेच्छ और १ आर्य) से शोभायमान हैं। सीता नदी में मागधवरतनुप्रभास नामक व्यन्तरदेव रहते हैं।

सीतोदा नदी अपरविदेह के बीच से निकल कर पश्चिम समुद्र में मिली है। उसके द्वारा दो विदेह हो गये हैं—दक्षिण विदेह और उत्तर विदेह। उत्तर विदेह का वर्णन पूर्व विदेह के समान ही है।

सीतोदा नदी के दक्षिण तट पर जो क्षेत्र हैं उनके नाम—१. पद्मा, २. सुपद्मा, ३. महापद्मा, ४. पद्मकावती, ५. शङ्खा, ६. नलिना, ७. कुमुदा, ८. सरिता।

इन क्षेत्रों के मध्य की आठ मूल नगरियों के नाम—१. अश्वपुरी, २. सिंहपुरी, ३. महापुरी, ४. विजयापुरी, ५. अरजा, ६. विरजा, ७. अशोका, ८. वीतशोका। सीतोदा नदी के उत्तर तट पर जो आठ क्षेत्र हैं उनके नाम—१. वप्रा, २. सुवप्रा, ३. महावप्रा, ४. वप्रकावती, ५. गन्धा, ६. सुगन्धा, ७. गन्धिला, ८ गन्धमादिनी। इन क्षेत्रों सम्बन्धी आठ मूल नगरियों के नाम—१. विजया, २. वैजयन्ती, ३. जयन्ती, ४. अपराजिता, ५. चक्रा, ६. खंगा, ७. अयोध्या, ८. अवध्या। क्षेत्र और पश्चिम समुद्र की वेदी के मध्य में भूतारण्य वन है।

नील और रुक्मि पर्वत तथा पूर्व और पश्चिम समुद्र के बीच में रम्यक क्षेत्र है। रम्यक क्षेत्र में मध्यम भोग भूमि की रचना है। इसका वर्णन हरि क्षेत्र के समान है। रम्यक क्षेत्र के मध्य में गन्धवान पर्वत है।

रुक्मि और शिखरि पर्वत तथा पूर्व और पश्चिम समुद्र के बीच में हैरण्यवत क्षेत्र है। इस क्षेत्र में जघन्य भोग भूमि की रचना है। इसका वर्णन हैमवत क्षेत्र के समान है। हैरण्यवत क्षेत्र के मध्य में माल्यवान् पर्वत है।

शिखरि पर्वत और पूर्व, अपर, उत्तर समुद्र के बीच में ऐरावत क्षेत्र है। ऐरावत क्षेत्र का वर्णन भरत क्षेत्र के समान है।

पांचों मेरु सम्बन्धी ५ भरत, ५ ऐरावत और ५ विदेह इस प्रकार १५ कर्म भूमियां हैं।

५ हैमवत, ५ हरि, ५ रम्यक, ५ हैरण्यवत, ५ देवकुरु और ५ उत्तर कुरु इस प्रकार ३० भोग भूमियां हैं।

विकलत्रय जीव कर्म भूमि में ही होते हैं। लेकिन समवशरण नहीं होते हैं।

कर्म भूमि से अतिरिक्त मनुष्य लोक में, पाताल लोक में और स्वर्गों में भी विकलत्रय नहीं होते हैं।

क्षेत्रों का विभाग करने वाले पर्वतों का नाम—

तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्।
निषध नील रुक्मि शिखरिणो वर्षधर पर्वताः ॥११७०॥

भरत आदि सात क्षेत्रों का विभाग करने वाले, पूर्व से पश्चिम तक लम्बे हिमवान्, महाहिमवान्, निषध नील, रुक्मि और शिखरी ये अनादि निधन नाम वाले छह पर्वत हैं।

भरत और ऐरावत क्षेत्र की सीमा पर सौ योजन ऊँचा और पच्चीस योजन भूमिगत हिमवान् पर्वत है। हैमवत और हरि क्षेत्र की सीमा पर दो सौ योजन ऊँचा और पचास योजन भूमिगत महाहिमवान् पर्वत है। हरि और विदेह क्षेत्र की सीमा पर चार सौ योजन ऊँचा और सौ योजन भूमिगत निषध पर्वत है। विदेह और रम्यक क्षेत्र की सीमा पर चार सौ योजन ऊँचा और एक सौ योजन भूमिगत नील पर्वत है। रम्यक और हैरण्यवत क्षेत्र की सीमा पर दो सौ योजन ऊँचा और पचास योजन भूमिगत रुक्मि पर्वत है। हैरण्यवत और ऐरावत क्षेत्र की सीमा पर सौ योजन ऊँचा और पच्चीस योजन भूमिगत शिखरी पर्वत है।

पर्वतों के रंग का वर्णन—

हेमार्जुन तपनीय वैडूर्य रजत हेम मयाः ॥११७१॥

उन पर्वतों का रंग, सोना, चांदी, सोना, वैडूर्यमणि, चाँदी और सोने के समान है।

हिमवान् पर्वत का वर्ण सोने के समान अथवा चीन के वस्त्र के समान पीला है। महा हिमवान् पर्वत का रंग चांदी के समान सफेद है। निषध पर्वत का रंग तपे हुये सोने के समान लाल है। नीला पर्वत का वर्ण वैडूर्यमणि के समान नीला है। रुक्मि पर्वत का वर्ण चाँदी के समान सफेद है। शिखरी पर्वत का रंग सोने के समान पीला है।

पर्वतों का आकार—

मणिविचित्र पार्श्वा उपरि मूले च तुल्य विस्तारः ॥११७२॥

उन पर्वतों के तट नाना प्रकार के मणियों से शोभायमान हैं, जो देव, विद्याधर और चारण ऋषियों के चित्त को भी चमत्कृत कर देते हैं। पर्वतों का विस्तार ऊपर, नीचे और मध्य में समान है।

पर्वतों पर स्थित सरोवरों के नाम—

पद्म महापद्मतिगिच्छ केशरि महापुण्डरीक पुण्डरीका ह्रदास्तेषामुपरि ॥११७३॥

हिमवान् आदि पर्वतों के ऊपर क्रम से पद्म, महापद्म, तिगिच्छ, केसरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक ये छह सरोवर हैं।

प्रथम सरोवर की लम्बाई, चौड़ाई—

प्रथमो योजन सहस्रायामस्तदर्द्ध विष्कम्भो ह्रदः ॥११७४॥

हिमवान् पर्वत के ऊपर स्थित प्रथम सरोवर एक हजार योजन लम्बा और पांच सौ योजन चौड़ा है। इसका तल भाग वज्रमय और तट नाना रत्नमय है।

प्रथम सरोवर की गहराई—

दश योजनावगाहः ॥११७५॥

पद्म सरोवर दश योजन गहरा है।

पद्म सरोवर में कमल कितना लम्बा चौड़ा है—

तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ॥११७६॥

पद्म सरोवर के मध्य में एक योजन विस्तार वाला कमल है। एक कोस लम्बे उसके पत्ते हैं और दो कोस विस्तार युक्त कर्णिका के मध्य में एक कोस प्रमाण विस्तृत श्री देवी का प्रसाद है। वह कमल जल से दो कोस ऊपर है। पत्र और कर्णिका के विस्तार सहित कमल का विस्तार एक योजन होता है।

अन्य सरोवरों के विस्तार आदि का वर्णन—

तद्द्विगुणाद्विगुणा ह्रदाः पुष्कराणि च ॥११७७॥

आगे के सरोवरों और कमलों का विस्तार प्रथम सरोवर और उसके कमल के विस्तार से दूना-दूना है। अर्थात् महा पद्म दो हजार योजन लम्बा, एक हजार योजन चौड़ा और बीस योजन गहरा है। इसके कमल का विस्तार दो योजन है। इसी प्रकार महापद्म के विस्तार से दूना विस्तार तिगिच्छ ह्रद का है। केसरी, महापुण्डरीक, और पुण्डरीक ह्रदों का विस्तार क्रम से तिगिच्छ, महापद्म और पद्म ह्रद के विस्तार के

समान है। इनके कमलों का विस्तार भी तिगिच्छ आदि के कमलों के विस्तार के समान है।

कमलों में रहने वाली देवियों के नाम—

तन्निवासिन्यो देव्यः श्री ह्री धृति कीर्ति बुद्धिलक्ष्म्यः पल्योपम स्थितयः ससामानिक परिषत्काः ॥१७८॥

उन पद्म आदि सरोवरों के कमलों पर क्रम से श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी ये छह देवियां सामानिक और परिषद जाति के देवों के साथ निवास करती हैं। देवियों की आयु एक पल्य है।

छहों कमलों की कर्णिकाओं के मध्य में एक कोस लम्बे, अर्द्ध कोस चौड़े और कुछ कम एक कोस ऊँचे इन देवियों के प्रासाद हैं, जो अपनी कान्ति से शरद् ऋतु से निर्मल चन्द्रमा की प्रभा को भी तिरस्कृत करते हैं। कमलों के परिवार कमलों पर सामानिक और परिषद् देव रहते हैं। श्री, ह्री, धृति देवियां अपने परिवार सहित सौधर्म इन्द्र की सेवा में तत्पर रहती हैं।

नदियों का वर्णन और उनके नाम—

गंगा सिन्धु रोहिद्रोहितास्या हरिद्धरिकान्ता सीता सीतोदा नारी नरकान्ता सुवर्ण रूप्यकूलारक्तारक्तोदाः सरितस्तस्तन्मध्यगाः ॥१७९॥

गङ्गा, सिन्धु, रोहित्, रोहितास्या, हरित्, हरिकान्ता, सीता, सीतोदा, नारी, नरकान्ता, सुवर्णकूला, रूप्यकूला, रक्ता और रक्तोदा ये चौदह नदियां भारत आदि सात क्षेत्रों में बहती हैं।

नदियों के बहने का क्रम—

द्वयो र्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ॥१८०॥

दो-दो नदियों में से पहली-पहली नदी पूर्व समुद्र में जाती है। अर्थात् गङ्गा-सिन्धु में गङ्गा नदी पूर्व समुद्र को जाती है, रोहित्–रोहितास्या में रोहित् नदी पूर्व समुद्र को जाती है। यही क्रम आगे भी है।

हिमवान् पर्वत के ऊपर जो पद्म ह्रद है। उसके पूर्व तोरणद्वार से गंगा नदी निकली है जो विजयार्द्ध पर्वत को भेदकर म्लेच्छ खण्ड में बहती हुई पूर्व समुद्र में मिल जाती है। पद्मह्रद के पश्चिम तोरण द्वार से सिन्धु नदी निकली है, जो विजयार्द्ध पर्वत को भेदकर म्लेच्छ खण्ड में बहती हुई पश्चिम समुद्र में मिल जाती

है। ये दोनों नदियां भरत क्षेत्र में बहती हैं। हिमवान् पर्वत के ऊपर स्थित पद्मह्रद के उत्तर तोरण द्वार से रोहितास्या नदी निकली है, जो जघन्य भोग भूमि में बहती हुई पश्चिम समुद्र में मिल जाती है। महापद्मह्रद के दक्षिण तोरण द्वार से रोहित नदी निकली है, जो जघन्य भोग भूमि में बहती हुई पूर्व समुद्र में मिल जाती है। रोहित् और रोहितास्या नदी हैमवत क्षेत्र में बहती है। महा पद्मह्रद के उत्तर तोरण द्वार से हरिकान्ता नदी निकली है, जो मध्यम भोग भूमि में बहती हुई पश्चिम समुद्र में मिल जाती है। निषध पर्वत के ऊपर स्थित तिगिच्छ के ह्रद के दक्षिण तोरण द्वार से हरित नदी निकली है, जो मध्यम भोग भूमि में बहती हुई पूर्व समुद्र में मिलती है। हरित और हरिकान्ता नदियां हरिक्षेत्र में बहती हैं।

तिगिच्छ ह्रद के उत्तर तोरण द्वार से सीतोदा नदी निकली है, जो अपर विदेह और उत्तम भोग भूमि में बहती हुई पश्चिम समुद्र में मिल जाती है। नील पर्वत पर स्थित केसरी ह्रद के दक्षिण तोरण द्वार से सीता नदी निकली है, जो उत्तम भोग भूमि और पूर्व विदेह में बहती हुई पूर्व समुद्र में मिल जाती है। सीता और सीतोदा नदियां विदेह क्षेत्र में बहती हैं।

केसरी ह्रद के उत्तर में तोरण द्वारसे नरकान्ता नदी निकली है, जो मध्यम भोग भूमि में बहती हुई पश्चिम समुद्र में मिल जाती है। रुक्मि पर्वत पर स्थित महा पुण्डरीक ह्रद के दक्षिण तोरण द्वार से नारी नदी निकली है, जो मध्यम भोगभूमि में बहती हुई पूर्व समुद्र में मिल जाती है। नारी और नरकान्ता नदी रम्यक क्षेत्र में बहती हैं।

महापुण्डरीक ह्रद के उत्तर तोरण द्वार से रूप्यकूला नदी निकली है, जो जघन्य भोग भूमि में बहती हुई पश्चिम समुद्र में मिल जाती है। शिखरी पर्वत पर स्थित पुण्डरीक ह्रद के दक्षिण तोरणद्वार से सवर्णकूला नदी निकली है, जो जघन्य भोग भूमि में बहती हुई पूर्व समुद्र में मिलती है। सुवर्णकूला और रूप्यकूला नदी हैरण्यवत् क्षेत्र में बहती हैं।

पुण्डरीक ह्रद के पश्चिम तोरण द्वार से रक्तोदा नदी निकली है, जो विजयार्द्ध पर्वत को भेदकर म्लेच्छ खण्ड में बहती हुई पश्चिम समुद्र में मिल जाती है। पुण्डरीक ह्रद के पूर्व तोरण द्वार से रक्ता नदी निकली है, जो विजयार्द्ध पर्वत को भेदकर म्लेच्छ खण्ड में बहती हुई समुद्र मिल जाती है। रक्ता और रक्तोदा नदी

ऐरावत क्षेत्र में बहती हैं।

देव कुरु के मध्य में सीतोदा नदी सम्बन्धी पांच ह्रद हैं। प्रत्येक ह्रद के पूर्व और पश्चिम तटों पर पांच-पांच सिद्ध कूट नामक क्षुद्र पर्वत हैं। इस प्रकार पांचों ह्रदों के तटों पर पचास क्षुद्र पर्वत हैं। ये पर्वत पचास योजन लम्बे पच्चीस योजन चौड़े और सैंतीस योजन ऊंचे हैं। प्रत्येक पर्वत के ऊपर अष्ट प्रातिहार्य संयुक्त, रत्न, सुवर्ण और चांदी से निर्मित, पल्यङ्कासनारूढ़ और पूर्वाभिमुख एक-एक जिन प्रतिमा है।

अपर विदेह से भी सीतोदा नदी सम्बन्धी पांच ह्रद हैं। इन ह्रदों के दक्षिण और उत्तर तटों पर पांच-पांच सिद्धकूट नाम के क्षुद्र पर्वत हैं। अन्य वर्णन पूर्ववत् है।

इसी प्रकार कुरु में सीता सम्बन्धी पांच ह्रद हैं। इन ह्रदों के पूर्व और पश्चिम तटों पर पूर्ववत् पचास सिद्ध कूट पर्वत हैं। पूर्व विदेह में भी सीता नदी सम्बन्धी पांच ह्रद हैं। इन ह्रदों के दक्षिण और उत्तर तटों पर पचास सिद्ध कूट पर्वत हैं। इस प्रकार जम्बूद्वीप के मेरु सम्बन्धी सिद्धकूट दो सौ हैं, और पांचों मेरु सम्बन्धी सिद्ध कूटों की संख्या एक हजार है।

शेष बची हुई नदियां कहां जाती हैं ?

शेषास्त्वपरगाः ॥११८१॥

पूर्व सूत्र में कही गई नदियों से शेष बची हुई नदियाँ पश्चिम समुद्र को जाती हैं, अर्थात् गंगा और सिन्धु में से सिन्धु पश्चिम समुद्र को जाती है। यही क्रम आगे भी है।

नदियों का परिवार—

चतुर्दश नदी सहस्र परिवृता गंगासिन्ध्वादयो नद्यः ॥११८२॥

गंगा, सिन्धु आदि नदियां चौदह हजार परिवार नदियों से सहित हैं।

यद्यपि बीसवें सूत्र गत 'सरितस्तन्मध्यगाः' इस वाक्य में आये हुये सरित शब्द से इस सूत्र में भी नदी का सम्बन्ध हो जाता, क्योंकि यह नदियों का प्रकरण है फिर भी इस सूत्र में 'नद्यः' शब्द का ग्रहण यह सूचित करता है कि आगे-आगे की युगल नदियों के परिवार नदियों की संख्या पूर्व-पूर्व की संख्या से दूनी-दूनी है।

यदि 'चतुर्दश नदी सहस्र परिवृता नद्यः' इतना ही सूत्र बनाते तो 'अनन्तस्य

विधिर्वा प्रतिषेधोऽर्थात्' इस सिद्धान्त के अनुसार 'शेषास्त्वपरगाः' इस सूत्र में कथित पश्चिम समुद्र को जाने वाली नदियों का ही यहां ग्रहण होता और चतुर्दश नदी सहस्र परिवृता गंगादयो नद्यः ऐसा सूत्र करने पर पूर्व समुद्र को जाने वाली नदियों का ही ग्रहण होता। अतः सब नदियों को ग्रहण करने के लिये 'गंगासिन्ध्वादयो' वाक्य सूत्र में आवश्यक है।

गंगा, सिन्धु नदियों की परिवारनदियां चौदह-चौदह हजार, रोहित और रोहितास्या नदियों की परिवारनदियां अट्ठाईस-अट्ठाईस हजार, हरित और हरिकान्ता नदियों की परिवारनदियां छप्पन-छप्पन हजार, सीता और सीतोदा नदियों में प्रत्येक की परिवार नदियां एक लाख बारह हजार हैं। नारी और नरकान्ता, सुवर्णकूला और रूप्यकूला, रक्ता और रक्तोदा नदियों के परिवारनदियों की संख्या क्रम से हरित और हरिकान्ता, रोहित और रोहितास्या, गंगा और सिन्धु नदियों के परिवार नदियों की संख्या के समान है।

भोग भूमि की नदियों में त्रस जीव नहीं होते हैं। जम्बूद्वीप सम्बन्धी मूल नदियां अठत्तर हैं। इनकी परिवारनदियों की संख्या पन्द्रह लाख बारह हजार है। जम्बूद्वीप में विभंग नदियां बारह हैं।

इस प्रकार पश्चिममेरु सम्बन्धी मूल नदियां तीन सौ नब्बे हैं और इनकी परिवारनदियों की संख्या पिचहत्तर लाख साठ हजार है। विभंग नदियों की संख्या साठ है।

भरत क्षेत्र का विस्तार—

भरतः षड्विंशति पञ्च योजन शत विस्तारः षट् चैकोन विंशति भागा योजनस्य ॥११८३॥

भरत क्षेत्र का विस्तार पांच सौ छब्बीस योजन और एक योजन के उन्नीस भागों में छह भाग $५२६\frac{६}{१९}$ है।

आगे के पर्वत और क्षेत्रों का विस्तार—

तदद्विगुणद्विगुण विस्तारा वर्षधर वर्षा विदेहान्ताः ॥११८४॥

आगे-आगे के पर्वत और क्षेत्रों का विस्तार भरत क्षेत्र के विस्तार से दूना-दूना है। लेकिन यह क्रम विदेह क्षेत्र पर्यन्त ही है। क्षेत्र से उत्तर के पर्वतों और क्षेत्रों का विस्तार क्षेत्र के विस्तार से आधा-आधा होता गया है।

भरत क्षेत्र के विस्तार से हिमवान् पर्वत का विस्तार दूना है। हिमवान् पर्वत के विस्तार से हैमवत् क्षेत्र का विस्तार दूना है। यही क्रम विदेह क्षेत्र पर्यन्त है। विदेह क्षेत्र के विस्तार से नील पर्वत का विस्तार आधा है। नील पर्वत के विस्तार से रम्यक क्षेत्र का विस्तार आधा है। यह क्रम ऐरावत क्षेत्र पर्यन्त है।

उत्तरा दक्षिणतुल्याः ॥११८५॥

उत्तर के क्षेत्र और पर्वतों का विस्तार दक्षिण के क्षेत्र और पर्वतों के विस्तार के समान है। अर्थात् रम्यक, हैरण्यवत् और ऐरावत क्षेत्रों का विस्तार क्रम से हरि हैमवत और भरत क्षेत्र के विस्तार के समान है। नील, रुक्मि और शिखरी पर्वतों का विस्तार क्रम से निषध, महाहिमवान् और हिमवान् पर्वतों के विस्तार के बराबर है।

भरत और ऐरावत क्षेत्र में काल का परिवर्तन—

भरतैरावतयो वृद्धिह्रासौ षट् समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ॥११८६॥

भरत और ऐरावत क्षेत्र में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के छह समयों द्वारा जीवों की आयु, काय, सुख आदि की वृद्धि और हानि होती रहती है। क्षेत्रों की हानि वृद्धि नहीं होती। कोई आचार्य 'भरतैरावतयोः' पद में षष्ठी द्विवचन न मानकर सप्तमी का द्विवचन मानते हैं। उनके मत से भी उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के द्वारा भरत और ऐरावत क्षेत्र की वृद्धि और हानि होती है, किन्तु भरत और ऐरावत क्षेत्र में रहने वाले मनुष्यों की आयु उपभोग आदि की वृद्धि और हानी होती है। उत्सर्पिणी काल में आयु और उपभोग आदि की वृद्धि और अवसर्पिणी काल में हानि होती है।

प्रश्न :—छहों कालों का वर्णन किस प्रकार है ?

उत्तर :—प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के छह-छह भेद हैं। अवसर्पिणी काल के छह भेद—१. सुषमा सुषमा, २. सुषमा, ३. सुषमा दुषमा, ४. दुःषमा सुषमा, ५ दुषमा, ६. अति दुःषमा।

उत्सर्पिणी काल के छह भेद—१. अति दुःषमा, २. दुषमा, ३. दुषमा सुषमा, ४. सुषमा दुःषमा, ५. सुषमा, ६. सुषमा सुषमा।

यद्यपि वर्तमान में अवसर्पिणी काल होने से सूत्र में अवसर्पिणी ग्रहण का

पहले होना चाहिए, लेकिन उत्सर्पिणी शब्द को अल्प स्वरवाला होने से पहले कहा है।

सुषमा सुषमा चार कोड़ा कोड़ी सागर, सुषमा तीन कोडा-कोडी सागर सुषमा दु:षमा दो कोड़ा कोड़ी सागर, दुषमा सुषमा बयालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ा कोड़ी सागर, दु:षमा इक्कीस हजार वर्ष और अति दु:षमा इक्कीस हजार वर्ष का है।

अवसर्पिणी के प्रथम काल में उत्तम भोग भूमि की, द्वितीय काल में मध्यम भोग भूमि की और तृतीय काल में जघन्य भोग भूमि की रचना होती है। तृतीय काल में पल्य के आठवें भाग बाकी रहने पर सोलह कुलकर उत्पन्न होते हैं। पन्द्रह कुलकरों की मृत्यु तृतीय काल में हो ही जाती है, लेकिन सोलहवें कुलकर की मृत्यु चौथे काल में होती है।

प्रथम कुलकर की आयु पल्य के दशम भाग प्रमाण है। ज्योतिरङ्ग कल्पवक्षों की ज्योति के मन्द हो जाने के कारण चन्द्र और सूर्य के दर्शन से मनुष्यों को भयभीत होने पर प्रथम कुलकर उनके भय का निवारण करता है। द्वितीय कुलकर की आयु पल्य के सौ भागों में से एक भाग प्रमाण है। द्वितीय कुलकर के समय में ताराओं को देखकर भी लोग डरने लगते हैं, अत: वह उनके भय को दूर करता है। तृतीय कुलकर की आयु पल्य के हजार भागों में से एक भाग प्रमाण है। वह सिंह, व्याघ्र आदि हिंसक जीवों से उत्पन्न भय का परिहार करता है। चतुर्थ कुलकर की आयु पल्य के दश हजार भागों में से एक भाग प्रमाण है। वह सिंह, व्याघ्र आदि के भय को निवारण करने के लिये लाठी आदि रखना सिखाता है। पांचवे कुलकर की आयु पल्य के लाख भागों में से एक भाग प्रमाण है। वह कल्प वृक्षों की सीमा को वचन द्वारा नियत करता है, क्योंकि उसके काल में कल्प वृक्ष कम हो जाते हैं और फल भी कम लगते हैं। छठवें कुलकर की आयु पल्य के दश लाख भोगों में से एक भाग प्रमाण है। वह गुल्म आदि चिन्हों से कल्प वृक्षों की सीमा को नियत करता है, क्योंकि उसके काल में कल्प वृक्ष बहुत कम रह जाते हैं और फल भी अत्यल्प लगते हैं। सातवें कुलकर की आयु पल्य के करोड़ भागों में से एक भाग प्रमाण है। वह शूरता के उपकरणों का उपदेश और हाथी आदि पर सवारी करना सिखाता है। आठवें कुलकर की आयु पल्य के दश करोड़ भागों में से एक भाग

प्रमाण है। वह सन्तान के दर्शन से उत्पन्न भय को दूर करता है। नवम कुलकर की आयु पल्य के सौ करोड़ भागों में से एक भाग प्रमाण है। वह सन्तान को आशीर्वाद देना सिखाता है। दशम कुलकर की आयु पल्य के हजार करोड़ भागों में से एक भाग प्रमाण है।

वह बालकों के रोने पर चन्द्रमा आदि के दर्शन तथा अन्य क्रीडा के उपाय बतलाता है। ग्यारहवें कुलकर की आयु पल्य के दश हजार करोड़ भागों में से एक भाग प्रमाण है। उसके काल में युगल (पुरुष और स्त्री) अपनी सन्तान के साथ कुछ दिन तक जीवित रहता है। बारहवें कुलकर की आयु पल्य के लाख करोड़ भागों में से एक भाग प्रमाण है। वह जल को पार करने के लिये नौका आदि की रचना कराना सिखाना तथा पर्वत आदि पर चढ़ने और उतरने के लिये सिढ़ी आदि को बनवाने का उपाय बताता है। उसके काल में युगल अपनी सन्तान के साथ बहुत काल तक जीवित रहता है। मेघों के अल्प होने के कारण वर्षा भी अल्प होती है। इस कारण से छोटी-छोटी नदियां और छोटे-छोटे पर्वत भी हो जाते हैं। तेरहवें कुलकर की आयु पल्य के दश लाख करोड़ भागों में से एक भाग प्रमाण है। वह जरायु (गर्भ जन्म से उत्पन्न प्राणियों के जरायु होती है।) आदि के मल को दूर करना सिखाता है। चौदहवें कुलकर की आयु पूर्व कोटि वर्ष प्रमाण है। वह सन्तान के नाभिनाल को काटना सिखाता है। उसके काल में प्रचुर मेघ अधिक वर्षा करते हैं। बिना बोये धान्य पैदा होता है। वह धान्य को खाने का उपाय तथा अभक्ष्य औषधि और अभक्ष्य वृक्षों का त्याग बतलाता है। पन्द्रहवाँ कुलकर तीर्थंकर होता है। सोलहवाँ कुलकर उसका पुत्र चक्रवर्ती होता है। इन दोनों की आयु चौरासी लाख पूर्व की होती है।

सुषमा-सुषमा नामक चौथे काल के आदि में मनुष्य विदेह क्षेत्र के मनुष्यों के समान पांच सौ धनुष ऊंचे होते हैं। काल में तेईस तीर्थंकर उत्पन्न होते हैं और मुक्त भी होते हैं। ग्यारह चक्रवर्ती, नव बलभद्र, नव वासुदेव, नव प्रतिवासुदेव और ग्यारह रुद्र भी इस काल में उत्पन्न होते हैं। वासुदेवों के काल में नव नारद भी उत्पन्न होते हैं तथा ये कलह प्रिय होने के कारण नरक में जाते हैं। चौथे काल के अन्त में मनुष्यों की आयु एक सौ बीस वर्ष और शरीर की ऊंचाई सात हाथ रह जाती है। दुःषमा नामक पञ्चम काल के आदि में मनुष्यों की आयु एक सौ बीस वर्ष और

शरीर की ऊंचाई सात हाथ होती है। और अन्त में आयु बीस वर्ष और शरीर की ऊंचाई साढ़े तीन हाथ रह जाती है।

अति दुःषमा नामक छठवें काल के आदि मनुष्यों की आयु बीस वर्ष होती है, अन्त में आयु सोलह वर्ष और शरीर की ऊँचाई एक हाथ रह जाती है। छठवें काल के अन्त में प्रलय काल आता है। प्रलय काल में सरस, विरस, तीक्ष्ण, रुक्ष, उष्ण, विष और क्षार मेघ क्रम से सात-सात दिन बरसते हैं। सम्पूर्ण आर्य खण्ड में प्रलय होने पर मनुष्यों बहत्तर युगल शेष रह जाते हैं। चित्राभूमि निकल आती है। बराबर हो जाती है। इस प्रकार दस कोड़ा-कोड़ी सागर का अवसर्पिणी काल समाप्त होता है। इसके बाद दस कडा कोडी सागर का उत्सर्पिणी काल प्रारम्भ होता है।

उत्सर्पिणी के अतिदुषमा नामक प्रथम काल के आदि में उनचास दिन पर्यन्त लगातार क्षीर मेघ बरसते हैं, पुनः अमृत मेघ भी उतने ही दिन पर्यन्त बरसते हैं। आदि मनुष्यों की आयु सोलह वर्ष शरीर की ऊंचाई एक हाथ रहती है और अन्त में आयु बीस वर्ष और शरीर की ऊंचाई साढ़े तीन हाथ हो जाती है। मेघों के बरसने से पृथिवी कोमल हो जाती है। औषधि, तरु, गुल्म, तृण आदि इस सहित हो जाते हैं। पूर्वोक्त युगल बिलों से निकलकर सरस धान्य आदि के उपभोग से सहर्ष रहते हैं।

दुषमा नामक द्वितीय काल के आदि में मनुष्यों की आयु बीस वर्ष और शरीर की ऊंचाई साढ़े तीन हाथ होती है। द्वितीय काल में एक हजार वर्ष शेष रहने पर चौदह कुलकर उत्पन्न होते हैं। ये कुलकर अवसर्पिणी काल के पञ्चम काल के राजाओं की तरह होते हैं। तेरह कुलकर द्वितीय काल में ही उत्पन्न होते हैं और मरते भी द्वितीय काल में ही हैं। लेकिन चौदहवां कुलकर उत्पन्न तो द्वितीय काल में होता लेकिन मरता तृतीय काल में है। चौदहवें कुलकर का पुत्र तीर्थंकर होता है और तीर्थंकर का पुत्र चक्रवर्ती होता है। इन दोनों की उत्पत्ति तीसरे काल में होती है।

दुषमा सुषमा नामक तृतीय काल के आदि में मनुष्यों की आयु एक सौ बीस वर्ष और शरीर की ऊंचाई सात हाथ होती है। और अन्त में आयु कोटि पूर्व वर्ष और शरीर की ऊंचाई सवा पांच सौ धनुष प्रमाण होती है, इस काल में शलाका-पुरुष उत्पन्न होते हैं।

सुषमा दुषमा नामक चौथे काल में जघन्य भोग भूमि की रचना सुषमा नामक

पञ्चम काल में मध्यम भोग भूमि की रचना और सुषमा-सुषमा नामक छठे काल में उत्तम भोग भूमि की रचना होती है।

चौथे, पांचवें और छठे काल में एक भी ईति नहीं होती है। ज्योतिरंग कल्पवृक्षों के प्रकाश से रात दिन का विभाग भी नहीं होता है। मेघ वृष्टि, शीत बाधा, उष्ण बाधा, क्रूर मृग बाधा आदि कभी नहीं होती हैं। इस प्रकार दश कोड़ा कोड़ी सागर का उत्सर्पिणी काल समाप्त हो जाता है। पुनः अवसर्पिणी काल आता है। इस प्रकार अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल का चक्र चलता रहता है। उत्सर्पिणी के दश कोड़ा कोड़ी सागर का एक कल्प होता है। एक कल्प में भोग भूमि का काल अठारह कोड़ा कोड़ी सागर है। भोग भूमि के मनुष्य मधुर भाषी, सर्व कला कुशल, समान भोग वाले, पसीने से रहित और ईर्ष्या, मात्सर्य, कृपणता, ग्लानि, भय, विषाद, काम आदि से रहित होते हैं। उनको इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग नहीं होता। आयु के अन्त में जंभाई लेने से पुरुष की और छींक से स्त्री की मृत्यु हो जाती है। वहाँ नपुंसक नहीं होते हैं। सब मृग (पशु) विशिष्ट घास को चरने वाले और समान आयु वाले होते हैं।

अन्य भूमियों का वर्णन—

ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः ॥११८७॥

भरत और ऐरावत क्षेत्र को छोड़कर अन्य भूमियां सदा अवस्थित रहती हैं। उनमें काल का परिवर्तन नहीं होता, हैमवत, हरि और देवकुरु में क्रम से अवसर्पिणी काल के तृतीय, द्वितीय और प्रथम काल की सत्ता रहती है। इसी प्रकार हैरण्यवत, रम्यक और उत्तर कुरू में भी काल की अवस्थिति समझना चाहिये।

हैमवत आदि क्षेत्रों में आयु का वर्णन—

एक द्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवत हरिविदेवकुरुकाः ॥११८८॥

हैमवत, हरिक्षेत्र तथा देवकुरु में उत्पन्न होने वाले प्राणियों की आयु क्रमशः एक पल्य, दो पल्य और तीन पल्य की है। शरीर की ऊँचाई क्रमशः दो हजार धनुष, चार हजार और छह हजार धनुष हैं। भोजन क्रमशः एक दिन बाद, तथा तीन दिन बाद करते हैं। शरीर का रंग क्रम से नील कमल के समान, कुन्द पुष्प के समान और कंचन वर्ण होता है।

उत्तर के क्षेत्रों में आयु की व्यवस्था—

तथोत्तराः ॥११८९॥

उत्तर के क्षेत्रों के निवासियों की आयु दक्षिण क्षेत्रों के निवासियों के समान ही है। अर्थात् हैरण्यवत, रम्यकक्षेत्र तथा उत्तर कुरु में उत्पन्न होने वाले प्राणियों की आयु क्रमशः एक, दो और तीन पल्य की है।

विदेह क्षेत्र में आयु की व्यवस्था—

विदेहेषु संख्येयकालाः ॥११९०॥

विदेह क्षेत्र में संख्यात वर्ष की आयु होती है। प्रत्येक मेरु सम्बन्धी, पांच पूर्व विदेह और पांच अपर विदेह होते हैं। इन दोनों विदेहों को महाविदेह कहते हैं। विदेह मे उत्कृष्ट आयु पूर्व कोटि वर्ष जघन्य आयु अन्त मुंहूर्त है।

विदेह में सदा दुषमा सुषमा काल रहता है। मनुष्यों के शरीर की ऊँचाई पांच सौ धनुष है। वहाँ के मनुष्य प्रतिदिन भोजन करते हैं।

सत्तर लाख करोड़ और छप्पन हजार करोड़ वर्षों के समूह का नाम पूर्व है। अर्थात् ७०५६०००००००००० वर्ष का पूर्व होता है।

भरत क्षेत्र का दूसरी तरह से विस्तार वर्णन—

भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभागः ॥११९१॥

भरत क्षेत्र का विस्तार जम्बू द्वीप के एक सौ नब्बेवाँ भाग है। अर्थात् जम्बू द्वीप के एक सौ नब्बे भाग करने पर एक भाग भरत क्षेत्र का विस्तार है।

जम्बूद्वीप के अन्त में एक वेदी है, उसका विस्तार जम्बूद्वीप के विस्तार में ही सम्मिलित है। इसी प्रकार सभी द्वीपों की वेदियों का विस्तार द्वीपों के विस्तार के अन्तर्गत ही है। लवण समुद्र के मध्य में चारों दिशाओं में पाताल नाम वाले अलञ्जलाकर चार बड़वानल हैं, जो एक लाख योजन गहरे, मध्य में एक लाख योजन विस्तार युक्त और मुख तथा मूल में दश हजार योजन विस्तार वाले हैं। चारों विदिशाओं में चार क्षुद्र बड़वानल भी है। जिनकी गहराई दश हजार योजन, मध्य में विस्तार दश हजार योजन और मुख तथा मूल में विस्तार एक हजार योजन है। इन आठ बड़वानलों के आठ अन्तरालों में से प्रत्येक अन्तराल में पंक्ति में स्थित एक सौ पच्चीस बाडव हैं जिनकी गहराई एक हजार योजन, मध्य में विस्तार एक हजार योजन और मुख

तथा मूल पांच सौ योजन विस्तार है। इस प्रकार बड़वानलों की संख्या एक हजार आठ है। इन बड़वानलों के अन्तराल में भी छोटे-छोटे बहुत से बड़वानल है। प्रत्येक बड़वानल के तीन भाग हैं। नीचे के भाग में वायु, मध्य भाग में वायु और जल, और ऊपर के भाग में केवल जल रहता है। जब वायु धीरे-धीरे नीचे के भाग से ऊपर के भाग में चढ़ती है तो मध्यम भाग का जल वायु से प्रेरित होने के कारण ऊपर को चढ़ता है। इस प्रकार बड़वानल का जल समुद्र में मिलने के कारण समुद्र का जल तट के ऊपर आ जाता है। पुनः जब वायु धीरे-धीरे नीचे की चली जाती है तब समुद्र का जल भी घट जाता है।

लवण समुद्र में ही वेला (तट) है अन्य समुद्रों में नहीं। अन्य समुद्रों में बड़वानल भी नहीं है, क्योंकि सब समुद्र एक हजार योजन गहरे हैं। लवण समुद्र का ही जल उन्नत है अन्य समुद्रों का जल सम (बराबर) है।

लवण समुद्र के जल का स्वाद नमक के समान, वारुणी समुद्र के जल का स्वाद मदिरा के समान, क्षीर समुद्र के जल का स्वाद दूध के समान, घृतोद समुद्र के जल का स्वाद घृत के समान, कालोद, पुष्कर और स्वयम्भूरमण समुद्र के जल का स्वाद जल के समान और अन्य समुद्रों के जल का स्वाद इक्षुरस के समान है।

लवण, कालोद और स्वयंभूरमण समुद्र में ही जलचर जीव होते हैं, अन्य समुद्रों में नहीं। लवण समुद्र में नदियों के प्रवेश द्वारों में मत्स्यों का शरीर नौ योजन और समुद्र के मध्य में नदियों के प्रवेश द्वारों में मत्स्यों के शरीर का विस्तार अठारह योजन और समुद्र के मध्य में छत्तीस योजन है। स्वयंभूरमण समुद्र के तट पर रहने वाली मछलियों के शरीर का विस्तार पांच सौ योजन और समुद्र के मध्य में एक हजार योजन है। लवण, कालोद और पुष्करवर समुद्र में ही नदियों के प्रवेश द्वार हैं, अन्य समुद्रों में नहीं हैं। अन्य समुद्रों की वेदियां भित्ति के समान हैं।

धातकी खण्ड द्वीप का वर्णन—

द्विर्धातकी खण्डे ॥११९२॥

धातकी खण्ड द्वीप में क्षेत्र, पर्वत आदि की संख्या समस्त बातें जम्बूद्वीप से दूनी-दूनी हैं।

धातकी खण्ड द्वीप की दक्षिण दिशा में दक्षिण से उत्तर तक लम्बा इष्वाकार नामक पर्वत है जो लवण और कालोद समुद्र की वेदियों को स्पर्श करता है।

और उत्तर दिशा में भी इसी तरह का दूसरा इष्वाकार नामक पर्वत है। प्रत्येक पर्वत चार लाख योजन लम्बे हैं। दोनों इष्वाकार पर्वतों से धातकी खण्ड के दो भाग हो गये हैं—एक पूर्व धातकी खण्ड और दूसरा अपर धातकी खण्ड। प्रत्येक भाग के मध्य में एक-एक मेरु है। पूर्व दिशा में पूर्व मेरु और पश्चिम दिशा में अपर मेरु है। प्रत्येक मेरु सम्बन्धी भरत आदि सात क्षेत्र और हिमवन् आदि छह पर्वत हैं। इस प्रकार धातकी खण्ड में क्षेत्र और पर्वतों की संख्या जम्बू द्वीप से दूनी हैं। जम्बू द्वीप में हिमवान् आदि पर्वतों का जो विस्तार है उससे दूना विस्तार धातकी खंड के हिमवान् आदि पर्वतों का है, लेकिन ऊँचाई और गहराई जम्बूद्वीप के समान ही है। इसी तरह विजयार्द्ध पर्वत और वृत्तवेदाढ्य पर्वतों की संख्या भी जम्बू द्वीप के समान है। धातकी खंड में हिमवान् आदि पर्वत चक्र के आरे के समान हैं और क्षेत्र आरों के छिद्र के आकार के हैं।

पुष्कर द्वीप का वर्णन—

पुष्करार्धे च ॥११६३॥

पुष्कर द्वीप के अर्द्ध भाग में भी सब रचना जम्बू द्वीप से दूनी है।

धातकी खंड द्वीप के समान पुष्करार्ध में भी दक्षिण से उत्तर तक लम्बे और आठ लाख योजन विस्तृत दो इष्वाकार पर्वत हैं। इस कारण पुष्करार्द्ध के दो भाग हो गये हैं। दोनों भागों में दो मेरु पर्वत हैं—एक पूर्व मेरु और दूसरा अपर मेरु। प्रत्येक मेरु सम्बन्धी भरत आदि सात क्षेत्र और हिमवान् आदि छह पर्वत हैं। पुष्करार्ध द्वीप में सारी रचना धातकी खंड द्वीप के समान ही है। विशेषता यह है कि पुष्करार्ध के हिमवान् आदि पर्वतों का विस्तार धातकी खंड के हिमवान् आदि पर्वतों के विस्तार से दूना है। पुष्कर द्वीप के मध्य में गोलाकार मानुषोत्तर पर्वत है, अतः इस पर्वत से विभक्त होने के कारण इसका नाम पुष्करार्द्ध पड़ा। आधे पुष्कर द्वीप में ही मनुष्य हैं, अतः पुष्करार्द्ध का ही वर्णन यहाँ किया गया है।

मनुष्य क्षेत्र की सीमा—

प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्यः ॥११६४॥

मानुषोत्तर पर्वत के पहले ही मनुष्य होते हैं, आगे नहीं। मानुषोत्तर पर्वत के बाहर विद्याधर और ऋद्धि प्राप्त मुनि भी नहीं जाते हैं। मनुष्य क्षेत्र के असं भी बाहर नहीं जाते हैं। पुष्करार्द्ध की नदियां भी मानुषोत्तर के बाहर नहीं बहती हैं।

जब मनुष्य के क्षेत्र के बाहर मृत कोई तिर्यंच या देव मनुष्य क्षेत्र में आता है तो मनुष्य गत्यानुपूर्वी नाम कर्म का उदय होने से मानुषोत्तर के बाहर भी उसको उपचार से मनुष्य कह सकते हैं। दंड, कपाट, प्रतर और लोक पूरण समुद्घात के समय भी मानुषोत्तर से बाहर मनुष्य जाता है।

मनुष्यों के भेद—

आर्या म्लेच्छाश्च ॥११६५॥

मनुष्यो के दो भेद हैं—आर्य और म्लेच्छ।

जो गुणों से सहित हों अथवा गुणवान् लोग जिनकी सेवा करें, उन्हें आर्य कहते हैं। जो निर्लज्जता पूर्वक चाहे जो कुछ बोलते हैं, वे म्लेच्छ हैं।

आर्यों के दो भेद-ऋद्धि प्राप्त आर्य और ऋद्धि रहित आर्य। ऋद्धि प्राप्त आर्यों के ऋद्धियों के भेद से आठ भेद हैं। आठ ऋद्धियों के नाम—बुद्धि, क्रिया, विक्रिया, तप, बल, औषध, रस और क्षेत्र।

बुद्धि ऋद्धि प्राप्त आर्यों के अठारह भेद हैं। १. अवधिज्ञानी, २. मनः पर्ययज्ञानी, ३. केवलज्ञानी, ४. बीज बुद्धि वाले, ५. कोष्ठ बुद्धि वाले, ६. सम्भिन्नश्रोत्री, ७. पदानुसारी ८. दूर से स्पर्श करने में समर्थ, ९. दूर से रसास्वाद करने में समर्थ, १०. दूर से गंध ग्रहण करने से समर्थ, ११. दूर से सुनने में समर्थ, १२ दूर से देखने में समर्थ, १३. दश पूर्व के ज्ञाता, १४. चौदह पूर्व के ज्ञाता, १५. आठ महानिमित्तों के जानने वाले, १६. प्रत्येक बुद्ध, १७. वाद विवाद करने वाले और १८. प्रज्ञाश्रमण। एक बीजाक्षर का ज्ञान होने से समस्त शास्त्र का ज्ञाता हो जाने को बीज बुद्धि कहते हैं। धान्यागर में संगृहीत विविध धान्यों की तरह जिस बुद्धि में सुने हुये वर्ण आदि का बहुत काल तक विनाश नहीं होता है, वह कोष्ठ बुद्धि हैं। क्रिया ऋद्धि दो प्रकार की है—जंघादि चारणत्व और आकाश गामित्व। जंघादि चारणत्व के नौ भेद हैं—

१. **जंघाचारणत्व**—भूमि से चार अंगुल ऊपर आकाश में गमन करना।
२. **श्रेणिचारणत्व**—विद्याधरों की श्रेणि पर्यन्त आकाश में गमन करना।
३. **अग्निशिखा चारणत्व**—अग्नि की ज्वाला के ऊपर गमन करना।
४. **जल चारणत्व**—जल को बिना छुये जल पर गमन करना।
५. **पत्र चारणत्व**—पत्ते को बिना छुए पत्ते पर गमन करना।

६. **फल चारणत्व**—फल को बिना छुए फल पर गमन करना ।

७. **पुष्प चारणत्व**—पुष्प को बिना छुए पुष्प पर गमन करना ।

८. **बीज चारणत्व**—बीज को बिना छुए बीज पर गमन करना ।

९. **तन्तु चारणत्व**—तन्तु को बिना छुए तन्तु पर गमन करना ।

पैरों के उत्क्षेपण (उठाना और रखना) के बिना आकाश में गमन करना, पर्यङ्कासन से आकाश में गमन करना, ऊपर को स्थित होकर आकाश में गमन करना, अथवा सामान्य रूप से बैठकर आकाश में गमन करना आकाशगामित्व है ।

अणिमा आदि के भेद से विक्रिया ऋद्धि अनेक प्रकार की है ।

अणिमा—शरीर को सूक्ष्म बना लेना अथवा (कमलनाल) में भी प्रवेश करके चक्रवर्ती के परिवार की विभूति को बना लेना अणिमा है ।

महिमा—शरीर को बड़ा बना लेना महिमा है ।

लघिमा—शरीर को छोटा बना लेना लघिमा है ।

गरिमा—शरीर को भारी बना लेना गरिमा है ।

प्राप्ति—भूमि पर रहते हुए भी अंगुलि के अग्रभाग से मेरु की शिखर, चन्द्र, सूर्य आदि को स्पर्श करने की शक्ति का नाम प्राप्ति ऋद्धि है ।

प्राकाम्य—जल में भूमि की तरह चलना और भूमि पर जल की तरह गमन करना, अथवा जाति, क्रिया, गुण द्रव्य सैन्य आदि का बनाना प्राकाम्य है ।

ईशित्व—तीन लोक के प्रभुत्व को पाना ईशित्व है ।

वशित्व—सम्पूर्ण प्राणियों को वश में करने की शक्ति का नाम वशित्व है ।

अप्रतीघात—पर्वत पर भी आकाश की तरह गमन करना, अनेक रूपों का बनाना अप्रतिघात है ।

कामरूपीत्व—मूर्त और अमूर्त अनेक आकारों का बनाना कामरूपित्व है ।

अन्तर्धान—रूप को अदृष्ट बना लेना ।

तप ऋद्धिके सात भेद हैं—

१. घोर तप, २. महा तप, ३. उग्र तप, ४. दीप्त तप, ५. तप्त तप, ६. घोर गुण ब्रह्मचारिता, ७. घोर पराक्रमता ।

घोर तप—सिंह, व्याघ्र, चीता, स्वापद आदि दुष्ट प्राणियों से युक्त गिरिकंदरा

आदि स्थानों में और भयानक श्मशानों में तीव्र आतप, शीत आदि की बाधा होने पर भी घोर उपसर्गों का सहना घोर तप है।

महातप—पक्ष, मास, छह मास और एक वर्ष का उपवास करना महातप है। एक वर्ष के उपरान्त पारणा होती है और केवलज्ञान भी हो जाता है। इसलिये एक वर्ष से अधिक उपवास नहीं होता है।

उग्र तप—पञ्चमी को, अष्टमी को और चतुर्दशी को उपवास करना और दो या तीन बार आहार न मिलने पर तीन, चार अथवा पांच उपवास करना उग्र तप है।

दीप्त तप—शरीर से बारह सूर्यों जैसी कान्ति का निकलना दीप्त तप है।

तप्त तप—तपे हुए लोहपिण्ड पर गिरी हुई जल की बूंद की तरह आहार ग्रहण करते ही आहार का पता न लगना अर्थात् आहार का पच जाना तप्त तप है।

घोर गुण ब्रह्मचारिता—सिंह, व्याघ्र आदि क्रूर प्राणियों से सेवित होना घोर गुण ब्रह्मचारिता है।

घोर पराक्रमता—मुनियों को देखकर भूत, प्रेत, राक्षस, शाकिनी आदि का डर जाना घोर पराक्रमता है।

बल ऋद्धि—इसके तीन भेद हैं—मनोबल, वचनबल, कायबल।

मनोबल—अन्तर्मुहूर्त में सम्पूर्ण श्रुत को चिन्तन करने की सामर्थ्य का नाम मनोबल है।

वचन बल—अन्तर्मुहूर्त में सम्पूर्ण श्रुत को पाठ करने की शक्ति का नाम वचनबल है।

काय बल—एक मास चार मास, छह मास और १ वर्ष तक भी कायोत्सर्ग करने की शक्ति होना अथवा अंगुली के अग्र भाग से तीनों लोकों को उठाकर दूसरी जगह रखने की सामर्थ्य का होना काय बल है।

औषध ऋद्धि—आठ प्रकार की है। जिन मुनियों की निम्न आठों बातों के द्वारा प्राणियों के रोग नष्ट हो जाते हैं, वे मुनि औषद्ध ऋद्धि के धारी होते हैं।

१. विट् (मल) लेपन, २. मल का एक देश छूना, ३. अपक्व आहार का स्पर्श, ४. सम्पूर्ण अंगों के मल का स्पर्श, ५. निष्ठीवन का स्पर्श, ६. दन्त, केश, नख मूत्र आदि का स्पर्श, ७. कृपादृष्टि से अवलोकन और कृपा से दांतों का दिखाना।

रस ऋद्धि के छह भेद हैं—

१. **आस्यविष**—किसी दृष्टिगत प्राणी को 'मर जाओ' ऐसा कहने पर उस प्राणी का तत्क्षण ही मरण हो जाय – इस प्रकार की सामर्थ्य का नाम आस्यविष अथवा वाग्विष है।

२. **दृष्टिविष**—किसी क्रुद्ध मुनि के द्वारा किसी प्राणी के जाने पर उस प्राणी का उसी समय मरण हो जाय इस प्रकार की सामर्थ्य का नाम दृष्टि-विष है।

३. **क्षीरस्त्रावी**—नीरस भोजन भी जिन मुनियों के हाथ में आने पर क्षीर के समान स्वादयुक्त हो जाता है अथवा जिनके वचन क्षीर के समान संतोष देने वाले होते हैं, वे क्षीरस्त्रावी कहलाते हैं।

४. **मध्वास्त्रावी**—नीरस भोजन भी जिन मुनियों के हाथ में आने पर मधु के स्वाद को देने वाला हो जाता है और जिनके वचन श्रोताओं को मधु के समान लगते हैं, वे मुनि मध्वास्त्रावी हैं।

५. **सर्पिरास्त्रावी**—नीरस भोजन भी जिनके हाथ में आने पर घृत के स्वाद युक्त हो जाता है और जिनके वचन श्रोताओं को घृतके स्वाद जैसे लगते हैं, वे मुनि सर्पिरास्त्रावी हैं।

६. **अमृतास्त्रावी**—जिनके हस्तगत भोजन अमृत के समान हो जाता है और जिनके वचन अमृत जैसे लगते हैं, वे मुनि अमृतास्त्रावी हैं।

क्षेत्र ऋद्धि के दो भेद हैं—

अक्षीणमहानसऋद्धि और अक्षीण आलय ऋद्धि।

किसी मुनि को किसी घर में भोजन करने पर उस घर में चक्रवर्ती के परिवार को भोजन कराने पर भी अन्न की कमी न होने की सामर्थ्य का नाम अक्षीण महानस ऋद्धि है।

किसी मुनि को किसी मन्दिर में निवास करने पर उस स्थान में समस्त देव, मनुष्य और तिर्यञ्चों को परस्पर बाधा रहित निवास करने की शक्ति का नाम अक्षीणालय ऋद्धि है।

ऋद्धि रहित आर्यों के पांच भेद हैं—

१. सम्यक्त्वार्य, २. चारित्रार्य, ३. कर्मार्य, ४. जात्यार्य और ५. क्षेत्रार्य।

व्रत रहित सम्यग्दृष्टि सम्यक्त्वार्य है ।

चारित्र को पालने वाले यति चारित्रार्य हैं ।

कर्मार्यों के तीन भेद हैं—

सावद्य कर्मार्य, अल्पसावद्य कर्मार्य और असावद्य कर्मार्य ।

सावद्य कर्मार्य के छह हैं—

असि, मसि, कृषि, विद्या, शिल्प और वाणिज्य कर्मार्य ।

तलवार, धनुष, बाण, छुरी, गदा आदि नाना प्रकार के आयुधों को चलाने में चतुर असि कर्मार्य हैं । आय व्यय आदि लिखने वाले अर्थात् मुनीम या क्लर्क मसि कर्मार्य हैं । खेती करने वाले कृषि कर्मार्य हैं । गणित आदि बहत्तर कलाओं में प्रवीण विद्या कर्मार्य हैं । निर्णेजक नाई आदि शिल्प कर्मार्य हैं । धान्य, कपास, चन्दन, सुवर्ण आदि पदार्थों के व्यापार को करने वाले वाणिज्य कर्मार्य हैं ।

श्रावक अल्प सावद्य कर्मार्य होते हैं और मुनि असावद्य कर्मार्य हैं ।

इक्ष्वाकु आदि वंश में उत्पन्न होने वाले इक्ष्वाकुवंशी, भरत के पुत्र अर्क कीर्ति के कुल में उत्पन्न होने वाले सूर्यवंशी, बाहुबली के पुत्र सोमयश के कुल में उत्पन्न होने वाले सोमवंशी, सोमप्रभ श्रेयांस के कुल में उत्पन्न होने वाले कुरुवंशी, अकम्पन महाराज के कुल में उत्पन्न होने वाले नाथवंशी, हरिकान्त राजा के कुल में उत्पन्न होने वाले हरिवंशी, यदुराजा के कुल में उत्पन्न होने वाले यादव, काश्यप राजा के कुल में उत्पन्न होने वाले उग्रवंशी कहलाते हैं ।

कौशल, गुजरात, सौराष्ट्र, मालव, काश्मीर आदि देशों में उत्पन्न होने वाले क्षेत्रार्य कहलाते हैं ।

म्लेच्छ दो प्रकार के होते हैं—

अन्तर्द्वीपज और कर्मभूमिज ।

लवण समुद्र में आठों दिशाओं में आठ द्वीप हैं । इन द्वीपों के अन्तराल में भी आठ द्वीप हैं । हिमवान् पर्वत के दोनों पार्श्वों में दो द्वीप हैं । शिखरी पर्वत के दोनों पार्श्वों में दो द्वीप है । और दोनों विजयार्द्ध पर्वतों के दोनों पार्श्वों में चार द्वीप हैं । इस प्रकार लवण समुद्र में चौबीस द्वीप हैं । इनको कुभोग भूमि कहते हैं ।

चारों दिशाओं में जो चार द्वीप हैं, वे समुद्र की वेदी से पांच सौ योजन की दूरी पर हैं । इनका विस्तार सौ योजन है । चारों विदिशाओं के चार द्वीप और

अन्तराल के आठ द्वीप समुद्र की वेदी से साढ़े पांच सौ योजन की दूरी पर हैं, उनका विस्तार पचास योजन है। पर्वतों के अन्त में जो आठ द्वीप हैं, वे समुद्र की वेदी से छह सौ योजन की दूरी पर हैं। इनका विस्तार पच्चीस योजन है।

पूर्व दिशा के द्वीप में एक पैर वाले मनुष्य होते हैं। दक्षिण दिशा के द्वीप में मनुष्य शृङ्ग (सींग) सहित होते हैं। पश्चिम दिशा के द्वीप में पूंछ वाले मनुष्य होते हैं। उत्तर दिशा के द्वीप में गूंगे मनुष्य होते हैं। आग्नेय दिशा में शश (खरहा) के समान कान वाले और नैर्ऋत्य दिशा में शष्कुली के समान कान वाले मनुष्य होते हैं। वायव्य दिशा में मनुष्यों के कान इतने बड़े होते हैं कि वे उनको ओढ़ सकते हैं। ऐशान दिशा में मनुष्यों के लम्बे कान होते हैं।

पूर्व और आग्नेय के अन्तराल में अश्व के समान मुख वाले, आग्नेय और दक्षिण के अन्तराल में सिंह के समान मुख वाले, दक्षिण और नैर्ऋत्य के अन्तराल में भषण-कुत्ते के समान मुखवाले, नैर्ऋत्य और पश्चिम के अन्तराल में गर्वर (उल्लू) के समान मुखवाले, पश्चिम और वायव्य के अन्तराल में शूकर समान मुखवाले, वायव्य और उत्तर के अन्तराल में व्याघ्र के समान मुख वाले, उत्तर और ऐशान के अन्तराल में काक के समान मुख वाले और ऐशान और पूर्व के अन्तराल में कपि बन्दर) के समान मुख वाले मनुष्य होते हैं।

हिमवान् पर्वत के पूर्व पार्श्व में मछली के समान मुख वाले और पश्चिम पार्श्व में काले मुख वाले, शिखरी पर्वत के पूर्व पार्श्व में मेघ के समान मुख वाले और पश्चिम पार्श्व में विद्युत् के, दक्षिण दिशा के विजयार्द्ध के पूर्व पार्श्व में गाय के समान मुख वाले और पश्चिम पार्श्व में मेघ के समान मुख वाले और उत्तर दिशा में विजयार्द्ध के पूर्व पार्श्व में हाथी के समान मुख वाले और पश्चिम पार्श्व में दर्पण के समान मुख वाले मनुष्य होते हैं।

एक पैर वाले मनुष्य मिट्टी खाते हैं और गुहाओं में रहते हैं। अन्य मनुष्य वृक्षों के नीचे रहते हैं और फल-पुष्प खाते है। इनकी आयु एक पल्य और शरीर की ऊंचाई दो हजार धनुष है।

उक्त चौबीस द्वीप लवण समुद्र के भीतर हैं। इसी प्रकार लवण समुद्र के बाहर भी चौबीस द्वीप हैं। लवण समुद्र के कालोद समुद्र सम्बन्धी की अड़तालीस द्वीप हैं। सब मिलाकर छियानवे म्लेच्छ द्वीप होते हैं। ये सब द्वीप जल से एक योजन

ऊपर हैं। इन द्वीपों में उत्पन्न होने वाले मनुष्य अन्तर्द्वीपज कहलाते है।

पुलिन्द, शबर, यवन, खस, बर्बर आदि कर्म भूमिज म्लेच्छ हैं।

कर्मभूमियों का वर्णन—

भरतैरावत विदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरुत्तर कुरुभ्यः ॥११६॥

पाँच भरत, पाँच ऐरावत और देवकुरु एवं उत्तर कुरु को छोड़कर पाँच विदेह इस प्रकार पन्द्रह कर्मभूमियां हैं।

इसके अतिरिक्त भूमियां भोगभूमि ही हैं, किन्तु अन्तर्द्वीपों में कल्पवृक्ष नहीं होते हैं।

भोगभूमि के सब मनुष्य मरकर देव ही होते हैं। किसी आचार्य का ऐसा मत है कि चार अन्तर्द्वीप है, वे कर्मभूमि के समीप हैं। अतः उनमें उत्पन्न होने वाले मनुष्य चारों गतियों में जा सकते हैं।

मानुषोत्तर पर्वत के आगे और स्वयम्भूरमण द्वीप के मध्य में स्थित स्वयंप्रभ पर्वत के पहिले जितने द्वीप हैं, उन सबमें एकेन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीव ही होते हैं। ये द्वीप कुभोगभूमि कहलाते हैं। इनमें असंख्यात वर्ष की आयु वाले और एक कोस ऊँचे पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च ही होते हैं, मनुष्य नहीं। इनके आदि के चार गुणस्थान ही हो सकते हैं।

मानुषोत्तर पर्वत सत्रह सौ इक्कीस योजन ऊंचा है, और चार सौ तीस योजन भूमि के अन्दर है, मूल में एक सौ बाईस योजन, मध्य में सात सौ तेतीस योजन, ऊपर चार सौ चौबीस योजन विस्तार वाला है। मानुषोत्तर के ऊपर चारों दिशाओं में चार चैत्यालय हैं।

सर्वार्थसिद्धि को देने वाला उत्कृष्ट शुभ कर्म और सातवें नरक में ले जाने वाला उत्कृष्ट अशुभ कर्म यहीं पर किया जाता है। तथा असि, मसि, कृषि, वाणिज्य आदि कर्म यहीं पर किया जाता है, इसलिये इनको कर्मभूमि कहते हैं। यद्यपि सम्पूर्ण जगत में ही कर्म किया जाता है, किन्तु उत्कृष्ट शुभ और अशुभ कर्म का आश्रय होने से इनको ही कर्मभूमि कहा गया है।

स्वयम्प्रभ पर्वत से आगे लोक के अन्त तक जो तिर्यञ्च हैं, उनके पांच गुणस्थान हो सकते हैं। उनकी आयु एक पूर्व कोटि की है। वहां के मत्स्य सातवें नरक में ले जाने वाले पाप का बन्ध करते हैं। कोई-कोई थलचर जीव स्वर्ग आदि के

हेतुभूत पुण्य का भी उपार्जन करते हैं। इसलिये आधा स्वयंभूरमण द्वीप, पूरा स्वयंभूरमण समुद्र और समुद्र के बाहर चारों कोने कर्मभूमि कहलाते हैं।

मनुष्यों की आयु का वर्णन—

नृस्थिती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते ॥१६७॥

मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु तीन पल्य और जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त है।

पल्य के तीन भेद हैं--

व्यवहार पल्य, उद्धार पल्य और अद्धापल्य।

व्यवहार पल्य से संख्या का, उद्धार पल्य से द्वीप समुद्रों का और अद्धा पल्य से कर्मों की स्थिति का वर्णन किया जाता है। व्यवहार पल्य का स्वरूप प्रमाणांगुल से परिमित एक प्रमाण योजन होता है। अवसर्पिणी काल के प्रथम चक्रवर्ती के अंगुल को प्रमाणांगुल कहते हैं। चौबीस प्रमाणांगुल का एक हाथ होता है। चार हाथ का एक दण्ड होता है। दो हजार दण्डों की एक प्रमाणगव्यूति होती है। चार गव्यूति का एक प्रमाण योजन होता है। अर्थात् पांच सौ मानव योजनों का एक प्रमाणयोजन होता है।

मानव-योजन का स्वरूप—

आठ परमाणुओं का एक त्रसरेणु होता है। आठ त्रसरेणुओं का एक रथरेणु होता है। आठ रथरेणुओं का एक चिकुराग्र होता है। आठ चिकुराग्रों की एक लिक्षा होती है। आठ लिक्षाओं का एक सिद्धार्थ होता है। आठ सिद्धार्थों का एक यव होता है। आठ यवों का एक अंगुल होता है। छह अंगुलों का एक पाद होता है। दो पादों की एक वितस्ति होती है। दो वितस्तियों की एक रति होती है। चार रतियों का एक दण्ड होता है। दो हजार दण्डों की एक गव्यूति होती है। चार गव्यूति का एक मानवयोजन होता है और पांच सौ मानव योजनों का एक प्रमाण योजन होता है।

एक प्रमाण योजन लम्बा, चौड़ा और गहरा एक गोल गड्ढा हो। सात दिन तक के मेष के बच्चों के बालों को कैंची से कतर कर इस प्रकार टुकड़े किये जायें कि फिर दूसरा टुकड़ा न हो सके। उन सूक्ष्म बालों के टुकड़ों से वह गड्ढा कूट कूटकर भर दिया जाय, इस गड्ढे को व्यवहार पल्य कहते हैं। पुनः सौ वर्ष के बाद उस गड्ढे में से एक-एक टुकड़ा निकाला जावे। इस क्रम से सम्पूर्ण रोम खण्डों के निकलने में जितना समय लगे उतने समय को व्यवहार पल्योपम कहते हैं।

पुनः असंख्यात करोड़ वर्षों के जितने समय हों, उतने समयों से प्रत्येक रोम खण्डों का गुणा करे और इस प्रकार के रोम-खण्डों से फिर उस गड्ढे को भर दिया जाय । इस गड्ढे का नाम उद्धार पल्य है । पुनः एक-एक समय के बाद एक-एक रोम-खण्ड को निकालना चाहिये । इस क्रम से सम्पूर्ण रोम-खण्डों के निकलने में जितना समय लगे उतने समय को उद्धार पल्योपम कहते हैं । दश कोड़ा-कोड़ी उद्धार-पल्यों का एक उद्धार सागर होता है ।

अढाई उद्धार सागरों अथवा पच्चीस कोड़ा-कोड़ी उद्धार पल्यों के जितने रोमखण्ड होते हैं, उतने ही द्वीप समुद्र हैं ।

एक वर्ष के जितने समय होते हैं, उनसे उद्धार पल्य के प्रत्येक रोमखण्ड का गुणा करे और ऐसे रोमखण्डों से फिर वह गड्ढा भर दिया जाय तब इस गड्ढे का नाम अद्धा पल्य है । पुनः एक-एक समय के बाद एक-एक रोमखण्ड को निकालने पर समस्त रोमखण्डों के निकलने में जितने समय लगें, उतने काल का नाम अद्धा पल्योपम है ।

दस कोड़ा-कोड़ी अद्धा-पल्यों का एक अद्धा-सागर होता है । और दश कोड़ा-कोड़ी अद्धा-सागरों की एक उत्सर्पिणी होती है । अवसर्पिणी का प्रमाण भी यही है ।

अद्धा-पल्योपम से नरक तिर्यञ्च देव और मनुष्यों की कर्म की स्थिति, आयु की स्थिति, काय की स्थिति और भव की स्थिति गिनी जाती है ।

तिर्यञ्चों की स्थिति—

तिर्यग्योनिजानां च ॥११६॥

मनुष्यों की तरह तिर्यञ्चों की भी उत्कृष्ट और जघन्य आयु क्रम से तीन पल्य और अन्तर्मुहूर्त है ।

इस अध्याय में नरक, द्वीप, समुद्र, कुल पर्वत, पद्मादि ह्रद, गंगादि नदी, मनुष्यों के भेद, मनुष्य तिर्यञ्चों की आयु आदि का वर्णन है ।

अब ऊर्ध्व लोक का वर्णन करते हैं—

* ऊर्ध्वलोक *

देवों के भेद—

देवाश्चतुर्णिकायाः ॥११९९॥

देवों के चार भेद हैं—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासी।

देवगति नाम कर्म के उदय होने पर और नाना प्रकार की विभूति युक्त होने के कारण जो द्वीप, समुद्र, पर्वत आदि स्थानों में अपनी इच्छानुसार क्रीड़ा करते हैं, उनको देव कहते हैं। जाति की अपेक्षा 'देवाश्चतुर्णिकायः' ऐसा एक वचनान्त सूत्र होने पर भी काम चल जाता, फिर भी सूत्र में बहुवचन का प्रयोग प्रत्येक निकाय के अनेक भेद बतलाने के लिये किया गया है।

देवों में लेश्याओं का वर्णन—

आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः ॥१२००॥

भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों के कृष्ण, नील, कापोत और पीत ये चार लेश्याएँ ही होती हैं।

निकायों के प्रभेद—

दशाष्ट पञ्च द्वादश विकल्पाः कल्पोपपन्न पर्यन्ताः ॥१२०१॥

भवनवासी देवों के दश भेद, व्यन्तर देवों के आठ भेद, ज्योतिषी देवों के पांच भेद और कल्पोपपन्न अर्थात् सोलहवें स्वर्ग तक के देवों के बारह भेद होते हैं। ग्रैवेयक आदि में सब अहमिन्द्र ही होते हैं, इसलिये वहां कोई भेद नहीं है।

देवों के सामान्य भेद—

इन्द्र सामानिक त्रायस्त्रिंशपारिषदात्मरक्ष लोक पालानीक प्रकीर्णकाभियोग्य किल्बिषिकाश्चैकशः ॥१२०२॥

प्रत्येक निकाय के देवों में इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्बिषक—ये दश भेद होते हैं।

इन्द्र—जो अन्य देवों में नहीं रहने वाली अणिमा आदि ऋद्धियों को प्राप्त कर असाधारण ऐश्वर्य का अनुभव करते हैं, उनको इन्द्र कहते हैं।

सामानिक—आज्ञा और ऐश्वर्य को छोड़कर जिनकी आयु, भोग, उपभोगादि इन्द्र के ही समान हों, उनको सामानिक कहते हैं।

त्रायस्त्रिंश—मंत्री और पुरोहित के काम को करने वाले देव त्रायस्त्रिंश कहलाते हैं। ये संख्या में तेंतीस होते हैं।

पारिषद—सभा में बैठने के अधिकारी देवों को पारिषद कहते हैं।

आत्मरक्ष—इन्द्र की रक्षा करने वाले देव आत्मरक्ष कहलाते हैं।

लोकपाल—जो देव अन्य देवों का पालन करते हैं, उन्हें लोकपाल कहते हैं। ये आरक्षिक, अर्थचर और कोट्टपाल के समान होते हैं। जो ग्राम आदि की रक्षा के लिये नियुक्त होते हैं, उनको आरक्षक कहते हैं। अर्थ (धन) सम्बन्धी कार्य में नियुक्त अर्थचर कहलाते हैं। पत्तन, नगर आदि की रक्षा के लिये नियुक्त (कोट्टपाल) कहलाते हैं।

अनीक—जो हस्ति, अश्व, रथ, पदाति, वृषभ, गन्धर्व और नर्तकी इन सात प्रकार की सेना में रहते हैं, वे अनीक हैं।

प्रकीर्णक—नगरवासियों के समान जो इधर-उधर फैले हुये हों, उनको प्रकीर्णक कहते हैं।

आभियोग—जो नौकर का काम करते हैं, वे आभियोग्य हैं।

किल्विषिक—किल्विष पाप को कहते हैं। जो सवारी में नियुक्त हों तथा नाई आदि की तरह कर्म करने वाले होते हैं, उनको किल्विषिक कहते हैं।

त्रायस्त्रिंश लोकपालवर्ज्या व्यन्तर ज्योतिष्काः ॥५॥

व्यन्तर और ज्योतिषी देवों में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल नहीं होते हैं।

इन्द्रों की व्यवस्था के प्रकार—

पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ।१२०३॥

भवनवासी और व्यन्तर देवों में प्रत्येक भेद सम्बन्धी दो-दो इन्द्र होते हैं।

भवनवासी देवों में असुर कुमारों के चमर और वैरोचन, नागकुमारों के धरण और भूतानन्द, विद्युत्कुमारों के हरिसिंह और हरिकान्त, सुवर्णकुमारों के वेणुदेव और वेणुतारी, अग्निकुमारों के अग्निशिख और अग्निमाणव, वातकुमारों के वेलम्ब और प्रभञ्जन, स्तनितकुमारों के सुघोष और महाघोष, उदधिकुमारों के जलकान्त और जलप्रभ, द्वीपकुमारों के पूर्व और अवशिष्ट, दिक्कुमारों के अमितगति और अमितवाहन नाम के इन्द्र होते हैं।

व्यन्तर देवों में किन्नरों के किन्नर और किम्पुरुष, किम्पुरुषों के सत्पुरुष और

महापुरुष, महोरगों के अतिकाय और महाकाय, गन्धर्वों के गीतरति और गीतयश, यक्षों के पूर्णभद्र और मणिभद्र, राक्षसों के भीम और महाभीम, भूतों के प्रतिरूप और अप्रतिरूप और पिशाचों के काल और महाकाल नाम के इन्द्र होते हैं।

देवों के भोगों का वर्णन—

काय प्रवीचारा आ ऐशानात् ॥१२०४॥

ऐशान स्वर्गपर्यन्त के देव अर्थात् भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और प्रथम व द्वितीय स्वर्ग के देव, मनुष्य और तिर्यञ्चों के समान शरीर से काम सेवन करते हैं।

मर्यादा और अभिविधि, क्रिया योग और ईषत् अर्थ में 'आङ्' उपसर्ग आता है। तथा वाक्य और स्मरण अर्थ में 'आ' उपसर्ग आता है। 'आ' उपसर्ग की स्वर परे रहते सन्धि नहीं होती। इस सूत्र में आ और ए (अ×ऐ) इन दोनों की सन्धि हो सकती थी, लेकिन सन्देह को दूर करने के लिये आचार्य ने सन्धि नहीं की है। यहाँ आ अभिविधि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अभिविधि में उस वस्तु का भी ग्रहण होता है, जिसका निर्देश आ के बाद किया जाता है जैसे इस सूत्र में ऐशान स्वर्ग का भी ग्रहण है।

शेषाः स्पर्श रूप शब्द मनः प्रवीचाराः ॥१२०५॥

शेष देव (तृतीय स्वर्ग से सोलहवें स्वर्ग तक) देवियों के स्पर्श से, रूप देखने से, शब्द सुनने से और मन में स्मरण मात्र से काम सुख का अनुभव करते हैं।

सनत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग के देव और देवियां परस्पर में स्पर्श मात्र से; ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ठ स्वर्ग के देव और देवियां एक दूसरे के रूप को देखने से; शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्त्रार स्वर्ग के देव और देवियां परस्पर शब्द श्रवण से और आनत, प्राणत, आरण और अच्युत स्वर्ग के देव और देवियां मन में एक दूसरे के स्मरण मात्र से अधिक सुख का अनुभव करती हैं।

परेऽप्रवीचाराः ॥१२०६॥

नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पञ्चोत्तर विमानवासी देव कामसेवन से रहित होते हैं। इन देवों को कामसेवन की इच्छा ही नहीं होती है। उनके तो सदा हर्ष और आनन्द रूप सुख का अनुभव रहता है।

भवनवासियों के भेद—

भवनवासिनोऽसुर नागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधि द्वीप दिक्कुमाराः ॥१२०७॥

भवनवासी देवों के असुर कुमार, नाग कुमार, विद्युत कुमार, सुपर्ण कुमार, अग्नि कुमार, वात कुमार, स्तनित कुमार, उदधि कुमार, द्वीप कुमार, दिक्कुमार—ये दश भेद हैं।

भवनों में रहने के कारण इन्हें भवनवासी कहते हैं।

असुर कुमार—जो परस्पर में लड़ाकर उनके प्राणों को लेते हैं, उन्हें असुर कुमार कहते हैं। ये तृतीय नरक तक के नारकियों को दुःख पहुँचाते हैं।

नाग कुमार—पर्वत या वृक्षों पर रहने वाले देव नागकुमार देव कहा जाता है।

विद्युत कुमार—जो विद्युत के समान चमकते हैं, वे विद्युत कुमार हैं।

सुपर्ण कुमार—जिनके पक्ष (पंख) शोभित होते हैं, वे सुपर्ण कुमार हैं।

अग्नि कुमार—जो पाताल लोक से क्रीड़ा करने के लिये ऊपर आते हैं, वे अग्नि कुमार कहलाते हैं।

वात कुमार—तीर्थंकर के विहार मार्ग को शुद्ध करने वाले वातकुमार हैं।

स्तनित कुमार—शब्द करने वाले देवों को स्तनित कुमार कहते हैं।

उदधि कुमार—समुद्रों में क्रीड़ा करने वाले उदधि कुमार हैं।

द्वीप कुमार—द्वीपों में क्रीडा करने वाले द्वीप कुमार हैं।

दिक्कुमार—दिशाओं में क्रीड़ा करने वाले दिक्कुमार हैं।

असुर कुमारों के प्रथम नरक के पङ्कबहुल भाग में और शेष भवनवासी देवों के खरबहुल भाग में भवन हैं।

व्यन्तर देवों के भेद—

व्यन्तराः किन्नरकिम्पुरुष महोरग गन्धर्व यक्ष राक्षस भूत पिशाचाः ॥१२०८॥

व्यन्तर देवों के किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत, पिशाच—ये आठ भेद होते हैं।

नाना देशों में निवास करने के कारण इनको व्यन्तर कहते हैं। जम्बूद्वीप के असंख्यात द्वीप समुद्र को छोड़कर, प्रथम नरक के खर भाग में राक्षसों को छोड़कर अन्य सात प्रकार के व्यन्तर रहते हैं और पङ्क भाग में राक्षस रहते हैं।

ज्योतिषी देवों के भेद—

ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रह नक्षत्र प्रकीर्णक तारकाश्च ॥१२०९॥

ज्योतिषी देवों के सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और तारा ये पांच भेद हैं। ज्योति (प्रकाश) युक्त होने के कारण इनको ज्योतिषी कहते हैं।

इस पृथ्वी से सात सौ नव्वे योजन की ऊंचाई पर ताराओं के विमान हैं। ताराओं से दश योजन ऊपर सूर्य के विमान हैं। सूर्य से अस्सी योजन ऊपर चन्द्रमा का विमान है। इसके बाद चार योजन ऊपर नक्षत्र हैं। नक्षत्रों से चार योजन ऊपर बुध, बुध से तीन योजन ऊपर शुक्र, शुक्र से तीन योजन ऊपर बृहस्पति, बृहस्पति से तीन योजन ऊपर मंगल और मंगल से तीन योजन ऊपर शनैश्चर देव रहते हैं। इस प्रकार मंगल से एक सौ दश योजन प्रमाण आकाश से ज्योतिषी देव रहते हैं। सूर्य से कुछ कम एक योजन नीचे केतु और चन्द्रमा से कुछ कम एक योजन नीचे राहु रहते हैं।

सब ज्योतिषी देवों के विमान के ऊपर स्थित अर्द्ध गोलक के आकार के होते हैं। चन्द्रमा, सूर्य और ग्रहों को छोड़कर शेष ज्योतिषी देव अपने-अपने एक ही मार्ग में गमन करते हैं।

ज्योतिषी देवों की गति—

मेरु प्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥१२१०॥

मनुष्य लोक के ज्योतिषी देव मेरु की प्रदक्षिणा देते हुए सदा गमन करते रहते हैं। मनुष्य लोक के बाहर ज्योतिषी देव स्थिर रहते हैं।

प्रश्न :—ज्योतिषी देवों के विमान अचेतन रहते हैं। उनमें गमन कैसे सम्भव है ?

उत्तर :—आभियोग्य जाति के देवों द्वारा ज्योतिषी देवों के विमान खींचे जाते हैं। आभियोग्य देवों का कर्म विपाक अन्य ज्योतिषी देवों के विमानों को खींचने पर ही होता है। मेरु से ग्यारह सौ इक्कीस योजन दूर रहकर ज्योतिषी देव भ्रमण करते रहते हैं।

जम्बूद्वीप में दो सूर्य, छप्पन नक्षत्र और एक सौ छिहत्तर ग्रह हैं। लवण समुद्र में चार सूर्य, एक सौ बारह नक्षत्र और तीन सौ बावन ग्रह हैं।

धातकी खंड द्वीप में बारह सूर्य, तीन सौ छत्तीस नक्षत्र और एक हजार छप्पन ग्रह हैं। कालोद समुद्र में बयालीस सूर्य, ग्यारह सौ छिहत्तर नक्षत्र और तीन हजार छह सौ निन्यानवे ग्रह हैं। और पुष्करार्द्ध द्वीप में बहत्तर सूर्य, दो हजार सोलह नक्षत्र, छह हजार तीन सौ छत्तीस ग्रह हैं। चन्द्रमाओं की संख्या सूर्य के बराबर है।

प्रत्येक चन्द्रमा के ग्रहों की संख्या अठासी है, और नक्षत्रों की संख्या अट्ठाईस है। मानुषोत्तर पर्वत से बाहर के सूर्यादि की संख्या आगमानुसार समझ लेनी चाहिये।

व्यवहार काल का हेतु—

तत्कृतः काल विभागः ॥१२११॥

दिन, रात, मास आदि व्यवहार काल का विभाग नित्य गमन करने वाले ज्योतिषी देवों के द्वारा किया जाता है। काल के दो भेद हैं—मुख्यकाल और व्यवहार काल। मुख्यकाल का वर्णन अगले अध्याय में किया जायेगा। समय, आवली, मिनिट, घण्टा, दिन-रात आदि व्यवहार काल हैं।

बहिरवस्थिताः ॥१२१२॥

मनुष्य लोक के बाहर के सब ज्योतिषी देव स्थिर हैं।

चन्द्रमा के विमान के उपरितन भाग का विस्तार प्रमाण योजन के इकसठ भागों में से छप्पन भाग प्रमाण (५६/६१ योजन) है और सूर्य के विमान के उपरितन भाग का विस्तार प्रमाण योजन के इकसठ भागों में से अड़तालीस भाग प्रमाण (४८/६१ योजन) है। शुक्र के विमान का विस्तार एक कोश, बृहस्पति के विमान का विस्तार कुछ कम एक कोश और मङ्गल, बुध और शनि के विमानों का विस्तार आधा कोश है।

वैमानिक देवों का वर्णन—

वैमानिकाः ॥१२१३॥

विमानों में रहने वाले देव वैमानिक कहलाते हैं। जिनमें रहने वाले जीव अपने को विशेष पुण्यात्मा मानते हैं, उनको विमान कहते हैं। विमान तीन प्रकार के होते हैं—इन्द्रक विमान, श्रेणी विमान और प्रकीर्णक विमान। मध्यवर्ती विमान को इन्द्रक विमान कहते हैं। जो विमान चारों दिशाओं में पंक्ति में अवस्थित रहते हैं, वे श्रेणि विमान हैं। इधर-उधर फैले हुए अक्रमबद्ध विमान प्रकीर्णक विमान हैं।

इन विमानों में जो देव प्रासाद हैं तथा जो शाश्वत जिन चैत्यालय हैं, वे सब अकृत्रिम हैं। इनका परिमाण मानवयोजन कोश आदि से जाना जाता है। अन्य शाश्वत या अकृत्रिम पदार्थों का परिमाण योजन कोश आदि से किया जाता है। यह परिभाषा है। परिभाषा नियम बनाने वाली होती है।

वैमानिक देवों के भेद—

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥१२१४॥

वैमानिक देवों के दो भेद हैं—कल्पोपपन्न और कल्पातीत। कल्प अर्थात् सोलह स्वर्गों में उत्पन्न होने वाले देव कल्पोपपन्न और नवग्रैवेयक, नव अनुदिश और पांच अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होने वाले देव कल्पातीत कहलाते हैं।

यद्यपि भवनवासी व्यन्तर और ज्योतिषी देवों में भी इन्द्र आदि का कल्प या भेद है, फिर भी रूढ़ि के कारण वैमानिक देवों की ही कल्पोपपन्न संज्ञा है।

विमानों का क्रम—

उपर्युपरि ॥१२१५॥

कल्पोपपन्न और कल्पातीत देवों के विमान क्रमशः ऊपर-ऊपर हैं। अपना उपरि-उपरि शब्द समीपवाची भी हो सकता है। इसलिए यह भी अर्थ हो सकता है कि प्रत्येक पटल में दो-दो स्वर्ग समीपवर्ती हैं। जिस पटल में दक्षिण दिशा में सौधर्म स्वर्ग है, उसी पटल में उत्तर दिशा में उसके समीपवर्ती ऐशान स्वर्ग भी है।

वैमानिक देवों के रहने का स्थान—

सौधर्मैशानसानत्कुमार माहेन्द्र ब्रह्मब्रह्मोत्तर लान्तव कापिष्ट शुक्र महाशुक्र शतार सहस्त्रारेष्वानत प्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजय वैजयन्त जयन्ता पराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥१२१६॥

सौधर्म, ऐशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्त्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत इन सोलह स्वर्गों में तथा नवग्रैवेयक नव अनुदिश और विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि इन पांच अनुत्तर विमानों में वैमानिक देव रहते हैं।

इस सूत्र में यद्यपि नव अनुदिशों का नाम नहीं आया है, लेकिन 'नवसु ग्रैवेयकेषु' में नव शब्द को नव अनुदिशों को ग्रहण करने के लिए पृथक रखा गया है। सूत्र में सर्वार्थसिद्धि को सर्वोत्कृष्ट होने के कारण "सर्वार्थसिद्धौ" इस प्रकार पृथक् रखा गया है। प्रत्येक स्वर्ग का नाम उस स्वर्ग के इन्द्र के नाम से पड़ा है।

सबसे नीचे सौधर्म और ऐशान कल्प है, और इनके ऊपर अच्युत स्वर्ग पर्यन्त क्रमशः दो-दो कल्प हैं। आरण और अच्युत कल्प के ऊपर नव ग्रैवेयक, नव

ग्रैवेयकों के ऊपर नव अनुदिश और नव अनुदिशों के ऊपर पांच अनुत्तर विमान हैं।

एक लाख योजन ऊँचा मेरु पर्वत है। मेरु पर्वत की चोटी और सौधर्म-स्वर्ग के इन्द्रक ऋतुविमान में एक बालमात्र का अन्तर है। मेरु के ऊपर ऊर्ध्वलोक, मेरु से नीचे अधोलोक और मेरु के बराबर मध्यलोक या तिर्यक् लोक है।

सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के इकतीस पटल हैं, उनमें प्रथम ऋतुपटल है। ऋतुपटल के बीच में ऋतु नामक पैंतालीस लाख योजन विस्तृत इन्द्रक (मध्यवर्ती) विमान है। ऋतुविमान से चारों दिशाओं में चार विमान श्रेणियां हैं। प्रत्येक विमान श्रेणी में बासठ विमान हैं। विदिशाओं में प्रकीर्णक विमान हैं। ऋतु पटल से ऊपर प्रभा नामक अन्तिम पटल पर्यन्त प्रत्येक पटल के प्रत्येक श्रेणी विमानों की संख्या क्रम से एक-एक कम होती गई है। इस प्रकार अन्तिम पटल में, प्रत्येक दिशा में बत्तीस श्रेणी विमान हैं। प्रभः नामक इकतीसवें पटल के मध्य में प्रभा नामक इन्द्रक विमान है। इन्द्रक विमान की चारों दिशाओं में चार विमान श्रेणियां हैं। प्रत्येक विमान श्रेणी में बत्तीस विमान हैं। दक्षिण दिशा में जो विमान श्रेणी है, उसके अठारहवें विमान में सौधर्म इन्द्र का निवास है, और उत्तर दिशा के अठारहवें विमान में ऐशान इन्द्र रहता है। उक्त दोनों विमानों के तीन-तीन कोट हैं। बाहर के कोट में अनीक और पारिषद जाति के देव रहते हैं। मध्य के कोट में त्रायस्त्रिंश देव रहते हैं, और तीसरे कोट के भीतर इन्द्र रहता है। इस प्रकार सब स्वर्गों में इन्द्रों का निवास समझना चाहिये।

पूर्व, पश्चिम और दक्षिण दिशा की तीन विमान श्रेणियां और आग्नेय और नैऋत्य दिशा से प्रकीर्णक विमान सौधर्म स्वर्ग की सीमा में है। उत्तर दिशा की एक विमान श्रेणी और ईशान दिशा के प्रकीर्णक विमान ऐशान स्वर्ग की सीमा में हैं।

इसके ऊपर सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग है। इनके सात पटल हैं। प्रथम अञ्जन पटल के मध्य में अञ्जन नामक इन्द्रक विमान है। इन्द्रक विमान की चारों दिशाओं में चार विमान श्रेणियां हैं। प्रत्येक श्रेणी में इकतीस विमान हैं। प्रथम पटल से अन्तिम पटल पर्यन्त प्रत्येक पटल में, प्रत्येक श्रेणी में विमानों की संख्या क्रमशः एक-एक कम है। सातवें पटल में इन्द्रक विमान की चारों दिशाओं में चार

विमान श्रेणियां हैं। प्रत्येक श्रेणी में पच्चीस विमान हैं। इस पटल की दक्षिण श्रेणी के पन्द्रहवें विमान में सानत्कुमार और उत्तर श्रेणी के पन्द्रहवें विमान में माहेन्द्र इन्द्र रहते हैं।

इसके ऊपर ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर स्वर्ग हैं। इनके चार पटल हैं। प्रथम अरिष्ट पटल के मध्य में अरिष्ट नामक इन्द्रक विमान की चारों दिशाओं में चार विमान श्रेणियां हैं, प्रत्येक श्रेणी में चौबीस विमान हैं। ऊपर के पटलों में श्रेणी विमान की संख्या क्रमशः एक-एक कम है। चौथे पटल में प्रत्येक श्रेणी में इक्कीस विमान हैं। इस पटल की दक्षिण श्रेणी के बारहवें विमान में ब्रह्मेन्द्र और उत्तर श्रेणी के बारहवें विमान में ब्रह्मोत्तर इन्द्र रहते हैं।

इसके ऊपर लान्तव और कापिष्ट स्वर्ग हैं। इनके दो पटल हैं—ब्रह्म हृदय और लान्तव। प्रथम पटल की प्रत्येक विमान श्रेणी में बीस विमान हैं, और द्वितीय पटल की प्रत्येक विमान श्रेणी में उन्नीस विमान हैं। इस पटल की दक्षिण श्रेणी के नौवें विमान में लान्तव और उत्तर श्रेणी के नौवें विमान में कापिष्ट इन्द्र रहते हैं।

इसके ऊपर शुक्र और महाशुक्र स्वर्ग हैं। इनमें महाशुक्र नामक एक ही पटल है। इस पटल के मध्य में महाशुक्र नामक इन्द्रक विमान है। चारों दिशाओं में चार विमान श्रेणियां हैं। प्रत्येक विमान श्रेणी में अठारह विमान हैं। दक्षिण श्रेणी के बारहवें विमान में शुक्र और उत्तर श्रेणी के बारहवें विमान में महाशुक्र इन्द्र रहते हैं।

इसके ऊपर शतार और सहस्त्रार स्वर्ग है। इनमें सहस्त्रार नामक एक ही पटल है। चारों दिशाओं में प्रत्येक श्रेणी में सतरह विमान हैं। दक्षिण श्रेणी के नौवें विमान में शतार और उत्तर श्रेणी के नौवें विमान में सहस्त्रार इन्द्र रहते हैं।

इसके ऊपर आनत, प्राणत, आरण और अच्युत स्वर्ग हैं। इनमें छह पटल हैं। अन्तिम अच्युत पटल के मध्य में अच्युत नामक इन्द्रक विमान है। इन्द्रक विमान से चारों दिशाओं में चार विमान श्रेणियां हैं। प्रत्येक विमान श्रेणी में ग्यारह विमान हैं। इस पटल की दक्षिण श्रेणी के छठवें विमान में आरण और उत्तर श्रेणी के छठवें विमान में अच्युत इन्द्र रहते हैं।

इस प्रकार लोकानुयोग नामक ग्रन्थ में चौदह इन्द्र बतलाये हैं। श्रुतसागर आचार्य मत से तो बारह ही इन्द्र होते हैं। आदि चार और अन्त के चार इन आठ

सवर्गों के आठ इन्द्र और मध्य के आठ स्वर्गों के चार इन्द्र अर्थात् ब्रह्म, लान्तव, शत्रु और शतार इस प्रकार सोलह स्वर्गों में बारह इन्द्र होते हैं।

विमानों की संख्या—सौधर्म स्वर्ग में बत्तीस लाख, ऐशान स्वर्ग में अट्ठाईस लाख, सानत्कुमार स्वर्ग में बारह लाख, माहेन्द्र में आठ लाख ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर में चालीस लाख, लान्तव और कापिष्ट में पचास हजार, शुक्र और महाशुक्र में चालीस हजार, शतार और सहस्त्रार में छह हजार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत स्वर्ग में सात सौ विमान हैं। प्रथम तीन ग्रैवेयकों में एक सौ ग्यारह, मध्य के तीन ग्रैवेयकों में एक सौ सात और ऊपर के तीन ग्रैवेयकों में एकानवे विमान हैं। नव अनुदिश में नौ विमान हैं। सर्वार्थसिद्धि पटल में पांच विमान हैं, जिनमें मध्यवर्ती विमान का नाम सर्वार्थसिद्धि है, पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा में क्रम से विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित विमान हैं।

विमानों का रंग—सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के विमानों का रंग श्वेत, पीला, हरा, लाल और काला है। सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग में विमानों का रंग श्वेत, पीला, हरा, लाल है। ब्रह्म ब्रह्मोत्तर, लान्तव, और कापिष्ट स्वर्ग में विमानों का रंग श्वेत, पीला और लाल है। शुक्र से अच्युत स्वर्ग पर्यन्त विमानों का रंग श्वेत और पीला है। नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और अनुत्तर विमानों का श्वेत ही है। सर्वार्थसिद्धि विमान परमशुक्ल है और इसका विस्तार जम्बूद्वीप के समान है। अन्य चार विमानों का विस्तार असंख्यात करोड़ योजन है।

उक्त त्रेसठ पटलों का अन्तर भी असंख्यात करोड़ योजन है।

मेरु से ऊपर डेढ़ राजू पर्यन्त क्षेत्र में सौधर्म और ऐशान स्वर्ग हैं। पुनः डेढ़ राजू प्रमाण क्षेत्र में सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग हैं। ब्रह्म से अच्युत स्वर्ग पर्यन्त दो-दो स्वर्गों की ऊंचाई आधा राजू है। और ग्रैवेयक से सिद्धशिला तक एक राजू ऊंचाई है। ऊर्ध्व लोक में जितने विमान हैं, सभी में जिनमन्दिर हैं।

वैमानिक देवों में उत्कर्ष—

स्थिति प्रभाव सुखद्युति लेश्याविशुद्धीन्द्रियावधि विषयतोऽधिकाः ॥१२१७॥

वैमानिक देवों में क्रमशः ऊपर-ऊपर आयु, प्रभाव-शाप और अनुग्रह की शक्ति, सुख-इन्द्रिय सुख, दीप्ति-शरीर कान्ति, लेश्याओं की विशुद्धि, इन्द्रियों का विषय और अवधिज्ञान के विषय की अधिकता पाई जाती है।

वैमानिक देवों में अपकर्ष—

गति शरीर परिग्रहाभिमानतो हीनाः ॥१२१८॥

वैमानिक देव गमन, शरीर, परिग्रह और अभिमान की अपेक्षा क्रमशः ऊपर-ऊपर हीन हैं।

ऊपर-ऊपर के देवों में गमन परिग्रह और अभिमान की हीनता है।

शरीर का परिमाण—सौधर्म और ऐशान स्वर्ग में शरीर की ऊँचाई सात अरत्नि, सानत्कुमार और माहेन्द्र में छह अरत्नि, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ट में पांच अरत्नि, शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्त्रार में चार अरत्नि, आनत और प्राणत में साढ़े तीन अरत्नि और आरण और अच्युत में तीन अरत्नि शरीर की ऊंचाई है। प्रथम तीन ग्रैवेयकों में ढाई अरत्नि, मध्य ग्रैवेयक में दो अरत्नि, ऊर्ध्व ग्रैवेयक और नव अनुदिश में डेढ़ अरत्नि शरीर की ऊंचाई है। पांच अनुत्तर विमानों में शरीर की ऊंचाई केवल एक हाथ है। मुंडे हाथ को अरत्नि कहते हैं।

वैमानिक देवों में लेश्याओं का वर्णन—

पीत पद्म शुक्ल लेश्या द्वित्रिशेषेषु ॥१२१९॥

दो युगलों में, तीन युगलों में और शेष के विमानों में क्रमशः पीत, पद्म और शुक्ल लेश्यायें होती हैं।

सौधर्म, ऐशान, सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग में पीत लेश्या होती है। विशेष यह है कि सानत्कुमार और माहेन्द्र में मिश्र-पीत और पद्म लेश्या होती है। ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ट, शुक्र और महाशुक्र स्वर्ग में पद्म लेश्या होती है। लेकिन शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्त्रार स्वर्ग में मिश्र-पद्म और शुक्ल लेश्या होती है। आनत, प्राणत, आरण और अच्युत स्वर्ग में और नव ग्रैवेयकों में शुक्ल लेश्या होती है। नव अनुदिश और पांच अनुत्तर विमानों में परम शुक्ल लेश्या होती है।

यद्यपि सूत्र में मिश्र लेश्या का ग्रहण नहीं किया है, किन्तु साहचर्य से मिश्र का भी ग्रहण कर लेना चाहिए। जैसे 'छाते वाले जा रहे हैं' ऐसा कहने पर जिसके पास छाता नहीं है, उनका भी ग्रहण हो जाता है। उसी प्रकार एक लेश्या के कहने से उसके साथ मिश्रित दूसरी लेश्या का भी ग्रहण हो जाता है। सूत्र का अर्थ इस प्रकार करना चाहिए।

सौधर्म और ऐशान स्वर्ग में पीत लेश्या और सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग

में मिश्र-पीत और पद्म लेश्या होती है। लेकिन पद्म लेश्या की विवक्षा न करके सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग में पीत लेश्या ही कही गई है। ब्रह्म से लान्तव स्वर्ग-पर्यन्त पद्म लेश्या और शुक्र से सहस्त्रार स्वर्ग पर्यन्त मिश्र-पद्म और शुक्ल लेश्या होती है, लेकिन शुक्र और महाशुक्र में शुक्ल लेश्या की विवक्षा न करके पद्म लेश्या ही कही गई है। इसी प्रकार शतार और सहस्त्रार स्वर्ग में पद्म लेश्या की विवक्षा न करके शुक्ल लेश्या ही सूत्र में कही गई है।

कल्प की सीमा—

प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पः ।।१२२०।।

ग्रैवेयकों से पहिले के विमानों की कल्प संज्ञा है। अर्थात् सोलह स्वर्गों को कल्प कहते हैं। नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पांच अनुत्तर विमान कल्पातीत कहलाते हैं।

लौकान्तिक देवों का निवास—

ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः ।।१२२१।।

लौकान्तिक देव ब्रह्मलोक नामक पांचवें स्वर्ग में रहते हैं।

प्रश्न—यदि ब्रह्मलोक में रहने के कारण इनको लौकान्तिक कहते हैं, तो ब्रह्मनिवासी सब देवों को लौकान्तिक कहना चाहिये ?

उत्तर—लौकान्तिक यह यथार्थ नाम है और इसका प्रयोग ब्रह्मलोक निवासी सब देवों के लिये नहीं हो सकता। लोक का अर्थ है ब्रह्मलोक के अन्त को लोकान्त और लोकान्त में रहने वाले देवों का नाम लौकान्तिक हैं। अथवा संसार को लोक कहते हैं। और जिनके संसार का अन्त समीप है, उन को लौकान्तिक कहते हैं। लौकान्तिक स्वर्ग से च्युत होकर मनुष्य भव धारण कर मुक्त हो जाते हैं। अतः लौकान्तिक यह नाम सार्थक है।

लौकान्तिक देवों के भेद—

सारस्वतादित्य वह्न्यरुण गर्दतोयतुषिता व्याबाधारिष्टाश्च ।।१२२२।।

सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध, अरिष्ट ये आठ प्रकार के लौकान्तिक देव होते हैं।

सारस्वत—जो चौदह पूर्व के ज्ञाता हों, वे सारस्वत कहलाते हैं।

आदित्य—देवमाता अदिति की संतान को आदित्य कहते हैं।

वह्नि—जो वह्नि के समान देदीप्यान हों, उसे वह्नि कहते हैं।

अरुण—उदीयमान सूर्य के समान जिनकी कान्ति हो, वे अरुण कहलाते हैं।

गर्दतोय—शब्द को गर्द और जल को तोय कहते हैं। जिनके मुख से शब्द जल के प्रवाह की तरह निकलें, वे गर्दतोय कहते हैं।

तुषित—जो संतुष्ट और विषय सुख से परान्मुख रहते हैं, वे तुषित हैं।

अव्याबाध—जिनके कामादिजनित बाधा नहीं है, वे अव्याबाध हैं।

अरिष्ट—जो अकल्याणकारी कार्य नहीं करते हैं, उनको अरिष्ट कहते हैं।

सारस्वत आदि देवों के विमान क्रमशः ईशान, पूर्व, आग्नेय, दक्षिण नैर्ऋत्य, पश्चिम, वायव्य और उत्तर दिशा में हैं। इनके अन्तराल में भी दो-दो देवों के विमान हैं। सारस्वत और आदित्य के अन्तराल में अग्न्याभ और सूर्याभ, आदित्य और वह्नि के अन्तराल में चन्द्राभ और सत्याभ, वह्नि और अरुण के अन्तराल में श्रेयस्कर और क्षेमंकर, अरुण और गर्दतोय के अन्तराल में वृषभेष्ट और कामचर, गर्दतोय और तुषित के मध्य में निर्माणरज और दिगन्तरक्षित, तुषित और अव्याबाध के मध्य में आत्मरक्षित और सर्वरक्षित, अव्याबाध और अरिष्ट के मध्य में मरुत और वसु और अरिष्ट और सारस्वत के मध्य में अश्व और विश्व रहते हैं।

सब लौकान्तिक स्वाधीन, विषय सुख से परान्मुख, चौदह पूर्व के ज्ञाता और देवों से पूज्य होते हैं। ये देव तीर्थंकरों के तप कल्याण में ही आते हैं।

लोकान्तिक देवों की संख्या चार लाख सात हजार आठ सौ बीस है।

विजय आदि विमानवासी देवों की संसार की अवधि—

विजयादिषु द्विचरमाः ॥१२२३॥

विजय, वैजयन्त और अपराजित विमानवासी अहमिन्द्र मनुष्य के दो भव धारण कर नियम से मोक्ष चले जाते हैं। यहां मनुष्य भव की अपेक्षा से इनको द्विचरम कहा है। कोई भी अहमिन्द्र विजयादि से च्युत होकर मनुष्य गति में आयेगा। पुनः वह मनुष्य भव समाप्त कर विजयादि में ही उत्पन्न होगा। फिर विजयादि से च्युत होकर मनुष्य भव धारण कर नियम से मोक्ष चला जायेगा, इस प्रकार मनुष्य भव की अपेक्षा दो भव और मनुष्य भव में देवपर्याय को भी मिला देने से दो मनुष्य भव और एक देव भव इस प्रकार विजय आदि में उत्पन्न होने वाले अहमिन्द्रों के तीन भव और बाकी रह जाते हैं। लेकिन सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्र एक भवावतारी होते

हैं। मनुष्य का एक भव धारण करके ही मोक्ष चले जाते हैं।

तिर्यञ्चों का वर्णन—

औपपादिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥१२२४॥

उपपाद जन्म वाले देव और नारकी तथा मनुष्यों को छोड़कर शेष समस्त संसारी जीव तिर्यञ्च हैं। तिर्यञ्च सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं।

भवनवासी देवों की उत्कृष्ट आयु—

स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपशेषाणां सागरोपमत्रिपल्योपमार्द्धहीनमिताः ॥१२२५॥

भवनवासी देवों में असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, द्वीपकुमार और शेष के छह कुमारों की उत्कृष्ट आयु क्रम से एक सागर, तीन पल्य, अढ़ाई पल्य, दो पल्य, डेढ़ पल्य है।

वैमानिक देवों की उत्कृष्ट आयु—

सौधर्मैशानयोः सागरोपमे अधिके ॥१२२६॥

सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के देवों की उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक दो सागर है। 'अधिके' इस शब्द की अनुवृत्ति सहस्त्रार स्वर्ग पर्यन्त होती है। इसलिये सहस्त्रार तक के देवों की आयु कथित सागरों से कुछ अधिक होती है।

सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के पटलों में आयु का वर्णन—

प्रथम पटल में ६६६६६६६ करोड़ पल्य और इतने ही पल्य तथा पल्य के तीन विभागों में से दो भाग उत्कृष्ट आयु है।

दूसरे पटल में १३३३३३३ करोड़ पल्य तथा ३३३३३३३ पल्य और पल्य के तीन भागों में से एक भाग आयु है।

तीसरे पटल में दो कोड़ा-कोड़ी पल्य की आयु है।

चौथे पटल में २६६६६६६ करोड़ पल्य तथा ६६६६६६६ पल्य और पल्य के तीन भागों में से दो भाग प्रमाण आयु है।

पांचवें पटल में ३३३३३३३ करोड़ पल्य तथा ३३३३३३३ पल्य और पल्य के तीन भागों में से एक भाग प्रमाण आयु है।

छठवें पटल में चार कोड़ा-कोड़ी पल्य की आयु है।

सातवें पटल में ४६६६६६६ करोड़ पल्य तथा ६६६६६६६ पल्य और

पल्य के तीन भागों में से दो भाग प्रमाण आयु है।

आठवें पटल में ५३३३३३३३ करोड़ पल्य और ३३३३३३३, १ बटे ३ पल्य की आयु है।

नौवें पटल में छह कोड़ा-कोड़ी पल्य की आयु है।

दसवें पटल में ६६६६६६६६ करोड़ पल्य और ६६६६६६६, २ बटे ३ पल्य की आयु है।

ग्यारहवें पटल में ७३३३३३३३ करोड़ पल्य और ३३३३३३३, १ बटे ३ पल्य की आयु है।

बारहवें पटल में आठ कोड़ा-कोड़ी पल्य की आयु है।

तेरहवें पटल में ८६६६६६६६ करोड़ पल्य और ६६६६६६६, २ बटे ३ पल्य की आयु है।

चौदहवें पटल में ९९३३३३३३ करोड़ पल्य है और ३३३३३३३, १ बटे ३ पल्य की आयु है।

पन्द्रहवें पटल में एक सागर की आयु है।

सोलहवें पटल में एक सागर ६६६६६६६ करोड़ पल्य और ६६६६६६६, २ बटे ३ पल्य की आयु है।

सत्रहवें पटल में एक सागर १३३३३३३३ करोड़ पल्य और ३३३३३३३, १ बटे ३ पल्य की आयु है।

अठारहवें पटल में बारह कोड़ा-कोड़ी पल्य की आयु है।

उन्नीसवें पटल में १२६६६६६६६ करोड़ पल्य और ६६६६६६६, २ बटे ३ पल्य की आयु है।

बीसवें पटल में १३३३३३३३३३ करोड़ पल्य और ३३३३३३३, १ बटे ३ पल्य की आयु है।

इक्कीसवें पटल में चौदह कोड़ा-कोड़ी पल्य की आयु है।

बाईसवें पटल में १४६६६६६६६ करोड़ पल्य और ६६६६६६६, २ बटे ३ पल्य की आयु है।

तेईसवें पटल में १५३३३३३३३ करोड़ पल्य और ३३३३३३३, १ बटे ३ पल्य की आयु है।

चौबीसवें पटल में सोलह कोड़ा-कोड़ी पल्य की आयु है ।

पच्चीसवें पटल में १६६६६६६६ करोड़ पल्य और ६६६६६६, २ बटे ३ पल्य की आयु है ।

छब्बीसवें पटल में १७३३३३३३३ करोड़ पल्य और ३३३३३३३, १ बटे ६ पल्य की आयु है ।

सत्ताईसवें पटल में अठारह कोड़ा-कोड़ी पल्य की आयु है ।

अट्ठाईसवें पटल में १८६६६६६६६ ६करोड़ पल्य और ६६६६६६, २ बटे ३ पल्य की आयु है ।

उनतीसवें पटल में १९३३३३३३३ करोड़ पल्य और ३३३३३३३, १ बटे ३ पल्य की आयु है ।

तीसवें पटल में बीस कोड़ा-कोड़ी पल्य की आयु है ।

इकतीसवें पटल में कुछ अधिक दो सागर की आयु है ।

सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः सप्त ।।१२३७।।

सानत्कुमार और माहेन्द्र में स्वर्ग में देवों की आयु कुछ अधिक सात सागर है । प्रथम पटल में २,५ बटे ७ सागर, द्वितीय पटल में ३, ३ बटे ७ सागर, तीसरे पटल में ४, १ बटे ७ सागर, चौथे पटल मे ४, ३ बटे ७ सागर, पांचवें पटल में ५, ४ बटे ७ सागर, छठवें पटल में ६, २ बटे ७ सागर और सातवें पटल में कुछ अधिक सात सागर की आयु है ।

त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदश पञ्चदश भिरधिकानि तु ।।१२२८।।

ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर स्वर्ग में दश सागर के कुछ अधिक, लान्तव और कापिष्ट स्वर्ग में चौदह सागर से कुछ अधिक, शुक्र और महाशुक्र में सोलह सागर से कुछ अधिक, शतार और सहस्त्रार में अठारह सागर से कुछ अधिक, आनत प्राणत में बीस सागर और आरण और अच्युत में बाईस सागर की उत्कृष्ट आयु है । इस सूत्र में 'तु' शब्द यह बतलाता है कि पूर्व सूत्र के 'अधिके' शब्द की अनुवृत्ति सहस्त्रार स्वर्ग पर्यन्त ही होती है । अतः आगे के स्वर्गों में आयु सागरों से कुछ अधिक नहीं है । ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर स्वर्ग के प्रथम पटल में ७, २ बटे ४ सागर, द्वितीय पटल में ८, १ बटे २ सागर, तीसरे पटल में ९,१ बटे ४ सागर और चौथे पटल में दश सागर से कुछ अधिक आयु है ।

लान्तव और काप्पिष्ट स्वर्ग के प्रथम पटल में बारह सागर और दूसरे पटल में कुछ अधिक चौदह सागर की आयु है। शुक्र और महाशुक्र में एक ही पटल है। शतार और सहस्त्रार में भी एक ही पटल है।

आनत, प्राणत, आरण और अच्युत स्वर्ग में छह पटल हैं। प्रथम पटल में सागर के तीसरे भाग से कुछ अधिक कम उन्नीस सागर की आयु है। दूसरे पटल में बीस सागर, तीसरे पटल में २०, २ बटे ३ सागर, चौथे पटल में इक्कीस सागर, पांचवें पटल में २१, १ बटे ३ सागर और छठवें पटल में बाईस सागर की आयु है।

आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥१२२९॥

आरण और अच्युत स्वर्ग से ऊपर नव ग्रैवेयकों में, नव अनुदिशों में और विजय आदि विमानों में एक-एक सागर बढ़ती हुई आयु है। सूत्र में नव शब्द का ग्रहण यह बतलाता है कि प्रत्येक ग्रैवेयक में एक-एक सागर आयु की वृद्धि होती है। 'विजयादिषु' में आदि शब्द के द्वारा नव अनुदिशों का ग्रहण होता है।

इस प्रकार प्रथम ग्रैवेयक में तेईस सागर और नवमें ग्रैवेयक में इकतीस सागर की आयु है। नव अनुदिशों में बत्तीस सागर और विजय आदि पांच विमानों में तैंतीस सागर की उत्कृष्ट आयु है। सर्वार्थसिद्धि में जघन्य आयु नहीं होती इस बात को बतलाने के लिए सूत्र में सर्वार्थसिद्धि शब्द को पृथक् रक्खा है। नवग्रैवेयकों के नाम - १. सुदर्शन, २. अमोघ, ३. सुप्रबुद्ध, ४. यशोधर, ५. सुभद्र, ६. सुविशाल, ७. सुमनस, ८. सौमनस और ९. प्रीतिङ्कर।

स्वर्गों में जघन्य आयु का वर्णन—

अपरा पल्योपमधिकम् ॥१२३०॥

सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के प्रथम पटल में कुछ अधिक एक पल्य की आयु है।

परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनन्तरा ॥१२३१॥

पहिले-पहिले के पटल और स्वर्गों की आयु आगे के पटलों और स्वर्गों की जघन्य आयु है। अर्थात् सौधर्म और ऐशान स्वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति सानत्कुमार और

माहेन्द्र स्वर्ग में जघन्य आयु है। इसी क्रम से विजयादि चार विमानों तक जघन्य आयु जान लेना चाहिए।

नारकियों की जघन्य आयु—

नारकाणाञ्च द्वितीयादिषु ॥१२३२॥

पहिले-पहिले के नरकों की उत्कृष्ट आयु दूसरे आदि नरकों में जघन्य आयु होती है। इस प्रकार दूसरे नरक में जघन्य आयु एक सागर और सातवें नरक की जघन्य आयु बाईस सागर की है।

दशवर्ष सहस्राणि प्रथमायाम् ॥१२३३॥

पहिले नरक में जघन्य आयु दश हजार वर्ष की है। यह जघन्य आयु प्रथम पटल में है। प्रथम पटल की उत्कृष्ट स्थिति नब्बे हजार वर्ष, द्वितीय पटल की जघन्य आयु है। इसी प्रकार आगे के पटलों में जघन्य आयु का क्रम समझ लेना चाहिये।

भवनवासियों की जघन्य आयु—

भवनेषु च ॥१२३४॥

भवनवासियों की जघन्य आयु दश हजार वर्ष की है।

व्यन्तरों की जघन्य आयु—

व्यन्तराणाञ्च ॥१२३५॥

व्यन्तर देवों की भी जघन्य आयु दश हजार वर्ष की है।

व्यन्तरों की उत्कृष्ट स्थिति—

परा पल्योपमधिकम् ॥१२३६॥

व्यन्तर देवों की उत्कृष्ट आयु एक पल्य से कुछ अधिक है।

ज्योतिषी देवों की उत्कृष्ट आयु—

ज्योतिष्काणाञ्च ॥१२३७॥

ज्योतिषी देवों की उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक एक पल्य की है।

तदष्टभागोऽपरा ॥१२३८॥

ज्योतिषी देवों की जघन्य आयु एक पल्य के आठवें भाग प्रमाण है।

विशेष — चन्द्रमा की एक पल्य और एक लाख वर्ष, सूर्य की एक पल्य और एक हजार वर्ष, शुक्र की एक पल्य और सौ वर्ष, बृहस्पति की एक पल्य, बुध की आधा पल्य, नक्षत्रों की आधा पल्य और प्रकीर्णक ताराओं की १ बटे ४ पल्य उत्कृष्ट आयु है। प्रकीर्णक ताराओं की और नक्षत्रों की जघन्य स्थिति पल्य के आठवें भाग (१ बटे ८ पल्य) प्रमाण है और सूर्यादिकों की जघन्य आयु पल्य के चौथे भाग (१ बटे ४ पल्य) प्रमाण है।

लोकान्तिकानामष्टौ सागरोपमानि सर्वेषाम् ॥१२३६॥

समस्त लौकान्तिक देवों की आयु आठ सागर की है। इन देवों में जघन्य और उत्कृष्ट आयु का भेद नहीं है। सब लौकान्तिक देवों के शुक्ल लेश्या होती है। इनके शरीर की ऊंचाई पांच हाथ है।

प्रश्न :—सिद्ध लोक और सिद्ध शिला का वर्णन कैसा है ?

उत्तर :—सर्वार्थसिद्धि नामक इन्द्रक के ध्वज दण्ड से १२ योजन मात्र ऊपर जाकर "ईषत्प्राग्भार" नाम की आठवीं पृथ्वी स्थित है, तीन भुवन के मस्तक पर स्थित इस पृथ्वी की पूर्व पश्चिम चौड़ाई १ राजू है, उत्तर दक्षिण लम्बाई ७ राजू है एवं मोटाई ८ योजन मात्र है। अतः यह पृथ्वीलोक के अन्त तक ८ योजन मोटी है। इस पृथ्वी के ऊपर ३ वातवलय हैं। जो कुछ कम १ योजन मात्र है। घनोदधि वात वलय २ कोस, घनवात वलय १ कोस तनु वातवलय ४२५ धनुष कम १ कोस है।

इस आठवीं पृथ्वी के मध्य में रजतमयी, श्वेत छत्र के आकार वाला मनुष्य क्षेत्र समान गोल पैंतालीस लाख योजन विस्तृत "सिद्ध क्षेत्र" है। तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ में इस क्षेत्र को "उत्तानधवल" क्षेत्र सदृश कहा है। इस क्षेत्र के मध्य की मोटाई ८ योजन है। एवं क्रम से घटते-घटते अंत में १ अंगुल मात्र है। अर्थात् यह सिद्ध शिला उपरिम भाग में तो समान रूप है और नीचे हानि वृद्धि रूप है। त्रिलोकसार में इस सिद्ध शिला को औंधे रखे हुए कटोरे के सदृश कहा है। यह शिला ४५००००० योजन विस्तृत है। और इसकी परिधि १४२३०२४९ योजन प्रमाण है।

सभी सिद्ध भगवान सिद्ध क्षेत्र के उपरिम भाग तनुवात के चतुर्थ भाग में विराजमान है। अन्तिम शरीर के प्रमाण से किंचित् न्यून आत्मप्रदेश वाले हैं। आठवीं पृथ्वी के ऊपर सात हजार पचास धनुष जाकर सिद्धों का आवास है। अर्थात् सर्वार्थसिद्धि से १२ योजन ऊपर की आठवीं पृथ्वी है। यह एक राजू चौड़ी ७ राजू लम्बी है, किन्तु मोटी ८ योजन मात्र ही है। इस पृथ्वी के मध्य में सिद्ध शिला है। वह भी मोटी ८ योजन मात्र ही है। मध्य में गोलाकार है। जो कि ४५००००० योजन प्रमाण है। इसके ऊपर ४२५ धनुष कम १ योजन में तीन वातवलय है। सिद्ध परमेष्ठी में अंतिम तनुवात वलय में स्थित है। १ योजन में ८००० धनुष होते हैं। उसमें से ७०५० धनुष ऊपर जाकर सिद्धों का आवास है। जो कि १०५०५९२६०१९५३, १ बटे ८ योजन प्रमाण है।

तनुवात वलय १ कोस का है। एक कोस में २०० धनुष होते हैं। इसमें ४२५ धनुष घटाइये, तब १५७५ धनुष होता है। २००० − ४२५=१५७५ धनुष। तनुवात वलय के कोस प्रमाणांगुल की अपेक्षा से है। और सिद्धों की अवगाहना व्यवहारांगुल की अपेक्षा से है। इसलिये १५७५ को ५०० से गुणा करके व्यवहार धनुष बना लीजिये १५७५×५००=७८७ – ५०० तनुवात की मोटाई को ५०० से गुणा करके १५०० का भाग देने पर सिद्धों की उत्कृष्ट अवगाहना का प्रमाण होता है। एवं ९००००० का भाग देने पर जघन्य अवगाहना होती है। जैसे—१५७५×५००÷१५००=५२५ धनुष/१५७५×५००÷९०००००=७ बटे ८ धनुष=३, १ बटे २ हाथ। इसमें सिद्धों की जघन्य अवगाहना ७ धनुष के आठ भाग है। धनुष के चार हाथ होते हैं। अतः ७×४=२८; २८÷८=३, १ बटे २। सिद्धों की जघन्य अवगाहना ३, १ बटे २ हाथ है। एवं उत्कृष्ट अवगाहना ५२५ धनुष है।

अध्याय आठवां : द्रव्य-वर्णन

अजीव तत्त्व का वर्णन—

अजीवकायाः धर्माधर्माकाश पुद्गलाः ।।१२४०।।

धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ये चार द्रव्य अजीवकाय हैं। शरीर के समान प्रचय या पिण्ड रूप होने के कारण इन द्रव्यों को अजीवकाय कहा है। यद्यपि काल द्रव्य भी अजीव है, लेकिन प्रचय रूप न होने के कारण काल को इस सूत्र में नहीं कहा है। काल द्रव्य के प्रदेश मोती के समान एक दूसरे से पृथक् हैं। निश्चयनय से एक पुद्गल परमाणु बहुप्रदेशी नहीं है, किन्तु उपचार से एक पुद्गल परमाणु भी बहु-प्रदेशी कहा जाता है, क्योंकि उसमें अन्य परमाणुओं के साथ मिलकर पिण्डरूप परिणत होने की शक्ति है।

प्रश्न :—'असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैक जीवानाम्' ऐसा आगे सूत्र है। उसी से यह निश्चय हो जाता है कि धर्म आदि द्रव्य बहुप्रदेशी हैं। फिर इन द्रव्यों को बहुप्रदेशी बतलाने के लिये इस सूत्र में काय शब्द का ग्रहण क्यों किया ?

उत्तर :—इस सूत्र में काय शब्द यह सूचित करता है कि धर्म आदि द्रव्य बहुप्रदेशी हैं और आगे के सूत्रों से उन प्रदेशों का निर्धारण होता है कि किस द्रव्य के कितने प्रदेश हैं। काल द्रव्य के प्रदेश प्रचयरूप नहीं होते हैं, इस बात को बतलाने के लिये भी इस सूत्र में काय शब्द का ग्रहण किया है। 'अजीवकाय' इस शब्द में अजीव विशेषण है और काय विशेष्य है। इसलिये यहां विशेषण विशेष्य समास हुआ है। किन्हीं दो पदार्थों में व्यभिचार (असम्बन्ध) होने पर किसी एक स्थान में उनके संबंध को बतलाने के लिये विशेषण विशेष्य समास होता है। काल द्रव्य अजीव है, लेकिन काय नहीं है, जीव द्रव्य काय है, लेकिन अजीव नहीं है। अतः अजीव और काय में व्यभिचार होने के कारण विशेषण विशेष्य समास हो गया है।

द्रव्य का लक्षण—

द्रव्याणि ।।१२४१।।

उक्त धर्म आदि चार द्रव्य हैं। जिसमें गुण और पर्याय पाये जाय उनको द्रव्य कहते हैं।

नैयायिक कहते हैं कि जिसमें द्रव्यत्व नामक सामान्य रहे, वह द्रव्य है। ऐसा कहना ठीक नहीं है। जब द्रव्यत्व और द्रव्य दोनों की पृथक्-पृथक् सिद्धि हो, तब द्रव्यत्व का द्रव्य के साथ सम्बन्ध हो सकता है। लेकिन दोनों की पृथक्-पृथक् सिद्धि नहीं है। और यदि दोनों की पृथक् सिद्धि है, तो बिना द्रव्यत्व के भी द्रव्य सिद्ध हो गया, तब द्रव्यत्व के सम्बन्ध मानने की क्या आवश्यकता है? इसी प्रकार गुणों के समुदाय को द्रव्य कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि गुण और समुदाय में अभेद मानने पर एक ही पदार्थ रहेगा और भेद मानने पर गुणों की कल्पना व्यर्थ है, क्योंकि बिना गुणों के भी समुदाय सिद्ध है।

गुण और द्रव्य में कथञ्चित् भेदाभेद मानने से कोई दोष नहीं आता। गुण और द्रव्य पृथक्-पृथक् उपलब्ध नहीं होते, इसलिये उनमें अभेद है और उनके नाम, लक्षण, प्रयोजन आदि भिन्न-भिन्न हैं, इसलिये उनमें भेद भी है।

पूर्व सूत्र में धर्म आदि बहुत पदार्थ हैं, इसलिए इस सूत्र में धर्म आदि का द्रव्य के साथ समानाधिकरण होने से द्रव्य शब्द को बहुवचन कहा है, लेकिन समानाधिकरण के कारण द्रव्य शब्द पुल्लिंग नहीं हो सकता, क्योंकि द्रव्य शब्द सदा नपुंसक लिङ्ग का है।

जीव द्रव्य किस प्रकार के हैं—

जीवाश्च ॥१२४२॥

जीव भी द्रव्य है। आगे काल को भी द्रव्य बतलाया है। इस प्रकर धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल, जीव और काल ये छह द्रव्य हैं।

प्रश्न :—आगे 'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्' इस सूत्र में द्रव्य का लक्षण बतलाया है। इसी से यह सिद्ध हो जाता है कि धर्म आदि द्रव्य हैं। फिर यहां द्रव्यों की गणना करना ठीक नहीं है?

उत्तर :—यहां द्रव्यों की गणना इसलिये की गई है कि द्रव्य छह ही हैं। अन्य लोगों के द्वारा मानी गयी द्रव्य की संख्या ठीक नहीं है।

नैयायिक पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ये

नव द्रव्य मानते हैं। यह संख्या ठीक नहीं है; पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और मन का पुद्गल द्रव्य में अन्तर्भाव हो जाता है।

जिनेन्द्र देव ने पुद्गल द्रव्य के छह भेद बतलाए हैं—अतिस्थूल, स्थूल-स्थूल, स्थूलसूक्ष्म, सूक्ष्मस्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्म-सूक्ष्म। इनके क्रमशः उदाहरण ये हैं—पृथ्वी, जल, छाया, नेत्र के सिवाय शेष चार इन्द्रियों के विषय, कर्म और परमाणु।

प्रश्न :—पुद्गल द्रव्य में रूप रस गंध और स्पर्श पाये जाते हैं। वायु और मन में रूप आदि नहीं है। अतः पुद्गल में इनका अन्तर्भाव कैसे होगा ?

उत्तर :—वायु में भी रूप आदि चारों गुण पाये जाते हैं। वायु में नैयायिक के मत के अनुसार स्पर्श है ही और स्पर्श होने से रूपादि गुणों का भी मानना पड़ेगा। जहाँ स्पर्श है, वहां शेष गुण होना ही चाहिये। ऐसा भी कहना ठीक नहीं कि वायु में रूप है तो वायु का प्रत्यक्ष होना चाहिये, क्योंकि परमाणु में रूप होने पर भी उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। इसी प्रकार जल, अग्नि आदि में स्पर्श आदि चारों गुण पाये जाते हैं। चारों का परस्पर अविनाभाव है।

मन के दो भेद हैं—द्रव्यमन और भावमन। द्रव्यमन का पुद्गल में और भावमन का जीव में अन्तर्भाव होता है। द्रव्यमन रूपादि युक्त होने से पुद्गल द्रव्य का विकार है। द्रव्यमन ज्ञानोपयोग का कारण होने से रूपादि युक्त (मूर्त) है। शब्द भी पौद्गलिक होने से मूर्त ही है, अतः नैयायिक का ऐसा कहना कि जिस प्रकार शब्द अमूर्त होकर ज्ञानोपयोग में कारण होता है, उसी प्रकार द्रव्यमन भी अमूर्त होकर ज्ञानोपयोग में कारण हो जायेगा, यह ठीक नहीं है।

प्रत्येक द्रव्य के पृथक्-पृथक् परमाणु मानना भी ठीक नहीं है। जल के परमाणु पृथ्वी रूप भी हो सकते हैं और पृथ्वी के परमाणु जलरूप भी। जिस प्रकार वायु आदि का पुद्गल में अन्तर्भाव हो जाता है, उसी प्रकार दिशा का आकाश में अन्तर्भाव हो जाता है; क्योंकि सूर्य के उदयादि की अपेक्षा आकाश के प्रदेशों की पंक्ति में पूर्व आदि दिशा का व्यवहार किया जाता है।

ये द्रव्य नित्य किस प्रकार हैं ?—

नित्यावस्थितान्यरूपाणि ॥५॥

जीव आदि सभी द्रव्य नित्य, अवस्थित और अरूपी हैं। ये द्रव्य कभी नष्ट नहीं होते हैं, इसलिये नित्य हैं। इनकी संख्या सदा छह ही रहती है अथवा ये कभी भी

अपने-अपने प्रदेशों को नहीं छोड़ते हैं, इसलिये अवस्थित हैं। द्रव्यों में नित्यत्व, और अवस्थित व द्रव्य नय की अपेक्षा से है। इन द्रव्यों में रूप, रस आदि नहीं पाये जाते, इसलिये अरूपी हैं।

पुद्गल का स्वरूप—

रूपिणः पुद्गलाः ॥१२४४॥

पुद्गल द्रव्य में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श पाये जाते हैं। इसलिये पुद्गल द्रव्य रूपी है। जिसमें पूरण और गलन हो वह पुद्गल है। पुद्गल के परमाणु, स्कन्ध आदि अनेक भेद हैं, इसलिये सूत्र में बहुवचन का प्रयोग किया है।

ये तीन द्रव्य किस प्रकार के हैं ?

आ आकाशादेक द्रव्याणि ॥

आकाश पर्यन्त अर्थात् धर्म और आकाश—ये तीन द्रव्य एक-एक हैं। जीव या पुद्गल की तरह अनेक नहीं हैं।

प्रश्न :—'आ आकाशादेकैकम्' ऐसे लघुसूत्र से ही काम चल जाता, फिर व्यर्थ ही द्रव्य शब्द का ग्रहण क्यों किया ?

उत्तर :—उक्त द्रव्य, द्रव्य की अपेक्षा एक-एक हैं, लेकिन क्षेत्र और भाव की अपेक्षा असंख्यात और अनन्त भी हैं, इस बात को बतलाने के लिये सूत्र में द्रव्य शब्द का ग्रहण आवश्यक है।

ये द्रव्य निष्क्रिय किस प्रकार हैं ?

निष्क्रियाणि च ॥११४५॥

धर्म, अधर्म और आकाश ये द्रव्य निष्क्रिय भी हैं। एक स्थान से दूसरे स्थान में जाने को क्रिया कहते हैं। इस प्रकार की क्रिया इन द्रव्यों में नहीं पाई जाती, इसलिये ये निष्क्रिय हैं।

प्रश्न :—यदि धर्म आदि द्रव्य निष्क्रिय हैं, तो इनको उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि उत्पत्ति क्रियापूर्वक होती है। उत्पत्ति के अभाव में विनाश भी संभव नहीं है। अतः धर्म आदि द्रव्यों को उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य युक्त कहना ठीक नहीं है ?

उत्तर :—यद्यपि धर्म आदि द्रव्यों में क्रिया निमित्तक उत्पाद नहीं है, फिर भी इनमें दूसरे प्रकार का उत्पाद पाया जाता है।

स्वनिमित्त और परनिमित्त के भेद से दो प्रकार का उत्पाद धर्म आदि द्रव्यों में होता रहता है। इन द्रव्यों के अनन्त अगुरुलघु गुणों में छह प्रकार की वृद्धि और छह प्रकार की हानि स्वभाव से ही होती रहती है, यही स्वनिमित्तक उत्पाद और व्यय है। मनुष्य आदि की गति, स्थिति और अवकाशदान में हेतु होने के कारण धर्म आदि द्रव्यों में पर प्रत्ययापेक्ष उत्पाद और विनाश भी होता रहता है। क्योंकि क्षण-क्षण में गति आदि के विषय भिन्न-भिन्न होते हैं और विषय भिन्न होने से उसके कारण को भी भिन्न होना चाहिये।

प्रश्न :—क्रिया सहित जलादि ही मछली आदि की गति आदि में निमित्त होते हैं। धर्म आदि निष्क्रिय द्रव्य जीवादि की गति आदि में हेतु कैसे हो सकते हैं ?

उत्तर :—ये द्रव्य केवल जीवादि की गति आदि में सहायक होते हैं, प्रेरक नहीं। जैसे चक्षु रूप के देखने में निमित्त होता है, लेकिन जो नहीं देखना चाहता उसको देखने की प्रेरणा नहीं करता। इसलिये धर्म आदि द्रव्यों को निष्क्रिय होने पर भी जीवादि की गति आदि में हेतु होने में कोई विरोध नहीं है।

जीव और पुद्गल को छोड़कर शेष चार द्रव्य निष्क्रिय हैं।

द्रव्यों के प्रदेशों की संख्या कितनी हैं—

असंख्येया: प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम् ॥१२४६॥

धर्म, अधर्म और एक जीव के असंख्यात प्रदेश होते हैं। आकाश के जितने प्रदेश में एक पुद्गल परमाणु रह सकता है, उतने आकाशदेश को प्रदेश कहते हैं। असंख्यात के तीन भेद हैं—जघन्य, उत्कृष्ट और अजघन्योत्कृष्ट। इनमें से यहां अजघन्योत्कृष्ट लिया गया है। धर्म और अधर्म द्रव्य पूरे लोकाकाश में व्याप्त हैं। एक जीव लोकाकाश प्रमाण प्रदेश वाला होने पर भी प्रदेशों में संकोच और विस्तार की अपेक्षा स्वकर्मानुसार प्राप्त शरीर प्रमाण ही रहता है। लोक पूरण समुद्घात के समय जीव पूरे लोकाकाश में व्याप्त हो जाता है। जिस समय जीव लोक पूरण समुद्घात करता है, उस समय मेरु के नीचे चित्र वज्र पटल के मध्य में जीव के आठ मध्य प्रदेश रहते हैं और शेष प्रदेश पूरे लोकाकाश में व्याप्त हो जाते हैं। दण्ड, कपाट, प्रतर और लोक पूरण की अपेक्षा चार समय प्रदेशों के विस्तार में और चार समय संकोच में इस प्रकार लोक पूरण समुद्घात करने में आठ समय लगते हैं।

आकाशस्यानन्ताः ।।१२४७।।

आकाश द्रव्य के अनन्त प्रदेश हैं, पर लोकाकाश के असंख्यात ही प्रदेश हैं।

संख्येयासंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ।।

पुद्गल द्रव्य के संख्यात और अनन्त प्रदेश हैं। सूत्र में 'च' शब्द से अनन्त का ग्रहण किया गया है। अनन्त के तीन भेद हैं-परीतान्त, युक्तानन्त, और अनन्तान्त। यहां तीनों अनन्तों का ग्रहण किया गया है। किसी द्वयणुक आदि पुद्गल के संख्यात प्रदेश होते हैं। दो अणु से अधिक और डेढ़ सौ अंक प्रमाण पर्यन्त पुद्गल परमाणुओं के समूह को संख्यात प्रदेशी स्कंध कहते हैं। लोकाकाश के प्रदेश प्रमाण परमाणुओं वाला स्कंध असंख्यात प्रदेशी होता है। इसी प्रकार कोई स्कंध असंख्यात संख्यात प्रदेश वाला, कोई परीतान्त प्रदेश वाला, कोई युक्तानन्त प्रदेश वाला और कोई अनन्तानन्त प्रदेश वाला भी होता है।

प्रश्न :—लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश हैं, फिर वह अनन्त और अनन्तानन्त प्रदेश वाले पुद्गल द्रव्य का आधार कैसे हो सकता है ?

उत्तर :—पुद्गल परमाणुओं में सूक्ष्म परिणमन होने से और अव्याहत अवगाहन शक्ति होने से आकाश के एक प्रदेश में भी अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु रह सकते हैं।

नाणोः ।।१२४८।।

परमाणु के दो आदि प्रदेश नहीं होते हैं। परमाणु एक प्रदेशी ही होता है। पुद्गल के सबसे छोटे हिस्से का नाम परमाणु है। अतः परमाणु के भेद या प्रदेश नहीं हो सकते। परमाणु से छोटा और आकाश से बड़ा कोई नहीं है। अतः परमाणु के प्रदेशों में भेद नहीं डाला जा सकता।

द्रव्यों के रहने का स्थान—

लोकाकाशेऽवगाहः ।।१२४९।।

जीव आदि द्रव्यों का अवगाह (स्थान) लोकाकाश में है। लोकाकाश आधार और जीवादि द्रव्य आधेय हैं। लेकिन लोकाकाश का अन्य कोई आधार नहीं है, वह अपने ही आधार से है।

प्रश्न :—जैसा लोकाकाश का कोई दूसरा आधार नहीं है, उसी प्रकार धर्मादि द्रव्यों का भी दूसरा आधार नहीं होना चाहिये अथवा

धर्मादि के आधार की तरह आकाश का भी दूसरा आधार होना चाहिए ?

उत्तर :—आकाश से अधिक परिमाण वाला अर्थात् बड़ा दूसरा कोई द्रव्य नहीं है, जो आकाश का आधार हो सके। अतः आकाश किसी का आधेय नहीं हो सकता। आकाश भी व्यवहार नय की अपेक्षा धर्मादि द्रव्यों का आधार माना गया है। निश्चय नय से तो सब द्रव्य अपने-अपने आधार से है। आकाश और अन्य द्रव्यों में आधार-आधेय सम्बन्ध का तात्पर्य यही है कि आकाश से बाहर अन्य द्रव्य नहीं है। एवम्भूतनय की अपेक्षा से तो सभी द्रव्य स्वप्रतिष्ठित ही हैं। एवम्भूत अर्थात् निश्चयनय। परमात्म प्रकाश (१—५) में सिद्धों को स्वात्म निवासी ही बतलाया है।

प्रश्न :—**आधार और आधेय पूर्वापर काल भावी होते हैं। जैसे घड़ा पहले रखा हुआ है और उसमें बेर आदि पीछे रख दिये जाते हैं। आकाश और धर्मादि द्रव्य समकाल भावी हैं, इसलिए इनमें व्यवहारनय से भी आधार-आधेय सम्बन्ध नहीं बन सकता ?**

उत्तर :—कहीं-कहीं समकालभावी पदार्थों में भी आधार—आधेय सम्बन्ध पाया जाता है, जैसे घट और घटके रूपादिक में। इसी प्रकार समकाल भावी आकाश और धर्मादि द्रव्यों में उक्त सम्बन्ध है।

लोक और अलोक का विभाग धर्म और अधर्म द्रव्य के सद्भाव से होता है। यदि धर्म और अधर्म द्रव्य न होते तो जीव और पुद्गल की जहाँ कि धर्म और अधर्म द्रव्य हैं, वहां लोक और उसके बाहर अलोक गति और स्थिति के अभाव हो जाने से लोकालोक का विभाग भी न होता।

धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥१२५०॥

धर्म और अधर्म द्रव्य समस्त लोकाकाश में तिल में तेल की तरह व्याप्त हैं। इनमें अवगाहन शक्ति होने से परस्पर में व्याघात नहीं होता है।

प्रश्न :—**अलोकाकाश में अधर्म द्रव्य न होने से आकाश की स्थिति और काल द्रव्य न होने से आकाश में परिणमन कैसे होता है ?**

उत्तर :—जैसे जल के समीप स्थित, उष्ण लोहे का गोला, एक ओर से जल को खींचता है, लेकिन जल पूरे लोह पिण्ड में व्याप्त हो जाता है, उसी प्रकार लोक के अन्त भाग के निकट का अलोकाकाश अधर्म और काल द्रव्य का स्पर्श करता

है, और उस स्पर्श के कारण समस्त अलोकाकाश की स्थिति और उसमें परिवर्तन होता है।

एक प्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥१२५१॥

पुद्गल द्रव्य का अवगाह लोकाकाश के एक प्रदेश को आदि लेकर असंख्यात प्रदेशों में यथा योग्य होता है। आकाश के एक प्रदेश में एक परमाणु से लेकर असंख्यात और अनन्त परमाणुओं के स्कन्ध का अवगाह हो सकता है। इसी प्रकार आकाश के दो, तीन आदि प्रदेशों में भी पुद्गल द्रव्य का अवगाह होता है।

प्रश्न :—धर्म और अधर्म द्रव्य अमूर्त हैं, इसलिए इनके अवगाह में कोई विरोध नहीं है; लेकिन अनन्त प्रदेश वाले मूर्त पुद्गलस्कन्ध का असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश में अवगाह कैसे हो सकता है ?

उत्तर :—सूक्ष्म परिणमन और अवगाहन शक्ति होने से आकाश के एक प्रदेश में भी अनन्त परमाणु वाला पुद्गल स्कन्ध रह सकता है। जैसे एक कोठे में अनेक दीपकों का प्रकाश एक साथ रहता है। इस विषय में आगम भी प्रमाण है। प्रवचनसार में कहा है कि सूक्ष्म, बादर और नाना प्रकार के अनन्तानन्त पुद्गल स्कन्धों से यह लोक ठसाठस भरा है।

इस विषय में रुई की गांठ का दृष्टान्त भी उपयुक्त है। फैली हुई रुई अधिक क्षेत्र को घेरती है, जबकि गांठ बांधने पर अल्प क्षेत्र में आ जाती है।

असंख्येय भागादिषु जीवानाम् ॥१२५२॥

जीवों का अवगाह लोकाकोश के असंख्यातवें भाग से लेकर समस्त लोकाकाश में है। लोकाकाश के असंख्यात भागों में से एक, दो, तीन आदि भागों में एक जीव रहता है, और लोक पूरण समुद्घात के समय वही जीव समस्त लोकाकाश में व्याप्त हो जाता है।

प्रश्न :—यदि लोकाकाश के एक भाग में एक जीव रहता है, तो एक भाग में द्रव्य प्रमाण से शरीर युक्त अनन्तानन्त जीव राशि कैसे रह सकती है ?

उत्तर :—सूक्ष्म और बादर के भेद से जीवों का एक आदि भागों में अवगाह होता है। अनेक बादर जीव एक स्थान में नहीं रह सकते, क्योंकि वे परस्पर में प्रतिघात (बाधा) करते हैं। लेकिन परस्पर में प्रतिघात न करने के कारण एक

निगोद जीव के शरीर में अनन्तानन्त सूक्ष्म जीव रहते हैं। बादर जीवों से भी सूक्ष्म जीवों का प्रतिघात नहीं होता है।

असंख्यात प्रदेशी जीव लोक के असंख्यातवें भाग में—

प्रदेश संहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ॥१२५३॥

दीपक के प्रकाश की तरह जीव प्रदेशों के संकोच और विस्तार की अपेक्षा लोक के असंख्यातवें आदि भागों में रहता है। दीपक को यदि खुले मैदान में रक्खा जाये तो उसका प्रकाश दूर तक होगा। उसी दीपक को कोठे में रखने से कम प्रकाश और घड़े में रखने से और भी कम प्रकाश होगा। इसी प्रकार जीव भी अनादि कार्मण शरीर के कारण छोटा और बड़ा शरीर धारण करता है और जीव के प्रदेश संकोच और विस्तार के द्वारा शरीर प्रमाण हो जाते हैं। लघु शरीर में प्रदेशों का संकोच और बड़े शरीर में प्रदेशों का विस्तार हो जाता है, लेकिन जीव वही होता है, जैसे जो हाथी और वही चींटी के शरीर में।

एक प्रदेश में स्थित होने के कारण यद्यपि धर्म आदि द्रव्य परस्पर में प्रवेश करते हैं, लेकिन अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते, इसलिए उनमें संकर या एकत्व दोष नहीं हो सकता। पञ्चास्तिकाय में कहा भी है कि—"ये द्रव्य परस्पर में प्रवेश करते हैं, एक दूसरे में मिलते हैं, परस्पर को अवकाश देते हैं, लेकिन अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते।"

धर्म और अधर्म द्रव्य का उपकार—

गति स्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः ॥१२५४॥

एक देश से देशान्तर में जाना गति है, ठहरना स्थिति है। जीव और पुद्गलों को गमन करने में सहायता देना धर्म द्रव्य का उपकार और जीव तथा पुद्गलों को ठहरने में सहायता देना अधर्म द्रव्य का उपकार है। यद्यपि उपकार दो हैं, लेकिन उपकार शब्द सामान्य वाची होने से सूत्र में एक वचन का ही प्रयोग किया है।

प्रश्न :—सूत्र में उपग्रह शब्द व्यर्थ है, क्योंकि उपकार शब्द से ही प्रयोजन सिद्ध हो जाता है, इसलिए 'गतिस्थितिधर्माधर्मयोरुपकारः' ऐसा सूत्र होना चाहिये ?

उत्तर :—यदि सूत्र में उपग्रह शब्द न हो, तो जिस प्रकार धर्म द्रव्य का

उपकार गति और अधर्म द्रव्य का उपकार स्थिति है, ऐसा क्रम से होता है, उसी प्रकार जीवों के गमन में सहायता करना धर्म द्रव्य का उपकार और पुद्गलों को ठहरने में सहायता देना अधर्म द्रव्य का उपकार है—ऐसा विपरीत अर्थ भी हो जाता। अतः इस भ्रम को दूर करने के लिए सूत्र में उपग्रह शब्द का होना आवश्यक है।

प्रश्न :—धर्म और अधर्म द्रव्य का जो उपकार बतलाया है, वह आकाश का ही उपकार है, क्योंकि आकाश में ही गति और स्थिति होती है ?

उत्तर :—आकाश द्रव्य का उपकार द्रव्यों को अवकाश देना है। इसलिए गति और स्थिति को आकाश का उपकार मानना ठीक नहीं है। एक द्रव्य के अनेक प्रयोजन मानकर; यदि धर्म और अधर्म द्रव्य का अस्तित्व स्वीकार न किया जाए, तो लोक और आलोक का विभाग नहीं हो सकेगा। इन्हीं दो द्रव्यों के कारण ही यह विभाग बनता है।

प्रश्न :—धर्म और अधर्म द्रव्य का प्रयोजन पृथ्वी, जल आदि से ही सिद्ध हो जाता है, इसलिये इनके मानने की कोई आवश्यकता नहीं है ?

उत्तर :—पृथ्वी, जल आदि गति और स्थिति के विशेष कारण हैं। लेकिन इनका कोई साधारण कारण भी होना चाहिये। इसलिये धर्म और अधर्म द्रव्य का मानना आवश्यक है, क्योंकि ये गति और स्थिति में सामान्यकारण होते हैं।

धर्म और अधर्म द्रव्य गति और स्थिति में प्रेरक नहीं होते, किन्तु सहायक मात्र होते हैं, अतः ये परस्पर गति और स्थिति का प्रतिबन्ध नहीं कर सकते।

प्रश्न :—धर्म और अधर्म द्रव्य की सत्ता नहीं है, क्योंकि इनकी उपलब्धि नहीं होती है ?

उत्तर :—ऐसा कोई नियम नहीं है कि जिस वस्तु की प्रत्यक्ष से उपलब्धि हो वही वस्तु सत् मानी जाय। सब मतावलम्बी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार के पदार्थों को मानते हैं। धर्म अधर्म द्रव्य अतीन्द्रिय होने से यद्यपि हम लोगों को प्रत्यक्ष नहीं होते हैं, लेकिन सर्वज्ञ तो इनको प्रत्यक्ष करते ही हैं। श्रुतज्ञान से भी धर्म अधर्म द्रव्य की उपलब्धि होती है।

आकाश का उपकार किस प्रकार है—

आकाशस्यावगाहः ॥१२५५॥

समस्त द्रव्यों को अवकाश देना,आकाश का उपकार है ।

प्रश्न :—क्रिया वाले जीव और पुद्गलों को आकाश देना तो ठीक है, लेकिन निष्क्रिय धर्मादि द्रव्यों को अवकाश देना तो संभव नहीं है ?

उत्तर :—यद्यपि धर्म आदि में अवगाहन क्रिया नहीं होती है, लेकिन उपचार से वे भी अवगाही कहे जाते हैं । धर्म आदि द्रव्य लोकाकाश में सर्वत्र व्याप्त हैं, इसलिये व्यवहार नय से इनका अवकाश मानना उचित ही है ।

प्रश्न :—यदि आकाश में अवकाश देने की शक्ति है, तो दीवाल में गाय आदि का और वज्र में पत्थर आदि का भी प्रवेश हो जाना चाहिये ?

उत्तर :—स्थूल होने के कारण उक्त पदार्थ परस्पर का प्रतिघात करते हैं । यह आकाश का दोष नहीं है, किन्तु उन्हीं पदार्थों का है । सूक्ष्म पदार्थ परस्पर में अवकाश देते हैं, इसलिये प्रतिघात नहीं होता । इससे यह भी नही समझना चाहिये कि अवकाश देना पदार्थों का काम है, आकाश का नहीं, क्योंकि सब पदार्थों को अवकाश देने वाला एक साधारणकारण आकाश मानना आवश्यक है ।

यद्यपि आलोकाकाश में अन्य द्रव्य न होने से आकाश का अवकाशदान लक्षण वहां नहीं बनता, लेकिन अवकाश देने का स्वभाव वहां भी रहता है, इसलिये अलोकाकाश अवकाश न देने पर भी आकाश ही है ।

पुद्गल द्रव्य का उपकार—

शरीरवाङ्मनः प्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥१२५६॥

शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वास ये पुद्गल द्रव्य के उपकार हैं ।

शरीर विशीर्ण होने वाले होते हैं, औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण ये पांच शरीर पुद्गल से बनते हैं । आत्मा के परिणामों के निमित्त से पुद्गल परमाणु कर्मरूप परिणत हो जाते हैं और कर्मों से औदारिक आदि शरीरों की उत्पत्ति होती है, इसलिये शरीर पौद्गलिक हैं ।

प्रश्न :—कार्मण शरीर अनाहारक होने से पौद्गलिक नहीं हो सकता ?

उत्तर :—यद्यपि कार्मण शरीर अनाहारक है, लेकिन उसका विपाक गुड कांटा आदि मूर्तिमान द्रव्य के सम्बन्ध होने पर होता है इसलिये कार्मण शरीर भी पौद्गलिक ही है ।

वचन के दो भेद हैं—द्रव्य वचन और भाव वचन । वीर्यान्तिराय, मति और श्रुत ज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर और अंगोपांग नाम कर्म के उदय होने पर भाव वचन होते हैं, इसलिये पुद्गल के आश्रित होने से पौद्गलिक हैं । भाव वचन की सामर्थ्य से युक्त आत्मा के द्वारा प्रेरित होकर जो पुद्गल परमाणु वचन रूप से परिणत होते हैं ,वे द्रव्य वचन हैं । द्रव्य वचन श्रोत्रेन्द्रिय के विषय होते हैं ।

प्रश्न :—वचन अमूर्त हैं, अतः उनको पौद्गलिक कहना ठीक नहीं है ?

उत्तर :—वचन अमूर्त नहीं हैं किन्तु मूर्त हैं, और इसीलिये पौद्गलिक भी हैं। शब्दों का मूर्तिमान् द्रव्यकर्ण के द्वारा ग्रहण होता है, दीवाल आदि मूर्तिमान् द्रव्य के द्वारा शब्द का अवरोध देखा जाता है, तीव्र भेरी आदि के शब्दों के द्वारा मन्द मच्छर आदि के शब्दों का व्याघात होता है, मूर्त वायु के द्वारा भी शब्द का व्याघात होता है। विपरीत वायु चलने से शब्द अपने अनुकूल देश में नहीं पहुँच पाता, इन सब कारणों से शब्द में मूर्तत्व सिद्ध होता है । मूर्त द्रव्य के द्वारा ग्रहण, अवरोध, अभिभव आदि अमूर्त वस्तु में नहीं हो सकते ।

मन के भी दो भेद हैं—द्रव्यमन और भावमन । ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय के क्षयोपशम होने पर अंगोपांग नामकर्म का उदय होने पर गुण और दोषों के विचार करने में समर्थ आत्मा के उपकारक जो पुद्गल मन रूप से परिणत होते हैं, वे द्रव्यमन हैं । भावमन लब्धि और उपभोग रूप होता है और द्रव्यमन के आश्रित होने से पौद्गलिक है ।

प्रश्न :—मन अणुमात्र और रूपादि गुणों से रहित एक भिन्न द्रव्य है । उसको पौद्गलिक कहना ठीक नहीं है ?

उत्तर :—यदि मन अणुमात्र है, तो इन्द्रिय और आत्मा से उसका सम्बन्ध है या नहीं ? यदि सम्बन्ध नहीं है; तो वह आत्मा का उपकारक नहीं हो सकता । और आत्मा के साथ मन का सम्बन्ध है, तो एक देश में ही सम्बन्ध हो सकेगा, तब अन्य देशों में वह उपकारक नहीं हो सकेगा । अदृष्ट के कारण अलातचक्र की तरह मन का आत्मा के सब प्रदेशों में परिभ्रमण मानना भी ठीक नहीं है; क्योंकि आत्मा अदृष्ट नैयायिक मत के अनुसार स्वयं क्रिया रहित है, अतः वह मन की क्रिया में भी कारण नहीं हो सकता । क्रियावान् वायु आदि के गुण ही अन्यत्र क्रिया हेतु हो सकते हैं ।

ज्ञानावरण और वीर्यान्तिराय के क्षयोपशम होने पर और अंगोपांग नामकर्म के उदय होने पर शरीर के भीतर से जो वायु बाहर निकलती है, उसको प्राण और जो वायु बाहर से शरीर के भीतर जाती है, उसको अपान कहते हैं।

मन और प्राणापान का भी मूर्त द्रव्य से प्रतिघात आदि देखा जाता है; इसलिये ये भी मूर्त हैं। बिजली के गिरने से मन का प्रतिघात और मदिरा आदि से अभिभव देखा जाता है। हाथ आदि से मुख को बन्द कर देने पर प्राणापान का प्रतिघात और गले में कफ अटक जाने पर श्वासोच्छ्वास का अभिभव भी देखा जाता है।

प्राणापान क्रिया के द्वारा जीव का अस्तित्व सिद्ध होता है। शरीर में जो श्वासोच्छ्वास क्रिया होती है, उसका कोई कर्त्ता अवश्य होना चाहिये, क्योंकि कर्त्ता के बिना क्रिया नहीं हो सकती और जो श्वासोच्छ्वास क्रिया का कर्त्ता है, वही जीव है।

उक्त शरीर आदि पुद्गल के उपकार जीव के प्रति कैसे हैं—

सुख दुःख जीवित मरणोपग्रहाश्च ॥१२५७॥

सुख, दुःख, जीवित और मरण ये भी जीव के प्रति पुद्गल के उपकार हैं। साता वेदनीय के उदय से सुख और असाता वेदनीय के उदय से दुःख होता है। आयु कर्म के उदय से जीवन और आयु कर्म के विनाश से मरण होता है। ये सुख आदि मूर्त कारण के होने पर होते हैं, इसलिये ये पौद्गलिक हैं।

सूत्रगत उपग्रह शब्द इस बात को सूचित करता है कि पुद्गल का पुद्गल के प्रति भी उपकार होता है। जैसे काँसे का बर्तन भस्म से साफ हो जाता है, मैला जल फिटकरी आदी से स्वच्छ हो जाता है और गरम लोहा जल से ठंडा हो जाता है। सूत्रगत 'च' शब्द यह सूचित करता है कि इन्द्रिय आदि अन्य भी पुद्गल के उपकार हैं।

जीव का उपकार क्या है—

परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥१२५८॥

जीव परस्पर उपकार करते हैं, जैसे पिता-पुत्र, स्वामी-सेवक और गुरु-शिष्य आदि। स्वामी धनादि के द्वारा, सेवक अनुकूल कार्य के द्वारा स्वामी का उपकार करता है। गुरु शिष्य को विद्या देता है तो शिष्य शुश्रूषा आदि से गुरु को प्रसन्न रखता है। सूत्रगत उपग्रह शब्द सूचित करता है कि सुख, दुःख, जीवित और मरण द्वारा भी जीव परस्पर उपकार करते हैं।

काल का उपकार—

वर्तना परिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य ॥१२५६॥

वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व, अपरत्व ये काल द्रव्य के उपकार हैं। कहीं 'वर्तना परिणामः क्रिया' इन तीनों पदों में स्वतन्त्र विभक्तियां भी देखी जाती हैं। कहीं 'वर्तना परिणाम क्रियाः' ऐसा समस्त पद उपलब्ध होता है। सब पदार्थों में स्वभाव से ही प्रतिसमय परिवर्तन होता रहता है, लेकिन उस परिवर्तन में जो बाह्य कारण है, वह परमाणुरूप काल द्रव्य है। काल द्रव्य के निमित्त से होने वाले परिवर्तन का नाम वर्तना है। वर्तना से काल द्रव्य का अस्तित्व सिद्ध होता है। चावलों को बर्तन में अग्नि पर रखने के कुछ समय बाद ओदन (भात) बन जाता है। चावलों से जो ओदन बना वह एक समय में और एक साथ ही नहीं बना, किन्तु चावलों में प्रत्येक समय सूक्ष्म परिणमन होते-होते अन्त में स्थूल परिणाम दृष्टिगोचर होता है। यदि प्रति समय सूक्ष्म परिणमन न होता तो स्थूल परिणमन भी नहीं हो सकता था। अतः चावलों में जो प्रति समय परिवर्तन हुआ वह काल रूप बाह्य कारण की अपेक्षा से ही हुआ। इसी प्रकार सब पदर्थों में परिणमन काल द्रव्य के कारण ही होता है। काल द्रव्य निष्क्रिय होकर भी निमित्त मात्र से सब द्रव्यों की वर्तना (क्रिया) में हेतु होता है।

एक पर्याय की निवृत्ति होकर दूसरे पर्याय की उत्पत्ति होने का नाम परिणाम है। जीव के परिणाम क्रोध, मन, माया, लोभादि हैं। पुद्गल का परिणाम वर्णादि हैं। धर्म, अधर्म और आकाश का परिणाम अगुरुलघु गुणों की वृद्धिहानि से होता है।

हलन-चलन का नाम क्रिया है। क्रिया के दो भेद हैं—प्रायोगिकी और वैस्त्रसिकी। शकट (गाड़ी) आदि में क्रिया दूसरों के द्वारा होती है। इसको प्रायोगिकी क्रिया कहते हैं। मेघ आदि में क्रिया स्वभाव से ही होती है। इसको वैस्त्रसिकी क्रिया कहते हैं।

छोटे और बड़े के व्यवहार को परत्वापरत्व कहते हैं। क्षेत्र और काल की अपेक्षा से परत्वापरत्व व्यवहार होता है, लेकिन यहाँ काल का प्रकरण होने से काल-कृत परत्वापरत्व का ही ग्रहण किया गया है। कालकृत परत्वापरत्व से समीप देशवर्ती और व्रतादि गुणों से रहित वृद्ध चाण्डाल को बड़ा और दूर देशवर्ती व्रतादि गुणों से सम्पन्न ब्राह्मण बालक को छोटा कहते हैं।

परिणाम, क्रिया परत्वापरत्व, आवली, घड़ी, घण्टा, दिन आदि का कारण व्यवहार काल है। सूर्यादि की क्रिया से जो समय, आवली आदि का व्यवहार होता है, वह व्यवहार कालकृत है। एक पुद्गल परमाणु को आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश तक जाने में जो काल लगता है, उसका नाम समय है और उस समय का कारण मुख्य काल है। व्यवहार में भूत, भविष्यत् आदि व्यवहार मुख्यतया होते हैं।

यद्यपि परिणाम आदि वर्तना के ही विशेष या भेद हैं, लेकिन काल द्रव्य के मुख्य और व्यवहार ये दो भेद बतलाने के लिए सबका ग्रहण किया गया है। मुख्य काल वर्तना रूप है और व्यवहार काल परिणाम, क्रिया और परत्वापरत्व रूप है।

पुद्गल का स्वरूप—

स्पर्शरस गंध वर्णवन्तः पुद्गलाः ॥१२६०॥

पुद्गल में स्पर्श, रस, गंध और वर्ण ये चार गुण पाये जाते हैं। कोमल, कठोर, हलका, भारी, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष ये स्पर्श के आठ भेद हैं। खट्टा, मीठा, कड़ुवा, कषायला और चिरपरा ये रस के पांच भेद हैं, लवण रस का भी रसों में ही अन्तर्भाव है। सुगन्ध और दुर्गन्ध ये गंध दो भेद हैं। काला, नीला, पीला, लाल और सफेद ये वर्ण के पांच भेद हैं। इनके भी संख्यात, असंख्यात और अनन्त उत्तर भेद होते हैं। जिन अग्नि आदि में रस आदि प्रकट नहीं है, वहाँ स्पर्श की सत्ता द्वारा शेष का अनुमान कर लेना चाहिए।

यद्यपि 'रूपिणः पुद्गलाः' इस पूर्वोक्त सूत्र से ही पुद्गल के रूप रसादि वाले स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, लेकिन वह सूत्र पुद्गल को रूप रहित होने की आशंका के निवारण के लिए कहा गया था। 'नित्यावस्थितान्य रूपाणि' इस सूत्र से पुद्गल में भी अरूपित्व की आशंका थी। अतः यह सूत्र पुद्गल का पूर्ण स्वरूप बतलाने के लिये है, निरर्थक नहीं है।

पुद्गल की पर्यायें—

शब्द बन्ध सौक्ष्म्य स्थौल्य संस्थान भेद तमश्छाया तपोद्योत वन्तश्च ॥१२६१॥

पुद्गल द्रव्य में शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, संस्थान, भेद, छाया, तम, आपत और उद्योत रूप से परिणमन होता रहता है अर्थात् ये पुद्गल की पर्यायें हैं। शब्द के दो

दो भेद हैं—भाषारूप और अभाषारूप। भाषारूप शब्द के भी दो भेद हैं—अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक। अक्षरात्मक शब्द संस्कृत और असंस्कृत के भेद से आर्य और म्लेच्छों के व्यवहार का हेतु होते हैं। दो इंद्रिय, तीन इंद्रिय, चार इंद्रिय और पांच इंद्रिय जीवों में ज्ञानातिशय को प्रतिपादन करने वाला अनक्षरात्मक शब्द है। एकेंद्रियादि की अपेक्षा दो इन्द्रिय आदि में ज्ञानातिशय है। एकेंद्रिय में तो ज्ञानमात्र है। अतिशय ज्ञान वाले सर्वज्ञ के द्वारा एकेंद्रिय का स्वरूप बताया जाता है।

कई लोग सर्वज्ञ के शब्दों को अनक्षरात्मक कहते हैं, लेकिन उनका यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अनक्षरात्मक शब्द से अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। सब भाषात्मक शब्द पुरुषकृत होने से प्रायोगिक होते हैं।

अभाषात्मक शब्द के दो भेद हैं—प्रायोगिक और वैस्रसिक। प्रायोगिक के चार भेद हैं—तत, वितत, घन और सुषिर।

तत—चमड़े के तानने से पुष्कर, भेरी, दुन्दुभि आदि बाजों से उत्पन्न होने वाले शब्द को तत कहते हैं।

वितत—तन्त्री के कारण वीणा आदि से उत्पन्न होने वाला शब्द वितत है। किन्नरों के द्वारा कहा गया शब्द भी वितत है।

घन—घण्टा, ताल आदि से उत्पन्न होने वाला शब्द घन है।

सुषिर—बांस, शंख आदि से उत्पन्न होने वाला शब्द सुषिर है।

वैस्रसिक—मेघ, विद्युत् आदि से उत्पन्न होने वाला शब्द वैस्रसिक है।

बन्ध के दो भेद हैं—प्रायोगिक और वैस्रसिक। पुरुषकृत बन्ध को प्रायोगिक कहते हैं। इसके दो भेद हैं—अजीवविषयक और जीवाजीवविषयक। लाख और काष्ठ आदि का सम्बन्ध अजीव विषयक प्रायोगिक बन्ध है। जीव के साथ कर्म और नोकर्म का बन्ध जीवाजीवविषयक प्रायोगिक बन्ध है। पुरुष की अपेक्षा के बिना स्वभाव से ही होने वाले बन्ध को वैस्रसिक बन्ध कहते हैं। रुक्ष और स्निग्ध गुण के निमित्त से विद्युत, जलधारा, अग्नि, इन्द्रधनुष आदि का बन्ध वैस्रसिक है।

सौक्ष्म्य के दो भेद हैं—अन्त्य और आपेक्षिक। परमाणुओं में अन्त्य सौक्ष्म्य है। बेल, आंवला, बेर आदि में आपेक्षिक सौक्ष्म्य है। बेल की अपेक्षा आंवला सूक्ष्म है और आंवले की अपेक्षा बेर सूक्ष्म है।

स्थौल्य के भी दो भेद हैं—अन्त्य और आपेक्षित। अन्त्य स्थौल्य संसार व्यापी महास्कन्ध में है। बेर, आंवला, बेल आदि में आपेक्षित स्थौल्य है। बेर की अपेक्षा आंवला स्थूल है और आंवले की अपेक्षा बेल स्थौल्य है।

संस्थान के दो भेद हैं—इत्थं लक्षण और अनित्थं लक्षण। जिस आकार का अमुक रूप में निरुपण किया जा सके वह इत्थं लक्षण संस्थान है। जैसे गोल, त्रिकोण, चतुष्कोण आदि। जिस आकार के विषय में कुछ कहा न जा सके वह अनित्थं लक्षण संस्थान है, जैसे मेघ, इन्द्रधनुष आदि का आकार अनेक प्रकार का होता है।

भेद छः प्रकार का है—उत्कर, चूर्ण, खण्ड, चूर्णिका और अणुचटन।

उत्कर—करोंत, कुल्हाड़ी आदि से लकड़ी आदि को काटना को उत्कर है।

चूर्ण—जौ, गेहूँ आदि को पीसकर सत्तु आदि बनाना चूर्ण है।

खण्ड—घट का फूट जाना खण्ड है।

चूर्णिका—उड़द, मूँग आदि को दलकर दाल बनाना चूर्णिका है।

प्रतर—मेघ पटलों का विघटन हो जाना प्रतर है।

अणुचटन—संतप्त लोहे के गोले को घन से कूटने पर जो आगे के कण निकलते है, वह अणुचटन है।

प्रकाश का विरोधी अन्धकार पुद्गल की पर्याय है।

प्रकाश और आवरण के निमित्त से छाया होती है। इसके दो भेद हैं—वर्णादिविकारात्मक और प्रतिबिम्बात्मक।

वर्णादिविकारात्मक छाया—गौरवर्ण को छोड़कर श्यामवर्ण रूप हो जाना वर्णादिविकरात्मक छाया है।

प्रतिबिम्बात्मक छाया—चन्द्र आदि का जल में जो प्रतिबिम्ब होता है, वह प्रतिबिम्बात्मक छाया है।

आतप—सूर्य, वह्नि आदि में रहने वाली उष्णता और प्रकाश का नाम आतप है।

उद्योत—चन्द्रमा, मणि, खद्योत (जुगनू) आदि से होने वाले प्रकाश को उद्योत कहते हैं।

उक्त शब्दादि दश पुद्गल द्रव्य के विकारी पर्यायें हैं। सूत्र में 'च' शब्द से अभिघात, नोदन आदि अन्य भी पुद्गल द्रव्य के विकारों का ग्रहण कर लेना चाहिये।

पुद्गल के भेद—

अणवः स्कन्धाश्च ॥१२६२॥

पुद्गल द्रव्य के दो भेद हैं—अणु और स्कन्ध। अणु का परिमाण आकाश के एक प्रदेश प्रमाण है। यद्यपि परमाणु प्रत्यक्ष नहीं है, लेकिन उसका स्कन्ध रूप कार्यों को देखकर अनुमान कर लिया जाता है।

परमाणुओं में दो अविरोधी स्पर्श, एक वर्ण, एक गन्ध और एक रस रहता है। ये स्वरूप की अपेक्षा से नित्य हैं, लेकिन स्पर्श आदि पर्यायों की अपेक्षा से अनित्य भी हैं। इनका परिमाण परिमण्डल (गोल) होता है। नियमानुसार परमाणु का स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—

"जिसका वही आदि, वही मध्य, वही अन्त हो, जो इन्द्रियों से नहीं जाना जा सके, ऐसे अविभागी द्रव्य को परमाणु कहते हैं।"

स्कन्ध—स्थूल होने के कारण जिसका ग्रहण, निक्षेपण आदि हो सके, ऐसे पुद्गल के परमाणुओं के समूह को स्कन्ध कहते हैं। ग्रहण आदि व्यापार की योग्यता न होने पर भी उपचार से द्वयणुक आदि को भी स्कन्ध कहते हैं।

यद्यपि पुद्गल के अनन्त भेद हैं, लेकिन अणुरूप जाति और स्कन्ध रूप जाति की अपेक्षा से दो भेद हो जाते हैं।

प्रश्न—जाति में एकवचन होता है, फिर सूत्र में बहुवचन का प्रयोग क्यों किया ?

उत्तर—अणु और स्कन्ध के अनेक भेद बतलाने के लिये बहुवचन का प्रयोग किया गया है।

यद्यपि 'अणु स्कन्धाश्च' इस प्रकार एकपद वाले सूत्र से ही काम चल जाता है। लेकिन पूर्व के दो सूत्रों में भेद बतलाने के लिए 'अणवः स्कन्धाश्च' इस प्रकार दो पद का सूत्र बनाना पड़ा। 'स्पर्श रस गन्ध वर्णवन्तः पुद्गलाः' इस सूत्र का सम्बन्ध केवल अणु से है अर्थात् परमाणुओं में स्पर्श, रस, गंध, वर्ण पाये जाते हैं। लेकिन स्कन्ध का सम्बन्ध 'स्पर्श रस' इत्यादि और 'शब्द बन्ध' इत्यादि दोनों सूत्रों से है। स्कन्ध स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण वाले होते हैं तथा शब्द, बन्ध आदि पर्यायवाले भी होते हैं।

इस सूत्र में 'च' शब्द समुच्चयार्थक है अर्थात् अणु ही पुद्गल नहीं हैं

किन्तु स्कन्ध भी पुद्गल हैं। निश्चयनय से परमाणु ही पुद्गल हैं और व्यवहार नय से स्कन्ध भी पुद्गल हैं।

स्कन्धों की उत्पत्ति का कारण—

भेदसङ्घातेभ्य उत्पद्यन्ते ॥१२६३॥

स्कन्धों की उत्पत्ति भेद, संघात और दोनों से ही होती है। भेद अर्थात् विदारण जुदा होना, संघात अर्थात् मिलना इकट्ठा होना।

दो अणुओं के मिल जाने से दो प्रदेश वाला स्कन्ध बन जाता है। दो प्रदेश वाले स्कन्ध के साथ एक अणु के मिल जाने से तीन प्रदेश वाला स्कन्ध हो जाता है। इस प्रकार संघात से संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश परिमाण स्कन्ध की उत्पत्ति होती है। भेद से भी स्कन्धों की उत्पत्ति होती है। संख्यात और अनन्त प्रदेश वाले स्कन्धों के भेद (टुकड़े) करने से द्विप्रदेश पर्यन्त अनेक स्कन्ध बन जायेंगे। इसी प्रकार भेद और संघात दोनों से भी स्कन्ध की उत्पत्ति होती है। कुछ परमाणुओं से भेद होने से, और कुछ परमाणुओं के साथ संघात होने से स्कन्ध की उत्पत्ति होती है।

अणु की उत्पत्ति का कारण—

भेदादणुः ॥१२६४॥

परमाणु की उत्पत्ति भेद से ही होती है—संघात और भेदसंघात से अणु की उत्पत्ति नहीं होती है। किसी स्कन्ध के परमाणु पर्यन्त भेद करने से परमाणु की की उत्पत्ति होती है।

दृश्य स्कन्ध की उत्पत्ति का कारण—

भेद संघाताभ्यां चाक्षुषः ॥१२६५॥

चाक्षुष अर्थात् चक्षु इन्द्रिय से देखने योग्य स्कन्धों की उत्पत्ति भेद और संघात से होती है, केवल भेद से नहीं। अनंत अणुओं का संघात होने पर भी कुछ स्कंध चाक्षुष होते हैं। और कुछ अचाक्षुष। जो अचाक्षुष स्कंध है, उसका भेद हो जाने पर भी सूक्ष्म परिमाण बने रहने के कारण वह चाक्षुष नहीं हो सकता। लेकिन यदि उस सूक्ष्म स्कंध का भेद होकर अर्थात् सूक्ष्मत्व का विनाश होकर अन्य किसी चाक्षुष स्कंध के साथ सम्बंध हो जाय तो वह चाक्षुष हो जायेगा। इस प्रकार चाक्षुष स्कंध की उत्पत्ति भेद और संघात दोनों से होती हैं।

द्रव्य का लक्षण—

सद् द्रव्य लक्षणम् ॥१२६५॥

द्रव्य का लक्षण सत् है, अर्थात् जिसका अस्तित्व अथवा सत्ता हो, वह द्रव्य है ।

सत् का स्वरूप—

उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तं सत् ॥१२६६॥

जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सहित हो, वह सत् है । अपने मूल स्वभाव को न छोड़कर नवीन पर्याय की उत्पत्ति को उत्पाद कहते हैं । जैसे मिट्टी के पिण्ड से घट पर्याय का होना । पूर्व पर्याय का नाश हो जाना व्यय है । जैसे घट की उत्पत्ति होने पर मिट्टी के पिण्ड का विनाश व्यय है । ध्रौव्य, द्रव्य के उस स्वभाव का नाम है जो द्रव्य की सभी पर्यायों में रहता है और जिसका कभी विनाश नहीं होता । जैसे – मिट्टी । पर्यायों का उत्पाद-विनाश होने पर भी द्रव्य स्वभाव का अन्वय बना रहता है ।

प्रश्न :—भेद होने पर युक्त शब्द का प्रयोग देखा जाता है । जैसे – देवदत्त दण्ड से युक्त है । इसी तरह यदि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य और द्रव्य में भेद है; तो दोनों का अभाव हो जायगा, क्योंकि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के बिना द्रव्य की सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती और द्रव्य के अभाव में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य भी संभव नहीं है ?

उत्तर :—उत्पाद आदि और द्रव्य में अभेद होने पर भी कथञ्चिद् भेद नय की अपेक्षा से युक्त शब्द का प्रयोग किया जाता है । यह खम्भा सार युक्त है, ऐसा व्यवहार अभेद में भी देखा जाता है । द्रव्य लक्ष्य है और उत्पाद आदि लक्षण हैं । अतः लक्ष्यलक्षण भाव को दृष्टि में रखने पर पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से द्रव्य और उत्पाद आदि में भेद है, लेकिन द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से उनमें अभेद है । अथवा यहां युक्त शब्द योगार्थक युज् धातु से नहीं बना है, किन्तु युक्त शब्द समाधि (एकता) वाचक है । अतः जो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक हो, उसका नाम द्रव्य है । तात्पर्य यह है कि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य एतत्त्रयात्मक ही द्रव्य है, दोनों का पृथक् अस्तित्व नहीं है । पर एक अंश है और दूसरा अंशी, एक पर्याएँ है तो दूसरा अन्वयी द्रव्य, एक लक्षण है, तो दूसरा लक्ष्य इत्यादि भेद दृष्टि उनमें भेद है ।

नित्य का लक्षण—

तद्भावाव्ययं नित्यम् ॥१२६७॥

उस भाव या स्वरूप के प्रत्यभिज्ञान का जो हेतु होता है, वह अनुस्यूत अंश नित्यत्व है। यह वही है, इस प्रकार के ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान बिना हेतु के नहीं हो सकता। अतः तद्भाव प्रत्यभिज्ञान का हेतु है। किसी ने पहिले देवदत्त को बाल्यावस्था में देखा था। जब वह उसे वृद्धावस्था में देखता है और पूर्व का स्मरण कर सोचता है कि – यह तो वही देवदत्त है। इससे ज्ञात होता है कि देवदत्त में एक ऐसा तद्भाव (स्वभाव विशेष) है जो बाल्य और वृद्ध दोनों अवस्थाओं में अन्वित रहता है। यदि द्रव्य का अत्यन्त विनाश हो जाय और सर्वथा नूतन पर्याय की उत्पत्ति हो तो स्मरण का अभाव हो जायगा और स्मरणाभाव होने से लोक व्यवहार की भी निवृत्ति हो जायगी। द्रव्य में नित्यत्व द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से ही है, सर्वथा नहीं। यदि द्रव्य सर्वथा नित्य हो तो आत्मा में संसार की निवृत्ति के लिए की जाने वाली दीक्षा आदि क्रियाएँ निरर्थक हो जायेंगी। और आत्मा की मुक्ति भी नहीं हो सकेगी।

अर्पितानर्पितसिद्धेः ॥१२६८॥

मुख्य या प्रधान और गौण या अप्रधान के विवक्षा भेद से एक ही द्रव्य में नित्यत्व अनित्यत्व आदि अनेक धर्म रहते हैं। वस्तु अनेक धर्मात्मक है। जिस समय जिस धर्म की विवक्षा होती है, उस समय वह धर्म प्रधान हो जाता है और अन्य धर्म गौण हो जाते हैं। एक ही मनुष्य पिता, पुत्र, भ्राता, चाचा आदि अनेक धर्मों को धारण करता है। वह अपने पुत्र की अपेक्षा पिता है, पिता की अपेक्षा पुत्र है, भाई की अपेक्षा भ्राता है। अतः अपेक्षा भेद से एक ही वस्तु में अनेक धर्म रहने में कोई विरोध नहीं है। द्रव्य सामान्य अन्वयी अंश से नित्य है तथा विशेष पर्याय की अपेक्षा अनित्य है। इसी तरह भेद-अभेद, अपेक्षित्व-अनपेक्षित्व, देव-पुरुषार्थ, पुण्य-पाप आदि अनेकों विरोधी-युगल वस्तु में स्थित हैं। वस्तुतः इन सभी धर्मों का अविरोधी आधार है।

परमाणुओं के बन्ध का कारण—

स्निग्धरुक्षत्वाद् बन्धः ॥१२६९॥

स्निग्ध और रुक्ष गुण के कारण परमाणुओं का परस्पर में बन्ध होता है।

स्निग्ध और रुक्ष वाले दो परमाणुओं के मिलने से द्वयणुक और तीन परमाणुओं के मिलने से त्र्यणुक की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार संख्यात, असंख्यात और अनन्त परमाणु वाले स्कन्धों की भी उत्पत्ति होती है। स्निग्ध और रुक्ष गुण के एक से लेकर अनन्त तक भेद होते हैं। जैसे जल, बकरी का दूध और घृत, गाय का दूध और घृत और ऊंटनी का दूध और घृत इनमें स्निग्ध गुण की उत्तरोत्तर अधिकता है। धूलि, रेत, पत्थर, वज्र आदि में रुक्ष गुण की उत्तरोत्तर अधिकता है। इसी प्रकार पुद्गल परमाणुओं में स्निग्ध और रुक्ष गुण का प्रकर्ष और अपकर्ष पाया जाता है।

न जघन्य गुणानाम् ॥१२७०॥

जघन्य गुण वाले परमाणुओं का बन्ध नहीं होता है। प्रत्येक परमाणुओं में स्निग्ध आदि के एक से लेकर अनन्त तक गुण रहते हैं। गुण उस अविभागी प्रतिच्छेद (शक्ति का अंश) का नाम है, जिसका दूसरा विभाग या विवेचन न किया जा सके। जिन परमाणुओं में स्निग्धता और रुक्षता का एक ही गुण का अंश रहता है, उनका परस्पर बन्ध नहीं हो सकता। गुण शब्द का प्रयोग गौण, अवयव, द्रव्य, उपकार, रूपादि, ज्ञानादि, विशेषण, भाग आदि अनेक अर्थों में होता है। वहाँ गुण शब्द भाग (अविभागी अंश) अर्थ में लिया गया है।

एक गुण वाले स्निग्ध परमाणु का एक, दो, तीन आदि अनन्त गुणवाले स्निग्ध या रुक्ष परमाणु के साथ बन्ध नहीं होगा। इसी प्रकार एक गुण वाले रुक्ष परमाणु का एक, दो तीन आदि अनन्त गुण वाले रुक्ष या स्निग्ध परमाणु के साथ बन्ध नहीं होगा। जघन्य गुण वाले स्निग्ध और रुक्ष परमाणुओं को छोड़कर अन्य स्निग्ध और रुक्ष परमाणुओं का परस्पर में बन्ध होता है।

गुणसाम्ये सदृशानाम् ॥१२७१॥

गुणों की समानता होने पर एक जाति वाले परमाणुओं का भी बन्ध नहीं होता है। अर्थात् दो गुण वाले स्निग्ध परमाणु का दो गुण वाले स्निग्ध या रुक्ष परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता है। और दो गुण वाले रुक्ष परमाणु का दो गुण वाले रुक्ष या स्निग्ध परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता है।

यद्यपि गुण की समानता होने पर सजातीय या विजातीय किसी प्रकार के परमाणुओं का बन्ध नहीं होता है और इस प्रकार सूत्र में सदृश शब्द निरर्थक हो जाता है, लेकिन सदृश शब्द इस बात को सूचित करता है कि गुणों की विषमता होने

पर समान जाति वाले परमाणुओं का भी बन्ध होता है, केवल विसदृश जाति वाले परमाणुओं का ही नहीं ।

बन्ध होने का अन्तिम निर्णय—

द्व्यधिकादिगुणानान्तु ॥१२७२॥

दो से अधिक गुण वाले परमाणुओं का बन्ध होता है । तु शब्द का प्रयोग पाद पूरण अवधारण, विशेषण और समुच्चय इन चार अर्थों में होता है, उनमें से यहाँ तु शब्द विशेषणार्थक है । पूर्व में जो बन्ध का निषेध किया गया है, उसका प्रतिषेध करके इस सूत्र में बन्ध का विधान किया गया है । दो गुण वाले स्निग्ध परमाणु का एक, दो और तीन गुण वाले स्निग्ध या रुक्ष परमाणु के साथ बन्ध नहीं होगा, किन्तु चार गुण वाले स्निग्ध या रुक्ष परमाणु के साथ बन्ध होगा । दो गुण वाले स्निग्ध परमाणु का पांच, छह आदि अनन्त गुण वाले स्निग्ध या रुक्ष परमाणु के साथ भी बन्ध नहीं होगा । तीन गुण वाले स्निग्ध परमाणु का पाँच गुण वाले स्निग्ध या रुक्ष परमाणु के साथ ही बन्ध होगा अन्य गुण वाले परमाणु के साथ नहीं । इसी प्रकार दो गुण वाले रुक्ष परमाणु का चार गुण वाले रुक्ष या स्निग्ध परमाणु के साथ ही बन्ध होगा और तीन गुण वाले रुक्ष परमाणु का पांच गुण वाले रुक्ष या स्निग्ध परमाणु के साथ ही बन्ध होगा, अन्य गुण वाले परमाणु के साथ नहीं । अतः दो गुण अधिक होने पर समान और असमान जाति वाले परमाणुओं का परस्पर में बन्ध होता है ।

बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च ॥१२७३॥

बन्ध में अधिक गुण वाले परमाणु कम गुण वाले परमाणुओं को अपने में परिणत कर लेते हैं । नूतन अवस्था को उत्पन्न कर देना पारिणामिकत्व है । जैसे गीला गुड़ अपने ऊपर गिरी हुई धूलि को गुड़रूप परिणत कर लेता है, उसी प्रकार चार गुण वाला परमाणु दो गुण वाले परमाणु को अपने रूप में परिणत कर लेता है, अर्थात् उन दोनों की पूर्व अवस्थाएँ नष्ट हो जाती हैं । एक तीसरी ही अवस्था उत्पन्न होती है । उनमें एकता हो जाती है । यही कारण है कि अधिक गुण वाले परमाणुओं का ही बन्ध होता है । समगुण वाले परमाणुओं का नहीं । यदि अधिक गुण परमाणुओं को पारिणामक न माना जाय तो बन्ध अवस्था में भी परमाणु सफेद और काले तन्तुओं से बने हुए कपड़े में तन्तुओं के समान पृथक् पृथक् ही रहेंगे, उनमें एकत्व

परिणमन न हो सकेगा। इसी प्रकार जल और सत्तू में परस्पर सम्बन्ध होने पर जल पारिणामक होता है।

इस प्रकार बन्ध होने पर ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि कर्मों की तीस कोड़ा-कोड़ी सागर की स्थिति भी बन जाती है, क्योंकि जीव के साथ पूर्व सम्बद्ध कार्मण द्रव्य स्निग्ध आदि गुणों से अधिक हैं।

द्रव्य का लक्षण—

गुण पर्ययवद् द्रव्यम् ॥१२७४॥

जो गुण और पर्याय वाला हो, वह द्रव्य है। गुण अन्वयी (नित्य) होते हैं। अर्थात् द्रव्य के साथ सदा रहते हैं, द्रव्य को कभी नहीं छोड़ते। गुणों के द्वारा ही एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य से भेद किया जाता है। यदि गुण न हों तो एक द्रव्य दूसरे द्रव्य-रूप भी हो जायेगा। जीव का ज्ञान गुण जीव को अन्य द्रव्यों से पृथक् करता है। इसी प्रकार पुद्गलादि द्रव्यों के रूपादि गुण भी उन द्रव्यों को अन्य द्रव्यों से पृथक् करते हैं।

पर्यायें व्यतिरेकी (अनित्य) होती हैं, अर्थात् द्रव्य के साथ सदा नहीं रहतीं बदलती रहती हैं। गुणों के विकार को ही पर्याय कहते हैं, जैसे -- जीव के ज्ञान गुण की घट ज्ञान, पट ज्ञान आदि पर्यायें। व्यवहार नय की अपेक्षा से पर्यायें द्रव्य से कथञ्चित् भिन्न हैं। यदि पर्यायें द्रव्य से सर्वथा अभिन्न हों, तो पर्यायों के नाश होने पर द्रव्य का भी नाश हो जायगा।

कहा है कि द्रव्य के विधान करने वाले को गुण कहते हैं। और द्रव्य के विकार को पर्याय कहते हैं। अनादि निधन द्रव्य में जल में तरंगों के समान प्रतिक्षण पर्यायें उत्पन्न और विनष्ट होती रहती हैं। द्रव्य में गुण और पर्यायें में सदा रहती है। गुण और पर्यायों के समूह का नाम ही द्रव्य है। गुण और पर्याय को छोड़कर द्रव्य कोई पृथक् वस्तु नहीं है।

काल द्रव्य का वर्णन—

कालश्च ॥१२७५॥

काल भी द्रव्य है, क्योंकि उसमें द्रव्य का लक्षण पाया जाता है। द्रव्य का लक्षण 'उत्पाद व्यय ध्रौव्ययुक्त और गुण पर्ययवद् द्रव्यम्' बतलाया है। काल में दोनों प्रकार का लक्षण पाया जाता है। स्वरूप की अपेक्षा नित्य रहने के कारण काल में

में स्वप्रत्यय ध्रौव्य है। उत्पाद और व्यय स्वप्रत्यय और पर प्रत्यय दोनों प्रकार से होते हैं। अगुरुलघु गुणों की हानि और वृद्धि की अपेक्षा काल में स्वप्रत्यय उत्पाद और व्यय होता रहता है। काल द्रव्यों के परिवर्तन में कारण होता है। अतः पर-प्रत्यय उत्पाद और व्यय भी काल में होते हैं।

काल में साधारण दोनों प्रकार के गुण रहते हैं। अचेतनत्व, अमूर्तत्व, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्व आदि काल के साधारण गुण हैं। द्रव्यों के परिवर्तन में हेतु होना काल का असाधारण गुण है। इसी प्रकार काल में पर्यायें भी उत्पन्न और विनष्ट होती रहती हैं। अतः जीवादि की तरह काल भी द्रव्य है।

प्रश्न :—काल द्रव्य को पृथक् क्यों कहा ? पहले "अजीवकाया धर्माधर्माकाश कालपुद्गलाः" ऐसा सूत्र बनाना चाहिये था। ऐसा करने से काल द्रव्य का पृथक् वर्णन न करना पड़ता ?

उत्तर :—यदि "अजीवकाया" इत्यादि सूत्र में काल द्रव्य को भी सम्मिलित कर देते तो धर्म आदि द्रव्यों की तरह काल भी काय हो जाता, लेकिन काल द्रव्य मुख्य और उपचार दोनों रूप से काय नहीं है।

पहिले "निष्क्रियाणि च" इस सूत्र में धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य को निष्क्रिय बतलाया है। इनके अतिरिक्त द्रव्य सक्रिय हैं। अतः पूर्व सूत्र में काल का वर्णन होने से काल भी सक्रिय द्रव्य हो जाता है और "आ आकाशदेकद्रव्यम्" इसके अनुसार काल भी एक द्रव्य हो जाये। लेकिन काल न तो सक्रिय है और न एक द्रव्य है। इन कारणों से काल द्रव्य का वर्णन पृथक् किया गया है।

काल द्रव्य अनेक हैं, इसका तात्पर्य यह है कि लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश-प्रदेश पर एक-एक कालाणु रत्नराशि के समान पृथक्-पृथक् स्थित है। लोकाकाश के प्रदेश असंख्यात होने से काल द्रव्य भी असंख्यात है। कालाणु अमूर्त और निष्क्रिय हैं, तथा सम्पूर्ण लोकाकाश में व्याप्त हैं।

व्यवहार काल का प्रमाण—

सोऽनन्तसमयः ॥१२७६॥

व्यवहार काल का प्रमाण अनन्त समय है। यद्यपि वर्तमान काल का प्रमाण एक समय ही है, किन्तु भूत और भविष्यत् काल की अपेक्षा से काल को अनन्त समय वाला कहा गया है।

अथवा यह सूत्र व्यवहार काल के प्रमाण को न बतलाकर मुख्यकाल के प्रमाण को ही बतलाता है। एक ही कालाणु अनन्त पर्यायों की वर्तना में हेतु होने के कारण उपचार से अनन्त समय वाला कहा जाता है। समय काल के उस छोटे से छोटे अंश को कहते हैं, जिसका बुद्धि के द्वारा विभाग न हो सके। मन्दगति से चलने वाले पुद्गल परमाणु को आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश तक चलने में जितना काल लगे, उतने काल को समय कहते हैं।

यहां समय शब्द से आवली, उच्छ्वास आदि का भी ग्रहण करना चाहिये। असंख्यात समयों की एक आवली होती है। संख्यात् आवलियों का एक उच्छ्वास होता है। सात उच्छ्वासों का एक थोव होता है और सात थोवों का एक लव होता है। साढ़े अड़तीस लवों की एक नाली होती है। दो नालियों का एक मुहूर्त होता है, और आवली से एक समय अधिक तथा मुहूर्त से एक समय कम अन्तर्मुहूर्त का काल है। इसी तरह माह, ऋतु, अयन, वर्ष, युग, पल्योपम आदि की गणना होती है।

द्रव्य का लक्षण —

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥१२७७॥

जो द्रव्य के आश्रित हों और स्वयं निर्गुण हों, उनको गुण कहते हैं।

निर्गुण विशेषण से द्वयणुक, त्र्यणुक आदि स्कन्धों की निवृत्ति हो जाती है। यदि 'द्रव्याश्रयागुणाः' ऐसा भी लक्षण कहते तो द्वयणुक आदि भी गुण हो जाते. क्योंकि ये अपने कारणभूत परमाणु द्रव्य के आश्रित हैं। लेकिन जब यह कह दिया गया कि जो गुण को निर्गुण भी होना चाहिये तो द्वयणुक आदि गुण नहीं हो सकते, क्योंकि निर्गुण नहीं है, किन्तु गुण सहित हैं।

यद्यपि घट संस्थान आदि पर्यायें भी द्रव्याश्रित और निर्गुण हैं, लेकिन वे गुण नहीं हो सकतीं, क्योंकि 'द्रव्याश्रया' का तात्पर्य यह है कि गुण को सदा द्रव्य के आश्रित रहना चाहिये। और पर्यायें कभी-कभी साथ रहती हैं, वे नष्ट और उत्पन्न होती रहती हैं, अतः पर्यायों को गुण नहीं कह सकते। नैयायिक गुणों को द्रव्य से पृथक् मानते हैं, लेकिन उनका ऐसा मानना ठीक नहीं है। यद्यपि संज्ञा, लक्षण आदि के भेद से द्रव्य और गुण में कथञ्चित भेद है, लेकिन द्रव्यात्मक और द्रव्य के परिणाम या पर्याय होने के कारण गुण द्रव्य से अभिन्न हैं।

पर्याय का वर्णन—

तद्भावः परिणामः ।।१२७८।।

धर्मादि द्रव्यों के अपने-अपने स्वरूप से परिणमन करने को पर्याय कहते हैं। धर्मादि द्रव्यों के स्वरूप को ही परिणाम कहते हैं। परिणाम के दो भेद हैं—सादि और अनादि। सामान्य से धर्मादि द्रव्यों का गत्युपग्रह आदि अनादि परिणाम है और वही परिणाम विशेष की अपेक्षा सादि है। तात्पर्य यह कि गुण और पर्याय दोनों ही द्रव्यों के परिणाम हैं।

❋ जीव-वर्णन ❋

श्रीमतस्त्रिजगन्नाथान् स्वर्मुक्ति श्री करान् सताम्।
वन्दे धर्माधिपान् पञ्च परमेष्ठिन उत्तमान् ।।१२७९।।

जो तीन जगत के नाथ हैं, सज्जन पुरुषों को स्वर्ग और मोक्ष लक्ष्मी प्रदान करने वाले हैं, तथा धर्म के अधिनायक हैं, ऐसे परमोत्कृष्ट पंचपरमेष्ठियों को मैं नमस्कार करता हूँ।

अब वक्ष्यमाण विषय की प्रतिज्ञा करते हैं :—

अथ यैः पूरितो लोकः क्वचित्क्वचित्त्रसाङ्गिभिः।
सर्वत्र स्थावरैः जीवैर्नानाभेदैश्च सूरिभिः ।।१२८०।।
आयुः कायाक्षसंस्थान जाति वेद कुलादिभिः।
तांस्त्रसान् स्थावरान् सर्वान् वक्ष्ये सतां दयाप्तसये ।।१२८१।।

यह लोक कहीं-कहीं त्रस जीवों से भरा हुआ है, किन्तु स्थावर जीवों से तो सर्वत्र भरा हुआ है, अतः सज्जन पुरुष दया पालन कर सकें, इसलिए मैं सर्व त्रस और स्थावर जीवों के नाना प्रकार के भेद-प्रभेद, आयु, काय, इन्द्रियां, संस्थान, जाति, वेद और कुल आदि का विवेचन करूँगा।

जीव के भेद और सिद्ध जीव का स्वरूप—

सिद्ध संसारि भेदाभ्यां स्युर्द्विधा जीवराशयः।
सिद्धा भेदादि निष्क्रान्ता अनन्ता ज्ञान मूर्तयः ।।१२८२।।

सम्पूर्ण जीव राशि सिद्ध और संसारी के भेद से दो प्रकार की है, जिसमें सिद्ध जीव भेद-प्रभेदों से रहित और अनन्त ज्ञान मूर्ति स्वरूप हैं।

संसारी जीव के भेद और स्थावर जीवों के प्रकार—

त्रस स्थावर भेदाभ्यां द्विधा संसारिणोऽङ्गिनः ।
पृथिव्यादि प्रकारैश्च पञ्चधा स्थावरा मताः ॥१२८३॥

त्रस और स्थावर के भेद से संसारी जीव दो प्रकार के हैं। उनमें स्थावर जीव पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति कायिक के भेद से पाँच प्रकार के हैं।

त्रस और स्थावर जीवों की पृथक्-पृथक् संख्या—

पृथ्व्यप्तेजोऽग्नि मरुन्नित्येतर काय मयात्मनाम् ।
सप्त सप्तैव लक्षाणि प्रत्येकं सन्ति जातयः ॥१२८४॥
जातयो दश लक्षाणि वनस्पति शरीरिणाम् ।
प्रत्येकं द्वित्रिलक्षाणि द्वित्रितुर्येन्द्रियात्मनाम् ॥१२८५॥
तिर्यग्नारकदेवानां प्रत्येकं स्युश्च जातयः ।
चतुर्लक्षाणि लक्षाणि चतुर्दशनृजातयः ॥१२८६॥
इत्थं चतुरशीतिश्च लक्षाणि जीवजातयः ।
अधुना विस्तरेणैषां काश्चिज्जातिं ब्रुवे पृथक् ॥१२८७॥

पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, नित्य निगोद और इतर निगोद, इन छह प्रकार के जीवों में से प्रत्येक की सात-सात लाख जातियाँ होती हैं। वनस्पति कायिक जीवों की दश लाख, द्वीन्द्रिय जीवों की दो लाख, त्रेन्द्रिय की दो लाख, चतुरिन्द्रिय की दो लाख, पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों की चार लाख, नारकियों की चार लाख, देवों की चार लाख, मनुष्यों की चौदह लाख जातियां होती हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण संसारी जीवों की कुल जातियां (७ ला.+७ ला.+७ ला.+७ ला.+७ ला. + ७ ला. + १० ला. + ६ ला. + ४ ला.+४ ला.+४ ला.+१४ ला.) =८४००००० अर्थात् चौरासी लाख जातियां (योनियाँ) होती है। अब इन जातियों में से कुछ जातियों का पृथक् पृथक् विस्तार पूर्वक कथन करते हैं।

पृथ्वी के चार भेद और उनके लक्षण—

पृथिवी पृथिवीकायः पृथिकायिकस्तथा ।
पृथिवीजीव इति ख्याता पृथ्वीभेदाश्चतुर्विधाः ॥१२८८॥
नागोपमर्दिता धूलिः पृथिवी प्रोच्यते बुधैः ।
निर्जीव इष्टिकादिश्च पृथिवी कायो मतः श्रुते ॥१२८९॥

सजीवा पृथिवी सर्वा पृथिवीकायिको भवेत् ।
विग्रहा ध्वान मापन्नोऽङ्गी पृथ्वि जीव उच्यते ।।१२९०।।

पृथ्वी के चार भेद कहे गये हैं, पृथ्वी, पृथ्वीकाय, पृथ्वीकायिक और पृथ्वी-जीव । विद्वानों के द्वारा मार्ग की उपमर्दित धूल को पृथ्वी कहते हैं । तथा आगम में निर्जीव ईंट आदि को पृथ्वीकाय, सम्पूर्ण सजीव पृथ्वी को पृथिवीकायिक, और पृथिवीकायिकों में जाते हुए, पृथ्वीकायिक नाम कर्म के उदय से युक्त विग्रहगति में स्थित जीव पृथिवी जीव कहा है ।

नोट—पृथ्वी और पृथ्वीकाय यद्यपि दोनों अचित्त हैं, तथापि पृथ्वी में पुनः जीव उत्पन्न हो सकता है, किन्तु पृथ्वीकाय में पुनः पृथ्वीजीव उत्पन्न नहीं हो सकता ।

जल, अग्नि और वायु के चार-चार भेद और लक्षण—

अप् तथैवाप् शरीरं चाऽप्कायिकोऽप्जीव इत्यपि ।
भेदाश्चत्वार आम्नाता जिनैरप्कायकात्मनाम् ।।१२९१।।
जल मान्दोलितं लोकैः संकर्दमं तथाप् भवेत् ।
उष्णोदकं च निर्जीव मन्यद्वापकाय उच्यते ।।१२९२।।
जल काय युतः प्राणी चाप् कायिको निगद्यते ।
अप्कायं नेतु मागच्छन् जीवोऽप्जीवो गतौ भवेत् ।।१२९३।।
पूर्वं तेजः कायस्तेजः कायिकस्तथा ।
तेजो जीव इमे भेदाश्चत्वारस्तेजसां मताः १२९४।।
भस्मनाच्छादितं तेजो मात्रं तेजः प्ररूप्यते ।
जीवोज्झितं च भस्मादि तेजः काय इहोच्यते ।।१२९५।।
तेजः कायमयो देही तेजः कायिक इष्यते ।
तेजोऽङ्गार्थं व्रजन्मार्गे तेजोजीव मतो बुधैः ।।१२९६।।
वायुश्च वायुकायोऽथ तृतीयो वायुकायिकः ।
वायुजीव इमे भेदाश्चत्वारो वायुदेहिनाम् ।।१२९७।।
रजः पुञ्जमयो वायुर्भ्रमान् वायुर्जिनैः स्मृतः ।
जीवातीतो मरुत्पुद्गलो वायुकाय ईरितः ।।१२९८।।
वायुः प्राणमयः प्राणी प्रोदितो वायुकायिकः ।
वाताङ्गार्थं व्रजन्मार्गेऽङ्गी वायुजीव उच्यते ।।१२९९।।

जिनेन्द्र भगवान ने जलकाय जीवों के जल, जलकाय, जलकायिक और जल जीव इस प्रकार चार भेद कहे हैं। लोगों के द्वारा आलोडित एवं कीचड़ रहित जलको जल कहते हैं। उष्ण निर्जीव जल को जलकाय, जलकाय युक्त जीव को जलकायिक तथा जलकाय में जन्म लेने के लिये जाते हुए विग्रहगति में स्थित जीव को जलजीव कहते हैं। पूर्ववत् तेजकाय जीवों के तेज, तेजकाय, तेजकायिक और तेज जीव इस प्रकार चार भेद कहे हैं। भस्म से आच्छादित अग्नि को अर्थात् किञ्चित उष्ण भस्म को तेज कहते हैं। जिसमें से जीव निकलकर चला गया है, उस भस्मादि को तेज काय कहते हैं। तेजकाय सहित जीव को तेजकायिक और तेजनाम कर्म से युक्त जो जीव विग्रहगति में स्थित हैं, उन्हें विद्वानों में तेज जीव कहा है। वायु जीवों के वायु, वायुकाय, वायुकायिक और वायु जीव इस प्रकार चार भेद होते हैं। धूल पुञ्ज से युक्त भ्रमण करती हुई वायु (आंधियों) को जिनेन्द्र देव ने वायु कहा है। जीव से रहित पंखे आदि की पौद्गलिक वायु देह को वायुकाय कहते हैं। प्राण युक्त वायु को वायुकायिक और वायुगति में आने वाले विग्रह गति में स्थित जीव को वायु जीव कहते हैं।

वनस्पति के चार भेद और उनके भिन्न-भिन्न लक्षण—

आद्यो वनस्पतिश्चाथ वनस्पति वपुस्ततः।
वनस्पत्यायिकः कायिको वनस्पतिजीववाक् ॥१३००॥
वनस्पत्या अमी भेदाश्चत्वारः कीर्तिता जिनैः।
अन्तर्जीवयुतो बाह्यत्यक्त जीवो वनस्पतिः ॥१३०१॥
वनस्पतिवपु स्मृतः छिन्नभिन्नं तृणादिकम्।
वनस्पत्यङ्ग युक्तोऽङ्गीस्याद्वनस्पतिकायिकः ॥१३०२॥
प्राक्शरीर परित्यागे वनस्पत्यङ्गसिद्धये।
प्राणान्तेऽङ्गी गतिं गच्छन् स्याद्वन् स्याद्वनस्पति जीववाक् ॥१३०३॥

वनस्पति, वनस्पतिकाय, वनस्पतिकायिक और वनस्पति जीव ऐसे वनस्पति के चार भेद जिनेन्द्र देव के द्वारा कहे गये हैं। अभ्यन्तर भाग जीव युक्त है और बाह्य भाग जीव रहित है, ऐसे वृक्ष आदि (कटे हुए हरे वृक्ष) को वनस्पति कहते हैं। छिन्न भिन्न किये हुए तृणादिक को वनस्पति काय माना गया है, जीव सहित वनस्पति काय को वनस्पतिकायक कहते हैं, और आयु के अन्त में पूर्व शरीर को त्याग कर जो जीव

वनस्पतिकायिकों में उत्पन्न होने के लिये विग्रहगति में जा रहा है, उसे वनस्पति जीव कहते हैं ।

पंच स्थावरों के चार-चार भेद—

एतेषां प्राक्तनो भेदः किञ्चित्प्राणाश्रितो मतः ।
पृथ्व्यादीनां द्वितीयस्य केवल जीवदूरगः ॥१३०४॥
जीवयुक्तस्तृतीयश्च चतुर्थो भेद ईरितः ।
त्यक्त प्राग्वपुषां भाविपृथ्व्याद्यङ्गाय गच्छताम् ॥१३०५॥
एतान् भेदान् बुधैर्ज्ञात्वा सचेतनानचेतनान् ।
पृथ्व्यादीनां सुरक्षायै कर्तव्यं यत्नमञ्जसा ॥१३०६॥

इन पंच स्थावरों के चार-चार भेदों में से प्रथम भेद किंचित् जीव युक्त होता है । द्वितीय भेद मात्र अजीव होता है, तृतीय भेद जीव सहित होता है, और चतुर्थ भेद में जीव पूर्व शरीर को छोड़ कर पृथ्वी आदि शरीर को धारण करने के लिये जाता है, अतः यह चेतन ही है । इस प्रकार विद्वानों के द्वारा कहे हुये भेदों में चेतन अचेतन भेदों को जानकर पृथ्वी आदि पंच स्थावरों की रक्षा के लिए यत्न करना चाहिए ।

अब पृथ्वीकायिक जीवों में से मृदु पृथ्वीकायिक जीवों के भेदों का निरूपण—

मृत्तिका वालुका लोहं लवणं सागरादिजम् ।
ताम्रं रूप्यं स्वर्णं च त्रिपुषः सीसकं तथा ॥१३०७॥
हिङ्गुलं हरितालं च मनः शिलाथ सस्यकम् ।
अञ्जनं ह्यभ्रकं चाभ्र वालुकामी हि षोडश ॥१३०८॥
भेदा मृदुपृथ्वी कायात्मनां प्रोक्ता जिनागमे ।
इदानीं खर पृथ्वीनां भेदान् मण्यादिकान् ब्रुवे ॥१३०९॥

मिट्टी, वालुका, लोहा, समुद्र आदि में उत्पन्न होने वाला नमक, ताम्र, चांदी, स्वर्ण, त्रिपुष (कथीर या रांगा) सीसा, हिंगुल, हरताल, मनः शिला, जस्ता, अञ्जन (नीला थूथा या सुरमा), अभ्रक और भोडल ये सोलह भेद जिनागम में कोमल पृथ्वीकायिक जीवों के कहे गये हैं, अब खर पृथ्वी के मणि आदि भेदों को कहते हैं ।

अब खर पृथ्वी के भेदों का निरूपण—

प्रवालं शर्करा वज्रं शिलोपलं ततः परम् ।
कर्केतन मणिर्नाम्ना रजकाख्यो मणिस्ततः ॥१३१०॥

चन्द्र प्रभोऽथ वैडूर्य कोमणिः स्फटिको मणिः ।
जलकान्तो मणिः सूर्यकान्तश्च गैरिको मणिः ॥१३११॥
चन्दनः पद्मरागाख्यो मणिर्मरकताह्वयः ।
बको मोचो मणिर्वैमसृण पाषाणसंज्ञकः ॥१३१२॥
एते विंशतिसद्भेदाः पृथ्वीकायमयात्मनाम् ।
खराख्याणां सुभव्यानां दयार्थंगणिभिर्गताः ॥१३१३॥

प्रवाल, शर्करा, हीरा, शिला, उपल (पत्थर), कर्केतनमणि, रजकमणि, चन्द्रप्रभमणि, वैडूर्य मणि, स्फटिक मणि, जलकान्त मणि, सूर्यकान्त मणि, गैरिक मणि, चन्दनमणि, पद्मराग, मरकतमणि, वकमणि, मोचमणि, वैमसृण और पाषण खर पृथ्वी स्वरूप पृथ्वीकायिक जीवों के ये बीस भेद भव्य जीवों के दया पालनार्थ गणधर देवों के द्वारा कहे गये हैं।

पृथ्वीकायिक पृथ्वी से बने हुए पर्वत एवं प्रासादों आदि का वर्णन —

रत्नप्रभादयः सप्त पृथ्व्यश्चैत्यद्रु माखिलाः ।
मेर्वाद्याः पर्वताः सर्वे वेदिकातोरणादयः ॥१३१४॥
त्रिलोकस्थ विमानानि जम्बाद्याः सकालाद्रु माः ।
नृविद्येशसुराणां च प्रासादाः कमलानि च ॥१३१५॥
स्तूपरत्नाकराद्याये पृथ्वीकायमयाश्च ते ।
सर्वे ह्यन्तर्भवन्त्येषु पृथ्वीभेदेषु नान्यथा ॥१३१६॥
एतान्पृथ्वीमयान्जीवान् पृथ्वीकायाश्रितान् बहून्।
सम्यग्ज्ञात्वा प्रयत्नेन रक्षन्तु साधवोऽनिशम् ॥१३१७॥

रत्नप्रभा आदि सातों पृथ्वीयां, सम्पूर्ण चैत्यवृक्ष, मेरु आदि सर्व पर्वत, वेदिकाएँ एवं तोरण आदि, त्रैलोक्य स्थित विमान, जम्बू आदि समस्त वृक्ष, मनुष्यों, विद्याधरों और देवों के प्रासाद, पद्म आदि सरोवरों में स्थित कमल, स्तूप और रत्नाकर आदि ये सब पृथ्वीकायमय हैं, और इन सबका अन्तर्भाव पृथ्वीकाय के भेदों में ही होता है, अन्य में नहीं। पृथ्वीकाय के आश्रित रहने वाले इन सब पृथ्वीमय जीवों को भली प्रकार जान कर सज्जन पुरुषों को अहर्निश इनकी रक्षा प्रयत्न पूर्वक करना चाहिये।

अब जलकायिक जीवों के भेदों का प्रतिपादन—

अवश्यायजलं रात्रि पश्चिम प्रहरोद्भवम् ।
हिमाख्यं जलकायं च जलबन्धन सम्भवम् ॥१३१८॥
महिकाख्यं जलं धूमाकाराम्बु च हरज्जलम् ।
स्थूल बिन्दू जलं ज्ञेयः सूक्ष्म बिन्दु जलं तथा ॥१३१९॥
शुद्धाम्बु चन्दु कान्तोत्थमुदकं निर्झरादिजम् ।
सामान्यम्बुघनाख्याम्भोऽब्धि ह्रदमेघ वातजम् ॥१३२०॥
सरित्कूपसरः कुण्ड निर्झराब्धि ह्रदादयः ।
एष्वप्कायेषु सर्वेऽन्येऽन्तर्भवन्त्यम्बुकायिकाः ॥१३२१॥
एतानप्काय सद्भेदान प्कायाश्रितान् बहून् ।
जीवान् विज्ञाय यत्नेन पालयन्त्वात्मवत्सदा ॥१३२२॥

रात्रि के पिछले पहर में उत्पन्न होने वाला ओस जल, हिम नाम का जलकाय, मेघ जलकाय, कोहरे का जल, धूम आकार (धुन्ध) जल, दाभ की अणी पर स्थित जल, स्थूल बिन्दु जल, जलकण, सूक्ष्म बिन्दु जल, शुद्ध जल, चन्द्रकान्त मणि से उत्पन्न जल, सामान्य जल, घन जल (घनोदधि), ह्रद जल, मेघ से उत्पन्न जल, घनवातज जल, नदी, कूप, तालाब, कुण्ड, झरना, समुद्र एवं सरोवर आदि सर्व जल का जलकाय में अन्तर्भाव होने से ये सब जलकायिक ही हैं। इन सब जलकाय के भेदों को तथा जल काय के आश्रित रहने वाले असंख्यात जीवों को अपनी आत्मा के सदृश जानकर प्रयत्न पूर्वक निरन्तर उनकी रक्षा करनी चाहिए।

अग्निकायिक जीवों का वर्णन—

अङ्गारारणि ज्वलज्ज्वालाह्यर्चिर्दीप शिखादिका ।
मुर्मराव्योहिकाधग्निःशुद्धाग्निःशुद्धाग्निर्बहुभेद भाक्॥१३२३॥
विद्युत्पातग्नि वज्राग्नि सूर्यकान्तादि गोचरः ।
अग्नि सामान्य रूपाग्नि निर्धूमो वाडवाग्निजः ॥१३२४॥
नन्दीश्वर महाधूम कुण्डिका मुकुटादिजाः ।
अग्निकाया असंख्यन्त भेवन्त्य नलयोनिषु ॥१३२५॥
इमांस्तेजो मयन् जीवांस्तेजःकायान्श्रितान्परान्।
विदित्वा सर्वयत्नेन रक्षन्तु मुनयोऽनिशम् ॥१३२६॥

अंगार रूप अग्नि, ज्वालाग्नि, अर्चि अग्नि, दीपशिखाग्नि, मुर्मराग्नि, कार्षाग्नि और बहुत प्रकार की शुद्धाग्नि, विद्युत्तालाग्नि, वज्राग्नि, सूर्यकान्त आदि से उत्पन्न अग्नि, सामान्य अग्नि, निर्धूमाग्नि, वडवाग्नि, नन्दीश्वर द्वीपस्थ महाधूम कण्डों की अग्नि तथा मुकुट आदि से उत्पन्न अग्नि, अग्नि काय होने से इन सब अग्नियों का अग्निलयोनियों में अन्तर्भाव हो जाता है। तेजकाय के आश्रित रहने वाले सर्व तेजकायिक जीवों को भली प्रकार जान मुनिजन इनकी अहर्निश प्रयत्न पूर्वक रक्षा करते हैं।

वायुकायिक जीवों के स्थानों का वर्णन—

वातः सामान्यरूपश्चोद्भ्रम ऊर्ध्वं भ्रमन् व्रजेत् ।
उत्कलि मंण्डलि पृथ्वीलग्नो भ्रमन् प्रगच्छति ।।१३२७।।
गुञ्जावातो महावातो वृक्षादि भङ्गकारकः ।
घनोदधिश्च नाम्ना घनानि लस्तुवात वाक् ।।१३२८।।
उदरस्थ विमानाधार पृथ्व्य धस्तलाश्रिताः ।
त्रिलोकाच्छादका वाता अत्रैवान्त र्भवन्ति च ।।१३२९।।
एतान् वातङ्ग भेदांश्चजीवान् वात वपुःश्रितान् ।
ज्ञात्वा नित्यं प्रयत्नेन पालयन्तु स्ववद्विदः ।।१३३०।।

सामान्य रूप वायु, उद् भ्रम वायु, ऊपर भ्रमण करने वाली वायु, उत्कलि वायु, मण्डल वायु, पृथ्वी स्पर्श कर भ्रमण करने वाली वायु, गुञ्जावात, वृक्षों आदि को नष्ट करने वाली महावायु, घनोदधि वायु, घन वायु, तनुवायु, उदरस्थ वायु, विमान जिसके आधर से हैं, वह वायु, पृथ्वीतल के आश्रित वायु और त्रैलोक्य आच्छादक वायु ये सर्व वायु इन्ही पवनों में अन्तर्भूत होती हैं। ये सब भेद वायु काय के कहे गये हैं। वायु कायिक जीव इसी वायुकाय के आश्रित रहते हैं, ऐसा जानकर विद्वज्जनों को इन्हें अपनी आत्मा के सदृश समझ कर नित्य ही इनकी दया का प्रत्यनपूर्वक पालन करना चाहिए।

वनस्पतिकायिक जीवों के भेद—

असाधारण साधारण भेदाभ्यां जिनागमे ।
कीर्तिता द्विविधाः संक्षेपाद्वनस्पति कायिकाः ।।१३३१।।
प्रत्येकं द्विप्रकारास्ते साधारणे तराङ्गिनः ।
उदकाद्यैश्च जीवोत्थ सम्मूर्च्छिमद्वि भेदतः ।।१३३२।।

मूलाग्रपोर कन्द स्कन्धबीजोद् भवदेहिनः ।
त्वक् पत्राणि प्रवालानि पुष्पाणि च फलान्यपि ॥१३३३॥
गुच्छागुल्मानि वल्ली च तृण पर्वादि कायिकाः ।
प्रत्येकादि चतुर्भेदानां सद्भेदा मता इमे ॥१३३४॥

जिनागम में असाधारण (प्रत्येक) वनस्पतिकायिक और साधारण वनस्पतिकायिक के भेद से वनस्पतिकायिक जीवों के संक्षेप से दो भेद कहे गये हैं। इनमें से असाधरण अर्थात् प्रत्येक वनस्पति सप्रतिष्ठित (साधारण सहित) और अप्रतिष्ठित (साधारण सहित) के भेद से दो प्रकार की है। (मिट्टी और) जल आदि के सम्बन्ध होने वाली सम्मूर्च्छन जन्म वाली वनस्पतियां भी सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित के भेद से दो प्रकार की होती हैं। मूल, अग्र, पोर, कन्द, स्कन्ध और बीज से उत्पन्न होने वाले वनस्पतिकायिक जीव, तथा त्वक् पत्र, प्रवाल पुष्प, फल, गुच्छा, गुल्म, वल्ली, तृण और पर्व आदि प्रत्येक के वनस्पति, वनस्पतिकाय, वनस्पतिकायिक और वनस्पति जीव ये चार भेद माने गये हैं।

इन वनस्पतियों के भेदों का सुख पूर्वक बोध प्राप्त करने को कहते हैं :—

जिनकी मूल से उत्पत्ति होती है, वे मूल जीव हैं, जैसे—अदरख, हल्दी आदि। जो अग्र (टहनी) से उत्पन्न होते हैं, वे अग्र जीव हैं। यथा—केतकी, गुलाब, आर्यका, मोगरा आदि जो पर्व के प्रदेश (गांठ) से उत्पन्न होते हैं, वे पोर बीज हैं, यथा ईख, बेंत आदि। जो कन्द से उत्पन्न होते हैं, वे कन्द जीव हैं। यथा—सकरकन्दी, पिण्डालू (सूरण) आदि। जिनकी उत्पत्ति स्कन्ध से होती है, वे स्कन्ध जीव हैं, यथा सल्लकी (साल), कटकी, बड़, पीपल, पलाश, देवदारू आदि। जिन जीवों की भूमि एवं जल सादि सामग्री के सहयोग से उत्पत्ति होती है, वे बीज जीव हैं, यथा—जव, गेहूँ आदि। वृक्ष आदि की बाह्य छाल को त्वक् और युतक (काई) आदि को सैवाल कहते हैं। जिसमें केवल पत्ते ही होते हैं, पुष्प और फल नहीं होते, उसे पत्र वृक्ष कहते हैं। पत्तों की पूर्व अवस्था को प्रवाल कहते हैं। जिन वनस्पतियों में मात्र पुष्प होते हैं, फल आदि नहीं होते, उसे पुष्प वनस्पति कहते हैं। पुष्प के बिना जिसमें केवल फल उत्पन्न होते हैं, उन्हें फल वृक्ष कहते हैं। एक समय में उत्पन्न होने वाले बहुत के समुदाय को गुच्छा कहते हैं। मोगरा, मल्लिका आदि को गुल्म और करंज, कंथारी आदि को वल्ली कहते हैं। मालती आदिक नाना प्रकार के तृण हैं, पर्व और ग्रन्थि

के मध्य बेत आदि होते हैं।

साधारण वनस्पति कायिक जीवों के लक्षण आदि—

एते प्रत्येक कायाः स्युः केचिच्चानन्त कायिकाः ।
केचिद् बीजोद्भवाः केचित् सम्मूर्च्छिका हि देहिनः ॥१३३५॥
नित्येतर निकोताभ्यां द्विधा साधारणामताः ।
अनन्त कायिका जीवा अनन्तैकाक्ष संकुलाः ॥१३३६॥
यत्रैकोत्रि प्राणी तत्रैवानन्तजन्मिनाम् ।
मरणं चैककालेन तत्समं ह्युयक कायतः ॥१३३७॥
यत्रैको जायते जीवस्तत्रोत्पत्ति र्भवेत्स्फुटम् ।
अनन्त देहिनां सार्धं तेन तत् क्षण मञ्जसा ॥१३३८॥
ततस्तेऽनन्त जीवात्ताः प्रोक्ता अनन्त कायिकाः ।
युगपन्मरणोत्पत्तेरनन्तैकेन्द्रियात्मनाम् ॥१३३९॥
तीव्रमिथ्यादि युक्तै र्यैर्भ्रमद्भिर्दुर्भवाटवीम् ।
अनन्तां प्राणिभिर्घोरै र्दुःकर्मग्रसितात्मभिः ॥१३४०॥
अनन्त काय वर्गेषु न त्रसत्वं कदाचन ।
प्राप्तं तेऽनन्त कायास्ताः मता नित्यनिकोतकाः ॥१३४१॥
अनन्त कायिका एते पञ्च भेदामता इति ।
जम्बूद्वीपादि दृष्टान्तैः स्कन्धा ऽडरादयो जिनैः ॥१३४२॥

ये पूर्व कथित जीव प्रत्येक काय हैं, इनमें कोई-कोई अनन्तकाय हैं, कोई बीज से उत्पन्न होने वाले हैं, और कोई जीव सम्मूर्च्छन जन्म वाले हैं। साधारण वनस्पति कायिक जीवों के नित्य निगोद और इतर निगोद, ये दो भेद हैं। ये अनन्त कायिक अर्थात् साधारण अनन्त एकेन्द्रिय जीव एक काय होने से एक ही समय में एक साथ अनन्त जीवों का मरण होता है, और जहां एक जीव उत्पन्न होता है, वहीं उसी क्षण एक साथ अनन्त जीव जन्म लेते हैं। इन अनन्त एकेन्द्रिय जीवों का एक ही साथ मरण और एक ही साथ जन्म होता है, इसीलिए उन अनन्त जीवों के समूह को अनन्तकायिक कहते हैं। जो तीव्र मिथ्यात्व आदि से युक्त और घोर दुष्कर्मों से ग्रसित हैं, ऐसे अनन्तानन्त प्राणी भयावह संसार रूपी अटवी में भ्रमण करते हैं। अनन्तकाय जीवों के समूह में जो जीव कभी भी त्रस पर्याय को प्राप्त नहीं करते,

उन्हें नित्य निगोदिया कहते हैं। इन अनन्तकायिक जीवों के पांच भेद माने गये हैं, जो जिनेन्द्र के द्वारा जम्बूद्वीप आदि के दृष्टान्तों से स्कन्ध, अंडर, आवास, पुलवि और शरीर आदि के रूप में प्रतिपादन किये गये हैं।

जम्बूद्वीप आदि के दृष्टान्तों द्वारा स्कन्ध, अण्डर, आदि का प्रतिपादन—

जम्बूद्वीप यथा क्षेत्रं भारतं भारतेऽस्ति च।
कोशलः कोशले देशेऽयोध्यायां सौधपङ्क्तयः ॥१३४३॥
तथा स्कन्धा असंख्येयलोक प्रदेश मात्रकाः।
एकैकस्मिन् पृथक् स्कन्धे ह्यण्डरा गदिता जिनैः ॥१३४४॥
असंख्यलोक तुल्याश्चैकैकस्मिन्नण्डरे स्मृताः।
आवासेभ्यो ह्यसंख्यात लोक मात्रा न संशयः ॥१३४५॥
एकैकस्मिन् तथा वासे प्रोक्ता पुलवयोऽखिलाः।
असंख्यलोक माना एकैकस्मिन् पुलवौ भवे ॥१३४६॥
असंख्यात शरीराणि लोकमानानि सन्ति च।
एकैकस्मिंश्च कोतानां शरीरे प्राणिनो ध्रुवम् ॥१३४७॥
अतीतानन्त कालोत्थानन्त सिद्धेभ्य एव च।
सर्वेभ्य आगमे प्रोक्ता वाप्यनन्त गुणा जिनैः ॥१३४८॥

जैसे जम्बूद्वीप में भरतक्षेत्र है, भरत क्षेत्र में कोशल देश है, कोशल देश में अयोध्या नगरी है, और एक-एक अयोध्या नगरी में अनेक प्रासाद (महल) पंक्तियां हैं, उसी प्रकार असंख्यात लोक प्रमाण पुद्गल परमाणुओं का एक स्कन्ध और एक-एक स्कन्ध में असंख्यात लोक, असंख्यात लोक प्रमाण आवास हैं, इसमें कोई संशय नहीं है। पृथक्-पृथक् एक-एक आवास में असंख्यात लोक-असंख्यात लोक प्रमाण पुलवियाँ हैं, एक-एक पुलवि में असंख्यात लोक असंख्यात लोक प्रमाण शरीर हैं और पृथक्-पृथक् एक-एक निगोद शरीर में जिनेन्द्र भगवान के द्वारा आगम में अतीत और आगामी अनंतकाल में होने वाले सर्व अनंत सिद्धों के अनंत गुणी जीव राशि कही गई है। अर्थात् अतीत और अनागत में होने वाली सर्व सिद्ध राशि का जितना प्रमाण है, उससे अनन्त गुणे जीव एक निगोद शरीर में रहते हैं।

बादर अनन्तकाय जीवों का कथन—

शैवालं पणकंनाम केणुगः कवगस्तथा।
पुष्पि केत्यादयः सन्त्यनन्त कायाश्च बादराः ॥१३४९॥

अस्य भाष्यमाह :—

शैवालं जलगत हरित रूपं, पणकं भूमिगत शैवाल, इष्कादि प्रभवं च, केणुकः, आलम्बकछत्राणि शुक्ल हरित नील रूपाणि अपस्करोद् भवानि कवगः शृंगालंबकछत्राणि । पुष्पिका आहारकञ्जिकादि गताः । इत्याद्याः स्थूला अनन्तकायिकाः स्युः ।

अर्थ :—सैवाल, पणक, केणुक, कवग और पुष्पक इत्यादि ये सब बादर अनन्तकायिक वनस्पतियां हैं ।

अब इसी को भाष्य रूप में कहते है :—

जल में जो हरी काई होती है, उसे शैवाल, भूमि में जो हरी-हरी काई होती है, उसे पणक, ईट आदि में जो उत्पन्न होती है, उसे केणुक, श्वेत, हरे और नील वर्ण के छत्र सदृश को आलम्बक (कुकुरमुत्ता), मल या कचरे में उत्पन्न होने वाले को कवग, वक छत्र को शृंगाल कहते हैं, (एक प्रकार का कुकुरमुत्ता, जिसकी डंठल टेडी होती है ।) आहार कांजी आदि के ऊपर उत्पन्न होने वाली फफूंदी को पुष्पिका कहते हैं । इस प्रकार सैवालादि अनेक बादर अनन्तकायिक वनस्पतियां होती हैं ।

साधारण, प्रत्येक सूक्ष्म एवं बादर जीवों के लक्षण और उनके निवास क्षेत्र आदि का कथन—

गूढानि स्युः सिरासन्धि पर्वाणि जन्मिनां भुवि ।
येषां स्यान्सम भङ्गं चाहीरुकं सूत्र सन्निभम् ॥१३५०॥
छिन्न भिन्न शरीराणि प्ररोहन्त्यप्यनन्ततः ।
तेऽत्र साधारणा जीवाः प्रत्येकास्तद् विपर्ययाः ॥१३५१॥
एते स्युर्बादशजीवाः क्वचिल्लोके क्वचिच्च च ।
पृथ्व्यादि कायमापन्नाः पञ्चधाः स्थावराः परे ॥१३५२॥
सूक्ष्माः पृथ्व्यादयः पञ्चस्थावरा दृष्टयगोचराः ।
एते तिष्ठन्ति सर्वत्र प्रपूर्य भुवनत्रयम् ॥१३५३॥
वनस्पत्यङ्गिनोऽन्ये च स्थावराः सूक्ष्मबादराः ।
अनन्ताविविधा एते रक्षणीयाः सदा बुधैः ॥१३५४॥
न प्रतिस्खलनं येषां गत्यादौ सूक्ष्मदेहिनाम् ।
पृथ्वोजलाग्निवाताद्यैर्जातु ते सूक्ष्म कायिकाः ॥१३५५॥

प्रतिस्खलन्ति ये स्थूलाः स्थावरा गमनादिषु ।
केचिद्दृश्या अदृश्यास्ते बादराः श्री जिनैर्मताः ।।१३५६।।

जिनकी शिरा-बहिः स्नायु, सन्धि-रेखाबन्ध और पर्व-गाठ अप्रगट हों और जिन वनस्पतियों का भंग करने पर समान भंग हो, दोनों भंगों में परस्पर सूत्र-तन्तु न लगा रहे तथा शरीरों को छिन्न-भिन्न कर देने पर भी जो ऊग जाते हैं तथा वृद्धि आदि को प्राप्त होते हैं ऐसे अनन्तकायिक वे सब जीव यहां पर साधारण कहे गये हैं। जो जीव इन चिन्हों से रहित हैं, वे प्रत्येक (अप्रतिष्ठत) वनस्पतिकायिक हैं।

पृथ्वी आदिक पांचों कायों को धारण करने वाले पांचों बादर स्थावर जीव इस लोक में कहीं हैं और नहीं हैं, किन्तु दृष्टि अगोचर पृथ्वीकायिक पांचों सूक्ष्म स्थावर जीव तीनों लोक को परिपूर्ण करते हुए सर्वत्र रहते हैं।

विद्वानों को अन्य अनन्त प्रकार के सूक्ष्म और बादर वनस्पतिकायिक व स्थावर जीवों की रक्षा करनी चाहिए।

सूक्ष्म नाम कर्म के उदय से युक्त पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुकायिक आदि के द्वारा जिन जीवों की गति आदि कभी भी रुकती नहीं है, उसे सूक्ष्म कायिक कहते हैं।

जिन स्थावर जीवों की गति आदि दूसरों से रुकती है और दूसरों को रोकती है, उन्हें जिनेन्द्र भगवान ने बादर जीव कहा है, इनमें कुछ जीव दृष्टि अगोचर होते हैं।

त्रस जीवों के भेद आदि का वर्णन—

प्राणिनो विकलाक्षाश्च सकलाक्षास्ततः परे ।
इत्यमी द्विविधाः प्रोक्तास्त्रसा उद्वेगिनोऽसुखात् ।।१३५७।।
द्वित्रितुर्यक्ष्यभेदाद्धं स्त्रिविधा विकलेन्द्रियाः ।
स्युः कम्याद्या नृगीर्वाणतिर्यञ्चः सकलेन्द्रियाः ।।१३५८।।
कृमयः शुक्तिकाः शङ्खाः वासकाश्च कपर्दकाः ।
जलकाद्या मताः शास्त्रे द्वीन्द्रिया द्वीन्द्रियांगिता ।।१३५९।।
कुन्थवो मत्कुणा यूका वश्चिकाश्च पिपीलिकाः ।
उद्वेहिका हि गोम्याद्यास्त्रीन्द्रियास्त्र्यक्षसंयुताः ।।१३६०।।

मशंका भ्रमरा दंशाः पङ्गुगा मधुमक्षिकाः ।
मक्षिका कोटकाद्याः स्युश्चतुरिन्द्रियजातयः ।।१३६१।।
जलस्थलनभो गामिनस्तिर्यञ्चो नरामराः ।
नारकाः श्री जिनैः प्रोक्ताः पञ्चाक्षाः सकलेन्द्रियाः ।।१३६२।।
एतास्त्रसाङ्गिनः सम्यग्ज्ञात्वा गृहितपोधनाः ।
पालयन्तु समित्याद्यैः सर्वत्र स्वमिवान्वहम् ।।१३६३।।
इति पृथ्व्यादिकायानां जातिभेदान् जिनागमात् ।
आख्यायातः सतांवृक्ष्ये कुलानि विविधानि च ।।१३६४।।

दुःख से उद्वेगित त्रस जीव विकलेन्द्रिय और सकलेन्द्रिय के भेद से दो प्रकार के होते हैं ।

इनमें से कृमि आदि द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरीन्द्रिय के भेद से विकलेन्द्रिय जीव तीन प्रकार के होते हैं । मनुष्य, देव और तिर्यञ्च ये सकलेन्द्रिय त्रस हैं ।

कृमि, सीप, शंख, वालुका, कौंडी, जौंक आदि दो इन्द्रिय से चिन्हित इन जीवों को द्वीन्द्रिय जीव कहते हैं ।

कुन्थु, खटमल, जूँ, विच्छू, चींटी, दीमक और कान खजूरे आदि तीन इन्द्रियों से युक्त जीवों को त्रेन्द्रिय जीव कहते हैं ।

मच्छर, भौंरा, डांस, पतङ्गा, मधुमक्खी, मक्षिक और कोटक आदि चतुरिन्द्रिय जीव कहलाते हैं ।

जल-स्थल एवं नभचर तिर्यञ्च, मनुष्य, देव और नारकी ये जीव पचेन्द्रिय होते हैं, इन्हें ही जिनेन्द्र भगवान ने सकलेन्द्रिय कहा है ।

इस प्रकार त्रस जीवों के भेद प्रभेदों को भली प्रकार जानकर श्रावकों एवं तपोधनों को समिति आदि के द्वारा अपनी आत्मा के सदृश ही सर्वत्र त्रस जीवों की रक्षा करनी चाहिये ।

इस प्रकार जिनागम से पृथ्वी काय आदि षटकाय के जीवों के जाति भेदों को कहकर अब अनेक प्रकार के कुल भेदों को कहूँगा ।

भिन्न-भिन्न जीवों की कुल कोटियां कहते हैं—

द्वाविंशकोटि लक्षाणि पृथ्वीनां स्युः कुलानि च ।
अपकायासु मतां सप्तकोटि लक्षाणि तेजसाम् ॥१३६५॥
कुलत्रिकोटि लक्षाणि वायूनां च कुलाख्यया ।
स्युः सप्त कोटि लक्षाणि वनस्पत्यङ्गिनां तथा ॥१३६६॥
कुलानि कोटि लक्षाणि ह्यष्टाविंशतिरेवहि ।
द्वीन्द्रियाणां तथा सप्तकोटि लक्षकुलानि च ॥१३६७॥
त्रीन्द्रियाणां भवन्त्यष्टकोटिलक्ष कुलान्यपि ।
तुर्यक्षाणां नवैव स्युः कोटिलक्षकुलानि च ॥१३६८॥
अप्चराणां हि लक्षाणि सार्धं द्वादश कोटयः ।
कुलानि पक्षिणां द्वादशकोटि लक्षकानि च ॥१३६९॥
दशैव कोटि लक्षाणि कुलानि स्युश्चतुष्पदाम् ।
नवैव कोटि लक्षाण्युरः सर्पाणां कुलानि च ॥१३७०॥
षड्विंशकोटि लक्षाणि कुलानिस्युः सुधाभुजाम् ।
पञ्चविंशति कोटि लक्षाणि नारक जन्मिनाम् ॥१३७१॥
आर्यम्लेच्छ न भोगभिमनुष्याणां कुलानि च ।
द्वि सप्तकोटि लक्षाणीति सर्वेषां च देहिनाम् ॥१३७२॥
एकैव कोटि कोटि नवतिः सार्धनवाधिका ।
कोटीलक्षाणि सिद्धान्ते कुल संख्या जिनोदिता ॥१३७३॥
इत्यङ्ग कुलजात्यादीन् सम्यग्ज्ञात्वा बुधोत्तमैः ।
षड्ङ्गिनां दया कार्या धर्मरत्नखनौ सदा ॥१३७४॥

(शरीर के भेदों के कारणभूत नाना प्रकार की नो कर्म वर्गणाओं को कुल कहते हैं) पृथ्वीकायिक जीवों की बाईस लाख कोटि, जलकायिक जीवों की सात लाख कोटि, अग्निकायिक जीवों की तीन लाख कोटि, वायुकायिक जीवों की सात लाख कोटि, वनस्पतिकायिक जीवों की २८ लाख कोटि, द्वीन्द्रिय जीवों की सात लाख कोटि, त्रीन्द्रिय जीवों की आठ लाख कोटि, चतुरिन्द्र जीवों की नव लाख कोटि, जलचर जीवों की १२॥ लाख कोटि, पक्षियों की बारह लाख कोटि, चतुष्पद (पशुओं) की दश लाख कोटि, छाती के सहारे चलने वाले सर्प आदिकों की नव लाख कोटि, देवों की २६ लाख कोटि, नारकी जीवों की २५ लाख कोटि तथा आर्य मनुष्य, म्लेच्छ मनुष्य और

विद्याधरों (इन सब) की चौदह लाख कोटि, इस प्रकार सम्पूर्ण कहे गये हैं।

जिनेन्द्र भगवान ने आगम में पृथिवीकायिक से लेकर मनुष्य पर्यंत सम्पूर्ण संसारी जीवों के कुल कोटि की संख्या का योग एक करोड़ निन्यानवे लाख पचास हजार कोटि (१,९९,५०,००,०००,०००,०००) कहा है।

इस प्रकार विद्वानों को जीवों के कुल और जाति आदि के भेदों को भली प्रकार जानकर धर्मरूपी रत्नों की खान के सदृश निरन्तर छह काय जीवों की दया में उपक्रम करना चाहिये।

अब योनियों के भेद, प्रभेद आकार और स्वामी—

सचित्ताचित्त मिश्राख्याः शीतोष्णमिश्रयोनयः।
संवृता विवृता मिश्राश्चेत्येता नवयोनयः ॥१३७५॥
देवानां नारकाणां चाचित्तयो निर्विचेतसा।
गर्भजानां सचित्ताचित्त योनिश्चेतनेतरा ॥१३७६॥
एकाक्ष द्वीन्द्रियाणां च त्र्यक्षतुर्येन्द्रियात्मनाम्।
नानापञ्चाक्ष सम्मूर्च्छकानां केषाञ्चिदेव च ॥१३७७॥
सचित्तैकास्ति केषाञ्चेदाचेता योनिरञ्जसा।
केषाञ्चिन्मिश्रयोनिश्चेति त्रिधा योनयो मताः ॥१३७८॥
देवानां नारकाणां च केषां चिच्छीत योनयः।
उष्णयोनिश्च केषां चिदिति द्विविध योनयः ॥१३७९॥
तेजसा मुष्णयोनिः स्याच्छीतयोनिर्जलाङ्गिनाम्।
शेषाणां पृथिवी वायु वनस्पति शरीरिणाम् ॥१३८०॥
एक द्वित्रिचतुः पञ्चाक्षगर्भेतर जन्मिनाम्।
पृथगेकक रूपेण शीताद्याः स्युस्त्रियोनयः ॥१३८१॥
नारकैकाक्ष देवानां संवृता योनिरस्ति च।
विवृता विकलाक्षाणां मिश्रा सा गर्भ जन्मिनाम् ॥१३८२॥
पुनर्गर्भाङ्गि योनीनां शुभाशुभो भयात्मनाम्।
सविशेषास्त्रिधा योनीर्वक्ष्ये योन्यघहानये ॥१३८३॥
शङ्खावर्ताह्वया योनिः पराकूर्मोन्नताभिधा।
तृतीय वंश पत्राख्यात्रेति त्रिविधयोनयः ॥१३८४॥

तीर्थेशाश्चक्रिणो रामा वासुदेवाश्चतद्द्विषः ।
कूर्मोन्नतम महायोनौ जायन्ते स्फटिकोपमे ॥१३८५॥
वंशपत्राख्य योनौ चोत्पद्यन्ते भोग भूमिजाः ।
द्वियोन्योः प्राणिनोऽन्ये शङ्खावर्तवंश पत्रयोः ॥१३८६॥
शङ्खावर्तकुयोनौ च नियमेन विनश्यति ।
गर्भोऽशुभोऽङ्गि नामेतद्यानीनां लक्षणं भवेत् ॥१३८७॥

सचित्त, अचित्त एवं सचित्ताचित्त, शीत, उष्ण एवं शीतोष्ण, संवृत, विवृत एवं संवृतविवृत (मिश्र) इस प्रकार योनियां नौ प्रकार की हैं ।

देव और नारकियों की योनियाँ आत्मप्रदेशों से रहित अचित होती हैं, तथा गर्भज जीवों के सचित्ताचित्त (मिश्र) योनि होती है ।

एकेन्द्रिय, द्विन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और सम्मूर्च्छन जन्म वाले पंचेन्द्रिय जीवों में से किन्हीं जीवों में से किन्हीं किन्हीं जीवों की सचित्त योनि है, किन्हीं की अचित योनि हैं और किन्हीं जीवों के सचित्ताचित्त (मिश्र) योनि है । इस प्रकार सम्मूर्च्छन जन्म वालों के तीनों प्रकार की योनियां मानी गई हैं ।

देव और नारकियों में किन्हीं की शीत योनियां, किन्हीं की उष्ण योनियां और किन्हीं की शीतोष्ण योनियां होती हैं ।

अग्निकायिक जीवों की उष्णयोनि, जलकायिक जीवों की शीत योनि होती है । शेष पृथ्वी, वायु और वनस्पतिकायिक जीवों के तथा एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और सम्मूर्च्छन जन्म वाले जीवों के पृथक्-पृथक् एक रूप से शीत आदि तीनों योनियां होती हैं । अर्थात् किन्ही जीवों के शीत, किन्हीं के ऊष्ण और किन्हीं के मिश्र इस प्रकार तीनों योनियां होती है ।

देव, नारकी और एकेन्द्रिय जीवों के संवृत योनि होती है । विकलेन्द्रि जीवों के विवृत (प्रगट) योनि और गर्भज जीवों के नियम से संवृत (मिश्र) योनी होती है ।

इसके पश्चात् योनी सम्बन्धी पाप नाश के लिए शुभ अशुभ कर्मोदय से युक्त गर्भज जीवों के विशेषता पूर्वक तीन प्रकार की योनियां कहूँगा ।

प्रथम शंखावत, द्वितीय कर्मोन्नत और तृतीय वंशपत्र नामक तीन प्रकार की योनियां होतीं हैं ।

स्फटिक की उपमा को धारण करने वाली कर्मोन्नि नाम की महायोनि में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेव उत्पन्न होते हैं।

वंश पत्र नाम की योनि में भोग भूमिज और शंखावर्त एवं वंशपत्र इन दोनों में कर्मभूमिज आदि अन्य साधारण मनुष्य जन्म लेते हैं, किन्तु शंखावर्तनामक कुयोनि में नियम से गर्भ के विनाश होता है। क्योंकि वह गर्भ अशुभ होता है। इस प्रकार जीवों की इन योनियों के लक्षण कहे हैं।

जीवों के शरीरों की अवगाहना—

पृथ्वयप्तेजो मरुत्कायानां सूक्ष्मबादरात्मनाम्।
अङ्गुलस्याप्यसंख्यात भागतुल्यं वपुर्भवेत् ॥१३८८॥
सूक्ष्मा पर्याप्त लब्धस्य निकोतस्यांगिनो मतम्।
तृतीये समये सर्वजघन्याङ्गं जगत्त्रये ॥१३८९॥
सर्वोत्कृष्ट शरीरं स्यान्मत्यानां महतां भुवि।
तयोर्मध्ये परेषां स्युर्नाना देहानि देहिनाम् ॥१३९०॥

सूक्ष्म और बादर पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक जीवों के शरीर की अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग-प्रमाण होती है।

त्रैलोक्य में सर्वजघन्य अवगाहना सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवों के उत्पन्न होने से तीसरे समय में होती है और शरीर की सर्वोत्कृष्ट अवगाहना महामत्स्यों के होती है। इन दोनों (जघन्योत्कृष्ट) के बीच में अन्य जीवों के शरीर की मध्य अवगाहना विविध प्रकार की होती है।

अब जीवों के संस्थानों का कथन—

पृथ्व्यङ्गिनां च संस्थानं मसूरिकाकणाकृतिः।
अप्कायानां हि संस्थानं दर्भाग्रबिन्दुसन्निभम् ॥१३९१॥
तेजः कायात्मनां तत् स्यात् सूचीकलापसन्निभम्।
संस्थानं वायुकायानां पताकाकारमेव च ॥१३९२॥
समादिचतुरस्त्रं च न्यग्रोधस्वाति कुब्जकाः।
वामनाख्यं हि हुण्डाख्यं संस्थानामीति षड्भुवि ॥१३९३॥
मनुष्याणां च षट्चाक्षतिरश्चां सन्ति तानि षट्।
देवनामादि संस्थानं नारकाणां हि हुण्डकम् ॥१३९४॥

द्वित्रितुर्येन्द्रियाणां च सर्वेषां हरितांङ्गिनाम् ।
अनेकाकार संस्थानं हुण्डाख्यं स्याद् विरूपकम् ॥१३९५॥

पृथ्वीकायिक जीवों के शरीर का आकार मसूर के कण सदृश, जलकायिक जीवों के शरीर का आकार डाभ के अग्रभाग पर रखी हुई जलबिन्दु के सदृश, अग्निकायिकों का खड़ी सुइयों के समूह सदृश और वायुकायिक जीवों के शरीर का संस्थान ध्वजा के सदृश होता है। समचतुरस्र संस्थान, न्यग्रोध, स्वाति, कुब्जक, वामन और हुण्डक ये छह संस्थान संसारी जीवों के होते हैं। मनुष्यों और पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के छहों संस्थान होते हैं। देवों के समचतुरस्र संस्थान और नारकियों के हुण्डक संस्थान ही होते हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों के तथा सम्पूर्ण वनस्पतिकायिक जीवों के विविध आकारों के लिये हुए विरूप आकार वाला हुण्डक संस्थान होता है।

संसारी जीवों के संहननों का विवेचन—

म्लेच्छ विद्याधराणां संज्ञि पञ्चेन्द्रियात्मनाम् ।
कर्मभूजतिरश्चां च सन्ति संहनानि षट् ॥१३९६॥
असंज्ञि विकलाक्षाणां लब्ध्य पर्याप्त देहिनाम् ।
अशुभं चान्तिमं हीनं षष्ठं संहननं भवेत् ॥१३९७॥
वज्रर्षभादि नाराचं वज्रास्थिमय वेष्ठितम् ।
अर्धं च वज्रनाराचं वज्रास्थितं द्वितीयकम् ॥१३९८॥
नाराचं त्रीणि चेमानि सन्ति संहननानि च ।
परिहार विशुद्धयाख्य संयमाप्त मुनीशिनाम् ॥१३९९॥
चतुर्थमर्ध नाराचं कीलिकाख्यं च पञ्चमम् ।
असम्प्राप्तासृपाद्यादिकं त्रिसंहनानि च ॥१४००॥
इमानि स्युः स्फुटं कर्मभूमिज द्रव्ययोषिताम् ।
भोग भूमि जनुस्त्रीणामाद्यं संहननं परम् ॥१४०१॥
मिथ्यात्वाद्य प्रमत्तान्त गुणस्थानेषु सप्तसु ।
प्रवर्तमान जीवानां सन्ति संहनानि षट् ॥१४०२॥
अपूर्वकरणाभिख्येऽनिवृत्ति करणाह्वये ।
सूक्ष्मादि साम्परायाख्ये ह्युपशान्तकषायके ॥१४०३॥

श्रेण्यामुपशमाख्यायां स्थितानां योगिनां भवेत् ।
त्रीणि संहननानि स्युरादिमानि दृढानि च ॥१४०४॥
अपूर्व करणाख्ये चानिवृत्ति करणाभिधे ।
सूक्ष्मादि साम्परायाख्ये क्षीण कषाय नामनि ॥१४०५॥
सयोगे च गुणस्थानेऽत्राद्यं संहननं भवेत् ।
केवलं क्षपक श्रेण्या रोहण कृत योगिनाम् ॥१४०६॥
अयोगिजिन नाथानां देवानां नारकात्मनाम् ।
आहारक महर्षीणामेकाक्षाणां वपूंषि च ॥१४०७॥
यानि कार्मण कायानि व्रजतां परजन्मनि ।
तेषां सर्वशरीराणां नास्ति संहननं क्वचित् ॥१४०८॥

म्लेच्छ मनुष्यों, विद्याधरों, मनुष्यों, संज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यंचों और कर्मभूमिज तिर्यञ्चों के छहों संहनन होते हैं। असंज्ञी तिर्यञ्चों के, विकलेन्द्रिय जीवों के और लब्ध्यपर्याप्तक जीवों के अन्तिम असम्प्राप्तसृपाटिका नाम का छठवां अशुभ संहनन होता है। वज्रमय वृषभ, कीलें एवं अस्थि से युक्त और वज्रमय वेष्ठन से वेष्ठित पहला वज्रर्षभनाराच संहनन, वज्रमय नाराच (कीलों) व अस्थियों से युक्त दूसरा वज्रनाराच संहनन और तीसरा संहनन है। ये तीनों संहनन परिहार विशुद्धि संयम से युक्त मुनिराजों के होते हैं। चौथा अर्धनाराच, पांचवां कीलक और छठवां असम्प्राप्तसृपाटिका ये तीनों संहनन कार्यभूमिज द्रव्यवेदी स्त्रियों के होते हैं। भोगभूमिज मनुष्यों और स्त्रियों के आदि का एक उत्कृष्ट संहनन होता है। मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर सप्तम गुणस्थान पर्यन्त सात गुणस्थानों में प्रवर्तमान जीवों के छहों संहनन होते हैं।

उपशम श्रेणीगत अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय और उपशान्त कषाय गुणस्थानों में प्रवर्तमान मुनिराजों के आदि के तीन दृढ़ संहननों में से कोई एक होता है। क्षपक श्रेणीगत अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय, क्षीणकषाय और सयोगकेवलि गुणस्थानों में प्रवर्तमान मुनिराजों के आदि का मात्र एक वज्रर्षभनाराच संहनन ही होता है।

अयोगी जिनों के, देवों के, नारकियों के, आहारक शरीरी महाऋषियों के, एकेन्द्रिय जीवों के और आगामी पर्याय में जन्म लेने के लिए विग्रह गति में जाने वाले

कार्मणकाय युक्त जीवों के संहनन नहीं होता अर्थात् इन जीवों का शरीर छहों संहननों से रहित होता है।

संसारी जीवों के वेदों का कथन—

एकाक्षविकलाक्षाणां सर्वेषां नारकात्मनाम् ।
सम्मूर्च्छनज पञ्चाक्षाणां वेदैको नपुंसकः ॥१४०९॥
भोग भूमि भवार्याणां चतुर्विधसुधा भुजाम् ।
विश्वानां भवतो वेदौ द्वौ स्त्रीपुंसंज्ञकौ भुवि ॥१४१०॥
शेषाणां गर्भजानां च तिरश्चां मनुजात्मनाम् ।
स्त्री पुंनपुंसकाभिख्याः सन्ति वेदास्त्रयः पृथक् ॥१४११॥

सम्पूर्ण एकेन्द्रिय जीवों के, विकलेन्द्रिय जीवों के, नारकी जीवों के और संमूर्च्छन पञ्चेन्द्रिय जीवों के एक नपुंसक वेद ही होता है।

भोगभूमिज आर्यों के तथा चारों निकायों के देवों के स्त्री और पुंवेद नाम वाले दो ही वेद होते हैं। शेष सम्पूर्ण मनुष्यों एवं तिर्यञ्च जीवों के पृथक्-पृथक्, स्त्री वेद, पुंवेद तथा नपुंसक वेद नाम के तीनों वेद होते हैं।

जीवों की उत्कृष्ट और जघन्य आयु का प्रतिपादन :—

मृदुपृथ्वी शरीराणामुत्कृष्ट मायुरञ्जसा ।
द्विषड्वर्ष सहस्राणि खर पृथिवीमयात्मनाम् ॥१४१२॥
द्वाविंशति सहस्राणि वर्षाणां जीवितं परम् ।
सप्त सहस्र वर्षाण्यप्कायानां सुष्ठुजीवितम् ॥१४१३॥
तेजोमय कुकाया नामायुर्दिनत्रयं भवेत् ।
त्रीणि वर्ष सहस्राणि ह्यायुर्वातात्मिनां परम् ॥१४१४॥
दश वर्ष सहस्राण्यायुर्वनस्पति देहिनाम् ।
वर्षाणि द्वादशैवायुः प्रवरं द्वीन्द्रियात्मिनाम् ॥१४१५॥
त्रीन्द्रियाणां तथैकोन पञ्चाशद्दिन जीवितम् ।
षण्मास प्रमितायुष्कं चतुरिन्द्रिय जन्मिनाम् ॥१४१६॥
मत्स्यानां परमायुः स्यात्पूर्व कोटि प्रमाणकम् ।
सरीसृपाङ्गि नामायुर्नव पूर्वाङ्ग सम्मितम् ॥१४१७॥
द्वासप्तति सहस्राब्द प्रथमायुश्च पक्षिणाम् ।
उरगाणां द्विचत्वारि शत्सहस्राब्दजीवितम् ॥१४१८॥

एकाक्षद्वित्रितुर्यक्षाणां जघन्यायुरिष्यते ।
कृताष्टादश भागानामुच्छ्वासस्यैक भागकः ।।१४१९।।
संज्ञिनामल्पमृत्यादि युता पुण्यनृणां भवेत् ।
अन्तर्मुहूर्तमायुष्यं सर्वजघन्यमत्र च ।।१४२०।।

मृदु पृथ्वीकायिक जीवों की उत्कृष्ट आयु बारह हजार वर्ष की, खर पृथ्वीकायिक जीवों की बाईस हजार वर्ष की, जलकायिक जीवों की उत्कृष्टायु सात हजार वर्ष की, अग्निकायिक जीवों की तीन दिन की तथा वायुकायिक जीवों की तीन हजार वर्ष की उत्कृष्ट आयु है ।

वनस्पतिकायिक जीवों की उत्कृष्टायु दस हजार वर्ष, द्वीन्द्रिय जीवों की बारह वर्ष, त्रेन्द्रिय जीवों की उनचास (४९) दिन की तथा चतुरिन्द्रिय जीवों की उत्कृष्टायु छह मास प्रमाण होती है ।

महामत्स्यों की उत्कृष्टायु एक कोटि पूर्व की, सरीसृप जीवों की नवपूर्वाङ्ग अर्थात् सात करोड़ छप्पन लाख वर्षों की, पक्षियों की बहत्तर हजार वर्षों की और सर्पों की बयालीस हजार वर्षों की उत्कृष्टायु होती है ।

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय तथा चतुरिन्द्रिय जीवों की जघन्य आयु स्वांस के अठारह भागों में से एक भाग प्रमाण होती है ।

गर्भज संज्ञी जीवों की अल्पायु और पुण्यहीन गर्भज मनुष्यों की सर्व जघन्य आयु मात्र अन्तर्मुहूर्त प्रमाण की होती है ।

नोट—लब्ध्यपर्याप्तक, संज्ञी, असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों की तथा लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यों की जघन्यायु श्वास के अठारहवें भाग होती है ।

स्पर्शन आदि पांचों इन्द्रियों की आकृति—

श्रोत्रेन्द्रियस्य संस्थानं यवनालसमाकृतिः ।
चक्षुरिन्द्रिय संस्थानं वृत्तं मसूरिकासमम् ।।१४२१।।
संस्थानं घ्राणखस्यास्त्यति मुक्त पुष्पसन्निभम् ।
जिह्वेन्द्रियस्य संस्थानमर्धचन्द्र समानकम् ।।१४२२।।
स्पर्शेन्द्रिय सस्थानमनेका कारमस्ति च ।
समादि चतुरस्त्रादि भेद भिन्नं च षड्विधम् ।।१४२३।।

कर्णेन्द्रिय का आकार यव की नाली के सदृश, चक्षुरिन्द्रिय का आकार मसूर सदृश (गोल) घ्राणेन्द्रिय का आकार तिल के पुष्प सदृश और जिह्वा इन्द्रिय का आकार अर्ध चन्द्र सदृश कहा गया है ।

स्पर्शनेन्द्रिय का आकार अनेक प्रकार का होता है, क्योंकि समचतुरस्त्र आदि भेदों से संस्थान छः प्रकार के होते हैं ।

इन्द्रियों के भेद-प्रभेद—

द्रव्य भाव विभेदाभ्यामिन्द्रियं द्विविधं स्मृतम् ।
अन्तर्निवृत्ति बाह्योपकरणाद् द्रव्यखं द्विविधा ।।१४२४।।
लब्ध्युपयोग भेदाभ्यां द्विधा भावेन्द्रिय मतम् ।
अन्तरात्म प्रदेशोत्थं कर्मक्षयसमुद्भवम् ।।१४२५।।

द्रव्येन्द्रियों और भावेन्द्रियों के भेद से इन्द्रियां दो प्रकार की होती हैं । इनमें अभ्यन्तर में रचना और बाह्य में उपकरणों के भेद से द्रव्येन्द्रियां दो प्रकार की तथा लब्धि एवं उपयोग के भेद से कर्मों के क्षयोपशम से आत्मप्रदेशों में उत्पन्न होने वाली भावेन्द्रियां भी दो प्रकार की हैं ।

अब पांचों इन्द्रियों के विषयों का स्पर्श बताते हैं—

पृथिव्यादि वनस्पत्यन्तै काक्षाणां मतः श्रुते ।
स्पर्शाख्यो विषयो लोके धनुः शत चतुष्टयम् ।।१४२६।।
द्वीन्द्रियाणां भवेत्स्पर्श विषयो दूरतो भजन् ।
स्पर्शाक्षेण विषयार्थान् धनुरष्टशत प्रमः ।।१४२७।।
विषयो रसनाख्योत्थश्चतुः षष्टि धनु प्रमः ।
श्रोन्द्रियासुमतां स्पर्श विषयः स्पर्शन क्षमः ।।१४२८।।
स्पर्शार्थानां च चापानां स्यात्षोडश शतप्रमः ।
जिह्वाक्ष विषयश्चाप शताष्टाविंशति भंवेत् ।।१४२९।।
घ्राणाक्ष विषय ख्याप्ति धनुषां शतमानकः ।
चतुरिन्द्रिय जीवानां विषयः स्पर्शनाक्षजः ।।१४३०।।
द्वात्रिंशच्छत चापानि विषयो रसाक्षजः ।
धनुषां द्विशते षट् पञ्चाशदग्ररसाविवित् ।।१४३१।।

घ्राणाख्य विषयश्चाप शतद्वय प्रमाणकः ।
विषयश्चक्षुरक्षोत्थो दूरार्थदर्शको भवेत् ॥१४३२॥
चतुः पञ्चाशदग्रं कोनत्रिंशच्छत योजनः ।
असंज्ञि पञ्चकानां च विषयः स्पर्शनप्रजः ॥१४३३॥
चापानां हि चतुः षष्टिः शतानि रसनाक्षजः ।
विषयो धनुषां द्वादशाग्र पञ्चशतानि च ॥१४३४॥
विषयो घ्राण रवोत्पन्नो धनुः शत चतु प्रमः ।
चक्षुरिन्द्रियसंजात विषयो रूपिदर्शकः ॥१४३५॥
योजनानां किलाष्टाग्रं कोनषष्टि शत प्रमः ।
श्रोत्राक्ष विषयश्चापाष्ट सहस्त्र प्रमाणकः ॥१४३६॥
संज्ञि पंचेन्द्रियाणां च स्पर्शाक्षस्याखिलोत्तमः ।
रसनाक्षस्य हि घ्राणेन्द्रियस्य विषयो भुवि ॥१४३७॥
प्रत्येकं वर्तते स्वस्वार्थं योजन नव प्रमः ।
सहस्त्राः सप्तचत्वारिंशत्त्रिषष्टयधिके शते ॥१४३८॥
द्वे महायोजनानां चैकक्रोशो धनुषां तथा ।
दण्ड पञ्चदशाग्राणि द्वाधशैव शतानि च ॥१४३९॥
हस्तैको यवतुर्यांशाग्रं द्वेऽङ्गुलेऽखिलोत्तमाः ।
इत्यस्ति संज्ञिनां चक्षुर्विषयो दूरदर्शकः ॥१४४०॥
श्रोत्रस्य विषयो ज्येष्टो योजन द्वादशप्रमः ।
पञ्चैते विषयोत्कृष्टा ज्ञेया महर्षि चक्रिणाम् ॥१४४१॥

आगम में पृथिवी कायिक से लेकर वनस्पतिकायिक पर्यन्त एकेन्द्रिय जीवों के स्पर्श का उत्कृष्ट विषय क्षेत्र ४०० धनुष कहा है। द्वीन्द्रिय जीवों के स्पर्श का विषय क्षेत्र ८०० धनुष है। और इन्हीं द्वीन्द्रिय जीवों के रसनेन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय क्षेत्र ६४ धनुष प्रमाण है। त्रीन्द्रिय के स्पर्शनेन्द्रिय का विषय क्षेत्र १६०० धनुष, रसनेन्द्रिय का विषय क्षेत्र १२८ धनुष प्रमाण है और घ्राणेन्द्रिय का विषय क्षेत्र १०० धनुष प्रमाण है। चतुरिन्द्रिय जीवों के स्पर्शनेन्द्रिय का विषय का क्षेत्र ३२०० धनुष रसनेन्द्रिय का विषय क्षेत्र २५६ धनुष, घ्राणेन्द्रिय का विषय क्षेत्र २०० धनुष और चक्षुरिन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय क्षेत्र २९५४ योजन प्रमाण होता है। असंज्ञी

पंचेन्द्रिय जीवों का स्पर्शनेन्द्रिय का विषय क्षेत्र ६४०० धनुष, रसनेन्द्रिय का ५१२ धनुष घ्राणेन्द्रिय का ४०० धनुष, चक्षुरिन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय क्षेत्र ५९०८ योजन और श्रोत्रेन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय क्षेत्र ८०० धनुष प्रमाण होता है। संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के स्पर्शनेन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय क्षेत्र ९ योजन, रसनेन्द्रिय का ९ योजन, घ्राणेन्द्रिय का ९ योजन चक्षुरिन्द्रिय का विषय क्षेत्र ४७२६३ योजन १ कोस, १२१५ धनुष, १, १/४ हाथ २ अंगुल और १/४ यव प्रमाण है, तथा श्रोत्रेन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय क्षेत्र योजन १२ योजन प्रमाण है, चक्षुरिन्द्रिय आदि का यह उत्कृष्ट विषय क्षेत्र ऋद्धिधारी मुनिराजों एवं चक्रवर्तियों के ही होता है।

एकेन्द्रियादि जीवों की संख्या का प्रमाण—

अथैकाक्षादि जीवानां प्रमाणं पृथगुच्यते।
वनस्पतौ निकोतानामनोऽनन्ता प्रोदिता जिनैः ॥१४४२॥
पृथ्वीकायिक अप्कायिकास्तेजोमयाङ्गिनः।
वायुकाया इमे सर्वे प्रत्येकं गदिता जिनैः ॥१४४३॥
असंख्य लोकमात्राश्चा संख्यलोकस्य सन्त्यपि।
यावन्तोऽत्र प्रदेशास्तावन्मात्राः सूक्ष्मकायिकाः ॥१४४४॥
पुनस्ते पृथिवीकायाद्याश्चतुर्विध बादरः।
पृथग् वासंख्य मात्रा अयं विशेषोऽस्ति चागमे ॥१४४५॥
द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियास्तुर्येन्द्रियाःपञ्चेन्द्रिया मताः।
प्रत्येकं चाप्यसंख्याताः श्रेणयः परमागमे ॥१४४६॥
प्रतराङ्गुलसंज्ञास्या संख्येयभाग सम्मिताः।
अथ वक्ष्ये गुणस्थानैः संख्याश्च आदिजाङ्गिनाम् ॥१४४७॥

अब एकेन्द्रिय आदि जीवों का पृथक् प्रमाण कहते हैं। वनस्पतिकायिक जीवों में जिनेन्द्र भगवान् ने निगोद जीवों को अनन्तानन्त कहा है। जिनेन्द्र देव के द्वारा बादर पृथ्वीकायिक, बादर अग्नि कायिक और बादर वायुकायिक जीव असंख्यात लोक मात्र अर्थात् असंख्याता संख्यात कहे गये हैं, और असंख्यात लोक के प्रदेशों का जितना प्रमाण है पृथक्-पृथक् उतने ही प्रमाण सूक्ष्म पृथिवीकायिक, सूक्ष्म जलकायिक सूक्ष्म अग्निकायिक तथा सूक्ष्म वायु कायिक जीव कहे गये हैं। पुनः बादर पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुकायिक जीव पृथक्-पृथक् असंख्यात-असंख्यात ही हैं। आगम में

विशेष है। परमागम में द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय जीवों का पृथक् पृथक प्रमाण असंख्यात श्रेणी कहा गया है। अर्थात् द्विन्द्रिय जीव असंख्यात श्रेणी प्रमाण त्रीन्द्रिय जीव असंख्यात श्रेणी प्रमाण है। इत्यादि (परन्तु पूर्व पूर्व द्वीन्द्रियादिक की अपेक्षा उत्तरोत्तर त्रीन्द्रियादिक का प्रमाण क्रम से हीन है और इसका प्रतिभागहार आवलि का असंख्यातवां भाग है)। असंख्यात श्रेणी का प्रमाण प्रतरांगुल का असंख्यातवां भाग माना गया है। अब मैं गुणस्थानों के माध्यम से नरकादि में उत्पन्न जीवों की संख्या कहूंगा।

अब प्रत्येक गतियों के गुणस्थानों में जीवों का प्रमाण क्या है ?

नरक गति गत प्रथम नरक में मिथ्यादृष्टि नारकी जीव असंख्यात श्रेणी प्रमाण हैं, जो घनांगुल के कुछ कम द्वितीय वर्ग मूल प्रमाण है। द्वितीय पृथिवी से सप्तम पृथिवी पर्यन्त के छह नरकों में मिथ्यादृष्टि जीव श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। सातों नरक भूमियों में सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टि जीवों का पृथक्-पृथक् प्रमाण पल्योपम के असंख्यातवें भाग है। तिर्यञ्चगति में मिथ्यादृष्टि जीव अनन्त हैं। सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि असंयतसम्यग्दृष्टि और देश संयत जीव पृथक् पृथक् पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। मनुष्य गति में मिथ्यादृष्टि मनुष्य श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। और वह श्रेणी का असंख्यातवां भाग असंख्यात कोड़ा कोड़ी योजन प्रमाण है। सासादन गुणस्थानवर्ती जीव ५२ करोड़ प्रमाण हैं। तृतीय स्थानवर्ती सम्यग्मिथ्यादृष्टि मनुष्य १०४ करोड़ प्रमाण, चतुर्थ गुणस्थान में अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य ७०० करोड़ प्रमाण, पंचम गुणस्थान में देश संयत मनुष्य उत्कृष्टतः १३ करोड़ प्रमाण हैं। प्रमत्त गुणस्थान में प्रमत्त संयत मुनिराज उत्कृष्टतः ५९३९९२०६ है। अप्रमत्त गुणस्थान में अप्रमत्त संयत मुनिराज २९६९९१०३ हैं। अपूर्व करण गुणस्थान में उपशम श्रेणीगत योगी २९९ हैं और क्षपक श्रेणीगत क्षपक जीव ५९८ हैं। अनवृत्तिकरण गुणस्थान में उपशम श्रेणिगत जीव २९९ और क्षपक श्रेणीगत ५९८ हैं। सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान में उपशम श्रेणी आरोहित मुनिराज २९९ हैं और क्षपक श्रेणिगत मुनिराज ५९८ हैं। उपशान्त कषाय गुणस्थान स्थित मुनिराजों का प्रमाण २९९ हैं तथा क्षीणकषाय गुणस्थान वर्ती योगियों का प्रमाण ५९८ है। सयोग गुणस्थान में सयोगिजनों की सर्वोत्कृष्ट संख्या प्रमाण ८९८५०२ हैं। अयोग गुणस्थान स्थित अयोगिजनों का प्रमाण उत्कृष्टतः ५९८ होता है। चतुर्थकाल

में अढ़ाई द्वीप स्थित छठवें गुणस्थान से १४ वें गुण स्थान पर्यन्त के सर्व योगिराजों का योग करने पर सर्व तपोधनों का उत्कृष्ट प्रमाण ८९९९९९७ और तीन कम नौ करोड़ प्राप्त होता है।

देवगति में ज्योतिष्क और व्यन्तर देवों का प्रमाण असंख्यात श्रेणी स्वरूप प्रतर से असंख्यातवें भाग प्रमाण और भवनवासी मिथ्यादृष्टि देव असंख्यात श्रेणी स्वरूप अर्थात् घनांगुल के प्रथम वर्गमूल प्रमाण श्रेणी है। सौधर्मैशान स्वर्गों में मिथ्यादृष्टि देव असंख्यात श्रेणी स्वरूप अर्थात् घनांगुल के तृतीय वर्गमूल प्रमाण श्रेणियां हैं। सानत्कुमारादि कल्पों में और कल्पातीत स्वर्गों में मिथ्यादृष्टि देवश्रेणी के असंख्यातवें भाग अर्थात् असंख्यात योजन करोड़ क्षेत्र के जितने प्रदेश हैं उतनी संख्या प्रमाण है। ज्योतिष्कों व्यन्तरवासी देवों, सौधर्मैशान स्वर्गों, सानत्कुमारादि कल्पों और कल्पातीत विमानों में सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयत-सम्यग्दृष्टि देवों का प्रत्येक स्थानों में पृथक्-पृथक् प्रमाण पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र है।

जीवों के प्रमाण का अल्पबहुत्व—

चतुर्गतिषु संसारे मध्ये स्युः सकलाङ्गिनाम्।
अत्यल्पा मानवाः श्रेण्यसंख्येय भाग मात्रकाः ॥१४४८॥
मनुष्येभ्योऽप्यसंख्यात गुणा नरक योनिषुः।
नारकाः स्युरसंख्याताः श्रेणयो दुःख विह्वला ॥१४४९॥
नारकेभ्योऽप्यसंख्यातगुणा देवाश्तुर्विधाः।
भवन्ति प्रतरासंख्येय भाग सम्मिताः शुभाः ॥१४५०॥
देवेभ्यः सिद्धनाथाः स्युरनन्त गुण मानकाः।
सिद्धेभ्योऽखिल तिर्यञ्चः सन्त्यनन्तगुणप्रभाः ॥१४५१॥

इस चतुर्गति संसार में पचेंद्रिय जीवों में मनुष्य सबसे स्तोक हैं, इनका प्रमाण श्रेणी के असंख्यातवें भाग मात्र है। नरक भूमियों में दुःख से विह्वल नारकी जीव मनुष्यों से असंख्यात गुणे हैं, जो असंख्यात श्रेणी प्रमाण है। नारकियों से असंख्यात-गुणे चतुर्निकाय के देव हैं, जो प्रतर के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। देवों से अनंतगुणे सिद्ध भगवान हैं, और सिद्धों से अनंत गुणे तिर्यञ्च जीव हैं।

नरकगति की अपेक्षा अल्पबहुत्व—

सप्तमे नरके सन्ति सर्वस्तोकाश्च नारकाः ।
तस्योऽपि नारकेभ्यः स्युरुपर्युपरिवर्तिषु ॥१४५२॥
षट् पृथिवी नरकेष्वत्र नारकाः सुखदूरगाः ।
असंख्यात गुणाः प्रत्येकं दुःखाम्बुधि मध्यगाः ॥१४५३॥

सप्तम नरक में नारकी जीव सबसे स्तोक हैं। सप्तम नरक से नारकियों से ऊपर ही छहों नरक पृथिवियों में दुःख रूपी समुद्र के मध्य डूबे हुए अत्यन्त दुःखी नारकी जीव असंख्यात गुणे असंख्यात गुणे अधिक अधिक हैं। अर्थात् सप्तम नरक के नारकियों से छठवें नरक के नारकी असंख्यातगुणे, छठवें से पांचवें में असंख्यात गुणे इत्यादि।

प्रश्नः—उन्हीं सप्तम नरक में अलग-अलग व्यास की संख्या किस प्रकार है ?

उत्तर :—अमीषां सप्त नरक पृथ्वीषु व्यासेन पृथक्-पृथक् संख्या निगद्यते। सप्तम पृथ्वी में नारकी जीव सबसे कम अर्थात् श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। (सात राजू की श्रेणी होती है) श्रेणी के दूसरे वर्गमूल से श्रेणी को भागित करने पर जो लब्ध प्राप्त होता है, उतने प्रमाण सप्तम नरक के नारकी जीवों की संख्या है। सप्तम पृथ्वी से छठवीं पृथ्वी में नारकी जीव असंख्यात गुणे हैं। श्रेणी के तृतीय वर्गमूल से श्रेणी को अपहृत (भागित) करने पर जो लब्ध प्राप्त हो उतने प्रमाण नारकी जीव छठवीं पृथ्वी में हैं। छठवीं पृथ्वी से पांचवीं पृथ्वी के नारकी जीव असंख्यात गुणे हैं। श्रेणी के छठवें वर्गमूल से श्रेणी को भागित करने पर जो लब्ध प्राप्त हो उतने प्रमाण पांचवें नरक के नारकी जीवों की संख्या है। पांचवीं पृथ्वी से चतुर्थ पृथ्वी में नारकी जीव असंख्यात् गुणे हैं। श्रेणी के अष्टम वर्गमूल से श्रेणी को भाजित करने पर जितना लब्ध प्राप्त होता है, उतने ही प्रमाण चतुर्थ पृथ्वी के नारकी जीवों का है। चतुर्थ पृथ्वी से तृतीय पृथ्वी के नारकी जीव असंख्यात गुणे हैं। श्रेणी के दसवें वर्गमूल से श्रेणी को भाजित करने पर जो लब्ध प्राप्त हो, उतनी संख्या प्रमाण जीव तृतीय पृथ्वी में है। तृतीय पृथ्वी से द्वितीय पृथ्वी के नारकी जीव असंख्यात गुणे हैं। श्रेणी के बारहवें वर्गमूल से श्रेणी को भाजित करने पर जो लब्ध प्राप्त हो उतने प्रमाण जीव द्वितीय पृथ्वी में हैं, वे श्रेणी के एक भाग प्रमाण प्राप्त होते हैं। द्वितीय से प्रथम पृथ्वी के नारकी जीव असंख्यात गुणे हैं,

वे संख्या में घनांगुल के वर्गमूल प्रमाण श्रेणियों के बराबर हैं, अर्थात् श्रेणी को घनांगुल के वर्गमूल से गुणित करने पर जो संख्या प्राप्त हो तत्प्रमाण (प्रथम पृथ्वी में नारकी) हैं।

तिर्यञ्चगति की अपेक्षा अल्पबहुत्व—

पञ्चेन्द्रिया हि तिर्यञ्चः सर्वस्तोका महीतले ।
भवन्ति प्रतरासंख्यातभाग प्रमितास्ततः ॥१४५४॥
पञ्चाक्षेभ्यश्चतुर्याक्षाः स्युर्विशेषाधिका भुवि ।
स्वकीय राश्य संख्यात भाग मात्रेण दुःखिनः ॥१४५५॥
तुर्याक्षेभ्यस्तथा द्वीन्द्रिया विशेषाधिका मताः ।
विशेषाः स्वस्वराशेश्चासंख्यातभाग मात्रकाः ॥१४५४॥
द्वीन्द्रियेभ्यस्तथा त्रीन्द्रिया विशेषाधिकाः स्मृताः ।
विशेषः स्वस्वराशेरसंख्येय भाग मात्रकाः ॥१४५७॥
त्रीन्द्रियेभ्यस्तथैकाक्षा अनन्तगुणसम्मिताः ।
अथ वक्ष्ये नृणां संख्याल्पबहुत्वं यथागमम् ॥१४५८॥

तिर्यञ्च राशि की अपेक्षा संसार में पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च जीव सर्व स्तोक अर्थात् प्रतर के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों से अत्यंत दुःख से युक्त चतुरिन्द्रिय जीव विशेष अधिक है। अर्थात् पंचेंद्रिय तिर्यञ्चों की राशि के असंख्यातवें भाग प्रमाण अधिक हैं। चतुरिंद्रिय जीवों से द्वीन्द्रिय जीव विशेष अधिक हैं। वह विशेष का प्रमाण अपनी-अपनी राशि अर्थात् चतुरिन्द्रिय राशि का असंख्यातवां भाग है। द्वीन्द्रिय जीव राशि से त्रीन्द्रिय जीव विशेष अधिक हैं। विशेष का प्रमाण अपनी-अपनी राशि अर्थात् द्वीन्द्रिय जीव राशि का असंख्यातवां भाग मात्र है। त्रीन्द्रिय जीव राशि के प्रमाण एकेन्द्रिय जीव राशि अनंतगुणी अधिक है। अब मैं आगम के अनुसार मनुष्यों की संख्या का अल्पबहुत्व कहूँगा।

मनुष्य गति में स्थित मनुष्यों का अल्पबहुत्व—

भवन्ति नृगतौ सर्वस्तोकाः संख्यातमानवाः ।
अन्तर्द्वीपेषु विश्वेषु पिण्डितास्तेभ्य एव च ॥१४५९॥
अन्तर्द्वीप मनुष्येभ्यः संख्यातगुण सम्मिताः ।
दशसूत्कृष्ट सद्भोग भूमिषु प्रवरा नराः ॥१४६०॥

तेभ्यो मर्त्याश्च संख्यातगुणाधिका जिनैः स्मृताः ।
हरि रम्यक वर्षेषु द्विपञ्चसु सुभोगिनः ॥१४६१॥
तेभ्य आर्याश्च संख्यातगुणा दशसु सन्ति वै ।
सु हैमवत हैरण्य वतान्त भोग भूमिषु ॥१४६२॥
तेभ्योऽपि भरतैरावतेषु हि पञ्चसु स्फुटम् ।
कर्म भूमिषु संख्यात गुणा नराः शुभाशुभाः ॥१४६३॥
तेभ्यः पञ्चविदेहेषु संख्यात गुणा मानवाः ।
तेभ्यः सम्मूर्छनोत्पन्ना असंख्यातगुणा नराः ॥१४६४॥
भवन्ति श्रेण्यसंख्यातैक भाग मात्रका अपि ।
स च श्रेणेरसंख्यात भाग आख्यात आगमे ॥१४६५॥
असंख्य योजनैः कोटि कोटि प्रदेश मात्रकाः ।
एते स्युर्लब्ध्यपर्याप्ता मर्त्याः सम्मूर्छनोद्भवाः ॥१४६६॥
नाभौस्तानान्तरे योनौ कक्षायां च निसर्गतः ।
सूक्ष्मा नरा इमे स्त्रीणां जायन्ते दृष्ट्यगोचराः ॥१४६७॥
शेषा ये गर्भजा मर्त्याः पर्याप्तास्ते न चेतराः ।
अथ देवगतौ वक्ष्येऽल्प बहुत्वं जिनागमात् ॥१४६८॥

मनुष्यगति में लवणोदधि और कालोदधि समुद्रों में स्थित ९६ अंतर्द्वीपों के मनुष्यों का प्रमाण एकत्रित करने पर भी वे सर्व स्तोक हैं। अंतर्द्वीपों के मनुष्यों से पञ्चमेरु सम्बंधी दश उत्कृष्ट भोग भूमिओं के मनुष्य संख्यात गुणे हैं।

उत्कृष्ट भोगभूमियों के मनुष्यों से पञ्चमेरु सम्बंधी हरि-रम्यक नामक दश मध्यम भोग भूमियों के मनुष्य संख्यात गुणे हैं।

मध्यम भोग भूमियों से हैमवत-हैरण्यवत नामक १० जघन्य भोग भूमियों के मनुष्य संख्यात गुणे हैं, और जघन्य भोगभूमियों के प्रमाण से पञ्च भरत, पञ्च ऐरावत नामक दश कर्मभूमियों में शुभ-अशुभ कर्मों से युक्त मनुष्य संख्यात गुणे हैं।

कुभूमिज मनुष्यों के प्रमाण से पंचविदेह क्षेत्रों में मनुष्य संख्यात गुणे हैं और विदेहस्थ मनुष्यों के प्रमाण से सम्मूर्च्छन मनुष्यों का प्रमाण असंख्यात गुणा है। जो श्रेणी के असंख्यात भागों में से एक भाग मात्र है।

आगम में उस श्रेणी के असंख्यातवें भाग का प्रमाण असंख्यात कोटा-कोटी

योजन क्षेत्र में जितने प्रदेश होते हैं, उतने प्रमाण वाले हैं, अतः सम्मूर्च्छन जन्म वाले लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यों का भी यही प्रमाण है ।

दृष्टि अगोचर ये सूक्ष्म लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य कर्मभूमिज स्त्रियों की नाभि, योनि, स्तन और कांख में स्वभावतः उत्पन्न होते हैं ।

इन अपर्याप्तक मनुष्यों के अवशेष गर्भज मनुष्य पर्याप्त ही होते हैं, अपर्याप्तक नहीं । अब आगमानुसार देवगति में अल्पबहुत्व कहते हैं ।

देवगति की अपेक्षा अल्पबहुत्व—

विमानवासिनः स्तोकादेवा देव्यो भवन्ति च ।
तेभ्योऽसंख्य गुणाः सन्ति दशधा भावनामराः ।।१४६९।।
तेभ्योऽसंख्यगुणा देवा व्यन्तरा अष्टधा मताः ।
तेभ्यः पञ्चविधा ज्योतिष्काः संख्यातगुणाः स्मृताः ।।१४७०।।

देवगति में विमानवासी देव देवियों का प्रमाण सर्वस्तोक है । विमानवासी देवों के प्रकार से दश प्रकाश के भवनवासी देवों का प्रमाण असंख्यात गुणा है । भवनवासी देवों से आठ प्रकार के व्यन्तर देवों का प्रमाण असंख्यात गुणा है । और व्यन्तर देवों से पांच प्रकार के ज्योतिषी देवों का प्रमाण संख्यात गुणा है ।

देवों का भिन्न-भिन्न अल्पबहुत्व—

देवगति गत सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्र देव सबसे स्तोक हैं । इनसे विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित में तथा नवोत्तर विमानों में स्थित सर्व अहमिन्द्र देव असंख्यात गुणे अर्थात् पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं । इनसे नवग्रैवेयक, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत स्वर्गों के देव संख्यात गुणे अर्थात् पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं । इनसे शतार-सहस्त्रार स्वर्ग के देव असंख्यात गुणे अर्थात् श्रेणी के चतुर्थ वर्गमूल का श्रेणी में भाग देने पर जो लब्ध प्राप्त हो उसके एक भाग प्रमाण हैं । इनसे शुक्र-महाशुक्र कल्प के देव असंख्यात गुणे अर्थात् श्रेणी के पंचम वर्गमूल से भाजित श्रेणी के एक भाग प्रमाण हैं । इनसे लान्तव, कापिष्ट कल्प के देव असंख्यात गुणे अर्थात् श्रेणी के सप्तम वर्गमूल से खण्डित श्रेणी के एक भाग प्रमाण हैं । इनसे ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर कल्प के देव श्रेणी के नवम वर्गमूल से खण्डित श्रेणी के एक भाग प्रमाण हैं । इनसे सानत्कुमार-महेन्द्र कल्प के देव असंख्यात गुणे अर्थात् श्रेणी के ग्यारहवें वर्गमूल से खण्डित श्रेणी के एक भाग प्रमाण हैं । इनसे सौधर्मैशान

कल्प के देवों का प्रमाण असंख्यात गुणा है। सौधर्म स्वर्ग से सर्वार्थसिद्धि पर्यंत के सर्व-विमानवासी देव असंख्यात श्रेणी प्रमाण है। अर्थात् घनांगुल के तृतीय वर्गमूल से कुछ अधिक प्रमाण श्रेणियां हैं। इनसे असंख्यात गुणे दश प्रकार के भवनवासी देव हैं, जो असंख्यात श्रेणी प्रमाण अर्थात् घनांगुल के प्रथम वर्गमूल का जितना प्रमाण है, उतनी श्रेणियों के प्रमाण हैं। इनसे असंख्यात गुणे आठ प्रकार के व्यन्तर देव हैं, वे जगत्प्रतर के असंख्यातवें भाग प्रमाण अर्थात् संख्यात प्रतरांगुलों से श्रेणी को भाजित करने पर जो लब्ध प्राप्त हो उतनी श्रेणियाँ प्रमाण है। इनसे संख्यात गुणे पांच प्रकार के ज्योतिषी देव हैं। वे ज्योतिष देव जगत्प्रतर के असंख्यात भाग प्रमाण हैं। अर्थात् पूर्वोक्त संख्यात प्रतरांगुलों से संख्यातगुणे हीन प्रतरांगुलों द्वारा श्रेणी को खण्डित करने पर जो प्रमाण आवे उतनी श्रेणियां हैं।

जीवों की पर्याप्तियां और प्राणों का कथन—

आहारोऽथ शरीरं चेन्द्रियान प्राण संज्ञको।
भाषा मन इमाः षट्स्युः पर्याप्तयोऽत्र संज्ञिनाम् ॥१४७१॥
असंज्ञि विकलाक्षाणां स्युस्ताः पञ्च मनो विना।
एकाक्षाणां चतस्त्रश्च पर्याप्तयो वचो विना ॥१४७२॥
पञ्चेन्द्रियाह्वयाः प्राणा मनोवाक्काय जास्त्रयः।
आन प्राणास्तथायुश्चामी प्राणा दश संज्ञिनाम् ॥१४७३॥
असंज्ञिनां नव प्राणास्ते भवन्ति मनो विना।
चतुरिन्द्रियजीवानामष्टौ श्रोत्रं विनापरे ॥१४७४॥
श्रीन्द्रियाणां च ते प्राणाः सप्त चक्षुर्विना स्मृताः।
द्वीन्द्रियाणां च षट् प्राणाः सन्ति घ्राणेन्द्रियं विना ॥१४७५॥
पृथिव्यादि वनस्पत्यन्त पञ्चस्थावरात्मनाम्।
एकाक्षाणां चतुः प्राणा रसनाक्ष वचोऽतिगाः ॥१४७६॥
पञ्चेन्द्रियाह्वयाः प्राणा आयुः शरीरमित्यमी।
सप्तप्राणा अपर्याप्तसंज्ञि पञ्चाक्षजन्मिनाम् ॥१४७७॥
पञ्चाक्षायुः शरीराख्याः प्राणाः सप्त भवन्ति च।
असंज्ञिनाम पर्याप्त पञ्चेन्द्रियात्त देहिनाम् ॥१४७८॥

चत्वार इन्द्रियः प्राणा आयुः काय इमे मताः ।
प्राणाः षट् भुक्ष्यपर्याप्त चतुरिन्द्रिय जन्मिनाम् ॥१४७९॥

स्पर्शक्षिरसन घ्राणाक्षायुः काया अपीत्यमी ।
प्राणाः पञ्चह्मपर्याप्त श्रीन्द्रिया सुमतां स्मृताः ॥१४८०॥

स्पर्श जिह्वाक्ष कायायुः प्राणाश्चत्वार एव हि ।
आगमे कीर्तिता द्वीन्द्रिया पर्याप्ताङ्गिनां जिनैः ॥१४८१॥

स्पर्शेन्द्रिय शरीरायुः प्राणास्त्रयो मता जिनैः ।
अपर्याप्त पृथिव्यादि पञ्चस्थावर जन्मिनाम् ॥१४८२॥

गृहीत आहार वर्गणा को खल-रस आदि रूप परिणमाने की जीव की शक्ति के पूर्ण होने को पर्याप्ति कहते हैं। आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन इस प्रकार पर्याप्ति के छह भेद हैं। संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के छहों पर्याप्तियाँ होती हैं।

असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के और विकलेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय जीवों के मन पर्याप्ति के बिना पाँच तथा एकेन्द्रिय जीवों के मन और वचन के बिना चार पर्याप्तियाँ होती हैं।

प्राण :- (जिनके सद्भाव में जीव में जीवितपने का और वियोग होने पर मरणपने का व्यवहार हो, उन्हें प्राण कहते हैं)। पांच इन्द्रिय (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु कर्ण) प्राण मनोबल, वचन बल और काय बल के भेद से तीन बल प्राण एक श्वासोच्छ्वास और एक आयु, इस प्रकार दश प्राण होते हैं। असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों के मनोबल को छोड़कर, शेष नव प्राण होते हैं, चतुरिन्द्रिय जीवों के श्रोत्रेन्द्रिय को छोड़कर आठ प्राण, त्रीन्द्रिय जीवों के चक्षु को छोड़कर, सात प्राण और द्वीन्द्रिय जीवों के घ्राणेन्द्रिय को छोड़कर शेष छह प्राण होते हैं। पृथिवी कायिक से लेकर वनस्पति कायिक पर्यन्त, पांचों स्थावर जीवों के रसनेन्द्रिय और वचनबल को छोड़कर शेष चार प्राण होते हैं। संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक जीवों के पांच इन्द्रियां कायबल और आयु इस प्रकार सात प्राण होते हैं। असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक जीवों के पांच इन्द्रियां, कायबल और आयु ये ही सात प्राण होते हैं। अपर्याप्तक चतुरिन्द्रिय जीवों के चार इन्द्रियां, आयु और काय बल ये छह प्राण होते

हैं। अपर्याप्तक त्रीन्द्रिय जीवों के स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियां, आयु और कायबल, ये पांच प्राण होते हैं। जिनेन्द्रों के द्वारा आगम में अपर्याप्तक द्वीन्द्रिय जीवों के स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय आयु और कायबल, ये चार प्राण कहे गये हैं। जिनेन्द्र के द्वारा स्पर्शनेन्द्रिय, कायबल और आयु ये तीन प्राण अपर्याप्तक पृथिवी आदि पांच स्थावर जीवों के कहे गये हैं।

जीवों की गति-आगति का प्रतिपादन—

ये पृथ्वीकायिकाप्कायिका वनस्पति देहिनः ।
द्वि त्रिचतुर्यक्ष पञ्चाक्षा लब्ध्य पर्याप्त काश्च ये ॥१४८३॥
पृथ्व्याद्रिक वनस्पत्यन्ताः सूक्ष्माः निखिलाश्च ये ।
जीवाः पर्याप्त का पर्याप्तापे जीवायुकायिकाः ॥१४८४॥
सूक्ष्म बादर पर्याप्ता पर्याप्ताः सकलाश्च ते ।
असंज्ञिनश्च सर्वेषां तेषां मध्ये विधेर्वशात् ॥१४८५॥
उत्पद्यन्ते व्रतातीता स्तिर्यञ्चो मानवाः अघात् ।
तस्मिन्नेव भवे मृत्वा स्वार्तध्यानकुलेश्यया ॥१४८६॥
पृथ्वीकायास्तथाप्कायिका वनस्पतिकायिकाः ।
सूक्ष्म बादर पर्याप्त पर्याप्ता विकलेन्द्रियाः ॥१४८७॥
एते कर्म लघुत्वेन आयन्ते तद्भवे मृताः ।
नृतिर्यग्भवयोर्मध्ये काललब्ध्या न संशयः ॥१४८८॥
सूक्ष्म बादर पर्याप्ता पर्याप्तनलकायिकाः ।
सूक्ष्म बादर पर्याप्तापर्याप्तवायुकायिकाः ॥१४८९॥
न लभ्यन्ते मनुष्यत्वं मृत्वा तस्मिन् भवे क्वचित् ।
किन्त्वेते केवलं तिर्यग्योनिं यान्ति कुकर्मभिः ॥१४९०॥
प्रत्येकाख्य वनस्पत्यङ्गिषु पृथ्व्यम्बुयोनिषु ।
बादरेषु च पर्याप्तेषु जायन्ते विधेर्वशात ॥१४९१॥
आर्तध्यानेन दुर्मृत्यु प्राप्य संक्लिष्ट मानसाः ।
तिर्यञ्चो मानवा देवास्तस्मिन्भवे व्रतातिगाः ॥१४९२॥
नृगतौ भोगभूम्यादि वर्जितायां सुरेषु च ।
भावन व्यन्तर ज्योतिष्कजेषु नरकादिमे ॥१४९३॥

कर्म भूमिजतिर्यग्योनिषु सर्वासु तद्भवे ।
तिर्यश्चोऽसंज्ञि पर्याप्ता उत्पद्यन्ते स्वकर्मणा ॥१४९४॥
तिर्यञ्चो मानवा भोगभूजास्तद्भोगजास्तथा ।
यान्ति देवालयं सर्वे नूनं मन्द कषायिणः ॥१४९५॥

पृथिवीकायिक, जलकायिक, वनस्पतिकायिक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय इन लब्ध्यपर्याप्तक जीवों में पर्याप्त एवं अपर्याप्तक सूक्ष्मकाय पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिकायिक जीवों में समस्त अग्नि कायिक, वायु कायिक जीवों में तथा सम्पूर्ण असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक अपर्याप्तक जीवों में पाप कर्म के वशीभूत होते हुए व्रत रहित तिर्यञ्च और मनुष्य उत्पन्न होते हैं, तथा आर्तध्यान एवं कुलेश्याओं से युक्त सूक्ष्म-बादर पर्याप्तक और अपर्याप्तक पृथिवी कायिक, जल कायिक, वनस्पतिकायिक जीव एवं पर्याप्तक अपर्याप्तक विकलेन्द्रिय जीव इन पर्यायों से मरकर कर्मों के कुछ मंदोदय से एवं काललब्धि से मनुष्यों तथा तिर्यञ्चों में उत्पन्न होते है । सूक्ष्म, बादर, पर्याप्तक और अपर्याप्तक अग्नि कायिक जीव तथा सूक्ष्म-बादर पर्याप्तक और अपर्याप्तक वायु कायिक जीव इन भवों से मरकर कभी भी मनुष्य पर्याय प्राप्त नहीं करते, दुष्कर्मों के कारण मात्र तिर्यञ्च योनियों में ही उत्पन्न होते हैं । संक्लेश परिणामों से युक्त तथा व्रत रहित तिर्यञ्च, मनुष्य और देव आर्तध्यान एवं कर्मोदय के वश से दुर्मृत्यु को प्राप्त होकर बादर पर्याप्तक पृथिवीकायिक, जलकायिक और प्रत्येक वनस्पति कायिक जीवों में उत्पन्न होते हैं । अपने कर्मों के वशीभूत होते हुए, असंज्ञी पर्याप्त पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च मरकर भोग भूमिज मनुष्यों को छोड़कर मनुष्यगति में, भवन वासी, व्यन्तरवासी और ज्योतिष्क रूप देवगति में, प्रथम नरक में तथा कर्मभूमिज तिर्यञ्च योनि में उत्पन्न होते हैं । भोग भूमिज तिर्यञ्च और मनुष्य नियम से देवों में ही उत्पन्न होते हैं, क्योंकि वे स्वभाव से मन्दकषायी होते हैं ।

धर्म प्राप्ति के लिए जीव रक्षा का उपदेश—

इति विविध सुभेदैर्जीवयोनीर्विदित्वा,
गतिकुलवपुरायुः स्थान संख्याद्यनेकैः ।
स्वपरहित वृषाप्त्यै प्रोदिता ज्ञान दृष्ट्या,
सुचरण शिव कामाः स्वात्मवत्पालयन्तु ॥१४९६॥

इस प्रकार उत्तम चारित्र के साथ-साथ मोक्ष की इच्छा करने वाले सज्जन पुरुषों को स्वपर हितकारी धर्म की प्राप्ति के लिए जीवों की गति, कुल, शरीर, आयु, संस्थान और संख्या आदि के द्वारा नाना प्रकार के भेदों को ज्ञान चक्षु से भली प्रकार जानकर अपनी आत्मा के सदृश ही जीवों की रक्षा करना चाहिये।

(सिद्धान्त सार दीपक, सकल कीर्ति आचार्य)

प्रश्न :—उद्वेलना और विसंयोजना में क्या अन्तर है ?

उत्तर :—मूल प्रकृति की उद्वेलना और विसंयोजना होती नहीं है, उत्तर-प्रकृति अपने रूप खिरती नहीं है, पर प्रकृति में मिलकर खिर जाती है, फिर सत्ता में नहीं रहती है, उसे उद्वेलना कहते हैं। और जो उत्तर प्रकृति अपनी जातीय प्रकृति में मिल जाती है, उसे विसंयोजना कहते हैं। उदाहरण, जैसे अनंतानुबंधी अप्रत्याख्याना-वरण में। यहां विशेष इतना समझना—उद्वेलन की हुई प्रकृति, फिर से बन्ध किये बिना उदय में नहीं आती है। और विसंयोजना वाली उदय में आती है।

प्रश्न: —अन्तर्मुहूर्त के कितने भेद हैं ?

उत्तर :—एक आवली एक समय को जघन्य अन्तर्मुहूर्त कहते हैं। एक समय कम मुहूर्त को उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त कहते हैं तथा भिन्न मुहूर्त कहते हैं—मध्य के असंख्यात भेद हैं।

प्रश्न: —आवली का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—एक मुहूर्त के सैंतीस सौ तिहत्तर स्वासोच्छवास होते हैं। एक स्वासोच्छवास में कोडा कोडी आवली से कुछ अधिक ही होती है। यहां कोई कहता है कि हम तो अंगुली के आवर्त को आवलि जानते हैं, सो उपरोक्त काल तो बहुत थोड़ा हुआ। उसका समाधान करते हैं।

आवलि असंख समया संखेज्जावलिहवेइ उस्सासो।

गोमट सार जीव कांड, गा. २१,

प्रश्न :—सम्यग्दृष्टि आदि परस्पर असंख्यात गुणी अधिक निर्जरा वाले कहे हैं, सो उनका स्वरूप क्या है ?

उत्तर :—सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्त वियोजक, दर्शन मोह, क्षपक उपशमक, उपशांतमोह, क्षायिक, क्षीणमोह, जिन ये दशविध के पुरुष जानने। प्रथम ही प्रथमोपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के पहले करणत्रय के परिणाम के चरम समयवर्ती

विशुद्धि विशिष्ट मिथ्यादृष्टि के जो निर्जरा होती है, उससे असंख्यात् गुणी निर्जरा चौथे गुणस्थान वाले अविरत सम्यग्दृष्टि के होती है। ऐसे ही क्रमशः एक से आगे एक की असंख्यात गुणी निर्जरा होती है।

प्रश्न :—केवलि समुद्घात के आठ समय हैं, उनमें त्रस नाडी के बाहिर जीव के प्रदेश कौन से समय में होते हैं ?

उत्तर :—तेरहवें गुणस्थान के अन्त में आत्मप्रदेश की प्रसरण संवरण रूप क्रिया आठ समय के अन्दर होती है, वहां केवली जो कायोत्सर्गासन सहित होता है, तो बारह अंगुल प्रमाण समवृत अथवा मूल शरीर प्रमाण समवृत्त उपविष्ट होता है, तो मूल शरीर तें त्रिगुणे मोटाई सहित तीनों वातवलय हीन लोक नाड़ी प्रमाण ऊर्द्ध दंडाकार आत्म प्रदेश प्रथम समय में करें। यहां प्रदेश त्रस नाडी के बाहर नहीं गये, तदनन्तर जो केवल पूर्व मुख होंगे तो दक्षिणोत्तर में वातवलय हीन चौदह राजू ऊर्द्धलोक के अन्त तक विस्तीर्ण, दण्ड प्रमाण दल संयुक्त और उत्तर मुख होंगे तो पूर्व पश्चिम में वातवलय हीन चौदह राजू ऊर्द्ध लोक के अन्त तक विस्तीर्ण दंड प्रमाण दल संयुक्त आत्म प्रदेश को कपाटाकार दूसरे समय करते हैं। यहां लोक नाड़ी के बाहर आत्म प्रदेश गए। तदनन्तर वातवलय के समस्त लोक व्यापि आत्मप्रदेशनिकौ, प्रतर, अपर समस्थान नाम समुद्घात करते हैं। यह आकार तीसरे समय में करता है, यहां आत्म प्रदेश बाहर गये। तदनन्तर वातवलय समेत सम्पूर्ण लोक व्यापी आत्म-प्रदेशों को लोकपूर्ण रूप चौथे समय में करता है। यहां भी आत्म प्रदेश बाहर गये। ऐसे चार समय के अन्दर प्रदेश फैलते हैं, और च्यार समय में ही संकोचते हैं। पहले समय में लोक पूर्ण संकोचते हैं। दूसरे समय में प्रतर रूप, तीसरे समय के कपाट रूप, चौथे समय में दंड के रूप, वहां दण्ड के प्रसरण और संवरण रूप में दो समय औदारिक योग है। औदारिक शरीर योग पुद्गल का ग्रहण करता है। कपाट के प्रसरण संवरण के अन्दर प्रत्येक संवरण में तीन समय औदारिक मिश्र योग है। वहां औदारिक मिश्र शरीर योग्य पुद्गल का ग्रहण करता है। प्रतर के प्रसरण में लोक पूरण के प्रसरण संवरण में तीन समय कार्माणयोग है। यहां कोई भी जो कर्म संबंधी पुद्गल का ग्रहण नहीं है, इसीलिए ये अनाहारक है। इस प्रकार आठ समय में केवल समुद्घात का वर्णन किया।

प्रश्न :—चौबीस तिर्थंकरों में कौन-कौनों ने समुद्घात किया ?

उत्तर :—शांतिनाथ और कुंथुनाथजी ने समुद्घात किया ।

१६९ महापुरुषों का वर्णन—

भरत क्षेत्र में जिनागम में १६९ महापुरुष कहे गए हैं । ये विशेष पुण्याधिकारी होते हुए अंत में मोक्ष पदवी को प्राप्त करते हैं । उनके विषय में ज्ञातव्य बातों पर प्रकाश डाला जाता है ।

क्रमांक	१६९ महापुरुषों के नाम	संख्या	विशेष कथन
१	कुलकर या मनु	१४	ये तीसरे काल के अंत में होते हैं। तथा सभी उर्ध्वगामी होते हैं
२	तीर्थंकरों के पिता	२४	सभी उर्ध्वगामी होते हैं ।
३	तीर्थंकरों की माता	२४	सभी उर्ध्वगामी होती हैं ।
४	तीर्थंकर	२४	ये सब चौथे काल में होते हैं और सभी मोक्षगामी होते हैं ।
५	सकल चक्रवर्ती	१२	कोई मोक्षगामी कोई उर्ध्वगामी कोई अधोगामी होते हैं ।
६	बलदेव	९	सभी उर्ध्वगामी होते हैं ।
७	वासुदेव (नारायण)	९	सभी अधोगामी होते हैं ।
८	प्रतिवासुदेव (प्रतिनारायण)	९	,, ,, ,,
९	नारद	९	,, ,, ,,
१०	रुद्र	११	,, ,, ,,
११	कामदेव	२४	सब मोक्षगामी होते हैं ।
		१६९	

इन १६९ महापुरुषों में इस हुंडावसर्पिणी काल के प्रभाव से कुछ संख्या में न्यूनता आ गई है । इसलिये शांतिनाथ, कुन्थुनाथ तथा अरनाथ इन तीन तीर्थंकरों

को कामदेव तथा चक्रवर्ती इन दो पदवियों के भी स्वामी कहे गये हैं। इस प्रकार ये तीन पदवी तीर्थंकर, कामदेव तथा चक्रवर्ती पदवी के धारक कहे गये हैं अतएव व्यक्तियों की गणना की अपेक्षा १६३ महापुरुष हुये हैं।

प्रश्न :—त्रेसठ शलाका महापुरुष कौन से हैं ?

उत्तर :—१६९ पुण्य पुरुषों में चौबीस तीर्थंकर, द्वादश चक्रवर्ती, नव वासुदेव नव प्रतिवासुदेव इस प्रकार ६३ सत्पुरुषों को त्रेसठ शलाका महापुरुष कहते हैं।

यह कथन जम्बूद्वीप सम्बन्धी भरत क्षेत्र की अपेक्षा है। धातकी खंड द्वीप में दो भरत क्षेत्र हैं। इसी प्रकार पुष्करार्ध द्वीप में भी दो भरत क्षेत्र हैं। इन चारों क्षेत्रों में जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र समान १६९ पुण्य पुरुष माने गये हैं। पंच ऐरावत क्षेत्रों के विषय में भी ऐसा ही कथन पाया जाता है। पंच भरत पंच ऐरावत के सद्भाव पंच विदेह भी कहे गये हैं। प्रत्येक पूर्वापर विदेह में जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र के समान बत्तीस-बत्तीस देश हैं। विदेह में सदा चौथे काल सदृश रचना पाई जाती है। यही बात त्रिलोकसार संस्कृत टीका पृ० ३५२ गाथा ८८२ में इस प्रकार कही गई है :—

'चतुर्थ कालो विदेहे चावस्थित एव' विदेह में चतुर्थकाल अवस्थित ही रहता है।

भरह इरावद पण-पण मलेच्छखंडेसु खयर सेढीसु।
दुस्समसुसमादीदो, अंतोत्ति य हाणिबड्ढी य ॥१४९७॥

अर्थ—भरत तथा ऐरावत क्षेत्र सम्बन्धी पांच-पांच म्लेच्छ खंडों के तथा विद्याधर श्रेणियों में चतुर्थ काल के आदि से अंत पर्यंत आयु आदि सम्बन्धी हानि होती है। वहाँ पंचम काल तथा छठवां काल नहीं होते हैं, उत्सर्पिणी काल में तृतीय काल के आरम्भ से लेकर उसके अंत पर्यन्त वृद्धि होती है। वहां चतुर्थ, पंचम तथा षष्ठम काल नहीं होते। कहा भी है, (अवसर्पिण्यां) पंचम षष्ठ कालौ न प्रवर्तेते। उत्सर्पिण्यां तु तृतीयः कालः स्यादिति आरभ्य तस्यैवांत पर्यन्तं वृद्धि रे स्यात्। तत्र चतुर्थ पंचम षष्ठ काला न प्रवर्तन्ते। पृष्ठ ३५२.

पढमोदेवे चरिमो णिरए तिरिये णरेवि छक्काला।
तदियो कुणरे दुस्सम दुस्समसरिसो चरिमुवहिदीवड्ढे॥१४९८॥

(सं. छाया)—प्रथमो देवे चरमो नरके तिरश्चि नरेपि षट् कालाः।
तृतीयः कुनरे दुःषमसदृश चरमोदधिद्वीपार्धे॥

देवगति में प्रथम काल है। नरक में छठवां काल है। तिर्यञ्चगति तथा मनुष्य गति में छह काल होते हैं। कुमनुष्य भोग भूमि में तीसरा काल रहता है। स्वयंभूरमण द्वीपार्ध में तथा स्वयंभूरमण समुद्र में पंचमकाल समान काल पाया जाता है।

सिद्धान्त सार दीपक मे कहा है—

विजयार्ध नगेष्वत्र म्लेच्छखंडेषु पंचसु।
चतुर्थ काल एवास्ति शाश्वतो निरुपद्रवः ॥१४९९॥

विजयार्ध पर्वतों मे पंच म्लेच्छ खंडों में सदा उपद्रवरहित चतुर्थकाल रहता है।

नागेन्द्र पर्वताद्बाह्ये स्वयंभूरमणार्णवे।
स्वयंभूरमण द्वीपार्धे कालः पंचमोऽव्ययः ॥१५००॥

नागेन्द्र पर्वत के बाहर स्वयंभूरमण द्वीप के अर्ध भाग में तथा स्वयंभूरमण समुद्र में अविनाशी पंचम काल रहता है।

विदेह क्षेत्र में सदा चतुर्थ काल रहने से शलाका पुरुष सदा पाये जाते हैं। भरत क्षेत्र में छह प्रकार का काल चक्र चलता रहता है। अतः यहाँ अवसर्पिणी के चतुर्थ काल में तथा उत्सर्पिणी के तृतीय काल में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण, आदि महापुरुषों का सद्भाव पाया जाता है।

शंका :—छह तीर्थंकर—चक्रवर्ती और कामदेव पद—भगवान शांतिनाथ, कुन्थुनाथ तथा अरनाथ तीर्थंकर, चक्रवर्ती तथा कामदेव हुये हैं, अतएव कोई यह सोचते हैं कि शेष इक्कीस तीर्थंकर का पुण्य, प्रभाव तथा सौन्दर्य पूर्वोक्त तीर्थंकर त्रय की अपेक्षा न्यून होगा ?

समाधान—जगत् में प्रत्येक दृष्टि से तीर्थंकर का पद श्रेष्ठ कहा गया है। जिस प्रकार प्रकाश में सूर्य के तेज की श्रेष्ठता को सभी स्वीकार करते हैं, इसी प्रकार रूप प्रभाव, पुण्य, प्रताप आदि समस्त गुणों की अपेक्षा तीर्थङ्कर भगवान के समान अन्य नहीं है।

धवला टीका में लिखा है—

सकल भुवनैक नाथस्तीर्थंकरो वर्ण्यते मुनिवरिष्ठैः।
विधुधवलचामराणां तस्य स्याद्वं चतुःषष्ठि ॥१५०१॥

अर्थ—मुनीन्द्रों ने तीर्थंकर को त्रिभुवन का अद्वितीय स्वामी कहा है। उनके ऊपर चन्द्रोज्वल चौसठ चामर ढुराये जाते हैं।

त्रिलोक सार में लिखा है—

सयलभुवणेक्कणाहो तित्थयरो कोमुदीव कुंदंसा।
धवलेहिं चायरेहिं चउसट्ठिहिं विज्जभाएणो सो ॥१५०२॥

अर्थ—जो तीन लोक के अद्वितीय स्वामी हैं। चान्दनी के समान अथवा कुन्द पुष्प के समान धवल चौसठ चामर जिन पर ढुराये जाते हैं, वे तीर्थंकर भगवान हैं।

अकलंक स्वामी ने राजवार्तिक में लिखा है, 'यस्योदयात् आर्हत्यमचित्य-विभूति विशेष युक्त मुभजायते तत्तीर्थंकरत्व नाम कर्म प्रतिपत्तव्यं(पृ. ३०९) जिस कर्म के उदय से अचित्य अर्थात् जिसकी कल्पना तक न की जा सके, ऐसी विभूति विशेष युक्त अर्हंत पद प्राप्त हो, उसे तीर्थंकरत्व नाम कर्म जानना चाहिये।

स्वामी समंतभद्र ने तीर्थंकर नाम कर्म के उदय से प्राप्त होने वाली अर्हंत पदवी को अचिंत्य कहा है, अद्भुत होने के साथ त्रिलोक द्वारा पूजा अर्थात् स्तुति का पात्र कहा है। स्वयंभू स्तोत्र में पार्श्वनाथ भगवान की स्तुति में उनने अर्हंत भगवान के प्रति पूर्वोक्त विशेषणों का प्रयोग किया है।

स्वयोगनिस्त्रिंशनिशात धारया निशात्य यो दुर्जयमोहविद्विषम्।
अवापदार्हंत्यमचिंत्यमद्भुतं त्रिलोक पूजातिशयास्पदं पदम् ॥१५०३॥

अतएव तीर्थंकर पदवी के समक्ष कामदेव पदवी अथवा चक्रवर्ती की वैभव-विभूति अपनी विशेषता नहीं रखती। जिस प्रकार सूर्य का नभोमंडल में प्रकाश व्याप्त होने पर रात्रि के समय अपनी ज्योत्स्ना द्वारा जगत् को आनंदित करने वाला चंद्र पलाशपत्र के समान पांडुर वर्णयुक्त हो जाता है, 'यद्वासरे भवति पाण्डु पलाश-कल्पम्' उसका रंच मात्र भी महत्व नहीं रहता है और न उसके प्रकाश का स्वतंत्र पता चलता है, उसी प्रकार तीर्थङ्कर प्रकृति रूप सूर्य के प्रकाश फैलने पर चक्रवर्तित्व अथवा कामदेव पने की विशेषता उस पुण्य सिंधु में विलीन हो जाती है।

कामदेव, सौन्दर्य का अप्रतिम पुंज माना गया है, किन्तु उसकी तुलना तीर्थंकर से नहीं हो सकती। तीर्थङ्कर भगवान के जन्म होते ही जन्माभिषेक के लिये उनको मेरु पर ले जाते समय इंद्र प्रभु के सौन्दर्य को देखकर इतना चकित होता है

कि वह विस्मय युक्त हो प्रभु के रूप सुधा पान की लालसावश अपने दो नेत्रों के स्थान में हजार नेत्र बनाता है। यही बात समन्त भद्र स्वामी ने अरनाथ भगवान की स्तुति में कहा है—

तवरूपस्य सौन्दर्यं दृष्ट्वा तृप्तिमनापिवान् ।
द्विसहस्राक्षो बभूव बहुविस्मयः ॥१५०४॥

ऐसा सौन्दर्य कामदेव में कहाँ पाया जाता है कि देवेन्द्र तक विस्मय के सिंधु में डूब जांय ?

मानतुंगाचार्य जिनेन्द्र के सौन्दर्य के विषय में लिखते हैं—

यैः शांतरागरुचिभिः परमाणुभिस्त्वम् ।
निर्मापितस्त्रिभुवनैकललाम भूत ॥
तावंत एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्याम् ।
यद्तो समानमपरं न हि रूपमस्ति ॥१५०५॥

हे त्रिलोक में शोभायमान जिनेन्द्र ! जिन शांतरागपरिपूर्ण परमाणुओं द्वारा आपके शरीर की रचना हुई है, वे परमाणु जगत् में उतने ही थे, इसी कारण आपके समान सुन्दर अन्य व्यक्ति नहीं पाया जाता।

महावैभव तथा विभूति का अधिपति भी तीर्थंकर के चरणों को प्रमाण करता है, क्योंकि ज्ञान साम्राज्य के अधिपति तथा धर्मचक्र के स्वामी तीर्थङ्करत्व के समक्ष चक्रवर्ती पद तथा कामदेव पद विशेषता धारण नहीं करते।

शंका :—तीर्थङ्कर भगवान की विशेषता में कहा गया संपूर्ण कथन हमें मान्य है, फिर भी यह जानना है कि तीर्थङ्करत्व के साथ उपरोक्त चक्रवर्ती और कामदेव पदवी का संयोग उनमें अन्य तीर्थङ्करों की अपेक्षा कोई विशेषता उत्पन्न करता है या नहीं ?

समाधान—लोक व्यवहार में शांतिनाथादि तीन तीर्थङ्करों को तीन पदवी का धारक कहते हैं और शेष इक्कीस भगवान् की इस प्रकार स्तुति नहीं की जाती, इतना अंतर तो उनमें है, किंतु परमार्थ दृष्टि से सब में समानता है। एक उदाहरण से विषय स्पष्ट हो जायेगा। दिन के प्रकाश में यदि कोई एक जगह दो दीपक जला दे, तो क्या उस उजले से सूर्य के प्रकाश में वृद्धि हो जायेगी और उनके बुझाने से प्रकाश में न्यूनता आ जायगी ? सूर्य के प्रकाश के आगे दीपकों का जलना ने जलना तनिक

भी महत्व नहीं रखता । इसी प्रकार तीर्थंकर भगवान के कामदेव तथा चक्रवर्ती पदवी के धारण करने तथा न करने के विषय में जानना उचित होगा । 'सर्वे पदाः हस्तिपदे निमग्नाः ।' हाथी के पांव के भीतर सभी के पांव समा जाते हैं, इसी प्रकार अचिंत्य, अद्भुत तथा त्रिलोक वंद्य तीर्थंकर पदवी के समक्ष अन्य पदवियों का सद्भाव कोई विशेष महत्व नहीं रखता है ।

तीर्थंकर प्रकृति की श्रेष्ठता को सूचित करते हुये अकलंक स्वामी लिखते हैं:- 'तीर्थकरत्वं हि प्रधानभूतं सर्वेषु शुभकर्मसु ततस्तस्य पृथग्ग्रहणं क्रियते' (राजवार्तिक पृ० ३१०) समस्त शुभ कर्मों में तीर्थङ्करत्व प्रधान रूप है, इससे उसका नाम कर्म की प्रकृतियों में पृथक् रूप से सूत्र में उल्लेख किया गया है ।

श्रेसठ शलाका पुरुष कहां-कहां से आकर जन्म लेते है ?

मूलाचार में लिखा है—

णिरयेहि णिग्गदाणं आणंतर भवेहिणत्थि णिवमादु ।
बलदेव-वासुदेवत्तणं च तह चक्क वट्टित्तं ॥१५०६॥

अर्थ :- नरक से आने वाला जीव अनन्तर भव में बलदेव, वासुदेव और चक्रवर्ती पद को प्राप्त नहीं करता है ।

स्वर्ग से आने वाला जीव उपरोक्त पदों को प्राप्त करता है । सिध्दान्तसार दोपिका में लिखा है—

निर्गत्य नरकाज्जीवा चक्रेश-बल-केशवाः ।
तच्छत्रवो न जायंते चयंत्यते यतो दिवः ॥१५०७॥

नरक से निकलकर बलदेव, वासुदेव तथा प्रतिवासुदेव और चक्रवर्ती पद को प्राप्त नहीं करते हैं।

स्वर्ग से आने वाले इन पद को धारण करते हैं ।

त्रिलोकसार में भी लिखा है—'णिरयचरोणत्थि हरिबल-चक्की'

मूलाचार में लिखा है—

माणुस तिरियाय तहा सलागपुरिसाण होंति खलुणियमा ।
तेसिं अणंतरभवे भयणिज्जं णिव्वुदीगमणं ॥१५०८॥

मनुष्य और तिर्यञ्च गति से आकर तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण प्रतिनारायण रूप शलाका पुरुष नहीं होते हैं ।

मूलाचार में यह भी लिखा है कि—

आजोदिसोत्ति देव सलागपुरिसा णहोंति खलु णियमा ।
तेसिं अणंतरभवे भयणिज्जं णिव्वुदीगमणं ॥१५०९॥

भवनत्रिक देवों में से आकर कोई शलाका पुरुष नहीं होते । यही बात त्रिलोकसार में भी इस प्रकार कही गई है ।

णर-तिरिय-गदीहिं तो भवणतियादोय णिग्गया जीवा ।
णलहंते ते पदवि तेणट्ठि-सलागपुरिसाणं ॥१५१०॥

अर्थ—मनुष्य तथा तिर्यञ्च गति से निकले तथा भवनत्रिक से निकले जीव त्रेसठ शलाका पुरुषों की पदवी को नहीं प्राप्त करते हैं ।

णिव्वुदिगमणे रामस्सणेयतित्थयर-चक्कवट्टि ते ।
अणुदिसणुत्तरवासी तदो चुदा होंति भयणिज्जा ॥१५११॥

अनुदिश तथा अनुत्तर विमानवासी देव चय कर बलदेव, तीर्थङ्कर तथा चक्रवर्ती पदवियों को आप्त कर सकते हैं ।

उपरोक्त आगम से यह बात स्पष्ट होती है कि नरक से चय कर तीर्थङ्कर पदवी के सिवाय चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव तथा प्रतिवासुदेव नहीं होते हैं । तीसरे नरक से निकला हुआ जीव तीर्थङ्कर हो सकता है । भवनत्रिक से चय कर तीर्थङ्कर चक्रवर्ती आदि शलाका पुरुष नहीं होते । भावों की विचित्रता है कि भवनत्रिक रूप देवपर्याय वाला जीव तीर्थङ्कर नहीं होता और तीसरे नरक तक का नारकी तीर्थङ्कर हो सकता है । विमानवासी देव शलाका पुरुष हो सकता है ।

तिलोयपण्णत्ति में लिखा है :—

तित्थयरा-तग्गुरुओ-चक्की-बलकेसि-रुद्द-णारहा ।
अंगज-कुलयर पुरिसा भविया सिज्झंति णियमेण ॥१५१२॥

तीर्थङ्कर, उनके माता-पिता, चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण, प्रतिनारायण, रुद्र, नारद, कामदेव और कुलकर ये सभी भव्य रहते हैं और नियम से मोक्ष प्राप्त करते हैं ।

प्रश्न—जगत में प्रसिद्ध पुरुष के नाम कौन से हैं ?

उत्तर—विशेष प्रसिद्ध हुए महापुरुषों के नाम—इन १६९ महापुरुषों में ये जगत् में विशेष प्रसिद्ध हुये हैं :—

नाभिराज—मनु, कुलकरों में १४ वां कुलकर।

श्रेयांसराजा—दातृशिरोमणि हस्तिनापुर के राजा।

भरत चक्रवर्ती—श्री ऋषभनाथ भगवान के ज्येष्ठ पुत्र, भावों की निर्मलता में विख्यात हुये, इन्होंने अंतर्मुहूर्तकाल में केवल ज्ञान प्राप्त किया।

बाहुबली—श्री ऋषभनाथ भगवान् के पुत्र, प्रथम कामदेव तप में प्रसिद्ध हुए। एक वर्ष कायोत्सर्ग आसन से खड़े रहे थे।

रामचन्द्र—अष्टम बलिभद्र।

हनुमान—१८वां कामदेव, के रूप में प्रसिद्ध हुए।

रावण—८वां प्रतिनारायण, यानी पुरुषों में प्रसिद्ध हुये।

कृष्ण—९वां नारायण।

पार्श्वनाथ—स्वामी, तीर्थङ्कर, उपसर्ग केवली।

महादेव—११वां रुद्र, पार्वती का पति।

प्रश्न—कुलकर-मनु या युगादि पुरुषों का कार्य क्या था ?

उत्तर—भोगभूमि का अंत होते समय तथा कर्मभूमि के प्रारम्भकाल में विशेष परिवर्तन देखकर चकित और चिंतित मानव समाज को निराकुल बना ठीक मार्ग का प्रदर्शन करने वाले चौदह महापुरुष होते हैं। इनको 'कुलकर' कहते हैं। महापुराण में लिखा है कि 'ये सब कुलकर अपने पूर्वभव विदेह क्षेत्र में ऊंचकुल वाले महापुरुष थे, उन्होंने सम्यक्त्व ग्रहण करने के पूर्व में पुण्यप्रद पात्र दान आदि उज्जवल कार्यों के द्वारा भोग भूमि की आयु बांध ली थी। पश्चात् जिनेंद्र भगवान् के समीप क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया। और विशेष श्रुत ज्ञान की प्राप्ति की तथा आयु के अंत होने पर मरण कर वे इस भरत क्षेत्र में उत्पन्न हुये थे। इनमें से कितने ही अवधिज्ञान रूपी नेत्र के धारक थे और कितने ही जाति स्मरण युक्त थे, इसलिये उन्होंने विचार कर प्रजा के लिये उपकारी कार्यों का उपदेश दिया था (महापुराण पर्व ३ श्लोक २०७–२१०) जिनसेन स्वामी ने कहा है—'

प्रजानां जीवनोपायमननात्-मनवोमताः।
आर्याणां कुलसंस्त्यायकृतेः कुलकरा इमे ॥१५१३॥
कुलानां धारणादेते मताः कुलधरा इति।
युगादिपुरुषाः प्रोक्ता युगादौ प्रभविष्णवः ॥१५१४॥

ये प्रजा के जीवन का उपाय जानने से 'मनु' कहे गये हैं। आर्य पुरुषों को कुल की भांति इकट्ठे रहने का उपदेश देने से कुलकर कहलाते थे। कुलों के अर्थात् वंशों के धारण करने से अर्थात् उनका स्थापन करने से उन्हें कुलकर कहा गया है। युग के आरम्भ में जन्म लेने से इन्हें युगादि पुरुष भी कहा है।

इन कुलकरों को हरिवंशपुराण में महाप्रभाव सम्पन्न होने के साथ अपने जन्मांतर के स्मरण समन्वित कहा है।

'महाप्रभावसम्पन्नः स्वभव स्मरणान्वितः।' (७–१२५४) हरिवंश पुराण में इनको मनु इससे कहा है कि मनुष्यों के प्रयोजन भूत कार्यों का ज्ञान धारण करते थे। 'मननात् मनुजार्थस्य मनु संज्ञा मनुस्मृतः' (१–१)।

मनु शब्द मन् धातु से बना है, उसका अर्थ है अवबोधन अर्थात् दूसरों को को बताना। इन महापुरुषों ने समयानुसार प्रजा-जनों को अनेक प्रकार से जीवनोपायों का ज्ञान कराया था।

महापुराण में लिखा है :—

वृषभस्तीर्थकृच्चैव कुलकृच्चैव सम्मतः।
भरतश्चक्रभृच्चैव कुलभृच्चैव वर्णितः ॥१५१५॥

भगवान् वृषभदेव तीर्थंकर थे तथा कुलकर भी माने गये हैं। भरतेश्वर चक्रवर्ती थे तथा कुलकर भी कहलाते थे।

प्रश्न—अपराधी प्रजा के लिये क्या दण्ड दिया जाता था ?

उत्तर—अपराधी प्रजा के लिये दण्डव्यवस्था का स्वरूप— एक से लेकर पांच कुलकरों ने दोषी मनुष्यों को 'हा' कहकर अर्थात् खेद है कि तुमने ऐसा अपराध किया है, दण्ड की व्यवस्था की थी। आगे के पांच कुलकरों ने 'हा' के साथ 'मा' रूप दण्ड की व्यवस्था की थी, 'हामा' अर्थात् तुमने बुरा किया आगे ऐसा अपराध मत करो। तथा शेष कुलकरों ने 'हामा धिक्' अर्थात् तुम्हें धिक्कार है। इस प्रकार दण्ड की व्यवस्था की थी। आदिनाथ भगवान् के समय में उक्त प्रकार की दण्ड पद्धति थी विशेष दण्ड व्यवस्था की नियोजना करने में सोलहवें कुलकर महाराज भरत का नाम आता है। महापुराणकार कहते हैं—

शरीर दंडनं चैव वध बन्धादिलक्षणम्।
नृणां प्रबलदोषाणां भरतेन नियोजितम् ॥१५१६॥

महान् अपराध करने वाले पुरुषों के लिये भरत चक्रवर्ती ने वध बंधन आदिक शरीरिक दण्ड की पद्धति चलाई थी।

इस प्रकार जैन धर्म की दृष्टि से दण्ड व्यवस्था के पुरस्कर्ता के रूप में भरतेश्वर का प्रथम स्थान है।

ऋषभनाथ भगवान् ने प्रजा को शस्त्र संचालन, कृषि करना, वाणिज्य, शिल्प, मसि तथा पशुपालन आदि प्रजा के जीवनोपयोगी कार्यों को बतलाया था, इसलिये वे प्रजापति कहलाये। यथार्थ में अन्य संप्रदाय में कथित प्रजापति की प्रसिद्धि इन ऋषभनाथ भगवान् की ही महिमा को बताती हैं। इन भगवान् ने केवलज्ञान के पश्चात् धर्म तीर्थ का प्रवर्तन किया था। चक्रवर्ती भरत छह खंडों को जीतकर आदर्श राज्य पद्धति की स्थापना की थी। अन्य संप्रदाय में आदर्श राज्य को रामराज्य कहा जाता है। भगवान् मुनिसुव्रतनाथ बीसवें तीर्थंकर शासन काल में महाराज रामचंद्र हुए हैं। जैन दृष्टि से उनको तथा अन्य नीति मार्ग पर पर चलने वाले नरेशों को आदर्श शासक चक्रवर्ती भरत की लोक शासन पद्धति से प्रकाश और प्रेरणा मिलती रही है। सिद्धांतसार दीपक में भी भगवान् ऋषभनाथ को कुलकर कहा है तथा उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत की चक्री कुलकर तथा वध-बंध आदि दण्ड-प्रदाता कहा है। यथा—

वृषभस्तीर्थकृत् पूज्यः कुलकृत् त्रिजगद्धितः।
हा-मा-धिग्नीतिमार्गोक्तोस्य पुत्रो भरतोऽग्रजः ॥१५१७॥

'चक्री-कुलकरों जातो वध-बंधादिदंडभृत।' (सिद्धांत सार दीपक)

भोगभूमि के युगल और भोग सामग्री—भोगभूमि में स्त्री-पुरुषों में युगल धर्म पाया जाता था। जिनसेन स्वामी का यह कथन ध्यान देने योग्य है, 'भोगभूमि में जिस समय दम्पत्ति (युगल) का जन्म होता है। उस समय उनके जनक और जननी का देहांत हो जाता है। अतएव वहां के जीवों में पुत्र आदि का संकल्प नहीं होता। (पर्व ७–७०) पुरुष को उसकी स्त्री आर्य कहती थी और उसे पुरुष आर्या कहता था। भोगभूमि के समय में पुरुषों तथा स्त्रियों के यही साधारण नाम थे। लोग सरल प्रकृति के थे। पुरुष को छींक आने पर और स्त्री को जम्हाई आने पर मरण होता था। इन जीवों को आजीविका के लिये कष्ट नहीं उठाना पड़ता था। वहां पाँच इंद्रियों को अवर्णनीय सुख सामग्री मिलती थी।

हरिवंश पुराण में लिखा है :—

दशधा कल्पवृक्षोत्थं भोगं युग्मानि भुंजते ।
दशांगभोग चक्रेशभोगताभ्यधिकं तदा ॥१५१८॥

अर्थ—वे युग्मनि इस प्रकार के कल्पवृक्षों से उत्पन्न भोगों को मानते थे । जो दशांग भोगों के भोगने वाले चक्रवर्ती के भोगों की अपेक्षा अधिक थे ।

उन दश प्रकार के कल्पवृक्षों का इस प्रकार वर्णन किया गया है :—

१. गृहांग नाना प्रकार के उत्तमोत्तम गृह देने वाले हैं ।
२. भाजनांग ,, ,, पात्र देने वाले हैं ।
३. भोजनांग ,, ,, भोजन देने वाले हैं ।
४. पानांग ,, ,, मधुररस ,, ।
५. वस्त्रांग ,, ,, वस्त्र ,, ।
६. भूषणांग ,, ,, रत्नादि आभूषण देने वाले हैं ।
७. माल्यांग ,, ,, सुगन्ध पुष्प मालाएँ देने वाले हैं ।
८. दीपांग चन्द्रमा के समान शीतल प्रकाश देने वाले हैं ।
९. ज्योतिरांग सूर्य के समान प्रकाश देने वाले हैं ।
१०. तूर्यांग नाना प्रकार के उत्तमोत्तम भेरी आदि बाजोंके देने वाले हैं ।

तिलोयपण्णत्ति में इन कल्पवृक्ष के विषय में लिखा है :—

ते सव्वे कप्पदुमाणवणप्फदी णो वेंतरा सव्वे ।
पवरि पुढविसरूवा पुण्णफलं देंति जीवाणं ॥१५१९॥

अर्थ—ये समस्त कल्पवृक्ष न वनस्पति रूप हैं और न ये सब व्यंतर रूप हैं । यथार्थ में ये पृथ्वी स्वरूप है, तथा जीवों को उनके पुण्य कर्मों का फल देते हैं ।

कल्पवृक्षों के सम्बन्ध में महापुराण का यह स्पष्टीकरण है कि ये वृक्ष 'निसर्गात् फलदायिनः' अर्थात् स्वभाव से फल देते हैं । 'नहिभाव-स्वभावानां उपालंभः सुसंगतः' इन वृक्षों का जो स्वभाव है, उसके विषय में दूषण देना उचित नहीं है । जिनसेन स्वामी कहते हैं :—

नृणां दान फलादेते फलन्ति विपुलं फलम् ।
यथान्यपादपाः काले प्राणिनामुपकारकाः ॥१५२०॥

जिस प्रकार अन्य वृक्ष अपने-अपने समय पर अनेक प्रकार के फल देकर

प्राणियों का उपकार करते हैं, उसी प्रकार दान के फल से ये कल्पवृक्ष भोगभूमियों को विपुल फल देते हैं।

भोग भूमि में शरीर की पूर्णता—तिलोयपण्णत्ति में कहा है कि उत्तम भोग भूमि में शरीर की पूर्णता होने पर २२ दिन में सम्यग्दर्शन धारण करने की योग्यता हो जाती है। मध्यम भोगभूमि में ३५ दिन में तथा जघन्य भोगभूमि में ४६ दिन में सम्यक्त्व लाभ करने की योग्यता प्राप्त होती है। (गाथा ३८०–४००–४०६ अध्याय ४) हरिवंश पुराण सर्ग ६ के पद्य ६२, ६३, ६४ से यह सूचित होता है कि सभी भोगभूमियों में सप्त सप्ताहों में सम्यक्त्व ग्रहण की योग्यता आती है कहा भी है—

तदास्ति पुंसा युग्मानां गर्भा त्रिर्लुंठिताभुनाम्।
दिनानि सप्त गच्छन्ति निजांगुष्ठावसे हृनैः ॥१५२१॥
रसलामपि सप्तैव सप्तास्थिर पराक्रमैः।
स्थिरैश्च सप्ततैः सप्त कलासुच गणेषु च ॥१५२२॥
कालेन सावता तेषां प्राप्तयौवन संपदाम्।
सम्यक्त्वग्रहणेरपि स्याद् योग्यता सप्तभिर्दिनैः ॥१५२३॥

अनेक ग्रन्थों में कथन आता है कि ४९ उनचासवें दिन के पश्चात् भोग-भूमियों सम्यक्त्व ग्रहण की योग्यता होती है। तिलोयपण्णत्ति में कथित २२ तथा ३५ दिन का काल उत्तम भोगभूमि तथा मध्यम भोगभूमि की विशेष अपेक्षा से कहा गया जानना चाहिये।

कर्म भूमि के मनुष्यों में सम्यक्त्व की उत्पत्ति पर्याप्त अवस्था में आठ वर्ष की अवस्था के आगे होती है। मनुष्य की दृष्टि से भूमि तथा कर्म भूमि में समानता होते हुए भी सम्यक्त्व की उत्पत्ति सम्बन्धी योग्यता में काल कृत अन्तर इस बात को सूचित करता है कि सूक्ष्म दृष्टि से दोनों अवस्थाओं भिन्नता भी है। सुख और आनन्द की सामग्री भोग भूमि में प्रचुर प्रमाण में पाई जाती है, किन्तु मुक्ति प्राप्ति के योग्य श्रेष्ठ रीति से रत्नत्रय धर्म की समाराधना कर्म-भूमि में ही होती है, अतएव कर्म-भूमि में मनुष्य पर्याय पाने का विशेष प्रयत्न है।

यह बात भी कम महत्व की नहीं है कि तिर्यञ्चों में दिवस पृथकत्व अर्थात् तीन से अधिक और नौ के भीतर दिनों में सम्यक्त्व उत्पन्न करने की योग्यता पाई

जाती है। देवों में पर्याप्ति पूर्ण होने के अन्तर्मुहूर्त में सम्यक्त्व उत्पन्न हो सकता है, इसी प्रकार अर्थात् देवों के समान नारकियों के वर्णन में कहा गया है। इससे स्पष्ट होता है कि कर्मभूमि का मनुष्य चारों गति में सबसे अधिक काल बीतने पर सम्यक्त्व पैदा करता है। एक दृष्टि से मनुष्य पर्याप्त अपूर्ण है कि सम्यक्त्व उत्पन्न करने के साथ सकल संयम को स्वीकार करने वाला साधु अन्तर्मुहूर्त में सर्वज्ञ परमात्मा भी बन सकता है।

प्रश्न :—भोगभूमि मनुष्यों के विषय में ज्ञातव्य बातें कौनसी हैं ?

उत्तर :—भोगभूमि मनुष्यों के विषय में अनेक ज्ञातव्य बातें—तिलोयपण्णत्ति के चतुर्थ अधिकार में लिखा है कि – 'भोगभूमि के मनुष्यों का शरीर बहुत बलशाली था। नौ हजार हाथियों के सदृश बल था।

'ठावणाग-सहस्स-सरिस बल जुत्ता।' वे आर्जव भाव सहित, मंदकषायी, सुशीलता पूर्ण, वज्रवृषभ नाराच संहनन युक्त, समचतुस्त्र संस्थान सहित, बालसूर्य सदृश तेजस्वी, कवलाहार करते हुए भी नीहार रहित और युगलधर्म युक्त होते हैं। उस काल में नर-नारी के अतिरिक्त अन्य परिवार नहीं होता। भोगभूमि के मनुष्य तथा तिर्यंचों की नौ मास आयु शेष रहने पर उनके गर्भ रहता है। और मृत्युकाल आने पर उनके युगल-संतान उत्पन्न होती है।

मृत्यु होने पर भोगभूमि के मिथ्यादृष्टि मनुष्य-तिर्यञ्च भवनत्रिक में और सम्यग्दृष्टि सौधर्म ईशान स्वर्ग में जन्म लेते हैं। भोगभूमियां जीव जातिस्मरण से, कोई देवों के प्रतिबोधित करने से और कोई चारण मुनि आदि के उपदेश से सम्यक्त्व ग्रहण करते हैं। कहा भी है—

जादि भरणेण केई केई पडिबोहणेण देवाणं।
चारण मुणि पहुदीणं सम्मत्तं तत्थ गेण्हंति ॥१५२४॥

विशेष यह है कि उनमें संयम नहीं होता है। कहा भी है—

ते सव्वे वरजुगला अण्णोण्णुप्पण्णपेम संमूढा।
जम्हा तम्हा तेसुं सावय-वद-संयमोणत्थि ॥१५२५॥

अर्थ—वे सब उत्तम युगल पारस्परिक प्रेम में अत्यन्त मुग्ध रहा करते हैं, इसलिये उनके श्रावक के व्रत और संयम नहीं होता। वे नर-नारी युगल गणित, शिल्प, गन्धर्व, चित्र आदि चौंसठ कलाओं में स्वभाव से ही अतिशय निपुण होते हैं।

उनमें कुल जाति का भेद नहीं कहा है (कुल-जादि भेद हीणा–३८७) ।

वहां व्याघ्र आदिक भूमिचर और काक आदि नभचर तिर्यञ्च मांसाहार के बिना कल्पवृक्षों का मधुर फल भोगते हैं । अन्य तृणजीवी पशु युगल दिव्य तृणों का भक्षण करते हैं ।

जिन्होंने पूर्व में मनुष्य आयु को बांध लिया है और पश्चात् तीर्थङ्कर के पादमूल में क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया है, ऐसे क्षायिक सम्यग्दृष्टि पुरुष भी भोग-भूमि में उत्पन्न होते हैं । कितने ही मिथ्यादृष्टि मनुष्य निर्ग्रन्थ मुनियों को दानादि देकर भोगभूमि में उत्पन्न होते हैं । पापों के त्यागी, गुणों के अनुरागी तथा मंदकषाय वाले भी वहां उत्पन्न होते हैं ।

भोगभूमि में ग्राम नगरादिक सब नहीं होते । केवल वे सब कल्पवृक्ष होते हैं, जो भोगभूमिवासी जीवों को मनोवांछित वस्तु देते हैं । कहा भी है—

गाम-णयरादि सव्वं णहोदिते होंति सव्वकप्पतरू ।
णिय-णियमणसा संकप्पिय-वत्थूणि देंतिजुगलाणं ॥१५२६॥

भोगभूमि के पुरुष इन्द्र से भी अधिक सुन्दराकार होते हैं (देविंदादोवि सुन्दराकारा) स्त्रियां अप्सराओं के सदृश होती हैं । भोग भूमिजों के युगल कदलीघात मरण से रहित होते हुए आयु पर्यन्त चक्रवर्ती के भोग समूह की अपेक्षा अनंत गुणे भोगों को भोगते हैं, कहा भी है ।

जुगलाणि अणंतगुणं भोगं चक्कहर भोग योहादो ।
भुंजंति जाव आउं कवलीघादेण रहिदाणि ॥१५२७॥

तिलोयपण्णत्ति में यह भी लिखा है, वे युगल कल्पवृक्षों से दी गई वस्तुओं को ग्रहण करके और विक्रिया से बहुत से शरीरों को बनाकर अनेक प्रकार के भोगों को भोगते हैं ।

प्रश्न :—भोग भूमि में तिर्यञ्च कौन जीव होता है ?

उत्तर :—तिलोयपण्णत्ति में इस प्रकार कहा है—'जो पापी जिनलिंग को ग्रहण करके संयम एवं सम्यक्त्व भाव को छोड़ देते हैं, और पश्चात् माया में प्रवृत्त होकर चरित्र को नष्ट करते हैं, तथा जो कोई मूर्ख मनुष्य कुलिंगियों को नाना प्रकार के दान देते हैं या उनके भेष को धारण करते हैं, वे भोग भूमि में तिर्यञ्च होते हैं ।

(गाथा ३७३–३७४)

प्रश्न :—भोग भूमि के अन्त में परिवर्तन कैसे होता है ?

उत्तर :—भोग भूमि का अंत होने पर नैसर्गिक परिवर्तन—भोग भूमि का अंत होने पर ये कल्पवृक्ष नष्ट हो गये थे। इससे प्रजा जन अत्यन्त व्याकुल हो गये थे। वातावरण में अद्भुत परिवर्तन हो रहा था। अनेक प्रकार के धान्यादि स्वयं उत्पन्न हो गये थे। इस विषय में जिनसेन स्वामी लिखते हैं—

तदा पितृव्यतिक्रान्तावपत्यानीव तत्क्षवम् ।
कल्पवृक्षोचितं स्थानं तान्यध्यासिषत स्फुटम् ॥१५२८॥

जिस प्रकार पिता की मृत्यु होने पर उनके स्थान पर पुत्र आरुढ़ होता है, उसी प्रकार कल्पवृक्षों के अभाव होने पर वे धान्यादि उनके स्थान पर आरूढ हुये थे।

उस समय आकाश में मेघ इकट्ठे होकर वर्षा करने लगे पर महाकवि उत्प्रेक्षा करते हैं :—

ध्वनन्तो ववृषुर्मुक्त स्थूल धारं पयोधराः ।
रुदन्त इव शोकार्ताः कल्पवृक्ष परिक्षये ॥१५२९॥

उस समय मेघ गर्जना पूर्वक स्थूल धारा से बरसते हुये ऐसे प्रतीत होते थे, मानों कल्पवृक्षों के क्षय हो जाने से शोकयुक्त होते हुये रो रहे हैं।

प्रश्न :—आदि ब्रह्मा ने क्या व्यवस्था की प्रजा की ?

उत्तर :—'आदि ब्रह्मा' श्री ऋषभनाथ तीर्थंकर – भोगभूमियां जीवों का कथन करते समय तिलोयपण्णत्ति में लिखा है कि 'जुगला कुल-जाति भेद हीणा (४–३८७) अर्थात् उस युगल मनुष्यों में कुल, जाति का भेद नहीं था, तब कर्मभूमि में कुल जाति भेद के साथ वर्णन व्यवस्था अदि कैसे आ गई ? इस विषय में समाधान निमित्त महापुराण से महत्त्वपूर्ण सामग्री प्राप्त होती है। बात यह है, भोगभूमि की प्रणाली लोप होने पर कल्पवृक्ष तो चले गये थे तथा कुछ समय के बाद बिना बोया धान्य का लाभ भी बन्द हो गया, तब महाराज नाभिराय की आज्ञा से दुःखी और क्षुधित भोगभूमियां भगवान ऋषभदेव के चरणों में गईं और उन्होंने प्रार्थना की—

विभो समूलमुत्सन्नपितृकल्पा महाद्रियाः ।
फलंत्यकृष्टपच्यानि सस्यान्यपि च नाधुना ॥१५३०॥

हे विभो पिता के समान हमारी रक्षा करने वाले कल्पवृक्ष समूल नष्ट हो गये और अब बिना बोया हुआ परिपाक को प्राप्त होने वा धान्य नहीं फलता है—

त्वां देवमादिकर्तारं कल्पांघ्रिपमिवोन्नतम् ।
समाश्रिता कथं भीतेः पदं स्याम वयं विभो ।।

हे भगवान् ! हम कल्पवृक्ष के समान उन्नत इस युग के आदिकर्ता आपके समीप आये हैं, इसलिए हमें भय किस प्रकार हो सकता है ? उनकी दीनवाणी को सुनकर भगवान ने यह निश्चय किया कि—

कर्मभूरद्य जातेयं व्यतीते कल्प भूरुहाम् ।
ततोऽत्र कर्मभिः षड्भिः प्रजानां जीवकोचिता ।।

कल्पवृक्षों के नष्ट हो जाने पर अब यहां कर्मभूमि प्रगट हुई है, इसलिये प्रजा को असि अर्थात् शस्त्रसंचालन, मषि अर्थात् लेखन कार्य, कृषि, शिल्प, वाणिज्य तथा पशुपालन द्वारा आजीविका करना उचित है।

उपरोक्त निश्चय भगवान ने गम्भीर विचार के उपरांत किया था। उन्होंने विशेष ज्ञानोपयोग द्वारा विदेह की वर्तमान स्थिति का विचार कर विदेह को आदर्श बना यहां की वर्णाश्रम व्यवस्था करने का निश्चय किया। जिनसेन स्वामी ने लिखा है—

पूर्वापर विदेहेषु या स्थितिः समवस्थिता ।
साद्य प्रवर्तनीयात्र ततोजीवंत्यमः प्रजाः ।।

पूर्व पश्चिम विदेह में जो स्थिति वर्तमान है, वही स्थिति आज यहां प्रवृत्त करने योग्य है। उससे यह प्रजा जीवित रह सकती है।

षट्कर्माणि यथा तत्र यथा वर्णाश्रमस्थितिः ।
यथाग्राम गृहादीनां संस्त्यायाश्च पृथग्विधाः ।।

जैसे वहां असि, मषि आदि छह कर्म हैं। तथा वर्णाश्रम की व्यवस्था है और जैसी ग्राम, गृह आदि की अलग-अलग रचना है।

तथात्राप्युचिता वृत्तिः उपायैरेभिरंगिनाम् ।
नोपायान्तरमस्त्येषां प्राणिनां जीविकां प्रति ।।

उसी प्रकार यहां भी होना चाहिये। इन्हीं उपायों से प्राणियों की आजीविका चल सकती है। इनकी आजीविका के लिये कोई अन्य उपाय नहीं है।

इस कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वर्णाश्रम व्यवस्था जैन धर्म की किसी धर्म से उधार ली गई वस्तु नहीं है। जिस विदेह क्षेत्र में सदा धर्म का सूर्य

प्रकाशमान होता है तथा जहां मिथ्या संप्रदाय नहीं है, वहां भी वर्ण व्यवस्था है। उसके ही आधार पर भगवान् वृषभदेव ने इस भरत क्षेत्र में व्यवस्था के लिये आवश्यक तथा सूक्ष्म बातों को दिव्य ज्ञान द्वारा जान सके थे। ऐसी स्थिति में शंका के लिये स्थान नहीं रहता है। परम कारुणिक तीर्थंकर वृषभदेव ने गम्भीर चिंतन के पश्चात् विदेह की वर्णाश्रम व्यवस्था के आधार पर तत्कालीन समाज के हितार्थ योजना की थी। उसमें छिद्रों की कल्पना करना योग्य नहीं है। वैदिकों की वर्ण व्यवस्था और जैन वर्ण व्यवस्था में अंतर है, यद्यपि बाह्यरूप में उनमें साम्य दिखता है। जैन व्यवस्था अहिंसा की आधार शिला पर अवस्थित है। उसके मूल में पक्षपात, विद्वेष या घृणा का सद्भाव नहीं है। वह पूर्णतया मनोवैज्ञानिक है। कोई आगमज्ञ विचारक यह कहते हैं कि जैनों की वर्ण व्यवस्था को ही वैदिकों ने अपनाकर अपनी कर्तृत्ववाद की संस्कृति की मुहर उस पर लगाई है।

प्रश्न :—कोई-कोई कह बैठते हैं, उपरोक्त मत तो जिनसेन स्वामी का रहा है, उसे उन्होंने ऋषभनाथ भगवान के नाम से लिखा है ?

उत्तर :—यह कथन उचित नहीं है। यह परमागम की चर्चा कोई राजनीति की बात नहीं है। इसमें सर्वज्ञ, हितोपदेशी, वीतराग भगवान की दिव्यध्वनि से प्रकाशित तथा गणधर देव द्वारा ग्रन्थरूप से रचित पदार्थ का निरूपण है। अतएव तत्त्व प्रेमी मुमुक्षुओं को वर्ण व्यवस्था के विषय में परमागमोक्त उक्त बात श्रद्धान करने योग्य है। इस व्यवस्था की उपेक्षा के कारण ही आज की भौतिक विकास युक्त दुनियां में घृणा, अशांति, असंतोष तथा विद्वेष की वृद्धि हो रही है।

प्रश्न :—कर्मभूमि का प्रारम्भ किस प्रकार हुआ ?

उत्तर :—कृतयुग (कर्मभूमि) का आरम्भ—

युगादिब्रह्मणा सेन यस्मित्थं स कृतो युगः।
ततः कृतयुगं नाम्ना तं पुराणविदो विदुः ॥

युग के आदि विधाता ऋषभनाथ भगवान ने इस प्रकार कर्मयुग का प्रारम्भ किया था, इससे पुराणवेत्ता उन भगवान को कृतयुग के नाम से जानते हैं।

आषाढ़ मास बहुल प्रति द्विवसे कृतो।
कृत्वा कृतयुगारंभं प्राजापत्यमुपेयिवान् ॥

कृतकृत्य भगवान ऋषभदेव ने आषाढ मास के कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा के दिन कृतयुग अर्थात् कर्मभूमि का प्रारम्भ करके प्रजापति पद को प्राप्त किया था।

इस प्रसंग में महापुराण का यह कथन भी स्मरण योग्य है कि 'भगवान ऋषभदेव ने प्रजा के हित का विचार कर इन्द्र को स्मरण किया। तत्काल देवों सहित इन्द्र आदिनाथ प्रभु के पास आया और उसने नीचे लिखे अनुसार विभाग कर प्रजा की जीविका के उपाय किये। शुभदिन, शुभनक्षत्र, शुभमुहूर्त तथा शुभलग्न के समय और सूर्य आदि ग्रहों के अपने-अपने उच्चस्थानों में स्थित रहने और जगद्गुरु भगवान के अनुकूल रहने पर इन्द्र के प्रथम ही मांगलिक कार्य किया और फिर भी उसी अयोध्या पुरी के बीच में जिन मन्दिर की रचना की। इसके बाद पूर्व, दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर प्रकार की चारों दिशाओं में भी यथाक्रम से जिन मन्दिरों की रचना की। कहा भी है—

अथानुध्यानमात्रेण विभोः शुक्रः सहामरैः।
प्राप्तस्तज्जीवनोपायनित्यकार्योद्विभागतः ॥
शुभे दिने सुनक्षत्रे सुमुहूर्ते शुभोदये ।
स्वोच्चस्थेषु ग्रहेषुच्चैः आनुकूल्ये जगद्गुरोः ॥
कृत प्रथम मांगल्ये सुरेन्द्रो जिनमंदिरम् ।
न्यवेशयत् पुरस्यास्य मध्ये विश्वप्यनुक्रमः ॥

इस कथन से यह बात भी स्पष्ट होती है कि लोगों को जीविका का उपाय बताने के साथ उनके धर्माराधन के हेतु जिनेन्द्र मंदिर की व्यवस्था की गई थी, जिससे षट्कर्म जनित दोषों का प्रक्षालन भी हो। जीविका का उपाय बताने के सिवाय यदि धर्म का कथन बताया होता और उसका साधन नहीं जुटाया गया होता, तो इससे जीवों का अच्छा कल्याण नहीं हो पाता। तीर्थंकर ऋषभनाथ प्रभु ने ऐसा मार्ग प्रदर्शन किया, जिससे समाज की योग्य व्यवस्था के साथ आत्मा का परिपूर्ण हित भी होता रहे।

भगवान ने पापरहित आजीविका के उपायों का समर्थन किया था। कहा भी है—

यावती जगति वृत्तिः, अपापोपहता च या।
सासर्वास्य मतेनासीत् सहि धाता सनातनः ॥

उस समय जगत में पापरहित आजीविका के जो उपाय थे, वे सब भगवान् की संमति से प्रवृत्त हुए थे, क्योंकि ऋषभनाथ भगवान ही सनातन ब्रह्मा हैं।

त्रिलोक सार में कहा है—

पुरग्रामपट्टनादिः लौकिकशास्त्रः लोकव्यवहारः ।
धर्मोऽपि दयामूलः विनिर्मित आदिब्रह्मणा ॥१५३१॥

अर्थात् आदि ब्रह्मा ऋषभनाथ भगवान ने पुर ग्राम, पत्तनादि, लौकिकशास्त्र, लोक व्यवहार तथा दया मूलक धर्म की स्थापना की थी ।

अवसर्पिणी काल के तीसरे काल के अंत में चौदह कुलकर हुये थे । भगवान ऋषभदेव तथा चक्रवर्ती भरत भी कुलकर नाम से विख्यात हुए । इनको कुलों को धारण करने से कुलधर और कुलों के करने में कुशल होने से कुलकर कहते थे ।

तिलोयपण्णति में यही बात इन शब्दों द्वारा कही गई है—

कुलधारणा दु सव्वे कुल धारणभेण भुवणविक्खादा ।
कुलकरखम्मियकुसला कुलकरणभेण सुपसिद्धा ॥१५३२॥

प्रश्न :—उत्सर्पिणी काल का प्रारंभ कैसे हुआ ?

उत्तर :—उत्सर्पिणी का प्रारम्भ काल—इस अवसर्पिणी का अंत होने पर उत्सर्पिणी का प्रथम काल अतिदुःखमा आता है । वह २२ हजार वर्ष का है । उसके बाद २१ हजार वर्ष का दूसरा काल दुखमा नाम का आता है । इस दुःखमा काल के २० हजार वर्ष बीतने पर तथा एक हजार वर्ष शेष रहने पर कनक आदि सोलह कुलकर उत्सर्पिणी काल संबधी उत्पन्न होते हैं । इन में प्रथम कुलकर की ऊंचाई चार हाथ है, तथा सोलहवें की ऊंचाई सात हाथ कही गई है ।

ये कुलकर कहते हैं कि—

मथिदूण कुणह अग्गि पचेह अण्णाणि भुंजह अहिच्छं ।
करिय विवाहं बंधवपहुदिद्दारेण सोक्खेण ॥१५३३॥

मथ करके आग को उत्पन्न करो । अन्न को पकाओ और विवाह करके बांधवादिक के निमित्त से इच्छानुसार सुख का उपभोग करो ।

अंतिम कुलकर के यहां प्रथम तीर्थंकर भगवान् महापद्म का जन्म होगा । उस समय से यहां विदेह वृत्ति सदृश होने लगती है । तिलोयपण्णति में कहा है—

तक्काले तित्थयरा चउवीस हवंति तारणपद्मजिणो ।
अंतिम कुलकर सुदो विदेह वत्तीतदो होदि ॥१५३४॥

उत्सर्पिणी के तीसरे काल दुषमसुषमा में १२० वर्ष की आयु होती है और सात हाथ प्रमाण शरीर की ऊंचाई रहती है। प्रथम तीर्थंकर की आयु १२० वर्ष के स्थान में ११६ वर्ष 'सोलसुत्तरं च सदं' कही गई है।

तीर्थंकर महापुरुष

प्रश्न :—तीर्थंकर महापुरुषों का कार्य क्या है ?

उत्तर :—जब जगत में अंधकार का अखंड साम्राज्य हो जाता है, तब नेत्रों की शक्ति कुछ कार्य नहीं कर पाती है। अंधकार नेत्रयुक्त मानव को भी अंध सदृश बना देता है। इस पौद्गलिक अंधकार से गहरी अंधियारी मिथ्यात्व के उदय से प्राप्त होती है। उसके कारण यह ज्ञान वान जीव अपने स्वरूप को नहीं जान पाता है। मोहनीय कर्म के आदेशानुसार यह निंदनीय कार्य करता फिरता है। जड़ शरीर में यह मिथ्यात्वांध व्यक्ति आत्मबुद्धि धारण करता है। जब इसे कोई सत्पुरुष समझाते हैं कि तुम चैतन्य पुंज ज्ञायक स्वभाव आत्मा हो। शरीर का तुमसे कोई संबंध नहीं है, तो यह अविवेकी उस वाणी को विष समान समझता है।

सूर्योदय होते ही अंधकार का क्षय होता है, उसी प्रकार तीर्थंकर रूप धर्म सूर्य के उदय होते ही जगत में प्रवर्धमान मिथ्यात्व का अंधकार भी अंतः करण से दूर होकर प्राणी में निजस्वरूप का अवबोध होने लगता है।

इस स्थिति में आचार्य रविषेण एक मार्मिक तथा सुयुक्ति समर्थित बात कहते हैं कि जब जगत में धर्मग्लानि बढ़ जाती है, सत्पुरुषों को कष्ट उठाना पड़ता है, तथा पाप वृद्धि वालों के पास विभूति का उदय होता है, तब तीर्थंकर रूप महान आत्मा उत्पन्न होकर सच्चे आत्मधर्म की प्रतिष्ठा बढ़ाकर जीवों को पाप से विमुख बनाते हैं। **पद्मपुराण में रविषेणाचार्य ने लिखा है—**

आचाराणां विघातेन कुदृष्टीनां च संपदा।
धर्मग्लानि परिप्राप्तामुच्छ्रयन्ते जिनोत्तमाः ॥१५३५॥

जब उत्तम आचार का विघात होता है, मिथ्याधर्मियों के समीप श्री कि वृद्धि होती है, जैन धर्म के प्रति घृणा का भाव उत्पन्न होने लगता है, तब तीर्थंकर उत्पन्न होते हैं और जैन धर्म का उद्धार करते हैं।

वर्तमानकालीन १४ कुलकर (कुलंकर) अथवा मनु

क्र.	कुलकरों के नाम	कुलकरों की स्त्रियों के नाम	शरीर का वर्ण	शरीर की ऊंचाई	कुलकरों के परस्पर अन्तरकाल और जन्मकाल प्रमाण
१	२	३	४	५	६
१.	प्रतिश्रुति	स्वयंप्रभा	सुवर्ण	१८००	इनका जन्म तृतीय काल के एक पल्य का १/८ वां भाग बाकी रहने पर होता है।
२.	सन्मति	यशस्वति	सुवर्ण	१३००	प्रथम कुलकर के मरने के बाद पल्य का १/८० वां भाग बीत जाने पर इनका जन्म होता है।
३.	क्षेमंकर	सुनन्दा	सुवर्ण	८००	दूसरे कुलकर के मरने बाद पल्य का १/८०० वां भाग बीत जाने पर इनका जन्म होता है।
४.	क्षेमन्धर	विमला	सुवर्ण	७७५	तीसरे कुलकर के मरने के बाद पल्य का १/८०००० वां भाग बीत जाने पर इनका जन्म होता है।
५.	सीमंकर	मनोरमण	सुवर्ण	७५०	चौथे कुलकर के मरने के बाद पल्य का १/८००००० वां भाग बीत जाने पर इनका जन्म होता है।
६.	सीमन्धर	यशोधारिणी	सुवर्ण	७२५	पांचवे कुलकर के मरने के बाद पल्य का १/८ लाख वां भाग बीत जाने पर इनका जन्म होता है।
७.	विमलवाहन	सुमति	सुवर्ण	७००	छठे कुलकर के मरने के बाद पल्य का १/८० लाख वां भाग बीत जाने पर इनका जन्म होता है।

सम्बन्धी कई जानने योग्य तथ्य

आयु काल प्रमाण	कौन-कौन से कुलकर के समय में कौन-कौन सी विशेष बातें हुई ?	कौन-कौन से कुलकर अपनी अपराधी प्रजा को किस-किस तरह दण्ड देते रहें, उसका स्वरूप	अनागत अर्थात् भविष्यत् काल में होने वाले १६ कुलकरों नाम	विशेष
७	८	९	१०	११
एक पल्य का १/१००० भाग प्रमाण	जोतिरंग कल्पवृक्ष का तेज कम होने से आकाश में सूर्य-चन्द्रमा दिखाई पड़ने लगे।	"हा मा" तुमने बुरा किया है। ऐसे वचन से एक से लेकर पांच कुलकर प्रजाजनों को दण्ड देते रहे।	अनागत उत्सर्पिणी काल के दूसरे काल के अन्त समय में एक हजार वर्ष बाकी रहने पर क्रम से १६ कुलकर होंगे उनके नाम—	१. तेरहवें कुलकर के समय पुत्र और पुत्री होने लगे और इन्द्र ने उनका विवाह किया था।
एक पल्य का १/१०० हजार वां भाग प्रमाण	अंधकार, नक्षत्र और तारागण दिखने लगे।			
एक पल्य का १/१००० वां भाग प्रमाण	क्रूर मृग, हिंसक जंतुओं से बाधा होने लगी।		१. कनक	
एक पल्य का १/१० हजार वां भाग प्रमाण	दीर्घबोधोपाय बतलाए।		२. कनकप्रभ	
एक पल्य का १/१ लाख वां भाग प्रमाण	प्रजाजनों को कल्पवृक्षों की सीमा दिखला दी।		३. कनकराज	
एक पल्य का १/१० लाख वां भाग प्रमाण	दिखलाई हुई सीमा विशेष का चिन्ह बतला दिया।	'हा मा' तुमने बुरा किया ऐसा मत करो इस तरह के वचनों से छह से लेकर दश कुलकर अपनी प्रजा को दण्ड देते रहे।	४. कनकध्वज	२. कुलकर को छोड़ कर बाकी सबका नाम आर्य था; इसलिये मरुदेवी के पिता का नाम नहीं बताया है।
एक पल्य का १/१ करोड़वां भाग प्रमाण	हाथी, घोड़े आदि वाहनों का उपभोग बतला दिया।		५. कनकपुंगव	
			६. नलिन	

१	२	३	४	५	६
८.	चक्षुष्मान	वसुन्धरा	श्यामवर्ण	६७५	सातवें कुलकर के मरने के बाद पल्य का १/८ करोड़ वां भाग बीत जाने पर इनका जन्म होता है।
९.	यशस्वी	कान्तमाला	श्यामवर्ण	६५०	आठवें कुलकर के मरने के बाद पल्य का १/८० करोड़ वां भाग बीत जाने पर इनका जन्म होता है।
१०.	अभिचन्द्र	श्रीमती	सुवर्ण	६२५	नवें कुलकर के मरने के बाद पल्य का १/८०० करोड़ वां भाग बीत जाने पर इनका जन्म होता है।
११.	चन्द्राभ	प्रभावती	धवल	६००	दसवें कुलकर के मरने के बाद पल्य का १/८०००० करोड़ वां भाग बीत जाने पर इनका जन्म होता है।
१२.	मरुदेव	अनुपमामरुि (सत्या)	सुवर्ण	५७५	ग्यारहवें कुलकर के मरने के बाद पल्य का १/८००००० करोड़वां भाग बीत जाने पर इनका जन्म होता है।
१३.	प्रसेनजित	अमृतमति (अभितमति)	धवल	५५०	बारहवें कुलकर के मरने के बाद पल्य का १/१० लाख करोड़ वां भाग बीत जाने पर इनका जन्म होता है।
१४.	नाभिराज	मरुदेवी	सुवर्ण	५२५	तेरहवें कुलकर के मरने के बाद १/१०० लाख करोड़ वां भाग बीत जाने पर इनका जन्म होता है।

७	८	९	१०	११
एक पल्य का १/१० करोड़ वां भाग प्रमाण	बच्चों के मुखावलोकन का भय दूर किया।		७. नलिनप्रभ	
एक पल्य का १/१०० करोड़ वां भाग प्रमाण	बालकों की नामकरण विधि बतला दी।		८. नलिनराज	
एक पल्य का १/१००० करोड़ वां भाग प्रमाण	शिशुरोदन-निवारण हेतु बालकों के साथ चन्द्र दर्शनादि क्रीड़ा बताई।		९. नलिनध्वज १०. नलिनपुंगव	३. चौदहवें कुलकर राजाधिराज और रानी मरुदेवी का विवाह इन्द्र ने किया है। इस प्रकार महापुराण पर्व २२ में लिखा है।
एक पल्य का १/१० हजार करोड़वां भाग प्रमाण	बालक और माता-पिता का परस्पर माता उनको समझाकर कह दिया।		११. पद्म १२. पद्मप्रभ	
एक पल्य का १/१ लाख करोड़ वां भाग प्रमाण	नदी समुद्रादि जलाशयों के तरणोपाय रूप नाव, जहाजादि चलाने की रीति बतला दी।	'हा माधिक्' तुमने बुरा काम किया। ऐसा काम मत करो। तुमको धिक्कार है।	१३. पद्मराज	
एक पल्य का १/१० लाख करोड़वां भाग प्रमाण	जन्म समय के जरायु के निकालने का उपाय बतला दिया था।	इस वचन से ग्यारह से लेकर चौदहवें कुलकर और पंद्रहवें 'मनु' कहलाने वाले वृषभदेव अपनी प्रजा को दण्ड देते रहे।	१४. पद्मध्वज १५. पद्मपुंगव १६. महापद्म	
एक करोड़ पूर्व काल प्रमाण	जन्म समय की नाभि के नाल को काटने का उपाय बतला दिया। इनके समय कर्म भूमि का प्रारंभ हुआ।		इस प्रकार होंगे। क्षत्रिय आदि कुल का आचार और अग्नि से अन्नादिक पक्वान्नों का विधान बताना इत्यादि कार्य प्रजाओं को बता देना उनका कर्त्तव्य होगा।	

वैदिक धर्म की मान्यता है कि धर्म की ग्लानि होने पर धर्म की प्रतिष्ठा स्थापना हेतु शुद्ध अवस्था प्राप्त परमात्मा मानवादि पर्यायों में अवतार धारण करता है। जिस प्रकार बीज के दग्ध होने पर वृक्ष उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार रागद्वेष, मोह आदि विकारों के बीज आत्मसमाधि से नष्ट होने पर परम पद को प्राप्त आत्मा का रागद्वेष पूर्ण दुनियां में आकर विविध प्रकार की लीला दिखाना युक्ति, सद्विचार तथा गंभीर चिंतन के विरुद्ध है।

प्रश्न :—तीर्थ और तीर्थंकर किसे कहते हैं ?

उत्तर :—तीर्थ और तीर्थंकर—इस तीर्थंकर शब्द में आगत तीर्थ शब्द के स्वरूप पर विचार करना उचित है। आचार्य प्रभाचन्द्र ने लिखा है, 'तीर्थमागमः तदाधारसंघश्च' अर्थात् जिनेन्द्र कथित आगम तथा आगम का आधार साधुवर्ग तीर्थ है। तीर्थ शब्द का अर्थ 'घाट' भी होता है। अतएव 'तीर्थंकरोतीति तीर्थंकरः' का भाव यह होगा, कि जिनकी वाणी के द्वारा संसार सिंधु से जीव तिर जाते हैं, वे तीर्थ के कर्ता तीर्थंकर कहे जाते हैं। सरोवर में घाट बने रहते हैं, घाट से मनुष्य सरोवर के बाहर सरलता पूर्वक आ जाता है, उसी प्रकार तीर्थंकर भगवान के पथ प्रदर्शन का अवलंबन लेने वाला जीव संसार सिंधु में न डूब कर बाहर आकर चिन्तामुक्त हो जाता है।

मूलाचार में तीर्थ के दो भेद कहे हैं एक द्रव्य तीर्थ, दूसरा भावतीर्थ। द्रव्य तीर्थ के विषय में इस प्रकार स्पष्टीकरण किया गया है—

दंसणणाण चरित्ते णिज्जुत्ता जिणवरा दु सव्वेपि।
तिहिं कारणेहिं जुत्ता तम्हा ते भावदोतित्थं ॥१५३६॥

सभी जिनेन्द्र भगवान सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र संयुक्त हैं। इन तीन कारणों से युक्त हैं इससे भगवान भावतीर्थ हैं।

जिनेन्द्र वाणी के द्वारा जीव अपनी आत्मा को परम उज्ज्वल बनाता है, उस रत्नत्रय भूषित आत्मा को भावतीर्थ कहा है। जिनेन्द्र रूप भाव तीर्थ समीप में षोडश-कारण भावना को भाने वाला जीव तीर्थंकर बनता है। रत्नत्रय भूषित जिनेन्द्र रूप भावतीर्थ के द्वारा अपवित्र आत्मा पवित्रता को प्राप्त कर जगत् के संताप को दूर करने में समर्थ होता है। इस जिनदेव रूप भावतीर्थ के द्वारा आत्मा तीर्थंकर बनता है और श्रुतरूप तीर्थ की रचना में निमित्त होता है।

जिनेन्द्र भगवान के द्वारा धर्म तीर्थ प्रवृत्ति होती है, इससे उनको धर्म तीर्थंकर कहते है । मूलाचार के इस अत्यन्त भाव पूर्ण स्तुति पद्य में भगवान को धर्म तीर्थंकर कहते हैं—

लोगुज्जोरा धम्मतित्थयरे जिणवरे य अरहंते ।
किसण केवलिमेव य उत्तमबोहिं मम दिसंतु ॥१५३७॥

जगत् को सम्यग् ज्ञान रूप प्रकाश देने वाले धर्म तीर्थ के कर्त्ता उत्तम, जिनेन्द्र, अर्हन्त केवली मुझे विशुद्ध बोधि प्रदान करें, अर्थात् उनके प्रसाद से रत्नत्रय धर्म की प्राप्ति हो ।

तीर्थंकर शब्द का प्रयोग भगवान महावीर के समय में अन्य संप्रदायों में भी होता था, यद्यपि प्रचार तथा रूढ़िवश तीर्थंकर शब्द का प्रयोग जिनेन्द्र भगवान के लिये किया जाता है । जैन शास्त्रों में भी तीर्थंकर शब्द का प्रयोग श्रेयांस राजा के साथ करते हुए उनको दान तीर्थंकर कहा है । अतएव तीर्थंकर शब्द के पूर्व में धर्म शब्द को लगाकर धर्म तीर्थंकर रूप में जिनेन्द्र का स्मरण करने की प्राचीन प्रणाली रही है ।

समीचीन धर्म की व्याख्या करते हुए आचार्य समंतभद्र ने लिखा है कि सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप धर्म है, जिससे जीव संसार के दुःखों से छूटकर श्रेष्ठ मोक्ष सुख को प्राप्त करता है, इस धर्म तीर्थ के कर्ता इस अवसर्पिणीकाल की अपेक्षा वृषभदेव आदि महावीर पर्यन्त चौबीस श्रेष्ठ महापुरुष हुए हैं । तीर्थंकर का पद किसी की कृपा से प्राप्त नहीं होता है । पवित्र सोलह प्रकार की भावनाओं तथा उज्ज्वल जीवन के द्वारा कोई पुण्यात्मा मानव तीर्थंकर पद प्रदान करने में समर्थ तीर्थंकर प्रकृति नाम के पुण्य कर्म का बंध करता है । यह पद इतना अपूर्व है कि दस कोडा कोड़ी सागर प्रमाण इस अवसर्पिणी काल में केवल चौबीस ही तीर्थंकरों ने अपने जन्म द्वारा इस भरत क्षेत्र को पवित्र किया है । असंख्य प्राणी रत्नत्रय की समाराधना द्वारा अर्हन्त होते हुए सिद्ध पदवी को प्राप्त करते हैं, किन्तु भरत क्षेत्र में तीर्थंकर रूप में जन्म धारण करके मोक्ष जाने वाले महापुरुष चौबीस ही होते हैं ।

प्रश्न :—सोलह कारण भावना के नाम क्या हैं ? जिन्हें तीर्थंकर भाते हैं ?

उत्तर :—तीर्थङ्कर प्रकृति के बंध में कारण, ये सोलह भावनाएँ आगम में

कही गई है। (१) दर्शन विशुद्धि (२) विनय सम्पन्नता (३) शील व्रतेष्वनतिचार (४) अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग (५) संवेग (६) शक्तितस्त्याग (७) शक्तितस्तप (८) साधु समाधि (९) वैयावृत्यकरण (१०) अर्हत्-भक्ति (११) आचार्य भक्ति (१२) बहुश्रुत भक्ति (१३) प्रवचन भक्ति (१४) आवश्यकापरिहाणि (१५) मार्ग प्रभावना (१६) प्रवचनवत्सलत्व। इन सोलह प्रकार की श्रेष्ठ भावनाओं के द्वारा श्रेष्ठपद तीर्थङ्करत्व की प्राप्ति होती है।

महाबंध ग्रन्थ में तीर्थङ्कर प्रकृति को तीर्थंकर नाम गोत्र कर्म कह कर उल्लेख किया गया है, यथा 'एदेहि सोलसेहि कारणेहि जीवो तित्थयर णामा गोदं कम्मं बंधदि' (ताम्र पत्र प्रति पृष्ठ ५) उस महाबंध के सूत्र में सोलहकरण भावनाओं के नामों का इस प्रकार कथन आया है :—

'कदिहि कारणेहि जीवा तित्थयर णामा गोदं कम्मं बंधदि। तत्थ इमेहि सोलस कारणेहि जीवा तित्थयरणामा गोदं कम्मं बंधदि दंसण विसुज्झयाए, विणय संपण्णदाए, सीलवदेसुणिरदिचारदाए, आवासएसु अपरिहीणदाए, खणलव-पडिबुज्झ (बुज्झ) णदाए, लद्धिसंवेग संपण्णदाए अरहंत भत्तीए, बहुसुदभत्तीए, पवयणभत्तीए, पवयणवच्छल्लदाए, पवयणप्रभावणदाए, अभिक्खणाणा-णोपयुत्तदाए।

उपरोक्त नामों में प्रचलित भावनाओं से तुलना करने पर विदित होगा कि यहाँ आचार्य भक्ति का नाम न मिलकर उसके स्थान में 'खणलव-पडिबुज्झणदा' भावना का संग्रह किया गया है। इसका अर्थ है क्षण में, लव में अर्थात् क्षण-क्षण में अपने रत्नत्रय धर्म के कलंक का प्रक्षालन करते रहना क्षणलव प्रतिबोधनता है।

इन सोलह कारणों के द्वारा यह मनुष्य धर्म तीर्थंकर जिन केवली होता है। कहा भी है :—जस्स इण कम्मस्स उदयेण सदेवासुरमाणुसस्स लोगस्स अच्चणिज्जा पूजणिज्जा वंदणिज्जा णमंसणिज्जा धम्मतित्थयरा जिणा केवली (केवलिणो) भवंति (पृष्ठ ५)।

प्रश्न :—तीर्थंकरप्रकृति का बंध जीव किस अवस्था में कर सकता है ?

उत्तर :—जिस तिर्थंकर प्रकृति के उदय से देव, असुर तथा मानवादि द्वारा वन्दनीय तीर्थंकर के पद की प्राप्ति होती है, उस कर्म का बन्ध तीनों प्रकार के सम्यक्त्वी करते हैं। सम्यक्त्व के होने पर ही तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है। किन्हीं आचार्यों का कथन है कि प्रथमोपशम सम्यक्त्व का काल अल्प अंतर्मुहूर्त प्रमाण

है । उसमें सोलह भावनाओं का भाया जाना सम्भव नहीं है । अतः उसमें तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध नहीं होगा ।

यह भी बात स्मरण योग्य है कि इसका बंध मनुष्य गति में ही केवली अथवा श्रुतकेवली के चरणों के समीप प्रारम्भ होता है । 'तित्थयरबंधपारंभयाणरा केवलिदुगंते ।' (९३ कर्मकांड गो०) इस प्रकृति का बंध तिर्यञ्चगति को छोड़ शेष तीन गतियों में होता है । इसका उत्कृष्टपने से अन्तर्मुहूर्त अधिक आठ वर्ष न्यून दो कोटि पूर्व अधिक तैंतीस सागर प्रमाण काल पर्यन्त बंध होता है । केवली श्रुत केवली का सानिध्य इससे आवश्यक कहा है कि 'तदन्यत्र तादृग्विशुद्धि विशेषासंभवात्' उनके सानिध्य के सिवाय वैसी विशुद्धता का अन्यत्र अभाव है ।

नरक की प्रथम पृथ्वी में तीर्थंकर प्रकृति का बंध पर्याप्त तथा अपर्याप्त अवस्था में होता है । दूसरी तथा तीसरी पृथ्वी में पर्याप्त अवस्था में ही इसका बंध होता है । आगे के नरकों में इस प्रकृति का बंध नहीं होता है । कहा भी है—

धम्मातित्थं बंधसि वंसा मेघाए पुण्णगो चेव । १०६ गो० कर्म० । गोमट्टसार कर्म कांड गाथा १३६ में लिखा है कि तीर्थंकर प्रकृति का उत्कृष्ट स्थिति बंध अविरत सम्यग्दृष्टि के होता है ।

तित्थयरं च मणुस्सो अविरदसम्मो समज्जेइ । इसकी संस्कृत टीका में लिखा है—'तीर्थंकर उत्कृष्ट स्थितिकं नरकगतिगमनाभिमुख—मनुष्यासंयमसम्यग्दृष्टिरेव बध्नाति' (बड़ी टीका पृष्ठ १३४) उत्कृष्ट स्थिति सहित तीर्थंकर प्रकृति को नरकगति जाने के उन्मुख असंयत सम्यक्त्वी मनुष्य बांधता है, कारण उसके तीव्र संक्लेश भाव रहता है । उत्कृष्ट स्थिति बंध के लिये तीव्र संक्लेश युक्त परिणाम आवश्यक है । नरकगति में गमन के उन्मुख को तीव्र संक्लेश के कारण तीर्थंकर रूप शुभ प्रकृति का अल्प अनुभाग बंध होगा क्योंकि 'सुहपयडीण विसोही असुहाण संकिलेसेण ति० लो० (१९३) शुभ प्रकृतियों का तीव्र अनुभाग बंध विशुद्ध भावों से होता है । तथा अशुभ प्रकृतियों का तीव्र अनुभाग बंध संक्लेश से होता है, तीर्थंकर प्रकृति का बंध अपूर्वकरण गुणस्थान के छठवें भाग पर्यन्त होता है, अतएव इस गुणस्थानवर्ती मुनिराज के उत्कृष्ट अनुभाग बंध होगा । स्थिति बन्ध का स्वरूप विपरीत होगा अर्थात् वह न्यून होगा ।

प्रश्न :—तीर्थंकर नाम कर्म के सोलह कारणों में दर्शन विशुद्धि भावना की प्रमुखता क्यों है ?

उत्तर :—पं० आशाधर जी ने सागर धर्मामृत (८-७३) में लिखा है कि केवल दर्शन विशुद्धि भावना से ही श्रेणिक नरेश ने तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया है। संस्कृत टीका में उपरोक्त कथन का समर्थन करते हुये ये शब्द लिखे गये हैं :—

'एकया-असहायया विनयसंपन्नतादितीर्थंकरत्वकारणान्तररहितया, दृग्विशुध्या श्रेणिको नाम मगधमंडलेश्वरस्तीर्थकृत् धर्मतीर्थंकरो भविता भविष्यति'। अर्थात् विनय संपन्नतादि तीर्थंकरत्व के कारणांतरों से रहित केवल एक दर्शन विशुद्धि के द्वारा श्रेणिक नामक मगध महा मंडलेश्वर धर्मतीर्थंकर होंगे।

शंका :—उत्तर पुराण के प्रकृत प्रसंग पर प्रकाश डालने वाली एक भिन्न दृष्टि पाई जाती है। वहां पर्व ७४ में श्रेणिक राजा ने गणधर देव से पूछा है कि मेरी जैनधर्म में बड़ी भारी श्रद्धा प्रगट हुई है तथापि मैं व्रतों को क्यों नहीं ग्रहण कर सकता है ?

समाधान :—उत्तर देते हुए गणधर देव ने कहा तुमने नरकायु का बंध किया है ? यह नियम है कि देवायु के बन्ध को छोड़कर अन्य आयु का बन्ध करने वाला फिर व्रतों को स्वीकार नहीं कर सकता। इसी कारण तुम व्रत धारण नहीं कर सकते। हे महाभाग ! आज्ञा, मार्ग, बीज आदि दस प्रकार की श्रद्धाओं में से आज तुम्हारे कितनी ही श्रद्धाएँ विद्यमान हैं। इनके सिवाय दर्शनविशुद्धि आदि शास्त्रों में कहे हुए जो शुद्ध सोलह कारण हैं, उनमें से सब या कुछ कारणों से यह भव्य जीव तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध करता है। इनमें से दर्शनविशुद्धि आदि कितने ही कारणों से तू तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध करेगा। मरकर रत्नप्रभा नरक में जायेगा और वहाँ से आकर उत्सर्पिणी काल में 'महापद्म' नाम का प्रथम तीर्थंकर होगा। ग्रन्थकार के शब्द इस प्रकार हैं :—

एतास्वपि महाभाग तव संत्यद्यकाश्चन।
दर्शनाद्यागम प्रोक्तशुद्ध षोडशकारणैः ॥१५३८॥
भव्योऽयस्तैः समस्तैश्च नामात्मीकुरुते मम।
तेषु श्रद्धादिभिः कैश्चिद्बध्वा तन्नामकारणैः ॥१५३९॥

रत्नप्रभां प्रविष्टः संस्तत्फलं मध्यमायुषा ।
भुक्त्वानिर्गत्य भव्यास्मिन् महापद्माख्य-तीर्थकृत ।।१५४०।।

इस विषय में तत्वार्थ श्लोकवार्तिकालंकार का यह कथन ध्यान देने योग्य है। विद्यानन्दि स्वामी कहते हैं :—

दृग्विशुध्यादयो नाम्नस्तीर्थकृत्वस्य हेतवः ।
समस्ता व्यस्तरूपा वा दृग्विशुध्या समन्विताः ।।१५४१।।

दर्शनविशुद्धि आदि तीर्थंकर नाम कर्म के कारण हैं, चाहे ये सभी कारण हों या पृथक-पृथक हों किन्तु उनको दर्शनविशुद्धि समन्वित होना चाहिए। इसके पश्चात् तीर्थंकर प्रकृति के विषय में बड़े गौरव पूर्ण शब्द कहते हैं :—

सर्वातिशायि तत्पुण्य त्रैलोक्याधिपतित्वकृत् ।।१५४२।।

वह पुण्य तीन लोक का अधिपति बनाता है। वह पुण्य सर्व श्रेष्ठ है।

दर्शनविशुद्धि आदि भावनाएँ पृथक् रूप में तथा समुदाय रूप में तीर्थंकर पद की प्राप्ति में कारण हैं, ऐसा भी अनेक स्थलों में उल्लेख आता है।
हरिवंश पुराण में कहा है :—

तीर्थंकर नामकर्मास्ति षोडश तत्कारणान्यमूनि ।
व्यस्तानि समस्तानि भवंति सद्भाव्य मानानि ।।१५४३।।

अकलंक स्वामी राजवार्तिक में लिखते हैं :—

तान्येतानि षोडशकारणानि सम्यग् भाव्यमानानि व्यस्तानि समस्तानि च तीर्थकर नामकर्मणः तत्र कारणानि प्रत्येतव्यानि। (सूत्र २४ पृ० २६७)

इन भावनाओं में दर्शनविशुद्धि का स्वरूप विचार करने पर उसकी मुख्यता स्पष्ट रूप से प्रतिभासमान होती है। तीर्थंकर प्रकृति रूप धर्म कल्प तरु पूर्ण विकसित होकर रत्नत्रय के फलों से समलंकृत होते हुये पुण्य रूपी पुष्पोंसे अगणित भव्यों को अवर्णनीय आनन्द तथा शांति प्रदान करता है, उस कल्पतरु की बीजरूपता का स्पष्ट रूप से दर्शन प्रथम भावना से होता है।

दर्शन विशुद्धि में आगत दर्शन शब्द सम्यग्दर्शन का वाचक है, इसी कारण यह आगम वाक्य है 'सम्मत्तेण तित्थ बन्धो' तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध सम्यक्त्व होने पर ही होता है। विशुद्धि का भाव है पुण्य प्रद उज्जवल भाव, जिसका संक्लेश की कालिमा से तनिक भी सम्बन्ध न हो। कारण विशुद्ध भाव से शुभ प्रकृतियों में तीव्र

अनुभाग पड़ता है। इस सम्बन्ध में यह बात भी ध्यान में रखना उचित है कि तीर्थङ्कर प्रकृति के बन्ध रूप बीज बोने का कार्य केवली श्रुत केवली के पादमूल अर्थात् चरणों के समीप होता है। भरत क्षेत्र में इस काल में अब उक्त साधन युगल का अभाव होने से तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध नहीं हो सकता है।

प्रश्न—भावना के लिये केवली के चरणों की समीपता का क्या कारण है ?

उत्तर—इस प्रकार का उत्तर यह होगा कि उन जिनेन्द्र की दिव्यवाणी के प्रसाद से देव, मनुष्य, पशु सभी जीवों को धर्म का अपूर्व लाभ होता है। यह देखकर किसी महाभाग के हृदय में ऐसे अत्यन्त पवित्र भाव उत्पन्न होते हैं कि मिथ्यात्वरूप महा अटवी में मोह की दावाग्नि जलने से अगणित जीव मर रहे हैं, उनके अनुग्रह करने की प्रभो ! आपके समान क्षमता, शक्ति तथा सामर्थ्य-मेरी भी आत्मा में उत्पन्न हो, जिससे में सम्पूर्ण जीवों को आत्मज्ञान का अमृत पिलाकर उनको सच्चा सुख मार्ग बता सकूं। इस प्रकार की विश्वकल्याण की भावना के द्वारा सम्यक्त्वी जीव तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध करता है।

विनयसंपन्नता, अर्हंत भक्ति, आचार्य भक्ति, प्रवचन भक्ति, मार्ग प्रभावना, प्रवचनवत्सलत्व सदृश अनेक भावनाएं सम्यक्त्व के होने पर सहज ही उसके अंगरूप में प्राप्त हो जाती हैं। जिस प्रकार अक्षर हीन मंत्र विषवेदना को दूर नहीं कर सकता है। ऐसी स्थिति में सम्यक्त्व यदि सांगोपांग हो तथा उसके साथ सर्व जीवों को सम्यक् ज्ञानामृत पिलाने की भावना या मंगल कामना प्रबल रूप से हो जाय तो तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हो सकता है। दर्शन विशुद्धि भावना परिपूर्ण होने पर अनेक भावनाओं के निरूपण को गौण बनाकर कथन किया जाय तो तीर्थंकर पद में कारण दर्शन विशुद्धि को भी (मुख्य मानकर) कहा जा सकता है।

इस प्रसंग में पहले महामंडलेश्वर राजा श्रेणिक का उदाहरण आ चुका है। श्रेणिक महाराज अव्रती थे, क्योंकि वे नरकायु का बन्ध कर चुके थे। वे क्षायिक सम्यक्त्वी थे। उनके दर्शन विशुद्धि की भावना थी, यह कथन भी ऊपर आ चुका है। महावीर भगवान का सानिध्य होने से केवली का पादमूल भी उनको प्राप्त हो चुका था। उनमें शक्तितस्त्याग, शक्तिस्तप, आवश्यकापरिहाणि, शीलव्रतों में निरतिचारता सदृश संयमी जीवन से सम्बन्धित भावनाओं को स्वीकार करने में कठिनता आती है, किन्तु अर्हंत भक्ति, गणधरादि महान गुरुओं को श्रेष्ठ सत्संग रहने से आचार्य भक्ति,

बहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति, मार्ग प्रभावना, प्रवचन वत्सलत्व सदृश सद्गुणों का सद्भाव स्वीकार करने में क्या बाधा आती है ? ये तो भावनाएं सम्यक्त्व की पोषिकाएं हैं। क्षायिक सम्यक्त्वी के पास उनका अभाव होगा ऐसा सोचना तक कठिन प्रतीत होता है। अतएव दर्शन विशुद्धि की विशेष प्रधानता को लक्ष्य में रखकर उसे कारणों में मुख्य माना गया है। इस विवेचन के प्रकाश में प्रतीयमान विरोध का निराकरण करना उचित है।

विशेष—सम्यग्दर्शन और दर्शन विशुद्धि भावना में भिन्नता है। सम्यग्दर्शन आत्मा का विशेष परिणाम है। वह बन्ध का कारण नहीं हो सकता। उसके सद्भाव में एक लोक कल्याण की विशिष्ट भावना उत्पन्न होती है, उसे दर्शन विशुद्धि भावना कहते हैं। यदि दोनों में अन्तर न हो, तो मलिनता आदि विकारों से पूर्णतया उन्मुख सभी क्षायिक सम्यक्त्वी तीर्थंकर प्रकृति के बन्धक हो जाते; किन्तु ऐसा नहीं होता, अतः यह मानना तर्क संगत है कि सम्यक्त्व के साथ में और भी विशेष पुण्य भावना का सद्भाव आवश्यक है।

आगम में कहा है कि तीनों सम्यक्त्वों में तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध हो सकता है, अतः यह मानना उचित है कि सम्यक्त्व रूप आत्मनिधि के स्वामी होते हुए भी विशुद्ध भावना का सद्भाव आवश्यक है। उसके बिना क्षायिक सम्यक्त्वी भी तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध नहीं कर सकेगा। क्षायिक सम्यक्त्व मात्र यदि तीर्थङ्कर प्रकृति का कारण होता तो सिद्ध पदवी की प्राप्ति के पूर्व सभी केवली तीर्थङ्कर होते; क्योंकि केवल ज्ञानी बनने के पूर्व क्षपक श्रेणी आरोहण करते समय क्षायिक सम्यक्त्वी होना अनिवार्य नियम है। भरत क्षेत्र में एक अवसर्पिणी में चौबीस ही तीर्थङ्कर हुए हैं। इतनी अल्पसंख्या ही तीर्थंकर प्रकृति की लोकोत्तरता को स्पष्ट करती है। क्षायिक सम्यक्त्वी होने मात्र से यदि तीर्थंकर पदवी प्राप्त होती तो महावीर तीर्थंकर के समवशरण में विद्यमान ७०० केवली सामान्य केवली न होकर तीर्थंकर केवली हो जाते, किन्तु ऐसा नहीं होता। एक तीर्थंकर के समवशरण में दूसरे तीर्थंकर का सद्भाव नहीं होता। एक स्थान पर एक ही समय दो सूर्य या दो चन्द्र प्रकाशित नहीं होते, उसी प्रकार दो तीर्थंकर एक साथ नहीं पाए जाते हैं।

हरिवंश पुराण में कहा है—

नान्योन्यदर्शनं जातु चक्रिणां धर्मचक्रिणाम्।
हलिनां वासुदेवानां त्रैलोक्य प्रतिचक्रिणाम् ॥१५४४॥

चक्रवर्ती, धर्मचक्रवर्ती, वासुदेव, प्रतिवासुदेव तथा बलदेव इनका और अन्य चक्रवर्ती, धर्म चक्रवर्ती, वासुदेव, प्रतिवासुदेव तथा बलदेव का क्रमशः परस्पर दर्शन नहीं होता है।

प्रश्न—तीर्थङ्कर प्रकृति की विशेषता क्या है ?

उत्तर—तीर्थंकर प्रकृति के सद्भाव की विशेषता—तीर्थंकर प्रकृति का उदय केवली अवस्था में होता है। तित्थं केवलिणि–यह आगम का वाक्य है। यह नियम होते हुए तीर्थंकर भगवान् के गर्भकल्याणक जन्मकल्याणक तथा तपकल्याणकरूप कल्याणकमय तीर्थंकर प्रकृति के सद्भाव मात्र से होते हैं। होनहार तीर्थंकर के गर्भकल्याणक के छह माह पूर्व ही विशेष प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगता है। भरत तथा ऐरावत क्षेत्र में पंचकल्याणक वाले ही तीर्थंकर होते हैं। देवगति से चयकर आते हैं या नरक से आकर मनुष्य पदवी प्राप्त करते हैं। तिर्यञ्च पर्याय से आकर तीर्थंकर रूप से जन्म नहीं होता है। तिर्यञ्चों में तीर्थंकर प्रकृति के सत्व का निषेध है। 'तिरियेण तित्थसत्तं' यह वाक्य गोम्मटसार कर्मकाण्ड से आया है। पञ्चकल्याणक वाले तीर्थंकर मनुष्य पर्याय से भी नहीं आते। वे नरक देवगति से आते हैं। अपनी पर्याय परित्याग के छः माह शेष रहने पर नरक में देव जाकर होनहार तीर्थंकर के असुरादि कृत उपसर्ग का निवारण करते हैं। स्वर्ग से आने वाले देव के छह माह पूर्व माला नहीं मुरझाती हैं। त्रिलोक सार में कहा है—

तित्थयर संतकम्मुवसग्गं णिरए णिवारयंतिसुरा।
छम्मासाउगसेसे सग्गे अमलाण-मालंका ॥१५४५॥
तीर्थङ्कर सत्कर्मोपसर्गं नरके निकायंनि सुराः।
षण्मासायुष्कशेषे स्वर्गे नरके मालाकाः ॥१४४६॥

इस अवसर्पिणी काल में सभी तीर्थंकर स्वर्ग से चयकर इस भरत क्षेत्र में आये थे। जब स्वर्ग चय करने को छह मास शेष रहे तब उस महान आत्मा के प्रति सुरसमुदाय को महान आदर भाव उत्पन्न होता था। सबकी दृष्टि भगवान् की ओर केन्द्रित हुआ करती थी। वर्धमान चरित्र में बताया है कि जिनेन्द्र होने वाले उस स्वर्गवासी देव को देवता लोग प्रणाम करने लगते हैं। कवि ने महावीर भगवान् के जीव प्राणतेन्द्र के विषय में जो बात लिखी वह अन्य तीर्थंकरों के विषय में भी उपयुक्त दिखती है।

भक्त्या प्रणेमुरतं मनसा सुरेन्द्रं,
अभ्यासयेऽप्युरजोवितमेत्यदेवाः ।
तस्मादनंतरभवे वितनिष्यभाणं ।
तीर्थं भवोदधिसमुत्तरणैकतीर्थम् ।।१५४६।।

जिनकी देवगति सम्बन्धी आयु के छह माह शेष रहे हैं तथा जो आगामी जन्म में संसार समुद्र को तरकर जाने के लिये अद्वितीय घाट सदृश धर्मतीर्थ का प्रसार करने वाले हैं, ऐसे उस प्राणतेन्द्र के समीप जाकर अनेक देवता अन्तःकरण पूर्वक प्रणाम करने लगे थे ।

ऐसी भक्ति पूर्वक समाराधना पूर्णतया स्वाभाविक है । होनहार तीर्थंकर देवराज को स्वर्ग में देखकर देवों को देवियों को, तथा देवेन्द्रों को ऐसा हर्ष होता है कि जैसे सूर्य दर्शन से कमलों को आनन्द प्राप्त होता है और वे विकास को प्राप्त होते हैं । जिस प्रकार किसी जगह पर कोई अद्भुत निधि अल्प काल के लिये आ जाए तो उसके दर्शन के लिये सभी नागरिक गए बिना नहीं रहते । इसी प्रकार छह माह के पश्चात् स्वर्ग को छोड़कर मनुष्य लोक प्रयाण करने वाली उस परम पावन आत्मा की सभी देव अभिवन्दना द्वारा अपने को कृतार्थ अनुभव करते हैं । भगवान् छह माह पश्चात् स्वर्ग लोक का परित्याग करने वाले हैं, इसलिये इस पुण्यात्मा का अनुगमन करने वाली लक्ष्मी छह माह पूर्व ही स्वर्ग से मध्य लोक में रत्नवृष्टि के बहाने से आ रही थी । जिनसेन स्वामी की कल्पना कितनी मधुर है—

सेकन्दननियुक्तेन धनदेन निपातिता ।
साभात् स्वसंपदौत्सुक्यात् प्रस्थितेवाग्रतो विभोः ।।१५४७।।

इन्द्र के द्वारा नियुक्त हुए कुबेर के द्वारा जो रत्नों की वर्षा हो रही थी, वह इस प्रकार शोभायमान होती थी; मानों जिनेन्द्र देव की संपत्ति उत्सुकतावश उनके आगमन के पूर्व ही आ गई हो ।

❋ पंचकल्याणक ❋

तीर्थंकरों के पंचकल्याण या पंचकल्याणक—तीर्थंकर भक्ति में उनकी अनेक विशेषताओं का उल्लेख किया गया है । वृषभादि महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकरों का प्रथम विशेषण है, 'पंचमहाकल्याणसंपण्णाणं' वे पंच महान कल्याणकों को

प्राप्त हैं। अतएव प्रभु के पंच कल्याणकों आदि के विषय में संक्षेप से प्रकाश डालना उचित प्रतीत होता है।

इस संसार को पंच प्रकार के संकटों अकल्याणों की आश्रय भूमि माना गया है। उनको द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव तथा भावरूप पंच परावर्तन कहते हैं। तीर्थंकर भगवान के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान तथा मोक्ष का स्वरूप चिंतवन करने वाले सत्पुरुष को उक्त पंच परावर्तन रूप संसार में परिश्रम का कष्ट नहीं उठाना पड़ता है। उनके पुण्यजीवन के प्रसाद से पंच प्रकार के अकल्याण छूट जाते हैं। तथा यह जीव मोक्ष रूप पंचमगति को प्राप्त करता है। पंच अकल्याणों के प्रतिपक्ष रूप तीर्थंकर के जीवन गर्भ जन्मादि पंच अवस्थाओं की पंच कल्याण या अल्याणक नाम से प्रसिद्धि है। इन पांच प्रसंगों पर समस्त इन्द्रादिक आकर महान् पूजा उत्सवों को करते हैं। इन उत्सवों को पंच कल्याणक कहते हैं।

प्रश्न :—अयोध्यानगरी की रचना किस प्रकार है ?

उत्तर:—अयोध्या नगरी की रचना—जिनेंद्र भगवान के गर्भ में आने के छह माह पूर्व से ही इस वसुन्धरा (भूमि) में भावी तीर्थंकर के मंगलमय आगमन की महत्ता को सूचित करने वाले अनेक कार्य सम्पन्न होने लगते हैं।

भगवान वृषभदेव के माता मरुदेवी के गर्भ में आने के छह माह पूर्व ही इन्द्र की आज्ञानुसार देवों ने स्वर्गपुरी के समान 'अयोध्या' नगरी की रचना की। उसे साकेता, विनीता तथा सुकोशलापुरी भी कहते हैं। उस नगरी की अपूर्व रमणीयता का कारण महाकवि जिनसेन स्वामी के शब्दों में यह था—

स्वर्गस्यैव प्रतिच्छंदं भूलोकेऽस्मिन् निधित्सुभि ।
विशेषरमणीयैव निर्ममे सामरैः पुरी ॥१५४८॥

देवों ने उस नगरी को विशेष मनोहर बनाया। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि देवताओं की यह इच्छा थी कि मध्यलोक में स्वर्ग की एक प्रतिकृति हो।

उस नगरी के मध्य में सुरेन्द्र भवन से स्पर्धा करने वाला महाराज नाभिराज के निवासार्थ नरेन्द्र भवन की रचना की गई थी, उनकी दिवालों में अनेक प्रकार के दीप्तिमान मणि लगे थे। सुवर्ण मय स्तंभों से वह समलंकृत था। पुष्प, मूंगा, मुक्तादि की मालाओं से शोभायमान था। हरिवंश पुराण में लिखा है कि उस राजभवन का

नाम 'सर्वतोभद्र' था। उसके ८१ मंजले थे, वह परकोटा, वापिका, उद्यानादि से शोभायमान था।

हरिवंश पुराण के शब्द इस प्रकार हैं—

सर्वतोभद्र संज्ञोऽसौ प्रासादः सर्वतोमतः।
सैकाशीतिपदः शालवप्युद्यानाद्यलंकृतः ॥१५४९॥
शातकुंभमयस्तंभो विचित्रमणिभित्तिकः।
पुष्पविद्रुमरक्तादि मालाभि रूपशोभितः ॥१५५०॥

आदिनाथ भगवान जिस नगर में जन्म लेने वाले हैं, तथा जहाँ सभी देव, देवेन्द्र निरन्तर आया करेंगे, उसकी श्रेष्ठ रचना में संदेह के लिये स्थान नहीं हो सकता है। इसका कारण महापुराणकार इस प्रकार प्रगट करते हैं—

सूत्रामा सूत्रधारोऽस्याः शिल्पिनः कल्पजाः सुराः।
वास्तुजातं महो कृत्स्ना सोद्धानास्कथं पुरी ॥१५५१॥

उस जिनेन्द्रपुरी के निर्माण में इन्द्र महाराज सूत्रधार थे, कल्पवासी देव शिल्पी थे, तथा निर्माण के योग्य समस्त पृथ्वी पड़ी थी वह नगरी प्रशंसनीय क्यों न होगी? वह नगरी द्वादश योजन प्रमाण विस्तार युक्त थी।

जिनसेन स्वामी का कथन है—उस अयोध्या नगरी में सब देवों ने हर्षित होकर शुभ दिन, शुभ मुहूर्त, शुभ योग तथा शुभलग्न में पुण्याहवाचन किया। जिन्हें अनेक सम्पदाओं की परम्परा प्राप्त हुई है, ऐसे महाराज नाभिराज तथा महारानी मरुदेवी ने हर्षित हो समृद्धि युक्त अयोध्या नगरी में निवास प्रारम्भ किया।

विश्वदृश्वैतयोः पुत्रो जनितेति शतक्रतुः।
तयोः पूजां व्यधत्तोच्चैरभिषेक पुरस्सरम् ॥१५५२॥

इन राजदम्पति के सर्वज्ञ पुत्र उत्पन्न होने वाले हैं, इसलिये इन्द्र ने अभिषेक पूर्वक उन दोनों की बड़ी पूजा की थी।

रत्नवृष्टि—भगवान के जन्म के १५ माह पूर्व से उस जन्म नगरी में प्रभात, मध्यान्ह, सायंकाल तथा मध्य रात्रि में चार बार साढ़े तीन करोड़ रत्नों की वर्षा होती थी, इस प्रकार चौदह करोड़ रत्नों की प्रतिदिन वर्षा हुआ करती थी। महापुराण व हरिवंशपुराण में लिखा है, कि यह रत्नवर्षा राजभवन में होती थी। वर्धमान चरित्र में कहा है कि तिर्यग्विजृंभक नाम के देवगण कुबेर की आज्ञा से चारों दिशाओं में साढ़े तीन कोटि रत्नों की वर्षा करते थे। (सर्ग १७ श्लोक ३६)

प्रश्न :—जिनेन्द्र की मां की सेवा देवियां किस प्रकार करती हैं ?

उत्तर—जिनेन्द्र की जननी की अनेक देवांगनाएँ सेवा करती रहती हैं—धर्मशर्माभ्युदय में लिखा है कि उनमें से श्री देवी सेवार्थ राज भवन में पहुँची और भगवान के पिता से कहने लगी—

निर्जरासुर-नरोरगेषु ते कोऽधुनापितुलसाम्यमूच्छति ।
अग्रतस्तु सुतरां यतोगुरुस्त्वं जगत्त्रय गुरोर्भविष्यसि ॥१५५३॥

देव, असुर, मानव तथा नागकुमारों में अब कौन आपके गुणों से समानता को प्राप्त करेगा, क्योंकि आप त्रिलोक के गुरु के भी गुरु होंगे ।

इसके पश्चात् वे देवियां माता की सेवा के लिए अन्तःपुर में प्रवेश करती हैं, असग कवि ने लिखा है कि कुन्डल पर्वत पर निवास करने वाली चूलावती, मालनिका, नवमालिका, त्रिशिरा, पुष्पचूला, कनकचित्रा, कनकादेवी तथा वारुणीदेवी नाम की अष्टदिक्कन्यकाएँ इन्द्र की आज्ञा से जिनमाता की सेवार्थ गई थीं । इसी तरह जिन-माता की सेवा करने वाली ५६ देवांगनाओं के नाम—

१. कल्पवासी देवों के देवेन्द्र की इन्द्राणियाँ	१२	इनमें से
२. भवनवासी देवों के देवेन्द्र की इन्द्राणियाँ	२०	कुलाचल
३. व्यन्तर देवों के देवेन्द्र की इन्द्राणियाँ	१६	वासिनी
४. ज्योतिष्क देवों के देवेन्द्र की इन्द्राणियाँ	२	श्री देवी
५. कुलाचल वासिनी श्री देवी आदि देवियाँ	६	ह्री देवी
		धृति देवी
	५६	

कीर्तिदेवी, बुद्धिदेवी, लक्ष्मीदेवी ये छह देवियाँ माता के गर्भ शोधन का कार्य करती हैं । शेष देवियां माता की सेवा प्रगट रूप से तथा प्रच्छन्न (गुप्त) रूप से करती रहती हैं, ऐसा पुराण में लिखा है ।

प्रश्न :—तीर्थंकर की माता का पुण्य किस प्रकार का है ?

उत्तर:—जिन माता का अलौकिक पुण्य—पूर्व पश्चिम, दक्षिण, उत्तर इन चारों दिशाओं में सामान्य दृष्टि से समानता होते हुये भी पूर्व दिशा को विशेष महत्व इस-लिये दिया जाता है कि भूमंडल में अपना उज्ज्वल प्रकाश प्रदान करने वाला भास्कर

की उसी दिशा में विशेष ज्योति की आभा दिखाई पड़ती है और वह दिशा सबके नेत्रों को विशेष रमणीय लगती है। इसी प्रकार जिनेन्द्र जननी के गर्भ से दया धर्म के सूर्य तीर्थंकर परमदेव का जन्म होने के पहले से ही अपूर्व सौभाग्य और सातिशय पुण्य की प्रभा दृष्टि गोचर होती है। तीर्थंकर भगवान के जन्म लेने के पहले से ही वह भावी जिनमाता मनुष्यों की तो बात ही क्या! देवेन्द्रों तथा इन्द्राणियों के द्वारा भक्ति पूर्वक सेवा तथा पूजा को प्राप्त करती है। सचमुच में जिनेन्द्र की जननी का भाग्य और पुण्य अलौकिक है। नेमिचन्द्र प्रतिष्ठापाठ में गर्भ कल्याणक के प्रकरण में भगवान की माता की आदर पूर्वक पूजा करते हुये यह पद्य लिखा गया है—

विश्वेश्वरे विश्वजगत्सवित्रि पूज्ये महादेवि महासतित्वाम्।
सुमंगलेऽर्घ्यैः बहुमंगलार्थैः संभावयामो भवन प्रसन्ना ।।१५५४।।

हे विश्वेश्वरा, विश्वजगत् सवित्रि, पूज्या, महादेवी, महासती, सुमंगला, माता अनेक मंगल रूप पदार्थों के अर्घ्य द्वारा हम आपकी समाराधना करते हैं। हे माता हम पर प्रसन्न हो।

गर्भ कल्याणक—

गर्भ कल्याणक— स्वर्ग से अवतरण के छह मास के समय में जैसे-जैसे दिन न्यून हो रहे थे, वैसे-वैसे यहां अयोध्यापुरी की सर्वाङ्गीण श्री, वैभव, सुख आदि की वृद्धि हो रही थी। शीघ्र ही वह समय आ गया कि देवायु का उदय समाप्त हो गया। मनुष्यायु तथा मनुष्यगत्यानुपूर्व्य का उदय आ जाने से वह स्वर्ग की विभूति मानव लोक में आई और उसने माता मरुदेवी को सोलह स्वप्न दर्शन द्वारा उक्त बात की सूचना देने के साथ अपने मंगल जीवन की महत्ता को पहले से ही प्रकट कर दिया।

जिनेन्द्रजननी के सोलह स्वप्नों का वर्णन—

प्रत्येक जिनेन्द्र-जननी सोलह स्वप्नों को रात्रि के अंतिम प्रहर में दर्शन के पश्चात् अपने पतिदेव से उनका फल पूछती है, जिससे माता को अपार आनन्द प्राप्त होता है।

जिनमाता के सोलह स्वप्न—१. गर्जना करने वाले सफेद हाथी को देखा, २. सफेद बैल को देखा, ३. सिंह को देखा, ४. दोनों बाजू से दो कलशाभिषेक

कर रहे हैं ऐसी लक्ष्मी को देखा, ५. लटकती हुई दो फूलों की मालाएँ देखी, ६. चान्दनी युक्त पूर्ण चन्द्रमा को देखा, ७. उदय होते हुए सूर्य को देखा, ८. सरोवर में क्रीड़ा करने वाले दो मीन देखे, ९. कमलाच्छादित सुवर्णमय दो पूर्ण कलश देखे, १०. पद्म सरोवर देखा, ११. उन्मत्त लहर युक्त समुद्र देखा, १२. रत्न जड़ित सिहासन देखा, १३. रत्न-मणि जड़ित देव विमान देखा, १४. नागेन्द्र भवन देखा, १५. प्रकाशमान रत्नराशि देखी, १६. धूमरहित प्रखर प्रखर अग्नि ज्वाला देखी।

उन सोहल स्वप्नों के फल—

भगवान के पिता जिनेन्द्र जननी को स्वप्नों का फल इस प्रकार बताते हैं—मुनिसुव्रत काव्य में लिखा है कि—

नागेन तुंगचरितो वृषतो वृषात्मा सिंहेन विक्रमधनो रमयाऽधिकश्रीः।
स्रग्म्यांघृतश्चशिरसाशशिनाऽकमच्छिद् सूर्येणदीप्तिमहितो झषतःसुरूपः॥
कल्याणभाक्कलशतः सरसः सरस्तोगंभीर धीरुधिनासनतस्तदीशः।
देवाहिवास–मणिराश्यनलैः प्रतीतदेवोरगागमगुणोद्गमकर्मदाहः॥१५५५॥

हे देवी! गजेन्द्र दर्शन से सूचित होता है कि तुम्हारा पुत्र उच्च चारित्र वाला होगा, वृषभ दर्शन से धर्मात्मा, सिंह दर्शन से पराक्रमी, लक्ष्मी से श्री संपन्न, माला से सबके द्वारा शिरोधार्य, चन्द्रमा से संसार के संताप को दूर करने वाला, सूर्य दर्शन से अधिक तेजस्वी, मत्स्य दर्शन से रूप संपन्न, कलश से कल्याण को प्राप्त, सरोवर से वात्सल्य भाव युक्त, समुद्र से गंभीर बुद्धि वाला, सिंहासन से सिंहासन का स्वामी, देव विमान से देवों का आगमन, नागभवन से नागकुमार देवों का आगमन, रत्नराशि से गुणों का स्वामी तथा अग्नि दर्शन से सूचित होता है कि वह पुत्र कर्मों का दाह करके मोक्ष को प्राप्त करेगा।

माता मरुदेवी के स्वप्न में ऐसा दिखा था कि माता के मुख से वृषभ ने प्रवेश किया उसका फल यह था कि वृषभनाथ भगवान तुम्हारे गर्भ में प्रवेश करेंगे। अन्य तीर्थंकरों के आगमन के समय वृषभ के आकार के स्थान में गजाकार धारी शरीर का मुख्य द्वार से प्रवेश होता है। जिनेन्द्र जननी के समान सोलह स्वप्न अन्य सरागी देव-ताओं की माताओं के नहीं आते हैं। अष्टांग निमित्त विद्या में एक भेद स्वप्न विज्ञान है। नीरोग स्वस्थ व्यक्ति के स्वप्नों द्वारा भविष्य का बोध होता है। क्षत्रचूड़ामणि

काव्य में कहा है--'अस्वप्नपूर्वं हि जीवानां नहि जातु शुभाशुभम्' जीवों के कभी भी स्वप्न दर्शन के बिना शुभ तथा अशुभ नहीं होता है। इस विद्या के ज्ञाताओं की आज उपलब्धि न होने से उस विद्या को अयथार्थ मानना भूल भरी बात है। तुलनात्मक रीति से विविध धर्मों का साहित्य देखा जाय, तो भावि जिनेन्द्र शिशु की श्रेष्ठता को सूचित करने वाले उपरोक्त स्वप्न जिनमाता के सिवाय अन्य माताओं को नहीं दिखते। इस स्वप्न दर्शन के प्रश्न पर गम्भीरता-पूर्वक दृष्टि डालने वाले को जिनेन्द्र तीर्थंकर की श्रेष्ठता स्वयं समझ में आये बिना न रहेगी। माता के गर्भ में पुण्यहीन शिशु के आने पर अमंगल स्वप्न आते हैं। उपरोक्त स्वप्न दर्शन के पश्चात् तीर्थंकर होने वाली आत्मा माता के गर्भ में आ गई।

उस समय समस्त सुरेन्द्रादि गर्भावतरण की बात विविध निमित्तों से जानकर अयोध्यापुरी में आए। सब देवेन्द्रों तथा देवों ने नगर प्रदक्षिणा की और महाराज नाभिराज तथा माता मरुदेवी को नमस्कार किया। बड़े हर्ष से गर्भ कल्याण का महोत्सव मनाया गया।

भगवान स्वर्ग छोड़कर अयोध्या में आए हैं, किन्तु उनकी सेवा में तत्पर देव-देवी समुदाय को देखकर ऐसा लगता है कि स्वर्ग का स्वर्ग ही उन प्रभु के पीछे-पीछे वहां आ गया है। देवताओं का चित्त स्वर्ग लौट जाने को नहीं होता था, कारण जो निधि जिनेन्द्र भगवान के रूप में अब अयोध्या में आ गई हैं, वह अन्यत्र नहीं है।

जिनेन्द्र भक्ति का अद्भुतफल—

जिनेन्द्र भक्ति और इन्द्र-इन्द्राणी आदिका अद्भुत भाग्य—माता का मनोरंजन तथा सेवा का कार्य देवांगनाएँ करने लगीं। इन्द्र का एक मात्र लक्ष है कि देवाधिदेव की सेवा श्रेष्ठ रूप में सम्पन्न हो। इस सेवा तथा भक्ति का पुरस्कार भी तो असाधारण प्राप्त होता है। वादिराज सूरि ने एकीभाव स्तोत्र में लिखा है— भगवन! इन्द्र ने आपकी भली प्रकार सेवा की इसमें आपकी महिमा नहीं है। महत्त्व की बात यह है कि उसे सेवा के प्रसाद से उस इन्द्र का संसार परिभ्रमण छूट जाता है। कहा भी है—

इन्द्रः सेवां तव सुकृतां किं तया श्लाघनं ते।
तस्यैवेयं भवलयकरी श्लाघ्यतामातनोति ॥१५५६॥

त्रिलोकसार में लिखा है कि सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र उसकी इन्द्राणी वहां से चयकर एक मनुष्य भव धारण करके मोक्ष को प्राप्त करते हैं। सौधर्मेन्द्र तो साधिक दो सागर प्रमाण देवायुपूर्ण होने के पश्चात् मनुष्य होकर मोक्ष जाता है, किन्तु उसकी पट्टदेवी शची पचपन पल्य प्रमाण आयु को भोग मनुष्य होकर शीघ्र मोक्ष जाती है। सागर प्रमाण स्थिति के समक्ष पचपन पल्य की आयु बहुत कम है। इन्द्राणी के शीघ्र मोक्ष जाने का कारण यह है कि जिनमाता और जिनप्रभु की सेवा का उत्कृष्ट सौभाग्य उसे प्राप्त होता है। इस कार्य से उसे अपूर्व विशुद्धता प्राप्त होती है। लौकान्तिक देव की पदवी महान है। उसकी स्थिति आठ सागर है। सर्वार्थसिद्धि के देव लोकोत्तर हैं। उनकी स्थिति ३३ सागर है। इतने लम्बे काल के पश्चात् उन महान् देवों को मोक्ष का लाभ मिलता है। शची का भाग्य अद्भुत है। स्त्रीलिंग छेदकर वह शीघ्र निर्वाण को प्राप्त करती है। जिनेन्द्र भगवान की भक्ति का प्रत्यक्ष उदाहरण इन्द्राणी है। त्रिलोक सार में कहा है—

सोहम्मो वरदेवी सलोगपाला य दक्खणामरिंदा।
लोयंतिय सव्वट्ठा तदो चुआ णिव्वुदिं जंति ॥१५५७॥

सौधर्मेन्द्र, शची, उनके सोम आदि लोकपाल, दक्षिणेन्द्र, लौकान्तिक, सर्वार्थसिद्धि के देव वहां से चय करके नियम से मोक्ष जाते हैं।

जिनमाता के दोहला—माता की सेवा में तत्पर श्री, आदि देवियों ने क्या कार्य किया इसे महाकवि जिनसेनाचार्य कहते हैं—

श्री ह्रीर्धृतिश्च कीर्तिश्च बुद्धिलक्ष्म्यौ च देवताः।
श्रियं लज्जां च धैर्यं च स्तुति-बोधं च वैभवम् ॥१५५८॥

श्री देवी ने माता में श्री अर्थात् शोभा की वृद्धि की। ह्री देवी ने ह्री अर्थात् लज्जा की, धृतिदेवी ने धैर्य की, कीर्ति देवी ने स्तुति की, बुद्धि देवी ने ज्ञान की वृद्धि की तथा लक्ष्मी देवी ने विभूति बढाई।

माता के शरीर में गर्भ वृद्धि का बाह्य चिह्न न देखकर शंकित मन को इससे शान्ति मिलती थी, कि जिन माता की तीव्र अभिलाषा त्रिभुवन के उद्धार रूप दोहला में हुआ करती है।

मुनिसुव्रत काव्य में लिखा है—

गर्भस्थ लिंग परमाणु कल्पमप्येतदं गेष्वनवेक्ष्यरक्षी ।
जगत्त्रयोद्धारणदोहदेन परं नराणां बुबुधे ससत्वां ।।१५५६।।

अर्थात् भगवान के पिता ने जिनेन्द्र जननी के शरीर में परमाणु प्रमाण भी गर्भरूप कार्य के चिन्ह न देखकर केवल जगत्त्रय के उद्धाररूप दोहला से उसे गर्भवती समझा। इस कथन से जिनेन्द्रजननी की शरीरस्थिति सम्बन्धी परिस्थिति का ज्ञान होता है, वैसे–भगवान के गर्भ कल्याणक सम्बन्धी अपूर्व सामग्री को देखकर सभी जीव प्रभु के गर्भावतरण को भली प्रकार जानते थे और उनके जन्म महोत्सव देखने की ममता से एक-एक क्षण को ध्यानपूर्वक गिना करते थे। महापुराणकार ने लिखा है –

रत्नगर्भा धरा जाता हर्ष गर्भाः सुरोत्तमाः ।
क्षोभमायाज्जगद्गर्भो गर्भाधानोत्सवे विभोः ।।१५६०।।

अर्थात् भगवान के गर्भ कल्याणक के उत्सव के समय पृथ्वी तो रत्नवर्षा के कारण रत्नगर्भा हो गई है। सुरराज हर्ष गर्भ अर्थात् हर्ष पूर्ण हो गए हैं। जगत्गर्भ अर्थात् पृथ्वी मंडल क्षोभ को प्राप्त हुआ था अर्थात् संसार भर में प्रभु के गर्भावतरण की वार्ता विख्यात हो गई थी।

प्रश्न :—देवियां माता से क्या प्रश्न करती हैं और माता उनका क्या उत्तर देती हैं ?

उत्तर :—देवियों के माता से किये गये प्रश्नोत्तरों की रूपरेखा—गर्भस्थ शिशु जैसे-जैसे वर्धमान हो रहे थे, वैसे-वैसे माता की बुद्धि विशुद्ध होती जा रही थी। नववां माह निकट आने पर सेवा में संलग्न देवियों ने अत्यन्त गूढ़ तथा मनोरंजक प्रश्न माता से पूछना प्रारम्भ किया तथा माता द्वारा सुन्दर समाधान प्राप्त कर वे हर्षित होती थीं। देवियों ने पूछा––(महापुराण में लिखा है)

कः पंजरमध्यास्ते कः परुषनिस्वनः ।
कः प्रतिष्ठा जीवानां कः पाठ्योऽक्षरच्युतेः ।।१५६१।।

माता ! पिंजरे में कौन रहता है ? कठोर शब्द करने वाला कौन है ? जीवों का आश्रय कौन है ? अक्षर च्युत होने पर भी पढ़ने योग्य क्या पाठ है। इन प्रश्नों का माता ने उत्तर दिया—

शुकः पंजरमध्यास्ते, काकः परुषनिस्वनः ।
लोकः प्रतिष्ठा जीवानां, श्लोकः पाद्योऽक्षरच्युतः ॥१५६२॥

कः पंजर मध्यास्ते । इसमें 'शु' शब्द को जोड़कर माता कहती है, शुक (तोता) पिंजरे में रहता है । दूसरे प्रश्न के उत्तर में माता 'का' शब्द जोड़कर कहती हैं कठोर स्वर वाला 'काक' पक्षी होता है । तीसरे प्रश्न के उत्तर में माता 'लो' शब्द को जोड़कर कहती हैं, जीवों का आश्रय 'लोक' है । चौथे प्रश्न के उत्तर में माता कहती हैं 'श्लो' शब्द को जोड़ने से अक्षर च्युत होने पर भी श्लोक पठनीय है ।

तीनों देवियों ने क्रम से ये प्रश्न पूछे कि—

कः समुत्सृज्यते धान्ये, घटयत्यम्ब को घटम् ?
वृषान्धशतिकः पापी वदाद्यैरक्षरैः पृथक् ? ॥१५६३॥

माता ! धान्य में क्या छोड़ दिया जाता है ? घट को कौन बनाता है ? वृषान् अर्थात् चूहों को कौन पापी भक्षण करता है ? इसका उत्तर पृथक्-पृथक् शब्दों में बताइये जिनके आदि के अक्षर पृथक्-पृथक हों ?

माता ने उत्तर दिया 'पलाल' धान्य में छोड़ा जाता है । 'कुलाल' कुम्भकार घट को बनाता है 'बिडाल' चूहों को खाता है । इन उत्तरों में प्रारम्भ के दो शब्द पृथक्-पृथक् होते हुये अंत का अक्षर 'ल' सब में है ।

प्रगट रूप से अनेक देवियां माता की बड़े विवेक पूर्वक सेवा करती थीं । महापुराण में यह महत्त्वपूर्ण कथन आया है—

निगूढं च शची देवी सिषेवे त्रिसहस्राः ।
मघोनाघ-विनाशाय प्रहिता सा महासती ॥१५६४॥

अपने समस्त पापों का नाश करने के लिये इन्द्र के द्वारा भेजी गई इन्द्राणी अनेक अप्सराओं के साथ माता की गुप्त रूप से सेवा करती थी ।

प्रभु की माता में प्रारम्भ से ही लोकोत्तरता थी । अब जिनेन्द्र के गर्भ में आने से वह सचमुच में जगत की माता या जगदम्बा हो गई । उसकी गरिमा का कौन वर्णन कर सकता है ?

प्रश्न :—गर्भ में भगवान कैसे थे ?

उत्तर :—गर्भ कल्याणक के वर्णन के प्रसंग में माता के गर्भ में विराजमान तथा सूर्य सदृश शीघ्र ही उदय को प्राप्त होने वाले उन भगवान की अवस्था पर प्रकाश डालने वाला धर्मशर्माभ्युदय का यह पद्य कितना भाव पूर्ण है ?

गर्भे वसन्नपि मलैरकलंकितांगो,
ज्ञानत्रयं त्रिभुवनैक गुरुर्दधार ।
तुंगोदयाद्रि गहनांतरितोपि धाम,
किं नाम मुंचति कदाचन तिग्मरश्मिः ॥१५६५॥

अर्थात्—वे जिन भगवान गर्भ में निवास करते हुए भी मल से अकलंक अंग युक्त थे, त्रिभुवन के अद्वितीय गुरु उन प्रभु ने मति, श्रुत तथा अवधि इन ज्ञानत्रय को धारण किया था। उन्नत उदयाचल के गहन में छिपा हुआ भी तिग्मरश्मि अर्थात् सूर्य क्या कभी अपने तेज को छोड़ता है ?

जन्मकल्याणक— प्राची दिशा के गर्भ में सूर्य सदृश जिन जननी के गर्भ में छिपे हुये वे धर्मसूर्य जिनेन्द्र भव्यों को अधिक हर्ष प्रदान कर रहे थे। किन्तु जिस समय उन प्रभु का जन्म हुआ, उस समय के आनन्द और शान्ति का कौन वर्णन कर सकता है ? अन्तःकरणों में सभी जीवों ने जिनेन्द्र जन्म-जनित आनन्द का अनुभव किया। त्रिभुवन के सभी जीवों को सुख प्राप्त हुआ। जन्म के समय जननी को कोई कष्ट नहीं हुआ। देवियाँ सेवा में तैयार थीं।

उस समय नैसर्गिक वातावरण अत्यन्त रमणीय और सुन्दर हो गया। नभो-मंडल अत्यन्त स्वच्छ था। मंद सुगन्ध पवन का संचार हो रहा था। आकाश से सुगन्धित पुष्पों की वर्षा हो रही थी। उससे प्रतीत हो रहा था कि समस्त प्रकृति प्राकृतिक मुद्रा को धारण कर आत्मा की वैभाविक परिणति का त्याग कर अपनी प्राकृतिक स्थिति को ये जिनेन्द्र शीघ्र ही प्राप्त करेंगे, इसलिए सचेतन एवं अचेतन प्रकृति के मध्य एक अपूर्व उल्हास और आनन्द की रेखा दिखाई पड़ती थी।

प्रश्न—जन्म समय में कौनसे चिन्ह प्रकट होते हैं ?

उत्तर :—जन्म समय के चिह्न—महापुराण में जन्म के समय हुई मधुर बातों का इस प्रकार वर्णन किया है—

विशः प्रसत्ति मासेदुः आसोन्निर्मलमम्बरम् ।
गुणानामस्य वैमल्यं अनुकर्तुमिव प्रभोः ॥१५६६॥

उस समय समस्त दिशाएँ स्वच्छता को प्राप्त हुई थीं और आकाश भी निर्मल हो गया था। उससे ऐसा प्रतीत होता था मानो भगवान के गुणों की निर्मलता का वे अनुकरण कर रहे हों।

प्रजानां ववृधेहर्षः सुराश्चित्रमयमाश्रयन् ।
अम्लानि कुसुमान्युच्चैः मुमुचुः सुरभूरुहाः ॥१५६७॥

प्रजा का हर्ष बढ़ रहा था, देव आश्चर्य को प्राप्त हो रहे थे और कल्पवृक्ष ऊँचे से प्रफुल्लित पुष्पों की वर्षा रहे थे ।

अनाहताः पृथुध्वाना दध्वनुर्दिविजानकाः ।
मृदुः सुगंधिश्शशिरो मरुन्मंदं सदाववौ ॥१५६८॥

देवों की दुन्दुभि अपने-आप ऊँचा शब्द करते हुये बज रही थीं । कोमल शीतल और सुगंधित पवन मंद-मंद बह रहा था ।

प्रचचालमहीतोषात् नृत्यन्तीव चलद्गिरिः ।
उद्वेलो जलधिर्नूनमगमत् प्रमदं परम् ॥१५६९॥

उस समय पहाड़ों को कंपित करती हुई पृथ्वी भी हिलने लगी थी । मानो आनन्द से नृत्य ही कर रही हो । समुद्र की लहरें सीमा के बाहर जाती थीं, जिससे सूचित होता था कि वह परम आनन्द को प्राप्त हुआ था ।

मुनिसुव्रत काव्य में लिखा है—

गृहेषु शंखाभवनामराणां, अनामराणां, पटलाः पदेषु ।
ज्योतिस्सुराणां सदनेषु सिंहाः, कल्पेषुघंटाः स्वयमेवनेदुः ॥५५७०॥

प्रभु के जन्म होते ही भवनवासियों के यहां शंख ध्वनि होने लगी । व्यंतरों के यहां भेरीनाद होने लगा । ज्योतिषी देवों के यहां सिंहनाद तथा कल्पवासियों के यहां स्वयमेव घंटा बजने लगा ।

उस समय सौधर्मेन्द्र का आसन कंपित हुआ तथा उनका मस्तक झुक गया था, सौधर्मेन्द्र चकित हो सोचने लगे कि यह किस निर्भय, शंकारहित, अत्यन्त बाल स्वभाव, मुग्ध प्रकृति, स्वच्छन्द भाव वाले तथा शीघ्र करने वाले व्यक्ति का कार्य है ।

हरिवंश पुराण में कहा है—

आसनस्य प्रकंपेन दध्यौ विस्मित धीस्तदा ।
सौधर्मेन्द्रश्चलन्मौलिर्भूत्वा मूर्धानमुन्नतम् ॥१५७१॥
अतिबालेन मुग्धेन स्वतंत्रेणाशुकारिणा ।
निर्भयेन विशंकेन केनेदमप्यनुष्ठितम् ॥१५७२॥

इन्द्र महाराज पुनः चिन्ता निमग्न होकर विचार करते हैं—

देवदानवचक्रस्यस्वपराक्रम शालिनः ।
कथंचित्प्रतिकूलस्य यः समर्थः कदर्थने ॥१५७३॥
इन्द्रः पुरंदरः शक्रः कथं न गणितोऽधुना ।
सोऽहं कपयतानेन सिंहासनमकंपितम् ॥१५७४॥

अपने पराक्रम से शोभायमान भी देव-दानव समुदाय के किंचित् प्रतिकूल होने पर जो उनके दमन करने की सामर्थ्य धारण करता है, ऐसे शक्र, पुरन्दर, इन्द्र नामधारी मेरे अकंपित सिंहासन को कंपित करते हुये, उसने मेरी कुछ भी गणना नहीं की।

फिर सौधर्मेन्द्र के चित्त में एक बात उत्पन्न हुई कि तीनों लोकों में ऐसा प्रभाव तीर्थङ्कर भगवान के सिवाय अन्य में संभावनीय नहीं है – 'संभावयामि नेहेत्थ-प्रभावं भुवनत्रये प्रभु तीर्थंकरादन्यम्' पश्चात् अवधिज्ञान द्वारा ज्ञात हो गया कि भरत क्षेत्र में महाराज नाभिराज के यहां ऋषभनाथ तीर्थंकर का जन्म हुआ है। तत्काल ही वह विस्मय भाव महान आनन्द रस में परिणत हो गया। 'जयतां जिन इत्युक्त्वा-प्रणनाम कृताजलिः' (१२८ सर्ग ८) जिनेन्द्र भगवान जयवंत हो ऐसा कहकर सात पैर जा हाथ जोड़कर जिनेन्द्र भगवान को परोक्ष रूप से प्रणाम किया।

प्रश्न :—भगवान का जन्म तो अयोध्या में हुआ और उनके जन्म की सूचना देने वाली वाद्य-ध्वनि स्वर्ग लोक में होने लगी। इन्द्रों के मुकुट झुक गये। इस विषय में क्या कोई वैज्ञानिक समाधान भी है या नहीं ?

उत्तर :—जिनागम में जगद्व्यापी एक पुद्गल का महास्कंध माना है, वह सूक्ष्म है। आज के भौतिक शास्त्रज्ञों ने 'ईथर' नाम का एक तत्व माना है, जिसके माध्यम से हजारों मील का शब्द रेडियो यन्त्र द्वारा सुनाई पड़ता है। इस विषय में आगम का यह आधार ध्यान देने योग्य है। तत्वार्थसूत्र में पुद्गल के शब्द, बन्ध आदि भेदों का उल्लेख करते हुए उसका भेद सूक्ष्मता के साथ स्थूलता भी बताया है। तत्वार्थ राजवार्तिक में लिखा है, 'द्विविधं स्थौल्यमवगंतव्यं तत्रांत्यं जगद्व्यापिनि महास्कंधे।' (अध्याय ५ सूत्र २४) दो प्रकार की स्थूलता कही गई है। पुद्गल की अन्तिम स्थूलता जगत् भर में व्याप्त महास्कन्ध में है। इस महास्कन्ध के माध्यम से

जिनेन्द्र जन्म की सूचना तत्काल संपूर्ण जगत को अनायास प्राप्त हो जाती है। इस महास्कन्ध तत्व का स्वरूप किसी भी एकान्तवादी सिद्धान्त में नहीं बताया गया है, कारण वे एकांतवाद अल्पज्ञों के कथन पर आश्रित हैं, और जैन धर्म सर्वज्ञ के परिपूर्ण ज्ञान तथा तदनुसार निर्दोष वाणी पर अवस्थित है।

प्रश्न :—इन्द्र की सात प्रकार की सेना कौन सी है ?

उत्तर :—इन्द्र की सात प्रकार की सेना—सिद्धान्तसार दीपक में लिखा है कि इन्द्र महाराज की सवारी के आगे-आगे सात प्रकार की सेना मधुर गीत गाती हुई चलती थी। अभियोग्य जाति के देवों ने गज, तुरंग आदि का रूप धारण किया था। देवगति नामकर्म का उदय होते हुये भी अल्प पुण्य होने के कारण उन अभियोग्य जाति के देवों को विविध प्रकार के वाहन आदि का रूप धारण करना पड़ता है। ऐसी ही दशा किल्विषिक देवों की हीनपुण्य होने के कारण होती है। वे अशुद्ध पिंडधारी न होते हुये भी शूद्रों के समान उच्च देवों से पृथक् गमनादि कार्य करते हैं। जिनेन्द्र जन्मोत्सव के समय उनका कहां स्थान रहता है, यह पृथक् रूप से उल्लेख नहीं किया गया है।

तीन लोक के स्वामी तीर्थंकर का जन्म जानकर देवों की हाथी, घोड़ा, रथ गंधर्व, पदाति, बैल तथा नृत्य कारिणी रूप धारी सात प्रकार की सेना इन्द्र महाराज की आज्ञा से निकली। उस समय शोक, विषाद आदि विकारों का सर्वत्र अभाव हो गया था। सर्व जगत आनन्द के सिंधु में निमग्न था। शांति का सागर दिग्दिगंत में लहरा रहा था। इन्द्र की सात प्रकार की देव सेना तीर्थंकर आदि का गुणानुवाद तथा नृत्य गायन करती हुई चलती है। इस सम्बन्ध में यह कथन ज्ञातव्य है :—

सात प्रकार की देवसेना का स्वरूप	वे देव किसका गुण किस स्वर में गाते हुये चलते थे ?
पहली—गजरूप धारी देवों की सेना	षडज स्वर में विद्याधर कामदेव आदि का गुणगान करती थी।
दूसरी—तुरंगरूप धारी देवों की सेना	ऋषभ स्वर में मांडलिक, महामांडलिक राजाओं का गुणगान करती थी।
तीसरी—रथरूपधारी देवों की सेना	गांधार स्वर में बलभद्र, नारायण,

सात प्रकार की देवसेना का स्वरूप	वे देव किसका गुण किस स्वर में गाते हुये चलते थे ?
	प्रतिनारायण के बलवीर्य का गुणगान करती थी, तथा नृत्य करती जाती थी ।
चौथी—पैदल रूपधारी देवों की सेना	मध्यम स्वर में चक्रवर्ती की विभूति बल वीर्यादि का गुणगान करती थी ।
पंचवीं—वृषभ रूपधारी देवों की सेना	पंचम स्वर में लोकपाल जाति के देवों का गुणानुवाद करती थी । चरम शरीरी मुनियों का भी गुणगान करती थी ।
छठवीं—गंधर्व रूपधारी देवों की सेना	धैवत स्वर में गणधर देव तथा ऋद्धिधारी मुनियों का गौरवपूर्ण गान करती थी ।
सातवीं—नृत्यकारिणी देवों की सेना	निषाद स्वर में तीर्थंकर भगवान के त्रियालीस गुणों का और उनके पुण्य जीवन का मधुर गान करती थी ।

प्रश्न :—ऐरावत हाथी का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—ऐरावत हाथी—सौधर्मेन्द्र ने एक लाख योजन के ऐरावत हाथी पर शची के साथ बैठकर अनेक देवों से समलंकृत हो अयोध्या को प्रस्थान किया। ऐरावत गज का वर्णन अद्भुत रस को जागृत करता है। दैविक चमत्कार का वह अत्यन्त मनोज्ञ रूप था। विक्रिया शक्ति संपन्न देवों में कल्पनातीत शक्ति रहती है। इनका शरीर औदारिक शरीर की अपेक्षा अत्यन्त सूक्ष्म होता है। उस सूक्ष्म परिणमन प्राप्त वैक्रियिक शरीर का स्थूल रूप दर्शन ऐरावत हाथी के रूप में होता था। वह गज लौकिक गजेन्द्रों से भिन्न था। देवसामर्थ्य का सुमधुर प्रदर्शन था। उस गज के बत्तीस मुख थे। प्रत्येक मुख में आठ-आठ दांत थे। प्रत्येक दांत पर एक-एक सरोवर था। प्रत्येक सरोवर में एक-एक कमलिनी थी। एक-एक कमलिनी में बत्तीस-बत्तीस कमल थे। कमल के प्रत्येक पत्ते पर बत्तीस-बत्तीस देवांगनाएँ मधुर नृत्य कर रही थीं। इस प्रकार २५६ दांत, ८१९२ कमल, २६२१४४ कमल पत्र तथा

८३८८६०८ देवांगनाएँ थीं। यही बात मुनिसुव्रत काव्य में इस प्रकार लिखी है :—

द्वात्रिंशदास्यानि मुखेऽष्टदंता दंतेऽधिरब्धौ बिसिनी बिसिन्यां।
द्वात्रिंशदब्जानि दलानि चाब्जे द्वात्रिंशदिद्वद्विरदस्यरेजुः ॥१५७५॥

ऐरावत का स्वरूप चिंतन करते ही बुद्धि जीवी मनुष्य में अद्भुत रस उत्पन्न हुये बिना न रहेगा। यदि वह सोचे कि स्थूल रूपधारी छोटे दर्पण में बड़े-बड़े पदार्थ प्रतिबिंब रूप से अपना सूक्ष्म परिणमन करके प्रतिबिम्बित होते हैं। छोटे से कैमेरा द्वारा बड़ी वस्तुओं का चित्र खींचा जाता है, तब इससे भी सूक्ष्म वैक्रियिक शक्ति धारी देव रचित ऐरावत हाथी का सद्भाव पूर्णतया समीक्षक बुद्धि के अनुरूप है। सम्यग्दृष्टि जीव की श्रद्धा पदार्थों की अचिंत्य शक्ति को ध्यान में रखकर ऐसी बातों को शिरोधार्य करने में संकोच का अनुभव नहीं करती है। सर्वज्ञ वीतराग हितोपदेशी भगवान के द्वारा कथित तत्व होने से ऐसी बातें सम्यक्त्वी सहज ही स्वीकार करता है। इन बातों को काल्पनिक समझने वाला आगम की विविध शाखाओं का मार्मिक ज्ञाता होते भी सम्यक्त्व शून्य ही स्वीकार करना होगा, कारण सम्यक्त्वी जीव प्रवचन में कथित समस्त तत्वों को प्रमाणिक मानता है। एक भी बात को न मानने वाला आगम में मिथ्यात्वोदय के आधीन माना जाता है।

प्रश्न :—इन्होंने वैभव के साथ अयोध्या नगरी में किस प्रकार प्रवेश किया था ?

उत्तर :—सौधर्मेन्द्र का अयोध्या नगरी में प्रवेश—सोलह स्वर्ग तक के समस्त देव, देवांगना तथा भवनत्रिक के देवताओं का समुदाय महान् पुण्यात्मा सौधर्मेन्द्र के नेतृत्व में आकाश मार्ग से श्रेष्ठ वैभव, आनन्द, प्रसन्नता तथा अमर्यादित उल्लास के साथ अयोध्या की ओर बढ़ रहा था। जिनसेन स्वामी ने लिखा है :—

तेषामापततां यानविमानैराततं नभः।
त्रिषष्टि पटलेभ्योऽन्यत् स्वर्गान्तरमिवासृजत् ॥१५७६॥

उन आते हुए देवों के विमान और वाहनों से व्याप्त हुआ आकाश ऐसा प्रतीत होता था, मानों त्रेसठ पटल वाले स्वर्ग को छोड़कर अन्य स्वर्ग का निर्माण हुआ हो। महाराज नाभिराज के राजभवन का प्रांगण सुरेन्द्रों के समुदाय से भर गया था। देवों की सेनाएँ अयोध्या पुरी को घेर कर अवस्थित हो गई थीं। इन्द्र ने शचीं को आदेश दिया कि तुम प्रसव मन्दिर में प्रवेश करो। माता को सुखमयी निद्रा

में निमग्न करके उनकी गोद में मायामयी शिशु को रखकर जिनेन्द्र देव को मेरु पर्वत पर अभिषेक के लिये लाओ।

शची ने सुरराज की आज्ञा का पालन करते हुये उस नरेन्द्र भवन के अन्तःपुर में प्रवेश किया और माता मरुदेवी के अंचल के भीतर बैठे हुये बाल स्वरूप जिनेन्द्र का दर्शन किया। उस समय इन्द्राणी के हृदय में ऐसा आनन्द आया कि उसका वर्णन साक्षात् भारती (सरस्वती) के द्वारा भी शायद ही सम्भव हो। त्रिलोकी नाथ की मुखचन्द्रिका दर्शन कर शची के नयन चकोर पुलकित हो रहे थे। हृदय कल्पनातीत आनन्द सिंधु में निमग्न हो रहा था। शची ने बालजिनेन्द्र सहित माता को बड़े प्रेम, ममता, श्रद्धा तथा भक्ति पूर्वक देखा। अनेक बार भगवान और जिन माता की प्रदक्षिणा के पश्चात् त्रिभुवन के नाथ भगवान को बड़ी भक्ति से प्रणाम किया तथा जिनमाता की स्तुति करते हुये कहा :—

त्वमम्ब भुवनाम्बासि कल्याणीत्वं सुमंगला।
महादेवी त्वमेवाद्यत्वं सपुण्या यशस्विनी ॥१५७७॥

हे माता! तुम तो तीनो लोकों का कल्याण करने वाली विश्वजननी हो। कल्याणकारिणी हो। सुमंगला हो। महादेवी हो। यशस्विनी और पुण्यवती हो।

इस प्रकार जिनेन्द्र जननी के प्रति अपना उज्जवल प्रेम प्रदर्शित करते हुये माता को निद्रा निमग्न कर तथा उसकी गोद में मायामयी शिशु को रख कर शची ने जगद्गुरु को अपने हाथ में उठाया और परमआनन्द को प्राप्त किया।

जिनसेन स्वामी कहते हैं—

तद्गात्र-स्पर्शमासाद्य सुदुर्लभमसौतदा।
मन्येत्रिभुवनैश्वर्यं स्वसात्कृतमिवाखिलम् ॥१५७८॥

उस समय अत्यन्त दुर्लभ बालजिनेन्द्र के शरीर का स्पर्श कर शची को ऐसा प्रतीत हुआ मानों तीन लोक का ऐश्वर्य ही उसने अपने आधीन कर लिया हो। इन्द्राणी ने प्रभु को बड़े आदरपूर्वक लेकर इन्द्र को देने के लिये प्रसव मन्दिर के बाहर पैर रखे, उस समय भगवान् के आगे अष्ट मंगल द्रव्य अर्थात् छत्र, चामर, ध्वजा, कलश, सुप्रतिष्टक (ठोना), झारी, दर्पण तथा पंखा धारण करने वाली दिक्कुमारी देवियाँ भगवान् की उत्तम ऋद्धियों के समान गमन करती हुई प्रतीत होती थीं। इसके अनन्तर इन्द्राणी ने देवाधिदेव को सुरराज के करतल में सौंपा। कहा भी है—

ततः करतले देवी देवराजस्य तं न्यधात् ।
बालार्कमौदये सानौ प्राचीवप्रस्फुरन्मणौ ॥१५७९॥

जिस प्रकार पूर्व दिशा प्रकाशमान मणियों से शोभायमान उदयाचल के शिखर पर बाल सूर्य को विराजमान करती है, उसी प्रकार इन्द्राणी ने बालजिनेन्द्र को इन्द्र के करतल में विराजमान कर दिया ।

प्रश्न – इन्द्र के सहस्र नेत्र बनाने का वर्णन किस प्रकार है ?

उत्तर--इन्द्र के सहस्त्र नेत्र— प्रभु की अनुपम सौन्दर्यपूर्ण मनोज्ञ छवि का दर्शन कर सुरराज ने सहस्त्र नेत्र बनाकर अपने आश्चर्य-चकित अन्तःकरण को तृप्त करने का प्रयत्न किया, किन्तु फिर भी वह आश्चर्य एवं आनन्द के सिन्धु में आकण्ठ निमग्न रह आया । जिस समय सुरराज ने जिनराज को गोद में लिया, उस समय जय जयकार के ऊच्च स्वर से दशों दिशाएं पूर्ण हो रही थीं । इन्द्र ने प्रभु की स्तुति करते हुये कहा—

त्वंदेव जगतां ज्योतिस्त्वं देव जगतां गुरुः ।
त्वं देव जगतां धाता त्वं देव जगतां पतिः ॥१५८०॥

हे भगवन् ! आप विश्वज्योति स्वरूप हो । जगत् के गुरु हो । त्रिभुवन को मोक्ष मार्ग प्रदर्शन करने वाले विधाता हो । हे देव ! आप समस्त जगत् के नाथ हो ।

प्रश्न – भगवान् को पांडुक शिला की ओर कैसे ले जाते हैं ?

उत्तर—पाण्डुक शिला की ओर प्रस्थान—भगवान् को अपनी गोद में लेकर सुरराज ऐरावत पर विराजमान हुये । उस समय ऐसा दिखता था मानो निषध पर्वत के अंक में बालसूर्य शोभायमान हो रहा हो । उस परम दृश्य की क्षण भर अपने मन में कल्पना करने से भी हृदय में एक मधुर रस की धारा प्रवाहित हुये बिना न रहेगी । सौधर्मेन्द्र की गोद में त्रिलोकीनाथ हैं । ईशान स्वर्ग का सुरेन्द्र धवल वर्ण का छत्र लगाए हैं । सनत्कुमार तथा महेंद्र नामक इन्द्र युगल देवाधिदेव के ऊपर चामर ढुरा रहे हैं । उस लोकोत्तर दृश्य की कल्पना भी जब हृदय में पीयूष धारा प्रवाहित करती है, तब उस समय के दृश्य के साक्षात् दर्शन से जीवों की क्या मनः स्थिति हुई होगी । जिनसेनाचार्य कहते हैं—

दृष्ट्वा तदातनीं भूतिं कुदृष्टिमरुतोऽपुरे ।
सन्मार्गरुचिमातेनुः इन्द्रप्राभाव्य मास्थिताः ॥१५८१॥

उस समय की विभूति का दर्शन करके अनेक मिथ्यादृष्टि देवों ने इन्द्र को प्रमाण रूप मानकर सम्यक्त्व भाव को प्राप्त किया था।

ज्योतिषी मण्डल का उल्लंघन—महापुराण में लिखा है 'मेरु पर्वत पर्यन्त नील मणियों से निर्मित सोपान पंक्ति ऐसी शोभायमान हो रही थी, मानों नील वर्ण दिखने वाले नभोमंडल ने भक्तिवश सीढ़ियों रूप परिणमन कर लिया हो।

समस्त देव समाज ज्योतिष पटल को उल्लंघन कर जब ऊपर बढ़ा। तब वे देव ताराओं से समलंकृत गगन मण्डल को ऐसा सोचते थे मानों यह कुमुदिनियों से शोभायमान सरोवर ही हो। ज्योतिष पटल में ७९० योजन पर ताराओं का सद्भाव है।

ताराओं के आगे ९ योजन ऊंचाई पर केतु (अरिष्ट) का विमान है।

केतु	के आगे	१	योजन	ऊंचाई पर	सूर्य का	,,
सूर्य	,,	७९	,,	,,	राहू का	,,
राहु	,,	१	,,	,,	चन्द्र का	,,
चन्द्र	,,	३	,,	,,	नक्षत्रों का	,,
नक्षत्रों	,,	३	,,	,,	बुध का	,,
बुध	,,	३	,,	,,	शुक्र का	,,
शुक्र	,,	३	,,	,,	गुरु का	,,
गुरु	,,	४	,,	,,	मंगल का	,,
मंगल	,,	४	,,	,,	शनैश्चर का	,,

इस प्रकार समतल भूमि (चित्रा भूमि) से ७९० योजन ऊंचाई पर ११० योजन में ज्योतिषी देवों का आवास है। ये ज्योतिषी देव मेरु पर्वत से ११११ योजन दूर रहकर मेरु की परिक्रमा करते हैं।

जब जिननाथ को लेकर देव और देवेन्द्र समुदाय ज्योतिर्लोक के समीप से जा रहा था, उस समय के दृश्य को ध्यान में रखकर कवि अर्हद्दास एक मधुर उत्प्रेक्षा करते हैं—

मुग्धाप्सराः कापि चकार सर्वानुत्फुल्लवक्त्रान् किलधूप चूर्णम्।
रथाग्रवासिन्यरुणेक्षिपंति हसंतिस्वांगारचयस्य बुद्ध्या ॥१५८२॥

किसी भोली अप्सरा ने सूर्य सारथि को अंगार की राशि समझ कर उस पर

धूप चूर्ण डाल कर सबको हास्य युक्त कर दिया था।

सुमेरु की ओर जिनेन्द्र देव को लेकर जाता हुआ समस्त सुर समाज ऐसी आशंका उत्पन्न करता था; मानो जिनेन्द्र के समवशरण के समान अब स्वर्ग भी भगवान के साथ-साथ विहार कर रहा है।

प्रश्न—सुमेरु पर्वत और पांडुक शिला का वर्णन किस प्रकार है ?

उत्तर—सुमेरु पर्वत और पांडुक शिला—जम्बूद्वीप सम्बन्धी मेरु का नाम सुदर्शन मेरु है। उस मेरु की नींव एक हजार योजन प्रमाण है। इस मेरु के नीचे भद्रशालवन है। ५०० योजन ऊंचाई पर नन्दन वन है। पश्चात् ६२५०० योजन की ऊंचाई पर सौमनस वन है। वहां से ३६ हजार योजन ऊंचाई पर पांडुक वन है। इन चारों वनों में चारों दिशाओं में एक-एक अकृत्रिम चैत्यालय है। एक मेरु सम्बन्धी चारों वनों के सोलह चैत्यालय हैं। विजय, अचल, मंदर तथा विद्युन्माली नाम के चार मेरुओं के सोलह-सोलह जिनालय मिलकर पांच मेरु सम्बन्धी ८० जिनालय आगम में कहे गये हैं। इन अकृत्रिम जिनालयों में अत्यन्त वैभव पूर्ण जीवित जिनधर्म समान मनोज्ञ १०८ प्रतिबिम्ब शोभायमान होते हैं। राजवार्तिक में लिखा है। 'अर्हत् प्रतिमा अनाद्यनिधना अष्टशत संख्या वर्णनातीत विभवाः मूर्ता इव जिनधर्मा विराजन्ते (पृष्ठ–१२६)

यह मेरु पर्वत नीचे से ६१ हजार योजन पर्यन्त नाना रत्न युक्त है। उसके ऊपर यह सुवर्णवर्ण संयुक्त है। त्रिलोकसार में कहा है—

नानारत्नविचित्रः एकषष्ठिसहस्त्रकेषु प्रथमतः।
ततउपरि मेरुः सुवर्णवर्णान्वितः भवति ॥९५८३॥

मेरु सम्बन्धी जिनालयों की देव, विद्याधर तथा चारण ऋद्धिधारी मुनीश्वर वन्दना करके आत्म निर्मलता प्राप्त करते हैं। इस सुवर्ण मेरु की ४० योजन ऊंची चूलिका कही गई है। उस चूलिका से बालाग्रभाग प्रमाण दूरी पर प्रथम स्वर्ग का ऋजुविमान आ जाता है। इस एक लाख योजन ऊंचे मेरु के नीचे से अधोलोक आरंभ होता है। मेरु प्रमाण मध्य लोक माना गया है। यही बात राजवर्तिक में इस प्रकार वर्णित है—'मेरुरयं त्रयाणां लोकानां यानदंडः। तस्याधस्तादधोलोकः। चूलिकामूलादूर्ध्वमूर्ध्वलोकः मध्यमप्रमाणस्तिर्यग्विस्तीर्णस्तिर्यग्लोकः। एवं च कृत्वाऽन्वर्थनिर्वचनं क्रियते। लोकत्रयं मिनातीति मेरुरिति' (पृष्ठ–२७१)

मेरु के ऊपर जो पांडुक वन है, उस वन में ईशान दिशा में सुवर्ण वर्णवाली पांडुक शिला है। यह शिला १०० योजन लम्बी ५० योजन चौड़ी और ८ योजन ऊंची होते हुये अर्ध चन्द्रमा के समान आकार वाली है। उस पर भरत क्षेत्रोत्पन्न तीर्थंकर का अभिषेक होता।

आग्नेय दिशा में रजत (चांदी) वर्णवाली पांडुक शिला ऊपर निर्दिष्ट पांडुक शिला के समान है। उस पर पश्चिम विदेह के तीर्थंकर का अभिषेक होता है।

नैऋत्य दिशा में तप्तसुवर्ण वर्णवाली रक्तशिला ऊपर निर्दिष्ट शिला के समान है। उस पर ऐरावत क्षेत्र के तीर्थंकरों का अभिषेक होता है।

वायव्य दिशा में रक्तवर्ण (लाल) वाली रक्तकम्बला ऊपर निर्दिष्ट शिला के समान है, उस पर पूर्व विदेह के तीर्थंकरों का अभिषेक होता है। यह कथन त्रिलोकसार ग्रन्थ में किया हैं—

पांडुक-पांडुकंबल-रक्ता तथा रक्तकंबलाख्याः शिलाः।
ईशानात् कांचन-रूप्य-तपनीय-रुधिरनिभाः ॥१५८४॥
भरतापरविदेहैरावतपूर्वविदेह जिन निबद्धाः।
पूर्वापरदक्षिणोत्तरदीर्घा अस्थिरस्थिरभूमि मुखाः ॥१५८५॥
मध्ये सिंहासनं जिनस्य दक्षिणगतंतु सौधर्मे।
उत्तरमीशानेन्द्रे भद्रासनमिहत्रयं वृत्तम् ॥१५८६॥

तत्वार्थ राजवार्तिक में यह कथन आया है कि—

'तस्यां प्राच्यां दिशि पांडुकशिला' अर्थात् पूर्व दिशा में पांडुकशिला है।

'अपाच्यां पांडुकंबलाशिला' अर्थात् दक्षिण दिशा में पांडुकम्बला शिला है।

'प्रतीच्यां रक्तकम्बलशिला' अर्थात् पश्चिम दिशा में रक्तकम्बला शिला है।

'उदीच्यां अतिरक्तकम्बला' अर्थात् उत्तर में अतिरक्तकम्बल शिला है।

अकलंक स्वामी ने यह भी लिखा है कि पूर्व दिशा के सिंहासन पर पूर्व विदेह वाले तीर्थंकरों का, दक्षिण दिशा में भरत वाले तीर्थंकरों का, पश्चिम दिशा में पश्चिम विदेहोत्पन्न तीर्थंकरों का तथा उत्तर के सिंहासन पर ऐरावत क्षेत्रोत्पन्न तीर्थंकरों का चारों निकाय के देवेन्द्र सपरिवार तथा महाविभूति पूर्वक क्षीरोदधि जल से भरे १००८ कलशों से अभिषेक करते हैं।

पौरस्त्ये सिंहासने पूर्वविदेजान्, अपाच्ये भरतजान्, प्रतीच्ये अपरविदेहजान्,

उदीच्ये ऐरावतजांस्तीर्थंकरांश्चतुर्निकाय देवाधिपाः सपरिवाराः महत्याविभूत्या क्षीरोदवारिपरिपूर्णैररष्टाधिकसहस्रकनककलशैरभिषिञ्चंति (पृष्ठ–१२७)

तिलोयपण्णति में लिखा है कि पांडुकशिला में सूर्य के समान प्रकाशमान उन्नतसिंहासन है। सिंहासन के दोनों पार्श्व में दिव्यरत्नों से रचे गये भद्रासन विद्यमान हैं, जिनेन्द्र भगवान् को मध्यसिंहासन पर विराजमान करते हैं। सौधर्मेन्द्र दक्षिण पीठ पर और ईशान इन्द्र उत्तर पीठ पर अवस्थित होते हैं (अ. ४ गाथा १८२२ से १८२६)

प्रश्न—जन्माभिषेक का वर्णन कैसा है ?

उत्तर—पांडुक शिला पर भगवान का अभिषेक—अब सौधर्मेन्द्र मेरु पर्वत के शिखर पर जिनेन्द्र भगवान के साथ पहुँच गये। महापुराण में कहा है कि सुरेन्द्र ने बड़े प्रेम से गिरिराज सुमेरु की प्रदक्षिणा की और पांडुकवन में ईसान दिशा में स्थित पांडुक शिला पर भगवान् को पूर्व मुख विराजमान किया। सभी देवगण जन्मोत्सव द्वारा जन्म सफल करने के हेतु पांडुकशिला को घेर कर बैठ गये। देवों की सेना आकाश रूपी आंगन को व्याप्त कर ठहर गई। देव दुन्दुभि बज रही थी। अप्सराएं नृत्यगान में निमग्न थीं। अत्यन्त प्रशान्त, भव्य तथा प्रमोद परिपूर्ण वातावरण था। बहुत से देव क्षीर सागर का जल लाने के लिये कमर बांधकर सुवर्णमय कलशों को लेकर श्रेणीबद्ध होकर खड़े हो रहे थे। जो स्वयं पवित्र है, और जिसमें दुग्ध सदृश स्वच्छन्द सलिल है, भगवान के शरीर का स्पर्श करने के लिये ऐसे क्षीर सागर जल के सिवाय अन्य जल योग्य नहीं है ऐसा विचार कर ही देवों ने पंचम क्षीर सागर के जल से पंचगमति को प्राप्त होने वाले जिनेन्द्र के अभिषेक करने का निश्चय किया था।

प्रश्न :—क्षीरसागर की विशेषता का वर्णन किस प्रकार है ?

उत्तर :—क्षीर सागर की विशेषता के विषय में त्रिलोकसार का यह कथन ध्यान देने योग्य है—

जलयरजीवा लवणे कालेयंतिम सयंभुरमणेय।
कम्ममहीपडिबद्धे णहि सेसे जलयरा जीवा ॥१५८७॥

अर्थात्—लवण समुद्र, कालोदधि समुद्र, अन्तिम स्वयंभूरमण समुद्र ये कर्मभूमि से सम्बद्ध हैं। इन समुद्रों में जलचर जीव पाए जाते हैं। शेष समुद्रों में जलचर जीव नहीं हैं।

इससे यह विशेष बात दृष्टि में आती है कि क्षीर सागर का जल जलचर जीवों से रहित होने के कारण विशेषता धारण करता है। अभिषेक जल लाने से स्वर्ग निर्मित कलश आठ योजन गहरे, उदर में चार योजन तथा मुख पर एक योजन चौड़े। 'मुक्ता फलांवितग्रीवाः चन्दनद्रवचर्चिताः' अर्थात् वे बिसे हुये चन्दन से चर्चित थे तथा उनके कंठ भाग मुक्ताओं से अलंकृत थे।

सौधर्मेन्द्र ने अभिषेक के लिये प्रथम कलश उठाया। ईशानेन्द्र ने सघन चंदन से चर्चित दूसरा भरा हुआ कलश उठाया। और जय जय शब्द करते हुये सौधर्मेन्द्र ने प्रभु के मस्तक पर प्रथम ही जल धारा छोड़ी, उस समय करोड़ों देवों ने भी जय जयकार के शब्दों द्वारा महान कोलाहल किया। भगवान का रक्त धवल वर्ण का था। क्षीर सागर का जल भी उसी वर्ण का है। अतएव उस जल द्वारा जिनेन्द्र देव का अभिषेक बड़ा सुन्दर प्रतीत होता था।

प्रश्न :—भगवान की शक्ति कैसी है ?

उत्तर :—तीर्थंकर भगवान के अतुल बल का प्रदर्शन--भगवान में अतुल बल था। विशाल कलशों से गिरी हुई जलधारा से बाल जिनेन्द्र को रंचमात्र भी बाधा नहीं होती थी। यह देख अनेक देवगण विस्मय में निमग्न हो गये थे।

महावीर भगवान का जब मेरु पर इन्द्रकृत अभिषेक सम्पन्न होने को था, उस समय सुरेन्द्र के चित्त में एक शंका उत्पन्न हुई थी कि भगवान का शरीर छोटा है, कहीं बड़े-बड़े कलशों के द्वारा किया जाने वाला महान अभिषेक प्रभु के अत्यन्त सुकुमार शरीर को संताप उत्पन्न न करे। भगवान ने अवधिज्ञान से इस बात को समझ कर इन्द्र के संदेह को दूर करने के लिये अपने पैर के अंगूठे के द्वारा उस महान गिरिराज को हिला दिया था, उससे प्रभावित होकर इन्द्र ने वर्धमान तीर्थंकर का नाम 'वीर' रखा था। आचार्य प्रभाचन्द्र ने वृहत्प्रतिक्रमण की संस्कृत टीका में उपरोक्त कथन इन शब्दों में स्पष्ट किया है, 'जन्माभिषेके च लघुशरीरदर्शनादाशंकितवृत्तेरिंद्रस्य स्वसामर्थ्यख्यापनार्थं पादांगुष्ठेन मेरु संचालनादिन्द्रेण 'वीर' इति नामकृतम्' (पृष्ठ ९६ प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयी)।

वर्धमान चरित्र में उक्त प्रसंग का इस प्रकार निरूपण किया है—

तस्मिन् तदा शुवतिकंपितशैलराजे घोणाप्रविष्ट सलिलात्पृथुकेऽप्यजस्त्रम्।
इन्द्रादयस्तृणमिवैकपदे निषेतुः वीर्यनिसर्गजमनन्तमहो जिनानां ।।

अर्थात्—जिस समय इन्द्र ने बालजिनेन्द्र का अभिषेक किया, उस समय नासिका में जल का प्रवेश होने से बालजिनेन्द्र को छींक आ गई। इससे मेरू पर्वत कंपित हो गया और इन्द्र आदिक देव गण तृण के समान सहसा गिर पड़े। जिनेश्वर के स्वाभाविक अपरिमित बल हैं।

यह प्रभाव देखकर इन्द्र ने प्रभु का नाम 'वीर' रखा था। पद्मपुराण का यह कथन भी ध्यान देने योग्य है—

पादांगुष्ठेन यो मेरुमनायासेनाकम्पयत्।
लेभे नाम महावीर इति नाकालयाधिपात् ॥१५८८॥

अर्थात् भगवान वर्धमान प्रभु ने बिना परिश्रम के पैर के अंगुष्ठ के द्वारा मेरु को कंपित कर दिया था, इसलिए देवेन्द्र ने उनका नाम 'महावीर' रखा था। यथार्थ में तीन लोक में जिन भगवान की सामर्थ्य के समान दूसरे की शक्ति नहीं होती है। मेरु शिखर पर किया गया महाभिषेक भगवान् जिनेन्द्र की बाल्य अवस्था में भी अपार सामर्थ्य को प्रकट करता है।

इस प्रसंग में रत्नाकर कवि का यह कथन स्मरण योग्य है—'हे रत्नाकराधीश्वर! देवेन्द्र आपकी सेवा में अपने ऐरावत हाथी को अर्पण कर गौरव को प्राप्त करता है। वह अपनी इन्द्राणी से आपके गुणगान कराता है। आपके अभिषेक के लिए देवताओं की सेना के साथ शक्ति पूर्वक सेवा करता है। श्रद्धापूर्वक छत्र धारण करता है, नृत्य करता है। पालकी उठाता है। जब इन्द्र की ऐसी मार्दव भावपूर्ण परणति है, तब नृकीट को अहंकार धारण करना कहां तक उचित है? (रत्नाकर शतक पद्य ८१)

प्रश्न :—बाल भगवान के वस्त्राभूषण कहां से आते हैं?

उत्तर :—तीर्थंकर भगवान के वस्त्राभूषण—श्रेष्ठ रीति से त्रिलोक चूड़ामणि जिनेन्द्र का जन्माभिषेक होने के पश्चात् इन्द्राणी ने बालजिनेन्द्र को विविध आभूषणों तथा वस्त्रादि से समलंकृत किया। भरत तथा ऐरावत क्षेत्र के तीर्थंकरों के उपभोग में आने वाले रत्नमय आभूषण सौधर्म तथा ईशान स्वर्ग में विद्यमान रत्नमय सीकों में लटकते हुये उत्तम रत्नमय करंडकों अर्थात् पिटारों में रहते हैं। तिलोयपण्णत्ति में इन पिटारों के विषय में लिखा है, 'सक्कादि पूजणिज्जा' अर्थात् ये इन्द्रादि के पूजनीय हैं। 'अणादिणिहणा' अर्थात् अनादि निधन हैं 'महारम्मा' अर्थात् महारमणीय हैं।' (अध्याय ८ गाथा ४०३ भाग दूसरा) के रत्नमय पिटारे वज्रमय द्वादश द्वारयुक्त

मानस्तम्भों में पाए जाते हैं। त्रिलोकसार में भी कहा है – 'सौधर्मद्विके तौ मानस्तंभौ भरतैरावततीर्थंकर प्रतिबद्धौ स्तायाम् ।' सानत्कुमार महेन्द्र स्वर्ग के मानस्तम्भों में पूर्वापर विदेह के तीर्थंकरों के भूषण रहते हैं। (त्रिलोकसार गाथा ५२२, ५२२)

पांडुकशिला से देवेन्द्र का प्रभु के साथ अयोध्या नगर में आगमन—

सुदन्र वास्त्राभूषणों से प्रभु को समलंकृत कर सुरराज ने अपने अंतःकरण के उज्ज्वल भावों को श्रेष्ठ स्तुति के रूप में व्यक्त किया। पश्चात् वैभव सहित वे देव देवेन्द्र ऐरावत हाथी पर प्रभु को विराजमान कर अयोध्यापुरी आए। इन्द्र ने महाराज नाभिराज के सर्वतोभद्र महाप्रासाद में प्रवेश कर श्रीगृह के आंगन में भगवान को सिंहासन पर विराजमान किया। महाराज नाभिराज उस प्रिय दर्शन भगवान को प्रेम से विस्तृत नेत्रयुक्त हो तथा रोमांचयुक्त होकर देखने लगे। इस समय जनक-जननी को प्रभु का दर्शन कर जो सुख प्राप्त हुआ, वह कौन बता सकता है ? तीर्थंकर के जन्म से जब जगत् भर के जीवों को अपार आनन्द हुआ, तब उनके ही माता-पिता के आनन्द की सीमा बताने की कौन धृष्टता करेगा ? धर्मशर्माभ्युदय में लिखा है—

उत्संगभारोप्य समंगजं नृपः परिस्वजन्मीलित लोचनो बभौ ।
अंतर्विनिक्षिप्य सुखं वपुर्गृहे कपाटयोः संघट्यन्निवद्वयम् ॥१५८९।

पिता ने अपने अंग से उत्पन्न अंगज अर्थात् पुत्र को गोद में लिया तथा आलिंगन किया। उस समय उनके दोनों नेत्र बंद हो गए थे। इन्द्र ने जब प्रभु का प्रथम बार दर्शन किया था, तब तो वह सहस्र नेत्रधारी बना था, किन्तु यहां त्रिलोकीनाथ के पिता ने 'मनुष्य' को सहज प्राप्त चक्षुयुगल का उपयोग न ले उनको भी बंद कर लिया था, इसका क्या समाधान है ? इस शंका के समाधान हेतु महाकवि के पद्य का उत्तरार्ध ध्यान देने योग्य है। पिता ने भगवान के दर्शन जनित सुख को शरीर रूपी भवन के भीतर रखकर नेत्र रूपी कपाट युगल को बंद कर लिया, जिससे वह हर्ष बाहर न चला जाय। कितनी मधुर तथा आनन्ददायी उत्प्रेक्षा है।

एक नरभव धारण करने के पश्चात् शीघ्र ही सिद्ध भगवान बनकर भगवान के साथ में सिद्धालय में निवास करने के सौभाग्य वाले इन्द्र की भक्ति विवेक तथा सद्विचार से परिपूर्ण थी। भगवान को पिता के कर कमलों में सौंपने के पश्चात् सुरराज भगवान की परिचर्या के हेतु समान रूप तथा वेष धारण करने वाले देव कुमारों को निश्चित कर स्वर्ग को चले गए।

३० तीर्थङ्करों को सहज प्राप्त जन्म काल के दस अतिशय गुण—

१. **सौरूप्य**—अत्यन्त सुन्दर शरीर होना ।
२. **सौरभ**—अत्यन्त सुगन्धित शरीर होना ।
३. **निःस्वेदत्व**—पसीना रहित शरीर होना ।
४. **निर्मलत्व**—मल-मूत्र रहित निर्मल शरीर होना ।
५. **प्रियहितवादित्व**—मधुर हित-मित-प्रिय वचन बोलना ।
६. **अप्रमित वीर्यता**—अनन्त बल-वीर्य होना ।
७. **क्षीरगौर रुधिरत्व**—दूध के समान धवल रुधिर होना ।
८. **सौलक्षण्य**—शरीर पर १००८ उत्तम लक्षणों का धारण करना ।
९. **समचतुरस्त्रसंथान**—उत्तम आकार का शरीर होना ।
१०. **वज्र वृषभनाराच संहनन**—वज्रमय शरीर होना ।

ये दश स्वाभाविक अतिशय तीर्थंकरों के जन्म ग्रहण से ही उत्पन्न हो जाते हैं ।

'एदं तित्थयराणं जम्मग्गहणादि उप्पण्णं' इस प्रकार तिलोयपण्णत्ति में लिखा है । (देखो भाग १ अ० ४ गाथा ६९६–६९८)

प्रश्न :—तीर्थंकरों के छद्मस्थकाल में आहार है, परन्तु नीहार नहीं है, क्या कारण है ?

उत्तर :—तीर्थंकर भगवान के केवलज्ञान होने के पूर्व कवलाहार अर्थात् अन्न-पान ग्रहण होते हुए भी नीहार अर्थात् मलमूत्र नहीं होता है । कहा भी है—

तित्थयरा – तग्घियरा हलहरचक्की इ–वासुदेवाहि ।
पडिवासुभोगभूमिय आहारो णत्थि णीहारो ॥१४९०॥

अर्थात् छद्मस्थ तीर्थंकर, उसके माता, पिता, बलदेव, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण तथा समस्त भोग भूमियां जीवों के आहार है, परन्तु नीहार नहीं है ।

इस आगम वाक्य के पीछे यह वैज्ञानिक सत्य निहित है, कि तीर्थंकर आदि विशिष्ट आत्माओं की जठराग्नि इस जाति की होती है, कि उसमें डाली गई वस्तु रस, रुधिर आदि रूप में परिणत हो जाती है । तत्व नहीं बचता है, जो व्यर्थ होने के कारण मलमूत्र रूप से निकाल दिया जाय ।

यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि जब जठराग्नि मन्द होती है, तब मनुष्य के द्वारा गृहीत वस्तु से सार तत्त्व शरीर को नहीं प्राप्त होता है और प्रायः खाई गई सामग्री बाहर निकाल दी जाती है। इससे खूब खाते हुये भी व्यक्ति क्षीण होता जाता है। ठीक इसके विपरीत स्थिति उक्त महान् पुरुषों की होती है। शरीर में प्राप्त समस्त सामग्री का समुदाय रुधिरादि रूप में परिणत हो जाता है।

प्रश्न :—तीर्थंकर की माता रजस्वला नहीं होती है। क्या कारण है ?

उत्तर :—जिन माता के शरीर में मल मूत्र नहीं होता है, तो यह सहज प्रश्न उत्पन्न हुआ करता है कि जिन माता रजस्वला होती है या नहीं ? इस शंका के निवारण निमित्त महापुराण का यह श्लोक ध्यान देने योग्य है—

सम्मता नाभिराजस्य पुष्पवत्यरजस्वला।
तदा वसुन्धरा भेजे जिनमातुरनुक्रियां ॥१५६१॥

भगवान के गर्भावतरण के समय वह पृथ्वी भगवान की माता मरुदेवी का अनुकरण करती थी, क्योंकि माता मरुदेवी महाराज नाभिराज को जिस प्रकार प्रिय थी, उसी प्रकार वह पृथ्वी भी प्रिय थी। माता पुष्पवती होकर भी रजस्वला नहीं होती थी, इसी प्रकार पृथ्वी भी रजस्वला अर्थात् धूलि युक्त न होकर पुष्पों से सुशोभित होने के कारण पुष्पवती थी।

प्रश्न :—तीर्थङ्कर के शरीर में श्वेत रक्त होने का रहस्य क्या है ?

उत्तर :—भगवान के शरीर में श्वेत आकार धारण करने वाला रुधिर होता है। इस विषय में यह बात गम्भीरता पूर्वक विचारणीय है कि माता के शरीर में अपने पुत्र के लिए स्नेह होने से क्षण भर में उसके स्तन में दुग्ध आ जाता है। रुक्मिणी ने प्रद्युम्न को देखा था। जननी हृदय में नैसर्गिक स्नेह भाव उत्पन्न होने से उसके स्तनों में दुग्ध आ गया था। इस शारीरिक तथा मनोवैज्ञानिक व्यवस्था को ध्यान में रखने से यह बात अनुमान करना सम्यक् प्रतीत होती है कि जिनेन्द्र भगवान के रोम रोम मे समस्त जीवों के प्रति सच्ची करुणा, दया तथा प्रेम के बीज परिपूर्ण हैं। तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करते समय दर्शन विशुद्धि भावना भाई गई थी। दूसरों शब्दों में उसका यह रहस्य है कि भगवान के विश्व प्रेम के वृक्ष का बीज बोया था, जो वृद्धि को प्राप्त हुआ है और केवलज्ञान काल में अपने फल द्वारा समस्त जगत को सुख तथा शान्ति प्रदान करेगा। एकेन्द्रिय वनस्पति तक प्रभु के विश्व प्रेम की भावना

रूप जल से लाभ प्राप्त करेगी। इसी से केवलज्ञान की उल्लेखनीय महत्त्वपूर्ण बातों में सौ योजन भूमि में पृथ्वी धान्यादि से हरी भरी हो जाती है। भगवान का हृदय संपूर्ण जीवों को सुख देने के लिए जननी के तुल्य है। समन्तभद्र स्वामी ने भगवान पार्श्वनाथ के स्तवन में उन्हें 'मातेव बालस्य हितानुशास्ता' बालक के लिए कल्याणकारी अनुशासन कर्त्री माता के समान होने के कारण माता तुल्य कहा है। प्राणी मात्र के दुःख दूर करने की भावना तथा उसके योग्य सामर्थ्य और साधन सामग्री समन्वित मातृचेतस्क जिनेन्द्र के शरीर में रुधिर का श्वेतवर्ण युक्त होना तीर्थंकर की उत्कृष्ट कारुणिक वृत्ति तथा महत्ता का परिचायक प्रतीत होता है।

शरीर संबंधी विद्या में प्रवीण लोगों का कहना है कि महान बुद्धिमान, सदाचारी, कुलीनतादि संपन्न व्यक्तियों के रक्त में रक्तवर्णीय परमाणु पुंज के स्थान में धवलवर्णीय परमाणु पुंज विशेष पाये जाते हैं। आज के असदाचार प्रचुर युग के शरीर शास्त्रज्ञ वर्तमान युग के हीनाचरण मानवों के रक्त को शोधकर उपरोक्त विचार पूर्ण सामग्री प्रस्तुत करता है। यदि यह कथन सत्य है, तो तीर्थंकर भगवान के शरीर के रुधिर की धवलता को स्थूलरूप से समझने में सहायता प्राप्त होती है।

एक बात और है भगवान् आरम्भ से ही सभी भोगों के प्रति आसक्ति रहित हैं, अतएव विरक्त आत्मा का रक्त यदि विरक्त अर्थात् विगत रक्तापना, लालिमा शून्यता से संयुक्त हुआ हो तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। विरक्तों के आराध्य देव का देह सचमुच में विरक्त परमाणुओं से ही निर्मित मानना पूर्ण संगठन है। सरागी जगत के लोगों का शरीर विषयों में अनुरक्त होने से क्यों न रक्त वर्ण का होगा।

भगवान का रोम-रोम विषयों से विरक्त था। इतना ही नहीं उनकी वाणी विरक्तता अर्थात् वीतरागता का सदा सिंहनाद करती थी। मौन स्थिति में उनके शरीर से ऐसे परमाणु बाहर जाते थे, जिससे उज्ज्वल ज्योति जगे, इसी अलौकिकता के कारण सौधर्म इन्द्र सदा प्रभु के चरणों की शरण ग्रहण करता है। भगवान के हृदय में, विचार में, जीवन में जैसी विरक्तता थी, वैसी ही उनके रुधिर में विरक्तता थी। इन्द्र भी चाहता था कि प्रभु की अंतः बाह्य विद्यमान विरक्तता मुझे भी प्राप्त हो जाए। वैसे देवों के शरीर में भी विरक्तता है, किन्तु आंतरिक विरक्तता के बिना

बाह्य विरक्तता शव का शृंगार मात्र है। परम औदारिक शरीर धारी होकर अंतः बाह्य विरक्तता के धारक तीर्थंकर ही होते हैं। सरागी शासन में इस विरक्ता की कल्पना नहीं हो सकती; यह बात तो वीतरागी शासन में ही बताई जा सकती है। वैभव शून्य मानव वैभव के शिखर पर स्थित श्रेष्ठ आत्माओं की कल्पना भी नहीं कर सकता है।

भगवान में प्रारम्भ से ही विरक्तता है, इसका आधार यह है कि वे भगवान् जब माता के गर्भ में आने के समय से लेकर आठ वर्ष की अवस्था के होते है, तो वह भगवान सत्पुरुषों के योग्य देश संयम को ग्रहण करते हैं। आदिपुराण में लिखा है :—

स्वायुराद्यष्टवर्षेभ्यः सर्वेषां परतो भवेत्।
उदिताष्टकषायाणां तीर्थेशां देशसंयमः ॥१५९२॥

सब तीर्थङ्करों के अपनी आयु के प्रारम्भ से आठ वर्ष के आगे से देशसंयम होता है, क्योंकि उनके प्रत्याख्यानावरण तथा संज्वलन कषायें उदयावस्था को प्राप्त है। यदि प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय न हो तो वे महाव्रती बन जाते।

ततोऽस्य भोगवस्तूनां साकल्येपि जितात्मनः।
वृत्तिनियमितैकाभूदसंख्येय गुण निर्जरा ॥१५९३॥

यद्यपि इन जिनेन्द्र देव के योग्य वस्तुओं की परिपूर्णता थी, तथापि वे जितात्मा थे, और उनकी प्रवृत्ति नियमित रूप से ही होती थी, इससे असंख्यात गुणी कर्मों की निर्जरा होती थी।

प्रश्न :—तीर्थङ्करों के शरीर पर रहने वाले १००८ सुलक्षणों की नामावली क्या है ?

उत्तर :—भगवान का जीवन अंतः बाह्य सौन्दर्य का अपूर्व केन्द्र था। सामुद्रिक शास्त्र की दृष्टि से भी भगवान का पौद्गलिक शरीर १००८ लक्षणों से समलंकृत होने के कारण अत्यन्त महत्वपूर्ण था, महापुराण में लिखा है कि भगवान के शरीर में, १ श्री वृक्ष (नारियल का वृक्ष-बिल्ववृक्ष), २. शंख, ३. कमल, ४. स्वस्तिक (साथिया), ५. अंकुश, ६. तोरण, ७. चमर, ८. श्वेत-छत्र (धवल छत्र), ९. सिंहासन (सिंह-पीठ), १०. ध्वजा (पताका), ११. मीन युगल (दो मीन), १२. दो कुंभ, १३. कच्छप (कूर्म), १४. चक्र, १५. समुद्र, १६. सरोवर,

१७. विमान (देव विमान), १८. भवन (नागेन्द्र भवन), १९. हाथी, २०. मनुष्य, २१. मनुक्षी (स्त्री), २२. सिंह, २३. बाण, २४. धनुष, २५. मेरु (महामेरु), २६. इन्द्र (देवेन्द्र), २७. देवांगना, २८. पुर (पट्टण), २९. गोपुर, ३०. चन्द्रमा, ३१. सूर्य, ३२. उत्तम घोड़ा, ३३. पंखा, ३४. बांसुरी (मुरली), ३५. वीणा, ३६. मृदंग, ३७ मालाएं (दो पुष्प माला), ३८. रेशमी वस्त्र, ३९. दुकान, ४०. शेखर पट्ट-शीर्षाभूषण (मुकुट-किरीट) ४१. हार (कंठिका वली मौक्तिक माला) ४२. पदक (चूड़ामणि), ४३. ग्रैवयक, ४४. प्रालम्ब, ४५. केयूर (भुजबन्द बाजूबन्द), ४६. अंगद, ४७. कटिसूत्र (करधनी), ४८. दो मुद्रिका (पवित्र अंगूठी), ४९. कुन्डल कर्ण भूषण, ५०. कर्णपुर, ५१. दो कंकण (कड़ा), ५२. मंजीर (नूपुर–घुंघरू), ५३. कटक, ५४. पट्ट (भाल पट्ट), ५५. सूत्र (ब्रह्म सूत्र), ५६. फल भरित उद्यान, ५७. पके वृक्षों से सुशोभित खेत (फल भार से नम्र हुई शाली का खेत), ५८. रत्नदीप, ५९. वज्र, ६०. पृथिवी, ६१. लक्ष्मी, ६२ सरस्वती, ६३. कामधेनु, ६४. वृषभ (बैल), ६५. चूड़ामणि, ६६. महानिधियां, ६७, गृहांग कल्प वृक्ष, ६८. भाजनांग क०, ६९. भोजनांग क०, ७०. पानांग (मद्यांग), ७१. वस्त्रांग क०, ७२. भूषणांग क०, ७३. माल्यांग (कुसुमांग) क०, ७४. दीपांग क०, ७५. ज्योतिरांग क०, ७६. सूर्यांङ्ग क०, ७७. सुवर्ण, ७८, जम्बूवृक्ष, ७९. गरुण, ८०. नक्षत्रों का समूह, ८१. तारागण, ८२. राजभवन, ८३. अंगारक (शनि) गृह, ८४. रविग्रह, ८५. चन्द्रग्रह, ८६. मंगलग्रह, ८७. बुध, ८८. गुरु, ८९. शुक्र, ९०. राहु, ९१. केतु, ९२. सिद्धार्थ वृक्ष, ९३. अशोक वृक्ष, ९४. रत्न सिंहासन, ९५. छत्रत्रय, ९०. भामंडल (प्रभामंडल), ९७. दिव्यध्वनि, ९८. पुष्पवृष्टि, ९९. चमर, १००. देवदुन्दुभि, १०१. झारी (शृंगार), १०२, कलश, १०३. ध्वजा, १०४. छत्र, १०५. स्वास्तिक (सुप्रतिष्ठ-साथिया), १०६. चमर, १०७. दर्पण, १०८. पंखा (ताल व्यंजन तालवृन्त), इस प्रकार १०८. मुख्य लक्षण तथा मशूरिकादि, ९०० व्यंजन अर्थात् सामान्य लक्षण, ये सब मिलकर १००८ सुलक्षण विद्यमान थे। (देखो महा पु० पूर्व १५२ लोक ३७ से ४४)।

प्रश्न :—क्या निमित्त ज्ञान सच्चा है ?

उत्तर :—निमित्त ज्ञान के शास्त्र और शास्त्रज्ञ—महाकवि कहते हैं—इन मनोहर और श्रेष्ठ लक्षणों से व्याप्त हुआ भगवान का शरीर ज्योतिषी देवों से भरे

हुए आकाशरूपी आंगन के समान शोभायमान हो रहा था ।

अभिरामं वपुर्भर्तुः लक्षणैरभिरुर्जितैः ।
ज्योतिर्भिरव संच्छन्नं गगन प्रांगणं बभौ ।।१५६४।।

आज इस महान् विज्ञान के ज्ञाताओं का प्रायः लोप हो गया, इससे इस विद्या के महत्त्व को भी लोग भूलने लगे । जिन धरसेन महामुनि ने भूतबलि तथा पुष्पदन्त साधु युगल को महाकर्म प्रकृति प्राभृत रूप परमागम का उपदेश दिया था, वे सामुद्रिक विद्या, स्वरशास्त्र, स्वप्न शास्त्र आदि में पारंगत थे । धवलग्रन्थ पृष्ठ ६७ में धरसेन आचार्य को 'अट्ठंगमहाणिमित्त पारएण' शब्द द्वारा अष्टांग निमित्त विद्या के पारगामी कहा है । यह विज्ञान विद्यानुवाद नाम के दशमपूर्व में संगृहीत है ।

प्रश्न—लांछन या चिन्ह किसको कहते हैं ?

उत्तर—तीर्थङ्करों के जन्मकाल के दश अतिशयों में से "सौलक्षण्य" नामक एक अतिशय है, उस अतिशयानुसार उनके शरीर पर रहने वाले १००८ लक्षणों में से उनके दाहिने पैर के अंगूठे मे जो चिन्ह रहेगा उसको 'लांछन' या 'चिन्ह' कहते हैं । लिखा भी है—

जम्मणकाले जस्सदु दाहिणपायम्मि होइ जो चिण्हं ।
तं लक्खण पाउत्तं आगमसुत्ते सुजिणदेहं ।।१५६४।।

प्रश्न—तीर्थङ्कर भगवान गृहस्थावस्था में अवधिज्ञान जोड़ते थे या नहीं ?

उत्तर—तीर्थंकरों के जन्म से मति-श्रुत-अवधि ये तीन ज्ञान रहते हैं । वे गृहस्थ अवस्था में अवधिज्ञान जोड़ते रहते थे । इस विषय में सोमसेन कृत लघुपद्मपुराण में लिखा है कि—

पट्टहिस्तबामुक्तो भुक्ति करोति दुःखदाम् ।
सद्दृष्टावधिनेत्रेण जिनः प्राह जनान् प्रति ।।१५६५।।

अर्थात्—एक दिन २०वें मुनिसुव्रत नाथ तीर्थंकर गृहस्थावस्था में अपने पुत्र के साथ सभा मण्डप में विराजमान थे । वहां जब पट्टहाथी का प्रसंग आया था, उस समय उन्होंने अपने अवधि ज्ञान से सब सभासदों को पट्टहाथी का वृतांत कह दिया था । अतः उत्तर पुराण में भी यह कथन आया है—

वनस्मरणसंत्यक्तकबलग्रहणं नृपः ।
निरीक्ष्यावधिनेत्रेणविज्ञानेनात्मनोगतम् ।।१५६६।।

तत्पूर्वभवसम्बद्धं कौतुकान्वितं नृणां ।
अवोचद्वृत्तमित्युच्चैः स मनोहरया गिरा ॥१५६७॥

वन का स्मरण कर मुख्य हाथी ने खाना पीना छोड़ दिया था। उसे देखकर मुनिसुव्रत महाराज ने अपने अवधिज्ञान रूपी नेत्रों से उसके पूर्व भव का सम्बन्ध जान लिया और मनोहर तथा ऊंची वाणी से कौतुहल युक्त लोगों को वे समझा दिये थे। इससे स्पष्ट होता है कि तीर्थंकर भगवान गृहस्थावस्था में अवधिज्ञान का उपयोग करते हैं।

प्रश्न---तीर्थङ्कर (छद्मस्थ) प्रभु की और मुनियों का मेल होता है या नहीं ? और मुनिश्वरों की वन्दना करते या नहीं ?

उत्तर—उनका मेल होता है, परन्तु तीर्थंकर मुनीश्वरों की वन्दना नहीं करते हैं। एक दिन श्री कुन्थुनाथ चक्रवर्ती (तीर्थंकर) वन विहार करके लौटे। अपने नगर में आते समय रास्ते में एक आतापनयोग साधु को देखकर उन्होंने अपनी तर्जनी अंगुली से मन्त्री को बताया था। उस समय मन्त्री ने मुनि को नमस्कार किया था, और तीर्थंकर (छद्मस्थ) प्रभु से पूछा था हे देव ! ऐसे दुर्धर तप करने से साधुओं को कौनसा फल मिल सकता है ? तब प्रसन्न मुख भगवान ने कहा था कि यदि कर्म नाश करे तो इसी भव मोक्ष चले जायेंगे। कदाचित् कर्म का नाश न हो तो इन्द्रादिक पद प्राप्त कर वे कर्म का नाश कर मुक्त हो जायेंगे।

असग कवि कृत वर्धमान चरित्र सर्ग १७ श्लोक ६२ में लिखा है कि विजय, संजय नाम के दो चरण मुनियों को किसी एक बात के अर्थ के विषय में सन्देह उत्पन्न होने के बाद अकस्मात् उनको श्री वर्धमान स्वामी का दर्शन होते ही वे निःसन्देह हो गये थे। तब उन्होंने बड़ी भक्ति भाव से वर्धमान स्वामी को 'सन्मति' यह नाम देकर वहां से प्रस्थान किया था। इसलिये तीर्थङ्करों की (छद्मस्थ अवस्था में) मुनियों से भेंट होती है, यह सिद्ध होता है।

प्रश्न---तपकल्याणक का वर्णन किस प्रकार है ?

उत्तर---तपकल्याणक या परिनिष्क्रमण—भगवान की मोह निद्रा दूर होने से वे भली प्रकार जाग चुके। अब उन्हें कर्मचोर नहीं लूट सकते हैं। जगने के पूर्व में भगवान पिता होने के रूप में भरत, बाहुबली ब्राह्मी सुन्दरी को देखते रहे। पितामह होने के रूप में मरीचि आदि पौत्रों पर दृष्टि रखते थे। अयोध्या की जनता को प्रजा-

पति होने से आत्मीय भाव से देखते थे। अब उनकी सम्पूर्ण दृष्टि बदल गई। एक चैतन्य आत्मा के सिवाय अन्य सब पदार्थ पर प्रतिभा समान होने लग गए। मोतिया बिन्दु वाले मनुष्यों के नेत्र में जाला आने से वह अंध सदृश हो जाता है। जाला दूर होते ही उसे प्रकाश प्राप्त होता है। अपना पराया पदार्थ दिखने लगता है।

नीलांजना को अवलम्बन बनाकर सुधी सुरराज ने भगवान के नेत्रों को स्वच्छ करने में बड़ी चतुरता से काम लिया। भगवान के जन्म होने पर उस इन्द्र ने आनन्दित होकर सहस्त्र नेत्र बनाये थे। आज भी सुरराज मोह जाल दूर होने से आध्यात्मिक सौन्दर्य समन्वित विरक्त आदिनाथ प्रभु की अपने ज्ञान नेत्रों द्वारा नीरांजना करते हुये, आरती उतारते हुये अपूर्व शांति तथा प्रसन्नता का अनुभव कर रहा है। इसका कारण यह कि इन्द्र महाराज की जिनेन्द्र में जो भक्ति थी वह मोहान्धकार से मलिन नहीं थी। वह सम्यक्त्व रूप चिन्तामणि रत्न के प्रकाश से दैदीप्यमान थी।

अब तक विरक्त तथा दिव्य विषयों में आसक्त रहने वाले देवर्षि रूप से माने जाने वाले लौकान्तिक देव अपने स्थान से ही जिनेन्द्र प्रणाम करते थे। सुदर्शन मेरु के शिखर पर सारे विश्व को चकित करने वाला जिनेन्द्र भगवान का जन्माभिषेक हुआ। वहां सभी चारों निकाय के देव विद्यमान थे, केवल इन विरक्त देवर्षियों का अभाव था। ये वैराग्य के प्रेमी कोकिल सदृश थे, जिन्हें अपना मधुर गीत प्रारम्भ करने के लिये वैराग्य पूर्ण बसन्त ऋतु चाहिये थी, जिससे सब कष्टों का सदा के लिये अन्त हो जाता है। योग्य बेला देखकर ये देवर्षि भगवान के समीप आए।

प्रभु को प्रणाम कर कहने लगे, "भगवन! आपने मोह के जाल से छूटने का जो पवित्र निश्चय किया है वह आप जैसी उच्च आत्मा की प्रतिष्ठा के पूर्णतया अनुरूप है। अब तो धर्म तीर्थ प्रवर्तन के योग्य समय आ गया है, "वर्तते कालो धर्म तीर्थ प्रवर्तने।"

हे नाथ! चारों गति रूप महाटवी में दिशाओं का परिज्ञान न होने से भटकते हुए जीवों को मुक्तिपुरी में पहुँचने का सुनिश्चित मार्ग बताइये। प्रभो! अब आपके द्वारा बताए गए मार्ग पर चलकर सत्पुरुष जन्म मरण के श्रम से से शून्य होकर त्रिलोक के शिखर पर जहां अविनाशी आनन्द है, पहुंचकर विश्राम करेंगे।

इसके अनन्तर चारों निकाय के देव आए। उन्होंने क्षीर सरोवर के जल से भगवान का अभिषेक किया। जन्म कल्याणक के समय निर्मल शरीर वाले बाले जिनेन्द्र

के शरीर का महा अभिषेक हुआ था। आज वैराग्य को प्राप्त मोक्षपुरी को जाकर अपने आत्म-साम्राज्य को प्राप्त करने को उद्यत प्रभु के अभिषेक में भिन्न प्रकार की मनोवृत्ति है। आज तो ऐसा प्रतीत होता है कि बाह्य शरीर के अभिषेक के बहाने से ये सुरराज अन्तःकरण में जागृत ज्ञान ज्योति से समलंकृत आत्मदेव का अभिषेक कर रहे हैं। यह अभिषेक बाल रूप धारी तीर्थंकर का नहीं है। यह तो सिद्ध वधू को वरण करने के लिये उद्यत प्रबुद्ध विरक्त जिनेन्द्र के शरीर का अन्तिम अभिषेक है। इसके पश्चात् इन वीतरागी जिनेन्द्र का अभिषेक नहीं होगा। आगे ये जिनेन्द्र सदा चिन्मयी विज्ञान गंगा में डुबकी लगाकर आत्मा को निर्मल बनावेंगे। अब तो भेद विज्ञान भास्कर उदित हो गया है। उसके प्रकाश में ये शरीर से भिन्न चैतन्य ज्योति देखकर उसे विशुद्ध बनाने के पवित्र विचार में निमग्न हैं।

दीक्षा पालकी—आत्म प्रकाश से सुशोभित जिन राज ने मार्मिक वाणी द्वारा सबको नग्न सत्य कहते हुए स्वयं अन्तःबाह्य नग्नमुद्रा धारण करने का निश्चय किया। वीतराग प्रभु अब 'सुदर्शना' पालकी पर विराजमान हो गए। भूमि गोचरी राजाओं ने प्रभु को पालकी सात पैंड तक अपने कन्धों पर रखी। विद्याधरों ने भी सप्तपद प्रमाण प्रभु की पालकी को वहन किया। इसके पश्चात् देवताओं ने प्रभु की पालकी कन्धों पर रखकर आकाश मार्ग द्वारा शीघ्र ही दीक्षावन को प्राप्त किया। यह सिद्धार्थ नाम का दीक्षा वन अयोध्या के निकट ही था। भगवान का सारा परिवार प्रभु की विरक्ति से व्यथित हो रहा था। उसे देखकर ऐसा लगता था, मानो मोह शत्रु के विजयार्थ उद्योग में तत्पर भगवान को देखकर मोह की सेना ही रो रही है। चारों ओर वैराग्य का सिन्धु उद्वेलित हो रहा था।

प्रश्न—दीक्षा पालकी उठाने के प्रसंग पर क्षोभ की कल्पना करना उचित है या नहीं ?

उत्तर—कोई-कोई सोचते हैं भगवान की दीक्षा की बेला में उस प्रस्थान के पावन प्रसंग पर पालकी उठाने के प्रकरण को लेकर मनुष्यों तथा देवताओं में झगड़ा हो गया यह कल्पना अत्यन्त असंगत, अमनोज्ञ तथा अनुचित है। उस प्रसंग की गम्भीरता को ध्यान में रखने पर एक प्रकार से यह कल्पना सारशून्य ही नहीं अपवाद-पूर्ण भी प्रतीत हुये बिना न रहेगी। जहां विवेकी सौधर्मेन्द्र के नेतृत्व में सर्वकार्य सम्यक् रीति से संचालित हो रहे हों। चक्रवर्ती भरत सदृश प्रतापी नरेन्द्र प्रजा के

अनुशासन प्रदाता हो और जहां भगवान के वैराग्य के कारण प्रत्येक का ममता पूर्ण हृदय विशिष्ट विचारों में निमग्न हो, वहां झगड़ा उत्पन्न होने की कल्पना तक अमंगल रूप है। सभी लोक विवेकी थे। अतएव संपूर्ण कार्य व्यवस्थित पद्धति से चल रहा था। सौधर्मेन्द्र तो एक सौ सत्तर कर्म भूमियों में एक सौ सत्तर तक की संख्या वाले अनेक तीर्थंकर के कल्याणकों के कार्य संपादन करने में सिद्धहस्त तथा अनुभव प्राप्त हैं। अतः स्वप्न में क्षोभ की कल्पना नहीं की जा सकती।

प्रश्न—भगवान की दीक्षा विधि का वर्णन किस प्रकार है ?

उत्तर—दीक्षा विधि—भगवान सिद्धार्थ वन में पहुँकर पालकी से नीचे उतरे। हरिवंश पुराण में लिखा है—

अवतीर्णः स सिद्धार्थो शिविकायाः स्वयं यथा।
देवलोकशिरस्थाया दिवः सर्वार्थसिद्धितः ॥१५६६॥

सिद्ध बनने की कामना वाले सिद्धार्थी भगवान ऋषभदेव देवलोक के शिर पर स्थित पालकी पर से स्वयं उतरे, जैसे वे सर्वार्थ सिद्धि स्वर्ग से अवतीर्ण हुये थे। अब मुमुक्षु भगवान मोहज्वर से मुक्त होकर आत्म स्वास्थ्य की प्राप्ति के हेतु स्वस्थता सम्पादक तपोवन के ही वातावरण में रह कर क्रमशः रोग मुक्त हो अविनाशी स्वास्थ्य को शीघ्र प्राप्त करेंगे। उन्होंने देख लिया कि सच्चा स्व तथा पर का कल्याण अपने जीवन को आदर्श (दर्पण) के समान बनाना है। मलिन दर्पण जब तक मल रहित नहीं बनता है, तब तक वह पदार्थों का प्रतिबिम्ब ग्रहण करने में असमर्थ रहता है, इसी प्रकार मोह मलिन मानव का मन त्रिभुवन के पदार्थों को अपने में प्रतिबिम्बित कराने में अक्षम रहता है। भगवान ने यह तत्व हृदयंगम किया, कि आत्मा की कालिमा को धोकर उसे निर्मल बनाने के लिये समाधि अर्थात् आत्म-ध्यान की आवश्यकता है। अतः एक चित्त वृत्ति को स्थिर बनाकर मोह को ध्वंस करने के लिए ही ये प्रभु आवश्यक कार्य सम्पादन में संलग्न हैं।

तीर्थङ्कर भगवान के कार्य श्रेष्ठ कहे हैं, अतएव तपस्या के क्षेत्र में भी इनकी अत्यन्त समुज्जवल स्थिति रहती है। वैराग्य से परिपुर्ण इनका मन आत्मा की ओर उन्मुख है। अब वह अधिक बहिर्मुखता को आत्महित के लिए बाधक सोच रहे है, अपने समीप आने वाली प्रजा को प्रभु ने कहा 'शोकंत्यजत भोः प्रजा' और प्रजाजन तुम शोकभाव का परित्याग करो। तुम्हारी रक्षा के हेतु भरत को मैंने राजा का पद

दिया है, 'राजा वो रक्षणे दक्षः स्थापितो भरतो मया ।' तुम भरत राजा की सेवा करना । भगवान ने एक बार पहले सर्वतोभद्र नरेन्द्र भवन परित्याग करते समय बन्धु वर्ग से पूछ लिया था, फिर भी उन जगत पिता ने सर्व इष्ट जनों को धैर्य देते हुये पुनः अनुज्ञा प्राप्त की ।

उस वन में चन्द्रकान्त मणि की शिला देवों ने पहले से ही रख दी थी । इन्द्राणी ने अपने हाथों से रत्नों को चूर्ण कर उस शिला पर चौक बनाया । उस पर चन्दन के मांगलिक छींटे दिए गए थे। उस शिला के समीप ही अनेक मंगल द्रव्य रखे थे । भगवान उस शिला पर विराजमान हो गये । आसपास, देव, मनुष्य, विद्याधरादि उपस्थित थे ।।

भगवान ने वस्त्र, आभूषणादि का परित्याग किया । उस त्याग में आत्मा, देवता तथा सिद्ध भगवान साक्षी थे । महापुराण में लिखा है—तत् सर्वं विभुरत्याक्षीत् निर्व्यपेक्षं त्रिसाक्षिकम् ।

भगवान ने अपेक्षा रहित होकर त्रिसाक्षि पूर्वक समस्त परिग्रह का त्याग कर दिया ।

भगवान के केशलोंच करने का क्रम—

केशलोंच—अनंतर भगवान ने पूर्व की ओर मुख करके पद्मासन होकर सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार किया और पंचमुष्टि केशलोंच किया । पंच अंगुलि निर्मित मुष्टि के द्वारा संपादित केशलोंच करते हुये वे पंचमगति को प्रस्थान करने को उद्यत परम पुरुष द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव तथा भावरूप पंचपरावर्तनों का मूलोच्छेद करते हुये प्रतीत होते थे ।

तीर्थंकर भगवान के दाढ़ी मूँछ नहीं होते । वे सदा सोलह वर्ष की अवस्था वाले पुरुष के समान सुशोभित होते हैं, इसलिए भगवान केवल शिर के केशों का ही पंच मुष्टियों से लोच करते हैं । कहा भी है—

देवावि णारयावि य भोगभुवा चक्कि-जिणवरिंदाणं ।
सव्वे केसव-राम-कामवि ण कुंचिया हुंति ।।१५६६।।

अर्थात्—चतुर्निकाय के देव, नरकी जीव, भोग भूमियाँ, चक्रवर्ती, तीर्थंकर, नारायण, बलभद्र और कामदेव के मुख पर दाढ़ी-मूँछो के बाल नहीं होते हैं ।

भावार्थ—इन सबकी हमेशा नव-यौवन अवस्था बनी रहती है। उन सबके केश शोभारूप उत्पन्न होते हैं और शोभा रूप ही बढ़ते हैं। इसलिये उनके क्षौर कर्म (बाल बनवाना) नहीं होता है अर्थात् तीर्थंकरादि कभी बाल नहीं बनवाते हैं, क्योंकि वे इतने नहीं बढते कि उन्हें कटवाना पड़े।

एक यह बात भी विचारणीय है कि यदि तीर्थंकरों के मुख दाढ़ी-मूँछ के बाल माने जाय तो उनकी प्रतिमाओं में भी दाढ़ी-मूँछ के बाल मानने पड़ेंगे; परन्तु ऐसा है नहीं, इस लिये तीर्थंकरों के दाढ़ी-मूँछ का अभाव समझना चाहिये। कहा भी है—

केशादिरोमहीनांगं श्मश्रुरेखाविवर्जितम् ।
स्थितं प्रलम्बितहतं श्रीवत्साढ्यं दिगम्बरम् ॥१६००॥

अर्थात्—प्रतिमाएँ ऐसी होनी चाहिये जिन पर केशादि रोम न हों दाढ़ी-मूँछ के बाल न हो खड़्गासन हो, हाथ लटकते हों, श्रीवत्स का चिन्ह हो और दिगम्बर हों।

भगवान का दीक्षालेने के बाद मौन से रहने का रहस्य—

मौनव्रत का रहस्य—केशलोंच के बाद अब ये प्रभु सचमुच में महामुनि, माहभौनी, महादम, महाक्षम, महाक्षम, महाशील, महायज्ञ वाले तथा महामख बन गए—

महामुनिर्महामौनी महाध्यानी महादमः ।
महाक्षमः महाशीलो महायज्ञो महामखः ॥१६०१॥

इन महामुनि प्रभु का मौन अलौकिक है। इनका मौन अब केवलज्ञान की उपलब्धि तक रहेगा। इनकी दृष्टि बहिर्जगत् से अन्तर्जगत् की ओर पहुँच चुकी है। इसलिये राग उत्पन्न करने की असाधारण परिस्थिति आने पर भी इन्होंने वीतराग वृत्ति को निष्कलंक रखा। इनके चरणानुरागी चार हजार राजाओं ने इनका अनुकरण कर दिगम्बर मुद्रा धारण की थी। परिषहों को सहने में असमर्थ होकर वे राजा भ्रष्ट होने लगे। और भी विशिष्ट परिस्थितियाँ समक्ष आईं। दुर्बल मनोवृत्ति वाला मानव ऐसे प्रसंगों पर मोह के चक्कर में फंसे बिना न रहता, किन्तु ये जिनेन्द्र महामौनी ही रहे।

सभी तीर्थंकर दीक्षा लेने के पश्चात् मौन व्रती रहते हैं। यदि ऐसा कठिन महाव्रत न होता तो भगवान ऋषभनाथ सहदीक्षित चार हजार राजाओं को क्षुधादि की पीड़ा सहन करने में असमर्थ होकर धर्म मार्ग को छोडते समय उनका स्थितिकरण

अवश्य करते, यदि आदिनाथ भगवान का मौन न रहता तो आहार देने की विधि उनसे ज्ञात की जा सकती थी। इस सम्पूर्ण सामग्री को ध्यान में रखने से श्रेष्ठ तपस्या में उद्यत तीर्थंकरों की मौनी मानना उचित है, अनुभव तथा तर्क संगत है।

योग विद्या के अन्तस्तत्व को न जानने वाले भगवान के मौन का रहस्य नहीं जान पाते। उसके मर्म को अवगत करने वाले पूज्यपाद महर्षि समाधि शतक में कहते हैं—

जनेभ्यो वाक् ततः स्पन्दो मनसश्चित्त विभ्रमः।
भवन्ति तस्मात्संसर्गं जनैर्योगी ततस्त्यजेत् ॥१६०२॥

लोक संसर्ग होने पर वचन प्रवृत्ति होती है। उससे मानसिक विकल्प उत्पन्न होते हैं। इससे चित्त में विभ्रम होता है। इससे स्वयंवेदन (स्वानुभव) में संलग्न श्रेष्ठ संयमी जन संसर्ग त्याग करे।

पूज्यपाद स्वामी की वाणी के द्वारा भगवान की लोकोत्तर वीतराग वृत्ति पर प्रकाश पड़ता है। भगवान अध्यात्म के क्षेत्र में क्षण-क्षण में प्रगति करते जा रहे हैं। भगवान घृणित पौद्गलिक देह का परित्याग कर चिन्मूर्ति मात्र रहना चाहते हैं। उनका लक्ष्य है विदेह बनना। इससे वे आत्मा में ही आत्म भावना करते हैं। इसका रहस्य समाधिशतक में इस प्रकार बताया गया है—

देहान्तर्गते बीजं देहेऽस्मिन्नात्म भावना।
बीजं विदेहनिष्पत्तेरात्मन्येवात्म भावना ॥१६०३॥

एक शरीर को छोड़कर अन्य देह धारण का बीज शरीर में आत्म भावना है। विदेही बनने का अर्थात् शरीर रहित बनने का मूल कारण आत्मा में आत्मभावना है।

भगवान के आश्रित रहने वाले पदार्थों में पूज्यता कैसे आ जाती है—

तीर्थंकरों के आश्रित पदार्थों की पूज्यता—देवों ने भगवान के केशों को रत्नमय पिटारे में रखा तथा बड़े आदर पूर्वक उनको क्षीर समुद्र में क्षेपण किया। महापुराणकार कहते हैं—

महतां संश्रयान्नूनं यांतीज्यां मलिना अपि।
मलिनैरपि यत्केशैः पूजावाप्ताश्रितैः गुरुम् ॥१६०४॥

महापुरुषों का आश्रय ग्रहण करने से मलिन व्यक्ति भी सम्मान को प्राप्त करते हैं। यह बात यथार्थ है, क्योंकि भगवान के मस्तक का आश्रय पाने वाले मलिन केशों को भी देवों द्वारा पूज्यता प्राप्त हुई।

वस्त्राभरणमाल्यानि यान्युन्मुक्तान्यधोक्षिता।
तान्यप्यनन्यसामान्यां निभ्युरत्युरत्युद्धतिं सुराः ॥१६०५॥

भगवान ने वस्त्र-आभूषण तथा माला आदि का त्याग किया था। देवों ने उन सबकी असाधारण पूजा की थी।

जिस वटवृक्ष के नीचे भगवान ने मुनि पदवी अंगीकार करते हुये निर्ग्रंथ दीक्षा ली थी, वह वृक्ष आदर योग्य हो गया। आज भी वैदिक लोग उस वटवृक्ष को 'अक्षय वट' मानकर आदर करते हैं।

महान आत्माओं के जीवन से सम्बन्धित होने वाले छोटे तथा लघु भी पदार्थ गौरव को प्राप्त होते हैं। एकेन्द्रिय वृक्ष भी महत्वपूर्ण माना जाता है। केवल ज्ञान का वृक्ष 'अशोक वृक्ष' के रूप में प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है।

वृक्ष तो सचेतन है। भूमि भी आदर की पात्र बनती है। महान आत्माओं का प्रभाव अचिंत्य है उनसे सम्बन्धित वस्तुओं के प्रति आदर का भाव व्यक्त करने के भीतर प्रभु के प्रति श्रद्धा भक्ति का भाव निहित है। यदि ऐसी दृष्टि न हो, तो फिर वही भक्ति लोक मूढ़ता का रूप धारण कर सम्यक्त्व की ज्योति को बुझा देती है। दृष्टि स्वच्छ तथा विमल होनी चाहिये।

जिस चैत कृष्णा नवमी के दिन भगवान ऋषभनाथ भगवान तीर्थंकर ने समस्त परिग्रह को पाप सदृश निश्चय कर त्याग किया था तथा निर्ग्रन्थ बने थे, वह दिन धन्य माना जाने लगा। सर्व साधन सम्पन्न जिन भगवान का समस्त परिग्रह त्याग महान विशुद्धि का कारण होता है।

दीक्षावृक्षों की ऊंचाई—

दीक्षा वृक्षों की ऊंचाई—श्री महावीर स्वामी को छोड़कर बाकी सब तीर्थंकरों के दीक्षा वृक्षों की ऊंचाई उनके शरीर के बारह गुनी अधिक समझना चाहिये। महावीर भगवान का दीक्षा वृक्ष ३२ धनुष ऊँचा था।

दान तीर्थ की प्रवृत्ति—

दान तीर्थ की प्रवृत्ति—लाभांतराय का क्षयोपशम होने पर विवेक, विज्ञा-

नादि सात गुणों से समलंकृत महाराज श्रेयांस ने राजभवन में अक्षय तृतीया को एक वर्ष, एक माह नव दिन के पश्चात् तीन लोक के नाथ आदिनाथ प्रभु को इक्षु रस का आहार दिया। प्रभु के कर कमल में पड़ती हुई इक्षु रस की धारा पुण्य की धारा सदृश प्रतीत होती थी। इस दान में विधि, द्रव्य, दाता, पात्र, सभी श्रेष्ठ होने से यह उत्तम श्रेणी का पात्र दान माना गया। यद्यपि वह इक्षु रस मूल्य रहित था, इससे उसके देने से श्रेयांस महाराज को कोई उल्लेखनीय लोभ का त्याग नहीं करना पड़ा, फिर भी चक्रवर्ती भरतेश्वर ने महाराज श्रेयांस को महादान पति कहा है। महापुराण-कार कहते हैं—

ततो भरतराजेन श्रेयानप्रच्छि सादरम्।
महादानपते ब्रूहि कथं ज्ञातमिदं त्वया ॥१६०६॥

उत्तम पात्र के दान की महिमा अवर्णनीय है। चक्रवर्ती भरत कहते हैं, हे श्रेयांस! तुम दान तीर्थंकर हो। तुम महान पुण्यवान हो। 'त्वं दानतीर्थ कृच्छ्रायान् त्वं महापुराण भाषसि।

पंचाश्चर्य—देवताओं ने इक्षुधारा से स्पर्धा करते हुये आकाश से रत्नों की धारा पृथ्वी पर बरसाई थी। मंद सुगन्ध तथा शीतल पवन बहने लगी थी। दिव्यपुष्पों की वृष्टि हुई थी। जय-जय शब्द का उद्घोष हो रहा था। देवदुन्दुभि की मधुर-ध्वनि हुई थी। इस प्रकार पंचाश्चर्य हुये थे। इस श्रेष्ठ पात्र दान के प्रभाव से दाता की देवताओं ने अभिषेक सहित पूजा की थी। हरिवंश पुराज में कहा है—

अभ्यर्चिते तपोवृद्ध्यै धर्मतीर्थंकरे गते।
दान तीर्थंकरं देवाः साभिषेकम पूजयन् ॥१६०७॥

धर्म तीर्थंकर वृषभदेव भगवान् की पूजा के पश्चात् तपोवृद्धि के हेतु प्रस्थान करने के अनन्तर देवताओं ने दानतीर्थंकर महाराज श्रेयांस की अभिषेक पूर्वक पूजा की।

भगवान को प्रथमदान देने का प्रभाव—

तीर्थंकरों का सर्वप्रथम आहारदान और दान की महिमा—तीर्थंकर भगवान के सर्वप्रथम आहारदान की बड़ी महिमा बताई गई है। हरिवंश पुराण में कहा है कि अजितनाथ आदि तेईस तीर्थङ्करों ने तीसरे दिन प्रथम पारणा की है कि 'तृतीये दिवसेऽन्येषां प्रथमा पारणा यता। जिनेन्द्र भगवान को प्रथम पारणा के दिन क्षीरादि

निर्मित पदार्थों के दाता नररत्नों की सर्वत्र स्तुति की गई । उत्तम पात्र का आहारदाता या तो उसी भव में मोक्ष को प्राप्त करता है या स्वर्ग का सुख भोग कर वह तीसरे भव में मुक्ति को पाता है । भगवान को प्रथम बार आहार देने वाले व्यक्ति के भाव अवर्णनीय उज्ज्वलता प्राप्त करते हैं । इससे वह उत्तम दाता शीघ्र ही तप की शरण ग्रहण कर अपना उद्धार करता है । हरिवंश पुराण में कहा है—

तपः स्थिताश्च ते केचित्सिद्धास्तेनैव जन्मना ।
जिनांते सिद्धिस्तेषां तृतीये जन्मवि स्मृताः ।।१६०८।।

यह तो आध्यात्मिक श्रेष्ठ लाभ है, कि दाता मोक्ष को प्राप्त होता है । तत्काल दाता के भवन में अधिक से अधिक साढे बारह करोड़ और कम से कम इसका हजारवां भाग अर्थात् १२५००० एक लाख पच्चीस हजार रत्नों की वर्षा होती है । सत्पात्र के दान की अपार महिमा है । पंचाश्चर्य सत्पात्र को आहार दान देने में ही प्राप्त होते हैं । इससे इसकी महत्ता इतरदानों की अपेक्षा स्पष्ट ज्ञात होती है । इसका कारण यह है कि इस आहारदान से वीतराग मुनियों की रत्नत्रय के परिपालन में विशिष्ट सहायक उनके पवित्र शरीर का रक्षण होता है । गृहस्थ स्वयं श्रेष्ठ तप नहीं कर पाता है, किन्तु अपनी न्यायपूर्वक प्राप्त द्रव्य के द्वारा महाव्रती का सहायक बनता है । इस कारण पात्रदान द्वारा गृहस्थ के जीवनोपाय के षट्कर्मों अर्थात् असि, मषी, कृषि, वाणिज्य, शिल्प और पशुपालन तथा चक्की, चूल्हा, बुहारी, उखली और पानी आदि पंचसूना क्रियाओं द्वारा अर्जित महान् दोषों का क्षय होता है ।

क्या दूध दूषित है—

दूध को दूषित सोचना यह दृष्टि विचार शून्य है—ऋषभनाथ भगवान ने इक्षु रस लिया था, यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध है । शेष तीर्थंकरों ने गोक्षीर से बनाये हुये श्रेष्ठ अन्न (खीर) का आहार किया था । कहा भी है—

आद्येनेक्षुरसो दिव्यः पारणायां पवित्रितः ।
अन्यैर्गोक्षीर निष्पन्नपरमान्नमलालसैः ।।१६०९।।

आजकल कोई लोग नवयुग के वातावरण से प्रभावित होकर दूध को मांस सदृश दूषित सोचते हैं । यह दृष्टि विचार शून्य है । दूध यदि सदोष होता, तो परम दयालु सर्व परिग्रहत्यागी तथा समस्त सुखों का परित्याग करने वाले तीर्थंकर भगवान उसको आहार में क्यों ग्रहण करते । मधुर होते हुए भी मधु को, नवनीत आदि को

जीव दया के विघातक होने से जैसे जिनागम में त्याज्य कहा है 'उसी प्रकार वे त्रिकालदर्शी महापुरुष जिनेन्द्र दूध को भी त्याज्य कह देते। दूध दुहने के बाद अंतर्मुहूर्त अर्थात् ४८ मिनट के भीतर उसे उष्ण करने से वह निर्दोष हो जाता है, ऐसा जैनाचार के ग्रन्थों में वर्णन है। भगवान को दूध में सदोषता ज्ञात होती तो वे तीर्थंकर भगवान की मूर्ति के अभिषेक के लिये दूध का क्यों विधान करते ? पद्मपुराण में भगवान के जल, घृतादि के द्वारा अभिषेक का महत्त्व बताते हुये लिखा है—

अभिषेकं जिनेन्द्राणां विधाय क्षीरधारया।
विमाने क्षीरधवले नराणां जायते द्युतिः ॥१६१०॥

जो जिनेन्द्र भगवान का दुग्ध की धारा द्वारा अभिषेक करते हैं, वे क्षीर सदृश धवल विमान में जन्म लेकर निर्मल दीप्ति को प्राप्त करते हैं।

हरिवंश पुराण में भी उक्त कथन का इस प्रकार समर्थन किया गया है—

क्षीरेक्षुरसधारोघैः घृतदध्युदकादिभिः।
अभिषिच्य जिनेन्द्रार्चामर्चिता नृसुरासुरैः ॥१६११॥

क्षीर तथा इक्षुरस की धारा के प्रवाह द्वारा तथा घृत दधि जल आदि से जिनेन्द्र देव की अभिषेक पूर्वक जो पूजा करता है, वह मनुष्यों तथा सुरासुरों द्वारा पूजित होती है।

दूध के विषय में आयुर्वेद शास्त्र कहता है कि भोजन पहले खल भाग रूप परिणत होता है। इसके पश्चात् वह रस रूपता धारण करता है। बनने के अनन्तर दूध का रक्त बनता है। धारोष्ण दूध को इसीलिये आयुर्वेद में महत्त्वपूर्ण कहा है कि तत्काल ही शरीर में जाकर रुधिररूप पर्याय को शीघ्र प्राप्त करता है। दूध को गोरस कहने से स्पष्ट होता है कि वह रस रूप पर्याय है। दूध के दुहने से गाय क्षीण नहीं होती, किन्तु रक्त के निकालने से उस जीव में क्षीणता आती है, वेदना की वृद्धि होती है। दूध के सेवन से सात्विक भावों का उदय होता है। रुधिर मांसादि सेवी नर राक्षस बन जाते हैं। दूध में मांस का दोष माना जाय, तो सभी मनुष्य मांसभक्षी व्याघ्र आदि की श्रेणी में आ जावेंगे, क्योंकि बिना दूध पिये बालक का प्रारम्भिक जीवन ही असंभव है। शरीर रचना की दृष्टि से मनुष्य की समानता शाक तथा फलभोजी प्राणियों के साथ है। मांस भक्षी निरन्तर अशान्त, क्रूर, चंचल तथा दुष्ट स्वभाव वाले होते हैं। दूध के सेवन से ऐसी बात नहीं होती है।

जो दूध को सदोष सोचते हैं, वे पानी भी नहीं पी सकते ? पानी में जलचर जीवों का सदा निवास रहता है। उनका जन्म-मरण उसी के भीतर होता रहता है। उनका मलमूत्रादि भी उसके भीतर हुआ करता है, फिर भी लोक जल को पवित्र मानते हैं। इसी प्रकार गतानुगतिकता या अंध परम्परा का त्याग कर यदि मनुष्य मस्तिष्क अनुभव तथा सद्विचार से काम लेगा, तो उसे शुद्ध साधनों द्वारा प्राप्त, मर्यादा के भीतर उष्ण किया गया तथा सावधानीपूर्वक शुचिता के साथ सुरक्षित किया गया दूध अभक्ष्य कोटि के योग्य नहीं देखेगा। यह देखकर आश्चर्य होता है कि सरासर अशुचि भोजन पान को करते हुये मांसाहार दोष के दोषी लोग अहिंसात्मक प्रवृत्ति वालों के उज्जवल कार्यों को भी सकलंक सोचते हैं। उन्हें रात्रि भोजन में दोष नहीं दिखता, अनछने जल के पीने में संकोच नहीं होता। अशुद्ध आहार आदि के भक्षण करने में तथा मधु सेवन करने में निर्दोषता दिखती है। मधु की एक बिन्दु भक्षण करने में सात गांवों के ध्वंस बराबर जीव घात का पाप लगता है, किन्तु ये उसे निर्दोष, बलदायक मानकर बिना संकोच के सेवन करते हैं और अपने को अहिंसा व्रती सोचते हैं। अहिंसा के क्षेत्र में अंतिम प्रामाणिक निर्णय दाता के रूप में जिनेन्द्र की वाणी की प्रतिष्ठा है। उस जिनागम के प्रकाश में दूध के विषय से अभक्ष्यता का भ्रम दूर करना चाहिये। वैसे रसपरित्यागव्रती घी दूध आदि का त्याग इन्द्रियजय की दृष्टि से किया करता है।

दिव्यध्वनि का विशेष स्वरूप—

दिव्य ध्वनि के विशेष विचार—मृदु, मधुर, अतिगंभीर और एक योजन प्रमाण समवशरण में रहने वाली बारह प्रकार की सभाओं में विद्यमान देव, मनुष्य और तिर्यञ्चादि सब संज्ञी भव्य जीवों को युगपत् प्रतिबोधित करने वाली दिव्य ध्वनि होती है। जैसे मेघ का पानी एक रूप है तो भी वह नाना वृक्ष और वनस्पतियों में जाकर नाना रूप परिणत हो जाता है, उसी तरह दांत, तालु-ओठ और कंठ आदि के हलन चलन से रहित वह वाणी १८ महाभाषा और ६०० क्षुद्र भाषाओं में परिणत होकर युगपत् समस्त भव्यजनों को आनन्द प्रदान करती है।

अर्ध मागधी यह नाम भाषारूप है। कहा भी है—

मागध्यावन्तिका प्राच्या शौरसेन्यर्धमागधी।
बाह्लीकीदाक्षिणात्याच्च भाषाः सप्त प्रकीर्तिताः ॥१६१२॥

मागधी, आवन्तिका, प्राच्या, शौरशैनी. अर्धमागधी, बाहीकी तथा दाक्षिणात्या इस तरह सात प्रकार की प्राकृत भाषायें है। इसमें एक अर्धमागधी भाषा है।

तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि मगध नाम के व्यन्तर देवों के निमित्त से सर्व जीवों को भली प्रकार सुनाई पड़ती थी। आचार्य पूज्यपाद द्वारा रचित नन्दीश्वर भक्ति में इस अर्धमागधी भाषा का नाम सार्वार्धमागधी लिखा है 'सर्वार्धमागधी वा भाषा' (५) टीकाकार आचार्य प्रभाचन्द्र ने लिखा है, सर्वेभ्यो हितसार्वा। सा चासौ अर्ध-मागधीया च।' सबके लिये हितकारी को सार्व कहते हैं। सार्व तथा जो अर्धमागधी भाषा थी, उसका नाम सर्वार्धमागधी होगा। पूज्यवाद स्वामी ने सर्व के स्थान पर सार्व शब्द को ग्रहण कर यह अर्थ सूचित किया है कि भगवान की वाणी सम्पूर्ण जीवों के लिए हितकारिणी थी।

प्रश्न :—जब दिव्यध्वनि को भगवान के अष्ट प्रातिहार्यों में गिना है, तब उस जिनेन्द्र वाणी को सर्वार्धमागधी भाषा का नाम देवोपनीत अतिशयों में गिनने का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर :—मगधदेव के सन्निधान होने पर जिनेन्द्र की वाणी को सम्पूर्ण जीव भली प्रकार ग्रहण करने में तथा उससे लाभ उठाने में समर्थ हो जाते हैं। आज वक्ता की वाणी को ध्वनि वाहक (लाउडस्पीकर) यंत्र द्वारा दूरवर्ती श्रोताओं के कानों के पास पहुंचाया जाता है। उस यंत्र की सहायता से वाणी समीप में अधिक उच्च स्वर से श्रवण गोचर होती है। और कहीं उसका स्वर मन्द होता है। परन्तु जिनेन्द्र की ध्वनि प्रतीत होता है, कि मगध देवों के सन्निधान से सभी जीवों को समान रूप से पूर्ण स्पष्ट और अत्यन्त मधुर सुनाई पड़ती है। जिनेन्द्र देव से उत्पन्न दिव्य ध्वनि रूपी जलराशि को मगध देव रूपी सहायकों के द्वारा भिन्न-भिन्न जीवों के कर्ण प्रदेश के समीप सरलतापूर्वक पहुंचाया जाता है। जैसे सरोवर का जल नल के माध्यम से जनता के समीप जाता है और जनता उसे नल का पानी यह नाम प्रदान करती है। प्रतीत होता है कि भगवान की वाणी को भिन्न-भिन्न जीवों के समीप पहुंचाकर उसे सुख पूर्वक श्रवण योग्य बनाने आदि के पवित्र कार्य में अपनी सेवा से तथा सामर्थ्य समर्पण करने के कारण भगवान की सार्ववाणी को सार्वार्धमागधी नाम प्राप्त होता है। जब मगध देव उस भगवद वाणी की सेवा करते हैं तो महात्माओं की सेवा का उन्हें यह पुरस्कार प्राप्त होता है कि उस श्रेष्ठ वाणी में सेवक के नाते उनका भी

नाम आता है। समशरण में जिस वाणी को सुनकर भव्य जीव अपनी भव बाधा को दूर करने योग्य बोध प्राप्त करते हैं, वह वाणी जिनेन्द्र देव के द्वारा उद्भूत हुई है, और मागध देवों के सहयोग से भव्यों के समीप पहुँची है। जब उस वाणी की श्रोताओं को उपलब्धि द्विविध कारणों से होती है, तब द्वितीय कारण को उस कार्य का आधा श्रेय स्थूल दृष्टि से दिया जाना अनुचित प्रतीत नहीं होता।

प्रश्न :—कोई-कोई यह सोचते हैं कि राजगिरि नगर जिस प्रान्त की राजधानी थी। उस मगध देश की भाषा के अर्धक शब्द भगवान की दिव्यध्वनि में रहे होंगे अथवा भगवान प्राकृत भाषा के उपदेश रूप अर्धमागधी नाम की भाषा में बोलते होंगे ?

उत्तर :—लोक रूचि के परितोष के लिए उपरोक्त समाधान देते हुये कोई-कोई विद्वान देखे जाते हैं, किन्तु आगम की पृष्ठ भूमि उक्त समाधान को आश्रय नहीं देती है। सूक्ष्म तथा अतीन्द्रिय विषयों पर साधिकार एवं निर्दोष प्रकाश डालने की क्षमता सम्पन्न आगम कहता है कि भगवान की वाणी किसी एक भाषा में सीमित नहीं होती है। सर्व विद्या के ईश्वर सर्वत्र एक ही भाषा का उपयोग करेंगे और अन्य देश तथा अन्य प्रान्त की बहुसंख्यक जनता के कल्याणार्थ अपनी पूर्व प्रयुक्त भाषा में परिवर्तन नहीं करेंगे। यह बात अन्तःकरण को अनुकूल प्रतीत नहीं होती है। उदाहरणार्थ, भगवान जब राजगृह के समीप विपुलाचल पर विराजमान थे। तब मगध देश की मागधी भाषा में विशेष जन के कल्याण को लक्ष्य कर उपदेश देना उचित तथा आवश्यक प्रतीत होता है, किन्तु म्हैसूर प्रान्त में भव्य जीवों के पुण्य से पहुँचने वाले परम पिता जिनेन्द्र देव यदि कानड़ी भाषा का आश्रय लेकर तत्व निरूपण करें तो अधिक उचित बात होगी। जिनेन्द्र देव की सम्पूर्ण बातें उचित और निर्दोष ही होती हैं। ऐसी स्थिति में सर्वत्र सर्वदा मागधी नाम की मगध प्रांत विशेष की भाषा में प्रभु का उपदेश होता है, यह मान्यता सुदृढ़ तर्क पर आश्रित नहीं दिखती है।

महान तपश्चर्या, विशुद्ध सम्यग्दर्शन, परमयथाख्यात चारित्र, केवल ज्ञान आदि श्रेष्ठ सामग्री का सन्निधान प्राप्तकर समुद्भूत होने वाली सम्पूर्ण जीवों की शाश्वतिक शान्तिदायिनी भगवद् वाणी को सामान्य संसारी प्राणियों की भाषा से तुलनाकर दोनों को समान समझने का प्रयत्न सफल नहीं हो सकता है। वह वाणी

लोकोत्तर है, और लोकोत्तम योगिराज जिनेन्द्र देव की है। भोगिराज योगिराज की विद्या, विभूति और सामर्थ्य का लेश मात्र भी प्राप्त नहीं कर सकते हैं। रेत का एक कण और पर्वत कैसे दोनों समान रूप से विशाल कहे जा सकते हैं। महान तार्किक विद्वान समन्तभद्र जिनेन्द्र की प्रवृत्तियों के गम्भीर चिंतन के पश्चात् इस परिणाम पर पहुँचते हैं, कि जिनेन्द्र के कार्य आश्चित्य हैं। 'धीर! तावकमचित्यमोहितम्।' (७४ स्वयंभू स्तोत्र) उन्होंने धर्मनाथ जिनेन्द्र के विषय में लिखा है :—

मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान् देवतास्वपि च देवता यतः।
तेन नाथ परमासि देवता श्रेयसे जिनवृष प्रसीद नः ॥१६१३॥

हे धर्मनाथ जिनेन्द्र! आपने निर्दोष अवस्था को प्राप्त कर मानव प्रकृति की सीमा का अतिक्रमण किया है, अर्थात् मानव समाज में पाई जाने वाली अपूर्णताओं तथा असमर्थताओं से आप उन्मुख हैं। आप देवताओं में भी देव स्वरूप हैं, इसलिए हे स्वामिन् आप परम देवता हैं। हम पर कल्याण के हेतु प्रसन्न हों।

योगियों की अद्भुत तपस्याओं के प्रसाद से जो फल रूप में सिद्धियां प्राप्त होती हैं, उनसे समस्त विश्व विस्मय के सिंधु में डूब जाता है। समीक्षक सिद्धियों के अद्भुत परिपाक को देखकर हतबुद्धि बन जाता है। वह यदि इन जिनेन्द्रों की उत्कृष्ट रत्नत्रय धर्म की समाराधना को ध्यान में रखे, तो वह चमत्कारों को देख श्रद्धा से विनत मस्तक हुए बिना न रहेगा। दीक्षा से लेकर केवलज्ञान तक महामौन स्वीकार करने वाले तीर्थङ्करों की वाणी में लोकोत्तर प्रभाव पाया जाना तर्क दृष्टि से पूर्ण संगत तथा उचित है। जब भगवान का प्रभामंडल रूप प्रातिहार्य सहस्त्र सूर्य के तेज को जीतता हुआ समवशरण में दिन रात्रि के भेदों को दूर करता हुआ भव्य जीवों को उनके सात भव दिखाने वाले अलौकिक दर्पण का काम करता है, तो भगवान की दिव्य ध्वनि महान् चमत्कार पूर्ण प्रभाव दिखाये तो यह पूर्णतया उचित प्रतीत होता है। चन्द्र प्रभ काव्य में दिव्य ध्वनि के विषय मे लिखा है :—

सर्वभाषास्वभावेन ध्वनिनाथ जगद्गुरुः।
जगाद गणिनः प्रश्नादिति तत्वं जिनेश्वरः ॥१६१४॥

जगत के गुरु चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र ने गणधर के प्रश्न पर सर्व भाषा स्वभाव वाली दिव्यध्वनि के द्वारा तत्वों का उपदेश दिया।

हरिवंश पुराण में भगवान की दिव्यध्वनि को हृदय और कर्ण के लिए

रसायन लिखा है :—'चेतः कर्ण रसायनं ।' उन्होंने यह भी लिखा है :—

जिन भाषाऽधरस्पंद मंतरेण विजृंभिता ।
तिर्यग्देव मनुष्याणां दृष्टिमोहमनीनशत् ॥१६१५॥

ओष्ठ कंपन के बिना उत्पन्न हुई जिनेन्द्र की भाषा ने तिर्यञ्च, देव तथा मनुष्यों की दृष्टि सम्बन्धी मोह को दूर किया था ।

पूज्यपादस्वामी उस दिव्यध्वनि के विषय में यह कथन कहते हैं :—

ध्वनिरपि योजनमेकं प्रजायते श्रोत्रहृदयहारिगं भीरः ।
ससलिल जलधरपटल ध्वनितामिव प्रथितसान्तराशाचलयं ॥२२॥

जिनेन्द्र भगवान की दिव्य ध्वनि श्रोत्र तथा कर्ण तथा हृदय को सुखदाई तथा गंभीर होती है । वह दिव्यध्वनि सलिल से परिपूर्ण मेघ पटल की ध्वनि के समान दिगंतर में व्याप्त होती हुई एक योजन तक पहुँचती है । महापुराणकार जिनसेन स्वामी का कथन है :—

एकतयोपि यथैव जलौघश्चित्ररसो भवति द्रुमभेदात् ।
पात्र विशेषवशाच्च तथायं सर्वविदो ध्वनिरापि बहुत्वं ॥१६१६॥

जिस प्रकार एक प्रकार के पानी का प्रवाह वृक्षों के भेद से अनेक रस रूप परिणत हो जाता है, उसी प्रकार यह सर्वज्ञ देव के दिव्यध्वनि एक रूप होते हुए भी पात्रों के भेद से विविध रूपता को प्राप्त होती है । कर्नाटक की कानड़ी भाषा के जैन व्याकरण में यह उपयोगी श्लोक आया है :—

गंभीर मधुरं मनोहरतरं दोषव्यपेतं हित ।
कंठौष्ठादि वचोनिमित्तरहितं नो वातरोधोद्गतं ॥
स्पष्टं तत्तदभीष्टवस्तुकथकं निःशेषभाषात्मकं ।
दूरासन्नसमं शमं निरूपमं जैनं वचः पातु नः ॥१६१७॥

गम्भीर, मधुर, अत्यन्त मनोहर, निष्कलंक, कल्याणकारी, कंठ, ओष्ठ, तालु आदि वचन उत्पत्ति के निमित्त कारणों से रहित, पवन के रोध बिना उत्पन्न हुई, स्पष्ट श्रोताओं के लिए अभिष्ट तत्त्वों का निरूपण करने वाली सर्व भाषा स्वरूप, समीप तथा दूरवर्ती जीवों को समान रूप से सुनाई पड़ने वाली, शांति रस से परिपूर्ण तथा उपमा रहित जिनेन्द्र भगवान की दिव्य ध्वनि हमारी रक्षा करे ।

तिलोयपण्णत्ति में इस दिव्य ध्वनि के विषय में यह बताया है कि दिव्य-

ध्वनि १८ महाभाषा ७०० लघु भाषा तथा और भी संज्ञी जीव जीवों की भाषा रूप परिणत होती है। यह तालु, दन्त, ओष्ठ और कन्ठ की क्रिया से रहित होकर एक ही समय में भव्य जीवों को उपदेश देती है।

एवकाले भव्यजागे दिव्यभासित्तं (४-६०२)

भगवान की दिव्य ध्वनि प्रारम्भ में अनक्षरात्मक होती है, इसलिए उस समय केवली भगवान के अनुभय वचन योग माना गया है। पश्चात् श्रोताओं के कर्ण प्रदेश को प्राप्त कर सम्यग्ज्ञान को उत्पन्न करने से केवली भगवान के सत्य वचन योग का सद्भाव भी आगम में माना है। गोम्मटसार की संस्कृत टीका में इस प्रसंग पर महत्व पूर्ण बात कही है। 'सयोगकेवलि दिव्यध्वनेः कथं सत्यानुभय वाग्योगत्व-मितिचेत् तत्र तदुत्पत्तावनक्षरात्मकत्वेन श्रोतृ-श्रोत्र-प्रदेश प्राप्ति समय पर्यन्तमनुभय-भाषात्वसिद्धेः। तदनन्तरं च श्रोतृजनाभिप्रेतार्थेषु संशयादि निराकरणेन सम्यग्ज्ञान-जनकत्वेन सत्यवाग्योगत्वसिद्धेश्च तस्यापि तदुभयत्वं घटनात्' (गो. जी. गाथा २२७ पृ० ४८८)।

प्रश्न :—सयोग केवली की दिव्यध्वनि को किस प्रकार सत्य अनुभय वचन योग कहा है ?

उत्तर :—केवली की दिव्यध्वनि उत्पन्न होते ही अनक्षरात्मक रहती है, इसलिए श्रोताओं के कर्ण प्रदेश से सम्बन्ध होने के समय तक अनुभय वचन योग सिद्ध होता है। इसके पश्चात् श्रोताओं के इष्ट अर्थों के विषय में संशय आदि को निराकरण करने से तथा सम्यग्ज्ञान को उत्पन्न होने से सत्य वचन योग का सद्भाव सिद्ध होता है। इस प्रकार केवली के सत्य और अनुभय वचन योग सिद्ध होते हैं।

इस कथन से ज्ञात होता है कि श्रोताओं के समीप पहुँचने के पूर्व वाणी अनक्षरात्मक रहती है, पश्चात् भिन्न-भिन्न श्रोताओं का आश्रय पाकर वह दिव्य ध्वनि अक्षर रूपता को धारण करती है। स्वामी समन्तभद्र ने जिनेन्द्र देव की वाणी को सर्वभाषा स्वभाव वाली कहा है, यथा—

तव वागमृतं श्रीमत्सर्वभाषास्वभावकम्।
प्रीणयत्यमृतं यद्वत्प्राणिनो व्यापि संसदि ॥१६१८॥

श्री सहित तथा सर्व भाषा स्वभाव वाली आपकी अमृत वाणी समवशरण में व्याप्त होकर अमृत की तरह प्राणियों को आनन्दित करती है।

महापुराणकार दिव्यध्वनि को अक्षरात्मक कहते हुए इस प्रकार प्रतिपादित करते हैं—

देवकृतो ध्वनिरित्यसेवतद् देवगुणस्य तथा विहतिः स्यात् ।
साक्षर एव च वर्णसमूहान्नैव विनार्थगतिर्जगति स्यात् ॥१६१९॥

कोई लोग कहते हैं कि दिव्यध्वनि देवकृत है । यह कथन वास्तविक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से जिनेन्द्र भगवान के अतिशय गुण का व्याघात होता है । वह दिव्यध्वनि अक्षरात्मक ही है (यहां 'ही' वाचक 'एव' शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है) कारण अक्षरों के समूह के बिना लोक में अर्थ का बोध नहीं होता है ।

जयधवला टीका में जिनसेन स्वामी के गुरु वीरसेनाचार्य ने दिव्यध्वनि के विषय में ये शब्द कहे हैं—केरिसा सा (दिव्वज्झुणी) ? सव्वभासा-सरूवा, अक्खराणक्खरप्पिया, अणन्तत्थ-गब्भ बीजपदघडियसरीरा' (भाग १ पृ० १२६)

वह दिव्यध्वनि किस प्रकार की है ? वह सर्वभाषा स्वरूप है । अक्षरात्मक अनक्षरात्मक है । अनन्त अर्थ है गर्भ में जिसके, ऐसे बीजपदों से निर्मित शरीर वाली है अर्थात् उसमें बीजपदों का समुदाय है ।

चौसठ ऋद्धियों के बीज बुद्धि नाम की ऋद्धि का भी कथन आता है । उसका स्वरूप राजवार्तिक में इस प्रकार कहा है—जैसे हल के द्वारा सम्यक् प्रकार से तैयार की गई उपजाऊ भूमि में योग्य काल में बोया गया एक भी बीज बहुत बीजों को उत्पन्न करता है, उसी प्रकार नो इन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण तथा वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम के प्रकर्ष से एक बीज पद के ज्ञान द्वारा अनेक पदार्थों को जानने की बुद्धि को बीजबुद्धि कहते हैं—'सुकृष्ट सुमथिते क्षेत्रे सारवति कालादिसहायापेक्षं बीज-मेकमुप्तं यथानेकबीजकोटिप्रदं भवति तथा नोइन्द्रियावरण–श्रुतावरण, वीर्यान्तराय क्षयोपशम प्रकर्षे सति एक बीजपद ग्रहणादनेक पदार्थ प्रतिपत्तिर्बीजबुद्धिः'

(रा० वा० अध्याय ३ सूत्र ६६ पृ० १४३)

इस सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि जिनेन्द्रदेव की बीजपदयुक्त वाणी को गणधर देव बीजबुद्धि ऋद्धिधारी होने से अवधारण करके द्वादशांग रूप रचना करते हैं ।

इस प्रसंग में यह बात विचार योग्य है कि प्रारम्भ में भगवान की वाणी को झेलकर गणधर देव द्वादशांग की रचना करते हैं, अतः उस वाणी में बीजपदों का

समावेश आवश्यक है, जिनके आश्रय से चार ज्ञान धारी महर्षि गणधर देव अंगपूर्वों की रचना करने में समर्थ होते हैं। वीर भगवान की दिव्यध्वनि को गौतमगणधर देव सुनकर 'बारहंगाणं चोद्दस पुव्वाणं च गंथाणमेक्केण चेव मुहुत्तेण कमेणरयणा कदा' (धवला टीका भाग १ पृ. ६५) द्वादशांग तथा चौदहपूर्व रूप ग्रन्थों की एक मुहुर्त में क्रम से रचना की।

इसके पश्चात् भी तो महावीर भगवान की दिव्यध्वनि खिरती रही है। श्रोतृमण्डली को गणधर देव द्वारा दिव्यध्वनि के समय के पश्चात् उपदेश प्राप्त होता है। जब दिव्यध्वनि खिरती है, तब मनुष्यों के सिवाय सज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च, देवादि भी अपनी-अपनी भाषाओं मे अर्थ को समझते हैं। इससे वीरसेन स्वामी ने उस दिव्य वाणी को 'सव्वभाषा-सरुवा' सर्वभाषा स्वरूपा, भी कहा है। उस दिव्यवाणी की यह अलौकिकता है कि उस दिव्यवाणी से गणधर देव सदृश महानुभाव ज्ञान के सिन्धु भी अपने लिये अमूल्यज्ञान निधि प्राप्त करते हैं। तथा महान मंदमति प्राणी, सर्प, गाय, व्याघ्र, कपोत, हंसादि पशु-पक्षी भी अपने-अपने योग्य ज्ञान की सामग्री प्राप्त करते हैं।

उपरोक्त समस्त कथन पर गम्भीर विचार तथा समन्वयात्मक दृष्टि डालने पर प्रतीत होता है कि जिनेन्द्र देव की दिव्यध्वनि अलौकिक वस्तु है, अनुपम है और आश्चर्य-प्रद है। उस वाणी के समान विश्व में अन्य कोई वाणी नहीं है। वाणी की लोकोत्तरता में कारण तीर्थंकर भगवान की त्रिभुवन वंदित अनन्त सामर्थ्य समलंकृत व्यक्तित्व है। श्रेष्ठ सामर्थ्यधारी गणधर देव, महान महिमाशाली सुरेन्द्र आदि भी प्रभु की अपूर्व शक्ति से प्रभावित होते हैं। योग के द्वारा जो चमत्कार युक्त वैभव दिखाई पड़ता है, वह स्थूलदृष्टि वालों की समझ में नहीं आता है, अतएव वे विस्मय के सागर में डूबे ही रहते है। दिव्यध्वनि तीर्थंकर प्रकृति के विपाक—उदय की सबसे महत्त्वपूर्ण वस्तु है, क्योंकि तीर्थंकर प्रकृति कर्म का बंध करते समय केवली, श्रुत-केवली के पादमूल में इसी भावना का बीज बोया गया था कि इस बीज से ऐसा वृक्ष बने, जो समस्त प्राणियों को सच्ची शांति तथा मुक्ति का मंगल संदेश प्रदान कर सके। मनुष्य पर्याय रूपी भूमि में बोया गया यह तीर्थंकर प्रकृति रूप बीज अन्य साधन सामग्री पाकर केवली की अवस्था में अपना वैभव तथा परिपूर्ण विकास दिखाता हुआ त्रैलोक्य के समस्त जीवों को विस्मय में डालता है। आज भगवान ने

इच्छाओं का अभाव कर दिया है, फिर भी उनके उपदेश आदि कार्य ऐसे लगते हैं, मानों वे इच्छाओं द्वारा प्रेरित हों। इसका यथार्थ में समाधान यह है कि पूर्व की इच्छाओं के प्रसाद से भी कार्य होता है। जैसे घड़ी में चाबी भरने के पश्चात् वह घड़ी अपने आप चलती है, उसी प्रकार तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करते समय जिन कल्याणकारी भावों का संग्रह किया गया था, वे ही बीज अनन्तगुणित होकर विकास को प्राप्त हुये हैं। अतः केवली की अवस्था पूर्व संचित पवित्र भावना के अनुसार सब जीवों को कल्याणकारी, सामग्री प्राप्त होती है।

दिव्यध्वनि के विषय में कुन्दकुन्दाचार्य के सूत्रात्मक ये शब्द बड़े महत्वपूर्ण प्रतीत होते हैं—'तिहुवण-हिद-मधुर-विसद-वक्काणं' अर्थात् दिव्यध्वनि के द्वारा त्रिभुवन के समस्त भव्य जीवों को हितकारी, प्रिय तथा स्पष्ट उपदेश प्राप्त होता है। जब छद्मस्थ तथा बाल अवस्था वाले महावीर प्रभु के उपदेश के बिना ही दो चारण ऋद्धिधारी महामुनियों की सूक्ष्म शंका दूर हुई थी तब केवलज्ञान, केवल दर्शनादि सामग्री संयुक्त तीर्थंकर प्रकृति के पूर्ण विपाक-उदय होने पर उस दिव्यध्वनि के द्वारा समस्त जीवों को उनकी भाषाओं में तत्व बोध हो जाता है, यह बात तनिक भी शंका योग्य नहीं दिखती है।

इस दिव्यध्वनि के विषय में धर्मशर्माभ्युदय का यह पद्य बड़ा मधुर तथा भावपूर्ण प्रतीत होता है—

सर्वाद्भुतमयीसृष्टिः सुधावृष्टिश्च कर्णयोः।
प्रावर्तत ततो वाणी सर्वविद्येश्वराद्विभोः ॥१६२०॥

सर्व विद्याओं के ईश्वर जिनेन्द्र भगवान के सर्व प्रकार के आश्चर्यों की जननी तथा कर्णों के लिए सुधा की वृष्टि के समान दिव्य ध्वनि उत्पन्न हुई। गोम्मटसार जीवकांड की संस्कृत टीका में लिखा है कि तीर्थंकर की दिव्यध्वनि प्रभात, मध्याह्न, सायंकाल तथा मध्यरात्रि के समय छह-छह घटिका काल पर्यन्त अर्थात् दो घण्टा चौबीस मिनिट तक प्रतिदिन नियम से खिरती है। इसके सिवाय गणधर, चक्रवर्ती, इन्द्र सदृश विशेष पुण्यशाली व्यक्तियों के आगमन होने पर उनके प्रश्नों के उत्तर के लिए भी दिव्यध्वनि खिरती है। इसका कारण यह है कि उन विशिष्ट पुण्याधिकारियों के संदेह दूर होने पर धर्म भावना बढ़ेगी और उससे मोक्षमार्ग की देशना का प्रचार होगा जो धर्म तीर्थंकर की तत्व प्रतिपादन की पूर्ति स्वरूप होगी। जीवकांड की

संस्कृत टीका में ये शब्द आए हैं—'घातिकर्मक्षयानन्तर केवलज्ञान सहोत्पन्नतीर्थंकरत्व पुण्यातिशय विजृंभितमहिम्नः तीर्थंकरस्य पूर्वाह्ण-मध्याह्नापरह्णार्धरात्रिषु षट् षट्घटिका-कालपर्यन्तं द्वादशगण सभामध्ये स्वभावतो दिव्यध्वनिरुद्गच्छति। एवं समुद्भूतो दिव्यध्वनिः समस्तासन्नश्रेतृगणानुद्दिश्य उत्तमक्षमादिलक्षणं रत्नत्रयात्मकं वा धर्मं कथयति' (पृष्ठ—७६१)

जय धवला टीका में लिखा है कि यह दिव्यध्वनि प्रातः, मध्यान्ह तथा सायं-काल इन तीन संध्याओं में छह-छह घड़ी पर्यन्त खिरती है—तिसंज्झं बिसयछच्चडियासु णिरंतरं पयट्टमाणिया' (भाग १ पृष्ठ—१२६)

तिलोयपण्णति में तीन संध्याओं में नवमुहूर्त पर्यन्त दिव्यध्वनि खिरने का उल्लेख है। कहा भी है—

पगदीए अक्खलिओ संझत्तिदयम्मि णवमुहुत्ताणि।
णिस्सरदि णिरुवमाणो दिव्वज्झुणी जाव जोयणयं ॥१६२१॥

तिलोयपण्णत्ति में यह भी कहा है कि 'गणधर इन्द्र तथा चक्रवर्ती के प्रश्नानुरूप अर्थ के निरूपणार्थ यह दिव्यध्वनि समयों में भी निकलती है, यह भव्य जीवों को छह द्रव्य, नौ पदार्थ, पांच अस्तिकाय और सात तत्वों का नाना प्रकार के हेतुओं द्वारा निरूपण करती है।

प्रश्न—(गोम्मटसार में) मध्यरात्रि को दिव्यध्वनि खिरने पर यह शंका की जा सकती है कि मध्यरात्रि को जीव निद्रा के वशीभूत रहते हैं। उस समय दिव्यध्वनि के खिरने से क्या उपयोग होगा ?

उत्तर—समवशरण में भगवान के प्रभामण्डल के प्रभाव से दिन और रात्रि का भेद नहीं रहता है। समवशरण में जाने वालों को निद्रा आदि की पीड़ायें भी नहीं होती हैं।

अनन्त सुख का स्वरूप—त्रिलोक सार में लिखा है कि मोहनीयादि चार घातिया कर्मों के क्षय से अनन्त चतुष्टय अर्थात् अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्तवीर्य ये चार गुण उत्पन्न होते हैं। यह भी लिखा है 'भोग्येष्वर्थेष्वनौत्सुक्य-मनन्तसुखतामता' अर्थात् भोगने योग्य पदार्थों में उत्सुकता का अभाव रहना इसको अनन्त सुख कहा है।

तीर्थंङ्करों के १८ दोष नहीं रहते हैं—१८ दोषों के नाम—१. क्षुधा (भूख),

२. तृषा (प्यास), ३. जन्म, ४. जरा (बुढ़ापा), ५. मरण, ६. विस्मय (आश्चर्य), ७. अरति, (पीड़ा) ८. खेद, (दुःख), ९. शोक, १०. रोग, ११. मद, गर्व) १२. मोह, १३. राग, १४. द्वेष, १५. भय, १६. निद्रा, १७. चिन्ता, १८. स्वेद (पसीना)। ये अठारह दोष केवली भगवान के नहीं होते हैं।

प्रश्न—ऋषभदेव के केवल ज्ञान का उद्यान कौन सा था ?

उत्तर—भगवान ऋषभदेव और केवल ज्ञान का उद्यान—भगवान ऋषभदेव एक हजार वर्ष तक घोर तपस्यायें करके एक दिन 'पुरिमतालपुर' पहुँचे। जिसका वर्तमान नाम 'प्रयाग' या 'इलाहाबाद' है। उस नगर के समीपवर्ती 'शकट' उद्यान में ऋषभदेव ने वटवृक्ष के नीचे ध्यानस्थ होकर केवलज्ञान प्राप्त किया था। भगवान ऋषभदेव को जिस वटवृक्ष के नीचे अक्षय बोधि का लाभ हुआ था, या ईश्वरीय रूप प्राप्त हुआ था उसी दिन से उस वटवृक्ष का नाम 'अक्षयवट' संसार में प्रसिद्ध हो गया है।

केवलज्ञान प्राप्त होने पर समवशरण की रचना कुबेर द्वारा की गई थी। सब इन्द्र अपने परिवार के साथ ज्ञान कल्याणक पूजा के लिए वहां आये थे। और पुरिमतालपुर में इन्द्र ने भगवान ऋषभदेव की पूजा की थी। भगवान ऋषभनाथ की सर्वप्रथम धर्म देशना 'पुरिमतालपुर' में हुई थी। बहुत संभव है कि तभी से इस पुरिमतलापुर का नाम 'प्रयाग' हो गया है। याग नाम पूजा का है और सबसे बड़ी पूजा इन्द्र के द्वारा की जाती है जिसका नाम 'इन्द्रध्वज पूजा' है।

प्रयाग को इलाहाबाद भी कहते हैं। इलाह शब्द का अर्थ देवता। अथवा पूजा करने लायक ऐसा होता है, इससे सम्भव है कि इसी पूजा के निमित्त से प्रयाग को इलाहाबाद भी कहते होंगे।

प्रश्न—समवशरण में मानस्तंभादिकों की ऊंचाई का क्या प्रमाण है ?

उत्तर—समवसरण में मानस्तंभादिकों की ऊंचाई-जो मानस्तंभ, ध्वजास्तंभ, चैत्यवृक्ष, सिद्धार्थ वृक्ष, स्तूप, तोरण, कोट, गृह वनवेदिका आदि रहते हैं उनकी ऊंचाई तीर्थंकरो के शरीर से बारह गुणी होती है।

प्रश्न—केवली कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर—केवली भगवान सामान्यता से दो प्रकार के होते हैं। एक तीर्थंकर केवली और दूसरे सामान्य केवली। उनमें तीर्थंकर केवलियों में पञ्चकल्याणक तीर्थ-

कर केवली, तीन कल्याणक तीर्थंकर केवली, और दो कल्याणक तीर्थंकर केवली आदि भेद पाये जाते हैं। और सामान्य केवलियों के भी उपसर्ग केवली, अन्तःकृत केवली, मूक केवली, अनुबन्ध केवली या अनुबद्ध केवली इत्यादि भेद होते हैं।

तीर्थंकर केवली और अन्य सामान्य केवली में अंतर—

केवलज्ञानादि गुणों की अपेक्षा तीर्थंकर केवली तथा अन्य सामान्य केवलियों में कोई अन्तर नहीं है। तथापि जिन्होंने घातिया कर्मों का क्षय कर केवलज्ञान प्राप्त किया है, वे सामान्य रूप से केवली भगवान कहे जाते हैं। और जिन्होंने पहिले तीर्थंकर नाम कर्म प्रकृति बंध किया हो और केवलज्ञान प्राप्त किया जाता है तो वे तीर्थंकर केवली भगवान कहे जाते हैं।

तीर्थंकरों कि अलौकिकता—

तीर्थंकर केवलियों की विशेष अलौकिकता है–तीर्थंकर और सामान्य केवली इन दोनों में जो कुछ अंतर है वह निम्न प्रकार समझना चाहिये।

तीर्थंकर केवली भगवान के तीर्थंकर प्रकृति रूप विशेष पुण्य के उदय से उनकी इन्द्रादिक पंचकल्याणादि के रूप में विशेष भक्ति करते हैं और बाह्य में जिनके उत्कृष्ट समवशरणादि रचना रूप वैभव पाया जाता है ऐसी बातें सामान्य केवलियों में नहीं होकर केवल गंधकुटी की रचना होती है।

तीर्थंकर केवली भगवान के समान सामान्य केवली भगवान की दिव्य ध्वनि से जीवों को शान्ति भी मिलती है। तत्वों का ज्ञान भी प्राप्त होता है। इस प्रकार दोनों के धर्मोपदेशादि की समानता के होते हुये भी उनमें महत्वपूर्ण यह अन्तर है कि तीर्थंकरों का तीर्थप्रवर्त्तन काल चलता है। एक तीर्थंकर के मोक्ष होने के पश्चात् जब तक दूसरे तीर्थंकर उत्पन्न नहीं होते, तब तक उन मोक्ष प्राप्त तीर्थंकर का तीर्थ प्रवर्तन काल माना जाता है। सामान्य केवली में ऐसी बात नहीं होती है।

इस अवसर्पिणी काल में ऋषभादि वर्धमान तक केवल चौबीस तीर्थंकर हुये हैं, किन्तु इन एक-एक तीर्थकाल में असंख्य भव्य जीवों ने केवली होकर मोक्ष पद प्राप्त किया है। तीर्थंकरों की यही अल्पसंख्या उनकी अलौकिकता को सम्यक् प्रकार से स्पष्ट कर देती है।

पांच कल्याणकों के धारी तीर्थंकर—

पंच कल्याणक तीर्थंकर केवली–भरत, ऐरावत और विदेह क्षेत्र में पांच मेरु

सम्बन्धी १७० कर्म भूमियों में होते हैं। भरत, ऐरावत क्षेत्र में चतुर्थ काल (अवसर्पिणी के दुषमसुषमकाल) में होते हैं। और उत्सर्पिणी के तृतीय काल (दुषमसुषम काल) में होते है। विदेह क्षेत्र में सदैव होते रहते हैं। विदेह क्षेत्र की अपेक्षा जिसने पहले भव में तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया है वही पंच कल्याण तीर्थंकर कहलाता है।

तीन अथवा दो कल्याणक केवली—

तीन और दो कल्याणक तीर्थंकर केवली—पूर्व अपर (पश्चिम) दोनों विदेह क्षेत्रों में पंचमेरु सम्बन्धी १६० विदेह क्षेत्रों में होते हैं। जिन्होंने गृहस्थ अवस्था में रहते हुये तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर लिया है उनके तप, ज्ञान और मोक्ष ये तीन कल्याणक होते हैं और जिन्होंने मुनि होकर तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर लिया है, उनके ज्ञान और मोक्ष ये दो कल्याणक होते हैं।

उपसर्ग केवली—जिनके उपसर्ग अवस्था में केवलज्ञान हो उसको 'उपसर्ग केवली' कहते हैं। जैसे श्री पार्श्वनाथ भगवान। हुन्डावसर्पिणी काल के सिवाय अन्य काल के तीर्थंकरों के उपसर्ग नहीं कहे गये हैं।

अन्तःकृत केवली—

अन्तःकृत केवली—जो केवलज्ञान के उत्पन्न होते ही लघु अन्तर्मुहूर्त में मोक्ष प्राप्त करते हैं, उनको 'अन्तःकृत केवली' कहते हैं। जैसे पांडवादि। जिस प्रकार नेमिनाथ तीर्थंकर के तीर्थकाल में कुमार श्रमण गजकुमार घोर उपसर्ग को सहन करते हुये अन्तःकृत केवली हुये हैं, इसी प्रकार चौबीस तीर्थंकरों के तीर्थकाल में दस-दस अन्तःकृत केवली हुए हैं। इनका वर्णन द्वादशांग वाणी के आठवें अंग में हुआ है, उसका नाम है अन्तःकृत दशांग। श्री वर्धमान भगवान के तीर्थकाल में होने वाले तथा अत्यन्त दारुण उपसर्गों को जीत कर सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करने वाले दस अन्तःकृत केवलियों के इस प्रकार नाम कहे हैं—

नमि, पतंग, सोमिल, रामपुत्र, सुदर्शन, यमकील, वलीक, किस्किंबल, पालम्ब तथा अष्टपुत्र। इस प्रकार तत्वार्थ राजवार्तिक पृष्ठ ५१ में और धवला भाग १६-१०३ में लिखा है। हरिवंश पुराण में कहा कि—

दह्यमानशरीरोऽसौ शुक्लध्यानेन कर्मणाम्।
अंतःकृत्वा ययौ मोक्षमन्तःकृत्केवली मुनिः ॥१६२॥

मूक केवली—

मूक केवली—कोई-कोई केवली भगवान उपदेश नहीं देते हैं अर्थात् जिनकी वाणी (दिव्य ध्वनी) नहीं खिरती है, उनको 'मूक केवली' कहते हैं। लाटा संहिता सर्ग १ में कहा है कि मूक केवली और अन्तःकृत् केवली की वाणी नहीं खिरती है।

अनुबन्ध या अनुबद्ध केवली—

अनुबन्ध या अनुबद्ध केवली—श्री महावीर भगवान के मोक्ष होने के पश्चात् गौतम स्वामी ने केवल ज्ञान प्राप्त किया। उनका मोक्ष होने पर सुधर्मा स्वामी ने केवलज्ञान प्राप्त किया पश्चात् जम्बू स्वामी केवली हुए। इस प्रकार परिपाटी क्रम से केवलज्ञान प्राप्त करने वालों को अनुबंध या अनुबद्ध केवली कहते हैं। इस दृष्टि से जम्बू स्वामी को अन्तिम केवली कहा गया है। यदि यह परिपाटी क्रम दृष्टि में न रखा जाय तो कुन्डलगिरि से अंत में मोक्ष प्राप्त करने वाले श्री धर केवली को अन्तिम केवली तथा मुक्ति प्राप्त करने वाला कहा गया है (देखो तिलोयपण्णति, पृष्ठ २३८)

तीर्थङ्कर केवली और सामान्य केवलियों में अन्तर—

तीर्थंकर केवली और सामान्य केवलियों के गुण विचार—पंच कल्याणक तीर्थंकर केवली भगवान में १० जन्मातिशय, १० केवल ज्ञान के अतिशय, १४ देवकृत अतिशय, ८ प्रतिहार्य तथा ४ अनंत चतुष्टय इस प्रकार ४६ अतिशय गुण होते हैं। इनको 'जिनगुण' ऐसा भी कहते हैं।

कोई-कोई कहते हैं सामान्य केवली के दश जन्मातिशयों को छोड़कर शेष ३६ गुण मानना चाहिये। परन्तु सामान्य केवली में अनन्त चतुष्टय का सद्भाव तो नियम से मानना होगा। केवल ज्ञान के दस अतिशयों में से गगनगमन, चारों दिशाओं में मुखों का दर्शन होना, उपसर्ग का अभाव, कवलाहार का अभाव, सर्व विद्याओं का स्वामीपना, नख तथा केशों का नहीं बढ़ना, आदि गुणों का सद्भाव मानना आवश्यक है। इस विषय में आगम का खुलासा वर्णन देखने में नहीं आया है। किन्तु युक्ति तथा विचार द्वारा इस सम्बन्ध में चिन्तन के लिये पर्याप्त क्षेत्र है। जन्म के जो दस अतिशय तीर्थंकर भगवान के माने गए हैं। उनमें से केवली की अवस्था में सुगन्धित शरीर का होना, पसीना रहित होना मलमूत्र का न होना, प्रिय हित मित वाणी का सद्भाव

होना, अतुल बल का सद्भाव होना, रक्त का धवल वर्ण का होना, वज्रमय शरीर होना, इन अतिशयों को मानना अविरोधी दिखता है। जिसके समचतुरस्त्र संस्थान न हो वह भी केवली बन सकता है तथा उसके शरीर में १००८ लक्षणों का सद्भाव नहीं होगा, अतः सातिशय रूपता का अभाव भी संभवनीय हो सकता है। इससे जन्म के सभी अतिशयों का अभाव कह देना ठीक नहीं जँचता है। क्योंकि बाहुबली, हनुमान, प्रद्युम्न, जीवन्धर जम्बू स्वामी आदि कामदेवों के सदृश केवली के सातिशय रूपता का सद्भाव स्वीकार करने पर उनके एक गुण की और वृद्धि अन्यों की अपेक्षा मानना उचित होगा। इस प्रकार सामान्य केवली के ३६ ही गुण मानना उचित नहीं प्रतीत होता है, जैसा कि पूर्व में विवेचन किया जा चुका है।

तीर्थंकर केवली और सामान्य केवली इन दोनों के तो 'अनन्त चतुष्टय' और 'अष्ट प्रातिहार्य' रहते हैं। बाकी के गुणों का सामान्य केलवी में नियम नहीं है, वे यथायोग्य जानना चहिये।

सामान्य केवली भगवान की गंधकुटी में मानस्तंभ रहते हैं या नहीं—

जैसे तीर्थंकर केवली के समवशरण में मानस्तंभ रहते हैं, उसी तरह सामान्य केवलियों की गंधकुटी में भी मानस्तंभ रहते हैं। सुदर्शन चरित्र में लिखा है कि कुबेर द्वारा सूवर्ण रत्नादिक से युक्त जब गंध कुटी बनकर तैयार हुई थी। उसमें सिहासन, छत्र, चमर, ध्वजादि सब शास्त्रोक्त रचना की थी इसी तरह वहां गंध कुटी मानस्तम्भों से सुशोभित की गई थी। इत्यादि वर्णन सुदर्शन चरित्र में आया है।

सामान्य केवलियों की गंधकुटी में गणधर—

सुदर्शन चारित्र में लिखा है—

दिव्येन ध्वनिना देवस्तदा सन्मार्गवृत्तये।
धर्मं तत्वादि विश्वार्थानुवाचेति गणान् प्रति ॥१६२३॥

सामान्य केवलियों के भी गणधर रहते हैं। गणधरों के अभाव में दिव्यध्वनि नहीं खिरती है। इसलिये तीर्थंकर केवली के समान सामान्य केवलियों के भी गणधर रहते हैं।

भगवान सुदर्शन केवली ने मोक्ष मार्ग की प्रवृत्ति बढ़ाने के लिये गणधरों के द्वारा धर्म तथा समस्त तत्व का स्वरूप बता दिया था।

समवशरण में विद्यमान सात प्रकार के मुनियों की संख्या—

तीर्थंकर केवली भगवान के समवशरण में केवली, पूर्वधर, शिक्षक, विपुलमति मनःपर्यय ज्ञानी, विक्रिया ऋद्धिधारी, अवधिज्ञानी तथा वादी इन सात प्रकार के मुनियों की जो संख्या बताई गई है वह समवशरण में रहने वालों की है या उनके तीर्थकाल में होने वालों की है ?

समाधान—ऋषभदेव के समवसरण में जितने गणधारादि मुनि प्रत्यक्ष रहते थे, उन्हीं की संख्या बताई गई है। यह बात पद्मपुराण के चौथे पर्व में लिखी है। इसी तरह बाकी प्रत्येक तीर्थंकरों के मुनियों की संख्या समझनी चाहिये।

सयोगी जिन कितनी कर्म प्रकृतियों का क्षय करते हैं—

भगवान ने घातियां कर्मों की ६३ प्रकृतियों का क्षय किया था। इनमें ५ ज्ञानावरण, ६ दर्शनावरण, २८ मोहनीय तथा ५ अंतराय, मनुष्यायु को छोड़कर शेष तीन आयु तथा १३ नाम कर्म की प्रकृतियां हैं। इस सम्बन्ध में धवला टीका का यह कथन भी विचारणीय है 'एदेसु सट्ठि–कम्मेसु खीणेसु सयोगिजिणो होदि सयोगिकेवली ण किंचि कम्मं खवेदि।' (भाग १ पृ० २२३)

इन कर्मों में साठ प्रकृति कर्मों के क्षय होने पर संयोगी जिन होता है। सयोग केवली किस कर्म का क्षय नहीं करते हैं।

प्रश्न :—सर्वत्र आगम में ६३ प्रकृतियों के क्षय को परम्परा प्रसिद्ध है, तब धवला टीका में ६० प्रकृतियों का क्षय क्यों कहा गया है ?

उत्तर :—तत्वार्थ राजवार्तिक में कर्मों के अभाव के यत्न तथा अयत्नसाध्य इस प्रकार दो भेद कहे हैं। चरम शरीरी जीव के नरकायु, देवायु, तथा तिर्यञ्चायु का सत्व न होने से बिना प्रयत्न के अभाव माना गया है। कहा भी है 'कर्माभावो द्विविधो, यत्न साध्योऽयत्न साध्यश्चेति। तत्र चरमदेहस्य नरक तिर्यग्देवायुषामभावोऽयत्न साध्यः' (६,३६१, अ० १० सूत्र २) अतएव सामान्य दृष्टि से विचार कर केवली के ६३ प्रकृतियों का अभाव कहा गया है। यत्न साध्य अर्थात् पौरुष द्वारा संपादित कर्माभाव को ध्यान में रखकर धवला टीका में ६० प्रकृतियों के अभाव से केवली पद की प्राप्ति प्रतिपादित की गई है।

शेष रही अघाति कर्मों की ८५ प्रकृतियों में से ७२ प्रकृतियों का अयोग

केवली के उपांत्य समय में क्षय होता है और १३ प्रकृतियों का क्षय अयोगी के अंतिम समय में होता है। इस दृष्टि से खुलासा हो जाता है कि सयोगी जिन के किसी भी कर्म का क्षय नहीं होता है।

अरिहन्त या अर्हत् शब्द गुणवाचक है—

अन्य संप्रदायों में केवली शब्द के स्थान में जिनेन्द्र देव की अर्हत् या अरिहन्त के रूप में प्रसिद्धि है। ऋग्वेद में अर्हन्त का उल्लेख आया है अर्हन्इदं दयसे विश्वमभ्वम्। मुद्राराक्षस नाटक में जो अर्हन्त के शासन को स्वीकार करेंगे, वे मोह व्याधि के वैद्य हैं, ऐसा उल्लेख आया है 'मोहवाहिवेज्जाणं अलिहन्ताणंसासणं पडिवज्जह।' हनुमन्त नाटक में लिखा है 'अर्हन्त इत्यथ जैन शासनरताः' जैन शासन के भक्त अपने आराध्य देव को अर्हत् कहते हैं।

यह अरहंत शब्द गुण वाचक है। जो भी व्यक्ति घातिया कर्मों का विनाश करता है, वह अरहन्त बन जाता है। अतः यह शब्द व्यक्ति वाचक न होकर गुण वाचक है।

'अ' का अर्थ विष्णु 'अकारो विष्णुनामस्यात्।' केवली भगवान केवलज्ञान के द्वारा सर्वत्र व्याप्त है, अतः 'अ' का अर्थ होगा केवली भगवान, 'र' का अर्थ है राग कोश में कहा है 'रागेबलेखे' इत्यादि, 'हं' हनन करने वाले वाचक है। हर्षे च हननेहः, स्यात्। 'त' शूर वीर वाचक है। कहा भी है 'शूरे वीरे च तः प्रोक्तः।

धवला ग्रन्थ में 'अरहंताणं' पर प्रकाश डालते हुये लिखा है—अरिहननात् अरिहंता। नरक-तिर्यक्कुमानुष्य-प्रेताःवासगताशेष दुःख प्राप्ति निमित्तत्वात् अरिर्मोहः। तस्यारेर्हननादरिहन्ता। अर्थात् अरि के नाश करने से अरिहंत है नरक, तिर्यञ्च, कुमानुष, प्रेत इन पर्यायों में निवास करने से होने वाले समस्त दुःखों की प्राप्ति का निमित्त कारण होने से मोह को अरि अर्थात् शत्रु कहा है। उस मोह शत्रु का नाश करने से अरिहंत हैं।

अन्य कर्म महनीय कर्म के आधीन हैं, क्योंकि मोहनीय कर्म के बिना शेष कर्म अपना कार्य करने में समर्थ नहीं होते हैं। बारहवें क्षीण मोह गुणस्थान की प्राप्ति होने पर अन्त समय में पंच ज्ञानावरण, पंच अंतराय, तथा दर्शनावरण चतुष्टय शीघ्र नष्ट हो जाते हैं और क्षीण मोहि आत्मा केवली, स्नातक, परमात्मा, जिनेन्द्र बन जाता है।

'रजोहननाद्वा अरिहन्ता ज्ञान दृगावरणानि रजांसीव बहिरंगान्तरंगा शेष – त्रिकाल गोचरानन्तार्थ-व्यंजन परिणामात्मक-वस्तुविषय-बोधानुभव प्रतिबंधकत्वात् रजांसि' अथवा रज का नाश करने से अरिहंत हैं, ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण रज के समान हैं। बाह्य तथा अन्तरंग समस्त त्रिकाल गोचर अनंत अर्थ पर्याय और व्यंजन पर्याय स्वरूप वस्तुओं को विषय करने वाले बोध तथा अनुभव के प्रतिबंधक होने से वे ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म रज हैं। मोहनीय कर्म भी रज है, क्योंकि जिस प्रकार जिनका मुख भस्म से व्याप्त होता है, उनमें जिम्ह भाव अर्थात् कार्य की मंदता देखी जाती है। उसी प्रकार मोह से जिनका आत्मा व्याप्त हो रहा है, उनके भी जिम्ह भाव देखा जा सकता है। अर्थात् उनकी स्वानुभूति में कालुष्य मन्दता या कुटिलता पाई जाती है। इन तीन कर्मों के क्षय के साथ अन्य कर्मों का नाश अवश्यंभावी है। अतएव उक्त रजों के नाश करने से जिनेन्द्र अरिहन्त हैं।

रहस्याभावाद्वा अरहिन्ता रहस्यमंतरायः तस्य शेषघातित्रितय-विनाशाविनाभाविनो भ्रष्टबीजवन्तिः शक्ति कृता घाति कर्मणो हननादरिहन्ता। रहस्य का अभाव करने से अरिहन्त हैं। अंतराय कर्म रहस्य है। उस अन्तराय कर्म के क्षय का ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा मोहनीय कर्म के क्षय के साथ अविनाभाव है, अन्तराय के नाश होने पर अघातिया कर्म भ्रष्ट बीज के समान शक्ति रहित हो जाते हैं। अतएव अन्तराय के क्षय से जिनेन्द्र को अरिहन्त कहते हैं।

जिन भगवान को अर्हंत भी कहते हैं। 'अतिशयपूजार्हत्वाद्वार्हंतः। स्वर्गावतरण-जन्माभिषेक-परिनिष्क्रमण-केवल ज्ञानोत्पत्ति-परिनिर्वाणेषु देवकृतानां पूजानां देवासुरमानव प्राप्त पूजाभ्योऽधिकत्वादतिशयाना-महंत्वा द्योग्यत्वादर्हन्तः अतिशय युक्त पूजा को प्राप्त होने से अर्हन्त हैं। स्वर्गावतरण, जन्माभिषेक, परिनिष्क्रमण अर्थात् दीक्षा, केवलज्ञान की उत्पत्ति तथा परिनिर्वाण रूप पांच कल्याणकों में देवकृत पूजाएँ सुर, असुर, मानवी की पूजाओं से अधिक होने से अतिशयों के अर्ह अर्थात् योग्य होने से अर्हन्त हैं।

मूलाचार में कहा है—

अरहन्ति णमोक्कारं अरिहापूजा सुरुत्तमा लोए।
रजहंता अरिहंतिय अरहन्ता तेण उच्चंदे ॥१६२४॥

जो नमस्कार करने योग्य हैं, पूजा के अर्ह अर्थात् योग्य हैं, लोक में देवों में उत्तम हैं। रज अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण के नाश करने वाले हैं, अथवा अरि अर्थात् मोहनीय और अंतराय के नाश करने वाले हैं, इससे अरिहन्त कहते हैं। टीकाकार आचार्य वसुनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्ती लिखते हैं 'येनेह कारणेनेत्थंभूतास्तेनार्हन्तः सर्वज्ञाः सर्वलोकनाथा लोकेऽस्मिन्नुच्यन्ते। वे इन कारणों से इस प्रकार हैं, अतएव उनको अर्हन्त, सर्वज्ञ, सर्वलोक के नाथ इस लोक में कहते हैं।

केवली भगवान को अन्तरंग कर्म के क्षय करने की दृष्टि से अरहिन्त कहते हैं। मूलाचार में कहा है—

अरिहन्ति वंदण – णमंसाणि अरिहन्ति पूय-सक्कारं।
अरहन्ति सिद्धिगमणं अरहन्ता तेण उच्चंति ॥१६२५॥

वन्दना तथा नमस्कार के योग्य हैं, पूजा-सत्कार के योग्य हैं, सिद्धि गमन के योग्य हैं, इससे इन जिनेन्द्र को अरहन्त (अर्हंत) कहते हैं।

कभी-कभी यह शंका उत्पन्न होती है कि 'णमो अरितारणं' पाठ ठीक है या 'णमो अरहंताणं पाठ ठीक है? उपरोक्त विवेचन के प्रकाश में यह विदित होता है कि दोनों पाठ सम्यक् हैं। वृहत् प्रतिक्रमण पाठ के सूत्र में गौतम गणधर बताते हैं 'सुत्तस्य मूलपदाण मच्चासणदाए' अर्थात् आगम के मूल पदों में हीनता कृत जो दोष उत्पन्न हुआ है, उसका मैं प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ। प्रभाचन्द्राचार्य की टीका में ये शब्द आये हैं—

सूत्रस्य आगमस्य सम्बन्धिनां मूलपदानां प्रधान पदानामत्या सादनता हीनता तस्यां यः कश्चिदुत्पन्नोदोषस्तं प्रतिक्रमितु मिच्छामि। इसका उदाहरण देते हुये कहते हैं—'तं जहा णमोक्कारपदे णमो अरहंताणमित्यादिलक्षणे पंचनमस्कार पदे याऽत्या-सादनता तस्यां अरहंत पदे इत्यादि 'अर्हदादीनांवाचके पदे याऽत्यासादनता तस्यां मंगलपदे चत्तारिमंगलमित्यादि लक्षणे, लोगुत्तमपदे चत्तारि लोगुत्तमा, इत्यादि स्वरूपे सरणपदे चत्तारिसरणं पव्वज्जामि इत्यादि लक्षणे·····(पृष्ठ १३६) इसमें उल्लेखनीय बात यह है कि गौतम स्वामी णमोकार पद के द्वारा णमो अरहंताणं इत्यादि पंच नमस्कार पद का संकेत करते हैं। इससे यह 'णमो अरहंताणं' आदि पद रूप नमस्कार मंत्र षट् खंडागम सूत्रकार भूतबलि-पुष्पदंत कृत है। यह आधुनिक प्रचार भ्रांत प्रमाणित होता है। इसके पश्चात् 'अरहन्त पदे' शब्द का प्रयोग आया है,

अरिहन्त पद शब्द नहीं है। अतएव दोनों पाठ भिन्न-भिन्न दृष्टियों से सम्यक् हैं। सूक्ष्म विचार से ज्ञात होगा कि बारहवें गुणस्थान के अंत में भगवान अरि समूह का नाश करने से अरिहन्त हो गये। इसके अन्तर सुरेन्द्रादि देवगण आकर जब केवलज्ञान कल्याणक की पूजा करते हैं, तब 'अरिहन्ति पूय सक्कार' इस दृष्टि से उनको अर्हन्त कहेंगे। उनका 'अरहन्त' रूप प्राकृत भाषा में पाया जाता है।

णमो अरिहन्ताणं रूप पंच नमस्कार मंत्र का भूत बलि—पुष्पदंताचार्य के पहले सद्भाव था। इसके प्रमाण उपलब्ध होते हैं। मूलाराधना नाम की भगवती आराधना पर रचित टीका में पृष्ठ २ पर यह महत्त्वपूर्ण उल्लेख आया है, कि सामायिक आदि अंगबाह्य आगम में तथा लोक बिन्दुसार है, अन्त में जिसके ऐसे चौदह पूर्व साहित्य के आरम्भ में गौतम गणधर ने णमो अरहन्ताणं इत्यादि रूप से पंच नमस्कार पाठ लिखा है। जब गणधर देव रचित अंग तथा अंग बाह्य साहित्य में णमो अरहन्ताणं इत्यादि मंगल रूप से कहे गये हैं। तो फिर इनकी प्रचलित मान्यता निर्दोष रहती है, जिसमें यह पढ़ा जाता है 'अनादिमूलमंत्रोऽयम्'। मूलाराधना टीका के ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं, 'यद्येवं सकलश्रुतस्य सामयिकादेर्लोक बिन्दुसारान्तस्यादौ मंगलं कुर्वद्भिर्गणधरैः णमो अरहन्ताणमित्यादिना कथं पंचानां (परमेष्ठिनां) नमस्कारः कृतः?

वृहत्प्रतिक्रमण पाठ में दोष शुद्धि के लिये गौतम गणधर ने यह लिखा है, 'मूलगुणेसु उत्तरगुणेसु अइक्कमो जाव अरहन्ताण भयवंताणं पज्जुवासं करेमि तावकायं (बोसिरामि) पृष्ठ १५१)।' टीकाकार पज्जुवास अर्थात् पूर्यपासना का स्वरूप इस प्रकार कहते हैं कि २२४ उच्वासों द्वारा १०८ बार पंच नमस्कार मंत्र का उच्चारण करे। टीकाकार प्रभाचन्द्र आचार्य के शब्द इस प्रकार है 'पज्जुवासं करेमि – एकाग्रेण हि विशुद्धेन मनसा चतुर्शित्युत्तर-शतत्रयाद्युच्छ्वासैरष्टोत्तर शतादिवारान् पंचनमस्कारोच्चारणमर्हतां पर्यंकासनकरणं तद्यावत् कालं करोमि.....।' पंच नमस्कार मंत्र का तीन उच्छ्वासों में पाठ करने का मुनियों के आचार ग्रन्थों में प्रतिक्रमण प्रायश्चित्तादि के लिये उल्लेख पाया जाता है। मुनि जीवन के लिये जैसे २८ मूलगुण प्राण स्वरूप हैं, इसी प्रकार यह मूलमंत्र भी अत्यन्त आवश्यक है। पैंतीस अक्षरात्मक यह मूल मंत्र जैन उपासक तथा आश्रम जीवन के लिये आवश्यक है। भूतबलि-पुष्पदन्त के पश्चात् इसकी रचना मानना जीवट्ठाण के निबद्ध अनिबद्ध भेद युक्त मंगल चर्चा के

आधार पर कहा जाता है। यह भी विचार तर्क संगत नहीं है। जीवट्ठाण की चर्चा पर आदर्श प्रति के आधार से विचार किया जाये, तो विदित होगा कि वीर सेनाचार्य ने कहां णमोकार मंत्र को भूतबलि-पुष्पदंताचार्य रहित नहीं माना है। अलंकार चिन्तामणि में अन्य ग्रन्थकार रचित मंगल को अनिबद्ध मंगल कहा है। 'परकृतमनिबद्धं। जीवट्ठाण ग्रन्थ का विशेषण बाह्य है, "इदं पुण जीवट्ठाणं णिबद्धमंगलं" (पृ. ४१) भ्रम से लोग 'निबद्ध मंगलं यस्मिन् तत्' इस प्रकार अर्थ विस्मरण कर पारिभाषिक निबद्ध मंगल मान बैठते हैं। जीवट्ठाण ग्रन्थ के आदि में मंगल है। ग्रन्थ को ही निबद्ध मंगल कहना असंगत बात होगी। अतः यह अर्थ उचित होगा कि इस जीवट्ठाण ग्रन्थ में मंगल निबद्ध किया है। जब गौतम गणधर ने णमोकार मंत्र को अपने द्वारा निबद्ध आगम ग्रन्थों में लिखा है, तब जीवट्ठाण में कथित विवेचन का अविरोधी अर्थ करना विज्ञ व्यक्तियों का कर्त्तव्य है।

प्रश्न :—अपराजित मूल मंत्र में 'णमो अरहन्ताणं' को प्रथम स्थान क्यों दिया गया है ?

उत्तर.—पूज्यता की दृष्टि से अष्ट कर्मों का क्षय करने वाले सिद्ध भगवान को प्रणाम रूप 'णमो सिद्धाणं' पद पहले रखा जाना चाहिये था, किन्तु अपराजित मूल मंत्र में 'णमो अरहन्ताणं' को प्रथम स्थान पर रखा है। इसका विशेष रहस्य है।

सम्यग्ज्ञान के द्वारा इष्ट पदार्थों की उपलब्धि होती है। उस ज्ञान का साधन शास्त्र हैं। उन शास्त्रों के मूल कर्ता अरहन्त भगवान हैं। इस कारण जीव मोक्ष प्राप्त करने वाली जिनवाणी के जनक होने से जिनेन्द्र तीर्थंकर सर्व प्रथम वन्दनीय माने गये हैं, क्योंकि उपकार को न भूलना सत्पुरुषों का मुख्य कर्त्तव्य है। उपकार करने वाले प्रभु का स्मरण न करने से कृतघ्नता का दोष लगता है। नीच माने जाने वाले पशु तक अपने उपकारी के उपकार को स्मरण रखते हैं, तब विचारवान मनुष्य को तो कृतज्ञता की मूर्ति बनना चाहिये। उपकृत व्यक्ति की दृष्टि में उपकर्ता का सदा अन्य की अपेक्षा उच्च स्थान माना गया है।

हरिवंश पुराण में एक कथा आई है, चारुदत्त ने मरते हुए बकरे के कान में पंच नमस्कार मंत्र दिया था। उस मंत्र से बकरा सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ। वह देव कुंभकंटक नामक द्वीप के कर्कोटक पर्वत पर जिन चैत्यालय में विद्यमान मुनिराज के चरणों के समीप स्थित चारुदत्त के पास पहुँचा। उस देव ने पहले चारुदत्त को

प्रणाम किया था, मुनिराज की वन्दना बाद में की थी। उस देव ने कहा था 'जिन धर्मोपदेशकः चारुदत्तो साक्षात् गुरुः' जिन धर्म का उपदेश देकर मेरी आत्मा का उद्धार करने वाले चारुदत्त मेरे साक्षात् गुरु हैं, क्योंकि 'दत्तः पंचनमस्कारो मरणे करुणावता' (२१–१५०) उन्होंने करुणापूर्वक मुझे मरण समय पर पंच नमस्कार मंत्र प्रदान किया था।

जातोऽहं जिन धर्मेण सौधर्मो विबुधोत्तमः।
चारुदत्तो गुरुस्तेन प्रथमो नमितो मया ॥१६२६॥

जिन धर्म के प्रभाव से मैं सौधर्म स्वर्ग में महान देव हुआ हूँ। इस कारण मैंने अपने गुरु चारुदत्त को सबसे पहले प्रणाम किया है।

हरिवंश पुराण की यह शिक्षा चिरस्मरणीय है :—

अक्षरस्यापि चैकस्य पदार्थस्य पदस्य वा।
दातारं विस्मरन् पापी किं पुनर्धर्मदेशिनम् ॥१६२७॥

एक अक्षर का अथवा एक पद का या पदार्थ के दाता को विस्मरण करने वाला पापी है, तब फिर धर्म के उपदेशक को भूलने वाला महान पापी क्यों न होगा ?

इस कथन के प्रकाश में अरहन्त भगवान का अनन्त उपकार सर्वदा स्मरणीय है और उनके चरण युगल सर्व प्रथम वन्दनीय हैं।

आचार्य वीरसेन ने अरहन्त भगवान के सम्बन्ध में यह सुन्दर गाथा धवला टीका में उद्धृत है :—

तिरयण तिसूल धारिय मोहंधासुरक बंधविदहरा।
सिद्धसयलप्पसुवा अरहंता दुण्णयकयंता ॥१६२८॥

जिन्होंने रत्नत्रय रूप त्रिशूल को धारण कर मोह रूपी अंधकासुर के कबंध वृन्द का हरण किया है और अपने सकल आत्म स्वरूप को प्राप्त कर लिया है, वे मिथ्या पक्षों के विनाश करने वाले अरहन्त भगवान हैं।

मूलाचार में लिखा है कि ये अरहन्त भगवान जगत में त्रिविधतम अर्थात् तीन प्रकार के अन्धकारों से विमुक्त हैं, इस सम्बन्ध की गाथा विशेष महत्त्वपूर्ण है—

मिच्छत्तवेदणीयं णाणावरणं चरित्त मोहं च।
तिविहा तयाहु मुक्का तम्हा ते उत्तमा होंति ॥१६२९॥

ये चौबीस तीर्थङ्कर लोक में उत्तम कहे गये हैं, क्योंकि ये मिथ्यात्व-वेदनीय, ज्ञानावरण तथा चारित्र मोहनीय इन तीन प्रकार के अन्धकारों से मुक्त हैं। संस्कृत टीकाकार वसुनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्ती ने लिखा है, "त्रिविधं तमस्तस्मात् मुक्ता यतस्तस्मात्ते उत्तमाः प्रकृष्टा भवन्ति।" इसका भाव यह है कि अरहन्त भगवान मिथ्यात्व अंधकार से रहित होने से सम्यक्त्व ज्योति से शोभायमान हैं। ज्ञानावरण के क्षय होने से केवलज्ञान समलंकृत हैं। चारित्र मोह के अभाव होने से परम यथाख्यात चारित्र संयुक्त हैं। मिथ्यात्व अज्ञान तथा असंयम रूप अन्धकार के होते हुए यह जीव परमार्थ दृष्टि से उत्तम (उत् अर्थात् रहित + तम = अन्धकार) अर्थात् अन्धकार रहित नहीं कहा जा सकता है। लोक में श्रेष्ठ पदार्थ को उत्तम कहते हैं। तत्त्व दृष्टि से मुमुक्षु जीव अरहन्त भगवान को उत्तम अर्थात् उत्तम मानता है।

मोहनीय कर्म पाप प्रकृति है। इसके भेद राग भाव को भी पाप रूप मानना होगा, किन्तु वह रागभाव अरहन्त भगवान के विषय में होता है, तो वह जीव को कुगतियों से बचाकर परम्परा से मोक्ष का कारण हो जाता है, अतः मूलाचार में 'अरहंतेसु यराओ————स सत्थराओ' अरहन्तों में किया गया राग प्रशस्त राग अर्थात् शुभ राग कहा है, (देखो गाथा ७३, ७४ षडावश्यक अधिकार)

इन अरहन्तों को नमस्कार करने से जीव सम्पूर्ण दुःखों से छूट जाता है। जो यह सोचते हैं कि अरहन्त का स्मरण करने से मन में राग भाव होता है, वह बन्ध का वर्धक ही होगा। उससे आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता है। यह धारणा सद्विचार, विवेक तथा आगम के प्रकाश में भ्रम मूलक प्रमाणित होती है। वीतराग की भक्ति के द्वारा आत्मा में लगा हुआ अनादि कालीन मोहज्वर दूर हो जाता है। धर्मशर्माभ्युदय में एक सुन्दर बात कही गई है—जिनेन्द्र देव के चरण कमल की भक्ति रज से कषाय मैल से मलिन अन्तःकरण रूप दर्पण को मांजने से वह आत्म दर्पण स्वच्छ हो जाता है और तब उस आत्म दर्पण में समस्त चराचर जगत् की वस्तुयें प्रतिबिम्बित होने लगती हैं।

इस अरहन्त नमस्कार रूप 'णमो अरहन्ताणं' पद का महत्त्व इस गाथा में कहा है। (देखो मूलाचार) :—

अरहंतणमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयदमवो।
सो सव्व दुक्ख मोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥१६२०॥

जो व्यक्ति सावधान होकर भक्ति भाव से अरहन्त भगवान को नमस्कार करता है, वह मानव शीघ्र ही समस्त दुःखों से छूट जाता है।

प्रश्न :—तीर्थंकर के केवली अवस्था में नौ केवल लब्धियां अर्थात् भोगोपभोग आदि के सद्भाव होने का क्या रहस्य है ?

उत्तर :—केवली भगवान को ९ परम केवल लब्धियाँ प्राप्त होती हैं :—

(१)	दर्शनावरण कर्म के क्षय होने से	अनन्तदर्शन-क्षायिक दर्शन की	प्राप्ति होती है।
(२)	ज्ञानावरण ,,	अनन्तज्ञान-क्षायिक ज्ञान की	,,
(३)	वीर्यान्तराय ,,	अनन्तवीर्य-क्षायिक वीर्य की	,,
(४)	चारित्र मोहनीय ,,	अनन्तसुख-क्षायिक चारित्र की	,,
(५)	दर्शन मोहनीय ,,	अनन्तदर्शन-क्षायिक सम्यक्त्व की	,,
(६)	दानान्तराय ,,	क्षायिक दान की	,,
(७)	लाभान्तराय ,,	क्षायिक लाभ की	,,
(८)	भोगान्तराय ,,	क्षायिक भोग की	,,
(९)	उपभोगान्तराय ,,	क्षायिक उपभोग	,,

इस प्रकार चार घातिया कर्मों के क्षय से नौ परम केवल लब्धियाँ प्राप्त होती हैं। इन्हीं को जीव के असाधारण क्षायिक भाव भी कहते हैं।

प्रश्न :—जिस समय तीर्थंकर भगवान ने निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण की थी, उस दीक्षा के समय वे भगवान सर्व प्रकार के परिग्रह का त्याग कर चुके थे, तब उनके केवल ज्ञान अवस्था में भोग उपभोग के सद्भाव होने का क्या रहस्य है ? इसी प्रकार पदार्थों के अभाव में उनमें दान के कथन का क्या भाव है ?

उत्तर :—जो पदार्थ एक बार सेवन में आता है, उसे भोग कहते हैं, जैसे पुष्पमाला। जो अनेक बार भोगने में आता है, उसे उपभोग कहते हैं, जैसे वस्त्र। भगवान परम वीतरागी होने से सम्पूर्ण परिग्रह के पाप से उन्मुक्त हैं, फिर भी तीर्थंकर प्रकृति के विपाक काल में वैभव तथा विभूति की इतनी वृद्धि होती है कि संसार में उन तीर्थंकर के समान कोई वैभव शाली नहीं है, फिर भी आंतरिक त्याग के अनुकूल वे उस वैभव से दूर रहते हैं। उस वैभव का उपयोग तो दूसरी बात है, स्पर्श भी नहीं करते हैं। अनन्त अतीन्द्रिय आत्मोत्थ आनन्द का रसास्वाद आने से उन वीतराग

प्रभु की दृष्टि कर्माधीन सुख की ओर से पूर्ण विमुख है।

राजवार्तिक में लिखा है—'सम्पूर्ण भोगांतराय के तिरोभाव हो जाने से अतिशयों का आविर्भाव होने से भगवान के क्षायिक अनन्त भोग होता है। इसके फल स्वरूप पंचवर्ण युक्त सुगन्धित पुष्पों की वर्षा चरणों के निक्षेप के स्थान में अनेक प्रकार की दिव्य गंध युक्त सात कमलों की पंक्ति, सुगन्धित धूप, सुखद और शीतल पवनादिक प्राप्त होते हैं। कृत्स्नस्य भोगांतरायस्य तिरोभावादाविर्भूतोऽतिशयवाननंतो भोगः क्षायिको, यत्कृताः पंचवर्ण सुरभि कुसुमवृष्टि विबध, दिव्य गंध चरण निक्षेप स्थान सप्तपद्मपंक्ति सुगंधित धूप सुख शीतमारुतादयो भावाः।'

क्षायिक उपभोग के विषय में आचार्य का कथन है परिपूर्ण रूप से उपभोगान्तराय कर्म के नाश होने से उत्पन्न होने वाला अनन्त उपभोग क्षायिक है। इसके कारण सिंहासन, बाल व्यजन (पंखा) अशोक वृक्ष, छत्रत्रय, प्रभा मंडल, गम्भीर तथा मधुर स्वर रूप परिणमन होने वाली देव दुन्दुभि आदि पदार्थ होते हैं, 'निरवशेषस्योपभोगान्तराय कर्मणः प्रलयात्प्रादुर्भूतोऽनंत उपभोगः क्षायिको, यत्कृताः सिंहासन-बाल व्यजन अशोकपादप-क्षत्रत्रय-प्रभामण्डल-गम्भीर-स्निग्ध स्वर परिणाम-देवदुन्दुभिप्रभृतयो भावाः (पृ० ७३)

भगवान के द्वारा दिए जाने वाले क्षायिक दान पर अकलंक स्वामी इस प्रकार प्रकाश डालते हैं दानान्तराय कर्म के अत्यन्त क्षय होने से उत्पन्न होने वाला त्रिकाल गोचर अनन्त प्राणी मात्र का अनुग्रह करने वाला क्षायिक अभय दान होता है। 'दानान्तरायस्य कर्मणोऽत्यन्त संक्षयादाविर्भूतं त्रिकालगोचरानन्त-प्राणिगणानुग्रह करं क्षायिकमभयदानं (पृ० ७३)

जिनेन्द्र भगवान के कारण अनंत जीवों को कल्याणदायी तथा अविनाशी सुख का कारण अभयदान प्राप्त होता है, उसकी तुलना संसार में नहीं की जा सकती है। अन्य दोनों का सम्बन्ध शरीर तक ही सीमित है। यह वीतराग प्रभु का दान आत्मा को अनंत दुःख से निकालकर अविनाशी उत्तम सुख में स्थापित करता है। यह सामर्थ्य अलौकिक है।

प्रश्न :—सिद्ध भगवान में अभयदानादिक का सद्भाव कैसे सिद्ध होगा ?

उत्तर :—उक्त दानादि का सिद्धों में कैसे सद्भाव सिद्ध होगा ? इस प्रश्न के उत्तर में अकलंक स्वामी कहते हैं 'शरीरनामकर्मोदयाद्यपेक्षत्वात्तेषां तद्भावे तदप्रसंगः

परमानंताव्याबाध रूपेणैव तेषां च तत्र वृत्तिः केवलज्ञानरूपेणानंतवीर्यवत्'—उक्त रूप से अभयदानादि के लिये शरीर नाम कर्म के उदय की अपेक्षा पड़ती है। सिद्ध भगवान के शरीर नाम कर्म के उदय का अभाव होने से उक्त प्रकार की अपेक्षा पड़ती है। सिद्ध भगवान के शरीर नाम कर्म के उदय का अभाव होने से उक्त प्रकार के अभयदानादि का प्रसंग नहीं आयेगा। जिस प्रकार केवलज्ञान रूप से उन सिद्धों में अनन्त वीर्य गुण माना जाता है अर्थात् अनन्त वीर्य के साथ केवलज्ञान का अविनाभाव सम्बन्ध होने से केवलज्ञान होने से अनन्तवीर्य का सद्भाव सिद्ध होता है, उसी प्रकार उक्त अभयदानादि भावों का समावेश करना चाहिये।

आत्मा में अनन्त शक्ति है जो वीर्यान्तराय कर्म के क्षय से उत्पन्न होती है। यह शक्ति आत्मा कि स्तुति नहीं है, किन्तु वास्तव में युक्ति द्वारा यह शक्ति सिद्ध होती है। पं. आशाधरजी ने सागरधर्मामृत में लिखा है कि आत्मा में अनन्त शक्ति का सद्भाव मानना अतिशयोक्ति नहीं है, किन्तु यह वास्तविक है। आचार्य कल्प पं. आशाधर जी का अभिप्राय यह है कि जगत भर में सुर, नर, पशु, देव, दानव आदि तथा अन्य सम्प्रदायों में पूज्य माने गये उनके भगवान आदि भी कामवासना के कारण स्त्री का परित्याग करने में असमर्थ हैं। इतना प्रभाव इस काम भाव का है, जिसका स्वानुभव में निमग्न जिन भगवान ने जड़मूल से नाश कर दिया है, अतएव अनन्त जीवों पर शासन करने वाले काम के विध्वंसक जिनेन्द्र देव में अनन्त वीर्य का सद्भाव मानना पूर्णतया युक्ति संगत है।

प्रश्न :—समवशरण में तीर्थंकर प्रभु का कौनसा आसन रहता है ?

उत्तर:—समवशरण में तीर्थंङ्कर प्रभु का आसन पद्मासन रहता है।

प्रश्न :—भगवान भव्य जीवों के संताप दूर करने के लिए जो विहार करते हैं, उस समय उनके पैरों को उठाकर डग भरते हुये गमन को देखकर ऐसा प्रतीत होता हैं कि भगवान के इस प्रकार की क्रिया का सद्भाव स्वीकार करना इच्छा अस्तित्व का संदेह उत्पन्न करना है। तो वास्तव में क्या है ?

उत्तर :—मोहनीय कर्म का अत्यन्त क्षय हो जाने से जिनेन्द्र भगवान के इच्छा का पूर्णतया अभाव हो चुका है, फिर भी उनके शरीर में जो क्रिया होती है, वह अबुद्धि पूर्वक स्वभाव से होती है। प्रवचनसार में कुन्द-कुन्द आचार्य ने लिखा है—

ठाणणिसेज्जविहार धम्मुवदेसो हि णियदयो तेसिं ।
अरहंताणं काले मायाचारोव्व इच्छीणं ॥१५३१॥

अरहन्त भगवान के केवली अवस्था में खड़े होना, पद्मासन से बैठना, विहार करना तथा धर्मोपदेश देना ये सब कार्य स्वभाव से ही पाये जाते हैं। जिस प्रकार स्त्रियों में मायापरिणाम स्वभाव से होता है।

जिस प्रकार जिनेन्द्र देव की दिव्य देशना इच्छा के बिना होती है, उसी प्रकार उनके शरीर में खड़े रहना, बैठना तथा विहार करना आदि कार्य भी इच्छा के बिना ही होते हैं।

प्रश्न :—समवशरण में विहार के पश्चात् अरहन्त भगवान खड्गासन में रहते हैं या उनके पद्मासन हो जाता है ?

उत्तर :—विहार के पश्चात् समवशरण में भगवान अरहन्त पद्मासन से विराजमान रहते हैं। हरिवंशपुराण में लिखा है कि महावीर भगवान के दर्शनार्थ चतुरंग सेना समन्वित सम्राट श्रेणिक ने सिंहासन पर विराजमान वीर भगवान के दर्शन कर उनको प्रमाण किया था। श्लोक में 'सिंहासनोपविष्टं' शब्द का अर्थ है सिंहासन पर बैठे हुये।

मूल श्लोक इस प्रकार है—

सिंहासनोपविष्टं तं सेनया चतुरंगया ।
श्रेणिकोऽपि च संप्राप्तःप्रणनाम जिनेश्वरम् ॥१५३२॥

इस प्रकरण में यह बात ज्ञातव्य है कि वीर भगवान ने कायोत्सर्ग आसन से मोक्ष प्राप्त किया है। तिलोयपण्णत्ति में लिखा है—

उसहोय वासुपुज्जो णेमी पल्लंकबद्धया सिद्धा ।
काउस्सगेण जिणा सेसा मुत्ति समावण्णा ॥१५३३॥

ऋषभनाथ भगवान, वासुपूज्य स्वामी तथा नेमिनाथ भगवान ने पल्यंक बद्ध आसन से मोक्ष प्राप्त किया है।

शान्तिनाथ पुराण में लिखा है कि समवशरण में शान्तिनाथ भगवान का पल्यंकासन था। कहा भी है—

श्रेष्ठषष्ठो पवासेन धवले दशमीदिने ।
पौषमास दिनस्यान्ते पल्यंकासनमास्थितः ॥१५३४॥

निर्ग्रंथो नीरजो वीतविघ्नौ विश्वैकबांधवः ।
केवलज्ञान साम्राज्यश्रिया शान्तिमशिश्रियत् ।।१५३५।।

धर्म शर्माभ्युदय में लिखा है कि धर्मनाथ तीर्थंकर समवशरण में बैठे हुये थे। कहा भी है—

रत्नज्योतिर्भासुरे तत्र पीठे तिष्ठन् देवः शुभ्रभामंडलस्थः ।
क्षीरांभोधेः सिच्यमानः पयोभिर्भूयोरेजे कांचनाद्रिविबोच्चैः ।।१५३६।।

तिलोयपण्णत्ति के उपरोक्त कथन के प्रकाश में यह बात स्पष्ट हो जाती है कि धर्मनाथ, शान्तिनाथ तथा महावीर भगवान का मोक्ष कायोत्सर्ग आसन से हुआ है, किन्तु समवशरण में वे पद्मासन से विराजमान रहते थे। अतएव केवलज्ञान होने पर समवशरण में तीर्थंकर भगवान को पद्मासन मुद्रा में विराजमान मानना उचित है। सिंहासन रूप प्रातिहार्य अर्हंत भगवान के पाया जाता है। उस पर कायोत्सर्ग आसन से रहने की कल्पना उचित नहीं दिखती है।

एक बात यह भी विचारणीय है कि द्वादश सभाओं में समस्त जीव बैठे रहे, और भगवान खड़े रहे, ऐसा मानने पर भक्त भव्य जीवों पर अविनय का दोष आये बिना न रहेगा। तीन लोक के नाथ खड़े रहें उनके चरणों के सेवक जीव बैठे रहें।

ज्ञानार्णव में पिंडस्थ ध्यान के प्रकरण में सिंहासन पर पद्मासन से विराजमान जिनेन्द्र देव चिंतवन करने का कथन आया है। अतः यह बात आगम तथा युक्ति के अनुकूल है कि समवशरण में भगवान सिंहासन पर पद्मासन से विराजमान रहते हैं। विहार में कायोत्सर्ग आसन होता है। उसके पश्चात् पद्मासन हो जाता है। आसन में परिवर्तन मानने में कोई बाधा नहीं है।

ऋषभनाथ तीर्थंकर प्रभु की दिव्यध्वनि गणधर का अभाव—

भगवान ऋषभदेव को जब केवलज्ञान प्राप्त हुआ था, तब उनके उपदेश के पूर्व साधारण लोग धर्म तत्व से पूर्ण अपरिचित थे, अतः समवशरण के निर्माण होने पर भी गणधर कौन बनेगा और कौन भगवान की दिव्यध्वनि को झेलेगा। कर्म भूमि के प्रारम्भ की अवस्था को दृष्टि में रखने वाले के समक्ष सम्पूर्ण परिस्थिति का चित्र उपस्थित हो जायेगा। इस प्रसंग में महापुराण से एक महत्वपूर्ण प्रकाश प्राप्त होता

है। उससे सर्व प्रकार की कठिनताएँ सहज ही सुलझ जायेगी। जिस प्रकार वैशाख सुदी दशमी को महावीर भगवान को केवलज्ञान हो जाने पर ६६ दिन तक दिव्यध्वनि उत्पन्न नहीं हुई थी, यद्यपि सर्व सामग्री का समुदाय वहाँ विद्यमान था। जय धवला टीका में कहा है कि उस समय गणधर देवरूप कारण का अभाव था, 'गणिंदाभावादो' (पृ० ७६)।

गणधर देव की उपलब्धि होने पर श्रावण कृष्ण प्रतिपदा को प्रभात बेला में वीर जिनेन्द्र की दिव्य ध्वनि खिरी थी। इससे भी कठिन परिस्थिति उस कर्म भूमि के प्रारम्भ काल में थी, जब भगवान आदिनाथ ने तपश्चर्या द्वारा केवल्य ज्ञान लक्ष्मी प्राप्त की थी। यदि लोक धर्म तत्व के ज्ञाता होते, तो मुनि अवस्था में भगवान को छह माह तक आहार प्राप्ति के निमित्त क्यों भटकना पड़ता? इस प्रकार की कठिन स्थिति मन में विविध शंकाओं को उत्पन्न करती है।

महापुराणकार कहते हैं कि भरत महाराज को धर्माधिकारी पुरुष से यह समाचार प्राप्त हुआ कि आदिनाथ भगवान को केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ है, आयुध शाला के रक्षक से ज्ञात हुआ कि आयुध शाला में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ है तथा कंचुकी से ज्ञात हुआ कि राज भवन में पुत्र उत्पन्न हुआ है।

धर्मार्थाद् गुरुकैवल्यं चक्रमायुधपालतः।
गुरोः कैवल्यसंभूति सूतिं च सुतचक्रयोः ॥१५३७॥

भरतेश्वर ने पहले धर्म पुरुषार्थ की आराधना करना कल्याणदायी सोच, 'कार्येषु प्राग्विधेयं तद्धर्म्यं श्रेयोनुबंधि यत्।' (८) इससे भरत महाराज सपरिवार पुरिमतालपुर जाने को उद्यत हुये। तिलोयपण्णत्ति में लिखा है कि फाल्गुण कृष्ण एकादशी के पूर्वान्ह काल मे उत्तराषाढ़ नक्षत्र के रहते हुये आदिनाथ भगवान को केवल ज्ञान प्राप्त हुआ था (४-६७६) प्रभु के समवशरण की भूमि सूर्य मंडल के समान गोल इन्द्रनील मणिमयी तथा बारह योजन प्रमाण विस्तार वाली थी। केवल ज्ञान उत्पन्न होते ही भगवान का परम औदारिक शरीर पृथ्वी से पांच हजार धनुष ऊँचाई पर चला गया था। भरत महाराज ने सुवर्ण निर्मित बीस हजार सीढ़ियों पर से शीघ्र ही समवशरण में प्रवेश किया था।

पुण्यशाली महाराज भरत ने पद्मासन से विराजमान उन अन्तरयामी आदिनाथ

प्रभु की प्रदक्षिणा दी। श्रेष्ठ सामग्री से उन देवाधिदेव की अत्यन्त भक्ति पूर्वक पूजा की। पूजा के उपरान्त उनको प्रणाम किया और उनका मंगलास्तवन करते हुए कहा—

त्वं शभुः शंभवः शंयुः शंवदः शंकरो हरः।
हरि र्मोहासुरारिश्च तमोरिर्भव्यभास्करः ॥१५३८॥

हे भगवान आप ही शम्भु हैं, संभव हैं, शंयु अर्थात् सुखी हैं, शंवद अर्थात् सुख या शान्ति का उपदेश देने वाले हैं, शंकर अर्थात् शांति के करने वाले हैं, हर हैं, मोह रूपी असुर के शत्रु हैं, हरि हैं, अज्ञानरूप अन्धकार के अरि हैं और भव्य जीवों के लिये उत्तम सूर्य हैं।

भरतेश्वर जिनेन्द्र देव के गुणास्तवन के शिवाय नाम कीर्तन को भी आत्म निर्मलता का कारण मानते हुए कहते हैं—

तदास्तां ते गुण स्तोत्रं नाम मात्रं च कीर्तितम्।
पुनाति नस्ततो देव त्वन्नामोद्देशतः श्रिताः ॥१५३९॥

हे देव! आपके गुणों का स्तोत्र करना तो दूर रहा, आपका उच्चारण किया हुआ नाम भी हम लोगों को पवित्र कर देता है, अतएव हम आपका नाम लेकर ही आपकी शरण को प्राप्त होते हैं।

भरत चक्रवर्ती के निमित्त से भगवान की दिव्य ध्वनि—

वृषभात्मज भरतेश्वर जगत् पिता वृषभ जिनेश्वर की स्तुति के उपरान्त श्री मंडप में जाकर अपने योग्य सभा में जा बैठे। पश्चात् विनय पूर्वक भरतराज ने जिनराज की प्रार्थना की—

भगवान बोद्धुमिच्छामि कीदृशस्तत्वविस्तरः।
मार्गो मार्गफलं चापि कीदृग् तत्वविदांवर ॥१५४०॥

हे भगवन्! तत्त्वों का स्पष्ट स्वरूप किस प्रकार है? मार्ग तथा मार्ग फल कैसा है? हे तत्त्वज्ञों में श्रेष्ठ देव! मैं आपसे यह सब सुनना चाहता हूँ।

भाग्यशाली भक्त भव्य शिरोमणी भरतराज के प्रश्न के उत्तर में भगवान ने समस्त सप्त तत्वों का, रत्नत्रय मार्ग तथा उसके फलस्वरूप निर्वाण आदि का अपनी दिव्य वाणी के द्वारा निरूपण किया। सर्वज्ञ, वीतराग तथा परम हितोपदेशी

जिनेन्द्र देव की वाणी की महिमा का कौन वर्णन कर सकता है ? सम्राट भरत ने भगवान के श्रीमुख से मुनि दीक्षा लेते समय सांत्वना के शब्द सुने थे, उसके पश्चात् अब फिर प्रभु की प्रिय मधुर तथा शांतिदायिनी वाणी सुनने में आई। समवशरण में विद्यमान भव्य जीवों को अवर्णनीय आनन्द तथा प्रकाश की उपलब्धि हुई। चिर पिपासित चातक के मुख में मेघ बिन्दु पड़कर जैसी प्रसन्नता उत्पन्न करती है, ऐसी ही प्रसन्नता प्रभु की वाणी को सुनकर, समवशरण के भव्य जीवों को प्राप्त हुई थी। प्रभु की वाणी का सम्राट भरत पर क्या प्रभाव पड़ा ? इस पर महापुराणकार इस प्रकार प्रकाश डालते हैं—

ततः सम्यक्त्वशुद्धिं च व्रतशुद्धिं पुष्कलाम् ।
निष्कलात् भरतो भेजे परमानन्दमुद्वहन् ॥१५४१॥

भगवान की दिव्य देशना को सुनकर सम्राट भरत ने परम आनन्द को प्राप्त होते हुए सम्यक्त्व शुद्धि तथा व्रतों के विषय में परम विशुद्धता प्राप्त की।

भरत महाराज ने भगवान की आराधना कर सम्यग्दर्शन रूप मुख्य मणि सहित व्रत और शीलों से समलंकृत निर्मल माला अपने कंठ में धारण की, जो मुक्ति श्री के कंठहार के समान लगती थी। अर्थात् भरत महाराज ने बारह व्रतों द्वारा अपना जीवन अलंकृत किया था। इस कारण वे सम्राट भरत सुसंस्कृत मणि के समान देदीप्यमान होते थे।

भगवान की दिव्य वाणी सुनकर बारहवें कोठे में स्थित पशुओं, पक्षियों के मध्य में स्थित मयूरों को बड़ा हर्ष हुआ, क्योंकि जिनेन्द्र की मधुर वाणी उन मयूरों को अत्यन्त प्रिय मेघ की ध्वनि समान सुनाई पड़ी थी। महाकवि जिनसेन स्वामी कहते हैं—

दिव्यध्वनिमनुसृत्य जलद-स्तनितोपमम् ।
अशोक-विटपारूढाः सस्वनु-र्दिव्यबर्हिणः ॥१५४२॥

मेघ की गर्जना के समान भगवान की दिव्यध्वनि को सुनकर अशोक वृक्ष की शाखाओं पर स्थित दिव्य मयूर भी आनन्द से मानो शब्द करने लग गये थे।

प्रश्न—ऋषभनाथ तीर्थङ्कर के प्रथम गणधर वृषभसेन थे क्या ?

उत्तर—भगवान की दिव्य देशना से भरत महाराज के छोटे भाई पुरिमताल पुर (वर्तमान प्रयाग) के स्वामी वृषभसेन की आत्मा अत्यधिक प्रभावित हुई। वृषभ

पिता की कल्याणमयी आज्ञा को ही मानों शिरोधार्य करते हुये वृषभ पुत्र ने मोक्ष के साक्षात् मार्ग स्वरूप महाव्रतों को अंगीकार कर मुनि पदवी प्राप्त की और सप्तऋद्धि से शोभायमान होकर प्रथम गणधर पद की प्रतिष्ठा प्राप्त की। उनके विषय में महापुराणकार के शब्द ये हैं—

श्रेऽसौ पुरिमतालेशो, भरतस्यानुजः कृती ।
प्राज्ञः शूरः शुचि र्धीरो, धौरेयो मानशालिनाम् ॥१५४३॥
श्रीमान् वृशभसेनाख्यः प्रज्ञापारमितो वशी ।
स सम्बुध्य गुरोः पार्श्वे दीक्षित्वाऽभूद् गणाधिपः ॥१५४४॥

उसी समय कुरुवंश के शिरोमणि, महाराज श्रेयांस, महाराज सोमप्रभ तथा अन्य राजाओं ने मुनिदीक्षा धारण कर वृषभसेन स्वामी के समान गणनायकों के पद प्राप्त किये।

जिस सर्व परिग्रहत्याग वृत्ति को सिंहवृत्ति मानकर शृगाल स्वभाव वाले जीव डरा करते हैं, उस पदवी को निर्भय होकर धारण करने में लोगों का साहस वृद्धिमत हो रहा था। भरत महाराज की छोटी बहन ब्राह्मी ने कुमारी अवस्था में ही वैराग्य भाव जागृत हो जाने से आर्यिका की श्रेष्ठ पदवी प्राप्त की।

गुरुदेव के अनुग्रह से कुमारी ब्राह्मी ने दीक्षा लेकर आर्यिकाओं के मध्य गणिनी का पद प्राप्त किया था। आर्यिका ब्राह्मी की देवताओं ने पूजा की थी।

बाहुबलि कुमार की सगी बहिन कुमारी सुन्दरी ने भी बहिन ब्राह्मी के समान जिन दीक्षा धारण कर नारी जाति को गौरवान्वित किया था। उस समय श्रुत कीर्ति नामक गृहस्थ ने श्रावकों के उच्च व्रत ग्रहण किये थे। यह देशव्रती श्रावकों में प्रमुख था।

भरत के भाई अनन्तवीर्य कुमार ने भी भगवान से मुनि दीक्षा लेकर अपूर्व विशुद्धता प्राप्त की इस युग में केवल ज्ञान प्राप्त करके मोक्ष जाने वाले पूज्य पुरुषों में अनन्तवीर्य भगवान का सर्वोपरि स्थान है। कहा भी है—

संबोऽनंतवीर्यश्च, गुरोः संप्राप्तदीक्षणः ।
सुरैवाप्तपूजाधिरग्रिमो मोक्षवतामभूत् ॥१५४५॥

कुमार अनन्तवीर्य ने प्रतिबोध को प्राप्त करने के पश्चात् भगवान से दीक्षा ली। देवों के द्वारा पूजा प्राप्त की। वे अन्तवीर्य इस अवसर्पिणी काल में मोक्ष

जाने वाले में अग्रणी हुये है।

भगवान के साथ दीक्षा लेने वाले तथा पश्चात् भ्रष्ट हुये समस्त राजाओं ने भगवान की वाणी को सुनकर अपने मिथ्यात्व का परित्याग कर जैनेश्वरी दीक्षा धारण की। मरीचिकुमार का संसार भ्रमण अभी समाप्त नहीं हुआ था, अतः उस मरीचिकुमार ने मिथ्यामार्ग आश्रय नहीं छोड़ा। कहा भी है—

मरीचिवर्ज्याः सर्वेऽपि, तापसास्तपसि स्थिता।
भट्टारकान्ते संबुध्य, महाप्राव्राज्येऽवस्थिताः ॥१५४६॥

मरीचिकुमार को छोड़कर शेष सभी कुलिंगी साधुओं ने भट्टारक ऋषभदेव के समीप प्रति बोध को प्राप्त कर महाप्राव्रज्य अर्थात् पञ्च महाव्रतों की दीक्षा ग्रहण की।

भरत महाराज सदृश महान ज्ञानी के छोटे भाई, छोटी बहिन कुमारी ब्राह्मी आदि ने दीक्षा ली, किन्तु भरत महाराज अयोध्या को लौट गये और दिग्विजय आदि संसारिक चिंताओं में संलग्न हो गये, क्योंकि उनके परिग्रह परित्याग की पुण्य वेला अभी समीप नहीं आई थी। जब काललब्धि का योग मिला, तो दीक्षा लेकर भरत सम्राट शीघ्र ही ज्ञान साम्राज्य के स्वामी बन गये। मुनि पदवी लेने के पश्चात् उन्हें फिर पारणा करने तक का भी प्रसंग नहीं प्राप्त हुआ। उत्तर पुराण का यह कथन कितना अर्थ पूर्ण है—

आदितीर्थकृतो ज्येष्ठ पुत्रो राजसु षोडश।
ज्यायांश्चक्री मुहूर्तेन मुक्तो यं कस्तुलांव्रजेत् ॥१५४७॥

आदिनाथ तीर्थंकर के ज्येष्ठ पुत्र, सोलहवें मनु प्रथम चक्रवर्ती भरत महाराज ने अन्तर्मुहुर्त के अन्तर ही केवल्य ज्ञान प्राप्त किया था। उनकी बराबरी संसार में कौन कर सकता है ?

प्रश्न—तीर्थङ्कर भगवान में लक्ष्मी और सरस्वती की मैत्री किस प्रकार पाई जाती है ?

उत्तर—संसार में यह बात प्रसिद्ध है कि सरस्वती और लक्ष्मी में इतना विरोध है कि किसी भी पुरुष में दोनों का एक साथ निवास नहीं पाया जाता है। तीर्थंकर भगवान में इन दोनों की मैत्री स्पष्ट नयन गोचर होती है। समन्तभद्र स्वामी ने पद्मप्रभ भगवान के स्तवन में कहा है कि जिनेन्द्र देव ने सरस्वती तथा पद्मा अर्थात्

लक्ष्मी को मुक्ति श्री के अभिमुख होने के पहले धारण किया था। 'बभार पद्मां च सरसीं च भगवान् एरस्तात् प्रतिमुक्तिलक्ष्याः'

प्रश्न—अचेल अवस्था या दिगम्बरत्व क्या है ?

उत्तर—विविध धर्मों के साहित्य में जो अचेल या दिगम्बरत्व के पोषक वाक्य मिलते हैं, उसका कारण यह प्रतीत होता है, कि इन समस्त देशों के विद्वानों दिगम्बर अवस्था में जिनेन्द्र देव के अवश्य दर्शन किये थे। प्रचुर शीत परिपूर्ण तथा हिमाच्छादित देशों के साहित्य में भी दिगम्बर वृत्ति के प्रति आदरपूर्ण भाव प्रदर्शन का असली रहस्य यह रहा है कि सभी तीर्थङ्कर मुनि अवस्था में निर्ग्रन्थ थे, श्वेताम्बरों की मान्यतानुसार निर्ग्रन्थपने का दिगम्बर पन से रहित अर्थ करना असंगत है, क्योंकि वस्त्रों के होते हुये श्रेष्ठ अहिंसा वृत्ति का पालन करना असंभव है। वस्त्रादि के प्रति मूर्च्छारूप अन्तरंग परिग्रह भाव तो रहेगा ही, साथ ही द्रव्य हिंसा का भी दोष नहीं टाला जा सकता है। वस्त्रों को स्वच्छ करते समय सतत अनन्त जलकायिक जीवों का विनाश भी आवश्यम्भावी है।

प्रश्न—योग निरोध के बाद समवशरणादि की क्या स्थिति है ?

उत्तर—भगवान आदिनाथ को सिद्धालय प्राप्त करने में जब चौदह दिन शेष रह गये तब प्रभु आदिनाथ कैलाशगिरि पर आ गये। कैलाश पर्वत पर प्रभु पद्मासन से विराजमान हुये। जिस दिन योग निरोध कर भगवान अष्टापद अर्थात् कैलाश पर्वत पर विराजमान हुये, उसी दिन भरत चक्रवर्ती ने स्वप्न में देखा कि—

तदाभरतराजेन्द्रो महामंदरभूधरं।
आप्राग्भारं व्यलोकिष्ट स्वप्ने दैर्घ्येण संस्थितं ॥१५४८॥

महा मंदराचल अर्थात् सुमेरु पर्वत वृद्धि को प्राप्त होता हुआ प्रभाकर पृथ्वी अर्थात् सिद्ध लोक तक पहुँच गया है।

युवराज अर्क कीर्ति ने स्वप्न में देखा, एक महौषधि का वृक्ष स्वर्ग से आया था। मनुष्यों का जन्म-रोग नष्ट कर वह पुनः स्वर्ग में चला गया। गृहपति रत्न ने देखा कि एक कल्पद्रुम स्वर्ग प्राप्ति के लिये समुद्यत है। चक्रवर्ती के प्रमुख मंत्री ने देखा कि एक रत्नों का दीपक जीवों को ज्ञानरत्न देने के पश्चात् आकाश में जाने के लिये उद्यत हो रहा है। सेनापति ने देखा, कि एक सिंह वज्र के पिंजरे को तोड़कर कैलाश पर्वत को उल्लंघन करने के लिये तैयार हुआ। भरत चक्रवर्ती के पुत्र अर्क

कीर्ति ने देखा कि त्रिलोक को प्रकाश करता हुआ तारकेश्वर अर्थात् चन्द्रमा ताराओं सहित जा रहा है, चक्रवर्ती की पट्टरानी सुभद्रा का स्वप्न था कि ऋषभ देव भगवान की रानी यशस्वती और सुनन्दा के साथ शक्र अर्थात् इन्द्र की मनः प्रिया अर्थात् महादेवी (इन्द्राणी) बहुत कालपर्यन्त शोक कर रही है। इन स्वप्नों का फल पुरोहित ने यह बताया कि ये समस्त स्वप्न यह सूचित करते हैं कि भगवान वृषभ देव समस्त कर्मों का निर्मूल नाश कर अनेक मुनियों के साथ मोक्ष पधारेंगे।

इतने में आनन्द नाम के व्यक्ति ने चक्रवर्ती भरतेश्वर को भगवान ऋषभ का सर्ववृत्तांत बताया कि—

ध्वनौ भगवतो दिव्ये संहृते मुकुलीभवत्।
कराम्बुजा सभा जाता पूष्णीव सरसोत्यसौ ॥१५४९॥

भगवान की दिव्य ध्वनि का खिरना अब बन्द हो गया है, इससे जैसे सूर्य के अस्त के समय सरोवर के कमल मुकुलित हो जाते हैं, उसी प्रकार सब सभा हाथ जोड़े हुये मुकुलित (उदास) हो रही है।

इस समाचार को सुनते ही भरत चक्रवर्ती तत्काल कैलाश पर्वत पर पहुंचे। उन प्रभु की तीन परिक्रमा करके स्तुति की।

महामहमहापूजां भक्त्या निर्वर्तयन्स्वयं।
चतुर्दश दिनान्येवं भगवंत मसेवत ॥१५५०॥

चक्रवर्ती भरत ने महामह नाम की महान पूजा भक्ति भाव पूर्वक स्वयं की तथा चौदह दिन तक भगवान की सेवा भक्ति की।

यहां यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि सर्व सामग्री का सन्निधान होते हुये भी आदिनाथ जिनेन्द्र की लोक कल्याण निमित्त खिरने वाली दिव्यवाणी बन्द हो गई, क्योंकि क्षण-क्षण में विशेष विशुद्धता को प्राप्त करने वाले इन प्रभु की शुद्धोपयोग रूप अग्नि अत्यधिक प्रज्वलित हो गई है और अब उसमें अघातिया कर्मों को भी स्वाहा (भस्म) करने की तैयारी आत्म यज्ञ के कर्ता जिनेन्द्र ने की है। प्रारम्भ में निर्दयता पूर्वक पाप कर्मों को नष्ट किया था और अब शुभ भावों द्वारा बांधी गई पुण्य प्रकृतियों का की शुभ भाव रूपी तीक्ष्ण तलवार के द्वारा ध्वंस का कार्य शीघ्र आरम्भ होने वाला है। संसार के जीवों की अपेक्षा प्रिय और पूज्य मानी गई तीर्थंकर प्रकृति अब इन वीतराग प्रभु को सर्वथा क्षय योग्य लगती है, क्योंकि ऐसा कोई

भी कर्म का उदय नहीं है, जो सिद्ध पदवी के प्राप्त करने में विघ्न रूप न हो। पंचाध्यायी में लिखा है—

नहि कर्मोदयः कश्चित्, जन्तो र्यः स्यात् सुखावहः ।
सर्वस्य कर्मणस्त्र, वैलक्षण्यात् स्वरूपतः ॥१५५१॥

ऐसा कोई कर्म का उदय नहीं है जो आत्मा को आनन्द प्रदान करे, क्योंकि सभी कर्मों का उदय आत्म स्वरूप से विपरीत स्वभाव वाला है।

इस कथन के प्रकाश में यह बात सिद्ध होती है कि स्वभाव परिणति की उपलब्धि में बाधक तथा विभाव परिणति के साधक कारण सभी कर्म त्यागने योग्य हैं। सुवर्ण वर्ण के सर्प द्वारा कृत दंश प्राप्त व्यक्ति उसी प्रकार मृत्यु के मुख में प्रवेश करता है, जिस प्रकार श्याम सर्पराज के द्वारा काटा गया व्यक्ति भी प्राणों का त्याग करता है। इसलिये शुद्धोपयोगी ऋषिराज ऋषभदेव तीर्थङ्कर ने दिव्य उपदेश देना बन्द कर दिया है। उन्हें जितना कहना था, वह सब कह चुके। अन्य जीवों के उपकार के लिये यदि भगवान लगे रहें तो वे सिद्ध वधू के स्वामी नहीं बन सकेंगे। इसलिये अब भगवान पूर्ण निर्मलता सम्पादन के श्रेष्ठ उद्योग में संलग्न हैं। अन्य तीर्थंकरों के योग निरोध का समय एक माह तक आगम में कहा गया है, इतना विशेष है कि वर्धमान भगवान ने जीवन के दो दिन शेष रहने पर योग्य निरोध आरम्भ किया था। यही बात निर्वाण भक्ति में इस प्रकार कही है—

आद्यश्चतुर्दश दिनै विनिवृत्तयोगः,
षष्ठेन निष्ठित कृतिर्जिनवर्धमानः ।
शेषा विधूत घनकर्म निबद्धपाशा,
मासेन ते वलिवरास्त्वभवन्वियोगाः ॥१५५२॥

ऋषभनाथ भगवान ने मन-वचन-काय के योगनिरोध का कार्य चौदह दिन पूर्व किया था तथा वर्धमान जिनने दो दिन पूर्व योगनिरोध किया था, घनकर्म राशि के बंधन को दूर करने वाले बाईस तीर्थंकरों ने एक माह पूर्व मन-वचन-काय की बाह्य क्रिया का निरोध प्रारम्भ किया था।

प्रश्न :—केवली के कौनसा ध्यान रहता है ?

उत्तर :—शुक्ल ध्यान का तृतीय भेद उस समय होता है, जब आयु कर्म के क्षय के लिये अंतर्मुहूर्त काल शेष रहता है। अतएव प्रश्न होता है कि आठ वर्ष से कुछ

अधिक काल में केवली बनकर एक कोटि पूर्वकाल में से किंचित् न्यून काल छोड़कर शेषकाल पर्यन्त केवली के कौनसा ध्यान रहता है ?

परमार्थ दृष्टि से 'एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानं' यह ध्यान का लक्षण सर्वज्ञ भगवान में नहीं पाया जाता है। आत्म स्वरूप में प्रतिष्ठित होते हुए भी ज्ञानावरण के क्षय होने से वे त्रिकालज्ञ भी हैं, अतः उनको [illegible] का कथन किस प्रकार सिद्ध होगा ? चिन्ता का भी उनके अभाव है। 'चिन्ता अंतः करणवृत्तिः' अंतः करण अर्थात् क्षयोपशमात्मक भावमन की विशेषवृत्ति चिन्ता है। केवली के क्षायिक केवलज्ञान होने से क्षयोपशमरूप चित्तवृत्ति का सद्भाव भी नहीं है, तब उस चित्तवृत्ति का निरोध कैसे बनेगा ? इस अपेक्षा से केवली भगवान के ध्यान नहीं है।

प्रश्न :—(इस पर शंका उत्पन्न होती है कि) आगम में केवली के दो शुक्ल ध्यान क्यों कहे गये हैं ?

उत्तर :—केवली भगवान के उपचार से ध्यान कहे गए हैं। राजवार्तिक में 'एकादशजिने' सूत्र की टीका में अकलंक स्वामी लिखते हैं 'केवली भगवान में ग्यारह परिषह उपचार से पाये जाते हैं। इस विषय के स्पष्टीकरण हेतु आचार्य लिखते हैं –

"यथा निरवशेष निरस्त-ज्ञानावरणे परिपूर्णे ज्ञाने एकाग्रचिंता निरोधाभावेऽपि कर्मरजो-विधूनन फल संभवात् ध्यानोपचारः तथा क्षुधादि-वेदनाभाव परीषहाऽभावेऽपि वेदनीय कर्मोदय द्रव्य परीषहसद्भावात् एकादश जिते संतीति उपचारो युक्तः"। (पृष्ठ ३३८) जिस प्रकार ज्ञानावरण कर्म के परिपूर्ण क्षय होने से केवलज्ञान के उत्पन्न होने पर एकाग्रचिंता निरोधरूप ध्यान के अभाव होने पर भी कर्मरज के विनाशरूप फल को देखकर ध्यान का उपचार किया जाता है, उसी प्रकार क्षुधा, तृषादि की वेदना रूप भाव परीषह के अभाव होते हुए भी वेदनीय कर्मोदय द्रव्यरूप कारणात्मक परीषह के सद्भाव होने से जिन भगवान में एकादश (ग्यारह) परिषह होते हैं, ऐसा उपचार किया जाता है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि केवली भगवान के आयुकर्म की अंतर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति शेष रहने के पूर्वध्यान का सद्भाव नहीं कहा गया है, इसी कारण धवला टीका में सयोगी जिनके विषय में लिखा है, 'सयोगी केवली ण किंचि कम्मं खवेदि' (पृ० २२३ भाग १) सयोग केवली किसी कर्म का क्षय नहीं करते हैं। कर्म के क्षपण कार्य का अभाव रहने से सयोगी जिनके ध्यान का अभाव है। इतना

विशेष है कि अयोग केवली होने के पूर्व सयोगी जिन अघातिया कर्मों की स्थिति के असंख्यात भागों को नष्ट करते हैं तथा अशुभ कर्मों के अनुभाग को नष्ट करते हैं, उस समय उनके सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति शुक्ल ध्यान की योग्यता उत्पन्न होती है।

प्रश्न :—समुद्घातविधि क्या है ?

उत्तर :—समुद्घात विधि—हरिवंश पुराण में लिखा है 'जिस समय केवली की आयु अंतर्मुहूर्त मात्र रह जाती है और गोत्र आदि तीन अघातियां कर्मों की स्थिति भी आयु के बराबर रहती है, उस समय सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति नाम का तीसरा शुक्ल ध्यान होता है और यह मन-वचन-काय की स्थूल क्रिया के नाश होने पर उस समय होता है, जब स्वभाव से ही काय सम्बन्धी सूक्ष्म क्रिया का अवलंबन होता है।

अंतर्मुहूर्त शेषायुः स यदा भवतोश्वरः।
तत्तुल्यस्थितिगोत्रादित्रितयश्च तदा पुनः ॥१५५३॥
शुक्लं वाङ्मनोयोगं काययोगं च बादरं।
प्रहाप्यालंब्य सूक्ष्मं तु काययोगं स्वभावतः ॥१५५४॥
तृतीयं शुक्ल सामान्यात् प्रथमं तु विशेषतः।
सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति ध्यानमाध्यातुमर्हति ॥१५५५॥

तत्वार्थ राजवार्तिक में अकलंक स्वामी ने लिखा है, जब सयोग केवली की आयु अंतर्मुहूर्त प्रमाण रहती है और शेष वेदनीय, नाम तथा गोत्र इन कर्मों की स्थिति अधिक रहती है, उस समय आत्मोपयोग के अतिशय सहित साम्यभाव समन्वित विशेष परिणाम युक्त, संवर वाला, शीघ्र कर्मक्षय करने में समर्थ, योगी शेष कर्मरूपी रज के विनाश करने की शक्ति से अलंकृत स्वभाव से दंड, कपाट, प्रतर तथा लोकपूरण समुद्घात रूप आत्म प्रदेशों का चार समय में विस्तार करके पश्चात् उतने ही समयों में विस्तृत आत्म प्रदेशों को संकुचित करता हुआ चारों कर्मों की स्थिति विशेष को एक बराबर करके पूर्व शरीर बराबर परिमाण को धारण करके सूक्ष्म काय योग को धारण करता हुआ सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति नाम के ध्यान को करता है। मूल ग्रन्थ के शब्द इस प्रकार हैं—

यदा पुनरंतर्मुहूर्त-शेषायुष्कस्ततोऽधिक स्थिति विशेष कर्मत्रयो भवति योगी, तदात्मोपयोगातिशयस्य सामायिक सहायस्य विशिष्टकरणस्य महासंवरस्य लघुकर्मपरिपरिवाचनस्य शेषकर्म-रेणु-परिशातन शक्ति-स्वभावात् दंड-कपाट-प्रतरलोकपूरणानि

स्वात्मप्रदेश विसर्पणतश्चतुर्भिः समयैः कृत्वापुनरपि तावद्भिरेव समयैः समुपहृत प्रदेश-विसर्पणः समीकृत-स्थिति विशेष कर्मचतुष्टयः पूर्व-शरीर परिमाणो भूत्वा सूक्ष्मकाय योगेन सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यानं ध्यायति (पृष्ठ ३५६ अध्याय ९ सूत्र ४४)।

महापुराण में लिखा है—

सहि योगनिरोधार्थमुद्यतः केवली जिनः।
समुद्घात-विधि पूर्वमाविष्कुर्यान्निसर्गतः ॥१५५६॥

स्नातक केवली जिन भगवान जब योगों का निरोध करने के लिये तत्पर होते हैं, तब वे उसके पूर्व ही स्वभाव से समुद्घात की विधि करते हैं।

समुद्घात विधि का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—पहले समय में केवली के आत्म प्रदेश चौदह राजू ऊँचे दंड के आकार होते हैं। दूसरे समय में कपाट् अर्थात् दरवाजे के किवाड़ आकार को धारण करते हैं। तृतीय समय में प्रतर रूप होते है। चौथे समय में समस्त लोक में व्याप्त हो जाते हैं। इस प्रकार वे जिनेन्द्र देव चार समय में समस्त लोकाकाश को व्याप्त कर स्थित होते हैं।

इस प्रसंग में यह बात ध्यान देने योग्य है कि ब्रह्मवादी ब्रह्मा को सम्पूर्ण जगत में व्याप्त मानते हैं। जैन दृष्टि से उनका कथन सयोगी जिन के लोक पूरण समुद्घात काल में सत्यचरितार्थ होता है, क्योंकि लोक पूरण समुद्घात की अवस्था में जिनेन्द्र परमात्मा के आत्मप्रदेश समस्त लोक में विस्तार स्वभाववश व्याप्त होते हैं।

ब्रह्मवादी सदा ब्रह्म को लोक व्यापी कहता है, इससे उसका कथन अयथार्थ हो जाता है।

लोकपूरण समुद्घात् के अनन्तर आत्मप्रदेश पुनः प्रतररूपता को दूसरे समय में धारण करते हैं। तीसरे समय में कपाटरूप होते हैं तथा चौथे समय में दंडरूप होते हैं और शरीराकार हो जाते हैं। इस समुद्घात् क्रिया के करने में विस्तार में चार समय तथा संकोच में चार समय अर्थात् समस्त आठ समय लगते हैं। लोक-पूरण समुद्घात के समय आत्मा के प्रदेश सिद्धालय का स्पर्श करते हैं, नरक की भूमि का भी स्पर्श करते हैं तथा उन आकाश प्रदेशों का भी स्पर्श करते हैं, जिनका पञ्च परावर्तन रूप संसार में परिभ्रमण करते समय इस जीव ने चौरासी लक्ष योनियों को धारण कर अपने शरीर की निवास भूमि बनाया था। अनन्तानन्त जीवों के भीतर

भी यह योगी समा जाता है। इस कार्य के द्वारा सयोगी जिन अघातिया कर्मों की स्थिति में विषमता दूर करके उनको आयुकर्म के बराबर शीघ्र बनाते हैं। जिस प्रकार गीले वस्त्र को ऊंचा, नीचा, आड़ा, तिरछा करके हिलाने से वह शीघ्र सूख जाता है, उसी प्रकार की इस क्रिया द्वारा योगी अघातिया कर्मों की स्थिति तथा अशुभ कर्मों की अनुभाग शक्ति का खंडन करते हैं।

इस समुद्घात क्रिया के विषय में यह कल्पना करना अनुचित नहीं है कि समता भाव के स्वामी जिनेन्द्र देव सदा के लिये अपने घर सिद्धालय में जा रहे हैं, इससे वे सब जीवों से बैर विरोध छोड़कर बिना संकोच छोटे बड़े सबसे भेंट करते हुए तथा मिलते हुये मोक्ष जाने को तैयार हो रहे हैं। महापुराण में लिखा है—

तत्राघातिस्थिते भर्गान संख्येयान्निहंत्य सौ।
अनुभागस्य चानंतान् भागानशुभकर्मणाम् ॥१५५७॥

उस समय वे भगवान अघातिया कर्मों की स्थिति के असंख्यात भागों को विनष्ट करते हैं। इसी प्रकार अशुभ कर्मों के अनुभाग के अनन्त भागों को नष्ट करते हैं।

इसके पश्चात अन्तर्मुहूर्त में योगरूपी आस्त्रव का विरोध करते हुये काय योग के आश्रय से वचनयोग तथा मनोयोग को सूक्ष्म करते हैं, और फिर काययोग को भी सूक्ष्म करके उसके आश्रय से होने वाले सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति नामक तीसरे शुक्ल ध्यान का चिंतवन करते हैं।

इस प्रसंग में यह बात ध्यान देने योग्य है कि क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती निर्ग्रन्थ ने एकत्व-वितर्क-अविचार रूप द्वितीय शुक्ल ध्यान के द्वारा केवलज्ञान की विभूति प्राप्त की थी। राजवार्तिककार ने केवली भगवान के लिये इन विशेषणों का प्रयोग किया है 'एकत्व-वितर्क-शुक्ल ध्यान वैश्वानर-निर्दग्ध घातिकर्मेन्धनः, प्रज्वलित केवलज्ञान सभस्तिमंडलः' (रा० वा० पृ० ३५६) अर्थात् एकत्व वितर्क नामक शुक्ल ध्यान रूप अग्नि के द्वारा घातिया कर्म रूपी ईन्धन का नाश करने वाले तथा प्रज्वलित केवलज्ञान रूपी सूर्य से युक्त केवली भगवान हैं।

इस अवस्था वाली सभी आत्माएं समुद्घात करती हैं, ऐसा आचार्य यति-वृषभ का अभिप्राय है। धवल टीका में लिखा है, "यति वृषभोपदेशात् सर्वघाति कर्मणां क्षीणकषाय चरम समये स्थितेः साम्याभावात् सर्वेऽपि कृतसमुद्घाता: सन्तो

निवृतिमुपढौकन्ते" आचार्य यति वृषभ के उपदेशानुसार क्षीणकषाय गुणस्थान के चरम समय में सम्पूर्ण अघातिया कर्मों की स्थिति में समानता का अभाव होने से सभी केवली समुद्घात पूर्वक ही मोक्ष प्राप्त करते हैं।

आगे यह भी कथन किया गया है "येषामाचार्याणां लोकव्यापि-केवलिषु विंशति-संख्या नियमस्तेषां मतेन केचित्समुद्घातयन्ति, केचिन्न समुद्घातयन्ति। के न समुद्घातयन्ति ? येषां संसृतिव्यक्तिः कर्मस्थित्याः समाना, ते न समुद्घातयन्ति, शेषाः समुद्घातयन्ति" (पृ० ३०२ भाग १) जिन आचार्यों ने लोक पूरण समुद्घात करने वाले केवलियों की संख्या नियम रूप से बीस मानी है, उनके अभिप्रायानुसार कोई जीव समुद्घात करते हैं, और कोई समुद्घात नहीं करते हैं। कौन आत्माएं समुद्घात नहीं करती हैं ? जिनकी संसृति की व्यक्ति अर्थात् संसार में रहने का काल जिसे आयु कर्म के नाम से कहते हैं, अर्थात् जिनका नाम, गोत्र तथा वेदनीय कर्मों की स्थिति आयु कर्म की स्थिति के समान हैं, वे केवली समुद्घात नहीं करते हैं, शेष केवली समुद्घात करते हैं।

सिद्ध परमात्मा—

समुच्छिन्न-क्रिया-निवर्ति अथवा व्युपरत क्रिया-निवृत्ति ध्यान के होने पर प्राणापान अर्थात् श्वासोच्छ्वास का गमनागमन कार्य रुक जाता है। समस्त कार्य, वचन तथा मनोयोग के निमित्त से सम्पूर्ण आत्मा प्रदेशों का परिस्पन्दन बन्द हो जाता है। उस ध्यान के होने पर परिपूर्ण संवर होता है। उस समय १८ हजार शील के भेदों का पूर्ण स्वामित्व प्राप्त हो जाता है। ८४ लाख उत्तर गुणों की पूर्णता प्राप्त होती है। सम्यग्दर्शन का श्रेष्ठ परमावगाढ़ सम्यक्त्व तो तेरहवें गुणस्थान में प्राप्त हो गया था। ज्ञानावरण का क्षय होने से सम्यग्ज्ञान की भी पूर्णता हो चुकी थी, फिर किंचित् न्यून एक कोटि पूर्व वर्ष प्रमाण तक निर्माण अवस्था की उपलब्धि न होने का कारण पूर्ण चरित्र में कुछ कमी है। अयोगी जिन होते ही वह तीन गुप्तियों का स्वामी हो जाता है। उस त्रिगुप्ति के प्रसाद से अयोगी जिन के उपांत्य समय में अर्थात् अंत के दो समयों में से प्रथम समय में साता-असाता वेदनीय में से अनुदय रूप एक वेदनीय की प्रकृति, देवगति, औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस, कार्मण ये पांच शरीर, पांच संघात, पांच बन्धन, तीन आंगोपांग, छह संहनन, छह संस्थान, पांच वर्ण, पांच रस, आठ स्पर्श, दो गन्ध, देवगत्यानुपूर्व्य, अगुरुलघु, उच्छ्वास, परघात,

उपघात, विहायोगति युगल, प्रत्येक, अपर्याप्त, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, दुर्भग स्वरयुगल, अनादेय, अयशःकीर्ति, निर्माण तथा नीच गोत्र इन ७२ प्रकृतियों का नाश होता है।

अंत समय में वेदनीय की बची हुई एक प्रकृति, मनुष्यगति, मनुष्यायु तथा मनुष्यगत्यानुपूर्वी, पंचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, उच्चगोत्र, यशस्कीर्ति ये बारह तथा तेरहवीं तीर्थङ्कर प्रकृति का भी क्षय करके अ, इ, उ, ऋ, लृ इन पांच लघु अक्षरों के उच्चारण में लगने वाले अल्प काल के भीतर वह अयोगी जिन आत्मा विकास की चरम अवस्था सिद्ध पदवी को प्राप्त करता है। मुनि दीक्षा के समय इन तीर्थङ्कर भगवान ने सिद्धों को प्रमाण किया था। अब वे स्वयं सिद्ध परमात्मा बन गए। ये सिद्ध परमात्मा समस्त विभाव से मुक्त हो गये हैं, तथा समयसार रूप परिणत हो गए हैं।

महापुराण में लिखा है कि ऋषभदेव भगवान ने माघ कृष्णा चतुर्दशी के दिन सूर्योदय की प्रभात वेला में पूर्वाभिमुख होकर' प्राप्तपल्यंकः' पल्यंकासन को धारण कर कर्मों का नाश किया था—

शरीरत्रितयापाये प्राप्य सिद्धत्व पर्यायं।
निजाष्टगुणसंपूर्णः क्षणवाप्त-तनुवातकः ॥१५५८॥

ऋषभनाथ भगवान औदारिक, तैजस तथा कार्माण इन तीनों शरीरों का नाशकर, आत्मा के अष्ट गुणों से परिपूर्ण सिद्धत्व पर्याय प्राप्त करके क्षण मात्र में लोक के अग्र भाग में पहुँचकर तनु वातवलय को प्राप्त हुये।

अब ये तीर्थंकर भगवान सिद्ध परमात्मा बन जाने से समस्त विकल्पों से विमुक्त हो गये हैं। ज्ञान नेत्रों से इनका दर्शन करने पर जो स्वरूप ज्ञात होता है, उसे महापुराण में इन शब्दों द्वारा व्यक्त किया गया है।

नित्यो निरंजनः किंचिदूनो देहादमूर्ति भाक्।
स्थितः स्वसुखसाद्भूतः पश्यन्विश्वमनारतम् ॥१५५९॥

अब ये सिद्ध भगवान नित्य, निरंजन, अन्तिम शरीर से किंचित न्यूनाकार युक्त, अमूर्त, आत्मा से उत्पन्न स्वाभाविक आनन्द का रस पान करने वाले सम्पूर्ण विश्व का निरन्तर अवलोकन करने वाले हो गये।

प्रश्न—तीर्थङ्करों के अनुपम सामर्थ्य का स्थूल दृष्टान्त क्या है ?

उत्तर—तीर्थंकरों की अनुपम सामर्थ्य की कल्पना करना शक्य नहीं है, फिर भी स्थूल दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं, सब पशु समूह में सबसे बड़ा बलशाली प्राणी हाथी है, ऐसा लोग समझते हैं, परन्तु हजारों हाथियों का बल एक सिंह में होता है, और हजारों सिंहों का बल एक शरभ (शार्दूल) में होता है। हजारों शरभों का बल एक बलदेव में होता है, दो बलदेवों की शक्ति एक अर्धचक्री में रहती है। दो अर्धचक्रियों का बल एक चक्रवर्ती में होता है। एक हजार चक्रवर्तियों का बल एक इन्द्र में होता है। असंख्य इन्द्रों के बल से भी अधिक शक्ति एक तीर्थंकर में होती है। वास्तव में तीर्थंकर के जन्म से ही अतुल बल तथा अप्रतिमवीर्यता नामक एक अतिशय गुण होता है। उस बल की तुलना नहीं हो सकती है।

प्रश्न—निर्वाण अर्थात् मोक्ष कल्याणक क्या है ?

उत्तर—तीर्थंकर प्रभु अपने केवलज्ञान से तीन लोक के सम्पूर्ण चराचर पदार्थों को जानकर सब भव्य जीवों को हितकारी उपदेश देते हैं। संसार से भयभीत भव्य जनों को मोक्ष मार्ग की ओर उन्मुख कर देते हैं। इस तरह उपदेश देते हुये तीसरे शुक्ल ध्यान को प्रारंभ करके जब वे तेरहवें गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान में आते हैं, तब वहां पर चार अघातियां कर्मों की ७२ और १३ प्रकृतियों का नाश करके अन्त्य समय में अ-इ-उ-ऋ-लृ इन पांच अल्प प्राण अक्षरों के उच्चारण करने में जितना समय लगता है, उतने समय में वे तीर्थंकर भगवान मोक्ष चले जाते हैं।

उस समय चारों निकाय के देव स्वर्ग से आकर भगवान के शरीर का दाह-संस्कार करते हैं। और वह दाहस्थान पवित्र हुआ समझकर उस स्थान की वह देव पूजा करते हैं। उस पूजा उत्सव को निर्माण किंवा मोक्ष कल्याणक कहते हैं।

उत्तर पुराण में लिखा है कि भगवान शांतिनाथ के मोक्ष होने पर देवों ने आकर उनके शरीर का अन्तिम संस्कार तथा पूजा की थी। कहा भी है—

चतुर्विधामराः सेन्द्राः निस्तन्द्रारूढभक्तयः।
कृत्वांत्येष्टिं तदागत्य स्वं स्वभावासमाश्रयन् ॥१५६०॥

बड़ी भक्ति को धारण करने वाले आलस्य रहित इन्द्रों सहित चारों निकाय के देव आये और अन्त्येष्टि अर्थात् उन भगवान की अन्तिम पूजा कर अपने-अपने स्थानों को चले गये।

शरीरं भर्तुरस्येति परार्घ्य-शिविकार्पितं ।
अग्नीन्द्रं-रत्न-भासि-प्रोत्तुंग-मुकुटोद्भवेन ॥१५६१॥
चन्दनाऽगुरु-कर्पूर-पारी-काश्मीरजादि भिः।
घृत-क्षीरादिभिश्चाप्तवृद्धिना हव्यभोजिना ॥१५६२॥
जगद्त्रयस्य सौगन्ध्यं संपाद्याभूतपूर्वकं ।
तदाकारोपमर्देन पर्यायान्तरमानयन् ॥१५६३॥

उस समय निर्वाण कल्याण की पूजा की इच्छा करते हुये सब देव वहां स्वर्ग से आये । उन्होंने पवित्र, उत्कृष्ट, मोक्ष के साधन, स्वच्छ तथा निर्मल भगवान के शरीर को उत्कृष्ट मूल्यवाली पालकी में विराजमान किया । तदन्तर अग्निकुमार नाम के भवनवासी देवों के इन्द्र के रत्नों की कांति से देदीप्यमान अत्यन्त उत्कृष्ट मुकुट से उत्पन्न की गई, चन्दन, अगर, कपूर, केशरादि सुगन्धित पदार्थों से तथा घृत, क्षीरादि के द्वारा वृद्धि को प्राप्त अग्नि से त्रिभुवन में अभूतपूर्व सुगन्ध को व्याप्त करते हुये उस प्रभु के शरीर को अग्नि संस्कार द्वारा भस्मरूप पर्यायान्तर को प्राप्त करा दिया ।

अभ्यर्चिताग्निकुण्डस्य गंधपुष्पादिभिस्तथा ।
तस्यदक्षिणभागेऽभूद्गणभृतः संस्क्रियानलः ॥१५६४॥
तस्यापरस्मिन् दिग्भागे शेष-केवलि कायगः ।
एवं वन्हित्रयं भूभावदस्थाप्यामरेश्वराः ॥१५६५॥

देवों ने गन्ध, पुष्पादि द्रव्यों से उस अग्निकुण्ड की पूजा की । उस अग्नि कुन्ड के दाहिनी ओर गणधर देवों की अंतिम संस्कार वाली गणधराग्नि स्थापित की और उस अग्नि कुण्ड के बायें भाग में शेष केवलियों की अंतिम संस्कार वाली अग्नि की स्थापना की । इस प्रकार देवेन्द्रों ने पृथ्वी पर तीन प्रकार की अग्नियों की स्थापना की ।

ततोभस्म समादाय पंचकल्याणभागिनः ।
वयं चैवं भवामेति स्वललाटे भुजद्वये ॥१५६६॥
कण्ठे हृदय देशे च तेन संस्पृश्य भक्तितः ।
तत्पवित्रतमं मत्वा धर्मराग-रसाहिताः ॥१५६७॥

तदनन्तर देवों तथा देवेन्द्रों ने भक्ति पूर्वक पंचकल्याणक प्राप्त जिनेन्द्र के देह-दाह से उत्पन्न भस्म को लेकर 'हम भी ऐसे हों' यही विचार करते हुये, उस भस्म को अपने मस्तक, भुजा युगल, कंठ तथा छाती में लगाई। उन्होंने उस भस्म को अत्यन्त पवित्र मानी। तथा धर्म के रस में वे देव इन्द्र निमग्न हो गये।

जिनेन्द्र भगवान ने सचमुच में मृत्यु के कारण रूप आयु कर्म का क्षय करके अन्वर्थ रूप में अमर पद प्राप्त किया है। देवताओं को मृत्यु के वशीभूत होते हुये भी नाम निक्षेप से अमर कहते हैं। इसी से उन अमरों तथा उनके इन्द्रों ने भस्म को अपने अंगों में लगाकर यह भावना की कि हम नाम के अमर न रहकर सचमुच में ऋषभ नाथ भगवान के समान अमर होवे।

देवेन्द्रादि के द्वारा कृत निर्वाण कल्याण की लोकोत्तर पूजा को 'अंत्येष्टि' संस्कार कहते हैं। अन्य लोगों में मरण प्राप्त व्यक्तियों के देह दाह को 'अंत्येष्टि' क्रिया कहने की पद्धति पाई जाती है। इस अर्थ शून्य शब्द का अन्य सम्प्रदायों में प्रयोग जैन धर्म के प्रभाव को सूचित करता है। निर्वाण कल्याणक में शरीर की अंतिम पूजा अग्नि संस्कार आदि की महत्ता स्वतः सिद्ध है, किन्तु पशु-पक्षियों की भांति मरने वालों के शरीर की पूजा की कल्पना करना विवेक-हीनता का परिणाम है।

महावीर भगवान का पावानगर के उद्यान से कायोत्सर्ग आसन से मोक्ष होने पर देवों द्वारा कैलाश गिरि पर किए गए प्रभु के शरीर संस्कार के सदृश पावानगर के उद्यान में भगवान महावीर के शरीर का दाह संस्कार सम्पन्न हुआ था। पूज्यपाद स्वामी ने निर्वाण भक्ति में लिखा है—

परिनिर्वृतं जिनेन्द्रं ज्ञात्वा विबुधा ह्यथाशु चागम्य।
देवतरु-रक्तचन्दन-कालागरु-सुरभि-गोशीर्षैः ॥१५६८॥
अग्नीन्द्राज्जिनदेहं मुकुटानल-सुरभिधूप-वरमाल्यैः।
अभ्यर्च्यं गणधरानपि गतवन्तं स्वं च वनभवनाः ॥१५६९॥

महावीर भगवान के मोक्ष कल्याणक का संवाद अवगत कर देव लोग शीघ्र ही पावानगर के उद्यान में आये। उन्होंने जिनेश्वर के देह की पूजा की। तथा देवदारु, रक्तचन्दन, कृष्णागरु सुगन्धित गोशीरचन्दन के द्वारा और अग्निकुमार देवों के इन्द्र के मुकुट से उत्पन्न अग्नि तथा सुगन्धित धूप तथा श्रेष्ठ पुष्पों द्वारा भगवान महावीर के

शरीर का दाह संस्कार किया। गणधरों की भी पूजा भक्ति करने के पश्चात् कल्पवासी, ज्योतिषी, व्यन्तर तथा भवनवासी देव अपने-अपने स्थान चले गये।

अशग कविकृत वर्धमान चारित्र में भी भगवान महावीर के अन्तिम शरीर के दाह संस्कार का इस प्रकार कथन आया है—

अग्नीद्रमौलिवररत्नविनिर्गतेऽग्नौ ।
कर्पूर-लोह-हरिचन्दन सारकाष्ठैः ।।
संक्षुभिते सपदि वातकुमार नाथैः ।
इन्द्रा मुद्रा जिनपते जुहुवुः शरीरं ।।१५७०।।

अग्निकुमारों के इन्द्रों के मुकुट के उत्कृष्ट रत्न से उत्पन्न अग्नि, जो कपूर, लोभान, हरिचन्दन, देवदारु आदि साररूप काष्ठों से तथा वायुकुमारों के इन्द्रों द्वारा शीघ्र ही प्रज्वलित की गई थी, उस अग्नि में इन्द्रों ने प्रभु महावीर के शरीर का सहर्ष दाह संस्कार किया।

हरिवंशपुराण में नेमिनाथ भगवान के परिनिर्वाण पर की गई पूजादि का भी इस प्रकार कथन किया गया है—

परिनिर्वाणि कल्याणपूजामंत्य शरीरगाम् ।
चतुर्विधसुराः जैनीं चक्रुः शक्रपुरोगमाः ।।१५७१।।

जब नेमिनाथ का निर्वाण हो चुका, तब इन्द्र और चारों प्रकार के देवों ने जिनेन्द्र देव के अंतिम शरीर सम्बन्धी निर्वाण कल्याणक की पूजा की।

गंध-पुष्पादिभिर्दिव्यैः पूजितास्तनवः क्षणात् ।
जिनस्य द्योतयंत्यो द्यां विलीना विद्युतो यथा ।।१५७२।।

जिस प्रकार विद्युत देखते-देखते शीघ्र विलय को प्राप्त हो जाती है, उसी प्रकार गन्ध, पुष्पादि दिव्य पदार्थों से पूजित भगवान का शरीर क्षण भर में दृष्टि के अगोचर हो गया।

स्वभावोऽयं जिनादीनां शरीरपरमाणवः ।
मुंचंति स्कंधतामंते क्षणात् क्षणरुचामिव ।।१५७३।।

यह स्वभाव है कि जिन भगवान के शरीर के परमाणु अन्त समय में स्कंध रूपता का परित्याग करते हैं और बिजली के समान तत्काल विलय को प्राप्त होते हैं।

हरिवंशपुराण में यह भी कहा है—

ऊर्जयंतगिरौ वज्री वज्रेणालिख्यपावनं ।
लोके सिद्धि शिलां चक्रे जिनलक्षणालंकृतां ॥१५७४॥

गिरनार पर्वत पर इन्द्र ने परम पवित्र 'सिद्ध शिला' निर्मापी (रची) तथा उसमें जिनेन्द्र के चिन्ह वज्र द्वारा अंकित किये ।

स्वामी समंत भद्र ने स्वयंभू स्तोत्र में भी यह बात कही है कि गिरनार पर्वत पर इन्द्र के निर्वाण प्राप्त जिनेन्द्र नेमिनाथ के चिन्ह अंकित किये थे । यहां हरिवंश पुराण से यह बात विशेष ज्ञात होती है कि इन्द्र एक विशेष शिला-सिद्ध की रचना करके उस पर जिनेन्द्र के निर्वाण सूचक चिन्हों का निर्माण करता है । परम्परा से प्राप्त चरण-चिन्हों की निर्वाण भूमि में अवस्थिति देखने से यह अनुमान किया जा सकता है कि इन्द्र ने मुक्ति प्राप्त करने वाले भगवान के स्मारक रूप में चरण चिन्हों की स्थापना का कार्य किया होगा ।

सिद्ध भट्टारक किस को कहते हैं—

भगवान जिनेन्द्र ने समस्त कर्मों का नाश करके असिद्धत्वरूप औदयिक भाव से रहित सिद्ध पर्याय को मुक्त होने पर प्राप्त किया है । अयोग केवली की अवस्था में भी असिद्धत्व भाव था । राजवार्तिक में कहा है, 'कर्मोदय-सामान्यापेक्षो, असिद्धः । सयोग केवल्य योग केवलिनोरघातिकर्मोदयापेक्षः' (पृ० ७६) ।

कर्मोदय सामान्य की अपेक्षा से यह असिद्धत्वभाव होता है । सयोग केवली तथा अयोग केवली के भी अघातिया कर्मोदय की अपेक्षा यह असिद्धत्व भाव माना गया है ।

सम्पूर्ण जगत को पुरुषाकृति के समान माना जाता है, उसमें सिद्ध परमेष्ठी को त्रिभुवन के मस्तक पर अवस्थित मुकुट समान कहा है । कहा भी है, 'तिहुयण-सिर सेहरया सिद्धा भडारया पसीयंतु' त्रिलोक के शिखर पर मुकुट समान विराजमान सिद्ध भट्टारक प्रसन्न होवें । (धवला टीका वेदना खण्ड)

अष्टमभूमि—

अनन्तानन्त सिद्ध भगवानों ने ध्रुव, अचल तथा अनुपम गति को प्राप्त कर जिस स्थान को अपने चिर निवास योग्य बनाया है, उसके विषय में तिलोयपण्णत्ति में

इस प्रकार कथन किया गया है—'सर्वार्थसिद्धि इन्द्रक विमान के ध्वज दण्ड से बारह योजन मात्र ऊपर जाकर आठवीं पृथ्वी स्थित है। उसके उपरिम और अधस्तन तल में से प्रत्येक विस्तार पूर्व पश्चिम में रूप (एक) से रहित एक राजू है। वेत्रासन के समान वह पृथ्वी उत्तर दक्षिण भाग में कुछ कम सात राजु लम्बी तथा आठ योजन बाहुल्यवाली है—दक्खिण उत्तरभाए किंचूणा सत्तरज्जूओ (८–६५४)।' यह पृथ्वी घनोदधि, घनवात और तनुवात इन तीन वात नामक वायुओं से वेष्टित है।

प्रश्न :—सिद्धालय में निगोदिया जीव भी रहते हैं, इसका क्या रहस्य है ?

उत्तर :—सिद्ध लोक में सभी सिद्ध जीवों का ही निवास है, ऐसा सामान्यतया लोक में समझा जाता है, किन्तु आगम के प्रकाश में यह भी ज्ञात होता है कि अनन्तान्त सूक्ष्म निगोदिया जीव सर्वत्र लोक में भरे हैं, अतः वे सिद्धालय में भी भरे हुये हैं। इससे यह सोचना कि उन निगोदिया जीवों को कुछ विशेष सुख की प्राप्ति होती होगी, अनुचित है, क्योंकि प्रत्येक जीव सुख-दुःख का संवेदन अपने-अपने कर्मोदय के अनुसार करता है। इस नियम के अनुसार निगोदिया जीव कर्मष्टिक के उदय जन्य कष्टों के समुद्र में डूबे रहते हैं और उसी आकाश के क्षेत्र में विद्यमान केवल आत्म प्रदेश वाले सिद्ध भगवान आत्मोत्पन्न परम शुद्ध निराबाध आनन्द का अनुभव करते हैं।

द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा निगोदिया जीव भी सिद्धों के समान कहे जाते हैं, किन्तु परमागम में जिनेन्द्र देव ने पर्याय दृष्टि का भी प्रतिपादन किया है, उसकी अपेक्षा दोनों का अंतर स्पष्ट है। भूल से एकान्त पक्ष की विकार युक्त दृष्टि के कारण मूढ़जन सर्वथा सब संसारी जीवों को सिद्धों के समान समझ बैठते हैं। और धर्माचरण में प्रमादी बन जाते हैं। स्याद्वाद दृष्टि का आश्रय लिए बिना यथार्थ रहस्य ज्ञात नहीं हो पाता है।

प्रश्न :—सिद्ध भगवान और वीतरागता—कोई यह सोच सकता है कि भगवान में अनंतज्ञान है, अनन्त शक्ति है और भी अनन्त गुण उनमें विद्यमान हैं। यदि वे दुःखी जीवों के हितार्थ कुछ कृपा करें तो संसारी जीवों को बड़ी शांति मिलेगी ?

उत्तर :—वस्तु का स्वभाव हमारी कल्पना के अनुसार नहीं बदलता है। पदार्थों के स्वभाव को आगम में स्वाश्रित कहा है। बीज के दग्ध हो जाने पर पुनः अंकुरोत्पादन कार्य कहीं हो सकता है, इसी प्रकार कर्म के बीज रूप राग द्वेष भावों का

सर्वथा क्षय हो जाने से पुनः लोक कल्याणार्थ प्रवृत्ति के प्रेरक कर्मों का भी अभाव हो गया है। अब वे वीतराग हो गये हैं।

प्रश्न :—आचार्य अकलंक देव ने राजवार्तिक में एक सुन्दर चर्चा की है। शंकाकार कहता है, 'स्यात् एतत् व्यसनार्णवे निमग्नं जगदशेषं जानतः पश्यतश्च कारुण्यमुत्पद्यते।' संपूर्ण जगत् को दुःख के सागर में निमग्न जानते तथा देखते हुये सिद्ध भगवान के करुणा-भाव उत्पन्न होता होगा। शंका का भाव यह है कि अन्य सरागी, सम्प्रदाय में उनका माना गया काल्पनिक रागद्वेष, मोहादि सम्पन्न परमात्मा जीवों के हितार्थ संसार में आता है। ऐसा ही सिद्ध भगवान करते होंगे, यह शंकाकार का भाव है। इस दृष्टि से प्रेरित होकर उपरोक्त प्रश्न के पश्चात् वह कहता है, 'ततश्च-बंधः' जब भगवान के मन में करुणाभाव उत्पन्न होगा तो वे बन्ध को भी प्राप्त होंगे ?

उत्तर :—तत्र किं कारणं ? सर्वास्रव-परिक्षयात् भक्ति-स्नेह-कृपा-स्पृहादीना राग विकल्पत्वाद्वीतरागे न ते संतीति (पृ० ३६२, ३६३-१०-४) ऐसा नहीं है, कारण भगवान के सर्व कर्मों का आस्रव बन्द हो गया है। भक्ति, स्नेह, कृपा, इच्छा आदि सब रागभाव के ही भेद हैं। वीतराग प्रभु में उन भावों का सद्भाव नहीं है।

प्रश्न :—यदि भगवान कुछ काल पर्यंत मोक्ष में रहकर पुनः संसार में आ जायें, तो इसमें क्या बाधा है ?

उत्तर :—गंभीर चिंतन से पता चलेगा कि अपने ज्ञान द्वारा जब परमात्मा जानते हैं कि मैं राग, द्वेष, मोहादि शत्रुओं के द्वारा अनंत दुःख भोग चुका हूँ, तब वे सर्वज्ञ, समर्थित तथा आत्मानन्द का रसपान करने वाले परमात्मायें पाप-पंक में डूबने का विचार करेंगे ? अपनी भूल के कारण पंजर बद्ध बुद्धिमान पक्षी भी एक बार पिंजरे से छूटकर स्वतन्त्रता का उपभोग छोड़कर पुनः पिंजरे में आने का क्यों प्रयत्न करेगा ? तब निर्विकार, वीतराग सर्वज्ञ-परमात्मा अपनी स्वतन्त्रता को छोड़कर पुनः माता के गर्भ में आकर अत्यन्त मलिन मानव शरीर धारण करने की कल्पना भी नहीं करेगा। ऐसी कल्पना मनोविज्ञान तथा स्वस्थ विचार धारा के पूर्णतया विरुद्ध होगी।

प्रश्न :—सिद्ध पर्याय प्राप्त करने पर वे भगवान अनन्त काल पर्यंत क्या कार्य करते हैं ?

उत्तर :—भगवान अब कृतकृत्य हो चुके हैं। उन्हें संसार का कोई काम करना बाकी नहीं रहा है। सर्वज्ञ होने से संसार का चिर काल तक चलने वाला विविध रसमय नाटक उनके सदा ज्ञान गोचर होता रहता है। उन सर्वज्ञ के समान ही शुद्धोपयोग वाला तथा अनन्त गुण वाला जीव विभाव का आश्रय लेकर चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता हुआ अनन्त प्रकार अभिनय करता है। विश्व के रंग मंच पर चलने वाले इस महानाटक का महाप्रभु निर्विकार भाव से प्रेक्षण करते हुये अपनी आत्मानुभूति का रस पान करते रहते हैं।

एक बात और है—सिद्ध भगवान योगीन्द्रों के भी परम आराध्य हैं। समाधि के परम अनुरागी योगी जन कहते हैं। जितना महान तथा उच्च योगी होगा, उसकी समाधि भी उतनी उच्च प्रकार की होगी। योगी यदि सर्वोच्च हो, तो उसकी समाधि भी श्रेष्ठ रहेगी। सिद्ध भगवान परम समाधि में सर्वदा निमग्न रहते हैं। उनकी आत्म समाधि कभीभी भंग नहीं होती है, क्योंकि अब उन सिद्धों के क्षुधा, तृषादि की व्यथा का क्षय हो गया है। शरीर भी नष्ट हो चुका है। अब वे सिद्ध ज्ञान शरीरी बन गए हैं। इस शुद्ध आत्म समाधि में उन्हें अनंत तथा अक्षय आनन्द प्राप्त होता है। उस समाधि में निमग्न रहने से उनकी बहिर्मुखी वृत्ति की कभी भी कल्पना नहीं की जा सकती है।

जब तक ऋषभनाथ भगवान सयोगी तथा अयोगी जिन थे, तब तक वे सकल-परमात्मा थे। उनके भव्यत्व नाम का पारिणामिक भाव था। जिस क्षण वे सिद्ध भगवान हुये, उसी समय वे निकल-परमात्मा हो गये। भव्यत्व भाव भी दूर हो गया। अभव्य तो वे थे ही नहीं, भव्यपना विद्यमान था, वह भी दूर हो गया, इससे वे अभव्य-भव्य के विकल्प से भी मुक्त हो गये हैं। कैलाश गिरि से एक समय में ही ऋजुगति द्वारा गमन करके भगवान ऋषभदेव सिद्ध भूमि में पहुँच गये हैं। वहां वे अनन्त सिद्धों के समूह में सम्मिलित हो गये हैं। उनका व्यक्तित्व नष्ट नहीं होता है। वेदान्ती मानते हैं, ब्रह्म दर्शन के पश्चात् जीव परम ब्रह्म में विलीन होकर स्वयं के अस्तित्व से शून्य हो जाता है। सर्वज्ञ प्रणीत परमागम कहता है कि कभी भी सत्

का नाश नहीं होता है। अतएव सिद्ध-भगवान स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल तथा स्वभाव में सदा अवस्थित रहते हैं।

प्रश्न :—क्या एक ब्रह्म की कल्पना अपरमार्थ है ?

उत्तर :—इस प्रसंग में एक बात ध्यान देने की है कि सिद्ध-भगवान आपस में सभी समान हैं। अनन्त प्रकार के जो संसारी जीवों के कर्मकृत भेद पाये जाते हैं। उनका वहाँ अभाव है। सभी सिद्ध-परमात्मा एक से हैं, एक नहीं हैं। उनमें परस्पर में सादृश्य है, एकत्व नहीं है। अन्य सम्प्रदाय मुक्ति प्राप्त करने वालों का ब्रह्म में विलीन होना मानकर एक ब्रह्म कहते हैं। स्याद्वाद शासन बताता है कि एक ब्रह्म की कल्पना युक्ति संगत नहीं है, 'एक' के स्थान में एक सदृश अथवा एक-से कहना परमार्थ कथन हो जाता है।

प्रश्न :—द्वैत-अद्वैत किस प्रकार है ?

उत्तर :—सिद्धभूमि में पापात्माओं का भी साम्यवाद है। वहाँ रहने वाले अनन्तानन्त निगोदिया जीव दुःख तथा आत्म गुणों के ह्रास की अवस्था में सभी समानता धारण करते हैं। प्रत्येक प्राणी को जीवन में अपनी शक्ति भर सिद्धों के सदृश बनने का विशुद्ध भगीरथ प्रयत्न करना चाहिये।

जब जीव कर्मों का नाश करके शुद्धावस्था युक्त निकल परमात्मा बन जाता है, तब उसकी अद्वैत अवस्था हो जाती है। आत्मा अपने एकत्व को प्राप्त करता है, और कर्मरूपी माया जाल से मुक्त हो जाता है। मुक्तात्मा की अपेक्षा वह अद्वैत अवस्था है। इस तत्व को जगत् भर में लगातार सभी को अद्वैत के भीतर समाविष्ट मानना एकान्त मान्यता है, जो असत्य के भूमि पर अवस्थित होने से क्षण भर भी युक्ति तथा सद्विचार के समक्ष नहीं टिक सकती। सिद्ध भगवान बन्धन रूप द्वैत अवस्था से छूटकर आत्मा की अपेक्षा अद्वैत पदवी को प्राप्त हो गये हैं। इस प्रकार का अद्वैत स्याद्वाद शासन भी स्वीकार करता है। यह अद्वैत अन्य द्वैत का विरोधक नहीं है। जो संहारक अद्वैत समस्त द्वैत के विनाश को केन्द्र-बिन्दु बनाता है, वह तत्काल स्वयं क्षय को प्राप्त होता है।

अनन्त गुण सम्पन्न होने के कारण सिद्ध-भगवान को अनन्त कहना उचित है। वर्तमान युग के कवि जिस अनन्त की ओर अपनी कल्पना को दौड़ाते हैं, उन कवियों का लक्ष्य यथार्थ में ये अनन्त गुणराशि के भंडार परम प्रभु हैं।

प्रश्न :—निर्वाण भूमि कैसी है ?

उत्तर :—ऋषभनाथ भगवान कैलाश पर्वत पर मुक्त हुये, पश्चात् वे सिद्धालय में ऊर्ध्वगमन स्वभाववश पहुँचे। इस दृष्टि से प्रथम मुक्तिस्थल ऋषभनाथ भगवान की अपेक्षा कैलाश पर्वत है, वासुपूज्य भगवान की दृष्टि से चंपापुर है, नेमि जिनेन्द्र की अपेक्षा गिरनार अर्थात् ऊर्जयन्त गिरि है। वर्धमान भगवान की अपेक्षा पावापुर है, और शेष बीस तीर्थंकरों की अपेक्षा सम्मेद शिखर निर्वाण स्थल है। निर्वाण कांड में कहा है :—

अष्टापदे वृषभश्चंपायां वासुपूज्य जिननाथः।
ऊर्ज्जयन्ते नेमि जिनः पावायां निवृतो महावीरः ॥१५७५॥
विंशतिस्तु जिनवरेन्द्राः अमरसुरवन्दिता धुतक्लेशाः।
सम्मेदे गिरि शिखरे निर्वाणं गता नमस्तेभ्यः ॥१५७६॥

सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होगा कि केवलज्ञान होने के पश्चात् भगवान का परम औदारिक शरीर पृथ्वी तल का स्पर्श किया होगा, यह विचार उचित नहीं है। भगवान का कर्मजाल से छूटने का असली स्थान वे आकाश के प्रदेश हैं; जिनको मुक्त होने के पूर्व उनके परम पवित्र देह ने स्पर्श किया था। तिलोयपण्णत्ति में क्षेत्रमंगल पर प्रकाश डालते हुए लिखा है :—

एदस्स उदाहरणं पावाणयरुज्जयंत-चंपादी।
आहुट्ठ-हत्थपहुदी पणुवीस-ब्भहिय पण सयचणूणि ॥१५७७॥
देहं अवट्ठिदं केवलणाणावट्ठद्ध-गयणदेसो वा।
सेढि-घणमेत्ति अप्पप्पदेसगद लोयपूरणा पुण्णा ॥१५७८॥

इस क्षेत्रमंगल के उदाहरण पावानगर, ऊर्जयन्त गिरि और चंपापुर आदि हैं। अथवा साढ़े तीन हाथ से लेकर पांच सौ पच्चीस धनुष प्रमाण शरीर में स्थित और केवलज्ञान से व्याप्त आकाश के प्रदेशों को क्षेत्रमंगल समझना चाहिये। अथवा जगत श्रेणी के घनमात्र अर्थात् लोक प्रमाण आत्मा के प्रदेशों से लोकपूरण समुद्घात द्वारा पूरित सभी लोकों के प्रदेश भी क्षेत्रमंगल हैं।

स्वयंभू स्तोत्र में लिखा है कि ऊर्जयंतगिरि से अरिष्ट नेमिजिनेन्द्र के मुक्त होने के पश्चात् इन्द्र ने गिरनार पर्वत पर चरण चिन्हों को अंकित किया था, जिससे भगवान के निर्वाण स्थान की सदा पूजा की जा सके। कहा भी है :—

ककुदं भुवः खचर–योषिदुषित–शिखरैरलंकृतः ।
मेघपटल–परिवीततटस्तव लक्षणानि लिखितानि वज्रिणा ॥१५७६॥

वह उर्जयन्त पर्वत पृथ्वी रूप बैल की ककुद के समान था । उसके शिखर विद्याधरों तथा विद्याधरियों से शोभायमान थे तथा उसका तट मेघ पटल से घिरा रहता था । उस पर वज्री अर्थात् इन्द्र ने आपके अर्थात् नेमिनाथ भगवान के चरण चिन्हों को उत्कीर्ण किया था ।

इस कथन के अनुसार इन्द्र ने अन्य तीर्थंकरों के निर्वाण क्षेत्रों पर भी भगवान के चरण चिन्हों की स्थापना की होगी, यह मानना उचित है ।

जिस काल में भगवान ने मोक्ष प्राप्त किया था, वह समय समस्त पापमल के गलाने का कारण होने से कालमंगल माना गया था ।

प्रश्न :— कर्मों के नाश का क्या अर्थ है ? सत् पदार्थ का कभी भी सर्वथा क्षय नहीं होता है, तब भगवान ने समस्त कर्मों का क्षय किया, इस कथन का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर :—यह बात यथार्थ है कि सत् का सर्वथा नाश नहीं होता है और न कभी असत् का उत्पाद ही होता है । समन्तभद्र स्वामी ने कहा है :—"नैवाऽसतो जन्म, सतो न नाशो' अर्थात् असत् का जन्म नहीं होता है तथा सत् का नाश भी नहीं होता है । कर्मों के नाश का अर्थ यह है कि आत्मा से उन कर्मों का सम्बन्ध छूट जाता है । उन कर्मों में रागादि विकार उत्पन्न करने की शक्ति दूर हो जाती है । वैसे पदार्थ की शक्ति का नाश नहीं होता है । यहां अभिप्राय यह है कि पुद्गल ने कर्मत्व पर्याय का त्याग कर दिया है । वह पुद्गल कर्म पर्याय के रूप में विद्यमान है । अन्य कषायवान् जीव के द्वारा उसे कर्म योग्य बनाने पर पुनः कर्म पर्याय रूप परिणत कर सकता है । मुक्त होने वाली आत्मा के साथ उस पुद्गल का अब कभी पुनः बन्ध नहीं होगा । कर्म क्षय का इतना ही मर्यादा पूर्ण अर्थ करना उचित है ।

निर्वाण भूमि को निषिधिका कहा गया है । प्रतिक्रमण ग्रन्थत्रयी में गौतम गणधर ने लिखा है, 'णमोत्थुदे णिसीधिये णमोत्थुदे अरहन्त, सिद्ध' (पृ० २०) निषीधिका को नमस्कार है । अरहन्तों को नमस्कार है । सिद्धों को नमस्कार है । संस्कृत टीका में आचार्य प्रभाचन्द्र ने निषीधिका के सत्रह अर्थ करते हुए, उसका अर्थ सिद्ध जीव, निर्वाण क्षेत्र, उनके द्वारा आश्रित आकाश के प्रदेश भी किया है, उन्होंने

यह गाथा भी उद्धृत की है :—

सिद्धाय सिद्ध भूमी सिद्धाण-समाहिओ णहो-देसो ।
एयाओ अण्णाओ णिसीहीयाओ सया वंदे ॥१५८०॥

सिद्ध, सिद्धभूमि, सिद्धों के द्वारा आश्रित आकाश के प्रदेश आदि निषीधिकाओं की मैं सदा वंदना करता हूँ ।

इस आगम के प्रकाश में कैलाश गिरि आदि निर्वाण भूमियों का महत्त्व स्पष्ट होता है ।

इससे 'निषीधिका या निषेधिका' पूज्य है, यह निर्विवाद है । निषेधिका शब्द को प्रतिनिधि शब्द कानड़ी भाषा में 'निशिदी' और मराठी में 'समाधि' कहने का प्रधान (प्रचार) है । दक्षिण भारत के महाराष्ट्र प्रांत में कोल्हापुर, कुंभोज-बाहुबली पहाड़ी, नांदणी, शेडबाल, रायबाग, तेरदाल, भिलवड़ी, अर्कवाट इत्यादि अनेक गाँवों में निशिदीका हैं और दक्षिण कर्नाटक प्रान्त में श्रवण बेलगोला के चन्द्रगिरि पहाड़ पर भद्रबाहु स्वामी की निषीधिका है । इस विषय का वर्णन रत्ननन्दीमुनि विरचित 'भद्रबाहु' पुराण में लिखा है ।

निषेधिका पूजा के सम्बन्ध में कुन्दकुन्दाचार्य विरचित षट् प्राभृत ग्रन्थ की टीका में श्रुतसागर सूरी लिखते हैं कि :—

देवहं सत्थहं मुणिवरहं जो विद्देसु करेइ ।
नियमि पाड हवेइ तसु जें संसारू भमेइ ॥१५८१॥

देवेभ्यः शास्त्रेभ्यो मुनिवरेभ्यो यो विद्वेषं करोति ।
नियमेन पापं भवति तस्य येन संसारे भ्राम्यति ॥ योगीन्द्र देव ॥

टीका :—अस्यदोहकस्य भावः—देवशास्त्रगुरुणां प्रतिमासु निषीधिकादिषु च पुष्पादिभिः पूजादिषु लोका द्वेषं कुर्वन्ति तेषां पापं भवति, तेन पापेन ते नरकादौ पतंति इति ज्ञातव्यम् । श्री श्रुतसागर सूरि ।

भावार्थ :—देवशास्त्र गुरुओं की प्रतिमा और निषीधिका आदि स्थानों का पुष्पादिक से पूजन करने के लिए लोग द्वेष करते हैं, वे दुर्गति में जाते हैं ।

इस विषय में नेमिचन्द्र कृत प्रतिष्ठा तिलक शास्त्र में निषीधिका की यथोक्त

प्रतिष्ठा करके उसका पूजन करना चाहिए, इस विषय का वर्णन आया है :—

गद्य :—ऐदंयुगीनाचार्यादिषु पूर्वाचार्यगुणस्य सत्तां वीक्ष्य तत्पादुकाद्वयं अचार्यादिप्रतिष्ठावत् प्रतिष्ठापयेत् । प्रसिद्ध संन्यास मरण प्राप्त गुर्वादि निषेधिकां जिनगृहे निर्माप्य जिनप्रतिष्ठाकाले प्रतिष्ठाप्य क्षपकांगोज्झनभूमौ निवेशयेत् । अथवा बहिरेव निर्माप्य जिन प्रतिष्ठा समये नयनोन्मीलनं तद्द्रव्येण प्रापय्य तत्र गत्वा शेषविधि स्वयमिन्द्रः कृत्वा संघ क्रियां कुर्यात् । अथवा क्षपकांगोज्झनावनौ आचार्यादि-प्रतिष्ठोक्तविधिं सर्वं समासतः कृत्वा वर्द्धमान स्वामिनिर्वाण काले निषेधिकां प्रतिष्ठापयेत् ।

उपर्युक्त आधार से वर्तमान में जहां-जहां निषीधिका हैं, वहां-वहां के श्रावक लोग उनकी नित्य नैमित्तिक, जो पूजा करते हैं, वह यथायोग्य होते हुए भी शास्त्रोक्त है ।

प्रश्न :—मृत्यु, मोक्ष और समाधि में क्या अन्तर है ?

उत्तर :—पौद्गलिक कर्मों का आत्मा से सम्बंध छूटने को द्रव्यमोक्ष कहते हैं । जिन परम विशुद्ध भावों द्वारा संवर तथा निर्जरा द्वारा कर्मों का क्षय होता है, उसे भाव मोक्ष कहते हैं । इस मोक्ष अवस्था में कर्म और जीव पृथक हो जाते हैं । बंध की अवस्था में कर्म ने जीवा को बांधा था और जीव ने कर्मों को पकड़ लिया था । उस अवस्था में जीव और पुद्गल में विकार उत्पन्न होने से वैभाविक परिणमन हुआ करता था । मोक्ष होने पर जैसे जीव स्वतन्त्र हो जाता है, उसी प्रकार बंधन बद्ध कर्म परिणत पुद्गल भी स्वतन्त्र हो जाता है। जीव की स्वतंत्रता का फिर विनाश नहीं होता, किन्तु पुद्गल पुनः अशुद्ध पर्याय को प्राप्त कर अन्य संसारी जीवों में विकार उत्पन्न करता है । दोनों की स्वतंत्रता में इतना अंतर है ।

भगवान के निर्वाण का दिन यथार्थ में आध्यात्मिक स्वाधीनता दिवस है । उस दिन मृत्यु की मृत्यु हुई है और पुरुषार्थी आत्मा ने श्रेष्ठ पुरुषार्थ को प्राप्त किया है । निर्वाण और मृत्यु में अन्तर है । भुज्यमान आयु कर्म के नष्ट होने के पूर्व ही आगामी भव की आयु का बंध होता रहता है । वर्तमान आयु का क्षय होने पर वर्तमान शरीर का परित्याग होता है । पश्चात् जीव पूर्व बद्ध आयु कर्म के अनुसार अन्य देह को धारण करता है । इस प्रकार मृत्यु का सम्बन्ध आगामी जीवन से बना रहता है । मोक्ष में ऐसा नहीं होता है । परिनिर्वाण की अवस्था में आयुकर्म का

सर्वथा क्षय हो जाने से जन्म-मरण की शृंखला समाप्त हो जाती है। इस पंचम काल में संहनन की हीनता के कारण मोक्ष के योग्य शुक्लध्यान नहीं बन सकता है, अतः मोक्ष के होने का वर्तमान काल में भरत क्षेत्र में अभाव है।

सरागी संप्रदायों में निर्वाण का आंतरिक मर्म का अवबोधन होने से वे लोक प्रसिद्ध व्यक्ति की मृत्यु को भी परिनिर्वाण या महानिर्वाण कह देते हैं। सम्पूर्ण परिग्रह को त्याग कर दिगम्बर मुद्राधारी श्रमण बनने वाले व्यक्ति को रत्नत्रय की पूर्णता होने पर मोक्ष प्राप्त होता है। जो कुगुरू, रागी, द्वेषी देवों तथा हिंसामय धर्म से अपने को उन्मुक्त नहीं कर पाये हैं, उनकी मृत्यु को निर्वाण मानना उचित नहीं है। तत्वज्ञानी ऐसी भ्रान्त धारणाओं के जाल से अपने को बचाता है।

तत्वार्थ सार में एक सुन्दर शंका उत्पन्न कर उसका समाधान किया गया है।

स्यादेतदशरीरस्य जंतोर्नष्टाष्टकर्मणः।
कथं भवति मुक्तस्य सुखमित्युत्तरंश्रृणु ॥१५८२॥

प्रत्येक निर्वाण दीक्षा लेने वाले श्रमण भगवान का स्मरण करते हुए यह कामना करते हैं, 'इच्छामि भंते! कम्मक्खओ।' भगवान! मैं कर्मों के नाश की आकांक्षा करता हूँ। 'भंते! समाहिमरणं जिणगुण संपत्ति होहु मज्झं प्रभो!' मुझे समाधिमरण प्राप्त हो तथा जिनेन्द्र गुण संपत्ति को प्राप्ति हो।

सत्रह प्रकार के मरणों में समाधि अर्थात् मनोगुप्ति, वचोगुप्त तथा काय-गुप्ति की पूर्णतापूर्वक शरीर का त्याग अयोगी जिन के पाया जाता है। उस मरण का नाम पंडित-पंडित मरण कहा है। मिथ्यात्वी जीवों का मरण 'बाल-बाल' मरण कहा है। 'पंडा यस्यास्ति असौ पंडितः'। जिसके पंडा का सद्भाव है, वह पंडित है। मूलाराधना में लिखा है—'पंडा हि रत्नत्रय-परिणता बुद्धिः' (पृष्ठ १०५)

रत्नत्रय धर्म के धारण करने में उपयुक्त बुद्धि पण्डा है। उस बुद्धि से अलंकृत व्यक्ति पंडित है, सच्चा पांडित्य तो तब ही शोभायमान होता है, जब जीव हीनाचार का त्याग कर विशुद्ध प्रवृत्ति द्वारा अपनी आत्मा को अलंकृत करता है। आगम में व्यवहार पंडित, ज्ञान पंडित तथा चारित्र से सम्पन्न होने के कारण पंडित-पंडित है। उनका शरीरान्त पंडित-पंडित मरण है। इसके पश्चात् उस आत्मा का मरण पुनः नहीं होता है। जिस शुद्धोपयोगी, ज्ञान चेतना का अमृतपान करने वाले को ऐसी समाधि

प्राप्त है, उसको जिनेन्द्र की अष्टगुणरूप सम्पत्ति की प्राप्ति होती है। ऐसी अवस्था की सदा अभिलाषा की जाती है। छह माह आठ समय में ६०८, छह सौ आठ महान आत्माओं को आत्मगुणरूप विभूतियां प्राप्त होती है। जीवन में मोक्ष प्राप्ति से बढ़कर श्रेष्ठ क्षण नहीं हो सकता है। अतएव विचारवान् व्यक्ति की दृष्टि से निर्वाण कल्याणक का सर्वोपरि महत्व है। वह अवस्था आत्म गुणों का चिंतवन करते हुये जीवन को उज्ज्वल बनाने की प्रेरणा प्रदान करती है।

मोक्ष प्राप्ति की महत्ता को सभी स्वीकार करते हैं, किन्तु अन्य जीवों के समाधिमरण को वे शोक का हेतु सोचते हैं। इस संबंध में हरिवंश पुराण से महत्व पूर्ण प्रकाश प्राप्त होता है। आचार्य कहते हैं—

मिथ्यादृष्टेः सतो, जन्तोः मरणं शोचनाय हि।
न तु दर्शनशुद्धस्य समाधिमरणं शुचे ॥१५८३॥

मिथ्यात्वी जीव का मरण सत्पुरुषों के लिये शोक का कारण है, क्योंकि उस जीव ने अपनी आत्मा का कल्याण नहीं किया है, तथा विषयों में आसक्त होकर दुर्लभ नर जन्म बिता दिया। सम्यग्दर्शन से विशुद्ध आत्मा का समाधिमरण शोक का कारण नहीं है।

प्रश्न :—सिद्धों के किस प्रकार का सुख माना जायेगा ?
अष्ट कर्मों के नाश करने वाले शरीर रहित मुक्तात्मा के कैसे सुख पाया जायेगा ?
शंकाकार का अभिप्राय यह है कि शरीर के होने पर सुखोपभोग के साधन इन्द्रियों द्वारा विषयों से आनंद की उपलब्धि होती थी। मुक्तावस्था में शरीर का नाश हो जाने से सुख का सद्भाव कैसे माना जाये ?

उत्तरः—सुख का प्रयोग लोक में विषय, वेदना का अभाव, विपाक, मोक्ष इन चार अर्थों में आता है।

लोके चतुर्ष्विहार्थेषु सुख शब्दः प्रयुज्यते।
विषये वेदनाऽभावे विपाके मोक्ष एव च ॥१५८४॥

'सुखं वायुः सुखं वन्हिः' यह पवन आनंददायी है। यह अग्नि अच्छी लगती है। यहां विषय में सुख शब्द का प्रयोग हुआ है। दुख का अभाव होने पर पुरुष

कहता है, 'सुखितोऽस्मि' मैं सुखी हूँ। पुण्य कर्म साता वेदनीय के विपाक-उदय से इन्द्रिय तथा पदार्थ से उत्पन्न सुख प्राप्त होता है। श्रेष्ठ सुख की प्राप्ति, कर्मक्लेश का अभाव होने से, मोक्ष में होती है। मोक्ष के सुख के समान अन्य आनंद नहीं है, इससे उस मोक्ष के सुख को निरुपम कहा है। त्रिलोकसार में लिखा है—

चक्कि-कुरु-फणि-सुरेन्दे-अहमिन्दे जं सुहं तिकालभवं।
तत्तो अणंतगुणिदं सिद्धाणं खणसुहं होदि ॥१५८५॥

चक्रवर्ती, कुरु, नागेन्द्र, सुरेन्द्र, अहमिन्द्रों में जो क्रमशः अनंतगुणा सुख पाया जाता है, उनके सुखों को अनंत गुणित करने से जो सुख होता है; उतना सुख सिद्ध भगवान को क्षणमात्र में प्राप्त होता है।

सुख और दुःख की सूक्ष्मता पूर्वक मीमांसा की जाय, तो ज्ञात होगा कि सच्चासुख तथा शान्ति भोग में नहीं, त्याग में है। भोग से तृष्णा की वृद्धि होती जाती है। उससे अनाकुलता रूप सुख का नाश होता जाता है। इन्द्रिय जनित सुख का स्वरूप समझाते हुए आचार्य कहते हैं—तलवार की धार पर मधु लगा दिया जाय। उसको चाटते समय कुछ आनंद अवश्य प्राप्त होता है, किन्तु जीभ के कट जाने से अपार वेदना होती है।

विषय जनीत सुखों को दुःख कहने के बदले में सुखाभास नाम दिया जाता है। परमार्थ दृष्टि से यह सुखाभास दुःख ही है। पंचाध्यायी में वैषयिक सुख के विषय में कहा है—

ऐहिकं यत्सुखं नाम सर्वं वैषयिकं स्मृतम्।
नहि तत्सुखं सुखाभासं किन्तु दुःखमसंशयम् ॥१५८६॥

वह इन्द्रियजन्य सुख सुखाभास है, यथार्थ में वह दुःख ही है।

शक्र-चक्रधरादीनां केवलं पुण्यशालिनाम्।
तृष्णाबीजंरतिम् तेषां सुखाक्षिप्तस्कुतस्तनी ॥१५८७॥

प्रश्न :—महापुण्यशाली इन्द्र, चक्रवर्ती आदि जीवों के तृष्णा के बीजरूप रति अर्थात् आनन्द पाया जाता है। उनको सुख की प्राप्ति कैसे होगी ?

उत्तर :—इन्द्रिय जनित सुख कर्मोदय के आधीन है। सिद्धों का सुख स्वाधीन है। इन्द्रिय जनित सुख अन्त सहित है, पाप का बीज है तथा दुःखों से मिश्रित

है। सिद्धावस्था का सौख्य अनंत है। वहाँ दुःख का लेश भी नहीं है। विघ्नकारी कर्मों का पूर्ण क्षय हो चुका है। नियमसार में कहा है—

णवि कम्मं णोकम्मं णवि चिंता णेव अट्टरुट्टाणि।
णवि धम्मा-सुक्कझाणे तत्थेव होइ णिव्वाणं ॥१५८८॥

सिद्ध भगवान के कर्म नोकर्म नहीं है, चिन्ता नहीं है। आर्त रौद्र ध्यान नहीं है। धर्मध्यान तथा शुक्ल ध्यान नहीं है। ऐसी अवस्था में ही निर्वाण है। पुनः कुन्द-कुन्द स्वामी कहते हैं—

णिव्वाणमेव सिद्धा सिद्धा णिव्वाणमिदि समुद्दिट्ठा।
कम्मविमुक्को अप्पा गच्छइ लोयग्गपज्जंतं ॥१५८९॥

निर्वाण ही सिध्द है और सिध्द ही निर्वाण है, अर्थात् दोनों में अभिन्नता है। कर्मों से रहित आत्मा लोक के अग्र पर्यंत जाती है।

प्रश्न :—भोजन पान आदि के द्वारा सुख प्राप्त होता है, यह संसारी प्राणी का अनुभव है। अतएव सिद्धालय में सुख जनक सामग्री के अभाव में सिद्ध परमात्मा के किस प्रकार सुख माना जायगा ?

उत्तर :—सिद्धभक्ति में लिखा है—भगवान ने क्षुधा तथा प्यास के कारणभूत असातावेदनीय कर्मों का नाश कर दिया है उस भूख की वेदना का क्षय हो जाने से असंख्य प्रकार के भोजन व्यंजन आदि पदार्थ व्यर्थ हो जाते हैं। क्षुधा की वेदना को दूर करने को संसारी जीव आहारादि ग्रहण करते हैं। उन सिद्धों के वेदना ही नहीं है, अतः औषधि रूप आहार की कोई भी उपयोगिता नहीं रहती है। अपवित्रता से सम्बन्ध न होने के कारण सुगंधित माला आदि की भी कोई आवश्यकता नहीं है। ग्लानि, निद्रा आदि के कारण दर्शनावरण तथा मोहनीयादि कर्मों का क्षय हो गया है, अतएव मृदु शयन आसनादि की आवश्यकता नहीं है। भीषण रोग जनित पीड़ा का अभाव होने के कारण उस रोग के उपशमन हेतु ली जाने वाली औषधि अनुपयोगी है। अथवा दृश्यमान जगत् को सूर्य के प्रकाश के रहने पर दीपक के प्रकाश का प्रयोजन नहीं रहता है, इसी प्रकार सिद्ध भगवान के समस्त इच्छाओं का अभाव है, इसलिये बाह्य इच्छापूर्ति करने वाली सामग्री की आवश्यकता नहीं है। मोह ज्वर से

पीडित जगत् के जीवों का अनुभव मोह से रहित स्वस्थ अर्थात् आत्मस्वभाव में अवस्थित सिद्ध भगवान के विषय में लगाना अनुचित है। कहा भी है—

नार्थः क्षुत्तृड्विनाशात् विविधरसयुतैरन्नपानैरशुच्या ।
नास्पृष्टे गन्धमाल्यैर्नहिमृदुशयनैर्ग्लानिनिद्राद्यभावात् ॥
आतंकार्तेरभावे तदुपशमनाद्भेषजानर्थतावद् ।
दीपानर्थक्यवद्वा व्यपगततिमरे दृश्यमाने समस्ते ॥१५९०॥

अवर्णनीय, इन्द्रिय जनित सुख का अनुभव लेने वाले सर्वार्थ सिध्दि के अहमिन्द्र सदा यही अभिलाषा करते हैं कि किस प्रकार उनको सिध्दों का स्वाधीन तथा इंद्रियातीत अविनाशी सुख प्राप्त हो। सर्वार्थ सिध्दि के अहमिन्द्रों में पूर्णतया समानता रहने से पुण्यात्माओं का परिपूर्ण साम्यवाद पाया जाता हैं, ऐसा ही साम्यवाद उनसे द्वादश योजन ऊंचाई पर विराजमान सिध्दों के मध्य पाया जाता है। यह अध्यात्मिक विभूतियों के मध्य स्थित साम्यवाद है। अहमिन्द्रों का साम्यवाद तैंतीस सागर की आयु समाप्त होने पर तत्क्षण समाप्त हो जाता है अर्थात् वहाँ से च्यय होने पर अवस्थांतर–मनुष्य पर्याय में आना पड़ता है। सिध्दों के मध्य का समाजवाद अविनाशी है। सब आत्माएँ परिपूर्ण तथा स्वतंत्र हैं। एक दूसरे के परिणमन में न साधक हैं, न बाधक हैं।

संसार में शरीरान्त होने पर शोक करने की प्रणाली है, किन्तु यहां भगवान का देहान्त होते हुए भी आन्दोत्सव मनाया जा रहा है, कारण आज भगवान को चिरजीवन प्राप्त हुआ है। मृत्यु तो कर्मों की हुई है। आत्मा आज अपने निज भवन में जाकर अनन्त सिद्ध बन्धुओं के पावन परिवार में सम्मिलित हुआ है। आज आत्मा ने स्व राज्य रूप सार्थक स्वराज्य का स्वामित्व प्राप्त किया है, भगवान के अनन्त आनन्द लाभ की बेला में कौन विवेकी व्यथित होगा? इसी से देवों ने उस आध्यात्मिक महोत्सव की प्रतिष्ठा के अनुरूप आनन्द नाम का नाटक किया था। इस आनन्द नाटक के भीतर एक एक रहस्य का तत्व प्रतीत होता है। सच्चा आनन्द तो कर्मराशि के नष्ट होने से सिद्धों के उपयोग में आता है। संसारी जीव विषयभोग कर सुख का नकली नाटक सदा दिखाया करते हैं। सिद्धों के आनन्द की कल्पना भी नहीं की सकती है। आचार्य रविषेण ने पद्मपुराण में बड़ी सुन्दर बात कही है—

जनेभ्यः सुखिनो भूपाः भूपेभ्यश्चक्रवर्तिनः ।
चक्रिभ्यो व्यंतरास्तेभ्यः सुखिनो ज्योतिषोऽमराः ॥१५६१॥
ज्योतिर्भ्यो भवनावासास्तेभ्यः कल्पभुवः क्रमात् ।
ततो ग्रैवेयकावासास्ततोऽनुत्तर वासिनः ॥१५६२॥
अनन्तानन्त गुणतस्तेभ्यः सिद्धपदस्थिताः ।
सुखं नापरमुत्कृष्टं विद्यते सिद्धसौख्यतः ॥१५६३॥

मनुष्यों की अपेक्षा राजा सुखी है, राजाओं की अपेक्षा चक्रवर्ती सुखी, चक्रवर्ती की अपेक्षा व्यंतर देव तथा व्यन्तरों की अपेक्षा ज्योतिषी देव सुखी हैं। ज्योतिषी देवों की अपेक्षा भवनवासी तथा भवनवासियों की अपेक्षा कल्पवासी सुखी हैं। कल्पवासियों की अपेक्षा ग्रैवेयकवासी तथा ग्रैवेयकवासियों की अपेक्षा विजय वैजयन्त, जयन्त, अपराजित तथा सर्वार्थसिद्धि यह पंच अनुत्तरवासी देव सुखी हैं। उनसे भी अनन्तानन्त गुणे सुख युक्त सिद्धपद को प्राप्त सिद्ध भगवान हैं। सिद्धों के सुख की अपेक्षा और उत्कृष्ट आनन्द नहीं है।

सिद्धों के ऐसे आनन्द के समय अन्य संसारी जीव अपने को सुखी समझते हैं। उनका सुख ऐसा ही अवास्तविक है, जैसे नाटक में नरेश का अभिनय करने वाले व्यक्ति का काल्पनिक राज्य का स्वामित्व भी अयथार्थ है।

प्रश्न—सिद्ध भगवान लोक के अन्त तक जाकर क्यों ठहर जाते हैं ? आत्मा का उर्ध्वगमन स्वभाव है। अनन्त शक्ति भी सिद्ध भगवान के पाई जाती है। ऐसी स्थिति में वे लोक के अग्रभाग तक जाकर क्यों ठहर जाते हैं ? उनके गमन को रोकने की सामर्थ्य किसमें हो सकती है ?

उत्तर—वस्तु का स्वाभाव विचित्रतापूर्ण है। धर्म द्रव्य नाम के गमन में उदासीनता रूप से सहायता प्रदान करने वाले द्रव्य का लोकाग्र तक सद्भाव है। उस निमित्त कारण का जहां तक सद्भाव था, वहां तक मुक्त जीव गये और जहां उस द्रव्य अभाव हो गया, वहां अनन्त शक्ति वाले तथा ऊर्ध्वगमन सामर्थ्य सम्पन्न सिद्ध परमात्मा को भी रुक जाना पड़ता है। जैनतत्व व्यवस्था की यही तो अलौकिकता है कि तत्व के स्वरूप को बदलने की किसी में सामर्थ्य नहीं है। परमात्मा अपने निजतत्व का स्वामी है। अन्य द्रव्य के व्यवस्थित कार्यक्रम में उसका हस्तक्षेप नहीं रहता है। इस

प्रसंग के द्वारा उस एकांतवाद का भी निराकरण हो जाता है, जो लोग निमित्त कारण की पूर्णतया उपेक्षा करते हैं। स्वामी समन्तभद्र ने बाह्य तथा अभ्यंतर कारणों की पूर्णता को कार्य का साधक माना है। मोक्ष के लिए अन्तरंग अपरिग्रहत्व आवश्यक है, किन्तु इसके लिये बाह्य परिग्रह का परित्याग भी जरूरी है। बाहरी वस्त्रादि धारण करते हुए जीव प्रमत्तसंयत की श्रेणी में भी नहीं पहुँच सकता है। मोक्ष की बात तो निराली ही है। निमित्त कारण तथा उपादान कारण अपनी-अपनी सीमा के भीतर उचित हैं। कोई निमित्त को ही उपादान का स्थान देता है, तो विषम परिस्थिति उत्पन्न हुए बिना न रहेगी। लोकाग्र में सिद्ध परमात्मा की अवस्थिति यह सूचित करती है कि निमित्त कारण का भी उचित स्थान है। एकांत पक्ष को पकड़ना दुराग्रह है। आगमभक्त को सत्याग्रही बनना चाहिये। असत्य का आग्रह करने से तत्वाज्ञान का प्रदीप बुझ जाता है।

प्रश्न--मुक्तात्मा अमुक्त भी हैं। यहां शंका-सिद्ध भगवान मुक्ति लक्ष्मी के स्वामी हो गये हैं, अब इनका मुक्ति श्री से कभी भी वियोग नहीं होगा, इसलिए यदि इन प्रभु को मुक्त ही मानते हो, आप भी स्याद्वादी के स्थान में एकान्तवादिता के दोषी बन जाते हैं ?

उत्तर---भगवान को एकान्त रूप से मुक्त नहीं माना गया है। वे मुक्त भी हैं, अमुक्त भी हैं। मुक्तात्माओं को अमुक्त कहना आश्चर्य प्रद लगेगा, किन्तु तार्किक अकलंक देव का कथन पूर्णतया युक्तियुक्त तथा अविरोधी भी लगेगा। वे 'स्वरूप संबोधन' नाम की पंचविंशति पद्यात्मक रचना के मंगल पद्य में उक्त विषय में महत्वपूर्ण प्रकाश प्रदान करते हैं---

मुक्ताऽमुक्तैकरूपो यः कर्मभिः संविदादिना।
अक्षयं परमात्मानं ज्ञानमूर्तिं नमामि तम् ॥१५९४॥

मैं ज्ञानमूर्ति अविनाशी परमात्मा को नमस्कार करता हूँ, जो कर्मों से मुक्त हैं और ज्ञानादि गुणों से अमुक्त हैं अर्थात् युक्त हैं। इस प्रकार ज्ञानमूर्ति वे परमात्मा कर्मों की अपेक्षा मुक्त हैं। ज्ञानादि गुणों की दृष्टि से अमुक्त भी हैं। स्याद्वाद ज्योति के प्रकाश में शंका रूपी तिमिर तत्काल दूर हो जाता है। इस मुक्तामुक्त रूप अवस्था की प्राप्ति के लिये जीव को मोक्ष की अभिलाषा भी त्याज्य कही गई है। मुक्ति की अभिलाषा करने वाला मुमुक्षु माना जाता है। शुद्धोपयोग की अवस्था में यह जीव मुमुक्षु रहता है। शुद्धोपयोग की भूमि में प्रवेश करते समय 'मुमुक्षु' संज्ञा

का भी परित्याग हो जाता है, कारण उस शुद्धि की ओर प्रगतिशील पुरुष को मोक्ष की भी अभिलाषा का परित्याग आवश्यक कहा गया है। यह कथन सापेक्ष है। प्रारम्भिक अवस्था में भोगकांक्षा का त्याग करके मुक्ति की भावना तथा अभिलाषा के लिये प्रेरणा की जाती है, किन्तु पश्चात् समर्थ आत्मा उस निर्वाण की भी अभिलाषा का त्याग करता है। अकलंक देव ने उक्त रचना में लिखा है—

मोक्षेऽपि यस्य नाकांक्षा स मोक्षमधिगच्छति।
इत्युक्तत्वात् विनान्येशो कांक्षां न क्वापि योजयेत् ॥१५६४॥

सिद्धों के विशेष गुण—

इन सिद्धों के चार अनुजीवी गुण कहे गये हैं। जो घातिया कर्मों के विनाश से अरहन्त अवस्था में ही उत्पन्न होते हैं। ये गुण भावात्मक कहे गये हैं। ज्ञानावरण के क्षय से केवलज्ञान, दर्शनावरण के विनाश से केवल दर्शन, मोहनीय के उच्छेद से अविचलित सम्यक्त्व तथा अन्तराय के नाश द्वारा अनन्तवीर्य रूप गुण-चतुष्टय प्राप्त होते हैं।

अघातिया कर्मों के अभाव में चार प्रतिजीवी गुण उत्पन्न होते हैं। वेदनीय के विनाश से अव्याबाधत्व गुण प्रगट होता है। गोत्र के नाश होने पर अगुरुलघु गुण प्राप्त होता है। नाम कर्म के अभाव में अवगाहनत्व तथा आयु कर्म के (जिसे जगत् मृत्यु, यमराज आदि के नाम से पुकारता है। विनाश होने पर सूक्ष्मत्व यह चार प्रतिजीवी गुण प्रगट होते हैं। इन अनुजीवी तथा प्रतिजीवी गुणों से अलंकृत यह सिद्ध पर्याय है। इसे स्वभाव-द्रव्य-व्यंजन-पर्याय भी कहते हैं। आलाप पद्धति में लिखा है 'स्वभाव–द्रव्य–व्यंजना–पर्यायाश्चरमशरीरात्–किंचित्–सिद्धपर्यायाः' (पृ.१६६)

सिद्ध परमेष्ठी की महत्ता को योगी लोग भली प्रकार जानते हैं। इससे महापुराणकार उनको 'योगिनां गम्यः, योगियों के ज्ञान गोचर कहते हैं। जिनसेन स्वामी का यह कथन प्रत्येक मुमुक्षु के लिये ध्यान देने योग्य है—

वीतरागोऽप्यसौ ध्येयो भव्यानां भवविच्छिदे।
विच्छिन्नबंधनस्यास्य तादृग्नैसर्गिको गुणः ॥१५६६॥

भव्यात्माओं को संसार का विच्छेद करने के लिये वीतराग होते हुये भी इन सिद्धों का ध्यान करना चाहिये। कर्म बन्धन का विच्छेद वाले सिद्ध भगवान का यह नैसर्गिक गुण कहा गया है।

आचार्य का अभिप्राय यह है कि सिद्ध भगवान वीतराग हैं। वे स्वयं किसी को कुछ नहीं देते हैं, किन्तु उनका ध्यान करने से तथा उनके निर्मल गुणों का चिंतवन करने से आत्मा की मलिनता दूर होती है और यह मुक्ति के मार्ग में प्रगति को प्राप्त करती है। निरंजन निर्विकार तथा निराकार सिद्धों के ध्यान की रूपातीत नाम के धर्मध्यान में परिगणना की गई है।

रूपातीत ध्यान से सिद्ध परमात्मा का किस प्रकार योगी चिंतवन करते हैं, यह ज्ञानार्णव में इस प्रकार कहा है—

व्योमाकारमनाकारं निष्पन्नं शांतमच्युतम्।
चरमांगात्किंचिन्न्यूनं स्वप्रदेशैर्घनैः स्थितम् ॥१५६७॥
लोकाग्र-शिखरासीनं शिवीभूतमनामम्।
पुरुषाकार मापन्नमप्यमूर्तं च चिन्तयेत् ॥१५६८॥

आकाश के समान अमूर्त, पौद्गलिक आकार रहित, परिपूर्ण, शांत, अविनाशी, चरम देह से किंचित् न्यून, घनाकार आत्म प्रदेशों से युक्त, लोकाग्र के शिखर पर अवस्थित, कल्याणमय, स्वस्थ, स्पर्शादि गुण रहित पुरुषाकार परमात्मा का ध्यान रूपातीत ध्यान में करें।

ध्यान के अभ्यासी के हितार्थ आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव में यह महत्त्वपूर्ण कथन किया है—

अनुप्रेक्षाश्च धर्म्यस्य स्युः सदैव निबंधनम्।
चित्तभूमौ स्थिरीकृत्य स्वस्वरूपं निरूपय ॥१५६९॥

हे साधु! अनुप्रेक्षाओं का चिंतवन सदा धर्मध्यान का कारण है। अतएव अपनी मनोभूमि में द्वादश भावनाओं को स्थिर करो तथा आत्मस्वरूप का दर्शन करो।

ब्रह्मदेव सूरि का यह अनुभव भी आत्म ध्यान के प्रेमियों के ध्यान देने योग्य है—'यद्यपि प्राथमिकानां सविकल्पावस्थायां चित्त स्थिति-करणार्थं विषय-कषाय रूप-दुर्ध्यान वंचनार्थं च जिनप्रतिमाक्षरादिकं ध्येयं भवतीति, तथापि निश्चयध्यानकाले स्वशुद्धात्मैव ध्येयः इति भावार्थः' (परमात्म प्रकाश टीका पृ. ३०२, पद्य २८६) यद्यपि सविकल्प अवस्था में प्रारम्भिक श्रेणी वालों के चित्त को स्थिर करने के लिये जिनप्रतिमा तथा जिनवाचक अक्षरादिक भी ध्यान करने के योग्य हैं, तथापि निश्चय ध्यान के समय शुद्ध आत्मा ही ध्येय है।

जिनेन्द्र भगवान की मूर्ति के निमित्त से आत्मा का रागभाव मन्द होता है। परिणाम निर्मल होते हैं तथा सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।

प्रश्न :—सिद्धप्रतिमा कैसी होती है ?

उत्तर :—सिद्ध परमात्मा का ध्यान करने के लिए भी जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा उपयोगी है। सिद्धप्रतिमा के स्वरूप पर आचार्य वसुनंदि सिद्धान्त चक्रवर्ती ने मूलाचार की टीका में इस प्रकार प्रकाश डाला है—'अष्टमहाप्रातिहार्य समन्विता अर्हत्प्रतिमा, तद्रहिता सिद्धप्रतिमा'। जो प्रतिमा अष्ट प्रातिहार्य समन्वित हो, वह अरहन्त भगवान की प्रतिमा है। अष्टप्रातिहार्य रहित प्रतिमा को सिद्ध प्रतिमा जानना चाहिये। इस विषय में यह कथन भी ध्यान देने योग्य है—'अथवा कृत्रिमा यास्ता अर्हत्प्रतिमाः, अकृत्रिमाः सिद्ध प्रतिमाः' (पृ० ३२ गाथा २५) अथवा सम्पूर्ण कृत्रिम जिनेन्द्र प्रतिमाएँ अरहन्त प्रतिमा हैं। अकृत्रिम प्रतिमाओं को सिद्ध प्रतिमा कहा है।

इस आगमआज्ञा के होते हुए जो धातु विशेष में पुरुषाकार शून्य स्थान बनाकर उसके पीछे दर्पण को रखकर उसे सिद्ध प्रतिमा मानने की प्रवृत्ति विचारने योग्य है। इस प्रकार की मूर्ति का जब आगम में विधान नहीं है, तब आगम की आज्ञा को शिरोधार्य करने वाला सम्यग्दृष्टि अपना कर्त्तव्य और कल्याण स्वयं विचार कर सकता है। दक्षिण भारत के प्राचीन और महत्त्वपूर्ण जिन मन्दिरों में इस प्रकार की सिद्ध प्रतिमाएँ नहीं पाई जाती हैं, जैसी उत्तर प्रान्त में कहीं-कहीं देखी जाती है। आगम को प्रमाण मानने वाले सत्पुरुषों को परमागम में प्रतिपादित प्रवृत्तियों को ही प्रोत्साहन प्रदान करने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये।

प्रश्न :—निर्वाणमुद्रा, अचेलमुद्रा या दिगम्बरमुद्रा का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—सिद्ध पद को प्राप्त करने के लिए सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग कर वस्त्र रहित (अचेल) मुद्रा का धारण करना अत्यन्त आवश्यक है। यह दिगम्बर मुद्रा निर्वाण का कारण है, इसलिये इसे निर्वाणमुद्रा भी कहते हैं। दक्षिण भारत में दिगम्बर दीक्षा लेने वाले मुनिराज को 'निर्वाण स्वामी' कहने का सर्वत्र प्रचार है। अजैन भी निर्वाण स्वामी को जानते हैं।

सिद्धों का ध्यान परम कल्याणकारी है, इतना मात्र जानकर भोग तथा विषयों में निमग्न व्यक्ति कुछ क्षण बैठकर ध्यान करने का अभिनय करता है, तो इससे मनोरथ सिद्ध नहीं होगा। ध्यान के योग्य सामग्री का मूलाराधना टीका में इस प्रकार उल्लेख किया गया है—

संग-त्यागः कषायाणां निग्रहो व्रतधारणम् ।
मनोऽक्षाणां जयश्चेति सामग्री ध्यानजन्मनः ॥१६००॥

वस्त्रादि परिग्रह का त्याग, कषायों का निग्रह, व्रतों का धारण करना, मन तथा इन्द्रियों का वश में करना ये सामग्री ध्यान की उत्पत्ति के लिये आवश्यक है ।

'बाह्यचेलादिग्रंथत्यागोऽभ्यंतर परिग्रह त्यागमूलः'—बाह्य पदार्थ वस्त्रादि का परित्याग अंतरंग त्याग का मूल है । जैसे – चाँवल के ऊपर लगी हुई मलिनता दूर करने के पूर्व में तंदुल का छिलका दूर करना आवश्यक है, तत्पश्चात् चांवल की भीतर की मलिनता दूर की जा सकती है, इसी प्रकार बाह्य परिग्रह त्यागपूर्वक अंतरंग में निर्मलता प्राप्त करने की पात्रता प्राप्त होती है । जो बाह्य मलिनता को धारण करते हुए अंतरंग मलिनता को छोड़ ध्यान का आनन्द लेते हुए सिद्धों का ध्यान करना चाहते हैं तथा कर्मों की निर्जरा तथा संवर करने की मनोकामना करते हैं, वे जल का मंथन करके घृत प्राप्ति के उद्योग सदृश कार्य करते हैं । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वस्त्रादि के भार से जो मुक्त नहीं हो सकते हैं, उनकी मुक्ति की ओर यथार्थ में प्रवृत्ति नहीं होती है । जो देशसंयम धारण करते हुए दिगम्बरमुद्रा की लालसा रखता है, वह श्रावक मोक्षमार्गस्थ है । धीरे-धीरे वह अपनी प्रिय पदवी को प्राप्त कर सकेगा, किन्तु जो वस्त्र त्यागादि को व्यर्थ सोचते हैं, वे सकलंक श्रद्धावश अकलंक पदवी को स्वप्न में भी प्राप्त नहीं कर सकते हैं । गंभीर विचारवाला अनुभवी सत्पुरुष पूर्वोक्त बात का महत्त्व शीघ्र समझेगा । दुराग्रही पुरुष के ऊपर परिग्रह के ममत्त्व का पिशाच सदा सवार रहने से वह अचेलअवस्था के सद्गुणों की कल्पना भी नहीं कर सकेगा ।

मूलाराधना में कहा है – भृकुटी चढाना आदि चिन्हों से जैसे – अंतरंग में क्रोधादि विकारों का सद्भाव सूचित होता है, इसी प्रकार बाह्य अचेलता से अंतर्मल दूर होते हैं । कहा भी है—

बाहिर करणविसुद्धि अब्भंतरकरणसोधणत्थाए ।
णहु कुंडयस्स सोधी तंदुलस्स कदुंचे ॥१६०१॥

बाह्य तप द्वारा अंतरंग में विशुद्धता आती है तथा जो धान्य तुष है, उसका अंतर्मल नष्ट नहीं होता है । तुष शून्य धान्य ही शुद्ध किया जाता है ।

इसी महत्त्व के कारण निर्वाण के हेतु दिगम्बर मुद्रा को आवश्यक मान, उसे निर्वाण मुद्रा कहा गया है ।

प्रश्न :—कैलास पर्वत (अष्टापदगिरि) का स्वरूप क्या है ?

उत्तर :—सिद्ध क्षेत्रों में सबसे पहले कैलास पर्वत बताया गया है । वहां से भगवान ऋषभदेव मोक्ष गए हैं । उत्तर पुराण में लिखा है कि भरत चक्रवर्ती ने उस पर्वत पर रत्नमय जिनालय बनवाये थे और अजितनाथ तीर्थङ्कर के समय सगर चक्रवर्ती के साठ हजार पुत्रों ने पर्वत के चारों ओर खाई का निर्माण किया था । कहा भी है—

राजाऽप्याज्ञापिता यूयं कैलासे भरतेशिना ।
गृहा कृता महारत्नैश्चतुर्विंशतिरर्हताम् ।।१६०२।।
तेषां गंगां प्रकुर्वीध्वं परिखां परितो गिरिम् ।
इति तेऽपि तथाऽकुर्वन दंडरत्नेन सत्वरम् ।।१६०३।।

चक्रवर्ती सगर ने अपने पुत्रों को आज्ञा दी कि महाराज भरत ने कैलाश पर्वत पर महारत्नों से अरहन्त देव के चौबीस जिनालय बनवाए हैं । उस पर्वत के चारों ओर खाई के रूप में गंगा का प्रवाह बहा दो । यह सुनकर उन राजपुत्रों ने दण्डरत्न लेकर शीघ्र ही उस काम को पूर्ण कर दिया । अत्यन्त दुर्गम होने के कारण तथा मार्ग अज्ञात होने से वहां पहुंचना अशक्य हो गया है ।

प्रश्न :—गंगा भागीरथ नदी का उद्गम कहां से है ?

उत्तर :—गुणभद्र आचार्य ने यह भी कथन किया है कि राजा भागीरथ ने वैराग्य उत्पन्न होने पर वरदत्त पुत्र को राज्य लक्ष्मी देकर कैलाश पर्वत पर जाकर शिवगुप्त महामुनि के समीप निर्वाण दीक्षा ली और गंगा के किनारे ही प्रतिमायोग धारण किया । गंगा के तट से ही उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया था । इन्द्र ने आकर क्षीर सागर के जल से भगीरथ मुनि के चरणों का अभिषेक किया था, उस अभिषेक का जल गंगा में मिला । तब से ही वह गंगा संसार में तीर्थ रूप में पूज्य मानी जाती है । कहा भी है—

सुरेन्द्रेणास्य दुग्धाब्धिपयोभिरभिषेचनात् ।
क्षमयोस्तत्प्रवाहस्य गंगायाः संगमे सति ।।१६०४।।
तदा प्रभृति तीर्थत्वं गंगाप्यस्मिन्नुपसंगता ।
कृत्योत्कृष्टं तपो गंगातटे निर्वृतिं गतः ।।१६०५।।

प्रश्न :—वैदिक लोग भी कैलास पर्वत को पूज्य मानते हैं, क्यों ?

उत्तर :—वे हिमालय पर्वत के समीप जाकर कैलाश की यात्रा करते हैं। कैलास का जैसा वर्णन उत्तर पुराण में किया गया है, वैसी सामग्री का सद्भाव अब तक ज्ञात नहीं हो सका है। उसके विषय में यदा कदा कोई लेख भी छपे हैं, किन्तु उनके द्वारा ऐसी सामग्री नहीं मिली है, जिसके आधार पर उस तीर्थ की वंदना का लाभ उठाया जा सके। कैलास नाम के पर्वत का ज्ञान होने के साथ निर्वाण स्थल के सूचक कुछ जैन चिन्हों का सद्भाव ही उस तीर्थ के विषय में संदेह मुक्त कर सकेंगे। अब तक तो उसके विषय में पूर्ण अजानकारी ही है।

प्रश्न :—सिद्ध भगवान का क्या संदेश है ?

उत्तर :—वृषभनाथ भगवान के समान सभी तीर्थंकरों का निर्वाण महोत्सव सम्पन्न हुआ। वे सिद्ध भगवान अपनी ज्ञानमयी परिणति के द्वारा सभी जीवों को यह सूचित करते हुये प्रतीत होते हैं 'अरे भव्य जीवों ! तुम विकारी भाव को शीघ्र छोड़ो और हमारे समान स्वराज्य के स्वामी बनो।'

मानों यह संदेश भरतेश्वर के अत्यन्त विरक्त मन में प्रवेश कर गया। एक दिन दर्पण में मुख देखते समय भारत महाराज की दृष्टि एक श्वेत केश पर पड़ी। उसे देख भरत को ऐसा लगा मानो मुक्ति पुरी से भगवान के द्वारा प्रेषित विशिष्ट संदेश-वाहक दूत ही आया हो।

चक्रवर्ती ने छहखंड प्रमाण पौद्गलिक साम्राज्य का त्याग करके शीघ्र ही दिगम्बर मुद्रा धारण की और शत्रुध्वंस कला में पारंगत योगी भरत ने अंतर्मुहूर्त में ही मोहासुर का विनाश करके सर्वज्ञता प्राप्त की। वृषभनाथ भगवान के समान भरत भगवान ने समस्त देशों में विहार कर जीवों का उद्धार किया तथा मोक्ष प्राप्त किया।

पंच कल्याणक प्राप्त तीर्थंकरों की तथा अनंत सिद्धों की विशुद्ध आराधना रूप अमृत से परिपूर्ण यह भावना करनी चाहिये।

जा गदी अरहन्ताणं णिट्ठिद कट्ठाणं च जा गदी।
जा गदी वीदमोहाणं सा मे भवदु सस्सदा ॥१६०८॥

जो गति अरहन्तों की है, जो गति कृत-कृत्य सिद्धों की है, जो गति वीत मोह जनों की है, वह गति मुझे सदा प्राप्त हो।

[अध्याय नौवां]

वर्तमान कालीन २४ तीर्थंकर सम्बन्धी कई ज्ञातव्य

अर्थात्

जानने योग्य बातें

प्रकाशक :

कुन्थु-विजय ग्रन्थमाला समिति,

जयपुर

वर्तमान कालीन २४ तीर्थङ्कर सम्बन्धी कई ज्ञातव्य अर्थात् जानने योग्य बातें।

क्रमांक	तीर्थंकरों के नाम	तीर्थंकरों के पूर्व तीन भवान्तर						
		पिछले तीन भव का						
		द्वीपों के नाम	क्षेत्रों के नाम	देश या प्रान्त	नगरी का नाम	नगरी का नाम	वहां के नाम	वहां का राज वैभव व्रताचरणादि
१	२	३	४	५	६	७	८	९
१	श्री ऋषभनाथ	जम्बू द्वीप	पूर्व विदेह	पुष्कलावति	पूर्व विदेह	पुंडरीकिनी	वज्रनाभि	
२	,, अजितनाथ	,,	,,	वत्स	सीता नदी के उत्तर तटपर	सुसीमा	विमलवाहन	
३	,, संभवनाथ	,,	,,	कच्छ	,, ,,	क्षेमपुरी (क्षेमा)	विपुल वाहन	
४	,, अभिनन्दननाथ	,,	,,	मंगलावति	,, दक्षिण ,,	रत्नसंचयपुर	महाबल	
५	,, सुमतिनाथ	धातकी खंड	,,	पुष्कलावति	,, उत्तर ,,	पुंडरीकिनी	अतिबल	
६	,, पद्मप्रभु	,,	,,	वत्स	,, दक्षिण ,,	सुसीमा	अपराजित	
७	,, सुपार्श्वनाथ	,,	,,	सुकच्छ	,, उत्तर ,,	क्षेमपुरी (क्षेमा)	नन्दिषेण	
८	,, चन्द्रप्रभ	,,	,,	मंगलावति	,, दक्षिण ,,	रत्नासंचयपुर	पद्मनाभि	
९	,, पुष्पदन्त	पुष्करार्ध द्वीप	,,	पुष्कलावति	,, उत्तर ,,	पुंडरीकिनी	महापद्म	
१०	,, शीतलनाथ	धातकी खण्ड	,,	वत्स	,, दक्षिण ,,	सुसीमा	पद्मगुल्म	
११	,, श्रेयांसनाथ	,,	,,	सुकच्छ	,, उत्तर ,,	क्षेमपुरी (क्षेमा)	नलिनप्रभ	

ऋषभदेव का जीव तो सबसे पहले १२ वां १३ वां देवलोक का जीव तो सबसे पहले १२ पूर्व का देवता था। बाकी सब सोधर्मेन्द्र राजा ११ अंग के पाठी थे। रहे
सबका सुबर्ण सरीखा था। यह सब सिद्धिगतिको प्राप्त करके के आचरण
करने वाले एक मास पर्यन्त प्रायोपगमन संन्यास के द्वारक और
स्वर्ग गामी थे।

१	२	३	४	५	६	७	८	९
१२	,, वासुपूज्य	,,	,,	वत्सकावति	,, दक्षिण	,, रत्नसंचयपुर	पद्मोत्तर	
१३	,, विमलनाथ	धात की खंड	पूर्वभरत	—	,, —	महानगर	पद्मरथ	
१४	,, अनन्तनाथ	,,	पश्चिम	रम्यकावति	—	अरिष्टपुर	पद्मसेन	
			ऐरावत	वत्स	,, दक्षिण ,,	मद्रिलापुर (सुभद्रिका)	दत्तरथ	
१५	,, धर्मनाथ	जम्बूद्वीप	पूर्वविदेह	पुष्कलावति	,, दक्षिण ,,	पुंडरीकिनी	मेघरथ	
१६	,, शान्तिनाथ	,,	,,	वत्स	,, उत्तर ,,	सुसीमा	सिंहरथ	
१७	,, कुंथुनाथ	,,	,,	कच्छ	,, दक्षिण ,,	क्षेमपुरी (क्षेमा)	धनपति	
१८	,, अरहनाथ	,,	,,	वत्स	,, दक्षिण ,,	वीतशोका	धनंजय	
१९	,, मल्लिनाथ	,,	,,	अंगदेश	—	चम्पापुर	श्री धर्मा (हरिवर्म)	
२०	,, मुनिसुव्रतनाथ	,,	भरत क्षेत्र	—	—	कौशाम्बी	सिद्धार्थ	
२१	,, नमिनाथ	,,	,,	—	—	हस्तनागपुर	सुप्रतिष्ठित	
२२	,, नेमिनाथ	,,	,,	कौशल्य	—	अयोध्या (साकेता)	आनन्द	
२३	,, पार्श्वनाथ	,,	,,	—	—	छत्रपुर (छत्राकार)	नन्द (नन्दन)	
२४	,, महावीर	,,	,,	—				

२—तीर्थंकर ऋषभदेव को आदिनाथ, पुष्पदन्त को सुविधिनाथ, अरिष्टनेमि को यदुवीर, महावीर, सन्मति, वीर, अतिवीर, महति महावीर भी कहते हैं और महावीर को वर्धमान स्वामी, सन्मति, वीर, अतिवीर, महति महावीर भी कहते हैं और इन्द्र ने तीर्थङ्करों की १००८ नाम से स्तुति की है।

तीर्थंकरों का गर्भावतरण – गर्भ कल्याणक

क्रमांक	कहां के गुरु का नाम	कहां के चयकर तीर्थंकर हुए, तीर्थंकर की जन्मभूमि				गर्भावतरण की तिथि इत्यादि		
		स्वर्गादिकों के नाम	वहां कौन थे ?	देश का नाम	जन्मपुरी (नगर या पट्टन)	वंश का नाम	जनक (पिता)	जननी (माता)
	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७
१	वज्रसेन	सर्वार्थ सिद्धि वि.	अहमिन्द्र	कौशल	अयोध्या (साकेतपुर)	इक्ष्वाकुवंश	नाभिराज	मरुदेवी
२	अरिन्दम	वैजयन्त वि.	,,	,,	,,	,,	जितशत्रु	विजयादेवी
३	स्वयंप्रभ	उपरिमग्रैवेयक प्रै.	,,	,,	श्रावस्ति (श्रावस्ति)	,,	दृढराज (जितारि)	सुषेणादेवी
४	विमलवाहन	वैजयन्त वि.	,,	,,	अयोध्या (साकेतपुर)	,,	संवर (स्वयंवर)	सिद्धार्था
५	सीमंधर	ऊर्ध्व ग्रैवेयक	,,	,,	विनितापुर	,,	मेघरथ (मेघप्रभ)	सुमंगला
६	विहितात्मा	वैजयन्त वि.	,,	,,	कौशाम्बीपुर	,,	धारण राजा	सुसीमा
७	अरिन्दम (अरहनंदन)	मध्य ग्रैवेयक	,,	काशीदेश	वाराणसी (काशी)	उग्रवंश	सुप्रतिष्ठ	पृथिवी
८	युगंधर (श्रीधर)	वैजयन्त वि.	,,	कौशल	चन्द्रपुरी	,,	महासेन (महश्रेणी)	लक्ष्मणा (सुलक्षणा)
९	सर्वजनानंद (सुप्रतिष्ठित)	अपराजित वि.	,,	,,	काकन्दीपुरी	,,	सुग्रीवराजा	जयरामा (रामा)
१०	अभयानंद (आनंद)	आरण स्वर्ग	इन्द्र	मालवदेश	भद्रिलापुर	,,	दृढरथ राजा	सुनन्दा देवी

१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७
११ वज्रदन्त (अनन्त)	अच्युत ,,	,,	कौशल	सिंहपुरी	,,	विष्णुराज (विमल)	विष्णुश्री (नन्दा)
१२ वज्रनाभि (सुव्रत)	महाशुक्र ,,	,,	अंगदेश	चम्पापुरी	,,	वसुपूज्य	जयावती (विजया)
१३ सर्वगुप्त	सहस्रार ,,	,,	,,	कांपिल्य (कपिला)	,,	कृतवर्मा (कृतधर्मा)	आर्यशामा (सुरम्या)
१४ स्वयंप्रभ (जिगुप्ता)	अच्युत ,,	,,	,,	अयोध्या (साकेतपुर)	,,	सिंहसेन	लक्ष्मीमती (सर्वयशा)
१५ चित्ररक्ष	सर्वार्थ सिद्धि वि.	अहमिन्द्र	,,	रत्नपुरी	कुरुवंश	भानुराज	सुप्रभा (सुव्रता)
१६ विमलवाहन (धनरथ)	,,	,,	कुरुजांगल	हस्तिनागपुर	,,	विश्वसेन	ऐरादेवी
१७ यतिवृषभ (धनरथ)	,,	,,	,,	,,	,,	सुरसेन (सूर्य)	श्रीदेवी (श्रीकांता)
१८ संवर (अरहनन्द)	,,	,,	,,	,,	,,	सुदर्शन	मित्रसेना (मित्रा)
१९ वरधर्म (श्रीनाग)	अपराजित वि.	,,	अंगदेश	मिथिलापुर	इक्ष्वाकुवंश	कुंभराज(राजकुंभ)	प्रभावती (रक्षिता)
२० सुनन्द (अनंतवीर्य)	प्राणत स्वर्ग	इन्द्र	,,	कुशाग्रपुर	यादववंश(हरि)	सुमित्र	सोमा (पद्मावती)
२१ नन्द (महाबल)	अपराजित वि.	अहमिन्द्र	,,	मिथिलापुर	इक्ष्वाकुवंश	विजयराज	वप्रिला (वप्रा)
२२ व्यतीतशोका (सुमंदर)	जयन्त विमान	,,	समुद्रदेश	शौरीपुर (द्वारका)	यादववंश(हरि)	समुद्रविजय	शिवादेवी
२३ दामर (समुद्रदत्त)	प्राणत स्वर्ग	इन्द्र	काशीदेश	वाराणसी (काशी)	उग्रवंश	विश्वसेन (अश्वसेन)	वामादेवी (ब्राह्मी)
२४ प्रौष्ठिल	अच्युत ,, (पुष्पोत्तर विमान)	,,	विदेहदेश	कुंडलपुर (वैशाली)	नाथवंश	सिद्धार्थराजा	प्रियकारिणी (त्रिशलादेवी)

तीर्थंकरों का जन्माभिषेक जन्मकल्याणक

जन्म तिथी-समयादि

क्रमांक	गर्भ तिथि	गर्भ समय	गर्भ नक्षत्र	जन्म तिथि	जन्म समय	जन्म नक्षत्र	जन्म राशि	शरीर का वर्ण	शरीर की ऊंचाई (धनुष)
	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५	२६

१	आषाढ़ कृ. २	रात्रि का अंत उत्तराषाढ़ समय		अभिजित	धनु	तपे हुये सोने समान	१००
२	ज्येष्ठ कृ. १२	,,	रोहिणी	चैत्र कृ. ९	—	रोहिणी			
३	फाल्गुन कृ. ८	प्रातः समय	मृगशीर्ष	पौष शु. १०	—	ज्येष्ठा	वृषभ	,, ,,	४५०
४	वैशाख शु. ६	रात्रि के पूर्व समय	पुनर्वसु	मार्ग शीर्ष शु. ३०	चन्द्रमायोग	पुनर्वसु	मिथुन	,, ,,	४००
५	श्रावण शु. २	,,	मघा	पौष शु. २	आदित्योग	मघा	,,	,, ,,	३५०
६	माघ कृ. ६	प्रातःसमय	चित्रा	वैशाख कृ. १०	चित्रयोग	चित्रा	सिंह	,, ,,	३००
७	भाद्रपद शु. ६	,,	विशाखा	कार्तिक शु. १३	—	विशाखा	कन्या	वन्धूक पुष्प के समान रक्त	२५०
८	चैत्र कृ. ५	,,	ज्येष्ठा	ज्येष्ठ शु. १२	अनिलायोग	अनुराधा	तुला	इन्द्रनील प्रभा समान हरित	२००
९	फाल्गुन कृ. ९	,,	मूला	पौष कृ. ११	—	मूला	वृषभ	कुन्द पुष्प के समान शुभ्र	१५०
१०	चैत्र कृ. ८	,,	पूर्वाषाढ़	मार्ग शीर्ष शु. ९	गंधर्व योग	पूर्वाषाढ़	धनु	,, ,,	१००
११	ज्येष्ठ कृ. ९	,,	श्रवण	पौष कृ. १२	—	श्रवण	,,	तपे हुये सोने के समान वर्ण	९०
१२	आषाढ़ शु. ६	,,	शततारका	फाल्गुन कृ. ११	—	शततारका	मकर	,, ,,	८०
							कुम्भ	वन्धूक पुष्प के समान रक्त वर्ण (विद्रुम वर्ण)	७०

१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५	२६

उत्तराभद्र १३

१३	ज्येष्ठ कृ. १०	अष्टभासिया	उत्तराभाद्रपद	पौष्य शु. ४	—	रेवती	मीन	तपे हुये सोने के समान		६०
१४	कार्तिक कृ. १	,,	रेवती	ज्येष्ठ कृ. १२	पुष्ययोग	अश्व	,,	,,	,,	५०
१५	वैशाख शु. १२	,,	,,	पौष्य शु. १३	—	भरणी	कर्क	,,	,,	४५
१६	भाद्रपद कृ. ७	,,	भरणी	ज्येष्ठ कृ. १४	प्रातःसमय	कृत्तिका	मेष	,,	,,	४०
१७	श्रावण कृ. १०	,,	कृत्तिका	वैशाख शु. १	—	रोहिणी	वृषभ	,,	,,	३५
१८	फाल्गुन शु. ३	,,	रेवती	मार्गशीर्ष शु. १४	—	अश्विनी	मीन	,,	,,	३०
१९	चैत्र शु. १	,,	अश्विनी	मार्गशीर्ष शु. ११	—	श्रवण	मेष	,,	,,	२५
२०	श्रावण कृ. २	,,	श्रवण	चैत्र कृ. १०	—	स्वाती	मकर	प्रियंगुप्रभा-इन्द्रनील		२०
२१	आश्विन कृ. २	,,	अश्विनी	आषाढ़ कृ. १०	—	चित्रा	मेष	तपे हुये सोने के समान		१५
२२	कार्तिक शु. ६	,,	उत्तराषाढ़	श्रावण शु. ६	—	विशाखा	कन्या	प्रियंगुप्रभा-मोर के कंठ के समान (श्याम वर्ण)		१०
२३	वैशाख कृ. ३	,,	विशाखा	पौष्य कृ. ११	अनिलयोग		कुम्भ	इन्द्र नील प्रभा—पन्ना (हरित वर्ण)		९
२४	आषाढ़ शु. ६	,,	उत्तराषाढ़	चैत्र शु. १३	—	उत्तरा फा.	कन्या	तपे हुये सोने के समान वर्ण		७

पूर्ण आयु में से कुमारकालादिकाल प्रमाण

क्रमांक	तीर्थंकरों लांछन (चिन्ह)	कुमार काल प्रमाण	राजभोग काल प्रमाण	छद्मस्थावस्था कालप्रमाण	केवली अवस्था का काल प्रमाण	पूर्ण आयु प्रमाण वर्ष	दीक्षा तिथि
	२७	२८	२९	३०	३१	३२	३३
१	वृषभ (बैल)	२० लाख पूर्व	६३ लाख पूर्व + ०	१००० वर्ष	१००० वर्ष कम–१ लाख वर्ष	८४ लाख पूर्व	चैत्र कृ. ९
२	गज (हाथी)	२८ लाख पूर्व	५३ लाख पूर्व + १५ पूर्वांग	१२ वर्ष	१ पूर्वांग + १२ वर्ष कम– ,,	७२ ,,	पौष शु. ९
३	अश्व (घोड़ा)	१५ ,,	४४ ,, + ४ ,,	१४ ,,	४ ,, + १४ ,, – ,,	६० ,,	मार्गशीर्ष शु. १५
४	कपि (बन्दर)	१२॥ ,,	३६॥ ,, + ८ ,,	१८ ,,	८ ,, + १८ ,, – ,,	५० ,,	पौष शु. १२
५	कोक (चकवा)	१० ,,	२९ ,, + १२ ,,	२० ,,	१२ ,, + २० ,, – ,,	४० ,,	वैशाख शु. ९
६	कमल	७॥ ,,	२१॥ ,, + १६ ,,	६ महीना	१६ ,, + ६ महीना कम ,,	३० ,,	मार्ग शीर्ष कृ. १० कृ. १०
७	स्वस्तिक (साथिया)	५ ,,	४१ ,, + २० ,,	९ वर्ष	२० ,, + ९ वर्ष कम – ,,	२० ,,	ज्येष्ठ शु. १२
८	शशि (चन्द्रमा)	२॥ ,,	६॥ ,, + २४ ,,	३ महीना	२४ ,, + ३ महीना कम ,,	१० ,,	पौष कृ. १२
९	मकर (मगर)	५० हजार पूर्व	५० हजार पूर्व + २८	४ वर्ष	२८ ,, + ४ वर्ष कम – ,,	२ ,,	मार्ग शीर्ष शु. ९
१०	कल्प वृक्ष	२५ हजार पूर्व	५० ,,	३ वर्ष	३ वर्ष कम २५००० वर्ष	१ ,,	पौष कृ. १२
११	गंडक (गेंडा)	२१ लाख वर्ष	४२ लाख वर्ष	२ वर्ष	२ ,, २१००००० वर्ष	८४ लाख वर्ष	फाल्गुन कृ. ११
१२	महिष (भैंसा)	१८ लाख वर्ष	राजभोग नहीं किया	१ वर्ष	१ ,, ५४००००० वर्ष	७२ लाख वर्ष	,, शु. १४

(कुमार श्रमण)

२७	२८	२९	३०	३१	३२	३३
१३ शूकर (सुअर)	१५ लाख वर्ष	३० लाख वर्ष	२ वर्ष	१४९९९९७ वर्ष	६० लाख वर्ष	पौष शु. ४
१४ भल्लूक (भालू)	७॥ ,,	१५ लाख ,,	२ ,,	७४९९९९८ ,,	३० लाख ,,	ज्येष्ठ कृ. १२
१५ वक्र	२५० हजार वर्ष	५ लाख वर्ष	१ ,,	२४९९९९९ ,,	१० ,,	पौष्य शु. १
१६ मृग (हिरण)	२५००० वर्ष	५० हजार वर्ष	१९ ,,	२४९८४ ,,	१ ,,	ज्येष्ठ कृ. ४
१७ मेष (बकरा)	२३७५० वर्ष	४७५०० हजार वर्ष	१९ ,,	२३७३४ ,,	९५ हजार वर्ष	वैशाख शु. १
१८ मीन (मछली)	२१००० वर्ष	४२००० ,,	१६ ,,	२०९८४ ,,	८४ ,,	मार्ग शीर्ष शु. १०
१९ कुम्भ (कलश)	१०० ,,	राज्य नहीं किया (कुमार श्रमण)	६ दिन	६ दिन कम–५४९०० ,,	५५ ,, ,,	११
२० कूर्म (कछवा)	७५०० ,,	१५ हजार वर्ष	११ महीना	११ महीना कम–७५०० ,,	३० ,,	वैशाख कृ. १०
२१ नीलकमल	२५०० ,,	५ ,, ,,	९ वर्ष	९ वर्ष कम–२५०० ,,	१० ,,	आषाढ़ कृ. १०
२२ शंख	२०० ,,	राज्य नहीं किया (कुमार श्रमण)	५६ दिन	५६ दिन कम–७०० ,,	१ ,,	श्रावण शु. ६
२३ नाग (सर्प)	३० ,,	,, ,,	४ महीना	४ महीना कम–७० ,,	१०० ,,	पौष्य कृ. ११
२४ सिंह	३० ,,	,, ,,	१२ वर्ष	३० वर्ष	७२ ,,	कार्तिक कृ. १३

तीर्थंकरों के दीक्षा-परिनष्क्रमण-तपकल्याणक

दीक्षा तिथि इत्यादि— दीक्षातपोवन—उद्यान दीक्षा के वृक्ष दीक्षा के समय

क्रमांक	दीक्षा समय	दीक्षा नक्षत्र	दीक्षा पालकी का नाम	नगरों के नाम	वनों-उद्यानों के नाम	वृक्षों के नाम	वृक्षों की ऊंचाई (धनुष प्रमाण)	वैराग्य का निमित्त कारण	उपवास का नियम उत्तर पु० से व हरिवंश पु०	कितने राजाओं ने दीक्षा ली।
	३४	३५	३६	३७	३८	३९	४०	४१	४२	४३
१	अपराह्न	उत्तराषाढा	सुदर्शन	प्रयाग	सिद्धार्थ-वन	वट वृक्ष	६०००	नीलांजना की मृत्यु	६ मास का उपवास	चार हजार
२	,,	रोहणी	सुप्रभा	अयोध्या	सहेतुक-सहस्राम्र	सप्तच्छद	५४००	उल्कापात देखना	षष्ठमभक्त (बेला)	एक हजार
३	,,	ज्येष्ठा	सिद्धार्था	श्वावस्ति	,, ,,	शाल वृक्ष	४८००	मेघ पटल का नाश	दो दिनका	,,
४	,,	पुनर्वसु	हस्तचित्रा	अयोध्या	उद्योधान	,, ,,	४२००	गंधर्व नगर का नाश	,,	,,
५	पूर्वाह्न	मघा	अभयकारी	,,	सहेतुक	,, प्रियंगु	३६००	पूर्व भव का स्मरण	तेला	,,
६	अपराह्न	चित्रा	निर्वृत्तकारी	कौशांबी	मनोहर	,, ,,	३०००	,,	तीन दिन का दो दिनका	,, ,,
७	,,	विशाखा	सुमनोगति	काम्पो	सहेतुक	,, शिरीष	२४००	वन लक्ष्मी का नाश	,,	,,
८	,,	अनुराधा	विमला	चन्द्रपुरी	सर्वर्तक	,, नागतरु	१८००	बिजली का देखना	,,	,,
९	,,	,,	सूर्यप्रभा	काकन्दी	पुष्पक	सालवृक्ष	१२००	उल्का पात देखना	,,	,,
१०	,,	पूर्वाषाढा	शुक्रप्रभा	भद्रिलापुर	सहेतुक	धवांश	१०८०	हिम का नाश देखना	,,	,,
११	पूर्वाह्न	श्रवणा	विमलप्रभा	सिंहनादपुर	मनोहर	तिन्दुक	९६०	वन लक्ष्मी का नाश	,,	,,
१२	अपराह्न	विशाखा	पुष्पभा	चम्पापुर	क्रीडोद्यान	पाटलतरु	८४०	पूर्वभव का स्मरण	एक उपवास	६३६

	३४	३५	३६	३७	३८	३९	४०	४१	४२	४३
१३	अपराह्ण	उत्तराभाद्रपद	देवदत्ता	कंपिला	सहेतुक	जम्बूवृक्ष				
१४	,,	रेवती	सागरदत्ता	अयोध्या	०—	पीपल				
१५	,,	पुष्य	नागदत्ता	रत्नपुर	शालवन	दीर्घपर्ण				
१६	,,	भरणी	सिद्धार्था	हस्तिनागपुर	०—	नन्दीतरु				
१७	,,	कृत्तिका	विजया	,,	सहेतुक	तिलक				
१८	,,	रेवती	वैजयन्ति	,,	,,	आम्र				
१९	पूर्वाह्ण	अश्विनी	जयन्ति	मिथिलापुर	श्वेतवन	अशोक				
२०	अपराह्ण	श्रवण	अपराजिता	राजगृही	नीलवन-नील गुफा	चम्पक				
२१	,,	अश्विनी	उत्तरकुरु	मिथिलापुर	चित्रवन-सहस्राम्र	बकुल				
२२	पूर्वान्ह	चित्रा	देवकुरु	शिरमार	०—	मेषशृङ्ग				
२३	,,	विशाखा	विमला	वाराणसी	अश्ववन मनोरमा	वंशवृक्ष				
२४	अपराह्ण	उत्तरा	चन्द्रप्रभा	कुंडलपुर	ज्ञानवन नाथ	शालवृक्ष				

७२०	मेघपटल का नाश	वेला	एक हजार
६००	उल्कापात देखना	तेला (वेला)	,,
५४०	,,	,, ,,	,,
४८०	पूर्वभव का स्मरण	,, ,,	,,
४२०	,,	,, ,,	,,
३६०	मेघपटल का नाश	वेला	,,
३००	बिजली का देखना	वेला	३००(६०६)
२४०	पूर्वभव का स्मरण	तेला (वेला)	एक हजार
१८०	—	वेला	,,
१२०	प्राणी वध की वार्ता	तेला (वेला)	,,
१०८	जातिस्मरण होना	षष्ठम भक्त (२)	३०० (६०६)
३२ धनुष	,,	तेला ३० वेला	अकेले (३००)

श्री शान्तिनाथ, कुंथुनाथ, अरहनाथ ये तीन तीर्थंकर चक्रवर्ती भी भए और कामदेव भी भए राज्य छोड़ कर वैराग्य (दीक्षा) लिया और वासुपूज्य, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर ये पांच तीर्थंकर कुमार अवस्था में वैराग्य । (भरण) भए राज भी नहीं किया और विवाह भी नहीं किया और अन्य सोलह तीर्थंकरों ने महा मांडलिक, राजा भये राज्य छोड़कर वैराग्य (दीक्षा) ली ।

तीर्थंकरों के केवलज्ञान-ज्ञानकल्याणक

दान तीर्थ के प्रवर्तक दाताओं के द्वारा दीक्षा के बाद दिये गये आहारादि का विवरण

क्रमांक	कितने दिनों में लिये थे	कौन सा आहार लिया था	आहार देने वाले दातृ महाशयों के नाम	पारणा किये हुये नगरों के नाम	तप काल का प्रमाण	केवल ज्ञान के पहले उपवास धारण का नियम	तिथि	समय	नक्षत्र
	४४	४५	४६	४७	४८	४९	५०	५१	५२
१	एक वर्ष के बाद	इक्षुरस	श्रेयांस राजा (हरि-शाम)	हस्तिनागपुर	एक लाख पूर्व	अष्टमभक्त [३]	फाल्गुन कृ. ११	पूर्वान्ह	उत्तराषाढ
२	चौदे दिन		ब्रह्मदत्त [सुवर्ण]	अयोध्या	१ पूर्वाङ्गकम १ लाख पूर्व	बेला [२]	पौष शु. ११	अपराह्न	रोहिणी
३	तीन दिन के बाद		सुरेन्द्रदत्त	श्रावस्ति [श्रावन्ति]	४ ,, ,,		कार्तिक कृ. ४	,,	मृगशिर
४	,, ,,		इन्द्रदत्त	अयोध्या [वनितापुर]	८ ,, ,,		पौष शु. १४	,,	पुनर्वसु
५	,, ,,		पद्मदत्त	सोमन [विजयपुरी]	१२ ,, ,,		चैत्र शु. ११	,,	मघा
६	,, ,,		सोमदत्त	वर्धमान [मंगलपुरी]	१६ ,, ,,		वैशाख शु. ३०	,,	चित्रा
७	,, ,,		महेन्द्रदत्त	सोमखंड [पटलीखंडपुरी]	२० ,, ,,		फाल्गुन कृ. ६	,,	विशाखा
८	,, ,,		पुष्यमित्र [सोमदत्तराजा]	नलिनपुर [पद्मखंडपुर]	२४ ,, ,,		,, ७	,,	अनुराधा
९	,, ,,		पुनर्वसु [पुष्पकराजा]	केतपुर [चिन्तहरपुर]	२८ ,, ,,		कार्तिक शु. २	,,	मूला
१०	,, ,,		नन्दन [पुनर्वसु]	अरिष्टपुर [सेयपुर]	२५ हजार पूर्व	,,	पौष कृ. १४	,,	पूर्वाषाढ
११	,, ,,		सौन्दर [सुनन्दनराज]	सिद्धार्थपुर [अरिष्टपुर]	२१ लाख वर्ष	,,	माघ कृ. १५	पूर्वान्ह	श्रवण
१२	,, ,,		जय [सुरेन्द्रनाथराजा]	महापुर [सिद्धार्थपुर]	५४ ,, ,,		माघ शु. २	अपरान्ह	विशाखा

श्री ऋषभ देव के सिवाय बाकी सभी ने गो क्षीर [गाय के दूध] से बना हुआ क्षीरान्न [खीर] अर्थात् दूध के साथ प्रकार के पकवान की पारणा की थी।

४४	४५	४६	४७	४८	४९	५०	५१	५२
१३ तीन दिन के बाद		विशाख [जयकुमार]	नन्दनपुर [धान्यघटपुर]	१५ लाख वर्ष	बेला [२]	माघ शु. ६	अपरान्ह	उत्तराषाढ़
१४ ,, ,,		धान्यसेन [विशाखभूति]	अयोध्या [धर्मभावपुर]	७५० हजार वर्ष	,,	चैत्र कृ. १५	,,	रेवती
१५ ,, ,,		धर्ममित्र [सुमित्र]	पटना [सोमनसपुर]	२५० ,,	तेला [३] बेला	पौष शु. ३०	,,	पुष्य
१६ ,, ,,		सुमित्र [प्रियमित्र]	मन्दरपुर [सौमनसपुर]	२५ ,,	षष्ठोपवास [३]	,,	,,	भरणी
१७ ,, ,,		अपराजित [वरदत्तराजा]	हस्तिनापुर [मन्दिरपुर]	२३७५० वर्ष	,,	चैत्र शु. ३	,,	कृत्तिका
१८ ,, ,,		नन्दी [अपराजित]	चक्रपुर [गजपुर]	२१००० ,,	बेला [२]	कार्तिक शु. १२	,,	रेवती
१९ चौथे दिन		नन्दिसेन [विषयदत्त]	मिथिला [चक्रहरपुर]	५४९०० ,,	अष्टम भक्त [३]	मार्ग शीर्ष शु. ११	,,	अश्विनी
२० तीन दिन के बाद		वृषभदत्त [दत्त]	राजगृही [मिथिलापुर]	७५०० ,,	,,	वैशाख कृ. ९	पूर्वान्ह	श्रवण
२१ ,, ,,		दत्त [वरदत्त]	वीरपुर [संयोगपुर]	२५०० ,,	बेला [२]	मार्ग शीर्ष शु. ११	अपरान्ह	अश्विनी
२२ ,, ,,		वरदत्त [चारुदत्त]	द्वारिका [शिखरपुर]	७०० ,,	अष्टम भक्त [३]	आश्विन शु. १	पूर्वान्ह	चित्रा
२३ चार दिन के बाद		स्वाम्यसेन [धनदत्त]	गुलखेट [द्वारावती]	७०	तेला [३]	चैत्र कृ. ४	,,	विशाखा
२४ तीन दिन के बाद		नन्दन [विश्वसेन]	कुंडलपुर	४२ ,,	बेला [२]	वैशाख शु. १०	अपरान्ह	हस्ता

[७९८]

श्री ऋषभ देव के सिवाय बाकी सभी ने गो क्षीर [गाय के दूध] से अर्थात् दूध के नाना प्रकार के व्यंजनों से पारणा किया।

श्री ऋषभ देव ने इक्षु [क्षीर] से पारणा किया।

तीर्थंकरों के केवलज्ञान – ज्ञान कल्याणक

केवल ज्ञान के समवशरण का विस्तार समवशरण में रहने वाले सात प्रकार के मुनीश्वरों का संघ और उनकी संख्या—

क्रमांक	वन-उद्यानों के नाम	वृक्ष (अशोक-वृक्ष)	योजन प्रमाण	कोस प्रमाण	समवशरण में तीर्थंकर भगवान का आसन	सामान्य केवलियों की संख्या	पूर्वधारियों की संख्या	शिक्षकों की संख्या	विपुलमति ज्ञानियों की संख्या	विक्रिया ऋद्धियों की संख्या	अवधिज्ञानियों की संख्या
	५३	५४	५५	५६	५७	५८	५९	६०	६१	६२	६३
१	शकटावन (पुरिमतालपुर)	वट वृक्ष	१२	४८	समवशरण में तीर्थंकर भगवान का आसन पद्मासन से ही विराजमान होते हैं।	२००००	४१५०	४१५०	१२७५०	२०६००	९०००
२	सहेतुक वन	सप्त वर्ण	११॥	४६		२००००	३७५०	२१६०	१२४५०	२०४००	९४००
३	,,	शालभली	११	४४		१५०००	२१५०	१२९३००	१२१५०	१९८००	९६००
४	उद्यान वन	वैशाल	१०॥	४२		१६०००	२५००	२३००५०	१२६५०	१९०००	९८००
५	सहेतुक वन	प्रियंगु	१०	४०		१३०००	२४००	२५४३५०	१०४००	१८४००	११०००
६	मनोहर वन	,,	९॥	३८		१२००७	२३००	२६९०००	१०३००	१६८००	१००००
७	सहेतुक वन	शिरीष	९	३६		११०००	२०३०	२४४९२०	९१५०	१५३००	९०००
८	सर्वार्थ वन	नाग वृक्ष	८॥	३४		८०००	४०००	२१०४००	८०००	१०६००	२०००
९	पुष्पक वन	अक्ष (बहेड़ा)	८	३२		७५००	१५००	१५५५००	७५००	१३०००	८४००
१०	मनोहर वन	बिल्व वृक्ष	७॥	३०		७०००	१४००	५९२००	७५००	१२०००	७२००
११	,,	पलाश	७	२८		६५००	१३००	४८२००	६०००	११०००	६०००
१२	,,	कदम्ब	६॥	२६		६०००	१२००	३९२००	६०००	१००००	५४००

	५३	५४	५५	५६	५७	५८	५९	६०	६१	६२	६३
१३	सहेतुक वन	जंबु (पाटल)	६	२४								
१४	,,	पीपल वृक्ष	५॥	२२								
१५	शालवन	सप्तच्छद	५	२०								
१६	सहस्राम्र वन	नन्दीवृक्ष	४॥	१८								
१७	सहेतुक वन	तिलक	४	१६								
१८	,,	आम्रवृक्ष	३॥	१४								
१९	श्वेतवन	अशोक	३	१२								
२०	नील वन	चम्पक	२॥	१०								
२१	चित्रक वन	बकुल	२	८								
२२	गिरनार	मेष शृंग	१॥	६								
२३	अश्व वन (काशी)	देवदारु	१।	५								
२४	मनोहर (ऋजु कूला नदी)	शालवृक्ष	१	४								

सर्ववसारए में सब ही तीर्थंकर भगवान पद्मासन से ही विराजमान होते हैं।

	१८५८००	३६६४०	२०००५५५	१५४६०५	२२५६००	१२७६००
१३	५५००	११००	३८५००	५५००	६०००	४८००
१४	५०००	१०००	३६५००	५०००	८०००	४३००
१५	४५००	९००	४०७००	४५००	७८००	३६००
१६	४०५०	८१०	३६४५०	४०५०	७२००	३२४०
१७	३२००	७००	४३१५०	३३५०	५१००	२५००
१८	२८००	६१०	३५८३५	२०५५	४३००	२८००
१९	२२००	५५०	२९०००	१७५०	२९००	२२००
२०	१८००	५००	२१०००	१५५०	२२००	१८००
२१	१६००	४५०	१०६००	१२५०	१५००	१६००
२२	१५००	४००	११८००	९००	११००	१५००
२३	१०००	३५०	१०९००	७५०	१०००	१४००
२४	७००	३००	९९००	५००	९००	१३००

	गणधर				गणनी या आर्यिका					
क्रमांक	वादियों की संख्या	कुल संघ की (को. ५८ से ६४) संख्या	मुख्य गणधरों के नाम	सब गणधरों की संख्या	मुख्य गणनियों के नाम	गणनीय आर्यिकाओं की संख्या	मुख्य श्रोताओं के नाम	श्रावकों की संख्या	श्राविकाओं की संख्या	यक्षों के नाम
	६४	६५	६६	६७	६८	६९	७०	७१	७२	७३
१	१२७५०	८४०००	वृषभ सेन	८४	ब्राह्मी	३५००००	भरत	३ लाख	५ लाख	गोमुख (वृषभ)
२	१२४००	१०००००	सिंह सेन	९०	आत्म गुप्ता(अकुम्भा)	३३००००	सगरभाव	,,	,,	महायक्ष
३	१२०००	२०००००	चारुसेन (चारुदत्त)	१०५	धर्मश्री	३३००००	सगरवीर्य	,,	,,	त्रिमुख
४	१००५०	३०००००	वज्रनाभि (वज्रचमर)	१०३	मेरुषेणा	३३०६००	मित्रभाव	,,	,,	यक्षेश्वर
५	१०४५०	३२००००	चमर (अमरवज्र)	११५	अनन्तमती	३६००००	मित्रवीर्य	,,	,,	तुम्बुर (तुम्बक)
६	९६००	३३००००	वज्रचमर (चमर)	११०	रतिषेणा (मेरु सेना)	४२००००	धर्मवीर्य	,,	,,	कुसुम
७	८६००	३०००००	बलदत्त (बली)	९५	मीन श्री	३३००००	दानवीर्य	,,	,,	वरनन्दी (मातंग)
८	७०००	६५००००	दत्त (दंदर्भ)	९३	वरुण श्री	३८००००	मघव	,,	,,	विजय (श्याम)
९	६६००	२०००००	विदर्भ (नाग)	८८	घोषवति	३८००००	युद्धवीर्य	२ लाख	४ लाख	अजित
१०	५७००	१०००००	अनगार	९१	धारणा श्री (धारणा)	३८००००	श्रीमन्दर	,,	,,	ब्रह्मेश्वर(ब्रह्मा)
११	५०००	८४०००	कुंथु	७७	धारणा	१३००००	त्रिपिष्ट	,,	,,	कुमार (ईश्वर)
१२	४२००	७२०००	सुधर्म (धर्म)	९९	वरसेना (सेना)	१०६०००	द्विपिष्ट	,,	,,	षण्मुख (कुमार)

	६४	६५	६६	६७	६८	६९	७०	७१	७२	७३
१३	३६००	६८०००	मन्दरार्य (मन्दिर)	५५	पद्म श्री	१०३०००	स्वयंभू	२ लाख	४ लाख	पाताल (चतुर्मुख)
१४	३२००	६६०००	जयार्य (जय)	५०	सर्व श्री	१०००००	पुरुषोत्तम	,,	,,	किन्नर (पाताल)
१५	२८००	६४०००	अरिष्ट सेन	४३	सुव्रता	६२४००	पुरुषवर	,,	,,	किंपुरुष (किन्नर)
१६	२४००	६२०००	चक्रायुध	३६	हरिषेणा	६०३००	पुंडरीक	,,	,,	गरुड़
१७	२०००	६००००	स्वयं भु	३५	भाव श्री (भाविता)	६०३५०	दत्त	१ लाख	३ लाख	गंधर्व
१८	१६००	५०००००	कुंभार्य (कुंभु)	३०	कूर्मश्री (पद्मिला)	६०००००	कुनाल	,,	,,	महेन्द्र (यक्षेन्द्र)
१९	१४००	४०००००	विशाख	२८	अमरसेना (बंधुसेना)	५५००००	नारायण	,,	,,	कुबेर
२०	१२००	३०००००	मल्ली	१८	पुष्पदत्ता	५०००००	सुभौम	,,	,,	वरुण
२१	१०००	२०००००	सुप्रभ (सोमक)	१७	भार्गव श्री (मंगला)	४५००००	अजितंजय	,,	,,	विद्युत्प्रभ (भृकुटी)
२२	८००	१८०००	वरदत्त	११	पद्म श्री	४०००००	उग्रसेन	,,	,,	सर्वाह्न (सोमद)
२३	६००	१६०००	स्वयंभु	१०	सुलोचना	३८००००	अजित	,,	,,	धरणेन्द्र
२४	४००	१४०००	गौतम (इन्द्रभूति)	२२	चन्दना	३६०००	श्रेयांसराजा	,,	,,	मातंग
	११६३००	२८४८०००		१४५२		५०५६२५०				

तीर्थंकरों के निर्वाण—मोक्ष का कल्याणक

क्रमांक	यक्षिणियों के नाम	आयु के अन्त में योग निरोध या विहार कब बंद किया था ?	विहार बंद होने के बाद समवशरण की स्थिति कैसी रहती है ?	मोक्ष की तिथि	मोक्ष प्राप्ति की तिथि आदि— समय (हरिवंश पु. अ. ६० से)	नक्षत्र	निर्वाण क्षेत्र नगर—पर्वतादि स्थान	निर्वाण क्षेत्र का विशिष्ट स्थान चूलिका
	७४	७५	७६	७७	७८	७९	८०	८१
१	चक्रेश्वरी	१४ दिन पहले	श्री तीर्थंकर भगवान आयु के अन्त समय जब विहार बंद करके योग निरोध करते हैं, तब एक ही स्थान में यथायोग्य आसन लगाकर स्थिर रहते हैं। इसमें केवल इतना ही कार्य योग की क्रिया उपदेश बंद होने से योग की क्रिया सब बंद हो जाती है। उनका सभी पुण्य नाम समवशरण की रचना नहीं रहती है। बारह प्रकार की सभा जब होकर सभा के सब जीव हाथ जोड़कर रहते हैं, प्रभु के पास सब प्रमुख देवता चले जाते हैं। श्री ऋषभनाथ भगवान के योग	माघ कृ. १४	पूर्वान्ह	उत्तराषाढ	कैलास पर्वत	—
२	रोहिणी (अजिता)	एक मास पहले		चैत्र शु. ५	,,	रोहिणी	सम्मेदशिखरजी	सिद्धवर कूट
३	प्रज्ञप्ति (नम्रा)	,,		चैत्र शु. ६	,,	मृगशिर	,,	धवलदत्त कूट
४	वज्रशृंखला (दुरितारी)	,,		वैशाख शु. ७	,,	पुनर्वसु	,,	आनन्द कूट
५	पुरुषदत्ता (संसारी)	,,		चैत्र कृ. ११	,,	मघा	,,	अविचल कूट
६	मनोवेगा (मोहनी)	,,		फाल्गुन कृ. ४	,,	चित्रा	,,	मोहन कूट
७	काली (मालिनी)	,,		,, ७	,,	अनुराधा	,,	प्रभास कूट
८	ज्वाला मालिनी	,,		,, ७	,,	ज्येष्ठा	,,	ललित कूट
९	महाकाली (भृकुटी)	,,		भाद्रपद शु. ८	,,	मूला	,,	सुप्रभ कूट
१०	मानवी (चामुंडे)	,,		आश्विन शु. ८	,,	पूर्वाषाढ़	,,	विद्युत्प्रभ कूट (विद्दत्तर कूट)
११	गौरी (सोमधकी)	,,		श्रावण शु. ३०	,,	धनिष्ठा	,,	संकुल कूट (संबल कूट)
१२	गांधारी (विद्युतमाली)	,,		भाद्रपद शु. १४	अपराह्न	अश्विनी	संदारगिरी (चम्पापुरी)	चम्पासाल वन (मनोहर वन)

६३	६४	६५	६६	६७	६८
६३ पूर्वोत्तर (ईशान)	६४ मानव	६५	६६	६७	६८
६३	६४ मानसी (वृत्तिपूर्ण)	६५	६६	६७	६८
६३	६४ महामानसी (कूटस्थ)	६५	६६	६७	६८
६३	६४ जया (शांतचित्ता)	६५	६६	६७	६८
६३	६४ विजया (कालो)	६५	६६	६७	६८
६३	६४ अपराजिता (धनवान)	६५	६६	६७	६८
६३	६४ भद्रकाली (पुण्यिनी)	६५	६६	६७	६८
६३	६४ चामुंडी	६५	६६	६७	६८
	(कुसुमर्मुक्त)				
६३	६४ कुरुकुल्ला	६५	६६	६७	६८
६३	६४ पद्मावती	६५	६६	६७	६८
६३	६४ सिद्धायनी	६५	६६	६७	६८

निरोध करने के बाद चौदह दिनों तक भरत चक्रवर्ती निरन्तर श्री आदिनाथ भगवान की पूजा करते रहे। इस प्रकार आदि पुराण (महा पुराण) पर्व १७४ में लिखा है।

७७	७८	७९	८०	८१	८२
ऋषभसेन कूट नं. ८	अरिष्टसेन	सुरेन्द्रदत्त	सत्यभद्रसेन	शुक्लप्रभ कूट (मुक्तिरमण कूट)	सिद्धार्थ कूट नं. १३ (स्वर्णभद्र)
सिंह कूट नं. १५	"	रेवती	"	स्वर्णभद्र कूट (स्वर्णभद्र)	
यशोधर कूट नं. ४	धर्मसेन	पुष्पक	"	सुदर्शन कूट (दत्तवर)	
श्रीधर कूट नं. १४	अमरसेन	भरणी	"	कुबेर कूट (प्रभास...क्षोणिप्रभ)	
दत्तभद्र कूट नं. २	"	कृत्तिका	"	लोभधर कूट	
सौम्य कूट नं. १५	प्रभाष	रोहणी	"	नटकूट कूट	
सुदत्त कूट नं. ५	अपराजित	मृगशीर्ष	"	सुप्रबल कूट	
हरिषेण कूट नं. १६	"	आर्द्रा	"	निर्जरेन्द्र कूट	
वैश्रवण कूट नं. १७	प्रभास	पुनर्वसु	"	सिद्धवरकूट	
आषाढ़ कूट नं. ७	प्रदोष	पुष्य	शिखरसार (ऊर्ध्वदर्शिर)	—	
आषाढ़ी कूट नं. ७	"	विशाखा	सुवर्णभद्रवरजी	सुवर्णभद्रकूट	
कार्तिक कूट नं. १५	प्रशास	स्वाति	धवलपुरी	धवलपुरी	

तीर्थंकरों के साथ-साथ कितने जीव कौन-कौन सी गति को प्राप्त हुये हैं ?

क्रमांक	कौन कौन से आसन से मोक्ष गये	सौधर्म स्वर्ग से लेकर ऊर्ध्व ग्रै. तक कितने गये	अनुत्तरविमानों में कितने गये उनकी संख्या	कौन-कौन तीर्थंकरों के कितने कितने शिष्य (यतिगण) कौन-कौन से समय में मोक्ष गये इसका खुलासा—		तीर्थंकरों के साथ-साथ जो सिद्ध गये उनकी संख्या	प्रत्येक तीर्थकाल में अनुबन्ध केवली कितने-कितने हुए।		इस हुंडावसर्पिणी काल दोष से दुषम सुषमा नामा चौथे काल में जो जिन धर्म का उच्छेद हुआ था वह कहां तक रहा था? उसका काल प्रमाण—
				तीर्थंकरों का मोक्ष का समय	संख्या		संख्या	दूसरे मत से संख्या	
८१		८३	८४	८५	८६	८७	८८		८९
१	पद्मासन	२१००	२००००						
२	कायोत्सर्गासन	२६००	२००००						
३	,,	६६००	२००००						
४	,,	७६००	१२००००						
५	,,	६४००	१२००००						
६	,,	४०००	१२००००						
७	,,	२४००	१२००००						
८	,,	४०००	१२००००						
९	,,	८४००	११०००						
१०	,,	८४००	११०००						
११	,,	७४००	११०००						
१२	पद्मासन	६४००	११०००	श्री ऋषभनाथ भगवान से लेकर श्री शांतिनाथ तीर्थंकर तक के सब तीर्थंकरों के शिष्य (यतिगण) तीर्थंकरों को केवल ज्ञान होने के पहले ही कौन कौन तीर्थंकरों के कितने-कितने शिष्यगण मोक्ष गये हैं, उनकी संख्या को आगे कोष्टक ८६ में देखिये।					
१३		६४००	१००००						
१४		६४००	९०००						
१५		६४००	८४२						
१६		६४००	८४२						
१७		६४००	८४२						
१८		६४००	८४२						
१९		६४००	८४२						
२०		६४००	८४२						
२१		६४००	८४२						
२२		६४००	८४२						
२३		६४००	८४२						
२४		६४००	८४२						
८४		०	०	श्री पुष्पदन्त (सुविधिनाथ) तीर्थंकर के समय से लेकर श्री धर्मनाथ तीर्थंकर के समय तक सात तीर्थं प्रवर्तनकाल में उच्छेद काल एक पल्य तक बढ़ता हुआ और घटता हुआ धर्म तीर्थ विच्छेद रहा था। सो ही त्रिलोकसार में लिखा है—					
८५		०	०	पल्लतुरियावसेसे पुप्फदंतसीयलंतरुप्पादे। सुविहिसयकम्मो सुविधीदुगमत्तिअत्थे सगंतरदा॥ सुविधिनाथ के तीर्थकाल में १/४ पाव पल्य का धर्म का विच्छेद हुआ था।					
८६		०	०	शीतलनाथ के तीर्थकाल में १/२ आधा पल्य का विच्छेद हुआ था।					

	८२	८३	८४	८५	८६	८७	८८	८९

१३	कायोत्सर्गासन	५७००	११०००		५२३००	६००	४०	४०	श्रेयांसनाथ के तीर्थकाल में ३/४ पौन पल्य तक धर्म का विच्छेद
१४	,,	५०००	१००००		५१०००	७००	३६	३६	वासु पूज्य के ,, ,, १ पल्य का
१५	,,	४३००	१००००		४६७००	८०१	३२	३२	विमलनाथ के ,, ,, ३/४ पौन पल्य का
१६	,,	३६००	१००००	केवल ज्ञान के बाद एक महीना तक	४८४००	९००	२८	२८	अनन्तनाथ के १/२ ,, आधा पल्य
१७	,,	३२००	१००००	मोक्ष जितने मोक्ष गये।	४६८००	१०००	२४	२४	धर्मनाथ के ,, १/४ पाव पल्य ,,
१८	,,	२८००	१००००	,, दो ,,	३७२००	१०००	२०	२०	इस प्रकार विच्छेद काल क्रम से पाव पल्य से लेकर एक पल्य तक बढ़ता गया। और फिर घटता हुआ पाव पल्य तक रहा
१९	,,	२४००	८८००	,, तीन ,,	२८८००	५००	१९	१९	
२०	,,	२०००	८८००	,, छः ,,	१९२००	१०००	१२	१२	
२१	,,	१६००	८८००	एक वर्ष तक	९६००	१०००	८	८	जिस समय धर्म का विच्छेद होता है उस समय मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका कोई भी नहीं रहते हैं। दीक्षा के सम्मुख होने वालों का अभाव होता रहता है। इसलिये धर्मरूपी सूर्य असंगत रहता है।
२२	पद्मासन	१२००	८८००	,, दो ,,	८०००	५३६	४	४	
२३	कायोत्सर्गासन	१०००	८०००	,, तीन ,,	६२००	३६	३	३	
२४	,,	८००	८०००	,, छः ,,	४४००	०	३	३	
		१०५८००	२७७८००		२४६४०००		११८२	१३७०	

तीर्थंकरों के परस्पर जन्म काल का अन्तराल कालप्रमाण

क्रमांक				
१	ऋषभनाथ का जन्म सुषमा दुषमा नामक तीसरे काल के अंत समय में जब ८४ लाख पूर्व + ३ वर्ष चार मास बाकी रहे तब हुआ।			
२	अजितनाथ ,,	ऋषभ देव का जन्म होने के बाद	५० लाख करोड़ सागरोपम + १२ लाख पूर्व प्रमाण	काल बीत जाने पर हुआ।
३	संभवनाथ ,,	अजितनाथ का ,,	३० लाख कोड़ा कोड़ी सागरोपम + १२ लाख पूर्व	,,
४	अभिनन्दन ,,	संभवनाथ का ,,	१० लाख करोड़ सागरोपम + १० लाख पूर्व	,,
५	सुमतिनाथ ,,	अभिनन्दन का ,,	९ लाख करोड़ सागरोपम + १० लाख पूर्व	,,
६	पद्मप्रभनाथ ,,	सुमतिनाथ का ,,	९०० हजार करोड़ सागरोपम + १० लाख पूर्व	,,
७	सुपार्श्वनाथ ,,	पद्मप्रभनाथ का ,,	९ हजार करोड़ सागरोपम + १० लाख पूर्व	,,
८	चन्द्रप्रभ ,,	सुपार्श्वनाथ का ,,	९०० करोड़ सागरोपम + १० लाख पूर्व	,,
९	पुष्पदन्त ,,	चन्द्रप्रभ का ,,	९० करोड़ सागरोपम + दलाख लाख पूर्व	,,
१०	शीतलनाथ ,,	पुष्पदन्त का ,,	९ करोड़ सागरोपम + १ लाख पूर्व	,,
११	श्रेयांसनाथ ,,	शीतलनाथ का ,,	१ करोड़ सागरोपम + १ लाख पूर्व प्रमाण काल में से + १०० सागर + १५०२६००० वर्ष घटाने पर जो बाकी रहा उतना काल प्रमाण बीत जाने पर हुआ।	
१२	वासुपूज्य ,,	श्रेयांसनाथ का ,,	५४ सागरोपम + १२ लाख वर्ष प्रमाण काल बीत जाने पर हुआ।	

१३	विमलनाथ का	जन्म	वासुपूज्य का जन्म होने के बाद	३० सागरोपम + १२ लाख वर्ष प्रमाण काल बीत जाने पर हुआ।		
१४	अनन्तनाथ	,,	विमलनाथ का	,,	९ सागरोपम + ३० लाख वर्ष	,, ,,
१५	धर्मनाथ	,,	अनन्तनाथ का	,,	४ सागरोपम + २० लाख वर्ष	,, ,,
१६	शान्तिनाथ	,,	धर्मनाथ का	,,	३ सागरोपम + ९ लाख वर्ष	,, ,,
१७	कुन्थुनाथ	,,	शान्तिनाथ का	,,	१/२ आधा पल्य + ५ हजार वर्ष	,, ,,
१८	अरहनाथ	,,	कुन्थुनाथ का	,,	१/४ पाव पल्य में से ९९९९९=९००० वर्ष घटाने पर जो बाकी रहा उतना कालप्रमाण बीत जाने पर हुआ।	
१९	मल्लिनाथ	,,	अरहनाथ का	,,	१००० करोड़ + २९००० वर्ष काल प्रमाण बीत जाने पर हुआ।	
२०	मुनिसुव्रत	,,	मल्लिनाथ का	,,	५४२५००० वर्ष	,, ,,
२१	नमिनाथ	,,	मुनिसुव्रत का	,,	६२०००० वर्ष	,, ,,
२२	नेमिनाथ	,,	नमिनाथ का	,,	५०९००० वर्ष	,, ,,
२३	पार्श्वनाथ	,,	नेमिनाथ का	,,	८४६५० वर्ष	,, ,,
२४	महावीर	,,	पार्श्वनाथ का	,,	२७८ वर्ष	,, ,,

अर्थात् दुषमा-सुषमा नामक चौथे काल के अन्त समय में जब ७५ वर्ष ८ मास १५ दिन बाकी रहे, तब महावीर स्वामी का जन्म हुआ।

तीर्थंकरों के परस्पर मोक्ष काल का अंतराल कालप्रमाण

१	ऋषभनाथ	जिनदेव	सुषमा-दुषमा नामक तीसरे काल के अन्त समय में जब ३ वर्ष ८ मास १५ दिन बाकी रहा तब मोक्ष गये।				
२	अजितनाथ	,,	ऋषभनाथ तीर्थंकर के मोक्ष जाने के बाद ५० लाख करोड़ सागर प्रमाण बीत जाने पर			मोक्ष गये।	
३	संभवनाथ	,,	अजितनाथ	,,	३०	,,	,,	,,
४	अभिनन्दन	,,	संभवनाथ	,,	१०	,,	,,	,,
५	सुमतिनाथ	,,	अभिनन्दन	,,	९	,,	,,	,,
६	पद्मप्रभनाथ	,,	सुमतिनाथ	,,	९० हजार करोड़ सागर		,,	,,
७	सुपार्श्वनाथ	,,	पद्मप्रभनाथ	,,	९	,,	,,	,,
८	चन्द्रप्रभ	,,	सुपार्श्वनाथ	,,	९०० करोड़ सागर		,,	,,
९	पुष्पदन्त	,,	चन्द्रप्रभ	,,	९०	,,	,,	,,
१०	शीतलनाथ	,,	पुष्पदन्त	,,	९	,,	,,	,,
११	श्रेयांसनाथ	,,	शीतलनाथ	,,	३३७३९००	सागरोपमकाल	,,	,,
१२	वासुपूज्य	,,	श्रेयांसनाथ	,,	५४ लाख	,,	,,	,,

१३	विमलनाथ	जिनदेव	वासुपूज्य तीर्थंकर के मोक्ष के बाद	३० लाख	सागरोपम काल प्रमाण बीत जाने पर मोक्ष गये।
१४	अनन्तनाथ	,,	विमलनाथ ,,	९	,, ,, ,,
१५	धर्मनाथ	,,	अनन्तनाथ ,,	४	,, ,, ,,
१६	शान्तिनाथ	,,	धर्मनाथ ,,	३ लाख सागरोपम से $\frac{3}{4}$ पौन पल्य घटाने पर जो बाकी रहेगा उतना प्रमाण बीत जाने पर मोक्ष गये।	
१७	कुन्थुनाथ	,,	शान्तिनाथ ,,	$\frac{1}{2}$ आधा पल्योपम काल प्रमाण बीत जाने पर मोक्ष गये।	
१८	अरहनाथ	,,	कुन्थुनाथ ,,	$\frac{1}{4}$ पाव पल्य में से एक हजार करोड़ वर्ष घटाने पर जो बाकी रहे ४ उतना काल प्रमाण बीत जाने पर मोक्ष गये।	
१९	मल्लिनाथ	,,	अरहनाथ ,,	एक हजार करोड़ वर्ष काल प्रमाण बीत जाने पर मोक्ष गये।	
२०	मुनिसुव्रत	,,	मल्लिनाथ ,,	५४ लाख वर्ष	,, ,,
२१	नमिनाथ	,,	मुनिसुव्रत ,,	६	,, ,, ,,
२२	नेमिनाथ	,,	नमिनाथ ,,	५	,, ,, ,,
२३	पार्श्वनाथ	,,	नेमिनाथ ,,	८३७५० वर्ष	,, ,,
२४	महावीर	,,	पार्श्वनाथ ,,	२५० वर्ष	,, ,, ,,

अर्थात्-दुःषमा सुषमा नामक चौथे काल के अन्त समय में जब ३ वर्ष ८ मास १५ दिन बाकी रहे, तब महावीर तीर्थंकर भगवान् मोक्ष गये।

तीर्थंकरों का तीर्थप्रवर्त्तन काल (मोक्षमार्ग प्रवर्त्तनकाल) प्रमाण

१	ऋषभ नाथ	तीर्थंकर का	तीर्थ प्रवर्तन काल
२	अजितनाथ	,,	,,
३	संभवनाथ	,,	,,
४	अभिनन्दन	,,	,,
५	सुमतिनाथ	,,	,,
६	पद्मप्रभ	,,	,,
७	सुपार्श्वनाथ	,,	,,
८	चन्द्रप्रभ	,,	,,
९	पुष्पदन्त	,,	,,
१०	शीतलनाथ	,,	,,
११	श्रेयांसनाथ	,,	,,
१२	वासुपूज्य	,,	,,

५०	लाख करोड़	सागरोपम	+	१ पूर्वाङ्ग प्रमाणकाल तक रहा
५०	,,	,,	+	३ पूर्वाङ्ग ,,
१०	,,	,,	+	४ ,, ,,
९	,,	,,	+	४ ,, ,,
९०	हजार करोड़	सागरोपम	+	४ ,, ,,
९	,,		+	४ ,, ,,
९००	करोड़	सागरोपम	+	४ ,, ,,
९०	,,		+	४ ,, ,,

२८ पूर्वाङ्ग + पल्य का चौथा भाग से हीन (कम) और ९ करोड़ सागरोपम से अधिक अर्थात् ८९९९९९९९ सागर और ९९९९९९९९९९९९९९९९ ३/४ पल्य में से २८ पूर्वाङ्ग + एक लाख पूर्व घटाने पर जो बाकी रहेगा उतना काल प्रमाण समझना चाहिये।

आधा पल्योपम और १०० सागर कम एक करोड़ सागरोपम प्रमाण काल से अतिरिक्त समझना चाहिये। अर्थात् ९९९९८९९ सागर और ९९९९९९९९९९ ९९९९९९ १/२ पल्य इससे अतिरिक्त काल का प्रमाण ९९२५००० वर्ष कम २५००० पूर्व है, ऐसा समझना चाहिये।

५४ सागरोपम + २१ लाख वर्षों में से ३/४ पल्य कम इतना काल प्रमाण समझना चाहिये।

३० सागरोपम + ५४ लाख वर्षों में से १ पल्य कम

१३	विमलनाथ	तीर्थंकर का	तीर्थ	प्रवर्तनकाल	९	सागरोपम	+ १५ लाख	वर्षों	में से ३/४ पल्य	कम इतना काल प्रमाण समझना चाहिये।
१४	अनन्तनाथ	,,	,,		४	,,	+ ७५००००	,,	आधा	,, ,,
१५	धर्मनाथ	,,	,,		३	,,	+ २५००००	,,	१/४ पल्य	,, ,,
१६	शान्तिनाथ	,,	,,	१/२ आधा पल्य १२५० वर्ष प्रमाण समझना चाहिये।						
१७	कुन्थुनाथ	,,	,,	१/४ पाव पल्य में से ९९९९९९७२५० वर्ष घटाने पर जो बाकी रहेगा, उतना काल प्रमाण समझना।						
१८	अरहनाथ	,,	,,	एक हजार करोड़ वर्षों में से ३३९०० वर्ष कम अर्थात् ९९९९९६६१०० वर्ष काल प्रमाण समझना।						
१९	मल्लिनाथ	,,	,,	५४४७४०० वर्ष काल प्रमाण समझना चाहिये।						
२०	मुनिसुव्रत	,,	,,	५०५०३० वर्ष	,,					
२१	नमिनाथ	,,	,,	५०१७००	,,	,,				
२२	नेमिनाथ	,,	,,	८४३२०	,,	,,				
२३	पार्श्वनाथ	,,	,,	२७८ वर्ष	,,	,,				
२४	महावीर	,,	,,	२१०४२ वर्ष कीस प्रमाण समझना अर्थात् पंचम काल के अंत समय में जब ३ वर्ष ८ मास और १५ बाकी रहेगा, तब तक महावीर भगवान का तीर्थ प्रवर्तन काल रहेगा।						

६३ शलाका पुरुष और नारद, रुद्र, कामदेव सम्बन्धी युगपत् अस्तित्वकाल सूचक की रचना

क्रमांक	२४ तीर्थंकर	१२ चक्रवर्ती	९ बलिभद्र	९ नारायण	९ प्रतिनारायण	९ नारद	११ रुद्र	२४ काम देव
१	१ ऋषभनाथ	१ भरत	❀	❀	❀	❀	१ भीम	१ बाहुबली
२	२ अजितनाथ	२ सगर	❀	❀	❀	❀	२ बलि	२ प्रजापति
३	३ संभवनाथ	❀	❀	❀	❀	❀	❀	३ श्रीधर
४	४ अभिनन्दन	❀	❀	❀	❀	❀	❀	४ दर्शनभद्र
५	५ सुमतिनाथ	❀	❀	❀	❀	❀	❀	५ प्रसेन चन्द्र
६	६ पद्मप्रभनाथ	❀	❀	❀	❀	❀	❀	६ चन्द्रवर्ण
७	७ सुपार्श्वनाथ	❀	❀	❀	❀	❀	❀	७ अग्नि युक्त
८	८ चन्द्रप्रभ	❀	❀	❀	❀	❀	❀	८ सनत्कुमार
९	९ पुष्पदन्त	❀	❀	❀	❀	❀	३ शंभु	९ वत्सराज
१०	१० शीतलनाथ	❀	❀	❀	❀	❀	४ विश्वानल	१० कनक प्रभ
११	११ श्रेयांसनाथ	❀	१ त्रिजय	१ त्रिपिष्ट	१ अश्वग्रीव	१ भीम	५ सुप्रतिष्ठ	११ मेघप्रभ
१२	१२ वासपूज्य	❀	२ अचल	२ द्विपिष्ट	२ तारक	२ महाभीम	६ अचल	❀
१३	१३ विमलनाथ	❀	३ सुधर्म	३ स्वयंभू	३ मेरक	३ रौद्र (इन्द्र)	७ पुंडरीक	❀
१४	१४ अनन्तनाथ	❀	४ सुप्रभ	४ पुरुषोत्तम	४ निशंभु	४ महारुद्र	८ अजितधर	❀
१५	१५ धर्मनाथ	❀	५ सुदर्शन	५ पुरुषसिंह	५ मधुकैटभ	५ काल	९ जितनाभि	❀

१६	×	३ भवदा	❀	❀	❀	❀	❀	❀
१७	×	४ सनत्कुमार	❀	❀	❀	❀	❀	❀
१८	१६ शान्तिनाथ	५ शान्तिनाथ	❀	❀	❀	❀	१० पीठ	१२ शान्तिनाथ
१९	१७ कुन्थुनाथ	६ कुन्थुनाथ	❀	❀	❀	❀	❀	१३ कुन्थुनाथ
२०	१८ अरहनाथ	७ अरहनाथ	❀	❀	❀	❀	❀	१४ अरहनाथ
२१	×	८ सुभौम	❀	❀	❀	❀	❀	❀
२२	×	❀	६ लम्बी	६ पुंडरीक	६ प्रल्हाद	६ महाकाल	❀	विषयराज
२३	१९ मल्लिनाथ	❀	❀	❀	❀	❀	❀	१५ श्रीचन्द
२४	×	❀	७ नन्दीमित्र	७ वत्त	७ बलि	दुर्मुख	❀	१६ नलराज
२५	×	९ महापद्म	❀	❀	❀	❀	❀	❀
२६	२० मुनिसुव्रत	❀	❀	❀	❀	❀	❀	❀
२७	×	१० हरिषेण	❀	❀	❀	❀	❀	❀
२८	×		८ रामचन्द्र	८ लक्ष्मण	८ रावण	८ नरमुख	❀	१८ हनुमंत

६३ शलाका पुरुष और नारद, रुद्र, कामदेव सम्बन्धी युगपत् अस्तित्वकाल सूचक की रचना

क्रमांक	२४ तीर्थंकर	१२ चक्रवर्ती	९ बलिभद्र	९ नारायण	९ प्रतिनारायण	९ नारद	११ रुद्र	२४ कामदेव
२९	२१ नमिनाथ	❀	❀	❀	❀	❀	❀	१९ बलिराज
३०	×	११ जयसेन	❀	❀	❀	❀	❀	❀
३१	२२ नेमिनाथ	❀	९ बलिराम	९ कृष्ण	९ जरासंध	९ अधोमुख	❀	२० वसुदेव
३२	×	१२ ब्रह्मदत्त	❀	❀	❀	❀	❀	२१ प्रद्युम्न
३३	२३ पार्श्वनाथ	❀	❀	❀	❀	❀	११ महादेव	२१ नागकुमार
३४	२४ महावीर	❀	❀	❀	❀	❀	❀	२३ जीवंधर
३५	×	❀	❀	❀	❀	❀	❀	२४ जम्बूस्वामी

सूचना :—ऊपर की तालिका में तीर्थंकरों के नामों के आगे चक्रवर्ती आदिकों के नाम लिखे हैं, वे तीर्थंकरों के समय में हो गये हैं, ऐसा समझना चाहिये। और तीर्थंकरों के नाम कोष्ठक में जब × इस प्रकार का चिन्ह रहे और उसके आगे जिन चक्रवर्ती आदिकों के नाम लिखे हों तो वे सब पहले और बाद के होने वाले तीर्थंकरों के अन्तराल काल में ही हुये हैं, ऐसा समझना चाहिये। तथा जिस कोष्ठक में जहां-जहां ❀ इस प्रकार का चिन्ह है वहां-वहां उसका अभाव समझना चाहिये।

श्री महावीर के तीर्थ प्रवर्तनकाल से चली आयी हुई, आचार्य शिष्य और शास्त्र परिपाठी आदि का विवरण

कथ हो गये ।

क्रमांक	आचार्य परम्परा, उनके नाम	कौन कितने ज्ञान के धारी थे	वीर नि. संवत से	वीर नि. संवत तक	कौन कितने वर्ष तक शास्त्रों का प्रचार किया	विक्रम संवत	शालिवाहन शके	खिस्तिय ईसवी सन्	विशेष
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
१	गौतमस्वामी गणधर [इन्द्रभूति]	अनुबंध-केवली थे	१	१२	१२	पूर्व में ४७०	पूर्व में ६०४	पूर्व में ५२६	अनुबंध-केवली थे ।
२	सुधर्मा स्वामी	,,	१३	२४	१२	४५८	५९२	५१४	,,
३	जम्बूस्वामी	,,	२५	६२	३८	४४६	५८०	५०२	ये अंतिम अनुबंध केवली थे ।
					६२				
४	विष्णुमुनि (नन्दी)	श्रुतकेवली थे १२ अंग व १४ पूर्व के ज्ञाता थे	६२	७६	१४	४०८	५४२	४६४	श्रुतकेवली थे, केवली के समान पदार्थों की प्ररूपणा करते थे 'चौदह पूर्वी' नाम से विख्यात थे ।
५	नन्दीमित्र	,,	७७	९२	१६	३९४	५२८	४५०	,,
६	अपराजित	,,	९३	११४	२२	३७८	५१२	४३४	,,
७	गोवर्धन	,,	११५	१३३	१९	३५६	४९०	४९२	,,
८	भद्रबाहु (प्रथम)	,,	१३४	१६२	९२	३१७	४७१	३९३	ये अंतिम श्रुतकेवली थे ।
					१००				
९	विशाखाचार्य (विशालमुनि)	११ अंग व १० पूर्व के ज्ञाता थे	१६३	१७२	१०	२०८	४४२	३६४	पदार्थों का यथावत् सम्यक् प्ररूपणा करते हुये परम निर्ग्रंथ मुनि कहलाते थे ।
१०	प्रौष्ठिलाचार्य	,,	१७३	१९१	१९	२९८	४३२	३५४	,,
११	क्षत्रियाचार्य (नक्षत्र, क्षत्रियांक)	,,	१९२	२०९	१७	२७९	४१३	३२५	,,
१२	जयसेनाचार्य (जय)	,,	२०९	२२९	२१	२९२	३९९	३१८	,,

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
१३	नागसेनाचार्य (अथनागश्रीनाग)	११ अंग व १० पूर्व के शास्त्रज्ञ थे।	२३०	२४७	१८	२४१	७७५	२९७	पदार्थों की यथावत् सम्यक् प्ररुपणा करते हुये परम निर्ग्रन्थ मुनि कहलाते थे।
१४	सिद्धार्थाचार्य	,,	२४८	२६४	१७	२२३	३५७	२७९	,,
१५	धृतिसेनाचार्य (धृतिसेन)	,,	२६१	२८४	२०	२०६	३४०	२६२	,,
१६	विजयाचार्य (विजयसेन)	,,	२८५	२९७	१३	१८६	३२०	२४२	,,
१७	बुद्धिषेणाचार्य (बुद्धिमान-बुद्धिलिंग	,,	२९८	३१७	२०	१७३	३०७	२२९	,,
१८	देवसेनाचार्य (प्रथम) (गंगदेवाचार्य)	,,	३१८	३३१	१४	१५३	२८७	२०९	,,
१९	धर्मसेनाचार्य (सुधर्म-धरसेन)	,,	३३२	३४५	१४	१३९	२७३	१९५	,,
					१८३				
२०	नक्षत्राचार्य	एकादशांग शास्त्रज्ञ थे।	३४६	३६३	१८	१२५	२५९	१८१	,, ये महामुनि कहलाए हैं।
२१	जयपालाचार्य (यशःपालमुनि)	,,	३६४	३८३	२०	१०७	२४१	१६३	,,
२२	पांडवाचार्य (पांडुमुनि)	,,	३८४	४२२	३९	८७	२२१	१४३	,,
२३	ध्रुवसेनाचार्य ((ध्रुतसेन)	,,	४२३	४३६	१४	४८	३८२	१०४	,,
२४	कंसाचार्य (कंस भट्टारक)	,,	४३७	४६८	३२ — — १२३	३४	१६८	९०	,,
२५	सुभद्राचार्य	दशांग शास्त्रज्ञ थे ११ अंग १४ पूर्व एकदेश धारक शास्त्रज्ञ थे।	४६९	४७४	६	२	१३६	५८	,,

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
२६	यशोभद्राचार्य	दशांगधारीश्रुतये ११ अंग १४ पूर्व के एक देश धारक श्रुतज्ञ थे।	४७५	४७२	१८	४	१३०	५२	ये महामुनि कहलाये हैं।
२७	(भद्रबाहु द्वितीय)	,,	४७३	५१५	२३	२२	११२	३४	ये अंतिम निमित्त ज्ञानी हैं
२८	लोहाचार्य	,,	५१९	५६५	५०	४५	८९	११	,,
					९७			ईसवी सन्	इनके समय में काल दोष से मुनि संघ पक्षपाती होकर संघ में चार भाग होगये।
२९	अर्हद्बल्याचार्य	एक अंग के एक देश श्रुतज्ञ हुये हैं	५६६	५९३	२८	६५	३९ ११	३९	
३०	माघनन्द्याचार्य	,,	५९४	६१४	२१	१२३	शा०शाके	६७	१ नन्दी संघ
३१	धरसेनाचार्य	,,	६१४	६३३	१९	१४४	१०	८८	२ सेन संघ
३२	पुष्पदन्ताचार्य	,,	६३४	६६३	३०	१६३	२९	१०७	३ सिंह संघ
३४	भूतबल्याचार्य	,,	६६४	६८३	२०	१९३	५९	१३७	४ देव संघ
	वसुनन्दी आचार्य	ये सब धवलादि							
	वीरनन्दी ,,	सिद्धांत के पाठी							
	कनकनंदी ,,	थे इसलिये वे							
	इन्द्रनन्दी ,,	पांचों ही सिद्धांत							
	नेमिचन्द्र ,,	चक्रवर्ती कहलाते थे।							

श्री गौतम मुनिप्रभृतियों का काल का प्रमाण ६८३ वर्ष का है जो श्रुत-लोप के साथ प्रवर्तन काल का कारण है वह आगामी २०२१७ वर्षों में काल दोष से व्युच्छेद को प्राप्त हो जायेगा। तो भी इस अवधि में चातुर्वर्ण्य संघ का जन्म होता रहेगा। परन्तु सब लोग प्रायः अविनीत, दुर्बुद्धि, असूयक, मत्सरी और आठ मद संयुक्त मत्त एवं गर्व सहित, कलहप्रिय, क्रोधी, होंगे।

चक्रवर्ती महापुरुष

वर्तमान कालीन बारह चक्रवर्ती सम्बन्धी ज्ञातव्य बातें

क्रमांक	चक्रवर्तियों के नाम (सकल चक्रवर्ती)	पिछले तीसरे भव का नाम नाम	पिछले तीसरे भव का नाम नगर	कहां से आकर चक्रवर्ती हुए	जन्मपुरी (राजधानी)	जनक (पिता)	जननी (माता)	शरीर की ऊंचाई (धनुष	शरीर का वर्ण
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
१	भरत	पीठराजा	पुंडरीकिनी	सर्वार्थसिद्धि	अयोध्या	ऋषभदेव	यशस्वती	४५०	सुवर्ण
२	सगर	विजेत मेघराज	पृथिवीपुर	विजयमान	,,	विजय	सुमंगला	३५०	,,
३	मघव	शशिप्रभ ,,	पुंडरीकिनी	ग्रैवेयक	श्रावस्ति (कौशलापुर	सुग्रीव	भद्रवति	४२।	,,
४	सनत्कुमार	धर्मरुची ,,	महापुरी	महेन्द्रस्वर्ग	हस्तिनागपुर (कौशलापुर)	विजय	सहदेवी	४२	,,
५	शान्तिनाथ	मेघराज ,,	पुंडरीकिनी	सर्वार्थसिद्धि	हस्तिनागपुर	विश्वसेन	ऐरादेवी	४०	,,
६	कुन्थुनाथ	सिंहरथ ,,	रत्नसंचयपुर	,,	,,	सुरसेन	श्री कान्त	३५	,,
७	अरहनाथ	धनपति ,,	क्षेमपुर	जयन्तानुत्तर	,,	सुदर्शन	मित्रसेना	३०	,,
८	सुभौम	कनकप्रभ ,,	धान्यपुर	—	अयोध्या	कीर्तिवीर्य	तारादेवी	२८	,,
९	पद्मनाथ (महापद्म)	विषसुप्रसन्न	वीतशोकपुर	ब्रह्मस्वर्ग	हस्तिनागपुर (वाराणसी)	पद्मरथ	मयूरी	२२	,,
१०	हरिषेण	महेन्द्रदत्त ,,	विजय	महेन्द्रस्वर्ग	कांपिलनगर (भोगपुर)	हरिकेसु	विप्रा	२०	,,
११	जयसेन	असीकान्त ,,	राजपुर	ब्रह्मस्वर्ग	कौशाम्बी	विजय	यशोवती	१५	,,
१२	ब्रह्मदत्त	जंभूत ,,	काशीपुर	पद्मगुलस्वर्ग	कांपिलनगर (अयोध्या)	ब्रह्मरथ	चूलादेवी	७	,,

भविष्यत्काल में अर्थात् उत्सर्पिणी के दुःषमा सुषमा नामा तीसरे काल में होने वाले २४ तीर्थंकरों के नाम आदि

क्र.	भविष्यत्काल में अर्थात् उत्सर्पिणी काल में होने वाले चौबिस तीर्थंकरों के नाम	इन तीर्थंकरों के जीव पिछले भव में कौन थे? उनके नाम	आगे उत्सर्पिणी काल के तीसरे काल में कहां से आकर तीर्थंकर होंगे	उनके शरीर की ऊंचाई कितनी होगी	उनकी आयु कितने वर्ष की होगी ?
१	२	३	४	५	६
१.	महापद्म	श्रेणिकराजा	पहले नरक से	७ हाथ	११६
२.	सुरदेव	सुपार्श्व			
३.	सुपार्श्व	उदंक			
४.	स्वयंप्रभ	प्रोष्ठिल			
५.	सर्वात्मभूत (सर्वप्रभ)	कृतसूर्य (कटपू)			
६.	देवपुत्र (देवसुत)	क्षत्रिय			
७.	कुलपुत्र (कुलसुत)	पाविल (श्रेष्ठी)			
८.	उदंक (उदक)	शंख			
९.	प्रोष्ठिल	नन्द (नन्दन)			
१०.	जयकीर्ति	सुनन्द			
११.	मुनिसुव्रत	शशांक			
१२.	अर (अष्टम)	सेवक			
१३.	निष्पाप (अपाप)	प्रेमक			
१४.	निष्कषाय	अतोरण			
१५.	विपुल (विमल)	रैवत			

१	२	३	४	५	६
१६.	निर्मल	कृष्ण (वासुदेव)	तीसरे नरक से		
१७.	चित्र गुप्त	सिरि (बलराम)			
१८.	समाधि गुप्त	भगलि			
१९.	स्वयंभू	विगलि (बागलि)			
२०.	अनिवृत्तिक (अनिवर्तक)	द्वीपायन			
२१.	जय	माणवक (कनकपाद)			
२२.	विमल	नारद			
२३.	देवपाल	सत्यपुत्त (चारुपाद)			
२४.	अनन्तवीर्य	सात्यकी पुत्र (रुद्र, महादेव)	तीसरे नरक से	५०० धनुष	एक करोड़ पूर्व

इस प्रकार तिलोयपण्णत्ति के चतुर्थ अधिकार (गाथा नंबर १५७८ से १५८६) में उल्लेख है। इसी तरह श्री गुणभद्राचार्य विरचित उत्तर पुराण के श्लोक नम्बर ४०१ से ४७४ पर्व ७६ में लिखा है।

१. श्री महावीर भगवान् जिस दिन मुक्त हुए उसी दिन गौतम स्वामी को केवल ज्ञान प्राप्त हुआ था। इसी तरह जिस दिन गौतम गणधर मोक्ष गए उसी दिन सुधर्म स्वामी केवली हुये हैं और जिस दिन सुधर्म स्वामी को मोक्ष हुआ उसी दिन जम्बू स्वामी केवली भये। इसलिये इन तीनों को 'अनुबन्ध केवली' कहते हैं। जम्बू स्वामी अन्तिम अनुबन्ध केवली हैं। सामान्य केवली की अपेक्षा से श्रीधर नामक अन्तिम केवली कुन्डलगिरि से सिद्ध हुए हैं।

२. प्रथम भद्रबाहु अन्तिम श्रुतकेवली हो गये हैं। द्वितीय भद्रबाहु अन्तिम निमित्त ज्ञानी हुए हैं।
३. सुपार्श्वचन्द्र नामा अन्तिम चारणमुनि हो गये हैं।
४. प्रज्ञाश्रमणों में वज्रयश नामा अन्तिम श्रमण हो गये हैं।
५. श्रुत नाम के मुनि अन्तिम श्रमण हो गये हैं।
६. विनय एवं सुशीलादि गुणसंपन्न श्री नाम के ऋषि हो गये हैं।
७. मुकुटधारी राजाओं में जिन दीक्षा धारण करने वाले सम्राट चन्द्रगुप्त अन्तिम राजा हुए हैं। इनके पश्चात् कोई भी मुकुट धारी राजागण जिन दीक्षा नहीं धारण करेंगे।

आगामी काल में कौन-कौन के जीव तीर्थंकर होंगे ? इस विषय में कई जगह कोई छोटी मोटी पुस्तक में और नाम देखने में आये हैं।

अट्ठहरि णव पडिहरि चलकिक चउक्को य एय बचलद्दो।
सेणिय समंतभद्दो तित्थय राट्ठंति णियमेण ।।१६०७।।

प्रथम तो यह गाथा ठीक नहीं और कौन से शास्त्र की है, इसका भी पता नहीं और इसका अर्थ भी ठीक नहीं जमता है। कारण 'त्रिपिष्ट' नाम का पहिला नारायण (हरि) का जीव श्री वर्धमान तीर्थंकर होकर मुक्त हुआ है। (देखो उत्तरपुराण पर्व ७४) और ८वां नारायण हरि लक्ष्मण का जीव आगे पुष्करार्ध द्वीप के विदेह क्षेत्र में जन्म लेने वाला है, ऐसा पद्मपुराण पर्व १०६ में लिखा है। इन दोनों नारायणों को घटाने से सात ही नारायण रह जाते हैं, परन्तु गाथा में 'अट्टहरि' लिखा है। और 'अश्वग्रीव' नाम का पहला प्रति नारायण (पडिहरि) का जीव इन प्रतिनारायणों में 'मृगध्वज' नाम का केवली होकर मुक्त हो चुका है। तब नव प्रति-नारायण कैसे संभव हैं ? और भी आदि अंत के चौबीस होनहार जीव अन्त के रुद्र पर्यंत चौथे काल में ही हो चुके हैं, फिर पांचवें काल में हुये समन्तभद्र महाराज का जीव इन चौबिस में आना कैसे संभव है ? और समंतभद्र महाराज तीर्थंकर प्रकृति का बंध कब किये थे ? और भी अनेक युक्ति प्रयुक्ति से इस गाथा में कथित अर्थ नहीं जमता है। इसलिये तिलोयपण्णति और उत्तरपुराण के कथनानुसार अर्थ का श्रद्धान करना चाहिये। इस विषय को पाठक समझ लें।

भूतकाल के तीर्थंकरों के नाम— १. निर्वाण, २. सागर, ३. महासाधु, ४. विमलप्रभ, ५. श्रीधर, ६. सुदत्त, ७. अमलप्रभ, ८. उध्दर, ९. अंगिर, १०. सन्मति, ११. सिन्धु, १२. कुसुमांजली, १३. शिवगण, १४. उत्साह, १५. ज्ञानेश्वर, १६. परमेश्वर, १७. विमलेश्वर, १८. यशोधर, १९. कृष्णमति २०. ज्ञानमति, २१. शुध्दमति, २२. श्रीभद्र, २३. अतिकांत, २४. शान्त ।

जघन्येन जिनाधीशा भवन्ति विंशतिप्रभाः ।
चक्राधिपाश्च सर्वत्र नृदेवखचरार्चिताः ।।१६०८।।

अर्थात्—अढाई द्वीप में तीर्थंकरों की जघन्य संख्या बीस रहती है, इनके सिवाय देव, मनुष्य और विद्याधरों से पूज्य ऐसे चक्रवर्ती भी होते हैं ।

कौन से क्षेत्र की अपेक्षा कितने चक्रवर्ती कहे गये हैं—

इन भरत और ऐरावत खंडों में कालानुसार एक-एक चक्रवर्ती होते रहते हैं । सकल क्षेत्र में जिस प्रकार एक आर्य खंड और पांच म्लेच्छ खंड मिलकर ६ खंड होते हैं। उसी प्रकार ऐरावत क्षेत्र में भी छह खंड होते हैं। विदेह क्षेत्र में जो ३२ देश हैं, उन देशों में भरत क्षेत्र के समान छह-छह खंड होते हैं और उन देशों में एक-एक चक्रवर्ती होते रहते हैं । पंच विदेह क्षेत्र की अपेक्षा एक समय में १६० तीर्थंकर, सकल चक्रवर्ती तथा अर्ध चक्रवर्ती कहे गए हैं । पांच भरत तथा पाँच ऐरावत क्षेत्रों की अपेक्षा इनकी उत्कृष्ट संख्या १७० होती है । जघन्य से विदेहों की अपेक्षा कम से कम संख्या तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों तथा अर्ध चक्रवर्तियों की बीस कही गई है ।

त्रिलोकसार में लिखा है—

तित्थद्ध–सयल चक्की सट्ठिसयं पुव्वरेणव्वरेण ।
बीसं बीसं सयले खेत्ते सत्तरिसयं वरदो ।।१६०९।।

चक्रवर्तियों की संख्या जो १२ कही है, वह भरत और ऐरावत क्षेत्रों की अपेक्षा से कही गई है । विदेह क्षेत्र में वे प्रायः सर्वत्र होते रहते हैं, वहां उत्कृष्ट या जघन्य संख्या का नियम नहीं है ।

चक्रवर्ती पद—नरक में से आने वाले जीवों को कभी भी प्राप्त नहीं हो सकता है, स्वर्ग से आने वाले जीवों को ही यह चक्रवर्ती पद प्राप्त होता है–ऐसा नियम है ।

पूर्ण आयु में से कुमारकालादि काल प्रमाण

क्रमांक	कुमारकाल प्रमाण	मांडलिक राजा काल प्रमाण	विजयकाल प्रमाण	चक्रवर्तित्व का काल प्रमाण	संयम काल प्रमाण	पूर्ण आयु काल प्रमाण	कौन कौन से तीर्थंकर के तीर्थकाल में हो गये
१	२	३	४	५	६	७	८
१	७३ लाख पूर्व	१००० वर्ष	६०००० वर्ष	६१ हजार वर्ष कम ६ लाख पूर्व	एक लाख पूर्व	८३ लाख पूर्व	वृषभनाथ के तीर्थ काल में हो गये।
२	६० ,,	५०००० ,,	३०००० ,,	८० ,, १२ ,,	,,	७२ ,,	अजितनाथ ,,
३	२५००० वर्ष	२५००० ,,	१०००० ,,	३९०००० वर्ष	५०००० वर्ष	५ ,,	धर्मनाथ और शान्तिनाथ के अंतराल काल में हो गये।
४	५०००० ,,	५००००,,	१०००० ,,	९०००० ,,	१००००० ,,	१ लाख वर्ष	,, ,,
५	२५००० ,,	२५००० ,,	८०० ,,	२४२०० ,,	२५००० ,,	१ ,,	आप स्वयं चक्रवर्ती थे।
६	२३७५० ,,	२३७५० ,,	६०० ,,	२३१५० ,,	२३७५० ,,	९२००० ,,	,,
७	२१००० ,,	२१००० ,,	४०० ,,	२०६०० ,,	२१००० ,,	८४००० ,,	,,
८	५००० ,,	५००० ,,	५०० ,,	४९५०० ,,	०	६०००० ,,	अरहनाथ और मल्लिनाथ के अंतराल काल में हो गये।
९	५०० ,,	५०० ,,	३०० ,,	१८७०० ,,	१०००० ,,	३०००० ,,	मल्लिनाथ और मुनिसुव्रत ,,
१०	३२५ ,,	३२५ ,,	१५० ,,	८८५० ,,	३५० ,,	१०००० ,,	मुनिसुव्रत और नमिनाथ ,,
११	३०० ,,	३०० ,,	१०० ,,	१९०० ,,	४०० ,,	३००० ,,	नमिनाथ और नेमिनाथ ,,
१२	२५ ,,	५६ ,,	१६ ,,	६०० ,,	०	७०० ,,	नेमिनाथ और पार्श्वनाथ ,,

भरत चक्रवर्ती—का जन्म चैत्र कृष्ण ९ उत्तराषाढ़ नक्षत्र, ब्रह्मयोग, धनु-राशि का चन्द्र जब मीनलग्न में था तब हुआ था।

क्या ब्राह्मण वर्ण अनादि से है ?

नहीं, भरत चक्रवर्ती ने ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की थी। आदि पुराण पर्व ३८ में लिखा है—

तेषां कृतानि चिन्हानि सूत्रैः पद्माह्वयाख्यिधेः।
उपासकाध्ययनसूत्राद्यैरेकादशान्तकैः (तेन) ॥१६१०॥

अर्थात्—भरत चक्रवर्ती ने 'पद्म' नाम की निधि से एक से लेकर ग्यारह तक ब्रह्म सूत्र देकर ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की थी। इस तरह भरतेश्वर द्वारा चतुर्थ काल के आरम्भ में ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति हुई है।

पांचों विदेह क्षेत्र में ब्राह्मण वर्ण है या नहीं ? वहां कितने वर्ण हैं ?

प्रजा वर्णत्रयोपेता जिनधर्मरता शुभा।
व्रतशील तपोवृष्टि भूषिता न द्विजाः क्वचित् ॥१६११॥

सिध्दान्तसार प्रदीप—

अर्थात्—विदेह क्षेत्र में ब्राह्मण नहीं है। वहां क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये तीन ही वर्ण होते हैं।

क्रमांक	आगे कौनसी गति प्राप्त की ?	भविष्यकाल में होने वाले १२ चक्रवर्तियों के नाम	अतीत काल के १२ सकल चक्रवर्तियों के नाम
१	२	३	४
१.	सिध्द (मुक्त) भये	भरत	श्रीषेण
२.	,,	दीर्घदन्त	पुण्डरीक
३.	सौधर्म स्वर्ग गये	मुक्तदन्त	वज्रनाभि
४.	सनत्कुमार स्वर्ग गये	गूढदन्त	वज्रदत्त
५.	सिध्द भये	श्रीषेण	वज्रघोष
६.	,,	श्रीभूति	चारुदत्त
७.	,,	श्रीकान्त	श्रीदत्त

१	२	३	४
८.	७वां नरक गये	पद्म	सुवर्णप्रभ
९.	सिध्द भये	महापद्म	भूवल्लभ
१०.	,,	चित्रवाहन	गुणपाल
११.	,,	विमलवाहन	धर्मसेन
१२.	७वां नरक गये	अरिष्ट सेन	कीर्त्यांध

प्रश्न :—भरतचक्रवर्ती का वृषभाचल पर अपनी प्रशस्ति लिखने पर विचार कैसे रहे ?

उत्तर :—महान् पुण्यात्मा चक्रवर्ती भरत क्षेत्र के छह खण्डों पर विजय प्राप्त करता है। वह पांच म्लेच्छ खंडों की विजय के लिए विजयार्ध पर्वत की ओर गमन करता है। वहाँ के राजाओं को जीतकर चक्रवर्ती हिमवान पर्वत के समीप आता है, और इसके निकटवर्ती वृषभाचल पर्वत के दर्शनार्थ जाता है। यह सौ योजन ऊंचा तथा सौ योजन चौड़ा है। इस मनोहर पर्वत की शिला पर प्रत्येक विजेता चक्रवर्ती अपने गौरव को सूचित करने वाली प्रशस्ति लिखता है। चक्रवर्ती भरत जब वृषभाचल पर्वत के निकट पहुँचे, तब उन्होंने क्या किया, इस विषय में महापुराण का वर्णन महत्त्वपूर्ण है। जिनसेन स्वामी लिखते हैं, "समस्त पृथ्वी को जीतने वाले भरत चक्रवर्ती ने अपने हाथ में काकिणी रत्न लेकर अपना नाम उस पर्वत पर लिखने का विचार किया, उस समय भरतराज ने उस पर्वत पर हजारों चक्रवर्ती राजाओं के नाम लिखे देखे :—

तदा राजसहस्राणां नामान्यत्रैक्षताधिराट्। (पर्व ३२—१४१)

असंख्यात करोड़ कल्पों में जितने चक्रवर्ती राजा हुये थे, उनके नामों से भरे हुये उस पर्वत को देखकर भरतेश्वर को बहुत आश्चर्य हुआ। इसे देखकर चक्रवर्ती का गर्व दूर हुआ और उन्होंने निश्चय किया कि इस भरत क्षेत्र में एक मैं ही शासक नहीं हूँ, मेरे समान अनेक चक्रवर्ती शासक हो चुके हैं। जिस समय भरतेश्वर ने एक चक्रवर्ती के नाम की प्रशस्ति मिटाई थी, उस समय उसने निश्चय किया

कि सारा संसार स्वार्थी है। अपनी प्रशस्ति में चक्रवर्ती ने लिखा था :—

नप्ता श्री नाभिराजस्य पुत्रः श्रीवृषभेशिनः ।
षट् खंडमंडितामेनां यः स्म शास्त्यखिलां महीं ॥१६१२॥

जो नाभिराज का पौत्र है, श्री वृषभदेव का पुत्र है, जिस भरत ने छह खंडों से सुशोभित इस समस्त पृथ्वी का पालन किया है।

मत्वाऽसौ गत्वरीं लक्ष्मीं जित्वरः सर्वभूभृतां ।
जगद्विसृत्वरीं कीर्तिमतिष्ठिपदिहाचले ॥१६१३॥

जो समस्त राजाओं को जीतने वाला है, ऐसे मुझ भरत ने लक्ष्मी को चंचल समझकर विश्व में फैलने वाली कीर्ति को इस पर्वत पर स्थापित किया।

इस प्रकार चक्रवर्ती ने अपना यश फैलाने वाली प्रशस्ति स्वयं अपने अक्षरों से लिखी थी, उस समय देवों ने चक्रवर्ती पर पुण्य वर्षा की थी। आकाश में दुन्दुभि बजी थी तथा देवताओं ने जय-जयकार किया था।

इस वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस जगत में अगणित प्रतापी और पुण्यात्मा पुरुष हो चुके हैं। जिस तरह भरत महाराज ने एक चक्रवर्ती का नाम अलग कर अपनी गौरव पूर्ण प्रशस्ति लिखी है। इस प्रकार भविष्य में कभी कोई चक्रवर्ती भरत महाराज का नाम भी मिटाये बिना न रहेगा। प्रत्येक जीव को मान कषाय छोड़कर मार्दव भाव को अपनाना चाहिए।

प्रश्न :—चक्रवर्तियों में भरतेश्वर का वैभव कैसा था ?

उत्तर :—व्यक्तिगत जीवन, परिवार आदि सब विशेष महत्त्वपूर्ण रहे हैं। आदिनाथ तीर्थंकर के ज्येष्ठ पुत्र होने के साथ उनके द्वारा विद्या का अभ्यास करने का अद्भुत सौभाग्य था। इनके कुटुम्ब में अनेक व्यक्ति चरम शरीरी हुए हैं। आज जिन महावीर भगवान का भरत क्षेत्र में तीर्थ चल रहा है, उन वीर भगवान का जीव सम्राट भरत का पुत्र मरीचिकुमार के रूप में विद्यमान था। सम्राट के पुत्रों में विवर्धन आदि ९२३ राजकुमार अद्भुत चारित्र वाले थे। उन्होंने नित्य निगोद की अवस्था को छोड़कर कर्म भार हल्का होने से मनुष्य पर्याय प्राप्त की थी और आदिनाथ भगवान के समवशरण में धर्मोपदेश सुनकर रत्नत्रय से अलंकृत मुनि पदवी को धारणकर अल्प समय में ही मोक्ष प्राप्त किया था। मूलाराधना टीका में इस विषय का इस प्रकार वर्णन किया गया है।

अनादिकालं मिथ्यात्वोदयोद्रेकात् नित्यनिगोदपर्यायमनुभय भरतचक्रिणः पुत्रः भूत्वा भद्र–विवर्धनादयस्त्रयोविंशत्यधिकनवशतसंख्याः पुरुदेवपादे श्रुत धर्मसाराः समारोपितरत्नत्रयाः अल्पकालेनैव सिद्धाः" (पृ० ६६ मूलाराधना)।

हरिवंश पुराण सर्ग १२ में भी उक्त बात का उल्लेख आया है :—

अदृष्टपूर्वतीर्थेशाः प्रविष्टाः समवस्थितिम् ।
कदाचिच्चक्रिणा सार्धं विवर्धनपुरोगमाः ।।१६१४।।
क्लिष्टा स्थावरकायेष्वनादिमिथ्यात्व दृष्टयः ।
दृष्ट्वा भगवतो लक्ष्मीं राजपुत्राः सुविस्मिताः ।।१६१५।।
अंतर्मुहूर्तकालेन प्रतिपन्नसुसंयमाः ।
त्रयोविंशान्यहो चित्रं शतानि नवभिर्विभुः ।।१६१६।।

भद्र-विवर्धन आदि राजपुत्रों का चारित्र किस मानव के हृदय में आत्म-विकास का प्रेम उत्पन्न न करेगा।

स्वयं भरतेश्वर का आध्यात्मिक जीवन मुमुक्षु वर्ग के लिए चमत्कार का जनक रहा है। चक्रवर्ती ने मुनि पदवी धारण करते समय केशों का लोच किया था, और तत्काल ही भरत, जो कुछ समय पूर्व लौकिक साम्राज्य के स्वामी थे, अब क्षण में केवल ज्ञान साम्राज्य के स्वामी हो गये। बत्तीस इन्द्रों ने भगवान भरत की पूजा की, मोक्ष मार्ग के दीपक केवली भरत ने बहुत समय तक इस पृथ्वी पर विहार कर कैलाश पर्वत से निर्वाण प्राप्त किया। निर्वाण दीक्षा लेने के अल्पकाल के पश्चात् उन्होंने सर्वज्ञता प्राप्त करने में सभी तीर्थंकरों की अपेक्षा अद्भुत विशेषता प्रदर्शित की। हरिवंशपुराण में भरत मुनिराज के विषय में ये पद्य महत्त्वपूर्ण हैं।

पंचमुष्टिभिरुत्पाट्य मूर्धजान् कचान् ।
लोचानन्तपदेशापद राजन् श्रेणिक! केवलम् ।।१६१७।।
द्वात्रिंशत्त्रिदशेन्द्रैः स, कृतकेवलपूजनः ।
दीपको मोक्षमार्गस्य, विजहार चिरं महीं ।।१६१८।।

प्रश्न :—हुंडावसर्पिणी काल की अद्भुत घटनाएँ कौनसी हैं ?

उत्तर :—सप्त परम स्थानों में प्रतिपादित साम्राज्य पदवी के स्वामी होते हुए भी चक्रवर्ती भरतेश्वर का बाहुबलि स्वामी द्वारा पराजय होना आश्चर्य की वस्तु लगती है, किन्तु आगम में बताया है कि असंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी के पश्चात्

आने वाले हुंडावसर्पिणी काल में ही ऐसी अभूतपूर्व घटनाएँ होती हैं। जिन शासन के मध्य में विपरीत अनेक मतों की उत्पत्ति होना, वस्त्र धारण करके निंदनीय सग्रंथ लिंगधारी संप्रदाय का प्रादुर्भाव, जिनेन्द्र भगवान पर उपसर्ग होना, चक्रवर्ती का मान भंग, कुदेव, उनके मठ, उनकी मूर्ति आदि का होना, अनेक मिथ्या शास्त्रों का निर्माण होना तथा भरत का बाहुबलि द्वारा मानभंग सदृश कार्य हुए हैं। कहा भी है :—

जिनशासनमध्ये स्युः विपरीता मतान्तराः।
चीवराद्यावृता निद्याः सग्रन्थाः संति लिंगिनः ॥१६१९॥
उपसर्गो जिनेन्द्राणां, मानभंगश्च चक्रिणाम्।
कुदेव-मठ-मूर्त्याद्याः शास्त्राणि अनेकशः ॥१६२०॥

इस सम्बन्ध में यह भी गाथा प्रसिद्ध है :—

हुंडावसर्पिणीकाले नियमेण भवंति पंचपाषंडाः।
चक्किहरमाणभंगो उवसग्गो जिणवरिंदाणं ॥१६२१॥

भरत बाहुबलि आदि का उपरोक्त वर्णन भूतपूर्व नैगमनय की अपेक्षा से किया जाता है। आज तो वे सभी समान आत्मगुणों से शोभायमान सिद्ध परमात्मा के रूप में ईषत्प्राग्भार नाम की अष्टम पृथ्वी पर विराजमान हैं। वह स्थान सर्वार्थसिद्धि से केवल द्वादश योजन दूरी पर स्थित है।

प्रश्न :—चक्रवर्ती के चार प्रकार की राजविद्या कौनसी है ?

उत्तर :—(१) आन्वीक्षिकी अपना स्वरूप जानना, अपना बल पहिचानना, अच्छा बुरा समझ लेना, सच्चा झूठा समझ लेना, रत्न परीक्षक जिस तरह रत्न की परीक्षा करता है, उसी तरह पहिचानना।

(२) **त्रयी**—शास्त्रानुसार धर्म-अधर्म समझ कर, अधर्म छोड़ देना और धर्म में प्रवृत्ति करना।

(३) **वार्ता**—अर्थ—अनर्थ को समझकर प्रजाजनों का रक्षण करना।

(४) **दंडनीय**—दुष्ट दण्डनीयादि। (देखो महापुराणपर्व ४)

प्रश्न :—चक्रवर्ती के पांच इन्द्रियों का विषय बल स्वरूप कैसा है ?

उत्तर :—(१) स्पर्शनेन्द्रिय से ९ योजन तक का विषय जान लेते हैं।
(२) रसनेन्द्रिय से ,, ,,
(३) घ्राणेन्द्रिय से ,, ,,

(४) चक्षुरिन्द्रिय से ४७६३४७ घटे २७ योजन तक देख सकते हैं।
(५) श्रोत्रेन्द्रिय से १२ योजन तक का शब्द सुनते हैं।

चक्रवर्ती के ७ अंगबलों का स्वरूप—

१. स्वामी, २. अमात्य, ३. देश, ४. दुर्ग, ५. खजाना (कोश), ६. षडंग बल, ७. मित्र (सुहृत्) इस प्रकार सात अंगबल होते हैं।

चक्रवर्ती का षडंग (६ प्रकार का) बल—

१. ८४ लाख भद्र हाथी होते हैं, २. ८४ लाख रथ होते हैं, ३. १८ करोड़ जातिवंत (सुलक्षण) घोड़े होते हैं, ४. ८४ करोड़ वीर भट (पैदलसैनिक) होते हैं, ५. असंख्यात विद्याधर सैन्य होते हैं, इस प्रकार चक्रवर्ती का षडंगबल समझना चाहिये।

चक्रवर्ती के दशांग भोग—

१. दिव्यपुर (पट्टण), २. दिव्यभाजन, ३. दिव्यभोजन, ४. दिव्यशय्या, ५. दिव्यआसन, ६. दिव्यनाटक, ७. दिव्यरत्न, ८. दिव्यनिधि, ९. दिव्यसैन्य, १०. दिव्यवाहन इस प्रकार दशांग भोग होते हैं।

चक्रवर्ती की नवनिधि और उनकी फलदान शक्ति—

१. कालनिधि-ऋतु के अनुसार नानाविधि पदार्थ देने वाला होता है।
२. महाकालनिधि-नानाविधभाजन पदार्थ देने वाला होता है।
३. माणवक ,, आयुध ,,
४. पिंगल ,, आभरण ,,
५. नैसर्प ,, मन्दिर ,,
६. पद्म ,, वस्त्र ,,
७. पांडुककाल निधि नानाविध धान्य पदार्थ देने वाला होता है।
८. शंख ,, ,, वादित्र ,,
९. सर्वरत्न (नानारत्न) निधि – नानाविधरत्न देने वाला होता है।

ये सब निधियां नदीमुख में उत्पन्न होती रहती हैं।

चक्रवर्ती के १४ रत्न और उनको फलदान शक्ति—

चक्रं छत्रमसिदण्डो मणिश्चर्म च काकिणी।
गृहं सेनापतिस्तक्षा पुरोधोऽश्वगजस्त्रियः ॥१६२॥

१. अयोध्या-सेनापति रत्न—सेनानायक-आर्यखंड और उत्तम, मध्यम म्लेच्छखंड सिवाय अन्य दिग्विष्टरों को जीतने वाला सेनापति रत्न ।

२. भद्रमुख-हर्म्यपति-गृहपतिरत्न—भंडारी-राजमहल का व्यवहार चलाने वाला और हिसाब-किताब रखने वाला गृहपति रत्न होता है ।

३. बुद्धिसमुद्र—पुरोहितरत्न—सबको धर्म-कर्मानुष्ठान पूर्वक मार्गदर्शन कराने वाला पुरोहित रत्न होता है ।

४. कामवृष्टि—रथपति—तक्षकरत्न—उत्तम कारीगर—चक्रवर्ती के आलोचनानुसार महल, मंदिर, प्रासाद आदि को तैयार करने वाला तक्षकरत्न ।

५. सुभद्रा-सुजाति-स्त्रीरत्न-चक्रवर्ती के ९६ हजार स्त्रियों के सिवाय जो मुख्य पट्टरानी होती है, वह ही स्त्रीरत्न है ।

६. विजयागिरि-गजपतिरत्न-अरिनृपों के गजघटाओं का विघटन करने वाला गजरत्न होता है ।

७. पवनंजय-अश्वरत्न—तिमिश्र गुफा के कपाट को विघटन करते समय १२ योजन दौड़ने वाला अश्वरत्न होता है ।

इस प्रकार यह ७ सजीव रत्न कहलाते हैं ।

८. सुदर्शन—चतु—आयुध—बैरियों का संहार (अभाव) करने वाला चक्ररत्न होता है ।

९. सूर्यप्रभ-छत्ररत्न-आयुध—सैन्यों के ऊपर आने वाली बाधाओं को दूर करने वाले छत्ररत्न होते हैं ।

१०. भद्रमुख-असि-खंगरत्न-आयुध—चक्रवर्तियों के चित्तोत्सव को करने वाले असिरत्न होते हैं ।

११. प्रबुद्धवंग-दण्डरत्न-आयुध—चक्रवर्तियों के सैन्य की जमीन को साफ कर देने वाला दण्डरत्न ।

१२. चित्ताजननी-काकिणीरत्न—गुफा आदि में रहने वाले अंधकार के स्थानों में चन्द्रादित्यों के समान प्रकाश देने वाला काकिणीरत्न होता है ।

१३. चूडामणिरत्न-रत्नविशेष—इच्छित पदार्थ को देने वाला चूडामणि रत्न होता है ।

१४. चर्मरत्न—सैन्यादिकों को नद और नदी से सुरक्षित रीति से पार करा देने वाला चर्मरत्न होता है ।

इस प्रकार ७ अजीव रत्न कहलाते हैं। इनमें एक से लेकर पांच तक अजीव रत्न अपने-अपने नगरों में उत्पन्न होते हैं और ६ और ७ विजयार्ध पर्वत में उत्पन्न होते हैं। नम्बर ८ से ११ तक आयुधशाला में उत्पन्न होते हैं। नम्बर १२ से १४ तक के रत्न श्री देवी के मन्दिर में उत्पन्न होते हैं। इन १४ महारत्नों में प्रत्येक रत्न का रक्षण एक-एक हजार यक्ष देवता किया करते हैं।

चक्रवर्ती के स्वामित्व का स्वरूप —

चक्रवर्ती का ३२ हजार राजाओं पर स्वामित्व होता है। उन राजाओं के लक्षण निम्न प्रकार समझना चाहिये।

नृपति—जो समस्त नर अर्थात् मनुष्यों का रक्षण करने वाला हो, वही नृप या नृपति कहलाता है।

भूप—समस्त पृथ्वी का जो रक्षक है, वह भूप या भूपति कहलाता है।

राजा—जो समस्त प्रजा जनों को राजी रखने वाला है, वही राजा कहलाता है।

इन राजाओं के छह गुण होते हैं—

१. संधि=मिलाप (अपसात), २. विग्रह=युद्ध, ३. यान=वाहन, ४. आसन=मुक्काम, ५. संस्थान=वचनों की दृढ़ता (वाचनिक), ६. आश्रय=आधार इसके दो भेद होते है, जो अपने से प्रबल रहे उसका आश्रय लेना, और जो अपने आधीन रहे उसे आश्रय देना अर्थात् शरणागतों का प्रतिपालन करना। यही राजा के छह गुण समझना चाहिये।

राजाओं के कर्त्तव्य कर्म—

१. आत्मपालन करना—अर्थात् राज्य करने वालों को प्रथम अपनी आत्मा का पालन करना चाहिये। अर्थात् स्वतः के प्राणों का रक्षण करना चाहिये।

२. मतिपालन करना—अर्थात् अपनी बुद्धि निर्मल रखनी चाहिये।

३. कुल पालन करना—अर्थात् राजकुलाचारादि संभावना चाहिये।

४ प्रजा-पालन करना—अर्थात् पुत्र के समान प्रजाजनों की रक्षा करनी चाहिये।

शिष्टों का संरक्षण और दुष्टों का निग्रह करना चाहिये।

उपरोक्त गुण युक्त राजाओं की १८ श्रेणियां होती हैं, उनका स्वरूप—

१. सेनापति – सेना का नायक, २. गणकपति=ज्योतिषी आदिकों का नायक, ३. वणिकपति – व्यापारियों का नायक, ४. दण्डपति=समस्त सेना का नायक, ५. मंत्री=पंचांगमंत्र विषय में प्रवीण, ६. महत्तर=कुलवान अर्थात् कुल विशेष उच्चता, ७. तलवर=कोतवाल का स्वामी, ८. ब्राह्मण, ९. क्षत्रिय, १०. वैश्य, ११. शुद्र=इन चार वर्णों का स्वामी, १२. हाथी, १३. घोड़ा, १४. रथ, १५. पदाति – इस चतुरंग बलों का स्वामी, १६. पुरोहित – आत्महित कार्य का अधिकारी, १७. अमात्य–देश का अधिकारी, १८. महामात्य – समस्त राज्य कार्यों का अधिकारी।

इस प्रकार जो १८ श्रेणियों का स्वामी है, वही 'राजा' है। और वही 'मुकुटधारी' हो सकता है। इसी तरह—

जो पांच सौ मुकुटधारी राजाओं का स्वामी है,			वह 'अधिराजा' कहलाता है।
जो एक हजार	,,	,,	वह 'महाराजा' ,,
जो दो हजार	,,	,,	वह 'मुकुटबद्ध' या 'अर्धमांडलिक' कहलाता है।
जो चार हजार	,,	,,	वह 'मांडलिक' कहलाता है।
जो आठ हजार	,,	,,	वह 'महामांडलिक ,,
जो सोलह हजार	,,	,,	वह अर्धचक्री ,,
जो ३२ हजार	,,	,,	वह 'सकल चक्रवर्ती ,,

अर्थात् षट्खंड पृथ्वी का (भरत खंड का) अधिपति होता है। इस प्रकार श्रेणी बद्ध चक्रवर्ती का राज्य निराबाध चलता रहता है।

षट्खंड मंडित भरतखंड के एक-एक देश में रहने वाले अलग-अलग ग्रामादिकों की संख्या और नामादि लक्षण—

ग्रामादिकों की संख्या	ग्रामादिकों के नामादि लक्षण—
१. ग्राम ९९ करोड़ रहते हैं।	जिस गांव के चारों ओर दीवाल (कोट) होता है, उस गांव को 'ग्राम' कहते हैं।
२. नगर ७५ हजार रहते हैं।	जो गांव के चारों ओर दीवाल और चार दरवाजों से संयुक्त है उस गांव को नगर कहते हैं।

३. खेट ७६ हजार रहते हैं ।	नदी और पर्वतों से वेष्ठित रहने वाले गांव को 'खेट' कहते हैं ।
४. खर्वड २४ हजार रहते हैं ।	पर्वतों से वेष्ठित गांव को 'खर्वड' कहते हैं ।
५. मडम्ब ४ हजार रहते हैं ।	हरेक पांच सौ ग्राम संयुक्त रहने वाले गांव को 'मडम्ब' कहते हैं ।
६. पट्टण ४८ हजार रहते हैं ।	जहां रत्न उत्पन्न होते हैं, उस गांव को 'पट्टण' कहते हैं ।
७. द्रोण ९९ हजार रहते हैं ।	नदी से वेष्ठित हुए ग्राम को 'द्रोण' कहते हैं ।
८. संवाहन ७४ हजार रहते हैं ।	उपसमुद्र के तट पर रहने वाले ग्राम को 'संवाहन' कहते हैं ।
९. दुर्गाटवी २८ हजार रहते हैं ।	पर्वतों पर रहने वाले गांवों को 'दुर्गाटवी' कहते हैं ।

एक-एक देश में एक-एक समुद्र रहता है । उन समुद्रों में टापू अर्थात् ५६ अन्तर्द्वीप हैं । और जहां रत्न उत्पन्न होते हैं, ऐसे २६ हजार रत्नाकर (समुद्र) हैं, और रत्न बिक्री के स्थान भूत ऐसे ६०० प्रत्यन्तर कुक्षी हैं और ७०० प्रत्यन्तर कुक्षी-वास हैं, और ८०० कक्षा हैं । भरत खंड के मुख-नगर (राजधानी) दोनों नदी (गंगा और सिन्धु महानदी) के बीच में विद्यमान आर्य खंड में होता है ।

चक्रवर्ती के परिवारादि वैभवों का वर्णन—

१. चक्रवर्ती के एक पट्टरानी के सिवाय और ९६ हजार स्त्रियां होती हैं । इनमें आर्य खंड की ३२ हजार राजकन्याएं होती हैं, ३२ हजार विद्याधर राजकन्यायें और म्लेच्छ खंड की ३२ हजार राजकन्याएं होती हैं । इस प्रकार सब मिलकर ९६ हजार स्त्रियां होती हैं ।

२. चक्रवर्ती रात्रि के समय अपनी पट्टरानी के महल में ही रहते हैं परन्तु पट्टरानी के पुत्र, संतान नहीं होती है, वह वंध्या ही रहती है । इसकी शंखावर्त योनि होने से इस योनि में वंशोत्पत्ति नहीं होती है । चक्रवर्ती अपनी पृथक् विक्रिया की सहायता से अपने शरीर के अनेक रूप धारण कर सकते हैं, इसलिये उनकी अन्य स्त्रियों को पुत्रादिक होते रहते हैं ।

३. चक्रवर्ती के पुत्र-पुत्रियां संख्यात हजार होते हैं। ३ करोड़ ५० हजार बन्धु वर्ग (भाई बन्ध) होते हैं। ३६१ शरीर वैद्य ३६१ इतर वैद्य होते हैं। ३६० अङ्ग रक्षक होते हैं। २६० स्वयंपाकी (रसोई वाले) होते हैं। और १४ रत्न होते हैं।

४. चक्रवर्ती पर ३२ यक्षदेव ३२ चामर ढुराते रहते हैं।

५. बारह योजन तक सुनाई देने वाले २४ शंख २४ भेरी (नगाड़ा) २४ पटह (वाद्य विशेष) होते हैं।

६. ३२ हजार नाट्यशालायें और ३२ हजार संगीतशालायें होती हैं। ३२ हजार देश और उन प्रत्येक देश के ३२ हजार मुकुटधारी राजाओं पर स्वामित्व होता है। इसी तरह १६ हजार गणबद्ध देवों का स्वामी और ८८ हजार म्लेच्छ राजाओं का स्वामी होता है।

७. एक आर्य खंड और पांच म्लेच्छ खंड इस प्रकार छह खंड पृथ्वी के स्वामी रहते हैं। एक करोड़ 'हल' होते हैं, ३ करोड़ गो मण्डल अर्थात् गौ रहने के स्थान होते हैं। इससे सिद्ध होता है कि गौ तीन करोड़ से ज्यादा ही होती है।

८. भरत चक्रवर्ती के एक करोड़ सोने के थाल थे, ऐसा कोई कहते हैं; परन्तु वे दाल चावलादि धान पकाने के बर्तन थे। क्योंकि श्लोक में 'स्थाली' शब्द है, उसका अर्थ गगरी (बर्तन) ऐसा होता है, इसलिए वे थाली न रहकर बड़े-बड़े बर्तन थे ऐसा सिद्ध होता है। (देखो आदि-पुराण पर्व ३७)।

भरत चक्रवर्ती के १६ स्वप्न

स्वप्न दर्शन	स्वप्न का फल
१. तेईस सिंहों को देखा जो कि इस पृथ्वी पर अकेले ही विहार कर पर्वत के शिखर पर चढ़ गये थे।	श्री महावीर स्वामी को छोड़कर बाकी तेईस तीर्थंकरों के समय में दुष्ट नयों की
२. अकेला सिंह का बच्चा देखा और	तथा मिथ्याशास्त्रों की उत्पत्ति नहीं होगी। श्री महावीर स्वामी के तीर्थ में परिग्रह को

उसके पीछे-पीछे चलते हुए हरिण देखे ।

धारण करने वाले बहुत से कुलिंगी वा अन्य भेषधारी हो जायेंगे ।

३. बड़े हाथी के उठाने योग्य बोझ से जिसकी पीठ टूट गई है, ऐसे घोड़े को देखा ।

पंचकाल में साधु लोग तपश्चरण के समस्त गुणों को धारण करने के लिये समर्थ नहीं होंगे । मूलगुण और उत्तरगुणों के पालन करने की प्रतिज्ञा लेकर भी कोई उनके पालन करने में आलस करने लगेंगे, कोई मूल से सब गुणों को ही नष्ट कर देंगे और कोई मन्दता वा उदासीनता धारण करेंगे ।

४. वृक्ष, लता तथा छोटे पौधों के सुखे पत्तों को खाते हुए बहुत से बकरों के समूह को देखा ।

आगे के (पंचम काल) लोग सदाचार को छोड़कर दूराचारी हो जायेंगे ।

५. हाथी के कन्धे पर बैठे हुए बन्दर को देखा ।

प्राचीन क्षत्रियों के वंश का नाश हो जायगा और फिर नीच कुल वाले इस पृथ्वी का शासन वा पालन करेंगे ।

६. अनेक कौवा और पक्षी जिन्हें त्रास दे रहे हैं, ऐसे उल्लू को देखा ।

लोग जैन मुनियों को छोड़कर धर्म की इच्छा से अन्य मतियों के साधुओं के समीप जायेंगे ।

७. बहुत से भूतों को नाचते हुए देखा ।

प्रजा के लोग नामकर्म आदि कारणों से व्यन्तरों को देवता मानकर पूजा सेवा आदि करेंगे ।

८. जिसके बीच की जगह सूखी पड़ी है और किनारों पर चारों ओर खूब पानी भरा हुआ है ऐसा । तालाब देखा ।

यह धर्म आर्य क्षेत्र में न रहकर म्लेच्छ देश के लोगों में रहेगा ।

९. धूल से मैली हो रही है, ऐसी रत्नों की राशि को देखा ।

पंचमकाल में मुनिलोग शुक्लध्यान, ऋद्धि आदि से विभूषित उत्तम नहीं होंगे ।

१०. आदर सत्कार से जिसकी पूजा की जा रही है, ऐसा नैवेद्य खाता हुआ कुत्ते को देखा ।	अवती ब्राह्मण गुणी पात्रों के समान आदर सत्कार पावेंगे ।
११. शब्द करता हुआ एक तरुण बैल को विहार करते हुये देखा ।	लोग तरुण अवस्था में ही मुनिपद धारण करेंगे वृद्धावस्था में धारण नहीं करेंगे ।
१२. सफेद परिमंडल (चारों ओर गोल सफेद रेखा) से घिरा हुआ है, ऐसा चन्द्रमा देखा ।	पंचमकाल में मुनियों के अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न नहीं होंगे ।
१३. जिन्होंने आपस में मित्रता की है (परस्पर मिलकर जा रहें हैं) तथा उनकी शोभा नष्ट हो रही है, ऐसे दो बैल देखे ।	पंचमकाल ने मुनि लोग साथ-साथ रहेंगे एकाविहारी (अकेले विहार करने वाले) नहीं होंगे ।
१४. सूर्य को बादलों से ढका हुआ देखा ।	पंचमकाल में प्रायः केवल ज्ञानरूप सूर्य का उदय नहीं होगा ।
१५. छाया रहित सूखा वृक्ष देखा	पुरुष और स्त्रियों के सदाचार प्रायः भ्रष्ट हो जायेंगे ।
१६. पुराने पत्तों के समूह को देखा ।	महा औषधियों का रस अर्थात् गुण नष्ट हो जायेगा ।

इन स्वप्नों को इस प्रकार फल देने वाले और दूर अर्थात् आगामी पंचम काल में फल देने वाले जानना । इस प्रकार वर्णन महापुराण पर्व ४१ में लिखा है ।

९. नारायण—इनको वासुदेव, केशव, गोविन्द हरि ऐसा भी कहते हैं—

नारायणों के पूर्व के तीन भव—

नारायणों के नाम	पिछले तीसरे भव के वहां के नाम	वहां की नगरियों के नाम	वहां के गुरुओं के नाम
१	२	३	४	५
१. त्रिपिष्ट (त्रिपृष्ट)	विश्वनन्दी	हस्तिनागपुर	संभूत

१	२	३	४	५
२	द्विपिष्ट (द्विपृष्ट)	पर्वत	अयोध्या	सुभद्र
३	स्वयंभू	धनमित्र	श्रावस्ति	वसुदर्शन
४	पुरुषोत्तम	सागरदत्त	कौशाम्बी	श्रेयांस
५	नरसिंह (पुरुषसिंह)	विकट	पौदनपुर	भूतिसंग
६	पुंडरीक (पुरुषवर)	प्रियमित्र	शैलनगर	वसुभूति
७	दत्त (पुरुषदत्त)	मानचेष्टित	सिंहपुर	घोषसेन
८	लक्ष्मण	पुनर्वसु	कौशाम्बी	परांभोधि
९	कृष्ण	गंगादेवी (निर्णामिक)	हस्तिनागपुर	द्रुमसेन

इसके शेष बिन्दु पृष्ठ ७९५-९६ पर हैं।

९ प्रतिनारायण—इनको प्रतिवासुदेव, प्रतिशत्रु और प्रतिहरि ऐसा भी कहते हैं।

क्रमांक	प्रतिनारायणों के नाम	राजधानी का नाम	शरीर की ऊं. (धनुष)	आयु प्रमाण वर्ष
१	२	३	४	५
१.	अश्वग्रीव	अलकापुर	८०	८४ लाख
२.	तारक	विजपुर	७०	७२ लाख
३.	मेरक	नन्दनपुर	६०	६० लाख
४.	निशंभु	हरिपुर	५०	३० लाख
५.	प्रल्हाद (प्रहरण)	सिंहपुर	४५	१० लाख
६.	मधुकैटभ	पृथ्वीपुर	२९	६५ हजार
७.	बली	सूर्यपुर	२२	३२ ,,
८.	रावण	लंका	१६	१२ ,,
९.	जरासंध	राजगृही	१०	१ ,,

कौन-कौन से तीर्थंकाल में हुए।	आगे कौन सी गति प्राप्त की है ?	भविष्यत्काल में होने वाले ६ प्रतिनारायणों के नाम	अतीत काल के ६ प्रतिवासु देवों के नाम
६	७	८	६
	७ वें नरक गये।	श्री कंठ	निशुंभ
	६ वें ,,	हरिकंठ	विद्युत्प्रभ
	,, ,,	नीलकंठ	घनरसिक
	,, ,,	अश्वकंठ	मनोवेग
	,, ,,	सुकंठ	चित्रवेग
	,, ,,	शिखिकंठ	दृढ़रथ
	५ वें ,,	अश्वग्रीव	वज्र जंघ
	४ थे ,,	हयग्रीव	विद्युदन्ड़
	३ रे ,,	मयूरग्रीव	प्रल्हाद

सूचना—६ प्रतिनारायण—

१. यह प्रतिनारायण पद नरक में से आने वाले जीवों को भी प्राप्त नहीं हो सकता है।

२. ये सब ही प्रतिनारायण अधोगामी अर्थात् अधोलोक जाने वाले होते हैं।

३. इनमें जरासंध भूमि गोचरी थे, बाकी सब विद्याधर थे।

४. रावण की लंका कहाँ है ? वर्तमान सिंहलद्वीप को बहुत से लोक 'लंका' समझते हैं, परन्तु इसे रावण की लंका नहीं समझना चाहिये। लवणोदधि समुद्र में सात सौ योजन लम्बा चौड़ा एक 'राक्षस' नाम का द्वीप है, उस द्वीप के मध्य भाग में मेरु पर्वत के समान 'विचित्र कूट' अथवा 'चित्रकूटाचल' नाम का एक पर्वत है। वह पर्वत ६ योजन ऊँचा और ५० योजन लम्बा चौड़ा है। उस पर्वत पर ३० योजन प्रमाण 'लंका' नाम की नगरी अत्यन्त

सभी नारायण अर्धचक्री होते हैं

जन्म भूमि

पिछले भव के स्वर्गों के नाम कहां से आए	राजधानी	जनक (पिता)	जननी (माता)	शरीर की ऊंचाई (धनुष)	कुमार काल वर्ष	मांडलिकराजा वर्ष	विजय काल वर्ष	अर्धचक्री राज्य वैभव काल प्रमाण वर्ष	पूर्ण आयुकाल प्रमाण वर्ष	पटरानियों के नाम
६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
महाशुक्र स्वर्ग	पौदनापुर	प्रजापति	मृगावती	८०	२५०००	२५०००	१०००	८३४९०००	८४ लाख वर्ष	सुभद्रा
०	द्वारकापुर	ब्रह्मभूत	माधवी	७०	२५०००	२५०००	१००	७१४९९००	७२ ,,	रोहिणी
लांतव स्वर्ग	हस्तिनागपुर	रौद्रनन्द	पृथिवी	६०	१२५००	१२५००	९०	५९७४९१०	६० ,,	प्रभवा
सहस्रार ,,	,,	सौम्य	सीता	५०	७००	१३००	८०	२९९७९२०	३० ,,	मनोहरा
ब्रह्म ,,	चक्रपुर	प्रख्यात	अम्बिका	४५	३००	१२५०	७०	९९८३८०	१० ,,	सुनेत्रा
महेन्द्र ,,	कुशाग्रपुर	०	लक्ष्मी	२९	२५०	२५०	६०	६४४४०	६५ हजार ,,	विमलसुन्दरी
सौधर्म ,,	मिथिलापुर	शिवाकर	केशिनी	२२	२००	५०	५०	३२०००	३२ ,,	आनन्दवती
सनत्कुमार स्वर्ग	अयोध्या	दशरथ	सुमित्रा	१६	१००	२००	४०	१२०००	१२ ,,	प्रभावती
महाशुक्र ,,	मथुरा	वसुदेव	देवकी	१०	१६	५६	८	१०००	१ ,,	रुक्मिणी

सुन्दर है। पद्मपुराण में कहा है कि भीम, महाभीम नाम के यक्षों ने 'मेघनाद' विद्याधर से कहा था कि हम लंकापुरी आपको देते हैं। आप वहां सुख से रहना। यही आगम कथित रावण की 'लंका' समझनी चाहिये। लंकामें लंका नाम से प्रसिद्ध अन्य स्थान भी हो सकते हैं।

५. इन पर सदाकाल १६ चमर ढुरते रहते हैं।

६. रावण को 'राक्षस' समझना अज्ञान है। वे विद्याधर थे 'राक्षस' नामक द्वीप में रहते थे। इसी तरह रावण को 'दशकंठ' समझना भी अज्ञान है।

कौन-कौन से तीर्थंकरों के तीर्थकाल में हुए है?	आगे कौन सी गति प्राप्त की है ?	भविष्यत्काल में होने वाले ९ नारायणों के नाम	अतीत काल के ९ नारायणों के नाम
१७	१८	१९	२०
बलदेवों का जो तीर्थकाल है, वही नारायणों का तीर्थकाल समझना चाहिये।	७ वें नरक गये	नन्दी	काकुत्स्थ
	६ वें "	नन्दीमित्र	वरभद्र
	" "	नन्दीषेण	सुभद्र
	" "	नन्दीभूति	संश्लिष्ट
	" "	बल	वरवीर
	" "	महाबल	शत्रुंजय
	५ वें "	अतिबल	दमितारि
	४ थी भूमि "	त्रिपृष्ट	प्रियदत्त
	३ री भूमि "	द्विपृष्ट	विमलवाहन

सूचना—९ नारायण सम्बन्धी—

१. यह नारायण पद नरक में से आने वाले जीवों को कभी भी प्राप्त नहीं हो सकता है, ऐसा नियम है।

२. ये सब ही नारायण अधोगामी अर्थात् रत्नप्रभा आदि भूमियों में जाने वाले होते हैं।

३. इन पर सदाकाल १६ चमर ढुरते रहते हैं।

४. इनके सात प्रकार के आयुध अर्थात् महारत्न होते हैं—
(१) सुनन्दक का नाम का खड्ग (२) पांचजन्य नाम का शंख। (३) शार्ङ्ग नाम का धनुष (४) सुदर्शन नाम का चक्र (५) कौस्तुभ नाम का मणि (६) अमोघा नाम की शक्ति। (७) कौमुदी नाम की गदा होती है।

५. राजा शिशुपाल ने कृष्ण नाम के नारायण को रुक्मिणी का हरण करते समय एक सौ गालियां दी। तदन्तर कृष्ण ने उनको मारा। इस प्रकार हरिवंश पुराण में वर्णन आया है।

६. 'त्रिपिष्ट' नाम का पहला नारायण (हरि) का जीव 'वर्धमान' तीर्थंकर होकर मुक्त हुआ है। इस प्रकार उत्तर पुराण पर्व ७४ में लिखा है।

७. 'लक्ष्मण' नाम का ८ वां नारायण (हरि) का जीव पुष्करार्द्ध द्वीप के विदेह क्षेत्र में जन्म लेने वाला है। इस प्रकार पद्मपुराण पर्व १०६ में लिखा है।

८, कोटिशिला या कोटिकशिला आठ योजन लम्बी चौडी और एक योजन ऊँची होती है। इसको सिद्ध शिला भी कहते हैं—

नाभिगिरिशिरोदेशे शिला योजनमुत्थिता।
अष्टयोजनविस्तीर्णासिध्दस्थानं मुनीशिनाम्॥

इस कोटि शिला को हर एक नारायण (हरि) अपनी भुजाओं से उठाते हैं। कौन नारायण ने कहां तक उठाई थी उसका वर्णन—

(१) त्रिपृष्ट महापुरुष ने वह शिला मस्तक के ऊपर जहां तक कि भुजा पहुँचती है, वहां तक उठायी थी।
(२) द्विपृष्ट ,, वह शिला मस्तक तक उठाई थी।
(३) स्वयंभू ,, ,, कंठ तक ,,
(४) पुरुषोत्तम ,, ,, वक्षस्थल तक ,,
(५) पुरुषसिंह ,, ,, हृदय तक ,,
(६) पुंडरीक ,, ,, कमर तक ,,

(७) दत्तक " " जंघा तक "
(८) लक्ष्मण " " घोटे तक "
(९) कृष्ण " " चार अंगुल ऊँचे तक उठाई थी।

इस प्रकार हरिवंश पुराण के बेपनवें सर्ग में लिखा है।

९ नारद—

क्र.	नारदों के नाम	विशेष—
१	भीम	१ नारायणों का जो तीर्थकाल है, वही इनका समझना।
२	महाभीम	२ यह नारद पद नरक में से आने वाले जीवों को कभी भी प्राप्त नहीं हो सकता है।
३	रौद्र (रुद्र)	
४	महारौद्र	३ सब ही नारद अधोगामी अर्थात् अधोलोक जाने वाले होते हैं।
५	काल	
६	महाकाल	४ सब ही कलहप्रिय होते हैं और धर्म विषय में भी रत होते हैं, सब ही भव्य होने से परंपरा से मुक्तिगामी होते हैं। वर्तमान में सभी हिंसा दोष से अधोलोक जाते हैं।
७	दुर्मुख	
८	नरमुख	
९	अधोमुख	५ इनके शरीर की ऊँचाई, आयु आदि के विषय में सामग्री उपलब्धि नहीं हो सकने से नहीं दे सके हैं।

क्षमा की भूमिका

क्षमावान ही वीर है, क्षमावान ही धीर—
क्षमा-खड्ग हो हाथ में हरे हृदय की पीर॥
क्षमा ढाल हो हाथ में, साहस की तलवार—
शत्रु मित्र हो जायगा, कौन करेगा वार॥

९ बलदेव—इनको बलभद्र, रामचन्द्र, राम ऐसा भी कहते हैं

बलभद्रों के पूर्व के तीन भवान्तर— **जन्मभूमि—**

क्रमांक	बलदेवों के नाम	पिछले तीसरे भव के नगर	पिछले तीसरे भव का नाम	वहां के उनके गुरुओं के नाम	पिछले भव के स्वर्गादिकों के नाम	राजधानी	जनक (पिता)	जननी (माता)	दीक्षा गुरुओं के नाम	शरीर की ऊंचाई (धनुष)
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११
१	विजय	पुंडरीकिनी	बल	अमृतार	अनुत्तरविमान	पोदनापुर	प्रजापति	भद्रभोजा	सुवर्णकुंभ	८०
२	अचल	पृथिवी	भरतदेव	महासुव्रत	,,	द्वारकापुरी	ब्रह्ममूत	सुभद्रा	सत्यकीर्ति	७०
३	सुधर्म [धर्मप्रभ]	आनंदपुरी	नन्दीमित्र	सुव्रत	,,	हस्तिनागपुर	रौद्रनन्द	सुषेणा	सुधर्म	६०
४	सुप्रभ	नन्दपुरी	महाबल	वृषभ	सहस्रार स्वर्ग	,,	सौम	सुदर्शना	मृगांक	५०
५	सुदर्शन	वीतशोका	पुरुषर्षभ	प्रजापाल	,,	चक्रपुर (खगपुर)	अल्यास	सुप्रभा	श्रुतिकीर्ति	४५
६	नन्दीषेण [आनंद]	विजयपुर	सुदर्शन	दम्भर	,,	कुशाग्रपुर	०	विजया	सुमित्र	२५
७	नन्दीमित्र [नन्दन]	सुसीमा	वसुधर	सुधर्म	ब्रह्मस्वर्ग	मिथिलापुर	शिवाकर	वैजयन्ती	भवनभुत	२२
८	रामचन्द्र	क्षेमा	श्री रामचन्द्र	आर्णव	,,	अयोध्या	दशरथ	अपराजित [कौशल्या]	सुव्रत	१६
९	बलिराम [पद्म]	हस्तिनागपुर	शंख	विद्रुम	महाशुक्र स्वर्ग	मथुरा [शौरीपुर]	वसुदेव	रोहिणी	सिद्धार्थ	१०

१ यह बलदेव पद नरक से आने वाले जीवों को नहीं प्राप्त होता है।

२ सब ही बलदेव ऊर्ध्वगामी अर्थात स्वर्ग और मोक्ष जाने वाले होते हैं।

३ बलदेवों के पांच रत्न अर्थात् आयुध होते हैं।
[१] [रत्नमाला] [हार] [२] लांगल अपराजित हल [३] मूसल [४] रत्नगदा [दिव्य गदा] कोई रथ भी कहते हैं।
[५] शक्ति-ये पांच रत्न क्रीड़ा मात्र से शत्रुओं का मान मर्दन करने वाले बलदेवों के होते हैं।

बल देव का वर्णन—

क्र.	आयु प्रमाण वर्ष	कौन-कौन से तीर्थंकरों के तीर्थकाल में हुए हैं।	निर्वाण क्षेत्रों के नाम	आगे कौन सी गती प्राप्त की	भविष्यत्काल में होने वाले ९ बलदेव के नाम	अतीत काल के ९ बल-देव के नाम
	१२	१३	१४	१५	१६	१७
१	८७ लाख वर्ष	श्रेयांसनाथ के तीर्थकाल में हुए	गज पंथगिरी	सिद्ध भये	चन्द्र	श्री कान्त
२	७२ ,,	वासुपूज्य के तीर्थकाल में हुए	गजपंथागिरि	सिद्ध भये	महाचन्द्र	कान्तचित्त
३	६७ ,,	विमलनाथ ,, ,,	,,	,,	वरचन्द्र	वरबुद्धि
४	३७ ,,	अनन्तनाथ ,, ,,	,,	,,	धरचन्द्र	मनोरथ
५	१७ ,,	धर्मनाथ ,, ,,	,,	,,	सिंहचन्द्र	दयामूर्ति
६	६७ हजार वर्ष	अरहनाथ और मल्लिनाथ के अन्तराल काल में हुए।	,,	,,	हरिचन्द्र	विपुलकीर्ति
७	३७ ,,	मुनिसुव्रत और मल्लिनाथ के अन्तराल काल में हुए।	,,	,,	श्रीचन्द्र	प्रभाकर
८	१७ ,,	मुनिसुव्रत और नमिनाथ के अंतराल काल में हुए।	तुंगीगिरी	,,	पूर्णचन्द्र	संजयन्त
९	१२ ,,	नेमिनाथ के तीर्थ काल में हुये है।	—	ब्रह्मस्वर्ग गये	सुमधुचन्द्र	अमन्त

११ रुद्र

क्रमांक	रुद्रों के नाम	पूर्व आयु में से कुमार कालादि						
		शरीर की ऊंचाई (धनुष प्रमाण)	कुमार काल प्रमाण	संयमकाल प्रमाण	तप भंग काल प्रमाण	पूर्ण आयु काल प्रमाण	कौन कौन से तीर्थंकरों के तीर्थ काल में हो गये।	आगे कौन सी गति प्राप्त की है।
१	२	३	४	५	६	७	८	९
१	भीम (महावली)	५००	२७६६६६६ पूर्व	२७६६६६८ पूर्व	२७६६६६३ पूर्व	८३ लाख पूर्व	ऋषभनाथ के तीर्थकाल में हो गये	७वें नरक गये
२	बली (जितशत्रु)	४५०	२३६६६६६ ,,	२३६६६६८ ,,	२३६६६६७ ,,	७१ ,,	अजितनाथ ,,	,, ,,
३	अंबु (रुद्र)	१००	६६६६६ ,,	६६६६८ ,,	६६६६६ ,,	२ ,,	पुष्पदन्त ,,	६ ,,
४	विश्वानल (वैश्वानर)	९०	३३३३३ ,,	३३३३४ ,,	३३३३३ ,,	१ ,,	शीतलनाथ ,,	,, ,,
५	सुप्रतिष्ठ	८०	२८ लाख वर्ष	२८ लाख वर्ष	२८ लाख वर्ष	८४ लाख वर्ष	श्रेयांसनाथ ,,	,, ,,
६	अचल (अंग)	७०	२० ,,	२० ,,	२० ,,	६० ,,	वासुपूज्य ,,	,, ,,
७	पुंडरीक	६०	१६६६६६६ वर्ष	१६६६६६८ वर्ष	१६६६६६६ वर्ष	५० ,,	विमलनाथ ,,	,, ,,
८	अजितंधर	५०	१३३३३३३ ,,	१३३३३३४ ,,	१३३३३३३ ,,	४० ,,	अनन्तनाथ ,,	,, ,,
९	जितनाभि (अजितनाभि)	२८	६६६६६६ ,,	६६६६६८ ,,	६६६६६६ ,,	२० ,,	धर्मनाथ ,,	४ थे ,,
१०	पीठ	२४	३३३३३३ ,,	३३३३३३४ ,,	३३३३३३ ,,	१० ,,	शान्तिनाथ ,,	,, ,,
११	महादेव (सात्यकी पुत्र-स्थाणु)	७ हाथ	७ ,,	३४ ,,	२८ ,,	६७ वर्ष	महावीर ,,	३ री भूमि

१ यह रुद्र पद नरक से आने वाले जीवों को कभी भी प्राप्त नहीं हो सकता है, ऐसा नियम है।

२ सब ही रुद्र अधोगामी अर्थात् अधोलोक जाने वाले होते हैं।

अध्याय दसवां : कामदेवमहापुरुष और विदेह क्षेत्र का वर्णन

पुण्य कर्म के उदय से अत्यंत सुन्दर रूप धारण करने वाला जितेन्द्रिय सत्पुरुष कामदेव पदवी का धारक होता है। त्रिलोक पज्ञप्ति में लिखा है—

कालेसु जिणवराणं चउवीसाणं हवन्ति चउवीसा।
ते बाहुब्बलिपमुहा कंदप्पा णिरु वमाधरा॥

अर्थात्—चौबीस तीर्थंकरों के काल में चौबीस कामदेव होते हैं। इनका सौन्दर्य अनुपम होता है। परन्तु इस हुन्डावासर्पिणी काल के दोष से कामदेव पदवी प्राप्त महापुरुषों में भगवान शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ तथा अरहनाथ तीर्थंकरों का कथन आगम में आया है।

कामदेवों का वर्णन पढ़ते समय किसी के मन में यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि जिनेन्द्र भगवान ने काम को जीता था, इसलिये सहस्त्र नाम पाठ में उन्हें जित-कामारिः कहा है—

"अजितो जितकामारिरमितऽमितशासनः जित क्रोधो जितमित्रो जितक्लेशो जितान्तकः" ७–२

प्रश्न :—वैदिक पुराणों में कथा आई है कि शिवजी ने अपने तीसरे नेत्र से काम को जलाया था, इसलिये इस विषय का समाधान आवश्यक है कि कामदेव का यथार्थ स्वरूप क्या है?

उत्तर:—काम शब्द द्वारा लोक जीव के विकारी भावों को ग्रहण किया जाता है। यह विकार मन में उत्पन्न होने से काम को मनसिज, मनोज, मनोभू आदि नामों से जन पुकारते हैं। इस कामभाव के कारण पुरुष स्त्री शरीर के प्रति उसी प्रकार आकर्षित होकर विनाश को प्राप्त करता है, जिस प्रकार प्रकाश प्रेमी पतंगा दीपक की ज्योति में आसक्त होकर जल जाता है। जिनेन्द्र भगवान ने अपने आत्मबल और समाधि की प्रचंड अग्नि में उस काम विकार को सदा के लिये स्वाहा कर दिया। जिसके इशारे पर देव, दानव, मानव, पक्षी, पशु आदि जीव नाचा करते हैं। वैदिक पुराणों

तथा अन्य धर्म के ग्रन्थों में इस बात की कथाएँ हैं कि काम ने अपने हथियार कामिनी के द्वारा उनके धर्म में माने गये भगवान ब्रह्मा आदि की तपस्या का छेद कर किस प्रकार की दुर्गति की है। इस काम को मन्मथ भी कहते हैं। दधि मन्थन करने वाले काष्ठ यंत्र के संचालन द्वारा जैसे दधि का मन्थन होता है, उसी प्रकार काम पिशाच द्वारा भी पीड़ित पुरुष की मानसिक स्थिति होती है। अतएव इस काम वासना का क्षय करने के कारण जिनेन्द्र भगवान को जितकामारि कहा है। अनंत प्राणियों को अपने वश में करने वाले काम का नाश करने से जिनेन्द्र भगवान में अनंत शक्ति का सद्भाव भी शास्त्रकारों ने सूचित किया है।

महादेव ने अपने तृतीय नेत्र द्वारा कामदेव को नष्ट कर दिया है, यह पौराणिक कथन वैज्ञानिक सत्य शून्य है। यदि शम्भु ने काम को जीत लिया या जला दिया तो फिर अपने आधे अंग में प्रिय पत्नी पार्वती को स्थान देने का और अर्ध नारीश्वर नाम प्राप्त करने का क्या प्रयोजन है। शंभु के शरीर में काम के विनाश से उत्पन्न भस्म का लगाना विनोदस्पद है। जबकि विष्णु अपनी प्रिय वनिता से क्षण भर भी वियोग सहने की क्षमता शून्य है।

महाकवि धनंजय ने विषापहार स्तोत्र में ऋषभ जिनेन्द्र को काय का विनाशक स्वीकार किया है। कवि के शब्द हैं—

स्मरः सुदग्धो भवतैव तस्मिन्नुद्भूलितात्मा आदि शंभुः।
अशेत यद्दोषहतोऽपि विष्णुः किं गृह्यते येन भवानजागः ॥१६२॥

इसका हिन्दी पद्य में इस प्रकार भाव समझाया गया है—

कामदेव का किया भस्म जगत्राता थे ही,
लीनी भस्म लपेटि नाम शंभु निजदेही।
सोतो होय अचेत विष्णु वनिता करि हार्‌यो,
तुमकौं काम न ग्रहै आप घट सदा उजार्‌यो ॥१६३॥

वैदिक संत भर्तृहरि ने अपने वैराग्य शतक में भोगियों में मुख्य रूप से अपनी प्रियतमा को शरीर में निरन्तर धारण करने वाले शंभु का उदाहरण दिया है और स्त्री संसर्ग का सदा के लिये त्याग करने वाले जिनेन्द्र वीतराग का विशेष रूप से उल्लेख किया है।

जैन आगम ग्रन्थों के एक सौ उनहत्तर विशिष्ट महापुरुषों में २४ व्यक्तियों को कामदेव पदवी का धारक बताया है। जिनकी अलौकिक मूर्ति उनके काम विजेतापने तथा वीतराग के उज्ज्वल भावों को प्रभावक रूप में व्यक्त करती हुई श्रमण बेलगोला के विंध्यगिरि पर शोभायमान होती है, उन बाहुबलि भगवान का चौबीस काम देवों में आद्य स्थान है, हनुमानजी की भी कामदेवों में गणना की जाती है, महाराज श्रीकृष्ण नारायण के पुत्र प्रद्युम्न की भी कामदेवों में गणना की जाती है। कामदेव पदवी के धारक, जिनदेव तथा जिन शासन के परम भक्त होते हैं। इनका अनुपम सौन्दर्य रमणी वर्ग के मन को मुग्ध करता है। सौन्दर्य के सिन्धु होते हुये भी इनकी मनोवृत्ति गृहस्थ जीवन में परनारी के प्रति मातृत्व की आदर्श भावना से अलंकृत रहती है।

अनगार धर्मामृत में लिखा है कि अनेक रूपवती सुन्दरियां जिनके सौन्दर्य से आकर्षित होकर उनकी आकांक्षा करें, किन्तु जो जितेन्द्रिय सत्पुरुष अपने को निर्विकार रखें ऐसा जितेन्द्रिय महा-मना मानव कामदेव के नाम से जैन महापुरुषों की सूची में शोभायमान होता है।

प्रथम कामदेव बाहुबलि स्वामी ने मुनि दीक्षा धारण करके एक वर्ष का उपवास किया था। कहा जाता है कि वे अंगूठे के बल पर खड़े रहे, क्योंकि उनके मन में इस बात का खेद था कि वे भरत की भूमि पर खड़े हुये हैं। बाहुबलि जैसे विचारवान व्यक्ति के मन में इस प्रकार की शल्य विचित्र सी दिखती है।

इस विषय में महापुराणकार जिनसेन स्वामी ने इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला है। उन्होंने लिखा है "बाहुबलि ने एक वर्ष का उपवास धारण किया था। जिस दिन वह एक वर्ष का उपवास पुरा हुआ उसी दिन भरत ने आकर उनकी पूजा की। उसी समय उन्हें अविनाशी केवलज्ञान रूपी परमज्योति प्राप्त हुई। युद्ध के समय मेरे द्वारा भरतेश्वर को क्लेश पहुंचा है। इस प्रकार का प्रेम बाहुबलि के हृदय में बैठा हुआ था, इसलिये उस केवल ज्ञान ने भरत द्वारा पूजा की अपेक्षा की थी।

भावार्थ—भरत को मुझसे कष्ट पहुंचा है, यह प्रेम का भाव बाहुबलि स्वामी के हृदय में था। वह भरत के पूजा करते ही निकल गया और उस प्रेम रूप भाव के निकलते ही उन्हें केवलज्ञान प्रगट हो गया। महापुराणकार के शब्द ये हैं—

सांक्लिष्टो भरताधीशः सोऽस्मत्त इति यत्किल ।
हृद्यस्य हार्दं सेनासीत्तत्पूजाऽपेक्षि केवलं ।।१६२४।।

भरतेश्वर ने केवलज्ञान उत्पन्न होने के पहले जो बाहुबलि की पूजा की थी, वह अपने अपराध नाश करने के लिये की थी और केवलज्ञान उत्पन्न होने के बाद जो पूजा की थी, वह केवलज्ञान उत्पन्न होने का आनन्द मनाने के लिये की थी ।

चक्रवर्ती ने जो बाहुबलि केवली की पूजा रत्नमयी की थी, उसका महाकवि ने इस प्रकार वर्णन किया है "भरतेश्वर ने रत्नों का अर्घ चढाया था । गंगा के जल की जलधारा दी थी । रत्नों की ज्योति के दीपक चढ़ाये थे । मोतियों से अक्षत की पूजा की थी, अमृत के पिंड का नैवेद्य चढ़ाया था । मलयागिरि चंदन की धूप चढ़ाई थी, पारिजात आदि देव वृक्षों के फूलों से पुष्पपूजा की थी ।

सरत्ना निधयः सर्वे फलस्थाने नियोजिताः ।
पूजां रत्नमयीमित्थं रत्नेशो निरवर्तयत् ।।१६२५।।

फलों की जगह चक्रवर्ती भरत ने सब रत्न और निधियाँ चढ़ा दी थीं । इस प्रकार उन रत्नों के स्वामी भरतेश्वर ने रत्नमयी पूजा की थी ।

जिनसेन स्वामी ने जो समाधान किया है, वह आगम का कथन होने से मान्य है ही, साथ में पूर्णतया मनोवैज्ञानिक भी है । इस पूजा द्वारा भरतेश्वर की उज्ज्वल, उदात्त तथा उत्कृष्ट गुरुभक्ति स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है ।

चौबीस कामदेवों में हनुमानजी का भी नाम आता है । कामदेव अपने शरीर सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध रहते हैं । इस पर यह शंका उत्पन्न होती है कि जगत में हनुमान का आकार बन्दर का माना गया है । उसके श्रेष्ठ सौन्दर्य की कल्पना विचित्र सी लगती है । यथार्थ रहस्य क्या है ?

हिन्दू पुराणों में राम भक्त हनुमान को वानर स्वीकार किया है । जैन ग्रन्थों में ऐसा कथन नहीं है । हिन्दू ग्रन्थ हनुमान को पवन अर्थात् वायु का पुत्र कहते हैं । जैन शास्त्रों में ऐसी तर्क तथा युक्ति विरोधी मान्यता को तनिक भी स्थान नहीं है । महाराज पवनंजय विद्याधरों के राजा थे । उनको पुरुष पर्याय वाला माना है । उनके पुण्यवान, प्रतापी तथा चरम शरीरी पुत्र का नाम हनुमान था । उनकी ध्वजा में वानर का चिन्ह था । इससे उनको 'कपिध्वज' माना है । इन वानर चिन्ह के कारण

विद्याधरों के लिये वानर शब्द का व्यवहार चल पड़ा। यही कथन पद्मपुराण पर्व १६ आया है—

अयं तु व्यक्त एवास्ति शब्दोऽन्यत्र प्रयोगवान्।
यष्टि हस्तो यथा यष्टिः कुंतकरस्तथा ॥१६२६॥
तथा वानर चिन्हेन छत्रादि विनिवेशिना।
विद्याधरा गता ख्याति वानरा इति विष्टपे ॥१६२७॥

यह बात स्पष्ट है कि एक शब्द का दूसरे स्थान पर भी प्रयोग होता है। यष्टि अर्थात् लाठी को हाथ में रखने वाले पुरुष को यष्टि कहते हैं, इसी प्रकार कुंत अर्थात् भाले को हाथ में रखने वाले को कुन्त कहते हैं। इसी प्रकार छत्रादि में विद्यमान वानर चिन्ह के कारण विद्याधर लोगों की जगत में वानर रूप से प्रसिद्धि हुई।

ग्रन्थ का यह पद भी महत्त्वपूर्ण है—

एवं वानरकेतूनां वंशे संख्यात विर्वजिताः।
आत्मीयैः कर्मभिः प्राप्ताः स्वर्गं मोक्षं च मानवाः ॥१६२८॥

इन वानर ध्वजा वालों के वंश में उत्पन्न होने वाले असंख्य मानवों ने अपने उद्योग के द्वारा स्वर्ग तथा मोक्ष प्राप्त किया है।

इससे हनुमान के विषय में शंका को रंचमात्र भी स्थान नहीं रहता है। महान् पुण्यात्मा, बलशाली, ज्ञानवान हनुमान विद्याओं के स्वामी पुरुषरत्न थे। उसकी ध्वजा में वानर का चिन्ह था। आज भी भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के ध्वजचिन्ह अनेक प्रकार के रहते हैं। उन चिन्हों के कारण उन राष्ट्रों को चिन्हात्मक स्वीकार करने पर बड़ा अनर्थ हो जायेगा। भारत का झंडा तिरंगा है। इससे भारतवासी को कोई तीन रंग वाला मानने लगे, तो जैसे उसे अज्ञानी कहेंगे। उसी प्रकार कपि का ध्वज होने के कारण हनुमान को कपि मानकर वैसा श्रद्धान न करना होगा।

हिन्दू पुराणों की दृष्टि और सर्वज्ञ ज्ञान से प्रकाशित जैन दृष्टि में बहुत अन्तर है। उदाहरणार्थ द्रौपदी का पंचभर्तारी मानना। जहां सती सीता को एक रामचन्द्र को ही पतिदेव स्वीकार करने के कारण स्तुति की गई है, वहां द्रौपदी को पांच व्यक्तियों की पत्नी कहना महान अपवादपूर्ण वाणी है। शील तथा सदाचार के विपरीत है।

हरिवंश पुराण में कहा है कि पूर्व जन्म के स्नेह से द्रुपद राजा की पुत्री द्रौपदी ने अर्जुन को ही पति स्वीकार किया था। द्रौपदी के पंच भतरी रूप से अपवाद का कारण पूर्व जन्म का निदान बंध रहा है। द्रौपदी ने अपने पूर्वभव में बहुत व्रत पालन किये थे। उसकी दृष्टि वसंतसेना वेश्या पर पड़ी जो अनेक कामी व्यक्तियों से घिरी हुई थी। उसे देखकर द्रौपदी के जीव ने वसंतसेना के समान सौभाग्य की मनोकामना की थी उसके फलस्वरूप द्रौपदी को सती होते हुये भी पंचभर्तारी रूप का अपवाद प्राप्त हुआ। हरिवंश पुराण के ये वाक्य ध्यान देने योग्य हैं—

वसंतसेनां गणिकां कामुकैः परिवेष्टितां।
दृष्ट्वा वन-विहारेऽसावेकदा क्रीडनोद्यतां ॥१६२९॥
निदानमकरोत् क्लिष्टा दुर्यशः प्राप्तिकारणम्।
सौभाग्यमीदृशं मेऽन्ये जन्मन्यस्त्विति सादरा ॥१६३०॥

अतएव द्रौपदी को सीता की तरह सती मानना चाहिये। सीता जिस प्रकार रामचन्द्र की रानी थी, इसी प्रकार द्रौपदी अर्जुन की रानी थी। सती स्त्री का अपवाद महान पाप का कारण है, अतएव सती द्रौपदी को पंचभर्तारी मानने की कल्पना भी पाप का कारण होगी।

हिन्दू परम्परा में भी द्रौपदी की अहिल्या, सीता, तारा, मंदोदरी के साथ पंचमहापतिव्रताओं में गणना की जाती है—

अहिल्या द्रौपदी सीता तारा मंदोदरी तथा।
पंचसाध्वीं स्मरेन्नित्यं महापातकनाशिनीम् ॥१६३१॥

२४—कामदेव महापुरुष

नं०	कामदेवों के नाम	कौन से तीर्थंकाल में हुए ?	कौन सी गति प्राप्त की ?	निर्वाण क्षेत्र
१	२	३	४	५
१	बाहुबलि	ऋषभनाथ	सिद्ध भए	पोदनपुर
२	प्रजापति	अजित	,,	,,
३	श्रीधर	संभवनाथ	,,	,,
४	दर्शनभद्र	अभिनन्दन	,,	,,

१	२	३	४	५
५	प्रसेनचन्द्र	सुमतिनाथ	,,	,,
६	चन्द्रवर्ण	पद्मप्रभ	,,	,,
७	अग्निमुख	सुपार्श्वनाथ	,,	,,
८	सनत्कुमार	चन्द्रप्रभ	,,	सिद्धवरकूट
९	वत्सराज	पुष्पदन्त	,,	,,
१०	कनकप्रभ	शीतलनाथ	,,	,,
११	मेघप्रभ	श्रेयांसनाथ	,,	,,
१२	शान्तिनाथ	शान्तिनाथ	,,	सम्मेदशिखर
१३	कुन्थुनाथ	कुन्थुनाथ	,,	,,
१०	अरहनाथ	अरहनाथ	,,	,,
१५	विजयराज	,,	,,	सिद्धवरकूट
१६	श्रीचन्द्र	मल्लिनाथ	,,	,,
१०	नलराज	,,	,,	,,
१८	हनुमन्त	मुनिसुव्रत	,,	तुँगगिरि
१०	बलिराज	नमिनाथ	,,	सिद्धवरकूट
२०	वसुदेव	नेमिनाथ	,,	,,
२१	प्रद्युम्न	,,	,,	ऊर्जयन्तगिरि
२२	नागकुमार	पार्श्वनाथ	,,	कैलास पर्वत
२३	जीवन्धर	महावीर	,,	सिद्धवरकूट
२४	जम्बूस्वामी	,,	,,	जम्बूवन

विदेह क्षेत्र का स्वरूप :—

श्री अकलंक स्वामी ने राजवार्तिक अध्याय ३ पृ० १२२ में लिखा है :—'तत्र हि मुनियो देहोच्छेदार्थं यतमानाः विदेहत्वमास्त्रंदंति' वहां मुनिगण देहत्यागार्थ उद्योग करते हुये देहरहितपना अर्थात् सिद्ध पद प्राप्त करते हैं ।

प्रश्न :—ननु च भरतैरावतयोरपि विदेहाः ? ऐसी स्थिति में भरत और ऐरावत भी विदेह कहे जावेंगे, क्योंकि वहां से सिद्ध पद प्राप्त होता है ।

उत्तर :—'सत्यं संति कदाचिन्नतु सर्व काल, तत्र तु सततं धर्मोच्छेदाभावाद् विदेहाः संति, प्रकर्षापेक्षोविदेहव्यपदेशः ।

ठीक है भरत ऐरावत से सर्वकाल मोक्ष नहीं होता है । किन्तु दुखमा सुखमा काल में ही विदेहता होती है । विदेह क्षेत्र में कभी भी धर्म का उच्छेद नहीं होता है, अतः अधिकता की अपेक्षा उस क्षेत्र को विदेह कहा गया है ।

विदेह क्षेत्र के तीर्थंकर केवलियों के कल्याणक :—

पूर्व पश्चिम दोनों विदेह क्षेत्रों में अर्थात् पंच मेरु सम्बन्धी १६० विदेह क्षेत्रों में होने वाले तीर्थंकरों के लिए ऐसा नियम नहीं है कि जैसा भरत और ऐरावत क्षेत्र के तीर्थंकर पंचकल्याणक वाले होते हैं, वहां तीर्थंकर प्रकृति का बंध करने वाला व्यक्ति यदि चरम शरीरी हो अर्थात् उसी भव से मोक्ष प्राप्त करने वाला हो और गृहस्थ अवस्था में रहते हुए उसने तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर लिया हो तो उसके तीन कल्याणक (तप, ज्ञान और मोक्ष) होते हैं । और जिसने मुनि होकर तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर लिया हो तो उसके दो कल्याणक (ज्ञान और मोक्ष) होते हैं । यदि वह चरम शरीरी नहीं होगा अर्थात् जिसने पहले भव में तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया है, तो वह गर्भ जन्मादि पंच कल्याणकों का स्वामी होगा । यहाँ दोनों प्रकार के महापुरुष होते हैं । किन्हीं के पांचों कल्याणक होते हैं और किन्हीं के कम भी होते हैं ।

त्रिलोकसार में लिखा है कि विदेह क्षेत्र में सदा केवली भगवान, शलाका पुरुष, ऋद्धिधारी मुनीश्वरों की विपुल संख्या पायी जाती है, इससे वहां दुर्भिक्ष, ईति, भीति, कुदेव तथा मिथ्यालिंगी और उनके पूजक मिथ्यामतियों का अभाव रहता है । उक्तं च :—

देसा दुब्भिक्खीदी-मारि-कुदेव-वण्णलिंगिमदहीणा ।
भरिदा सदावि केवलि-सलाग-पुरिसिड्ढि-साहूहिं ॥१६३२॥

गोम्मटसार कर्मकांड गाथा ५०६ की जीव प्रबोधिनी संस्कृत टीका में लिखा है, 'तीर्थबंधप्रारंभश्चर मांगासंयत देशसंयतयोस्तदा कल्याणानि निष्क्रमणादीनि

त्रीणि, प्रमत्ता प्रमत्ता प्रमत्तयोस्तदा ज्ञाननिर्वाणे द्वे प्राग्भवे तदा गर्भावतारादीनि पंचेत्यवसेयं' (पृ० ७०८) अर्थात् चरमशरीरी असंयत द्वारा जब तीर्थंकर प्रकृति के बंध का प्रारम्भ होता है, तब उनके तप, ज्ञान तथा निर्वाण ये तीन कल्याणक होते हैं। प्रमत्त गुणस्थान वाले चरम शरीरी व्यक्तियों द्वारा जब तीर्थंकर प्रकृति का बंध प्रारम्भ किया जाता है। तब उनके ज्ञान कल्याणक तथा मोक्ष कल्याणक, ये दो होते हैं। जब पूर्व भव में तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया जाता है, तो पांचों कल्याणक होते है।

भरत तथा ऐरावत में पंच कल्याणक वाले ही तीर्थंकर होते हैं। उपरोक्त शास्त्राधार से यह बात निराबाध सिद्ध होती है। जिन तीर्थंकरों के तीन या दो कल्याणक होते हैं, उनके दस जन्मातिशय होंगे या नहीं, यह विचारणीय बात है। तर्क की दृष्टि से उनके अर्हंत अवस्था में ३६ गुण मानना होगा। यदि इसके विरोध में आगम की वाणी मिले तो तदनुसार ही श्रद्धा करना उचित है। सामान्य केवली के भी ३६ गुण मानना ठीक जंचता है। हमें स्पष्ट रूप से आगम का आधार नहीं मिला।

विदेह क्षेत्र में मोक्ष के योग्य संहननादि समुचित सामग्री की सदा उपलब्धि होने से वहां मोक्ष का मार्ग सतत चलता रहता है। अतएव मुमुक्षु मानव में ऐसी इच्छा का उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि इस दुषमा काल की क्रीडा भूमि में पाप प्रचुर पंचम काल युक्त भरत क्षेत्र से निकलकर तीर्थंकर केवली आदि के विहार से पुनीत विदेह में जाकर यह जीव आत्मा का कल्याण करे। इसका क्या उपाय है? यदि सम्यक्त्व की उपलब्धि हेतु है, तो बात बड़ी कठिन है, कारण सम्यक्त्व की चर्चा चाहे जितनी की जाय और जो चाहे करे, उस सम्यक्त्व रत्न के स्वामी उस क्षेत्र में दो चार अर्थात् अंगुलियों पर गिनने लायक कहे गये हैं।

समाधान :—उक्त शंका का निराकरण इस गाथा द्वारा होता है, जो बताती है, कि इस काल में भरत क्षेत्र से १२३ भद्र परिणाम वाले यहां से पूर्व विदेह में जावेंगे, और नौमे वर्ष में केवलज्ञान को प्राप्त करके केवली भगवान होंगे। सिद्धान्त सार की वह गाथा इस प्रकार है :—

जीवा सय-तेईसा पंचमकाले य भद्दपरिणामा।
उप्पाइ पुव्वविदेहे नवमइयरसे दु केवली होंदि ॥१६३३॥

यहां से विदेह जाने वाले जीव के सम्यक्त्व का अभाव आवश्यक है। यदि सम्यक्त्वी जीव है, तो वह मरणकर देव पर्याय को प्राप्त करेगा, कारण यहां नरकायु की बंधव्युच्छिति प्रथम गुणस्थान में होती है। सासादन गुणस्थान में तिर्यंचायु के साथ मनुष्यायु की बंधव्युच्छित्ति हो जाने से अविरत सम्यक्त्वी जीव देवायु का ही यहां से बंध करेगा। गोम्मटसार कर्मकांड की गाथा ११० तथा १०८ में बताया है कि मनुष्यों तथा तिर्यंचों के वज्रवृषभनाराच संहनन औदारिक शरीर औदारिक आंगोपांग मनुष्यायु, मनुष्यगति तथा मनुष्यगत्यानुपूर्वी इन छह प्रकृतियों की बंधव्युच्छिति चौथे गुणस्थान के बदले दूसरे गुणस्थान में होती है। कहा भी है :—

उवरिम छण्हं च छिदी सासणसम्मे हवे णियमा ॥

ऐसी स्थिति में सम्यक्त्वी मनुष्य आगामी देवायु का बंध करेगा। विदेह में जाने वाला मनुष्य सम्यक्त्व सहित मरण नहीं करेगा। ऐसी कर्म सिद्धान्त की व्यवस्था होने से धार्मिक व्यक्तियों के मन में भक्ति, व्रत, संयम की ओर विशेष अनुराग उत्पन्न होना चाहिये। कारण यह किसे मालूम है कि भरत से विदेह जाने वाले भद्र परिणामी १२३ जीवों में किसको स्थान प्राप्त होता है। तत्व की बात यह है कि काल की कलुषता का आश्रय लेकर अकर्मण्यता को नहीं अपनाना चाहिये तथा विषयों का दास न बनकर आत्मकल्याण के लिए बुद्धि तथा विवेक पूर्वक उद्योग करते रहना चाहिये। पुरुषार्थी नररत्न ही जयश्री को वरण करते हैं। प्रमादी का भविष्य सदा अंधकार में रहता है।

इस गाथा के भाव को स्मरण रखते हुए विचारवान मानव को आत्म हितार्थ उद्योग करना चाहिये। इसी से क्षपकराज आचार्य शांतिसागर महाराज ने अपनी मंगलवाणी में कहा था, वत्स! डरो मत—'बाबलो भीऊ नका।'

वर्तमान के विदेह क्षेत्रस्थ विंशति तीर्थंकरों के नाम चिन्हादि :—

सं.	तीर्थंकरों के नाम	चिन्ह	पिता का नाम	माता का नाम	नगरी के नाम
१.	सीमन्धर	वृषभ	श्रेयांस	सत्यदेवी	पुंडरीकिणी
२.	युगमन्धर	हाथी	सुदृढरथ	सुतारा	सुसीमा
३.	बाहु	मृग	सुग्रीव	विजया	अयोध्या

१	२	३	४	५	६
४.	सुबाहु	कपिल	निशाटिल	सुनन्दा	अलकापुरी
५.	सुजात (संजातक)	सूरज	देवसेन	सेना	विजया
६.	स्वयंप्रभ	चन्द्रमा	मित्रभूत	सुमंगला	सुषीमा
७.	ऋषभानन	हरि	कीरत	वीरसेना	अयोध्या
८.	अनन्तवीर्य	गज	मेघ	सुमंगला	विजया
९.	सुरप्रभ (सूर्यप्रभ)	सूर्य	नागराय	भद्रा	पुंडरीकिणी
१०.	विशालकीर्ति	चन्द्रमा	विजसुराय	विजया	सुसीमा
११.	वज्रधर	शंख	पद्मरथ	सरस्वती	पुण्डरीकिणी
१२.	चन्द्रानन	वृषभ	वाल्मीकि	पद्मावती	विनीता
१३.	भद्रबाहु (चन्द्रबाहु)	पद्म	देवनन्दी	सुरेणुका	विजया
१४.	भुजंगम	चन्द्रमा	महाबल	महिमा	सुसीमा
१५.	ईश्वर	सूर्य	गलसेन	ज्वाला	अयोध्या
१६.	नेमप्रभ (नमि)	वृषभ	वीरसेन	सेना	पुण्डरीकिणी
१७.	वीरसेन	ऐरावत	भोपाल भुवपाल	सुभानुमति	विजया
१८.	महाभद्र	चन्द्रमा	देवराज	उमादेवी	सुसीमा
१९.	देवयश (यशकीर्ति)	साथिया	श्रवभूत	गंगादेवी	अयोध्या
२०.	अजितवीर्य	पद्म	सुबोध	कनका	अयोध्या

प्रश्न—जिनालय से मानस्तंभ कितना बड़ा होना चाहिये ?

उत्तर—मानस्तम्भ मूल नायक प्रतिमा से १२ गुणा बड़ा बनाना चाहिये। किसी आचार्य के मत से जिनालय से १ हाथ ऊंचा होना चाहिये।

प्रश्न—पर्यूषण किसे कहते हैं ?

उत्तर—उषन्ते दह्यन्ते पापकर्माणि यस्मिन् तत् पर्यूषणम्। जो पाप कर्मों को नष्ट करता है, जलाता है, उसे पर्यूषण कहते हैं।

प्रश्न—अरहंत भगवान की दिव्यध्वनि कितनी बार खिरती है ?

उत्तर—अरहन्त भगवान की दिव्यध्वनि त्रिकाल—प्रातः, मध्याह्न और

सायंकाल स्वभाव से ६-६ घड़ी खिरती है। किन्तु धवला और तिलोयपण्णत्ति में त्रिकाल के अतिरिक्त चतुर्थ समय में नहीं खिरती है। और ९-९ घड़ी वाणी खिरती है, ऐसा लिखा है। यह भगवान महावीर और हुण्डावसर्पिणीकालापेक्षा है। बाकी तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि अर्धरात्रि को भी खिरती है। अर्थात् चार बार भी खिरती है।

पुव्वण्हे मज्झण्णे अवरण्हे मज्झि मायरत्तिए।
छच्छग्घडियाणिग्गयदिव्व झुणी कहइ सुतत्थे ॥१६३४॥

प्रश्न—जीवत्रस पर्याय पाकर पुनः निगोद में कितने काल में चला जाता है ?

उत्तर—नित्यनिगोद से निकल कर त्रस पर्याय पाकर ९६ कोटि पूर्व २ हजार सागर वर्ष प्रमाण समय में जीव या तो मोक्ष प्राप्त कर लेता है, अन्यथा पुनः निगोद राशि में चला जाता है।

प्रश्न—परिणतदशा जीव को कितने गुणस्थान तक है ?

उत्तर—८ वें गुणस्थान तक जीव की परिणत दशा है और श्रेणी आरोहण के बाद अपरिणत दशा है।

प्रश्न—समुद्र के जल की वृद्धि व हानि किसप्रकार होती है ?

उत्तर—समुद्र का जल अमावस्या के दिन ११ हजार योजन समतल से ऊपर उठता है, और पूर्णिमा के दिन १६ हजार योजन उठता है। उस समय वेलंधर जाति के देव उसे समरूप बना देते हैं।

प्रश्न—शुभ या अशुभ तेजस का प्रभाव कितनी भूमि प्रमाण होता है ?

उत्तर—शुभ तेजस ४८ कोश लम्बाई और १२ कोश चौड़ाई में सुभिक्ष करता है और अशुभ तेजस का भी उतना ही प्रमाण है।

प्रश्न—षष्टमकाल के अन्तिम समय में क्या-क्या शाश्वत रहेगा ?

उत्तर—षष्टम काल के अन्तिम समय में प्रलय होगा, उस प्रलय के समय में भरत क्षेत्र की सब वस्तुऐं नष्ट हो जायेगी जीव भी सब नष्ट हो जायेंगे। उस समय देव और विद्याधर लोक जाकर ७२ जोड़े मनुष्यों के और तिर्यञ्चों को उठाकर विजयार्द्ध की गुफाओं में रख देंगे। षष्ठ काल के प्रारम्भ में फिर जब प्रलय का उपद्रव शांत हो जायगा, तब फिर से उन मनुष्यों को और तिर्यंचों को विजयार्द्ध की गुफाओं

में से लाकर भरत क्षेत्र में रखेंगे। अयोध्या के स्थान पर सदा शाश्वतिक रहने वाला कमल को देखकर इन्द्र फिर से अयोध्या की स्थापना करता है और शिखर जी के स्थान पर क्रमुकाकार (सुपारी) २४ टोकों को देखकर वहां शिखर जी पहाड़ की इन्द्र रचना करता है। ये कमल और सुपारी के आकार अयोध्या के स्थान पर और शिखर जी के स्थान पर रहते हैं। सिद्धभूमि पर रहते हैं, ये चिन्ह कभी नष्ट नहीं होते हैं। नित्य और शाश्वतिक हैं।

प्रश्न—राजु का प्रमाण कितना है ?

उत्तर—एक आंख की टिमकार का जितना काल है, उतने समय में एक देव असंख्यात योजन जाता है, ऐसी तीव्र गति की चाल चलने वाला देव यदि ६ माह तक लगातार चलता ही रहे, जहां छः माह पूर्ण होंगे, उतना १ राजु का प्रमाण है।

प्रश्न—सप्तम नरक की लम्बाई और चौड़ाई का क्या प्रमाण है ?

उत्तर—स्वयम्भू रमण समुद्र के पूर्व किनारे पर से तथा पश्चिम, उत्तर, दक्षिण किनारों से अलग-अलग रस्सी लटकाई जायेगी तो प्रत्येक का किनारा क्रमशः उस सप्तम भूमि के रौरव व महारौरव व आदि ४ बिलों के ठीक बीचों बीच पड़ेगी।

प्रश्न—शिखर जी पहाड़ की कितने लाख व्यन्तर देव सेवा करते हैं ?

उत्तर—सम्मेदाचल की दश लाख व्यन्तर देव सेवा करते हैं और उन व्यन्तरो का अधिपति महाप्रभूत नाम का इन्द्र है, सो भी शिखर जी का रक्षक है।

'शिखर महात्म्य'

प्रश्न—तीन सौ त्रेसठ पाखण्डों का क्रम क्या है ?

उत्तर—८४ क्रियावादी, मिथ्यादृष्टि १८० अक्रियावादी, ६७ अज्ञानवादी, ३२ वैनयिक, ये सब मीलाकर ३६३ पाखण्ड हो जाते हैं।

प्रश्न—६ महिने ८ समय में कितने जीव मोक्ष जाते हैं ?

उत्तर—अतीत काल के जितने समय हैं, उनको ५६२ से गुणा करना, उसमें ६ माह और ८ समय का भाग देना जो गणित आवे उतने जीव मोक्ष जा सकते हैं। कम से कम ६०८ जीव मोक्ष जाते हैं।

अतीत समय अनन्तानन्त × ५६२ ÷ ६ माह ८ समय = अनन्तानन्त।

६ माह ८ समय के अनन्त समय भी माने जाय तो अनन्तानन्त × ५६२ होंगे।

तिलोय प. गा. नं. २६०७

प्रश्न :—पांच पैताले कौनसे हैं ?

उत्तर :—१. प्रथम स्वर्ग का ऋजुविमान, २. प्रथम नरक का सीमंतक-पाथडा, ३. ढाइद्वीप, ४. सिद्धशिला, ५. सिद्धक्षेत्र ।

प्रश्न :—वेदक सम्यक्त्व की ६६ को स्थिति किस प्रकार होती है ?

उत्तरः—सौधर्मे द्वी सागरो, शुक्रे षोडस सागराः, शतारे अष्टादश सागराः अष्टम ग्रैवेयके त्रिंशत्सागराः एवं षट्षष्टि सागराः ।

अथवा—सौधर्मे द्विरूत्पन्नस्य चत्वारः सागराः सनत्कुमारे सप्तसागराः ब्रह्मणि दशसागराः लान्तवे चतुर्दशसागराः नववैर्मवेयेकेषु एकत्रिंशत्सागराः एवं षट-षष्टिसागराः । अन्त्य सागर शेषे मनुष्यायु हीन क्रियते तेन षटषष्टि सागराः साधिकान भवन्ति । तत्वार्थ वृत्ति पृ. १२

प्रश्न :—क्या इन्द्र के पहले इन्द्राणी मोक्ष जाती है ?

उत्तर :—हां इन्द्र के पहले इन्द्राणी मोक्ष जाती है और एक नहीं कई मोक्ष चली जाती हैं, तब इन्द्र का नम्बर आता है । क्योंकि इन्द्र की आयुष्य तो सागरों की रहती है और इन्द्राणियों की आयु पल्यों की रहती है ।

प्रश्न :—एक इन्द्र के काल में कितनी इन्द्राणियां मोक्ष जाती हैं ?

उत्तर :—इन्द्र की आयु का प्रमाण कुछ अधिक दो सागर प्रमाण है और इन्द्राणी की आयु पांच पल्य की होती है । अतः एक इन्द्र के काल में चालीस नील इन्द्राणियां मोक्ष जाती हैं,

∴ १ सागर प्रमाण में १० कोटा-कोटी पल्य

२ „ „ „ १०×२ „ „

=२०,०००००००००००००÷५

=४०००००००००००० नील इन्द्राणियां मुक्त होगी ।

प्रश्न :—जब इतनी इन्द्राणियां मुक्त होती हैं, फिर कितने लोकपाल मोक्ष जाते हैं ?

उत्तर :—ये लोकपाल भी भगवान के समवशरण में सभा की व्यवस्था करते हैं, इसलिये ये भी एक भवावतारी होते हैं—

दिशा—पूर्व—दक्षिण—पश्चिम—उत्तर

नाम—सोम—यम—वरूण—कुबेर

आयु—२॥ पल्य—२॥ पल्य—२॥ पल्य—३ पल्य

सोम और यम ८० नील अर्थात् जितने समय में एक इन्द्र मुक्त होगा उतने ही काल में ८० नील सोम और ८० नील यम और वरुण ७२ नील ७२ खरब ७२ अरब ७२ करोड़ ७२ लक्ष ७२ हजार ७२३ मोक्ष जायेंगे ये उपरोक्त वरुणों की संख्या है। कुबेर ६६ नील ६६ खरब ६६ अरब ६६ करोड़ ६६ लाख ६६ हजार, ६६६ मोक्ष चले जायेंगे।

प्रश्न :—७२ कलाएं कौनसी हैं ?

उत्तर :—१. लिखित, २. पठित, ३. गणित, ४. वैद्यकै, ५. नृत्य, ६. वक्तव्य, ७. वाथा, ८. वचन, ९. नाटक, १०. अलंकार, ११. दर्शन, १२. ध्यान, १३. धर्मकथा, १४. अर्थकला, १५. काम, १६. वाटकला, १७. वृद्धिकला, १८. सोचक, १९. व्यापार-कला, २०. नैपथ्य, २१. विलास, २२. नीति २३. शकुन, २४. क्रीडन, २५. वितन्यात्, २६. हस्ततार, २७. सूत्रकला २८. कुसुमकला, २९. इन्द्रजाल, ३०. विनयकला, (य) ३१. स्नेह, ३२. पानक, ३३. संजोगक, ३४. हास्य, ३५. सौभाग्य, ३६. प्रयोग, ३७. गंधर्व, ३८. वस्तु, ३९. वाणिज, ४०. रत्न, ४१. पात्र, ४२. देशक, ४३. भावक, ४४. विधाक, ४५. विनय, ४६. अरनु, ४७. दाघ, ४८. समस्त, ४९. वर्ण, ५०. हस्ति, ५१. अष्टक, ५२. पुरुष, ५३. नारी, ५४. भोज्य, ५५. पक्ष, ५६. भूमि, ५७. लेष, ५८. कष्ट, ५९. वृष, ६०. छद्म, ६१. सह्य, ६२. हरल, ६३. उत्तर, ६४. प्रत्युत्तर, ६५. शरीर, ६६. सत्त्व, ६७. साध, ६८. धैर्य, ६९. पत्रछेद ७०. चित्र, ७१. भाणा, ७२. इर्या।

प्रश्न :—मनुष्य के ३२ लक्षण कौनसे हैं ?

उत्तर :—१. प्रमाणं, २. सुकृतं, ३. रूपं, ४. कुलं, ५. शीलं, ६. पराक्रम, ७. सत्यं ८. शौचं, ९. मनभ्यास, १०. बुद्धिमान, ११. सुविचक्षण, १२. शास्त्रज्ञानेन, १३. सम्पूर्णो, १४. परदारवर्जित, १५. प्राप्तभाव, १६. सदातुष्टो, १७. विद्वान, १८. मधुरभाषी, १९. सज्जनता, २०. स्वल्पकामी, २१. श्रीमाश्वर, २२. गुणविभूषित, २३. पितृभक्त, २४. मातृभक्त, २५. गुरुभक्त, २६. परोपकारी, २७. दाता, २८. भोक्ता, २९. जितेन्द्रिय, ३०. सदा धर्मरत, ३१. नित्य भगवत पूजक, ३२. स्वल्पाहारी स्वल्पनीद्रा।

प्रश्न :—पंचमकाल में ५२ वस्तु विपरित होंगी वे कौनसी हैं ?

उत्तर :—१. राजा लोभी, २. मित्र विश्वासघाती, ३. अर्थलोभी पुत्र,

४. दुष्टचरित्री स्त्री, ५. नीरदेखी बंधुभाई, ६. असंतुष्ट मंत्री, ७. विद्यावंत दारिद्री, ८. जारजात् सुखी, ९. पाखंडी जिन शासनी, १०. यतीक्रोधी, ११. प्रजाहीन नगरी, १२. व्याधीपीडीतदेही, १३. सर्वकलावान गंवार (मुर्ख) १४. गीतादिक डुम, १५. सुभट कायर, १६. क्षमावान निर्दयी, १७. दलवान शूद्र, १८. भीलतुरक, १९. अचिंति मृत्यु, २०. अनंग ज्ञान काम चेष्टा, २१. स्वल्पमेध, २२. वाचाचूक मनुष्य, २३. स्थान भ्रष्ट राजा, २४. अशुद्ध पाठ, २५. कुटिल दया, २६. अहंकारी मूर्ख, २७. संज्ञालोपी ब्राह्मण, २८. माता ठगोरी, २९. दुर्जन स्नेही, ३०. सज्जन विरोधी, ३१. आप ही स्वयं के गुणगान करे, ३२. परनिन्दा करे, ३३ वेश्यासलज, ३४. कुलवंती निरलज्ज, ३५. अफलवृक्ष, ३६. वैश्यजाति कपटी, ३७. कुमारी कन्या चंचल, ३८. नीच राजा, ३९. नीच प्रधान, ४०. तामसी भट्टारक, ४१. दयाहीन तपोधन, ४२. नीचरत स्त्री, ४३. बुद्धिहीन मंत्री, ४४. गजहीन राजा, ४५. आज्ञाहीन दासी, ४६. विवेकहीन राजपुत्र, ४७. विवेक पुलिंदशुद्र, ४८. कृषिकजन दुखी, ४९. अपुरुष सुख ५०. अकाल में वर्षा, ५१. ऋतु विपरीत, ५२. संसार चलित ।

प्रश्न :—पुरुष के षोडषशृंगार कौन से हैं ?

उत्तर :—१ स्नान, २. तिलक, ३. प्रधान, ४. पटम्बा, ५. कुंडल ब्यौरा, ६. कर्म करावे, ७. सुन्दरपाद, ८. सुहाग, ९. सुवीर, १०. शरीर सुवासित चंदन लगावे, ११. अंगुठी धारण करना, १२. मुजरी, १३. खंग धारण, १४. कटारो, १५. विनति, विद्याशील वंत, बोल ये १६ शृंगार हैं।

प्रश्न :—युवती के सोलह शृंगार कौन है ?

उत्तर :—१. मंजन, २. अंजन, ३. चन्दन, ४. वीर, ५. दोडकेए कंकण, ६. कुण्डल, ७. जोरीफुल की माला, ८. तिलक, ९. बोल, १०. अलक की भोंरी, ११, धमके घुघरी, १२. चमके डुलरी, १३, नकबेसर, १४. नेवूर १५, कंचु, १६, डोरी ।

प्रश्न :—क्या उपचारमहाव्रती आर्यिका को क्षायिक सम्यक्त्व हो सकता है ?

उत्तर :—क्षायिक सम्यक्त्वं तु असंयतादि चतुर्गुण स्थान मनुष्याणां असंयत देश संयतोपचार महाव्रत मानुषीनां च कर्मभूमि बेदक सम्यग्दृष्टि नामेव केवलि श्रुत

केवलि द्वयं श्रीपादोयांते सप्त प्रकृत्ति निरवशेष क्षये भवति ।

जीवकाण्ड बडी टीका का पृष्ट ११४१

बहुरी असंयतादिक चारि गुणस्थान वर्तीक जे मनुष्य, बहुरि असंयत देश संयत गुणस्थानवर्ती उपचार महाव्रत जिनके पाइये हैं एसी आर्या स्त्री ते कर्म भूमि में उपजी एसे वेदक सम्यक्त्वी होय हैं, तीन ही के केवली श्रुत केवली दोनों में से किसी के (पाद) चरणमूल में सात प्रकृतियों का सर्वथा क्षय होने से क्षायिक सम्यक्त्व होता है ।

प्रश्न :—सूक्ष्म बादर निगोद जीवों की आयु का प्रमाण क्या है ?

उत्तर :—नित्यनिगोद इतरनिगोद सूक्ष्म बादर सबकी आयु अंतर्मुहूर्त मात्र है । और पृथिवी काय, जलकाय, तेजकाय, वायुकाय के जीव की भी आयु अन्तर्मुहूर्त है अंतोमुहूत्तमाऊ साहारण सव्वसुहुमाणं इति उक्तत्वादिति ।

चर्चा समाधान नं. ९६ की पृष्ठ नं. ८४

प्रत्येक और साधारण २ ही नामकर्म हैं। तीसरा सप्रतिष्ठित नामकर्म और मानना पड़ेगा ।

प्रश्न :—चौदह विद्याएं कौनसी हैं ?

उत्तर :—चारों अनुयोग, ५. शिक्षा कल्प, ६. व्याकरण ७. छन्द ८. अलंकार, ९. ज्योतिष, १०. निरुक्त ११ इतिहास १२. पुराण, १३. मीमांसा, १४. न्याय ।

लौकिक विद्याएं

१. ब्रह्म, २. चातुरी, ३. बाल, ४. वाहन, ५. देशना, ६. बाहु, ७. जल, ८. रसायन, ९. गान, १०. संगीत, ११. व्याकरण, १२. वेद, १३. ज्योतिष, १४. वैद्यक ।

प्रश्न :—क्या स्त्री भी जीनेन्द्रदेव का पूजाभिषेक करने की अधिकारी है ?

उत्तर :—भगवान बाहुबलि का नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के सानिध्य में चामुडराय का मान खंडीत करने के लिये गुलिकाय नाम की स्त्री बुढिया ने दूध का अभिषेक किया, यह प्रत्यक्ष प्रमाण है, उस गुलिकाय स्त्री की मूर्ति श्रवण बेल गुल में गोम्मटेश्वर की मूर्ति के सामने बनी है । सहस्त्राब्दि महोत्सव में होने वाला भगवान के अभिषेक को यहां आने वाली करीब सभी माता और बहनों ने किया था । इससे

साक्षात गुल्लीकाय जी द्वारा क्षीर का अभिषेक करने पर ही अभिषेक की पूर्ति,
चामुण्डराय का मान खंडन, सिद्धान्त चक्रवर्ती श्री मुनिराज
नेमीचन्द्र जी के सामने का दृश्य

श्री १०८ गणधराचार्य कुन्थु सागर जी महाराज
श्री १०५ वि.र.ग. आ. विजयमतीजी माताजी

श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती द्वारा प्रतिष्ठित भगवान गोमटेश्वर का अभिषेक दूध से करने वाली बुढ़िया गुल्लीकाय जी, अपने हाथ में दूध का लोटा लेकर खड़ी है, भगवान का अभिषेक करने के लिये, और मंत्री चामुण्डराय का मान खंडित करने के लिये, दूध का अभिषेक और स्वयं अभिषेक का प्रत्यक्ष प्रमाण मूर्त रूप में साक्षात नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती के सामने की घटना, चित्र श्रवण बेलगुल पहाड़ पर का भगवान गोमटेश्वर के सामने।

प्रमाणित होता है कि महिलाएं भी भगवान का अभिषेक कर सकती है। ये अभिषेक बड़े-बड़े आचार्यों के और एलाचार्य सिद्धान्त चक्रवर्ती विद्यानन्दजी महाराज व बड़े-बड़े भट्टारकों के व बड़े-बड़े विद्वानों और श्रीमंतों के सामने हुआ था और महिलाओं ने भी किया था। कर्नाटक के मुख्यमंत्री और उनकी श्रीमती ने भी भगवान का अभिषेक किया था। पूर्व आचार्यों कृत शास्त्रों में भी प्रमाण मिलते हैं, इन्द्राणी ने भी जिनेन्द्रदेव का अभिषेक किया था।

ततः सुरपति स्त्रियोजिन भुपेत्य शच्यादयः।
सुगंधित नु पूर्वकै मृदुकरा समुद्वर्तनं॥
प्र चक्रुरधिंचनं शुभपयोसिरूक्वैर्घटैः।
पयोधर भरैं निजै रि व समंसमा वर्जितैः॥१६३५॥

हरिवंशपुराण, सर्ग अष्टात्रिंशः संपादक, डा. पं. पन्नालालजी साहित्याचार्य

सुमेरू पर्वत पर इन्द्र के अभिषेक करने के साथ इन्द्राणी ने भी घडों से भगवान का अभिषेक किया।

गृहीत गंध पुष्पादि प्रार्चनाः स परिच्छदा।
अथैकदा जगाम मैषाप्रातरेव जिनालयम्॥
त्रिःपरीत्य ततःस्तुत्वा जिनांश्च चतुराशया।
संस्नात्वा पूजायित्वा च प्रयाता यति संसदि॥१६३६॥

गुण भद्राचार्य, जिनदत्त चरित्र सर्ग १

अथैकदासुता सा च सुधी मदन सुन्दरी।
कृत्वा पंचामृतैः स्नानं जिनानां सुख कोटिदम्॥१६३७॥

श्रीपाल चरित्र, बृहन्नेमिचंद्रकृत

तदा वृषभसेना च प्राप्य राज्ञो पदं महत्।
दिव्यां भोगान्प्रभुजाना पूर्व पुण्य प्रसादतः॥१६३८॥
पूजयंती जगत्पूज्यान् जिनान् स्वर्गपवर्गदान्।
दिव्यैरष्ट महाद्रव्यैः स्नपनादिभिरुज्वलैः॥१६३९॥

आ. कथाकोष, तीसरा भाग पृष्ठ ४२१

इसी प्रकार संस्कृत श्लोकों से सिद्ध होता है कि इन्द्राणी और मदन सुन्दरी और वृषभसेनादि स्त्रियों ने भगवान जिनेन्द्र देव का अभिषेक किया था।

पूर्वस्नाता सुलिप्तापि धौत वस्त्रान्विता परम् ।
षोडशाभरणोपेता स्याद्वधूः पूजयेज्जिनम् ॥१६४०॥
सती शीलव्रतोपेता विनयादि समन्विता ।
एकाग्रचित्ता प्रयजेज्जिनान् सम्यक्त्वमंडिता ॥१६४१॥

उमास्वामी श्रा. पृ. ६३–६४

भावार्थ :—स्त्रियों में कि जो स्त्री शील मंडित हो, विनयगुण को धारण करती है, सम्यक्त्व मंडित हो, जिनचित्त. अत्यन्त चंचल न हो ऐसी स्त्रियां स्नान कर धौत वस्त्र पहन कर शरीर पर चन्दन लगाकर और षोडशाभरण पहन कर भगवान जिनेन्द्र देव का अभिषेक पूजा कर सकती हैं। श्रावक और श्राविका दोनों को अधिकार शास्त्रोक्त है किसी भी शास्त्रों में निषेध नहीं आया। करना और न करना यह अपने पर निर्भर है कोई स्त्री अभिषेक करे तो दोष नहीं है, क्योंकि पुराणों में जैसी मैना सुन्दरी, अंजना आदि स्त्रियों ने किया।

आत्मा छद्मस्थ के प्रत्यक्ष—

उवदेसेणपरोक्खंरूवं जह पस्सिदूणणादेदि ।
मण्णदि तहेवणाणंधिप्पदि जीवोविट्ठोयणादो य ॥१६४२॥

समयसार जयसेन. १९८

जैसे किसी का परोक्ष रूप उदेश द्वारा तथा लिखा देखकर वह जाना जाता है, वैसे ही यह जीव वचनों के द्वारा कहा जाता है तथा मन के द्वारा ग्रहण किया जाता है। मानों प्रत्यक्ष देखा गया व जाना गया है।

तैसे असंयत सम्यग्दृष्टि कै वितराग भाव रूप मोक्षमार्ग का श्रद्धान भया, तातैं वाकै उपचार तैं मोक्ष मार्गी कहिये, परमार्थ तैं वीतराग भाव रूप परिणमै मोक्ष मार्ग होसि। मोक्ष मार्ग प्रकाशक ९–४६३

प्रश्न :—**क्या सम्यक्त्व अनुमान का विषय है ?**

उत्तर :—पञ्चलब्धि का स्वरूप भली भांति जाना होइ तौ आपको सम्यग्दृष्टि का अनुमान भी न करै। कोई ऐसा भी कहे हैं, निश्चय करि भगवान सो मेरे सम्यक्त्व है, यह भी श्रद्धान मिथ्या है। यातैं सम्यक्त्व अनुमान का विषय नाहीं।

भूदरदास, चर्चा. १६

सप्तम गुणस्थान का स्वरूप—

संजलणणोकसायाणुदओ मंदो जदा तदा होदि ।
अपमत्तेगुणो तेणय अपमत्तो संजदो होदि ॥१६४३॥

परम्परा से शुद्धोपयोग—

असंयत सम्यग्दृष्टि—श्रावक-प्रमत्त संयतेषु पारम्पर्येण शुद्धोपयोग उपर्यपरि तारतम्येन शुभोपयोगो वर्तते । वृ. द्रव्य. ३४—९४

चौथे, पांचवें, छठवें गुणस्थान में परंपरा से शुद्धोपयोग का साधक शुभोपयोग उत्तरोत्तर तारतम्यरूप वृद्धि हुए शुभ परिणामों रूप होता है ।

निरतः कात्स्न्र्येनिवृत्तौ भवतिमतिः समयसार भूतोयम् ।
यात्वेक देशविरतिनिरतस्तस्यामुपासको भवति ॥१६४४॥

सर्वथा स्व को आरम्भ भावना से निवृत रखना यह महाव्रत है । और महाव्रत समयसार रूप है । एक देश निवृत होना अणुव्रत है इसमें भव्यात्मा श्रावक समयसार का उपासक रहता है ।

जो कात्सर्न निवृत्ति में मन, वचन, काय से हिंसा, झूठ, चोरी आदि के त्याग करने रूप निवृत्ति में लवलीन रहता है—तन्मय बना रहता है ऐसा वह यति मुनि—समयसार स्वरूप होता है । और जो इन पूर्वोक्त ५ पापों से एकदेश निवृत-त्याग रूप-निरत-लगा रहता है वह उपासक देशविरति श्रावक-आराधक का उपासक कहलाता है।

१. परम्परा—उत्तरोत्तर क्रम से प्राप्त होना । परम्परा प्राप्त है ।
पारम्पर्येण [परम्परा+ष्यञ्] इस परम्परा को प्रमाण मानना चाहिये ।
२. तारतम्य—[तरतम+ष्यञ्] क्रमांकन, सापेक्ष महत्व, अंतर ।

क्या प्रमत्त अप्रमत्त गुणस्थान में आठों ही कर्मों का बंध होता है ?

चत्तारि पयडी ठाणाणि तिण्णि भुजगार अप्पयराणि ।
मूलपयडीसु एवं अवट्ठिओ चउसुणादव्वो ॥१६४५॥

पञ्चसंग्रह २४१

तथाहि—प्रमत्ताऽप्रमत्तो वा अष्टौ कर्माणि बध्नन अपूर्व करणेऽनिवृत्तिकरणे च घटितः सन् आयुर्विना सप्त कर्माणि बध्नति ।

विशेषार्थ :—उक्त अर्थ का स्पष्टी करण इस प्रकार है । मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर प्रमत्त अप्रमत्त गुणस्थान तक के जीव ज्ञाना वरणादि आठों ही कर्मों

का बन्ध करते हैं। अपूर्व करण और अनिवृत्ति करण गुणस्थान वाले जीव आयु के बिना शेष सात कर्मों का बंध करते हैं।

शुद्धोपयोग का लक्षण—

सुविदिदपदत्थ जुत्तो-संजम-तव-संजुत्तोविगद रागो।
समणो समसुह दुक्खो, भणिदो शुद्धो व आगोत्ति ॥१६४६॥

प्र. सा. १।४ पंचास्ति. १४२ मू० ५।६५

जो यति स्व द्रव्य और पर द्रव्य को, सूत्रार्थ को भली भांति जानता है। जो भव्यात्मा यति पुरुष संयम और तप युक्त है। तथा जो वीतराग भाव से लबालब भरपूर है एवं सुख-दुःख, जिन्होंने समान मान रखा है, ऐसे श्रमण तपस्वी को परमागम में शुद्धोपयोगी कहा गया है।

अथसूरि रूपाध्यायौ द्वावे तौ हेतुतः समौ।
साधु साधुरिवात्मज्ञौ शुद्धौ शुद्धोपयोगिनौ ॥१७४७॥

पंचाध्यायी २।६६४

अन्तरंग कारण की अपेक्षा विचार करने पर आचार्य और उपाध्याय ये दोनों ही समान हैं, साधु के समान आत्मज्ञ हैं, शुद्ध हैं और शुद्धोपयोग वाले हैं।

बहुरी जे मुख्यपने तैं निर्विकल्प स्वरूपाचरण विषैं ही निमग्न हैं। मो.प्र. २।५

भाव सामायिक का स्वरूप—

भाव सामायिकं सर्व जीवेषु मैत्री भावोऽशुभ परिणाम वर्जनं वा।

अनगारधर्मामृत टीका ८।१६

संसार के सभी जीवों पर मैत्री भाव रखना, अशुभ परिणति का त्याग कर शुभ एवं शुद्ध परिणति में रमण करना भाव सामायिक है।

समभेकत्वेन आत्मनि अयः आगमनपरद्रव्यभ्यो निवृत्य उपयोगयेस्य आत्मनि प्रवृत्तिः समयः। आत्मा विषयोपयोग इत्यर्थः.....अथवा समसमेराग द्वेषाभ्यामनुपहते मध्यस्थे आत्मनि अयः उपयोगस्य प्रवृत्तिः समायः स प्रयोजनमस्येति सामायिकम्। गोम्मटसार, जीवकांड टीका गाथा ३६८

पर द्रव्यों से निवृत्ति होकर साधक की ज्ञान चेतना जब आत्म-स्वरूप में प्रवृत्त होती है, तभी भाव सामायिक होती है। राग द्वेष से रहित मध्यस्थ भावापन्न आत्मा सम कहलाता है, उस सम में गमन करना ही भाव समायिक है।

प्रश्न :—क्या प्रमत्त गुणस्थान में स्वरूपाचरण चारित्र होता है ?

उत्तर :—बहुरि इस मिथ्या चारित्र विषै स्वरूपाचरण चारित्र का अभाव हैं। तातों याको नाम अ चारित्र भी कहिए। बहुरि यहां परिणाम मिटै नाहीं, अथवा विरक्त नाहीं तातैं याही का नाम असंयम कहिए हैं। वा अविरत-अविरत कहिये हैं, जातैं पांच इन्द्रिय अर मन के विषयन विषै बहुरि पंचस्थावर अर त्रस की हिंसा विषै, स्वछन्द न होय। अर इनिके त्यागरूप भाव न होय सोई असंयम वा अविरत बारह प्रकार का कह्या है, सो कषाय भाव भए ऐसे कार्य होय हैं। तातैं मिथ्या चारित्र का का नाम असंयम व अविरति जानना। बहुरी इस ही का नाम अविरत जानना। जातैं हिंसा झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पाप कार्यनि विषैं प्रवृत्ति का नाम अव्रत है। सो इनका मूल कारण प्रमत्त योग कहा है। प्रमत योग है सौ कषाय मय है तातैं मिथ्या चारित्र को अव्रत भी कहिये हैं ऐसे मिथ्या चारित्र का स्वरूप कहा।

मोक्ष मार्ग प्र. पं. टोडरमल ४।२३३-३४

बहुरि जे मुख्यपनै तौ निर्विकल्प स्वरूपाचरण विषै ही निमग्न हैं।

मोक्ष. मार्ग प्र. १।५

तप तपै द्वादश धरै वृषदशरत्न त्रय सेवै सदा।
मुनि साथमें वा एक विचरै चहैं नहीं भवसुख कदा॥
यों हैं सकलसंयम चरित्र, सुनिए स्वरूपचरण अब।
जिस होत प्रगटै आपनी निधिमिटैपरकीप्रवृत्ति सब॥

छहढाला ६।७

बारह प्रकार के तपों को जो सदा तपते हैं, दश प्रकार के धर्मों को जो सदा धारण करते हैं, और रतन त्रय का सदा सेवन करते हैं, मुनियों के साथ व एकाकि विहार करते हैं और संसारिक सुखों की चाहना नहीं करते हैं, ऐसे मुनिराजों का यह सकल संयम है। अब निश्चय चारित्र कहते हैं अर्थात सकल संयम धारण करने के बाद प्रकट होने के अनन्तर स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट होता है। और इसके प्रकट होने पर आत्मनिधि प्रकट होती है। और परमें जो जीव की प्रवृत्ति होती है वह मिट जातीहै।

१ मिच्छत्तस्स दु उदओ जीवस्स असद्दहाणत्तं।
२ अण्णाणस्सदु उदओ जं जीवाणं अतच्चउवलद्धी।
३ उदओ असंजमस्सदु जं जीवाणं हवेदि अविरमणं॥

समयसार ॥१३२॥

१ जीव के तत्त्व का अश्रद्धान है, वह मिथ्यात्व का उदय है।
२ जीव के विपरीत ज्ञान है, वह अज्ञान का उदय है।
३ जीव का अत्याग रूप भाव है वह असंयम का उदय है।
(जो है सकल संयम चरित सुनिये स्वरूपाचरण अब)

पं. दौलतराम जी

स्वरूपाचरण चारित्र सप्तम गुणस्थान का नाम है।

आत्मनो दर्शने दृष्टि ज्ञानं च योगिनः।
स्वरूपाचरणे प्रोक्तं, चारित्रं विश्व दर्शिभिः॥

धर्मसंग्रह श्रावकाचार १०।१३७

सर्वज्ञ देव ने योगी पुरुषों का आत्मदर्शन (श्रद्धान) सम्यग्दर्शन आत्मज्ञान—सम्यग्ज्ञान और स्वरूपाचारण चारित्र में रमण को सम्यक् चारित्र कहा है।

कार्माधान क्रिया रोधः स्वरूपा चरणं च यत्।
धर्मः शुद्धोपयोगः स्यात् सैव चारित्र संज्ञकः॥-१६४८॥

पंचाध्यायी २।७६३

कर्मों के ग्रहण करने की क्रिया का रुक जाना ही स्वरूपाचरण है, वही धर्म है, वही शुद्धपयोग है और चारित्र है।

"चारित्तं खलुधम्मो"

आ. कुन्द. प्रवचनसार

"स्वरूपे चरणं चारित्रम्"

आ. अमृत चन्द्र

स्वरूप में चरण करना, रमण करना सो चारित्र है।

वस्तु शुद्धद्रव्य शक्तिरूप शुद्ध परिणामिक परम भाव लक्षण पर निश्चय मोक्षः है। स च पूर्वमेव जीवे तिष्ठतीदानीं भविष्यतीत्येवं न।

बृ. द्रव्यसंग्रह, गा. ५७/पृ २१४

अर्थ—जो शुद्ध द्रव्य की शक्ति रूप पारिणामिक परम भावरूप लक्षण का धारक, परम निश्चय मोक्ष है, वह तो जीव में पहले ही विद्यमान है। वह परम निश्चय मोक्ष जीव में अब होगा ऐसा नहीं है।

तातें आत्मज्ञान शून्य आगमज्ञान भी कार्यकारी नाहीं। या प्रकार सम्यग्ज्ञान

के अर्थी जैन शास्त्रनि का अभ्यास करौ हैं, तो भी याकैं सम्यग्ज्ञान नाहीं ।

मोक्ष मार्ग. प्र. ७/३४६

मोक्खु मणिंचतहि जोइया मोक्खण चित्तिउ होई ।
जेण णिबद्धउ जीवउ मोक्खु करे सइ सोइ ॥१६४६॥

परमात्म प्रकाश २/२२८

तं चेवगुण विशुद्धं जिण सम्मत्तं सुमुक्खठाणाय ।
जं चरदिणाण जुत्तं पढमं सम्मत्त चारित्तं ॥१६५०॥

आ. कुन्दकुन्द; चरि. पा. २/८

"तं चेवगुण विशुद्धं तच्चेव सम्यक्त्वं गुण विशुद्धं, निः शङ्कितादिभि रष्ट-गुणै विशुद्धं निर्मलं । जिण सम्मत्तं सम्यक्त्वं जगत्पति श्रीमद्भगवदर्हत् सर्वज्ञ वीतरागस्य सम्बन्धिनी श्रद्धा रुद्रादि श्रद्धा न रहितं जिन सम्यक्त्वमुच्यते ।

निशंकित आदि आठ गुणों से विशुद्ध—निर्मल सम्यक्त्व ही जगत्पति भगवान अर्हत्सर्वज्ञ—वीतराग सम्बन्धिनी श्रद्धान रूप होता है अर्थात् रागी आदि के श्रद्धान से रहित होता है । वही जिन सम्यक्त्व कहा है और जो सम्यग्ज्ञान सहित आचरण है, वह प्रथम सम्यक्त्व—सम्यक् चारित्र है ।

जिणणाण दिट्ठि सुद्धं, पढमं सम्मत्त चरणं चारित्तं ।
विदियं संजम चरणं, जिणणाण सदेसियं तं पि ॥१६५१॥

चारित्र पा. आ. कुन्दकुन्द

जिनेन्द्र के ज्ञान और उसकी श्रद्धा से शुद्ध प्रथम सम्यक्त्वाचरण चारित्र होता है और दुसरा संयमाचरण चारित्र होता है ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है । स्वरूप में रमण करना **स्वरूपाचरण** चारित्र है । स्वरूप में रमण करने की स्थिति को ही शुद्धोपयोग कहते हैं, उसे ही निश्चय चारित्र कहा गया है । प्रवचनसार की गा. ५ की टीका में—तात्पर्य वृत्ति में जयसेन स्वामी ने कहा है ।

मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र गुण स्थान त्रये, तारतम्येनाशुभोपयोगः तदनन्तरं असंयत सम्यग्यदृष्टि, देशविरत, प्रमतसंयत गुणस्थान त्रये तारतम्ये न शुभोपयोगः तदनन्तरमप्रमत्तादि क्षीण कषायान्त गुणस्थान षट्के तारतम्येन शुध्दोपयोगः, तदनन्तरं स योग्य योगी जिन गुणस्थान द्वये शुध्दोपयोगः फलमिति ।

आचार्य श्री इस कथन से पं. दौलतरामजी के कथन का सामंजस्य बैठ जाता

है, कविवर ने मुनियों की क्रियाओं अर्थात् सराग चारित्र का वर्णन करके सातवें और उससे आगे के गुणस्थानों के वीतराग चारित्ररूप स्वरूपाचरण के कथन की यहां प्रतिज्ञा की है।

प्रवचनसार गाथा ११ की तात्पर्य वृत्ति टीका में चारित्र के दो भेद बताये हैं, १ अपहृत संयम २ उपेक्षा संयम। इन्हें ही सराग और वीतराग चारित्र अथवा शुभोपयोग और शुद्धोपयोग कहा है। स्वरूपाचरण चारित्र शुद्धोपयोग ही है और वह सातवें गुणस्थान से प्रारम्भ होकर आगे-आगे के गुणस्थानों में तारतम्य से निर्मल होता गया है। सो वहां ही स्वरूपाचरण चारित्र होता है। नीचे के गुण स्थानों में नहीं होता। चतुर्थ गुणस्थानों में सम्यक्त्वाचरण होता है।

आत्मा ही तीर्थ है—

तित्थहुदेउलिदेउजिणु सव्वविकोई भणेइ।
देहादेउलि जो मुणइ सो बुह कोविहवेई ॥१६५२॥

तत्त्वसार ४३, नियमसार ६२

तीर्थ स्थान में व देवालय में श्री जिनेन्द्र देव हैं, ऐसा सब कोई कहते हैं परन्तु जो अपने शरीर रूपी मन्दिर में आत्म देव को पहिचानता है, वह कोई एक पण्डित है।

मूढा देवलि देउणवि सिलि लिप्पइ चित्ति।
देहा देवलि देउ जिणु सो बुज्झहि समचित्ति ॥१६५३॥

योगसार ४४

हे मुढ देव देवालय में नहीं है, वह शिला में अथवा लिप्त चित्राकृति में भी नहीं है। देव जिनेन्द्र परमात्मा तो देह देवालय में हैं—विद्यमान हैं, उन्हें समचित्त वृत्ति से ही जाना जाता है।

निमित्त की प्रबलता—

वंसण मोहक्खवणा पट्ठवगो कम्मभूमि जो मणुसो।
तित्थयर पायमूले केवलि सुद केवलि मूले ॥१६५४॥

लब्धिसार ११०

जो मनुष्य कर्मभूमि में उत्पन्न हुआ है, तीर्थंकर केवली अन्य केवली के अथवा श्रुत केवली के पादमूल में रहता है, वही दर्शन मोहनीय की क्षपणा का प्रार-

म्भक होता है, क्योंकि दूसरी जगह ऐसी परिणामों की विशुध्दता नहीं हो सकती है।

शुद्धनय से आत्मा का स्वरूप—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्ध पुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणाहि ॥१६५५॥
जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
अपदेस सुत्त मज्झं पस्सदि जिण सासणं सव्वं ॥१६५६॥

समयसार१४/१५ अ, १

प्रश्न – यहां कोई कहे – शास्त्रनिषै आत्मा को कर्म नो कर्म से भिन्न अबद्ध स्पष्ट कहा है सो कैसे कह्या है ?

उत्तर—सम्बन्ध अनेक प्रकार हैं, तहां तादात्म्य सम्बन्ध अपेक्षा आत्मा को कर्म नो कर्म तैं भिन्न कह्या है। तहां द्रव्य पलटि करि एक नाहिं होय जाय है और इस ही अपेक्षा अबध्द अस्पृष्ट कह्या है। बहुरि निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध अपेक्षा बन्धन है उनके निमित्त से आत्मा अनेक अवस्था धरै हैं। तातैं सर्वथा निबन्ध आपको मानना मिथ्यादृष्टि है।

मोक्षमार्ग प्र. ५/२९१

शुद्धनयादेशात्तूपयोगस्वभावस्यात्मनोऽप्रदेशत्वं।

आ, अकलंकदेव, तत्वार्थवार्तिक ५/८/२०

शुध्दनय की अपेक्षा उपयोग स्वभावी आत्मा अप्रदेशी है, क्षेत्र की अपेक्षा आत्मा असंख्यात प्रदेशी है। द्रव्य की अपेक्षा अप्रदेशी अखण्ड है।

व्यवहार नय भी कार्यकारी—

प्रदीप वदिति ज्ञेया व्यवहार नया श्रया।
आधाराधेयतार्थानां निश्चयात्तद योगतः ॥१६५७॥

श्लोक वार्तिक ५/१६/२

निश्चय नय से सम्पूर्ण पदार्थ अपने-अपने शुध्द स्वरूप में अवस्थित हैं, न कोई किसी का आधार है और न कोई किसी का आधेय है, हां व्यवहार नय से आधार व्यवस्था हो रही है, वस्त्र के समान जीव स्वकीय प्रदेशों का संकोच या विस्तार हो जाने से लोकाकाश से अनेक अवगाहनाओं के अनुसार आश्रित हो रहा है।

जो बहु जीवाणुग्गहकारी ववहारणओ सो चेय समस्सि ।
दव्वोत्ति मणेणावधारिय, गोदम थेरेण मंगलं तत्थ कदं ।।

आ. वीरसेन स्वामी, जय धवला

व्यवहार नय बहुजीवानुग्रहकारी है और वही—निश्चय से आश्रय किये जाने योग्य है, ऐसा मन में अवधारण करके ही गौतम देव ने महाकम्मपयडि की आदि मंगलाचरण किया है ।

प्रश्न—यहां कोउ कहे, शुभ भावनि तैं पाप की निर्जरा हो है पुण्य का बंध हो है, शुद्ध भावनि तैं दोउनि की निर्जरा हो है ऐसा क्यों न कहो ?

उत्तर—मोक्षमार्ग विषैं स्थिति का तो घटना सर्व ही प्रकृतिनि का होय । तहां पुण्य पाप का विशेष है ही नाहीं अर अनुभाग का घटना तो पुण्य प्रकृतिनिका शुध्दोपयोग तैं भी होता नाहीं । उपरि उपरि पुण्य प्रकृतिनिकै अनुभाग का तीव्र बंध उदय हो है । अर पाप प्रकृति के परमाणु पलटि शुभ प्रकृति रूप होय, ऐसा संक्रमण शुभ शुध्द दोऊ भाव होते होय । तातैं पूर्वोक्त नियम संभवै नाहीं । विशुध्दता ही कै अनुसारी नियम संभवै है ।

मोक्ष मार्ग प्र. पं. टो. ७/३४१

मिथ्यादृष्टे वस्तु गजस्नानवत् बंध पूर्विका भवति । तेन कारणेनमिथ्या दृष्ट्यपेक्षया सम्यग्दृष्टि बन्धक इति ।

समयसार २६८

आत्म तत्त्व का विचार भव्य जीवों को—

अहम्प्रत्यय वेद्यस्वाज्जीव स्यास्तित्वमन्वयात् ।
एकोदरिद्र एकोहि श्रीमान् इति च कर्मणः ।।

पंचाध्यायी ।।१६५८।।

इस शरीर में "मैं हूँ, मैं हूँ" इस प्रकार की जो अनुभूति या ज्ञान होता है, उस ज्ञान से जाना जाता है कि शरीर के भीतर जीव रूप एक शक्ति विशेष है, वह स्वतन्त्र है अथवा मानसिक प्रत्यय जन्य अहं तथा अवबोध आत्मास्तित्व का परिचायक है । इसी प्रकार कोई दरिद्र, कोई श्रीमान्, कोई सर्वाङ्ग और कोई विकलाङ्ग दृष्टि गत होते हैं, वे सर्व कर्म का बोध कराते हैं ।

स्वसंवेदनतः सिद्ध सदात्मा बाह्य वर्जितात् ।
तस्य क्षमादि विवर्तात्मन्यात्मन्य नुपपितः ।।१६५९।।

आत्मा स्वतः स्व संवेदन से सिद्ध है, इसमें कोई भी प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधा नहीं आ सकती है । आत्मा को पृथ्वी आदि की पर्याय मनाने से चिद रूप आत्मा की सिद्धी नहीं हो सकती अर्थात् स्व संवेदन ज्ञान नहीं हो सकेगा । ऐसा होने पर घट-पटादिवत् आत्मा जड रूप हो जायेगी, परन्तु यह प्रत्यक्ष बाधित है । इसलिए तार्किक शिरोमणि आ. विद्यानंद स्वामी

श्लोक वार्तिक. गा. १०२

स्वसंवेदनमप्यस्य बहिः करण वर्जनात् ।
अहंकार पदं स्पष्टम बाधमनु भूयते ।।१६६०।।

बाह्य पञ्चेन्द्रियों से परे "मैं मैं" इस प्रकार बाधा रहित प्रतीति विशद रूप से स्वसंवेदन प्रत्यक्ष इस अन्तरंग आत्मा का अनुभव कराता है ।

सर्वोहि आत्मास्तित्वं प्रत्येति न नाहमस्मीति
यदि हि नात्मत्व प्रसिद्धिः स्यात् सर्वो लोको नाहम स्मीति प्रतीयात्
(ब्र. सू. १/१/१/ पर शांकर भाष्य)

अहमिति प्रत्यगात्मनि भावात् परत्राभावादर्थान्तिर प्रत्यक्ष ।।१४।।
(अ. ३ आ. २)

"मैं हूँ" इस प्रकार स्वात्मा में अनुभूति होना और पर पदार्थ में न होना, यह आत्मा का मानसिक प्रत्यक्ष है ।"

"मैं हूं" यह प्रत्येक मनुष्य को होने वाली प्रतीति ही आत्मा के अस्तित्व का सर्वोत्तम प्रमाण है ।

लोकमान्यतिलक (वे. सू. शा. भे. ३३, ५३, ५४, गीता १४/४

पारं न याति मेधाऽस्य न मनो नेन्द्रियाणि वा ।
न गति स्तत्र शास्त्राणां, विदुषां न तपस्विनाम् ।।१६६१।।

उस आत्मा का पार बुद्धि, मन, इन्द्रियां नहीं पा सकती और शास्त्र भी यथार्थ रूप से वर्णन नहीं कर सकते इसी प्रकार विद्वान और तपस्वी भी उसका पार नहीं पा सकते हैं ।

अस्यात्मा तु स्वतः सिद्धः स्वानु भूत्यैक गोचरः ।
ज्ञान, दर्शन, रूपोऽयं परमानन्द मन्दिरम् ॥१६६२॥

१. आत्मा है वह स्वतः सिद्ध है, २. स्वानुभूत्यैक गम्य है, ३. ज्ञान दर्शन स्वरूप है और मानों ४ परमानन्द का साक्षात् मन्दिर है ।

प्रियो देहात् प्रियाः पुत्रात् प्रियो मातुः पितुस्तथा ।
पत्युः प्रियः प्रियो नार्या मित्रात् भ्रातुः प्रियः प्रियः ॥१६६३॥
न ज्ञेयोऽयं न मेयोऽयं ज्ञेयोमेयोस्तथैव च ।
ज्ञातारं केन जानीयाद् द्रष्टारं लोकयेत् किम् ॥१६६४॥
श्रोत्रस्य श्रोत्र नेत्रस्य नेत्रमेव वा ।
मनसः स मनोज्ञेयः प्राणस्य प्राण एव च ॥१६६५॥

यह आत्मा श्रोत्र का श्रोत्र और चक्षु का चक्षु है, क्योंकि श्रोत्र स्वयं सुनने में व चक्षु देखने में असमर्थ हैं । ये आत्मा के कारण ही विषयों को ग्रहण करते हैं । इसी प्रकार यह मन का मन और प्राणों का यह (आत्मा) प्राण है । अर्थात् सभी इन्द्रियां आत्मा द्वारा प्रवृत्त होती हैं ।

द्वैता द्वैतात्मकः सत्यं निर्विकल्पो निरामयः ।
निर्विशेषो निराकारो निरालम्बो निराकुलः ॥१६६६॥
शरण्योऽयं वरेण्योऽयं सुरम्योऽयञ्च योगिनाम् ।
सर्वथा कल्पनातीतः सर्व शक्ति समन्वितः ॥१६६७॥

यह आत्मा द्वैताद्वैतात्मक है, सत्य स्वरूप है, निर्विकल्प और निरामय रूप है, निर्विशेष है, निराकार है, निरालम्ब है, निराकुल है ।

यह आत्मा शरण्य है, वरेण्य है तथा योगियों के लिए परम रम्य है । यह कल्पनातीत और सर्व शक्तिमान है ।

तं विद्यात् सर्व भावेन सर्वयत्नेन चाप्नुयात् ।
तस्येव चिन्तनं कुर्यात् "निजानन्द" निजात्मनि ॥१६६८॥

सर्वभावों और प्रयत्नों से इस आत्मा को जानना चाहिये ।

णवि होदि अप्पमत्तो णपमत्तो जाणओदु जो भावो ।
एवं भणंति सुद्धं णादो जो सो दु सो चेव ॥१६६९॥

समयसार आ. कुन्द कुन्द

जो एक ज्ञायक भाव है, वह अपने आप से सिद्ध है, किसी से उत्पन्न नहीं हुआ है। उस भाव से तो अनादि सत्ता रूप है और कभी उस ज्योति का विनाश नहीं होता, इसलिए अनन्त है, नित्य उद्योत रूप है, इस कारण क्षणिक नहीं है। ऐसी स्पष्ट प्रकाशमान ज्योति है, वह संसार की अवस्था में अनादि बंध पर्याय की निरूपणा (अपेक्षा) से कर्मरूप पुद्गल द्रव्य सहित दूध, जल की तरह होने पर भी द्रव्य के स्वभाव की अपेक्षा से देखा जाय तब तो जिसका मिटना कठिन है, ऐसे कषायों के उदय की विचित्रता से प्रवृत्त हुए पुण्य पाप के उत्पन्न करने वाले समस्त अनेक रूप शुभ अशुभ भाव के स्वभाव से परिणमन नहीं करती है। ज्ञायक भाव से जड़भाव-रूप नहीं होती। इसलिए प्रमत्त भी नहीं है और अप्रमत्त भी नहीं है, यही समस्त अन्य द्रव्यों के भावों से भिन्न रूप में सेवित हुआ 'शुद्ध' ऐसा कहा जाता है। और इसका ज्ञेयाकार होने से ज्ञायकत्व प्रसिद्ध है। जैसे दाहने योग्य जो दाह्य ईंधन यद्यपि उसके आकार अग्नि होती है। इसलिए अग्नि को दहन कहते हैं, तो भी अग्नि तो अग्नि ही है। ईंधन अग्नि नहीं है। उसी तरह ज्ञेय रूप आप नहीं है, आप तो ज्ञायक रूप ही है। इस तरह उस ज्ञेय के द्वारा की हुई भी इस आत्मा के अशुद्धता नहीं है, क्योंकि ज्ञेयाकार अवस्था में भी ज्ञायक भाव द्वारा जाना गया जो अपना ज्ञायकत्व वही स्वरूप प्रकाशन की जानने की अवस्था में भी ज्ञायकरूप ही है, ज्ञेय रूप नहीं हुआ। क्योंकि अभेद विवक्षा से कर्ता तो आप ज्ञायक और अपने को कर्म जाना--ये दोनों एक आप ही है, अन्य नहीं है। जैसे दीपक घटपटादि को प्रकाशित करता है, उनके प्रकाशने की अवस्था में भी दीपक ही है। वही अपनी ज्योति लौं के प्रकाशने की अवस्था में भी दीपक ही है, कुछ दूसरा नहीं है।

भावार्थ—अशुद्धता परद्रव्य से संयोग से आती है। वहां मूल द्रव्य तो अन्य द्रव्य रूप होता ही नहीं। कुछ पर द्रव्य के निमित्त से अवस्था मलिन हो जाती है। उस जगह द्रव्यदृष्टि से तो द्रव्य जो है वही है और पर्याय दृष्टि से देखा जाय तब वह मलिन ही दिखता है। उसी तरह आत्मा का स्वभाव ज्ञायकत्व मात्र ही है, और उसकी अवस्था पुद्गल कर्म के निमित्त से रागादि रूप मलिन है, वह पर्याय है। उसकी दृष्टि से देखा जाये तब मलिन ही दीखता है। और द्रव्यदृष्टि से देखा जाय, तब ज्ञायकत्व तो ज्ञायकत्व ही है, कुछ जडत्व नहीं हुआ। यहां पर द्रव्य दृष्टि को प्रधान कर कहा है। जो प्रमत्त अप्रमत्त का भेद है, वह तो पर द्रव्य की संयोगजनित पर्याय है.

यह अशुद्धता द्रव्यदृष्टि में गौण है। द्रव्यदृष्टि शुद्ध है, इसलिए आत्मा ज्ञायक है, इस कारण से प्रमत्त अप्रमत्त नहीं कहा जाता। 'ज्ञायक' ऐसा नाम भी ज्ञेय के जानने से कहा जाता है, क्योंकि ज्ञेय का प्रतिबिम्ब जब झलकता है, तब वैसा ही अनुभव में आता है। सो यह भी अशुद्धता इसके नहीं कही जा सकती, क्योंकि जैसे ज्ञेय ज्ञान में प्रतिभासित हुआ, वैसे ज्ञायक का ही अनुभव करने पर ज्ञायक ही है, यह मैं जानने वाला हूं, सो मैं ही हूं, दूसरा कोई नहीं है—ऐसा अपना अपने से अभेद रूप अनुभव हुआ, तब उस जानने रूप क्रिया का कर्ता आप ही है और जिसको जाना सो कर्म भी आप ही है। ऐसे एक ज्ञायकत्व मात्र आप शुद्ध है, यह शुद्धनय का विषय है। अन्य पर संयोगजनित भेद हैं, वे सब भेद अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय के विषय हैं। शुद्ध द्रव्य की दृष्टि में यह भी पर्यायार्थिक ही हैं, इसलिए व्यवहारनय ही है—ऐसा आशय जानना। यहां ऐसा भी जानना कि जिनमत का कथन स्याद्वाद रूप है, इसलिए शुद्धता और अशुद्धता दोनों वस्तु के धर्म हैं, अशुद्धनय को सर्वथा असत्यार्थ नहीं मानना। जो वस्तु धर्म है, वह वस्तु का सत्व है, परद्रव्य के संयोग से ही हुआ भेद है। यहां अशुद्ध नय को हेय कहा है, उस अशुद्ध नय का विषय संसार कहा है, जिसमें आत्मा क्लेश भोगता है। जब आत्मा पर द्रव्य से भिन्न तब संसार मिटे और तभी क्लेश मिटे, इस तरह दुःख मेटने के लिए शुद्धनय का प्रधान उपदेश है। और अशुद्धनय को असत्यार्थ कहने से ऐसा नहीं समझना कि यह वस्तु धर्म सर्वथा ही नहीं, आकाश के फूल की तरह असत् है। ऐसे सर्वथा एकान्त समझने से मिथ्यात्व होता है। इसलिए स्याद्वाद का शरण लेकर शुद्धनय का आलंबन करना चाहिये, स्वरूप की प्राप्ति होने के पश्चात् शुद्धनय का भी आलंबन नहीं रहता। जो वस्तु स्वरूप है, वह है—यह प्रमाण दृष्टि है, इसका फल वीतरागता है, ऐसा निश्चय करना योग्य है। यहां पर जो 'प्रमत्त अप्रमत्त नहीं है' ऐसा कहा है, वह गुणस्थान की परिपाटी में छठे गुणस्थान तक तो प्रमत्त कहा जाता है और सातवें से लेकर अप्रमत्त है। सो ये सभी गुण-स्थान अशुद्धनय के कथन में है, शुद्धनय से आत्मा ज्ञायक ही है।

कुन्दकुन्दाचार्य—समयसार, गा. नं. ६ का अर्थ

शुद्धोपयोगी का लक्षण—

सुविदिद पदत्थ सुत्तो, संजम, तव, संजुत्तो विगदरागो।
समणोसम सुह दुक्खो, भणिदो सुद्धो व ओगोत्ति ॥१६७०॥

आ. कुन्द कुन्द, मूलाचार, ५१६४/प्र. सा. १४ पृ. १४२

जो यति स्वद्रव्य और परद्रव्य को, सुत्रार्थ को अच्छी तरह से जानता है। जो भव्यात्मा यति पुरुष संयम और तप युक्त है तथा जो वीतराग भाव से लबालब भरपूर है एवं सुख व दुःख जिन्होंने समान मान रक्खा है। ऐसे श्रमण को परमागम में शुद्धोपयोगी कहा है। एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय पर्यंत जीव मात्र के प्रति समता भाव रखना मैत्री है।

"अणकंपासुद्ध वओगो विय पुण्णस्स आसव द्वार।

शिवार्य. भगवति. आ. १६२४

अणुकम्पा और शुद्धोपयोग पुण्यास्त्रव के द्वार हैं।

"पुण्णस्सासव भूदा अणुकम्पा सुद्ध एव उवओगो" ॥१६७१॥

मू. ५/४८ जयधवल ५२ पृ. ५३

शुद्धोपयोग और अनुकम्पा भी निश्चय से पुण्यास्त्रव के कारण हैं।

अणुकम्पा हृदय क्षेत्र की वह पवित्र गङ्गा है, जो अमृत रस से भरपूर है। सामायिक का सच्चा अधिकारी वही है, जो अनुकम्पा के रस से अपने समस्त हृदय विकारों का प्रक्षालन कर लेता है।

"अत्र शुद्धोपयोगाभिमुखस्य शिक्षण मुक्तम्"

नियमसार गा. १४८

यहां शुद्धोपयोगाभिमुख जीव को शिक्षा कही है।

"रागद्वेष रहित परिणाम सो शुद्धोपयोग"

मोक्ष मार्ग प्र. ८/४२०

द्रव्यानुयोगविषैं आत्म परिणामनिकी मुख्यता करि निरूपण कीजिये है।

असंयतसम्यग्दृष्टि-श्रावक-प्रमत संयतेषु पारम्पर्येण शुद्धोपयोग साधक, उपर्युपरितार तम्येन शुभोपयोगो वर्तते"

बृ. द्र. सं. ३४/पृ. ९४

चौथे, पांचवें और छठे गुणस्थान में पारम्पर्येण—परम्परा से शुद्धोपयोग का साधक शुभोपयोग उत्तरोत्तर वृद्धिरूप तारतम्य रूप से शुभ परिणाम होते हैं।

सम्मं विदिद पदत्थचत्ता उवहिं बहिस्थमज्झत्थं।
विसयेसु णाव सत्ता जे सुद्धत्ति णिद्दिट्ठा ॥१६७२॥

जो सम्यक् रूप से पदार्थों को जानते हैं और बाह्य तथा अन्तरंग परिग्रह को छोड़कर पांचों इन्द्रियों के विषयों में अनासक्त हैं, उन शुध्दात्माओं को शुध्दोपयोगी कहा है।

कर्मादान क्रिया रोधः स्वरूपा चरणं च यत्।
धर्मः शुद्धोपयोगः स्यात् सैष चारित्र संज्ञकः ॥१६७३॥

कर्मों के ग्रहण करने की क्रिया का रुक जाना ही स्वरूपाचरण है, वही धर्म है। वही शुध्दोपयोग है और वही चारित्र है।

प्रश्न :—शुद्धोपयोग और अशुद्धोपयोग का क्या स्वरूप है ?

उत्तर :—सकल विमल केवल ज्ञान दर्शन द्वयं शुध्दोपयोगः, मतिज्ञानादि रूपो विकलोऽशुध्दोपयोग इति द्विविधोपयोगः। अव्यक्त सुख दुःखानुभव रूपा कर्मफल चेतना, तथैव मतिज्ञानादि, मनपर्ययः पर्यन्तम शुध्दोपयोग इति। स्वेहा पूर्वेष्टा निर्विकल्प रूपेण विशेष राग द्वेष परिणमनं कर्म चेतना, केवल ज्ञान रूपा शुध्द चेतना इत्युक्त लक्षणोपयोगश्चेतना च यत्र नास्ति स भवत्य जीव इति विज्ञेयः।

बृहद द्रव्य सं. गा. १५ पृ. ५०

पूर्णनिर्मल केवलज्ञान, केवलदर्शन ये दोनों शुद्ध उपयोग हैं और मतिज्ञान आदि रूप विकल—अशुध्द—उपयोग है, इस तरह उपयोग दो प्रकार का है। अव्यक्त सुख दुःखानुभव स्वरूप कर्मफल चेतना है। तथा मतिज्ञान आदि मनः पर्यय तक चारों ज्ञान रूप अशुद्ध उपयोग तथा निज चेष्टा पूर्वक, इष्ट, अनिष्ट, विकल्प रूप से विशेष राग द्वेष रूप जो परिणाम हैं, वह "कर्म चेतना" है। केवल ज्ञान "शुद्ध चेतना" है। इस तरह पूर्वोक्त लक्षण वाला उपयोग तथा चेतनायें जिसमें नहीं है, वह "अजीव" है, ऐसा जानना चाहिए।

शुद्धोपयोग निर्विकल्प है—

शुद्धस्यात्मोपयोगः स्वयं स्यात् ज्ञान चेतना।
निर्विकल्पः स एवार्थदर्शी संक्रान्त सङ्गते ॥१६७४॥

शुद्धात्मानुभव रूप जो उपयोगात्मक "ज्ञान चेतना" है, वह भी वास्तव में निर्विकल्पक ही है। क्योंकि जितने काल तक शुद्धात्मानुभव होता है, उतने काल तक ही उपयोगात्मक ज्ञान चेतना है (वह भी वास्तव में) कहलाती है। और उस काल में शुद्धात्मा से हटकर दूसरे पदार्थों की ओर ज्ञान जाता नहीं है, इसलिए उस समय

संक्रान्ति के न होने से उपयोगात्मक ज्ञान को भी निर्विकल्पक कहा गया है।

प्रश्न :—श्रावकों को जिनाभिषेक व जिनपूजा किसप्रकार करना चाहिये?

उत्तर :—पूजा चार प्रकार की है, द्रव्य पूजा, क्षेत्र पूजा, काल पूजा, भाव पूजा ।

द्रव्य पूजा —

जल्लेणय दव्वस्सय जा पूजा जाणदव्वपूजा सा ।
दव्वेण गंध-सलिलाइपुव्व भणिएण कायव्वा ।।१६७५।।

जलादि द्रव्य से प्रतिमादि द्रव्य की जो पूजा की जाती है, उसे द्रव्य पूजा जानना चाहिये । वह द्रव्य से अर्थात् जल-गंध आदि पूर्व में कहे गये पदार्थ-समूह से (पूजन सामग्री से) करनी चाहिये ।

तिविहा दव्वेपूजा सच्चित्ताचित्तमिस्स भेएण ।
पच्चक्खजिणाईणं सचित्तपूजा जहाजोगं ।।१६७६।।
तेसिं च सरीराणं दव्वसुदस्स वि अचितपूजा सा।
जापूरणदोण्हं कीरइणायव्वा मिस्सपूजा सा ।।१६७७।।

द्रव्य पूजा तीन प्रकार की है—सचित, अचित और मिश्र । प्रत्यक्ष उपस्थित जिनेन्द्र भगवान् और गुरु आदि का यथायोग्य पूजन करना सो सचित्त पूजा है । उनके अर्थात् जिन तीर्थंकर आदि के शरीर की और द्रव्यश्रुत अर्थात् कागज आदि पर लिपि बद्ध शास्त्र की जो पूजा की जाती है, वह अचित्त पूजा है । और जो दोनों का पूजन किया जाता है वह मिश्र पूजा है ।

क्षेत्र पूजा—

जिण जम्मण-णिक्खमणेणाणुप्पत्तीए तित्थचिण्हेसु ।
णिसिहीसुरवेत्त पूजा पुव्वविहाणेण कायव्वा ।।१६७८।।

जिन भगवान् की जन्म कल्याणक भूमि, दीक्षा भूमि, ज्ञानकल्याणक भूमि, निर्वाण भूमि आदि स्थानों की, तीर्थ, चिन्ह स्थान और निषिधिका स्थानों की पूर्वोक्त विधि से पूजा करना यह क्षेत्र पूजा है ।

काल पूजा—

गब्भावयार-जम्माहिसेय-णिक्खमणणाण-णिव्वाणं ।
जम्हि दिणे संजादं जिणण्हवणंतद्दिणो कुज्जा ॥१६७६॥
इच्छारस-सप्पि-दहि-खीर-गंध-जलपुण्णाविविहकलसेहिं।
णिसि जागरणं च संगीयणाडयाईहि कायव्वं ॥
णंदीसरट्ठदिवसेसु तहा अण्णेसु उचियपव्वेसु ।
जं कीरइ जिणमहिमं विण्णेया काल पूजा सा ॥

जिस दिन तीर्थंकरों के गर्भावतार, जन्माभिषेक, निष्क्रमण कल्याणक, ज्ञान कल्याणक और निर्वाण कल्याणक हुए हैं, उस दिन इक्षुरस, घृत, दधि, क्षीर, गंध और जल से परिपूर्ण विविध अर्थात् अनेक प्रकार के कलशों से जिन भगवान् का अभिषेक करे तथा संगीत, नाटक आदि के द्वारा जिन गुणगान करते हुए रात्रि-जागरण करना चाहिये। इसी प्रकार नन्दीश्वर पर्व के दिनों में तथा अन्य भी उचित दिनों में जिन महिमा की जाती है, वह काल पूजा है।

भाव पूजा—

परम भक्ति के साथ जिनेन्द्र भगवान के अनन्त चतुष्टय आदि गुणों का कीर्तन करके जो त्रिकाल वंदना की जाती है, उसे निश्चय से भाव पूजा जानना चाहिये। अथवा पंच णमोकार पदों के द्वारा अपनी शक्ति के अनुसार जाप अथवा स्तोत्र अर्थात् गुणगान करने को भाव पूजा जानना चाहिये। अथवा चार प्रकार का ध्यान करना भी भाव पूजा है।

अष्ट द्रव्य से पूजा—

गाहिऊणसिसिरकर किरणरिणयर धवलरयणभिंगारं ।
मोत्ति-पवाल-मरगय सुवण्ण-मणि खचिय वरकंठं ॥१६८०॥
सयवत्त-कुसुम कुवलय रजविंजर-सुरहि-विमल-जलभरियं ।
जिणचरण-कमलपुरओ खिविज्जओ तिण्णिधाराओ ॥१६८१॥

मोती, प्रवाल, मरकत, सुवर्ण और मणियों से जटित श्रेष्ठ कण्ठ वाले, शत-पत्र (रक्त कमल) के पराग से पिंजरित एवं सुरभित विमल जल से भरे हुए शिशिर कर (चन्द्रमा) की किरणों के समूह से भी अति धवल रजत (चांदी) के भृंगार (झारी) को लेकर जिन भगवान् के चरण कमलों के समाने तीन धाराएँ छोड़ना चाहिए।

कप्पूर-कुंकुमायरू-तुरुक्कमीसेण चंदणरसेण ।
वरवहलपरिमला मोय बासियासा समूहेण ।।१६८२।।
वासाणु मग्गसंपत्त मुइय मत्तालिराव मुहलेण ।
सुरमउडघिट्ठ चलणं भत्तीएसमलहिज्जजिणं ।।१६८३।।

कपूर, कुम्कुम, अगर, तगर से मिश्रित, सर्व श्रेष्ठ विपुल परिमल (सुगन्ध) के आमोद से आशा समूह अर्थात् दशो दिशाओं को आवासित करने वाले और सुगन्धि के मार्ग के अनुकरण से आये हुए प्रमुदित एवं मत्त भ्रमरों के शब्दों से मुखरित, चंदन रस के द्वारा, (निरन्तर नमस्कार किये जाने के कारण) सुरों के मुकुटों से जिनके चरण घिस गये हैं। ऐसे श्री जिनेन्द्र को भक्ति से विलेपन करे।

ससिकंतखंड विमलेहिं विमल जलसित्त अइसुयंधेहि ।
जिणपडिमपइट्ठुयज्जिय विशुद्ध पुण्णं कुरेहिं व ।।१६८४।।
वरकमल-एालितंदूल स पुंहि सुखंडिय दोह सयलेहिं ।
मणुय-सुरासुर महियं पुज्जिज्ज जिणि दपय जुयलं ।।१६८५।।

चन्द्र कान्त मणि के खंड समान निर्मल तथा विमल (स्वच्छ) जल से धोये हुए और अति सुगन्धि, मानो जिन प्रतिमा की प्रतिष्ठा से उपार्जन किये गये विशुद्ध पुण्य के अंकुर ही हो, ऐसे अखंड और लंबे उत्तम कलमी और शालिधान्य से उत्पन्न तन्दुलों के समूह से मनुष्य, सुर और असुरों के द्वारा पूजित श्री जिनेन्द्र के चरण युगल को पूजे।

मालइ-कयंब कणयारि-चंपयासोय-बउल-तिलएहिं ।
मंदार-णायचंपय-पउमुप्पल-सिंदु वारेहिं ।।१६८६।।
कणवर मल्लियाहिं कचणार-मचकुंद-किंकरायेहिं ।
सुरवणज जूहिया-पारिजातय-जासवण-टगरेहिं ।।१६८७।।
सोवण्ण-रूप्पि-मेहिय-मुत्तदामेहिं बहुवियप्पेहिं ।
जिणापय-पंकय जुयलं पुज्जिज्जतुरिव सयमहियं ।।१६८८।।

मालती, कदम्ब, कर्णकार (कनेर), चंपक, अशोक, बकुल, तिलक, मन्दार, नाग, चम्पक पद्म (लाल कमल), उत्पल (नीलकमल), सिंदुवार (वृक्षविशेष या निर्गुण्डी) कर्णवीर (कनेर) मल्लिका, कचनार, मचकुन्द, किंकरात् (अशोक वृक्ष), देवों के नन्दन

वन में उत्पन्न होने वाले कल्पवृक्ष, जुही, पारिजातक, जयाकुसुम और तगर (आदि उत्तम वृक्षों से उत्पन्न) पुष्पों से तथा सुवर्ण, चांदी से निर्मित फूलों से और नाना प्रकार के मुक्ता फलों की मालाओं के द्वारा सौ जाति के इन्द्रों से पूजित जिनेन्द्र के पद पंकज युगल को पूजे ।

बहि-दुद्ध-सप्पिमिस्सेहिंकमल भत्तेहिंबहुप्पारेहि ।
तेयट्ठि-विजणेहिं य वहुविहपक्कण्ण भेएहिं ॥१६८९॥
रूप्पय-सुवण्ण-कंसाइथालिणिएहिं विविह भक्खेहिं ।
पुज्जं वित्थारिज्जो भत्तीए जिणिंदयपुर ओ ॥१६९०॥

चांदी, सोना और कांसे आदि की थालियों में रखे हुए, दही, दूध और घी में मिले हुए नाना प्रकार के चांवलों के भात से श्रेसठ प्रकार के व्यंजनों से तथा नाना प्रकार की जाति वाले पकवानों से और विविध भक्ष्य पदार्थों से भक्ति के साथ जिनेन्द्र-चरणों के सामने पूजा को विस्तारे अर्थात् नैवेद्य से पूजन करे ।

दीवेहिंणियपहोहाभियक्तेहिधूमरहि एहिं ।
मंदं चल मंदाणि लवसेणणच्चंत अच्चीहिं ॥१६९१॥
घणपडलकम्मणिवहव्व दूर मवसारियंधयारेहिं ।
जिण चरणकमलपुरओ कुणिज्जरयणं सुभत्तीए॥१६९२॥

अपने प्रभा समूह से अमित (अगणित) सूर्यों के समान तेज वाले अथवा अपने प्रभा पुञ्ज से सूर्य के तेज को भी तिरस्कृत या निराकृत करने वाले धूम-रहित तथा धीरे-धीरे चलती हुई मन्द वायु के वश से नाचती हुई शिखाओं वाले और मेघ पटल रूप, कर्म समूह के समान दूर भगाया है, अन्धकार को जिन्होंने, ऐसे दीपकों से परम भक्ति के साथ जिन चरण कमलों के आगे पूजन की रचना करे अर्थात् दीप से पूजन करे ।

कालायरूणह चंदह कप्पूर सिल्हारसाइदव्वेहिं ।
णिप्पण्ण धूम वत्तीहिं परिमलाय त्तियालीहिं ॥१६९३॥
उग्गसिहादेसिय सग्ग-मोक्ख मग्गेहि बहल धूमेहिं ।
धूविज्ज जिणिंदपयार विंद जुयलं सुरिंदणुयं ॥१६९४॥

कालागरु, अम्बर, चन्द्रक, कर्पूर, शिलारस (शिलाजीत) आदि सुगंधित द्रव्यों से बनी हुई, जिसकी सुगन्ध से लुब्ध होकर भ्रमर आ रहे हैं तथा जिसकी ऊँची

शिखा मानो स्वर्ग और मोक्ष का मार्ग ही दिखा रही है और जिसमें से बहुत-सा धुआं निकल रहा है, ऐसी धूप की बत्तियों से देवेन्द्रों से पूजित श्री जिनेन्द्र के पादारविंद-युगल को धूपित करे अर्थात् उक्त प्रकार की धूप से पूजन करे।

जंबीर-मोच-दाडिम-कवित्थ-पणस-णालिएरेहिं ।
हिंताल-ताल-खज्जूर-णिंबु-नारंग-चारेहिं ॥१६९५॥
पूईफल-तिंदु-आमलय-जंबु-बिल्लाइ सुराहि मिट्ठेहिं ।
जिणपयपुर ओ रयणं फलेहिं कुज्जा सुपक्केहिं ॥१६९६॥

जंबीर (नींबू विशेष), मोच (केला), दाडिम (अनार), कपित्थ (कवीट या कैथा), पनस, नारियल, हिंताल, ताल, खजूर, निम्बु, नारंगी, अचार (चरोंजी), पूंगी-फल (सुपारी), तेन्दु, आंवला, जामुन, बिल्वफल आदि अनेक प्रकार के सुगंधित, मिष्ट और सुपक्व फलों से जिन-चरणों के आगे रचना करे अर्थात् पूजन करे।

अट्ठविह-मंगलाणि य बहुविह पूजो वयरणदव्वाणि ।
धूवदहणाइ तहा जिणपूयत्थं वितोरिज्जा ॥१६९७॥

आठ प्रकार के मंगल-द्रव्य और अनेक प्रकार के उपकरण द्रव्य तथा धूप-दहन (धूपायन) आदि जिन-पूजन के लिये वितरण करे।

वसुनन्दी श्रावकाचार, वसु. आचार्य, पृ. १२९

सोम देव सूरि, उपासकाध्ययन, रविषेणाचार्यकृत, पद्मपुराण, भावसंग्रह गुणभद्राचार्य कृत, पूज्यपादाचार्य कृत अभिषेक पाठों में पूरा वर्णन, पंचामृताभिषेक और अष्टद्रव्यार्चना का वर्णन मिलता है, वहां से देखें। ये मूलसंघ के आचार्य वसुनन्दी सैद्धान्तिक देव हैं, प्रामाणिक आचार्य हैं। इन्हि का मंतव्य हमने यहां दिया है। आगे और भी विशेष वर्णन करेंगे।

प्रश्न :—मुनिराज जो केशलोंच करते हैं, सो कहां-कहां का केश लोंच करते हैं और कहां-कहां का नहीं ?

उत्तर :—मुनिराज शिर, दाड़ी, मूछ के केश उखाडते हैं। कांख और नीचे लिंग वृषण के केश नहीं उखाड़ते हैं। कांख और लिंग वृषण के केशों की रक्षा करते हैं। ऐसी आम्नाय है, मुनियों को लोंच करना इसी प्रकार कहा है। चारित्रासार में लिखा है।

"शिरःमुखस्मश्रुलोचोऽधकेशरक्षणमिति" इसी प्रकार इन्द्रनंदी सिद्धान्त चक्रवर्ती ने नीतिसार में लिखा है। "अचेलत्वं शीर्षकूर्चलोचोऽधः केशधारणमिति" इस प्रकार जानना।

प्रश्न :—मुनिराज के लोंच की विधि तो जानी, परन्तु तीर्थंकर भगवान दीक्षा समय जो पंचमुष्टी लोंच करते हैं। सो किस प्रकार करते हैं ?

उत्तर :—तीर्थंकर भगवान मुनियों के समान लोंच नहीं करते, क्योंकि उनके दाढ़ी, मूंछ होते ही नहीं हैं। तीर्थंकर भगवान तो सदा सोलह वर्ष की अवस्था वाले पुरुष के समान (बिना दाढ़ी मूंछ के) अपने रूप से सुशोभित रहते हैं। इसलिये भगवान जो पंचमुष्ठी लोंच करते हैं। सो केवल शिर का ही पंचमुष्ठियों का लोंच करते हैं। यदि ऐसा नहीं माना जायेगा तो मुनिराज के समान तीर्थंकरों का केशलोंच बन ही नहीं सकेगा, क्योंकि उनके दाढ़ी मूंछ के केश लोंच करने योग्य होते ही नहीं हैं। फिर भला उनके लोंच की संभावना हो ही कैसे सकती है ? लिखा भी है—

देवाणि णारया विय भोगभुवा चक्किकजिणवीरंदाणं।
सव्वे केसव रामा कामा विणिकुंचिया हुंति ॥१६६८॥

अर्थात् चतुर्णिकाय के देव, नारकी जीव, भोग भूमियां चक्रवर्ती तीर्थंकर नारायण, बलभद्र और कामदेवों के मुख पर दाढ़ी मूंछों के बाल नहीं होते हैं।

भावार्थ—इन सबके हमेशा नवयौवन, अवस्था बनी रहती है। नारकी जीवों को छोड़कर बाकी के ऊपर लिखे सभी जीवों के केवल शिर के बाल होते हैं। सो भी १६ वर्ष वाले पुण्य पुरुष के समान सुशोभित रहते हैं। अन्य साधारण पुरुषों के समान न तो विशेष उत्पन्न होते हैं और न विशेष बढ़ते हैं। केवल शोभारूप उत्पन्न होते हैं। और शोभा रूप ही बढ़ते हैं, इसलिये ऊपर लिखे जीवों के क्षौरकर्म (बाल कर्म) नहीं होता है। अर्थात् तीर्थंकरादि बाल नहीं बनवाते, क्योंकि वे इतने बढ़ते ही नहीं है। इसके सिवाय एक और बात यह भी है. कि यदि तीर्थंकरों के मुख पर दाढ़ी, मूंछ के बाल माने जाये तो उनकी प्रतिमा में दाढ़ी, मूंछ के बाल मानने पड़ेंगे परन्तु। ऐसा है नहीं, इसलिये तीर्थंकरों के दाढ़ी, मूंछ का अभाव ही है। जिन प्रतिमा में दाढ़ी, मूंछ के बालों के साथ भौंह के बालों का भी निषेध है। लिखा भी है—

केशादिरोमहीनांगं श्मश्रुरेखाविवर्जितम् ।
सितं प्रलंबितहस्तं श्रीवत्साढ्यं दिगम्बरम् ॥१६९९॥

प्रश्न :—कोटिशिला से एक करोड़ मुनिराज मोक्ष पधारे हैं। उस कोटिशिला को नारायण उठाते हैं। सो वह कोटिशिला किस जगह है ?

उत्तर :—वह कोटिशिला नाभिगिरि पर्वत के मस्तक पर है। वह एक योजन ऊंची और आठ योजन चौड़ी है तथा अनेक मुनिराजों का वह सिद्धस्थान है। ऐसी कोटिशिला को हमारा नमस्कार हो। यही बात सोमसेनकृत पद्मपुराण में २२वें अधिकार में लिखी है—

रावणेन पुरा पृष्टोऽनंतवीर्यो मुनीश्वरः ।
आत्मनो मरणं कस्य हस्ते देव ! भविष्यति ॥१७००॥
तेनोक्तं सिद्धशिलां यः उद्धरेत्स्वपराक्रमात् ।
स एव हन्यते त्वां हि चक्रेण चामुना दृढम् ॥१७०१॥
एतच्छ्रुत्वाह लक्ष्मीश उद्धरिष्यति नान्यथा ।
ततस्थेऽथ विमानस्थास्तां शिला प्रतिनिर्गताः ॥१७०२॥
जांबूनदश्च सुग्रीवो नलनीलौ विराधितः ।
इत्यादि बहवो वीरा रात्रौ प्राप्ताश्च गह्वरम् ॥१७०३॥
नाभिगिरि शिरोदेशे शिला योजनमुत्थिता ।
अष्टयोजन विस्तीर्णा सिद्धस्थान मुनोशिनाम् ॥१७०४॥
तत्रावतीर्य ते सर्वैः सा शिला पूजिता परम् ।
गंधाक्षतादिभिः पुष्पैः सुरासुरैश्च सेविता ॥१७०५॥

इत्यादि और भी वर्णन है। जांबूनद और विद्याधर उसी रात को लक्ष्मण को विमान में बैठाकर कोटिशिला के समीप ले गये थे, इससे सिद्ध होता है कि कोटिशिला नाभिगिरि नामक पर्वत के मस्तक पर ही है। कितने ही लोग कोटिशिला को तारंगा आदि अन्य क्षेत्रस्थान में मानते हैं, सो भ्रम है।

प्रश्न :—मुनिराज बिना पिछी के चले या नहीं ?

उत्तर :—यदि मुनिराज किसी जगह परवस होकर बिना मयूर पिछी के गमन करें तो फिर वे उसका प्रायश्चित्त लेकर शुद्धि करते हैं। बिना पिछी के गमन करने पर बिना प्रायश्चित्त लिये मुनिराज कहीं नहीं रहते हैं। बिना पिछी के गमन

करने का प्रायश्चित्त इस प्रकार है। यदि मुनिराज बिना पिछी के सात पैंड गमन करे तो एक कायोत्सर्ग धारण कर शुद्ध होवे। यदि एक कोश चले तो एक उपवास कर शुद्ध होवे यही बात चारित्तासार में लिखी है—

सप्तपादेषु निःपिच्छः कार्योत्सर्गाद्विशुद्धयति।
गव्यूति गमने शुद्धिमुपवासं समश्नुते ॥१७०६॥

कितने ही लोग मुनीश्वरों का स्वरूप पिछी कमण्डलु से रहित मानते हैं। परन्तु उनका यह मानना मिथ्या है। जो मुनीश्वरों का स्वरूप पिछी रहित मानते हैं। वे जिनमत से बाह्य हैं, ये लोग जिनमार्ग में भेद उत्पन्न करने वाले हैं। यही बात नीतिसार में लिखी है—

कियत्यपि ततोऽतीते काले श्वेताम्बरोऽभवत्।
द्राविड़ो यापनीयश्च केकीसंघश्च मानतः ॥१७०७॥

केकीपिच्छः श्वेतवासो द्राविडो यापनीयकः।
निःपिच्छश्चेति पंचैते जैनाभासाः प्रकीर्तिताः ॥१७०८॥

इससे सिद्ध होता है कि जो मुनियों को पिछी रहित मानते हैं, वे जैनाभासी हैं, साक्षात् जैनी नहीं हैं। इसलिये पिछी कमण्डलु के बिना मुनि का स्वरूप बन ही नहीं सकता।

प्रश्न :—श्री मुनिराज कारण मिलने पर जल में प्रवेश करे या नहीं तथा नाव आदि पानी की सवारी में बैठें या नहीं ?

उत्तर :—जो महाव्रती मुनि अपने वा परके लिये जल में प्रवेश करें अथवा नाव में बैठकर पार उतरे तो वे उसका प्रायश्चित्त लेते हैं। वह प्रायश्चित्त इस प्रकार है। यदि मुनि ४ अंगुल जल में प्रवेश करें तो एक कायोत्सर्ग धारण करें, यदि घुटने तक जल में प्रवेश करें तो एक उपवास धारण करें। यदि घुटने से ४–४ अंगुल अधिक जल में प्रवेश करें तो दूना-दूना उपवास करें। यदि १६ धनुष पर्यंत जल में प्रवेश करे तो कायोत्सर्ग उपवास आदि उससे भी अधिक करें। यदि अपने व दूसरे के लिये नाव में बैठकर पार उतरें तो ज्ञानी और अनेक कलाओं के जानकार वा समय के जानकार आचार्य यथायोग्य थोडा वा बहुत प्रायश्चित्त देवें यही बात श्री इन्द्रनंदी विरचित ग्रन्थ में लिखी है—

जानुबन्धे तनूत्सर्गः क्षमणं चतुरंगुले ।
द्विगुणाः द्विगुणास्तस्मादुपवासा स्युरम्भसि ।।१७०९।।
दंडैः षोडशभिर्मेये भवन्त्येते जलेऽजंसा ।
कायोत्सर्गोपवासाः स्युर्जघन्यो मध्यमोऽधिकः ।।१७१०।।
स्वपरर्थे प्रयुक्तैश्च नावाद्यैः सरणे सति ।
स्वल्पं वा बहु वा दद्यात् ज्ञात कालादिको गणी ।।१७११।।

प्रश्न :—लंका नाम की नगरी कौन से समुद्र में है ?

उत्तर :—लंका लवणोदधि समुद्र में है । वहां पर ७०० योजन लंबा चौड़ा एक राक्षस नाम का द्वीप है । उस द्वीप में मेरु पर्वत के समान त्रिकूटाचल नाम का पर्वत है । वह नौ योजन ऊँचा है । ५० योजन लम्बा है । उस पर शत्रु प्रवेश नहीं कर सकते, परन्तु जो वहां पहुंच जाये उसे वहां पर अच्छी शरण मिल जाती है । वह पर्वत अनेक वनों की शोभा से सुशोभित है । उस पर्वत पर ३० योजन के प्रमाण में लंका नाम की नगरी है । जो कि बहुत ही सुन्दर है । यही बात श्री अजितनाथ के समवशरण में भीम महाभीम नाम के यक्षों ने मेघनाद नाम के विद्याधरों के राजा से कही थी । "हम तुम्हें ऐसी लंकापुरी देते हैं । वहां तुम सुख से रहना" ऐसा पद्मपुराण में लिखा है । देखो श्री रविषेणाचार्य विरचित पद्मपुराण पर्वत पांचवें में—

खेचराभंक धन्योसि यस्त्वं शरणमागतः ।
सर्वज्ञमजितं नाथं तुष्टावावामतस्तव ।।१७१२।।
शृणु संप्रति ते स्वास्थ्यं यथा भवति सर्वतः ।
तं प्रकारं प्रवक्ष्यावः पालनीयस्त्वमावयोः ।।१७१३।।
संत्यत्र लवणाम्भोधौ वणुग्राहसंकटे ।
अत्यंतदुर्गमारभ्या महाद्वीपाः सहस्त्रशः ।।१७१४।।
क्वचित्क्रीडंति गंधर्वाः किन्नराणां क्वचिद्गणाः ।
क्वचिच्च यक्ष संघाताः क्वचित्किंपुरुषामराः ।।१७१५।।
तत्र मध्येऽस्ति सद्द्वीपो राक्षसां क्रीडनक्षमः ।
योजनानां शतान्येष सप्त सर्वतः सप्त कीर्तितः ।।१७१६।।
तन्मध्ये मेरुवद्भाति त्रिकूटाख्यो महागिरिः ।
अत्यन्त दुःख प्रवेशोऽयं शरण्यः सद्गुहागृहैः ।।१७१७।।

शिखरं तस्य शैलेन्द्र चूडाकारं मनोहरम् ।
योजनानि नवोत्तुंगं पंचाशद्विपुलत्वतः ।।१७१८।।
नानारत्न प्रभाजाल छन्नहेम महातटम् ।
चित्रवल्लीपरिष्वक्त कल्पद्रुम समाकुलम् ।।१७१९।।
त्रिंशद्योजनमानाद्यः सर्वतस्तस्य राक्षसी ।
लंकेति नगरी भाति रत्नजांबूनदालया ।।१७२०।।
मनोहारिभिरुद्यानैः सरोभिश्च सवारिजैः ।
महद्भिश्चैत्यगेहैश्च सा महेन्द्र पुरीसमा ।।१७२१।।

यही बात श्री सोमसेन विरचित द्वितीय पद्मपुराण में तीसरे अधिकार में लिखी है ।

तत्र भीमसुभीमाख्यौ स्थितौ तौ राक्षसाधिपौ ।
संतुष्टौ मेघवाहाख्यं वदतौ धर्मवत्सलौ ।।१७२२।।
द्वीपोऽस्ति लवणाम्भोधौ राक्षसं नामतो वरं ।
योजनानां शतसप्त विस्तीर्णः स मनोहरः ।।१७२३।।
तन्मध्ये त्रिकुटाभिख्यः पर्वतोऽस्ति निधानभृत् ।
योजनानां नवोत्तुंगः पंचाशद्विस्तमो मतः ।।१७२४।।
तत्र लंकापुरी भाति त्रिंशद्योजन विस्तरात ।
त्वां दास्यामः पुरीं तां त्वं स्थित्वा तत्तसुखी भव ।१७२५।।

इस प्रकार कथन किया है । इससे लंका लवणोदधि में ही जाननी चाहिये । उपसमुद्र में नहीं है ।

प्रश्न :—जो गृहस्थ न तो अरहन्तदेव की पूजा करता है और न पात्रदान देता है, वह किस योग्य है ?

उत्तर :—जो गृहस्थ न तो भगवान अरहन्तदेव के चरण कमलों की पूजा करता है और न मुनिराजों के लिये शक्तिपूर्वक दान देता है । उस गृहस्थपद के लिये किसी गहरे जल में प्रवेश कर बहुत शीघ्र जलांजलि देना चाहिये । वह गृहस्थ इसी योग्य है । यही बात श्रीपद्मनंदी स्वामी ने पद्मनंदी पंचविंशतिका में दूसरे अधिकार में कही है—

पूजा न चेज्जिनपतेः पद पंकजेषु,
दानं न संयतजनाय च भक्तिपूर्वम् ।
नो दीयते किमु ततः सदनस्थिताय,
शोघ्रं जलांजलिरगाधजलं प्रविश्य ॥१७२६॥

प्रश्न :—श्रावकों को सदा प्रातःकाल उठकर सबसे पहले क्या करना चाहिये ?

उत्तर :—श्रावकों को प्रातःकाल उठकर शौच आदि क्रियाओं से निवृत्त होकर प्रथम ही अरहन्तदेव और निर्ग्रन्थ गुरु का दर्शन करना चाहिये । फिर भक्ति-पूर्वक वंदना व उपासना कर धर्मशास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिये पीछे गृहस्थ सम्बन्धी अन्य कार्य करना चाहिये ।

भावार्थ :— जिन दर्शनादि कार्य कर फिर अन्य कार्य करना यह नियम परम्परा से इसी प्रकार चला आया है । यही बात श्री पद्मनंदी पंचविंशतिका के छठे अधिकार में लिखी है—

प्रातरुत्थाय कर्त्तव्यं देवतागुरुदर्शनम् ।
भक्त्या तद्वंदना कार्या धर्मश्रुतिरुपासकैः ॥१७२७॥
पश्चादन्यानि कार्याणि कर्तव्यानि यतो बुधैः ।
धर्मार्थ काममोक्षाणामादौ धर्मः प्रकीर्तितः ॥१७२८॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों में सबसे पहले धर्म ही कहा है । इसलिये सबसे पहले देवगुरु का दर्शन कर पीछे अन्य कार्य करना चाहिये ।

प्रश्न :—ऊपर यह बताया जा चुका है कि प्रतिदिन सबसे पहले देवदर्शन करना चाहिये देवदर्शन करने के पहले अन्य कार्य नहीं करना चाहिये । परन्तु देवदर्शन किये बिना ही जो भोजनादि कर लेते हैं, उनके लिये शास्त्रों में क्या कहा है तथा उन्हें कैसा समझना चाहिये ?

उत्तर :—जिस गांव व शहर में भगवान अरहन्तदेव का जिनालय हो और वहां पर रहने वाला श्रावक श्रावक होकर भी यदि बिना भगवान के दर्शन किये भोजन करें तो उनको जैनशास्त्रों में मिथादृष्टि कहा है । उनको जैनधर्म का श्रद्धान करने वाला कभी नहीं कहना चाहिये । जैनशास्त्रों में उनको धर्मभ्रष्ट बतलाया है । लिखा भी है—

चेयाले जिहठाणे सावय अहिट्ठ भोयणं कुणई ।
सो सुठु मिच्छाइट्ठी भट्ठी जिन सासणे समये ।।१७२९।।

प्रश्न :—सामान्य केवली के गंधकुटी में गणधर होते हैं या नहीं ?

उत्तर :—सामान्य केवली के भी गणधर होते हैं । यह बात सुदर्शन चारित्र के आठवें परिच्छेद में कही है—

दिव्येन ध्वनिना देवस्तदा सन्मार्गवृत्तये ।
धर्मतत्त्वादि विश्वार्थानुवाचेति गणान्प्रति ।।

बिना गणधर के दिव्यध्वनि नहीं खिरती है । इसलिये जिस प्रकार श्री महावीर स्वामी के गौतम गणधर थे, उसी प्रकार सामान्य केवली के भी गणधर होते हैं ।

प्रश्न—सामान्य केवली भगवान की गंधकुटी में मानस्तंभ होता है या नहीं, तीर्थङ्कर केवली भगवान के तो समवशरण में होता ही है ?

उत्तर—सामान्य केवली भगवान की गन्धकुटी में भी मानस्तम्भ होता है । यह बात सुदर्शन चरित्र में लिखी हैं ।

आदौ शक्रोपदेशेन हेमरत्नादिराशिभिः ।
इंदे गंकुटीरूपं कैवल्यास्थानमंडनम् ।।१७३०।।
ध्वज सिंहासनच्छत्र चामरादि विभूषितम् ।
शास्त्रोक्त वर्णनोपेतं मानस्तम्भाद्यलकृतम् ।।१७३१।।
जगज्जन्तूपकाराय केवलज्ञान भागिनः ।
परं निर्मापयामास यक्षराट् धर्मसिद्धये ।।१७३२।।

प्रश्न—तीर्थङ्कर केवली भगवान के केवलज्ञान उत्पन्न होने के बाद गणधरों की केवलियों की विक्रिया ऋद्धि को धारण करने वालों की गणना, जो शास्त्रों में बतलाई है । वह समवशरण में रहने वालों की है अथवा उनके समय की है अर्थात् अनन्तर होने वाले तीर्थङ्कर के उत्पन्न होने तक की है ?

उत्तर—यह गणना समवशरण में रहने वालों की है । श्री ऋषभदेव के समवशरण में जितने मुनि आदि वर्तमान थे, उन्हीं की संख्या बताई है, वे मुनिराज आदि सब विहार समय में भी साथ ही रहते हैं । सो ही श्री रविषेणाचार्य विरचित

पद्मपुराण में चौथे पर्व में लिखी है—

तस्यासीद्गणपालानामशीतिश्चुत्तरा ।
सहस्राणि च तावन्ति साधूनां सुतपोभृताम् ।।१७३३।।
अत्यन्त शुद्धचित्तास्ते रविचन्द्रसमप्रभाः ।
एभिः परिवृताः सर्वेजिना विहरते महीम् ।।१७३४।।

इससे सिद्ध होता है कि गणधर आदि सब मुनियों की गणना समवशरण में रहने वालों की ही समझना चाहिये । समवशरण की स्थिति से आगे पीछे के मुनि इस संख्या से बाहर है । वे इस संख्या में शामिल नहीं है । जिस प्रकार श्री वृषभ देव के समवशरण में रहने वाले की संख्या बतलाई, उसी प्रकार श्री अजितनाथ से लेकर श्री महावीर पर्यन्त समस्त तीर्थङ्करों की समझ लेना चाहिये ।

प्रश्न—इस पञ्चमकाल के इस वर्तमान समय में होने वाले मुनिराज किस क्षेत्र में ठहरें ? वन, उपवन, गुफा, पर्वत, नदी के किनारे स्मशान आदि में ही निवास करें अथवा और किसी भी जगह अपनी स्थिति रक्खें ?

उत्तर—इस पंचमकाल में वर्तमान समय में होने मुनियों की स्थिति श्री मन्दिरजी में ही बतलाई है । यह बात श्री पद्मनदी पंचविंशतिका के छठे अधिकार में लिखी है—

सम्प्रत्यत्र कलौ काले जिनगेहे मुनिस्थितिः ।
धर्मस्य दानमित्येषां श्रावका मूलकारणम् ।।१७३५।।

धर्म का दान देने के लिये एक श्रावक ही मूल कारण है ।

भावार्थ—इस वर्तमान समय में श्रावक ही धर्म सुनने के पात्र है । इसलिये मुनिराजों की स्थिति जिनालय में होने से ही श्रावक को लाभ पहुँच सकता है । श्री इन्द्रनंदी ने नीतिसार में भी लिखा है—

काले कलौ वने वासो वर्जनीयो मुनिश्वरैः ।
स्थीयेत च जिनागार ग्रामादिषु विशेषतः ।।१७३६।।

प्रश्न—जैनमत में जप करने की माला की मणियों की गिनती १०८ है । सो इसका क्या कारण है ?

उत्तर—संसारी जीव हमेशा प्रमाद और कषाय के अधीन रहते हैं तथा

त्रस स्थावरों के भेद से १२ प्रकार के जीवों की मन वचन काय कृत कारित अनुमोदना के द्वारा १०८ भेदरूप पापों का आश्रव और बंध करते रहते हैं। उन सबकी निवृत्ति के लिये १०८ मणियों की माला बनाई गई है। आश्रव बंध के वे १०८ भेद निम्न प्रकार समझना चाहिये।

पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, नित्यनिगोद, इतर निगोद, द्विन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरीन्द्रिय, असैनी पंचेन्द्रिय, सैनी पंचेन्द्रिय इस प्रकार जीवों के बारह भेद होते हैं। इन १२ प्रकार के जीवों के मन से, वचन से तथा काय से हिंसादिक पाप होते हैं। जो ३६ प्रकार के हो जाते हैं। तथा ३६ प्रकार के पाप स्वयं करने दूसरों से कराने और करते हुओं की अनुमोदना के भेदों से १०८ प्रकार के हो जाते हैं। १२×३×३=१०८। ये १०८ पाप सदा लगते रहते हैं। उनका नाश करने के लिये १०८ मणियों की माला है। एक मणि पर एक-एक णमोकार मन्त्र का जाप कर एक-एक पाप का नाश करना चाहिये और इस प्रकार सब पापों का नाश कर डालना चाहिये, सो ही लिखा है—

पृथ्वी पानीय तेजः पवनसुतरुः स्थावराः पंचकायाः।
नित्यानित्यौ निगोदौ युगल शिखि चतुः संज्ञिसाः स्युः॥
एते प्रोक्ता जिनैं द्वादश परिगुणिता वाङ्मनः कायभेदैः।
यैस्वान्यैः कारितार्थं त्रिभिरपि गुणिताश्चाष्ट भून्यंक संख्या॥१७३७।

इस प्रकार माला में १०८ मणियों के होने का कारण है। इसके सिवाय एक कारण और भी है और वह इस प्रकार है—कोई भी पाप रूप कार्य किया जाता है। उसमें सारंभ, समारम्भ और आरम्भ ऐसे तीन भेद पड़ते हैं। किसी भी हिंसा आदि पाप के संकल्प करने को उसके प्रयत्न के आवेश करने को सारम्भ कहते हैं। उसी पाप कार्य के कारणों का संग्रह करना साधन की सब सामग्री इकट्ठी करना समारंभ है। और उस कार्य को प्रारंभ कर देना आरंभ है।

इसका उदाहरण इस प्रकार है। किसी ने एक मकान बनाने का विचार किया उसमें संकल्प किया कि इस तरह का मकान बनाऊंगा उसमें इस प्रकार के घर कमरे आदि बनवाऊंगा इस प्रकार के संकल्प को सारंभ कहते हैं। सारम्भ में किसी काम का बाह्य आरम्भ नहीं होता केवल विचार या उस काम को करने का आवेश होता है। सारम्भ के बाद उस मकान को बनवाने के लिये कारीगर ईंट चूना पत्थर कुदाली फावड़ा

आदि साधनों का संग्रह करना समारंभ है। समारंभ में काम का प्रारम्भ नहीं होता है। केवल कारण सामग्री इकट्ठी होती है। तदनन्तर उस विचारे हुये काम को प्रारम्भ कर देना, जैसे जिस मकान को बनाने का संकल्प किया था। उसके लिये नींव भरना, दीवाल खड़ी करना आदि कार्यों का प्रारम्भ कर देना आरम्भ है। इसी प्रकार सब कामों के दृष्टान्त समझ लेना चाहिये। ये सारम्भ, समारम्भ और आरम्भ तीनों ही मन से किये जाते हैं। तीनों ही वचन से किये जाते हैं और तीनों ही काय से किये जाते हैं। इस प्रकार ये तीनों योगों से होते हैं। ऐसे उनके ये नौ भेद हो जाते हैं। नौ प्रकार के सारंभ आदिक स्वयं किये जाते हैं। और दूसरे से कराये जाते हैं। और दूसरे करते हुये की अनुमोदना की जाती है। इस प्रकार कृत कारित अनुमोदना के भेद से २७ भेद हो जाते हैं। ये २७ भेद क्रोध से होते हैं। मान से और लोभ से होते हैं। इस प्रकार चारों कषायों से गुणा करने से १०८ भेद हो जाते हैं। इन १०८ भेदों से जीव को हिंसादि पाप लगते हैं। सो ही मोक्ष शास्त्र में लिखा है—

आद्यं संरंभ समारंभारं भारंभयोग कृत कारितानुमतकषाय विशेषै स्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः।

इन १०८ पापों की निवृत्ति के लिये १०८ मणियों से णमोकार मन्त्र की अथवा पंचपरमेष्ठी के वाचक अन्य मन्त्रों की जाप तीनों समय करना चाहिये। इनके सिवाय पापों के १०८ भेद और प्रकार से भी हैं। यथा—हिंसादिक सब पाप, क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायों से होते हैं। कृत, कारित, अनुमोदना से होते हैं। मन, वचन, काय इन तीनों से होते हैं। तथा भूतकाल, वर्तमानकाल, भविष्यकाल इन तीनों काल सम्बन्धी होते हैं। इन सबको गुणा कर देने से १०८ भेद हो जाते हैं।

भावार्थ—क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारों कषायों से काययोग के द्वारा स्वयं किये हुये भूतकाल सम्बन्धी पाप। इन्हीं चारों कषायों से काययोग के द्वारा दूसरों से कराये हुये भूतकाल सम्बन्धी पाप, तथा इन्हीं कषायों से काय योग के द्वारा अनुमोदना किये हुये भूतकाल सम्बन्धी पाप, इस प्रकार भूतकाल सम्बन्धी पाप १२ प्रकार के हुये, इसी प्रकार भूतकाल सम्बन्धी १२ प्रकार के पाप वचनयोग द्वारा तथा १२ प्रकार के मनोयोग द्वारा होते हैं। इस प्रकार ३६ प्रकार के भूतकाल सम्बन्धी पाप, ३६ प्रकार वर्तमान काल संबन्धी पाप और ३६ प्रकार भविष्यत्काल सम्बन्धी

पाप होते हैं। इस प्रकार १०८ भेद हो जाते हैं। सो ही धर्मरसिक शास्त्र में लिखा है।

हिंसा तत्र कृता पूर्वं करोति च करिष्यति।
मनोवचनकायैश्च ते तु त्रिगुणिता नव ॥१७३८॥
पुनः कृतं स्वयं कारितानुमोदैर्गुणाहताः।
सप्तविंशति ते भेदा कषायैर्गुणितांश्च तान् ॥१७३९॥
"अष्टोत्तरशतं ज्ञेयं असत्यादिषु तादृशम्।"

इन १०८ पापों को दूर करने के लिये १०८ मणियों की माला कही गई है। एक-एक पाप के आश्रव वा बन्ध को नाश करने के लिये एक मन्त्र का जाप करना कहा है। इस प्रकार प्रातःकाल, मध्यान्हकाल और सन्ध्याकाल तीनों समय तीन सौ चौबीस जाप कर पापों को दूर करना चाहिये, तीनों समय जाप करने वालों के लिये तो पाप और धर्म की समानता रहती है। यदि तीन-तीन बार से भी अधिक जप करें या तीन माला से अधिक जप करें तो उसका फल अधिक होता है। यदि तीनों समय की ३ मालाओं से कम जाप करे तो पाप बन्ध रहता है। इसलिये प्रतिदिन ३२४ जाप करने से पूर्व संचित पाप भी नष्ट हो जाते हैं, ऐसा समझकर णमोकार मन्त्र का जप प्रतिदिन तीनों बार एक एक माला जाप अवश्य करना चाहिये।

प्रश्न—जाप करते समय माला को किस प्रकार जपना चाहिये ?

उत्तर—जाप करते समय मन को तो श्री अरहन्त देव के ध्यान में लगाना चाहिये, अपने बायें हाथ को अपनी गोदी में रखना चाहिये ज्ञान मुद्रा धारण करना चाहिये, अपने दायें हाथ के अंगूठे पर माला रखनी चाहिये। तदनन्तर उस ज्ञानी पुरुष को अंगूठे और अंगूठे के पास वाली उंगली से निर्मल जाप की माला को लेकर जाप करना चाहिये। सो ही धर्म रसिक ग्रंथ में लिखा है।

समं ध्याने मनः कृत्वा मध्यदेशेषु निश्चलम्।
ज्ञानमुद्रांकितो भूत्वा स्थांके तु वाम हस्तकम् ॥१७४०॥
अंगुष्ठ तर्जनीभ्यां तु सव्यहस्तेन निर्मलाम्।
जपमालां समादाय जपं कुर्याद्विचक्षणः ॥१६४१॥

यह जप करने की विधि लिखी, इसके सिवाय जो कोई मनुष्य अपने हृदय में उद्वेग वा चंचलता रखता हुआ जाप करता है। अथवा माला के मेरुदण्ड को

उल्लंघन कर जप करता है अथवा जो उंगुली के नख के अग्रभाग से जप करता है वह सब निष्फल होता है। लिखा भी है—

व्यग्रचित्तेन यज्जप्तं यज्जप्तं मेकलंघने।
नखाग्रेण च यज्जप्तं तज्जप्तं निष्फलं भवेत् ।।

इस प्रकरण में माला के भेद इस प्रकार समझाना चाहिये, क्रियाकोश में लिखा है—

प्रथमफटिकमणि मोती माल सोना रूपा सुरंग प्रवालं ।
जीवा पोला रेशम जान कमलबीज फुनि सूत वखान ।।
यह नवभांति जाप के भेद भजिये जिनवर, तजि मनखेद ।।१७५४।।

दूसरी जगह भी लिखा है—

सूत्रस्य जाप्यमालायाः सदा जापःसुखावहः ।
दग्ध मृदस्थि काष्ठानाम क्षमालाऽफलप्रदा ।।
सुवर्णं रौप्यविन्दुममोक्तिका जपमालिकाः ।
उपवाससहस्त्राणां फलं यच्छन्ति जापतः ।।१७५५।।

अर्थात् सूत की माला सदा सुख देने वाली है। अग्नि के द्वारा पकी हुई मिट्टी, हड्डी, लकड़ी और रुद्राक्ष आदि की मालायें कुछ देने वाली नहीं है, ये मालायें अयोग्य हैं, ग्रहण करने योग्य नहीं है। अर्थात् इनसे जप नहीं करना चाहिये तथा सोना, चांदी, मूंगा और मोती की माला हजारों उपवासों का फल देने वाली है। इनकी मालाओं के द्वारा जप करने से हजारों उपवासों का फल मिलता है।

इस प्रकार मालाओं का फल बतलाया है।

प्रश्न :—जप करते समय णमोकार मंत्र का उच्चारण किस प्रकार करना चाहिये ?

उत्तर—एक णमोकार मन्त्र का उच्चारण ३ श्वाच्छ्वोश्वास में करना चाहिये। उसकी विधि इस प्रकार है—श्वास को खींचते समय "णमो अरहंताणं" यह पद पढ़ना चाहिये। फिर श्वास को छोड़ते समय "णमो सिद्धाणं" यह पद पढ़ना चाहिये। श्वास को खींचते समय "णमो आयरियाणं" पढ़ना चाहिये। फिर श्वास छोड़ते समय "णमो उवज्झायाणं" पढ़ना चाहिये। श्वास को खींचते समय "णमो लोए" पढ़ना

चाहिये। फिर छोड़ते समय "सव्व साहूणं" पढ़ना चाहिये। इस प्रकार तीन श्वाच्छोश्वास में एक बार का णमोकार मन्त्र का जप हुआ, जाप करते समय इसी प्रकार शुद्ध उच्चारण करना चाहिये। धर्मरसिक में लिखा भी है—

नमस्कारपदान् पंच जपेद्यथावकाशकम् ।
अष्टोत्तर शतं चाद्धिमध्दा विंशतिकं तथा ॥१७५५॥

दिद्वयैकपद विश्रामा उश्वासा सप्तविंशतिः ।
सर्व पापं क्षयं याति जप्ते पंचनमस्कृते ॥१७५६॥

अर्थात् समय मिलने पर णमोकार मन्त्र को १०८ बार जपे अथवा ५४ बार जप करे अथवा २८ बार जप करे। एक-एक श्वास में श्वास और उच्छास दोनों में दो-दो पद विश्राम देकर जपे। इस प्रकार २७ श्वाच्छोश्वास द्वारा ९ बार नमस्कार मन्त्र का जाप करें। इस प्रकार जप करने से समस्त-समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं। यहां पर जो २७ श्वास बतलाये हैं। सो एक कायोत्सर्ग में ९ बार नमस्कार मन्त्र जपने को अपेक्षा से बतलाये हैं। इस प्रकार इस मन्त्र को वाचक, उपांसु और मानस इन ३ प्रकार से अपनी शक्ति के अनुसार पढ़ना चाहिये, जपना चाहिये।

प्रश्न :—नमस्कार मन्त्र पढ़ने के जो वाचिक, उपांसु और मानस ये ३ भेद बतलाये सो इनका स्वरूप क्या है ?

उत्तर :—स्वर के तीन भेद हैं उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। जिसमें इन तीनों का उच्चारण स्पष्ट हो। ऐसे मंत्रों के अक्षर, पद और शब्दों को स्पष्ट और शुद्ध रीति से उच्चारण करना और इस प्रकार उच्चारण करना जिसको सब सुन लें, उसको वाचिक कहते हैं। तथा जिसमें उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के भेद से अक्षर, पद, शब्दों का उच्चारण शुद्ध तथा स्पष्ट हो, परन्तु उस उच्चारण को कोई दूसरा सुन न सके, उसको उपांसु कहते हैं। वाचिक व उपांसु में सुनने, न सुनने का ही अन्तर है। वाचिक जप को सब सुन सकते हैं और उपांसु जप को पास बैठने वाला भी नहीं सुन सकता तथा अपने मन को एकाग्र कर अपने ही मन के द्वारा चिन्तवन करना और वह चिन्तवन इस प्रकार करना, जिसमें मन्त्रों की जो अक्षरमाला है, मन्त्रों में जो अक्षरों का समुदाय है, उसके अक्षर पद और शब्द सब शुद्ध तथा स्पष्ट चिन्तवन करने में आ जायें, ऐसे जप को मानसिक जप कहते हैं।

इसका फल इस प्रकार है—मानसिक जप समस्त कार्यों की सिद्धि के लिए किया जाता है, उपांसु जप पुत्र-प्राप्ति के लिए किया जाता है और वाचिक धन-लाभ के लिए किया जाता है। वाचिक का फल एक गुना है, उपांसु का फल सौगुना है और मानसिक जप का फल एक हजार गुना है। ऐसा श्री जिनसेनाचार्य ने कहा है—

वाचिकास्य उपांशुश्च मानसस्त्रि विधः स्मृतः।
त्रयाणां जपमानानां स्याच्छ्रेष्ठोह्युत्तरोत्तरः ॥१७५७॥
यदुच्चनीचस्वरितैः शब्दैः स्पष्टपदाक्षरैः।
मन्त्रमुच्चारयेद्वाचा जपो रोयः स वाचिकः ॥१७५८॥
शनैरुच्चारयेन्मन्त्रं मन्दमोष्ठौ प्रचालयेत्।
अपरैरश्रुतः किंचित्स उपांसुर्जपः स्मृतः ॥१७५९॥
विधाय चाक्षर श्रेण्यावर्णाप्तिर्गं पदात्पदम्।
शब्दार्थं चिन्तनं भूयः कथ्यते मानसो जपः ॥१७६०॥
मानसः सिद्धिकाम्यानां पुत्रकाम उपांशुकः।
वाचिको धनलाभाय प्रशस्तो जप ईरितः ॥१७६१॥
वाचिकस्त्वेक एवस्यादुपांशु शत उच्यते।
सहस्रे मानसं प्रोक्तं जिनसेनादि सूरिभिः ॥१७६२॥

आचार्यों ने णमोकार मंत्र आदि मंत्रों के जपने की विधि इस प्रकार बतलाई है।

प्रश्न :—ऊपर के जो जप से भेद बतलाये हैं, वे किस आसन पर बैठकर करना चाहिये ?

उत्तर :—सफेद वस्त्र आसन पर तथा हल्दी से रंगे हुये वस्त्र के आसन पर व सबसे उत्तम काल वस्त्र के आसन पर वा डाभ के आसन पर बैठकर जप करना चाहिये णमोकार मंत्र का व अन्य मन्त्रों का जप करने के लिये अथवा भगवान अरहंत-देव की पूजा करने के लिये ऊपर लिखे चार प्रकार के आसनों में से किसी एक आसन पर बैठकर जप वा पूजा करने का विधान आचार्यों ने बतलाया है। इसके सिवाय और भी अनेक प्रकार के आसन हैं। परन्तु उन पर बैठकर कभी भी जप व पूजा नहीं करनी चाहिये। जो मनुष्य इन ऊपर लिखे ४ आसनों के सिवाय अन्य आसनों पर बैठकर पूजा व जप करता है। उसका फल उसके लिये बहुत बुरा होता है। जैसे जो

बांस के आसन पर बैठकर पूजा व जप करता है उसके दरिद्रता बनी रहती है। जो पाषाण की शिला आदि पर बैठकर पूजा व जप करता है। उसके रोग की पीडा बनी रहती है। जो पृथ्वी पर बैठकर पूजा व जप करता है। उसके सदा दुर्भाग्य (भाग्य हीनता वा बदनसीबी) बना रहता है। उसका सौभाग्य कभी नहीं रहता। जो तृण व घास के आसन पर बैठकर पूजा व जप करता है। उसके यश की हानि होती है अर्थात् उसके सदा अपकीर्ति बनी रहती है। जो पत्तों के बने हुये आसन पर बैठकर जप करते हैं उनका चित्त सदा विभ्रमरूप अथवा डावांडोल रहता है। अर्थात् उसका चित्त इधर उधर ही फिरता रहता है। स्थिर नहीं रहता जो अजिन अर्थात् हिरण के चमड़े मृगछाला बाघ के चमड़े आदि आसनों पर बैठकर जप करते हैं। उनके ज्ञान का नाश हो जाता है। जो कंबल, कनात, चकमा आदि ऊन के बने हुये आसनों पर बैठकर जप व पूजा करता है उसका पाप सदा बढ़ता ही रहता है। जो नीले रंग के वस्त्र आसन पर बैठकर पूजा व जप करता है। वह अधिक दुःख भोगता है। जो हरे वस्त्र के आसन पर बैठकर पूजा व जप करता है उसका सदा मान भंग होता रहता है। इस प्रकार दोष वाले आसन बतलाये इन दोष वाले आसनों को छोड़कर पहले लिखे हुये चार आसन ही ग्रहण करना चाहिये इन चार आसनों पर बैठकर पूजा व जप करने से शुभ फल होता है। और वह इस प्रकार होता है सफेद वस्त्र के आसन पर बैठकर पूजा व जप करने से यश की वृद्धि होती है। हल्दी रंग के वस्त्र के आसन पर बैठकर पूजा व जप करने से हर्ष की वृद्धि होती है। लाल वस्त्र का आसन सबसे श्रेष्ठ है। तथा डाभ का आसन सब कार्यों की सिद्धि करने वाला और सबसे उत्तम है। कहने का अभिप्राय यह है कि सब आसनों में डाभ का आसन सबसे श्रेष्ठ है, सो ही धर्मरसिक नामक ग्रंथ में लिखा है—

वंशासने दरिद्रः स्यात्पाषाणे व्याधिपीडितः।
धरण्यां दुःख संभूति दौर्भाग्यं दारुकासने ॥१७६३॥

तृणासने यशोहानिः पल्लवे चित्तविभ्रमः।
अजिने ज्ञाननाशः स्यात्कंबले पापवर्द्धनम् ॥१७६४॥

नीले वस्त्रे परं दुःखं हरिते मानभंगता।
श्वेतवस्त्रे यशोवृद्धिः दरिद्रेः हर्षवर्द्धनम् ॥१७६५॥

रक्तवस्त्रं परं श्रेष्ठं प्राणायामविधौ ततः ।
सर्वेषां धर्म सिद्धयर्थं दर्भासनं तु ओत्तमम् ॥१७६६॥

इसके सिवाय हरिवंश पुराण में लिखा है कि श्री कृष्ण ने समुद्र के किनारे तेला स्थापन कर डाभ के आसन पर बैठकर अपने कार्य की सिद्धी की । तथा आदि पुराण में जो गर्भान्वय आदि क्रियायें लिखी है । उनमें भी डाभ के आसन का ही विशेष वर्णन लिखा है । इससे सिद्ध होता है कि डाभ का आसन ही सबसे उत्तम है।

प्रश्न :—ऊपर लिखे मंत्र का जप किस तरह करना चाहिये ।

उत्तर:—अपने घर में जप करने का फल एक गुणा है । बन में जप करने का फल सौ गुणा है । यदि पवित्र बाग में या किसी वन में जप करे तो उसका फल हजार गुणा । यदि जिन मन्दिर में जप करे तो उसका फल करोड़ गुणा है । यदि भगवान जिनेन्द्र देव के समीप जप करे तो अनंत गुणा फल है । यही बात धर्मरसिक नाम के ग्रंथ में लिखी है—

गृहे जपफलं प्रोक्तं वने शतगुणं भवेत् ।
पुण्यारामे तथारण्ये सहस्त्रगुणितं मतम् ॥१७६७॥
पर्वते दशसहस्त्रं नद्यां लक्षमुदाहृतम् ।
कोटि देवालये प्राहुरनन्तं जिन सन्निधौ ॥१७६८॥

इससे सिद्ध होता है कि घर, वन, बाग आदि जगहों से भगवान जिनराज के निकट जप करने से अनन्तगुणा फल प्राप्त होता है ।

जप करने का विधान इस प्रकार है—मोक्ष की प्राप्ति के लिये अंगूठे से जपना चाहिये । औपचारिक कार्यों में तर्जनी उंगुली से (अंगूठे के पास वाली अंगुली) जपना चाहिये । धन और सुख की प्राप्ति के लिये मध्यमा व बीच की उंगुली से जप करना चाहिये, शांति कर्म में किसी ग्रह व उपद्रव को शांत करने के लिये अनामिका उंगुली से (बीच की उंगुली के पास वाली) चाहिये तथा आह्वानन करने के लिये कनिष्ठा उंगुली (सबसे छोटी उंगुली) से जपना चाहिये, शत्रु को नाश करने के लिये तर्जनी उंगुली से धन संपदा के लिये मध्यमा से, शांति के लिये अनामिका से और-और सभी कार्यों की सिद्धि के लिये कनिष्ठा से जपना चाहिये। इस प्रकार अलग-अलग उंगुलियों से जप करने का फल बतलाया है । लिखा भी है—

अंगुष्ठ जापो मोक्षाय उपचारे तु तर्जनी,
मध्यमा धनसौख्याय शान्त्यर्थं तु अनामिका ।
अंगुष्ठ जापो मोक्षाय उपचारे तु तर्जनी,
मध्यमा धनसौख्याय कनिष्ठा सर्वसिद्धिदा ॥१७६९॥

इस प्रकार यह जप करने की विधि बतलाई है सो समयानुसार इस विधि के अनुसार जप करना चाहिये ।

यदि जप करते समय किसी कारण से विघ्न आ जाय तो उसका प्रायश्चित किस प्रकार करना चाहिये ?

स्नान कर धोती दुपट्टा ये दो वस्त्र पहनकर सदाचार पूर्वक जप करने के लिये बैठना चाहिये और उस समय इन बातों का त्याग कर देना चाहिये—जो अपने व्रतों से भ्रष्ठ हो गया है उसका तथा शूद्र का देखना, इन दोनों के साथ बात करना, इन दोनों के बचन सुनना, छींक लेना, अधोवायु निस्सरण, जंभाई लेना, यदि जप करते समय ये ऊपर लिखी बातें हो जाय तो उसी समय जप छोड़ देना चाहिये । और फिर आचमन और षडंग-छह अंगों से सुशोभित प्राणायाम कर बाकी बचे हुये जप को अच्छी तरह करना चाहिये । यदि आचमन और प्राणायाम न हो सके तो भगवान जिनेन्द्रदेव के दर्शन कर पीछे जप करना चाहिये । जप के ऐसे विघ्नों की शुद्धि आचमन वा प्राणायाम से होती है । यदि आचमन प्राणायाम न बन सके तो भगवान के दर्शन कर शुद्धि कर लेनी चाहिये । विघ्न आ जाने पर बिना शुद्धि किये जप नहीं करना चाहिये । सो ही धर्मरसिक में लिखा है—

व्रतच्युतान्त्यजातीना दर्शने भाषणे श्रुते ।
क्षुतेऽधोवातगमने जृंभणे जप मुत्सृजेत ॥१७७०॥
प्राप्तावाचम्यते तेषां प्राणायाम षडंगकम् ।
कृत्वा सम्यक् जपेच्छेषं यद्वा जिनादिदर्शनम् ॥१७७१॥

इससे सिद्ध होता है कि छींक अधोवात आदि विघ्न आ जाने पर प्राणायाम आचमन वा जिनदर्शन कर फिर बाकी का जप पूर्ण करना चाहिये । जो श्रावक जप करते समय प्रमादी होकर ऊंघते हैं । नींद का झोका लेते हैं अथवा बार-बार उवासी लेते हैं अथवा और किसी प्रकार का प्रमाद करते है । उनका जप करना न करने के समान है ।

मोक्षमार्ग अनादि काल से है। संसारराशि के जीव अनादिकाल से संसार का नाश कर मोक्ष प्राप्त करते आ रहे हैं। वर्तमान में भी विदेहक्षेत्र से जाते हैं। तथा आगे भी अनंतकाल तक जाते रहेंगे, परन्तु फिर भी सिद्ध राशि बढ़ती नहीं और निगोद राशि घटती नहीं सिद्ध राशि और निगोद राशि वैसी की वैसी ही अनंतानंत-रूप बनी रहती है। सो यह कहना किस प्रकार सिद्ध हो सकता है क्योंकि जो पदार्थ जहाँ से निकलता है वहां घटना चाहिये और जहाँ जाता है वहां बढ़ना चाहिये। इस हिसाब से सिद्ध राशि बढ़नी चाहिये और निगोद राशि घटनी चाहिये।

इस संसार में निगोद राशि असंख्यात लोक प्रमाण है और एक-एक निगोद राशि में अनंतानंत निगोदिया जीव निवास करते हैं। उन अनंतानंत जीवों में से यदि किसी जीव के सम्यक्त्व का उपलम्भ हो जाए तो वह जीव वहां से निकलकर द्विन्द्रीय आदि त्रस पर्याय में आकर उत्पन्न होता है। उस निगोद राशि में से जितने जीव निकलकर त्रस पर्याय धारण कर संसार की व्यवहार राशि में आते हैं। उतने ही जीव व्यवहार राशि से निकलकर समस्त कर्मों का नाश कर मोक्ष चले जाते हैं। इस प्रकार व्यवहार राशि उतनी की उतनी ही बनी रहती है। इस प्रकार जैनशास्त्रों में भगवान जिनेन्द्रदेव ने कहा है। सो सर्वथा निःसन्देह है। इसका उदाहरण देकर समझाते हैं। जैसे—पद्मद्रह आदि छहों द्रहों से गंगा सिंधु आदि चौदह नदियां निकलती है। तथा अनादिकाल से उन द्रहों में से पानी निकलता रहता है। और समुद्रों में पड़ता रहता है। तो भी वहाँ का पानी घटता नहीं दश, बीस, चालीस योजन गहरा बना ही रहता है। भूत, भविष्यत् वर्तमान किसी भी काल में उन द्रहों का पानी नहीं घटता तथा समुद्र का जब कभी बढ़ता नहीं समुद्र की मर्यादा भी अनादिकाल से अनंतकाल तक जैसे की तैसे बनी ही रहती है। अथवा आकाश से जल की वर्षा होती है। और वह सब समुद्र में जाती है। तो भी आकाश में जल घटता नहीं और समुद्र में बढ़ता नहीं इस प्रकार और भी उदाहरण हैं।

यम नियम का अर्थ—

अपने जीवन पर्यन्त पापों का त्याग करना यम है। और एक मुहुर्त्त, एक दिन, एक महिना, २ महिना वर्ष दो वर्ष आदिकाल की मर्यादा लेकर पापों का त्याग करना सो नियम है। सो ही रत्नकरण्ड श्रावकाचार में लिखा है—

नियमोपरमितकालो यावज्जीवं यमो ध्रियते।

इसका भी अभिप्राय यह है कि महामुनियों के यमरूप त्याग की मुख्यता है। नियम रूप त्याग की गौणता है तथा श्रावकों के नियम रूप त्याग की मुख्यता है और यमरूप त्याग की गौणता है।

उपवास का लक्षण—

उपवास धारण करने वाले भव्यजीव उपवास धारण करने के समय से लेकर ८ पहर तक, १२ पहर तक अथवा सोलह पहर तक क्रोध मान माया, लोभ रूप इन चारों कषायों का सर्वथा त्याग कर देते हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत इन पांचों इन्द्रियों के स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द इन विषयों का सर्वथा त्याग कर देते हैं और खाद्य, स्वाद्य, अवलेह पान इन चारों प्रकार के आहारों का सर्वथा त्याग कर देते हैं इन सबके त्याग करने को उपवास कहते हैं। जो लोग क्रोधादि कषायों का त्याग किये बिना ही केवल भोजन पानादिक का त्याग कर देते हैं और उसको उपवास कहते हैं, सो मिथ्या है। जैनधर्म के अनुसार यह उपवास नहीं किन्तु लंघन कहलाता है। सो ही स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में लिखा है—

उपवासं कुव्वंतो आरम्भ जोकरेदि मोहादो।
सो णिहणेहं सोसवि ण झाणए कम्मसेसंपि ॥१७७२॥

इसकी टीका में लिखा है—

कषायविषयाहारत्यागो यत्र विधीयते।
उपवासः स विज्ञेयशेषं लंघनकं विदुः॥

इसके सिद्ध होता है कि कषाय इन्द्रियों के विषय और सब तरह के आरम्भ और चारों प्रकार के आहारों का त्याग करना ही उपवास है। और यदि किसी के ऊपर लिखे अनुसार उपवास करने की शक्ति न हो तो वह बीच में जल पी लेवे तो उसको कैसा फल लगता है?

पहली बात तो यह है कि उपवास तो ऊपर लिखे अनुसार ही करना चाहिये। यदि कोई हीनशक्ति वाला कोई उपवास के दिन जल पी ले तो उसके आठवां भाग नष्ट हो जाता है। यह बात प्रश्नोत्तरोपासकाचार नाम के ग्रन्थ में प्रोषधोपवास के कथन करते समय लिखी है—

नीरादानेन होयेत भागश्चवाष्टमो नृणाम्।
उष्णेनैवोपवासस्य तस्मान्नीरं त्यजेत्सुधीः॥१७७३॥

पंचोपचारी पूजा का स्वरूप—

आह्वाहन, स्थापन, सन्निधिकरण, पूजा और विसर्जन ये पांच पूजा के उपचार या अंग कहलाते हैं। इनका स्वरूप इस प्रकार है—जो अरहन्तदेव आदि की पूजा के समय मंत्र पढ़कर उनका आह्वाहन करना उसके लिये पुष्प अक्षत आदि स्थापन करना सो पहला आह्वानन नाम का उपचार है। आह्वानन के बाद मंत्र पढ़कर तथा पुष्प अक्षत आदि के द्वारा उन पूज्य अरहंतादि को अपने समीप करना सो सन्निधिकरण नाम का तीसरा उपचार है।

तदनंतर जल चन्दन अक्षत पुष्प नैवेद्य दीप धूप फल अर्घादि से मंत्र पूर्वक अपूज्य अरहंतादि की पूजा करना सो चौथा पूजा नाम का उपचार है। तथा पूजा करने के बाद स्तुति जप वंदना आदि करके मंत्र पढ़कर और पुष्प अक्षत आदि क्षेपण कर उनका विसर्जन करना सो विसर्जन नाम का पाँचमा उपचार है। इस प्रकार पंचोपचारी पूजा का स्वरूप जानना सो ही लिखा है—

ॐ ह्रीं अर्हन् श्री परमब्रह्मन् अत्रावतरावतर संवौषट्। इति आह्वाननम्।

ॐ ह्रीं अर्हन् श्री परमब्रह्मन् अत्र तिष्ठ ठः ठः स्थापनम्।

ॐ ह्रीं अर्हन् श्री परमब्रह्मन् अत्र मम् सन्निहितो भव भव वषट् इति सन्निधापनम्।

ॐ ह्रीं श्री परमब्रह्मणे अनंतानंत ज्ञानशक्तये अष्टादशदोषरहिताय षट् चत्वारिंशद् गुण विराजमानाय अर्हत्परमेष्ठिने जलं निर्वपामीति स्वाहा।

इस प्रकार चन्दन, अक्षत, पुष्प नैवेद्य धूप फल अर्घ आदि द्रव्य चढ़ाते समय बोला जाता है तथा विसर्जन करते समय यह पढ़ा जाता है—

ॐ ह्रीं अर्हन् श्री परमब्रह्मन् स्वस्थान् गच्छ-गच्छ जः जः जः।

इस प्रकार पंचोपचारी पूजा का स्वरूप "पूजासार" तथा प्रतिष्ठा पाठ और जिनसंहिता आदि समस्त पूजाओं के पाठों में लिखा है। इसलिये शास्त्र गुरु आदि की पूजा भी इसी रीति से समझनी चाहिये, अर्थात इनकी पजा भी पंचोपचारी करनी चाहिये।

कदाचित् यहां पर कोई यह पूछे कि पंचोपचार के शब्द किस-किस धातु से बने हैं। इसका उत्तर यह है कि आह्वानन शब्द ह्वेञ् धातु से बना है ह्वेञ् धातु का अर्थ आह्वानन वा बुलाना है। स्थापन शब्द स्था धातु से बना है स्था धातु का अर्थ गतिनिवृत्ति वा ठहरना है। उसका पंचमी वा लोट का मध्यम पुरुष का एकवचन

तिष्ठ बनता है। सम्पूर्वक निपूर्वक धि धातु का अर्थ निकट होता है। यज् धातु का अर्थ पूजा करना है। इसी से याग वा इज्या बनता है। जिसका अर्थ पूजा करना है। तथा ज: इस बीजाक्षर का अर्थ गमन करना है अथवा गच्छ शब्द गम् धातु से बना है और उसका अर्थ भी जाना है। इस प्रकार इन पांचों उपचारों के वाचक शब्दों का धात्वर्थ धातु से बना हुआ अर्थ बतलाया।

प्रश्न :—गृहस्थ के द्वारा होने वाली भगवान अर्हंत देव की पूजा में छह क्रियायें सुनी जाती है सो कौन-कौन हैं ?

उत्तर :—सबसे पहले जलादिक पंचामृत से भगवान अरहंत देव का स्नपन वा अभिषेक करना सो पहली क्रिया है। अभिषेक के बाद पहले कही हुई विधि के अनुसार पंचोपचारी पूजा करना सो दूसरी क्रिया है। पूजा के बाद उनका स्तोत्र पाठ करना, सो तीसरी क्रिया है। स्तुति के बाद इनके वाचक मंत्रों के द्वारा १०८ बार जप करना सो चौथी क्रिया है। तदनंतर कायोत्सर्ग धारण कर उनका ध्यान सो पांचवीं क्रिया है। शास्त्रों के द्वारा ५ प्रकार का स्वाध्याय करना सो छठी क्रिया है। इस प्रकार पूर्वाचार्यों में देवसेवा (देवपूजा) करने के लिए गृहस्थों को छह क्रियाओं के करने का उपदेश दिया है। सो ही यशस्तिलक नाम के महाकाव्य में लिखा है—

'स्नपनं पूजनं स्तोत्रं जपं श्रुतिश्रवम् क्रिया षड्दिताः सद्भिःदेवसेवासु गेहिनाम्"

प्रश्न :—आठों कर्मों को नाश कर सिद्ध भगवान निरन्तर सिद्धालय में विराजमान रहते हैं। सो वह सिद्धालय लोक के अग्रभाग पर है या वातवलय के भीतर है या वातवलय के ऊपर है ?

उत्तर :—यह तीनों लोक घनवात घनोदधिवात और तनुवात ऐसे तीन वातवलयों से घिरा हुआ है। इन तीनों वातवलयों में से तीसरे तनुवातवलय में पैंतालीस लाख योजन प्रमाण सिद्धालय सुशोभित है। वहां पर सिद्ध परमेष्ठी विराजमान रहते हैं। पंचमंगल भाषा में भी लिखा है। "लोक शिखर तनुवातवलय में संठया।" इस प्रकार और भी जैन शास्त्रों में लिखा है।

प्रश्न :—इस जीव का ऊर्ध्वगमन स्वभाव है परन्तु मुक्त जीव वातवलय में लोक के अन्त तक जाते हैं, आगे नहीं जाते, सो इसका क्या कारण है, वे वहीं तक क्यों रह जाते हैं ?

उत्तर :—इस लोक के मर्यादा वातवलय के अन्त तक ही है, आगे अलोकाकाश है। अलोकाकाश में केवल शून्य रूप आकाश के सिवाय और कोई पदार्थ नहीं है। जीव पुद्गल धर्म अधर्म काल इन पांचों द्रव्यों का अभाव जिस आकाश में हो उसको अलोकाकाश कहते हैं। तथा गमन करने में सहायक होने की शक्ति धर्मास्तिकाय में है और अलोकाकाश में धर्मास्तिकाय नहीं है। इसलिए धर्मास्तिकाय का अभाव होने से आगे अलोकाकाश में ऊर्ध्वगमन नहीं होता। अतएव मुक्त जीव की स्थिति लोक के अन्त पर्यंत ही रहती है, सो ही तत्त्वार्थ सूत्र में लिखा है, "धर्मास्तिकायाभावात्" अर्थात् धर्मास्तिकाय का अभाव होने से आगे सिद्धों का गमन नहीं होता।

प्रश्न :—मुनिराज एकाग्रचित्त होकर ध्यान करते हैं, सो उस ध्यान की स्थिति कितनी है ?

उत्तर :—शरीरादिक बाह्य पर पदार्थों के चिंतवन कर निरोध कर अपनी आत्मा के स्वरूप में एकाग्रता का चिंतवन शुद्ध ध्यान है। वह धर्मध्यान शुक्लध्यान के भेद से दो प्रकार का है, वह वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच और नाराच इन तीनों उत्तम संहननों को धारण करने वाले जीवों के होता है। इनमें भी वज्रवृषभनाराच नाम के प्रथम संहनन को धारण करने वाले जीवों के वह ध्यान अन्तर्मुहूर्त तक रहता है, इससे अधिक नहीं ठहर सकता है सो ही तत्वार्थ सूत्र में लिखा है—

उत्तम संहननस्यैकाग्रचिंता निरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात ।।अध्याय ९ सूत्र २७।।

प्रश्न :—जैन धर्म में चार आश्रम स्थापन किये गये हैं, सो वे कौन-कौन हैं और उनका स्वरूप क्या है ?

उत्तर :—उपासकाध्ययन नाम के सातवें अंग में आश्रम चार प्रकार के बतलाये हैं। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षुक। आश्रमों के ये भेद क्रियाओं के भेद से होते हैं, सो ही प्रश्नोत्तर श्रावकाचार में लिखा है—ब्रह्मचारी गृही, वानप्रस्थो भिक्षुक सत्तमः। चत्वारो ये क्रिया भेदादुक्ता वर्णवदाश्रमाः। इन चार प्रकार के वर्णाश्रमों में से पहले ब्रह्मचारी के पांच भेद हैं—उपनय ब्रह्मचारी, अवलंब ब्रम्हचारी, अदीक्षित ब्रम्हचारी, गूढ ब्रम्हचारी और नैष्ठिक ब्रम्हचारी। इनके अन्त में ब्रम्हचारी शब्द सबके साथ लगा हुआ है। इनका विशेष स्वरूप इस प्रकार है—जो श्रावकाचार सूत्र का विचार करे, विद्याभ्यास करने में सदा तत्पर रहे और गृहस्थ

धर्म में (गृहस्थों के द्वारा करने योग्य धार्मिक क्रियाओं में) निपुण हो उसको उपनय ब्रम्हचारी कहते हैं। जो जब तक विवाह न करे, तब तक क्षुल्लक अवस्था धारण करे, सदा जैन शास्त्रों का अध्ययन करे। अध्ययन समाप्त कर पीछे पाणिग्रहण करे, उसको अवलंब ब्रम्हचारी कहते हैं। जो बिना दीक्षा लिए ही व्रताचरण करने में लीन हो, जैनशास्त्रों के अभ्यास में तत्पर हो और समस्त शास्त्रों को पढ़कर फिर पाणिग्रहण करे अर्थात् "शास्त्रों का अभ्यास पूर्ण हुए बिना विवाह नहीं करूँगा।" ऐसा नियम लेकर बिना दीक्षा लिए ही जो व्रतों के आचरण में प्रवृत्ति करे, उसको अदीक्षित ब्रम्हचारी कहते हैं। बालक अवस्था से ही जैन शास्त्रों के अभ्यास करने में जिसका प्रेम हो और जो शास्त्रों को पढ़ चुकने के बाद माता पिता के हठ से विवाह करे।

भावार्थ :—जो स्वयं विवाह न करे किन्तु दूसरे के हठ से जिसको विवाह करना पड़े, उसको गूढ़ ब्रह्मचारी कहते हैं। तथा जो जीवन पर्यंत समस्त स्त्री मात्र का त्याग कर देवे और एक वस्त्र मात्र परिग्रह के बिना बाकी सबका त्याग कर देवे सो नैष्ठिक ब्रम्हचारी है। इस प्रकार इनका स्वरुप है। यह ब्रम्हचर्य अवस्था सातवीं प्रतिमा से लेकर ग्यारहवीं प्रतिमा तक समझना चाहिए। आगे गृहस्थ का दूसरा वर्णाश्रम लिखते हैं।

जो त्रिकाल वंदना तथा पूजा आदि छह कर्मों के करने में तत्पर हो जो विषय कषाय और हिंसादिक पापों का त्यागी हो, जो स्वात्मरस का (अपने शुद्ध आत्मा के आनन्द रस का) भोगी हो, जो दयालु हो उसको गृहस्थ कहते हैं, अभिप्राय यह है कि अणुव्रत गुणव्रत शिक्षाव्रत इन बारह व्रतों को पालन करने वाला हो उसको गृहस्थ कहते हैं। जो ग्यारह प्रतिमाओं को पालन करता हो, जो ध्यान और अध्ययन करने में सदा तत्पर हो, अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारों कषायों से रहित हो उसको वानप्रस्थ कहते हैं। तथा जो हिंसा आदि समस्त पापों का जीवन पर्यंत के लिए त्यागी हो, पंच महाव्रत आदि अठाईस मूलगुणों को धारण करने वाला हो, धर्मध्यान में लीन हो, ध्यानी हो, मौन धारण करने वाला हो और तपस्वी हो उसको भिक्षुक कहते हैं।

भावार्थ :—महामुनियों को भिक्षुक कहते हैं। इस प्रकार चारों वर्णाश्रमों का स्वरूप जानना। सो ही धर्मरसिक नाम के शास्त्र में लिखा है—

उपनयावलंबो वादीक्षितौ गूढनैष्ठिना: ।
श्रावकाध्ययने प्रोक्ता: पंचधा ब्रह्मचारिण: ।।१७७३।।
श्रावकाचार सूत्राणां विचाराभ्यासतत्पर: ।
गृहस्थ धर्म शक्ताश्चोपनय ब्रह्मचारिक: ।।१७७४।।
स्थित्वा क्षुल्लक रूपेण कृत्वाभ्यासं सदागमे ।
कुर्याद्विवाहं सोत्रावलंबब्रह्मचारिक: ।।१७७५।।
बिना दीक्षां व्रताशक्त: शास्त्राध्ययन तत्पर: ।
पठित्वोद्वाहं य: कुर्यात्सोऽदीक्षाब्रह्मचारिक: ।।१७७६।।
आबाल्यच्छास्त्र सम्प्राप्ति: पित्रादीनां हठात्पुन: ।
पठित्वोद्वाहं य: कुर्यात्स गूढ ब्रह्मचारिक: १७७७।।
संध्याध्ययन पूजादि कर्मसु तत्परो महान् ।
त्यागी भोगी दयालुश्च स गृहस्थ: प्रकीर्तित: ।।१७७८।।
प्रतिमैकादशधारी ध्यानाध्ययन तत्पर: ।
प्राक् कषाय विदूरस्थो वानप्रस्थ: प्रशस्यते ।।१७७९।।
सर्व संग परित्यक्तो धर्मध्यान परायण: ।
ध्यानी मौनी तपोनिष्ठ: संज्ञानी भिक्षुरुच्यते ।।१७८०।।

इसके सिवाय इन चारों आश्रमों का इसी प्रकार का कथन धर्मामृत श्रावकाचार में, स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा श्रीशुभचन्द्राचार्य कृत उसकी संस्कृत टीका में तथा और भी अनेक शास्त्रों में लिखा है उनमें से इनका विशेष स्वरूप समझ लेना चाहिये।

प्रश्न—सात समुद्घातों में से केवली समुद्घात केवली भगवान के होता है, सो वह किस गुणस्थान में होता है।

उत्तर—जिसकी आयु छह महीने बाकी हो और बाकी के वेदनीय नाम गोत्र इन तीनों कर्मों की स्थिति छह महीने से अधिक हो ऐसे मनुष्य को केवलज्ञान उत्पन्न हो तो वह केवलि समुद्घात करता है। ऐसे केवलियों के सिवाय और केवली समुद्घात करें भी तथा न भी करें।

भावार्थ—जिनकी आयु छह महीने की बाकी रहने पर केवलज्ञान का उत्पन्न हुआ, ऐसे केवली तो नियम से समुद्घात करते ही हैं। ऐसे केवलियों के सिवाय अन्य

केवलियों का समुद्घात करने का नियम नहीं है।

जब तेरहवें सयोग केवली नाम के गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त बाकी रह जाती है, तब दंड,कवाट, प्रतर, पूर्ण,प्रतर, कवाट दण्ड, निजदेह मात्र ऐसे आठ समय में समुद्घात कर तेरहवें गुण स्थान के अन्तिम समय में अघातिया कर्मों की स्थिति योग निरोधकर आयु के बराबर करते हैं फिर कर्मों का नाश करते हुए चौदहवें गुणस्थान के अन्त में मोक्ष प्राप्त करते हैं सो ही वसुनन्दी श्रावकाचार में लिखा है—

छम्मा साउग सेसे उप्पण्णं अस्स केवल णाणं।
सो कुणइ समुग्घायं इदरो पुण होय वा भज्जिज्जो ॥१७८१॥
अंतोमुहुत्त सेसा उगम्मि दण्डं कवाड पयरं च।
जइय पूरणमथ कवाड दंडं णियत सुयमाणं च ॥१७८२॥
एवं पयेसप सरणं संवरणं कुणइ अट्ठ समयेहिं।
हेहिति जोइ चरिमे अघाइ कम्माणि सरिसाणि ॥१७८३॥

इस प्रकार और भी वर्णन है इससे कहना पड़ता है कि जो जीव चौदहवें गुणस्थान में समुद्घात मानते हैं और आठवें समय में मुक्ति जाना बतलाते हैं, वे मूर्ख हैं, वे शास्त्री नहीं हैं।

प्रश्न—श्री जिनों में चौबीसी प्रतिमाओं में अगल बगल दोनों ओर श्री देवी अर्थात् लक्ष्मी और सरस्वती मूर्ति रहती है तथा जिनमूर्ति के पास यक्ष यक्षिणी की मूर्ति रहती है; सो यह बात है जिन अरहन्त देव की प्रतिमाओं के पास यक्षादिक की व सरस्वती आदि की मूर्ति हो उनको नमस्कार करना चाहिये या नहीं, उनकी पूजा करनी चाहिये या नहीं तथा जिनेन्द्र देव की प्रतिमा के अगल-बगल यक्षादिकों की मूर्ति शास्त्रोक्त है या किसी ने मन से कल्पना कर बनवा दी है ?

उत्तर—भगवान अरहन्त देव की प्रतिमा के साथ-साथ यक्षादिक की मूर्तियां अनादिकाल से चली आ रही हैं और अनन्त काल तक रहेंगी। यह कोई मन की कल्पना नहीं है, किंतु शास्त्रोक्त है। शाश्वत वा अनादिकाल से अनन्तकाल तक रहने वाली अकृत्रिम जिन प्रतिमाओं में भी इन चिन्हों के रहने का वर्णन है तथा अकृत्रिम प्रतिमाओं की आम्नाय के अनुसार ही कृत्रिम प्रतिमाएं बनाई जाती हैं।

इसलिये कृत्रिम प्रतिमाओं में भी ये चिन्ह अवश्य होने चाहिये। किसी-किसी जिन मंदिर में अब भी यक्षादिकों की मूर्ति सहित लगभग दो, दो हजार वर्ष पहले की जिन प्रतिमाएं विराजमान हैं, वे भला अपूज्य कैसे हो सकती हैं।

अकृत्रिम जिन प्रतिमाओं के साथ-साथ यक्षादिक वा लक्ष्मी सरस्वती की प्रतिमाओं का निर्णय श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती विरचित त्रिलोकसार में है। तथा जिनबिंब का कथन करते समय लिखा है। यथा—

दस ताल माण लक्खण भरिया पेक्खंत इव वदन्ता वा।
पुरु जिण तुङ्गा पढिमा रमणमया अट्ठ अहियसया ॥१७८४॥
चमर करणाग जक्खग वत्तीसं मिहुणगेहि पुहजुत्ता।
सरिसोए पत्तीए गब्भगिहे सुट्ठु सोहंति ॥१७८५॥
सिरिदेवी सुदेवी सव्वाण्ह सणकुमार जक्खाणं।
रुवाणिय जिणपासे मंगल मट्ठविहमवि होदी ॥१७८६॥

इस प्रकार लिखा है इसका भावार्थ यह है कि उस गर्भगृह में (श्रीमंडप में) एक सौ आठ प्रतिमाएँ विराजमान हैं। वे प्रतिमाएँ दस ताल (धनुष) ऊँची हैं। एक-एक प्रतिमा के दोनों ओर बत्तीस-बत्तीस यक्ष चमर लिये खड़े हैं तथा उन जिन प्रतिमाओं के दोनों ओर श्रीदेवी और सरस्वतीदेवी ये दोनों देवियां स्त्री का रूप धारण कर खड़ी हैं, सर्वाह्न और सनत्कुमार नाम के यक्षदेव अपने स्वरूप के अनुसार खड़े हैं। उन प्रतिमाओं के आगे आठ गुने अष्टमंगल द्रव्य रक्खे हैं। ये अष्ट मंगलद्रव्य प्रत्येक प्रतिमा के सामने अलग-अलग हैं। इन सब विभूतियों से शोभायमान उन प्रतिमाओं को इन्द्रादिक सम्यग्दृष्टि जीव पूजा करते हैं और वंदना करते हैं।

ऐसा त्रिलोकसार में लिखा है—

सुमूहूर्ते सुनक्षत्रे वाद्यवैभव संयुतः।
प्रसिद्ध पुण्यदेशेषु नदीनगधनेषु च ॥१७८७॥
सुस्निग्धां कठिनां सुस्पर्शां सुस्वरां शिलाम्।
समानीय जिनेन्द्रस्य बिंबं कार्यं सुशिल्पिभिः ॥१७८८॥
कषादिरोम हीनांगं श्मश्रु रेखा विवर्जितम्।
स्थितं प्रलंबितं हस्तं श्रीवत्साढ्यं दिगम्बरम् ॥१७८९॥

पल्यंकासनं वा कुर्याच्छिल्पि शास्त्रानुसारतः ।
निरायुधं राजतं वा पैत्तलं कांश्यजं तथा ॥१७९०॥
प्रवालं मौक्तिकं चैव वैडूर्यादिसुरत्नजम् ।
चित्रजं तथा लेप्यं क्वचिच्चंदनजं मतम् ॥१७९१॥
प्रातिहार्याष्टकोपेतं संपूर्णावयवं शुभम् ।
भावरूपानुविद्धांगं कारयेद्बिंबमर्हतः ॥१७९२॥
प्रातिहार्यैर्विना शुद्धं सिद्धबिम्बमयीदृशम् ।
सूरीणां पाठकानां च साधूनां यथागमम् ॥१७९३॥
वामे च यक्षीं बिभ्राणं दक्षिणे यक्षमुत्तमम् ।
नवग्रहाणधो भागे मध्ये च क्षेत्रपालकम् ॥१७९४॥
यक्षाणां देवतानां सर्वालंकार भूषितम् ।
स्ववाहनावलोपेतं कुर्यात्सर्वांग सुन्दरम् ॥१७९५॥

यह रीति अकृत्रिम प्रतिमाओं को अपेक्षाओं की अपेक्षा अनादि निधन है तथा परम्परा करके भी योग्य है ।

जो लोग धारणेन्द्र पद्मावती सहित (फणा सहित) श्री पार्श्वनाथ की प्रतिमा से अरुचि करते हैं, वे ठीक नहीं है । जो रीति शास्त्रोक्त है और परम्परा से चली आ रही है, उसमें संदेह नहीं करना चाहिये । जो रीति केवल मन की कल्पना से चलाई गई हो उसमें अरुचि करना ठीक है । प्राचीन जीतनी अर्हन्त प्रतिमायें हैं, वे अष्ट प्रातिहार्य और यक्षयक्षि सहित ही हैं, देवगढ़, सेरोनजी, खजराहो, पपोराजी, थोबनजी, बुदीचंदेरी आदि भारत में कला संस्कृति के केन्द्र हैं, वहां पर जो भी प्रतिमा अरहन्त भगवान की हैं, वह सब इसी प्रकार ही हैं, वर्तमान में सबसे प्राचीन क्षेत्र खारवेल महाराजा के समय का है जो खंडगीरि उदयगीरि के नाम से प्रसिद्ध हैं और आगम में भी इसी प्रकार की प्रतिमा बनाने का विधान है सो आगमोक्त ही है ।

प्रश्न :—क्या इन देवी-देवताओं की पूजा अर्चना भी करना चाहिये ?

उत्तर :—इन देवी-देवताओं की पूजा अर्चना इनके पद के अनुसार करनी चाहिये, वीतराग भगवान की तरह इनकी पूजा अर्चना नहीं करना चाहिये, क्योंकि ये देव चतुर्थगुणस्थानवर्ती हैं । इनकी पूजा सत्कारादि भी इनी के पद के योग्यतानुसार करना चाहिये । सोमदेव सूरी ने इसीलिये अपने उपासकाध्ययन में लिखा । सम्यग्दृष्टि

श्रावक को यज्ञांस देकर, उनका सन्मानादिक करना चाहिये ।

यतो यज्ञांस दानेन् माननीया सुदृष्टिभिः ।।१७६६।।

सोमदेव उपवासकाध्ययन

इसमें ऐसा करने में एक अपेक्षा है । श्रावक अपने इस लोक की सिद्धि के याने भोगों के लिये ऐसा करता है, जैसे विद्याधर लोग अथवा चक्रवर्ती आदि लोक करते हैं । विद्याधर लोग विद्याओं व मंत्रों की सिद्धि के लिये जो भी विद्या अथवा मन्त्रों के अधिष्ठाता देव अथवा देवी हैं, उनका पहले पूजा सत्कारादि करके फिर उन मन्त्रों को सिद्ध करते हैं । तब ही ये विद्याएं उनको सिद्ध होती हैं और उनके कार्य की सिद्धि करती है, अगर ये ऐसा नहीं करते तो उनको कभी विद्याएं सिद्ध नहीं हो सकती । ऐसा नियम है जिससे हमको कार्य कराना हो उसका सत्कारादि करना चाहिए ।

तद्भव मोक्षगामी नमी विनमि, कुंभकरण, मेघनाद, विभिषणादिक अनेक राजा जो सम्यक् दृष्टि थे, उन्होंने भी ऐसा किया भोगों की प्राप्ति के लिये । देखिये प्रकरण आदिपुराण नमि विनमि को धरणेन्द्र के द्वारा राज्य देते समय उपदेश । धरणेन्द्र ने कहा कि ये महाविद्याएं यहां के लोगों को इनकी इच्छानुसार फल दिया करती हैं । यहां विद्याधरों को जो महाप्रज्ञप्ति आदि विद्याएँ सिद्ध होती हैं, वे इन्हें कामधेनु के समान यथेष्ट फल देती रहती हैं वे विद्याएं दो प्रकार की हैं—

कुल जात्याश्रिता विद्यास्तपो विद्याश्चता द्विधाः ।
कुलाम्नाया गतः पूर्वायत्ने नाराधिताः पराः ।।१७६७।।
तासामाराधनोपायः सिद्धायतन संनिधौ ।
अन्यत्र वाशुचौ देशे द्विपाद्रि पुलिनादिके ।।१७६८।।
स पूज्य शुचि वेषेण विद्यादेव व्रताश्रितैः ।
महोपवासै राराध्या नित्यार्चन पुरः सरैः ।।१७६६।।
सिद्धियन्ति विधिनानेन महाविद्या न भोजुषाम् ।
पुरश्चरण नित्यार्चा जपहोमाद्यनुक्रमात् ।।१८००।।
सिद्धविद्यैस्ततः सिद्ध प्रतिमार्चनं पूर्वकम् ।
विद्या फलानि भोग्यानि विद्यद गमन चुञ्चुभिः ।।१८०१।।

आदिपुराण पर्व १६ पृष्ठ ४२० संपा. पं. पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर

एक तो ऐसी विद्यायें हैं जो कुल (पितापक्ष) अथवा जाति (मातृपक्ष) के आश्रित हैं और दूसरी वे हैं जो तपस्या से सिद्ध की जाती है। इनमें से पहली प्रकार की विद्यायें कुल परम्परा से ही प्राप्त हो जाती है। और दूसरे प्रकार की विद्यायें यत्नपूर्वक आराधना करने से प्राप्त होती हैं। जो विद्यायें आराधना से प्राप्त होती हैं उनकी आराधना का उपाय यह है कि सिद्धायतन के पास या द्वीप पर्वत या नदी के किनारें आदि किसी अन्य पवित्र स्थान में पवित्र वेषधारण कर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुये विद्या के अधिष्ठातृ देव-देवी की पूजा करे तथा नित्यपूजा पूर्वक महोपवास धारण कर उन विद्याओं की आराधना करे इस विधि से तथा नित्य पूजा जप होम आदि अनुष्ठान करने से विद्याधरों को वे महाविद्यायें सिद्ध हो जाती हैं। जिन्हें विद्यायें सिद्ध हो गई हैं ऐसे आकाशगामी विद्याधर लोग पहले सिद्ध भगवान की प्रतिमा की पूजा करते हैं और फिर विद्याओं के फल का उपभोग करते हैं।

इस प्रकार धरणेन्द्र के द्वारा प्रदत्त राज्य पाकर और विद्या सिद्ध करने का उपाय जानकर दोनों कुमार अत्यन्त आनन्दित हुये धरणेन्द्र भी अपना कार्य पूरा हुआ समझ अपने पाताल लोक को लौट गया।

पश्चात् उन दोनों कुमारों ने विधिपूर्वक अनेक विद्यायें सिद्ध की और विद्या में बड़े-बड़े पुरुषों के साथ मिलकर अपने अभिलषित अर्थ को सिद्ध किया, वे दोनों कुमार विद्याओं के आश्रय से प्राप्त तथा छहों ऋतुओं के सुख देने वाले भोगों को भोगने लगे।

विनमि और नमि तद्भव मोक्षगामी जीवों ने भी विद्यायें सिद्ध की निम्न श्लोक से प्रमाणित है कि सम्यक्त्वी भी आवश्यकतानुसार विद्यायें सिद्ध कर अपने लौकिक जीवन की सफलता प्राप्त करते थे।

विद्यासिद्धि विधिनियमितांमानयन्तौ ।
विद्यावृद्धैः समभि मतामर्थं सिद्धि प्रसिद्धिम् ॥१८०२॥
विद्याधीनान् षडतु सुखदान्निर्दिशन्तौ च भोगान् ।
तौ तत्रादौ स्थितिम भजतां खेचरैः संविभक्ताम् ॥१८०३॥

आ० जिनसेन० आदिपुराण पर्व १९ पृष्ठ ४४३

उपरोक्त कथन से प्रमाणित हुआ कि तद्भव मोक्षगामी जीव भी इह लोक सिद्धि के लिये विद्याएं सिद्ध करते थे और जब जो विद्यायें सिद्ध करनी होती उस विद्या के अधिष्ठाता देव या देवी की पूजा विनय आदर सम्मान भी करना पड़ता था। वर्तमान समय में अगर कोई सद्गृहस्थ किसी मंत्र विद्या का सहारा लेकर अपने ऐहिक कार्य की सिद्धि कर लेता है तो क्या वह जीव अभव्य या मिथ्यादृष्टि की कोटि में आ जायेगा ? नहीं आयेगा, क्योंकि उसका हेतु विद्या सिद्धि करने का है। और उन विद्याओं के सहारे से अपने पर आया संकट धर्मसंकट अथवा दूसरों पर आया संकट दूर करने का है।

वर्तमान में कुछ पंडित लोग अथवा विशेष आगमाभ्यास शून्य साधु लोग कहते हैं कि मंत्र विद्या वा यंत्र विद्या का प्रयोग करना कराना सहारा लेना मिथ्यात्व है क्योंकि प्रत्येक मंत्र विद्या का अधिष्ठाता देव होता है और उस देव का पूजन अर्चन करना आवश्यक होता है। सम्यग्दृष्टि वीतरागदेव को छोड़कर अन्य किसी को नहीं पूजता है।

यहां प्रश्न है कि उपरोक्त कथन में नमि विनमि राजकुमार क्या मिथ्यादृष्टि थे अथवा अभव्य थे, जो उन्होंने विद्याएँ सिद्ध की और उनके अधिष्ठाता देव की पूजा अर्चा की, क्या जिनसेन स्वामिजी ने आदिपुराण में असद् निरुपण किया है ? विद्वान विचार करें।

हमें आचार्यों के मन्तव्यों की ओर ध्यान देना चाहिये पंडितों के मंतव्यों की ओर नहीं, कुछ गृहस्थ पंडितों ने अपनी परम्परा का पोषण करने के लिये ही निषेध किया है।

आगे विरनन्दी स्वामी एक स्त्रोत बनाने के पहले शासन देव के विषय में अपना मन्तव्य लिखते हैं ?

"स्त्रोत को प्रारम्भ में शंका समाधान करते हुये लिखते हैं"—

काव्यं श्रीमद्गीर्वाणेति न तु च महतः "सूरे" तपस्विनोऽस्मिन् स्तवकरणे कथं सम्यक्त्व शुद्धि जातेती प्रश्ने प्रत्युत्तरमारं मोक्ष मार्ग प्रत्युद्यतस्य सम्यक्त्वस्य सहितस्य तपस्विनो मुनेः सम्यक्त्वबंधनिका जातास्तंवंचाग्निमोक्षमार्गार्हत्वेन तस्य समुद्यमो न तस्य तु मिथ्यमत्कारकारी चितापेक्षा श्रावकाणां यथोपदिष्टं यथाभिलषित—समीहित

सिध्दयर्थमन्त्र लौकिक मिथ्यात्वाऽपोहार्थं जिनधर्म समुद्योतनार्थं श्रावकाभिप्रायेण पक्षिणामपि समुत्पत्यनन्तर दृष्टनात् सम्यक्त्वानां यथालब्ध स्वकीय नियोगी सेवावसराणां सत्यकायधत्वं समुचितं (न) तु इयं देवी मोक्ष मार्ग फल दायकेति बुद्धयासत्कारार्हत्वं तस्य तु व्यवहार विधौ सोपदेश निराकरणम् किं तदा पंच नमस्कार सेवनं तथा तीर्थङ्कर यक्ष यक्षिणां परिहार निमित्तं सेवन विधानं समुपदिशत्येव न तु स्वयमाराधकाः "स्यात्" न तु विराधकः "स्यात्" कथं पार्श्व प्रतिमादेरुपरिदृष्टत्वादनादि-निधनरचनेमिति तथा चरणादौ इष्टत्वादपि चिंतामण्यादेः कथं निरपेक्षत्वं तथा सर्वेषां संहिता शास्त्राणां प्रतिष्ठाशास्त्राणां शिल्पशास्त्राणां प्रायश्चित्तशास्त्राणाम् नादरो भवति ? तदसत्कारे स्तथा यशस्तिलक देवसेनकृत भावसंग्रह वामदेव वृत्त वसुनन्दी श्रावकाचार महापुराण लघुसकलकीर्ति आदि शास्त्राणां भट्टारक शुभचन्द्र कृत शास्त्राणां व्रत कथा कोशादीनाम् नादरो भवति तेन सत्कारर्हत्वं समुचितं एतत्सत्कारे प्रथमानुयोगोपदिष्ट दानं फलादिकारसापेक्ष्य-पद्मावत्यादि कथा भंगोऽपि यथास्यास्तथा समंतभद्र-पात्रकेशरी अकलंकाद्युपसर्गविघ्नमपि स्यादनृतमेव तथा सकलकीर्तिना श्रीपालस्त्री शीलरक्षार्थं सर्वा जिनशासन रक्षिका नानाविद्योपसर्ग रक्षार्थं सर्वा जिनशासन रक्षिका नानाविधोपसर्गं कुर्वत्यः धवलं प्रति "समागता" एतत्कथानक मुक्तं तदायं मृतमेव स्यात् "तथाचाकृत्रिमचैत्यालय विन्यासे सर्वान्हं सनतकुमार श्री देवी श्रुतदेवीत्यादि यक्षिणी यक्षक्रिया सोऽपि त्रिलोकसारे नेमिचन्द्रैः रक्तं सोऽपि त्यलीक एव स्यादित्यतः शतधा मिथ्यादृष्टिनां जिनधर्म विराधकानां 'वाक्य' खण्डनं दृष्टवा नादिकालीन यक्षिणि यक्ष विन्यासं तथाराधनविधानं "योग्यमेव" सेव्यं न तु व्याप्यं तथा परमार्थं देवता जिनदेवः सः सत्यदेवः क्रियादेवश्चक्र छगादिक यज्ञविधानं व्यवहार देवता रक्षा देवता कुलदेवता पद्मावत्यादिरित्यादि कथनमपि पंचधा विवर्णं चारेषु दृष्टं कथमुदितो भास्करोप्यनुदितः समुदीर्यते"

इस संस्कृत उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि शासन देवी देवताओं को अर्हंत समान मानकर अभिलाषा से स्तवन पूजन आराधना की जायेगी तो अवश्य सम्यक्त्व की हानि होगी। वह मिथ्यात्व होगा अनन्त संसार का कारण होगा, धर्म की महिमा दिखाने के लिये संसारिक जीवन सुखी बनाने के लिये धर्मोद्योत करने के लिये शासन देवी देवता का आदर पूजा स्तवन करना दोष नहीं। इसमें मिथ्यात्व और मूढ़ता नहीं है। अपितु सम्यक्त्व का पोषण है। मानलो यदि मिथ्यादृष्टि भूत-प्रेत व्यन्तर

सता रहा है। जिससे धर्मध्यान में बाधा आती है। तब मुनिराज व साधु उसके निराकरणार्थ उपाय बतलाकर उसकी रक्षा करते हैं। साथ ही पंचनमस्कार मन्त्र की आराधना करने का आदेश देते हैं। तब वह मिथ्यात्व नहीं। यदि मिथ्यात्व समझा जायगा तो "जैनसंहितायें" प्रतिष्ठाशास्त्र शिल्पशास्त्र प्रायश्चित्त शास्त्र तिरस्कृत हो हो जायेंगे अनादरणीय हो जायेंगे। ऐसा समझने पर यशस्तिलक चम्पू देवसेन द्वारा रचित भावसंग्रह वामदेव रचित शास्त्र वसुनन्दी श्रावकाचार, महापुराण लघुसकलकीर्ति शुभचन्द्र भट्टारक कृतशास्त्र कथा कोष अनादरणीय हो जायेंगे। प्रथमानुयोग कथा पुराण सभी झूठे हो जायेंगे किन्तु ऐसा नहीं है। सभी कथायें, चमत्कार एवं घटनाएँ सत्य और जिन प्रणीत हैं। अकृत्रिम जिन चैत्यालयों में अकृत्रिम जिनबिम्ब यक्ष यक्षिणी सहित है। यह त्रिलोकसार में श्री नेमीचन्द्राचार्य ने लिखा है—मिथ्यादृष्टि देवों के निषेध के लिये सम्यग्दृष्टि देवों की पूजा सत्कार योग्य ही है। ताकि सत्य देवाराधना निर्विघ्न हो।

[जयपुर से हस्तलिखित डायरी, पं. कन्हैयालाल जी से प्राप्त]

अब चक्रवर्ती क्षायिक सम्यक्दृष्टि किंचित भोगों की इच्छा पूर्ति के लिये चक्ररत्न और अस्त्रों की पूजा करता है।

इसके बाद और देखिये षट खण्डाधिपति की आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न होता है। वह चक्ररत्न जो अजीव है, उसकी भी चक्रवर्ती अष्टद्रव्य से पूजा करता है।

अथ चक्रधरः पूजां चक्रस्य विधिवत् व्यधात्।
सुतोत्पत्ति श्रीमानभ्यनन्दवतु क्रमात्॥

अथान्तर श्रीमान् चक्रवर्ती भरत महाराज ने विधि पूर्वक चक्ररत्न की पूजा की और फिर अनुक्रम से पुत्र उत्पन्न होने का आनन्द मनाया।

आदिपुराण पर्व २६ पृष्ठ नं. १ जिनस्वामी कृत—

भरत चक्रवर्ती ने मगध देव को जीतने के लिये भी मन्त्र तन्त्रों का सहारा लिया था, क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर भी।

अधिवासित्जैत्रास्त्रः स त्रिरात्र मुपोषितान्।
मन्त्रानुस्मृति पूजात्मा सूचितल्योपगः शुचिः॥१८०३॥

जिसने मन्त्र तन्त्रों से विजय के शस्त्रों का संस्कार किया है। तीन दिन

उपवास किया हो, मन्त्र के स्मरण से जिसकी आत्मा पवित्र है।

आदिपुराण पर्व २८ पृष्ठ ३, द्वितीय भाग

अस्त्रों की पूजा का प्रमाण—

पुरोहित सरवस्तत्र कृतोप वसनक्रियः।
अध्यशेत शुचि शय्यांदि व्यास्त्राभ्यधि वासयनः ॥१८०४॥

यहां उन्होंने पुरोहित के साथ-साथ उपवासकर और दिव्य अस्त्रों की पूजा आभ की पवित्र शय्या पर शयन किया। यहां प्रश्न होता है कि भरत चक्रवर्ती को अस्त्रों की पूजा करना क्या आवश्यक थी? क्या वह मिथ्यात्वी था? नहीं किन्तु यह व्यवहार है। उसको इस प्रकार का करना ही पड़ता है जिनसे काम लेना है, उनका आदर सत्कार करना परमावश्यक है। चाहे वह क्षायिक सम्यग्दृष्टि क्यों न हो।

आदिपुराण पर्व ३२ पृष्ठ ११६, उत्तरार्द्ध द्वि. खण्ड

इत्यादि अनेक आचार्यों के मन्तव्य आगम में लिखे हुए हैं। सो सम्यग्दृष्टि श्रावक को उनके पद के योग्य उनका सन्मान करना ही चाहिये। अगर उनसे किसी को द्वेष है तो सन्मान नहीं तो अपमान भी नहीं करना चाहिये। हमारे यहां द्वादशांगश्रुत में दसवां विद्यानुवाद पूर्व है, उस विद्यानुवाद पूर्व में, महाविद्या और क्षुद्रविद्याओं का ही वर्णन है और देव देवियों से ही सम्बन्धित वर्णन है और इन विद्याओं को सम्यग्दृष्टि श्रावक या मिथ्यादृष्टि जीव दोनों ही भोगों के लिये सिद्ध करते हैं—ऐसा आगम का वचन है।

हां, ये विद्याएं निर्ग्रन्थ भावलिंगी मुनि सिद्ध नहीं करते। इन साधुओं को विद्यानुवाद पूर्व का पाठ करते समय स्वतः सिद्ध हो जाती हैं। लेकिन वीतरागी साधुओं को भोगों की इच्छा नहीं रहती, इसलिए उन स्वतः सिद्ध हुई विद्याओं को कह देते हैं कि हमें तुमसे कोई कार्य नहीं है। अगर धर्म-प्रभावनार्थ, धर्म-रक्षणार्थ कोई साधु निःस्वार्थ भाव से मन्त्रविद्याओं का सहारा लेता है, तो कोई दोष नहीं है।

प्रभावना च प्रभाव्यते मार्गोऽनयेति प्रभावना, वाद, पूजा, व्याख्यान, मन्त्र, तन्त्रादिभिः सम्यगुपदेशैर्मिथ्यादृष्टि रोधं कृत्वार्हद् प्रणित शासनोद्योतनम्।

मूलाचार आ. कुन्द. टी. पृ. १७४

जिसके द्वारा मार्ग को प्रभावशील किया जाता है, वह प्रभावना है। वाद, शास्त्र, पूजा, सिद्धचक्रविधान महोत्सव आदि, दान, आहार, औषधि, अभय, व्याख्यान,

मन्त्र तन्त्रादिक से और इनके समीचीन उपदेश से मिथ्यादृष्टि के प्रभाव को रोक कर अर्हन्त भगवान-कथित जैन शासन का उद्योत करना प्रभावना है ।

विजयोदया--मन्ताभि ओग को दुग भूई कम्मं मन्त्राभियोग क्रियां, कुतूहलोपदर्शन क्रियां, बालादीनां रक्षार्थं भूति कर्म च । ययुंजदे करोति यः । अभियोग भावणं कुणइ । अभियोग्यां भावनां करोति । किं सर्व एव मन्त्राभियोगादौ प्रवृत्तो नेत्याह, इद्धि रस साद हेदुं मन्ताभियोग को दुग भूई कम्मं जो पउंजदे सो अभियोगभावणं कुणइ । द्रव्यलाभस्य, मृष्टाशनस्य, सुखस्य वा हेतु मन्त्राद्यभियोग कर्म प्रयुंक्ते यः स एव अभियोग्य भावनां करोति । तेन यः स्वस्य परस्य वा आयुरादि परिज्ञानार्थं मन्त्राभियोगं कुर्वन्, धर्मप्रभावनार्थं कौतुकं उपदर्शयन् वैयावृत्यं वा प्रवर्तयामीति उद्यतः ज्ञान दर्शन चारित्र परिणामादर वर्तनान्नदुष्यतीतिभावः ।

कुमारी वगैरह में भूत का आवेश उत्पन्न करना, अकाल में वृष्टि करके दिखाना ऐसे ही आश्चर्य कारक प्रयोग करना जैसे अमावस्या के दिन आकाश में लोगों को चन्द्र दिखाना इत्यादि, किसी स्त्री या पुरुष को वश करना, उच्चारण करना, इत्यादि बालकादिकों का रक्षण करने के लिए भूति कर्म मंत्र प्रयोग करना अथवा भूतों की क्रीड़ा दिखाना ये सब क्रियायें यदि अपना ऐश्वर्य दिखाने के लिये अथवा सम्पदा दिखाने के लिये, मिष्टाहार के लिये किंवा इन्द्रिय जनित सुख के लिये यदि मुनि करेगा तो उसकी यह अभियोग्य भावना कही जायेगी, इस भावना के प्रभाव से जीव का जन्म वाहन जाती के देवों में हो जाता है, यदि कोई मुनि निज की अथवा दूसरों की आयु वगैरह जानने के लिये मंत्रप्रयोग करेगा, धर्मप्रभावना के लिये यदि वह कौतुक कारक अकाल वृष्टयादिक दिखावेगा अथवा इन मंत्रादिकों से मैं मुनि का वैयावृत्य करूंगा, ऐसा अभिप्राय मन में धारण कर यदि वह कौतुकादि करेगा तो दर्शन, ज्ञान, चारित्र परिणामों में आदर से प्रवृत्ति करने वाला होने से दूषणीय नहीं है ।

भगवती आराधना (मूला. रा.) पृ. ४०० गा. नं० १८२

किसी साधु की समाधि कब होगी, इसको जानने के लिये संघाधिपति आचार्य क्षपक की समाधि ज्ञान करने के लिए देवता को पूछते हैं---

सव्वयस्सुव संपण्णस्स तस्स आराधणा अविक्खेवं ।
दिव्वेणणिमित्तेण य पडिलेहदि अप्पमत्तो सो ॥१८०५॥

आराधनागतं क्षेमं क्षपकस्य समीपुषः ।
दिव्येन निःप्रमादोऽसौ निमित्तेन परीक्षते ॥१८०६॥

खवगस्स क्षपकस्य, उवसंपण्णस्स अत्यंतिकमुपाश्रितस्य । तस्स तस्य । आराहणा अविक्खेवं आराधनाया अविक्षेपं । पडि लेहदि परीक्षते । कः ? सो स सूरिर्यापकः । अप्पमत्तो अप्रमत्तः । केण दिव्वेण देवतोपदेशेन । णिमित्तेणनिमित्तेण वा इयमेका परीक्षा ।

हमारे संघ के इस क्षपक ने समाधि के लिए आश्रय लिया है, इसकी समाधि निर्विघ्न समाप्त होगी या नहीं, इस विषय का भी आचार्य देवता के उपदेश से अथवा शुभाशुभ निमित्तों से निर्णय कर लेते हैं; यह भी एक परीक्षा है ।

साधु की आलोचना आचार्य कहां सुनें—

अरहंत सिद्ध सागर पउसरं रवीरंपुप्फ फल भरियं ।
उज्जाण भवण तोरण पासादं णागजक्ख घरं ॥१८०७॥
जिनेन्द्र यक्ष नागादि मंदिरं चारु तोरणम् ।
सारः स्वच्छ पयः पूर्णं पद्मिनी षंड मंडितम् ॥१८०८॥
णागजक्खघरं । नागानां यक्षाणां च गृहं ।

अर्हन्त का मन्दिर, सिद्धों का मन्दिर, अर्हन्त और सिद्धों की जहां प्रतिमा है ऐसे पर्वतादिक, समुद्र के समीप का प्रदेश, जहां क्षीर वृक्ष हैं, जहां पुष्प और फलों से लदे हुए वृक्ष हैं ऐसे स्थान, उद्यान तोरणद्वार सहित मकान, नागदेवता मन्दिर, यक्ष मन्दिर ये सब स्थान क्षपक की आलोचना सुनने के योग्य हैं ।

भगवति आ. (मू.आ.) आ. शिवकोटि (शिवार्य)

उपरोक्त विवरण से ये मालूम पड़ता है कि दिगम्बराचार्य भी इन विद्या, मन्त्रों व देवता का सहारा लेते थे विशेष कार्य के लिये, और आलोचना भी यक्षों के मन्दिरों में जाकर सुनते थे । अगर ये यक्ष मिथ्यादृष्टि होते तो इनसे क्यों पूछते अथवा इनके मन्दिर में आचार्य लोग क्यों जाते, मिथ्यादृष्टिओं के मन्दिर में जाना ही हमारे यहां निषेध है अथवा मन से, वचन से, काय से मिथ्यादृष्टि देवों को मान्यता देना अनायतन सेवा है । अनायतन सेवने वाला कभी सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता । इससे सिद्ध होता है कि ये देवी देवता सम्यग्दृष्टि ही हैं और इनकी योग्यतानुसार इन देवी-देवताओं का सन्मानादि करना ही चाहिए । वीतराग भगवान की पूजा पञ्चोपचारी

है और देवी-देवताओं की पूजा षोडशोपचारी है। पूजा-पूजा में भी अन्तर है। विवेक से कार्य करे तो कोई दोष नहीं।

अष्टविध द्रव्यार्चना करने से क्या फल मिलता है अलग-अलग द्रव्य से पूजा करने का क्या फल है। और जिन मंदिर बनाना, मूर्ति स्थापन करना और पूजा करना, ऐसा करने वालों को क्या फल मिलता है ?

कुत्थुं भरिदलमेत्तो जिणभवणे जो ठवेइ जिणपडिमं।
सरिसवमेत्तं पि लहेइ सो णरो तित्थयर पुण्णं ॥१८०९॥
जो पुण जिणिंदभवणं समुण्णयं परिहि-तोरणसमग्गं।
णि[illegible] को सक्कर वोण्णउं सयलं ॥१८१०॥

जो मनुष्य कुथुंभरी (धनिया) के दलमात्र अर्थात पत्र बराबर जिनभवन बनवाकर उसमें सरसों के बराबर भी जिनप्रतिमा को स्थापन करता है। वह तीर्थंकर पद पाने के योग्य पुण्य कोई प्राप्त करता है। तब जो कोई अति उन्नत और परिधि, तोरण आदि से संयुक्त जिनेन्द्र भवन बनवाता है। उसका समस्त फल वर्णन करने के लिये कौन समर्थ हो सकता है ?

जलधारासिक्खेवेण पावमल सोहणं हवे णियमं।
चंदणलेवेण णरो जावइ सोहग्गसंपण्णो ॥१८११॥

पूजन के समय नियम से जिन भगवान के आगे जलधारा को छोड़ने से पाप रूपी मैल का संशोधन होता है। चंदनरस के लेप से मनुष्य सौभाग्य से सम्पन्न होता है।

जायइ अक्खयणिहि-रयणसामिओ अक्खएहि अक्खोहो।
अक्खीणलद्धिजुत्तो अक्खयसोक्खं च पावेइ ॥१८१२॥

अक्षतों से पूजा करने वाला मनुष्य अक्षय नौ निधि और १४ रत्नों का स्वामी चक्रवर्ती होता है। सदा अक्षोभ अर्थात रोग शोक रहित निर्भय रहता है अक्षीण लब्धि से सम्पन्न होता है और अन्त में अक्षय मोक्ष सुख को पाता है।

कुसुमेहिं कुसेसयवयणु तरुणीजणयण कुसमवरमाला।
वयणच्चियदेहो जायइ कुसुमाउहो चेव ॥१८१३॥

पुष्पों से पूजा करने वाला मनुष्य कमल के समान सुन्दर मुख वाला तरुणी जनों के नयनों से और पुष्पों की उत्तम मालाओं के समूह से देहवाला कामदेव होता है।

जायइ णिविज्जवाणेण सत्तिगो कंति-तेय संपण्णो।
लावण्ण जलहि वेला तरंग संपाविय सरीरो ॥१८१४॥

नैवेद्य के चढाने से मनुष्य शक्तिमान, कांति और तेज से सम्पन्न और सौन्दर्य रूपी समुद्र की वेला (तट) वर्ती तरंगों से संप्लावित शरीर वाला अर्थात् अति-सुन्दर होता है।

दीवेहि दीवियासेजीवदव्वाइ तत्त्व सब्भावो।
सब्भावजणिय केवलपईवतेएण होइ णरो ॥१८१५॥

दीपों से पूजा करने वाला मनुष्य सद्भावों के योग से उत्पन्न हुये केवलज्ञान रूपी प्रदीप के तेज से समस्त जीवद्रव्यादि तत्वों के रहस्य को प्रकाशित करने वाला अर्थात् केवलज्ञानी होता है।

धूवेण सिसिटयरधवलकित्तिधवलियजयत्तओ पुरिसो।
जायइ फलेहि संपत्त परमणिव्वाण सोक्खफलो ॥१८१६॥

धूप से पूजा करने वाला मनुष्य चन्द्रमा के समान धवल कीर्ति से जगत्त्रय को धवल करने वाला अर्थात् त्रैलोक्यव्यापी यश वाला होता है। फलों से पूजा करने वाला मनुष्य परम निर्वाण का सुखरूप फल पाने वाला होता है।

घंटाहि घंट सद्दाउलेसु पवरच्छराणमज्झम्मि।
संकीडइ सुरसंघायसेविओ वर विमाणेसु ॥१८१७॥

जिनमन्दिर में घंटा समर्पण करने वाला पुरुष घंटाओं के शब्दों से आकुल अर्थात् व्याप्त श्रेष्ठ विमानों में सुर-समूह से सेवित होकर प्रवर अप्सराओं के मध्य में क्रीडा करता है।

छत्तोहि एयछत्तं भुंजर पुहवी सवत्तपरिहीणो।
चामरदाणेण तहा विज्जिज्जइ चमरणिवहेहिं ॥१८१८॥

छत्र प्रदान करने से मनुष्य शत्रुरहित होकर पृथ्वी को एक छत्र भोगता है। तथा चमरों के दान से चमरों के समूहों द्वारा परिवीजित किया जाता है अर्थात् उसके ऊपर चमर ढोरे जाते हैं।

अहिसेयफलेण णरो ग्रहिंतिविज्जइ सुदंसणस्सुवरिं ।
खीरोय जलेण सुरिंदप्पमुह देवेहिं भत्तीए ॥१८१९॥

जिन भगवान के अभिषेक करने के फल से मनुष्य सुदर्शन मेरु के उपर क्षीर-सागर के जल से सुरेन्द्र प्रमुख देवों के द्वारा भक्ति के साथ अभिषिक्त किया जाता है ।

विजय पडाएहिं णरो संगाम मुहेसु विजइओ होइ ।
छक्खंड विजयणाहो णिप्पडिवक्खो जसस्सी य ॥१८२०॥

जिन मंदिर में विजयपताकाओं के देने से मनुष्य संग्राम के मध्य विजयी होता है । तथा षट् खण्डरूप भारत वर्ष का निष्प्रतिपक्ष स्वामी और यशस्वी होता है।

किं जंपिएण बहुणा तीसु वि लोएसु किं पि जं सोक्खं ।
पूजा फलेण सव्वं पाविज्जइ णत्थि संदेहो ॥१८२१॥

अधिक कहने से क्या लाभ है ? तीनों ही लोकों में जो कुछ भी सुख है । वह सब पूजा के फल से प्राप्त होता है इसमें कोई संदेह नहीं है ।

यहां ऐसा विशेष और जानना जो जिनेन्द्र के पूजन से समस्त च्यार प्रकार के देव तो कल्प वृक्षनितैं उपजे गन्ध, पुष्प, फलादि सामग्री करि पूजन करै है अर सौधर्म इन्द्रादिक सम्यग्दृष्टि देव हैं, ते तो जिनेन्द्र की भक्ति पूजन स्तवन करके ही अपनी देव पर्याय कूं सफल मानैं अर मनुष्यनि में चक्रवर्ती नारायण बल भद्रादिक राजेंद्र हैं हैं, ते मोतीनिके अक्षत रत्ननिके पुष्प फल दीपकादिक तथा अमृत पिंडादिकरि जिनेन्द्र का पूजन स्तवन नृत्य गानादिककरि महापुण्य उपार्जन करै है । अर अन्य मनुष्यनि में हू जिनके पुण्य के उदयतैं सम्यक उपदेश के ग्रहणतैं जिनेन्द्र के आराधन में भक्ति उत्पन्न होय ते समस्त जाति कुल के धारक यथायोग्य पूजन करैं हैं ।

समस्त ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र अपना-अपना सामर्थ्य अपना-अपना ज्ञान कुल बुद्धि सम्पदा संगति देशकाल के योग्य अनेक स्त्री पुरुष नपुंसक धनाढ्य निर्धन सरोग नीरोग जिनेन्द्र का आराधन करैं हैं । केई ग्रामनिवासी हैं । केई नगर निवासी हैं केई वन निवासी हैं । केई अति छोटे ग्राम में बसने वाले हैं । जिनमें केई तो अति उज्जवल अष्ट प्रकार सामग्री बनाय पूजन के पाठ पढिकरि पूजन करैं हैं, केई कोरा सूका जव गेहूँ, मक्का, बाजरा, उडद, मूंग, मोठ इत्यादिक धान्य की मूठी त्याय

जिनेन्द को चढावैं हैं कोई रोटी चढावैं हैं, केई रावड़ी चढावैं हैं, केई अपनी बाडीतैं पुष्प ल्याय चढावैं हैं केई नाना प्रकार के हरित फल चढावैं है केई दाल भात अनेक व्यंजन चढवैं हैं। केई नाना मेवा चढावैं हैं। केई मोतीनिके अक्षत माणिक निके दीपक सुवर्ण रूपानिकै तथा पंच प्रकार रत्ननिकरि जड़े पुष्प फलादि चढावै हैं केई दुग्ध केई दही केई घृत चढावैं हैं। केई नाना प्रकार के घेवर, लाडु, पेड़ा, बरफी, पूड़ी, पूवा इत्यादिक चढावैं हैं। केई वंदना मात्र ही करैं हैं, केई स्तवन गीत नृत्य वादित्र ही करैं हैं। केई अस्पर्श्यशूद्रादिक मन्दिर के बाह्य ही रहि मन्दिर के शिखर की तथा शिखरनि में जिनेन्द्र के प्रतिबिंब का ही दर्शन वन्दना करैं हैं।

ऐसें जैसा ज्ञान जैसी संगति जैसी सामर्थ्य जैसी धन सम्पदा जैसी शक्ति तिस प्रमाण देशकाल के योग्य जिनेन्द्र का आराधक अनेक मनुष्य हैं। ते वीतराग का दर्शन स्तवन पूजन वन्दनाकरि भावनि के अनुकूल उत्तम मध्यम जघन्य पुण्य का उपार्जन करैं हैं। यो जिनेन्द्र का धर्म जाति कुल के आधीन नाहीं, धन सम्पदा के आधीन नाहीं बाह्य क्रिया के आधीन नाहीं हैं, बाह्य क्रिया के आधीन नाहीं है। अपने परिणामनिकी विशुद्धता के अनुकूल फलै है। कोऊ धनाढ्य पुरुष अभिमानी होय यश का इच्छुक होय मोतीनि के अक्षत माणिकानि के दीपक रत्नसुवर्ण के पुष्प निकरि पूजन करैं हैं अनेक वादित्र नृत्यगान करि बड़ी प्रभावना करै हैं तो हू अल्प पुण्य उपार्जन करैं वा अल्प हू नाहीं करै केवल कर्म का बन्ध ही करै हैं कषायनि के अनुकूल बन्ध होय है। केई अपने भावनि की विशुद्धतातैं अति भक्ति रूप हुआ कोऊ एक जल फलादिक करि वा अन्त-मात्र करि वा स्तवन मात्र करि महापुण्य उपार्जन करै हैं तथा अनेक भवनि के संचय किये पाप कर्म की निर्जरा करै हैं, धनकरि पुण्य मोल नाहीं आवे हैं। जे निर्वांछिक है मन्दकषायी, ख्याति लाभ पूजादिक कूं नाहीं बांछा करता केवल परमेष्ठी का गुणौ में अनुरागी हैं तिनके जिनपूजन अतिशय रूप फलकूं फलै हैं।

अब यहां जिन पूजन सचित्त द्रव्यनि तैं हू अर अचित्त द्रव्यनि तैं हू आगम में कह्या है, जे सचित्त के दोषतैं भयभीत हैं, यत्नाचारी हैं, ते तो प्रासुक जल गन्ध अक्षत कूं चन्दन कुंकुमादिक तैं लिप्त करि सुगंध रङ्गीन में पुष्पनिका संकल्प करि पुष्पनि तैं पूजै हैं तथा आगम में कहे सुवर्ण के पुष्प वा रूपा के पुष्प तथा रत्न जडित सुवर्ण के पुष्प तथा लवंगादिक अनेक मनोहर पुष्पनिं करि पूजन करैं हैं अरु प्रासुक ही बहु आरम्भादिक रहित प्रमाणीक नैवेद्य करि पूजन करै हैं। बहुरि रत्ननिके दीपक वा सुवर्ण

रूपामयदीपकनि करि पूजन करैं हैं तथा सचिक्कण द्रव्यनिके केसर के रङ्गादितैं दीप का संकल्प करि पूजन करैं हैं तथा चन्दन अगरादिक कूं चढ़ावै हैं तथा बादाम, जायफल, पूंगीफलादिक अवधि शुद्ध प्रासुक फलनितैं पूजन करैं हैं एसै तो अचित्त द्रव्यनि करि पूजन करै हैं।

बहुरी जे सचित्त द्रव्यनि तैं पूजन करैं हैं ते जल गन्ध अक्षतादि उज्वल द्रव्यनि करि पूजन करैं हैं अर चमेली चंपक, कपक, कमल, सोन जाई इत्यादिक सचित्त पुष्पनि तैं पूजन करै हैं, घृत का दीपक तथा कपूरादिक दीपकनि करि आरति उतारै हैं अर सचित्त आम्र, केला, दाडिमादिक फल करि पूजन करैं हैं धूपार्थनि में धूपदहन करैं हैं एसैं हैं सचित्त द्रव्यनि करि हू पूजन करिये हैं।

दोऊ प्रकार आगम की आज्ञा प्रमाण सनातनमार्ग है, अपने भावनिके आधीन पुण्य बन्ध के कारण हैं।

रत्न करंड श्रावका. टीका. पं. सदासुखजी, श्लोक नं. ११९

प्रश्न :—सिद्ध परमेष्ठि की अवगाहना अंतिम शरीर से कुछ कम बतलाई है सो कितनी कम होती है?

उत्तर :—जिस शरीर से केवली भगवान मुक्त होते हैं उसका तीसरा भाग कम हो जाता है। दो भाग प्रमाण सिद्धों की अवगाहना होती है जैसे तीन धनुष के वाले मनुष्य की अवगाहन सिद्ध अवस्था में जाकर दो धनुष की अवगाहना के समान रह जाती है। सो ही सिद्धांत सार प्रदीपक में लिखा है—

गतसिक्थायमूषायां आकाशाकार धारिणः।
प्राक्कायायाम विस्तार त्रिभागो न प्रदेशकाः ॥१८२२॥
लोकोत्तमशरण्याश्च विश्वमंगलकारकाः।
अनंतकाल मात्मानो तिष्ठन्त्यंतातिगाः सदा ॥१८२३॥
इशे सिद्धा मया ध्येया वंद्या विश्वमुनीश्वरैः।
स्तुताश्च मम कर्वन्तु स्वगति स्वगुणैः समम् ॥१८२४॥

त्रिलोक प्रज्ञप्ति में भी लिखा है—

देहे भावा हरल चरमभवे जस्स जारि संठाणं।
तत्तो तिभागहीणं नुग्गहणा सव्वसिद्धाणं ॥१८२५॥

इस प्रकार जिनागम में लिखा गया है।

जो जीव केवल नख, केश रहित सिद्धों की अवगाहना मानते हैं, सो भ्रम है। इसलिये ऊपर लिखे अनुसार श्रद्धान करना योग्य है।

प्रश्न :—भगवान तीर्थंकर जब गर्भ में आते हैं, उस दिन से छह महीने बाद ही जन्म होने के तक अर्थात् पंद्रह महीने तक कुबेर इन्द्र की आज्ञा से रत्नों की वर्षा करता है। सो प्रतिदिन कितनी बार करता है और कौन-कौन समय करता है ?

उत्तर :—वह रत्नों की वर्षा भगवान के माता पिता के घर चार बार होती है, सवेरे, दोपहर को, सायंकाल को और आधि रात के समय। तथा एक-एक बार में साढ़े तीन करोड़ रत्नों की वर्षा होती है। इस प्रकार पंद्रह महीने तक बराबर होती रहती है। सो ही लिखा है—

पुव्वण्हे मज्झण्हे अवरण्हे मज्झिमायरयणीये।
आहट्ठय कोडीओ रयणाणं वरिसेऊ ॥१८२६॥

इस प्रकार प्रतिदिन चारों समय में चौदह करोड़ रत्न बरसते हैं।

प्रश्न—केवली भगवान की दिव्यध्वनि नियम से तीन बार खिरती है, ऐसा सुनते हैं, सो क्या ये बात ठीक है ?

उत्तर—केवली भगवान की दिव्यध्वनि प्रतिदिन चार बार खिरती है। प्रातःकाल, मध्यान्हकाल, सायंकाल और अर्द्धरात्रि इन चारों समय में छह-छह घड़ी तक दिव्यध्वनि खिरती है। इन चार समय के सिवाय पदवीधर और महापुण्यवान पुरुषों के प्रश्न पर दूसरे समय भी खिरती है। इससे सिद्ध होता है कि चार समय तो नियम से खिरती है तथा इनके सिवाय भी यथेष्ट कारण मिलने पर खिरती है सो ही लिखा है—

पुव्वण्हे मज्झण्हे अवरण्हे मज्झमाय रयणीये।
छच्छ घडीये णिग्गइ दिव्वधुणी जिणवरिंदाणं ॥१८२७॥

प्रश्न—स्वयंभूरमण समुद्र में रहने वाला सलिसित्थ नाम का मत्स्य अपने शरीर से तो कुछ हिंसा आदि पाप करता ही नहीं है। केवल हिंसा करने के पाप को मन से चिन्तवन करता रहता है और उसी

मानसिक पाप से (हिंसा किये बिना ही) वह सातवें नरक जाता है जो उसको बाह्य हिंसा करने के बिना ही पाप किस प्रकार लग जाता है ?

उत्तर—तुम्हारा कहना तब सत्य हो सकता है जब कि पाप केवल शरीर से ही लगते हों परन्तु पाप तो मन वचन काय तीनों योगों से बराबर लगते हैं, मोक्ष-शास्त्र में लिखा है; "प्रमत्त योगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा" अर्थात् कषायों के उत्पन्न होने पर प्राणों का व्यपरोपण व घात होना हिंसा है। इसी वचन के अनुसार उसे सातवें नरक में जाना पड़ा। इसी सूत्र की श्रुत सागरी टीका में एक श्लोक भी लिखा है—

स्वमेवात्मनात्मानं हिनस्त्यात्मा कषायवान्।
पवं प्राण्यन्तराणां तु पश्चात्स्याद्वा न वा वधः ॥१८२६॥

अर्थात्—कषाय करने वाला आत्मा अपने कषाय से पहले तो अपने आत्मा की हिंसा करता है क्रोधादिक कषाय के द्वारा अपने आत्मा के गुणों का घात करता है। उस अपनी हिंसा के बाद जिसकी हिंसा बन्द करना चाहता है उसकी हिंसा हो भी जाय अथवा उसके तीव्र पुण्य से न भी हो तथापि अपने आत्मा की हिंसा करने के पाप से जो कर्म बंध होता है उसके फल से नरक जाना पड़ता है। यही कारण है कि सालिसित्थ नाम का मत्स्य दूससे की हिंसा किये बिना ही केवल मानसिक पाप के फल से नरक जाता है। मानसिक पाप का ऐसा ही महात्म्य है, इसलिये भव्य जीवों को चाहिये कि वे मन के संकल्प विकल्पों से उत्पन्न होने वाले व्यर्थ के पापों से सदा बचते रहें। उसी श्रुतसागरी टीका में और भी लिखा है—

अघ्नन्नपि भवेत्पापी नघ्नन्नपि न पापभाक्।
परिणाम विशेषेण यथा धीवरकर्षकौ ॥१८२६॥

इससे सिद्ध होता है कि कर्मबन्ध का मुख्य कारण जीवों के परिणाम ही हैं।

प्रश्न—चौदहवें कुलकर राजा नाभिराय की रानी मरुदेवी का विवाह हुआ था कि नहीं ?

उत्तर—राजा नाभिराय और रानी मरुदेवी का विवाह इन्द्र ने किया है सो ही महापुराण के बारहवें अधिकार में लिखा है—

तस्याः किल समुद्वाहे सुरराजेन नोदिताः ।
सुरोत्तमा महाभूत्या चक्रुः कल्याण कौतुकम् ॥१६३०॥

इससे सिद्ध होता है कि वे युगलिया नहीं थे, किन्तु उनका विवाह हुआ था। यहां कोई प्रश्न करे किस युगलिया स्त्री से विवाह हुआ था ?

किसी की स्त्री से विवाह नहीं हुआ था किंतु कन्या से हुआ था। इसका भी कारण यह है कि तेरहवें कुलकर के ही समय से युगलिया होना बन्द हो गया था। अर्थात् तेरहवें कुलकर के सामने ही जुदे-जुदे पुत्र-पुत्री होने लगे थे। तब उसके पिता अमितगति ने विवाह करने की रीति चलाई थी। इससे सिद्ध होता है कि नाभिराजा और मरुदेवी अलग-अलग जन्मे थे और उनका विवाह हुआ था। सिद्धान्तसार दीपक में लिखा है—

कल्पाष्ट लक्ष कोटयैकभागे चले क्रमे ततः ।
प्रियंगुकांतिसत्कायो जज्ञे मनुः प्रसेनजित् ॥१८३१॥
.....तस्यामितगतिः पिता ।
वर कन्यकया सार्द्धं विवाहो विधिना व्यधात् ॥१८३२॥
कुलवृद्धि करावत्रोत्पन्नः स युगलं विना ।
तदा प्रभृतिः युग्मानामुत्पत्तो नियम गतः ॥१८३३॥

इससे सिद्ध होता है कि तेरहवें कुलकर के समय में ही पुत्री पुत्र अलग-अलग होने लगे थे और इन्द्र ने उनका विवाह किया था उस समय कुलकरों के सिवाय सबका नाम आर्य था। इसीलिये मरुदेवी के पिता का नाम नहीं लिखा है।

प्रश्न—युग के प्रारम्भ में अर्थात् कर्मभूमि वा चतुर्थकाल के प्रारम्भ में अयोध्या की रचना किसने की थी ?

उत्तर—श्री ऋषभदेव के गर्भ में आने के पहले अयोध्या नगरी की रचना इन्द्र ने की थी तथा और अन्य जगह के रहने वाले पुरुषों को बुलाबुलाकर वहां बसाया था। सो ही महापुराण में लिखा है—

इतस्ततश्च विक्षिप्तान् अनीयानीय मानवान् ।
पुरीं निवेष यामा सुविन्यासैर्विविधैः सुराः ॥१८३४॥

इससे सिद्ध होता है, अयोध्यापुरी की रचना युग के आदि में इन्द्र ने की है।

प्रश्न—स्नान के कौन-कौन भेद हैं ?

उत्तर—स्नान के पांच भेद हैं, पादस्नान (पैर धोना), जानुस्नान (घुटने से नीचे का भाग धोना), कटिस्नान (कमर से नीचे का भाग धोना), ग्रीवास्नान (गले से नीचे का भाग धोना), शिरस्नान (मस्तक तक स्नान करना) इन पांच स्नानों में से जैसा दोष हो वैसा ही स्नान करना चाहिये। सो ही त्रिवर्णाचार में लिखा है—

पाद जानुकटि ग्रीवाशिरः पर्यन्त संश्रयम् ।
स्नान पंचविधं ज्ञेयं यथा दोष शरीरिणाम् ।।१८३५।।

इस प्रकार पांच प्रकार का स्नान जानना।

प्रश्न— इस अवसर्पिणी काल में मनुष्यों की आयु घटती जाती है सो किस प्रकार घटती है ?

उत्तर—श्री महावीर स्वामी के मुक्त होते समय मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु एक सौ बीस वर्ष थी। इसमें से एक-एक हजार वर्ष पीछे पांच-पांच वर्ष की घटती होती है, सो ही सिद्धान्तसार में लिखा है—

वत्सराणां सहस्त्रेषु गतेषु न्यूनतां व्रजेत् ।
पंचवर्षाणि शतंचाद्धं वेदितव्यं जिनागमे ।।१८३६।।

इससे सिद्ध होता है कि एक-एक हजार वर्ष में पांच-पांच वर्ष कम होते जाते हैं। यह पंचमकाल इक्कीस हजार वर्ष का है, इसलिये छठे काल के प्रारम्भ में मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु पन्द्रह वर्ष की रहेगी। शेष एक सौ पांच वर्ष की घट जायेगी। इसका भी खुलासा यह है कि एक हजार वर्ष में पाँच वर्ष घटते हैं, इसलिये दो सौ वर्ष में एक वर्ष घटता है। सौ वर्ष में छह महीने की आयु घटती है। छह महीने के एक सौ अस्सी दिन हुए और १०८०० घड़ियां हुई। इनमें सौ का भाग देने से एक वर्ष में १०८ घड़ियां अथवा १ दिन ४८ घड़ियां घटीं। एक महीने में ९ घड़ियां घटीं। ९० पल की एक घड़ी होती है सो ९ घड़ियों की ५४० पल हुए। इनमें तीस का भाग देने से एक दिन में १७ पल की घटती होती है। इस प्रकार आयु के घटने का खुलासा समझ लेना चाहिये।

प्रश्न :—इस पंचमकाल में उत्पन्न हुए जीव मरकर विदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर मोक्ष जा सकते हैं या नहीं अर्थात् ऐसे एक भवावतारी जीव हैं या नहीं हैं ?

उत्तर :— इक्कीस हजार वर्ष का यह पंचमकाल है। इसमें एक सौ तेईस भद्र परिणामी भव्यजीव यहां की आयु पूर्ण कर विदेह क्षेत्र में जन्म लेंगे तथा नौ वर्ष की आयु में जिन दीक्षा लेकर केवलज्ञान उत्पन्न कर नौ वर्ष कम एक करोड़ पूर्वकाल पर्यंत विहार कर मुक्त हो जायेंगे, ऐसा सिद्धान्तसार में वर्णन किया है—

जीवा सय तेईसा पंचमकाले य भद्दपरिणामा।
उत्पाइ पुव्व विदेहे णवमश्वर से दु केवली होदि ॥१८३७॥

इसका भी अलग-अलग खुलासा इस प्रकार है पंचमकाल के इक्कीस हजार वर्ष हैं। उनके सात भाग करना सो एक-एक भाग तीन-तीन हजार वर्ष का हुआ। प्रथम के तीन हजार वर्ष के पहले भाग में यहां के ६४ जीव आयु पूर्ण कर विदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर केवली होंगे, दूसरे भाग में ३२ जीव, तीसरे भाग में बारह जीव, चौथे भाग में आठ जीव, पांचवें भाग में ४ जीव, छठवें भाग में २ जीव और सातवें भाग में एक जीव अपनी आयु पूर्ण कर विदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर केवली होंगे। इन सब जीवों की संख्या एक सौ तेईस होती है, अर्थात् एक सौ तेईस जीव इस पंचमकाल में उत्पन्न हुए एक भवावतारी समझना चाहिए।

प्रश्न :— स्वर्गलोक में सम्यग्दृष्टि जीव तथा मिथ्यादृष्टि जीव उत्पन्न होते हैं, सो वहां पर दोनों की आयु समान है अथवा होनाधिक है ?

उत्तर :—जिसके स्वर्ग में ही मिथ्यात्वरूपी शत्रु के नाश होने से सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति हुई है, उसको सम्यग्दृष्टि देव कहते है। उसके आयु कर्म की जितनी स्थिति है, उसमें सम्यग्दर्शन के प्रभाव से घातायुष्क की अपेक्षा आधा सागर आयु की स्थिति बढ़ जाती है। यह वृद्धि भी सहस्त्रार स्वर्ग तक (बारहवें स्वर्ग तक) होती है। इसी प्रकार जिस जीव के सम्यग्दर्शन का घात हो जाय और मिथ्यात्व का उदय हो जाय तो उस देव की आयु कर्म की स्थिति में से आधे सागर की आयु घट जाती है। यही बात सिद्धान्त सार में पन्द्रहवीं संधि में लिखी है—

सम्यक्त्वस्य देवस्य सागरार्द्धं हि वर्द्धते।
आयुः यावत्सहस्त्रारं मिथ्यात्वारी विघातनात् ॥१८३८॥
मिथ्यात्वागत देवस्य सम्यक्त्वरत्न नाशनात्।
हीयते सागरार्द्धायुरिति स्थितिश्च नाकिनाम् ॥१८३९॥

त्रिलोकसार में भी लिखा है—

सम्मे घादेऊणं सायरदलमहियमा सहस्सारा ।
जलहिदलमट्ठवराऊ पडलं पडिजाणि हाणिचयं ॥१८४०॥

प्रश्न :—यहां पर कोई प्रश्न करें कि बारहवें स्वर्ग के ऊपर के देवों के क्यों नहीं घटती-बढ़ती ?

उत्तर :—बारहवें स्वर्ग से ऊपर के स्वर्गों में जिनलिंग के सिवाय अन्य लिंग को धारण करने वाले मिथ्यादृष्टियों का गमन नहीं होता अर्थात् अन्य लिंगी मरकर बारहवें स्वर्ग से ऊपर उत्पन्न नहीं होते । बारहवें स्वर्ग से ऊपर जिन लिंग को धारण करने वाले ही उत्पन्न होते हैं । तथा बारहवें स्वर्ग से ऊपर न तो सम्यक्त्व का नाश होता है और न मिथ्यात्व की उत्पत्ति होती है । इसीलिये बारहवें स्वर्ग से ऊपर आयु के घटने-बढ़ने का नियम नहीं है ।

प्रश्न :—आयु के दो भेद हैं, निधित और निःकांचित सो इनमें से किस आयु वाले की स्थिति घटती बढ़ती है ?

उत्तर :—निधित आयु वाले की स्थिति ही घटती-बढ़ती है, जैसे—खदिरशाल नाम के भील की आयु बढ़ गई थी और राजा श्रेणिक की घट गई थी ।

प्रश्न :—स्वर्ग के देवों की हीनाधिक आयु का स्वरूप तो ऊपर लिखे अनुसार समझा परन्तु भवनवासी व्यंतर ज्योतिष्क देवों की आयु के घटने बढ़ने की बिधि किस प्रकार है ?

उत्तर :—भवनवासी व्यन्तर और ज्योतिष्क इन तीनों प्रकार के देवों में जो जीव उत्पन्न होते हैं, वे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बिना थोड़ा सा व्रत तप करने के पुण्य से उत्पन्न होते हैं । इनमें से भवनवासी देवों के तो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने से आधे सागर की आयु बढ़ जाती है तथा मिथ्यात्व के उदय होने से आधे सागर आयु घट जाती है । इसी प्रकार ज्योतिषी और व्यंतर देवों के सम्यग्दर्शन के उत्पन्न होने से आधे पल्य की आयु बढ़ जाती है और मिथ्यात्व का उदय होने से आधे पल्य की आयु घट जाती है । तथा सब जगह सब देवों के मिथ्यात्व रूपी विष के वमन करने से तथा सम्यग्दर्शन रूपी अमृत के पीने के अतिशय से आयु बढ़ती है सो ही सिद्धांत सार दीपक की पंद्रहवीं संधि में लिखा है—

ज्योतिर्भवन भौमेषु सम्यक्त्व प्राप्ति लौंगिनाम् ।
किंचिद् व्रत तपः पुण्यादुत्पद्यंते भवाध्वगाः ।।१८४१।।
सम्यक्त्व प्राप्ति धर्माणां स्वायुर्भवन वासिनाम् ।
सागरार्द्धं च वर्द्धंत मिथ्यात्व शत्रु घातनात् ।।१८४२।।
ज्योतिष्क व्यंतराणां चायुः पल्यार्द्धं प्रवर्द्धते ।
मिथ्यात्वारि विनाशेन सम्यक्त्वमणि लाभतः ।।१८४३।।
सर्वत्र विश्वदेवानां मिथ्यात्वदु विषोज्झनात् ।
सम्यक्त्वामृत पानेन स्वायुः रंर्द्धतेतराम् ।।१८४४।।

त्रिलोकसार में भी लिखा है---

उवहिदलं पल्लद्ध भवणे चितरदुगे कमेणहियं ।
सम्मे मिच्छे घादे पल्लासंखं तु सव्वत्थं ।।१८४५।।

इस प्रकार चतुर्णिकाय के देवों की आयु की वृद्धि हानि का स्वरूप सम्यग्दर्शन तथा मिथ्यात्व के गहात्म्य से समझ लेना चाहिये अर्थात् सम्यग्दर्शन के महात्म्य से आयु बढ़ जाती है और मिथ्यात्व के प्रभाव से घट जाती है ।

प्रश्न :---चतुर्णिकाय देवों की आयु जब छह महीने शेष रह जाती है, तब उनका तेज घट जाता है तथा उनके कंठ की माला मुरझा जाती है जिससे वे अपनी निकट आने वाली मृत्यु को समझ लेते हैं, ऐसा कहते हैं सो सम्यग्दृष्टि की माला मुर्झाती है या नहीं ?

उत्तर :---माला आदि के मुर्झाने का चिन्ह मिथ्यादृष्टि के ही होता है । सम्यग्दृष्टि के नहीं होता । मिथ्यादृष्टि अपनी मृत्यु के चिन्हों को देखकर रोते हैं तथा अत्यन्त दुःखी होते हैं, सम्यग्दृष्टि के यह दुःख नहीं होता है, सो ही जंबूचरित्र की तीसरी संधि में लिखा है ।

विद्युन्माली सुरस्यादो कथ्यते कथिताधुना ।
प्रत्यक्षं पश्य भार्याभिश्चतुर्भिः सहितं हितम् ।।१८४६।।
सम्यक्त्व सहितास्यास्य तेजस्तुच्छं न जायते ।
माला न म्लायते कंठे स्थिर चित्तस्य कर्हिचित् ।।१८४७।।
सप्तमे दिवसेऽथासौ श्रुत्वा भूत्वा च मानुषः ।
चरमांगो तपो घोरं ग्रहीष्यति जिनोदितम् ।।१८४८।।

प्रश्न :—जो लोग पैरों में जूता पहने हुए भगवान के मंदिर में प्रवेश करते हैं अथवा लकड़ी की खड़ाऊं पहिनकर जिन मंदिर में जाते हैं, उनको कैसा पाप लगता है ?

उत्तर :—जो लोग पैरों में जूता पहने भगवान के मंदिर में प्रवेश करते हैं, वे सात जन्म तक कोढ़ी होते हैं तथा चमार के घर जन्म लेते हैं और जो लोग खड़ाऊँ पहिनकर जिन मंदिर में जाते हैं, वे बढ़ई के घर जन्म लेकर सात जन्म तक कोढ़ रोग से पीड़ित होते हैं। सो ही लिखा है—

पादचर्मस्थ रूढा ये यदंति श्री जिनालये ।
सप्त जन्म भवेत्कुष्ठी चर्मारीगर्भ सम्भवः ॥१८४९॥
पादुकाभ्यां समागत्य ये यदंति जिनालये ।
सप्त जन्म भवेत्कुष्ठी बाढी का गर्भ सम्भवः ॥१८५०॥

ऐसा जानकर ऊपर लिखे कार्य कभी नहीं करने चाहिये ।

प्रश्न :—सातिशय अप्रमत्त नाम के सातवें गुणस्थान के अंतिम भाग से महामुनिराज उपशम श्रेणी तथा क्षपक श्रेणी मांडते हैं। इनमें से उपशम श्रेणी वाला वहां से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक जाता है तथा फिर ग्यारहवें से नीचे गिरता है। सो इसमें प्रश्न यह है कि वे मुनिराज इस प्रकार अधिक से अधिक कितनी बार उपशम श्रेणी चढ़ते हैं, कितने जन्म तक संयम धारण करते हैं और कितने समय में मोक्ष प्राप्त करते हैं अथवा उन्हें मोक्ष प्राप्त होती है या नहीं ?

उत्तर :—अधिक से अधिक चार बार उपशम श्रेणी चढ़ते हैं। जो मुनिराज क्षपक श्रेणी चढ़ते हैं, वे केवलज्ञान पर्यंत चढ़ते ही चले जाते हैं, क्षपक श्रेणी वाले मुनि कभी निचले गुणस्थान में नहीं गिरते तथा उपशम श्रेणी वाले जीव अधिक से अधिक बत्तीस बार संयम को पालकर पीछे नियम से मोक्ष प्राप्त करते हैं। सो ही स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की टीका में लिखा है—

चत्तारिवार मुवसमसेणी समारुहदि खविदकम्मं ।
सो बत्तीसं वाराई संजममुवलहिय णिव्वाणादि ॥१८५१॥

यहां पर इतना ही जरूर समझना चाहिये इनमें भी देवगति में तो संयमी ही नहीं, इसलिये मनुष्य पर्याय में ही संयम समझ लेना चाहिये।

प्रश्न :—मुनिराज के आहार के समय का प्रमाण क्या है ?

उत्तर :—तीन मुहूर्त दिन चढ़ जाने के बाद से लेकर अब तक तीन मुहूर्त दिन बाकी रहे तब तक के मध्य के समय में मुनिराज अपने नित्य कार्यों से निवृत होकर अंतराय और दोषों को टालकर एक बार योग्य आहार लेते हैं।

भावार्थ—प्रातःकाल तीन मुहूर्त तक आहार नहीं लेते। शाम को तीन मुहूर्त दिन बाकी रहने तक लेते हैं, आगे नहीं लेते। मध्य के समय में सामायिक के समय को टालकर आहार लेते हैं। सो ही श्री वट्टकेर स्वामी विरचित मूलाचार के प्रथम अधिकार में लिखा है—

उदयत्थमणे काले णालीतियवज्जियम्हि मज्झम्हि।
एकम्हि दु अ तिए वा मुहुत्तकालेयभत्तं तु ॥१८५२॥
उदयास्तमनयोः कालयोः नालीत्रिक वर्जिते मध्ये।
एकस्मिन् द्वयोः त्रिषु वा मुहूर्तकाले एकभक्तं तु ॥१८५३॥

मूलाचार प्रदीप में लिखा है—

विज्ञेयोशन कालोऽत्र संत्यज्य घटिकात्रयम्।
मध्ये च योगिनां भानूदयास्तमन कालयोः ॥१८५४॥

यह जो तीन मुहूर्तकाल सुबह शाम छोड़ने का बतलाया है, वह उत्कृष्ट-काल है, मध्यकाल दो मुहूर्त और जघन्यकाल एक मुहूर्त सुबह शाम छोड़ने का समझना चाहिये। सो ही मूलाचार प्रदीपक में लिखा है—

तस्यैवाशन कालस्य मध्ये प्रोत्कृष्टतो जिनः।
भिक्षाकाले मतो योग्यो मुहूर्तैक प्रमाणकः ॥१८५५॥
योगिनां द्विमुहूर्त प्रमाणो मध्यमोवचः।
जघन्यस्त्रिमुहूर्तप्रभो भिक्षाकाल उदाहृतः ॥१८५६॥

प्रश्न :—पुलाक आदि मुनिराज के पांच भेद हैं, उनके कौन-कौन सा गुणस्थान है ?

उत्तर :—पुलाक और बकुश इन दो मुनियों के छठा और सातवां गुणस्थान होता है। कुशील नाम के मुनि के आठवें अपूर्व-करण नाम के गुणस्थान से लेकर

उपशांत मोह नाम के गुणस्थान तक चार गुणस्थान होते हैं। निर्ग्रंथ नाम के मुनि के बारहवां क्षीण मोह नाम का गुणस्थान होता है तथा स्नातक के तेरहवां सयोगी केवली और चौदहवां अयोगी केवली गुणस्थान होता है। इस प्रकार पुलाक बकुश कुशील निर्ग्रंथ और स्नातक इन पांचों प्रकार के मुनियों के गुणस्थान छठे से लेकर चौदहवें तक हैं। इन सब मुनियों की संख्या ढाई द्वीप भर में अधिक से अधिक तीन कम नौ करोड़ अर्थात् ८९९९९९९७ रहती है, उन सबको हमारा नमस्कार हो। सो ही आचार्य सकल कीर्ति विरचित सिद्धान्तसार में लिखा है—

षष्ठ सप्तमयो र्यौस्ते गुणस्थान द्वयोर्मुनी ।
विज्ञेयौ शास्त्ररीत्या च पुलाक बकुशाविह ।।१८५७।।
अपूर्वाद्युपशान्तेषु गुणस्थानेषु ये स्थिताः ।
प्रोक्तास्ते मुनिभिर्नित्यं कुशीलाह्वय धारिणः ।।१८५८।।
क्षीणमोह गुणस्थाने यस्तिष्ठेन्मुनिसत्तमः ।
ज्ञातोय भवभिः सर्वैनिर्ग्रंथो हि प्रशांतधीः ।।१८५९।।
योगायोग गुणस्थानो वसन्ति यतयः खलु ।
ये मताः स्नातकास्ते च लोकालोक प्रकाशकाः ।।१८६०।।
सर्वेषां यतिनां संख्यास्त्रिऊना नवकोट्यः ।
कथिताः श्री जिनैः सर्वैस्तेषां नित्यं नमोस्तु ते ।।१८६१।।

प्रश्न :—एक दिन रात में तथा एक महीने में वा एक वर्ष में पुरुष के कितने श्वासोच्छ्वास आते-जाते हैं ?

उत्तर :—एक मुहूर्त के तीन हजार सात सौ तिहत्तर श्वासोच्छ्वास होते हैं तथा एक दिन-रात के तीस मुहूर्त होते हैं। इस हिसाब से एक दिन-रात के एक लाख तेरह हजार एक-सौ-नब्बे श्वासोच्छ्वास हुए। सो ही लिखा है—

एकं च सय सहस्सं उस्सासमाणं तु तेरससहस्साणं ।
ऊण वसएण महिया दिवसण्णिसोहंति विण्णेया ।।१८६२।।

इसी हिसाब से एक महीने के तेंतीस लाख पिचानवे हजार सात सौ श्वासोच्छ्वास होते हैं। सो लिखा है—

मासे विय उस्सा सा लक्खा तेतीस सय सहस्साणं ।
सत्त सयाइ जाणिउ कहिया हं पुव्व सास्साहिं ।।१८६३।।

इनको बारह से गुणा कर देने से एक वर्ष के श्वासोच्छ्वासों की संख्या चार करोड़ सात लाख अडतालीस हजार चार सौ होती है सो ही लिखा है ।

चत्तारी कोडी श्रो लक्खा सत्तेव होंति णायव्वा ।
अडतालीस सहस्सा चारिसया होंति वरिसेण ॥१८६४॥

इनको सौ का गुणा कर देने से सौ वर्ष के चार अरब सात करोड़ अडतालीस श्वासोच्छ्वास होते हैं सो ही लिखा है—

चत्तोरिया कोडिसया कोडिय सत लक्ख अडियाला ।
चत्तारीस सहस्सा सासा सत होंति वरिसेण ॥१८६५॥

इस प्रकार श्वासोच्छ्वास का प्रमाण गोमट्टसार आदि जैन सिद्धांत में लिखा है ।

प्रश्न :—गर्भज जीवों में मनुष्य की उत्पत्ति किस प्रकार होती है ?

उत्तर :—पुरुष स्त्री के संयोग होने पर स्त्री के गर्भ रहता है, सो पिता के वीर्य और माता के रुधिर के मिलने से माता के गर्भाशय में जीव आकर उत्पन्न होता है । वह अनुक्रम से बढ़ता है और फिर जन्म लेता है । इसका विशेष वर्णन इस प्रकार है—योनि के भीतर गर्भाशय में माता पिता के रजोवीर्य के इकट्ठे होने पर जीव आकर उत्पन्न होता है । तदनंतर एक रात्रि में उसका कल्वल बनता है । फिर पांच रात में वह कल्वल बुद्बुदा के आकार में परिणत हो जाता है । फिर पंद्रह दिन में वह बुद्बुदा अंडे के रूप में बन जाता है, एक महीने बाद उस अंडे में मस्तक बनने का अंकूर उत्पन्न हो जाता है । दो महीने बाद हृदय बनता है । तीसरे महीने में पेट बनता है, चौथे महीने में हाथ पैर बनते हैं पांचवे महीने में हाथ पैर की उंगलियां और नख निकलते हैं, छठे महीने में बाल और नेत्रों की दृष्टि प्रगट होती है, सातवें महीने में शरीर का सब आकार तैयार हो जाता है, आठवें महीने में ज्यों का त्यों बना रहकर बढता है, नौवें व दशवे महीने में उस माता के गर्भाशय से वायु के द्वारा बाहर निकलता है, इसी को जन्म कहते हैं सो ही लिखा है भगवती आ. शिव. ।

कल्वलं कैकरात्रेण पंचरात्रेण बुदबुदः ।
पक्षकेणांडकं चैव मासेन च शिरांकुरः ॥१८६६॥
उरो मासद्वयं यावत् त्रिभिश्चैव तथोदरम् ।
शाखाश्चतुर्भिर्मासैश्च नखांगुलिश्च पंचमे ॥१८६७॥

रोमदृष्टी च षष्ठे च सर्वेऽवयवाः सप्तमे ।
नवमे दशमे वापि वायुनाऽसौ बहि र्भवेत् ।।१८६८।।

इस प्रकार मनुष्य की उत्पत्ति समझना चाहिये ।

प्रश्न :—ऊपर मनुष्यों की उत्पत्ति कही है, परंतु मनुष्यों में तीन भेद हैं पुरुष, स्त्री और नपुंसक सो एक ही गर्भ में तीन अवस्थाएं कैसे हो जाती है ?

उत्तर :—जिस समय पिता का वीर्य अधिक होता है और माता का रज उस वीर्य से कम होता है तथा उस जीव के पुरुष वेद नाम कर्म का उदय होता है उस समय पुरुष उत्पन्न होता है । तथा जिस समय माता का रज अधिक होता हो पिता का वीर्य उस रज से कम हो और उस जीव के स्त्री वेद नाम कर्म का उदय रहता है, उस समय कन्या उत्पन्न होती है । तथा माता पिता का रजो वीर्य समान हो जीव के नपुंसक नाम कर्म का उदय हो तो नपुंसक उत्पन्न होता है सो ही लिखा है—

शुक्रस्याधिकतो बालः कन्या शोणित गौरवात् ।
शुक्र शोणितयोः साम्ये षंडत्वं तस्य जायते ।।१८६९।।
पितुः शुक्राच्च मातुश्च शोणिताद्ग र्भसम्भवः ।
स्वकर्म परिणामेन जीवोत्पत्तिरिष्यते ।।१८७०।।

इस प्रकार पुरुष, स्त्री, नपुंसक की उत्पत्ति होती है ।

यहां कोई प्रश्न करे कि एक स्त्री के दो बालक किस प्रकार होते हैं ? तो इसका उत्तर यह है कि यदि चतुर्थ स्नान की रात्रि में वह स्त्री पुरुष से दो बार संभोग करे तो उसके दो बालक उत्पन्न होते हैं । सो ही भाव प्रकाश नाम के आयुर्वेद शास्त्र में लिखा है—

युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु ।

तथा अन्य शास्त्रों में अन्य प्रकार भी इसका वर्णन किया है । वह इस प्रकार है—जो रात्रि में संभोग समय परस्पर की हवा के घात से रजो वीर्य का पिंड अलग-अलग दो जगह हो जाय और उसमें दो जीव आ जाय तथा वे दोनों ही वृद्धि को प्राप्त होते रहें तो दो बालक उत्पन्न होते हैं । सो ही चिकित्सिक में लिखा है—

परस्परानिलाघातात् प्रभिन्ने कलिले द्विधा ।
तनु प्रबुद्धे तद् युग्मे युग्मं तस्मात्प्रजायते ।।१८७१।।

ऐसा वैद्यक शास्त्र में लिखा है—

प्रश्न :—मनुष्य की उत्पत्ति तो समझ में आ गई, परंतु इस मनुष्य के शरीर में क्या-क्या पदार्थ हैं ?

उत्तर :—मनुष्य के शरीर में से जो पदार्थ हैं, उन्हें संक्षेप से लिखते हैं। माता-पिता के संयोग होने के बाद वह रजोवीर्य का पिंड दश दिन में तो कलिल रूप होता है। उसके बाद दश दिन में कलुषी रूप आकार होता है। फिर दश दिन में कलुषी रूप आकार स्थिर होता है। यहां तक एक महीना हुआ। इसके बाद दश दिन में बुदबुदा होता है। फिर दश दिन में घनाकार होता है। फिर दश दिन बाद मांस की पेशी बनने लगती है। इस क्रम से दूसरे महीने में पुद्गल पूर्ण होता है। तदनंतर चर्म नख रोम अंग उपांग आदि अनुक्रम से आठ महीने तक पहले कहे अनुसार उत्पन्न होते रहते हैं और फिर नौवें दशवें महीने में वह जन्म लेता है।

इस शरीर में शिर, मुख, दाढी, सब शरीर के केश, बीस नख, बत्तीस दांत, धमनी, नाड़ी आदि सिरा नसें शुक्र ये सब पिता के गुणों से उत्पन्न होते हैं सो लिखा है—

केशाः स्मश्रु च लोमानि नखा दंता शिरस्तथा।
धमन्यः स्नायवः शुक्रमेतानि पितृजानि हि ॥१८७२॥

तथा मांस, रुधिर, मज्जा, मेदा, कलेजा, प्लीहा, अंतडी, नाभि, हृदय, गुदा ये सब माता के गुणों से उत्पन्न होते हैं, सो लिखा है—

मांसा सृक्मज्ज मेदांसि यकृत्प्लीहांत्र नाभयः।
हृदयं च गुदं चापि भवंत्येतानि मातृतः ॥१८७३॥

ऐसा चिकित्सिक भाव प्रकाश में शारीरिक सम्बन्ध में लिखा है।

अब आगे शरीर का विशेष स्वरूप कहते हैं, पहले कहे हुए इस औदारिक शरीर में ३०० हड्डियां हैं, ३०० संधियां हैं, ६०० स्नायु हैं, जो कि तंतु के आकार हैं, ७०० सिरा हैं, ५०० मांस की पेशियां हैं, ४ शिरा जाल है, १६ कंडरा हैं, ६ कंडमूल हैं, ७ त्वचा हैं, ७ कलेजा हैं, अस्सी लाख करोड़ रोमों की संख्या है, आमाशय में रहने वाली आंतों की पष्ठी १६, कुथिताश्रय ७, स्थूल ३, मर्मस्थान १०७ हैं, जहां पर चोट लगने से यह जीव जीवित नहीं रह सकता है। तथा ८ व्रणमुख हैं जो नित्य कुथित वस्तुओं से बहते रहते हैं।

इस शरीर में मस्तक तो अपनी अंजुलि प्रमाण है, मेदा नाम की धातु दंडांजलि प्रमाण है, मज्जा नाम की धातु अपनी स्वांजलि प्रमाण है, वीर्य स्वांजलि प्रमाण है, वसा धातु तीन निजांजलि मात्र है, पित्त भी तीन स्वांजलि प्रमाण है, श्लेष्मा भी तीन स्वांजलि प्रमाण है, आठ सेर रुधिर है, मूत्र नाम का उपधातु १६ सेर है, विष्टा चौबीस हैं, नख बीस हैं, दांत बत्तीस हैं, इनके सिवाय कृमि, कीट निगोद आदि जीवों से यह शरीर भरा हुआ है, सात धातुओं के नाम ये हैं—रस, रुधिर, मांस, मेदा, हाड, मज्जा, शुक्र इन धातुओं से भरा हुआ यह शरीर है। ऐसा समझकर इस शरीर से ममत्व छोड़ देना चाहिये और अपने चैतन्य स्वरूप का विचारकर इस संसार शरीर से विरक्त हो जाना चाहिये। यह सब कथन श्री शिव कोटि मुनि कृत भगवती आराधना में लिखा है सो वहां से विचार लेना।

यहां कोई प्रश्न करे कि मनुष्य के शरीर की उत्पत्ति जो पहले कही थी, उससे यह कथन मिला नहीं सो यह विपरीतता क्यों है ?

समाधान—विपरीतता नहीं है, किंतु सामान्य और विशेष कथन हैं।

प्रश्न :—तीर्थङ्कर गृहस्थाश्रम में अपने अवधिज्ञान को विचारें या नहीं ?

उत्तर :—एक बार बीसवें तीर्थंकर मुनीसुव्रतनाथ गृहस्थाश्रम में ही अपने पुत्र के साथ सभा में विराजमान थे। वहां पर पट्टहस्ती का (मुख्य हाथी का) प्रसंग आ गया था। उस समय भगवान ने अपने अवधिज्ञान के द्वारा सब सभासदों को उस पट्ट हस्ती का वृतान्त कहा था। सो ही श्री सोमसेन कृत लघु पद्मपुराण में बारहवीं सन्धि में लिखा है—

पट्ट हस्ती तदा मुक्तः भुक्तिं करोति दुःखदाम्।
तद्दृष्ट्वाधिनेत्रेण जिनः प्राह जनान् प्रति ॥१८७४॥

इससे सिद्ध होता है कि तीर्थङ्कर गृहस्थ अवस्था में अवधिज्ञान को जोड़ते हैं। अवधिज्ञान के विचारने का (जोड़ने का) निषेध नहीं है।

प्रश्न :—देवों की जाति में दुर्गति जाति के देव सुने जाते हैं, सो क्या देवों में भी दुर्गति है?

उत्तर :—जो अन्य लिंगी मिथ्या तपश्चरण कर देवगति में मिथ्यादृष्टि देव होते हैं। वे देव बड़ी-बड़ी ऋद्धियों को धारण करने वाले सम्यग्दृष्टि देवों के यहां

काम करने वाले अभियोग्य जाति के देव होते हैं अर्थात् वे दास के समान काम करते हैं, गीत गाते हैं, नृत्य करते हैं, बाजे बजाते हैं, और वाहन का (सवारी का) रूप धारण करते हैं। इनके सिवाय कितने ही कुदेव किल्विष जाति के भी हैं। ये सब जीव दुर्गति के ही कहलाते हैं तथा आयु पूरी कर स्वर्ग से चयकर तिर्यञ्च गति में पृथ्वी जल अग्नि वायुकायिक वनस्पति तथा त्रसकायिक पशु पक्षी होते हैं। सो ही रविषेणाचार्य विरचित पद्म पुराण के चौथे पर्व में लिखा है—

यथाप्यूर्द्ध्वं तपः शक्त्या व्रजेयुः परमं लगिनः।
तथापि किंकरा भूत्वा ते देवान् समुपासते ॥१८७५॥

देवदुर्गति दुःखानि प्राप्य कर्मवशात्ततः।
स्वर्गाच्च्युत्वा पुनस्तिर्यग्योनिमायान्ति दुःखिनः॥१८७६॥

इस प्रकार भगवान ऋषभदेव ने अपनी दिव्य ध्वनि के द्वारा बतलाया है। इससे सिद्ध होता है कि ऐसे देव स्वर्ग में भी दुःख देखकर मरने के बाद तिर्यञ्चगति में जन्म धारण करते हैं। यही कथन वट्टकेर स्वामी ने चारों गतियों का वर्णन करते समय मूलाचार में लिखा है—

कंदप्पमाभिजोग्गं किव्विसं संमोहमासुरत्तं च।
ता देव दुग्गईओ मरणम्मि विराहिए होंति ॥१८७७॥
कंदर्पं आभियोग्यं किल्विषंस्वसोहत्वंआसुरत्वं च।
ताः देवदुर्गतयः मरणे विराधिते भवंति ॥१८७८॥

इस प्रकार लिखा है सो यह सब मिथ्यात्व का फल है। इसका भी विशेष वर्णन इस प्रकार है—कंदर्प, आभियोग्य, किल्विष, असुर ये देवों में उत्पन्न होते हैं। जो जीव अंत समय में समाधिमरण के बिना दुर्बुद्धि सहित मरण करते हैं, वे ही ऊपर लिखे नीच देवों में उत्पन्न होते हैं। इसका भी अलग-अलग खुलासा इस प्रकार है—जो योगी होकर भी असत्यवचन बोलते हैं, हंसी ठट्ठा करते हैं, राग बढ़ाने वाले वचन कहते हैं, कामदेव के वशी भूत होकर कामसेवन में लीन रहते हैं और कामदेव को उत्तेजित करने वाली क्रियाएँ करते रहते हैं ऐसे खोटे योगी मरकर कंदर्प जाति के देव होते हैं। सो वहां भी वे काम-क्रिया को बढ़ाने वाले कार्य ही किया करते हैं तथा जो यंत्र, तंत्र, मंत्र आदि कार्यों को अधिकता के साथ करते हैं जो ज्योतिष वैद्यक आदि

अशुभ कार्यों को करते हैं, जो संघ वा चैत्यालय की हंसी करते हैं, अनेक प्रकार की चेष्टायें करते हैं, जो धर्मात्माओं की अविनय करते हैं, जो मायाचारी हैं और किल्विष अर्थात् पाप कर्मों मे लीन रहते हैं, ऐसे पुरुष मरकर देवगति में नीच योनि में अर्थात् किल्विष जाति के देवों में उत्पन्न होते हैं। जो जीव कुमार्ग वा शास्त्र विरुद्ध मार्ग का उपदेश देते हैं, जो जिनमार्ग का नाश करने में लगे रहते है, जो सम्यग्दर्शन से सदा विपरीत चलते हैं, जो स्वयं सम्यग्दर्शन रहित हैं, महा मिथ्यात्वी हैं, जो मिथ्यात्व, मायाचारी और मोह से सदा मोहित रहते हैं तथा मोह से सदा पीडित रहते हैं ऐसे जीव मरकर भंडाभरण जाति में उत्पन्न होते हैं। जो यति होकर भी क्षुद्र, क्रोधी, दुष्ट, हिंसक, मायाचारी, दुर्जन हैं तथा जो तप और चारित्र में परम्परा से बैर बांधते चले आ रहे हैं, जिनके परिणाम सदा संक्लेशरूप रहते हैं और जो सदा निदान करते रहते हैं ऐसे जीव मरकर रौद्र परिणामों को धारण करने वाले असुर कुमार जाति के देवों में असुर होते हैं सो ही मूलाचार प्रदीपक में समाधिमरण के प्रकरण में मरण के सत्रह भेदों में कहा है।

कांदर्पमाभियोग्यं च कैल्विष्यं किल्विषापरम्।
स्वमोहत्वं तथैवासुर स्वमत्वैः कुलक्षणैः ॥१८७९॥
सम्यक्त्वा दुर्द्धियो मृत्वा गच्छंति देवदुर्गतीः।
कंदर्पाद्या इति प्रोक्ता नीचयोनि भवा दिवि ॥१८८०॥
असत्यं यो ब्रुवन् हास्यसराग वचनादिकान्।
कंदर्पोद्दीपका लोके कंदर्प रति रञ्जितः ॥१८८१॥
कंदर्प संति देवा ये नाग्नाचार्याः सुरालये।
कंदर्प कर्मभिस्तेषु ह्युत्पद्यंते शतशमः ॥१८८२॥
मंत्र तंत्रादिकर्माणि यो विधत्ते बहूनि च।
ज्योतिष्क भेष जादीनि परकार्याशुभानि च ॥१८८३॥
हास्य कुतूहलादीनि संघ चैत्यालयस्य च।
आगमस्याविनितोय अत्यनीकः सुधर्मिणाम् ॥१८८४॥
मायादिकिल्विषाक्रांतः किल्विषादिकुकर्मभिः।
स किल्विषसुरो नीचो भवेत्किल्विषजातिषु ॥१८८५॥
उन्मार्ग देशको योत्र जिन मार्ग विनाशकः।
सन्मार्गा द्विपरीतः स दृष्टि हीनः कुमार्गगः ॥१८८६॥

मिथ्यामायादिमोहानां मोहयन् मोहपीडितः ।
जायते स स्वमोहेषु भंडाभरण जातिषु ॥१८८७॥

क्रोधी क्षुद्रः खलो मारो मायावी दुर्जनो यतिः ।
युक्तोनु बद्ध वैरेण तपश्चरित्र कर्मसु ॥१८८८॥

संक्लिष्टः सनिदानो य उत्पद्यन्ते स कर्मणाम् ।
रौद्रासुर कुमारेषु ॥

इत्यादि लिखा है ।

प्रश्न :—ब्रह्मचर्य व्रत की नौ बाड़ हैं तथा अठारह हजार भेद हैं सो कौन-कौन हैं ?

उत्तरः—(१) स्त्री के साथ निवास नहीं करना ।

(२) स्त्री के रूप तथा शृंगार को विकार भावों से नहीं देखना ।

(३) स्त्रियों से भाषण नहीं करना उनके मधुर वचनों को रागभावों से नहीं सुनना ।

(४) पहले भोगी हुई स्त्रियों का स्मरण नहीं करना ।

(५) काम को उद्दीपन करने वाले पदार्थ जैसे घी, दूध, मिश्री, लड्डू, मेवा, भांग, विष, उपविष, मादक (नशा उत्पन्न करने वाले) और पौष्टिक पदार्थ पारा आदि धातु, उपधातु, सोने, चांदी, मोती आदि की भस्म, रस रसायन, बलवान और वीर्य बढ़ाने वाली औषधियां तथा अन्य प्रकार के गरिष्ठ भोजन नहीं करना ।

(६) स्त्रियों के शृंगार सम्बन्धी शास्त्रों को न पढ़ना, न सुनना ।

(७) स्त्रियों के आसन पर नहीं बैठना तथा उनकी शय्या पर नहीं सोना ।

(८) काम कथा न कहना, न सुनना ।

(९) भोजन पान आदि के द्वारा पेट को पूरा नहीं भरना ।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य की नौ बाड़ हैं, सो ये सब ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये हैं । जिस प्रकार चावल गेहूं आदि अन्नों के खेतों में उनकी रक्षा के लिये चारों ओर कांटों की बाड़ लगा देते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये ये ऊपर

लिखी नौ बाड हैं। जिस प्रकार बिना बाड के खेत नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार इन नौ बाडों के बिना शील का भंग हो जाता है।

अब आगे अठारह हजार शीलों के भेदों को लिखते हैं। चैतन्य रूप स्त्रियों के ३ भेद हैं, मनुष्यणी, देवांगना और तिर्यंचनी। तथा अचेतन स्त्री का एक भेद है काठ, पत्थर तथा चित्र में किसी स्त्री का रूप बनाना अचेतन स्त्री है। इस प्रकार स्त्रियों के चार भेद होते हैं। इनका त्याग मन वचन काय से तथा कृत कारित अनुमोदना से किया जाता है सो स्त्रियों के ४ भेदों को मन वचन काय की ३ संख्या से गुणा करने से १२ भेद होते हैं और इन बारह को कृत कारित अनुमोदना की संख्या ३ से गुणा करने से ३६ भेद होते हैं। ये ३६ प्रकार के भेद पांचों इन्द्रियों से त्याग किये जाते हैं, इसलिये स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण (श्रोत्र) इन इन्द्रियों की संख्या ५ से गुणा करने से १८० भेद हो जाते हैं। इन १८० भेदों को दश प्रकार के संस्कारों से त्याग किया जाता है, इसलिये १८० को १० से गुणा करने से १८०० भेद हो जाते हैं। उन १० संस्कारों के नाम ये हैं। स्नान, उबटन आदि लगाना, शृंगार करना, राग बढाने वाले कार्य करना, हंसी विनोद आदि रूप से क्रीडा करना, संगीत वाद्य (गाना बजाना) विषय सेवन का संकल्प करना, दर्पण में मुख देखना, शरीर की शोभा बढाना, पहले भोगी हुई स्त्रियों का स्मरण करना और मन में चिंता की प्रवृत्ति करना ये दश संस्कार कहे जाते हैं। तथा इन १८०० भेदों का त्याग काम के दश प्रकार के वेगों से भी किया जाता है, इसलिये १८०० को १० से गुणा कर देने से १८००० भेद हो जाते हैं। काम के १० वेग ये हैं—

१. स्त्री के मिलने की चिंता होना, २. स्त्री के देखने की इच्छा होना, ३. दीर्घ श्वासोच्छ्वास लेना (लंबी सांस लेना), ४. उन्मत्त हो जाना, ५. अपने प्राणों में भी संदेह करना, ६. वीर्यपात हो जाना, ७. दुःख वा पीडित होना ८. काम ज्वर वा दाह होना, ९. अन्न में अरुचि होना, १०. मूर्च्छा आना ये दश काम के वेग कहलाते हैं। इनसे गुणा कर देने से १८००० भेद हुए।

इसके सिवाय इस शील के और प्रकार से भी १८००० भेद हो जाते हैं जिनसे शीलांग रथ बन जाता है। उन्हीं को आगे लिखते हैं।

रत्नाकर में लिखा है—

जेणो करंति मणसा णिज्जिय आहार सण्णि सो इंदो,
पुढवीकायारंभा खंति जुआते मुणी वंदे ॥१८८६॥

अर्थात् मन वचन काय, कृत कारित अनुमोदना, चार संज्ञा, पांच इन्द्रियां, पृथ्वीकाय आदि दश प्रकार के जीवों के आरम्भ और उत्तम क्षमा आदि दश प्रकार के धर्म, इनसे परस्पर गुणा होने से १८००० भेद हो जाते हैं, इन १८००० भेदों से बने हुए शील रूपी रथ को चलाने वाले महामुनिराज होते हैं, इसलिये ऐसे मुनिराज को हम नमस्कार करते हैं। अब आगे शीलांग रथ की रचना लिखते हैं—

शील के १८००० भेद जो पहले प्रकार से बतलाये हैं उनके नष्ट तथा उद्दिष्ट द्वारा प्रत्येक भेद का यंत्र

मन त्याग ६०००	वचनत्याग ६०००	काय त्याग ६०००							
त्याग कृत २०००	कारित त्याग २०००	अनुमत त्याग २०००							
आहार त्याग ५००	भय त्याग ५००	मैथुन त्याग ५००	परिग्रह त्याग ५००						
श्रोत इन्द्रिय त्याग १००	चक्षु इन्द्रिय त्याग १००	घ्राण इन्द्रिय त्याग १००	रसना इन्द्रिय त्याग १००	स्पर्शनेंद्रिय त्याग १००					
पृथ्वीकाय आरम्भ त्याग १०	अपकाय आरम्भ त्याग १०	तेजस्काय आरम्भ त्याग १०	वायुकाय आरम्भ त्याग १०	वनस्पति-काय आरंभ त्याग १०	द्वे इन्द्रिय आरम्भ त्याग १०	ते इन्द्रिय आरम्भ त्याग १०	चतु-रिंद्रिया रंभ त्याग १०	असंज्ञी पंचेन्द्रिय आरम्भ त्याग १०	संज्ञी पंचेंद्रिय आरम्भ त्याग १०
उत्तम क्षमा १	उत्तम मार्दव १०	उत्तम आर्जव १	उत्तम शौच १	उत्तम सत्य १	उत्तम संयम १	उत्तम तप १	उत्तम त्याग १	उत्तम आकिंचन १	उत्तम ब्रह्मचर्य १

शील के १८००० भेदों में से नष्ट तथा उद्दिष्ट द्वारा प्रत्येक भेद को निकालने का यन्त्र

कृत १	कारित २	अनुमोदना ३							
मन ०	वचन १	काय २							
आहार ०	भय ९	मैथुन १८	परिग्रह २७						
स्पर्शन ०	रसना ३६	घ्राण ७२	चक्षु १०८	श्रोत १४४					
पृथ्वीकाय ०	अप्काय १८०	तेजस्काय ३६०	वायुकाय ५४०	वनस्पति काय ७२०	बे इंद्रिय ९००	तेइन्द्रिय १०८०	चौइन्द्रिय १२६०	असंज्ञी पंचेन्द्रिय १४४०	संज्ञी पंचेन्द्रिय १६२०
क्षमा ०	मार्दव १८००	आर्जव ३६००	शौच ५४००	सत्य ७२००	संयम ९०००	तप १०८००	त्याग १२६००	आकिंचन्य १४४०	ब्रह्मचर्य १६२००

इस प्रकार शीलांग रथ की रचना का यन्त्र जानना आगे इसी को स्पष्ट करने के लिये शील के १८००० भेद लिखते हैं। किसी स्त्री का त्याग मन वचन काय से तथा कृत कारित अनुमोदना से किया जाता है। सो इनको परस्पर गुणा करने से नौ भेद होते हैं। तथा चारों संज्ञाओं से त्याग किया जाता है, सो चार से गुणा करने से ३६ भेद होते हैं। तथा इन ३६ का पांचों इन्द्रियों से त्याग किया जाता है सो इनको पांच से गुणा करने से १८० भेद होते हैं तथा इन १८० का त्याग पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पति कायिक, दो इन्द्रिय, ते इन्द्रिय, चौ इन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय इन दस प्रकार के जीवों के आरम्भ से किया जाता है, इसलिये १८०० भेद होते हैं। तथा इन सबका त्याग उत्तम क्षमा आदि दश धर्मों के साथ-साथ धारण किया जाता है। इसलिये १८०० को १० से गुणा करने पर १८००० भेद हो जाते हैं।

तिर्यंचिनी १	मनुष्यणी २	देवांगना ३	अचेतन ४
मन १	वचन ४	काय ८	
कृत ०	कारित १२	अनुमोदना २४	

स्पर्शन ०	रसना ३६	घ्राण ७२	चक्षु १०८	श्रोत्र १४४

चार प्रकार की स्त्रियां

योगों से त्याग

कृत कारित अनुमोदना से

इन्द्रियों से

स्पर्श० ०	रस० १८०	गं० ३६०	राग० ५४०	हंसी ७२०	संगीत० ९००	विषय १०८०	दर्पण १२६०	शो० १४४०	स्म० १६२०
मिलाप ०	देखना १८००	सांस ३६००	उन्मत्त ५४००	प्राण संदेह ७२००	वीर्यपात ९०००	दुख १०८००	दाह १२६००	अरुचि १४४००	मूर्च्छा १६२००

इनके सिवाय और प्रकार से भी १८००० भेद होते हैं। अचेतन स्त्रियां तीन प्रकार हैं—काठ की बनी, पत्थर की बनी और रंग की बनी। इनका त्याग मन, वचन से किया जाता है तथा कृत कारित अनुमोदना से किया जाता है। सो तीन को मन, वचन से गुणा करने से ९ तथा कृत कारित अनुमोदना से गुणा करने से १८ भेद होते हैं। इनका त्याग पांचों इन्द्रियों से किया जाता है सो ५ से गुणा करने से ९० भेद हो जाते हैं। इन १० का त्याग दोनों द्रव्यभावेन्द्रियों से किया जाता है, सो २ से गुणा करने से १८० भेद हो होते हैं। इन १८० का त्याग चारों कषायों से किया जाता है, इसलिये ४ से गुणा करने से ७२० भेद हो जाते हैं। ये अचेतन स्त्रियों के त्याग के भेद हुए। तथा चेतन स्त्रियां ३ प्रकार की हैं—मनुष्यणी, देवी, तिर्यंचनी। इनका त्याग मन, वचन, काय से तथा कृत कारित अनुमोदना से इस ७ से किया जाता है इसलिये ७ से गुणा करने से २७ भेद होते हैं। इनको पांच द्रव्येन्द्रिय और

पांच भावेन्द्रियों से त्याग किया जाता है इसलिये १० गुणा करने से २७० भेद होते हैं। इनका त्याग चार संज्ञाओं से किया जाता है सो २७० को ४ से गुणा करने से १०८० भेद होते हैं। इनका त्याग १६ कषायों से किया जाता है, इसलिये १६ से गुणा करने से १७२८० सत्रह हजार दो सौ अस्सी भेद होते हैं। ये चेतन स्त्रियों के त्याग के भेद हैं, इनमें अचेतन स्त्रियों के त्याग ७२० भेद से मिलाने से १८००० भेद हो जाते हैं।

ये सब भेद स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की टीका से लिखे हैं। तथा एक ही कथन को दो बार लिखा है। सो स्पष्टता के लिये लिखा है।

प्रश्न---यह जीव संसार में एक अन्तर्मुहूर्त में भव के उत्कृष्ट जन्म-मरण कितने करता है ?

उत्तर---यह संसारी आत्मा कम से कम एक श्वास के अठारहवें भाग आयु पाता है तथा अपर्याप्त नाम कर्म के उदय से एकेन्द्रियादि सत्रह स्थानों में एक अन्तर्मुहूर्त समय में छियासठ हजार तीन सौ छत्तीस बार जन्म-मरण करता है, सा ही स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में लिखा है---

उस्सासट्ठारसमे भागे जो मरदि ण य समाणेदि ।
एका वि य पज्जत्ति लद्धीय पुण्णो हवे सो दु ॥१८९०॥

सो ही गोम्मट्टसार में लिखा है---

तिण्णिसया छत्तीसा छावट्ठी सहस्सगाणि मरणाणि ।
अन्तोमुहुत्तकाले तावदिया चेव खुद्दभवा ॥१८९१॥

इसका विशेष स्वरूप इस प्रकार है---दो इन्द्रिय के ८० भव, ते इन्द्रिय के ६०, चौ इन्द्रिय के ४०, पंचेन्द्रिय के २४। इन पंचेन्द्रिय के २४ भवों में भी तीन भाग हैं। तहां मनुष्यों में लब्ध्यपर्याप्त के भव ८, संज्ञी पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्ति के ८ भव तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त के ८ भव इस प्रकार त्रस जीवों के सब मिलाकर २०४ जन्म-मरण होते हैं। तथा पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और साधारण वनस्पति कायिक इन पांचों के स्थूल और सूक्ष्म के भेद से दस भेद होते हैं। तथा प्रत्येक वनस्पति का एक स्थूल ही भेद होता है। इसके दो भेद नहीं होते। ये सब ग्यारह भेद होते हैं, इनमें प्रत्येक के छह हजार बारह जन्म-मरण होते हैं, इसलिये ग्यारह प्रकार के स्थावर जीवों के जन्म-मरण के छयासठ हजार एक सौ

बत्तीस जन्म-मरण होते हैं। इनमें पहले के त्रस जीवों के छह स्थानों के २०४ जन्म मरण मिला देने से सब मिलकर ६६३३६ भेद हो जाते हैं। ये सब संसारी जीवों के क्षुद्र भव हैं। सो ही गोम्मट्टसार में लिखा है—

सीदीसट्ठीताल वियलं चउवीस होंति पंचक्खे।
छावट्ठि च सहस्सा सयं च वत्तीस मेयक्खे ॥१८९२॥
पुढवीगागणिमारुद साहारण थूल सुहमपत्तेया।
एदेसु अपुण्णेया इक्केक्के थारकं छक्कं ॥१८९३॥

इस प्रकार एक श्वास के अठारहवें भाग आयु के प्रमाण से एक अन्तर्मुहूर्त में सत्रह स्थानों में यह संसारी जीव मिथ्यात्व के उदय से सर्वोत्कृष्ट क्षुद्रभव ६६३३६ धारण करता है।

प्रश्न—लवणोदधि, कालोदधि और अन्त के स्वयंभूरमण समुद्र के जल का स्वाद तो खारे जल के समान है, परन्तु बाकी के असंख्यात समुद्रों के जल का स्वाद कैसा है ?

उत्तर—ऊपर कहे हुए तीन समुद्रों के सिवाय बाकी के असंख्यात समुद्रों के जल का स्वाद ईख के रस के समान मीठा और स्वादिष्ट है।

प्रश्न—ईख के रस के समान मीठा जल तो इक्षुवर समुद्र का है, परन्तु यहां पर सब समुद्रों का जल ऐसा मीठा कैसे कहा ? तथा क्षीरोदधि समुद्र का जल तथा घृतोदधि समुद्र का जल जुदे तरह का ही बतलाया है, इसलिये सबका एक सा स्वाद कैसे कहा ?

उत्तर—क्षीरोदधि तथा घृतोदधि आदि समुद्रों के जल का स्वाद नहीं बतलाया है, किन्तु उसका वर्ण बतलाया है। स्वाद तो सबका ही ईख के समान मीठा है। सो ही त्रिलोकसार में लिखा है—

लवणं वारुणि तिय मिदि काल दुगंतिसयंभुरमणमिदि।
पत्तेय जलसुवादा अवसेसा होंति इच्छुरसा ॥१८९४॥

यही बात मूलाचार के बारहवें अधिकार में लिखी है—

पत्तेयरसा चत्तारि सायरा तिण्णि होंति उदयरसा।
अवसेसा य समुद्दा खोदरसा होंति णायव्वा ॥१८९५॥

यहां पर क्षौद्र शब्द का अर्थ इक्षु वा ईख का है। सिद्धांतसार प्रदीपक में भी लिखा है—

कालोदे पुष्करास्भोधौ स्वयंभूरमणार्णवे ।
केवलं जलसुस्वादं जलौघं च भवेत्सदा ॥१८९६॥
क्षीराब्धौ क्षीरसुस्वादु सद्रसांभो भवेन्महत् ।
घृतस्वादसमस्निग्धं जलं स्याद्घृतवारिधौ ॥१८९७॥
एतेभ्यः सपूर्वाब्धिभ्यः परे संख्यात सागराः ।
भवंतीक्षुरसस्वाद समाना मधुराः शुभाः ॥१८९८॥

प्रश्न—भवनवासी व्यंतर और ज्योतिष्क ये तीन प्रकार के देव भवनत्रिक कहलाते हैं, ये तीनों प्रकार के देव अपनी शक्ति के द्वारा ऊपर की ओर कहां तक गमन कर सकते हैं, तीर्थङ्कर के जन्माभिषेक के समय पांडुकशिला तक तो ये देव जाते ही हैं, परन्तु इसके ऊपर जा सकते या नहीं ?

उत्तर—ऊपर लिखे हुए ये तीनों प्रकार के देव अपनी इच्छा से सौधर्म स्वर्ग तक गमन कर सकते हैं। सौधर्म स्वर्ग से ऊपर वे अपनी इच्छा से गमन नहीं कर सकते, यदि स्वर्गों में रहने वाले देव इनको आकर ले जाय तो उनके ले जाये गये जा सकते हैं। परन्तु इस प्रकार ले जाये गये भी सोलहवें अच्युत स्वर्ग तक ही जा सकते हैं, सो भी अपनी शक्ति से नहीं तथा सोलहवें स्वर्ग से आगे दूसरे देवों के द्वारा ले जाने पर भी जा सकते। यह नियम है, सो ही सिद्धान्तसार दीपक में चौदहवीं सन्धि में लिखा है—

कियामात्रोर्ध्वधिस्तेषामधोलोकेऽपि जायते ।
भावना व्यंतरा ज्योतिष्का गच्छन्ति स्वयं क्वचित ॥१८९९॥
तृतीयक्षिति पर्यन्तमधोलोके स्वकार्यतः ।
सौधर्मैशान कल्पांतमूर्ध्वलोके निजेच्छया ॥१९००॥
तेऽपि सर्वे सुरैर्नीता भावनाद्यास्त्रयोऽमराः ।
षोडश स्वर्गपर्यंतं प्रीत्या यांति सुखाप्तये ॥१९०१॥

देव लोग तीर्थंकरों के जन्म के समय में आते हैं सो मुनिसुव्रत के जन्म समय में चार प्रकार के देव आये थे उनमें से भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क आदि सब

देव पहले सौधर्म इन्द्र के दरबाजे पर आकर इकट्ठे हुए थे, फिर वहां से सब मिलकर भगवान की जन्मपुरी में आये थे ऐसा सोमसेनकृत लघु पद्मपुराण के ग्यारहवें अधिकार में मिला है—

सेन्द्राश्च व्यंतराः सर्वेभवनवासिनस्तथा ।
ज्योतिषाः सपरिवारा नाना यानैश्च संयुताः ॥१६०२॥
सौधर्मेन्द्र गृहे द्वारं संप्राप्ता विभवान्विताः ।
तथा षोडश स्वर्गस्थ देवास्तत्र समागताः ॥१६०३॥

इस प्रकार वर्णन है । इससे भी सिद्ध होता है कि भवनत्रिक पहले स्वर्ग तक जा सकते हैं ।

प्रश्नः—इस समय इस पांचवें काल में रत्नत्रय को धारण करने वाले मुनि अपने उत्कृष्ट भावों से स्वर्गलोक में जाते हैं सो कौन से स्वर्ग तक जा सकते हैं ?

उत्तरः—पांचवें काल के भाव लिंगी और रत्नत्रय को धारण करने वाले मुनि इन्द्र पदवी पाते हैं तथा पांचवें ब्रह्मलोक स्वर्ग में लौकांतिक देवों की पदवी को पाते हैं तथा वहां से आकर मनुष्य होकर मोक्ष जाते हैं, इससे सिद्ध होता है कि पांचवें काल के मुनि पांचवें स्वर्ग तक जाते हैं । सो ही मोक्षप्राभृत में लिखा है—

अज्जवि तिरयण सुद्धा अप्पा झाए विलहई इन्दत्तं ।
लोयन्तिय देवत्तं तत्थ चुआ णिव्वुदिं जंति ॥१६०४॥

इससे यह भी सिद्ध होता है कि पांचवें काल में भी जीवों को ऐसी ही शक्ति होती है ।

प्रश्नः—भगवान के समवशरण में जो मानस्तम्भ आदि होते हैं, उनकी ऊंचाई का प्रमाण किस प्रकार है ?

उत्तरः—समवशरण के मानस्तम्भ, ध्वजास्तम्भ, चैत्यवृक्ष, सिद्धार्थवृक्ष, स्तूप, तोरण, कोट, गृह, वनवेदिका, वन, पर्वत आदि की ऊंचाई भगवान तीर्थंकर की ऊंचाई से बारह गुणी होती है ।

भावार्थ—भगवान के शरीर की जितनी ऊंचाई होती है, उससे बारह गुणी इन सबकी समझ लेना चाहिये । सो ही सकलकीर्ति विरचित आदि पुराण में लिखा है—

मानस्तंभा ध्वजास्तंभा चैत्य सिद्धार्थपादपाः ।
स्तूपाः सतोरणाः गेहाः प्राकारा वनवेदिकाः ॥१६०५॥
अनादयो बुधैः प्रोक्ता उत्सेधेन द्विषडगुणाः ।
जिनांगोत्सेधतश्चैषां दैर्घ्यानुरूप विस्तरः ॥१६०६॥

पार्श्व पुराण में भी लिखा है –

मानस्तम्भाश्च प्राकाराः सिद्धार्थ चैत्य पादपाः ।
सतोरणाः गृहाः स्तम्भाः केतवो वनवेदिकाः ॥१६०७॥
प्रोक्तास्तीर्थंकरोत्सेधादुत्तुंगेन द्विषड्गुणाः ।

इस प्रकार जानना ।

प्रश्न :—चतुर्गति निगोद दो प्रकार है—एक नित्य निगोद और एक इतर निगोद, इन दोनों निगोदों में क्या अन्तर है ?

उत्तर :—जो अनादिकाल से एकेन्द्रिय कर्म के उदय से सदा स्थावर गति में ही जन्म-मरण करते रहें तथा जो भूत भविष्यत् वर्तमान किसी भी काल में भी दो इन्द्रिय आदि त्रस पर्याय धारण न करें । जिनकी स्थावर गति का न आदि है, न अन्त है, सदा अनन्त काय के आश्रित जन्म-मरण धारण करते रहें, ऐसे जीवों को नित्य-निगोदिया जीव कहते हैं । इसीलिए इस गति को नित्य गति अथवा शाश्वत गति ऐसा सार्थक नाम कहा है । तीव्र पाप कर्म के उदय से अनन्तानन्त जीव इस नित्य-निगोद में सदा रहते हैं । सो ही सिद्धान्तसार में लिखा है—

त्रसत्वं न प्रपद्यन्ते कालेन त्रितयेऽपि ये ।
ज्ञेया नित्यनिगोदास्ते भूरि पाप वशी कृताः ॥१६०८॥

श्री गोमट्टसार में भी लिखा है—

जत्थि अणन्ता जीवा जेहि ण पत्तो तसाण परिणामो ।
भावकलंक सपउरा णिगोदवासं ण मुञ्चन्ति ॥१६०९॥

तथा जिससे निकलकर त्रस गति को प्राप्त करे अथवा त्रस गति पाकर फिर जिस निगोद में जाय, उसको इतर निगोद कहते हैं ।

इस प्रकार निगोद दो प्रकार के हैं । निगोद शब्द की निरुक्ति इस प्रकार है—जो अपने शरीर के अंग रूपी क्षेत्र में रहने के लिए अनन्तानन्त जीवों को जगह देवे, उसको निगोद कहते हैं । नि–नियतं गां (गो शब्द का द्वितीया का एकवचन)

भूमि क्षेत्रं अनन्तानन्त जीवानां द–ददातीति निगोदम् । निगोदं शरीरं येषां ते निगोद शरीराः । अर्थात्–नि का अर्थ नियत है, गो शब्द का अर्थ क्षेत्र वा निवास स्थान है और द शब्द का अर्थ देना है । जो नियम से अपने शरीर में अनन्तानन्त जीवों को उत्पन्न होने के लिए क्षेत्र देवे, उसको निगोद कहते हैं और ऐसे शरीर को निगोद शरीर कहते हैं ।

प्रश्न :—जिन भगवान का गंधोदक कहां-कहां लगाना चाहिये ?

उत्तर :—यह कहना ठीक नहीं है, यह कहना कपोलकल्पित और अज्ञान भरा हुआ है, क्योंकि श्री ऋषभदेव के जन्माभिषेक के गंधोदक का जल इन्द्रादिक सब देवों ने अपने मस्तक से लगाया तथा मेरु पर्वत के ऊपर उस गन्धोदक के जल का प्रवाह नदियों के समान बह निकला । इस बहते हुए जल में देवों ने स्नान किया वह जल लेकर परस्पर एक दूसरे के ऊपर डाला ।

भावार्थ— उस जल में परस्पर जलक्रीड़ा की और उस गन्धोदक के जल को लेकर स्वर्ग में भेजा । ऐसा वर्णन शास्त्रों में लिखा है – देखो भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत आदि पुराण के दशवें पर्व में –

कृतं गंधोदकैरित्थमभिषेकं सुरोत्तमाः ।
जगतां शांतये शांतिं घोषयामासुरुच्चकैः ॥१९१०॥
प्रचक्रुरुत्तमांगेषु चक्रुः सर्वांग संगतम् ।
स्वर्गस्योपायनं चक्रुस्तद्गंधांबु दिवौकसः ॥१९११॥
गंधांबुस्नपनस्यांते जयकोलाहलैः समम् ।
व्यातुक्षीममराः चक्रुः सद्यूर्णैर्गंधवारिभिः ॥१९१२॥

लब्धयादि पुराण में भी यही बात लिखी है –

तद्गंधांबु प्रवंद्योच्चैरुत्तमांगेषु भक्तिकाः ।
निधाय सर्वगात्रेषु स्वर्गस्योपायनं व्यधुः ॥१९१३॥
गंधोदकाभिषेकांते विधायेति सुरेश्वराः ।
गंधोदकं च वन्दित्वा पूतं शुध्यै जिनेशिनः ॥१९१४॥
व्यातुक्षीं निर्मलां चक्रुः जयकोलाहलैः समम् ।
पूरितैः कलशैः भक्त्या सद्यूर्णगंध वारिभिः ॥१९१५॥

इसके सिवाय भगवान पार्श्वनाथ के जन्म समय में भी इसी प्रकार का कथन है, सो ही पार्श्वपुराण में लिखा है—

इत्थं गंधोदकैः कृत्वाभिषेकं सुरनायकाः ।
शांतिं ते घोषयामासुरुच्चैर्भं वाघ शांतये ॥१९१६॥
चक्रुः शिरसि भाले च नेत्रे सर्वांग पुद्गले ।
स्वर्गस्योपायनं पूतं तद्गंधांबु सुरास्त्रियः ॥१९१७॥
गंधांबुस्नपनस्यांते जयनंदादि सत्स्वरैः ।
व्यातुक्षोम मराश्चक्रुः सचूर्णैर्गंधवारिभिः ॥१९१८॥

इसलिये ऊपर लिखा हुआ लोगों का कहना असत्य है ।

तथा गर्भान्वय आदि क्रियाओं में जो बालक की केशवाप (मुंडन वा केश उतरवाना) क्रिया है, उसमें पहले देव शास्त्र गुरु की पूजा होती है, फिर बालक का मस्तक गंधोदक से भिगोया जाता है, फिर केश उतारे जाते हैं, तदनंतर गंधोदक से ही बालक का स्नान कराया जाता है । ऐसा श्री जिनसेन स्वामी ने आदि पुराण के अड़तीसवें पर्व में लिखा है—

केशवापस्तु केशानां शुभेह्नि व्यपरोपणम् ।
क्षौरेण कर्मणा देवगुरु पूजा पुरस्सरम् ॥१९१९॥
गंधोदकादितान् कृत्वा केशान् शेषाकुलोचितान् ।
मौंडयमस्य विधेयं स्यात्सचूलं वान्योचितम् ॥
स्नपनोदक धौतांगमनुलिप्तं सभूषणम् ।
प्रणमय्य मुनीन् पश्चाद् योजयेद्धुताशिषा ॥१९१२॥

इसके सिवाय जब राजा श्रीपाल कोटी भट कोढ रोग से पीडित हो गये थे और उनके साथ के सात सौ योद्धा भी कोढ रोग से पीडित हो गये थे, तब श्रीपाल की रानी मैना सुन्दरी ने भगवान का गंधोदक लेकर उनके समस्त शरीर पर सींचा था और उसके सींचने से उन सबका कोढ रोग दूर हो गया था । ऐसा कथन श्रीपाल चरित्र आदि शास्त्रों में लिखा है ।

गंधोदक की महिमा जैन शास्त्रों में लिखी है, इसलिये इसमें संदेह नहीं करना चाहिये । तथा बिना समझे शास्त्र विरुद्ध वचन नहीं बोलना चाहिये । जो इस प्रकार कहते हैं, वह उनकी कपोल कल्पना है ।

प्रश्न :—कौन सी प्रतिमा प्रतिष्ठा-योग्य नहीं है, अर्थात् कैसी प्रतिमा की प्रतिष्ठा नहीं करनी चाहिये। तथा कैसी प्रतिमा प्रतिष्ठा करने योग्य है ?

उत्तर :—व्यंगित प्रतिमा (जिसके अंग उपांग खंडित हैं) जर्जरी भूत प्रतिमा (बहुत प्राचीन जो खिरती हो, जीर्ण-शीर्ण हो) जिस प्रतिमा की प्रतिष्ठा पहले हो चुकी हो, जो दुबारा बनाई गई हो अर्थात् जिसके अंग भंग हो गये हो और फिर गड-कर बनवाई गई हो और जिन प्रतिमाओं में संदेह हो ऐसी जिन प्रतिमाएँ प्रतिष्ठा करने योग्य नहीं है। तथा जिस प्रतिमा की नाक, मुख, नेत्र, हृदय, नाभिमंडल आदि अंग भंग हो गये हों वह भी पूजा करने योग्य नहीं है। सो ही प्रतिष्ठा शास्त्र में लिखा है—

व्यंगितां जर्जरां चैव पूर्वं मेव प्रतिष्ठिताम्।
पुनर्घटित संदिग्धां प्रतिमां नो प्रतिष्ठयेत् ॥१६११॥
ना सा मुखे तथा नेत्रे हृदये नाभि मंडले।
स्थानेषु व्यंगितेष्वेषु प्रतिमां नैव पूजयेत् ॥१६१२॥

यहां पर फिर से बनाई गई प्रतिमा की प्रतिष्ठा का जो निषेध किया है। उसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रतिमा के उपांग खंडित हो गये हों और फिर सुधार कर वह दुबारा बनाई गई हो तो ऐसी प्रतिमा की प्रतिष्ठा नहीं करानी चाहिये। तथा जो प्रतिमा शिल्पशास्त्रों में कहे हुए लक्षणों से सुशोभित हो और सांगोपांग हो ऐसी प्रतिमा की प्रतिष्ठा करना योग्य है। सो ही प्रतिष्ठापाठ में लिखा है—

यद्विम्बं लक्षणै र्युक्तं शिल्पि शास्त्र निवेदितम्।
सांगोपांगं यथा युक्त्या पूजनीयं प्रतिष्ठितम् ॥१६१३॥

प्रश्न :—जो प्रतिमा पूर्व प्रतिष्ठित है, उसका यदि उपांग (उंगली आदि) खंडित हो जाय अथवा मस्तक हीन हो जाय तो उसकी पूजा स्तुति का विधान किस प्रकार है ?

उत्तर :—जिस प्रतिमा की उंगली का अग्रभाग अथवा कुछ कान का भाग खंडित हो तथा वह प्रतिमा पूर्व प्रतिष्ठित हो और अतिशय सहित हो तो वह प्रतिमा पूज्य है, ऐसी प्रतिमा की पूजा स्तुति नमस्कार आदि करने में अपने बुरे भाव नहीं

करने चाहिये । यदि ऐसी प्रतिमा अतिशय रहित हो तो वह पूज्य नहीं है । तथा जो प्रतिमा मस्तक हीन हो तो उसको जलाशय में क्षेपण कर देना चाहिये । मस्तक हीन हो तो प्रतिमा को चैत्यालय में नहीं रखना चाहिये इस प्रकार नरेंद्र सेन कृत प्रतिष्ठा दीपक में लिखा है । यथा—

जीर्णं चातिशयोपेतं तदध्यंगमपि पूजयेत ।
शिरोहीनं न पूज्यं स्यान्निक्षेप्यं तन्नदादिषु ।।१६१४।।

इस प्रकार जानना । यदि इसका विशेष स्वरूप जानना हो तो जिन संहिता प्रतिष्ठा पाठ सरस्वती कल्प पूजासार शिल्पशास्त्र आदि ग्रंथों से जान लेना चाहिये ।

प्रश्न :—इस पंचम काल में भरत क्षेत्र में साक्षात् केवलज्ञानी नहीं है, फिर भला उनको किस प्रकार मानना चाहिये और उनकी पूजा भक्ति किस प्रकार करनी चाहिये। उनकी प्रतिमा की स्थापना निक्षेप-रूप है, साक्षात् नहीं है ?

उत्तर :—केवली भगवान की वाणी का पठन-पाठन करने वाले आचार्य हैं, इसलिये आचार्य को मानना व उनकी पूजा भक्ति आदि करना साक्षात् केवली को मानने और उनकी पूजा भक्ति करने के समान है, क्योंकि जिसने केवली प्रणीत शास्त्रों पठन-पाठन करने वाले मान लिये तो उसने साक्षात् केवली भी मान लिये । इस पंचमकाल में श्री महावीर स्वामी के पीछे जिन सूत्रों के पठन-पाठन करने वाले और रत्नत्रय को धारण करने वाले अनेक बड़े-बड़े आचार्य हुए हैं, उनके वचनों की आज्ञा मानना ही केवली भगवान को मानना है। सो ही श्री पद्मनन्दी विरचित पद्मनंदी पंच-विंशतिका में लिखा है—

संप्रत्यस्ति न केवली किल कलौत्रैलोक्यचूणामणिस्तद्वचः ।
परमास्तेऽत्र भरत क्षेत्र जगद्द्योतिका ।।
सद्रत्नत्रय धारिणो यतिवरास्तासां समालंबनं ।
तत्पूजा जिनवाचि पूजनमतः साक्षाज्जिनः पूजितः ।।१६१४।।

इससे सिद्ध होता है कि आचार्यों को मानने में उनकी पूजा भक्ति करने में और उनके वचनों की आज्ञा मानने में कोई संदेह नहीं करना चाहिये। जो पुरुष आचार्यों की आज्ञा मानने में संदेह करते हैं, वे केवली भगवान का अविनय करते हैं ।

प्रश्न :— गृहस्थ लोग जो अपने जिन घर प्रतिमा रखते हैं, उसकी मर्यादा ग्यारह अथवा बारह अंगुल प्रमाण है। बारह अंगुल से ऊंची प्रतिमा जिन मंदिर में ही स्थापन करनी चाहिये, यह बात प्रसिद्ध है, परंतु ग्यारह अंगुल में भी एक दो तीन चार आदि अंगुलों की प्रतिमा के प्रमाण का क्या फल है ?

उत्तर :—जो गृहस्थ अपने घर जिन-प्रतिमा को रक्खें तो अत्यंत योग्य और ऊँचे स्थान पर रखना चाहिये। आगे प्रतिमा की ऊँचाई का अलग-अलग फल बतलाते हैं—एक अंगुल की प्रतिमा पूजा करने वाले के लिये श्रेष्ठ है। दो अंगुल की प्रतिमा धन नाश करने वाली है। तीन अंगुल ऊँची प्रतिमा वृद्धि को उत्पन्न करती है। चार अंगुल ऊँची प्रतिमा पीड़ा उत्पन्न करती है। पांच अंगुल की प्रतिमा सुख की वृद्धि करती है। छह अंगुल की प्रतिमा उद्वेग करती है। सात अंगुल की प्रतिमा गायों की वृद्धि करती है। आठ अंगुल की प्रतिमा हानि करती है। नौ अंगुल की प्रतिमा पूजा करने के लिये हो तो पुत्रों की वृद्धि करती है। दश अंगुल ऊंची प्रतिमा धन का नाश करती है। ग्यारह अंगुल की प्रतिमा गृहस्थों के समस्त काम और अर्थ की सिद्धि करने वाली होती है। इससे अधिक ऊंची प्रतिमा गृहस्थी को अपने घर नहीं रखनी चाहिये। हां, जिन मन्दिर में विराजमान करने में कोई हानि नहीं है। इस प्रकार एक से लेकर ग्यारह अंगुल प्रमाण प्रतिमा शुभाशुभ फल बतलाया। इनमें भी जो शुभ प्रतिमाएँ हैं, यदि उनकी नाक, मुख, नेत्र, हृदय, नाभि आदि स्थान खंडित हो जायं, तो घर में रखकर नहीं पूजना चाहिये। ऐसा दीक्षाकल्प में लिखा है—

अथातः संप्रवक्ष्यामि गृहबिम्बस्य लक्षणम्।
एकांगुलं भवेच्छ्रेष्ठं द्व्यंगुलं धनाशनम् ॥१६१५॥
त्र्यंगुले जायते वृद्धिः पीडा स्याच्चतुरंगुले।
पंचागुले तु वृद्धिः स्याद्वुद्वेगस्तु षडंगुले ॥१६१६॥
सप्तांगुले गवांवृद्धिः हानिरष्टांगुले मता।
नवांगुले पुत्रवृद्धि र्धननाशो दशांगुले ॥१६१७॥
एकादशांगुले बिम्बं सर्वकामर्थ साधनम्।
एतत्प्रमाण माख्यात मतरुद्धर्वं न कारयेत् ॥१६१८॥

नासामुखे तथा नेत्रे हृदय नाभि मंडले ।
स्थानेषु व्यंगितांगेषु प्रतिमां नैव पूजयेत् ॥१६१६॥

प्रश्न :—तीसरे मिश्र नाम के गुणस्थान में मरण नहीं है और न अन्य गति की आयु का बंध ही होता है । तब फिर यह तीसरे गुणस्थान वाला जीव गतिबंध के बिना अन्यगति में किस प्रकार गमन करता है ?

उत्तर :—सम्यक् मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से तीसरे मिश्र नाम के गुणस्थान में रहने वाले जीव ने पहले या तो मिथ्यात्व के साथ आयु का बंध किया होगा या सम्यक्त्व के साथ आयु का बंध किया होगा । यदि मिथ्यात्व के साथ आयु का बंध किया हो तो वह मिथ्यात्व गुणस्थान में जाकर मरण करता है यदि उसने सम्यक्त्व के साथ आयु का बंध किया हो तो वह चौथे गुणस्थान में जाकर मरण करता है ।

भावार्थ :—जो पहले सम्यक्दर्शन के साथ आयुबंध किया है, तो चौथे गुणस्थान में मरण कर शुभ गति प्राप्त करता है । यदि उसने मिथ्यात्व गुणस्थान में बंध किया हो तो वह मिथ्यात्व में ही मरण कर अशुभ गति में उत्पन्न होता है, ऐसा श्री गोमट्टसार में प्ररूपणाधिकार के गुणस्थानाधिकार में लिखा है, यथा—

सो संजमेण गिण्हति देसजमं वा ण बंधदे आऊ ।
सम्मं वा मिच्छं वा पडिवज्जिय मरदि णियमेण ॥१६२०॥
समत्त मित्थ परिणामेसु जहि आउगं पुराबद्धं ।
तहि मरणं मरणं तसमुग्घादो वियण स्सम्मि ॥१६२१॥

प्रश्न :—प्रमत्त नाम के छट्ठे गुणस्थानवर्ती मुनियों के आहारक शरीर होता है । चैत्य वंदना करने, यात्रा करने वा पदार्थों के निर्णय करने के लिये मस्तक से एक हाथ प्रमाण श्वेत पुरुषाकार प्रदेश निकलते हैं, केवली के दर्शन कर अथवा यात्रादि का अपना कार्य कर फिर वहीं आकर प्रवेश कर जाते हैं, ऐसे इस आहारक शरीर की उत्कृष्ट जघन्य स्थिति कितनी है ?

उत्तर :—आहारक शरीर की जघन्य तथा उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त है । तथा आहारक शरीर पर्याप्ति की पूर्णता होने पर आहारक योग वाले छठे गुणस्थान-

वर्ती साधु की आहारक काय योग के समय में यदि आयु का अंत हो जाय तो उनका मरण भी हो जाता है, सो ही गोम्मटसार में मार्गणाधिकार के अन्तर्गत योग मार्गणाधिकार में लिखा है—

अट्ठावाद्दी अंतोमुहुत्तकालट्ठिदी जहण्णिदरे ।
पज्जत्तीसंपुण्णे मरणंपि कदाचि संभवई ।।१९२२।।

प्रश्न :—ऊपर आहारक शरीर का काल अंतर्मुहूर्त बतलाया उस समय वह साधु अपने औदारिक शरीर से गमन आगमन आदि क्रिया करे या नहीं और यदि उसके विक्रिया ऋद्धि भी हो तो उस ऋद्धि के शरीर की विक्रिया रूप चेष्टा कर सकता है या नहीं ?

उत्तर:—प्रमत्त संयमी मुनिराज के एक काल में एक साथ ही वैक्रियिक काययोग की क्रिया में आहारक योग की क्रिया नहीं होती । इससे सिद्ध होता है कि आहारक योग के समय औदारिक वैक्रियिक शरीर से गमनागमनादिक क्रियाओं का नियम से अभाव रहता है, एक काल में दो क्रियाएं नहीं होतीं । सो ही गोम्मटसार में योग मार्गणाधिकार में लिखा है—

वेगुव्विय आहारय किरिया ण समं पमत्त विरदम्हि ।
जोगो वि एक्क काले एक्के य होदि णियमेण ।।१९२३।।

प्रश्न :—औदारिक वैक्रियक आहारक तैजस और कार्मण की उत्कृष्ट तथा जघन्य स्थिति कितनी कितनी है ?

उत्तर :—औदारिक शरीर की जघन्य स्थिति एक श्वास के अठारवें भाग है । इसका वर्णन पहले लिख चुके हैं । वैक्रियिक की जघन्य स्थिति देव नारकियों की अपेक्षा दश हजार वर्ष है । सो ही मोक्षशास्त्र में लिखा है—

दशवर्ष सहस्राणि प्रथमायाम् भवनेषु च व्यंतराणां । तत्त्वार्थ सूत्र ।

अध्याय ४, सूत्र संख्या ३६–३७–३८ ।

तथा आहारक की जघन्य वा उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त है जो ऊपर लिख चुके हैं । तैजस की जघन्य स्थिति, कार्मण की जघन्य स्थिति अन्य गति के गमन की अपेक्षा एक, दो, तीन समय है । सो ही मोक्षशास्त्र में लिखा है—

एकं द्वौ त्रीन् वानाहारकः ।

अध्याय २ सूत्र संख्या ३० ।

इस प्रकार इनकी जघन्य स्थिति बतलाई। अब आगे इन पांचों शरीरों की उत्कृष्ट स्थिति बतलाते हैं। भोग भूमियों की अपेक्षा।

औदारिकों की बंध रूप उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य है। देव नारकियों की अपेक्षा वैक्रियिक की तैंतीस सागर है। आहारक की अंतर्मुहूर्त है। तैजस शरीर की छयासठ सागर है। कार्माण शरीर की उत्कृष्ट स्थिति सामान्य रीति से सत्तर कोडी-कोडी सागर है तथा विशेष रीति से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अंतराय की तीस कोडा कोडी सागर है, नाम, गोत्र की बीस कोडा कोडी सागर है। सो ही गोम्मटसार में लिखा है—

पल्लतियं उवहीणं तेत्तीसं तो मुहुत्त उवहीणं।
छावट्ठि कम्मट्ठिदि बंधुक्कस्सट्ठिदी ताणं ॥१९२४॥

प्रश्न :—चारों ही गति वाले जीवों के वर्तमान की अपनी आयु में अन्य गति आयु बंध किस-किस काल में होता है, और किस-किस गति की आयु का बंध होता है ?

उत्तर :—देवगति और नरकगति के जीवों की आयु जब अधिक से अधिक छह महीने की रह जाती है, तब वे मनुष्य अथवा तिर्यञ्च आयु का बंध करते हैं।

भावार्थ :—देवों की आयु जब छह महीने की रह जाती है, तब वे मिथ्यात्व के उदय से होने वाले अपने-अपने परिणामों से पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वनस्पतिकायिक, मनुष्य और पशु इन पांच प्रकार की गतियों में से किसी भी एक गति के लिए आयु बंध कर लेते हैं। इसी प्रकार नारकी जीव मनुष्य अथवा तिर्यञ्चगति की आयु का बंध करते हैं, सातवीं पृथ्वी के नारकी जीव केवल एक तिर्यञ्च गति का ही आयु बंध करते हैं। सातवें नरक के जीव मनुष्य गति का बंध नहीं करते। मनुष्य तथा तिर्यञ्च गति वाले जीव जब अपनी वर्तमान आयु का तीसरा भाग रह जाता है। तब वे अपने-अपने भावों के अनुसार चारों ही गतियों में से किसी एक गति का आयु बंध कर सकते हैं। भोगभूमियों के मनुष्य तिर्यञ्च भी अपनी आयु के छह महीने बाकी रहने पर देवगति का ही आयु बंध करते हैं। एकेंद्रिय, दो इंद्रिय, ते इंद्रिय, चौ इंद्रिय जीव मनुष्य वा तिर्यञ्च गति की आयु का बन्ध करते हैं। इनमें भी तेजस्काय और वायु काय के एकेंद्रिय जीव तिर्यञ्च आयु का ही बन्ध करते हैं। ये दोनों ही

प्रकार के एकेंद्रिय जीव मनुष्यगति की आयु का बन्ध नहीं कर सकते। ऐसा श्री गोम्मटसार के कर्मकांडाधिकार में लिखा है—

सुरणिरया णरतिरियं छम्मासवसिट्ठिगे सगाउस्स ।
णरतिरया सव्वाउं तिभागसेसम्मि उक्कस्सं ॥१९२५॥
भोगभुगा सेसाउं छम्मासवसिट्ठगे य बन्धन्ति ।
इगिविगला णरतिरियं सेउदुगा सत्तगा तिरियं ॥१९२६॥

षोडशकारण, दशलक्षणिक, रत्नत्रय तथा पंचमी आदि अनेक प्रकार के व्रत जैनशास्त्रों में बतलाये हैं तथा उन व्रतों को विधिपूर्वक पूर्ण कर लेने पर प्रतिष्ठा पूर्वक उद्यापन करने की आज्ञा व्रतकथा कोष आदि अनेक शास्त्रों में बतलाई है। परन्तु यदि किसी पुरुष से उसके उद्यापन की विधि प्रतिष्ठा पूर्वक न बन सके तो उसके अभाव में शांतिक कार्य करना चाहिये। अर्थात् शांतिचक्र का पाठ कर अभिषेक पूर्वक उस व्रत के उद्यापन की विधि करनी चाहिये—ऐसा मार्ग है। यही बात अनन्तव्रत की उद्यापन विधि में अनन्तव्रत की कथा में आचार्य पद्मनन्दी ने लिखी है—

अभावे तु प्रतिष्ठायाः शांतिकं कार्यमंजसा ।

तथा जिस पुरुष की इतनी भी शक्ति न हो अर्थात् वह न तो शांतिक कर्म कर सके और न उद्यापन की विधि ही कर सके, तो उसे अपने व्रत विधिपूर्वक दूने समय तक करना चाहिये। जैसे सोलह कारण सोलह वर्ष तक किये जाते हैं सो उसे बत्तीस वर्ष तक करना चाहिये। पीछे अपनी शक्ति के अनुसार पूजनादिक विधान कर व्रतों का विसर्जन करे। सो ही अनन्त व्रत की कथा में लिखा है—

अभावे तु प्रतिष्ठायाः शांतिकं कार्यमंजसा ।
तस्याप्यभावे कर्तव्यं द्विगुणं तद्विधानकम् ॥१९२७॥

यही बात श्री वसुनन्दी सिद्धांत चक्रवर्ती विरचित श्रावकाचार में कायक्लेशाधिकार में लिखी है—

उज्जवण विहिसंतरइ काउजइ कोवि अत्थपरिहीणो ।
तो विगुणं कायव्वा उववासविहाण पयत्तेण ॥१९२८॥

इसकी टीका में लिखा है—

उद्यापन विधि न समर्थः कर्तुं यदि कोपि अर्थ हीनः ।
तर्हि द्विगुणं कर्तव्यं उपवासादि विधानकं प्रयत्नेन ॥

अर्थात् यदि कोई धनहीन हो और व्रतों के उद्यापन की विधि न करे उसे उपवास आदि संपूर्ण विधान प्रयत्नपूर्वक दूने करना चाहिये। ऐसा शास्त्रों में लिखा है सो देख लेना। यदि जिन प्रतिष्ठापूर्वक उद्यापन करने की शक्ति न हो सो उन व्रतों से अरुचि नहीं करनी चाहिये। अपनी शक्ति के अनुसार तप को बढ़ाने के लिये अपने अनेक व्रतों को विधिपूर्वक दूने कर लेना चाहिये। इन व्रतों का अलग-अलग फल व्रत-कथा कोष आदि अनेक शास्त्रों में लिखा है, वहां से जान लेना चाहिये। तप के भेदों में अनेक व्रत हैं, सो कर्मों की निर्जरा के लिये हैं; इसलिये इनसे अरुचि नहीं करना चाहिये। सो ही मोक्षशास्त्र में लिखा है—

"तपसा निर्जरा च" अध्याय ६ सत्र सं. ३

अर्थात् तप से संवर भी होता है, कर्मों की निर्जरा भी होती है।

प्रश्न :—ऊपर लिखे हुए व्रतों में से कोई मनुष्य कुछ व्रत ले लेवे और कुछ दिन तक उनका पालन करे फिर अशुभ कर्म के उदय से किसी कारण को पाकर व्रत गल जाय, छूट जाय तो उसका क्या प्रायश्चित्त है और दुबारा उसको पालन करने की विधि क्या है ?

उत्तर—जो कोई व्रती पुरुष विधि पूर्वक व्रत को लेवे और फिर रोग, शोक वा अन्य किसी कारण से व्रत की मर्यादा में एक दो आदि कुछ उपवास बाकी रह जाय तथा ऐसी हालत में वह व्रत छूट जाय, भ्रष्ट हो जाय तो फिर उसी व्रती को चाहिये कि वह फिर प्रारम्भ से उस व्रत को करे अर्थात् उस व्रत के लिये जो पहले व्रत उपवास किये थे, वे सब व्रत भंग के पाप की निवृत्ति के लिये प्रायश्चित्त में चले गये, अब फिर उसे प्रारम्भ से ही व्रत धारण करना चाहिये। ऐसा अनुक्रम है, सो ही वसुनन्दी श्रावकाचार में लिखा है—

जइ अन्तरम्मिकारणवसेण एको व दोव्व उववासो।
ण कओ उत्तो मूलाओ पुणो वि सा होइ कायव्वो ॥१६२६॥

इसकी टीका इस प्रकार है —

यद्यन्तर काले कारणवशेन कोऽपि वा द्वयोपवासाः।
न कृताः तर्हिमूलात् पुनरपि सा विधिर्भवति तत्कर्तव्या॥

अर्थात् यदि बीच में किसी कारण से एक वा दो उपवास न किये हों तो

प्रारम्भ से ही उसकी विधि करनी चाहिये। यदि वह ऐसा न करे तो उसे महापापी समझना चाहिये।

प्रश्न :—व्रत भंग करने से महापाप लिखा है, सो वह कौनसा महापाप लगता है ?

उत्तरः—जो कोई जीव अपने गुरु से यम वा नियम रूप कोई व्रत ले लेवे और फिर चरित्रमोहनीय कर्म के उदय से उस व्रत को भंग कर देवे वह पुरुष एक हजार जिन मन्दिरों के भङ्ग करने के समान पाप का भागी होता है। इसके समान और कोई पाप नहीं है। इसीलिये उसको महापापी कहते हैं। सो ही श्री श्रुतसागर प्रणीत व्रतकथाकोष में सप्त परमस्थान व्रत की कथा कहते समय लिखा है –

गुरुन् प्रतिभुवः कृत्वा भवत्येकं धृतं व्रतम्।
सहस्त्रकूट जैनेन्द्र सद्यभङ्गाच्च भाग्लम् ॥१६३०॥

इसलिये व्रत भङ्ग करने का प्रायश्चित अवश्य कर लेना चाहिये।

प्रश्न :—पूजा करने वाला पूजन के लिये वस्त्र किस प्रकार धारण करता है ?

उत्तर—जो भव्य पुरुष शांतिक और पौष्टिक के लिये भगवान की पूजा करता है, उसे सफेद वस्त्र पहिनकर पूजा करनी चाहिये यदि वह शत्रु पर विजय के लिये भगवान की पूजा करता है तो उसे श्याम वा काले वस्त्र पहिनकर पूजा करनी चाहिये। यदि वह कल्याण के लिये पूजा करता है तो लाल वस्त्र पहिनना चाहिये यदि वह किसी राजा आदि के भय को दूर करने के लिये पूजा करता है तो उसे हरे वस्त्र पहिनकर पूजा करनी चाहिये। यदि वह ध्यान आदि प्राप्ति के लिये पूजा करता है तो उसे पीले वस्त्र पहिनना चाहिये। और यदि वह किसी कार्य की सिद्धि के लिये पूजा करता है तो उसे पांचों रंग के वस्त्र पहिनने चाहिये। सो ही लिखा है –

शांतौ श्वेतं जये श्यामं रक्तं भये हरित्।
पीतं ध्यानादिसंलाभे पंचवर्णं तु सिद्धये ॥१६३१॥

इस प्रकार अलग-अलग कामना की सिद्धि के लिये अलग-अलग पांचों वर्णों के वस्त्र बतलाये हैं। यदि इन पांचों वर्णों के वस्त्रों में भी कोई अयोग्यता के दोष आ जायं तो वह वस्त्र छोड़ देना चाहिये और दूसरा नवीन वस्त्र धारण करना चाहिये।

प्रश्न :—त्रिकाल पूजा की विधि क्या है ?

उत्तर—चतुर भव्य जीवों को नियमपूर्वक तीनों समय भगवान की पूजा करनी चाहिये। उसकी विधि इस प्रकार है कि सबसे पहिले लिखी हुई विधि के अनुसार स्नानादिक कर भगवान की पूजा करनी चाहिये। उसकी विधि इस प्रकार है—प्रथम प्रातःकाल भगवान का जलाभिषेक करना चाहिये, फिर चन्दन केशर में कपूर मिलाकर भगवान के चरण कमलों की अर्चना करनी चाहिये यह प्रातःकाल की पूजा है। फिर दोपहर के समय अनेक प्रकार के सुगन्धित और मनोज्ञ पुष्पों से भगवान की पूजा करनी चाहिये यह मध्यान्ह पूजा कहलाती है। तदन्तर शाम के समय दीप और धूप से पूजा करनी चाहिये।

भावार्थ—प्रातःकाल तो चन्दन से पूजा करनी चाहिये। मध्यान्ह समय में पुष्पों से पूजा करना चाहिये और सायंकाल को दीपक से आरती उतारकर दीप से पूजा करनी चाहिये और सुगन्धित चन्दन अति शुभ द्रव्यों की बनी हुई धूप को अग्नि में दहनकर धूप से पूजा करनी चाहिये। यह त्रिकाल पूजा की रीति है। सो ही श्री उमास्वामी विरचित श्रावकाचार में लिखा है—

श्री चन्दनं विना नैव पूजां कुर्यात्कदाचन।
प्रभाते घनसारस्य पूजा कार्या विचक्षणैः ॥१६३२॥
मध्याह्नं कुसुमैः पूजा संध्यायां दीप धूप युक्।

इस प्रकार त्रिकाल पूजा की रीति लिखी है। अथा अष्ट द्रव्य से जो पूजा की जाती है वह वह विशेष पूजा है। इस अष्ट द्रव्य की पूजा को त्रिकाल में करने का कुछ नियम नहीं है। यह पूजा तो जिस समय की जाय उसी समय में हो सकती है।

प्रश्न :—सायंकाल को जो दीप धूप की पूजा की जाती है उसकी विधि क्या है ?

उत्तर :—पूजन करने वाले पुरुष को पूजा करते समय भगवान के बाईं ओर धूपदान रखकर उसमें रखी हुई अग्नि में मंत्र पूर्वक धूप चढ़ाकर भगवान की पूजा करनी चाहिये। तथा दीपक जलाकर भगवान के सामने मंत्र पूर्वक आरती उतारकर पीछे भगवान को दाहिनी ओर उस दीपक को रख देना चाहिए। यह पूजा का नियम सब जगह है, सो ही उमा स्वामी विरचित श्रावकाचर में लिखा है—

वामांगे धूपदाहस्य दीप पूजा च सन्मुखी ।
अर्हंतो दक्षिणे भागे दीपस्य च निवेशनम् ।।१९३३।।

पूजा की ऐसी आम्नाय है, सो इसी प्रकार करना चाहिये ।

प्रश्न :—भगवान की पूजा में कैसे पुष्प चढ़ाना चाहिये तथा कैसे नहीं चढ़ाना चाहिये ?

उत्तर :—भगवान की पूजा में जल थल आदि के सार सुगंधित और मनोज्ञ ऐसे कमल गुलाब आदि अनेक प्रकार के जैन शास्त्रों में कहे हुए पुष्प चढ़ाना चाहिये तथा जो पुष्प हाथ से गिर गए हों, जमीन पर पड गए हों, जो किसी के पैर से छू गये हों, किसी के मस्तक पर रखे हों, मलिन और अपवित्र वस्त्र में रक्खे गये हों, नाभि के नीचे प्रदेश से छू गया हो, जो यवन (मुसलमान) आदि दुष्ट जनों के द्वारा स्पर्श किये गये हों और जो कीडों से दूषित हों ऐसे पुष्प कभी नहीं चढ़ाना चाहिये, इसके सिवाय पुष्पों के दो तीन भाग कभी नहीं चढ़ाना चाहिये ।

भावार्थ—मोतिया, मोगरा, कुंद आदि के पुष्पों में दो तीन चार पुष्प निकलते हैं, सो उनको अलग-अलग नहीं करना चाहिये । जैसा का वैसा ही चढ़ाना चाहिये पूजा के लिये फूलों की कलियां कभी नहीं निकालनी चाहिये अर्थात् पूजा में कलियां नहीं चाहिये । पूरा पुष्प ही चढ़ाना चाहिये । जो लोग चंपा और कमल के फूलों की कलियां अलग-अलग कर निकाल लेते हैं, अर्थात् उनको प्रफुल्लित कर लेते हैं, अथवा उनकी पंखुडियां अलग-अलग निकाल लेते हैं, उनको जीव हिंसा के समान फल लगा करता है । इसलिये पुष्पों को अलग-अलग छिन्न भिन्न कर वा कलियां निकालकर नहीं चढ़ाना चाहिये । सो ही उमास्वामी विरचित श्रावकाचार में लिखा है—

हस्तात्प्रस्खलितं क्षितौ निपतितं लग्नक्वचित्पादयोः ।
यन्मूर्द्ध्नोद्धृतं धृतं कुवसने नाभेरधो यद् धृतम् ।।१९३४।।
स्पृष्टं दुष्ट जनैर्घनैरभिहितं यद्दूषितं कीटकैः ।
त्याज्यं तत्कुसुमं वदंति विबुधाः भक्त्या जिनः पूज्यते ।।१९३५।।
नैव पुष्पं द्विधा कुर्यान्न छिन्नकलिकामपि ।
चंपकोत्पल भेदेन जीव हिंसा समं फलम् ।।

ऐसा शास्त्रों का मत है। इसी प्रकार जल फल आदि आठों द्रव्य में से जो अयोग्य हो सो पूजा में नहीं लेना चाहिये। विवेकी पुरुषों को योग्य द्रव्य से ही पूजा करनी चाहिये।

प्रश्न :—ऊपर लिखे हुए पुष्प किस प्रकार चढ़ाना चाहिये ?

उत्तर :—लौकिक शास्त्रों में ऐसा लिखा है—

पुष्पं चोर्ध्वं मुखं देयं पत्रदेयं पत्रो मुखम्।
फलं च सन्मुखं देयं यथोत्पन्नं समर्पयेत् ॥१६३६॥

अर्थात्—पूजा में पुष्प तो ऊपर की ओर मुख कर चढ़ाना चाहिये। उसकी डोंडी नीचे की ओर रहनी चाहिये, नागवेल के पान आदि पत्रों को अधोमुखी चढ़ाना चाहिये। उसकी अनी नीचे रहे और डंठल ऊपर-ऊपर को हो। तथा फल सामने चढ़ाना चाहिये। पुष्प पत्र और फल जैसे वृक्ष पर लगते हैं उसी प्रकार उनको चढ़ाना चाहिये। यह नियम पुष्पमाला अथवा पुष्पांजलि के लिये नहीं है। पुष्पमाला और पुष्पांजलि में जिस प्रकार बन सके उसी प्रकार चढ़ाना चाहिये।

प्रश्न :—पहले जो अष्टांग और पञ्चाङ्ग शायि नमस्कार करना लिखा है, सो इनका स्वरूप क्या है ?

उत्तर :—अपने दोनों हाथ दो पैर एक मस्तक एक छाती और दोनों कपोल इस प्रकार आठों अंगों को भूमि से स्पर्शते हुए नमस्कार करना सो अष्टांग नमस्कार है।

भावार्थ—पहले पृथ्वी पर दंड समान नीचे की ओर मुंह कर सीधा सो जाना, जिससे दोनों पैर मस्तक छाती दोनों हाथ भूमि से लग जाय फिर क्रम में दांये बांये कपोलों को लगाना भूमि से स्पर्श करना। इस प्रकार नमस्कार करने को अष्टांग नमस्कार कहते हैं। सो ही लिखा है—

हस्तौ पादौ शिरश्चोरः कपोलयुगलं तथा।
अष्टांगानि नमस्कारे प्रोक्तानि श्री जिनागमे ॥१६३७॥

दोनों हाथ दोनों पैर और मस्तक इन पांचों अंगों को भूमि में स्पर्शते हुए नमस्कार करना पंचांग नमस्कार है। सो ही लिखा है—

मस्तकं जानुयुग्मं च पंचांगानि करौ नतौ।

पश्वर्द्धशायि नमस्कार का स्वरूप इस प्रकार है। पशु गाय को कहते हैं। गाय के समान आधा सोना जिससे पीछे के आधे अंग तो खडे रहें और आगे का आधा अंग अर्थात् दोनों पैर और मस्तक पृथ्वी पर नम जाय। पैरों के दोनों घुटनों से नमकर गर्दन से मस्तक को नीचा करना पश्वर्द्धशायि नमस्कार है।

भावार्थ—खड़े पैरों से बैठकर दोनों हाथों को कोनी से नवाकर तथा पृथ्वी पर रखकर अपना मस्तक झुकाना सो पश्वर्द्धशायि नमस्कार है। सो ही लिखा है—

अत्र प्रोक्तानि पश्वर्द्धशयनं पशुवन्मतम्।

इस प्रकार नमस्कार के तीन भेद हैं, सो जैसा अपने से बन सके, वैसा भाव-पूर्वक देव शास्त्र गुरु को नमस्कार करना चाहिये।

इनमें से स्त्रियों के लिये अष्टांग और पंचांग का अधिकार नहीं है। उनको केवल पश्वर्द्धशायि नमस्कार करने का अधिकार है। पुरुषों को तीनों प्रकार के नमस्कार करने का अधिकार है। यह बात मूलाचार में आर्यिकाओं को वंदना करते समय समयाख्याधिकार में लिखी है—

पंच छह सत्त हत्थे सूरी अज्झावगोय साधूय।
परि हरि अणज्जाओ गवासणेणेव वंदंति ॥१९३८॥

इसका अर्थ एक सौ ग्यारहवीं चर्चा में लिखा है। जब आर्जिका भी गवासन से ही आचार्यादिक को वंदना करती हैं, तो फिर अन्य स्त्रियां अष्टांग वा पंचांग नमस्कार किस प्रकार कर सकती हैं? उनके लिये अष्टांग वा पंचांग नमस्कार करना अयोग्य है। इसलिये नहीं करना चाहिये।

प्रश्न :—पूजा करते समय किसी के हाथ से जिन प्रतिमा पृथ्वी पर गिर जावें तो उसका प्रायश्चित क्या है?

उत्तर :—जो पूजा करते समय जिन मूर्ति पृथ्वी पर गिर पड़े तो पूजा करने वाले को उस मूर्ति का शुद्ध जल तथा गंधोदक पर्यंत भरे हुए एक सौ आठ कलशों से मंत्र पूर्वक भगवान का अभिषेक करना चाहिये। फिर पूजा कर एक सौ आठ मूल मंत्रों से आहूति देकर फिर वहीं विराजमान कर देना चाहिये। ऐसा इसका प्रायश्चित है। सो ही जिनसंहिता में आठवें अधिकार में लिखा है—

पतिते जिनबिम्बेऽष्टशतेन स्नापयेद् घटैः।
अष्टोत्तर शतं कुर्यान्मूल मन्त्रेण चाहुतीः ॥१९३९॥

इस प्रकार मूर्ति के गिर पड़ने पर बहुत से लोग बिना समझे केवल अपने मन से ही किसी सचित्त वस्तु के खाने का त्याग कर देते हैं वा उपवास एकासन आदि कर लेते हैं, वा करा देते है, सो शास्त्र की विधि से विपरीत है ।

प्रश्न :—पूजा करते समय मंत्र पूर्वक नैवेद्य आदि चढ़ाने में किसी के हाथ से वह नैवेद्यादिक पृथ्वी आदि अन्य क्षेत्र में गिर जाय पूजा के स्थान में न चढ़ाया जा सके बीच में ही गिर जाय तो क्या करना चाहिये ?

उत्तर :—पूजा करते समय मंत्र पढ़कर द्रव्य चढ़ाना चाहिये । यदि वह द्रव्य बीच में ही गिर जाय तो उसे छोड़ देना चाहिये। फिर जो द्रव्य गिरा है, उसी द्रव्य को लेकर और उसी मंत्र को पढ़कर एक सौ आठ बार आहुति देनी चाहिये अर्थात् अक्षत गिरा हो तो अक्षत का मंत्र पढ़कर अक्षत की एक सौ आठ आहुति देनी चाहिये । यदि पुष्प गिरा हो तो पुष्प की एक सौ आठ आहुति देनी चाहिये ।

इस प्रकार जलादिक आठों द्रव्यों में से जो द्रव्य गिरा हो, उसी का मंत्र पढ़कर एक सौ आठ आहुति देनी चाहिये । फिर बाकी की पूजा पूर्ण करनी चाहिये । यही इसका प्रायश्चित्त है । सो ही संहिता के अठारहवें अधिकार में लिखा है—

प्रपति बलिपिंडस्य जिन मन्त्रेण मन्त्रवित् ।
अष्टोत्तर शतं कुर्यादाहूतीस्तद्विधिक्रमात् ॥१६४०॥

प्रश्न :—यदि कोई हीन जाति का अस्पृश्य मनुष्य जिनबिंब का स्पर्श कर लेवे तो उस मूर्ति का क्या करना चाहिये ?

उत्तर :—जो जिनबिंब गिर जाने का प्रायश्चित है, वही प्रायश्चित अस्पृश्य मनुष्य के द्वारा जिनबिंब के स्पर्श कर लेने पर करना चाहिये । अर्थात् उस मूर्ति का एक सौ आठ कलशों से अभिषेक कर पूजा कर मूल मंत्र से एक सौ आठ आहुति देनी चाहिये फिर उसको वहीं विराजमान कर देना चाहिये । सो ही पूजासार में लिखा है—

अस्पृश्य जनसंस्पर्शेप्येवमेव जिनेशिनाम् ।

प्रश्न :—यदि किसी के हाथ से प्रतिमा का भंग हो जाय तो क्या करना चाहिये ?

उत्तर :—यदि किसी के हाथ से जिन प्रतिमा भंग हो जाय तो उसी तीर्थंकर की अन्य प्रतिमा का एक हजार आठ शुद्धजल के कलशों से तथा पंचामृत से मंत्र

पूर्वक महाभिषेक करना चाहिये। फिर एक सौ आठ बार मूल मंत्र से आहूति देनी चाहिये। तथा उस भग्न हुये प्रतिबिंब को किसी अगाध जल में विराजमान कर देना चाहिये ऐसा करने से वह दोष दूर होता है और शांति होती है। सो हि जिनसंहिता में लिखा है—

स्नापयेदंग भंगेऽट सहस्त्रेण जिनेश्वरम्।
होमं वा पातवत्कुर्याद् भग्नं चांगं सुसेवयेत् ॥१९४१॥
ततो जलधि वासादि प्रतिष्ठापन माचरेत्।

प्रश्न :—जैन मत में गृहस्थों के सूतक पातक के विचार की विधि क्या है?

उत्तर :—सूतक दो प्रकार का है—जो गृहस्थ के घर पुत्र पुत्री आदि का जन्म हो तो दश दिन का सूतक है यदि मरण हो तो बारह दिन का सूतक है। जिस घर में वा जिस क्षेत्र में प्रसूति हो उसका सूतक एक महिने का है। यह सूतक जिसके घर जन्म हो उसको लगता है। जो उसके गोत्र वाले हैं, उनको पांच दिन का सूतक लगता है।

यदि प्रसूति में ही बालक का मरण हो जाय तो अथवा देशांतर में किसी का मरण हो जाय या किसी संग्राम में मरण हो जाय अथवा समाधिमरण से प्राण छोड़े हो तो इन सबका सूतक एक दिन का है।

घोड़ी, गाय, भैंस, दासी आदि की प्रसूति यदि अपने घर में वा आंगन में हो तो उसका सूतक एक दिन का लगता है, यदि गाय, भैंस आदि की प्रसूति घर में न हो घर के बाहर किसी क्षेत्र में वा बगीचे में हो तो उसका सूतक नहीं लगता।

जिस गृहस्थ के यहाँ पुत्रादिक का जन्म हुआ है, उसको बारह दिन पीछे भगवान अरहंतदेव का अभिषेक, जिनपूजा और पात्रदान देना चाहिये, तब उसकी शुद्धि होती है अन्यथा शुद्धि नहीं होती।

यदि दासी दास वा कन्या की प्रसूति वा मरण अपने घर हो तो उस गृहस्थ को तीन दिन का सूतक लगता है। वह प्रसूति या मरण अपने घर हुआ है, इसलिये दोष लगता है।

यदि किसी गृहस्थ के स्त्री के गर्भ का स्त्राव हो जाय वा पात (गर्भ पात) हो जाय तो जितने महीने का वह गर्भ हो उतने ही दिन का सूतक लगता है, इस

प्रकार समुदाय रूप से सूतक का वर्णन है, उसमें भी थोड़ा सा विशेष यह है कि क्षत्रियों को पांच दिन का सूतक है, ब्राह्मणों को दश दिन का है, वैश्य को बारह दिन का सूतक है और शूद्र को पन्द्रह दिन का सूतक है। सो ही प्रायश्चित ग्रन्थ में लिखा है—

पण दश बारण णियमा पण्णारस हाइ तहय दिवसे हि।
खत्तिय वंभा विस्सा सुद्दा हि कमेण सुद्धंति ॥१९४२॥

इस अनुक्रम से सूतक जानना चाहिये।

लौकिक में जो सती होती है, उसके बाद घर के स्वामी को उसकी हत्या का पाप छह महीने तक रहता है। छह महीने बाद प्रायश्चित लेकर शुद्ध होता है। जिसके घर में कोई सती हो गई हो, उसको छह महिने पहले प्रायश्चित देकर शुद्ध नहीं करना चाहिये।

यदि कोई अपघात से मर जाय तो उसके बाद घर के स्वामी को या योग्य प्रायश्चित देना चाहिये।

भैंस का दूध प्रसूति के दिन से पन्द्रह दिन पीछे शुद्ध होता है। गाय का दूध प्रसूति के दिन से दश दिन बाद शुद्ध होता है। बकरी का दूध प्रसूति के दिन से आठ दिन बाद शुद्ध होता है, इन सबका दूध ऊपर लिखे दिनों से पहले शुद्ध नहीं होता।

इस प्रकार गृहस्थों को संक्षेप से सूतक का विचार समझ लेना चाहिये। सो मूलाचार की टीका में लिखा है—

सूतकं वृद्धि हानिभ्यां दिनानि दश द्वादश।
प्रसूतिकास्थानं मासैकं दिवानि पंच गोत्रिणाम् ॥१९४३॥

प्रसूतौ च मृते बाले देशांतले मृते रणे।
सन्यासे मरणे चैव दिनैकं सूतकं भवेत् ॥१९४४॥

अश्वो च महिषी ह्येटी प्रसूता गौर्गृहांगणे।
सूतकं दिनमेकं स्यात् गृहबाह्ये न सूतकम् ॥१९४५॥

पुत्राद्वि सूतके जाते गते द्वादश के दिने।
जिनभिषेक पूजाभ्यां पात्रदानेन शुद्धयति ॥१९४६॥

दासो दासस्तथा कन्या जायते मरणे यदि।
त्रिरात्रि सूतकं ज्ञेयं गृहमध्ये तु सूपरम् ॥१९४७॥

यदि गर्भ-विपत्तिः स्यात् स्त्राक्षणं सापि योषितः ।
यावन्मासं स्थितो गर्भस्तावद्दिनानि सूतकम् ॥१६४८॥
पंचाहान् सूतकं क्षत्रे दशाहान् ब्राह्मणे विदुः ।
द्वादशाहान् च वैश्ये हि शूद्रे पक्षक सूतकम् ॥१६४९॥
सतीनां सूतकं हत्यापापं षण्मासकं भवेत् ।
अन्येषामपहत्यानां यथापापं प्रणाशयेत् ॥१६५०॥
महिष्याः पक्षकं क्षीरं गोक्षीरं च दिनं दश ।
अष्टमे दिवसेऽजायाः क्षीरं शुद्धं न चान्यथा ॥१६५१॥

इस प्रकार सूतक का सामान्य वर्णन समझना चाहिए ।

प्रश्न :—गोत्री को सूतक किस प्रकार पालना चाहिए ?

उत्तर :—यदि गोत्री चौथी पीढ़ी तक का हो तो उसको दस रात तक सूतक लगता है, पांचवीं पीढ़ी वाले को छह रात का सूतक लगता है । छठी पीढ़ी वाले को चार दिन का सूतक लगता है, चार दिन बाद वह शुद्ध होता है । सातवीं पीढ़ी वाला तीन दिन बाद शुद्ध होता है । आठवीं पीढ़ी वाले को एक दिन रात का सूतक है, पीछे वह शुद्ध है । नौवीं पीढ़ी वाले को दोपहर का सूतक है तथा दसवीं पीढ़ी वाले को स्नान करने मात्र का सूतक है । इसके बाद शुद्ध है । इस प्रकार गोत्र का सूतक समझना चाहिए । सो ही मूलाचार की टीका में लिखा है—

चतुर्थे दशरात्रिः स्यात् षट्रात्रिः पुन्सि पञ्चमे ।
षष्ठे चतुरहः शुद्धिः सप्तमे च दिनत्रयम् ॥१६५२॥
अष्टमे पुन्स्य हो रात्रिः नवमे प्रहर द्वयम् ।
दशमे स्नानमात्रं स्यादेतद् गोत्रस्य सूतकम् ॥१६५३॥

इस प्रकार गोत्री के सूतक का विचार है । दूसरी तीसरी पीढ़ी का सूतक पहली पीढ़ी के समान है । बाद में सूतक के दिन घटते जाते हैं । ऐसा समझ लेना चाहिए ।

प्रश्न :—मुनि को अपने गुरु आदि के मरने का सूतक किस प्रकार है ?
तथा राजा के घर मृत्यु आदि का सूतक किस प्रकार है ?

उत्तर :—मुनि तो एक कायोत्सर्ग कर लेने पर क्षण भर में ही शुद्ध हो जाते हैं । तथा राजा के पांच दिन का सूतक लगता है । सो ही प्रायश्चित शास्त्र में लिखा है—

प्रश्न :—गृहस्थों के घर स्त्रियां रजस्वला होती हैं, उनके योग्य अयोग्य आचरण की विधि किस प्रकार है ?

उत्तर :—इसका विधान भाषा के क्रिया कोश आदि शास्त्रों में लिखा है। तथापि यहां पर कुछ विस्तार और विशेषता के साथ लिखते हैं—जो स्त्रियां रजस्वला होती हैं, सो प्रकृतिरूप से तथा विकृति रूप से ऐसे दो प्रकार से होती हैं। जो स्वभाव से ही प्रत्येक महीने योनि मार्ग से रुधिर का स्राव होता है, वह प्रकृतिरूप होता है। जो असमय में ही अर्थात् महीने के भीतर ही रजःस्राव होता है, उसको विकृतिरूप कहते हैं, वह दूषित नहीं है, उसके होने पर केवल स्नानमात्र से शुद्धि होती है। उसका सूतक नहीं होता। यदि पचास वर्ष के बाद पचास वर्ष की अवस्था से ऊपर रजःस्राव हो तो उसकी शुद्धि स्नानमात्र से ही है। अभिप्राय यह है कि जो रजःस्राव महीने से पहले होता है, वह विकार रूप है और रोग से होता है। स्त्रियों के प्रदर आदि अनेक रोग होते हैं, उन्हीं से होता है। इसी प्रकार रजोधर्म का समय पचास वर्ष तक है। उसके बाद जो रजोधर्म हो तो वह रजःस्वला के समान सदोष नहीं है, उसकी शुद्धि स्नान मात्र से ही होती है। जो बारह वर्ष की अवस्था से लेकर पचास वर्ष तक प्रति मास रजोधर्म होता है, वह काल रजोधर्म है। इसके बाद अकाल रूप कहा जाता है, इस प्रकार इसके दो भेद हैं।

आगे इसका विशेष वर्णन लिखते हैं। जिस दिन स्त्री के रज का अवलोकन हो, उस दिन से लेकर तीन दिन तक अशौच है। यदि उस दिन आधी रात तक रजोदर्शन हो तो भी पहला दिन समझना चाहिये। आगे इसी का खुलासा लिखते हैं। रात्रि के तीन भाग करना चाहिये। इसमें से पहला और दूसरा भाग तो उसी दिन में समझना चाहिये और पिछला एक भाग दूसरे दिन की गिनती में लेना चाहिये। ऐसी आम्नाय है।

यदि ऋतुकाल के बाद फिर वही स्त्री अठारह दिन पहले ही रजस्वला हो जाय तो वह केवल स्नान मात्र से ही शुद्ध हो जाती है। उसको तीन दिन का अशौच नहीं लगता है। यदि कोई स्त्री अत्यंत यौवनवती हो और वह रजःस्वला होने के दिन से सोलह दिन पहले फिर रजःस्वला हो जाय तो वह स्नान करने मात्र से शुद्ध हो जाती है। इसका भी स्पष्ट अभिप्राय यह है कि रजस्वला होने के बाद फिर वही स्त्री रजस्वला होने के दिन से यदि अठारह दिन पहले फिर रजस्वला हो जाय तो

वह स्नान करने मात्र से शुद्ध हो जाती है। यदि उसके अठारहवें दिन रजोधर्म हो तो उसको दो दिन का सूतक पालन करना चाहिये यदि उसके उन्नीसवें दिन रजोधर्म हो तो उसको तीन दिन तक सूतक पालन करना चाहिये। तब वह शुद्ध होती है। यदि रजस्वला होने के बाद चौथे दिन स्नान कर ले और फिर रजस्वला हो जाय तो फिर वह अठारह दिन तक शुद्ध नहीं होती अर्थात् उसे अठारह दिन तक सूतक पालन करना चाहिये। सो ही त्रिवर्णाचार के तेरहवें परिच्छेद में लिखा है—

रजः पुष्पं ऋतुश्चेति नामान्यस्यैव लोकतः ।
द्विविधं तत्तु नारीणां प्रकृतं विकृतं भवेत् ॥१६५४॥
तत्प्रकृतं यत्तु स्त्रीणां मासे मासे स्वभावतः ।
अकाले द्रव्य रोगाद्यु द्रेकात्तु विकृतं मतम् ॥१६५५॥
अकाले षेडशे स्त्रीणां तद्रजो नैव दृश्यति ।
पंचाशद्वर्षादूर्ध्वं तु अकाल इति भाषितः ॥१६५६॥
रजो वा दर्शनात्स्त्रीणां अशौचं दिवसत्रयम् ।
कालजे चार्द्धरात्राच्चेत् पूर्वं तत्कस्यचिन्मतम् ॥१६५७॥
रात्रेः कुर्यात्त्रिभागं तु द्वौ भागौ पूर्ववासरे ।
ऋतौ सूते मृते चैव ज्ञेयोऽन्त्यः स परेहनि ॥१६५८॥
ऋतुकाले व्यतीते तु यदि नारी रजस्वला ।
तत्र स्नानेन शुद्धिः स्यादष्टादशविनात्परा ॥१६५९॥
दिनाच्चेत्षोडशादर्वाक् नारी पाकाति यौवना ।
पुनः रजस्वलापि स्याच्छुद्धिः स्नानेन केवन ॥१६६०॥
रजस्वलायाः पुनरेव चेद्रजः प्राग्दृश्यतेऽष्टादश वासराच्छुचिः ।
अष्टादशाहि यदि चेद् दिनद्वयादेकोनविंशे त्रिदिनात्तत. परम् ॥१६६१॥
रजस्वला यदि स्नात्वा पुनरेव रजस्वला ।
अष्टादशदिनादर्वाक् शुचित्वं न निगद्यते ॥१६६२॥

आगे रजस्वला स्त्री के आचरण आदि के योग्य अयोग्य की विधि लिखते हैं।

यदि कोई स्त्री अपने समय पर रजस्वला हुई तो उसको तीन दिन तक ब्रह्मचर्य पूर्वक रात्रि में किसी एकांत-स्थान में जहां मनुष्यों का संचार न हो ऐसी जगह डाभ के आसन पर सोना चाहिये। उसको खाट, पलंग, शय्या, वस्त्र, रूई का बिछोना

तथा ऊन का बिछोना आदि का स्पर्श न करना चाहिये। तीन दिन तक उसको धर्म की बात करनी चाहिये। जिस प्रकार मालती, माध्वी वा कुन्द आदि की बेल संकुचित रूप से रहती है, उसी प्रकार संकुचित होकर प्राण धारण कर रहना चाहिये। तीन दिन तक शीलव्रत पालना चाहिये, दूध, दही, घी, छाछ आदि गो रस का त्याग करना चाहिये। एक बार रूखा अन्न खाना चाहिये। उसको नेत्रों में काजल, अंजन आदि कुछ नहीं डालना चाहिये। उबटन करना, तेल लगाना, पुष्प माला पहनना, गंध लगाना आदि शृंगार के सब साधनों का त्याग कर देना चाहिये। तीन दिन तक उसको अपने देव, गुरू, राजा और अपने कुल देवता का रूप दर्पण में भी नहीं देखना चाहिये तथा न इनसे किसी प्रकार का संभाषण करना चाहिये। इन स्त्रियों को तीन दिन तक किसी वृक्ष के नीचे अथवा पलंग पर नहीं सोना चाहिये तथा दिन में भी नहीं सोना चाहिये। उसे अपने मन में पंच णमोकार मंत्र का स्मरण करना चाहिये। उसका उच्चारण नहीं करना चाहिये। केवल मन में चितवन करना चाहिये। अपने हाथ में वा पतल में भोजन करना चाहिये। किसी भी धातु के बर्तन में भोजन नहीं करना चाहिये। यदि वह किसी तांबे, पीतल आदि के पात्र में भोजन करें तो उस पात्र को अग्नि से शुद्ध करना चाहिये। चौथे दिन गोसर्ग काल के बाद स्नान करना चाहिये। प्रातःकाल से लेकर छह घड़ी पर्यंत गोसर्ग काल कहा जाता है। चौथे दिन स्नान के बाद वह स्त्री अपने पति के और भोजन बनाने के लिये शुद्ध समझी जाती है। देव पूजा, गुरु सेवा तथा होम कार्य में वह पांचवे दिन शुद्ध होती है। सो ही त्रिवर्णाचार में लिखा है—

काले ऋतुमती नारी कुशासने स्वपेत्सती।
एकांत स्थान के स्वस्था जनदर्शनवर्जिता ॥१९६३॥
मौनयुताथ वा देव धर्म वार्ता विवर्जिता।
मालती माध्वी वल्लीकुंदादिलति काकरा ॥१९६४॥
रक्षेच्छीलं दिन त्रीणि चैक भक्तं विगोरसम्।
अंजनाभ्यंगस्नान गंध मंडन वर्जिता ॥१९६५॥
देवं गुरुं नृपं स्वस्य रूपं च दर्पणेऽ पित्रा।
न पश्येत्कुलदेवं च नैव भाषेत तैः समम् ॥१९६६॥

वृक्षमूले स्वपेन्नैव खट्वा शय्यासनं तथा ।
मंत्रं पंचनमस्कारं जिन स्मृति स्मरेद् हृदि ॥१६६७॥
अंजनावश्नीयात्पर्णं पात्रे ताम्रे व पैत्तले ।
भुक्त्वा चेत्कांस्यजेपात्रे शुद्धयति तत्तुवन्हिना॥१६६८॥
चतुर्थे निवसे स्नायात् प्रातः गोसर्गतः परम् ।
पूर्वाह्ने घटिका षट्कं गोसर्ग इति भाषितः ॥१६६९॥
शुद्धा भर्तुश्चतुर्थेह्नि भोजने रंधनेऽपि वा ।
देव पूजा गुरू वास्ति होम सेवासु पंचमे ॥१६७०॥

रजस्वला स्त्रियों के आचरण इस प्रकार बतलाये हैं । जो स्त्रियां रजोधर्म के तीन दिन में अंजन लगाती हैं, उवटन करती हैं, पुष्पमाला पहनती हैं, गंध लगाती हैं, तेल मर्दन करती हैं, और ऊंचे स्वर से बोलती हैं. उनका गर्भ सदोष और विकृत रूप हो जाता है ।

स्त्रियों को ऋतुस्राव के तीन दिन तक ब्रह्मचर्य पूर्वक डाभ के आसन पर सोना चाहिये । आंसू बहाना, नाखून काटना, उवटन लगाना, तेल लगाना, गंध लगाना, आंखों में अंजन लगाना, पानी में डूबकर स्नान करना, दिन में सोना, दौडना, बहुत ऊंचे स्वर से किसी को आवाज देकर बुलाना, ऐसे ही ऊंचे शब्द सुनना, हंसना, अधिक बकवाद करना, कूटना, पीसना, अधिक बोझ उठाना, पृथ्वी खोदना, फैल फूटकर (बहुत सी जगह घेरकर) बैठना वा सोना तथा ऐसे ही अयोग्य कार्य तीन दिन नहीं करना चाहिये । अपने पति को भी न देखना चाहिये । हाथ में रखकर अथवा मिट्टी के सकोरा में व पत्तलों में रखकर रूखा अन्न भोजन करना चाहिये ।

यदि कोई स्त्री अपनी अजानकारी से वा उसमें लोलुपता के कारण अथवा दैवयोग से ऊपर लिखे कार्यों को करती है, तो उसके अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न हो जाते हैं। यदि कोई स्त्री इन ऋतु के तीन दिन में रोती है, तो उसके गर्भ के बालक के (जो बालक आगे गर्भ में आवेगा) उसके नेत्र विकृत हो जाते हैं । अंधा हो जाता है, धुंधला हो जाता है । आंख में फूला हो जाता है वा काणा ऐंचाताना हो जाता है । अथवा वह ढेर हो जाता है। उसकी आंखों से पानी बहता रहता है, उसकी आंखे लाल हो जाती हैं वा बिल्ली की सी आंखें हो जाती है । इस प्रकार उस बालक के नेत्रों में अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न हो जाते हैं । यदि कोई स्त्री इन तीन दिनों

में नाखून काटती है, तो उसके बालक के नाखूनों में विकार हो जाता है। उस बालक के नाखून फटे टूटे सूखे, काले, हरे, टेढ़े और देखने में बुरे हो जाते हैं। यदि वह स्त्री इन तीन दिनों में उबटन करती है वा तेल लगाती है, उसके बालक के अठारह प्रकार के कोढ रोगों में से कोई सा भी कोढ रोग हो जाता है। यदि वह इन तीन दिनों में गंध लगावे वा जल में डूबकर स्नान करे तो वह बालक दुराचारी व्यसनी होता है। यदि वह आंखों में अंजन लगावे तो उसके बालक को नेत्र नाद सहित हो जाते हैं। दिन में सोने से वह बालक रात दिन सोने वाला होता है। अथवा सदा ऊंघने वाला बालक होता है। जो स्त्री इन तीन दिनों में दौड़ती है, उसका बालक चंचल होता है, उत्पाती उपद्रवी होता है। ऊंचे स्वर से बोलने से या सुनने से उसका बालक बहिरा होता है। जो स्त्री इन दिनों में हंसती है, उसके बालक के तालु, जीभ, होठ काले पड जाते है। इन तीन दिनों में अधिक बोलने से उस स्त्री के प्रलापी बालक होता है। जो झूठा हो चालाक हो उसको प्रलापी कहते हैं। 'प्रलापोनृतभाषणम्' झूठ बोलना का नाम प्रलाप है। जो स्त्री रजोधर्म के समय में परिश्रम करती है, उसके उन्मत्त उन्माद रोगवाला वा बावला पुत्र होता है। जो स्त्री उन दिनों में पृथ्वी खोदती है, उसके दुष्ट बालक होता है। जो चौड़े में सोती है, उसके उन्मत्त बालक होता है। इस प्रकार अयोग्यता से अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। इसलिये ये अयोग्य कार्य नहीं करना चाहिये। विवेक पूर्वक रहना चाहिये। यह कथन जैन शास्त्रों का नहीं, किंतु लटकन मिश्र के पुत्र भाव मिश्र के बनाये हुए भाव प्रकाश नाम के वैद्यक शास्त्र में लिखा है, यहां प्रकरण समझकर लिख दिया है। यथा—

अज्ञानाद्वा प्रमादाद्वा लौल्याद्वा दैवतश्च वा।
सा चेत्कुर्यान्निषिद्धानि गर्भे दोषास्तदाप्नुयात् ॥१६७१॥
एतस्या रोदनाद् गर्भो भवेद्विकृत लोचनः।
नखच्छेदेत कुनखी कुष्ठी स्वभ्यंगतो भवेत् ॥१६७२॥
अनुलेपात्तथा स्नानाद् दुःशीलो जननादहक्।
स्वापिशीलोविवास्वापात्पापाच्चंचलःस्यात्प्रधावनात्॥१६७३॥
अत्युच्च शब्द श्रवणाच्छ्रधिरः खलु जायते।
तालुदंतौष्ठ जिह्वासु श्यामो हसनतो भवेत् ॥१६७४॥

प्रलापो भूरि कथनादुन्मत्तस्तु परिश्रमात् ।
खलोति भूमि खननादुन्मत्तो वात सेवनात् ।।१९७५।।

इस प्रकार अयोग्य कर्मों के करने के दोष बतलाये हैं, सो इनका त्याग करना ही उचित है।

जो कोई अनाचारी इनका दोष नहीं मानते। कितने ही लोग स्पर्श कर लेने पर भी स्नान नहीं करते। कितने ही लोग दूसरे तीसरे दिन स्नान कराकर उसके हाथ से किये हुए सब तरह के भोजन खा लेते हैं। कोई-कोई लोग उन्हीं दिनों में कुशील सेवन भी करते हैं, परन्तु ऐसे लोग महाअधर्मी कहलाते हैं। ऐसे लोग स्पर्श करने योग्य भी नहीं है। इसका कारण यह है कि रजोधर्म वाली स्त्री की पहले दिन चांडाली संज्ञा है, दूसरे दिन ब्रह्मघातिनी संज्ञा है, तीसरे दिन रज की संज्ञा है। और चौथे दिन शुद्ध होती है। यथा—

प्रथमेऽहनि चांडाली द्वितीये ब्रह्मघातिनी।
तृतीये रज को प्रोक्त चतुर्थेऽहनि शुद्धयति ।।१९७६।।

इसलिये स्त्री चौथे ही दिन शुद्ध होती है। जो स्त्री पुरुष गामिनी है, वह जीवन पर्यन्त अशुद्ध रहती है। व्यभिचारिणी स्त्री स्नानादिक कर लेने पर भी शुद्ध नहीं होती। वह परपुरुष का त्यागकर देने मात्र से ही शुद्ध हो सकती है। सो ही लिखा है—

त्रिपक्षं जायते सूता ऋतुधात्री दिनत्रयम्।
परजनरता नारी यावज्जीवं न शुद्धयति ।।१९७७।।

कितने ही अधर्मी इन तीन दिनों में भी सामायिक प्रतिक्रमण तथा शास्त्र के स्पर्श आदि कार्यों को करते हैं, ऐसे लोग उससे होने वाले अविनय और महापाप को नहीं मानते। यदि कोई इन कामों के करने के लिये निषेध करता है, तो उत्तर देते हैं, कि इस शरीर में शुद्ध पदार्थ है ही क्या ? इसमें से नव द्वार सदा बहते रहते हैं, यदि किसी के गांठ वा फोड़ा हो जाता है और वह पककर फूट जाता है उसी प्रकार स्त्रियों का यह मासिक धर्म है। इस प्रकार कहकर वे लोग मानते नहीं, परन्तु ऐसे लोग आज्ञाबाह्य ते महापातकी अनाचारी हैं।

रजस्वला स्त्रियों के स्पर्श-अस्पर्श का, उसकी भूमि की शुद्धि का तथा संभाषण आदि

के दोषों का और उनके शुद्ध करने का वर्णन विशेषकर प्रायश्चित शास्त्रों से जान लेना चाहिये। यहां संक्षेप में लिखा है।

कितने ही लोग अपनी लक्ष्मी के मद में आकर रजस्वला स्त्रियों को भूमि पर नहीं सोने देते, किंतु उन्हें पलंग पर सुलाते हैं। यदि कोई इसका निषेध करता है तो अपनी राजनीति का अभिमान करते हुये नहीं मानते हैं, किंतु उसी तरह चलते हैं परन्तु ऐसे लोग बड़े अधर्मी गिने जाते हैं। जो मुनि होकर घोड़े पर चढ़े, जो स्त्री रजस्वला अवस्था में ही पलंग पर बैठे या सोवे तथा जो गृहस्थ शास्त्र सभा में बैठकर बाते करे ऐसे पुरुषों को देखकर ही वस्त्र सहित स्नान करना चाहिये।

भावार्थ :—जब ऐसे लोगों को देखकर ही देखने वालों को वस्त्र सहित स्नान करना पड़ता है तो फिर उन लोगों के पाप की तो बात ही क्या है अर्थात् वे बहुत भारी दोष के भागी होती हैं, सो ही लिखा है—

अश्वारूढं यतिं दृष्ट्वा खट्वारूढां रजस्वलाम्।
शास्त्र स्थाने गृहस्थं च सचेल स्नान माचरेत् ॥१६७८॥

प्रश्न :—यदि रजस्वला स्त्री के पास बालक हो तो उसके स्पर्शास्पर्श की शुद्धि किस प्रकार है ?

उत्तर :—यदि कोई बालक मोह से रजस्वला स्त्री के पास सोवे बैठे वा रहे तो सोलह बार स्नान करने से उसकी शुद्धि होती है, यदि कोई दूध पीने वाला बालक दूध पीने के लिये उसका स्पर्श करे तो जल के छींटे देने मात्र से ही उसकी शुद्धि हो जाति है। ऐसे छोटे बालक को स्नान करने का अधिकार नहीं है। सो ही त्रिवर्णाचार में लिखा है—

तया सह तद्बालस्तु यद्यष्ट स्नानेन शुद्धयति।
तां स्पर्शन् स्तनपायी वा प्रोक्षणे नैवशुद्धयति ॥१६७९॥

कदाचित् कोई यहां पर छींटा देने का संदेह करे तो इसका उत्तर यह है कि प्रायश्चित शास्त्रों में और भी कितने ही पदार्थ बतलाये हैं, जिनमें स्पर्श का दोष नहीं माना जाता। जैसे मक्खी, हवा, गाय, सुवर्ण, अग्नि महानदी, नाव, पाथोदक और सिंहासन अस्पर्श्य नहीं होते ऐसा विद्वानों का कहना है—

मक्षिका मारुतो गावः स्वर्णमग्नि महानदी।
नावः पाथोदकं पीठं नास्पृश्यं चोच्यते बुधैः ॥१६८०॥

प्रश्न :—ऊपर लिखे अनुसार गृहस्थ का यथायोग्य आचरण तो मालूम हुआ, परन्तु यदि रजस्वला स्त्री रोगिणी हो अशक्त हो, उसको स्नानादि किस प्रकार कराना चाहिए ?

उत्तर:—यदि कोई स्त्री रोग वा शोक से अशक्त हो वा बुढापे से अशक्त हो और रजस्वला हो जाय तो उसकी शुद्धि इस प्रकार करनी चाहिये कि चौथे दिन कोई निरोग सशक्त स्त्री उसे स्पर्श करे फिर स्नान करे, फिर स्पर्श करे फिर स्नान करे। इस प्रकार वह दश बार उसको स्पर्श करे तो वह स्त्री शुद्ध हो जाती है। अंत में रजस्वला के वस्त्रों को बदलवाकर दश वा बारह बार आचमन कर तथा स्नान कर लेने से वह नीरोग स्त्री भी शुद्ध हो जाती है रोगिणी रजस्वला स्त्री की शुद्धि का यह क्रम है। सो ही त्रिवर्णाचार में लिखा है—

आतुरे तु समुत्पन्ने दशवारमनातुरा।
स्नास्था स्नात्वास्पर्शेदेनामातुरा शुद्धिमाप्नुयात् ॥१९८१॥
जराभिभूता या नारी रजसा चेत्परिप्लुता।
कथं तस्य भवच्छौच्यं शुद्धिः स्यात्केन कर्मणा ॥१९८२॥
चतुर्थेऽहनि संप्राप्ते स्पर्शेदन्या तु तां स्त्रियम्।
सा च सचैव ग्राह्या यः स्पर्शेस्नात्वा पुनः पुनः ॥१९८३॥
दश द्वादश वा कृत्वा ह्याचमनं पुनः पुनः।
अंत्ये च वाससां त्यागं स्नात्वा शुद्धा भवेतु सा ॥१९८४॥

प्रश्न :—जिन देवों की आयु जितने सागरों की है, उनका मानसिक आहार उतने ही हजार वर्ष बाद होता है। तथा उनका श्वासोच्छ्वास उतने ही पक्ष बाद होता है। यह कथन प्रसिद्ध है परन्तु जिन देवों की आयु पल्यों की है, उनके आहार और श्वासोच्छ्वास का क्या नियम है ?

उत्तर :—भवनवासियों में उत्कृष्ट आयु असुरकुमार देवों की है। सो उनके मानसिक आहार एक हजार वर्ष से अधिक समय बाद होता है तथा सूर्य, चन्द्रमा आदि ज्योतिषी देवों के सागरोपम के अंशों के हिसाब से अलग-अलग है। और बाकी के जो

नौ प्रकार के भवनवासी समस्त देवांगनाओं के मानसिक आहार का समय इसी क्रम से समझना चाहिये। सो ही लिखा है—

असुरेतित्तिसु सासाहारा पक्खं समासहस्संतु।
सुमुहुत्त दिणाणद्धं तेरस वारस वलूणट्ठ ॥१६८५॥

भावार्थ—असुर कुमारनि के एक पक्ष भये एक बार उच्छ्वास होता है,हजार वर्ष गये एक बार आहार होता है। बहूरि नागकुमार आदि तीन जाति विषैं साढा बारा मुहूर्त भये उच्छ्वास हो है, साढ़ा बारा दिन गये आहार हो है। बहुरि दिक्कुमार आदि तीन जाति विषैं साढ़ा सात मुहूर्त भये उच्छ्वास होवै साढ़ा सात दिन गये आहार हो है।

भवणावासादीणं गोउर पाया गणुच्चणाविधरा।
भोम्मा हारुस्सासा साहिय पणविण महुत्ताय ॥१६८६॥

बहुरि व्यंतरनि के आहार किछू अधिक एक हजार वर्ष पीछे होता है, कुछ अधिक पांच मुहूर्त भये जानना।

ज्योतिष्कों का आहार कुछ अधिक एक हजार वर्ष पीछे होता है। कुछ अधिक का परिमाण अंतर्मुहूर्त अधिक लेना चाहिये। जैसा मूलाचार में लिखा है—

उक्कस्सेणाहारो वाससहस्साहिएण भवणाणं।
जोदिसियाणं पुण भिण्णमुहुत्तेणेदि सेसउक्कस ॥१६८७॥

इसी प्रकार ज्योतिषियों का भिन्न मुहूर्त अधिक एक पक्ष के उच्छ्वास होता है, जैसे—

उक्कस्सेणुच्छासो पक्खेणाविएण होइ भवणाणं।
मुहूत्तपुत्तधेण तहा जोइसिणांगाण भोमाण ॥१६८८॥

प्रश्न :—दंडक में लिखा है कि तीसरे नरक से निकलकर कोई जीव तीर्थंकर भी होते हैं, सो यह वर्णन किस प्रकार है ?

उत्तर :—बलदेव, वासुदेव और चक्रवर्ती ये जीव नरक से निकलकर कभी नहीं होते। स्वर्गलोक से आने वाले जीवों को ही यह पद प्राप्त होता है। इसका भी कारण यह है कि यह पदवी बिना संयम के प्राप्त नहीं होती तथा संयम सहित मरण करने वाला जीव नरक में जाता नहीं। इसलिए इन पदवियों को पाने वाला स्वर्ग से ही आता है। सो ही मूलाचार में लिखा है—

णिरएहि णिग्गदाणं आणंतर भवेहि णियमा दु ।
बलदेव वासुदेव तणं च तह चक्कवट्टीणं ॥१९८९॥

यह नियम है कि नरक योनि से निकलकर बलभद्र वासुदेव और चक्रवर्ती की पदवी प्राप्त नहीं होती ।

सो ही सिद्धांतसार दीपिका में लिखा है—

निर्गत्य नरकाज्जीवा चक्रेश बल केशवाः ।
तच्छत्रवो न जायन्ते चयन्त्यंते यतो दिवात् ॥१९९०॥

त्रिलोकसार में भी लिखा है—

णिरयचरो णत्थि हरिबल चक्की ।

इस प्रकार लिखा है ।

प्रश्न :—यहां पर कदाचित कोई यह पूछे कि त्रेसठ शलाका पुरुष कहां से आकर उत्पन्न हो सकते हैं और कहां-कहां से आकर उत्पन्न नहीं होते, इस का खुलासा किस प्रकार है ?

उत्तर :—मनुष्य तथा तिर्यञ्चगति से आकर तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण और बलभद्र नहीं होते । स्वर्ग व नरक इन दो गतियों से ही आकर उत्पन्न होते हैं, सो ही मूलाचार में लिखा—

माणुस तिरियाय तहा सलाग पुरिसा ण होंति खलु णियमा ।
तेसिं अणंतर भवे भयणिज्जं णिव्वुदीगमणं ॥१९९१॥

प्रश्न :—जो शलाका पुरुष देवगति से आकर होते हैं, वे किन किन देवों की जातियों से आकर होते हैं, और किन किन निकायों से नहीं होते ?

उत्तर :—भवनवासी व्यंतर ज्योतिषी इन तीनों निकायों के देव तो आकर शलाका पुरुष होते नहीं तथा सोलह स्वर्ग, नौ ग्रैवेयक, नौ अनुदिश और पंच पंचोत्तर के देव आकर तीर्थंकर आदि शलाका पुरुष हो सकते हैं, ऐसा नियम है । सो ही मूलाचार में लिखा है—

आजोदिसिचि देवा सलाग पुरिसा ण होंति ते णियमा ।
तेसिं अणंतर भवे भयणिज्जं णिव्वुदी गमणं ॥१९९२॥

त्रिलोकसार में लिखा है—

णरतिरियगदो हिंतो भवणतियादो च णिग्गया जीवा ।
ण लहंते ते पदवि ते बाहुसलाग पुरिसाणं ॥१९९३॥

स्वर्गलोक में भी कल्पवासी तथा कल्पातीत देवों में भी कितने ही जीव आकर इन पदवियों को पाते है और बहुत से जीव नहीं पाते । उनका क्रम इस प्रकार हैं । अनुदिश वा अनुत्तर विमानवासी कल्पातीत देव वहां से आकर बलभद्र तीर्थंकर चक्रवर्ती पद पाते हैं, किन्तु वहां से देवों में से आकर वासुदेव नहीं होते। यह नियम है ।

सो ही मूलाचार में लिखा है—

णिव्वुदिगमणे रामत्तणे य तित्थयर चक्कवट्टित्ते ।
अणुविसणुत्तरवासी तदो चुदा होंति भयणिज्जा ॥१९९४॥

ऐसा शलाका पुरुषों के होने का नियम है ।

प्रश्न :—कौन किस किस गति से आकर मनुष्य हो सकता है तथा किस किस गति से आकर नहीं हो सकता ?

उत्तर—अग्निकाय और वायुकाय इन दोनों के सूक्ष्म तथा स्थूल जीव आकर मनुष्य भव धारण नहीं करते, ऐसा नियम है बाकी, के समस्त गतियों के जीव आकर मनुष्य हो सकते हैं । सो हो मूलाचार में लिखा है—

सव्वेपि तेउकाया सव्वे तह वाउकाइया जीवा ।
ण लहंति माणुसत्तं णियमादु अणंतर भवेहिं ॥१९९५॥

दण्डक भाषा में भी लिखा है—

तेजकाय अरु वायुकाय । इन बिन और सबै नर थाय ।

प्रश्न :—अन्यमत के तापसी परिव्राजक आदि तप करते हैं, वे मरकर ऊपर स्वर्ग में कहां तक जा सकते हैं ?

उत्तर—असंख्यात वर्ष की आयु वाले जीव अर्थात् कुभोग भूमि के मनुष्य वा तिर्यञ्च मरने के बाद अपने मिथ्यात्व रूप भावों से भवनवासी व्यंतर ज्योतिष्क इन तीनों ही जाति के देवों में उत्पन्न होते हैं । वे आगे वैमानिक देवों में उत्पन्न नहीं हो सकते । इसी प्रकार जो उत्कृष्ट भावों को धारण करने वाले हिंसा पूर्वक पंचाग्नि आदि तप धारण करने वाले और कंदमूल भक्षण करने वाले तपस्वी मरने के बाद अपने अज्ञान तप के फल से भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क और कल्पवासी देवों तक

सोलहवें स्वर्ग तक उत्पन्न हो सकते हैं, आगे कल्पातीत देवों में उत्पन्न नहीं होते, सो ही मूलाचार में लिखा है—

संखादी दाऊणं मणयतिरिक्खाण मिच्छभावेण ।
उववादो जोदिसिए उक्कस्सं तावसाणं तु ॥१९६॥

तथा अन्य मती परिव्राजक लोग अपने शुभ भावों से मरकर भवनवासियों से लेकर बारहवें सहस्त्रार स्वर्ग तक उत्पन्न हो सकते हैं। आगे नहीं जा सकते। सो ही लिखा है—

परिवाजगण णियमा उक्कस्सं होदि बंभलोगम्हि ।
उक्कस्स सहस्सार ति होदि या आजीवगाण तहा ॥१९९७॥

भाषा में लिखा है।

प्रश्न :—सुना जाता है कि एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीव सब तीनों लोकों में सब जगह भरे हुए हैं, सो क्या यह बात ठीक है ?

उत्तर—यह बात ठीक नहीं है, इसमें इतना विशेष है कि पृथ्वीकायिक अपकायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक तथा नित्यनिगोद इतर-निगोद के समस्त एकेंद्रिय जीव ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक, अधोलोक समस्त तीनों लोकों में भरे हुए हैं, तथा पंचेन्द्रिय जीव नारकी मनुष्य तिर्यञ्च आदि संज्ञी जीव तीनों लोकों में रहने वाली त्रसनाडी में भरे हुए हैं और दो इन्द्रिय, ते इन्द्रिय, चौइन्द्रिय असंज्ञी पशु और मनुष्य गति के पंचेन्द्रिय जीव मध्यलोक में ही उत्पन्न होते हैं। ये जीव दूसरी जगह उत्पन्न नहीं होते। नरक स्वर्ग तथा सिद्धस्थान में ये जीव उत्पन्न नहीं होते, मध्यलोक में ही उत्पन्न होते हैं। सो ही मूलाचार में लिखा है—

एइंदियाय पंचेंदियाय उड्ढमह तिरयलोएसु ।
सयल विगलिंदिया पुण जीवातिरियं हि लोयं हि ॥१९९८॥

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा में भी लिखा है—

विदिचक्खा जीवा हवंति णियमेण कम्मभूमीसु ।
चरिमे दीवे अद्धे चरिमसमुद्देसु सव्वेसु ॥१९९९॥

प्रश्न :—तीर्थंकर आदिक पदवीधर पुरुषों पर जो चमर ढुलाये जाते हैं, उनका प्रमाण क्या है ?

उत्तर—श्री तीर्थंकर केवली भगवान के तो सदा चौसठ चमर ढुलते रहते

हैं। चक्रवर्ती के बत्तीस ढुलते हैं, नारायण के सोलह, महामंडलेश्वर के आठ, अधिराज के चार और महाराज के दो चमर ढुलते हैं। सो ही लिखा है—

तीर्थंकराणामिति चामराणि चत्वारि षष्ट्यात्यधिकानि नित्यं।
अर्द्धाढ्यमानानि भवन्ति तानि चक्रेश्वराद्यावदसौ सुराजा ॥२०००॥

प्रश्न :—स्वयंभूरमण द्वीप और समुद्र के पशु पक्षियों की आयु उत्कृष्ट है, परन्तु यहां के पशु पक्षियों की कितनी है ?

उत्तर—नेवला, चूहे, घूस, बाघ, चीते, कबूतर, कुत्ते और सुअर आदि पशुओं की आयु भगवान अरहंत देव ने बारह वर्ष की बतलाई है तथा इसी प्रकार अन्य पशुओं की भी यथा योग्य हीन वा अधिक समझ लेनी चाहिये। सो ही त्रिलोक-प्रज्ञप्ति में लिखा है—

नकुलानां मूषकानां घूषकानां तथैव च।
व्याघ्रचित्र कपोतानां मंडलाना जिनोदितम्।
शुकराणां तथैवात्र संवत्सराणां द्विषट् मतम् ॥२००१॥

प्रश्न :—भारत में लिखा है—मद्य का पीना, मांस का खाना, रात्रि भोजन करना, कंदमूल खाना आदि क्या अन्य धर्मावलम्बियों के शास्त्रों में भी निषिद्ध है ?

उत्तर—भारत में लिखा है—मद्य का पिना, मांस भक्षण करना, रात्रि में अन्न पान लेह्य स्वाद्य आदि चारों प्रकार के आहार का भक्षण करना, कंदमूल खाना महा पाप है। जो कोई पुरुष इसका सेवन करता है, उसकी तीर्थ यात्रा जप आदि सब व्यर्थ होता है, उनके यहां ६८ तीर्थ माने हैं, सो जो पुरुष मांस, मद्य, रात्रि भोजन, कंदमूल आदि का सेवन करते हैं, उनकी ६८ तीर्थों की यात्रा व्यर्थ होती है। राम, कृष्ण, परमेश्वर आदि का जप सब व्यर्थ होता है। गायत्री मंत्र का जप भी सब व्यर्थ होता है। तथा चान्द्रायण व्रत तथा और भी व्रत, तथा पंचाग्नि आदि अनेक प्रकार के कष्ट देने वाले तप सब व्यर्थ हो जाते हैं। सो ही भारत में लिखा है—

मद्यमांसाशनं रात्रौ भोजनं कन्दभक्षणम्।
ये कुर्वन्ति वृथा तेषां तीर्थयात्रा जपस्तपः ॥२००२॥

उसी में आगे लिखा है कि मद्य-मांस भक्षण करने वाले वा रात्रि-भोजन करने वालों के एकादशी व्रत का उपवास करना, नारायण के मन्दिर में जागरण

करना, पुष्कर की यात्रा करना और चान्द्रायण तप करना आदि सब व्यर्थ हो जाता है। जब तक वह मद्य-मांसादिक का त्याग नहीं करता, तब तक उसको जप-तप, व्रत-उपवास आदि का कोई फल नहीं मिलता। मद्य-मांसादिक का त्याग करने से ही इनका फल मिल सकता है। सो ही भारत में लिखा है—

वृथा एकादशी प्रोक्ता वृथा जागरणं हरेः।
तथा च पुष्करी यात्रा वृथा चन्द्रायणं तपः ॥२००३॥

मनुस्मृति में लिखा है—जो कोई जीवों की हिंसा करता है, उसके न तो ध्यान हो सकता है, न स्नान से शुद्धि हो सकती है, न वह दान दे सकता है; तथा न वह शुभ क्रियाएं कर सकता है। हिंसा करने वाले के इन सब बातों का अभाव हो जाता है। यदि वह इन क्रियाओं को कर भी डाले तो भी जीवघात करने से उसका सब किया हुआ निष्फल हो जाता है। सो ही मनुस्मृति में लिखा है—

न च ध्यानं न च स्नानं न दानं न च सत्क्रियाः।
सर्वं ते निष्फलं यान्ति जीव हिंसा करोति यः ॥२००४॥

भारत में लिखा है—जो प्राणी बकरा, हिरण, सांभर, गीदड़, सुअर आदि पशुओं का घात करता है, वह उस पाप के फल से उस पशु के शरीर में जितने रोम हैं, उतने ही हजार वर्ष तक अग्नि में पकाया जाता है, यथा—

यावन्ति पशुरोमाणि पशुगात्रेषु भो नरः।
तावद्वर्ष सहस्राणि पच्यन्ते पशुघातकाः ॥२००५॥

भारत में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि विष्ठा के कीड़े को और स्वर्ग में रहने वाले इन्द्र को दोनों को जीवित रहने की आकांक्षा एक सी है। दोनों के जीवित रहने की इच्छा में कोई कमी नहीं है। इन्द्र महासुखी है, सो उसे तो जीवित रहने की इच्छा सदा लगी ही रहती है। परन्तु विष्ठा का कीड़ा भी मरना नहीं चाहता, दुःखी होने पर भी वहीं रहना चाहता है। इससे सिद्ध होता है कि उसको भी जीवित रहने की इच्छा लगी हुई है। इसी प्रकार मरने का भय दोनों को एक सा है। दोनों ही मरने से डरते हैं, मरने में सभी को समान दुःख होता है। इसलिए जिस प्रकार अपने प्राण मुझे प्यारे लगते हैं, उसी प्रकार अन्य प्राणियों को भी अपने-अपने प्राण प्रिय लगते हैं। यही समझकर बुद्धिमान पुरुषों को घोर और भयंकर ऐसा प्राणियों का वध कभी नहीं करना चाहिए। उपदेश बुद्धिमानों को ही दिया जाता है। मूर्ख और

अज्ञानी पुरुष तो किसी की मानता ही नहीं है, इसलिए उसको कहना ही व्यर्थ है। सो ही भारत में लिखा है—

अमेध्यमध्ये कीटस्य सुरेन्द्रस्य सुरालये।
समाना जीविताकांक्षा समं मृत्युभयं द्वयोः ॥२००६॥

यथा ममप्रियाः प्राणास्तथा चान्यस्य देहिनः।
इति मत्वा न कर्तव्यो घोर प्राणिवधो बुधैः ॥२००७॥

इसी प्रकार मार्कंडेय पुराण में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है कि हे अर्जुन! इस पृथिवी में भी मैं हूँ। समस्त अग्नि, वायु, वनस्पति आदि में भी मैं हूँ और तीनों लोकों में समस्त प्राणियों में भी मैं हूँ। मैं सर्वगत वा सब जगह, सब पदार्थों में, सब जीवों में रहने वाला हूँ। इसलिये सब जीवों में मुझे समझकर जो जीव की हिंसा नहीं करते, उनकी मैं रक्षा करता हूँ। जो जीवों की हिंसा करते हैं, उनका क्षय होता है। यह मार्कंडेय पुराण में लिखा है। यथा—

पृथिव्यामव्यहं पार्थ सर्वाग्नौ च जलेष्यहम्।
वनस्पति गतोप्यहं सर्वभूतगतोप्यहम् ॥२००८॥

यो मां सर्वगतं ज्ञात्वा न हिंसंति कदाचन।
तस्याहं न प्रणश्यामि स मे न प्रणश्यति ॥२००९॥

शिव धर्म में लिखा है कि मांस में, मद्य में, शहद में और मक्खन में उसी वर्ण के (मांस, मक्खन वा शहद के रंग के) असंख्यात असंख्यात जीव हर समय उत्पन्न होते रहते हैं। यथा—

मद्ये मांसे मधुनि च नवनीते बहिर्नृ ते।
उत्पद्यन्ते असंख्यातास्तद्वर्णास्तत्र जन्तवः ॥२०१०॥

इस प्रकार मांस में महा दोष हैं। पहले तो यह जीवों की हिंसा से उत्पन्न होता है। तथा फिर उसमें अनेक दोष हैं, यही समझकर धर्मात्मा पुरुष हिंसा का और मांस भक्षण का सर्वथा त्याग कर देते हैं।

जो जीव स्वयं मांस नहीं खाते, परंतु दूसरों को उपदेश देते हैं; यह राजाओं का धर्म है। शिकार खेलना राजाओं का धर्म है। उसके लिये मुहूर्त देते हैं सो हिंसा करना वा उसके लिये उपदेश देना वा कारण सामग्री मिलाना सब एक हैं। जो लोग

इन निंद्य कार्यों का उपदेश देते हैं, वे धर्म के नाश करने वाले पाप को बढ़ाने वाले, इंद्रियों के लंपटी अधर्मी और महापतित हैं। ऐसा समझना चाहिये।

प्रश्नः—यदि मांस में ऐसा दोष है तो श्राद्ध में मांस खिलाने का विधान क्यों लिखा है। स्मृति शास्त्र में लिखा है "मछली का मांस खिलाने से पितर लोग दो महीने तक तृप्त रहते हैं। हिरण के मांस से तीन महीने तक रहते हैं। भेड के मांस से चार महीने तक तृप्त रहते हैं, पक्षियों के मांस से पांच महीने तक, बकरे के मांस से छह महीने तक, कबूतर के मांस से सात महीने तक, एण जाति के हिरण के मांस से आठ महीने तक, रोझ नाम के हिरण से नौ महीने तक, सूअर तथा भैंस के मांस से दश महीने तक, खरगोश और कच्छप के मांस से ग्यारह महीने तक और गाय के दूध की खीर खिलाने से बारह महीने तक पितर लोग तृप्त रहते हैं। सो ही लिखा है—

द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन त्रिमासा हारिणेन वै।
औरभ्रेण तु चत्वारः शाकुनेन तु पंच वै ॥२०११॥
षट्मासाः छागमांसेन पार्षतेन तु सप्त वै।
अष्टावेणस्य मांसेन रौरवेण नवैव तत् ॥२०१२॥
दशमासास्तु तृप्यन्ति वराहमहिषामिषैः।
शशकूर्मस्य मांसेन मासा एकादशैव च ॥२०१३॥
संवत्सरं तु गव्येन पयसा पायसेन वै।
इस प्रकार श्राद्ध में मांस का विधान लिखा है, सो क्यों लिखा है ?

उत्तर :—जो लोग इस प्रकार मांस का विधान करते हैं, वे चाहे श्राद्ध करने वाले जैन गृहस्थ हों, चाहे श्राद्ध करने वाले आचार्य हों अथवा तृप्त होने वाले पितर हों; वे सब राक्षस वा भोल समझने चाहिए। क्योंकि मांस का विधान करना राक्षसों का काम है। दूसरी बात यह है कि यदि मांस के विधान का ही दृढ़ विश्वास किया जायगा, तो श्राद्ध अधिकार में जो तिल, चावल, जल, शर्करा, घी, दूध, मधु, दही आदि का पिण्ड करना कैसे बतलाया ? देखो श्राद्ध कल्प में कहा भी है—

तिलान्नं चैव पानीयं शर्कराज्यं पयस्तथा ।
मधु दध्ना समायुक्तः अष्टांगः पिंड उच्यते ।।२०१४।।

इस प्रकार जो अष्टांग पिण्ड बतलाया है, वह सब व्यर्थ हो जायगा । आगे तुम्हारे यहां लिखा है—

विंध्यस्य चोत्तरे भागे मांस भक्षी न दोषभाक् ।

अर्थात् विंध्याचल के उत्तर भाग में मांस भक्षण करने वाला दोषी नहीं गिना जाता । इस प्रकार कहकर बहुत से शक्ति के उपासक कान्यकुब्ज, सनोडिया, सर्वरिया पुरविया आदि ब्राह्मण मछली बकरा आदि का मांस भक्षण करते हैं । परन्तु उनका यह कहना और करना सब मिथ्या है । क्योंकि मांस कुछ पृथिवी जल से तो उत्पन्न होता ही नहीं है अथवा फलों के समान वृक्षों पर लगता नहीं है । वह जंगम जीवों के घात करने से होता है । इस प्रकार जंगम जीवों के घात करने से उत्पन्न हुए मांस को भक्षण करने वाले लोगों के भला जीव दया किस प्रकार पल सकती है, क्योंकि श्राद्धादिक में मांस का काम पडता ही है । इसलिए कहना चाहिए कि इस प्रकार कहने वाले वा मानने वाले बड़े ही अधर्मी हैं ।

आगे जो लोग यह कहते हैं कि क्षत्रियों के कुल में यह परम्परा से मांस भक्षण वा शिकार खेलना चला आया है तथा उनमें से कितने ही इन्द्रियों के लंपटी, विषय कषायों को पुष्ट करने वाले, महाकामी, अधोगति के जाने वाले, भ्रष्ट, महापापी हैं, लोग शास्त्रों में भी मांस भक्षण की पुष्टि करते हैं, धर्म मानकर हिंसा की वा मांस भक्षण की पुष्टि करते हैं, परन्तु ऐसे लोग महा-दुर्बुद्धि और महा-मिथ्यादृष्टि हैं । ऐसी बुद्धि वालों के उत्तम बुद्धि कभी नहीं हो सकती ।

ऐसे लोग ऊपर लिखे शास्त्रों को कहकर अपने मिथ्याधर्म की पुष्टि करते हैं परन्तु पहली बात तो यह है कि श्राद्ध कर्म कुछ मोक्ष देने वाला नहीं है । यह तो स्वार्थी लोगों ने अपने स्वार्थ के लिए चलाया है । इसलिए वह कभी प्रमाण रूप नहीं हो सकता । कदाचित् यह कहा जाय कि हमारे वेद में लिखा है सो भी ठीक नहीं है । क्योंकि जो जीव हिंसा का उपदेश दे, वह वेद कभी नहीं कहा जा सकता । उसे तो वेधक—जीवों का घात करने वाला कहना चाहिए । भला जो "यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः" अर्थात् पशुओं को यज्ञ में होम के लिए ही उत्पन्न किया है, इस महा हिंसा की पुष्टि

करते हैं, वे महाहिंसक, महापाप रूप घातक शस्त्रों के समान समझे जाते हैं। इसलिए उनको वेध वा वेधक कहना चाहिए।

यहां पर कदाचित् कोई वेद को मानने वाला यह कहे कि "यज्ञ में पशुओं को होमना हमारे वेद में लिखा है। सो मंत्रों की आहूतियों से होमना बतलाया है। इसी प्रकार देवता को बलिदान देने के लिए होम के अन्त में वध करना भी होम के लिए है। अथवा उस देवता के लिए है, इसलिए ऐसी हिंसा में हिंसा का पाप नहीं लगता है। ऐसे यज्ञों को जो करता है अथवा कराता है अथवा जो बकरा, भैंसा, घोड़ा, मनुष्य आदि जीव होमे जाते हैं, वे सब स्वर्ग में जाते हैं, इसलिए ही यज्ञ में जीव होमने का निषेध नहीं है, किन्तु कर्त्तव्य है ऐसा वेद कहता है, इस प्रकार वेद मानने वाले का कहना महा हिंसा के दोष को उत्पन्न करता है, क्योंकि यदि वेद यह कहता है कि मंत्रपूर्वक जीवों का होम करने से पाप नहीं लगता" तो वेद का यह कहना मुसलमानों के कहने के समान हुआ। क्योंकि मुसलमान भी यह कहते हैं कि हमारे कुरान की लिखका जीव के ऊपर पढनी चाहिए और उसको शस्त्र से मारकर उसका मांस भक्षण करना चाहिए। इस प्रकार जीव मारने और उसका मांस भक्षण करने में कोई दोष वा पाप नहीं है। लिखका पढ़ लेने के बाद जो जीव मारा जाता है वह सीधा बिहिश्त(स्वर्ग) में जाता है। इस प्रकार वेद का कहना और मुसलमानों का कहना समान ही हुआ। वेद मानने वाले गाय को अच्छी मानते हैं और मुसलमान सुअर को अच्छी मानते हैं, बस इतना ही दोनों में अन्तर दिखाई पड़ता है। हिंसा करना दोनों का बराबर है। दोनों ही समान हिंसक है।

यहां पर कदाचित् कोई यह कहे कि पहले लोग ऐसे समर्थ होते थे, वे जीवों को होम भी देते थे और फिर उनको मन्त्र पढ़कर जीवित भी कर देते थे। सो उनका कहना भी मिथ्या है। क्योंकि यदि वे इतने समर्थ थे तो फिर उन्होंने अपने कुटुम्ब को मरने से क्यों नहीं बचाया? अपने सब कुटुम्ब को अमर क्यों नहीं बना दिया? परन्तु आज तक किसी ने अपने कुटुम्ब को अमर नहीं बनाया, इससे सिद्ध होता है कि उनका इस प्रकार कहना सब मिथ्या है। जो जीव यज्ञ में होमे जाते हैं, वे सब सीधे स्वर्ग चले जाते हैं, यदि यह बात सच है तो फिर उन लोगों ने अपने कुटुम्ब को ही यज्ञ में क्यों नहीं दिया, जिससे उनका सब कुटुम्ब स्वर्ग चला जाता परन्तु अपने कुटुम्ब

को कोई नहीं होमता। इससे मालूम होता है कि होम करना सब स्वार्थ और जिव्हालंपटता के लिए है।

इसके सिवाय एक बात विचार करने की यह है कि यदि मांसभक्षण योग्य होता तो भारत आदि तुम्हारे ही शास्त्रों में मांस को अत्यंत निंद्य और त्याग करने योग्य क्यों बतलाया जाता है ? जैसा कि पहले भारत का प्रमाण देकर लिख चुके हैं। तथा यहां फिर भी प्रसंग आ गया है इसलिये प्रसंगानुसार कुछ और भी भी लिखते हैं। आपके धर्म शास्त्र में लिखा है—

मांसाशिनो न पात्राः स्युर्न मांस दानमुत्तमम्।
तत्पित्राणां कथं तृप्त्यै भुक्तं मांसाशिभिर्भवेत् ॥२०१५॥
पुत्रेणापित दानने पितरः स्वर्गमाप्नुयुः।
तर्हि तत्कृतपापेन तेपि गच्छंति दुर्गतिम् ॥२०१६॥
किं जाप्य होम नियमैस्तीर्थ स्थानेन भारत।
यदि मांसानि खादन्ति सर्वमेव निरर्थकम् ॥२०१७॥

जो मांस भक्षी हैं, वे कभी पात्र हो नहीं सकते। कितने ही लोग कहते हैं कि हम ब्राह्मण हैं इसलिये दान के पात्र हो सकते हैं। इसी प्रकार मांस का दान भी दान नहीं कहा जा सकता। ऐसी हालत में उन पितरों की तृप्ति कैसे हो सकती है ? कदाचित् ब्राह्मणों को मांस खिलाने से पितर लोग तृप्त हो जाय तो फिर यह भी मानना पड़ेगा कि वे पितर लोग भी मांस भक्षी हैं। यदि अपने पुत्र के द्वारा दान देने से यदि पितर लोगों को स्वर्ग की प्राप्ति होता है तो फिर पुत्र ने जो मांस दान के लिये जीवों का वध किया वा कराया, मांस पिंड दिया तथा मांस का भक्षण किया उसके पाप से पितरों को दुर्गति की भी प्राप्ति होनी चाहिये। हे भारत ! जो जीव मांस भक्षण करते हैं, वे चाहे जितना राम कृष्ण आदि का नाम उच्चारण कर जप करें चाहे जितना होम करें, चाहे जितने नियम करें, चाहे जितनी तीर्थ यात्रा करें और चाहे जितने तीर्थ स्नान करें परन्तु उनका सब करना व्यर्थ है, मिथ्या है। इस प्रकार धर्म शास्त्र और पुराणों में केवल मांस भक्षण के ही अनेक दोष बतलाये हैं। भारत के शांति पर्व में लिखा है—

न देयानि न ग्राह्याणि षड्वस्तूनि पंडितैः।
अग्निमंधु विषं शस्त्रं मद्यं मांसं तथैव च ॥२०१८॥

अर्थ—विचारशील पंडितों को अग्नि, शहद, विष, शस्त्र, मद्य और मांस ये छह वस्तुएँ न तो किसी को देनी चाहिये, न किसी से लेनी चाहिये। जब इन छहों पदार्थों का लेन देन भी निषिद्ध बतलाया है, तब फिर मांस भक्षण करना वा कराना किस प्रकार संभव हो सकता है। फिर भी जो मानते हैं, सो सब मिथ्या है। इसके सिवाय भी भारत के शांति पर्व में लिखा है—

एकतश्चतुरो वेदा ब्रह्मचर्यं च एकतः।
एकतः सर्वपापानि मद्यमांसं च एकतः ॥२०१९॥

न गंगा न च केदारं न प्रयागं न पुरस्करम्।
न च ज्ञानं न च ध्यानं न तपो जपभक्तयः ॥२०२०॥

न दानं न च होमश्च न पूजा न गुरौ नुतिम्
तस्यैव निष्फलं यान्ति यस्तु मांसं प्रखादत्ति ॥२०२१॥

तिलसर्षपमात्रं च यो मांसं भक्षयेवरः।
स याति नरकं घोरं यावच्चन्द्र दिवाकरौ ॥२०२२॥

जिस प्रकार एक ओर चारों वेद हैं और एक ओर ब्रह्मचर्य है, उसी प्रकार एक और संसार भर के समस्त पाप हैं और एक ओर मद्य मांस का सेवन है।

भावार्थ—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ये चार वेद हैं। सो चोरों ही वेद तो एक ओर हैं और स्त्री मात्र का त्याग करने रूप ब्रह्मचर्य एक ओर है, इनमें से चारों वेदों से शील व्रत की महिमा अधिक है, जिस प्रकार चारों वेदों से ब्रह्मचर्य की महिमा अधिक है उसी प्रकार संसार भर के समस्त पापों से मद्य मांस सेवन का पाप अधिक है। इससे सिद्ध होता है कि मद्य मांस सेवन करने से सबसे अधिक पाप होता है।

इसी प्रकार जो मांस भक्षण करते हैं, उनके न तो गंगा है, न केदार है, न प्रयाग है, न पुष्कर है, न ज्ञान है, न ध्यान है, न जप है, न तप है, न भक्ति है, न दान है, न होम है, न ज्ञान है, न वंदना है। अर्थात् मांस भक्षण करने वाले की सब क्रियायें व्यर्थ हैं, उसके किये हुये समस्त पुण्यकार्य भी व्यर्थ हो जाते हैं—निष्फल हो जाते हैं। इस प्रकार महादोष से भरे हुये मांस को जो तिल वा सरसों मात्र भी खाता है। वह जब तक आकाश में सूर्य चन्द्रमा रहेंगे तब तक घोर नरक में सड़ता रहेगा, इस प्रकार

मांस खाने का फल महा निंद्य और नीच बतलाया है ।

भारत में लिखा है—श्री कृष्ण पांडवों से कहते हैं—

स्नानोपभोग रहितः पूजालंकार वर्जितः ।
मधु मास तिवृत्तश्च गुणवान् तिथिभवेत् ॥२०२३॥

अर्थ—जिसने शहद और मांस का त्याग कर दिया है, वह चाहे स्नान उपभोग रहित हो और चाहे तिलक आदि पूजा से अलंकारों से रहित हो तो भी वह गुणवान् अतिथि माना जाता है । बहुत से लोग स्नान, आचमन, संध्या, तर्पण, तिलक कंठी आदि का अभिमान करते हैं परन्तु उन्हें सोचना चाहिये कि सबसे मुख्य शहद और मांस का त्याग है । जिसने शहद और मांस का त्याग नहीं किया है, उसके स्नान आचमन आदि का कोई मूल्य नहीं है । मांस शहद का त्याग किये बिना केवल स्नानादिक करने में कोई गुण नहीं है । शहद और मांस का त्याग करना सबसे श्रेष्ठ है । शक्ति के उपासकों को वा अन्य शहद मांस खाने वालों को यह उपदेश बहुत अच्छी तरह समझ लेना चाहिये ।

कितने ही भेषमात्र को धारण करने वाले वैरागी शहद और मांस का भक्षण करते हैं और शहद मांस को खाते हुये भी अपने में ब्राह्मणपना मानते हैं सो भी मिथ्या है । क्योंकि शहद और मांस का खाना ब्राह्मण का लक्षण नहीं है । किंतु चांडाल का लक्षण है । सो ही महाभारत के शांति पर्व में लिखा है—

मद्य मांस मधु त्यागी पंचोदुम्बरदूरगः ।
निशाहार परित्यक्तः एतद्ब्राह्मण लक्षणम् ॥२०२४॥
सत्यं नास्ति तपो नास्ति चेंद्रियनिग्रहः ।
सर्वभूतदया नास्ति एतच्चांडाल लक्षणम् ॥१०२५॥

अर्थ—जिसके मद्य, मांस और शहद के भक्षण करने का त्याग हो, बड़ फल, पिपल फल, गूलर, पाकर, अंजीर इन पांचों उदुम्बर फलों का त्याग हो और जिसके रात्रि में भोजन करने का त्याग हो, वही ब्राह्मण है । ब्राह्मण के ये ही लक्षण है, इन लक्षणों के बिना केवल अपने आप ब्राह्मण बनने वाले कभी ब्राह्मण नहीं हो सकते । जिसमें ऊपर लिखे ब्राह्मण के लक्षण हों और जो सम्यग्दर्शन से सुशोभित हों वही ब्राह्मण मानने योग्य समझा जाता है । जिसके मद्य मांसादिक का त्याग न हो, न सत्य भाषण करता हो, न तपश्चरण करता हो, न इन्द्रियों का निग्रह करता हो और जो

समस्त प्राणियों की दया भी पालन न करता हो वह ब्राह्मण नहीं किंतु चांडाल कहा जाता है। क्योंकि ये चांडाल के लक्षण हैं। मद्य मांसादि का सेवन करने वाला की ब्राह्मण नहीं हो सकता।

यदि यह बात है तो धर्म की उत्पत्ति किस प्रकार है? ऐसा प्रश्न अर्जुन ने श्री कृष्ण से पूछा है। सो ही भारत के शांति पर्व में लिखा है—

कथमुत्पद्यते धर्मः कथं धर्मं विवर्द्धते।
कथं च स्थाप्यते धर्मः कथं धर्मो विनश्यति ॥२०२६॥

अर्थ—अर्जुन पूछते हैं कि हे भगवन! धर्म किस प्रकार उत्पन्न होता है किन-किन कारणों से बढ़ता है, किस प्रकार ठहरता है और किस प्रकार नाश को प्राप्त होता है, इनका उत्तर जो श्री कृष्ण ने दिया है वह इस प्रकार है। जैसा कि भारत में लिखा है—

सत्येनोत्पद्यते धर्मो दयादानेन वर्द्धते।
क्षमया स्थाप्यते धर्मो क्रोध लोभाद्विनश्यति ॥२०२७॥

अर्थ—सत्य व्रत से धर्म उत्पन्न होता, दया पालन करने और दान देने से बढता है, समस्त जीवों पर क्षमा भाव धारण करने से धर्म की स्थिरता रहती है तथा क्रोध और लोभ से धर्म का नाश होता है।

इसके आगे फिर श्रीकृष्ण युधिष्ठिर से कह रहे हैं, जैसा कि भारत में लिखा है—

तस्य व्यर्थाणिकर्माणि सर्वे यज्ञाश्च भारत।
सर्वे तीर्थाभिषेकाश्च यः कुर्यात्प्राणिनां वधः॥

अहिंसा सत्यमस्तेयं त्यागो मैथुनवर्जनम्।
एतेषु पंच सूक्तेषु सर्वे धर्माः प्रतिष्ठिताः ॥२०२८॥

अहिंसा लक्षणो धर्मः अधर्मः प्राणिनां वधः।
तस्माद्धर्मार्थिना लोके कर्त्तव्या प्राणिनां दया ॥२०२९॥

ध्रुवं प्राणिवधे यज्ञो नास्ति यज्ञ हिंसकः।
सर्वसत्वेष्वहिंससैव सदा यज्ञो युधिष्ठिर ॥२०३०॥

अर्थ— जो प्राणियों का वध करता है, उसकी सब क्रियाएँ, सब यज्ञ और सब तीर्थों पर किये हुए अभिषेक व्यर्थ हैं। क्योंकि हिंसा असत्य परिग्रह का त्याग और मैथुन करने का त्याग वा ब्रह्मचर्य का पालन करना इन पांचों में ही सब धर्मों का समावेश हो जाता है। इस संसार में अहिंसा वा किसी प्रकार की हिंसा न करना ही धर्म है और प्राणियों का वध करना ही अधर्म है, इसलिये धर्मात्मा लोगों को समस्त प्राणियों पर दया अवश्य पालन करनी चाहिये। जो यज्ञ प्राणियों का वध करने से होता है, वह कभी यज्ञ नहीं कहा जा सकता। क्योंकि प्राणियों का वध करने वाला हिंसक समझा जाता है। और हे युधिष्ठिर! यज्ञ वही कहलाता है, जिसमें समस्त प्राणियों पर दया पालन की जाय, किसी भी प्राणी की हिंसा न की जाय। इसी भारत के शांति पर्व में लिखा है—

इन्द्रियाणि पशून् कृत्वा वेदीं कृत्वा तपोयीम्।
अहिंसामाहुतिं कुर्याच्चात्मयज्ञं यजामहे ॥२०३१॥

अर्थ :—पांचों इन्द्रियां ही होम करने की सामग्री बनाना चाहिये, तपश्चरण को वेदी बनाना चाहिये और अहिंसा की आहूति देनी चाहिये। इस प्रकार आत्मयज्ञ सदा करते रहना चाहिये।

इस संसार में देखो बलिदान लेने वाले देवता भी कैसे निर्दयी हैं, जो हाथी, घोड़े, सिंह आदि का बलि तो नहीं लेते, किन्तु केवल बकरे का होम बतलाते हैं। सो ठीक ही है। दैव भी दुर्बलों का ही घात करता है, सो ही लिखा है—

अश्वं नैव गजं नैव सिंहो नैव च नैवच।
अजापुत्रं बलिं ददात् दैवो दुर्बल घातकः ॥२०३२॥

जो देवता बलिदान चाहते हैं, वे देवता भी निर्दयी समझना चाहिये और उनका कर्ता भी महापापी समझना चाहिये। लिखा भी है—

यज्ञं कृत्वा पशून हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम्।
यद्येव गम्यते स्वर्गे—नरके केन गम्यते ॥२०३३॥

अर्थात्—यज्ञ करने वाले यज्ञ में अनेक पशुओं को मारकर और रुधिर की कीचड़ भरकर यदि स्वर्ग चले जाते हैं, तो फिर नरक में किन-किन कामों के करने से जायेंगे?

भावार्थ :—ये सब काम तो नरक में जाने के कारण हैं, यदि इनको स्वर्ग का कारण मान लिया जायगा तो फिर नरक का कारण संसार में कुछ मिलेगा ही नहीं अथवा अहिंसा सत्य आदि को नरक का कारण मानना पड़ेगा, परन्तु ऐसा हो नहीं सकता; इसलिए यज्ञादिक की कल्पना सब व्यर्थ है। भारत के शांति पर्व में कृष्ण अर्जुन के संवाद के समय लिखा है कि लोभी, मायाचारी, कपटी और इन्द्रियों के विषय भोगों के लोलुपी मनुष्यों ने केवल अपने स्वार्थ के लिए जीवों की हिंसा में धर्म माना है, सो उनकी यह विपरीतता है। सो ही लिखा है—

लोभ मायाभि भूतानां नराणां भोगकांक्षिणाम् ।
एषां प्राणिवधे धर्मो विपरीतता भवन्ति ते ॥२०३४॥

भारत में दया और हिंसा का स्वरूप दिखलाते हुए लिखा है—

अहिंसा सर्वभूतानां सर्वज्ञैः प्रतिभासिता ।
इदं हि मूलं धर्मस्य शेषं तस्यैव विस्तरः ॥२०३५॥
उद्यस्तं शस्त्रमालोक्य विषादमयविह्वलाः ।
जीवाः कम्पंति संत्रस्ताः नास्ति मृत्युसमं भयम् ॥२०३६॥

अर्थः—समस्त जीवों की दया पालना, सबकी रक्षा करना अहिंसा है। यही सब धर्मों का मूल है। बाकी सब इसी का विस्तार है।

भावार्थ—जिस प्रकार वृक्ष के टिकने का मुख्य कारण जड़ है। जड़ होने पर उसकी शाखायें प्रतिशाखायें होती हैं और शाखायें आदि होने पर उन पर फल लगते हैं। उसी प्रकार धर्म रूपी वृक्ष की जड़ वा मूल दया है। दया के सहारे ही यह धर्म रूपी वृक्ष टिका है। बाकी सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य आदि सब इसी दया रूप मूल की शाखायें हैं तथा त्याग, व्रत, जप, तप, संयम, उपवास, तीर्थ यात्रा दान आदि भी सब इस दया धर्म की शाखायें हैं। इस प्रकार यह दया धर्म सर्वोत्तम धर्म है। ऐसा सर्वज्ञ देव ने कहा है। हिंसा इससे विपरीत है। देखो जिस समय चंड कर्मों को करने वाला, दुष्टबुद्धि को धारण करने वाला, हिंसा के भाव रूप रौद्र परिणामों से अत्यन्त भयानक, महापतित अधम नीच भ्रष्टाचारी कोई घातक वा शिकारी पुरुष पशु-पक्षियों को देखकर उनके मारने के लिए उन पर शस्त्र उठाता है उस समय उस चमचमाते हुए शस्त्र को देखकर अपने मरने के भय से वह पशु वा पक्षी अत्यन्त विषाद को प्राप्त होता है, अत्यन्त विह्वल हो जाता है, घबड़ा जाता है, उसका शरीर कंपने लगता

है तथा वह बहुत ही भयभीत हो जाता है। सो ठीक ही है, क्योंकि इस संसार में मृत्यु के समान और कोई भय नहीं है। ऐसी हिंसा को न जाने लोग किस प्रकार करते हैं। भारत में लिखा है—

कंटकेनापि विद्धस्य महती वेदना भवेत्।
चक्रकुंतासिशक्त्याद्यैः छिद्यमानस्य किं पुनः ॥२०३७॥

अर्थ :—यदि अपने पैर आदि शरीर में कहीं कांटा भी लग जाय तो उससे बड़ी भारी वेदना वा दुःख होता है फिर भला अन्य जीवों पर चक्र, भाला, बरछा, तलवार, शक्ति तीर, गोली आदि अनेक प्रकार के शस्त्रों के प्रहार करने पर छिदते वा मरते हुए उन जीवों को कितना दुःख होता होगा। अपने शरीर में कांटे का भी महादुःख होता है और उस कांटे से बचने के लिए जूता पहनते हैं वा और अनेक उपाय करते हैं परन्तु वे ही लोग अन्य जीवों पर शस्त्रों का प्रहार करते हुए उनके शरीर में अनेक घाव करते हुए उनको मार डालते हैं यह कितना बड़ा अन्याय है। ऐसे लोग शिकारी व व्याध कहे जाते हैं। उनके वस्त्र वेष आदि भी बड़ा विकराल और पाप रूप दिखाई पड़ते हैं।

भारत में लिखा है—श्रीकृष्ण युधिष्ठिर से कहते हैं कि—

यो दद्यात्कांचनं मेरुं कृत्स्नां चापि वसुन्धराम्।
एकोऽपि जीवितं दद्यात् न च तुल्यं युधिष्ठिर ॥२०३८॥

अर्थ :—श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे युधिष्ठिर! किसी पुरुष ने मेरु पर्वत के समान सुवर्ण दान दिया तथा समस्त द्वीपों की समस्त पृथ्वी दान दे दी। किसी दूसरे मनुष्य ने किसी एक जीव को अभयदान दिया अर्थात् उसे मरने से बचाया, उसे जीवनदान दिया; तो उस सुवर्णदान वा पृथ्वी दान देने वाले का पुण्य जीवदान देने वाले के पुण्य के समान नहीं होता।

भावार्थ—उस सुवर्णदान वा समस्त पृथ्वीदान से भी एक जीव के अभयदान का पुण्य बहुत अधिक है। संसार में अभयदान के समान और कोई पुण्य नहीं है अथवा कोई दान नहीं है। जो लोग अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए जीवहिंसा की पुष्टि करते हैं, वे अत्यन्त दुष्ट और नीच हैं। भारत में लिखा है—

यो यत्र जायते जन्तुः स तत्र रमते चिरम्।
ततः सर्वेषु भूतेषु दयां कुर्वन्ति साधवः ॥२०३९॥

अर्थात्—यह जीव जहां जन्म लेता है, वहीं रम जाता है, क्रीडा करने लगता है, वहीं सुख मानता है और वहां ही बहुत दिन तक रहकर जीना चाहता है। इसीलिये सज्जन पुरुष वा उत्तम मनुष्य समस्त प्राणियों पर दया पालन करते हैं। भारत में लिखा है—

यस्य चित्तं द्रवी भूतं कृपया सर्वजन्तुषु।
तस्य ज्ञानं च मोक्षं च किं जटा भस्म चाम्बरैः ॥२०४०॥

जिसका हृदय समस्त प्राणियों में होने वाली दया के द्वारा द्रवीभूत है, कोमल है, उसी को ज्ञान की प्राप्ति होती है और उसी को मोक्ष की प्राप्ति होती है। ज्ञान और मोक्ष के लिये जटाओं का बढ़ाना, शरीर में भस्म लगाना तथा गेरु आदि के रंगे हुए वस्त्रों को धारण करना सब व्यर्थ हैं। बिना दया के केवल भेष धारण करना स्वांग है, उस भेष से मोक्ष नहीं मिल सकता। वह भेष केवल लोभ के लिए है।

यदि जीवों के वध करने में, जीवों की हिंसा करने में धर्म है और जीवों का घात करने वाले वा मांस भक्षण करने वाले पुरुष स्वर्ग में जाते हैं, तो फिर संसार का त्याग करने वाले व्रती, संयमी, तपस्वी वा अनेक यम नियमों को धारण करने वाले पुरुषों को स्वर्ग लोक की प्राप्ति कभी नहीं होनी चाहिये। ऐसे तपस्वियों को फिर नरक की प्राप्ति होनी चाहिये परन्तु ऐसा होता नहीं है। भागवत में लिखा है—

यदि प्राणिवधे धर्मः स्वर्गश्च खलु जायते।
संसार मोचकानां तु कुतः स्वर्गोभिधीयते ॥२०४१॥

इससे सिद्ध होता है कि जीवों की हिंसा करने वाले मांस भक्षण करने वाले वा और भी सप्त व्यसनों का सेवन करने वाले जीव ही नरक में जाते हैं। लिखा भी है—

द्यूतं च मासं च सुरां च वेश्यां पापर्द्धिचौरीपरदार सेवाम्।
सेवन्ति सप्तव्यसनानि लोकाः घोरातिघोरे नरके प्रयान्ति ॥२०४२॥

अर्थ—जूआ खेलना, मांस भक्षण करना, मद्य पान करना, वेश्यासेवन करना, शिकार खेलना, चोरी करना और परस्त्री सेवन करना ये सात व्यसन कहलाते हैं। जो पुरुष इन सातों व्यसनों का वा इनमें से किसी भी व्यसन का सेवन करते हैं, वे घोर से भी महाघोर नरक में जाते हैं। इन व्यसनों के सेवन करने का ऐसे ही नरक में जाना ही फल है।

कोई कोई कहते हैं कि हम तो तीर्थों पर स्नान करके अथवा और कोई पुण्य कार्य करके इन व्यसनों से उत्पन्न हुए पापों को धो डालते हैं, सो उनका यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि इसका उत्तर पहले अनेक श्लोकों का प्रमाण देकर अच्छी तरह बतला चुके हैं। प्रसंगानुसार थोड़ा सा यहां भी लिखते हैं। भारत में लिखा है—

मृदो भार सहस्त्रेण जलकुम्भ शतेन च।
न शुद्धयन्ति दुराचाराः तीर्थस्नान शतैरपि ॥२०४३॥
काम रागमदोन्मत्ताः स्त्रीणां ये वशवर्तिनः।
न ते जलेन शुद्धयन्ति स्नाम तीर्थ शतैरपि ॥२०४४॥

अर्थः—जो पुरुष दुराचारी है, वह अपनी शुद्धता के लिए यदि हजार भार प्रमाण मिट्टी अपने हाथ-पैर आदि सारे शरीर पे लगावे और फिर गंगा, यमुना, सरस्वती आदि नदियों के पवित्र जल के सैकड़ों घड़े भरकर स्नान करे, तो भी वह शुद्ध नहीं होता। दुराचारी सैकड़ों तीर्थ स्नानों से भी शुद्ध नहीं हो सकते। इसी प्रकार जो लोग काम के राग से मदोन्मत्त हो रहे हैं और जो सदा स्त्रियों के वशीभूत रहते हैं, वे पुरुष न तो जल से ही शुद्ध होते हैं और न सैकड़ों तीर्थ स्नानों से शुद्ध होते हैं। दुराचारी लोगों को ऐसा ही महापाप लगता है, जो तीर्थों के स्नान से भी नहीं छूट सकता। फिर भला वह पाप दूसरी जगह कहां छूट सकता है? अर्थात् वह पाप कहीं नहीं छूट सकता।

शारंगधर संहिता में लिखा है—

कर्षाभ्यामर्द्धपलं ज्ञेयं सुक्तिरष्टमिका तथा।
सूक्तिभ्यां च पलं ज्ञेयं मुष्टिराद्यं चतुर्थिका ॥२०४५॥

दश मासे का एक कर्ष होता है। लिखा भी है—"कर्षस्तु दशमासकः", दो कर्ष का एक पैसा होता है। दो पैसे का एक टका होता है। यहां टका कहने से टका भर तौल समझना चाहिये। इस प्रकार चालीस मासे का एक टका भर तौल समझना चाहिये। आगे उसी शारंगधर में लिखा है—

पलानां द्विसहस्त्रं तु भारः एकः प्रकीर्तितः।

अर्थात्—दो हजार पलों का एक भार होता है। इस प्रकार के एक हजार भार मिट्टी से तथा गंगा आदि तीर्थों के सैकड़ों घड़े जल से भी मांसाहारी कभी शुद्ध नहीं हो सकता। यही बात पहले पर्व में लिखी है—

चित्तं रागादिसंविलष्टमलीक वचनं मुखम् ।
जीवं हिंसाभिः कायोयं गंगा तस्य परान्मुखी ॥२०४६॥

अर्थ :—जिसका चित्त राग, द्वेष, मोह, मद, काम आदि से मलीन है, मुख मिथ्या वचनों से झूठ बोलने से मलीन है और जीवों की हिंसा करने से जिसका शरीर मलीन है। उसके लिए गंगा भी प्रतिकूल हो जाती है। गंगा ऐसे पुरुषों के सन्मुख कभी नहीं हो सकती। ऐसे पापियों को नहीं मिल सकती अर्थात् ऐसे पापियों के पाप तीर्थों में भी कट नहीं सकते।

कोई-कोई तीर्थों में स्नान करने मात्र से ही समस्त पापों का छूट जाना मानते हैं तथा शुभ गतियों का होना मानते हैं, सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि यदि तीर्थों में स्नान करने मात्र से जीव तिर जाय, पापों से छूट जाए, तो फिर गंगा आदि तीर्थों के जल में रहने वाले मछली, मेढक, मगरमच्छ, कछुवा आदि जलचर जीव सब ही मुक्त हो जाना चाहिये। सब ही के पाप छूट जाना चाहिये। परन्तु ऐसा होता नहीं है। लिखा भी है—

यद्यंबुस्नानतो देही कृतपापाद्विमुच्यते ।
मुक्तिं यांति सदा सर्वे जीवास्तोयसमुद्भवाः ॥२०४७॥

वेद व्यास ने अठारह पुराण बनाये हैं। परन्तु उन सबका सार केवल दो वचनों में लिखा है। जीवों को अभयदान देने से तथा अन्य प्रकार से पर जीवों का उपकार करने से पुण्य होता है तथा अन्य जीवों को पीड़ा देने से पाप होता है। बस सब पुराणों में ये ही दो वचन सार हैं और बाकी सब निःसार हैं। सो ही लिखा है—

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम् ।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥२०४८॥

इस प्रकार और भी अनेक पुराणों में जीवों की हिंसा करने में और मांस भक्षण करने में अनेक दोष बतलाये हैं। तथा स्थान-स्थान पर इनके त्याग करने का उपदेश दिया है। इसलिए सत्पुरुषों को इन दोनों का त्याग कर देना ही उचित है। जो निर्दयी, शूद्रों के समान विषयों के लंपटी, महापापों के द्वारा अधोगति को जाने वाले धर्मों का नाश करने वाले और पापों को बढ़ाने वाले लोग अनेक प्रकार की बातें बनाकर जीव हिंसा करने मांस भक्षण करने, मद्य पान करने, शहद खाने तथा

और भी महापापों का आचरण करने में आनन्द मानते हैं और धर्म की हंसी करते हैं, वे महा अशुभ कर्मों का बंध कर नरकादि कुगतियों में चिरकाल तक परिभ्रमण करते रहते हैं।

प्रश्न :—मुनिराज पींछी रखते हैं सो उसमें ऐसा कौन सा गुण है, जो वे सामयिक, वंदना देव दर्शन करने में चलते बैठते सब कामों में उसको अपने पास रखते हैं। तथा उसके वियोग में प्रायश्चित लेते हैं, सो क्या बात है ?

उत्तर :—पींछी में पांच गुण होने चाहिए। जो धूल और पसीने को दूर करे, जो कोमल हो, जो चिकनी हो और जो छोटी वा हल्की हो। ये पांच गुण पीछी में होने चाहिये। ऐसी पींछी से जीवों को अभयदान मिलता है। यह उसमें सबसे उत्तम गुण है। ऐसा भगवान अरहंत देव ने कहा है। यदि पींछी न हो तो साधु जनों की ईर्या समिति का नाश हो जाता है। तथा स्थूल सूक्ष्म आदि अनेक जीवों का घात होता है। जिससे उन मुनियों का मुनि पद ही भ्रष्ट हो जाता है। इसीलिए पींछी के वियोग में मुनिराज प्रायश्चित लेते हैं, सो ही सकलकीर्ति धर्मप्रश्नोत्तर में लिखा है—

अथ पिच्छिका गुणाः रजः स्वेदाग्रहणद्वयम्।
मार्दवं सुकुमारत्वं लघुत्वं सद्गुणा इमे ॥२०४९॥
पंच ज्ञेयास्तथा ज्ञेया निर्भयादि गुणोत्तमाः।
मयूरपिच्छ जातायाः पिच्छिकाया जिनोदिताः ॥२०५०॥
समितिस्तां विना नश्येत्साधूनां कार्य साधने।
स्थूल सूक्ष्मादि हिंसाद्या व्यर्थं जन्मदोक्षणम् ॥२०५१॥

इस पंचमकाल के दोष से कितने ही ऐसे मुनि बन गये हैं, जो पींछी नहीं रखते और अपने को मुनि मानते हैं, परन्तु वास्तव में वे मुनि नहीं हैं। शास्त्रों में उनको जैनाभासी (जैनी तो नहीं है, परन्तु जैनियों के समान दिखाई पड़ते हैं) बतलाया है। सो ही नीतिसार में लिखा है—

कियत्यपि गते काले ततः श्वेताम्बरोऽभवत्।
द्राविडो यापनीयश्च केकीसंघश्च मानसः ॥२०५२॥

केकिपिच्छः श्वेतवासो द्राविडो यापनीयकः ।
निःपिच्छश्चेति पंचैते जैनाभासाः प्रकीर्तिताः ॥२०५३॥
स्वस्वमतयशोगानेन शिष्टान्न व्यभिचारिणः ।

प्रश्न :—भगवान तीर्थंकर के जन्माभिषेक के समय अपने-अपने इन्द्रों सहित चारों निकायों के देव आते हैं। उस समय इन्द्र की सवारी के आगे इन्द्र की सात प्रकार की सेना चलती है। वह सातों प्रकार की सेना गुणानुवाद करती चलती है। सो वह सेना तीर्थंकर भगवान के ही गुण गाती है या और भी किसी के गुण गाती है ?

उत्तर :—सातों ही प्रकार की सेना नृत्य करती हुई चलती है। उनमें से प्रथम सेना के देव, विद्याधर कामदेव और राजाधिराजों के चरित्र और गुण गाते हुए गमन करते हैं। दूसरी सेना के देव अर्द्ध मंडलीक सकल मंडलीक और महा-मंडलीक राजाओं के चरित्र और गुण गाते हुए तथा नृत्य करते हुए गमन करते हैं। तीसरी सेना के देव बलभद्र, नारायण और प्रतिनारायणों के बल वीर्य गुण आदि का वा उनके जीवन चरित्र का वर्णन करते हुए तथा नृत्य करते हुए गमन करते हैं। चौथी सेना के देव चक्रवर्ती की विभूति तथा बल वीर्य आदि का गुण वर्णन करते हुए चलते हैं। पांचवी सेना के देव लोकपाल जाति के देवों का गुणानुवाद तथा उसी भव से मोक्ष जाने वाले चरमशरीरी मुनियों का गुणानुवाद करते हुए चलते हैं। छठी सेना के देव गणधर देव तथा ऋद्धिधारी मुनियों के गुण और यश का वर्णन करते हुए चलते हैं। सातवीं सेना के देव श्री तीर्थंकर के छियालीस गुणों का वा उनके जीवन चरित्र का वर्णन करते हुए, गाते, नृत्य करते हुए गमन करते हैं। सो ही सिद्धान्त सार दीपक में लिखा है —

प्रथमे नर्तकीनी के विद्याधर कामदेव राजाधिराजनां चरित्रेण नटन्तोऽमराः गच्छन्ति। द्वितीये सकलार्द्ध महामंडलीकानां वरचरित्रेण नर्तनं कुर्वन्तः सुराश्च। तृतीये बलभद्र वासुदेव प्रतिवासुदेवानां वीर्यादिगुण निबद्ध चरित्रेण नृत्यंतो देवाः गच्छंति। चतुर्थे चक्रवर्तिनां विभूति वीर्यादिगुण निबद्ध चरित्रेण महन्नर्तनं भजन्तोऽमराश्च। पंचमे चमरांगय तिलोकपाल सुरेन्द्राणां गुणरचित चरित्रेण नटन्तो निर्जराश्च। षष्ठे गणधर देवानां ऋद्धि ज्ञानादि गुणोत्पन्न वरचरित्रेण वर नृत्यं

कुर्वाणः सुराः यान्ति । सप्तमे नर्तकानी के तीर्थंकराणां चतुस्त्रिंशदतिशयाष्ट प्रातिहार्यानन्त ज्ञानादि गुण रचित चरित्रेण तद्गुणरागरसोत्कटाः नाकिनः प्रवरं नर्तनं प्रकुर्वन्तो गच्छन्ति ।

प्रश्न :—वे देव किस स्वर से गाते हैं ?

उत्तर :—खड्ग, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत, निषाद ये सात स्वर हैं । इनमें से एक-एक सेना, एक-एक स्वर से गाती है तथा अनुक्रम से गाती है । सो ही सिद्धान्तसार दीपक में लिखा है—

आद्यनी के खड्ग स्वरेण जिनेन्द्र गुणान् गायन्तः, द्वितीये ऋषभस्वरेण च गानं कुर्वन्तः, तृतीये गांधार नादेन गायन्तो गंधर्वा गच्छति ।

चतुर्थे मध्यमध्वनिना जन्माभिषेक संबन्धि गीतान् गायन्तः, पंचमे पंचम-स्वरेण गानं कुर्वाणः, षष्ठे धैवतध्वनिना च गायन्तः, सप्तमे निषाद घोषणकलं गीतगानं कुर्वन्तो गंधर्वा व्रजन्ति ।

प्रश्न :—सातों ही नरकों में कोई महापापी जीव अलग-अलग नरकों में उत्कृष्टता कर कितनी-कितनी बार जन्म धारण करता है ?

उत्तर :—पहले धम्मा नाम के नरक में उत्कृष्टताकर असंज्ञी जीव जाता है । सो वह अधिक से अधिक आठ बार जाकर जन्म लेता है । दूसरे वंशा नाम के नरक में सरीसृत अर्थात् सर्प (फणा रहित जाति का जोडी डू जाति का सर्प) को आदि लेकर महापाप के उदय से अधिक से अधिक सात बार जन्म धारण करते हैं । तीसरे मेघा नाम के नरक में दुष्ट पक्षी आदि जीव उत्कृष्ट पाप के उदय से छह बार जाकर जन्म लेते हैं । चौथे अंजना नाम के नरक में सर्पादिक तिर्यञ्च महापाप के उदय से पांच बार जन्म लेते हैं । पांचवें अरिष्टा नाम के नरक में सिंहादिक जीव अधिक से अधिक चार बार जन्म लेते हैं । छठवें मघवी नाम के नरक में मनुष्यणी (स्त्री) अधिक से अधिक तीन बार जन्म लेती है । सातवें माघवी नाम के नरक में मनुष्यादिक जीव अधिक से अधिक दो बार जन्म लेते हैं ।

इस प्रकार ये जीव मिथ्यात्वादिक महापाप कर्मों से तथा हिंसादिक पापों से से उत्पन्न हुए कर्मों के उदय से नरकों में उत्कृष्ट जन्मों को धारण करते हैं । तथा वहां पर सागरों पर्यंत की आयु तक छेदन, भेदन, शूलारोपण, ताडन पीडन, आदि के महादुःख भोगते हैं । उन दुःखों को भगवान सर्वज्ञ देव ही जानते हैं । इसलिये भव्य

जीवों को मिथ्यात्वादिक महापापों का त्याग कर देना चाहिये। सम्यग्दर्शन धारण करना चाहिये तथा अपने आत्मा का कल्याण करने के लिये अहिंसा आदि व्रतों को धारण करना चाहिये।

प्रश्न :—यहां पर नरकों में जाने को जो संख्या लिखी है, सो जीव नरकों से निकलकर अन्य जन्मों को धारण करते हैं, फिर नरक में जाता है। सो नरक से निकलकर किन-किन गतियों में जन्म लेता है ?

उत्तर :—नरक गति से निकलकर मनुष्य और तिर्यञ्च गति ही प्राप्त होती है। मनुष्य वा तिर्यञ्च गति को पाकर बाकी बचे हुए पहले के पाप कर्म के उदय से वा उस उस भव में किये हुये पाप कर्मों के उदय से फिर नरक में जाता है। सातवें नरक से निकलकर तिर्यञ्च ही होता है। सो सिद्धान्तसार में लिखा है—

उत्कृष्टेन स्वसंतत्या सोऽसंज्ञी प्रथमावनौ।
अष्टवारान् क्रमाद् गच्छेत्सरीसृपोतिपापतः ॥२०५४॥
सप्तवारान् द्वितीयायां तृतीयायां खगो व्रजेत्।
षड्वारांश्च चतुर्थ्यां हि पंचवारान् भुजंगमः ॥२०५५॥
पंचम्यां च चतुर्वारान यांति सिंहो निरंतरम्।
षष्ठ्यां यांत्यिंगिवारान् सप्तम्यां वारद्वयं पुमान् ॥२०५६॥
एकभ्रेभ्यो निर्गता एते तिर्यग्नरगतिद्वये।
कर्मभूमिषु जायंते गर्भजाः संज्ञिनः स्फुटम् ॥२०५७॥

प्रश्न :—स्वर्ग के विमान आकाश में किसके आधार से स्थित हैं ?

उत्तर :—सौ धर्म स्वर्ग से लेकर सहस्त्रार तक बारह स्वर्गों के विमान जल और पवन के आधार से हैं। तथा आनत स्वर्ग से लेकर बाकी के स्वर्ग, नौ ग्रैवेयक, नौ अनुदिश और पांचों पंचोत्तरों के समस्त विमान बिना किसी आधार के निराधार अपने आप स्थिर हैं। सो ही सिद्धांतसार दीपक के प्रथम अध्याय में लिखा है—

जलवातद्वया घोरसंव व्योम्नि मनोहराः।
प्रागन्ताधिकल्पानां चतुर्वर्णा विमानकः ॥२०५८॥
ग्रैवेयकादि पंचानुत्तरान्तानां भवन्ति ते।
निराधारास्त्रयोविंशागू सहस्त्रप्रमाः स्वयम् ॥२०५९॥

प्रश्न :—यह लोक किसके आधार से है ?

उत्तर :—यह लोक घनोदधिवात, घनवात और तनुवात के आधार से है। अर्थात् यह लोक घनोदधि नाम की घनी भूत वायु से घिरा है। उसी के आधार पर ठहरा हुआ है, घनोदधिवायु घनवायु के आधार सेहैं, घनवायु तनुवायु के आधार से है और तनुवायु आकाश के आधार से है तथा आकाश स्वयं अपने आधार से है, सो ही सिद्धांतसार में पहले अधिकार में लिखा है—

घनोदधि घनाख्यश्च तनुवात इमे त्रयः।
सर्वतो लोकमावेष्ट्य तिष्ठंति वायवः ॥२०६०॥

श्रुतसागरी टीका में भी लिखा है—

घनोदधि जगत्प्राणः सर्वलोकस्य वेष्ठन।
घनप्रभंजनो नाम द्वितीयस्तदनंतरम् ॥२०६१॥
तनुवात उपयस्य त्रैलोक्याधार शक्तिमान्।
वाता एते स्थिति स्तेषां कथ्यमानानि शम्यतं ॥२०६२॥

प्रश्न :—चतुर्णिकाय के देवों में महा ऋद्धियों धारण करने वाले इन्द्रादिक देव अपनी आयु पूरी कर किस-किस गति को प्राप्त होते हैं ?

उत्तर :—सौ धर्म इन्द्र सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के प्रभाव से उसकी महादेवी इन्द्राणी, समस्त दक्षिण दिशा के इन्द्र चारों लोकपाल समस्त लौकान्तिक देव और सर्वार्थ सिद्धि के अहमिन्द्र अपनी आयु के क्षय होने पर वहां से चयकर महा पुण्याधिकारी मनुष्य भव धारण करते हैं। वहां पर वे पुरुष ही होते हैं। संसार के सुखों को भोगकर मुनिव्रत धारण कर तथा तपश्चरण कर केवलज्ञान पाकर मोक्ष जाते हैं अर्थात् ऊपर लिखे हुए सौ धर्म इन्द्रादिक देव एक भवावतारी जीव हैं। एक मनुष्य भव धारण करके ही मोक्ष जाते हैं।

नौ अनुदिशों के देव, पांचों पंचोत्तरों के देव वहां से चयकर नारायण प्रतिनारायण पद को कभी नहीं पाते हैं। इस प्रकार तिर्यञ्च मनुष्य और भवनत्रिक के देव अपनी आयु के क्षय होने पर वहां से चयकर शलाका पुरुष कभी नहीं होते अर्थात् चौबीस तीर्थंकर बारह, चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ बल भद्र और नौ प्रतिनारायण इन त्रेसठ शलाका पुरुषों की पदवी को कभी प्राप्त नहीं होते तथा विजयादिक विमानों में रहने वाले अहमिन्द्र तथा अनुदिशों के अहमिन्द्र मनुष्य भव धारण कर मोक्ष जाते

हैं। अर्थात् वहां से चयकर मनुष्य होकर फिर विजयादिक में जन्म लेकर फिर मनुष्य होकर मुक्त होते है। सो ही मोक्षशास्त्र में लिखा है—

विजयादिषु द्विचरमाः ।

यही सब सिद्धांतसार प्रदीपक के पंद्रहवें अधिकार में लिखा है—

सौधर्मेन्द्रस्य दृष्ट्वाप्ता महादेव्यो दिवश्च्युताः ।
सर्वे च दक्षिणेन्द्रा हि चत्वारो लोकपालकाः ॥२०६३॥
सर्वे सौकांतिका विश्वे सर्वार्थसिद्धि जामराः ।
निर्वाणं तपसा यान्ति संप्राप्य नृभवं शुभम् ॥२०६४॥
नवानुत्तरजा देवाः पंचानुत्तर वासिनः ।
ततश्च्युत्वा न जायंते वासुदेवा न तद्द्विषः ॥२०६५॥
तिर्यञ्चो मानवाः सर्वे भावनादि त्रिजामराः ।
शलाकाः पुरुषाः जातु न भवन्त्यमरार्चिता ॥२०६६॥
विजयादि विमानेभ्योऽहमिन्द्रा गत्य भूतलम् ।
मर्त्यजन्मद्वयं प्राप्य ध्रुवं गच्छन्ति निर्वृत्तिम् ॥२०६७॥

प्रश्न— इस मध्यलोक में जंबूद्वीप से लेकर स्वयंभूरमण समुद्र तक काल चक्र का वर्तीव किस प्रकार है अर्थात् सुखमा-सुखमा आदि छह कालों में से कौन-कौन काल कहां वर्तता है ?

उत्तर :—ढ़ाई द्वीप के पंचमेरु सम्बन्धी पांचों भरत क्षेत्र और पांचों ऐरावत क्षेत्रों में अनुक्रम से उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के छहों कालों का वर्तीव रहता है अर्थात् अवसर्पिणी काल का पहला दूसरा तीसरा चौथा पांचवां छठा तथा उत्सर्पिणी काल का छठा, पांचवां, चौथा, तीसरा, दूसरा, पहला इस प्रकार इन दशों क्षेत्रों में काल चक्र बराबर फिरता रहता है तथा इन्हीं कालों के द्वारा उनमें वृद्धि ह्रास सदा होता रहता है। इसी प्रकार समस्त विजयार्द्ध पर्वतों पर तथा प्रत्येक क्षेत्र के पांचों म्लेच्छ खंडों में सदा चौथा काल रहता है। उसमें भी इतना अन्तर है कि विदेह क्षेत्र के विजयार्द्धों को छोड़कर बाकी के भरत ऐरावत सम्बन्धी दशों विजयार्द्धों में चतुर्थकाल हीनाधिक रूप से रहता है। अर्थात् उनमें तीर्थंकरों की आयु काय की समान हीनाधिकता होती रहती है। पहले तीर्थंकर के समय पांच सौ धनुष का शरीर और एक करोड़ पूर्व की आयु वाले विद्याधर होते हैं। तथा अन्तिम तीर्थं-

कर के समय एक धनुष का शरीर और एक सौ बीस वर्ष की आयु वाले विद्याधर होते हैं। बाकी के विदेह क्षेत्र सम्बन्धी एक सौ साठ विजयार्द्ध निवासी विद्याधरों की आयु काय उत्कृष्ट श्री सीमंधर स्वामी के समान सदा रहती है। वहां की आयु काय हीनाधिक नहीं होती।

विदेह क्षेत्र की एक सौ साठ नगरियों में तथा पंच मेरु सम्बन्धी दश कनकाचल पर्वतों पर सदा मोक्ष मार्ग का प्रवर्तक चौथा काल रहता है अर्थात् इन क्षेत्रों में कभी दूसरा काल नहीं बदलता सदा चौथा काल ही रहता है। पांचों मेरु पर्वत की दक्षिण उत्तर दिशा की ओर जो देवकुरु और उत्तरकुरु की दश भूमियां हैं, जिनमें सदा उत्कृष्ट भोगभूमि रहती है, उसमें सदा पहला काल ही रहता है। पांचों मेरु सम्बन्धी पांचों हरिक्षेत्रों में तथा पांचों रम्यक क्षेत्रों में सदा मध्यम भोग भूमि रहती है और सदा दूसरा काल रहता है। इसी प्रकार पांचों हैमवत क्षेत्रों में और पांचों हैरण्यवत क्षेत्रों में सदा जघन्य भोगभूमि रहती है। और सदा तीसरा काल रहता है। मानुषोत्तर पर्वत से आगे नागेन्द्र नाम के पर्वत तक मध्य के असंख्यात द्वीप समुद्रों में सदा जघन्य भोग भूमि की रचना के समान तीसरा काल रहता है। नागेन्द्र पर्वत से आगे स्वयंभूरण नाम के अंत के द्वीप के आधे क्षेत्र में सदा पांचवां काल रहता है। इस प्रकार मध्य लोक में काल की किरन का स्वरूप है। सो ही सिद्धान्तसार दीपक के नौवें अधिकार में लिखा है—

भरतैरावतक्षेत्रेषु सर्वेषु द्विपंचसु ।
द्विषट्कालाः प्रवर्तन्ते वृद्धि ह्रासयुताः सदा ॥२०६८॥
विजयार्द्ध नगेष्वत्र म्लेक्षखंडेषु पंचसु ।
चतुर्थकाल एवास्ति शास्वतो निरुपद्रवः ॥२०६९॥
किंतु चतुर्थकालस्य यदा स्याद्भरतादिषु ।
आयुः काय सुखादीनां वृद्धिः ह्रासाश्च जन्मिनाम् ॥२०७०॥
तदा तेन समः कालो वृद्धि ह्रासयुतो भवेत् ।
रूप्याद्रिम्लेच्छ खण्डेषु शेषकालश्च न क्वचित् ॥२०७१॥
पूर्वापर विदेहेषु द्विपंच स्वर्ण पर्वते ।
चतुर्थकाल एवैको मोक्षमार्ग प्रवर्तकः ॥२०७२॥

देवोत्तर कुरुष्वेव द्विपंच भोगभूमिषु ।
दक्षिणोत्तरयो मेरौ प्रथमः काल ऊर्जितः ॥२०७३॥
हरिरम्य वर्षेषु मध्यमा भोगभूमिषु ।
वृद्धि ह्रासातिगः कालो द्वितीयो मध्यमो मतः ॥२०७४॥
हैमवताख्य हैरण्य वत्क्षेत्रेषु द्विपंचसु ।
तृतीयः शाश्वतः कालो जघन्य भोग भूमिषु ॥२०७५॥
तिर्यग्द्वीपेष्व संख्येषु मानुषोत्तर पर्वतात् ।
बाह्यस्थेष्वन्तरे स्थेषु नागेन्द्र शलंतः स्फुटम् ॥२०७६॥
जघन्य भोग भूभाग स्थिति युक्तेषु वर्तते ।
जघन्य भोग भूकर्ता नित्यकाल स्तृतीयकः ॥२०७७॥
नागेन्द्र पर्वताद्बाह्ये स्वयंभूरणार्णवे ।
स्वयंभूरमण द्वीपार्द्धे कालः पंचमोऽव्ययः ॥२०७८॥

इस प्रकार काल का निर्णय है ।

प्रश्न :— मौनव्रत से भोजन न करना सदोष बतलाया सो मौन कहां–कहां धारण करना चाहिये ?

उत्तर :—लघुशंका (पेशाब करते समय), दीर्घशंका जाते समय (शौच जाते समय), स्नान करते समय, पंच परमेष्ठी की पूजन करते समय, स्त्री संभोग करते समय, भोजन करते समय और सामायिक आदि जप वा ध्यान करते समय इन सात स्थानों में मौन धारण करना चाहिये । सो ही लिखा है—

हवनं मूत्रणं स्नानं पूजनं परमेष्ठिनाम् ।
भोजनं सुरस्तोत्रं कुर्यान्मानैं समन्वितः ॥२०७९॥

इन सात स्थानों में मौन धारण करना चाहिये इनके सिवाय जहां पर वचन बोलने से राग वा द्वेष उत्पन्न होता हो, वहां पर भी मौन धारण करना योग्य है । लिखा भी है—

दोषवादे च मौनम् ।

इस प्रकार आठ स्थानों में मौन धारण करना चाहिये ।

प्रश्न :—छठे काल में मनुष्य कैसे होंगे तथा उनका व्यवहार कैसा होगा ?

उत्तर—छठे काल का नाम दुःखमा-दुःखमा है । वह इक्कीस हजार वर्ष का

है, उसके प्रारम्भ में मनुष्य धुएं के रंग के होंगे दो हाथ ऊंचे होंगे। बन्दरों के समान नग्न होंगे। उनकी उत्कृष्ट आयु २० वर्ष होगी। एक दिन में अनेक बार भोजन करेंगे मांस भक्षी होंगे। उनके निवास बिलों में होंगे। उस समय नगर, पुर, गांव आदि की रचना नहीं रहेगी। उनका स्वभाव दुष्ट होगा। नरक वा तिर्यञ्च गति से आये हुए ही वहां पर उत्पन्न होते हैं। अपनी माता भगिनी पुत्री आदि स्त्रियों के साथ ही पशुओं के समान काम सेवन करेंगे। तथा अपनी आयु के अन्त में मरकर तिर्यञ्च वा नरक में ही उत्पन्न होंगे। इस प्रकार छठे दुःखमा-दुःखमा काल में दुराचारी, महापापी मनुष्य होंगे और वे घोर दुःखों के भोगने वाले होंगे। उस समय बादलों में पानी नहीं रहेगा, पृथ्वी के वृक्षादिक वनस्पतियों में कोई रस स्वाद नहीं रहेगा। मनुष्य स्त्रियां सब निराश्रय रहेंगी उस छठे काल के अन्त में मनुष्य की ऊंचाई एक हाथ की होगी। वे बहुत कुरूप होंगे। उस समय उत्कृष्ट आयु सोलह वर्ष की होगी। तथा शीत ऊष्ण की बाधा से वे बहुत ही पीडित होंगे सो ही सिद्धान्तसार दीपक के नौवें अधिकार में लिखा है—

अस्यादौ धूम्रवर्णाभा नरा हस्तद्वयोच्छ्रिताः ।
शाखामृगोपमा नग्ना वर्षविंशतिजीविनः ॥२०८०॥
मांसाद्याहारिणोनेक वाराशिनो दिनं प्रति ।
बिलादिवासिनो दुष्टा आयान्ति दुर्गति द्वयात् ॥२०८१॥
मात्राविकाम सेवांधास्तिर्यक् नरक गामिनः ।
भविष्यन्ति दुराचाराः पापिनो दुख भोगिनः ॥२०८२॥
तस्मिन्काले शुभातीते मेघाः स्वच्छ जला प्रदाः ।
स्वादु वृक्षोज्झिता पृथ्वी निराश्रया नरास्त्रियः ॥२०८३॥
कालस्यान्ते करैकोच्चदेहा नरा कुरूपिणः ।
उत्कृष्ट षोडशाब्दा युष्काः शीतोष्णादिपीडिताः ॥२०८४॥

प्रश्न :—एक दिन के दीक्षित मुनिराज को सौ वर्ष की दीक्षित भी अर्जिका नमस्कार करे या नहीं ?

उत्तर :—एक दिन के दीक्षित मुनिराज को सौ वर्ष की दीक्षित अर्जिका अथवा अर्जिकाओं की गुर्वणी गणिनी अर्जिका भी नमस्कार करती है, इसका कारण यह

है कि एक दिन दीक्षित मुनिराज महाव्रती हैं और अजिका महाव्रती नहीं है, उसके उपचार से महाव्रत हैं, साक्षात् नहीं हैं। इसलिये तुरंत दीक्षित मुनि को अधिक दिनों की दीक्षित अजिका भी आकर नमस्कार करती है। सो ही नीतिसार में लिखा है—

महत्तराप्यर्यिकाभिवंदते भक्ति भाविता।
अद्यदीक्षितमप्याशुव्रतिनं शान्त मानसम् ॥२०८५॥

इसीलिये कहा है कि मोक्षाधिकारी स्त्री नहीं हैं और पुरुष है, स्त्री आर्यिका कितनी भी तपश्चर्या करे तो भी मोक्ष नहीं होता है।

चर्चासागर से पं. चपा.

प्रश्न :—वर्तमान समय में निश्चय एकान्त मत का प्रचार किसने किया ?

उत्तर :—एक स्थानकवासी साधु अपने साधुपद में था। स्थानकवासी समाज ने मिलकर अपने समाज से उस साधु को अपमानित सा निकाल दिया। वहां से वह सोनगढ़ आये और कितने ही दिन वहां रहे। उसके बाद दिगम्बर आम्नाय में कुछ पंथों के झगड़ों को देखकर दिगम्बर आम्नाय में आये और मात्र आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य को लेकर, ऊपर से दिगम्बर आम्नाय का चोला पहनकर एकान्त निश्चय मिथ्यात्व का प्रचार किया। प्रचार के लिये लोगों से द्रव्य एकत्रित करना शुरू किया। अपने मत की प्रथम स्थापना, सोनगढ़ कहान पंथ के नाम से प्रसिद्ध किया। निश्चय एकान्त का लोगों को प्रवचन देना शुरू किया, आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार को माध्यम बनाकर। अपने को आध्यात्मिक योगी प्रसिद्ध किया।

दिगम्बर आम्नाय के कुछ श्रीमन्त सेठ लोग जाकर मिल गये और लोगों को रुपया दे देकर अपने पंथ में मिलाने लगे। कुछ दिगम्बर पण्डित लोग भी द्रव्य के लोभ से सोनगढ़ जाकर कहानजी स्वामी के पंथ का प्रचार करने लगे। इस काल में चारों तरफ इसी का बोलबाला हुआ। जब तक लोगों को मालुम नहीं पड़ा, तब तक खूब प्रचार हुआ। जब लोगों को कमी का पता चला तो दिगम्बर आम्नाय के लोगों ने विरोध शुरू किया। अब जो उस पंथ के समर्थक लोग थे, वे ही विरोध करने लगे।

प्रश्न :—विरोध किस कारण से हुआ ?

उत्तर :—अपने को तीर्थङ्कर बताना, सद्गुरु बताना, अपने को विदेह क्षेत्र से आया बताना, ४ जीव विदेह क्षेत्र से आये बताना। जिस समय कुन्दकुन्द स्वामी

सीमन्धर भगवान के समवशरण में गये, तब अपने को (कहानजी), चम्पा बहन को, शान्ता बहन को, खेमजी भाई को साक्षात् सीमन्धर भगवान के समवशरण में मौजूद बताना, कुन्दकुन्द स्वामी से अपना साक्षात्कार बताना। मैं आगे जाकर तीर्थङ्कर होऊँगा, ऐसा बताना। चम्पा बहन को जाति स्मरण है, ऐसा बताना। आदि अनेक विपरीत बातों से विरोध हुआ।

प्रश्न :—निश्चय एकान्त मिथ्यात्व सोनगढ़ पंथ में सिद्धान्त विरुद्ध क्या-क्या है ?

उत्तर :—पुण्यास्रव की कोई क्रिया नहीं करना चाहिये, पाप की तरह पुण्य भी हेय है। उपादान रहे तो निमित्त स्वतः आ जाता है, इत्यादि कहना।

जो कुछ है सो निश्चय ही है, व्यवहार का मोक्षमार्ग में कोई कार्य नहीं होता, इसलिये व्यवहार हेय है कहना।

व्रत, संयम, त्याग, तप, दान, पूजादि नहीं करना चाहिये, मात्र आत्मा का ध्यान करने से कल्याण होगा, ऐसा एकान्त से कहना।

एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, ऐसा एकांत से कहना।

मोक्षमार्ग में निमित्तों का कोई कार्य नहीं, मात्र उपादान से ही कार्य की सिद्धि कहना।

पञ्चम काल में कोई भावलिंगी मुनि नहीं होते, होते तो द्रव्यलिंगी ही होते हैं, ऐसा कहना।

जो कुछ होना है सो होकर ही रहेगा, पुरुषार्थ से कोई कार्य नहीं होता, ऐसा नियतिवाद को एकान्त से मानना।

क्रमबद्ध पर्याय को मानना।

मात्र आचार्य कुन्दकुन्द के शास्त्रों को ही महत्त्व देना, अन्य आचार्यों के शास्त्रों को नहीं मानना।

शुभोपयोग की कोई क्रिया नहीं करनी चाहिये, उससे संसार बढ़ता है। जिनवाणी को परस्त्री कहना।

एकान्त से आत्मा को त्रिकाल शुद्ध मानना।

मोक्ष जाने में पर्याय का कोई महत्व नहीं है, ऐसा कहना।

आत्मा का कभी नाश नहीं होता, जो लोग दया धर्म को मुख्य कहते हैं, वे

अज्ञानी हैं, ऐसा कहना इत्यादि अनेक विपरीत मान्यताओं का प्रचार किया ।

कुछ मूर्ख अज्ञानी पण्डितों ने उसको खूब बढ़ावा दिया । कानजी ने अपने जीवन में किसी गुरु को नमस्कार नहीं किया, बल्कि गुरुओं की खूब निन्दा की और अपने लोगों से निन्दा कराई ।

प्रश्न :—इसका फल क्या हुआ ?

उत्तर :—अनन्त संसार और वर्तमान पर्याय में खूनी कैंसर रोग से ग्रसित हुए । अन्त में बम्बई जसलोक अस्पताल में आर्तध्यान से प्राण छोड़े और दुर्गति को प्राप्त हुए । अन्त समय में णमोकार मन्त्र भी किसी ने नहीं सुनाया और किसी भी तरह स्वामीजी बच जायं, उसके लिये नाना प्रकार की अशुद्ध दवाइयों का प्रयोग, अशुद्ध इन्जेक्शनों का प्रयोग, नाक आदि में नलियों का प्रयोग किया गया, तो भी नहीं बचे ।

क्या यही समाधि है ? इसी प्रकार समाधि होती है ? साधारण श्रावक भी अन्त समय में समाधिपूर्वक मरण करता है, लेकिन कानजी स्वामी ४० साल तक आत्मा-आत्मा कहते रहे और मरण हुआ दुर्गति से । इन्होंने तो अन्तिम समय में समाधि भी नहीं की और मरण के बाद भी इनके भक्तों ने ३ दिन तक स्वामीजी की लाश को पड़ी रखी । उनके शव में असंख्यात जीवराशि की उत्पत्ति हो गई और फिर तीसरे दिन असंख्यात जीवराशि के साथ उनके शव को आग में डालकर जला दिया । यह दशा है एकान्त निश्चय मिथ्यादृष्टियों की और आत्मार्थियों की अहिंसा । अपने को मुमुक्षु कहलाने वाले सन्त ने अपने जीवन के अन्त में क्या पाया ? इसका थोड़ा सा भी कभी विचार नहीं किया । न अन्त समय में भावलिंगी मुनि ही बने, न समस्त परिग्रहों का ही त्याग किया, न अंत समय में आहार-पानी का ही त्याग किया ।

प्रश्न :—क्या ये स्वामीजी दिगम्बर मुनि थे ?

उत्तर :—नहीं, ये तो न दिगम्बर मुनि थे और न श्वेताम्बर साधु ही रहे । ये तो अतोभ्रष्ट-ततोभ्रष्ट रहे ।

प्रश्न :—सोनगढ़ से निकलने वाला साहित्य कैसा है ?

उत्तर :—सोनगढ़ से निकलने वाला साहित्य ही निश्चय एकान्त मिथ्यात्व का पोषण करने वाला है । सब साहित्य में विकार भरा हुआ है । जो भी उस साहित्य को पढ़ते हैं, वे सब एकान्ती बनकर आत्मा-आत्मा कहते हैं और दान-

पूजादिक सब क्रियाओं को छोड़ बैठते हैं। दिगम्बर साधुओं के निन्दक बन जाते हैं। इन लोगों ने पूर्वाचार्यों कृत शास्त्रों को हटा-हटाकर कई मन्दिरों में अपना साहित्य भर दिया है। ये लोग प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग को नहीं मानते हैं और द्रव्यानुयोग के अनुसार ही स्वयं चलते और दूसरों को चलने का उपदेश करते हैं। इनका साहित्य दिगम्बर परम्परा से विरुद्ध है और पूर्वाचार्यों की लेखनी से विपरीत है। मात्र ईसाइयों की तरह पैसे के बल से अपना प्रचार कर रहे हैं। इसलिए इस सिद्धान्त का दिगम्बर परम्परा में कोई महत्व नहीं है। ये भी एक तरह के दिगम्बराभास हैं।

प्रश्न :—जिनेन्द्र भगवान का नय चक्र कैसा होता है। मीथ्यात्वियों के लिए ?

उत्तर :—अत्यन्त निशित धारं दुरासदं जिननरस्य नय चक्रम्।
खण्डयति धार्यमाणं मूर्धानं झटिति दुर्विदग्धानाम् ॥२०८६॥

यह जिनेश्वर का स्याद्वाद चक्र (नयचक्र) महान कष्ट से प्राप्त होता है। इस चक्र की धार अत्यन्त पैनी होती है। इसको धारण करने वाला अत्यन्त शीघ्र मिथ्याज्ञान के अहंकार युक्त व्यक्तियों के मस्तक को विदीर्ण कर देता है। अर्थात् यह उनके मिथ्याज्ञान का क्षय कर देता है।

संसार में ३६३ प्रकार की मिथ्या मान्यताओं वाले मूढ़ जीव अविवेक तथा मिथ्यात्व से प्रेरित हो अपनी आत्मा को कुगति में डालते हैं। तथा दूसरे भी अभोग प्राणियों को वे कुपथ में लगाते हैं। वे "अन्धे गुरु—लालची चेला" दोनों नरक में "ठेलम् ठेला" यह कहावत चरितार्थ करते हैं।

एकांतवाद की महामारी जैन समाज में फैल रही है। और समाज का अहित कर रही है। एकांतवादी वर्ग को स्याद्वाद चक्र की शक्ति को स्मरण कर विवेक से काम करना चाहिए। मिथ्यात्वी के पतन की बात उनके ध्यान में रहनी चाहिए।

एकांतवादी लोग अनेक प्रकार की कपोल कल्पित आगम बाधित बातों का प्रचार कर मिथ्या ज्ञान की ओर जनसाधारण के मन को मोड़ा करते हैं। हमने कुछ प्रश्नों का उल्लेख कर उस सम्बन्ध में आगम की दृष्टि समाधान रूप में प्रस्तुत की है। जैनधर्म के रहस्य को समझने के लिए स्याद्वाद दृष्टि का अवलम्बन लेना

बुद्धिमत्ता है। वही सच्चा मार्ग है। एकांत पक्ष कुगतिप्रद है। यह जिनेश्वर का स्याद्वाद चक्र एकान्तवाद का नाश करता है।

शंका :—कानजी पंथी मंडली में अनेक अद्भुत बातें प्रचलित होती रहती हैं। वहां कहा जाता है कि कुन्दकुन्द स्वामी विदेह गये थे तथा सीमंधर तीर्थंकर की दिव्य वाणी सुनने के पश्चात् समयसार रूप श्रेष्ठ शास्त्र उन्होंने बनाया। इससे एकांतवादी वर्ग उस महाशास्त्र को ही अपनी सर्वोच्च निधि मानते हैं। तथा अन्य शास्त्रों के प्रति हीनता की भावना रखा करते हैं।

समीक्षा :—कुन्दकुन्द स्वामी विदेह गए या नहीं। इस चर्चा से यहां प्रयोजन नहीं है। प्राचीन शिलालेखों में कुंदकुंद स्वामी की तरह पूज्यपाद स्वामी के विदेह गमन की चर्चा है। श्रवणबेल गोल के १०२ नं. के शिला लेख में पूज्यपाद स्वामी के बारे में कहा है। "देवपूजित!" वे देव पूजित थे।

विदेह-जिनदर्शन पूतगात्र :—विदेह के जिनेश्वर के दर्शन से उनका शरीर पवित्र हो चुका था, अप्रतिमौषधर्द्धि :—लोकोत्तर औषधि ऋद्धि से वे युक्त थे। यत्पाद धौतजल स्पर्शात कालायसं किल तदा कनकी बभार—उनके चरण के प्रक्षालन से प्राप्त जल के स्पर्श द्वारा लोहा स्वर्ण हो जाता था, इससे यह प्रतीत होता है। उस पुरातन युग में विशेष सिद्धि सम्पन्न अनेक साधु रत्न हो गये हैं। जिनका हमें पता नहीं है। पूज्यपाद स्वामी की श्रेष्ठ श्रुत सम्पत्ति का बोध उनकी अध्यात्मिक रचना इष्टोपदेश समाधि शतक के सिवाय सर्वार्थसिद्धि, जैनेन्द्र व्याकरण आदि से होता है। अतः विदेह गमन करने से प्राप्त महत्ता कुंदकुंद स्वामी के समान पूज्यपाद महर्षि को भी प्राप्त होती है। और उनकी रचनाओं को भी विशिष्टता ध्यान में आती है। यह बात विशेष चिन्तनीय है कि समयसार यदि विदेह यात्रा के पश्चात् रचित होता तो, कुंदकुंद स्वामी उस ग्रंथ को सुतकेवली भणीय अर्थात् श्रुत केवली कथित न कहते। उन्होंने समयसार के मंगलाचरण में कहा है :—

"वोच्छामि समय पाहुड मिणमो सुय केवली भणियं ॥१॥

मैं (कुंदकुंद) श्रुत केवली (भद्रबाहुगुरु) कथित समयसार को कहता हूँ। केवली शब्द के पूर्व में "श्रुत" शब्द सर्वज्ञ केवली का निराकरण करता है। जैसे घोड़ा शब्द के पूर्व यदि सफेद विशेषण लगा हो तो उससे श्याम वर्णीय अश्व का निराकरण हो जाता है। परोक्षज्ञानी श्रुतकेवली प्रत्यक्षज्ञानी केवली से भिन्न हैं।

शंका :—कुंदकुंद स्वामी ने छन्दशास्त्र की कठिनतावश श्रुतकेवली शब्द का उपयोग किया ?

समाधान :—यदि काव्य शास्त्र की कठिनाई थी, तो वे केवलि सुयकेवली भणियं शब्द का प्रयोग कह सकते थे। नियमसार के मंगलाचरण के अनुसार वे उपरोक्त रूप में कह सकते थे। नियमसार में उन्होंने कहा है :—

"वोच्छामि नियमसारं केवलि सुयकेवलि भणिदं"

इससे इस बात की असत्यता स्पष्ट हो जाती है। जो कानजी महोदय कहा करते हैं कि समयसार साक्षात् तीर्थंकर की वाणी सुनने के बाद रचा गया है। सम्यक् चिंतन इस कथन को झूठा प्रमाणित करता है।

कानजी पंथी पत्र "आत्मधर्म" में छपा था कि कुंदकुंद स्वामी विदेह गये थे। तब कानजी "राजकुमार" की पर्याय में समवसरण में थे, (विदेह में शरीर की ऊँचाई ५०० धनुष होती है। अतः वे राजकुमार उतने ही उच्च शरीर के रहे होंगे) समवशरण में अनेक अंगपूर्व के ज्ञाता, अनेक ऋद्धिधारी महामुनि आदि भी थे। कि राजकुमार की कुंदकुंद स्वामी पर ही विशेष दृष्टि रही आई। "आत्मधर्म" पत्र कहता है। "कुंदकुंद आचार्य वहां आठ दिन ठहरे थे"।

समीक्षा :—साक्षात तीर्थंकर का सानिध्य पाकर भरत क्षेत्र से विदेह जैसे सुदूरवर्ती प्रदेशों में पहुँचकर केवल आठ दिन पर्यंत वहां आवास कर कुंदकुंद स्वामी का शीघ्र भरत क्षेत्र को वापिस लौट आने का कथन यह ध्वनित करता है कि कानजी बाबा की बात सत्य की कसौटी पर कसने लायक नहीं है। कसौटी पर सोना कसा जाता है। टीन का टुकड़ा नहीं। कोई भी समझदार आदमी सोच सकता है। कि श्रेष्ठ आत्म कल्याण के साधन को पाकर विवेकी व्यक्ति अधिक से अधिक काल यापन कर स्वहित संपादन करता है। दक्षिण भारत के यात्रा करने वाले साधु जब शिखरजी पहुँचते है। तो वे वहां अधिक से अधिक समय देने का प्रयत्न करते हैं। संघ के संचालक का गृहस्थ होने के कारण कदाचित शिखरजी में अधिक रुकना सम्भव भी न हो किन्तु विदेह में रुकने में कोई भी बाधा नहीं थी। करण कोई संघ संचालक नहीं था। मुनीश्वर होने से कोई लौकिक झंझट भी नहीं हो सकती।

गहरा माया जाल :—यदि कानजी बाबा को विदेह में अपनी राजकुमार

पर्याय, चंपाबहिन आदि का उनकी स्त्री होना स्मरण है। तो यह भी तो स्मरण होगा कि दिव्यध्वनि की भाषा प्राकृत-अपभ्रंश थी या वह अनक्षरी थी ? कितने बार दिव्यध्वनि खिरती थी, मुख्य प्रश्नकर्ता गृहस्थ का क्या नाम था ? मुख्य गणधर कौन थे ? विदेह के लोगों की ऊंचाई भोजन आदि के बारे में भी जातिस्मरण उद्बोधन करा देता। इस विषय में वे चुप हैं। अतः जाति स्मरण आदि की बात शत-प्रतिशत असत्य तथा कल्पना-जाल मात्र है।

तीर्थंकर सीमंधर भगवान की दिव्यध्वनि को सुनकर आत्म ज्ञान प्राप्त करने वाला सम्यक्त्वी नियम से स्वर्ग जाता कारण अविरत गुणस्थानवर्ती सम्यक्त्वी मनुष्य मरण कर स्वर्ग ही जाता है। यदि उसने आयु बंध नहीं किया है। मनुष्यायु का बंधक मानव मरकर भोगभूमि का मनुष्य होता। तथा सौराष्ट में जन्म धारण नहीं करता।

यह बात भी विचारणीय है कि विदेह में दीर्घायु मनुष्य होते हैं। जिनकी एक कोटि पूर्व प्रमाण आयु आगम में कही है। आश्चर्य है कि दो हजार वर्ष के भीतर ही तथा कथित राजकुमार (वर्तमान स्वामीजी) विदेह से यहां मरणकर कैसे आ गये ? शिष्या चंपाबेन का भी शीघ्र मरण विदेह में कैसे हो गया ? यह याद है क्या ?

यह भी सोचना चाहिये कि तीर्थंकर के चरणों के समीप तत्वज्ञान रूप अमृतपान करने वाला जन्म से सम्यक्त्वहीन परिवार में कैसे उत्पन्न हुआ और कैसे बहुत समय तक मिथ्या साधु बनकर उस जीव ने धर्म के विपरीत प्रचार किया ? यदि पूर्व के ऊच्च संस्कार होते तो वह व्यक्ति इन्द्रियों की दासता को छोड़कर हीन प्रवृत्ति के त्यागरूप सदाचार को अवश्य ग्रहण करता।

उदाहरणार्थ आचार्य शांतिसागर महाराज पूर्व भव के ऊच्च संस्कारी थे। इससे बचपन से ही उनके मन में वैराग्य के भाव विद्यमान थे और वे दीक्षा लेकर मुनि बनना चाहते थे। यद्यपि अपने पिता श्री भीमगौड़ा पाटील के कहने से बहुत समय तक गृह त्याग नहीं कर सके थे।

कानजी पंथी वर्ग में मिथ्या बातें प्रचारित की जाती है। जिससे उनके पथ का अधिक प्रचार हो।

आत्म धर्म के कानजी (८७वीं) जयंती अंक में अनेक असत्य बातों का वर्णन पढ़कर आश्चर्य होता है कि अपने मिथ्या प्रेरित पक्ष को पुष्ट करने के लिये किस प्रकार माया तथा असत्य का आश्रय लेते हैं। कानजी अपने भक्तों से कहते हैं मेरा यह भव तीर्थंकर प्रकृति का बंध होगा" साक्षात् तीर्थंकर भगवान के समवशरण में चंपा बहिन ने यह बात सुनी है। गुरुदेव ने चंपा बहिन से कहा बहिन यह हकीकत सत्य है। मुझे भी कई बार ऐसा भास होता था उसका स्पष्ट हल नहीं मिलता था।

उसका अर्थ समझ में आया कि मैं तीर्थंकर का जीव हूँ।

वे अपने जीवन के बारे में बताते हैं। १७ वर्ष की उमर में रामलीला देखकर उनके हृदय में वैराग्य की मस्ती चढ़ गई। विक्रय संवत् १९७८ में ज्येष्ठ कृष्णा अष्टमी के दिन स्वाध्याय कर के वे लेटे तो ओंकार ध्वनि का नाद व साढ़े बारह करोड़ बाजों की ध्वनि का स्मरण हुआ। पृष्ठ १८। "तीर्थंकर के साथ" लेख में एक भक्त इस प्रकार स्तुति करता है। उनका वर्तमान जीवन देखों, तो चैयन्य भगवान की झलक से भरा है। उनका भावी जीवन देखो तो भगवान से सम्बन्धित। यदि हम ज्ञान को मात्र चार भव तक लम्बाकर देख सके तो हमें गुरुदेव के बदले में साक्षात् "सूर्य" के समान तेजस्वी तीर्थंकर के दर्शन होते हैं (पृष्ठ २४) एक अविवेकमूर्ति भक्त लिखता है। "अनन्त तीर्थंकर हो गये, मगर अपने दो गुरुदेव श्री सबसे अधिक है।" पृष्ठ ४२। आजकर अनेक व्यक्ति स्वयं को भगवान कहकर अपनी पूजा करवा रहे हैं।

यदि पाठक गहराई से सोचे तो उपरोक्त बातें मोह रूपी मदिरा पीने वालों के सदृश हैं। मिथ्यात्व का आश्रय लेने वाला, मिथ्यात्व का प्रचार करने वाला एकांतवादी का आगामी भव अंधकार पूर्ण ज्ञात होता है। इस प्रसंग में महापुराण का यह कथन वस्तु स्थिति को समझने में विशेष लाभप्रद रहेगा। भगवान ऋषभदेव दशभव पूर्व महाबल नाम के राजा थे उनके ४ मंत्री थे आगम पक्ष का समर्थक स्वयंबुद्ध मंत्री कुछ ऊच्चभव धारण कर मोक्ष गये। मिथ्यात्व का समर्थन करने वाले महामति और संभिन्नमति मंत्री द्वय निगोद में गये। शतमति मिथ्यात्व के परिपाक से नरक गया। "गतः शतमतिः श्वभ्रं मिथ्यात्व परिपाकतः।" (१०—८) इस संबंध में महाकवि जिनसेन स्वामी कहते हैं—

तमस्यंधे निमज्जंति सज्ञान द्वेषिणो नरा ।
आप्तोपज्ञ मतोज्ञानं बुधैरभ्यस्यंदं अनारतम् ॥२०८७॥

सम्यग्ज्ञान के द्वेषी व्यक्ति नरक रूपी गाढ़ अंधकार में निमग्न होते हैं ।

इसलिये बुद्धिमान पुरुषों को आप्त प्रतिपादित सम्यग्ज्ञान का सदा अभ्यास करना चाहिये । दश कोडा-कोडी सागर के अवसर्पिणी काल में भरत क्षेत्र से अगणित मुनि मोक्ष गये किन्तु २४ ही आत्माओं ने तीर्थंकर प्रकृतिरूप महान पुण्य का बंधकर रत्नत्रय की समाराधना कर मोक्ष प्राप्त किया, कुन्द-कुन्द स्वामी के तीर्थंकर होने का उल्लेख नहीं है । केवल मोक्ष जायेंगे । यह भी ज्ञान नहीं है । किन्तु मिथ्यात्व की मदिरा पान करने वाले पिलाने वाले मोक्ष जायेंगे और अगले भव में तीर्थंकर प्रकृति का बंध करेंगे । यह कथन असत्य की पराकाष्ठा है वे भव्य है । या अभव्य है । यह सर्वज्ञ देव ही बता सकेंगे । मिथ्या मार्ग प्रचारक राजा वसु के पतन के प्रकाश में इस समस्या का सच्चा समाधान मिलेगा ।

निश्चयनय रूप पवित्र दृष्टि को धारण करने वाली आत्मा मोक्ष जाती है । समयसार में कहा है—

णिच्छय णयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं ।
॥२७२॥

निश्चयनय का आश्रय लेने वाले मुनिगण निर्वाण प्राप्त करते हैं । निश्चय-नय आत्मा को शुद्ध मानता है । अबद्ध मानता है । व्यवहार दृष्टि अपरमभाव वालों के कही है । परमभाव वाले शुक्लध्यानी निश्चय दृष्टि का अवलम्बन ले सिद्ध पदवी पाते हैं । हम कानजी पंथी निश्चनय की चर्चा करते हैं । उसका निरूपण करने वाले परम आगम रूप समयसार को पढ़ते हैं । आप भी तो निश्चयनय को हमारे समान पूज्य मानते हैं । समयसार ग्रंथ को भी ग्रंथराज स्वीकार करते हो । तब आप हमारे विरुद्ध हो हल्ला क्यों मचाते हो ?

यह बात पूर्ण सत्य है कि निश्चयनय की दृष्टि मोक्ष प्रद है । किन्तु यह सत्य भी आपको शिरोधार्य करना चाहिये कि निश्चय दृष्ठि के पूर्व व्यवहार नय की भी आवश्यकता है । शक्ति की अपेक्षा आप आत्मा को शुद्ध, अबद्ध कहते हैं । इसमें कोई आपत्ती नहीं है । किन्तु आप अपनी वर्तमान अशुद्ध, बद्ध संसारी पर्याय को

अस्वीकार करते हैं। अतः आपकी मान्यता स्याद्वाद दृष्टि से बाधित होती है। हम सबका यह प्रत्यक्ष अनुभव है कि हम अल्पज्ञानी है। ज्ञान का एक अंश हमारे पास है। अज्ञान के सागर में हम डूबे हैं। हमारी शक्ति बहुत कम है। अनंत शक्ति का पता नहीं है। दुःखों से आक्रांत होने से यह हम कैसे कह दे कि हम सिद्ध भगवान के समान अव्याबाध अनन्त सुख भोगते हैं? सर्वज्ञोक्त आगम पर विश्वास कर हम यह मानते हैं कि यदि हमारे ४ घातिया कर्मों का क्षय कर दिया तो हम अनंत ज्ञानी आदि बन सकते है। अभी अनंत ज्ञानी नहीं हैं शक्ति और व्यक्ति अर्थात् शक्ति का व्यक्त हो जाना इसमें अंतर है। आगम में कहा है सिद्ध भगवान के लोक के अग्रभाग में सिद्ध शिला के ऊपर विराजमान है। यदि हम संसार पर्याय सहित न होते, तो हम भी सिद्धों के समीप अशरीरी होकर निवास करते।

आगम सच्चे ज्ञान का केन्द्र है। वह जीव को संसारी और मुक्त दो प्रकार का मानता है। निश्चय दृष्टि संसार की बद्ध दशा का मुख्यता से निरुपण करती है। नियमसार में कुन्द-कुन्द स्वामी ने कहा है—

सव्वे सिद्ध सहावा सुद्धणया संसिदी जीवा।

शुद्ध नय से सभी संसारी जीव सिद्ध स्वरूप हैं। व्यवहार नय की अपेक्षा जीव शुद्ध तथा अशुद्ध दो प्रकार के माने गये हैं। एकांत पक्ष सत्य शासन के विपरीत होता है और स्याद्वाद विरोधी है।

यह एक दृष्टि है। दूसरी दृष्टि और है कि संसारी जीव शरीर युक्त है। मुक्त जीव शरीर रहित है। पंचास्तिकाय में कुन्द-कुन्द स्वामी यह भी कहते है।

जीवा संसारत्था णिव्वादा चेदणप्पगा दुविहा।
उवओग वि य देहा देहप्पवीचारा ॥२०८७॥

जीव दो प्रकार के हैं—एक संसारी, दूसरा सिद्ध। दोनों चैतन्य रूप हैं, उपयोग अर्थात् ज्ञानोपयोग, दर्शनोपयोग सहित है। देह सहित संसारी हैं। देह रहित सिद्ध है।

टीकाकार अमृतचन्द्र सूरि ने लिखा है—

जीवाः हि द्विविधाः संसारस्था अशुद्ध निर्वृताः शुद्धाश्च।

कानजी पंथी कथन अनेकांत दृष्टि का प्रतिनिधित्व नहीं करने से सत्यशासन

के विपरीत हो जाता है। वह स्याद्वाद विरोधी है। समन्वय दृष्टि से पूर्ण सत्य का परिज्ञान होता है। बुद्ध ने वस्तु को अनित्य माना है। यह सत्यांश है। वह वस्तु के नित्य पक्ष को अस्वीकार करता है। इससे वह सत्य कथन भी असत्य हो जाता है। इसी प्रकार कानजी पंथ में व्यवहार को सर्वथा मिथ्या मानकर निश्चय पक्ष को ही मान्यता दी जाती है। इससे वह कथन स्याद्वाद विद्या के प्रकाश में असत्य हो जाता है।

मनुष्य के दो नेत्र होते हैं। सीधी आंख फूटी हो तो वह काना है। बांई आंख फूटी हो तो वह भी काना होगा। जो नय व्यवहार पक्ष को ही सत्य मानकर निश्चय पक्ष को अस्वीकार करेगा, वह मिथ्यात्वी है। इसी प्रकार जो निश्चय को सत्य मान कर व्यवहारनय को मिथ्या मानेगा, वह भी मिथ्यात्वी है।

एकांत निश्चय को पकड़कर हम मोक्ष से दूर हो जायेंगे। कुन्द-कुन्द स्वामी की यह बात ध्यान देने योग्य है कि निश्चयनय भगवान को सर्वज्ञ नहीं मानता और यदि व्यवहारनय का कथन मिथ्या है तो सर्वज्ञ का लोप हो जायेगा तथा सम्पूर्ण जिनागम आप्त वाणी नहीं रहेगा।

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणयेण केवली भसवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥१५८॥

नियमसार–१७०

केवली भगवान व्यवहारनय से सर्व पदार्थों को जानते हैं देखते हैं किन्तु निश्चयनय से केवली भगवान अपनी आत्मा को देखते हैं। इस प्रकार निश्चयनय सर्वज्ञ को अस्वीकार करता है।

स्याद्वाद दृष्टि दोनों कथन सत्य हैं केवली भगवान सर्वज्ञ हैं; आत्मज्ञ भी हैं। एकांतवादी के द्वारा समस्या उलझ जाती है।

विशेष बात :—यह बात ध्यान देने योग्य है। नियमसार में कहा है निश्चय दृष्टि से पुद्गल का परमाणु शुद्ध द्रव्य है। उस दृष्टि में स्कन्ध का कोई स्थान नहीं है। व्यवहार की दृष्टि से स्कन्ध का सद्भाव माना गया है। यदि व्यवहार दृष्टि को अप्रमाण तथा झूठा माना जाय तो शून्यवाद आ जायेगा, कारण निश्चय दृष्टि से स्कंध का अभाव है और स्कन्ध का अभाव मानने पर उसके कारण रूप परमाणु का भी अभाव हो जायेगा; अतः सर्व झंझटों से बचने के लिए दोनों नयों की वास्तविकता स्वीकार करनी चाहिये।

शंका :—कुछ भी कहो हमें तो निश्चय की कथनी में मजा आता है। व्यवहार नय की बात हमें नहीं रुचती। निश्चयनय का पक्ष लेने से हमारी आत्मा का उत्थान होगा ?

समाधान :—यह बहुत बड़ा भ्रम है। किसी भी दृष्टि के एकांत पक्ष से मोक्ष तो कदापि नहीं मिलेगा, यह सत्य है। पंचास्तिकाय की अन्तिम गाथा १७२ की टीका में अमृतचन्द्र सूरि ने कहा है। केवल व्यवहार दृष्टि वाला सत्कार्यों के करने के कारण दुर्गति से बचकर ऊच्चगति में जाकर सुखी रहेगा। निश्चयपक्ष का एकांतवादी अपने को पूर्ण शुद्ध समझ बैठे हैं। त्याग संयम सदाचार का उनकी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं होने से वे प्रभात की कादम्बरी (मदिरा) पान के फलस्वरूप "केवलपापमेव बध्नाति" केवल पाप का ही बंध करते हैं। इससे वे कुगति में जाकर दुःख भोगते हैं। सदाचार की बड़ी महत्ता है। यदि सम्यक्त्व रहित जीव भी हीनाचार का त्याग करता है, तो सदाचार के प्रभाव से वह नरक पशु पर्याय में नहीं जाता है। अकेला सम्यक्त्व मोक्ष नहीं देता है।

प्रवचनसार में कुंदकुंद स्वामी ने कहा है :—

सद्दहमाणो अत्थे असंजदो वा ण णिव्वादि ॥२३७॥

तत्व श्रद्धान हो जाने पर भी असंयमी व्यक्ति मोक्ष नहीं पाता।

चारित्र का चमत्कार :—कानजी पंथी मंडली को यह बात नहीं भूलना चाहिए कि सम्यक्त्व से अकेला काम नहीं बनेगा। भरतेश्वर ने अन्तर्मुहूर्त में केवल ज्ञान प्राप्त किया था, यह सम्यक्त्वचारित्र का चमत्कार था। वे क्षायिक सम्यक्त्वी होने से गृहस्थावस्था में भी ज्ञानी थे, किन्तु उनके केवलज्ञान नहीं हुआ। जब परिग्रह त्याग करके उन्होंने शुक्ल ध्यान रूप चारित्र का आश्रय लिया तब कैवल्य का प्रकार उन्हें प्राप्त हो गया। अन्तर्मुहूर्त में कैवल्य प्रदान करने की क्षमता सम्यक्चारित्र में ही है। कहा भी है :—

अनंत सुख सम्पन्नं येनात्मा क्षणादपि।
नमस्तस्मै पवित्राय चारित्राय पुनः पुनः ॥२०८६॥

यह आत्मा क्षण मात्र में जिसके कारण अनंत सुख को प्राप्त होता है। उस पवित्र चारित्र (यथाख्यात चारित्र) को बारम्बार नमस्कार हो।

शंका :—आश्चर्य है। आत्मार्थी सत्पुरुष पूज्य कानजी महाराज को स्वामी कहे जाने पर आप लोग ऐतराज करते हैं? ऐसे ही हम लोगों को मुमुक्षु कहे जाने पर आप लोग आक्षेप क्यों करते हैं?

समाधान :—"स्वामी" शब्द मालिक का पर्यायवाची है। दिगम्बर जैन धर्म में परिग्रह त्यागी इन्द्रियों को वश करने वाले मुनि को स्वामी कहा जाता है। स्वामी इन्द्रियों का दास नहीं होता है। जिसे इन्द्रियों ने अपना गुलाम बना लिया है। उसे स्वामी कहना ऐसी ही बात है जैसे दरिद्र व्यक्ति के पुत्र का नाम करोड़ीमल रखना अथवा सूरदास को नैनसुख नाम प्रदान करना। जब कानजी स्वयं अपने को अव्रती असंयमी कहते हैं। तब इन्द्रियों के सेवकों को उनको स्वामी अर्थात् इन्द्रियों का विजेता कहना उचित नहीं है। वैसे आपको अधिकार है। आप एक टूटी झोपड़ी को शौक से राजमहल कहे, मुमुक्षु का रहस्य "मुमुक्षु" शब्द का प्रयोग समंतभद्र स्वामी ने ऋषभनाथ भगवान के स्तवन में किया है। जब उन्होंने नीलांजना के नृत्य को देखकर विषयों से विरक्त हो, राज्य का परित्याग किया था। आशाधरजी ने सागार धर्मामृत में उस गृहस्थ के लिए भी मुमुक्षु शब्द का उपयोग किया है। जो हृदय में मुनि बनने की सच्ची कामना करता है। "देशविरतिः खलु सर्व विरति लालसा।" जहां जीवन संयम को सुवास से सम्पन्न न हो तथा विषय भोगों से छूटने के बदले में उसके जाल से फंसने का ही निरन्तर काम चले वहां मुमुक्षु शब्द का उपयोग अद्भुत लगता है। यह हिंसक को दयासागर कहने सदृश वचन हैं।

मुमुक्षु शब्द के चार भेद हो सकते हैं नाम, स्थापना, द्रव्य तथा भाव रूप से चतुर्विध मुमुक्षु हैं। व्रत नियम शून्य तथा सदाचार विरोधी व्यक्ति यदि अपने को मुमुक्षु कहते हैं, तो वे नाम मात्र के मुमुक्षु हैं। किसी वस्तु में मुमुक्षु की स्थापना करना, स्थापना मुमुक्षु है। जो व्यक्ति परिग्रह पिशाच के चक्कर से छूटकर जीवन में साधुत्व की भावना करते हैं, वे द्रव्य मुमुक्षु हैं। परिग्रह त्यागकर आत्म प्रकाश से जिनकी आत्मा अलंकृत है, वे भाव मुमुक्षु हैं।

एक कमजोर आदमी है, जो बिना सहारे के खड़ा तक नहीं हो सकता, उसे पहलवान कहने सदृश संयम से डरने वालों तथा संयमी से भयखाने वालों को मुमुक्षु कहना। शब्द का गलत प्रयोग देखकर ऐतराज करना न्यायोचित बात है। इसमें विद्वेष नहीं है। इसके भीतर पवित्र सत्य विद्यमान है।

शंका :—हमारे बारे में यह कहा जाता है कि हम लोग मुनि को नहीं मानते। हम मुमुक्षु णमोकार मंत्र पढ़ते समय "णमो लोए सव्व साहूणं" पाठ पढ़कर सभी सच्चे भावलिंगी मुनीश्वरों को प्रणाम करते हैं। वर्तमान मुनि द्रव्यलिंगी हैं; अतः हम उनको आराध्य नहीं मानते, कारण हमारे परम पूज्य कुंदकुंद भगवान ने 'दंसण पाहुड' में कहा है "दंसण हीणो ण वंदिव्वो" (२) सम्यग्दर्शन हीन व्यक्ति को नमस्कार नहीं करना चाहिये ?

समाधान :—अंतरंग भावों का परिज्ञान केवली भगवान को होता है तथा मनः पर्यय ज्ञानी महर्षि मनोगत बात को जानते हैं। गृहस्थ के श्रुतज्ञान में दूसरे के सम्यक्त्व है या नहीं, इसको जानने की क्षमता नहीं है। मुनि जीवन के आधारभूत महाव्रत, दिगम्बर मुद्रा आदि को देखकर मुनिराज को प्रणाम करने का आगम में कथन है। जिनेश्वरी मुद्रा धारण करने वाले, नकली मुनि बनने वाले देव से सम्यक्त्वी उद्दयन ने घृणा नहीं की तथा उनको सच्चा साधु मान परिचर्या की। इससे सम्यक्त्व के निर्विचिकित्सा अंग पालने वालों में राजा उद्दायन का उदाहरण दिया जाता है।

आदिनाथ भगवान पूर्व भव में वज्रजंघ राजा थे। उनके सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं हुआ था। उन्होंने अपनी श्रीमती रानी (जो आगे भव में महादानी राजा श्रेयांस हुई) के साथ चारण ऋद्धिधारी भावलिंगी मुनि युगल को आहार दिया था, जिससे पंचाश्चर्य हुए थे।

उद्दायन राजा के कथानक में दाता सम्यक्त्वी था, पात्र सम्यक्त्वी नहीं था। मुनि मुद्रा का सम्यक्त्वी राजा ने सम्मान किया। इस प्रकार आज भी अपने को सम्यक्त्वी मानने वाला यदि जिन मुद्राधारी साधु को आहार देता है, तो उसके सम्यक्त्वी पने पर संकट का पहाड़ नहीं टूटेगा।

वज्रजंघ राजा का कथानक यह बताता है, कि भावलिंगी ऋद्धि मुनि युगल ने द्रव्यलिंगी गृहस्थ के द्वारा प्रदत्त आहार लिया था। राजा वज्रजंघ के सम्यक्त्व नहीं था, ऐसा महापुराण में कहा है। श्रावक का आचार व्यवहार, धर्मानुसार होना चाहिए। उसके अन्तरंग भाव के आधार पर लोक व्यवस्था नहीं बनती। उपशम तथा क्षयोपशम सम्यक्त्व असंख्यात बार उत्पन्न होते हैं; ऐसा आगम है।

इस काल में क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं होता है। इस कारण दातार या पात्र के भावों में अनेक बार सामकत्व का आना तथा जाना संभव है, इस बात को सीमंधर स्वामी सदृश महाज्ञानी जान सकते हैं। भरत क्षेत्र में उत्पन्न इस काल का व्यक्ति नहीं जान सकता। ऐसी स्थिति में आहार दान का क्या हाल होगा? दातार का सम्यक्त्व अंतरंग से चल गया, तो दातार आहार लेना बन्द कर देगा? ऐसी व्यर्थ की झंझटों में स्वयं को डालना आत्म कल्याण करने वाले विवेकी को उचित नहीं है।

चौथे काल की बात है। वारिषेण मुनि ने द्रव्यलिंगी मुनि पुष्पजल को अपने साथ रखकर बड़ी कुशलता पूर्वक उनको सच्चा मुनि बनाया था। इस कारण स्थितिकरण नामक सम्यक्त्व के अंग में वारिषेण मुनि मान्य कहे गए हैं। द्रव्यलिंगी पुष्पजल मुनि को धार्मिक जन आहार देते थे।

सुन्दर समाधान—पाषाणादि, द्रव्यलिंगी की जटिल समस्या का सुन्दर समाधान आशाधर जी ने सागारधर्मामृत में इस प्रकार किया है—पाषाणादि की प्रतिमाओं में जिनाकार होने से स्थापना निक्षेप द्वारा उन्हें जैसा पूजा जाता है तथा पूजक स्वहित सम्पादन करता है, उसी प्रकार वर्तमान में दिगम्बर मुनि मुद्राधारी साधु में पूर्वकालीन मुनियों की स्थापना कर आराधना करनी चाहिये। सागारधर्मामृत के शब्द इस प्रकार हैं—

विन्यस्यैदं युगीनेषु प्रतिमासु जिनानिव ।
भक्त्या पूर्व मुनीनर्चेत् कुतः श्रेयोऽर्चिनाम् ॥

कुंद कुंद स्वामी ने दर्शन पाहुड में मार्मिक बात कही है—जो सहजोत्पन्न अर्थात् दिगम्बर रूप को देखकर ईर्ष्याविश आदर नहीं करता, वह संयम युक्त होता हुआ भी मिथ्यात्वी है। वह उपयोगी गाथा इस प्रकार है—

सहजुप्पण्णं रूवं दट्ठुं जो मण्णए ण मच्छरियो।
सो संजम पडिवण्णो मिच्छा इट्ठी हवइ एसो ॥२०९०॥

आगम कहता है पञ्चमकाल के अन्त तक अर्थात् आज से १८५०० वर्ष बाद तक भी दिगम्बर मुद्राधारी मुनि होंगे। वे अन्तिम मुनि समाधि सहित मरण करेंगे। उनको अवधिज्ञान प्राप्त होगा, ऐसा त्रिलोकसार तथा तिलोयपण्णत्ति में कहा है।

स्मरणीय—हमारे आत्मार्थी मुमुक्षु भाइयों को कुन्दकुन्द महर्षि के इन वचनों को विचारपूर्वक ध्यान से पढ़ना चाहिये, "असंजदं ण वन्दे" (२६)—असंयमी की

वन्दना न करे। कानजी बाबा स्वयं को असंयमी कहते थे। वे अपने जीवन में संयम को आने भी नहीं देते थे। उनका वन्दनारूप कार्य सम्यक्त्व का पोषक है या विघातक है ? यह बात कानजी पंथी प्रवक्ताओं तथा भक्तों को न्यायबुद्धि से सोचनी चाहिये।

कुन्दकुन्द स्वामी असंयमी को वन्दना का अपात्र कहते हैं और हमारे सोनगढ़ पंथी उनको गुरु नहीं, "सद्गुरुदेव", "जैनधर्म के प्रवर्तक" कहते हैं। कुछ भक्तजन उन कानजी बाबा के चरणों की छाप कपड़े में लगवाकर उसको पूजते हैं। कानजी बाबा की अन्धी भक्ति अद्भुत काम कराती है। एक कानजी पन्थी प्रचारक भगवान के अभिषेक प्राप्त जल को गन्धोदक न कहकर गन्दोदक—गन्दा पानी कहते थे और स्वयं कानजी बाबा के पैरों को धोने से प्राप्त यथार्थ में गन्दे पानी को अधिक मान देते थे। अद्भुत स्थिति है। भीलनी गजमुक्ता को फेंक देती है और गुञ्जा (गोंगची) को बड़े प्रेम से अपनाती है। मिथ्यात्व का उदय बड़ी विचित्र बातें कराता है। कानजी पन्थी वर्ग को बाल ब्रह्मचारी उच्च तपस्वी दिगम्बर मुनि भी अनादर योग्य लगते हैं और उन्हें असंयमी व्यक्ति अधिक अच्छा लगता है। यह वृत्ति मिथ्यात्वी की होती है।

दिगम्बर मुनि विद्वेषी—सन् १९५९ की बात है। कुम्भोज बाहुबली आश्रम में आत्मार्थी नामधारी सत्पुरुष छह-सात सौ यात्री ठहरे थे। वहां से करीब दो किलो-मीटर पर सत्तानवे वर्षीय मुनि १०८ वर्धमानसागर महाराज (जो आचार्य शांतिसागर महाराज के ज्येष्ठ बन्धु थे) मन्दिरजी में थे। बाहुबली आश्रम वालों ने कहा था, "स्वामीजी ! यहां समीप में महान् आध्यात्मिक मुनिराज वर्धमानसागर महाराज का दर्शन कीजिये।" मुनि-विद्वेषी हृदय होने से उन लोगों ने उस जिन मन्दिर का ही दर्शन नहीं किया। साक्षात् मुनि को देखकर उनका अनादर करना और कल्पनागत मुनि को प्रणाम की बातें करना यह स्पष्ट करता है कि यथार्थ में उनके दिल में दिगम्बर मुनि के प्रति आन्तरिक विद्वेष विद्यमान था। परिग्रहधारी की पूजा और अपरिग्रही महान् योगियों का निरादर आन्तरिक दूषित मनोदशा को स्पष्ट करते हैं। इससे असली सम्यग्दृष्टि और मिथ्यात्वी का रूप पूर्णतया समझा जा सकता है। एक नीतिकार कहता है—

सर्प डस्यो तब जानिये, रुचि कर नीम चबाय।
कर्म डस्यो तब जानिये, जिनवाणी न सुहाय ॥२०९१॥

दूषित भाव—एक विचारक व्यक्ति ने कहा था, "कानजी भक्तों द्वारा दिगंबर जैनों के गुरु के विरुद्ध प्रचार करने का आन्तरिक अभिप्राय दिगम्बर आम्नाय और संस्कृति पर भीतर से प्रहार करना है। लड़-झगड़कर यह काम नहीं होता। यह मीठा विष है, जो संस्कृति के प्राणहरणार्थ खिलाया जा रहा है।"

दिल्ली के एक जौहरी जैन भाई ने मजेदार बात कही थी कि कानजी पंथी या अन्य भक्त सोनगढ़ के संयम-शून्य बाबा के पास जाकर आज्ञा-प्रधानी बनते हैं और दिगम्बर जैन सच्चे वीतरागी मुनियों के पास परीक्षा प्रधानी बनने की बात करते हैं। ये लोग दूरवीक्षण यन्त्र (Telescope) द्वारा पानी के कीड़े देखना चाहते हैं और सूक्ष्मवीक्षण यन्त्र (Microscope) द्वारा नक्षत्रों का दर्शन करने की इच्छा करते हैं। फल यह होता है कि वे अविवेकवश वस्तु के यथार्थ रहस्य से वंचित होते हैं।

एक बार आचार्य सम्राट् महावीरकीर्ति महाराज के पास कुछ अध्यात्मपंथी पहुंचे थे। दि. मुनियों के विरुद्ध उनसे घंटों बहस की, विद्वान साधु की एक भी बात उनके हृदय में नहीं घुसी। इसका एक कारण है—ये लोग अपनी अपनी सुनाने की कला में प्रवीण हैं, दूसरे की सुनने की आदत नहीं है। इसी कारण इनके उपदेशों में शंकाकारों को उत्तर नहीं दिया जाता, और ये दूसरे पक्ष के प्रवचनों में प्रश्न करने को तत्पर होकर सभा भंग करने का प्रयत्न करते हैं। एक प्रांत के मुख्य मंत्री बहिरे थे जब काम की बात होती थी, तब वे कान में श्रवण यंत्र लगाकर बातें सुना करते थे, और जब मतलब की बात नहीं रहती थी, तब उस श्रवण यंत्र को दूर रखकर अभिनय करते थे।

महावीर कीर्ति महाराज ने उन प्रश्नकर्त्ताओं से अन्त में पूछा मुनि की परीक्षा करना चाहते हो। बताओ साधुओं के २८ मूलगुण कौन कौन हैं? वे चुप हो गये और वहां से चले गये। यह दुर्भाग्य की बात है कि निरंतर साधु निन्दा का उपदेश-सुनते सुनते एकांतवादी इस जमाने में भी अपूर्व व्यक्तित्व सम्पन्न महापुरुष के अंत सौन्दर्य को सोचने में असमर्थ हो जाते हैं।

उदाहरणार्थ कोल्हापुर के समीपवर्ती गलतगा स्थान के मुनि सिद्धसेन महाराज का जीवन बड़ा सौरभ पूर्ण तथा पवित्रता समलंकृत है। गृहस्थावस्था में वे मैसूर विधान सभा के यशस्वी सदस्य थे। धन धान्यादि से सम्पन्न थे। वे अंग्रेजी में सुन्दर भाषण देते थे। पचासों प्रतिष्ठायें उन्होंने बिना भेंट लिये कराई। महान्

शास्त्रज्ञ मुनि होते हुये अहंकार का लेश भी उनमें नहीं देखा जाता, जनवरी १९७६ में शिखरजी यात्रा से लौटते हुये वे सिवनी पधारे थे।

"उनके बारे में 'आचार्य कल्प' शब्द का प्रयोग जब मैंने (पंडित सुमेरचंद जी दिवाकर ने) किया तब उन्होंने मुझसे कहा "Pandiji I am an infant only. Dont Praise me highly"—पंण्तिजी, मैं तो बच्चे के समान अल्प हूं। मेरी बड़ी स्तुति नहीं कीजिये। पचहत्तर वर्ष के होते हुये भी वे मूलाचार प्रतिपादित मुनि अवस्था के नियमों का बड़ी सावधानी से पालन कर रहे थे। ऐसी अनेक विभूतियों के होते हुये भी एकांतवादी चश्मे वाले उन महापुरुषों को प्रणाम नहीं करते। अहंकार और अविवेक वश ये उनके सत्समागम से अपने जीवन की विशुद्धि नहीं मनाते।

पंचमकाल में मुनि बनने वालों महापुरुषों में महान् आत्मबल तथा जितेन्द्रियपना है। भाव संग्रह में आचार्य देवसेन ने कहा है—चौथे काल में हजार वर्ष तपस्या करने पर जो फल मिलता था, वह इस काल में हीन संहनन होते हुए एक वर्ष की तपस्या द्वारा प्राप्त होता है। वह गाथा इस प्रकार है—

वरिस सहस्सेण पुरा जं कम्मं हणइ तेण काएण।
तं संपइ वरिसेण हुं णिज्जरयई हीणसंहणणे ॥२०९२॥

शास्त्र में देव, गुरु तथा शास्त्र की श्रद्धा को सम्यक्त्व कहा है। उस सम्यक्त्व के अंग रूप साधु परमेष्ठी के विरुद्ध होकर तथा जनमानस को विकृत बनाने से कितना अधिक स्व तथा पर का अकल्याण होता है, यह एकांती वर्ग नहीं सोचता। इस प्रसंग में बौद्ध ग्रन्थ धम्मपद की यह सूक्ति मननीय है—

पापोपि पस्सदि भद्रं याव पापं न पच्चति।
यदा च पच्चति पापं अथ पापो पापानि पस्सति॥

जब तक पाप का फल नहीं मिलता है, तब तक पापी को पाप कर्म भला कब दिखाई देता है? किन्तु जब पाप का फल मिलता है, तब उसको पाप दिखता है।

भद्रोपि पस्सदि पापं याव भद्रं न पच्चति।
यदा च पच्चति भद्रं अथ भद्रो भद्रानि पस्सति ॥२०९३॥

जब तक भद्र कार्य का फल नहीं प्राप्त होता है, तब तक वह अच्छा नहीं लगता है, किन्तु जब उस सत्कार्य का फल प्राप्त होता है, तब वह व्यक्ति पुण्य कार्य को अच्छे रूप में देखता है।

मुनि निंदकों को यह ज्ञात नहीं भूलना चाहिये कि शासनाधिकारी सम्यक्त्वी बनने पर भी राजा श्रेणिक द्वारा यशोधर महाराज के गले में मरा सर्प डालने से उपार्जित पाप का पूर्ण रूप से क्षय नहीं हो पाया, और आगामी तीर्थंकर होने वाले उन श्रेणिक राजा के जीव को वर्तमान में नरक पर्याय में अपार कष्ट भोगना पड़ रहा है। अतः अहंकार को त्यागकर एकांतवादी वर्ग को विवेक से काम लेना चाहिये। मुनि निन्दा को महापाप कहा गया है।

प्रश्न :—हम वीतरागता को धर्म मानते हैं, अतः दया, दान हमारी दृष्टि में धर्म कार्य नहीं हैं। शरीर जड़ है। उसके द्वारा किये जाने वाले उपवासादि जड़ क्रिया हैं। मोक्ष प्राप्ति के लिये आंतरिक वीतरागता चाहिये। निश्चयनय हमारा कहता है, मोक्ष के लिए बाहरी वेष से कोई प्रयोजन नहीं है। कषाय आदि का त्याग यदि श्वेताम्बरधारी करता है या वह पीताम्बर वाला या दिगम्बर है तो वह मोक्ष जाता है। इस विषय में हमें कुंद-कुंद स्वामी का ही अभिप्राय मान्य है, कारण जिनागम के मर्म को स्वामी कुंद-कुंद तथा अमृतचन्द्र आचार्य के बाद अध्यात्म योगी सत्पुरुष सच्चे जैन धर्म के प्रवर्तक श्री कानजी जान पाये हैं ?

उत्तर :—कुंद-कुंद स्वामी ने कहा है कि द्वादशांग श्रुतज्ञान तथा आचार्य परम्परा से प्राप्त आगम पूज्य तथा मान्य है। उन्होंने दिगम्बर ऋषि प्रणीत परम्परा को आदरणीय कहा है।

उन्होंने रयणसार में कहा है—

पुव्वं जिणेहि भणियं जहट्ठियं गणहरोहि वित्थरियं।
पुव्वाइरियकमेणं जं तं बोलेइ सद्दिट्ठि ॥२०९४॥
मदिसुद णाण बलेण दु सच्छंदं बोलए जिणुत्तमिदि।
जो सो होइ कुदिट्ठी ण होइ जिण मग्गलग्गो ॥२०९५॥

पूर्व में जिस प्रकार सर्वज्ञ जिनेन्द्र ने कथन किया तथा गणधरदेव ने जिसका द्वादशांग रूप से विस्तार किया, उस पूर्वाचार्य परम्परा से आगत कथन के अनुसार जो बोलता है, वह सम्यग्दृष्टि है।

जो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान के अहंकारवश जिनवाणी की उपेक्षा कर स्वच्छंद जैसा मन में आया वैसा बोलता है, वह जिनमार्ग में संलग्न रहते हुए भी मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

इस कथन द्वारा कुंद-कुंद स्वामी आचार्य परम्परा से आगत समस्त ऋषि प्रणीत आगम को (समंतभद्र, अकलंक, जिनसेन आदि की वाणी) जो ज्ञान के अहंकार से युक्त हो न मानकर स्वच्छंद प्रलाप करता है, वह मिथ्यादृष्टि है। कानजी मत में समस्त जिनागम का अनादर कर केवल समयसार अथवा कुंद-कुंद वाणी को ही मानने की प्रणाली है, वह मिथ्यावादी मार्ग है ऐसा महर्षि कुंद-कुंद ने पूर्वोक्त गाथा युगल में स्पष्ट किया है।

उपवास आदि अनावश्यक है; दान पूजादि के कारण मोक्ष नहीं मिलता, इत्यादि एकान्त कथन कुंद-कुंद वाणी के द्वारा भी खण्डित होता है।

मार्मिक देशना—वे कहते हैं, जो गृहस्थ, गृहस्थी के जंजाल में रहकर आरंभ परिग्रह में फंसने से पाप का अर्जन करता है, तथा उस दोष के प्रक्षालन हेतु दया, दानादि कार्य नहीं करता है, वह संसार में परिभ्रमण करता है। दया दानादि सत्प्रवृत्तियों में लगने वाला सम्यग्ज्ञानी जीव मोक्ष जाता है। ऐसा अभिप्राय: द्वादशानुप्रेक्षा में कुंद-कुंद स्वामी ने व्यक्त किया है—

पुत्तकलत्त णिमित्तं अत्थं अज्जयदि पापबुद्धीए।
परिहरदि दया-दाणं सो जीवो भमदि संसारे ॥२०६६॥

जो पाप भाव युक्त हो (आर्त रौद्र ध्यान को धारण कर) दया तथा दान का परित्यागकर पुत्र स्त्री के लिये धन का संचय करता है, वह जीव संसार में भ्रमण करता है। अर्थात् दया, दान न करने वाला गृहस्थ मोक्ष नहीं पाता, ऐसा अभिप्राय स्पष्ट है। इस कथन से दया, दान के विरुद्ध कानजी पंथी एकांतवादी प्ररुपणा खण्डित हो जाती है।

जो एकांतवादी पाप त्याग के मार्ग को अस्वीकार करके ऊँची-ऊँची बातें शुक्ल ध्यान, शुद्धोपयोगी, निश्चयनय आदि की किया करते हैं, उनकी क्या गति होगी, यह कुन्द-कुन्द महर्षि की मंगलवाणी बताती है—

जत्तेण कुणइ पाव विसयणिमित्तं च अहणिसं जीवो।
मोहंधयार सहिओ तेण दु परिपड़दि संसारे ॥२०६७॥

जो मोहान्धकार युक्त गृहस्थ विषयों की पूर्ति हेतु बुद्धि पूर्वक प्रयत्न करता हुआ निरन्तर पाप कार्यों को करता है, अर्थात् पाप त्याग रूप पुण्य कार्यों से दूर भागता है, वह निंद्य कार्यों के फलस्वरूप संसार में पतित दशा को पाता है ।

पंचमकाल में धर्मध्यान रूप शुभोपयोग बड़े प्रयत्न द्वारा प्राप्त होता है । इस काल में शुक्ल ध्यान रूप शुद्धोपयोग नहीं होता, यह बात मोक्ष पाहुड में कही गयी है—

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स ।
तं अप्प सहावठिदे णहु मण्णइ सो वि अण्णाणी ।।२०९८।।

आत्मा स्वरूप में लीन साधु के इस पंचमकाल में भरत क्षेत्र में धर्म ध्यान होता है, यह बात जो नहीं मानता वह अज्ञानी (मिथ्यात्वी) है । धर्मध्यान को भाव-पाहुड की 'सुहधम्मं'—गाथा ७६ में शुभ भाव कहा है । एकांतवादी अशुभ भाव के विषय में मौन धारण कर शुभ भाव धर्मध्यान, जो इस काल में निर्दोष है की अभद्र शब्दों में निंदा करता है, उसे कुन्द-कुन्द स्वामी कथित लोकानुप्रेक्षा का वर्णन ध्यान में लाना चाहिये । वे कहते हैं—

असुहेण णिरय तिरियं सुह उवजोगेण दिविज णर-सोक्खं ।
सुद्धेण लहइ सिद्धिं एवं लोयं विचिंतिज्जो ।।२०९९।।

आर्तध्यान, रौद्रध्यान रूप अशुभ भाव से नारकी तथा पशु की पर्याय, धर्म ध्यान रूप शुभ भाव से देव तथा नर पर्याय के सुख मिलते हैं ।

शुक्ल ध्यान रूप शुद्ध भाव (जो पंचमकाल में नहीं हो सकता) से मोक्ष मिलता है, ऐसा लोक का चिंतवन करे ।

इस कथन द्वारा कुन्द-कुन्द स्वामी यह सूचित करते हैं कि इस काल में मोक्ष नहीं है, अतएव अशुभ भाव द्वारा पशु नारकी बनने के स्थान में शुभ भाव को स्वीकार करके देव, मानवपर्याय के सुखों को प्राप्त करना उपयुक्त होगा ।

Some-thin is better than nothing. शून्य की अपेक्षा अल्प उपलब्धि ठीक है । इतना ही नहीं, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह की तीव्र लालसा कृष्णादि लेश्याओं के अधीन हो कुत्सित आचरण और क्रूर कर्मों द्वारा कुगति की अपार विपत्ति की अपेक्षा सम्यक्त्व सहित देवादि की भी अवस्था बहुत अच्छी है, जहां से चयकर

सम्यक्त्वी जीव नर पर्याय धारण कर तपश्चर्या करते हुये कर्म क्षय करता है ।

आगम की आज्ञानुसार दिगम्बर मुद्रा धारण करना, शीत, उष्ण आदि २२ परिषहों को सहन करना, उपवास करना आदि को एकांतवादी जड़ शरीर की क्रिया करते हुए इन्द्रियों और विषयों की गुलामी द्वारा मोक्ष रूपी आत्म स्वातन्त्र्य को पाने का स्वप्न देखते हैं । उसे जगाते हुए कुन्द कुन्द स्वामी ने मोक्ष पाहुड में कहा है—

णिग्गंथ मोहमुक्का बावीस परीसहा जियकसाया ।
पावारंभविमुक्का ते गहिया मोक्खमग्गमि ।।२१००।।

जो परिग्रह रहित निर्ग्रन्थ हैं, बाह्य जगत के प्रति मोहमुक्त हैं, शीत, उष्णादि कठोर बाईस परीषह सहन कर तप द्वारा कर्मों की निर्जरा करते हैं, तथा हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन एवं परिग्रह रूप पाप के कारणों का त्याग करते हैं अर्थात् जिनके जीवन में सत्य, अहिंसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह की समाराधना प्रतिष्ठित हैं, वे मोक्ष मार्ग में संलग्न माने गये हैं ।

आचार्य श्री यह भी कहते हैं, देव तथा गुरु की भक्ति से युक्त आत्म ध्यानी सच्चरित्र व्यक्ति मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त है । एकांतवादी पूजा आदि को राग भाव कहकर निंदनीय कहा करते हैं । सर्वज्ञ परम्परा से प्राप्त मोक्ष पाहुड के इस कथन पर श्रद्धा करने वाला व्यक्ति मोक्षमार्गी होता है—

देवगुरुणं भत्ता णिव्वेय परंपरा विचिंतंता ।
झाणरया सुचरित्ता ते गहिया मोक्ख मग्गमि ।।२१०१।।

जो वीतराग अरहंत भगवान, दिगम्बर गुरु के भक्त हैं, संसार शरीर तथा भोगों से विरक्त हैं, ध्यान करने में निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं और जिनका आचरण निर्मल हैं, वे मोक्ष मार्ग में स्थित हैं ।

प्रमादी की दृष्टि—लोक में ऐसे लोग मिला करते हैं, जो दूसरे का द्रव्य देने की बात भी नहीं सुनते, किन्तु अपनी रकम वसूल करने में जघन्य उपयोग करते हैं; इसी प्रकार की परम्परा एकांतवादी वर्ग में देखी जाती है । साधु के जीवन में क्या त्रुटि है, इसे वे ही ढूंढ़कर तथा उसे बड़ा रूप देकर दुनियां में ढोल पीटते हैं और स्वयं के पतितजीवन के बारे में कहते हैं कि संयम पर्याय हम में अपने आप आ जायेगी, पुरुषार्थ की जरूरत नहीं है ।

'जो जो देखी वीतराग ने सो सो होसी वीरा रे।' ये लोग लेन-देन, व्यापार, विषय सेवन में बुद्धि पूर्वक प्रयत्न करते हैं तथा वहां भगवान के ज्ञान का बहाना नहीं बनाते। उन्हें अपने मन में यह सोचना उचित होगा—

क्या क्या देखी वीतराग ने तू क्या जाने बीरा रे।
वीतराग की वाणी द्वारा, दूर करो मद पीरा रे ॥६१०२॥

अध्यात्म वाणी का अभिप्राय था कि जीव रक्षा करो, इसीलिये तो मुनिराज पिच्छी रखते हैं, नहीं तो क्या वह शोभा के लिये है ? भावों में भी प्रमाद पने को न आने दो, क्योंकि मलिन विचारों के द्वारा जीव कर्मों के बन्धन में बद्ध होता है। उसका रहस्य न समझकर अध्यात्मवादी कहते हैं; शरीर आत्मा से भिन्न है। शरीर घात करने से पाप नहीं होता। इनको समयसार शास्त्र के रचनाकार भाव पाहुड ग्रन्थ में अपना मंतव्य इस प्रकार स्पष्ट करते हुए सचेत करते हैं—

पणिवहेहि महाजस चउरासी–लक्ख–जोणिहि मज्झम्मि।
उपज्जंत मरंतो पत्तोसि णिरंतरं दुक्खं ॥२१०३॥

हे महायशस्वी साधु ! जीव वध महापाप है, उसे करने वाला ८४ लाख योनियों में जन्म मरण पाता हुआ निरन्तर दुःख भोगता है।

यहां जीव वध को बुरा कहा है।

चेतावनी–जो कानजी पन्थी समुदाय तीस वर्षों से भी अधिक काल अध्यात्म शास्त्र का ही मनन, प्रचार करते हुये कहता है, हमारा मन त्याग की ओर नहीं जाता है, उसको आध्यात्मिक प्रहरी के रूप में कुन्द-कुद स्वामी भाव पाहुड में इस प्रकार सचेत करते हैं—

उत्थरइ जा ण जरओ रोयग्गी जा ण डहइ देहउडिं।
इन्द्रिय बलं ण वियलइ ताव तुमं कुणहि अप्पहियं ॥२१०४॥

जब तक बुढ़ापे का आक्रमण नहीं होता, रोग-रूपी अग्नि देह-रूपी झोपड़ी को भस्म नहीं करती तथा इन्द्रियों की शक्ति क्षय को प्राप्त नहीं होती है तब तक आत्मा का हित करो। (असमर्थ होने पर क्या करोगे ?)

प्रश्न :—इस प्रसंग में यह प्रश्न उठता है आत्म धर्म हम पढ़ते हैं। आत्मा की ही अपने शिविरों में, कक्षाओं में चर्चा करते हैं। अब हमें

और क्या धर्म करना चाहिये ?

उत्तर :—सम्यग्दर्शन की प्राप्ति तो मोक्ष रूपी परम विज्ञान मन्दिर की प्रवेशिका शाला सदृश है। आगे विशारद की शिक्षार्थ श्रावक की एकादश प्रतिमायें हैं। तथा अंतिम कक्षा का कोर्स दश धर्मों का पूर्ण पालन है। कुन्द-कुन्द स्वामी ने श्रावकों की प्रतिमाओं को तथा मुनियों के उत्तम क्षमादिक को धर्म संज्ञा प्रदान की है। इससे यह स्पष्ट होता है कि अणुव्रत पालना या महाव्रत पालना धर्म से जीवन को समलंकृत करना है। धर्मानुप्रेक्षा में कुन्द-कुन्द स्वामी कहते हैं—

एकारस दसभेयं धम्मं सम्मत्त पुव्वयं भणियं।
सागार-णारगाणं उत्तम सुह संपजु-तेहिं ॥२१०५॥

उत्तम मोक्ष सुख वाले जिन भगवान ने कहा है सम्यक्त्व पूर्वक एकादश प्रतिमा रूप श्रावक का धर्म है। तथा उत्तम क्षमादि दशविध श्रमण धर्म है। आचार्य देव कहते हैं—

सावय धम्मं चत्ता यदि धम्मे जो हुवइ ण जीवो।
सो ण य वज्जदि मोक्खं इदि चिंतये णिच्चं ॥२१०६॥

जो जीव श्रावक धर्म को त्यागकर मुनि के धर्म में स्थित होता है। वह मोक्ष से वंचित नहीं होता (यति धर्म पालन द्वारा वह मुक्त होता है।) इसका सदा धर्म भावना में चिंतवन करे। यहां व्रतादि को धर्म कहा गया है।

प्रश्न :—एक समय सुन्दर आध्यात्मिक चर्चा चल रही थी, मैंने आचार्य १०८ आचार्य शांतिसागर जी महाराज जी से पूछा था, "आत्मा की खूब चर्चा करते हुये भी जो व्यक्ति सामान्य श्रावकाचार को प्रतिज्ञा रूप से नहीं पालन करते, उसका भविष्य कैसा है ?

उत्तर :—आचार्य श्री ने श्रेणिक राजा का उल्लेख करते हुये कहा था। क्षायिक सम्यक्त्वी होते हुये भी नरक आयु बांध लेने के कारण वह आत्मा व्रत न ले सकी, इसी प्रकार संयम विमुख व्यक्तियों का स्वरूप समझना चाहिये, इसके अनंतर उन्होंने कहा था जिसकी जैसी होनहार होती है उसके अनुसार ही उस जीव की बुद्धि हो जाया करती है।

प्रमादी एकांतवादी को महर्षि कुंद-कुंद चेतावनी देते हुए कहते हैं—

सामग्गिदिय रूवं आरोग्गं जीवणं बलं तेजं ।
सोहग्गं लावण्णं सुर धणुमिव सस्सयं ण हवे ॥२१०७॥

सम्पूर्ण इन्द्रियों की परिपूर्णता, नीरोगता, यौवन, बल, तेज, सौभाग्य तथा लावण्य इन्द्रधनुष के समान देर तक टिकने वाले नहीं हैं । आचार्य कुंद-कुंद ने यह कहा है—

कालाई लद्धीए अप्पा परमाप्पओ हवदि ॥२४॥ (मोक्ष पाहुड)

काल लब्धि आदि के प्राप्त होने पर आत्मा परम आत्मा होता है । चक्रवर्ती भरत के पुत्र होते हुये श्रेष्ठ आध्यात्मिक वातावरण में रहने वाले मरीचिकुमार को सम्यक्त्व की ज्योति नहीं मिली । किंचित् न्यून कोडा-कोडी सागर काल बीतने पर सर्व प्रकार की विपरीत सामग्री होते हुये यम सदृश क्रूर सिंह की पर्याय में चारण मुनि युगल की वाणी सुनकर उसे आंशिक सम्यक्त्व का लाभ हुआ तथा दशवें भव में उस जीव ने महावीर भगवान होकर मोक्ष प्राप्त किया । अतः यह स्पष्ट है कि अध्यात्मवादी कहने से तथा आत्मा सम्बन्धी ग्रन्थ को सदा साथ में रखने मात्र से सम्यक्त्व की प्राप्ति काललब्धि के अभाव में असम्भव है ।

काललब्धि आदि कब आए, यह पता नहीं चलता । ऐसी स्थिति में क्या कर्तव्य रह जाता है ? दो रास्ते हैं । मोक्ष तो मिलता नहीं । विषय-भोग की गुलाबी पथ पकड़ा, तो दुःख पूर्ण पशु तथा नारकी की पर्याय मिलेगी । यदि सम्यक्त्व रहित होते हुए भी चोरी, व्यभिचार, बेईमानी आदि विश्व विनिन्दित कुकृत्यों को छोड़कर सज्जन पुरुषोचित सदाचार का रास्ता अपना लिया तो स्वर्ग में उत्पत्ति होगी, तथा विदेह जाकर तीर्थंकर के साक्षात् दर्शन दिव्यध्वनि सुनने का सौभाग्य तथा नंदीश्वर वंदना आदि अनेक सुयोग प्राप्त होंगे । चरम शरीरी न होने से मरण तो अवश्य होगा । यदि कुंद-कुंद मुनीन्द्र की कथनी के अनुसार पापाचार का त्याग तथा सदाचार का पालन किया, तो विपत्ति से बचा जा सकेगा । यदि इन्द्रियों की गुलामी और घृणित शरीर की सेवा करते-करते प्राणों का त्याग हुआ, तो कुगति के पतन को कौन टाल सकता है ? भगवान महावीर का साक्षात् सानिध्य यदि श्रेणिक महाराज के नरक पतन को न रोक सका, व अन्य लोगों की तो बात ही क्या है । ?

शंका—समयसार में कहा है । शास्त्र अचेतन है, वह ज्ञान रूप नहीं है—

'संत्थं णाणं ण हवइ जह्मा सत्थं ण जाणए किं चि' ॥३६०॥

समयसार गाथा ३७२ में कहा है एक द्रव्य अन्य द्रव्यों में गुणोत्पादक नहीं होता। "अण्णदविएण अण्णदवियस्स ण कीरए गुणुप्पाओ" इस कारण कानजी कहते हैं, शास्त्र को परस्त्री तुल्य त्याज्य समझना चाहिये।

समाधान—शास्त्र के पठन स्वाध्याय तथा उपदेश से जीव सुपथ में लगते हैं। यह प्रत्यक्ष अनुभव गोचर बात है, कानजी पंथ अपने आचार के लिये अपने ढंग का साहित्य छपाता है, वितरण करता है। यह कारण स्पष्ट सूचित करता है कि एक द्रव्य के द्वारा दूसरे का कुछ नहीं होता, यह कथन एकांत रूप नहीं है। समयसार में कुन्द कुन्द स्वामी ने एक दृष्टि से कथन किया है उसके सिवाय उन्होंने दूसरी दृष्टि को भी ध्यान में रखकर रयणसार में लिखा है—

इदि सज्जणेण पुज्जं रयणसार गंथं णिडालसो णिच्चं।
जो पढ़इ सुणइ भावइ सो पावइ सासयं ठाणं ॥२१०८॥

इस प्रकार सत्पुरुषों के द्वारा वंदनीय इस रयनसार ग्रंथ को जो आलस्य छोड़कर पढ़ता है, सुनता है, भावना करता है, वह अविनाशी पद को पाता है। यही बात भाव पाहुड में अन्त में उन्होंने लिखी है—

इय भाव पाहुड मिणं सव्वं बुद्धेहि देसियं सम्मं।
जो पढइ सुणइ भावइ पावइ सो अविचलं ठाणं ॥२१०९॥

मोक्ष पाहुड के अन्त की गाथा भी उपयोगी है—

एवं जिण पण्णत्तं मोक्खस्सय पाहुड सुभत्तीए।
जो पढइ सुणइ, भावइ सो पायइ सासयं सोक्खं ॥२११०॥

कुन्द-कुन्द स्वामी स्वयं कहते हैं कि उनके द्वारा रचित उपरोक्त ग्रंथ को जो पढ़ता है, सुनता है तथा भावना करता है, वह मोक्ष प्राप्त करता है।

अतः जिनवाणी को परस्त्री कहकर हेय मानना, एक द्रव्य से दूसरे का सर्वथा हित नहीं होता, आदि कथन कुन्द-कुन्द स्वामी के कथन द्वारा बाधित होता है। विवेकी व्यक्ति एकांत पक्ष को नहीं पकड़ता। एकांत पक्ष का आग्रह सम्यक्त्वी नहीं करता है।

यह बात विचारणीय है कि कुन्द-कुन्द स्वामी का सीमंधर भगवान की दिव्य

व्यक्ति रूप पुद्गल द्रव्य से स्वहित न होता, तो वे महर्षि विदेह क्यों जाते? अतः कथंचित् एक द्रव्य दूसरे का उपकारी होता है, कथंचित् नहीं होता ; ऐसा स्याद्वाद पक्ष उचित तथा उपकारी है।

प्रश्न :—पुण्य के विषय में यह बात गले नहीं उतरती कि वह आत्मा का शत्रु रूप कर्म है, वह मोक्षार्थी के लिये कैसे उपकारी हो सकेगा ?

उत्तर :—अनेकांत के प्रकाश में समाधान खोजना चाहिये। पुण्योदय से प्राप्त सामग्री का उपयोग चतुर व्यक्ति स्व परहित के साधनों में करता है। क्रूर तथा दुष्ट व्यक्ति उस साधन सामग्री का उपयोग विषय कषायों के पोषण में करता है। इस प्रसंग में यह पद्य उपयोगी है—

विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिः परेषां परपीड़नाय।
खलस्य साधोः विपरीत मेतज्ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय ॥२१११॥

दुर्जन विद्या का उपयोग विवाद में, धन का अहंकार पोषण में तथा शक्ति का उपयोग दूसरों को कष्ट प्रदान करने में करता है; सत्पुरुष विद्या का ज्ञान कार्य में, धन का पात्र दान में तथा शक्ति का असमर्थों के रक्षण कार्य में उपयोग करता है।

मिथ्यादृष्टि पुण्योदय से प्राप्त सामग्री को पापानुबन्धी क्रियाओं में लगाता है। जैसे के बहुत धन सम्पत्ति हो गई, और उसने कसाई खाना खोल दिया, मांस विक्रय, मद्य विक्रयादि का बड़े रूप में काम शुरू कर दिया, हीन प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन हेतु सम्पत्ति का उपयोग किया। उसके फल स्वरूप वह अपने संचित पुण्य का क्षयकर पाप के सागर में डूबता है।

यदि वह धन वैभव आदि सम्यग्दृष्टि विवेकी सत्पुरुष को प्राप्त हुआ, तो वह उसके द्वारा रत्नत्रय के अंगरूप कार्यों का संरक्षण, संवर्धन, जीव हितादि का कार्य सम्पन्न करता है। इससे वह घातिया कर्मरूप पाप का क्षय करता हुआ तथा अन्त में उस वैभव मात्र का त्यागकर भगवान शांतिनाथ के समान स्वदोष शान्ति द्वारा शाश्वतिक शांतिपूर्ण पद को पाता है। जिस व्यक्ति के पास धन मादकता पैदा करता है, उस व्यक्ति का हाल निन्दनीय कहा जाता है।

इस कारण पुण्य के विषय में स्याद्वाद दृष्टि का उपयोग जरूरी है। श्रीषेण राजा ने सत्पात्र दान दिया था, उससे उसके अपार पुण्य वृद्धि होती गई, तथा उसने

वैभव का सत्कार्यों में उपयोग किया। अन्त में वह आत्मा भगवान शांतिनाथ तीर्थंकर होकर मोक्ष धाम में विराजमान हो गई।

मार्मिक विचार—इस प्रसंग में एक बात ईमानदारी से हृदय पर हाथ रखकर विचारने की है। एकांतवादी वर्ग अपना सारा दिन "हाय धन, हाय पैसा" से प्रेरित हो पुण्य रूपी वृक्ष के फल को संग्रह करना चाहता है और कहता है हमें पुण्य नहीं चाहिए। कोई आम के शौकिन सज्जन आम तो खाना चाहें और आम के वृक्ष से घृणा करें, तो उनकी यह चेष्टा समझदारों को मनोविनोदप्रद है। यदि आम का वृक्ष नहीं चाहिये, तो उसके फलों का भी त्याग करो, तब विवेक की बात समझी जाये।

तीर्थंकर भगवान दीक्षा लेते समय पुण्य से प्राप्त फल रूप सामग्री का जीर्ण कपड़े के समान त्याग करते हैं और अंतरंग बहिरंग रूप से अपरिग्रही बनते हैं, तब वे पाप का क्षय करते हुए पुण्य का भी नाश कर सिद्ध पदवी पाते हैं। अतः विवेक के प्रकाश में तत्व पर दृष्टि डालना समझदारी की बात है।

एकांत पक्ष वालों का सच्चा हित स्याद्वाद चक्र का शरण ग्रहण करने में है। स्याद्वाद का शरण लेने वाला ही मोक्ष पाता है।

बनारसीदास ने स्याद्वाद दृष्टि के विषय में नाटक समयसार में मार्मिक शब्द लिखे हैं—

समुझे न ज्ञान कहे करम किए सो मोक्ष।
ऐसे जीव विकल मिथ्यात की गहल में॥
ज्ञान पक्ष गहे, कहे आतमा अबंध सदा में।
बरते सुछन्द, तेउ डूबे हैं चहल में॥
जथायोग करम करें, ते ममता न धरे।
रहें सावधान, ध्यान की टहल में॥
सेई भवसागर के ऊपर ह्वै तरै जीव।
जिन्ह को निवास स्याद्वाद के महल में॥

सामान्य पथ—आत्महित साधना जिनका ध्येय है, वे शास्त्र का उपयुक्त और उपयोगी अंश ग्रहण कर जीवन शोधन के कार्य में प्रयत्नरत रहा करते हैं। समन्वय दृष्टि वाला साधक शास्त्र के अर्थ को उसके प्रसंग, प्रकरण आदि को ध्यान में रखकर

वस्तुस्वरूप को मन में प्रतिष्ठित करता है। अध्यात्म दृष्टि और व्यवहार दृष्टि का समन्वय न होने पर शास्त्र जीवन को उन्नत नहीं बनाता है। इस विषय को स्पष्ट करने के लिए कुछ उदाहरण यहां दिये जाते हैं।

अध्यात्म दृष्टि की मुख्यता से कहा जाता है, आत्मा अविनाशी है, आत्मा की मृत्यु नहीं होती। पूज्यपाद ऋषिराज ने इष्टोपदेश में कहा है "न मे मृत्युः कुतो भीतिः।" इस दृष्टि वाले सत्पुरुष को यह आर्षवाणी भी स्मरण में रहनी चाहिए "समाधि मरणं होहु मज्झं" मेरे समाधिमरण हो। पंचमकाल में शरीरी मानव का जन्म नहीं होता है। उसकी मृत्यु अवश्य होगी। न मे मृत्युः का पाठ पढ़ने-पढ़ाने वाले महर्षि पूज्यपाद को समाधिमरण पर भी ध्यान देना आवश्यक समझा। उन्होंने भगवान से प्रार्थना की है, "प्राण प्रयाण क्षणे त्वन्नाम–प्रतिबद्ध वर्ण पढ़ने कण्ठस्त्वकुण्ठो मम" प्राण प्रयाण काल में जिनेश्वर के नाम स्मरण करते समय मेरा कण्ठ अवरुद्ध न हो। विवेकी साधक समाधिमरण को ध्यान रखता है तथा मेरी आत्मा की मृत्यु नहीं है, इस सत्य पर भी अपनी दृष्टि रखता है।

अध्यात्मदृष्टि कहती है, आत्मा ही आत्मा का है, "आत्मैव गुरुरात्मनः" समाधि-शतक में लिखा है—

नयत्यात्मान मात्मैव जन्म निर्वाण मेव वा।
गुरुरात्मात्मन स्तस्मान्नान्योस्ति परमार्थतः ॥२११२॥

आत्मा ही आत्मा को संसार में तथा निर्वाण में ले जाता है, इससे परमार्थ से आत्मा का गुरु आत्मा है, अन्य गुरु नहीं हैं।

इस दृष्टि के साथ व्यवहार दृष्टि भी साधक को अपनानी चाहिये, ताकि वह उसके जीवन निर्माण करने में पथ प्रदर्शक आचार्यादि को अपनी श्रद्धा तथा विनय का केन्द्र बनावे। बोध पाहुड में कुन्द-कुन्द स्वामी अपने गुरु द्वादशांग के वेत्ता भद्रबाहु श्रुतकेवली को इस प्रकार स्मरण करते हैं—

बारस अंग वियाणं चउदस पुव्वं–विउल वित्थरणं।
सुयणाणि भद्दबाहू गमय–गुरु–भयवओ जयउ ॥२११३॥
द्वादशांग विज्ञानः चतुर्दश पूर्वांग विपुल विस्तारः।
श्रुतज्ञानी भद्रबाहुः गमकगुरुः भगवान् जयतु ॥२११४॥

चौदह पूर्वांगरूप विपुल विस्तार सहित द्वादशांग के ज्ञानी गुरु श्रुत-ज्ञानी भगवान भद्रबाहु जयवंत हों।

गुरु के द्वारा जीव का महान हित होता है, यह सत्य कृतज्ञ शिष्य के सदा ध्यान में रहना चाहिए। यह पद्य प्रसिद्ध है—

अज्ञान-तिमिरान्धानां ज्ञानांजन शलाकया।
चक्षु रुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरुवे नमः ॥२११५॥

वे गुरु वंदनीय हैं, जिन्होंने ज्ञानांजन युक्त सलाई के द्वारा अज्ञानांधकार से अंधे शिष्यों के नेत्रों को उन्मीलित किया—रोग विमुक्त बनाया। णमोकार मंत्र में आचार्य, उपाध्याय परमेष्ठी को स्मरण करते हुए गुरु की वंदना की जाती है। विवेकी व्यक्ति परमार्थ दृष्टि तथा व्यवहार दृष्टि युगल को हित साधक मानता है—

अध्यात्म दृष्टि तीर्थ वंदना, देवाराधना, गुरु वंदना का निषेध करती हुई, आत्म देव की आराधना को हितकारी बताती है। परमात्म प्रकाश में लिखा है—

अण्णु जि तित्थु म जा हि जिय अण्णु जु गुरु उ म सेवि।
अण्णु जि देउ म चिंति तुहु अप्पा विमल मुएवि ॥२११६॥

हे जीव, अपनी आत्मा को छोड़कर किसी अन्य तीर्थ को मत जा, किसी अन्य गुरु की सेवा मत कर तथा किसी अन्य देव की आराधना मत कर।

इसको पढ़ने वाला एकान्त वादी भोगासक्त व्यक्ति अपने प्रमादी जीवन को पुष्ट करना चाहता है। वह तीर्थ वन्दना, गुरु सेवा तथा मन्दिर जाना, पूजा करना आदि को अनुपयोगी मानता हुआ उपरोक्त शास्त्र की आज्ञा को समक्ष रखता है। वह पूज्यवाद स्वामी के इस कथन को अपने स्वेच्छाचरण का अवलंबन बनता है—

यः परमात्मा स एवाहं योहं स परमस्ततः।
अहमेव मयो पास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः ॥२११७॥

जो परमात्मा है, वह मैं हूं, जो मैं हूं, वह परम आत्मा है, अतः मैं अपने द्वारा उपास्य हूं, अन्य कोई आराधना योग्य नहीं है, ऐसी यथार्थ स्थिति है।

इस अभेद भक्ति रूप श्रेष्ठ स्थिति को श्रेष्ठ दिगम्बर श्रमण ही प्राप्त कर सकते हैं, उस स्थिति को साध्य बनाने वाला देव पूजा, गुरु भक्ति, तीर्थ यात्रा आदि साधनों का आश्रय ले अपने रागादि विकारों से अत्यन्त मलिन जीवन को स्वच्छ

बनाता हुआ मोक्ष पथ में प्रगति करता है। आचार्य कुन्द-कुन्द ने भाव पाहुड में कहा है—

जिणवर चरणंबु रुहं णमंति जे परम भत्ति–राएण ।
ते जम्मवेलि मूलं खणंति वर भाव सत्थेण ॥२११८॥

जिनेश्वर के चरण कमलों को जो उच्च भक्ति युक्त अनुराग भाव से प्रणाम करते हैं, वे जन्म रूप वेलि के मूल को निर्मल परिणाम रूप शस्त्र से काट डालते हैं। देव, गुरु, तीर्थ आदि का सम्पर्क पाकर मोही मानव मानसिक मलिनता से छूटता है तथा ऐसे विशिष्ट आनंद को प्राप्त करता है, जो भोग जन्य सुखों की अपेक्षा अत्यन्त उच्च कोटि का होता है। वीतराग की हृदय से भक्ति जनित आनन्द लोकोत्तर होता है। मोक्ष पुरुषार्थ सिद्धि के लिये आत्मा को अपनी शक्ति का अपव्यय रोककर स्वयं में केन्द्रित होना आवश्यक है। इससे परोपकार में समय व्यतीत करने वाले श्रमण को इष्टोपदेश में आचार्य कहते हैं—

परोपकृतिं मुत्सृज्य स्वोपकार परोभव ।
उपकुर्वन्परस्याज्ञः दृश्यमानस्य लोकवत् ॥२११९॥

आत्मन्! अन्य का उपकार रूप कार्य त्याग करके आत्मा के उपकार कार्य में तत्पर हो। आत्मा से भिन्न शरीर आदि दृश्यमान वस्तुओं का हित संपादन कार्य में अपना काल व्यतीत करते हुए तुम अज्ञानी जगत का अनुकरण करते हो।

इस कथन की ओट में कोई करुणामयी प्रवृत्तियों से विमुख होकर तथा संकीर्ण दृष्टि को अपनावे, उसे आचार्य कहते हैं, प्रारम्भ में तुम्हारा जीवन अपने से हीन स्थिति में पड़े हुए व्यक्तियों को ऊंचे उठाने में व्यतीत होना चाहिये। असमर्थ की सेवा सत्कर्म है। विवेकशील गृहस्थ के लिए दान देकर परोपकाररत रहना आवश्यक है। व्यवहार दृष्टि के प्रकाश में वे ही आचार्य पूज्यपाद कहते हैं—

ज्ञानवान् ज्ञानदानेन निर्भयोऽभयदानतः ।
अन्नदानात्सुखी नित्यं निर्व्याधि र्भेषजाद्भवेत् ॥२१२०॥

यह जीव दूसरों को ज्ञान दान करने से ज्ञानवान्, अभय दान देने से अभय पूर्ण स्थिति युक्त होता है, अन्न दान से सदा सुखी रहता है तथा औषधि का दान करने से व्याधिरहित होता है। अतः सदा दान देना उचित है। इस

तर्क संगत व्यवहार दृष्टि का निरादर कर विषयासक्ति पूर्ण स्वार्थी जीवन व्यतीत कर अपने को महान अध्यात्मवादी मानना अविवेकी का कार्य है। परोपकारी बनना गृहस्थ जीवन के लिये आवश्यक है। तपोवनवासी श्रेष्ठ श्रमणों की अपेक्षा स्वोपकार की दृष्टि को मुख्य माना गया है।

तत्त्वग्राही निश्चय दृष्टि कहती है एक ही खदान से निकले एक संगमरमर की चट्टान का एक अंश मूर्ति बनकर भगवान शांतिनाथ कहा जाता है और उस पाषाण का दूसरा अंश मन्दिर की सीढ़ी माना जाता है। यह भेद हमें मान्य नहीं है। हमारी निश्चय दृष्टि में दोनों पाषाण समान है।

इस दृष्टि को एकान्त सत्य समन्वित स्वीकार करने पर गड़बड़ी हो जायगी। व्यवहारनय से प्रकाश प्राप्त स्याद्वादी कहेगा, खदान में उस पाषाण में भेद नहीं था, किन्तु जब मूर्तिकार ने पाषाण को तीर्थंकर की मूर्ति का आकार दिया, प्रतिष्ठा विधि द्वारा उसकी प्राण-प्रतिष्ठा हो गई, तब साधक की विवेक पूर्ण दृष्टि उस मूर्ति को भगवान मानकर विनय करने को प्रेरित करती है। उस दृष्टि से सीढ़ी के पाषाण से उसकी समानता का पक्ष अब उपयोगी नहीं रहेगा। अकेला अध्यात्मवाद चक्कर में डाल देगा, भगवान गोम्मटेश्वर की मूर्ति को वह पाषाण की मूर्ति मानेगा, भगवान बाहुबली की नहीं। ऐसा मानने से जीवन शोधन हेतु कुछ भी तत्त्व हाथ न लगेगा। व्यवहार दृष्टि से बाहुबली साक्षात् मूर्तिमान हैं, ऐसा मानकर आराधना करने से स्वहित संपादन होगा, अतः समन्वय पथ श्रेयस्कर एवं शांति प्रदाता है।

शंका :— स्याद्वाद पक्ष वाला निश्चय तथा व्यवहार दृष्टियों को उपयोगी, उपकारी, हितकारी तथा श्रेयोपथ मानता है। वह एकान्त से अध्यात्म पक्ष मानने वाले का क्यों विरोध करता है? ऐसा करना क्या सत्य तत्त्व का विरोध नहीं है?

समाधान :— एकान्त पक्ष वाला जब सत्य का विकृत, विकारी, हानिकारी रूप उपस्थित करता है, तब सत्यग्राही दृष्टि वाले का आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है कि सत्य पक्ष के रक्षण हेतु एकान्त दृष्टि से होने वाली हानि पर प्रकाश डाले। जैनागम जब बौद्ध तत्त्वज्ञानी को एकान्त क्षणिक पक्ष का पोषण करते हुए पाता है, तब उसका कर्त्तव्य हो जाता है कि वह पददलित किये जाने वाले नित्य पक्ष को

ध्यान में रखकर आक्रान्त एकांतवादी को न्याय का सही रास्ता बतावे। यही न्याय निश्चयनय और व्यवहार नय पक्ष को विस्मरण करने वाले एकान्तवादी चिन्तक के विषय में लगाना चाहिये। एकान्तवादी सत्य को विकृत करता है। स्याद्वादवादी सत्य के सच्चे सौन्दर्य को प्रकाशित करता है। इसलिये समन्वय पथ ही न्याय मार्ग है। एकान्त पथ सत्य पद का विनाशक है; मिथ्यात्व है तथा संसार सागर में जीव को डुबाने वाला है। वह काल कूट विष से भी भयंकर है।

स्याद्वाद चक्र, पं. सु. दि.

जो जीव अपने को सम्यग्दृष्टि मान कर अहंकार करते हैं और अपने को निरबंध मानते हैं, सो क्या ठीक है ?

सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु बंधो न मे स्या।
विस्फुल्लानोत्पुलक वदना रागिणोप्याचरंतु॥
आलंबतां समिति परतां ते यतोऽद्यापि पापा।
आत्मानात्मावगम विरहात्संति सम्यक्त्वरिक्ता॥२१२१॥

जो पर द्रव्य में राग द्वेष मोह से संयुक्त हैं और अपने को ऐसा मानते हैं कि मैं सम्यग्दृष्टि के बंध होना नहीं कहा है। ऐसा मानकर जिनका मुख गर्व सहित ऊँचा हुआ है। तथा हर्ष सहित रोमांच रूप हुआ है, वे जीव महाव्रतादि आचरण करे तथा वचन विहार आहार की क्रिया में यत्न से प्रवर्तने की उत्कृष्टता को भी अब अवलम्बन करे तो भी पापी मिथ्यादृष्टि ही हैं, क्योंकि आत्मा और अनात्मा के ज्ञान से रहित हैं, इसलिये सम्यक्त्व से शून्य हैं।

जो अपने को सम्यग्दृष्टि माने और परद्रव्य से राग करे तो उसके सम्यक्त्व कैसा ?

व्रतसमिति पालें तो भी आप पर के ज्ञान के बिना पापी ही हैं, तथा अपने बंध नहीं होना मानकर स्वच्छंद प्रवर्ते तो कैसा सम्यग्दृष्टि ? क्योंकि चारित्र मोह के राग से जब तक यथाख्यात चारित्र न हो तब तक बंध तो होता ही है। जब तक राग रहता है, तब तक सम्यग्दृष्टि अपनी निंदा (गर्हा) करता ही रहता है, ज्ञान होने मात्र से तो बंध से छूटता नहीं, ज्ञान होने के बाद उसी में लीन रूप शुद्धोपयोग रूप चरित्र से बंधन कटता है। इसलिए राग होने पर बंध का न होना मानकर स्वच्छंद

होना तो मिथ्यादृष्टिपना ही है। यहां कोई पूछे कि व्रत समिति तो शुभ कार्य हैं, उनको पालने पर भी पापी क्यों कहा ?

उसका समाधान—सिद्धान्त में मिथ्यात्व को ही पाप कहा है, जहां तक मिथ्यात्व रहता है, वहां तक शुभ अशुभ सभी क्रियाओं को अध्यात्म में परमार्थ से पाप ही कहा है और व्यवहारनय की प्रधानता में व्यवहारी जीवों को अशुभ से छुड़ाकर शुभ को लगाने की किसी तरह पुण्य भी कहा है। स्याद्वादमत में कोई विरोध नहीं है। फिर कोई पूछे कि परद्रव्य से जब तक राग रहे तब तक मिथ्यादृष्टि कहा है सो इसको हम नहीं समझे, क्योंकि अविरत सम्यग्दृष्टि आदि के चरित्र मोह के उदय से रागादिभाव होते हैं, उसके सम्यक्त्व किस तरह कहा है ?

उसका समाधान—यहां मिथ्यात्व सहित अनंतानुबंधी का राग प्रधान करके कहा है, क्योंकि अपने और पर के ज्ञान श्रद्धान के बिना परद्रव्य में तथा उसके निमित्त से हुये भावों में आत्मबुद्धि हो तथा प्रीति अप्रीति हो तब समझना कि इसके भेदज्ञान नहीं हुआ। मुनि पद लेकर व्रत समिति भी पालता है, वहां पर जीवों की रक्षा तथा शरीर सम्बन्धी यत्न से प्रवर्तना, अपने शुभ भाव होना इत्यादि परद्रव्य संबंधी भावों से अपना मोक्ष होना माने और पर जीवों का घात होना, अयत्नाचार रूप प्रवर्तना अपना अशुभ भाव होना इत्यादि परद्रव्यों की क्रिया से ही अपने में बंध माने तब तक जानना कि इसके अपना और पर का ज्ञान नहीं हुआ, क्योंकि बंध मोक्ष तो अपने भावों से था, परद्रव्य तो निमित्त मात्र था, उसमें विपर्यय माना, इसलिए परद्रव्य से ही भला बुरा मान रागद्वेष करता है, तब तक सम्यग्दृष्टि नहीं है। और जब तक चारित्र मोह के रागादिक रहते हैं, उनको तथा उनसे प्रेरित परद्रव्य संबंधी शुभाशुभ क्रिया में प्रवृत्तियों को ऐसा मानता है कि यह कर्म का जोर है, इससे निवृत होने से ही मेरा भला है, उनको रोग के समान जानता है, पीड़ा सही नहीं जाती, तब उनका इलाज करने रूप प्रवर्तता है, तो भी इसके उनसे राग नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जो राग मानें उसके राग कैसा ? उसके मेटने का ही उपाय करता है, सो मेटना भी अपने ही ज्ञान परिणामरूप परिणमन से मानता है। इस तरह परमार्थ अध्यात्मदृष्टि से यहां व्याख्यान जानना। मिथ्यात्व के बिना चारित्र मोह संबंधी उदय के परिणाम को यहां राग नहीं कहा, इसलिए सम्यग्दृष्टि के ज्ञान वैराग्यशक्ति का होना अवश्य कहा है। मिथ्यात्व सहित राग को ही राग कहा गया है, वह सम्यग्दृष्टि

के नहीं है, और जिसके मिथ्यात्व सहित राग है वह सम्यग्दृष्टि नहीं है। उस भेद को सम्यग्दृष्टि ही जानता है। मिथ्यादृष्टि का अध्यात्म शास्त्र में प्रथम तो प्रवेश ही नहीं है और जो प्रवेश करे तो उलटा समझता है, व्यवहार को सर्वथा छोड़ भ्रष्ट हो जाता है, अथवा निश्चय को अच्छी तरह नहीं जानकर व्यवहार से ही मोक्ष मानता है, परमार्थ तत्व में मूढ है। इसलिए यथार्थ स्याद्वादनय द्वारा सत्यार्थ समझने से ही सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

समयसार क. पृ. २७६ ।। गाथा नं. २००, आचार्य अमृत.

प्रश्न :—स्वसंवेदन के साथ आध्यात्मिक ग्रन्थों में वितराग विशेषण क्यों लगाया जाता है ? स्वसंवेदन ज्ञाने वीतराग विशेषणं किमर्थमितिपूर्वपक्ष ?

उत्तर :—"विषयानुभव रूप स्वसंवेदन ज्ञानं सरागमपि दृश्यते तन्निषेधार्थमित्यभिप्रायः।"

जो स्वसंवेदन अर्थात् अपने कर अपने को अनुभवना इसमें वीतराग विशेषण क्यों कहा ? क्योंकि जो स्वसंवेदन ज्ञान होवेगा, वह तो रागरहित होवेगा ही। इसका समाधान श्री गुरु ने किया कि विषयों के आस्वादन से भी उन वस्तुओं के स्वरूप का जानपना होता है, परन्तु राग भाव कर दूषित है, इसलिये निज रस का आस्वाद नहीं है, और वीतराग दशा में स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होता है, आकुलता रहित होता है। तथा स्वसंवेदन ज्ञान प्रथम अवस्था में चौथे, पांचवे गुणस्थान वाले गृहस्थ के भी होता है। वहां पर सराग देखने में आता है, इसलिए रागसहित अवस्था के निषेध के लिये वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान ऐसा कहा है। रागभाव है, वह कषायरूप है, इस कारण जब तक मिथ्यादृष्टि के अनंतानुबंधी कषाय है, तब तक तो बहिरात्मा है, उसके तो स्वसंवेदन ज्ञान अर्थात् सम्यक्ज्ञान सर्वथा ही नहीं है, व्रत और चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व तथा अनंतानुबंधी के अभाव होने से सम्यग्ज्ञान तो हो गया, परन्तु कषाय की तीन चौकड़ी बाकी रहने से द्वितीया के चन्द्रमा के समान विशेष प्रकाश नहीं होता, और श्रावक के पांचवें गुणस्थान में दो चौकड़ी का अभाव है, इसलिये राग भाव कुछ कम हुआ, वीतराग भाव बढ़ गया, इस कारण स्वसंवेदन ज्ञान भी प्रबल हुआ, परन्तु दो चौकड़ी के रहने से मुनि के समान प्रकाश नहीं हुआ। मुनि के तीन चौकड़ी का अभाव है, इसलिये राग भाव तो निर्बल हो

गया, तथा वीतराग भाव प्रबल हुआ, वहां पर स्वसंवेदन ज्ञान का अधिक प्रकाश हुआ, परन्तु चौथी चौकड़ी बाकी है, इसलिए छट्ठे गुणस्थान वाले मुनि सरागसंयमी हैं, वीतराग संयमी के जैसा प्रकाश नहीं है। सातवें गुणस्थान में चौथी चौकड़ी मंद हो जाती है, वहां पर आहार विहार क्रिया नहीं होती, ध्यान में आरुढ़ रहते हैं, सातवें से छट्ठे गुणस्थान में आवें, तब वहां पर आहारादि क्रिया है, इसी प्रकार छट्ठा सातवां करते रहते हैं, वहं पर अंतर्मुहूर्त काल है। आठवें गुणस्थान में चौथी चौकड़ी अत्यन्त मन्द हो जाती है, वहां राग भाव की अत्यन्त क्षीणता होती है, वीतराग भाव पुष्ट होता है, स्वसंवेदन ज्ञान का विशेष प्रकाश होता है, श्रेणी मांडने से शुक्ल ध्यान उत्पन्न होता है।

श्रेणी के दो भेद हैं, एक क्षपक दूसरी उपशम, क्षपक श्रेणी वाले तो उसी भव में केवलज्ञान पाकर मुक्त हो जाते हैं, और उपशम वाले आठवें नवमें दशमें से ग्यारहवां स्पर्शकर पीछे मूड़ जाते हैं, सो कुछ-एक भव भी धारण करते हैं, तथा क्षपक वाले आठवें से नवमें गुणस्थान में प्राप्त होते हैं, वहां कषायों का सर्वथा नाश होता है, एक संज्वललोभ रह जाता है, अन्य सबका अभाव होने से वीतराग भाव अति प्रबल हो जाता है, इसलिए स्वसंवेदन ज्ञान का बहुत ज्यादा प्रकाश होता है, परन्तु एक संज्वलन लोभ बाकी रहने से वहां सराग चारित्र ही कहा जाता है। दशवें गुण स्थान में सूक्ष्म लोभ भी नहीं रहता, तब मोह की अट्ठाईस प्रकृतियों के नष्ट हो जाने से वीतराग चारित्र की सिद्धि हो जाती है। दसवें से बारहवें में जाते हैं, ग्यारहवें गुणस्थान का स्पर्श नहीं करते, वहां निर्मोह वीतरागी के शुक्ल ध्यान का दूसरा पाया (भेद) प्रगट होता है, यथाख्यात चारित्र हो जाता है।

बारहवें के अंत में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय, इन तीनों का विनाश कर डाला, मोह का नाश पहले ही ही चुका था, तब चारों घातिया कर्मों के नष्ट हो जाने से तेरहवें गुणस्थान में केवल ज्ञान प्रगट होता है, वहां पर ही शुद्ध परमात्मा होता है, अर्थात् उसके ज्ञान का पूर्ण प्रकाश हो जाता है, निःकषाय है। चौथे गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक तो अंतरात्मा है, उसके गुणस्थान प्रति चढ़ती हुई शुद्धता है, और पूर्ण शुद्धता परमात्मा के है, यह सारांश समझना।

परमात्मप्रकाश, आ. योगी पृ. नं. १६ गा. १२

जो मोक्ष में अधिक गुणों का समूह नहीं होता तो मोक्ष को तीन लोक अपने मस्तक पर क्यों रखता ?

अणु जइ जगहे वि अहियगरु गुण-गणु तासु ण होइ ।
तो तइलोउ वि किं धरइ णिय-सिर उप्परि सोइ ॥२१२२॥

आगे बतलाते हैं—जो मोक्ष में अधिक गुणों का समूह नहीं होता, तो मोक्ष को तीन लोक अपने मस्तक पर क्यों रखता ? 'अन्यद्' फिर 'यदि' जो "जगत अपि" सब लोक से भी 'अधिकतरः' बहुत ज्यादा 'गुणगणः' गुणों का समूह 'तस्य' उस मोक्ष में 'न भवति' नहीं होता 'ततः' तो 'त्रिलोकः अपि' तीनों ही लोक 'निजशिरसि' अपने मस्तक के 'उपरि' ऊपर 'तमेव' उसी मोक्ष को 'किं धरति' क्यों रखते ?

भावार्थ :—मोक्ष लोक के शिखर 'अग्रभाग' पर है, सो सब लोकों से मोक्ष में बहुत ज्यादा गुण हैं, इसीलिए उसको लोक अपने सिर पर रखता है, कोई किसी को अपने सिर पर रखता है, वह अपने से अधिक गुणवाला जानकर ही रखता है । यदि क्षायिक-सम्यक्त्व केवल दर्शनादि अनंत गुण मोक्ष में न होते, तो मोक्ष सबके सिर पर न होता, मोक्ष के ऊपर अन्य कोई स्थान नहीं है । सबके ऊपर मोक्ष ही है और मोक्ष के आगे अनंत अलोक है । वह शून्य है, वहां कोई स्थान नहीं है । वह अनंत अलोक भी सिद्धों के ज्ञान में भास रहा है । यहां पर मोक्ष में अनंत गुणों को स्थापन करने से मिथ्यादृष्टियों का खंडन किया । कोई मिथ्यादृष्टि वैशेषिकादि ऐसा कहते हैं कि जो बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार इन नव गुणों के अभाव रूप मोक्ष है । उनका निषेध किया ? क्योंकि इन्द्रियजनित बुद्धि का तो अभाव है । परन्तु केवल बुद्धि अर्थात् केवलज्ञान का अभाव नहीं है । इन्द्रियों से उत्पन्न सुख का अभाव है । लेकिन अतीन्द्रिय सुख की पूर्णता है । दुःख इच्छा द्वेष यत्न इन विभाव रूप गुणों का तो अभाव ही है । केवल रूप परिणमन है । व्यवहार-धर्म का अभाव ही है और वस्तु का स्वभाव रूप धर्म वह ही है । अधर्म का तो अभाव ठीक ही है और पर द्रव्यरूप-संस्कार सर्वथा नहीं है । स्वभाव संस्कार ही है । जो मूढ़ इन गुणों का अभाव मानते हैं । वे वृथा बकते हैं । मोक्ष तो अनंत गुणरूप है । इस तरह निर्गुणवादियों का निषेध किया तथा बौद्धमति जीव के अभाव को मोक्ष कहते हैं । वे मोक्ष ऐसा मानते हैं कि जैसे दीपक का निर्माण (बुझना) उसी तरह जीव का अभाव वही मोक्ष है । ऐसी बौद्ध की श्रद्धा का भी तिरस्कार किया, क्योंकि जो जीव का ही अभाव हो गया तो मोक्ष किसको हुआ ? जीव का शुद्ध होना वह मोक्ष है ।

अभाव कहना वृथा है। सांख्य दर्शन वाले ऐसा कहते हैं कि जो एकदम सोने की अवस्था है, वही मोक्ष है। जिस जगह न सुख है, न ज्ञान है ऐसी प्रतीति का निवारण किया ऐसा कहते हैं कि जहां से मुक्त हुआ वहीं पर ही तिष्ठता है ऊपर को गमन नहीं करता ऐसे नैयायिक के कथन का लोक शिखर पर तिष्ठता है। इस वचन से निषेध किया, जहां बंधन से छूटता है, वहां वह नहीं रहता, यह प्रत्यक्ष देखने में आता है। जैसे :—कैदी जब कैद से छूटता है। तब बंदीगृह से छूटकर अपने घर की तरफ गमन करता है। वह निजघर निर्वाण ही है। जैन-मार्ग में इन्द्रिय-जनित ज्ञान जो कि मति, श्रुत, अवधि मनःपर्यय है उनका अभाव माना है। और अतीन्द्रिय रूप जो केवल ज्ञान है। वह वस्तु का स्वभाव है। उसका अभाव आत्मा में नहीं हो सकता है। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द रूप इन पांच इन्द्रिय विषयों कर उत्पन्न हुए सुख का तो अभाव ही है। लेकिन अतीन्द्रिय सुख जो निराकुल परमानंद है। उसका अभाव नहीं है। कर्मजनित जो इन्द्रादिक दश प्राण अर्थात् ५ इन्द्रियां मन वचन काय आयु श्वाच्छोश्वास इन दश प्राणों का भी अभाव है। ज्ञानादि निज प्राणों का अभाव नहीं है। जीव की अशुद्धता का अभाव है। शुद्धपने का अभाव नहीं यह निश्चय से जानना।

प्रश्न :—अगर जो मोक्ष उत्तम सुख नहीं दे, तो सिद्ध उसे निरंतर क्यों सेवन करें ?

उत्तर :—उत्तमु सुक्खु ण देइ जर उत्तमु मुक्खु न होइ।
तो किं सयलु किं कालु जिय सिद्ध वि सेवहिं सोइ ॥२१२३॥

आगे कहते हैं कि जो मोक्ष उत्तम सुख नहीं दे तो सिद्ध उसे निरंतर क्यों सेवन करें ? 'यदि' जो 'उत्तम सुख' उत्तम अविनाशी सुख को 'न ददाति' नहीं देवे तो 'मोक्षःउत्तमः' मोक्ष उत्तम भी 'न भवति' नहीं हो सकता, उत्तम सुख देता है। इसीलिए मोक्ष सबसे उत्तम है। जो मोक्ष में परमानंद नहीं होता 'ततः' तो 'जीव' हे जीव 'सिद्धा अपि' सिद्ध परमेष्ठी भी 'सकलमपि कालं' सदा काल 'तमेव' उसी मोक्ष को 'किं सेवते' क्यों सेवन करते ? कभी भी न सेवते।

भावार्थ—वह मोक्ष अखंड सुख देता है, इसीलिये उसे सिद्ध महाराज सेवते हैं। मोक्ष परम आल्हादरूप है, अविश्वर है। मन और इन्द्रियों से रहित है, इसीलिये उसे सदाकाल सिद्ध सेवते हैं। केवलज्ञानादि गुण सहित सिद्ध भगवान् निरंतर निर्वाण में ही निवास करते हैं। ऐसा निश्चित है। सिद्धों का सुख दूसरी जगह भी ऐसा कहा

है। "आत्मोपादान" इत्यादि इसका अभिप्राय यह है कि इस अध्यात्मज्ञान से सिद्धों के जो परमसुख हुआ है। वह कैसा है? कि अपनी-अपनी जो उपादान शक्ति है, उसी से उत्पन्न हुआ है। पर की सहायता से नहीं है स्वयं (आप ही) अतिशयरूप है। सब बाधाओं से रहित है, निराबाध है, विस्तीर्ण है, घटती बढती से रहित है, विषय विकार से रहित है। भेदभाव से रहित है, निर्द्वन्द है, जहां पर वस्तु की अपेक्षा ही नहीं है, अनुपम है। अनंत है अपार है, जिसका प्रमाण नहीं सदा काल शाश्वत है। महा उत्कृष्ट है, अनंत सारता लिये हुये है, ऐसा परमसुख सिद्धों के है। अन्य के नहीं है। यहां तात्पर्य यह है कि हमेशा मोक्ष का ही सुख अभिलाषा करने योग्य है। और संसार पर्याय सब हेय हैं।

क्या सभी पुरुषों के मोक्ष ही ध्यानने योग्य है ?

तिहुयणि जीवहं अत्थि णवि सोक्खहं कारणु कोई।
भुक्खु मुएविणु सक्कु पर तेवि चिंतहि सोइ ॥२१२४॥

अब तीन लोक में मोक्ष के सिवाय अन्य कोई भी परम सुख का कारण नहीं है। ऐसा निश्चय करते हैं—

'त्रिभुवने' तीन लोक में 'जीवानां' जीवों को 'मोक्ष मुक्त्वा' मोक्ष के सिवाय 'किमपि' कोई भी वस्तु 'सुखस्य कारणं' सुख का कारण 'नैव' नहीं है। 'अस्ति' है एक सुख का कारण मोक्ष ही है। 'तेन' इस कारण तू 'परं एकं तं एव' नियम से एक मोक्ष का ही 'निश्चिंतय' चिंतवन कर, जिसे कि महा मुनि भी चिंतवन करते हैं।

भावार्थ :—श्री योगींद्राचार्य प्रभाकर भट्ट से कहते हैं कि वत्स, मोक्ष के सिवाय अन्य सुख का कारण नहीं है। और आत्म-ध्यान के सिवाय अन्य मोक्ष का कारण नहीं है। इसलिये तू वीतराग निर्विकल्प समाधि में ठहर कर निज शुद्धात्म स्वभाव को ही ध्या। यह श्री गुरु ने आज्ञा की। तब प्रभाकर भट्ट ने विनती की, हे भगवान तुमने निरंतर अतींद्रिय मोक्ष सुख का वर्णन किया है सो ये जगत के प्राणी अतीन्द्रिय सुख को जानते ही नहीं है। इन्द्रिय सुख को ही मानते हैं। तब गुरु ने कहा कि हे प्रभाकर भट्ट कोई एक पुरुष जिसका चित्त व्याकुलता रहित है। और पंचेन्द्रिय के भोगों से रहित अकेला स्थित है, उस समय किसी पुरुष ने पूछा तब उसने कहा कि सुख से तिष्ठ रहे हैं उस समय विषय सेवनादि सुख तो है ही नहीं, उसने यह क्यों कहा कि हम सुखी हैं।

इसलिये यह मालूम होता है सुख नाम व्याकुलता रहित का है। सुख का मूल निर्व्याकुलपना है वह निर्व्याकुल अवस्था आत्मा में ही है। विषय सेवन में नहीं भोजनादि जिव्हा इन्द्रिय का विषय भी उस समय नहीं है। स्त्री सेवनादि स्पर्श का विषय नहीं है। और गंध माल्यादिक नाक का भी विषय भी नहीं है। दिव्य स्त्रियों का रूप अवलोकनादि नेत्र का भी विषय नहीं है। और कानों का मनोज्ञ गीत वादित्रादि शब्द विषय भी नहीं है। इसलिये जानते हैं कि सुख आत्मा में ही है। ऐसा तू निश्चय कर, जो एकोदेश विषय व्यापार से रहित है। उनके एकदेश स्थिरता का सुख है। तो वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञानियों के समस्त पंचइन्द्रियों के विषय और मन के विकल्प जालों की रूकावट होने पर विशेषता से निर्व्याकुल सुख उपजता है। इसलिये ये दो बातें तो प्रत्यक्ष ही दृष्टि गत हैं। जो पुरुष निरोग और चिंता रहित है। उनके विषय सामग्री के बिना ही सुख शासता है और जो महा मुनि शुद्धोपयोग अवस्था में ध्यानारूढ़ हैं उनके निर्व्याकुलता प्रगट ही दीख रही है। वे इन्द्रादिक देवों से भी अधिक सुखी हैं। इस कारण जब संसार अवस्था में ही सुख का मूल निर्व्याकुलता दीखती है। तो सिद्धों के सुख की बात ही क्या है? यद्यपि वे सिद्ध दृष्टिगोचर नहीं हैं, तो भी अनुमान कर ऐसा जाना जाता है कि सिद्धों के भावकर्म, द्रव्यकर्म, नो कर्म नहीं तथा विषयों की प्रवृत्ति नहीं है, कोई भी विकल्प-जाल नहीं हैं, केवल अतीन्द्रिय आत्मीक सुख ही है। वही सुख उपादेय है अन्य सुख सब दुःखरूप ही हैं जो चारों गतियों की पर्याये हैं उनमें कदापि सुख नहीं है। सुख तो सिद्धों के है या महामुनीश्वरों के सुख का लेश मात्र देखा जाता है। दूसरे के जगत की विषय वासनाओं में सुख नहीं है-ऐसा ही कथन श्री प्रवचनसार में किया है। "अइसय" इत्यादि। सारांश यह है कि जो शुद्धोपयोगकर प्रसिद्ध ऐसे श्री सिद्ध परमेष्ठि हैं, उनके अतीन्द्रि सुख है, वह सर्वोत्कृष्ट है और आत्मजनित है तथा विषय-वासना से रहित है अनुपम है जिसके समान सुख तीन लोक में भी नहीं है, जिसका पर नहीं ऐसा बाधा रहित सुख सिद्धों के है।

आ. योगीन्दु देव परमात्म प्रकाश अध्याय २, गा. ६-७-९

— — —

अध्याय ग्यारहवां : अनेकान्त एवं स्याद्वाद

अनेकान्त की वृष्टि में भाग्य एवं पुरुषार्थ का स्वरूप—

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्ध सिन्धुरविधानम् ।
सकल नय विलसितानां विरोधमथनं नामान्यनेकान्तम् ।।२१२५।।

विश्व की समस्त वस्तु अनेकान्त स्वरूप होने के कारण उसको प्रतिपादन करने वाली वाणी भी अनेकान्त स्वरूप ही होना चाहिए ? यह सिद्धान्त नहीं है कि "प्रतिपादन करने वाली वाणी अनेकान्त स्वरूप है, इस कारण वस्तु अनेकान्तात्मक है ।" **अनेकान्त का अर्थ**—"अनेके अन्ताः धर्माः यस्यासौ स अनेकान्तः" (अनेक + अन्त), जिसमें अनेक अन्त अर्थात् धर्म पाये जाते हैं । उसे अनेकान्तामक कहते हैं। समस्त वस्तुएँ अनेकान्त स्वरूप हैं इसलिये वस्तु अनेकान्त मय है । Who have many characteristics that is called 'Anekant' that means Substances 'जिनेके अनेक धर्म (स्वभाव) है, उसको अनेकान्त कहते हैं अर्थात् वस्तु) में यह अनेक धर्मात्मकपना किसी ने कभी प्रवेश नहीं करा दिया । यह वस्तु का स्वरूप होने से अनादि से स्वतः सिद्ध है ।

"यदीयं स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम्"—यदि यह अनेक धर्मरूपता वस्तु को स्वयं पसन्द है, (उसमें है, वस्तु स्वयं राजी है) तो हम बीच में अराजी (नहीं मानने वाला) कौन ? जो अस्ति रूप है, वह अनेकान्तात्मक है एवं वही वस्तु अर्थ क्रिया कारी बन सकती है—

जं वथ्थु अणेयंत तं खिय कज्जं करेदि णियमेण ।
बहुधम्म जुदं अत्थं कज्जकरं दीसदे लोए ।।२२५।।

स्वा. कीर्ति

अर्थ—जो वस्तु अनेकान्त रूप है, वही नियम से कार्यकारी है; क्योंकि लोक में बहुत धर्मयुक्त पदार्थ ही देखा जाता है । "सिद्धिरनेकान्तात्" किसी भी कार्य की सिद्धि अनेकान्त से ही हो सकती है ।

उपरोक्त प्रमाण से सिद्ध हुआ कि प्रत्येक सत् अनन्त धर्मात्मक है, अनन्त धर्मात्मक प्रमेय को (ज्ञेय) प्रमाण का विषय करने के लिये (ज्ञान करने के लिये)

अनन्त प्रमेयत्व पना (ज्ञान पना) आवश्यक है। यदि अनन्त ज्ञान है, तो एक समय समस्त ज्ञेय पदार्थों को एक साथ जान सकते हैं, केवल ज्ञान में अनन्त ज्ञायकत्व पना है। इस कारण अनन्त धर्मात्मक वस्तु युगपत् ज्ञान का विषय हो जाती है, किन्तु ज्ञात पदार्थ का प्रतिपादन करने के लिये जिसका माध्याम (Medium) लिया जाता है। उस शब्द रूप वचनों में अनन्त धर्मों की युगपत प्रतिपादन करने की शक्ति नहीं होने के कारण वह वस्तु का आंशिक प्रतिपादन करता है। जैसे किसी व्यक्ति के पास १० मीटर वस्त्र है, उस व्यक्ति ने उस वस्त्र को नापना चाहा। यदि उसके पास १० मीटर वाला मापदण्ड हो तो वह एक साथ वस्त्र को माप सकता है, किन्तु उसके पास १ मीटर वाला मापदण्ड है इस कारण उसको १० बार नापना पड़ता है। वह एक या दो मीटर माप करते हुये यह नहीं सोचता है कि जो मैं वर्तमान में १ मीटर परिणाम रूप वस्त्र माप कर रहा हूँ, वस्त्र उतना नहीं है किन्तु वह जानता है कि वस्त्र जितना लम्बा है उतना ही है किन्तु मैं वर्तमान में १ मीटर लम्बा वस्त्र को माप रहा हूँ, इस प्रकार वस्तु पूर्ण रूप से ज्ञान का विषय होने पर भी पूर्ण रूप से वचनों के अगोचर है। अनेकान्तात्मक वस्तु को निर्दिष्ट-यथार्थ रूप से कथन करने वाले कथन को (भाषा को) अनेकान्तवाद, अनेक धर्म वाद या स्याद्वाद कहते हैं। "अनेकान्तात्मक अर्थ कथनं स्याद्वादः" —अनेकान्तात्मक—अनेक धर्म (स्वभाव) विशिष्ट वस्तु का कथन करना स्याद्वाद है। The meaning of the word 'Anekantvada' The word Anekantvada' consists of three words; Aneka 'Anta' and Vada. 'Aneka' means many. 'Anta' signifies attri butes and 'Vada' means description. The whole word means the description of many fold attributes.

"स्याद्वाद"—(स्यात्+वाद) स्यात्—किसी निश्चित अपेक्षा से—अनेक धर्म समूह को विषय करने वाला। इस शब्द द्वारा अनेकान्त और सम्यक् एकान्त का बोध कराने वाला। वाद—कथन। स्याद्वाद वस्तु के यथार्थ रूप का निश्चय करने के कारण स्याद्वाद अर्थ यथार्थ कथन है। Syadvada consists of two words; syat and 'Vada.' This syat suggests. The existence of infirite attributes altlough the expression asserts about a particularattributes 'Syat' suggerts the from a particular stand-pont the trut reveals it self in a particular form. From other view-point the same substartum appears to possess other attributes.

वस्तु अनेक स्वभावात्मक होने के कारण पूर्ण रूप से वचनों के अगोचर होने पर भी वस्तु को सर्व अवक्तव्य कहना भी असद्वाद है। क्योंकि इस दशा में "अवक्तव्य" यह वचन भी नहीं बोल सकेंगे जैसे कि मौनव्रती "मैं मौनव्रती हूं" यह शब्द भी नहीं बोल सकता है और भी जैसे कोई व्यक्ति कह रहा है कि मैं आपकी बात नहीं सुन रहा हूं क्योंकि "मैं गाढ़ निद्रा में सोया हूं" इस प्रकार वस्तु अव्यक्तव्य नहीं है। उसका कथन गौण मुख्य रूप से होता है। "अर्पितनार्पित सिद्धेः"— धर्मान्तर विवक्षा प्रापित प्राधान्यमर्पित अनेकात्मकस्य वस्तुनः प्रयोजनवशात् अस्य कस्य चित् धर्मस्य विवक्षय प्रापित प्राधन्यम् अर्थस्यमर्पितमुपनीतमिति यावत्। गौण और मुख्य विवक्षा से एक ही वस्तु में नित्यत्व और अनित्यत्व धर्म सिद्ध है इस प्रकार अनेक धर्म भी प्रयोजनवश अनेकान्त वस्तु के जिस धर्म की विवक्षा होती है या विवक्षित जिस धर्म को प्रधानता मिलती है उसे अर्पित कहते हैं। 'तद्विपरीतमनर्पितम्'। प्रयोजन भावात् सतोऽप्यविवक्षा भवति इत्युपसर्जनी भूतमनर्पितमित्युच्यते जिन धर्मों के विद्यमान रहने पर भी विवक्षा नहीं होती, उन्हें 'अनर्पित' कहते हैं।

"Substances are endowed with an infinite nuber of attributes. When we describe a substance we can do so by adopting one point of view at a time so giving prominece to a fewattributes However it does not mean that other attributes are of no purpose to us at that time."

वर्त्तमान युग वैज्ञानिक युग है। इस युग में प्रत्येक कार्य वैज्ञानिक सिद्धात (Scientific theory) के अनुसार विश्लेषण किया जाता है। परीक्षा प्रधानी व्यक्ति वैज्ञानिक कार्यकारण भाव के अनुसार प्रत्येक विषय को परीक्षा करके में उसको ग्रहण करता है। वर्त्तमान युग के आधुनिकता रूपी रंग के चश्मा धारण करने वाले व्यक्ति आधुनिकता में जो कुछ हो रहा है; भले वह नैतिक पतन का कारण हो, किम्वा, आध्यात्मिकता का प्रध्वंसक हो, अहिंसा का घातक हो, जन गण का अहितकारी हो, विश्व का विध्वंसक हो, प्रेम, भातृत्व वात्सल्य का लोप करने वाला हो, समाज में धर्म में, साधर्मी में भेद डालने वाला हो तो भी उसको सहर्ष ग्रहण करता है।

उसका यह कार्य अपाततः रमणीय होने पर भी उसका फल किंपाक फल भक्षण के समान विपाक मधुर नहीं होगा और 'विषकुम्भ पयोमुख' के समान अन्तः

निसार एवं फल भयावह होगा। वर्तमान वैज्ञानिक जगत को वास्तविक प्रकाश प्रदान करने वाले, महान समन्वय वादी, गणितज्ञ, निस्पक्षी महामना आइन्ष्टिन (Einstein) के "सापेक्षवाद" (The theory of Relativity) "स्याद्वाद" का ही अनुकरण है।

The analogue, in modern science, of the theory of syadvada is the Einstein's famous theory of Relativity.

Relativity describes the fact that the old laws of physics were not universally true they are true only in the limited sphere of inaccurate observation; they were merely relative. What the mathematicians have done is to derive formulas which shall be universally true for all conditions of space and matter and motions and time.

According to Eninstein, we can know the truth, but not real truth or absolute truth. We can only know the relative truth, the real truth is known only to the universal observer. Universal observer of Einstein is noen else but the Almighty [Sarvajna omniscient] with infinitepowers of knowledge and bliss.

आइन्ष्टिन् के सापेक्षवाद के अनुसार हम सब जो जानते हैं वह संपूर्ण सत्य (Absolute truth) नहीं है, किन्तु सापेक्षिक सत्य है (relative truth) सम्पूर्ण सत्य सर्वदर्श सर्वज्ञ के द्वारा ही जाना जाता है प्राचीन पदार्थ विज्ञान का जो सिद्धान्त है वह वास्तविक सत्य नहीं है, बहुत कुछ क्षेत्रों में आंशिक सत्य है। जो सिद्धात गणित के हिसाब से प्रदेश (Space) पदार्थ (Matter) क्रिया (Motions) एवं समय के (Time) के सापेक्ष से है वह सत्य है वह प्रत्येक बस्तु का क्रिया–गति, दिशा, स्थिति आकार आदि सापेक्ष मानते हैं।

If we want to know are the theorier of Science absolu truths ? No, they are not science is a serier of approximation to the truth, at no stage do we claim to have reached finality; any theory is liable to revision in the liget to new facts.

विज्ञान सम्पूर्ण सत्य नहीं है, यह सत्य की खोज एक क्रम है। किसी भी परिस्थिति में हम नहीं कह सकते हैं कि विज्ञान पूर्वत: सत्य है, दर्शन शास्त्र के आवलम्बन से विज्ञान खोज [discover] करता है। दर्शन शास्त्र का विषय मूलिक

अमूर्तिक दोनों पदार्थ हैं जबकि विज्ञान का विषय केवल मूर्तिक है ।

The scripture of phyilosophy described all with out form and possessed of form substances when the science described only possessed of form substances. So it is true that philosophy is the father of the science.

दर्शन विज्ञान का जनक है । दर्शन का क्षेत्र व्यापक एवं विज्ञान का व्याप्य है । इस प्रकार महान्, परम गम्भीर, जिसका अमोघ चिन्ह (विजय पताका) स्याद्वाद है । इसी प्रकार अनेकान्तमयी अनेकान्त के सतत स्मरण से मैं जो अनादि कालीन पर समय रूपी दैव राज्य में परिभ्रमण कर रहा हूँ वहां से दैव एवं पुरुषार्थ के द्वारा स्वसमय रूपी पुरुषार्थ राज्य में स्वतंत्र से निवास करूं यह काम है ।

श्रीमत्यस्म गम्भीर स्याद्वाद मोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य, शासनं जिनशासनम् ।।२१२६।।

अनादि काल से अनेकता स्वरूपी आत्मा परम पुरुषार्थ के अवलम्बन से रहित होकर अशुभ शुभ पुरुषार्थ के कारण दैव रूपी चक्रवर्ती के साम्राज्य में पराधीन होकर आकुलता का अनुभव कर रहा है । अत्यन्त सुदूर अनादि काल से परम पुरुषार्थ के अभाव से दैव की अधिनता में रहते-रहते एवं उसका ही कार्य करते-करते अपने को भूल बैठा है ।

सुद परिचिदाणु भूदा सव्वस्स वि काम भोग बंध कहा ।
एयत्तस्सुवलम्भो णवरि ण सुलभो विहत्तस्स ।।२१२७।।

The discourse relating to sence-enjoy ment and karmic bondage is heard understood and experienced by all the mudane souls. But realisation of absoulute one ness with its own nature free from attechment is not easy of attainment.

लोगों को काम भोग विषयक बंध की कथा तो सुनने में, परिचय में एवं अनुभव में बार-बार आयी हुई है, इसलिये सुलभ है । किन्तु केवल भिन्न आत्मा का एकपना होना कभी न सुना, न परिचय में आया और न अनुभव में आया, इसलिये एक यही सुलभ नहीं है ।

वर्तमान हम दैव एवं पुरुषार्थ का वैभव एवं शक्ति का पर्यालोचन करेंगे जिनों का साम्राज्य संसार एवं मोक्ष है।

यत्प्राग्जन्मनि संचितं तनुभृता कर्माशुभं वा शुभं,
तद्दैवं तदुदीरणादनुभवन् दुखं सुखं वागतम् ।
कुर्याद्यः शुभमेव सोऽप्यभिमतो यस्तूभयोच्छित्तये,
सर्वारम्भ में परिग्रह ग्रहपरित्यागी स वन्द्यः सताम् ॥२१२८॥

जीव ने पूर्वभव में जिस पाप या पुण्य कर्म का संचय किया, वह दैव है, वह दैव दो प्रकार का है (१) पाप दैव (२) पुण्य दैव। इन दोनों दैव का सृष्टि करने वाला जो कर्ता है वह यथाक्रम (१) असत् पुरुषार्थ (२) शुभ पुरुषार्थ शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य। Virtuous activity is the cause of merit (Punya) and wicked activity is the cause of demerit (Papa) उसकी उदीरणा से अर्थात् पाप दैव एवं पुण्य दैव का शासन काल में दोनों दैव को अनुभव करता हुआ, जो बुद्धिमान शुभ को ही करता है अर्थात् शुभ पुरुषार्थ को करता है, पाप पुरुषार्थ का त्याग करता है वह ही प्रशंसा योग्य है। किन्तु जो (३) परम पुरुषार्थी दोनों दैव को ही नष्ट करने के लिये समस्त दैव का (अनुग्रह एवं कृतज्ञता (आरम्भ व परिग्रह) रूपी पराधीनता को त्याग करके परमपुरुषार्थ रूप स्वाधीन स्वराज्य में रमण करता है वह तो सज्जन पुरुषों के लिये वन्दनीय है।

यह महा पराक्रमी धूर्त, मूर्ख (जड़) दैव विभिन्न राज्य में विभिन्न नाम धारण करके पुरुषों के ऊपर शासन करता है।

विधि स्रष्टा विधाता च दैवं कर्म पुराकृतम्।
ईश्वरश्चेति पर्याया विज्ञेया कर्मवेधसः ॥२१२९॥

विधिः, सृष्टा, विधाता, दैव, कर्म, पुराकृतम्, ईश्वर, कर्म आदि अनेक नामों को धारण करने वाला यह जड दैव है। यह दैव है। यह दैव मूर्ख (जड) होकर भी संसार में एक जगाधिप शासन करने की शक्ति अशिक्षित, आलसी पुरुषार्थ विमुख पुरुषों से प्राप्त हुआ।

जीव परिणामहेदु कम्मत्तं पुग्गल परिमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ। स. सा ८०।

Material molecules are trans formed in to Karmas by reason of the mundane soul's thought-activity; Similarly the mundane soul is trans

formed (in to its impure thought-activity) by reason of operation of Karmic matter.

जीव परिणाम को निमित्त मात्र करके पुद्गल कर्म भाव से परिणमन करते हैं, पुद्गल कर्म को निमित्त मात्र कर जीव भी परिणमन करता है। इसी प्रकार दैव को शक्ति प्रदान करने वाला पुरुष (परम पुरुषार्थ हीन पुरुष) है और उस शक्ति के अनुशासन में शासित होने वाला पुरुष है। जब पुरुष उसको शक्ति प्रदान करता है, तब दैव विभिन्न रूप धारण करके विभिन्न कार्य करता है।

जह पुरि सेणाहारो जहिदो परिणमदि णेयविहं।
मंसवसारुहिरादि भावे उदयरग्गि संजुत्तो ॥२१३०॥

As the food taken by a man is modified in many way, in the form of flesh, nerver, blood, etc., by reason of the digestive heat of the human system. That like the molecules of the Karmic mater modified in many, in the form of eight kinds of Karma by impure thought activity of the mundane soul.

जैसे पुरुष द्वारा ग्रहण किया गया आहार वह उदराग्नि से युक्त हुआ अनेक-अनेक प्रकार मांस रस रुधिर आदि भावों रूप परिणमता है, उसी प्रकार कर्म पुद्गल भी जीवों के रागादि भावों को प्राप्त करके ४ प्रकार अथवा अनेक प्रकार दैव रूप से परिणमन करता है।

जिस प्रकार अतितुच्छ धूलि मन्त्र शक्ति युक्त होकर अनेक आश्चर्यजनक कार्य करती है, उसी प्रकार कर्मरूपी धूलि भी रागद्वेष शक्ति से युक्त होकर अनेक आश्चर्य जनक कार्य करती है, जिस प्रकार हल्दी एवं चूना मिलकर अपना रूप त्याग करके लाल रंग हो जाते हैं, और उस अवस्था में दोनों का पृथक्-पृथक् सत्ता स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर नहीं होती है, उसी प्रकार पुरुष एवं दैव की अवस्था होती है।

अविज्ञातस्थानो व्यपगततनुः पापमलिनः,
खलो राहु र्भास्वद्वृश शतकरा क्रान्त भुवनम्।
स्फुरन्तं भास्वन्त किल गिलति हा कष्टमपरः,
परिप्राप्ते काले विलसति विधौ को हि बलवान ॥२१३१॥ आत्मानुशासनं

जिस प्रकार एक हजार (किरण) प्रकाश से विश्व पर आक्रमण करने वाला अतिशय प्रतापी सूर्य भी समय आने पर (ग्रहण के समय) जिसका स्थान अज्ञात है, जो शरीर से रहित है, जो पाप से मलिन है वह दुष्ट राहु कवलित करता है; तो भी प्रतापशाली सूर्य भी राहु के आक्रमण से आत्मरक्षा नहीं कर सकता है, उसी प्रकार कितना भी बलवान् पुरुष क्यों न हो, किन्तु वह भी काल से अपनी रक्षा नहीं कर सकता है। ठीक है—समयानुसार दैव उदय आने पर दूसरा कौन बलवान होगा ?

जिस प्रकार कूटनी हस्तीनी की भोग इच्छा रूपी कुपुरुषार्थ के कारण महा प्रताप शाली स्वाधीन विचरण करने वाला गजराज भी जंगली दुष्ट पापियों के द्वारा पराधीन होकर उन्हीं को ही अपना स्वामी एवं पालन पोषण करने वाला एवं सर्वेसर्वा मानकर उन्हीं की ही सेवा करने लग जाता है, उसी प्रकार पुरुष भी अपना कुपुरुषार्थ के कारण दैव के आधिन होकर दैव को ही सर्वेसर्वा मान बैठता है।

दइवमेव परं मण्णे धिप्पउरुसमणत्थयं।
एसो सालसमुत्तुंगो कण्णो हणइ संगरे ॥२१३२॥

मैं केवल दैव (भाग्य) को ही उत्तम मानता हूँ, निरर्थक पुरुषार्थ को धिक्कार हो, देखो कि किले के समान ऊंचा जो वह कर्ण नामा राजा सो युद्ध में मारा गया। जो एकान्ततः भाग्य से ही कार्य सिद्ध मानते हैं, उस का भी कार्य सिद्ध नहीं हो सकता।

दैवादेवार्थ सिद्धिश्चेद् दैवं पौरुषतः कथम्।
दैवतश्चेद निर्मोक्षः पौरुषं निष्फलं भवेत् ॥२१३३॥

अन्वय—दैवादेव अर्थसिद्धिः चेत् (तदा) पौरुषतः देवं कथं (स्यात्) देवतः चेत् अनिमोक्षः पौरुष (च) निष्फलं भवेत्।

दैव (भाग्य) से ही एकान्ततः कार्य की सिद्धि (सुख, दुःख, ज्ञान, अज्ञान, कार्य की सफलता, निष्फलता) अंगीकार किया जाय तो प्रश्न यह उठता है कि भाग्य कैसे बना ? क्योंकि "स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।"

"What ever Karmas you have performed pereviously, you experience their fruits, whether good or evil."

यह जीव पूर्व में जो शुभ या अशुभ पुरुषार्थ किया था, उसका फलस्वरूप वह पुरुषार्थ का परिपाक रूप शुभ अशुभ रूप भाग्य को उपभोग करता है। अर्थात्

भूत का पुरुषार्थ वर्तमान का भाग्य एवं वर्तमान का पुरुषार्थ, भविष्यत का भाग्य रूप से परिणमन करता है, जैसे बीज से वृक्ष एवं वृक्ष से बीज की तरह । जैसा बोयेंगे वैसा पायेंगे;

As we sow So we reap.

पुरुषार्थ एवं भाग्य में कारण कार्य भाव है ।

साधारणो सकल जन्तुषु वृद्धि नाशौ,
जन्मान्तरार्जित शुभाशुभ कर्म योगात् ।
धीमान् स यः सुगति साधन वृद्धि नाशः,
तद्वयत्ययाद्विगत धीर परोऽभ्यधायी ॥२१३४॥

समस्त प्राणियों में समान रूप से पूर्व जन्म में संचित किये गये पुण्य एवं पाप भाग्य के उदय से आयु शरीर एवं धन-सम्पत्ति आदि की वृद्धि और उनका नाश होता है । यदि इस प्रकार कहा जाय कि दैव की सिद्धि पूर्व दैव से ही होती है अर्थात् पहले २ के भाग्य से ही आगे २ का भाग्य बनता चला जाता है, तब तो इस प्रकार से भाग्य की परम्परा चलती रहने से कभी भी किसी को मोक्ष नहीं हो सकेगा और जो इस भाग्य परंपरा से चलता रहता है, वह "तद्वयत्ययाद्विगत धीर परोऽभ्यधायी" दुर्गति (भाग्य) के साधन भूत वृद्धि नाश को (पुरुषार्थ को) अपनाने से निर्बुद्धि कहा जाता है । जो अभव्य एवं दूरान्दूर भव्य है, जिन्ह को कभी भी मोक्ष जाना नहीं है, वह अनादि पूर्व परंपरा दैव से अनन्त परंपरा दैव आधीन रहकर भाग्य की अधीनता से स्वाधीन कभी नहीं हो सकता है । किन्तु इससे विपरीत "धीमान स यः सुगति साधन वृद्धि नाशः; सुगति अर्थात् मोक्ष की सिद्धि करने और वृद्धि एवं भाग्य का नाश करने के लिए पुरुषार्थ को अपनाता है बुद्धिमान, भव्य पुरुषार्थ है, उसका भाग्य अनादि एवं शान्त है । यदि दैव से ही कुछ मान लिया जायेगा, तो भाग्य की उत्पत्ति रोकने के लिए जो पुरुषार्थ किया जाता है, वह भी निष्फल हो जायेगा । यदि पुरुषार्थ की सफलता निमित्त है ऐसा कहा जाय तो पुरुषार्थ से ही भाग्य का विनाश होता है । इससे मोक्ष की प्रसिद्धि होने से पुरुषार्थ सफलित हो जावेगा, सो इस प्रकार का कथन "दैवादेव सर्वः भवति इति या प्रतिज्ञा सा हीयते" दैव से ही सब कुछ होता है, इस कथन का निवारण हो जाता है, क्योंकि इस कथन से पुरुषार्थ भी कार्यकारी

साबित हो जाता है, यदि ऐसा कोई भाग्य की कृतज्ञता प्रदर्शन करने के लिए मानेगा तो "मोक्ष का कारण भूत जो पुरुषार्थ होता है। वह भी तो भाग्य कारण होता है" अतः परम्परा से ऐसा सम्बन्ध होने से मुक्ति भी दैव के कारण है। तब तो स्याद्वाद अनेकांतवाद होने से सत्य हुआ जो कि वस्तु स्थिति है।

समादिट्ठी पुण्णं ण होई संसार कारणं णियमा।
मोक्खस्स होइ हेउं जहवि णियाणं ण सो कुणई ॥२१३५॥

द्रव्यसंग्रह।

सम्यक्त्वी का (शुभ पुरुषार्थी) भाग्य का कारण नहीं होता है। यदि वह निदान (भाग्य के अधीन में रहने की इच्छा) नहीं करता है, तो वह भाग्य परम्परा से मोक्ष का हेतु होता है। कारण—

येनांशेन सुदृष्टि स्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु राग स्तेनांशे नास्य बन्धनं भवति ॥२१३६॥

जितने अंश में सम्यक्त्वपना (पुरुषार्थ) है, उतने अंश में भाग्य की पराधीनता (बन्धन) नहीं है और जितने अंश में मिथ्यात्व (असत् पुरुषार्थ) है, उतने अंश में भाग्याधीन (बन्धन) है।

शुभाशुभे पुण्यपापे सुखे दुःखे च षट् त्रयम्।
हितमाद्य मनुष्यटेयं शेषत्रम् मथाहितम् ॥२१३७॥
तत्राप्यद्यं परित्याज्यं शेषौ न स्तः स्वतः स्वम्।
शुभं च शुद्धे त्यक्त्वान्तते प्राप्नोति परमं पदम् ॥२१३८॥

शुभ और अशुभ, पुण्य और पाप तथा सुख और दुःख में से आत्मा के लिए हितकारक होने से आदि के तीन शुभ, पुण्य एवं सुख आचरण के योग्य हैं। शेष तीन--अशुभ, पाप और दुःख—अहित कारक होने से छोड़ने के योग्य हैं। शुभ, पुण्य और सुख में से शुभ पुरुषार्थ का परित्याग करना चाहिए। तब शुभ पुरुषार्थ से उत्पन्न होने वाला पुण्य सुभाग्य एवं उसका कार्य सुख (सांसारिक सुख) ये दोनों स्वयं ही नहीं रहेंगे। इस प्रकार शुभ पुरुषार्थ को त्याग करके परम पुरुषार्थ में रमण करने से अन्त में पुरुष अपना पुरुषार्थ सिद्धि (मोक्ष) प्राप्त कर लेता है।

भाग्य परम्परा से मोक्ष का कारण होने से व्यवहार से (एक दृष्टि से) मोक्ष का कारण माना जाता है, किन्तु एकान्ततः भाग्य ही मोक्ष का कारण मानने

पर मोक्ष रूपी कार्य सिद्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि भाग्य के अभाव रूप कारण से एवं परम पुरुषार्थ रूप कारण के सद्भाव होने पर मोक्ष रूपी कार्य सिद्ध होता है।

यस्य पुण्यं च पापं च निष्फलं गलति स्वयम् ।
स योगी तस्य निर्वाणं न तस्य पुनरास्त्रवः ।।

He whose meirit and demerit (Karmas) exhoust themselves with out bearing fruit, is a true ascetic. He will never have the karmic inflow and will attain liberation.

जिस वीतराग के पुण्य एवं पाप दोनों भाग्य फलदान के बिना स्वयं अविपाक निर्जरा स्वरूप से निर्जीर्ण होते हैं, वह योगी (पुरुषार्थी) कहा जाता है और उसके भाग्य की पराधीनता छूट जाती है, स्वाधीनता (मोक्ष प्राप्त हो जाता है, किन्तु आश्रव (भाग्य की सृष्टि) नहीं होती है।

परम पुरुषार्थी पुरुष "प्रत्यक्षे प्रीयवादिनं परोक्षे कार्य हन्तारं", संसार में इन्द्रिय जन्य सुख देने वाला एवं मोक्ष रूपी कार्य को नष्ट करने वाला सुभाग्य को भी "त्यजेत्येतत् बन्धु विषकुम्भ पयोमुखं", न्याय के अनुसार (बाह्य में सुख एवं अन्तरंग में दुःख देने वाला) त्याग करता है। प्रत्यक्ष मोक्ष रूपी कार्य के भाग्य प्रतिबन्धक कारण है।

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाण सुसीलं ।
कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि ।।२१३६।।

Know bad Karmas to be demerit and good Karmas at be merit. How can that be merit arious which causes the soul at wander in the cycly of existences.

अशुभ कर्म तो पाप स्वभाव (दुष्ट) और शुभ कर्म पुण्य स्वभाव (भद्र) है ऐसा जगत् जानता है। परन्तु वास्तविक जो पुरुष को संसार में प्रवेश कराता है वह भाग्य शुभ या उपकारी कैसे हो सकता है। अतः सिद्ध हुआ–"बन्ध हेत्वा भाव निर्जराभ्यां कृत्स्न कर्म विप्रमोक्षो मोक्षः।" मो. शा. १०—२.

Owing to the absrnce of tee cause of bondage and with function-ing of the dissociation of karmas, the annihilation of Karmas is libera-tion.

मिथ्यादर्शनादि बन्ध हेतुओं के अभाव से नूतन (कर्म) भाग्य का आना रुक जाता है। कारण के अभाव से कार्य का अभाव होता ही है। निर्जरा के कारण (पुरुषार्थ से) संचित भाग्य (कर्मों का) विनाश संपूर्ण रूप से युगपत् क्षय हो जाने से मोक्ष हो जाता है।

परम पुरुषार्थ के द्वारा पुरुष समस्त विकल्पों (भाग्य) को नष्ट करके परम पुरुषार्थ (आप में) में लीन होकर अचिंत्य अनंत सुख का अनुभव करता है।

सर्वं निराकृत्य विकल्प जालं, संसारकान्तार निपात् हेतुम्।
विवक्तमात्मन मवेक्षमाणो, निलीयसे त्वं परमात्म तत्त्वे ॥२१४०॥

In order to destory the drery world-forest, liberate. Thy self from all trammels of delusion. Realise Thy salf as distinct, and be engrossed in the Highesit-self,

अनादि कालिन एक छत्राधीप भाग्य का पराजय करके कृतकृत्य होकर स्वाधीन स्वराज्य में विचरण करता है (पुरुष+अर्थ) पुरुष का प्रयोजन मोक्ष ही पुरुषार्थ आता है।

सर्वं विकल्पोत्तीर्णं यदा स चैतन्यमय मलमाप्नोति।
भवति तदा कृत कृत्यः सश्यक् पुरुषार्थ सिद्धमापन्नः ॥२१४१॥

जिस समय परम पुरुषार्थ की सिद्धि को प्राप्त वह भाग्याधीन (अशुद्ध) आत्मा सम्पूर्ण विभावों से (शुभ अशुभ भाग्य से) मुक्त होकर अपने सुदृढ़, निष्कम्प चैतन्य स्वरूप को प्राप्त होता है, तब यह पुरुष कृतकृत्य (स्वाधीन) होता है।

जिस परमपुरुषार्थ द्वारा पुरुष ने अपने स्वराज्य को प्राप्त किया, उसका उपाय हुआ, भाग्य की सत्ता (अधीनता) का अस्वीकार एवं अपनी सत्ता (स्वाधीनता) का स्वीकार। अपनी सत्ता के ऊपर विश्वास, अपनी सत्ता का ज्ञान एवं अपनी सत्ता के अनुसार आचरण करना ही परम पुरुषार्थ सिद्धयुपाय है।

विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य: निजतत्त्वं।
यत्तस्मादविचलनं स एव पुरुषार्थ सिद्धियुपायोऽयं ॥२१४२॥

विपरीत श्रद्धान—भाग्य जनित पर्याय को आत्मा मान लेवे (भाग्य में ही अपनी सत्ता का विश्वास) रूप विश्वास को नष्ट करने के लिये अपना स्वतत्त्व सत्ता

का विश्वास (सम्यग्दर्शन); भाग्य से उत्पन्न पर्यायों से भिन्न अपनी शुद्ध सत्ता का यथावत् ज्ञान सम्यग्ज्ञान एवं भाग्य कृत पर्यायों के आधीनता से मुक्ति पाकर अपने परमपुरुषाकार में स्थिर हो जाना सम्यक्चारित्र है इन तीनों का समुदाय ही पुरुषार्थ-सिद्धयुपाय है।

दंसणणाण चारित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णिवि ,अप्पाणं चेव णिच्छयदो ॥२१४३॥

Right belief, right knowledge and right conduct should always be pursued by a saint always. Know all these three, again, to be the soul it self from the real standpoint.

पुरुषार्थियों को (साधुओं के) निरन्तर सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र को ही पुरुषार्थ में लाने योग्य हैं और वे तीन हैं, तो वास्तव में (निश्चय नय से) एक पुरुष (आत्मा) ही जानो।

"Self-reverence, self-knowlede, self contral. These three alone lead life to soureign power."

सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों का समुदाय रूप परम पुरुषार्थ ही मोक्ष का मार्ग व उपाय है।

इस प्रकार बीज अंकुर न्यायवत् अनादि के अनन्त असत् पुरुषार्थ एवं भाग्य की परंपरा को परम पुरुषार्थ रूपी अग्नि से जलाकर भस्म कर देने के कारण जिस प्रकार अनादि परंपरा से चले आऐ बीज को दग्ध कर देने से फिर उस बीज से, अनन्त काल बीत जाने पर भी अंकुर नहीं हो सकता; उसी प्रकार भाग्य को दग्ध करने के बाद उस भाग्य से भाग्यांकुर (संसार) पैदा नहीं हो सकता है।

दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुर।
कर्म बीजे तथा दग्धे न रोहति भवांकुर ॥२१४४॥

जिन पुरुष ने पुरुषार्थ के द्वारा अपना स्वाधीन राज्य प्राप्त करके अनन्त सुख के भोक्ता बने, उन महापुरुषों ने भाग्याधीन असत्पुरुषार्थी के दीनता को देखकर अत्यन्त

करुणा विह्वल होकर, परमपुरुषार्थ करने के लिये आश्वासन एवं विश्वास दिलाकर सम्बोधन कर रहे हैं—

अयि! कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन् ।
अनुभव भव मूर्त्तेः पार्श्ववर्त्ती मुहूर्तम् ।।
पृथगथ विलसन्तं स्वं समालोक्य येन ।
त्यजसि झगिति मूर्ख्यां साकमेकत्व मोहम् ।।२१४५।।

अरे हे भाग्याधीन पुरुष! तू अनादि काल से भाग्य की सत्ता में अपनी सत्ता मानकर उसकी अधीनता को त्यागकर अपनी स्वाधीनता का सुख कभी भी अनुभव नहीं किया, किसी भी प्रकार से, कुतूहल मात्र से भी स्वयं को स्वतंत्र जानने की इच्छा करके साल दो साल को ? नहीं । एक दो माह को ? नहीं । सप्ताह दो सप्ताह को? नहीं । दिन दो को? नहीं मात्र एक मुहूर्त को(४८ मि.)लिए ही सही भाग्य से स्वाधीन हो जा । तथा भाग्य से भिन्न जिसका विलास है ऐसे अपनी आत्मा को देखकर उसका तद्रूप में अनुभव कर । ऐसा करने पर भाग्य के साथ जो तेरे एकत्व पने का विश्वास उसको तू शीघ्र ही छोड़ देगा ।

अनेकान्त रूपी अस्त्र के द्वारा परम पुरुषार्थी ने सर्वग्रासी भाग्य से जिस किस तरह मुक्ति दिलाकर यह घोषणा की थी कि जीव भाग्य से पृथक् है स्वतन्त्र है । परन्तु जिस पक्षी की चिरकाल से पिंजरे में परतंत्र रहने के कारण सहज उड़ने की शक्ति कुंठित हो गई है, उस पिंजरे से बाहर भी निकाल दीजिये तो वह पिंजरे की ओर ही झपटता है । इसी तरह यह जीव अनादि से परतंत्र होने के कारण अपने मूल स्वातंत्र्य पुरुषार्थ को भूला हुआ है और भय से भयभीत होकर कभी काललब्धि का, कभी नियती का नहीं तो कभी स्वभाव आदि का शरणागत होने के लिये उद्विग्न आतुर हो उठता है और अनेकान्तमयी पुरुषार्थ को करने के लिये आलसी होकर अनेकान्त को दूषण देता है और 'अनेकान्त' को भी अपनी पराधीनता की वृद्धि करने के लिये 'एकान्त' बना लेता है ।

आग्रही बत निनीषति युक्तिं तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा ।
पक्षपात रहितस्य तु युक्तिं यंत्र तत्र मतिरेति निवेशम् ।।२१४६।।

एकान्ती (दुराग्रही) मनुष्य ने जो पक्ष निश्चित कर रखा है, वह युक्ति को उसी ओर ले जाना चाहता है । किन्तु जो अनेकान्ती (अदुराग्रही) निष्पक्ष दृष्टि से

विचार करना चाहता है, वह युक्ति का अनुसरण करके उसके ऊपर विचार करता है और तदनुसार वस्तु स्वरूप का निश्चय करता है। अनेकान्त रूपी सूर्य के प्रकाश में एकान्ती उल्लू को नहीं दिखाई देने के कारण दिन को रात्रि मानता है और सूर्य की निन्दा करता है, इसी प्रकार दुर्भाग्य केककड़ा शासन में जिसका सर्वस्व एवं स्वाधीनता हरण हो जाने के कारण एकान्त से संसार कान्तार में निवास करने वाले एकान्ती को अनेकान्तमयी प्रकाश भी अन्धकारमय (एकान्तभय) दिखाई देता है एवं एकान्त-मयी अन्धकार भी प्रकाशित दिखाई पड़ता है।

"आग्रही बत निनीषति युक्ति तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा" के अनुसार अने-कान्त को भी 'अपने को भाग्य के अधीनता के समय की मर्यादा की वृद्धि करने के लिये' एकान्तरूप से ग्रहण करता है, जिस प्रकार एक एकान्ती आध्यात्मिक वादी निम्नोक्त नीति श्लोक पढ़कर अपने आचरण को अनीतिमय करके इहलोक परलोक में दुःखी होता है।

मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत्।
आत्मवत् सर्व भूतेषु यः पश्यति स पंडितः ॥२१४७॥

'मातृवत् परदारेषु यः पश्यति स पंडितः।' परस्त्री को अपनी मां की तरह देखने वाला पंडित है।

अतः बालक जिस प्रकार अपनी मां का स्तनपान करता है, उसकी मां के पास सोता है आदि क्रिया करता है उसी प्रकार मैं भी परस्त्री के साथ व्यवहार करके अपनी आसुरी इच्छा को पूर्ति करूँगा और यदि पकडा जाऊंगा तो शास्त्र का प्रमाण दे दूँगा, इस प्रकार 'पर द्रव्येषु लोष्ठवत् आत्मवत् सर्व भूतेषु' का अर्थ अपनी स्वार्थ सिद्धि के अनुसार संयोजना करके श्लोक को मुखस्थ कर लिया। एक दिन अपने पड़ोसी के घर दूर ग्राम से एक सुन्दरी नवयुवती मेहमान आई। उस नवयुवती को देखकर अपना आसुरी प्रकृति को वश में नहीं कर पाया। वह अपनी इच्छा को पूर्ण करने के लिये टाइम देखने लगा। उस समय गर्मी के दिन थे। इस-लिये सब कोई हवा के लिये रात्रि में बाहर सो गए। वह नवयुवती स्त्री भी बाहर सो गई। अन्धेरी रात्रि में रात के दो बजे समस्त ग्राम सुनसान हो गया। किन्तु कामान्ध उल्लू को अमावस्या की रात्रि में भी नवयुवती ही दिखाई दे रही थी। सुयोग पाकर अपनी आसुरी इच्छा की पूर्ति करने लगा। जब उस स्त्री की थोड़ी नींद

खुलने लगी तो वह वहां से भाग कर छुप-छुप कर आ गया। उस ने सोचा था कि छाती पर हाथ रखकर सो गई होगी। सो ऐसा कुछ हो गया। इधर धूर्त कामाग्नि में जब एक बार घृत डल गया उसकी कामाग्नि और अत्यन्त प्रज्वलित हो उठी। दूसरे दिन रात को भी पूर्व कथित दुष्ट चेष्टा करने लगा। वह स्त्री भी पूर्व रात की घटना से कुछ शंकित एवं सावधान थी। उस स्त्री ने दुष्ट को पकड़ लिया एवं हल्ला करने लगी। आसपास के अनेक लोगों ने आकर व्यभिचारी को पकड़कर बांध लिया है, राजा के दरबार का समय होने पर असत् पुरुष को लेकर दरबार में गये। असत् पुरुष का दुराचार के विषय में न्याय चला।

न्यायघोश---(असत् पु. प्रति) तुम प्रतिज्ञा, शपथ करो कि मैं जो कहूँगा सब सत्य कहूँगा।

असत् पुरुष—क्या कभी सम्यग्दृष्टि अनेकान्तवादी असत्य कह सकता है?

न्याया—तुमने इस प्रकार अन्याय क्यों किया?

असत्—"मातृवत् परदारेषु यः पश्यति सः पण्डितः" क्या इसी प्रकार आचरण करना अन्याय है?

न्याया—तुमने उस स्त्री के साथ किस प्रकार आचरण किया?

असत्—जिस प्रकार अपनी सन्तान अपनी मां का स्तनपान करती है, पास में शयनादि क्रिया करता है, उसी प्रकार मैंने किया। मैंने सोचा एक नयी मां आई है उसके प्रति मैं मां का व्यवहार नहीं करूँगा तो अन्याय होगा। इसलिये मैंने मेरा कर्त्तव्य किया।

न्याया—तुमने उसके साथ अब्रह्मचारीपना क्यों किया?

पुरिसित्थियाहियालासी इत्थीकम्मं च पुरिसमहिलसदि।
एसा आयरिय परंपरागदा एरिसी दु सुदी ॥२१४८॥

पुरुष वेद कर्म स्त्री की अभिलाषा करता है और स्त्री वेद कर्म पुरुष की अभिलाषा करता है, यह आचार्य परम्परा से आई हुई ऐसी श्रुति है। मेरा पुरुष वेद कर्म का उदय सिर्फ बाह्य निमित्त मात्र था, वह स्त्री थी। निश्चय से अब्रह्मचारी का दोष नहीं हो सकता।

धात्री बालासतीनाथ पद्मिनो दलवारिवत्।
दग्धरज्जुवदाभासिति भुञ्जानोऽपि न पापभाक् ॥२१४९॥

जिस प्रकार बालक का धाय में, व्यभिचारिणी स्त्री में पुरुष का, पद्म पत्र पर जलबिन्दु की तरह लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव भोग करते हुये भी निर्लिप्त रहते हैं। जली हुई रस्सी के समान पाप का भागी नहीं होता, किन्तु निर्जरा का निमित्त होता है।

उवभोगमिन्दियेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराणं ।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं ॥२१५०॥

सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रियों के द्वारा अचेतन और चेतन द्रव्य का जो उपभोग करता है, वह सब निर्जरा का निमित्त है। इसलिये सम्यग्दृष्टि जीव जितना अधिक से अधिक गुणित क्रम से अचेतन-खाद्य अखाद्य परधन, स्वधन, धार्मिक क्षेत्र का धन, चेतन–स्वस्त्री, परस्त्री, वेश्या आदि का सेवन करेगा उतना अधिक से अधिक गुणित क्रम से निर्जरा का निमित्त होगा इसलिये तो भरत चक्रवर्ती अन्तमुहूर्त में विज्ञान घन-रूप समयसार रूप अध्यात्म ज्योति को प्राप्त कर लिया था।

न्याय—सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु बंधो न मे स्यात् ।
इत्युत्तानोत्पुलका वदना रागिणोप्याचरंतुः ॥
आलंबंतां समिति परता ते यतोऽद्यापि पापाः ।
आत्मानात्मावगम विरहात्संति सम्यक्त्वरिक्ताः ॥२१५१॥

मैं स्वयं सम्यग्दृष्टि हूं। अतएव मेरे कर्म बन्ध कदाचित भी नहीं होता ऐसा विचार कर राग से रंगे मिथ्यादृष्टि जीव ऊपर दृष्टि उठाकर तथा मुंह फुलाकर भी व्रत आचरण करें तथा पंच समिति आदि रूप क्रियाओं का आलम्बन करें तथापि आत्मा तथा अनात्मा के भेद विज्ञान के अभाव में तू सम्यग्दर्शन से हीन ही है। इस-लिए इस अवस्था में भी पापी ही है" जब महाव्रत पालन करने वाला भी उन्मत्त होकर अपने को सम्यग्दृष्टि मानकर "सम्यग्दृष्टि विषय भोगते भी बन्धक नहीं है" ऐसा आगम है ऐसी व्याख्या करते हुए अपने को कर्म बन्ध से रहित माने तो वह मिथ्यादृष्टि है और अन्तरंग बहिरंग परिग्रह सहित, स्वच्छन्द आचरण करने वाला व्यभिचारी हो कर सम्यग्दृष्टि अपने आप बनकर "पर स्त्री सेवने से भी कर्म बन्ध नहीं होता, परंतु निर्जरा होती है, इस प्रकार महान दण्ड का पात्र बनने का वचन कह रहा है। सम्यग्दृष्टि जिस प्रकार आत्मानुभव की ज्ञान तथा संसार शरीर एवं भोगों के त्याग करने रूप शक्ति रूप लक्षण के अभाव से लक्षभूत सम्यग्दर्शन तुम में नहीं। "व्यतिकीर्णं वस्तु व्यावृत्ति हेतु लक्षणं।" "परस्पर व्यतिकरे सति येनान्यत्वं लक्ष्यते

तल्लक्षणं ।" परस्पर मिली हुई अनेक वस्तुओं से किसी एक वस्तु को अलग करने रूप हेतु को लक्षण कहते हैं। सम्यग्दृष्टि का जो लक्षण है, वह तुमको मालूम नहीं एवं तुम में पाया नहीं जाता।

सम्यग्दृष्टि का लक्षण सुन—

सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञान वैराग्य शक्तिः ।
स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं स्वान्य रूपाप्ति मुक्त्या ।
यस्माद् ज्ञात्वा व्यतिकर मिदं तत्त्वतः स्व परं च ।
स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात् सर्वतो राग योगात् ।।२१५२।।

सम्यग्दृष्टि के स्वसंवित्ति रूप ज्ञान एवं संसार शरीर, भोगों का त्याग करने रूप वैराग्य शक्ति सुनिश्चय से प्राप्त होती ही है। अतएव स्वरूप की प्राप्ति तथा अपने से भिन्न जितना रागादिक जो पररूप उनके त्याग से निज वस्तु की प्राप्ति करने के लिए स्व तथा पर इनको यथार्थ में भिन्न २ जानकर निज में ही अपनी स्थिति को बनाता है तथा पर के संयोग से होने वाली समस्त रागादि परणति से विरक्त होता है। "तुम्हारे अन्दर सम्यग्दृष्टि के व्यवहार में पाया जाने वाला सदाचार नैतिकाचार रूप अनात्मरूप लक्षण नहीं पाया जाता, तब निश्चय में पाये जाने वाला ज्ञान वैराग्य रूप आत्मभूत लक्षण किस प्रकार सम्भव हो सकता है, किन्तु जो असदाचारी स्वच्छन्दी, मनमाना आचरण करने वाला कभी भी सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता। जिस प्रकार जिसने अनन्त बार मुनिव्रत धारण कर लिया, वह अभव्य हो सकता है, किन्तु जिसने बाह्य में कपड़ा त्याग नहीं किया वह कभी भी प्रमत्त गुणस्थानवाला मुनि नहीं हो सकता तो मोक्ष जाने की बात क्या? जिसका व्यवहार चारित्र ज्ञानादि है, वह अभव्य भी हो सकता है। जिसने निश्चय नय को प्राप्त कर लिया उसने व्यवहार नय को प्राप्त कर ही लिया, किन्तु जिसने व्यवहार नय को प्राप्त नहीं किया। वह कभी भी निश्चय नय को प्राप्त नहीं कर सकता। जिस प्रकार जिसने केवलज्ञान प्राप्त किया उसने समस्त ज्ञान प्राप्त कर लिया। किन्तु जिसने मतिज्ञान को ही अभी तक प्राप्त नहीं किया, वह केवल ज्ञान को किस प्रकार प्राप्त कर सकता। इसी प्रकार जिसने निश्चय नय के यथार्थ स्वरूप को नहीं जानकर उसको ही अर्थात् निश्चय श्रद्धान को अंगीकार किया है, वह मूर्ख बाह्यक्रिया में आलसी है और बाह्य क्रिया रूप आचरण को नष्ट करता है।

निश्चयमबुद्धयमानो यो निश्चय तस्यैव संश्रयते ।
नाशयति करण चरणं स बहिः करणालसो बालः ।।२१५३।।
विषयी सुख का लालची, सुन अध्यात्मवाद ।
त्याग धर्म को त्याग करे विषयानुराग ।।२१५४।।

आत्मानुभव एवं सम्यग्दर्शन का तादात्म्य संबंध है । सम्यग्दर्शन के पश्चात् समस्त पदार्थों का सम्यक् परिज्ञान होने के कारण अन्य वस्तु से स्वयं को पृथक करने की सम्यक् चेष्टा करता है । इसलिये जिस जिस अंश में अन्य विषयादिसे स्वयं को पृथक् का विश्वास, ज्ञान एवं चेष्टा है उस २ अंश में कर्म बन्धन नहीं है अन्य समस्त अंश में बन्धन है ।

येनांशेन सुदृष्टि स्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु राग स्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ।।२१५५।।

यह हुआ अबंध का कार्यकारण भाव, इससे अन्य जितना अनध्यावसायादि है, वह सब बंध का कार्यकारण भाव है । अन्यथा संसार मोक्ष का कार्यकारण भाव लोप हो जायेगा; सिद्ध जीव विषयानुभोगी नहीं होने के कारण संसार में परिभ्रमण करेंगे ।

यथा-यथा न रोचते, विषयाः सुलभा अपि ।
तथा-तथा समायाति, संविती तत्त्वमुत्तमम् ।।२१५६।।

As even those objects of pleasure which are easly obtainable become increasingly intoleralie, in the same measure does the glorious self come in to one's enjoy ment !

ज्यों-ज्यों सुलभ से प्राप्त होने वाले विषय भोग आसक्ति रूप रूचिकर प्रतीत नहीं होते त्यों-त्यों स्वात्म संवेदन में निजात्मानुभवन की परिणति वृद्धि को प्राप्त होती रहती है । इससे विपरीत मिथ्यात्व कार्य है, जो कि तुम्हारा कार्य है ।

असत् पु.—आप अनेकान्तवाद को जानते हैं इसलिये मेरे ऊपर दोषारोपण कर रहे हैं । मैं इस को कर्त्तापने से नहीं करता हूं उस कार्य के समय में ज्ञापक निमित्त उपस्थित होता ही हूँ और सूचना करता है कि उपादान अभी अपनी शक्ति ने अनुसार परिणमन कर रहा है, उस परिणमन का कौन निवारण कर सकता है ।

जं जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि ।
णाणं जिणेण णियदं जम्मं अहव मरणं वा ।।२१५७।।

तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि ।
को सक्कइ वारेदुं इंदो वा अह जिणिंदो वा ॥२१५८॥

जिस जीव का जिस देश और जिस काल में जिस विधि से जन्म अथवा मरण (उपलक्ष से अन्यान्य समस्त कार्य) जिनेन्द्र देव ने नियत जाना है। उसका उस देश और उस काल में जन्म अथवा मरण उस विधि से नियम से होता है। चाहे इन्द्र हो अथवा स्वयं जिनेन्द्र देव हो उसे चलायमान कौन कर सकता है ?

उस उपादान रूपी स्त्री की उन्हो के आंगन में, रात्री समय में मेरा बाह्य व्यवहारीक ज्ञापक निमित्त के उपस्थिति मात्र से व्यभिचार रूप कार्य होना था। उपरोक्त प्रकार होने का सर्वज्ञ ने नियत रूप से जाना था इसको निवारण करने के लिये इन्द्र अथवा स्वयं सर्वज्ञ अनन्त शक्तिवान जिनेन्द्र भी निवारण नहीं कर सकते हैं तो मैं उसको निवारण करने रूप अनध्यवसाय का कर्त्ता होकर कर्म को क्यों बांधता ? यदि यह कार्य हो भी गया तो अधीर, पश्चाताप लज्यान्वित क्यों हूंगा ?

जो जो देखी वीतराग ने, सो-सो होसी वीरा रे ।
अनहोनी कहूं हो है नहीं काहे हूगां अधीरा रे ॥२१५९॥

इस प्रकार वीतराग भगवान के ज्ञान पहिले से निश्चित रूप में नियत रूप में क्रमबद्ध पर्याय के अनुसार होने का झलका था, जिससे कि होकर ही रहा। यदि पहिले से नहीं झलका हुआ होता, तो यह घटना नहीं होती। अतएव वीतराग भगवान दोषी हैं, मैं अनेकान्ती हूँ, मेरा जीवन ही अनेकान्त मय है। वर्तमान उपादान के ऊपर विचार करिये। व्यभिचार रूप क्रिया का कार्य उस स्त्री में हुआ। अतः वह स्त्री हुई उपादान "उपादान के कार्य के समय में निमित्त स्वयमेव उपस्थित होता ही है, "इस सिद्धान्त के अनुसार उस अन्धकारमयी रात्रि के दो बजे के समय उस स्त्री की उपादान कार्य की ज्ञापक निमित्त होने को कोई न कोई पुरुष को उपस्थित होने का कष्ट करना पड़ता था और बाद में वर्तमान मेरी जो दशा है, इसी प्रकार होता। यह सब नहीं हो इसलिए मैं कष्ट करके ज्ञापक निमित्त रूप से उपस्थित हो गया था और यह सब उपादान के योग्यता के अनुसार ही हुआ। जिस प्रकार उपादान रूपी मिट्टी का घड़ा रूप बनने की योग्यता होती है। तब कुम्हार कुदाल, चाक आदि ज्ञापक उदासीन निमित्त उपस्थित हो ही जाता है और मिट्टी ही उस घट का

उपादान कारण होने से कर्त्ता है, इसी प्रकार व्यभिचार क्रिया में कर्त्ता वह स्त्री है और उसके निमित्त से मेरे को जो कष्ट हुआ, समय नष्ट हुआ, इतना मेरा स्वसमय नष्ट करके आप लोक को आध्यात्मिक अनेकान्त ज्योति को प्रदान किया, इन सबका दंड उस व्यभिचारिणी स्त्री को देना चाहिए और मेरे स्वदार संतोष ब्रह्मचारी अणुव्रत में दोष लगाकर पापिनी बनी उसके लिए मेरे से आकर क्षमा याचना करें एवं प्रायश्चित लेकर पाप का प्रक्षालन करें।

जरा वर्तमान, देश, काल, विधान के अनुसार विचार अनेकान्त दृष्टि से करिये। उन्हीं के आंगन में रात्रि के समय में उस स्त्री की सोना और मेरा उपस्थित होना एवं स्त्रीलिंग, पुल्लिग संयोग रूपी विधान से कार्य होने से कथंचित् रात्रि दो बजे का दोष कथंचित्, उस आंगन का दोष, कथंचित उस विधान का दोष है। वस्तुतः इन लोगों को सम्मिलित होकर मेरे को बान्धने का उपादान इन लोगों में था, अतः यह कार्य हुआ। इसलिए यह सब लोक का दोष है। यदि निश्चय से विचार करें तो आपको यहां वर्तमान समय में न्यायाधीश होकर समाधान करने का उपादान रहने के कारण यह सब अनर्थ हुआ। अतः आप ही दण्ड के भागी हैं। आप अपना दोष नहीं देखकर मेरे दोष की समीक्षा कर रहे हैं। सम्यग्दृष्टि का कार्य तो अपना दोष देखना, दूसरे का दोष ढंकना और यह उपगूहन अंग है।

न्याया—जत्तु जदा जेण जहा जस्स च णियमेण होदि तत्तु तदा।
तेण तस्स तहा हवे इदि वादो णियति वादो दो ॥२१६०॥

जो जिस समय जिससे जैसे जिसके नियम से होता है, वह उस समय उससे वैसे उसके ही होता है—ऐसा नियम से सब वस्तु को मानना उसे नियतिवाद कहते हैं, जो कि एकान्त होने से मिथ्या है। तूने एकान्त नियति वाद का आश्रय लेकर अपना दोष नियति के ऊपर डाला है। तू विषयान्ध होने के कारण महान्ध है इसलिए तुझको अनेकान्तमय प्रकाश में भी नहीं दिखाई दे रहा है।

अन्धादयं महानन्धो विषयान्धो कृतेक्षणः।
चक्षुषान्धो न जानाति विषयान्धो न केनचित् ॥२१६१॥

तू वीतराग सर्वज्ञता की आड़ लेकर अपने दोष छिपा रहा है। दिनकर का जब उदय होता है, उल्लू को मालुम होता है कि वर्तमान रात्रि कर का उदय हो रहा है।

एक चन्द्रमुखी नवयुवती के मुख पर जब कालिक लग गई, तब वह दर्पण में अपना मुख देखी तो बहुत कुरूप दिखाई पड़ी। वह सोची कि दर्पण में मेरा चेहरा कुरूप दिखाई देना था, इसलिए मेरे मुख पर कालीक लगी, एवं कुरूप हो गयी। इस प्रकार दिखाई देने का उपादान दर्पण में होने के कारण यह सब निमित्त अपने आप हो गया। इस प्रकार सोचकर क्रोध से दर्पण को नीचे पटक दिया तो दर्पण पैर में लगा एवं पांव कट गया। इस प्रकार तुम्हारा न्याय है। भगवान निश्चय से अपनी आत्मा को ही जानता देखता है। व्यवहार से सर्व पदार्थों को जानते देखते हैं। आत्मा का आत्यन्तिक निर्मलता के कारण दर्पण की तरह अन्य वस्तु झलकती हैं।

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहार णएण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥२१६२॥

जिस प्रकार केवली अनन्तानंत को जानने मात्र से उसको शान्त नहीं कर देते, उसी प्रकार त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को जानने मात्र से भगवान उन सब पदार्थों का नियन्त्रण कर्त्ता वा पर्यायों को क्रमबद्ध से व्यान्ध करके नियत समय में भेजने (Suppaly) वाला नहीं। अतः पदार्थ जिस पर्याय रूप परिणमन करता है, उस पर्याय का वह कर्त्ता होने के कारण वह उसका फल भोगने वाला है।

जह सिप्पिओ दु चेट्ठं कुव्वदि हवदि य तहा अणण्णो सो।
सह जीवो वि य कम्मं कुव्वदि हवदि य अणण्णो सो ॥२१६३॥

जह चेट्ठं कुव्वंतो दु सिप्पिओ णिच्चदुक्खिदो होदि।
तत्तो सिया अणण्णो तह चेट्ठंतो हुहि जीवो ॥२१६४॥
रागो दोसो मोह जीवस्सेव य अणण्णपरिणामा।

राग, द्वेष, मोह जीव का ही अनन्य परिणाम है। जैसे स्वर्णकारादि शिल्पी कुण्डलादि ऐसे बनाऊंगा, इस प्रकार मन में चेष्टा करता है तथा उस चेष्टा से वह तन्मय हो जाता है। उसी प्रकार जीव भी रागादि भाव कर्म करता है और वह उस भाव कर्म से तन्मय हो जाता है। जैसे स्वर्णकारादि शिल्पी चेष्टा करता हुआ नित्य दुःखी होता है और उस दुःख से अनन्य होता है, उसी प्रकार जीव हर्ष-विषाद, राग अन्याय व्यभिचार रूप चेष्टा करता हुआ दुःखी होता है और उस दुःख से वह अनन्य है। अतः तुमने व्यभिचार करने का विचार किया फिर उस क्रिया को किया

दोनों अवस्था में तन्मय होने के कारण वर्त्तमान तुमको दण्ड रूप में भी तन्मय होना पड़ेगा।

तुमने जो निर्जीव एवं स्थानान्तरित क्रिया से रहित काल को जो दोष लगाया, वह भी तुम्हारी धूर्तता का परिचायक है। जैसे एक व्यक्ति ने अपनी शत्रुता के प्रतिशोध लेने की इच्छा से अपने शत्रु के घर को जला दिया। पकड़ा गया, तब कहता है कि मैं दोषी नहीं हूँ। आकाश दोषी है क्योंकि आकाश यदि अग्नि को अवकाश (जगत) नहीं देता तब अग्नि किस प्रकार उसका घर जला सकती थी? तुम लोग पक्षपात करने से तुम लोग दण्ड के पात्र हो, क्योंकि आकाश बड़ा होने के कारण उसको दण्ड नहीं दे सकते हो, मैं छोटा होने के कारण मेरे को दण्ड देने का विचार कर रहे हो। ठीक है—"सबै सहायक सबलके दुर्बल कोउ न सहाय।

पवन बुझावत दीपक आग देत जलाय।"

तुम्हार कालवाद एकान्त होने से मिथ्या है।

कालो सव्वं जणयदि कालो सव्वं विणस्सदे भूदं।
जागत्ति हि सुत्तं सुवि ण सक्कदे वंचिदुं कालो ॥२१६५॥

काल ही सबको उत्पन्न करता है और काल ही सबका नाश करता है, सोते हुए प्राणियों में काल ही जागता है, ऐसे काल के ठगने को कौन समर्थ हो सकता है? इस प्रकार काल से ही सबको मानना यह कालवाद जो एकान्त होने से मिथ्या है। इस प्रकार तुमने दोष किया, फिर दोष को छिपाने के लिये मायाचार, असत्य अनेकान्तमयी जिनवाणी का अपवाद निर्दोषियों में दोषारोपण आदि अनेक गर्हित पाप किया एवं जिन धर्म में कलंक लगाया। तुम दण्ड के भाजन हो।

राजा—(अत्यन्त गंभीर एवं तेजस्वी भाषा में) अरे मूर्ख! तू यह नहीं समझता कि अहिंसा जिसका प्राण है, ऐसे जैनी; धर्म को लोप करने वाले को नैतिकाचार को ध्वंस करने वाले को, आध्यात्मिकता के परदा में शिथिलाचार को फैलाने वाले को "might is right" को घोषणा करने वालों को दमन करके धर्म के नाम से अधर्म के प्रचार को लोप नहीं कर सकता। तू यह भी नहीं समझता कि उत्तम क्षमादि भूषण से विभूषित जैनी कायर, दुर्बल, दीन होते हैं। तू यह भी नहीं समझता कि अनेकान्तवादी कथंचित् धर्म का लोप करने वालों को सहायता भी करते हैं और कथञ्चित् दण्ड भी देते हैं। वे तुम्हारे जैसे बगुला भगत नहीं होते हैं, वह तो राज एवं गरुड (हंस) जैसे होते हैं यदि एक भी जैनी है और सारा विश्व यदि धर्म

के विरुद्ध उसके सम्मुख कुछ क्रिया करेंगे तो वह सारे विश्व के विरुद्ध भी पदाक्षेप लेने के लिये कभी पीछे हटेगा ही नहीं। (सिपाहियों के प्रति) इस धूर्त को काला मुँह करके गधे के ऊपर बैठाकर मेरे राज्य के बाहर कर दो क्योंकि यदि एक भी इस प्रकार धर्म के नाम पर अधर्म का प्रचार करने वाला राज्य में रहेगा तो अनेक भोले प्राणी कुमार्गगामी हो जावेंगे एवं धर्म का नाम सुनकर जनगण में एक घृणा का भाव पैदा हो जायेगा। अन्य क्षेत्र में अधर्म करने वालों से धर्म क्षेत्र में अधर्म करने वालों का पाप अधिक होता है। अन्य क्षेत्रे कृतं पापं धर्मक्षेत्रे विनश्यति।

धर्मक्षेत्रे कृतं पापं वज्रलेपी भविष्यति ॥२१६६॥

जब इस प्रकार अनेकान्तमयी अमोघ अस्त्र के द्वारा परमपुरुषार्थी ने अनादि कालीन एक छत्राधीप भाग्य को पराजय कर अपना स्वाधीन राज्य प्राप्त किया, तब एकान्ती पुरुषार्थ गर्जना करके कहता है कि—

आलसड्ढो णिरुच्छाहो पलं किंचि ण भुंजदे।
थणकरवीरादि पाणं वा पउरुसेण विणा ण हि ॥२१६७॥

जो आलस्य कर सहित हो तथा उद्यम करने में उत्साह रहित हो, वह कुछ भी फल नहीं भोग सकता। जैसे स्तनों का दूध पीना, बिना पुरुषार्थ के कभी नहीं बन सकता। इसी प्रकार पुरुषार्थ से एकान्ततः सब कार्य की सिद्धि होती है, ऐसा मानना पुरुषार्थवाद है जो कि एकान्त होने से मिथ्या है। क्योंकि पुरुषार्थ करते हुए भी प्रत्येक कार्य की सिद्धि नहीं देखी जाती है।

पौरुषादेव सिद्धिश्चेत् पौरुषं दैवतः कथम्।
पौरुषाच्चेदमोघं स्यात्सर्वं प्राणिषु पौरुषम् ॥२१६८॥

अन्वय—चेत् पौरुषात् एव सिद्धिः तदा दैवतः पौरुषं कथं स्यात् पौरुषात् चेत् तर्हि सर्वं प्राणिषु पौरुषं अमोघं स्यात्।

यदि पुरुषार्थ से ही अर्थ की सिद्धि होती है, ऐसा माना जाय तो दैव से जो पुरुषार्थ की सिद्धि होती हुई देखी जाती है, उसका निर्वाह कैसे हो सकेगा। यदि इस प्रकार समाधान किया जायेगा कि पुरुषार्थ की सिद्धि पुरुषार्थ से ही होती है, दैव से नहीं, सो इस प्रकार की मान्यता में सर्व प्राणियों का पुरुषार्थ सफल ही होने का प्रसंग प्राप्त होता है। वर्तमान पुरुषार्थ भी पूर्व दैव की अनुरूप होता है।

तादृशी जायते बुद्धि व्यवसायश्च तादृशः ।
सहायास्तादृशाः सन्ति यादृशी भवितव्यता ॥२१६९॥

जैसी भवितव्यता (भाग्य) होती है, उसी तरह की बुद्धि हो जाती है, उसी प्रकार का व्यवसाय (पुरुषार्थ) होने लगता है, सहायक भी उसी तरह के मिल जाते हैं। इस प्रकार भाग्य द्वारा बुद्धि पुरुषार्थ का निर्माण सिद्ध होता है। "पुग्गल-कम्ममित्त तहेव जीवो विपरिणमइ।" भाग्य के निमित्त पाकर जीव भी भाग्य के अनुरूप परिणमन करता है। केवल भाग्य के अनुरूप परिणमन नहीं करता वरं अनादि से जीव भाग्य के अधीनता में रहकर अपना जन्म मत अधिकार एवं अनन्त शक्ति रूप अणुजीवी गुण को भी घाति कर्म के विनिमय में भाग्य को बंधक देकर दीन होकर संसार रूपी राज्य में 'द्वार २ देहि २' करके अनादि से परिभ्रमण कर रहा है। किन्तु अभी तक उसको पेट भर खाने के लिये सूखी रोटी भी प्राप्त नहीं हुई। मिष्ठान्न, घृतान्न, Vitimeine, tonic आदि कहां प्राप्त होगा ? जिससे वह शक्तिशाली होकर भाग्य के साथ युद्ध करें।

सो सव्वण्णसदरिसी कम्मरयेण णिएणावच्छण्णो ।
संसार समावण्णो ण विजाणदि सव्वदो सव्वं ॥२१७०॥

पुरुष सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है किन्तु अपने भाग्य रूपी मिट्टी से आच्छादित होने के कारण संसार को प्राप्त हुआ है। वह समस्त पदार्थों को सब प्रकार से नहीं जानता।

जब भाग्य का एकछत्राधिपति शासन चलता है, उस समय उन्हीं के शासन के अन्तर्भूत कौन ऐसे पुरुष हैं, उन्हीं के आदेश के अनुसार नहीं चलें।

पुरा गर्भादिन्द्रो मुकुलितकरः किंकर इव,
स्वयं स्रष्टा सृष्टेः पतिरथ निधीनां निजसुतः ।
क्षुधित्वा षण्मासान् स किल पुनरप्याह जगतो,
महो केनाप्यस्मिन् विलसितमलङ्घ्यं हतविधेः ॥२१७१॥

जिस आदिनाथ भगवान के गर्भ में आने के पूर्व छह महीने से ही इन्द्र दास के समान हाथ जोड़े हुए सेवा में तत्पर रहा, जो स्वयं ही सृष्टि की रचना करने वाले थे अर्थात् कर्मभूमि की संस्थापन करने वाले थे, एवं जिसका पुत्र भरत निधियों के स्वामी अर्थात् चक्रवर्ती था; जो स्वयं चार ज्ञान का स्वामी, वज्रवृषभ नाराचसंहनन

का धारी था और जो महान् पुरुषार्थी थे, ऐसे आदिनाथ तीर्थंकर जैसे महापुरुष भी भाग्य का अनुग्रह नहीं होने के कारण बुभुक्षित होकर छह महीने तक पृथ्वी पर घूमे; यह आश्चर्य की बात है। ठीक ही है—भाग्य के राज्य में कोई भी प्राणी दुष्ट भाग्य के विधान को लांघने में समर्थ नहीं है। ऐसा महान् पुरुषार्थी भी आहार के लिये छह महीना तक पुरुषार्थ करते हुये भी बिना भाग्य के कार्य सिद्धि कर नहीं पाये जो कि भाग्य के अनुग्रह से एक बेला में प्राप्त कर सकते थे, तब अन्य पुरुष की बात ही क्या ?

जब भाग्य के राज्य में परिस्थिति कालोन राष्ट्रपति शासन रूप निकाचित कारण लागू रहता तब उस शासन को कौन ऐसे पुरुष हैं, जो उस कार्यकाल को थोड़ा या भी हेर फेर कर सकते हैं। "उदयावल्यां निक्षेप्तु संक्रमयितुमुत्कर्षयितुमपकर्षयितु चा शक्यं तन्निकाचितं नाम भवति।" जिस कर्म की उदीरणा, संक्रमण, उत्कर्षण और अपकर्षण ये चारों ही अवस्थायें नहीं हो सके उसे निकाचितकरण कहते हैं। इस प्रकार भाग्य को परिवर्तन करने में पुरुषार्थ असमर्थ होता है। जिस प्रकार एकान्ततः भाग्य से कार्य सिद्धि नहीं होती, उसी प्रकार एकान्ततः पुरुषार्थ से भी कार्य की सिद्धि नहीं होती 'सामग्री जनिका कार्यस्य नैकं कारणम्' अर्थात् सामग्री मात्र से कार्य होता है एक कारण से नहीं यह सिद्धान्त है, अनुभव सिद्ध है, वैज्ञानिक कार्यकारण व्यवस्था है।

जब दैव एवं पुरुषार्थ दोनों पक्ष की जय हुयी तब एक एकान्ती कहता है कि कुछ कार्य दैव से ही होते हैं और कुछ कार्य पुरुषार्थ से ही होते हैं। इस प्रकार पृथक् पृथक् कार्यों की अपेक्षा से भाग्य एवं पुरुषार्थ की अनेकान्त की मान्यता बन जायेगी सो यह भी एकान्त होने से मिथ्या है।

विरोधान्नो भयैकात्म्यं, स्याद्वाद न्याय विद्विषाम्।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्ति नाऽवाच्यमिति युज्यते ॥२१७२॥

अन्वय—स्याद्वाद न्याय विद्विषां विरोधात् उभयैकात्म्यं न। अवाच्यतैकान्ते 'अवाच्यं' इत्यपि उक्ति न भुज्यते।

स्याद्वादरूप नीति से विरुद्ध रखने वालों का दैव और पुरुष का एकात्म पक्ष परस्पर में विरुद्ध होने से नहीं बनता है। इसी तरह इन दोनों का अवक्तव्य एकान्त

पक्ष भी घटित नहीं होता है। क्योंकि इस पक्ष में 'अवाच्य' ऐसे शब्द का भी प्रयोग करना नहीं बन सकता है।

कुछ कार्य दैव से होते हैं और कुछ कार्य पुरुषार्थ से होते हैं, इस प्रकार पृथक् पृथक् कार्यों की अपेक्षा से दैव और पुरुषार्थ की मान्यता बन जायेगी, सो यह बात ठीक नहीं है। जब दैव का एकान्त पक्ष और पुरुषार्थ का एकान्त पक्ष जब परस्पर में सर्वथा विरुद्ध पड़ता है, तो इसी कारण से पृथक् पृथक् कार्यों की अपेक्षा इन दोनों बातों को (पक्षों को) स्वीकार करना स्वयं विरुद्धादि दोषों को आह्वान करते हैं। बिना पुरुषार्थ के दैव लंगड़ा है और बिना दैव के पुरुषार्थ पंगु है, अतः ये दोनों पक्ष सर्वथा परस्पर की निरपेक्षता में कैसे निर्दोष रूप में संभावित हो सकते हैं, क्योंकि निरपेक्ष अवस्था में इनका अस्तित्व ही नहीं बनता है। दैव पुरुषार्थ का, पुरुषार्थ दैव का निर्माण कर्ता है। इसी तरह इन दोनों की सर्वथा अवाच्यता स्वीकार करने पर 'ये अवाच्य हैं' इस प्रकार का निर्देशात्मक वचन उसमें नहीं बन सकता है। अन्यथा अवाच्य मानने का प्रसंग प्राप्त होता है। इसलिए इन दोनों को यदि मान्य करना है तो स्याद्वादनीति का ही अवलम्बन करना चाहिये कारण कि उसके अवलम्बन किये बिना इनका सद्भाव ही सिद्ध नहीं हो सकता है।

जब अनेकान्तवादी ने एकान्त भाग्य से किम्वा एकान्त पुरुषार्थ से किम्वा पृथक् २ भाग्य एवं पुरुषार्थ से कार्य सिद्धि का निषेद्ध कर दिया तब एकान्तियों ने परास्त होकर, अपमानित भरे क्रोध से कहने लगे कि हे! समय सुयोगवादी, लुडक-पंथी, संशयवादी, अनेकान्तवादी तुम महान् मूर्ख एवं स्वार्थी हो। जिस समय जिस पक्ष की जीत होती है उस समय तुम उस पक्ष का पक्ष लेते हो पराजय पक्ष को अपमानित करने से तुम पक्षपाती भी हो। वर्तमान पक्षपात छोड़कर तुम बताओ कि कार्य सिद्धि किस प्रकार होती है।

तब अनेकान्तवादी अत्यन्त गंभीर एवं मधुर स्वर में कहने लगा कि सुन—

दूषयेत् अज्ञ एवोच्चैः स्याद्वादं नतु पण्डितः।
अज्ञप्रलापे सुज्ञानां न द्वेषः करुणैव तु ॥२१७३॥

अज्ञ जन ही स्याद्वाद पर महान् दोषारोपण करते हैं विज्ञ लोग नहीं, अज्ञानियों के प्रलाप पर सुधी पुरुष रोष न कर करुणा करते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि यह अज्ञता का कार्य है न कि उस पुरुष का। इसलिये अज्ञ करुणा के पात्र हैं। यदि

करुणा करके उसका अज्ञान दूर नहीं किया जायेगा वह दुर्गति का पात्र बन जायेगा। तुमने जो अनेकान्तवादी को दोष लगाया यह तुम्हारा दोष नहीं है तुम्हारी अज्ञता का द्योतक सार्थक शब्द है। स्यात् शब्द संशयात्मक, भ्रम जनक, शायद, सम्भव आदि का सूचक नहीं है। किन्तु "सर्वथात्वनिषेधकोऽनेकान्तता—द्योतकः कथञ्चिदर्थे स्याच्छब्दो निपातः"—स्यात् शब्द निपात है। वह सर्वथापने का निषेधक अनेकान्तपने का द्योतक, कथञ्चित अर्थ वाला है। मैं तुम लोगों के प्रति दया करके भाग्य एवं पुरुषार्थ के यथार्थ स्वरूप का वर्णन के पहले तुम लोगों के वचन क्यों मिथ्या है ? यह बता देता हूं, क्योंकि "बिन जाने ते दोष गुणन को कैसे तजिये गहिये"।

सच्छंददिट्ठिहि वियप्पियाणि तेसट्ठि जुत्ताणि सयाणि तिण्णि।
पाखंडिणं वाउल कारणाणि अण्णाणिचित्ताणि हरंति ताणि ॥२१७४॥

आप लोगों का श्रद्धान अर्थात् विश्वास वृषभ जैसे स्वच्छन्द अर्थात् अपने मनमाना है जो कि पाखंडी जीवों को व्याकुलता उत्पन्न करने वाला और अज्ञानी जीवों के चित्त को हरने वाला है।

पर समयाणं वयणं मिच्छं खलु होइ सव्वहा वयणा।
जेणाणं पुण वयणं सम्मं खु कहंचिव वयणादो ॥२१७५॥

तुम लोगों के वचन 'सर्वथा कहने से नियम से असत्य होते हैं और जैन मत के वचन 'कथंचित्' बोलने से सत्य हैं। क्योंकि वह अनन्त धर्मस्वरूप वस्तु को 'कथञ्चित्' वचन कहता है, इससे सत्य है। क्योंकि एक वचन से वस्तु का एक धर्म ही कहा जाता है। यदि कोई सर्वथा कहे कि वस्तु का स्वरूप है तो बाकी के धर्मों के अभाव का प्रसंग होने से वह भी झूठा कहलायेगा। इस प्रकार एकान्त में दोष है अनेकान्त में गुण हैं भाग्य एवं पुरुषार्थ की स्याद्वाद नीति से समवन्य—

अबुद्धि पूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः।
बुद्धि पूर्वव्यपेक्षाया मिष्टानिष्टं स्वपौरुषात् ॥२१७६॥

अन्वय—अबुद्धि पूर्वापेक्षायां इष्टानिष्टं स्वदैवतः, बुद्धि पूर्व व्यपेक्षाया इष्टानिष्टं स्वपौरुषात् भवति।

अबुद्धि पूर्वक हुए कार्य की अपेक्षा से इष्ट अनिष्ट कार्य अपने दैव से हुए हैं ऐसा माना जाता है, तथा जो कार्य बुद्धि पूर्वक किये जाते हैं, उस अपेक्षा से इष्ट और अनिष्ट कार्य अपने पुरुषार्थ से हुए हैं ऐसा माना जाता है।

जो कार्य अनुकूल हो या प्रतिकूल हो यदि वह अतर्कितोपस्थित है अर्थात् उस २ कार्य को करने का विचार रहित (अबुद्धि पूर्वक) है तो ऐसी स्थिति में वहां पुरुषार्थ की गौणता एवं भाग्य की प्रधानता मानी जायेगी अर्थात् इस स्थिति में जो कार्य होता है उसको भाग्य कृत कहेंगे। बुद्धि पूर्वक जो भी कार्य है और उसमें जो सफलता मिलती है, उस समय वहां पुरुषार्थ प्रधान एवं दैव गौण माना जाता है। इस स्थिति में जो कार्य होता है उसको पुरुषार्थ से हुआ कहेंगे इस तरह अबुद्धिपूर्वक जीव को जो सुख दुःखादिक होते हैं वह दैव की प्रधानता से होते हैं तथा बुद्धिपूर्वक जो लाभ अलाभ आदि जीव को होते हैं पुरुषार्थ की प्रधानता से होते हैं। इस प्रकार दोनों की प्रधानता एवं गौणता से ही कार्य बनता है। अनुकूल दैव और अनुकूल पुरुषार्थ, प्रतिकूल दैव और प्रतिकूल पुरुषार्थ होने पर भी एक मुख्य और एक गौण रहता है।

एकेनाकर्षन्ती श्लथयान्ती वस्तुतत्त्व मितरेण ।
अन्तेन जयति जैनीमन्थान नेत्र मिव गोपी ॥२१७७॥

जिस तरह ग्वालिनी मक्खन बनाने रूप कार्य की सिद्धि के लिये दही के हांड़ि में मथानी चलाती है और उसकी रस्सी को जिस प्रकार एक हाथ से अपनी ओर खींचती है, उस समय दूसरा हाथ शिथिल कर देती है और फिर जब दूसरे से अपनी ओर खींचती है, तब पहिला शिथिल करती है; एक को खींचने पर दूसरे को सर्वथा छोड़ नहीं देती। यदि सर्वथा छोड़ देगी तो मक्खन निकलने की बात तो दूर रहे उसी की एक हांड़ि या खप्पर रूप में परिणमन हो जायेंगे। मक्खन तो खा नहीं सकेगी वरं सब दहि जमिन खा लेगी। जिस समय दाहिने हाथ की ओर रस्सी को खींचती है उस समय उस ओर की रस्सी ज्यादा सक्रिय रहती है एवं बाये हाथ को रस्सी शिथिल रहती है, किन्तु निष्क्रिय नहीं रहती। यदि निष्क्रिय रहती तो उस ओर की रस्सी की आवश्यकता को छोड़ देना चाहिये किन्तु सर्वथा छोड़ने पर कार्य नहीं होता। इसी प्रकार भाग्य कृत में पुरुषार्थ शिथिल एवं पुरुषार्थ कृत में भाग्य शिथिल रहता है। पूर्ण निष्क्रिय या अभाव नहीं रहता। इसी प्रकार स्याद्वाद कथन भी गौण मुख्य की अपेक्षा से है। जब भाग्य बलशाली रहता है तब वह अपना प्रभाव दिखाता है एवं जब पुरुषार्थ बलशाली रहता है, तब वह अपना प्रभाव दिखाये बिना नहीं रहता है।

कर्म कर्म हिताबन्धि, जीवो जीवहित स्पृहः ।
स्व स्व प्रभाव यस्त्वे, स्वार्थ को वा न वाञ्छति ॥२१७८॥

Karma works in its own cause that means karma; produces karma the soul works for its own good, that is to say fight against the karmic Power, Who is there in there in the world that will not work for his own good when he has the power to do so ?

कर्म—कर्म का हित चाहते हैं । जीव—जीव का हित चाहता है । जीव कभी बलवान् होता तो कभी कर्म बलवान् हो जाता है । इस तरह दोनों का अनादि से ही बैर चला आ रहा है । बलवान् भाग्य जब उदय में आता है तब जीव में मिथ्यात्व आदि भाव को पैदा कर अपनी संतान को पुष्ट कर जीव को अपने अधीन कर लेता है । जो अनादि काल से एकेन्द्रिय जीव निगोद राशि में पड़ जाते हैं भाग्य की तीव्र यातना सह रहे हैं, वे बेचारे क्या पुरुषार्थ करेंगे ? जब तक एकेन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक पर्याय को धारण करते रहते हैं, तब तक शुभ पुरुषार्थ भी नहीं कर सकते हैं संज्ञी पर्याप्तक पंचेन्द्रिय जीव भी जब तक भाग्य तीव्र बंध, उदय, सत्व रहता उसको भी शुभ पुरुषार्थ करने की योग्यता नहीं होती । जिन कर्मों की स्थिति अंतः कोडा-कोडी सागर से अधिक होती है, उसके प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन की प्राप्ति सम्भव नहीं जो कि शुभ पुरुषार्थ की प्राथमिक अवस्था है । किन्तु जिनके बन्ध को प्राप्त होने वाले कर्मों की स्थिति अन्त कोडा-कोडी सागर प्रमाण प्राप्त होती है और सत्ता में स्थित कर्मों की स्थिति संख्यात हजार सागर कम अन्तः कोडा-कोडी सागर शेष रह जाती है वही प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त कर सकते हैं और जब तक सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होता तब तक मोक्ष के लिये कुछ भी पुरुषार्थ नहीं हो सकता । अतः पुरुषार्थ भी सदैव भाग्य की सहायता चाहता रहता है सिर्फ उदय के समय में ही भाग्य अपना प्रभाव दिखाता है ऐसी बात नहीं किन्तु सत्ता एवं निर्जरा के बाद भी अपना प्रभाव डालता है । यदि बद्धमान नरक तिर्यञ्च आयु है, तब वह जीव अणुव्रत वा महाव्रत धारण नहीं कर सकता । सातवें नरक से आया हुआ जीव मोक्ष नहीं जा सकता है ।

व्यवहार में भी दैनन्दिन अनुभव सिद्ध दैव पुरुषार्थ का कार्य वाणिज्य में, शिक्षा क्षेत्र में, कृषि आदि में देखने में आते हैं । समान पुरुषार्थ करने वालों में भी

कोई सफलता प्राप्त करता है तो अन्य कोई निष्फलता को प्राप्त होता है। एक जीव ने पुण्य से न्याय रूप पुरुषार्थ से सम्पदा प्राप्त की किन्तु सम्पदा सुख देने वाली तभी हो सकती है यदि पुण्य का उदय है तो पुण्य के उदय नहीं रहने पर सम्पदा सुख नहीं दे सकती है। अतः पुण्य संसार सुख का कारण है उससे सम्पदादिक प्राप्त होती है किन्तु यह एकान्त नहीं कि पुण्य से ही सम्पदा प्राप्त हों और पुरुषार्थ से नहीं हो या पुरुषार्थ से ही हो दैव से न हो किन्तु दोनों में से एक की गौणता एवं मुख्यता पर अवलम्बित है।

दैव पुरुषार्थ की सप्त भंगी—

१. स्यात् भाग्यकृत—अबुद्धि पूर्वक की अपेक्षा से।

२. स्यात् पुरुषार्थ कृत—बुद्धि पूर्वक की अपेक्षा से।

३. स्यात् भाग्य पुरुषार्थ कृत—क्रम से अबुद्धि पूर्वक और बुद्धि पूर्वक की अपेक्षा से।

४. स्यात् अवक्तव्य—युगपत् दोनों विवक्षाओं को नहीं कह सकने की अपेक्षा।

५. स्यात् भाग्यकृत् अवक्तव्य—अबुद्धि पूर्वक की और युगपत् न कह सकने की विवक्षा से।

६. स्यात् पुरुषार्थकृत अवक्तव्य—बुद्धि पूर्वक की और युगपत् न कह सकने की विवक्षा से।

७. स्यात् भाग्य पुरुषार्थ कृत अवक्तव्य— क्रम से अबुद्धि पूर्वक एवं युगपत् न कह सकने की अपेक्षा से।

इस प्रकार दैव एवं पुरुषार्थ परस्पर सापेक्ष है। अनादि से भाग्य शक्ति शाली है। काल लब्धि पाकर जब जीव शक्तिशाली होता है तब वह भाग्य की शक्ति को धीरे २ अपने पुरुषार्थ के बल पर नाश करते हुये शेष में संपूर्ण रूप से भाग्य को नाश करके अपना विजय वैजयन्ति अनन्त काल के लिये लोकाग्र में फैरा देता है। हम सभी उस झण्डे के नीचे प्रतिज्ञा बद्ध हुये कि जब तक उस झण्डा को प्राप्त नहीं कर सकते तब तक वीर शत्रु भाग्य के साथ युद्ध करने में पीछे नहीं हटे। "पिछे हटे नाहीं वीर

की जात के, न मरे वह कभी परान आतङ्क ।" क्योंकि संसार में परिभ्रमण करने के लिये एवं अभव्य के लिये भाग्य प्रधान है पुरुषार्थ गौण है, किन्तु मोक्ष प्राप्ति के लिये भव्य के लिये पुरुषार्थ प्रधान एवं भाग्य गौण है । —श्री कनकनंदी मुनि

सुरम्य है ये नगरी महान गांव श्रवण बेलगुल नाम ।
बाहुबलिप्रभू मूर्ति महान विंध्यगीरिपर्वत पर जान ।।१।।
संवत दो हजार उनताल अक्षय तृतीया दिवस महान ।
पूरण कीनो ग्रंथ ये जान, गोमट प्रश्नोत्तर है नाम ।।२।।
श्रीजिन मुद्र के वन्दोपाय मुक्तिपुरी की मुझ को चाह ।
इन्द्रादिक पद की नहीं चाह, मिले निजातम गुण भंडार ।।३।।
जिन वाणी सरस्वती नमों निर्मलगुणा भंडार ।
मैं तेरा शरणा गहुं हो जाउं भवपार ।।४।।
आदि महावीर विमलगुरु प्रमाओं बारं बार ।
सन्मति हो तुम गुरु महा भवले कर दो पार ।।५।।

श्री मूलसङ्घे नन्द्याम्नाये, सरस्वतीगच्छे, बलात्कारगणे, श्री कुन्द-कुन्दाचार्या न्वये श्री आचार्य आदि सागरः, तच्छिष्य आचार्य कील काल सर्वज्ञः अष्टादिश भाषा विज्ञो महावीर कीर्तिः तच्छिष्येण श्री गणधराचार्य कुन्थुसागरेण "गोम्मट प्रश्नोत्तर चिंतामणि" नामधेयो ग्रन्थः कर्नाटक प्रदेशेऽतिशय क्षेत्रे श्रवणबेलगोलं नाम नगरे भण्डार बसति-जिनालये चतुर्विंशति तीर्थङ्कर पादमूले स्थित्वा संवत् २०३८, वीर निर्वाणस्य २५०७ तमे वर्षे वैशाख मासे शुक्लपक्षे अक्षय तृतीयायां बुध वासरे, रोहिणी नक्षत्रे वृष भलग्ने प्रारब्धः सं० संवत् २०३९ वीर निर्वाण संवत् २५०८ तमे वैशाख-मासे शुक्ल पक्षऽक्षय तृतीयायां सोम वासरे, रोहिणी नक्षत्रे, वृषभलग्ने सप्त पञ्चाशच्चरणो त्तुङ्गस्थ श्री बाहुबलि नश्चरणार विन्दे ऽर्घं समार्पित गतः ।

शुभं भूयात्

ॐ शांति ॐ शांति ॐ शांति

ॐ शांति ॐ शांति

ॐ शांति

जैनाचार्य देवेन्द्र मुनि शोध संस्थान
उदयपुर (राज.)
क्रमांक
पत्र

मंगल देशना

१. मनुष्य जन्म अत्यन्त दुर्लभ है, यदि तुमने इस में धर्म की कमाई नहीं की तो आगामी भव में दुःख भोगना होगा।

२. जिनेन्द्र भगवान की वाणी में अविचलित श्रद्धा धारण करो। आगम की श्रद्धा से जीवों का अनन्त कल्याण हुआ है।

३. तुम शरीर से भिन्न चेतनापुंज आत्मा हो। जिनसे शरीर का हित होता है, उनसे आत्मा का कल्याण नहीं होता। सदा अपने स्वरूप का विचार करना चाहिये। आत्म-चिंतन के बिना मोक्ष नहीं मिलेगा।

४. संयम धारण करके डरो मत! यह संयम तुम्हारे लिये सच्चा कल्याण-प्रदाता है।

५. धर्म का मूल सत्य और अहिंसा है। इस धर्म के द्वारा सच्ची और अविनाशी शान्ति मिलेगी।

परम पूज्य आचार्य रत्न
श्री १०८ शांतिसागरजी महाराज